CHARAK
CHIKITSASTHAN

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
☎ : 23856391

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

पुनर्मुद्रित संस्करण 2006 ई
मूल्य [प्रथम भाग ४००-००
द्वितीय भाग ४००-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
☎ : 2335263

★

प्रधान वितरक
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
☎ : 2420404

कम्प्यूटर टाइप सेटर्स
सरस्वती टाइप फाउण्ड्री
रानीमंडी, इलाहाबाद

मुद्रक
ए० के० लिथोग्राफर्स
दिल्ली

ॐ

THE
VRAJAJIVAN AYURVIJNANA GRANTHAMALA
24

CARAKASAṂHITĀ

OF

AGNIVEŚA

Elaborated by **CARAKA** & *Redacted by* **DṚḌHABALA**

(Volume II)

Edited with
'Vaidyamanoramā' Hindi Commentary Alongwith Special Deliberation etc.

By

Acharya Vidyadhar Shukla
G.A.M.S., M.A., Ph.D., Kavyatirtha
Ex. Reader : Caraka-Saṃhitā
Govt. Ayurvedic College
Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi

Prof. Ravi Dutt Tripathi
B.A.M.M.S., D.Ay.M., Ph.D.
Principal & Superintendent
Govt. Ayurvedic College & Hospital
Muzaffar Nagar

Foreword by
Acharya Priy Vrata Sharma

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Publishers:

© **CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN**

(Oriental Publishers & Distributors)

38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar

Post Box No. 2113

DELHI 110007

Also can be had of:

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 1129

VARANASI 221001

★

Sole Distributors:

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 1069

VARANASI 221001

दो शब्द

आयुर्वेदीय चिकित्सा वाङ्मय में **चरकसंहिता** विश्वकोष के समान चिकित्सा-विधियों का एक आकर ग्रन्थ है। आयुर्वेद की समस्त प्रतिष्ठा का श्रेय इस एक ग्रन्थरत्न को है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। विज्ञजन चिकित्सक के लिए 'चरकसंहिता' में वर्णित चिकित्सा के व्यावहारिक ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक मानते हैं—

सुश्रुते सुश्रुतो नैव वाग्भटे नैव वाग्भटः।
चरके चतुरो नैव चिकित्सां कां करिष्यति?॥

इस ग्रन्थ की विद्वज्जनसमादृत टीकाओं में सम्प्रति संस्कृत में जेज्जट, चक्रपाणि, योगीन्द्रनाथ सेन, गंगाधर राय; हिन्दी में जामनगर प्रकाशन, काशीनाथ पाण्डेय व गोरखनाथ चतुर्वेदी तथा ब्रह्मानन्द त्रिपाठी; अंग्रेजी में आचार्य प्रियव्रत शर्मा, रामकरण शर्मा एवं भगवानदासकृत टीका—ये प्रसिद्ध हैं। इनमें कुछ की टीका सम्पूर्ण और कुछ अपूर्ण हैं। इन टीकाकारों ने ग्रन्थ के अभिप्राय के साथ ही अपने विचारों की भी अभिव्यक्ति की है।

वर्तमान काल में आयुर्वेद के अध्येता छात्र संस्कृत के मूलपाठ या संस्कृत टीका के अध्ययन में कठिनाइयों का अनुभव करते हैं। संस्कृत भाषा के अपेक्षित ज्ञान के अभाव में संस्कृत टीकाओं के माध्यम से ग्रन्थ की विषयवस्तु का ज्ञान अर्जित करना उनके लिए असम्भव है।

अद्यावधि उपलब्ध हिन्दी टीकाओं में मूल का अनुवाद करने में टीकाकारों द्वारा जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, उसमें विषय की स्पष्ट अभिव्यक्ति, उचित शब्द-विन्यास, प्रवाह और भाषासौष्ठव का समुचित सामञ्जस्य न बन पाने के कारण इस ग्रन्थ के पढ़ने तथा विषय को ग्रहण करने में नीरसता एवं अन्यमनस्कता की स्थिति हो जाती है। इसलिए समय की पुकार, छात्रों की रुझान और उपयोगिता के विचार-मन्थन से यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि 'चरकसंहिता' की एक ऐसी हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की जाय, जिसमें रमणीयता हो, सरसता हो, सुगम-सुबोध प्रचलित शब्दों का प्रयोग एवं भाषा परिमार्जित हो, चार्ट और सारणी के द्वारा विषयों का स्पष्टीकरण हो, मूल संस्कृत के अभिप्राय को स्पष्टतया व्यक्त किया गया हो और ग्रन्थ के पढ़ने में अध्येता की रुचि का संवर्धन हो तथा जिसके पढ़ने में मन की संलग्नता हो। अस्तु; इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर यह **'वैद्यमनोरमा'** नाम की हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, जिसके अध्येता स्वयमेव इसकी सार्थकता का अनुभव करेंगे।

इस कायचिकित्सा-प्रधान ग्रन्थ की समस्त विशेषता प्रत्येक रोग की चिकित्सा-प्रक्रिया के वर्णन में निहित है। कहीं-कहीं लम्बे अध्याय हैं और उन सम्पूर्ण अध्यायों में कहे गये विषयों को हृदयङ्गम कर पाना कठिन होता है, इसलिए इस व्याख्या में सम्पूर्ण अध्याय के विषयों को सरलतापूर्वक मन में बैठा लेने की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय के अन्त में संक्षिप्त सारांश दिया गया है। 'मान' के प्रकरण (चरक० कल्प० अ० १२) में प्राचीन मान के साथ आधुनिक मानों का तुलनात्मक विवरण भी दिया गया है। इस प्रकार यह 'वैद्यमनोरमा' व्याख्या प्रत्येक दृष्टि से अध्येताओं एवं जिज्ञासुओं के मन को आकृष्ट करेगी; और विशेषकर छात्रों की रुचि को जाग्रत् कर विषयवस्तु को सुगमतया बोध कराने में समर्थ होगी। हमें विश्वास है कि छात्रों को विषयबोध कराने और विद्वज्जनों को ऊहापोह का अवसर प्रदान करने में यह व्याख्या सर्वथा समर्थ होगी।

आभार प्रदर्शन

स्वनामधन्य विविधविद्यानिष्णात पीयूषपाणि ख्यातनामा भिषग्वरेण्य गुरुवर्य स्व० पण्डित व्रजविहारी चतुर्वेदी (पटना) के पुण्यतम आशीष एवं उद्बोधन के फलस्वरूप इस महनीय ग्रन्थ की टीका-लेखन का कार्य सम्पन्न हो सका है; अतः सर्वप्रथम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। भिषग्वरेण्य स्व० आचार्य मुकुन्दीलाल द्विवेदी (भूतपूर्व निदेशक : आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएँ, उत्तर प्रदेश) एवं पीयूषपाणि चिकित्सक स्व० वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष : कायचिकित्सा, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) की कृपादृष्टि एवं उनकी प्रेरणा भी हमारे लिए मार्गदर्शक रही है; अतएव इस अवसर पर आपका स्मरण करना भी हमारा पवित्र कर्त्तव्य है।

इस व्याख्या के लेखन में संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी के जिन ग्रन्थों या व्याख्याओं का सहयोग मिला है, उनके लेखकों के प्रति आभार प्रकट करना नैतिक कर्त्तव्य समझकर हम उनके प्रति सद्भाव एवं आभार व्यक्त करते हैं।

डॉ० आशुतोष शुक्ल, बी.ए.एम.एस. ने इस ग्रन्थ के लेखन में सारणियों को तैयार करने एवं यत्र-तत्र सामग्री को व्यवस्थित रूप प्रदान करने में हमारा यथेष्ट सहयोग किया है, जिसके लिए हम उन्हें आशीष देते हैं कि वे आयुर्वेद वाङ्मय के अध्ययन-मनन और चिकित्सकीय उत्तरदायित्वों का सुरुचिपूर्ण निर्वाह करने में सदैव तत्पर रहें।

अन्त में हम चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान के संचालक श्रीवल्लभदास गुप्त के प्रति विशेष आभार प्रकट करते हैं जिनके सहयोग से 'चरकसंहिता' का यह अभिनव संस्करण आज प्रकाशित होकर आपके करकमलों तक पहुँच सका है। इसके लिए प्रकाशक महोदय बधाई के पात्र हैं। भूतभावन भगवान् विश्वनाथ से हमारी प्रार्थना है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान के वाङ्मय के प्रकाशन में उनकी सन्नद्धता सदैव प्रतिष्ठित रहे।

• **विद्याधर शुक्ल**

• **रविदत्त त्रिपाठी**

विषयानुक्रमणिका

चिकित्सास्थानम्

विषय	पृष्ठांक
(१) रसायनाध्यायः	
• अभयामलकीय रसायनपाद	
उपक्रम	३
भेषज के पर्याय	३
भेषज के दो प्रकार	४
अभेषज के दो प्रकार	४
द्विविध भेषज की उभयार्थकारिता	५
रसायन के लाभ	५
रसायन की परिभाषा	५
वाजीकरण की परिभाषा	५
वाजीकरण शब्द की निरुक्ति	६
स्वस्थहित औषध	६
अभेषज-सेवन का निषेध	६
रसायन-सेवन के दो प्रकार	७
भेषज-अभेषज बोधक-सारणी	७
कुटीप्रावेशिक रसायन	७
कुटीनिर्माण प्रकार	७
कुटीप्रवेश का पूर्वकर्म	८
शोधनोत्तर रसायन-प्रयोग	८
संशोधन-प्रयोग	८
हरीतकी के गुण	८
हरीतकी का रोगहरत्व	८
हरीतकी-सेवन का निषेध	९
आँवले के गुण-कर्म	९
हरीतकी एवं आमलक अमृततुल्य	९
हिमालय सर्वोत्तम औषध भूमि	१०
ब्राह्म रसायन	१०
पाँच पञ्चमूल	१०
द्वितीय ब्राह्म रसायन	१२
द्वितीय ब्राह्म रसायन की फलश्रुति	१२
च्यवनप्राश (घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि)	१३
च्यवनप्राश की फलश्रुति	१४

विषय	पृष्ठांक
आमलक रसायन	१४
हरीतक्यादि रसायन	१५
षष्ठ हरीतक्यादि रसायन एवं फलश्रुति	१५
रसायन-सेवन का फल	१६
रसायन-सेवन से मोक्षप्राप्ति	१६
उपसंहार	१६
• प्राणकामीय रसायनपाद	
रसायन-सेवन की फलश्रुति	१७
ग्राम्य आहारजन्य विकार	१७
आमलक घृत तथा प्रयोग एवं फलश्रुति	१८
आमलक घृत की विशिष्ट उपलब्धि	१९
आमलकावलेह	१९
आमलक चूर्ण	१९
विडङ्गावलेह	२०
अपर आमलकावलेह	२०
नागबला रसायन	२१
उन्नीस बलादि रसायन	२१
भल्लातकक्षीर	२२
भल्लातक-सहस्र प्रयोग-सारणी	२२
गंगाधर सम्मत भल्लातक-सहस्र प्रयोग-सारणी	२३
भल्लातक क्षौद्र	२३
भल्लातक तैल	२४
भल्लातक के दश योग	२४
भल्लातक के गुण	२४
रोग तथा प्रकृत के अनुसार भल्लातक का प्रयोग	२४
भल्लातक के विशेष गुण	२४
रसायन की प्रशस्ति	२५
उपसंहार	२५
रसायनयोगबोधक-सारणी	२५
• करप्रचितीय रसायनपाद	
आमलकायस ब्राह्मरसायन	२६

विषय	पृष्ठांक
आमलकायस ब्राह्यरसायन की फलश्रुति	२७
संयमपूर्वक रसायनसेवन से लाभ	२७
केवलामलक रसायन	२७
लौहादि रसायन	२८
ऐन्द्र रसायन	२८
चार मेध्य रसायन	२९
पिप्पली रसायन	२९
वर्धमान पिप्पली रसायन	३०
पिप्पली के त्रिविध प्रयोग एवं फलश्रुति	३०
वर्धमान पिप्पली क्रमबोधक सारणी (१-३)	३१
त्रिफला रसायन (१-४)	३२
शिलाजतु के गुण	३२
शिलाजीत की भावना	३३
भावना देने का प्रकार	३३
भावित शिलाजीत के गुण	३३
शिलाजीत की प्रयोग-विधि	३४
शिलाजीत की मात्रा	३४
शिलाजीत की उत्पत्ति और स्वरूप	३४
सुवर्ण शिलानिःसृत शिलाजीत	३४
रजत शिलानिःसृत शिलाजीत	३४
ताम्र शिलानिःसृत शिलाजीत	३४
लौह शिलानिःसृत शिलाजीत	३४
शिलाजतु प्रकार एवं गुणधर्मबोधक-सारणी	३५
शिलाजतु सर्वकर्मकर	३५
दोषानुसार शिलाजीत के गुण-कर्म	३५
शिलाजतु सेवन में अपथ्य	३५
शिलाजीत को घोलने योग्य द्रव	३५
शिलाजीत सर्वरोगनाशक	३६
उपसंहार	३६
१६ रसायनबोधक-सारणी	३६
• आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद	
ऋषियों का हिमालय-गमन	३७
इन्द्र द्वारा ऋषियों को आयुर्वेद का उपदेश	३८
ऋषियों द्वारा इन्द्र की प्रशस्ति	३८
इन्द्रोक्त रसायन	३८
द्रोणीप्रावेशिक रसायन	३९
दिव्य औषधों के सेवन के अधिकारी	४०
इन्द्र का महर्षियों को निर्देश	४०
अन्य रसायन-प्रयोग	४०
द्वितीय इन्द्रोक्त रसायन एवं फलश्रुति	४०
द्विविध रसायनविधियों के अधिकारी	४२
रसायन का त्याग और उपद्रव की चिकित्सा	४२
आचार रसायन	४२
रसायन-सेवन के नियम	४२
वैद्य की पूजनीयता	४३
अश्विनीकुमारों का चिकित्सा-वैशिष्टय	४३
अश्विनीकुमारों का सम्मान और स्तवन	४३
लोक में वैद्य पूजनीय	४४
प्राणाचार्य का लक्षण	४४
वैद्य की द्वितीया जाति	४४
वैद्य द्विज है	४४
वैद्य के प्रति रोगी का कर्तव्य	४४
चिकित्सक की आचारसंहिता	४५
चिकित्सक सर्वोच्च दानी	४५
सिद्धार्थ वैद्य	४५
उपसंहार	४५
रसायनाध्यायगत रसायनयोगबोधक-सारणी	४६
(२) वाजीकरणाध्यायः	
• संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद	
वाजीकरण सेवन का प्रयोजन	४७
स्त्री सर्वप्रधान वाजीकरण	४७
स्त्री की प्रतिष्ठा	४८
वृष्यतमा स्त्री के लक्षण	४८
सन्तान के लिए सम्भोग	४९
निःसन्तान पुरुष निन्दनीय	४९
सन्तानवान् पुरुष प्रशंसनीय	५०
वाजीकरण योगों का उपक्रम	५०
बृंहणी गुटिका	५०
वाजीकरण घृत	५१
वाजीकरण पिण्डरस	५१
वृष्यमाहिष रस	५२
चार वृष्य रस	५२
वृष्य मांसयोग	५२
वृष्य माषयोग	५२
वृष्य कुक्कुटमांस	५२
वृष्य अण्डरस	५२
वाजीकरण-सेवन का पूर्वकर्म	५३
उपसंहार	५३

विषय	पृष्ठांक
पञ्चदश वृष्ययोगबोधक-सारणी	५३
• आसिक्तक्षीरक वाजीकरणपाद	
षष्टिकादि गुटिका	५४
वृष्य भक्ष्य	५५
अपत्यकर स्वरस	५५
वृष्य क्षीर	५५
वृष्य घृत	५५
वृष्य दधिसर	५६
वृष्य षष्टिकौदन	५६
वृष्य पूपलिका	५६
वाजीकरण योगों का फल	५६
वाजीकरण-विहार	५६
उपसंहार	५७
आठ वाजीकरण योगबोधक-सारणी	५७
• माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद	
वृष्य केवल क्षीरयोग	५८
पाँच वृष्य क्षीरप्रयोग	५८
अपत्यकर क्षीर	५९
अपत्यजनन क्षीर-प्रयोग	५९
वृष्य पिप्पलीयोग	५९
वृष्य पायस	६०
वृष्य पूपलिकायोग	६०
वृष्य शतावरीघृत	६०
वृष्य मधुकयोग	६०
वाजीकरण आचार-विचार	६१
वाजीकरण के सहचर	६१
वाजीकरण विहार	६१
प्रकृतिसौन्दर्य वाजीकरणप्रवर्तक	६१
वाजीकरण के उद्दीपन तत्त्व	६१
उपसंहार	६२
माषपर्णभृतीयपाद-योगबोधक-सारणी	६२
• पुमान् जातबलादिक वाजीकरणपाद	
विषय का उपक्रम	६३
बलवत्ता और प्रजोत्पादनसामर्थ्य	६३
वृष्य का पूर्वकर्म	६४
अनुवासनबस्ति	६४
वृष्य मांसगुलिका	६४
वृष्य माहिषरस	६४
वृष्य घृतभृष्ट मत्स्यमांस	६५
गर्भाधानकारक योग	६५
वृष्य दो पूपलिका योग	६५
वृष्य माषादि पूपलिका	६५
वृष्य योग	६५
अपत्यकर घृत	६६
वृष्य गुलिका	६६
वृष्य उत्कारिका	६६
वृष्य की परिभाषा	६६
स्त्री-सम्भोगकाल और पश्चात्कर्म	६६
शुक्र का प्रकटीभाव	६७
स्त्रीसहवास-योग्य आयु	६७
बालक का मैथुन निषिद्ध	६७
वृद्ध का मैथुन निषिद्ध	६७
वीर्यक्षीणता के कारण—	६७
क्लीबता के कारण	६७
शरीर में शुक्र की स्थिति	६७
शुक्रनिर्गमन में उदाहरण	६८
वीर्यस्राव के आठ कारण	६८
शुक्र आत्मा का रूपद्रव्य	६८
प्रशस्त फलप्रद शुक्र के गुण	६८
वाजीकरण का निर्वचन	६९
उपसंहार	६९
पुमाञ्जातबलादिक्रपाद योगबोधक-सारणी	६९
(३) ज्वरचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	७०
अग्निवेश का पुनर्वसु से प्रश्न	७०
ज्वर सम्बन्धी प्रश्नावली	७०
पुनर्वसु का अग्निवेश को उत्तर	७१
ज्वर के पर्याय	७१
ज्वर की कारणरूप प्रकृति	७१
ज्वर की स्वभावरूप प्रकृति	७१
ज्वर की प्रवृत्ति (प्रथमोत्पत्ति)	७१
ज्वरोत्पत्ति का कारण रुद्रकोप	७२
ज्वर का प्रभाव	७२
ज्वर के निदान या कारण	७२
ज्वर के पूर्वरूप	७३
ज्वर का अधिष्ठान	७३
ज्वर का बल और काल	७३
ज्वर का प्रत्यात्म लक्षण	७३

विषय	पृष्ठांक
ज्वर के भेद	७३
ज्वरभेदबोधक-सारणी	७४
मानस ताप एवं इन्द्रियसन्ताप का लक्षण	७४
सौम्य एवं आग्नेय ज्वर और उसका कारण	७४
अन्तर्वेगी ज्वर के लक्षण	७४
बहिर्वेगी ज्वर के लक्षण	७५
प्राकृत ज्वर की सुखसाध्यता	७५
पित्त तथा कफ के प्रकोपक ऋतु	७५
प्राकृतिक पैत्तिक ज्वर	७५
प्राकृतिक कफ ज्वर	७५
प्राकृत ज्वर-चिकित्सा सिद्धान्त	७५
प्राकृत ज्वर	७६
प्राकृत ज्वर की दुःसाध्यता	७६
वैकृत ज्वर	७६
ज्वर के कारण	७६
ज्वर की साध्यता	७६
असाध्य ज्वर के लक्षण	७६
सन्ततज्वर की सम्प्राप्ति	७६
सन्ततज्वर की अवधि	७६
सन्ततज्वर सुदुःसह	७७
सन्ततज्वर के बारह आश्रय	७७
सन्ततज्वर का शमन या मारकता	७७
सन्ततज्वर का विसर्ग एवं अनुवर्तन	७७
सततकज्वर	७८
अन्येद्युष्क ज्वर लक्षण	७८
तृतीयक और चतुर्थक ज्वर	७८
दोषों की गति के अनुसार विषमज्वर के विविध रूप	७८
विषमज्वरों का आक्रमणकाल	७८
विषमज्वर के वेगशमन और उदय में दृष्टान्त	७८
विषमज्वर : निदान एवं सम्प्राप्ति	७९
तृतीयक के तीन प्रकार	७९
चतुर्थक का द्विविध प्रभाव	७९
चतुर्थक विपर्यय	८०
विषमज्वर का वर्गीकरण	८०
विषमज्वरों की त्रिदोषजन्यता	८०
विषमज्वरों के कालपरिवर्तन के कारण	८१
ऋतु-अहोरात्र-दोष-मन और कर्मवश ज्वरों की उत्कर्षापकर्ष बोधक-सारणी	८१

विषय	पृष्ठांक
धातुगत ज्वर	
रसधातुगत ज्वर के लक्षण	८२
रक्तधातुगत ज्वर के लक्षण	८२
मांसधातुगत ज्वर के लक्षण	८२
मेदोधातुगत ज्वर के लक्षण	८२
अस्थिधातुगत ज्वर के लक्षण	८३
मज्जाधातुगत ज्वर के लक्षण	८३
शुक्रधातुगत ज्वर के लक्षण	८३
धातुगत ज्वरों की साध्यासाध्यता	८३
द्वन्द्वज-त्रिदोषज ज्वरों के वर्णन का उपक्रम	८३
द्वन्द्वज ज्वर	
वात-पित्तज ज्वर लक्षण	८३
वात-कफज ज्वर लक्षण	८३
कफ-पित्तज ज्वर लक्षण	८३
सन्निपातज्वर	
सन्निपातज्वर-वर्णन का उपक्रम	८४
१. वातपित्तोल्बण मन्दकफ सन्निपातज्वर	८४
२. वातकफोल्बण हीनपित्त	८४
३. पित्तकफोल्बण मन्दवात	८४
४. वातोल्बण कफपित्तहीन	८४
५. पित्तोल्बण वातकफहीन	८४
६. कफोल्बण वातपित्तहीन	८४
७. श्लेष्मोल्बण पित्तमध्य वातहीन	८४
८. पित्तोल्बण कफमध्य वातहीन सन्निपातज्वर	८४
९. वातोल्बण कफमध्य पित्तहीन सन्निपातज्वर	८५
१०. कफोल्बण वातमध्य पित्तहीन सन्निपातज्वर	८५
११. वातोल्बण पित्तमध्य कफहीन सन्निपातज्वर	८५
१२. पित्तोल्बण वातमध्य कफहीन सन्निपातज्वर	८५
१३. समसन्निपातज्वर	८५
त्रयोदश सन्निपातज्वर बोधक-सारणी	८६
भालुकितन्त्र कथित द्व्युल्बण, एकोल्बण आदि सन्निपातबोधक-सारणी	८६
तन्त्रान्तर में वर्णित सन्निपातबोधक-सारणी	८७
सन्निपात ज्वर की साध्यासाध्यता	८७
आगन्तुक ज्वर के भेद	८७
अभिघात ज्वर-निदान	८७

विषय	पृष्ठांक
अभिघातज्वर की सम्प्राप्ति और लक्षण	८८
अभिषङ्ग ज्वर	८८
आगन्तुक ज्वर और दोष	८८
विषज अभिषङ्ग ज्वर	८८
अभिचारज तथा अभिशापज ज्वर	८८
१. कामज्वर	८८
२. शोकज्वर	८८
३. भयज्वर	८८
४. क्रोधज्वर	८८
५. भूतावेशजन्य ज्वर	८९
६. विषज ज्वर	८९
कामादिजन्य ज्वरों में लक्षणों का पूर्वापरत्व	८९
वातादि दोष एवं कामादि विकारों से ज्वर की प्रबलता	८९
आगन्तुज ज्वरों का निजदोषानुबन्ध	८९
आगन्तुज ज्वरों का वैशिष्ट्य	८९
ज्वर की सम्प्राप्ति	८९
तरुणज्वर में स्वेद का अभाव	९०
आमज्वर के लक्षण	९०
पच्यमान ज्वर के लक्षण	९०
निरामज्वर के लक्षण	९०
ज्वर में सौषध क्रियाक्रम	
नवज्वर में त्याज्य आहार-विहार	९१
ज्वर में उपवास : प्रथम उपचार	९१
लंघन से लाभ	९१
लंघन की सीमा	९१
तरुणज्वर में पाचन	९१
ज्वर में जल का प्रयोग	९१
षडङ्गपानीय	९२
ज्वर में वमन	९२
तरुणज्वर में वमन-निषेध	९२
आमदोषनिर्हरण कष्टकर	९२
ज्वर में यवागू-प्रयोग	९२
यवागू-सेवनकाल	९२
यवागू-सेवन का फल	९२
यवागू-प्रयोग का निषेध	९३
तर्पण का प्रयोग	९३
दन्तधावन का प्रयोग	९३
दन्तधावन के बाद का कर्तव्य	९३

विषय	पृष्ठांक
ज्वर में कषाय प्रयोग	९३
तरुणज्वर में कषाय-निषेध	९४
त्याज्य कषाय	९४
यवागूपान के बाद भोजन-व्यवस्था	९४
ज्वर में घृतपान—	९४
घृतपान का अपवाद—	९४
ज्वर में मांसरस-प्रयोग	९४
ज्वर में दुग्धपान	९५
ज्वर में विरेचन	९५
ज्वर से क्षीण व्यक्ति का शोधन	९५
निरूह से लाभ	९५
स्रंसन	९५
जीर्णज्वर में अनुवासन	९५
ज्वर में नस्य-प्रयोग	९५
जीर्णज्वर में बाह्य उपचार	९५
ज्वर में धूपन	९६
ज्वरघ्न क्रियाक्रमबोधक-सारणी	९६
ज्वरनाशक द्रव्य	९६
ज्वर में पेया-प्रयोग	९६
पेया के अन्य प्रयोग	९७
ज्वर में अन्नपान	
ज्वर में यूष	९७
ज्वर में शाक	९८
ज्वर में मांसरस	९८
मांसरस का निषेध और विधि	९८
ज्वर में अनुपान	९८
नवज्वर में निषिद्ध आहार	९८
ज्वरनाशक पाँच कषाय	९८
विषमज्वरनाशक पाँच कषाय	९९
वत्सकादि कषाय	९९
मधूकादि शीतकषाय	१००
जात्यादि कषाय	१००
त्रिफलादि क्वाथ	१००
बृहत्यादि कषाय	१००
शट्यादि कषाय	१००
बृहत्यादि क्वाथ	१००
अतीतावेक्षण तन्त्रयुक्ति के अनुसार पूर्व के ग्रन्थ-विषयों का स्मरण	१००
ज्वर में घृत-प्रयोग की युक्ति —	१०१

विषय	पृष्ठांक
घृतयुक्त कषायज्वरशामक —	१०१
१. पिप्पल्यादि घृत	१०२
२. वासादि घृत	१०२
३. बलादि घृत	१०३
ज्वर में संशोधन	१०३
ज्वर में वमन द्रव्य	१०३
ज्वर में विरेचन द्रव्य	१०३
पञ्चमूलसिद्ध दुग्ध	१०४
एरण्डमूलादि दुग्ध	१०४
त्रिकण्टकादि दुग्ध	१०४
नागरादि दुग्ध	१०४
ज्वर में केवल दुग्ध	१०४
जीर्णज्वर में दुग्ध-प्रयोग	१०४
ज्वर में बस्ति-प्रयोग	१०४
पटोलादि निरूहबस्ति	१०५
आरग्वधादि निरूहबस्ति	१०५
गुडूच्यादि निरूहबस्ति	१०५
जीवन्त्यादि अनुवासनबस्ति	१०५
पटोलाद्यनुवासनबस्ति	१०६
चन्दनाद्यनुवासनबस्ति	१०६
शिरोविरेचन	१०६
तैलनस्य तथा धूमवर्ति	१०६
अभ्यङ्ग आदि	१०६
दाहज्वर में अभ्यङ्ग	१०६
चन्दनाद्य तैल	१०७
दाहज्वर में बाह्योपचार	१०७
दाहज्वर में शीत विहार	१०८
दाहज्वर में आहार-विहार	१०८
अगुर्वादि तैल का उपक्रम	१०८
अगुर्वादि तैल के क्वाथ तथा कल्क द्रव्य	१०८
शीतज्वरनाशक प्रयोग	१०९
लंघन के अपवाद ज्वर	११०
ज्वर में अग्निमन्दता का कारण और लंघन	११०
ज्वर की निरामता की अवधि	११०
ज्वर में गुरु आहार का निषेध	११०
वातज्वर में अभ्यङ्ग	१११
वातज्वर में जीर्णज्वरवत् उपचार	१११
कफप्रधान ज्वर में उपचार	१११
ज्वर में लंघन	१११

विषय	पृष्ठांक
ज्वरों में दोषानुसार वमन, विरेचन तथा बस्ति	१११
द्वन्द्वज या सन्निपातज्वर में चिकित्सा	१११
सन्निपातज्वर का चिकित्सा-सिद्धान्त	११२
सन्निपातज्वर में उपद्रव	११३
ज्वर में रक्तावसेक	११३
ज्वर में घृतपान—	११३
जीर्णज्वर में आहार	११३
तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर का चिकित्सासूत्र	११३
विषमज्वरनाशक प्रयोग	११४
विषमज्वरनाशक बस्ति प्रयोग आदि	११४
विषमज्वरनाशक नस्य, अंजन, धूपन आदि	११४
विषमज्वर में दैवव्यपाश्रयचिकित्सा	११५
धातुगत ज्वर-चिकित्सासूत्र	११५
आगन्तुकज्वर-चिकित्सा	११६
छोड़ते समय ज्वर का लक्षण	११६
दारुण मोक्ष	११६
अदारुण मोक्ष	११६
ज्वर के शान्त होने के लक्षण	११७
ज्वरी एवं ज्वरमुक्त के लिए निषेध	११७
ज्वरमुक्त के लिए संयम	११७
ज्वर के पुनरावर्तन में कारण	११७
पुनरावर्तक ज्वर की मारकता	११७
धातुलीन दोषों के उपद्रव	११७
अपथ्य से सभी रोगों का पुनरावर्तन	११७
पुनरावर्तक ज्वर चिकित्सा	११८
पुनरावर्तकनाशक क्वाथ	११८
पुनरावर्तक ज्वर की आवस्थिक चिकित्सा	११८
ज्वर का वैशिष्ट्य	११८
ज्वर का उपसंहार	११८
ज्वरभेदबोधक-सारणी	११९
ज्वरघ्न क्रिया, औषध एवं अन्नपान-सारणी	१२०
(४) रक्तपित्तचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	१२२
रक्तपित्त का उपक्रम	१२२
महागद रक्तपित्त शीघ्र चिकित्स्य	१२२
रक्तपित्त की सम्प्राप्ति	१२२
रक्तपित्त शब्द का निर्वचन	१२२
रक्तपित्त की निरुक्ति, निदान एवं सम्प्राप्ति	१२३
पित्त का आश्रयस्थल	१२३

विषय	पृष्ठांक
कफज रक्तपित्त	१२३
वातज रक्तपित्त	१२४
पैत्तिक रक्तपित्त	१२४
द्वन्द्वज रक्तपित्त	१२४
सान्निपातिक रक्तपित्त	१२४
रक्तपित्त की साध्यासाध्य-याप्यता	१२४
रक्तपित्त की दो गतियाँ और नौ द्वार	१२५
आन्तिकी गति	१२५
रक्तपित्त की असाध्यता	१२५
रक्तपित्त की याप्यता	१२५
रक्तपित्त की साध्यता	१२६
रक्तपित्त के विशेष कारण	१२६
रक्तपित्त में दोषों का सम्बन्ध	१२६
रक्तपित्त में स्तम्भन निषेध	१२६
रक्तस्रावस्तम्भनजन्य उपद्रव	१२६
रक्तस्राव का रोकना उपेक्षणीय	१२६
रक्तपित्त में लंघन	१२७
रक्तपित्त में लंघन या तर्पण का अवसर	१२७
रक्तपित्त में पेयजल	१२७
रक्तपित्त में तर्पण या पेया का प्रयोग	१२७
खर्जूरादि तर्पण	१२७
लाजा तर्पण	१२७
अम्ल तर्पण	१२७
रक्तपित्त में आहार	१२७
रक्तपित्त में सूप-यूष	१२८
रक्तपित्त में शाक	१२८
रक्तपित्त में मांसरस	१२८
रक्तपित्त में दोषानुसार पथ्य	१२८
यवागू प्रयोग	
१. पद्मोत्पलादि पेया	१२९
२. चन्दनादि पेया	१२९
३. किराततिक्तादि पेया	१२९
४. धातक्यादि पेया	१२९
५-९. मसूरादि पेया योग	१२९
मांसरसों के साथ पेया के योग	१२९
रक्तपित्त में पेयजल	१२९
रक्तपित्त में निदान-सेवन का निषेध	१३०
बहुदोष रक्तपित्त में वमन-विरेचन	१३०
विरेचन द्रव्य	१३०

विषय	पृष्ठांक
वमन द्रव्य	१३०
संशोधन के बाद पथ्य	१३०
संशमनयोग्य रोगी	१३१
आटरूषादि क्वाथ	१३१
पद्मकादि क्वाथ	१३१
रक्तपित्तनाशक योग	१३१
रक्तपित्तनाशक रक्त	१३१
संशमन योग	१३२
किराततिक्तादि संशमन द्रव्य	१३२
उशीरादि औषधों की कल्पनाएँ	१३२
प्रबल रक्तपित्त में उपचार	१३२
रक्तपित्तशामक प्रयोग	१३३
उशीरादि पेय	१३३
प्रियंग्वादि पेय	१३३
वातानुबन्धी रक्तपित्तहर योग	१३३
रक्तपित्त में दुग्धकल्पना	१३३
मूत्रमार्गी रक्तपित्त में योग	१३४
गुदमार्गी रक्तपित्त में योग	१३४
दुग्ध एवं घृत के प्रयोग	१३४
वासाघृत	१३४
रक्तपित्तघ्न घृतयोग	१३४
रक्तपित्त में अन्य उपचार अभ्यंग आदि	१३५
कफानुबन्ध में क्षारप्रयोग	१३५
शतावरीघृत	१३५
पञ्च पञ्चमूलघृत	१३५
नासिका के रक्तपित्त में उपचार	१३५
दुष्टरक्तावरोधजन्य रोग	१३६
नासारक्तपित्त में स्तम्भक नस्य योग	१३६
प्रदेह, परिसेचन आदि के द्रव्य	१३६
रक्तपित्तनाशक विहार	१३७
रक्तपित्त में शीतस्पर्श एवं मनोऽनुकूल विहार और कथा	१३७
अध्याय का उपसंहार	१३७
रक्तवमन	१३८
रक्तष्ठीवन	१३८
नासा रक्तस्राव	१३८
रक्तपित्त तथा अन्य रक्तस्राव-पार्थक्य बोधक-सारणी—	
रक्तपित्त और शुद्ध रक्त : सापेक्ष निदान	१३९

विषय	पृष्ठांक
रक्तपित्त और रक्तप्रमेह : सापेक्ष निदान	१३९
रक्तपित्त और रक्तार्श : सापेक्ष निदान	१३९
रक्तपित्त और रक्तातिसार : सापेक्ष निदान	१४०
रक्तपित्त और रक्तष्ठीवन : सापेक्ष निदान	१४०
रक्तपित्त-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	१४१
(५) गुल्मचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	१४२
गुल्मवर्णन का उपक्रम	१४२
गुल्म के निदान	१४२
गुल्म की सम्प्राप्ति	१४३
गुल्म के स्थान	१४३
वातज गुल्म का निदान	१४३
वातज गुल्म का लक्षण	१४४
पित्तज गुल्म का निदान	१४४
पित्तज गुल्म का लक्षण	१४४
कफज गुल्म के कारण	१४४
सन्निपातज गुल्म के कारण	१४४
कफज गुल्म के लक्षण	१४४
द्वन्द्वज गुल्म	१४५
असाध्य त्रिदोषज गुल्म के लक्षण	१४५
रक्तज गुल्म के कारण	१४५
रक्तज गुल्म के लक्षण	१४५
गुल्म और विद्रधि : सापेक्ष निदान	१४६
रक्तज गुल्म और गर्भ की समलिंगता तथा भेदबोधक सारणी	१४७
वातज गुल्म चिकित्सा	
गुल्मचिकित्सा का उपक्रम	१४७
वातज गुल्म में स्नेहन	१४७
वातज गुल्म में स्वेदन	१४७
वातज गुल्म में स्वेदन से लाभ	१४८
गुल्म में स्नेहपान और बस्ति	१४८
वातज गुल्म में बृंहण प्रयोग	१४८
वातज गुल्म में चिकित्सा की आवृत्ति	१४८
वायु नियन्त्रणपूर्वक उल्बण दोष की चिकित्सा	१४८
वातज गुल्म में वमन	१४८
वातज गुल्म में वर्ति आदि का प्रयोग	१४८
वातज गुल्म में विरेचन	१४८
वातज गुल्म में रक्तमोक्षण	१४८

विषय	पृष्ठांक
पित्तज गुल्म चिकित्सा	
पैत्तिक गुल्म में स्रंसन और घृतपान	१४९
पित्तज गुल्म में क्षीरबस्ति	१४९
पित्तज गुल्म में विरेचन	१४९
पित्तज गुल्म में रक्तावसेचन	१४९
रक्तमोक्षण करने में युक्ति	१४९
रक्तस्रावण का पश्चात् कर्म	१४९
गुल्म में शस्त्रकर्म	१४९
अपक्व गुल्म के लक्षण	१५०
पच्यमान गुल्म के लक्षण	१५०
पक्व गुल्म के लक्षण	१५०
पक्व गुल्म चिकित्सा	१५०
अन्तर्भाग के पच्यमान गुल्म का लक्षण	१५०
आभ्यन्तर पक्व गुल्म का लक्षण	१५०
अन्तःपक्व गुल्म की विद्रधिवत् चिकित्सा	१५०
कफज गुल्म चिकित्सा	
कफज गुल्म में लंघन	१५१
कफज गुल्म में वमन	१५१
वमन एवं लंघन के बाद उपचार	१५१
कफज गुल्म का विलयन	१५१
कफज गुल्म में क्षार एवं घृत प्रयोग	१५१
कफज गुल्म में विरेचन या बस्ति से शोधन	१५१
कफज गुल्म में गुटिका आदि का प्रयोग	१५१
कफज गुल्म में क्षार-प्रयोग एवं अग्निकर्म	१५१
कफज गुल्म में क्षार-प्रयोग में सावधानी	१५१
कफज गुल्म में क्षार की कार्मुकता	१५२
कफज गुल्म में अरिष्ट का प्रयोग	१५२
कफज गुल्म में दाहकर्म	१५२
अग्निकर्म से गुल्मशमन में युक्ति	१५२
अग्निकर्म एवं क्षार-प्रयोग में शल्यविद् का अधिकार	१५२
त्रिदोषज गुल्म चिकित्सासूत्र	१५२
औषध योग	
त्र्यूषणादि घृत	१५२
द्वितीय त्र्यूषणादि घृत	१५३
तृतीत त्र्यूषणादि घृत एवं षट्पल घृत	१५३
हिङ्गु सौवर्चलाद्य घृत	१५३
हपुषाद्य घृत	१५३

विषय	पृष्ठांक
पिप्पल्यादि घृत	१५४
घृत के कल्क द्रव्यों से चूर्ण आदि का निर्माण	१५४
गुल्म रोग में उनका अनुपान	१५४
गुल्म में मातुलुंग रस का प्रयोग	१५४
हिंग्वादि चूर्ण या गुटिका	१५४
वातज गुल्म पीड़ा में योग	१५४
शटचादि चूर्ण	१५५
नागरादि योग	१५५
एरण्डतैल योग	१५५
लशुनक्षीर	१५५
तैलपञ्चक	१५५
गुल्म में शिलाजतु का प्रयोग	१५६
गुल्म में वाट्य प्रयोग	१५६
वातज गुल्म में स्वेदन	१५६
गुल्म में बस्तिकर्म सर्वोत्तम उपचार	१५६
गुल्म में पुनः-पुनः बस्ति-प्रयोग	१५६
वातगुल्म में तैल का लाभ	१५६
वातगुल्म में नीलिनी का प्रयोग	१५६
नीलिनी घृत	१५६
नीलिन्यादि घृत	१५७
वातज गुल्म में पथ्य	१५७
गुल्म और जठराग्नि का सम्बन्ध	१५७
गुल्म में स्नेहन-स्वेदन का फल	१५७
पित्तज गुल्म में वैरेचनिक घृत	१५७
रोहिण्याद्य घृत	१५८
त्रायमाणाद्य घृत	१५८
आमलकाद्य घृत	१५८
द्राक्षाद्य घृत	१५८
वासा घृत	१५८
त्रायमाणा प्रयोग	१५९
पित्तज गुल्म में विरेचन	१५९
पित्तज गुल्म में अभ्यंग	१५९
पित्तज गुल्म में बस्तिप्रयोग	१५९
पित्तज गुल्म में पथ्य	१५९
पित्तज गुल्म में अग्निदीपन	१५९
अग्निसंरक्षण और निदानपरिवर्जन आवश्यक	१५९
कफज गुल्म चिकित्सा में घटप्रयोग	१६०
कफज गुल्म में स्वेदन	१६०
दशमूलीघृत	१६०

विषय	पृष्ठांक
भल्लातकाद्य घृत	१६०
क्षीरषट्पल घृत	१६१
मिश्रक स्नेह	१६१
कफज गुल्म में विरेचन योग	१६१
त्रिवृत् विरेचन	१६१
दन्ती हरीतकी	१६१
कफज गुल्म में बस्तियोग तथा अरिष्टप्रयोग	१६२
कफज गुल्म में चूर्ण आदि का प्रयोग	१६२
कफज गुल्म में पथ्य	१६२
कफज गुल्म में पेय	१६२
असाध्य कफज गुल्म का लक्षण	१६३
रक्तज गुल्म चिकित्सा	
रक्तज गुल्म में स्नेहविरेचन	१६३
पलाशक्षार यमक	१६३
योनि-विशोधन	१६३
योनि-विशोधन योग	१६३
रक्तज गुल्म में रक्तस्रावकाल में उपचार	१६४
वातज गुल्म का चिकित्सासूत्र	१६४
पित्तज गुल्म का चिकित्सासूत्र	१६४
कफज गुल्म का चिकित्सासूत्र	१६४
गुल्मचिकित्सा का उपसंहार	१६५
गुल्म-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	१६६
(६) प्रमेहचिकित्साध्यायः	
प्रमेह वर्णन का उपक्रम	१६७
प्रमेहरोग के सामान्य हेतु	१६७
कफज प्रमेह की सम्प्राप्ति	१६७
पित्तज प्रमेह की सम्प्राप्ति	१६७
वातज प्रमेह की सम्प्राप्ति	१६७
प्रमेहों की सामान्य सम्प्राप्ति	१६७
प्रमेहों की साध्यासाध्यता	१६८
प्रमेहजनक दोष और दूष्य	१६९
कफज दश प्रमेह	१६९
पित्तज छह प्रमेह	१६९
वातज चार प्रमेह	१७०
प्रमेह में दोषानुसार वर्ण आदि	१७०
प्रमेह का पूर्वरूप	१७०
प्रमेह का चिकित्सासूत्र	१७०
संशोधन तथा सन्तर्पण	१७१
प्रमेही के सन्तर्पण में युक्ति	१७१

विषय	पृष्ठांक
प्रमेह में संशमन चिकित्सा	१७१
प्रमेह में पथ्य —	१७१
कफप्रमेह में सन्तर्पण योग	१७२
प्रमेह में सेवनीय आहार	१७२
पित्त प्रमेह में संशोधन और संशमन	१७२
प्रमेहनाशक संशमन योग	१७२
कफज प्रमेहनाशक दश योग	१७३
पित्तप्रमेहनाशक दश योग	१७३
प्रमेहहर कषायों का व्यावहारिक प्रयोग	१७३
प्रमेह में स्नेह का प्रयोग	१७३
कफ-पित्त प्रमेह में उपचार	१७४
वातज प्रमेह में स्नेहकल्पना	१७४
त्रिकण्टकाद्य स्नेह	१७४
सर्वप्रमेहहर फलत्रिकादि क्वाथ	१७४
लोध्रासव अथवा मध्वासव	१७५
दन्त्यासव	१७५
भल्लातकासव	१७५
प्रमेह में पेय द्रव	१७५
सन्तर्पणजन्य प्रमेह में अन्नपान	१७५
कफ-पित्तज प्रमेहों में विरूक्षण उपचार	१७६
प्रमेह में व्यायाम तथा बाह्य उपचार	१७६
प्रमेह में दोषानुसार अपतर्पण	१७६
वातोल्बण प्रमेह चिकित्सा	१७६
प्रमेह में निदानपरित्याग एक उपचार	१७६
रक्तपित्त में प्रमेह का भ्रम-निवारण	१७६
प्रमेहविशेष के निर्णय का आधार	१७७
साध्य, याप्य एवं असाध्य प्रमेह	१७७
वंशानुगत प्रमेह असाध्य	१७७
प्रमेहपिडका की चिकित्सा शल्यविद् करें	१७७
उपसंहार	१७८
प्रमेहपिडकाबोधक-सारणी	१७८
संहिताओं में वर्णित प्रमेहों में सामञ्जस्य बोधक-सारणी	१७९
द्विविध प्रमेही चिकित्सा-सारणी	१८०
प्रमेह-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	१८०
(७) कुष्ठचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	१८१
कुष्ठ-वर्णन का उपक्रम	१८१
कुष्ठ के कारण	१८१
कुष्ठ की सम्प्राप्ति	१८२
कुष्ठ-विसर्प सापेक्ष निदान-सारणी	१८२
कुष्ठ का पूर्वरूप	१८२
अष्टादश कुष्ठ	१८२
कुष्ठ नाम-मतभेद-सारणी	१८३
१. कपाल कुष्ठ का लक्षण	१८३
२. औदुम्बर कुष्ठ का लक्षण	१८३
३. मण्डल कुष्ठ का लक्षण	१८३
४. ऋष्यजिह्व कुष्ठ का लक्षण	१८३
५. पुण्डरीक कुष्ठ का लक्षण	१८४
६. सिध्म कुष्ठ का लक्षण	१८४
७. काकणक कुष्ठ का लक्षण	१८४
१. एक कुष्ठ का लक्षण	१८४
२. चर्म कुष्ठ का लक्षण	१८४
३. किटिभ कुष्ठ का लक्षण	१८४
४. विपादिका कुष्ठ का लक्षण	१८४
५. अलसक कुष्ठ का लक्षण	१८४
६. दद्रु कुष्ठ का लक्षण	१८४
७. चर्मदल कुष्ठ का लक्षण	१८४
८. पामा कुष्ठ का लक्षण	१८४
९. विस्फोट कुष्ठ का लक्षण	१८५
१०. शतारु कुष्ठ का लक्षण	१८५
११. विचर्चिका कुष्ठ का लक्षण	१८५
कुष्ठों में दोष-प्राधान्य का वर्णन —	१८५
कुष्ठचिकित्सा में प्रधान दोष की प्रथम चिकित्सा	१८५
कुष्ठ तथा दोष एक दूसरे के ज्ञापक	१८५
कुष्ठों में दोषजन्य लक्षण	१८६
कुष्ठ की साध्यासाध्यता	१८६
दोषानुसार चिकित्सासूत्र	१८६
कुष्ठ में वमन-विरेचन योग	१८६
कुष्ठ में पुनः पुनः संशोधन	१८६
संशोधन या रक्तमोक्षण के अनन्तर स्नेहपान	१८६
ऊर्ध्वभागस्थ कुष्ठ में वमन प्रयोग	१८७
वमनकारक द्रव्य	१८७
कुष्ठ में विरेचनकारक द्रव्य	१८७
विरेचन द्रव्यों के मिश्रणार्थ सहपान	१८७
कुष्ठ में आस्थापनबस्ति	१८७
वातप्रधान कुष्ठ में अनुवासन स्नेह	१८७
कुष्ठ में नस्य योग	१८८

विषय	पृष्ठांक
कुष्ठ में धूमपान	१८८
कुष्ठ में रक्तमोक्षण	१८८
कुष्ठ में लेप का उपयोग	१८८
कुष्ठ में क्षार का प्रयोग	१८८
कुष्ठ में अगद प्रयोग	१८८
कुष्ठ में प्रदेह	१८८
कुष्ठ में संशमन प्रयोग	१८९
पित्तज कुष्ठ चिकित्सासूत्र	१८९
कुष्ठघ्न योगवर्णन का उपक्रम	१८९
१-२. कुष्ठशामक योग	१८९
३. पटोलमूलादि क्वाथ	१८९
४. मुस्तादि चूर्ण	१९०
५. त्रिफलादि चूर्ण	१९०
६-७. गन्धक एवं स्वर्णमाक्षिक का प्रयोग	१९०
८-१०. कुष्ठ में पारद प्रयोग	१९०
११. मध्वासव	१९१
१२. कनकबिन्द्वरिष्ट	१९१
१३. अमलतास का क्वाथ	१९१
१४. त्रिफलासव	१९२
कुष्ठ में पथ्यापथ्य	१९२
१. कुष्ठ में आलेपन	१९२
२. चित्रकादि लेप	१९२
३. मांस्यादि लेप	१९२
४. त्रप्वादि लेप	१९२
५. फल्गवादि लेप	१९२
६. कदल्यादि क्षार	१९३
७. सिद्धार्थक स्नान	१९३
८. कुष्ठादि लेप	१९३
९. प्रपुन्नाडादि लेप	१९३
१०. करवीरादि लेप	१९३
११. लोध्रादि लेप	१९३
१२-१५. कुष्ठनाशक चार लेप	१९३
१६-२३. कुष्ठनाशक आठ कषाय योग	१९४
२४-२७. त्रिफलादि क्वाथ एवं घृत	१९४
२८. कुष्ठाद्य तैल	१९४
२९. श्वेतकरवीराद्य तैल	१९४
३०. श्वेतकरवीर पल्लवाद्य तैल	१९५
३१. तिक्तेक्ष्वादि तैल	१९५
३२. कनकक्षीरी तैल	१९५
३३. सिध्महर लेप	१९६
कुष्ठहर तैलों के नाम	१९६
३४. विपादिकाहर घृत-तैल योग	१९६
३५. मण्डलकुष्ठनाशक लेप	१९६
३६. तुम्बुरु-कुष्ठ लेप	१९६
३७. अन्य मण्डलकुष्ठहर लेप	१९६
३८-४३. वात-कफ कुष्ठनाशक छह योग	१९६
४४. एडगजादि लेप	१९७
४५-४७. एडगजादि तीन उबटन	१९७
४८-४९. कुष्ठ में स्नान, पान, उद्वर्तन और लेप	१९७
५०. पित्तकफकुष्ठहर लेप	१९७
५१. पित्तकुष्ठनाशक क्वाथ	१९७
५२. पित्तकुष्ठ में आलेपन	१९७
५३. दाहयुक्त कुष्ठ में अभ्यंग	१९७
५४. विस्फोटक और चर्मदल में उपचार	१९७
५५-५८. कुष्ठों में घृतप्रयोग	१९८
५९. त्रिफलायोग	१९८
६०. तिक्त षट्पल घृत —	१९८
६१. महातिक्तक घृत	१९९
साध्यकुष्ठ का अपुनरावर्तन	१९९
६२. महाखदिर घृत	२००
६३. गलत्कुष्ठ में गोमूत्रपान	२००
६४. कुष्ठहर स्नानादि	२००
६५. खदिर सर्वश्रेष्ठ कुष्ठनाशक	२००
६६-६८. कुष्ठनाशक लेप	२००
श्वेतकुष्ठ-चिकित्सा	
६९. श्वित्र में विशेष उपचार	२००
७०. विरेचन के बाद का उपचार	२०१
७१. कुष्ठ में स्फोट का भेदन	२०१
७२. खदिर क्वाथ	२०१
७३-८०. मनःशिलादि लेप	२०१
पाप क्षीण होने पर श्वित्र साध्य	२०१
श्वित्र के भेद	२०२
असाध्य श्वित्र का लक्षण	२०२
कुष्ठ और किलास : सापेक्ष निदान	२०२
श्वित्र की साध्यावस्था	२०२
किलास (श्वेतकुष्ठ) का निदान	२०२
कुष्ठ चिकित्सित का उपसंहार	२०३
कुष्ठ-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	२०४

विषय	पृष्ठांक
(८) राजयक्ष्मचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	२०६
राजयक्ष्मा की उत्पत्ति	२०७
चन्द्रमा की शरणागति और शापमुक्ति	२०७
यक्ष्मा के पर्याय	२०७
यक्ष्मा का मर्त्यलोक में अवतरण	२०७
राजयक्ष्मा के चार कारण	२०७
१. साहसजन्य यक्ष्मा का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	२०८
२. वेगसन्धारणजन्य यक्ष्मा का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	२०८
३. धातुक्षयजन्य यक्ष्मा के कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण	२०८
४. विषमाशनजन्य यक्ष्मा के निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	२०९
कारणभेद से राजयक्ष्मा के लक्षण-भेदबोधक-सारणी	२११
राजयक्ष्मा का पूर्वरूप	२११
राजयक्ष्मा के विस्तृत वर्णन का उपक्रम	२१२
राजयक्ष्मा में पुरीष की रक्षा करणीय	२१२
राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति	२१२
राजयक्ष्मा के ग्यारह लक्षण	२१२
राजयक्ष्मा के छह लक्षण	२१३
राजयक्ष्मा की साध्यासाध्यता	२१३
राजयक्ष्मा में प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति	२१३
१. राजयक्ष्मा में कास का रूप	२१३
२-३. राजयक्ष्मा का सामान्य लक्षण	२१३
४. राजयक्ष्मा में स्वरभेद की सम्प्राप्ति	२१३
५-६. राजयक्ष्मा में पार्श्वशूल और शिरःशूल	२१४
७-८. राजयक्ष्मा में रक्त एवं कफ का वमन	२१४
९. राजयक्ष्मा में श्वास	२१४
१०. राजयक्ष्मा में अतिसार	२१४
११. राजयक्ष्मा में अरुचि	२१४
वमन के कारण	२१५
राजयक्ष्मा में दोषानुसार चिकित्सा	२१५
राजयक्ष्मा में साधारणी चिकित्सा	२१५
पीनस में चिकित्सा	२१५
राजयक्ष्मा में मांस का प्रयोग	२१५
राजयक्ष्मा में अजामांसरस प्रयोग	२१५
राजयक्ष्मा में आहार	२१५
राजयक्ष्मा में पेय पदार्थ	२१५
राजयक्ष्मा में स्वेद-विधान	२१५
राजयक्ष्मा में परिषेक	२१५
राजयक्ष्मा में नाडी स्वेद	२१५
राजयक्ष्मा में अन्य नाडी स्वेद	२१७
राजयक्ष्मा में उपनाह स्वेद	२१७
राजयक्ष्मा में आलेपन	२१७
राजयक्ष्मा में चार प्रदेह	२१७
राजयक्ष्मा में नस्य आदि का प्रयोग	२१७
राजयक्ष्मा में पद्मकादि प्रमेह	२१७
राजयक्ष्मा में प्रपौण्डरीकादि प्रलेप	२१७
राजयक्ष्मा में दाहशामक उपचार	२१७
राजयक्ष्मा में वमन और विरेचन	२१८
सिद्धयोग वर्णन का आरम्भ	२१८
राजयक्ष्मा में नस्य	२१८
राजयक्ष्मा में घृतपान काल एवं फल	२१८
राजयक्ष्मा में दशमूलाद्य घृत	२१८
रास्नाघृत एवं बलाघृत का सेवनकाल	२१८
अवलेहों और स्नेहों का उपक्रम	२१९
खर्जूरादि घृतावलेह	२१९
दशमूल घृत	२१९
पञ्च पञ्चमूल घृत	२१९
अन्य पञ्च पञ्चमूल घृत	२१९
चार अवलेह	२१९
सितोपलादि चूर्ण	२१९
दाह, ज्वर एवं रक्तपित्त में उपचार	२२०
दुरालभाद्य घृत	२२०
जीवन्त्यादि घृत	२२०
बलादि क्षीर	२२०
राजयक्ष्मा में पथ्य	२२०
यक्ष्मा रोगी के ज्वर तथा दाह में ज्वरवत् चिकित्सा	२२०
कफप्रसेक में वमन	२२१
कफनाशक पथ्य	२२१
कफप्रसेक और उसका चिकित्सासूत्र	२२१
वमनचिकित्सा	२२१
अतिसार की सम्प्राप्ति	२२१
अतिसार-चिकित्सा	
अतिसार चिकित्सासूत्र	२२१

विषय	पृष्ठांक
अतिसार में पथ्य	२२१
पाठादि चूर्ण	२२१
दुरालभादि चूर्ण	२२१
जम्बूबीजादि चूर्ण	२२१
अतिसार में खडयूष	२२२
अतिसार में खड प्रयोग	२२२
अतिसार में मांसरस और रक्तशालि	२२२
अतिसार में पेय द्रव्य	२२२
अरोचक-चिकित्सा	
मुखवैरस्य में उपचार —	२२३
मुखशोधक पाँच योग	२२३
कवल योग	२२३
यवानीषाडव चूर्ण—	२२३
तालीसादि चूर्ण	२२३
शोष-चिकित्सा	
यक्ष्मा में बृंहणार्थ मांसप्रयोग	२२४
यक्ष्मा में प्रदेय मांस	२२४
यक्ष्मा में छद्मनाम से मांसप्रयोग	२२४
यक्ष्मोपयोगी श्रेष्ठमांस	२२५
मांस की योनियाँ और उनका उपयोग	२२५
यक्ष्मा में मांस, मद्य, इन्द्रियनिग्रह और अवेगरोध का महत्त्व	२२५
मांसभक्षण में अनुपान	२२५
मद्य के द्वारा शोषशमन में युक्ति	२२५
राजयक्ष्मा में घृतयोग	२२६
पञ्चकोलादि घृत	२२६
रास्नादि घृत	२२६
आभ्यवहारिक विधि का निर्देश	२२६
राजयक्ष्मा में बाह्य प्रयोग	
अवगाहन	२२६
मर्दन और उबटन	२२६
उबटन की औषधें	२२७
यक्ष्मा में स्थानीय जल	२२७
यक्ष्मा में पान-भोजन	२२७
यक्ष्मा में पथ्यतम अन्न	२२७
यक्ष्मा में क्षतक्षीणवत् चिकित्सा	२२७
यक्ष्मा चिकित्सा का उपसंहार	२२७
यक्ष्मा की वैदिक चिकित्सा	२२८
अध्याय का उपसंहार	२२८
राजयक्ष्मा-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	२२९
(९) उन्मादचिकित्साध्यायः	
उन्माद-वर्णन का उपक्रम	२३२
उन्माद का निदान	२३२
उन्माद की सम्प्राप्ति	२३२
उन्माद का सामान्य लक्षण	२३३
उन्माद में विवेकनाश	२३३
उन्माद के पाँच भेद	२३३
वातज उन्माद का निदान और सम्प्राप्ति	२३३
वातज उन्माद का लक्षण	२३३
पित्तज उन्माद का निदान और सम्प्राप्ति	२३४
पित्तज उन्माद का लक्षण	२३४
कफज उन्माद का निदान और सम्प्राप्ति	२३४
कफज उन्माद का लक्षण	२३४
सन्निपातज उन्माद का निदान, लक्षण और त्याज्यता	२३४
आगन्तुक उन्माद के कारण	२३५
भूतोन्माद का लक्षण	२३५
देव आदि का शरीर में प्रवेश	२३५
देवादिकों का आवेशकाल	२३५
१. देवोन्माद का लक्षण	२३५
२. गुरु आदि के अभिशाप से हुए उन्माद का लक्षण	२३५
३. पितृग्रहज उन्माद का लक्षण	२३६
४. गन्धर्वोन्माद का लक्षण	२३६
५. यक्षोन्माद का लक्षण	२३६
६. राक्षसोन्माद का लक्षण	२३६
७. ब्रह्मराक्षसोन्माद का लक्षण	२३६
८. पिशाचोन्माद का लक्षण	२३६
देवादि ग्रहों के आवेशकाल और पुरुष	२३७
भूतग्रहोन्माद का असाध्य लक्षण	२३८
उन्माद-चिकित्सा	
रति एवं अर्चनार्थीभूत चिकित्सासूत्र	२३८
चिकित्सा का उपक्रम	२३८
वातज उन्माद का चिकित्सासूत्र	२३८
उन्माद में पञ्चकर्म प्रयोग	२३८
शोधन की फलश्रुति	२३९
उन्माद रोग में तीक्ष्ण उपचार	२३९
उन्माद रोग में प्रताडन	२३९

विषय	पृष्ठांक
आगन्तुक उन्माद का चिकित्सासूत्र	२३९
योग कथन का उपक्रम	२३९
हिंग्वाद्य घृत	२३९
कल्याणक घृत	२४०
महाकल्याणक घृत	२४०
महापैशाचिक घृत	२४०
लशुनाद्य घृत	२४१
द्वितीय लशुनाद्य घृत	२४१
अन्य घृतयोग	२४२
उन्माद में पुराणघृत प्रयोज्य	२४२
पुराणघृत का लक्षण और गुण	२४२
प्रपुराण घृत	२४२
सौ वर्ष का पुराना घी	२४२
उन्माद में नस्य और अञ्जन	२४३
अपामार्गाद्यञ्जन	२४३
सिद्धार्थकादि अगद	२४३
सिद्धार्थक घृत	२४३
धूमपान	२४३
वात-श्लेष्मज उन्माद में प्रतिकर्म	२४४
पित्तज उन्माद में प्रतिकर्म	२४४
उन्माद में सिरावेध	२४४
उन्माद में घृत एवं मांस का सेवन	२४४
उन्माद में आश्वासन	२४४
उन्माद में कष्ट देना और ताडन करना	२४४
उन्माद में भय और त्रास देना	२४५
उन्माद में प्राणभय दिखाने में युक्ति	२४५
उन्माद में सान्त्वना और आश्वासन	२४५
उन्माद में मनोविकारों में प्रतिद्वन्द्विता लाना	२४५
भूतज या दोषज उन्माद में देशादि ज्ञानपूर्वक चिकित्सा	२४५
देवादिजन्य भूतोन्माद में तीक्ष्ण कर्म का निषेध	२४५
आगन्तुक उन्माद में दैवव्यपाश्रय उपचार	२४५
उन्माद में अपस्मारवत् चिकित्सा	२४६
सदाचार से उन्माद का प्रतिरोध	२४६
उन्मादमुक्त का लक्षण	२४६
अध्याय का उपसंहार	२४६
उन्माद-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	२४७
(१०) अपस्मारचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	२४८
अपस्मार शब्द का निर्वचन	२४८
अपस्मार का निदान	२४८
अपस्मार की सम्प्राप्ति और पूर्वरूप	२४८
अपस्मार के प्रकार	२५०
वातज अपस्मार का लक्षण	२५०
पित्तज अपस्मार का लक्षण	२५०
कफज अपस्मार का लक्षण	२५०
सन्निपातज अपस्मार का लक्षण और असाध्यता	२५०
अपस्मार के वेग का काल	२५०
अपस्मार का चिकित्सा-सिद्धान्त	२५०
संशमन योगों का उपक्रम	२५१
पञ्चगव्य घृत	२५१
महा पञ्चगव्य घृत	२५१
ब्राह्मीघृत	२५१
सैन्धवादि घृत	२५२
वचादि घृत	२५२
जीवनीय यमक प्रयोग	२५२
जीवनीय घृत	२५२
काशादि घृत	२५२
आमलकादि घृत	२५२
अपस्मार में अभ्यंग आदि	२५२
कटभ्यादि तैल	२५२
पलङ्कषादि तैल	२५३
अपस्मार में धूपन द्रव्य	२५३
अपस्मार में उबटन और आसेचन	२५३
अपस्मार में अन्य उबटन	२५३
अपस्मार में नस्य योग	२५३
त्रिफलादि तैल नस्य	२५३
प्रधमन नस्य	२५४
कायस्थादि वर्ती	२५४
मुस्तादि वर्ती	२५४
अञ्जन और धूपन	२५४
आगन्तुक अपस्मार चिकित्सा	२५४
अतत्त्वाभिनिवेश सम्बन्धी प्रश्न	२५५
अतत्त्वाभिनिवेश का कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण	२५५
अतत्त्वाभिनिवेश का चिकित्सासूत्र	२५५
ब्राह्मी, शंखपुष्पी और मेध्य रसायन	२५५

विषय	पृष्ठांक
धैर्य बँधाना	२५६
पाँच योग	२५६
अपस्मार में रसायन-प्रयोग	२५६
अपस्मार में चेतावनी	२५६
अध्याय का उपसंहार	२५६
अपस्मार-मूर्च्छा : सापेक्ष्य निदान	२५७
अपस्मार-योषापस्मार : सापेक्ष्य निदान	२५७
अपस्मार-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	२५८
(११) क्षतक्षीणचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	२५९
क्षतक्षीण का उपक्रम	२५९
क्षत का निदान	२५९
उरःक्षत का अन्य कारण	२५९
उरःक्षत का लक्षण	२६०
उरःक्षत का पूर्वरूप	२६०
क्षतक्षीण में विशेष लक्षण	२६०
साध्यासाध्यता	२६०
क्षतक्षीण-चिकित्सा	
लाक्षा के योग	२६०
लाक्षादि क्षीर	२६१
इक्ष्वालिकादि क्षीर	२६१
उरःक्षत में यव का प्रयोग	२६१
मधुकादि योग	२६१
एलादि गुटिका	२६१
अतिरक्तनिर्गमन में योग	२६१
रक्तष्ठीवन में प्रयोग	२६१
उरःक्षत में मूढवात	२६२
उरःक्षत में पुष्टिकर योग	२६२
न्यग्रोधादि घृत	२६२
यष्ट्यादि घृत	२६२
कोललाक्षादि घृत	२६२
अमृतप्राश घृत	२६३
श्वदंष्ट्रादि घृत	२६३
सक्तुप्रयोग	२६३
धात्रीफलाद्य घृत	२६४
घृतसेवन के नियम	२६४
कृश एवं दुर्बलों के लिए सर्पिर्गुड	२६४
द्वितीय सर्पिर्गुड	२६४
तृतीय सर्पिर्गुड	२६५
चतुर्थ सर्पिर्गुड	२६६
पञ्चम सर्पिर्मोदक	२६६
मैथुनजन्य बस्तिगत वात में उपचार	२६६
उरःक्षत में बृंहण योग	२६७
सैन्धवादि चूर्ण	२६७
षाडव	२६७
नागबला कल्प	२६८
क्षतक्षीण में पथ्य	२६८
क्षतक्षीण की उपेक्षा से राजयक्ष्मा की सम्भावना	२६८
अध्याय का उपसंहार	२६८
क्षतक्षीण-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	२६९
(१२) श्वयथुचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	२७०
श्वयथु-वर्णन का उपक्रम	२७०
निजशोथ का कारण	२७०
आगन्तुक शोथ के कारण	२७१
निजशोथ के भेद	२७१
शोथ की सम्प्राप्ति	२७१
विशिष्ट शोथों की विशिष्ट सम्प्राप्ति	२७१
शोथ का पूर्वरूप	२७२
सभी शोथ त्रिदोषज	२७२
शोथ के सामान्य लक्षण	२७२
वातज शोथ लक्षण	२७२
पित्तज शोथ लक्षण	२७२
कफज शोथ लक्षण	२७२
शोथ का असाध्य लक्षण	२७३
शोथ का साध्य लक्षण	२७३
शोथ का चिकित्सासूत्र	२७३
अन्य चिकित्सासूत्र	२७३
शोथ में अपथ्य	२७४
कफज शोथ चिकित्सा	२७४
हरीतक्यादि योग	२७४
वातज शोथ चिकित्सा	२७४
वातपित्तज शोथ चिकित्सा	२७४
दुग्धाहार	२७५
शोथातिसार चिकित्सा	२७५
विबन्ध में उपचार	२७५
गण्डीराद्यरिष्ट	२७५

विषय	पृष्ठांक
अष्टशत अरिष्ट	२७६
पुनर्नवाद्यरिष्ट	२७७
फलत्रिकाद्यरिष्ट	२७७
अन्य हितकर अरिष्ट	२७७
कृष्णादि चूर्ण	२७७
क्षारगुटिका	२७८
गुडार्द्रक-प्रयोग	२७८
आर्द्रक स्वरस प्रयोग	२७९
शिलाजतु प्रयोग	२७९
कंसहरीतकी	२७९
पटोलमूलादि क्वाथ	२८०
चित्रकादि घृत	२८०
द्वितीय चित्रकादि घृत	२८०
चित्रकघृत	२८०
जीवन्त्यादि यवागू	२८१
पञ्चकोल यवागू	२८१
शोथरोग में पथ्य	२८१
शाकाहार	२८१
अन्न	२८१
शोथ में बाह्य चिकित्सा का उपक्रम	२८१
शैलेयादि तैल और प्रमेह	२८१
वातज शोथ में स्वेदन, स्नान तथा अनुलेपन	२८२
पित्तज शोथ में तैल और प्रदेह	२८२
पित्तज शोथ में स्नान और लेपन	२८२
कफज शोथ में प्रलेप, परिषेक और अनुलेप	२८२
शोथ में दाहपीडाशामक लेप	२८२
शोथ में उन्मर्दन और परिसेचन	२८३
स्थानादि भेदों से शोथों के भेद	२८३
शिरःशोथ	२८३
शालूक	२८३
विडालिका	२८३
तालुविद्रधि	२८३
उपजिह्विका तथा अधिजिह्विका	२८३
उपकुश	२८३
दन्तविद्रधि	२८३
गलगण्ड	२८४
गण्डमाला	२८४
शरीरावयवज शोथों का चिकित्सासूत्र	२८४
ग्रन्थिशोथ	२८४
ग्रन्थिशोथ चिकित्सा	२८४
ग्रन्थिशोथ की असाध्यता	२८५
अर्बुद चिकित्सा	२८५
अलजी	२८५
मांसाम्रदूषी	२८५
विदारिका	२८६
विस्फोटक	२८६
कक्षा	२८६
पित्तज पिडका	२८६
रोमान्तिका	२८६
मसूरिका	२८६
ब्रध्नरोग	२८६
मूत्रज वृद्धि	२८६
मेदोज वृद्धि	२८७
ब्रध्न तथा मूत्रज वृद्धि चिकित्सा	२८७
भगन्दर	२८७
भगन्दर चिकित्सा	२८८
श्लीपद	२८८
श्लीपद चिकित्सा	२८८
जालकगर्दभ	२८९
जालकगर्दभ चिकित्सा	२८९
शोथों का उपचार दोषानुसार	२८९
आगन्तुक शोथ चिकित्सा	२८९
अध्याय का उपसंहार	२८९
श्वयथु-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	२९०
(१३) उदरचिकित्साध्यायः	
उदररोगों का उपक्रम	२९२
पुनर्वसु के वचन का उपक्रम	२९२
उदररोग की सम्प्राप्ति	२९२
उदररोग का निदान	२९३
उदररोग का पूर्वरूप	२९३
उदररोग की उत्पत्ति	२९३
उदररोग का सामान्य लक्षण	२९४
उदररोग के आठ भेद	२९४
वातज उदररोग का कारण और सम्प्राप्ति	२९४
वातोदर के लक्षण	२९४
पित्तोदर का निदान और सम्प्राप्ति	२९५
पित्तोदर के लक्षण	२९५
कफोदर का निदान और सम्प्राप्ति	२९५

विषय	पृष्ठांक
कफोदर के लक्षण	२९५
सन्निपातज उदररोग का कारण और सम्प्राप्ति	२९५
सन्निपातोदर के लक्षण	२९६
प्लीहोदर का कारण और सम्प्राप्ति	२९६
वृद्ध प्लीहा की आकृति	२९६
प्लीहोदर का लक्षण	२९६
बद्धगुदोदर का निदान और सम्प्राप्ति	२९७
बद्धगुदोदर का लक्षण	२९७
छिद्रोदर का निदान और सम्प्राप्ति	२९८
छिद्रोदर के लक्षण	२९८
जलोदर का कारण और सम्प्राप्ति	२९८
जलोदर का लक्षण	२९९
जलोदर की प्रारम्भ में ही चिकित्सा	२९९
जलोदर की असाध्यता	२९९
उदररोग उत्तरोत्तर कृच्छ्रसाध्य	३००
उदररोग की असाध्यता	३००
उदररोग की कृच्छ्रसाध्यता	३००
अजातोदक का लक्षण	३००
वातोदर का चिकित्सासूत्र	३०१
उदररोग में नित्य विरेचन प्रयोग	३०१
संसर्जन और दुग्ध प्रयोग	३०१
आस्थापन प्रयोग	३०१
अनुवासन तथा निरूहबस्ति का प्रयोग	३०१
निरूहबस्ति का योग	३०१
अनुवासन योग	३०१
दुर्बल वातोदरी का उपचार	३०१
पित्तोदर चिकित्सा	३०२
पुनः विरेचन	३०२
कफोदर चिकित्सा	३०२
सन्निपातोदर चिकित्सा	३०२
प्लीहोदर में दोषानुसार चिकित्सा	३०३
प्लीहोदर में क्रियाक्रम	३०३
पिप्पल्यादि चूर्ण	३०३
विडङ्गादि क्षार	३०३
रोहीतकादि योग	३०३
रोहीतक घृत	३०४
प्लीहोदर में अग्निकर्म	३०४
पैत्तिक प्लीहोदर में उपचार	३०४
बद्धोदर चिकित्सा	३०४
छिद्रोदर चिकित्सा	३०४
छिद्रोदर का असाध्य लक्षण	३०५
जलोदर की चिकित्सा	३०५
सभी उदररोग त्रिदोषज हैं!	३०५
सभी उदररोगों में सामान्य उपचार और पथ्य	३०५
उदररोग में अपथ्य	३०५
उदरामयों में तक्र-प्रयोगविधि	३०६
उदररोग में ऊँटनी का दूध	३०६
उदररोग में दुग्धपान	३०६
देवदार्वादि लेप	३०६
उदररोग में परिसेचन योग	३०६
पञ्चकोल घृत	३०७
नागरादि यमक	३०७
चित्रक घृत	३०७
यवादि घृत	३०७
उदररोग में विरेचन का अवसर	३०७
पटोलमूलाद्य चूर्ण	३०८
गवाक्ष्यादि चूर्ण	३०८
नारायण चूर्ण	३०८
नारायण चूर्ण का रोगानुसार अनुपान	३०९
हपुषाद्य चूर्ण	३०९
नीलिन्यादि चूर्ण	३०९
स्नुहीक्षीर घृत (१-३)	३०९
स्नुहीक्षीर घृतों का अनुपान	३१०
उदररोग में अन्य घृत	३१०
शेष दोषनिवर्तक योगों का उपक्रम	३१०
चित्रकादि योग	३१०
विडङ्गादि योग	३१०
त्रिफलादि क्वाथ	३१०
मांसाहार	३११
उदररोग में विविध क्षीर योग	३११
सहस्र हरीतकी-सेवनबोधक सारणी	३११
दूष्योदर चिकित्सा	३१२
वातोदर में तैलप्रयोग	३१२
कफोदर में अरिष्ट तथा क्षार	३१२
पिप्पल्यादि क्षार	३१२
क्षारवटी	३१३
उदररोगनाशक यवागू	३१३
मलविबन्ध में उपचार	३१३

विषय	पृष्ठांक
पार्श्वशूल आदि में उपचार	३१३
एरण्डतैल का प्रयोग	३१३
निरूहबस्ति का प्रयोग	३१४
उदररोग में विष का प्रयोग	३१४
विषप्रयोग के बाद पथ्य	३१५
बद्धोदर तथा छिद्रोदर में शल्य-चिकित्सा	३१५
जलोदर में शस्त्रकर्म	३१५
जलोदर में पथ्य	३१६
उदररोग में सर्वोत्तम पथ्य दुग्ध	३१६
अध्याय का उपसंहार	३१६
उदररोग-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	३१७
(१४) अर्शश्चिकित्साध्यायः	
उपक्रम	३२०
अर्श-वर्णन का उपक्रम	३२०
अर्श के कारण और प्रकार	३२०
अर्श का स्थान या क्षेत्र	३२१
सहज अर्शों के रूप	३२२
सहज अर्श के लक्षण	३२२
अर्श का निदान और उसकी सम्प्राप्ति	३२३
अर्शों के आकार-प्रकार	३२४
वातज अर्श के लक्षण	३२४
वातप्रधान अर्श के कारण	३२५
पित्तज अर्श के लक्षण	३२५
पित्तज अर्श के कारण	३२५
कफज अर्श के लक्षण	३२६
कफज अर्श के कारण	३२६
द्वन्द्वज और त्रिदोषज अर्शों के हेतु और लक्षण	३२६
संहिताग्रन्थानुसार अर्शभेदबोधक-सारणी	३२७
अर्श के पूर्वरूप	३२७
अर्शों में दोषविशेष का व्यपदेश	३२८
अर्श के कृच्छ्रतम होने में हेतु	३२८
अर्श की असाध्यता	३२८
याप्य और प्रत्याख्येय अर्श	३२८
कृच्छ्रसाध्य अर्श	३२८
सुखसाध्य अर्श के लक्षण	३२९
अर्श में शीघ्र चिकित्सा का निर्देश	३२९
अर्श का चिकित्सा-सिद्धान्त	३२९
शस्त्र, क्षार एवं अग्निकर्म के उपद्रव	३२९
अर्श की अदारुण चिकित्सा का उपक्रम	३२९
अर्श के भेद	३२९
शुष्कार्श चिकित्सा का उपक्रम	३२९
अर्श में स्वेदन	३३०
अर्श में परिसेचन और अवगाहन	३३०
अर्श में अभ्यंग	३३०
अर्श में धूपन योग	३००
अर्शनाशक प्रलेपन	३३१
अर्श में रक्तमोक्षण	३३१
त्र्यूषणाद्य चूर्ण	३३१
कतिपय अर्शनाशक योग	३३२
तक्रारिष्ट	३३२
वात-कफज अर्श में तक्र सर्वश्रेष्ठ औषध	३३३
तक्र-प्रयोग की अवधि	३३३
तक्र के सहपान	३३३
तक्र-प्रयोग का क्रम	३३४
मट्ठे के क्रमिक प्रयोग से लाभ	३३४
त्रिविध तक्र का प्रयोग	३३४
तक्र का विशिष्ट गुण	३३४
अर्श में पेया-यवागू प्रयोग	३३४
अर्श में खड, जल और घृत	३३४
अर्श में यवागू	३३५
यूष और मांसरस के योग	३३५
अर्श में अन्नाहार	३३५
विबन्धयुक्त अर्श की चिकित्सा	३३५
अर्शवेदनाहर योग	३३५
अनुलोमन योग	३३६
पिप्पल्यादि घृत	३३६
चव्याद्य घृत	३३६
नागराद्य घृत	३३६
तृतीय पिप्पल्यादि घृत	३३७
वातमलानुलोमन योग	३३७
अर्श में पक्षियों का मांसरस	३३७
अर्श में शाक	३३७
अर्श में पशुओं का मांसरस	३३७
अर्श में अनुपान	३३८
अनुवासनार्ह अर्शरोगी	३३८
पिप्पल्यादि अनुवासनबस्ति	३३८
अर्श में मस्सों पर लेप	३३८
निरूहबस्ति	३३८

विषय	पृष्ठांक
अभयारिष्ट	३३९
दन्त्यरिष्ट	३३९
फलारिष्ट	३४०
द्वितीय फलारिष्ट	३४०
कनकारिष्ट	३४०
अर्श में मस्सों का प्रक्षालन	३४१
स्रावी अर्श की चिकित्सा का उपक्रम	३४१
रक्तार्श में वात का अनुबन्ध	३४१
रक्तार्श में कफ का अनुबन्ध	३४१
रक्तार्श का चिकित्सासूत्र	३४२
अर्श के रक्तस्राव को प्रारम्भ में ही रोकना हानिकर	३४२
रक्तार्श में तिक्त रस से उपचार	३४२
अर्श में स्नेह का प्रयोग	३४३
रक्तस्तम्भन अनिवार्य	३४३
रक्तरोधक योग	३४३
कुटजादि रसक्रिया	३४३
प्रयोग एवं फल	३४४
रक्तार्शनाशक योग	३४४
रक्तार्श में सिद्ध घृत प्रयोग	३४४
कुटजफलाद्य घृत	३४४
रक्तार्श में पेया के योग	३४५
रक्तार्श में खडयूष का प्रयोग	३४५
रक्तस्राव होने पर योग	३४५
रक्तार्श में पथ्य	३४६
रक्तार्श में मांस का प्रयोग	३४६
रक्तार्श में रक्तस्रावरोधक पलाण्डु	३४६
पलाण्डु मांसरस योग	३४६
रक्तार्शनाशक नवनीत योग	३४६
रक्तार्शनाशक कुछ द्रव्य	३४६
रक्तार्श में वात की अधिकता	३४७
रक्तपित्तप्रबल रक्तार्श में उपचार	३४७
शीतक्रिया के योग	३४७
रक्तार्श में अवगाहन	३४७
रक्तार्श में धारासेक	३४७
रक्तार्श में गुद-प्रक्षालन	३४७
रक्तार्श में प्रदेह-प्रलेप	३४८
रक्तार्श में स्निग्ध-उष्ण प्रयोग	३४८
रक्तार्श में अनुवासनबस्ति प्रयोग	३४८
पिच्छाबस्ति	३४८
प्रपौण्डरीकादि अनुवासन	३४९
ह्रीबेरादि घृत	३४९
सुनिषण्णक चाङ्गेरीघृत	३४९
अर्श में, मधुर-अम्ल एवं शीत-उष्ण द्रव्यों का सेवनक्रम	३५०
तीन रोगों का परस्पर निदानत्व	३५०
अर्श में पथ्याहार	३५०
अर्शरोग का विशिष्ट चिकित्सासिद्धान्त	३५०
अर्श में अपथ्य	३५०
अध्याय का उपसंहार	३५१
अर्शश्चिकित्साक्रमबोधक सारणी	३५२
आर्द्र, स्रावी या रक्तार्शचिकित्सा	३५५
रक्तार्श एवं रक्तातिसार : सापेक्ष निदान	३५७
रक्तार्श एवं रक्तपित्त : सापेक्ष निदान	३५७
(१५) ग्रहणीदोषचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	३५८
प्राकृत अग्नि के कार्य	३५८
शरीरपोषण में अग्नि का साक्षात् कारणत्व	३५८
अग्निकर्म में वायु का सहयोग और आहार का पाचन	३५८
तीन अवस्थापाक और कफ, पित्त एवं वायु की उत्पत्ति	३५९
प्रथम (मधुर) अवस्थापाक	३५९
द्वितीय (अम्ल) अवस्थापाक	३५९
तृतीय (कटु) अवस्थापाक	३५९
प्रिय एवं हित आहार से इन्द्रियों का पोषण	३६०
भौतिक अग्नि का कार्य	३६०
आहार द्रव्यों के गुण देहद्रव्य गुणों के पोषक	३६१
धात्वग्नियों का व्यापार	३६१
रसादिधातुओं का निर्माण	३६२
उपधातुओं का निर्माण या पोषण	३६२
क्रमपरिणाम पक्ष	३६३
केदारीकुल्या न्याय	३६३
खलेकपोत न्याय	३६४
धातुओं के किट्ट या मल	३६४
वृष्य आदि द्रव्यों की पाकक्रिया में क्रम भंग	३६५
धातुपरिवर्तन की अवधि	३६५
रसादि धातुपरिवर्तन विषयक निज मत	३६५
धातुपरिवर्तन विषयक प्रश्नावली	३६५

विषय	पृष्ठांक
धातुपरिवर्तन विषयक प्रश्नों का समाधान	३६६
एककालधातुपोषण	३६६
स्रोतोवैगुण्यजन्य संवहनावरोध रोग का कारण	३६७
जठराग्नि की प्रधानता	३६७
भोजन की लोलुपता से ग्रहणीविकार	३६७
ग्रहणीविकार के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति	३६७
अजीर्ण के सामान्य लक्षण	३६८
चतुर्विध अग्नियों का व्यापार	३६९
मन्दाग्निव्यापार ही ग्रहणीरोग	३६९
ग्रहणीरोग के लक्षण	३६९
ग्रहणीरोग का पूर्वरूप	३६९
'ग्रहणी' नाम की सार्थकता	३६९
ग्रहणीरोग के भेद	३७०
वातज ग्रहणी का निदान एवं सम्प्राप्ति	३७०
वातज ग्रहणी के लक्षण	३७०
पित्तज ग्रहणी का निदान और सम्प्राप्ति	३७०
पित्तज ग्रहणी के लक्षण	३७०
कफज ग्रहणी का निदान और सम्प्राप्ति	३७१
कफज ग्रहणी के लक्षण	३७१
अग्नियों का ग्रहणीदोष से सामञ्जस्य	३७१
ग्रहणीरोग के विभिन्न रूप	३७१
त्रिदोषज ग्रहणी	३७१
आमदोषयुक्त ग्रहणी में उपचार	३७२
लीन एवं पक्वाशयस्थ आम में उपचार	३७२
सामरस के शरीरव्यापक होने में उपचार	३७२
आमाशयशोधन के बाद का उपचार	३७२
वातजग्रहणी चिकित्सासूत्र—	
घृतपान	३७२
निरूहबस्ति	३७२
विरेचन	३७२
अनुवासनबस्ति	३७२
घृत खाने का अभ्यास	३७२
दशमूलाद्य घृत	३७३
त्र्यूषणाद्य घृत	३७३
पञ्चमूलाद्य घृत	३७३
पञ्चमूलादि तैल	३७४
पञ्चमूलादि चूर्ण	३७४
आम एवं पक्वमल की परीक्षा	३७४
आम और पक्वमल के लक्षणों का अपवाद	३७४
चित्रकादि वटी	३७४
आमपाचन योग	३७४
लाक्षणिक चिकित्सा—	
शूल के साथ आम मल में	३७४
साममल एवं वात-कफजन्य उदरशूल में	३७५
वमन, अर्श और शूल में	३७५
पित्त-कफज ग्रहणी के शूल में अभयादि चूर्ण	३७५
पित्त-कफज ग्रहणी में साममल में उपचार	३७५
पिप्पल्यादि चूर्ण	३७५
मरिचादि चूर्ण	३७५
चार अम्ल द्रव्यों का प्रयोग	३७५
पाँच यवागू योग	३७६
ग्रहणी में यूष, मांसरस, तक्र, काञ्जी, मद्य एवं अरिष्ट का प्रयोग	३७६
ग्रहणी में मट्ठे का सेवन	३७६
तक्रारिष्ट	३७७
पित्तज ग्रहणी चिकित्सा	३७७
चन्दनाद्य घृत	३७७
नागराद्य चूर्ण	३७८
भूनिम्बाद्य चूर्ण	३७८
बचादि चूर्ण	३७८
किरातादि चूर्ण	३७८
कफज ग्रहणी का चिकित्सासूत्र	३७९
अग्निवर्धक अन्नपान	३७९
मधूकासव	३७९
अन्य आसव	३८०
दुरालभासव	३८०
मूलासव	३८०
पिण्डासव	३८१
मध्वरिष्ट	३८१
पिप्पलीमूलादि चूर्ण	३८१
पिप्पलीमूलाद्य घृत	३८१
क्षारघृत	३८२
पिप्पलीमूलाद्य क्षार	३८२
भल्लातक क्षार	३८२
दुरालभादि क्षार	३८२
भूनिम्बादि क्षार	३८२
हरिद्रादि क्षार	३८२
क्षारगुटिका	३८३

विषय	पृष्ठांक
वत्सकादि क्षार	३८३
त्रिफलादि क्षार	३८३
त्रिदोषज ग्रहणी चिकित्सासूत्र	३८४
ग्रहणीनाशक उपचार और औषध	३८४
ग्रहणीरोग में आवस्थिक चिकित्सा—	
स्नेह सर्वोत्तम अग्निदीपन	३८५
मन्दाग्नि में कारणानुसार उपचार	३८५
दुर्बल और कृश रोगियों को मांसरस देय	३८५
अन्न का सम्यक् प्रयोग ही अग्निबलवर्धक	३८६
हिताहार और मिताहार दीर्घजीवनदाता	३८६
तीक्ष्णाग्नि की सम्प्राप्ति और लक्षण	३८६
तीक्ष्णाग्नि (अत्यग्नि) का चिकित्सासूत्र	३८७
अत्यग्नि में भेंड़ का मांस	३८७
अत्यग्नि में गोधूम चूर्णमन्थ	३८७
अत्यग्नि में सिरावेध	३८७
तैल फलों का प्रयोग	३८७
घृत-प्रयोग	३८७
स्नेह-प्रयोग	३८७
स्त्रीदुग्ध और गूलर का प्रयोग	३८७
त्रिवृत का प्रयोग	३८८
अत्यग्नि में आहार	३८८
समाग्नि और उसका कर्म	३८८
समशन, विषमाशन और अध्यशन के लक्षण	३८८
प्रातःकालीन भोजन के अजीर्ण में सायंकालीन भोजन करना अहानिकर	३८९
रात्रिभोजन के अजीर्ण में प्रातःभोजन हानिकर	३८९
अध्याय का उपसंहार	३८९
ग्रहणीरोग-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	३९१
दोषानुसार ग्रहणीरोग चिकित्साक्रमबोधक-सारणी	३९२
(१६) पाण्डुरोगचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	३९५
पाण्डुरोग	३९५
पाण्डुरोग के भेद	३९५
पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति	३९६
पाण्डुरोग का निदान और विशिष्ट सम्प्राप्ति	३९६
पाण्डुरोग का पूर्वरूप	३९७
पाण्डुरोग का सामान्य लक्षण	३९७
वातज पाण्डुरोग का निदान और लक्षण	३९७
पित्तज पाण्डुरोग का निदान, सम्प्राप्ति	३९७
पित्तज पाण्डुरोग का लक्षण	३९८
कफज पाण्डुरोग का निदान और लक्षण	३९८
सन्निपातज पाण्डुरोग का निदान और लक्षण	३९८
मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग : सम्प्राप्ति और लक्षण	३९८
पाण्डुरोग का असाध्य लक्षण	३९९
कामलारोग	
कामलारोग की सम्प्राप्ति	३९९
कामलारोग का लक्षण	४००
कुम्भकामला	४०१
असाध्यतासूचक लक्षण	४०१
साध्य पाण्डुरोग की चिकित्सा का उपक्रम	४०१
साध्य पाण्डु एवं कामला का चिकित्सासूत्र	४०२
स्नेहनार्थ घृतप्रयोग	४०२
दाडिमाद्य घृत	४०२
कटुकाद्य घृत	४०२
पथ्याघृत	४०३
दन्तीघृत	४०३
द्राक्षाघृत	४०३
हरिद्राद्य घृत	४०३
दार्वीघृत और कालीयकघृत	४०३
स्नेहन के बाद विरेचन	४०४
कफज पाण्डुनाशक योग	४०४
कामलानाशक योग	४०४
विशालादि फाण्ट	४०४
प्रातःकाल सेवनीय योग	४०४
पाण्डु में गोमूत्र-प्रयोग	४०५
मातुलुंग का प्रयोग	४०५
स्वर्णक्षीर्यादि योग	४०५
गोमूत्र हरीतकी	४०५
लौहभस्म प्रयोग	४०५
नवायस चूर्ण	४०५
मण्डूरभस्म योग	४०५
मण्डूर वटक	४०६
स्वर्णमाक्षिकादि योग	४०६
योगराज	४०६
शिलाजतु वटक	४०७
पुनर्नवामण्डूर	४०७
दार्व्यादि लेह	४०८

विषय	पृष्ठांक
कामलानाशक योग	४०८
त्रिफलादि योग	४०८
धात्र्यवलेह	४०८
मण्डूरवटक	४०८
गौड अरिष्ट	४०९
बीजकारिष्ट	४०९
धात्र्यरिष्ट	४०९
पाण्डु और कामला में जल-प्रयोग	४१०
पाण्डुरोग चिकित्सासूत्र	४१०
मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग	४१०
चिकित्सासूत्र	४१०
व्योषाद्य घृत	४१०
केशरादि घृत	४१०
मिट्टी खाने में अरुचि उत्पादन	४११
मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग की दोषानुसार चिकित्सा	४११
शाखाश्रित कामला का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	४११
कामलारोग में पथ्य	४१२
पित्त को शाखा से कोष्ठ में लाने का उपचार	४१२
हलीमक रोग	
हलीमकरोग वर्णन	४१२
हलीमकरोग की चिकित्सा	४१३
हरीतकी का प्रयोग	४१३
अध्याय का उपसंहार	४१३
पाण्डु-कामला-हलीमक चिकित्साक्रम बोधक सारणी	४१४
(१७) हिक्काश्वासचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	४१६
दुर्जय रोगों के विषय में अग्निवेश का प्रश्न	४१७
आत्रेय का उत्तर	४१७
मृत्युकाल में हिक्का या श्वास की उत्पत्ति	४१७
समानधर्मा हिक्का और श्वास दुर्जेय	४१७
हिक्का-श्वास के निदान आदि का उपक्रम	४१८
हिक्का और श्वास का निदान	४१८
हिक्का-श्वास के अन्य कारण	४१८
हिक्का तथा श्वास की सम्प्राप्ति	४१८
हिक्का और श्वास के पूर्वरूप	४१८
हिक्का की विशिष्ट सम्प्राप्ति	४१९
महाहिक्का की सम्प्राप्ति और उसके लक्षण	४१९
गम्भीरा हिक्का के लक्षण	४१९
व्यपेता हिक्का के लक्षण	४२०
क्षुद्रा हिक्का का लक्षण	४२०
अन्नजा हिक्का का लक्षण	४२०
हिक्का की साध्यासाध्यता	४२१
हिक्का बोधिनी-सारणी	४२१
श्वासरोग की विशेष सम्प्राप्ति	४२२
महाश्वास के लक्षण	४२३
ऊर्ध्वश्वास का लक्षण	४२४
छिन्नश्वास का लक्षण	४२४
तमकश्वास की सम्प्राप्ति और लक्षण	४२४
प्रतमकश्वास का लक्षण	४२५
सन्तमकश्वास का लक्षण	४२५
क्षुद्रश्वास का लक्षण	४२५
श्वास के भेद, दोष और साध्यासाध्यता	४२५
हिक्का-श्वास सद्यःचिकित्स्य रोग	४२६
हिक्का-श्वास की चिकित्सा	४२६
हिक्का और श्वास का चिकित्सासूत्र	४२७
हिक्का-श्वास में वमन-प्रयोग	४२७
धूमपान एवं धूमपान के योग	४२७
मधुर-स्निग्ध-शीत-प्रयोग	४२७
अस्वेद्य रोगी	४२८
मृदुस्वेदन	४२८
उत्कारिका	४२८
रूक्षस्वेद, लंघन या वमन	४२८
वमन के अतियोग में उपचार	४२८
उदावर्त एवं आध्मान में वातानुलोमन	४२८
सबल और दुर्बल रोगी तथा दोषाधिक्य	४२८
वमन-विरेचन का प्रयोग	४२८
प्रशमन तर्पण का प्रयोग	४२९
संशोधन का निषेध	४२९
संशोधन के योग्य तथा बृंहणीय रोगी	४२९
बृंहणीय द्रव्य	४२९
निदिग्धिकाद्य यूष	४२९
रास्नादि यूष	४२९
मातुलुङ्गादि यूष	४३०
मुद्गग यूष	४३०
विविध यूष	४३०
पथ्य	४३०
हिंग्वादि यवागू	४३०

विषय	पृष्ठांक
दशमूलादि यवागू	४३०
पुष्करादि पथ्य	४३०
पेय पदार्थ	४३१
पाठाद्यासव	४३१
हिंग्वादि पेय योग	४३१
सौवर्चलादि चूर्ण	४३१
भार्गीनागरादि योग	४३१
उत्कारिका का प्रयोग	४३१
मांस प्रयोग	४३१
वात-पित्तज श्वास में अनुपान	४३२
कफ-पित्तज श्वास में स्वरस प्रयोग	४३२
मधुकादि योग	४३२
कफप्रधान हिक्का-श्वास में उपचार	४३२
कफयुक्त हिक्का-श्वास में कुछ प्रयोग	४३२
दारुण हिक्का-श्वासनाशक योग	४३२
क्षारप्रयोग से स्रोतःशोधन	४३२
वमन-विरेचन प्रयोग	४३२
वायुमार्ग का नित्य शोधन	४३३
शटचादि चूर्ण	४३३
मुक्तादि चूर्ण	४३३
शटचादि योग	४३३
शर्करा-तामलकी योग	४३३
हिक्का-श्वासनाशक नस्य	४३३
हिक्कानाशक अन्य योग	४३४
घृत एवं स्वरस प्रयोग	४३४
लाजादि तथा कोलादि योग	४३४
हिक्का में मानसिक उपाय	४३४
निदान का निषेध	४३४
हिक्का-श्वास में घृतसेवन	४३४
दशमूलादि घृत	४३४
तेजोवत्यादि घृत	४३५
मनःशिलादि घृत	४३५
घृत के विविध योग	४३५
हिक्का तथा श्वास में औषध एवं अन्नपान	४३५
वातनाशक चिकित्सा सर्वोत्तम	४३५
हिक्का एवं श्वास में बृंहण एवं कर्षण उपचार	४३६
शमन एवं बृंहण का निर्देश	४३६
उपसंहार	४३६
हिक्का-श्वास चिकित्साक्रमबोधक सारणी	४३७
(१८) कासचिकित्साध्यायः	
कासचिकित्सा-वर्णन का उपक्रम	४३९
कास के भेद	४३९
कास का पूर्वरूप	४४०
कासरोग की सम्प्राप्ति और निर्वचन	४४०
कास में वेदना और ध्वनि	४४०
वातज कास का निदान	४४०
वातज कास का लक्षण	४४०
पित्तज कास का निदान	४४१
पित्तज कास का लक्षण	४४१
कफज कास का निदान	४४१
कफज कास का लक्षण	४४१
क्षतज कास का निदान	४४१
क्षतज कास का लक्षण	४४१
क्षयज कास का निदान	४४२
क्षयज कास का लक्षण	४४२
क्षयज कास की साध्यासाध्यता	४४२
चिकित्सा का उपक्रम	४४२
वातजकास-चिकित्सा	४४२
चिकित्सासूत्र	४४३
कण्टकारी घृत	४४३
पिप्पल्यादि घृत	४४३
त्र्यूषणाद्य घृत	४४३
रास्नाघृत	४४४
विडंगादि चूर्ण	४४४
द्विक्षारादि चूर्ण	४४४
शटचादि चूर्ण	४४४
दुरालभादि लेह	४४४
दुःस्पर्शादि लेह	४४४
विडंगादि लेह	४४५
चित्रकादि लेह	४४५
अगस्त्यहरीतकी	४४५
सैन्धवादि योग	४४६
कास में खदिरसार का प्रयोग	४४६
कास में धूमपान	४४६
धूमपान विधान	४४६
मनःशिलादि धूम	४४६
प्रपौण्डरीकादि धूमपान	४४७
धूमपान के कतिपय योग	४४७
वातज कास में पथ्य	४४७

विषय	पृष्ठांक
वातज कास में पेया	४४७
दशमूल पेया	४४७
वातज कास में मांसपेया	४४७
वातज कास में शाक आदि	४४८
पित्तज कास चिकित्सासूत्र	४४८
पित्तज कासनाशक अवलेह	४४८
शर्करादि एवं मृद्वीकादि अवलेह	४४८
त्वगादि लेह	४४९
पिप्पल्यादि लेह	४४९
विदार्यादि योग	४४९
पित्तज कास में पथ्य एवं अनुपान	४४९
मांसरस और यूष	४४९
शरादि क्षीरपाक	४४९
स्थिरादि क्षीरपाक	४४९
कासहर गुटिका	४५०
शर्करादि योग	४५०
घृतप्रयोग	४५०
कफज कास का चिकित्सासूत्र	४५०
कफज कास में अन्नपान	४५०
पौष्करादि शीतकषाय	४५१
कट्फलादि क्वाथ	४५१
पाठादि पेय	४५१
नागरादि पेय	४५१
कफज कासहर पिप्पली	४५१
कासमर्दादि योग	४५१
दो लेह योग	४५१
कफज कासनाशक चार योग	४५१
सौवर्चलादि चूर्ण	४५२
दशमूलादि घृत	४५२
कण्टकारी घृत	४५२
कुलत्थादि घृत	४५२
कफजकास में धूमपान	४५२
कास के अनुबन्धों में उपचार	४५३
क्षतज कास चिकित्सासूत्र	४५३
पिप्पल्यादि लेह	४५३
आवस्थिक चिकित्सा	४५३
घृतपान	४५४
धूमपान	४५४
धूमपान के योग	४५४
क्षयज कास चिकित्सासूत्र	४५४
चिकित्सा निषेध	४५५
क्षयज कास में बृंहण प्रयोग	४५५
मृदुशोधन योग	४५५
आवस्थिक चिकित्सा : पित्त-कफ की क्षीणता	४५५
मूत्रकृच्छ्र	४५५
शोथ और वेदना	४५५
कफशोधनार्थ मांसप्रयोग	४५५
द्विपञ्चमूलादि घृत	४५६
गुडूच्यादि घृत	४५६
कासमर्दादि घृत	४५६
विविध घृतयोग	४५६
हरीतकी लेह	४५७
क्षयज कासनाशक लेह	४५७
द्राक्षादि लेह तथा त्रिकटु लेह	४५७
चित्रकादि लेह	४५७
पद्मकादि लेह	४५७
जीवन्त्यादि लेह	४५७
क्षयज कासनाशक लेह	४५८
पेया	४५८
यवागू, यूष और मांसरस	४५८
धूमपान	४५८
क्षयज कास में चिकित्सासिद्धान्त	४५८
कासरोग में प्रयोज्य औषधें	४५९
अध्याय का उपसंहार	४५९
कासचिकित्साक्रमबोधक सारणी	४६०
(१९) अतिसारचिकित्साध्यायः	
उपक्रम	४६४
अतिसारसम्बन्धी अग्निवेश का प्रश्न	४६४
पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	४६४
वातज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति	४६५
वातज अतिसार का लक्षण	४६५
वातज पक्वातिसार का लक्षण	४६६
पित्तज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति	४६६
पित्तज अतिसार का लक्षण	४६६
कफज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति	४६७
कफज अतिसार का लक्षण	४६७
सन्निपातज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति	४६७
दूषित धातुवाले अतिसारों के लक्षण	४६८
कृच्छ्रसाध्य अतिसार	४६८
असाध्य अतिसार का लक्षण	४६८

विषय	पृष्ठांक
साध्यरोगी की ही चिकित्सा	४६९
आगन्तुक अतिसार	४६९
संहिताओं में अतिसार भेद बोधक सारणी	४६९
शोकातिसार, रक्तातिसार एवं रक्तपित्त-भेदबोधक सारणी	४७०
आमातिसार एवं प्रवाहिका का सापेक्ष निदानबोधक सारणी	४७०
आगन्तुज अतिसार का चिकित्सासूत्र	४७१
अतिसार चिकित्सा का उपक्रम	४७१
अतिसार में शोधन	४७१
आमातिसार में ग्राही औषध का निषेध	४७१
मलशोधनार्थ हरीतकी-प्रयोग	४७१
मध्यदोष एवं अल्पदोष आमातिसार में व्यवस्था	४७१
कफ-पित्त-वात के अनुबन्ध में तीन प्रमथ्यायें	४७२
पेयजल	४७२
आमातिसार में पथ्य	४७२
दीपन-पाचन-ग्राही एवं वातकफघ्न गण	४७२
अतिसार में शाक	४७३
खडयूष का प्रयोग	४७३
वर्चःक्षय में उपचार—	
धान्ययूष	४७३
व्यञ्जनार्थ दधिसर	४७३
मांसरस प्रयोग	४७३
मेष-मांस-रक्त प्रयोग	४७३
गुदभ्रंश में अम्लघृत एवं अनुवासन	४७४
चाङ्गेरी घृत	४७४
चव्यादि घृत	४७४
अनुवासन योग	४७४
गुदभ्रंश में पिचु-प्रयोग	४७४
विबन्ध में क्षीरप्रयोग	४७५
पित्तातिसार का चिकित्सासूत्र	४७५
पित्तातिसार में अग्निसन्धुक्षण	४७५
अतिविषादि योग	४७५
पित्तातिसारनाशक छह योग	४७५
पथ्य-व्यवस्था	४७६
बकरी के दूध का प्रयोग	४७६
पित्तातिसार में क्षीरविरेचन	४७६
अनुवासन-प्रयोग	४७६
शतपुष्पादि अनुवासनबस्ति	४७६
पिच्छाबस्ति का काल	४७६
पिच्छाबस्ति	४७७
रक्तातिसार का निदान और लक्षण	४७७
रक्तातिसार चिकित्सा	४७७
अजादुग्ध प्रयोग	४७७
मांसरस प्रयोग	४७७
फलयूष	४७८
नीलोत्पलादि योग	४७८
सद्यःफलप्रद मांसरस	४७८
शतावरी-प्रयोग	४७८
इन्द्रजौ का प्रयोग	४७८
दार्व्यादि घृत	४७८
रक्तसंग्राही योग	४७८
प्रियंगुकादि रक्तसंग्राहक योग	४७९
गुदप्रक्षालन योग	४७९
गुदा का प्रतिसारण एवं प्रलेप	४७९
अतिरक्तस्राव में उपचार	४७९
पिच्छाबस्ति का प्रयोग	४७९
गुदा में स्नेह एवं बस्ति-प्रयोग	४८०
बस्ति-प्रयोग से वातशमन	४८०
शतावरीघृत-प्रयोग	४८०
नवनीत-प्रयोग	४८०
रक्तस्राव में घृत-प्रयोग	४८०
गुदवली का पाक	४८०
कफज अतिसार का चिकित्सासूत्र	४८०
चार क्वाथयोग	४८१
अजाज्यादि चूर्ण	४८१
छर्दि का पूर्वरूप	४८१
रसाञ्जनादि चूर्ण	४८१
चार खडयोग	४८१
कपित्थादि चूर्ण	४८१
पिप्पल्यादि योग एवं बिल्व प्रयोग	४८१
घृतयोग	४८२
पिच्छाबस्ति और अनुवासनबस्ति	४८२
प्रवृद्ध वायु त्वरित चिकित्स्य	४८२
सन्निपातज अतिसार का चिकित्सासूत्र	४८२
अध्याय का उपसंहार	४८३
अतिसार-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	४८४
(२०) छर्दिचिकित्साध्यायः	
अग्निवेश के प्रश्न	४८९

विषय	पृष्ठांक
पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	४८९
छर्दि के भेद	४९०
छर्दि का पूर्वरूप	४९१
पाश्चात्य मतानुसार कारण समीक्षा	४९१
वातज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति	४९२
वातज छर्दि का लक्षण	४९२
पित्तज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति	४९२
पित्तज छर्दि का लक्षण	४९२
कफज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति	४९३
कफज छर्दि का लक्षण	४९३
सन्निपातज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति	४९३
सन्निपातज छर्दि का लक्षण	४९३
घातक छर्दि का लक्षण	४९३
द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि	४९३
असाध्य छर्दि का लक्षण	४९४
छर्दि का चिकित्सासूत्र	४९४
अनुलोमन प्रयोग	४९४
छर्दिरोग में वमन और शमन	४९४
वातज छर्दि चिकित्सा	४९४
वातज छर्दि में घृतपान	४९५
वातज छर्दि में पथ्य	४९५
पित्तज छर्दि चिकित्सा—	
अनुलोमन एवं वमन प्रयोग	४९५
संशोधन के बाद पथ्य	४९५
अवलेह	४९६
पेय औषध योग	४९६
शीतकषाय योग	४९६
चूर्ण योग	४९६
कफज छर्दि का चिकित्सासूत्र	४९७
कफज छर्दि में पथ्य	४९७
मांसरस, अरिष्ट और रागषाडव	४९७
कफज छर्दि में सत्तू का प्रयोग	४९७
छर्दिनाशक चूर्ण-अवलेह	४९८
तीव्रवेग में मनःशिला प्रयोग	४९८
सन्निपातज छर्दिरोग चिकित्सा	४९८
द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि चिकित्सा	४९८
मनःप्रसादकर आहार-विहार	४९९
छर्दि के उपद्रव की चिकित्सा	४९९
चिरकालीन छर्दि में वातनाशक उपचार	४९९
पुराने वमन में औषध और आहार	४९९

विषय	पृष्ठांक
अध्याय का उपसंहार	४९९
छर्दिरोग चिकित्साक्रमबोधक सारणी	५००
(२१) विसर्पचिकित्साध्यायः	
अग्निवेश के विसर्पविषयक प्रश्न	५०३
विसर्पनाम में हेतु	५०४
विसर्प के भेद	५०४
विसर्प के ७ दूष्य	५०४
सापेक्ष निदान	५०४
विसर्प की विशेषताएँ	५०५
विसर्प के सामान्य कारण	५०५
विसर्प का अधिष्ठान	५०५
विसर्प की साध्यासाध्यता	५०५
विसर्प की सम्प्राप्ति	५०५
आभ्यन्तरमार्गी विसर्प का लक्षण	५०६
विसर्प के अरिष्ट लक्षण	५०६
वातज विसर्प का कारण और सम्प्राप्ति	५०६
वातज विसर्प का लक्षण	५०६
पित्तज विसर्प का निदान और सम्प्राप्ति	५०७
पित्तज विसर्प का लक्षण	५०७
कफज विसर्प का निदान और सम्प्राप्ति	५०७
कफज विसर्प का लक्षण	५०८
वात-पित्तज विसर्प की सम्प्राप्ति	५०८
वात-पित्तज विसर्प का लक्षण	५०९
कफ-पित्तज विसर्प की सम्प्राप्ति	५०९
कफ-पित्तज विसर्प का लक्षण	५०९
कफ-वातज विसर्प का निदान-सम्प्राप्ति-लक्षण	५१०
उपद्रव का लक्षण	५१०
सन्निपातज विसर्प अचिकित्स्य	५१०
विसर्प की साध्यासाध्यता	५११
ग्रन्थि विसर्प	५११
सन्निपातज विसर्प	५११
विसर्प-चिकित्सा का उपक्रम	५११
कफस्थानगत सामदोष चिकित्सा	५११
पित्तस्थानगत सामदोष चिकित्सा	५११
वातस्थानगत सामदोष चिकित्सा	५११
घृतपान तथा विरेचन प्रयोग	५११
विरेचन घृत और रक्तमोक्षण	५११
विसर्प चिकित्सा के विस्तार कथन का उपक्रम	५११

विषय	पृष्ठांक
कफपित्तज विसर्प में वमन	५१२
तीन कषाय योग	५१२
किराततिक्तादि क्वाथ	५१२
प्रपौण्डरीकादि क्वाथ	५१२
द्राक्षादि शीतकषाय	५१२
पटोलादि शीतकषाय	५१२
मसूरविदल क्वाथ	५१२
पटोलादि क्वाथ	५१२
विसर्पशामक घृत	५१२
कोष्ठगत विसर्परोग चिकित्सा	५१३
शाखागत विसर्परोग चिकित्सा	५१३
विसर्प में बाह्य उपचार का उपक्रम	५१३
उदुम्बरादि प्रदेह	५१३
न्यग्रोधपादादि लेप	५१४
कालीयादि प्रलेप	५१४
शाद्वलादि प्रदेह	५१४
सारिवादि प्रलेप	५१४
नलदादि प्रलेप	५१४
यावक प्रदेह एवं मधुक प्रदेह	५१४
बलादि आलेपन एवं मृणाल लेप	५१४
विविध प्रदेह	५१४
वातपित्तोल्बण विसर्प में न्यग्रोधपत्रादि प्रलेप	५१५
कफज विसर्पनाशक प्रदेह	५१५
वात, रक्त एवं पित्तप्रधान विसर्प में उपचार	५१५
दूर्वाघृत	५१६
प्रदेह लगाने के नियम या विधान	५१६
प्रलेप का प्रमाण	५१६
अतिस्निग्ध, अतिद्रव या अतितनु लेप निषिद्ध	५१६
विसर्प में पथ्य	५१७
विसर्प में अपथ्य	५१७
विसर्प में दोषानुसार चिकित्सासूत्र	५१७
ग्रन्थिविसर्प का चिकित्सासूत्र	५१८
ग्रन्थिविसर्प में वात-कफघ्न चिकित्सा	५१८
उपनाह एवं परिषेचन	५१८
प्रदेह	५१८
बलादि लेप	५१८
दन्त्यादि लेप	५१९
मूलकादि लेप	५१९
ग्रन्थिविसर्प में अन्नपान	५१९
ग्रन्थिविसर्प में खाने-पीने के विविध योग	५१९

विषय	पृष्ठांक
ग्रन्थिविसर्प में बाह्य उपचार	५१९
ग्रन्थिविसर्प में दाहकर्म	५१९
ग्रन्थि का पाटन, रक्तमोक्षण तथा वात-कफनाशक उपचार	५१९
दाह, पाक से दूषित ग्रन्थि का शोधन-रोपण	५२०
कम्पिल्लकादि तैल एवं व्रणोपचार	५२०
कफज एवं वातज गलगण्ड चिकित्सासूत्र	५२०
विसर्प में रक्तमोक्षण सर्वोत्कृष्ट उपचार	५२०
संक्षिप्त तथा विस्तृत चिकित्सा का कथन	५२०
अध्याय का उपसंहार	५२१
विसर्प चिकित्साक्रमबोधक सारणी	५२२
(२२) तृष्णारोगचिकित्साध्यायः	
तृष्णा-वर्णन का उपक्रम	५२४
तृष्णा का कारण और सम्प्राप्ति	५२४
तृष्णा का पूर्वरूप और अपना स्वरूप	५२५
तृष्णा के उपद्रव	५२५
वातज तृष्णा की सम्प्राप्ति और लक्षण	५२६
पित्तज तृष्णा की सम्प्राप्ति और लक्षण	५२६
आमजा तृष्णा	५२६
रसक्षयजा तृष्णा	५२७
उपसर्गजा तृष्णा	५२७
तृष्णा के भेद एवं कारण	५२७
तृष्णा का असाध्य लक्षण	५२८
तृष्णा में पित्त एवं वात की प्रधानता	५२८
अन्य तृष्णाएँ भी वात-पित्तजन्य	५२८
मद्यपानजन्य तृष्णा में शीतल जल	५२९
शीतल जल स्नानजा तृष्णा भी पित्तजा	५२९
तृष्णा की चिकित्सा का उपक्रम	५२९
तृष्णाशामक ऐन्द्रजल	५२९
ऐन्द्रजल के समान जल के गुण	५२९
तृष्णा में पेय पदार्थ	५२९
भोजन या पथ्य—मन्थ एवं पेया	५३०
मांसरस का प्रयोग	५३०
घृताभ्यंग, यूषपान, दुग्धपान, अभ्यंग तथा परिसेचन	५३०
नस्य प्रयोग एवं गण्डूष	५३०
तृष्णानाशक प्रदेह-प्रलेप	५३१
तृष्णा में शीतल, सुन्दर, सुखद वस्तुओं का स्पर्श, स्मरण और कथन	५३१

विषय	पृष्ठांक
विशिष्ट चिकित्सा	
वातज तृष्णा चिकित्सा	५३१
वात-पित्तज तृष्णा में दुग्ध-घृत प्रयोग	५३१
तृष्णाशामक विविध योग	५३२
आमज तृष्णा चिकित्सा	५३२
कफज उपद्रवयुक्त तृष्णा चिकित्सा	५३२
क्षयज तृष्णा चिकित्सा	५३३
मद्यज तृष्णा में मद्यपान	५३३
उपवास, स्निग्धाहार एवं गुरुभोजनजनित तृष्णा चिकित्सा	५३३
तृष्णाजन्य तालुशोष में उपचार	५३३
अन्नजा तृष्णा में उपचार	५३३
मूर्च्छा के रोगी की तृष्णा की चिकित्सा	५३४
शीतल जल का प्रयोग स्थल	५३४
उष्ण जल का प्रयोग	५३४
जल पीने का निषेध	५३४
प्यासे को शीघ्र जल पिलाना	५३४
तृष्णा चिकित्सा की प्राथमिकता	५३४
अध्याय का उपसंहार	५३५
तृष्णारोग-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	५३६
• (२३) विषचिकित्साध्यायः	
विष-वर्णन का उपक्रम	५३८
विष की प्रथम उत्पत्ति	५३८
विष की योनि, वेग, गुण तथा उपक्रम	५३८
वर्षा एवं शरद् ऋतु का विष पर प्रभाव	५३९
जंगम विष	५३९
स्थावर विष	५३९
गर विष	५४०
गर और दूषी विष-भेदक सारणी	५४०
विषों का वर्गीकरण	५४१
जंगम विष का सामान्य प्रभाव	५४१
स्थावर विष का सामान्य प्रभाव	५४१
विषों की गति	५४१
मनुष्यों में विष के वेग	५४२
पशु-पक्षियों में विष के वेग	५४२
पशुओं के वेगों के लक्षण	५४२
पक्षियों के वेगों के लक्षण	५४२
मनुष्यों में होने वाले स्थावर तथा जांगम विषों के वेगों की सारणी	५४३
विष के दश गुण	५४३
शरीर पर विष के गुणों का प्रभाव	५४४
वातप्रकृति के अनुसार दोषप्रकोप	५४४
पित्तप्रकृति के अनुसार दोषप्रकोप	५४५
कफप्रकृति के अनुसार दोषप्रकोप	५४५
दूषीविष के लक्षण	५४५
विष का प्रभाव	५४६
विष से मृत्यु होने के निश्चित लक्षण	५४६
विषचिकित्सा के २४ उपक्रम	५४६
अरिष्टाबन्धन-निष्पीडन-उत्कर्तन और चूषण	५४७
रक्तमोक्षण और प्रतिसारण	५४७
घर्षण चूर्ण	५४७
रक्त के प्रसार में विष का सहयोग	५४७
विषजन्य उपद्रव चिकित्सा	५४७
दंश के छेदन, चूषण व अरिष्टाबन्धन के लाभ	५४७
विष वेग में दाह, रक्तस्रावण तथा वमन	५४८
विष के द्वितीय वेग में चिकित्सा	५४८
विष के तृतीय से सप्तम वेग पर्यन्त उपचार	५४८
विष के अष्टम वेग की चिकित्सा	५४८
विष के अष्टम वेगनाशक सुरसादि योग	५४९
काकाण्डादि योग	५४९
मृतसञ्जीवन अगद	५४९
फलश्रुति	५४९
स्थानिक दोष का प्रथम उपचार	५५०
दोषस्थानानुसार विष का उपचार	५५०
दूषीविष में सिरावेध और पञ्चकर्म	५५०
श्वासावरोध में काकपद और प्रधमन	५५१
काकपद में मांस का प्रयोग	५५१
नस्य और अञ्जन	५५१
गन्धहस्ती अगद	५५२
फलश्रुति	५५२
महागन्धहस्ती अगद	५५३
ऋषभकादि अगद	५५४
हिंग्वादि एवं कपित्थादि योग	५५४
वमन तथा हिक्कानाशक योग	५५५
धूमागद योग	५५५
क्षारागद	५५५
विशिष्ट चिकित्सा का उपक्रम	५५६
नियुक्ति के पूर्व भृत्य की परीक्षा	५५६

विषय	पृष्ठांक
विष देने वाले की पहचान	५५६
विषयुक्त अन्न की विविध परीक्षाएँ	५५६
मुखगत विषयुक्त अन्न के लक्षण	५५७
आमाशयगत विष के लक्षण	५५७
पक्वाशयगत विष के लक्षण	५५७
विषयुक्त दन्तधावन, शिरोऽभ्यङ्ग, अञ्जन आदि	५५८
विषयुक्त भूमि, माला एवं जलाशय	५५८
स्थावर विष का चिकित्सासूत्र और उपसंहार	५५९
जंगम विष का उपक्रम	५५९
सर्पों का वर्गीकरण	५५९
सर्पों की पहचान	५५९
विषों के गुण और उनसे वातादि का प्रकोप	५५९
दर्वीकर के दंश का लक्षण	५५९
मण्डली सर्प के दंश का लक्षण	५५९
राजिमान् सर्प के दंश का लक्षण	५५९
पुरुष, स्त्री और नपुंसक सर्पों के दंश के लक्षण	५६०
गर्भिणी एवं प्रसूता सर्पिणी के दंश के लक्षण	५६०
गौधेरक सर्प	५६०
दंश के भेद	५६०
सर्पविष की उग्रता आयु से प्रभावित	५६०
सर्प के दाँत	५६०
सर्पविष की मात्रा	५६१
कीटों की उत्पत्ति	५६१
कीट का वर्गीकरण	५६१
दूषीविष कीट के दंश के लक्षण	५६१
प्राणहर कीट के दंश के लक्षण	५६१
दूषीविष लूतादंश के लक्षण	५६२
प्राणहर लूतादंश के लक्षण	५६२
दूषीविष चूहे के काटने के लक्षण	५६२
चूहे के दंश का असाध्य लक्षण	५६२
गिरगिट के काटने के लक्षण	५६२
बिच्छू का दंश	५६२
असाध्य वृश्चिक दंश	५६२
काले भौंरे का दंश	५६२
झींगुर का दंश	५६२
विषैले मेढक का दंश	५६३
विषैली मछली का दंश	५६३
विषैली जोंक का दंश	५६३
छिपकली का दंश	५६३
शतपदी (गोजर) का दंश	५६३
मच्छरों के दंश	५६३
विषैली मक्खियों के दंश	५६३
स्थान एवं काल के अनुसार असाध्य दंश	५६३
विषवेग की वृद्धि की दशाएँ	५६३
मन्दविष सर्प के लक्षण	५६३
सर्प के विष छोड़ने एवं न छोड़ने में हेतु	५६४
विषैले जन्तुओं के विषों का दोषों से सम्बन्ध	५६४
जंगमविष की चिकित्सा का उपक्रम	५६४
वातप्रकोपक विष के लक्षण	५६४
पित्तप्रकोपक विष के लक्षण	५६४
कफप्रकोपक विष के लक्षण	५६५
वातादि दोषानुसार विषचिकित्सा	५६५
प्रसरणशील विषों में प्रायः शीतोपचार	५६५
बिच्छू के विष की चिकित्सा	५६५
झींगुर के विष की चिकित्सा	५६५
पागल कुत्ते का लक्षण	५६५
पागल-हिंसक जन्तुओं के विष का लक्षण	५६६
विषैले जन्तुओं के काटने के लक्षण	५६६
आवस्थिक चिकित्सा	५६६
विष प्रभाव में वमन-विरेचन	५६६
शिरोगत विष में नस्य प्रयोग	५६६
काकपद बनाकर मांस का बाह्य प्रयोग	५६६
विष प्रभावित नेत्र में पिप्पल्यादि अंजन	५६७
विभिन्न स्थानगत विष की चिकित्सा	५६७
पिप्पल्यादि प्रतिसारण	५६७
मांस्यादि योग	५६७
सर्वविषनाशक चन्दनादि योग	५६७
सर्पविषघ्न शिरीषपुष्पादि योग	५६८
कीट विष-चिकित्सा	५६८
लूताविष-चिकित्सा	५६८
लूताविषघ्न मधूकादि योग	५६८
कर्णिकानाशक योग	५६९
कीटलूताव्रणनाशक योग	५६९
मूषिक विषचिकित्सा	५६९
कुटजादि पान एवं प्रधमन	५६९
कृकण्टक विष प्रतिकार	५६९
बिच्छू, मेढक और मछली विष में उपचार	५६९
जोंक आदि के विष की चिकित्सा	५६९
परम अगद— बचादि योग	५७०
शतपदी के विष में स्वर्जिकाद्य योग	५७०

विषय	पृष्ठांक
छिपकली-विष-चिकित्सा	५७०
सर्वविषनाशक अगद	५७०
पञ्चशिरीष अगद	५७०
नख-दन्तक्षत विष के लक्षण और चिकित्सा	५७०
शंका विष के लक्षण	५७१
शंका विष की चिकित्सा	५७१
विषविकार में, पथ्य—अन्न-शाक-मांसरस और यूष	५७१
विषविकार में अपथ्य और त्याज्य	५७१
चौपायों में सर्प आदि विष जन्तुदंश के लक्षण	५७१
विषपीड़ित चौपायों की चिकित्सा	५७२
स्त्रियों द्वारा गरविष का प्रयोग	५७२
गरविष के लक्षण	५७२
गरविष में वमन	५७२
वमन योग	५७२
विषघ्न नागदन्त्यादि घृत	५७३
अमृत घृत	५७३
फलश्रुति	५७३
छाता और छड़ी का प्रयोग	५७३
सर्पदंश का तात्कालिक उपचार	५७४
विषघ्न मणियों का धारण और पक्षियों का पालन	५७४
अध्याय का उपसंहार	५७४
विषचिकित्साक्रमबोधक सारणी	५७५
(२४) मदात्ययचिकित्साध्यायः	
मद्य की स्तुति	५७९
मदिरा एकविधा	५७९
मदिरा के कल्याणकारी स्वरूप	५७९
सुरासेवन से लाभ	५७९
सुरापान की विधि और उसके प्रयोजक तत्त्व—	
मद्यपान का पूर्वकर्म	५८०
सुरा का पान	५८०
सुरा के सहकारी अवदंश	५८०
वातप्रकृति पुरुष के सुरापान का विधान	५८०
पित्तप्रकृति पुरुष के सुरापान का विधान	५८१
कफप्रकृति पुरुष के सुरापान का विधान	५८१
आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार सुरापान	५८१
दोषप्रकृति के अनुसार मद्य के प्रकार सेवनीय	५८१

विषय	पृष्ठाक
सविधि सुरापान अमृत और अविधि सुरापान विषवत्	५८१
मदात्यय की सम्प्राप्ति—	
मद्य की मादकता	५८२
मद्य के १० गुण	५८२
ओज के १० गुण	५८२
मद्य के १० गुणों से ओज के १० गुणों का क्षोभ	५८२
रसादि का स्थान हृदय	५८२
अति मद्यपान का दोष	५८२
मद्य की तीन अवस्थाएँ	५८३
चावल के चूर्ण की मदिरा अति ओज-विघातक नहीं	५८३
मद का लक्षण और भेद	५८३
मद्य के तीन प्रकार	५८३
प्रथम मद के लक्षण	५८३
मध्यम मद के लक्षण	५८३
मध्यम और उत्तम मद का सन्धिकाल	५८४
तृतीय मद के लक्षण	५८४
मन की एकाग्रता कल्याणप्रद	५८४
मद्यनिन्दक एकीयमत—	
मद्य से मन का क्षोभ	५८४
मद्य दोषों की खान और रोगों का जनक	५८५
मद्य के दोष	५८५
मद्यपानजन्य विकार	५८५
मद्य से स्मरणशक्ति का नाश	५८५
मद्यपान विषयक स्वमत	५८५
युक्ति का महत्त्व	५८५
युक्तिपूर्वक मद्यपान के गुण	५८५
मद्य के गुण	५८५
प्रथम मद निरुपम आनन्दप्रद	५८६
युक्तियुक्त मद्यपान से विश्रान्ति	५८६
आठ त्रिकों की योजना ही मद्यपान की युक्ति	५८६
आठ त्रिक	५८६
सम्यग्योजना कर मद्य पीने से लाभ	५८६
मद्य मनःप्रबोधक और मनोगुणदर्शक	५८७
सात्त्विक आपान का पर्यावरण	५८७
सात्त्विक एवं प्रवर मन पर मद्य का प्रभाव	५८७
राजस आपान	५८७
तामस आपान गोष्ठी	५८७

विषय	पृष्ठांक
आपानगोष्ठी में वर्जनीय जन	५८७
आपानगोष्ठी के सुखद सहायक	५८८
मादकता के पात्र और अपात्र	५८८
मदात्यय रोग	
मदात्यय-वर्णन का उपक्रम	५८८
वातज मदात्यय का निदान और सम्प्राप्ति	५८८
वातज मदात्यय का लक्षण	५८९
पित्तज मदात्यय का निदान	५८९
पित्तज मदात्यय का लक्षण	५८९
कफज मदात्यय का निदान	५८९
कफज मदात्यय का लक्षण	५८९
विष और मद्य में समानता	५८९
सभी मदात्यय त्रिदोषज	५८९
मदात्यय का सामान्य लक्षण	५९०
मदात्यय का चिकित्सासूत्र	५९०
अविधि मद्यपानजन्य रोग में सविधि मद्यपान का विधान	५९०
तीक्ष्ण मद्यपानजन्य अन्नरस की क्षारता और मद्यपान द्वारा उसका मधुरीकरण	५९१
अम्लद्रव्यों में मद्य श्रेष्ठ	५९१
मदात्यय में मद्य प्रयोग का औचित्य	५९१
वातशामक बीजपूरकादियुक्त मद्य	५९१
वातिक मदात्यय में मांस का प्रयोग	५९२
वातिक मदात्यय में पथ्य	५९२
वातिक मदात्यय में पेय पदार्थ	५९२
मात्रा-कालानुसार चिकित्सा का फल	५९२
वातिक मदात्यय में सद्यःफलप्रद आहार-विहार	५९२
पैत्तिक मदात्यय की चिकित्सा	५९३
पैत्तिक मदात्यय में तर्पण, यूष और मांसरस	५९३
कफानुबन्धी पित्तज मदात्यय में वमन	५९३
पित्तज मदात्यय में लाक्षणिक चिकित्सा	५९३
अनुतर्ष की मात्रा	५९४
तृष्णानाशक योग	५९४
तृष्णानाशक पञ्चाम्लक	५९४
पित्तज मदात्यय में विहार	५९४
दाहशामक अन्य उपचार	५९५
प्रियंग्वादि लेप एवं बदरीपल्लवादि लेप	५९५
परिषेक, प्रलेप, अवगाहन आदि	५९५
कफज मदात्यय रोग का चिकित्सासूत्र	५९५

विषय	पृष्ठांक
कफज मदात्यय में पेय जल	५९५
निराम कफज मदात्यय में पथ्य	५९६
कफज मदात्यय में आहार	५९६
आहारार्थ यूष एवं मांस का प्रयोग	५९६
अष्टाङ्ग लवण	५९६
मृद्वीका राग	५९७
कारवी (मँगरैला) राग	५९७
आम और आँवले का राग	५९७
कफज मदात्यय में विहार	५९७
सान्निपातिक मदात्यय चिकित्सा	५९७
दोषानुसार औषधकल्पना का महत्त्व	५९८
मदात्यय में हर्षणीक्रिया एवं विहार	५९८
मदात्यय में हर्षणीक्रिया की उपादेयता	५९८
मदात्यय में दुग्ध-प्रयोग	५९९
दुग्ध-प्रयोग का फल	५९९
मद्य के पुनः अभ्यास का क्रम	५९९
सहसा अति मद्यसेवनजन्य रोग	५९९
ध्वंसक रोग का लक्षण	५९९
विक्षय का लक्षण	५९९
ध्वंसक और विक्षय की चिकित्सा	५९९
वातहर चिकित्सा का लाभ	६००
मद्य के परित्याग का फल	६००
अध्याय का उपसंहार	६००
मदात्यय-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	६०१
(२५) द्विव्रणीयचिकित्साध्यायः	
अग्निवेश का व्रणविषयक प्रश्न	६०४
आत्रेय का अग्निवेश को उत्तर	६०४
निज और आगन्तुज व्रणों में पार्थक्य	६०४
आगन्तुज व्रणों के कारण	६०४
आगन्तुज व्रणों की निज व्रणवत् चिकित्सा	६०५
निज व्रणों का निदान और सम्प्राप्ति	६०५
वातज व्रण का लक्षण	६०५
वातज व्रण का चिकित्सासूत्र	६०५
पित्तज व्रण का लक्षण	६०५
पित्तज व्रण का चिकित्सासूत्र	६०५
कफज व्रण का लक्षण	६०५
कफज व्रण का चिकित्सासूत्र	६०५
व्रणों के भेद	६०६
व्रण के नानात्व भेद से २० प्रकार	६०६

विषय	पृष्ठांक
त्रिविध परीक्षा	६०६
दुष्टव्रण के १२ प्रकार	६०७
व्रण के आठ स्थान	६०७
व्रण की आठ गन्ध	६०७
व्रणों के १४ प्रकार के स्राव	६०७
व्रणों के १६ उपद्रव	६०८
व्रणों के २४ दोष	६०८
कृच्छ्रसाध्य व्रण	६०८
सुखसाध्य व्रण	६०९
व्रणों की कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता	६०९
व्रणों में विशोधन प्रथम कर्त्तव्य	६०९
शोधन का फल	६०९
व्रण के ३६ उपक्रम	६०९
व्रण के पूर्वरूप में रक्तावसेचन	६०९
व्रण में प्राथमिक उपचार	६१०
शोथनिर्वापण लेप	६१०
विजयादि प्रदेह	६१०
मधुकादि प्रदेह	६१०
पाटनकर्म	६१०
उपनाहकर्म	६१०
पच्यमान तथा पक्व व्रणशोथ का लक्षण	६१०
पक्वशोथ भेदन लेप	६१०
छः प्रकार के शस्त्रकर्म	६१०
पाटन-योग्य रोग	६११
व्यधन कर्म के योग्य रोग	६११
छेदन-योग्य रोग	६११
लेखनीय रोग	६११
प्रच्छन्न तथा सीवन योग्य रोग	६११
प्रपीडन-योग्य व्रण	६११
व्रणपीडन योग	६११
निर्वापण, सेचन तथा सन्धान	६१२
व्रणरोपणार्थ अवचूर्णन	६१२
अस्थिसन्धान विधान	६१२
आहार-योजना	६१२
उपद्रवों का त्वरित उपचार	६१२
व्रण में स्वेदन	६१२
वातप्रबल व्रण में लेप	६१३
स्नेहशर्करा	६१३
शूलघ्न परिसेचन	६१३
दाहशूलनाशक लेप	६१३
दाहशूलनाशक उपनाह	६१३
एषण-योग्य व्रण	६१३
एषणी के दो प्रकार और उनका प्रयोग	६१३
अशुद्ध व्रण का लक्षण और उपचार	६१४
व्रणशोधक कषाय	६१४
व्रणशोधक प्रलेप	६१४
शुद्ध तथा रोपण-योग्य व्रण	६१४
न्यग्रोधादि, चन्दनादि एवं प्रपौण्डरीकादि व्रणरोपण क्वाथ और लेप	६१४
कम्पिल्लकादि तैल	६१४
प्रपौण्डरीकादि तैल	६१४
दूर्वा तैल और कम्पिल्लक तैल	६१५
रक्त-पित्तप्रधान व्रणरोपणार्थ घृत प्रयोग	६१५
व्रण का आच्छादन	६१५
व्रण बन्धन	६१५
व्रण बन्धन के प्रकार	६१५
बन्धों के नाम और उनके स्थानबोधक सारणी	६१५
व्रण में वर्जनीय आहार-विहार	६१६
व्रण में पथ्य	६१६
गहरे व्रणों का ऊपर उठाना	६१६
व्रण का अवसादन	६१६
अग्नि द्वारा दाहकर्म	६१६
दाहकर्म के उपकरण	६१६
दाहकर्म की पात्रता	६१६
अग्निकर्म या दाह के अयोग्य व्यक्ति	६१७
क्षारकर्म	६१७
धूपनकर्म	६१७
व्रणकाठिन्यहर प्रलेप	६१७
व्रणमार्दवकर लेप	६१७
कठिन व्रणों का तर्पण	६१७
त्वचाजनक योग	६१७
त्वग्विशुद्धिकर प्रलेप	६१७
त्वचाकृष्णकर योग	६१८
सवर्णीकरण योग	६१८
लोमसंजनन योग	६१८
व्रणों के १६ उपद्रवों की चिकित्सा	६१८

विषय	पृष्ठांक
अध्याय का उपसंहार	६१८
व्रणचिकित्साक्रमबोधक सारणी	६१९
७ (२६) त्रिमर्मीयचिकित्साध्यायः	
तीन प्रधान मर्म और उनकी रक्षा का उपदेश	६२२
उदावर्त रोग	
उदावर्त का निदान और सम्प्राप्ति	६२२
उदावर्त-भेदबोधक सारणी	६२३
उदावर्त का लक्षण	६२४
उदावर्त के उपद्रवभूत रोग	६२४
उदावर्त चिकित्सा का उपक्रम	६२४
उदावर्त का चिकित्सासूत्र	६२५
श्यामादि वर्ति	६२५
पिण्याकादि तथा क्रिमिघ्नादि वर्ति	६२५
श्यामादि प्रधमन चूर्ण	६२५
दोषानुसार निरूहबस्ति	६२५
उदावर्त में अन्नपान	६२६
विरेचन और अनुवासन	६२६
द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण	६२६
बचादि चूर्ण	६२६
हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण	६२६
स्थिरादि घृत	६२७
आनाह रोग	
फल-मूलादि लवण	६२७
आनाह का लक्षण तथा चिकित्सासूत्र	६२७
एरण्ड तैल का प्रयोग	६२८
एरण्ड तैल की कार्मुकता	६२८
मूत्रकृच्छ्र	
मूत्रकृच्छ्र का निदान	६२९
मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति	६२९
वातज आदि मूत्रकृच्छ्र के लक्षण	६२९
अश्मरी की सम्प्राप्ति	६३०
अश्मरियों के स्वरूप और लक्षण	६३०
शर्करा का स्वरूप	६३०
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का परिचय	६३१
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति	६३१
रक्तज मूत्रकृच्छ्र	६३१
वातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सासूत्र	६३१
पुनर्नवादि मिश्रक स्नेह	६३२
उपनाह प्रयोग	६३२
पित्तज मूत्रकृच्छ्र का चिकित्सासूत्र	६३२
शतावर्यादि क्वाथ	६३२
क्वाथ के अन्य योग	६३२
एर्वारुबीजादि योग	६३३
अन्य एर्वारुबीजादि योग	६३३
कफज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सासूत्र	६३३
व्योषादि चूर्ण	६३३
कफज मूत्रकृच्छ्रनाशक योग	६३३
सप्तच्छदादि यवागू और क्वाथ	६३३
त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सासूत्र	६३३
अश्मरी-शर्करा चिकित्सासूत्र	६३४
अश्मरी भेदन-पातन का उपक्रम	६३४
पाषाणभेदादि चूर्ण और पाषाणभेदादि घृत	६३४
गोक्षुरादि योग	६३४
पुनर्नवादि योग	६३४
त्रुट्यादि चूर्ण	६३४
सहिजन का प्रयोग	६३५
सहिजन का अन्य योग	६३५
अश्मरी और शर्करा में विहार तथा शल्यकर्म	६३५
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का चिकित्सासूत्र	६३५
कार्पासमूलादि योग	६३५
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में विशेष उपचार	६३६
रक्तज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	६३६
श्वदंष्ट्रादि घृत	६३६
बस्तिप्रयोग	६३६
मूत्रकृच्छ्र में अपथ्य	६३६
हृद्रोग वर्णन	
हृद्रोग का निदान	६३७
हृदय रोग के सामान्य लक्षण	६३७
वातज हृद्रोग का लक्षण	६३७
पित्तज हृद्रोग का लक्षण	६३७
कफज, त्रिदोषज एवं कृमिज हृद्रोग का वर्णन	६३७
वातज हृद्रोग चिकित्सासूत्र	६३७
पुनर्नवादि तैल	६३८
हरीतक्यादि घृत	६३८
पुष्करमूलादि चूर्ण	६३८
पुष्करमूलादि क्वाथ	६३८

विषय	पृष्ठांक
पथ्यादि कल्क	६३८
त्र्यूषणादि घृत	६३८
पित्तज हृद्रोग का चिकित्सासूत्र	६३९
पित्तज हृद्रोगनाशक औषध योग	६३९
द्राक्षाद्य घृत	६३९
कशेरुकादि घृत	६३९
स्थिरादि तीन घृत योग	६३९
कफज हृद्रोग चिकित्सासूत्र	६४०
कट्फलादि क्वाथ	६४०
कृष्णादि चूर्ण	६४०
उदुम्बरादि लेह	६४०
कफज हृद्रोग में रसायन-प्रयोग	६४०
त्रिदोषज हृद्रोग चिकित्सासूत्र	६४०
हृदयशूल की आवस्थिक चिकित्सा	६४१
विरेचन-प्रयोग में युक्ति	६४१
कृमिज हृद्रोग चिकित्सासूत्र	६४१
नासारोग	
प्रतिश्याय का निदान और सम्प्राप्ति	६४१
वातज प्रतिश्याय का लक्षण	६४१
पित्तज प्रतिश्याय का लक्षण	६४१
कफज प्रतिश्याय का लक्षण	६४२
सन्निपातज प्रतिश्याय का लक्षण	६४२
दुष्ट प्रतिश्याय और उसके उपद्रव	६४२
दुष्ट प्रतिश्याय का लक्षण	६४२
क्षवथु और नासाशोष का लक्षण एवं सम्प्राप्ति	६४२
नासाप्रतीनाह और नासापरिस्रव का लक्षण	६४३
पूतिनस्य और अपीनस का लक्षण	६४३
नासिकापाक और नासिकाशोथ का लक्षण	६४३
नासार्बुद और पूयरक्त का लक्षण	६४३
नासा अरूंषिका और नासादीप्त	६४३
शिरोरोग	
शिरोरोगों का निदान और लक्षण	६४४
मुखरोग	
वातज मुखरोग का लक्षण	६४४
पित्तज मुखरोग का लक्षण	६४४
कफज मुखरोग का लक्षण	६४५
सन्निपातज मुखरोग का लक्षण	६४५
अरोचक का निदान	६४५
वातज अरोचक का लक्षण	६४५
पित्तज अरोचक का लक्षण	६४६
कफज अरोचक का लक्षण	६४६
आगन्तुज अरोचक का लक्षण	६४६
त्रिदोषज अरोचक का लक्षण	६४६
कर्णरोग	
वातज कर्णरोग का लक्षण	६४६
पित्तज कर्णरोग का लक्षण	६४६
कफज कर्णरोग का लक्षण	६४६
त्रिदोषज कर्णरोग का लक्षण	६४६
नेत्ररोग	
वातज नेत्ररोग का लक्षण	६४६
पित्तज नेत्ररोग का लक्षण	६४६
कफज नेत्ररोग का लक्षण	६४६
सन्निपातज नेत्ररोग का लक्षण	६४७
नेत्ररोगों का विशिष्ट वर्णन अभीष्ट नहीं!	६४७
खालित्य एवं पालित्य निदान	६४७
ऊर्ध्वजत्रुगत रोग चिकित्सा का उपक्रम	६४७
वातज पीनसरोग चिकित्सा	६४८
शताह्वादि धूमवर्ति	६४८
नये प्रतिश्याय में धूमपान	६४८
प्रतिश्यायजन्य वेदना में स्वेद	६४८
प्रतिश्याय में नस्य-प्रयोग तथा नावन	६४८
अणुतैल	६४८
वातज पीनस में आस्थापन बस्ति	६४९
वातज प्रतिश्याय में पथ्य	६४९
वातज प्रतिश्याय में अपथ्य	६४९
पित्तज प्रतिश्याय चिकित्सा	६४९
पाठादि तैल	६४९
पूयरक्त चिकित्सासूत्र	६४९
पित्तज प्रतिश्याय में पथ्य	६४९
कफज प्रतिश्याय का चिकित्सासूत्र	६५०
लशुन-प्रयोग	६५०
कफज प्रतिश्याय में वमन-प्रयोग	६५०
धूमपान और अवपीड नस्य	६५०
मनःशिलादि नस्य तथा कटु फलों का प्रधमन	६५०
भार्ग्यादि तैल	६५०
वमन-प्रयोग	६५०

विषय	पृष्ठांक
कफज प्रतिश्याय में पथ्य	६५०
प्रतिश्याय चिकित्सा का उपसंहार	६५०
वातज शिरोरोग चिकित्सासूत्र	६५१
उपनाह के द्रव्य	६५१
रास्नादि तैल	६५१
बलादि तैल	६५१
मायूर घृत	६५१
महामायूर घृत	६५२
आखु, कुक्कुट, हंस या शश घृत	६५२
पित्तज शिरोरोग चिकित्सासूत्र	६५३
चन्दनादि प्रदेह तथा परिसेचन	६५३
त्वक्पत्रादि अवपीड नस्य	६५३
यष्ट्याह्वादि और शर्करादि घृत	६५३
कफज शिरोरोग चिकित्सासूत्र	६५३
शिरोरोग में दाह और रक्तमोक्षण	६५३
एरण्डादि धूमवर्ती	६५३
सन्निपातज तथा कृमिज शिरोरोग चिकित्सासूत्र	६५४
त्वगादि तैल और प्रधमन चूर्ण	६५४
अवपीड नस्य और कवलग्रह	६५४
मुखरोग का चिकित्सासूत्र	६५४
पिप्पल्यादि कवलग्रह	६५४
तेजोह्वादि चूर्ण	६५४
क्षार गुटिका	६५४
कालक चूर्ण	६५५
पीतक चूर्ण	६५५
मृद्वीकादि चूर्ण	६५५
पाठादि चूर्ण	६५५
कटुकादि क्वाथ	६५५
दार्व्यादि रसक्रिया	६५६
तालुशोष चिकित्सासूत्र	६५६
मुखपाक चिकित्सासूत्र	६५६
मुखधावन योग	६५६
खदिरादि गुटिका	६५६
खदिरादि तैल	६५७
उपयोग और फलश्रुति	६५७
अरोचक चिकित्सासूत्र	६५७
चार कवलग्रह योग	६५७
कारव्यादि योग	६५७
अरोचक में दोषानुसार चिकित्सासिद्धान्त	६५७
कर्णरोग चिकित्सासूत्र	६५७
हिंग्वादि तैल एवं देवदार्वादि तैल	६५८
गन्ध तैल	६५८
क्षार तैल	६५८
मुख, कर्ण एवं नेत्र रोगों में दोष-कालानुसार उपचार	६५८
नेत्ररोग में बिडालक लेप	६५८
वातज नेत्रशूलघ्न बिडालक लेप	६५९
पैत्तिक नेत्ररोग में बिडालक	६५९
कफज नेत्ररोग में बिडालक	६५९
त्रिदोषज नेत्ररोग में बिडालक	६५९
नेत्ररोग में अञ्जन	६५९
वातज नेत्ररोग में आश्च्योतन	६५९
पित्तज नेत्ररोग में आश्च्योतन	६६०
कफज नेत्ररोग में आश्च्योतन	६६०
सम्पक्व नेत्ररोगों में उपचार—	
बृहत्यादि वर्ती	६६०
सुमनःकोरकादि वर्ती	६६०
सैन्धवादि वर्ती	६६०
अमृताह्वादि वर्ती	६६०
शंखादि वर्ती	६६०
चूर्णाञ्जन	६६१
एला चूर्णाञ्जन	६६१
सौवीरादि चूर्णाञ्जन या वर्ती	६६१
सुखावती वर्ती	६६१
दृष्टिप्रदा वर्ती	६६१
तिमिरघ्न अञ्जन	६६१
नेत्ररोगों में रसक्रिया के कुछ योग	६६२
खालित्य प्रभृति शिरोरोग चिकित्सा	६६२
शिरोरोग चिकित्सासूत्र	६६२
विदारीगन्धादि तैल	६६२
सहचरादि तैल	६६२
दुग्धिका योग	६६२
भृङ्गराज तैल	६६२
महानील तैल	६६३
प्रपौण्डरीकादि तैल	६६३
प्रियालादि प्रलेप	६६४

विषय	पृष्ठांक
तिलादि योग	६६४
पलितनाशक लौह योग	६६४
अवशिष्टरोग चिकित्सा-निर्देश	६६४
स्वरभेद चिकित्सा	
वातज स्वरभेद चिकित्सासूत्र	६६४
वातज स्वरभेद चिकित्सा	६६४
पित्तज स्वरभेद चिकित्सा	६६५
कफज स्वरभेद चिकित्सा	६६५
रक्तज स्वरभेद चिकित्सा	६६५
सन्निपातज स्वरभेद चिकित्सा	६६५
त्रिमर्मीय रोगों में दोषानुसार शोधन	६६५
वात-पित्त-कफ के द्विविध कार्य	६६५
दोषों के परस्पर अनुपघातक होने में उदाहरण	६६५
उपसंहार	६६५
त्रिमर्मीयरोग-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	६६७
(२७) ऊरुस्तम्भचिकित्साध्यायः	
पुनर्वसु आत्रेय से अग्निवेश का प्रश्न	६७७
पञ्चकर्म से अप्रभावी रोग	६७८
पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	६७८
ऊरुस्तम्भ रोग का निदान और सम्प्राप्ति	६७८
ऊरुस्तम्भ में कफ की प्रबलता का दृष्टान्त	६७८
ऊरुस्तम्भ के मारक लक्षण	६७९
ऊरुस्तम्भ का निर्वचन	६७९
ऊरुस्तम्भ का पूर्वरूप	६७९
ऊरुस्तम्भ में स्नेह-प्रयोग से हानि	६७९
ऊरुस्तम्भ के लक्षण	६७९
साध्यासाध्यता	६७९
ऊरुस्तम्भ में स्नेहन और पञ्चकर्म अनुपयोगी	६७९
ऊरुस्तम्भ का चिकित्सासूत्र	६८०
ऊरुस्तम्भ में पथ्याहार	६८०
ऊरुस्तम्भनाशक योग	६८०
ऊरुस्तम्भनाशक कल्क योग	६८०
शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण	६८१
मूर्वादि योग	६८१
स्वर्णक्षीर्यादि योग	६८१
ऊरुस्तम्भ की आवस्थिक चिकित्सा	६८१
पीलुपर्ण्यादि तैल	६८१
कुष्ठादि तैल	६८२
सैन्धवादि तैल	६८२
अष्टकङ्कर तैल	६८२
आभ्यन्तर औषध-प्रयोग का उपसंहार	६८२
ऊरुस्तम्भ में बाह्य चिकित्सा का उपक्रम	६८२
वल्मीकमृत्तिकादि उत्सादन	६८२
अश्वगन्धादि उत्सादन	६८३
ऊरुस्तम्भ में प्रलेप और परिसेचन	६८३
वत्सकादि लेप	६८३
श्योनाकादि परिसेचन और प्रलेप	६८३
ऊरुस्तम्भरोगनाशक विहार	६८३
ऊरुस्तम्भ चिकित्सा का सिद्धान्त	६८४
उपसंहार	६८४
ऊरुस्तम्भ-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	६८५
(२८) वातव्याधिचिकित्साध्यायः	
वातव्याधि की व्युत्पत्ति	६८६
वायु की सर्वसमर्थता	६८७
वायु ही जीवन है	६८७
वायु के भेद	६८७
प्राणवायु का स्थान तथा कर्म	६८८
उदानवायु का स्थान तथा कर्म	६८८
समानवायु का स्थान तथा कर्म	६८८
व्यानवायु का स्थान तथा कर्म	६८९
अपानवायु का स्थान तथा कर्म	६८९
प्राकृत वात शरीर के धारक हैं	६८९
विकृत वात विनाशकारी हैं	६९०
वातज नानात्मज रोग	६९०
वातव्याधियों के निदान एवं उपचार का उपक्रम	६९०
वातरोगों का निदान	६९०
वातव्याधि का पूर्वरूप	६९०
वातव्याधि का लक्षण	६९०
प्रकुपित वात के कार्य	६९१
निदान आदि के वैशिष्ट्य से रोगविशेष की उत्पत्ति	६९१
कोष्ठाश्रित और सर्वाङ्ग में कुपित वायु का लक्षण	६९१
गुदगत एवं आमाशयगत कुपित वात का लक्षण	६९२
पक्वाशयगत एवं श्रोत्रादिगत कुपित वात का लक्षण	६९२
त्वचागत दुष्टवायु का लक्षण	६९२
रक्तगत प्रकुपित वात का लक्षण	६९३

विषय	पृष्ठांक
मांस और मेदोगत प्रकुपित वात का लक्षण	६९३
मज्जागत एवं अस्थिगत प्रकुपित वात का लक्षण	६९३
शुक्रगत प्रकुपित वात का लक्षण	६९३
स्नायुगत विकृत वायु का लक्षण	६९३
सिरागत प्रकुपित वात का लक्षण	६९४
सन्धिगत प्रकुपित वात का लक्षण	६९४
अर्दित का लक्षण	६९४
मन्यास्तम्भ या अन्तरायाम का लक्षण	६९५
धनुस्तम्भ या बहिरायाम का लक्षण	६९६
हनुस्तम्भ का लक्षण	६९६
आक्षेपक और दण्डक के लक्षण	६९७
दण्डक तथा अर्दित आदि अचिकित्स्य	६९७
पक्षवध, एकाङ्गरोग और सर्वाङ्गवात के लक्षण	६९७
गृध्रसी का लक्षण	६९८
खल्लीरोग का लक्षण	६९९
अनुक्त रोगों के ज्ञान का प्रकार	६९९
वातप्रकोप के दो प्रमुख कारण	६९९
तीनों दोषों में वायु की ही प्रधानता	६९९
वायु के आवरणकृत लक्षण	
पित्तावृत वात का लक्षण	६९९
कफावृत वात का लक्षण	६९९
रक्तावृत वात का लक्षण	६९९
मांसावृत वात का लक्षण	७००
मेद से आवृत या आढ्यवात का लक्षण	७००
अस्थि से आवृत वात का लक्षण	७००
मज्जा से आवृत वात का लक्षण	७००
शुक्र से आवृत वात का लक्षण	७००
अन्न से आवृत वात का लक्षण	७००
मूत्र से आवृत वात का लक्षण	७००
मल से आवृत वात का लक्षण	७०१
प्रसिद्ध वातव्याधियाँ और उनकी साध्यासाध्यता	७०१
वातरोग की सामान्य चिकित्सा	
वातरोगों में स्नेहन-प्रयोग	७०१
स्वेदन और उसके लाभ	७०२
स्नेहपूर्वक स्वेदन से लाभ	७०२
स्नेहन से लाभ	७०२
वातरोग में मृदु विरेचन	७०२
वातरोग में मृदु विरेचन योग	७०२
वातरोग में अनुलोमन	७०२
निरूहबस्ति तथा दीपन-पाचन प्रयोग	७०३
संशोधनोत्तर स्नेहन-स्वेदन विधान	७०३
वातरोग में पथ्य, नस्य एवं धूमपान	७०३
वातरोग की अवस्थानुसार चिकित्सा	
कोष्ठगत वात की चिकित्सा	७०३
गुदगत एवं पक्वाशयगत वात की चिकित्सा	७०३
आमाशयगत वात की चिकित्सा	७०३
सर्वाङ्गवात में बस्ति-प्रयोग	७०३
वायु के त्वचागत विकार में चिकित्सा	७०३
रक्तगत वात की चिकित्सा	७०३
मांस एवं मेदोगत वात की चिकित्सा	७०४
अस्थि एवं मज्जागत वात की चिकित्सा	७०४
शुक्रगत वात की चिकित्सा	७०४
गर्भाशयगत वात की चिकित्सा	७०४
हृदयगत वात की चिकित्सा	७०४
नाभिगत वात की चिकित्सा	७०४
उद्वेष्टनकारक वात की चिकित्सा	७०४
वातजन्य अङ्गसंकोच चिकित्सा	७०४
बाहुगत एवं मूर्धगत वात की चिकित्सा	७०४
नाभि के नीचे वातप्रकोप में उपचार	७०५
अर्दित वात की चिकित्सा	७०५
पक्षाघात चिकित्सासूत्र	७०५
गृध्रसी चिकित्सा	७०५
खल्ली चिकित्सा	७०५
हनुस्तम्भ चिकित्सा	७०५
वातरोगों की विशेष चिकित्सा	७०५
सर्वविध वातरोगों का चिकित्सासूत्र	७०६
वातरोगों में मांसरस का प्रयोग	७०६
वातनाशक मांस का उपनाह	७०६
वातरोग में अवगाहन और परिसेचन	७०६
वातरोग में नाडीस्वेद, उपनाह, अभ्यंग एवं पान	७०७
मुस्तादि उपनाह	७०७
उत्कारिकादि उपनाह विधान	७०७
उपनाह के उपकरण	७०७
स्नेहवर्णन का उपक्रम	७०७
शुद्ध वातनाशक दशमूलादि घृत	७०८
चित्रकादि घृत	७०८

विषय	पृष्ठांक
बलादि घृत	७०८
दशमूलादि मज्जस्नेह	७०८
दशमूलादि वसास्नेह	७०९
त्रिफलादि महास्नेह	७०९
निर्गुण्डी तैल	७०९
कार्पास तैल	७०९
मूलक तैल	७१०
पञ्चमूल तैल	७१०
यवादि तैल	७१०
सर्ववातघ्न विशिष्ट तैल	७१०
सहाचर तैल	७११
श्वदंष्ट्रा तैल	७११
बला तैल	७११
अमृताद्य तैल	७१२
रास्ना तैल	७१२
अश्वगन्धा तैल, प्रसारणी तैल, बला तैल तथा अतिबला तैल	७१२
मूलकाद्य तैल	७१३
वृषमूलादि तैल	७१३
मूलक तैल	७१३
यवादि मूलक तैल एवं लशुन तैल	७१४
वन्ध्यत्वनाशक तैल	७१४
अगुर्वादि तैल का प्रयोग विधान	७१४
वातरोग में वातरक्तोक्त तैलोपचार	७१४
वातविकार-शमनार्थ तैल प्रयोग में युक्ति	७१४
दोषान्तरादि संसृष्ट वात की चिकित्सा	७१५
पित्तावृत वात में उपचार	७१५
कफावृत वात की चिकित्सा	७१५
कफपित्तसंसृष्ट वात-चिकित्सासूत्र	७१५
स्थानानुसार कफपित्त-चिकित्सा	७१५
कफपित्तसंसृष्ट वात में बस्तिप्रयोग	७१६
शिरोगत सकफ वात-चिकित्सा	७१६
उरःस्रोतस्गत वात-चिकित्सा	७१६
रक्तावृत वात-चिकित्सा	७१६
आमावृत और मांसावृत वात-चिकित्सा	७१६
अस्थिमज्जागत वात एवं शुक्रावृत वात-चिकित्सा	७१६
अन्नावृत वात-चिकित्सा	७१६
मूत्रावृत और पुरीषावृत वात-चिकित्सा	७१६
स्वस्थानस्थ दोषों की चिकित्सा	७१७
वायु के पारस्परिक आवरण	
वायु के परस्पर के आवरणों के वर्णन का उपक्रम	७१७
प्राणावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१७
व्यानावृत प्राणवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१८
प्राणावृत समानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१८
समानावृत अपानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१८
प्राणावृत उदानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१८
उदानावृत प्राणवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१८
उदानावृत अपानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१८
अपानावृत उदानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१९
व्यानावृत अपानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१९
अपानावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१९
समानावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१९
उदानावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा	७१९
अनुक्त ज्ञानार्थ आवरणस्वरूप	७१९
आवृत वात-चिकित्सासूत्र	७२०
पाँच वात-भेदों का संक्षिप्त चिकित्सा सिद्धान्त	७२०
पित्त तथा कफजन्य वात के आवरण	
पित्तावृत प्राणवायु के लक्षण	७२०
कफावृत प्राणवायु के लक्षण	७२०
पित्तावृत उदानवायु के लक्षण	७२१
कफावृत उदानवायु के लक्षण	७२१
पित्तावृत समानवायु के लक्षण	७२१
कफावृत समानवायु के लक्षण	७२१
पित्तावृत व्यानवायु के लक्षण	७२१
कफावृत व्यानवायु के लक्षण	७२१
पित्तावृत अपानवायु के लक्षण	७२१
कफावृत अपानवायु के लक्षण	७२१
पित्त-कफ उभयावरण का लक्षण	७२२
वातस्थानगत कफ-पित्त के कार्य	७२२
आवृत वात की साध्यासाध्यता	७२२
आवृत वात की उपेक्षा से उपद्रव	७२२

विषय	पृष्ठांक
सर्वस्थानावृत वातचिकित्सासूत्र	७२३
आवृत अपानवायु की चिकित्सा	७२३
पित्तावृत एवं कफावृत वात-चिकित्सा	७२३
दोषावस्था के ज्ञान से भ्रम का निवारण	७२३
अध्याय का उपसंहार	७२४
वातव्याधि-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	७२४
(२९) वातशोणितचिकित्साध्यायः	
अग्निवेश का पुनर्वसु से प्रश्न	७३०
वातरक्त रोग का निदान	७३१
वातरक्त की सम्प्राप्ति	७३१
सापेक्ष निदान	७३२
वातरक्त का विशेष स्थान	७३२
वातरक्त में सन्धिगत वेदना की विशिष्ट सम्प्राप्ति	७३२
वातरक्त का पूर्वरूप	७३४
वातरक्त के दो भेद	७३४
उत्तान वातरक्त का लक्षण	७३४
गम्भीर वातरक्त का लक्षण	७३४
उभयाश्रय वातरक्त का लक्षण	७३४
वातरक्त के दोषज भेद और उनके लक्षण	७३४
वातज वातरक्त का लक्षण	७३५
रक्तज वातरक्त का लक्षण	७३५
पित्तज वातरक्त का लक्षण	७३५
कफज वातरक्त का लक्षण	७३५
द्वन्द्वज और त्रिदोषज वातरक्त का लक्षण	७३५
वातरक्त की साध्यता, याप्यता और असाध्यता	७३५
वातरक्त की उपद्रवजनित असाध्यता	७३५
उपद्रव सम्बद्ध याप्यता एवं साध्यता	७३६
वातरक्त की मारकता	७३६
वातरक्त की संक्षिप्त चिकित्सा	
वातरक्त-चिकित्सा में रक्तमोक्षण	७३६
रक्तमोक्षण का निषेध	७३६
अतिमात्रा में रक्तमोक्षण से हानि	७३६
वातरक्त में शोधन चिकित्सा	७३७
उत्तान और गम्भीर वातरक्त में चिकित्सा वैशिष्ट्य	७३७
वात-प्रधान वातरक्त चिकित्सासूत्र	७३७
रक्त एवं पित्त-प्रधान वातरक्त चिकित्सासूत्र	७३७
कफ-प्रधान वातरक्त चिकित्सासूत्र	७३७
वर्जनीय उपचार	७३७
वातरक्त में अपथ्य	७३८
वातरक्त में पथ्य	७३८
वातरक्त की विस्तृत चिकित्सा	
श्रावण्यादि घृत	७३८
बलाघृत	७३८
पारूषक घृत	७३८
जीवनीय घृत	७३९
द्राक्षा घृत तथा गुडूचीक्षीर	७३९
जीवकादि महास्नेह	७४०
स्थिरादि घृत या तैल	७४०
वातरक्त में घृत-तैल पान	७४०
शालिपर्णी सिद्ध दुग्धयोग	७४०
बलादि एवं श्यामादि क्षीरपाक	७४०
धारोष्ण दुग्ध दोषानुलोमन	७४१
एरण्ड तैल प्रयोग	७४१
हरीतकी और त्रिवृत का प्रयोग	७४१
काश्मर्यादि क्वाथ	७४१
त्रिफला का प्रयोग एवं धात्री योग	७४१
वातरक्त में मृदु विरेचन	७४१
वातरक्त में बस्तिप्रयोग	७४१
मधुयष्ट्यादि तैल	७४२
सुकुमारक तैल	७४२
अमृताद्य तैल	७४३
महापद्म तैल	७४३
खुड्डाकपद्मक तैल	७४४
शतपाक मधुक तैल	७४४
शतपाक मधुक तैल	७४४
शतपाक मधुपर्णी तैल	७४४
शतपाक या सहस्रपाक बला तैल	७४४
गुडूच्यादि, द्राक्षादि और मधुकादि तैल	७४५
सर्जरस तैल	७४५
पिण्ड तैल	७४५
दशमूलादि क्षीर	७४५
चार महास्नेहों का प्रयोग	७४५

विषय	पृष्ठांक
दाहशामक परिसेचन योग	७४५
पित्त एवं रक्तप्रधान वातरक्त में उपचार	
दाहशामक विहार	७४६
दाहशामक मधुकादि लेप	७४६
तिलादि लेप	७४६
प्रपौण्डरीकादि तैल	७४६
वातप्रधान वातरक्त चिकित्सा	
वात-प्रधान वातरक्त में लेप-उपनाह	७४७
वातरक्तनाशक उपनाह	७४७
सहचरादि योग	७४७
शूलनाशक योग	७४७
सन्धिगत वात में मधूच्छिष्टादि प्रलेप	७४७
कफप्रधान वातरक्त चिकित्सा	
कफज वातरक्त में अभ्यंग और परिसेचन	७४८
सर्षपादि लेप एवं कपित्थादि लेप	७४८
वातकफज वातरक्त में प्रलेप	७४८
तगरादि लेप	७४८
सहिजन का लेप	७४८
त्रिदोषज वातरक्त में त्रिफलादि कल्क	७४९
युक्तियुक्त चिकित्सा का निर्देश	७४९
स्नेहन एवं बृंहण का निषेध	७४९
कफमेदनाशक उपचार	७४९
वातरक्तनाशक विशिष्ट द्रव्य	७४९
गम्भीर वातरक्त में वात का उपचार	७४९
वातरक्त में आवस्थिक चिकित्सा	७५०
वातरक्त में उपद्रवों की चिकित्सा	७५०
अध्याय का उपसंहार	७५०
वातरक्त-चिकित्साक्रमबोधक सारणी	७५०
(३०) योनिव्यापच्चिकित्साध्यायः	
अग्निवेश का प्रश्न	७५४
अग्निवेश का योनिरोग सम्बन्धी प्रश्न	७५४
आत्रेय पुनर्वसु का उत्तर	७५४
वातला योनि का लक्षण	७५५
पित्तला योनि का लक्षण	७५५
कफजा योनि का लक्षण	७५५
त्रिदोषजा योनि का लक्षण	७५५
रक्तजा योनि का लक्षण	७५५
अरजस्का योनि का लक्षण	७५५
अचरणा योनि का लक्षण	७५६
अतिचरणा योनि का लक्षण	७५६
प्राक्चरणा योनि का लक्षण	७५६
उपप्लुता योनि का लक्षण	७५६
परिप्लुता योनि का लक्षण	७५६
उदावर्तिनी योनि का लक्षण	७५७
कर्णिनी योनि का लक्षण	७५७
पुत्रघ्नी योनि का लक्षण	७५७
अन्तर्मुखी योनि का लक्षण	७५७
सूचीमुखी योनि का लक्षण	७५८
शुष्का योनि का लक्षण	७५८
वामिनी योनि का लक्षण	७५८
षण्ढी योनि का लक्षण	७५८
वन्ध्यत्व के कारण	७५९
महायोनि का लक्षण	७५९
योनिव्यापत् से हानि	७५९
योनिव्यापत् में दोषानुबन्ध	७६०
दोषानुसार योनिरोगबोधक सारणी	७६०
योनिरोगों का दोषानुसार सामान्य चिकित्सासूत्र	७६१
विकृताङ्ग योनि का पुनः स्थापन	७६१
सभी योनिव्यापदों में संशोधन	७६१
वातज योनिरोग चिकित्सासूत्र	७६२
बलादि यमक	७६२
काश्मर्यादि घृत	७६२
पिप्पल्यादि योग	७६२
वृषकादि चूर्ण	७६२
रास्नादि क्षीरपाक	७६३
गुडूच्यादि क्वाथ	७६३
सैन्धवादि तैल	७६३
गुडूच्यादि तैल	७६३
वातज योनिरोग में स्नेह-प्रयोग	७६३
योनिरोग में दोषानुसार उपचार	७६३
पित्तज योनिरोग चिकित्सासूत्र	७६३
वृहत् शतावरी घृत	७६४
जीवनीय क्षीरघृत	७६४
कफज योनिरोग में संशोधनी वर्ती	७६४

विषय	पृष्ठांक
अर्कादि वर्ती	७६४
पिप्पल्यादि वर्ती	७६५
उदुम्बरादि तैल	७६५
उदुम्बर तैल	७६५
धातक्यादि तैल	७६५
करीरादि क्वाथ	७६६
पिप्पल्यादि चूर्ण	७६६
दोषानुसार उत्तरबस्ति	७६६
रक्तयोनि का चिकित्सासूत्र	७६६
वातज प्रदर चिकित्सा	७६६
पित्तज प्रदर में पयस्या योग	७६७
पुष्यानुग चूर्ण	७६७
प्रदरनाशक योग	७६७
पैत्तिक प्रदर में विरेचन प्रयोग	७६८
रक्तयोनि, अरजस्का और पुत्रघ्नी की चिकित्सा	७६८
अरजस्का की विशिष्ट चिकित्सा	७६८
योनिरोगों में तैल की उत्तरबस्ति	७६८
अचरणा योनि में उपचार	७६८
प्राक्चरणा तथा अतिचरणा योनि की चिकित्सा	७६८
वामनी तथा उपप्लुता योनि की चिकित्सा	७६९
विप्लुता योनि की चिकित्सा	७६९
कर्णिनी योनि की चिकित्सा	७६९
उदावर्ता, वातला, महायोनि और भ्रस्ता योनि की चिकित्सा	७६९
महायोनि में विशिष्ट चिकित्सा	७६९
प्रभ्रस्ता योनि की विशिष्ट चिकित्सा	७७०
योनिरोग में वातचिकित्सा की युक्ति	७७०
श्वेतप्रदरनाशक योग	७७०
पिच्छिला योनि की चिकित्सा	७७०
कासीसादि योग	७७०
पलाशादि वर्ती	७७०
स्तब्ध एवं कर्कश योनि की चिकित्सा एवं दुर्गन्धनाशन	७७१
गर्भधारण की सम्भावना	७७१
पुरुष के वीर्य का परीक्षण एवं उपचार	७७१
योनिव्यापद् वर्णन का उपसंहार	७७१
अग्निवेश के शुक्रदोष, क्लैब्य एवं प्रदरविषयक प्रश्न	७७२
अदुष्ट शुक्र ही गर्भ का बीज	७७२
शुक्रदुष्टि के कारण	७७२
शुक्र के आठ दोष	७७३
वात, पित्त एवं कफ से दुष्ट शुक्र के लक्षण	७७३
रक्तमिश्रित शुक्र का लक्षण	७७३
अवसादी शुक्र का लक्षण	७७३
शुद्ध शुक्र का लक्षण	७७३
शुक्रदोष की सामान्य चिकित्सा	७७३
शुक्रदोष की दोषानुसार चिकित्सा	७७४
शुक्रदोष में पथ्योपचार	७७४
क्लैब्य-वर्णन का उपक्रम और निदान	७७४
नपुंसकता का लक्षण	७७४
बीजोपघातज नपुंसकता का निदान	७७४
बीजोपघातज नपुंसकता का लक्षण	७७५
ध्वजभंग का निदान	७७५
ध्वजभंग का लक्षण	७७६
वृद्धावस्थाजन्य नपुंसकता का निदान एवं लक्षण	७७६
क्षयज नपुंसकता का निदान तथा लक्षण	७७७
क्लैब्य की असाध्यता	७७७
जन्मजात नपुंसकता	७७७
साध्यासाध्यता	७७७
क्लैब्य चिकित्सा का उपक्रम	७७७
नपुंसकता का चिकित्सासूत्र	७७८
क्लैब्य चिकित्सा के विस्तृत वर्णन का संकल्प	७७८
संशोधन	७७८
बीजोपघातज क्लैब्य चिकित्सा	७७८
ध्वजभंगजन्य क्लैब्य चिकित्सा	७७८
जराजन्य तथा क्षयज क्लैब्य चिकित्सा	७७८
प्रदर का निदान, सम्प्राप्ति और निर्वचन	७७९
प्रदररोग का विस्तृत वर्णन	७७९
वातज प्रदर का निदान और लक्षण	७७९
पित्तज प्रदर का निदान और लक्षण	७८०
कफज प्रदर का निदान और लक्षण	७८०
त्रिदोषज प्रदर का निदान और लक्षण	७८०
असाध्य प्रदर का लक्षण	७८०
शुद्ध आर्तव का लक्षण	७८१
चतुर्विध प्रदर की चिकित्सा	७८१
स्तन्यदोष-चिकित्सा का उपक्रम	७८१
स्तन्यरोग का निदान और सम्प्राप्ति	७८१

विषय	पृष्ठांक
दोषानुसार स्तन्यदोष	७८२
वातज क्षीरदोष	७८२
पित्तज क्षीरदोष	७८२
कफज क्षीरदोष	७८३
वातादि दोषज अन्य क्षीर विकार	७८३
स्तन्यदोष चिकित्सा	७८३
वमनार्थ औषध	७८३
विरेचन योग	७८३
क्षीरदोषघ्न अन्नपान	७८४
स्तन्यशोधक सामान्य औषध योग	७८४
क्षीरदोषों की विशिष्ट चिकित्सा	
विरस में उपचार	७८४
पञ्चकोलादि लेप	७८५
फेनसंघात की चिकित्सा	७८५
अञ्जनादि लेप	७८५
किराततिक्तादि क्वाथ और यवादि लेप	७८५
रूक्षक्षीर की चिकित्सा	७८५
विवर्णक्षीर की चिकित्सा	७८५
दुर्गन्धियुक्त क्षीर की चिकित्सा	७८६
अतिस्निग्ध क्षीर की चिकित्सा	७८६
पिच्छिल दुग्ध की चिकित्सा	७८६
गुरु क्षीर की चिकित्सा	७८६
क्षीरदोष-वर्णन का उपसंहार	७८६
बालरोग चिकित्सा	
बालरोग चिकित्सा सिद्धान्त	७८६
बालकों में शोधन एवं शमन	७८७
चिकित्सास्थान : एक रहस्य	७८७
चरकसंहिता का संस्कार	७८८
अनुक्त रोगों की चिकित्सा का सिद्धान्त	७८८
सम्यग्योग ही चिकित्सा	७८८
देश (शरीर) का सम्यग्योग	७८९
कालापेक्ष सम्यग्योग	७८९
दिनापेक्ष काल का सम्यग्योग	७८९
रोग्यपेक्ष काल का सम्यग्योग	७८९
औषधापेक्ष काल का सम्यग्यो	७९०
औषधापेक्ष काल सारणी	७९०
दश औषध काल के प्रयोग स्थल	७९०
रोगापेक्ष काल का सम्यग्योग	७९१
जीर्ण लक्षणापेक्ष काल का सम्यग्योग	७९१
ऋत्वपेक्ष काल का सम्यग्योग	७९१
रोगी के अनुसार ही उपक्रम	७९१
रोग तथा रोगी की दशा ज्ञातव्य	७९१
औषधापेक्ष काल-ज्ञान का महत्त्व	७९१
कालापेक्ष की परिभाषा	७९१
कालापेक्ष रोग	७९२
ऋतुओं में दोषज रोग	७९२
अहोरात्र में दोषज रोग	७९२
आयु और दोष	७९२
भोजन और दोष	७९२
प्रमाणापेक्ष सम्यग्योग	७९२
सात्म्य सापेक्ष सम्यग्योग	७९३
देशसात्म्य के उदाहरण	७९३
सात्म्य के सेवन का फल	७९३
अज्ञवैद्य की चिकित्सा असफल	७९३
विरुद्धाभिमत क्रिया का उदाहरण—	
१. उष्णपित्त का उष्णस्वेद आदि से शमन	७९३
२. शीत कफ का शीतोपचार से शमन	७९३
३. कल्पनाविशेष से विपरीत प्रतिक्रिया	७९३
४. उष्ण अगुरु शैत्यकारक	७९४
५. समुदाय की अपेक्षा एकदेश का विरुद्ध कार्य करना	७९४
चिकित्सा के पूर्व दशविध परीक्ष्य का ज्ञान आवश्यक	७९४
रोगमुक्त होने पर भी उपचार	७९४
पथ्य के अभ्यास से व्याधिबीज का निर्मूलन	७९५
प्रिय और मनोऽनुकूल पथ्य	७९५
अवाञ्छनीय रुचि में कर्त्तव्य	७९५
अध्याय का उपसंहार	७९६
शास्त्र तथा क्रियात्मक ज्ञान आवश्यक	७९६
योनिव्यापत् चिकित्साक्रमबोधक सारणी	७९६
(प्रदर-शुक्रदोष-क्लैब्य-स्तन्यदोष एवं बालरोग चिकित्सा-सारणी)	७९६

कल्पस्थानम्

विषय	पृष्ठांक
(१) मदनकल्पाध्यायः	
मदनफल कल्क की निरुक्ति	८०५
कल्पस्थान के उपदेश का प्रयोजन	८०५
वमन और विरेचन की परिभाषा	८०५
वमन और विरेचन की प्रक्रिया	८०६
वमन और विरेचन द्रव्य	८०६
द्रव्यों में गुणोत्कर्ष	८०७
देश के तीन भेद	८०७
जांगल देश का लक्षण	८०७
आनूप देश का लक्षण	८०७
साधारण देश का लक्षण	८०७
औषध के प्रशस्त स्थान	८०८
संग्रहणीय औषध	८०८
औषध-संग्रह-विधि	८०८
औषध रखने की विधि	८०८
दोषानुसार अनुपान-प्रयोग	८०९
मदनफल का संग्रह	८०९
वमनविधि	८१०
वमनार्थ मधु-सैन्धव प्रयोग	८११
मदनफल के प्रयोग	८११
मदनफल पिप्पलीक्षीर	८१२
मदनफलसिद्ध दुग्ध का मक्खन	८१३
मदनफल का कमलपुष्प द्वारा प्रयोग	८१३
मदनफल के स्वरस का प्रयोग	८१३
मदनफलवर्ती का प्रयोग	८१३
मदनफल के बीस अवलेह योग	८१३
मदनफल की उत्कारिका या मोदक	८१४
मदनफल का शष्कुली या पूआ में प्रयोग	८१४
मदनफल के कुछ अन्य प्रयोग	८१४
मदनफल के विविध प्रयोग	८१४
मदनफल के पर्याय	८१४
अध्याय का उपसंहार	८१५
मदनफलकल्पयोगबोधक सारणी	८१५
(२) जीमूतककल्पाध्यायः	
जीमूतक के पर्याय और उसके फल-पुष्प का प्रयोग	८१६
जीमूतक के प्रयोगस्थल	८१६
जीमूतक के पाँच योग	८१६
जीमूतक की मात्रा	८१६
जीमूतक का सुरामण्ड में प्रयोग	८१७
जीमूतक प्रयोग की अन्य सामग्री	८१७
जीमूतक के ८ मात्रा योग	८१७
जीमूतक का ज्वर में प्रयोग	८१७
जीमूतकसिद्ध घृत श्रेष्ठ वामक	८१७
अध्याय का उपसंहार	८१७
जीमूतककल्पयोगबोधक सारणी	८१८
(३) इक्ष्वाकुकल्पाध्यायः	
इक्ष्वाकुकल्प का उपक्रम	८१९
इक्ष्वाकु के पर्याय	८१९
इक्ष्वाकु के प्रयोग	८१९
इक्ष्वाकुसिद्ध क्षीर	८१९
इक्ष्वाकु के क्षीर प्रयोग	८१९
कफघ्न क्षीर योग	८२०
दधियोग	८२०
इक्ष्वाकुबीज प्रयोग	८२०
मस्तुयोग	८२०
पुष्पप्रयोग	८२०
फलमध्य एवं स्नेह का प्रयोग	८२०
इक्ष्वाकुबीज का वर्धमान प्रयोग	८२१
इक्ष्वाकुबीज की मात्रा और प्रयोग	८२१
इक्ष्वाकु के ८ मात्रा योग	८२१
इक्ष्वाकु के लेहयोग	८२२
इक्ष्वाकु का मन्थयोग	८२२
इक्ष्वाकु युक्त मांसरस का प्रयोग	८२२
अध्याय का उपसंहार	८२२
इक्ष्वाकुकल्पयोगबोधक सारणी	८२३
(४) धामार्गवकल्पाध्यायः	
धामार्गव के पर्याय	८२४
धामार्गव के प्रयोगस्थल	८२४
धामार्गव के प्रयोज्य अंग	८२४
धामार्गव पत्रस्वरस के ९ योग	८२४
धामार्गव के ४ क्षीरयोग एवं १ सुरायोग	८२४
धामार्गव के पके और सूखे फल के ९ योग	८२४
धामार्गव का १ अन्न योग	८२५

विषय	पृष्ठांक
धामार्गव का १ नस्य योग	८२५
धामार्गव के २ मात्रा योग	८२५
धामार्गव के १० शकृद्रसयोग	८२५
धामार्गव के १० अवलेह योग	८२५
धामार्गव का विषघ्न कल्क योग	८२५
धामार्गव के मनोविकारघ्न ११ कषाययोग	८२६
धामार्गव का १ घृत योग	८२६
अध्याय का उपसंहार	८२६
धामार्गवकल्पयोगबोधक सारणी	
(५) वत्सककल्पाध्यायः	
वत्सक-वर्णन उपक्रम	८२७
वत्सक के पर्याय	८२७
वत्सक के स्त्री-पुरुष भेद	८२७
कुटज के प्रयोग योग्य रोग	८२७
वत्सक का संग्रह	८२७
वत्सक के ९ कषाय योग	८२७
अर्कदुग्धभावित इन्द्रजौ के ५ चूर्ण योग तथा ३ अम्बु योग	८२८
इन्द्रजौ का १ कृशरा योग	८२८
अध्याय का उपसंहार	८२८
वत्सककल्पयोगबोधक सारणी	८२८
(६) कृतवेधनकल्पाध्यायः	
कृतवेधन कल्प का उपक्रम	८२९
कृतवेधन के गुण तथा प्रयोग	८२९
कृतवेधन के ५ योग	८२९
कृतवेधन के २२ कषाय योग	८२९
कृतवेधन का पिच्छा के साथ प्रयोग	८२९
कृतवेधन के ६ वर्तियोग और १ घृत योग	८३०
कृतवेधन के ८ लेह योग	८३०
कृतवेधन के ७ मांसयोग	८३०
कृतवेधन का १ इक्षुरस योग	८३०
अध्याय का उपसंहार	८३१
कृतवेधनकल्पयोगबोधक सारणी	८३१
(७) श्यामात्रिवृत्कल्पाध्यायः	
त्रिवृत वर्णन का उपक्रम	८३२
निशोथ के पर्याय	८३२
त्रिवृत के गुण	८३२
निशोथ सर्वरोगहर औषध	८३२
निशोथ के २ भेद और उनकी विशेषता	८३२
निशोथ-संग्रहविधि	८३३
निशोथ का प्रयोग विधान	८३३
निशोथ के ९ योग	८३३
निशोथ के सैन्धव आदि १२ लवण योग	८३३
निशोथ के पीपल आदि के साथ १८ योग	८३३
निशोथ का मुलहठी के साथ १ योग	८३४
निशोथ का जीवक आदि के साथ १५ योग	८३४
निशोथ के दूध आदि के साथ ७ योग	८३४
निशोथ के मधु आदि के साथ ८ लेह योग	८३४
निशोथ अवलेह	८३४
धनी व्यक्तियों के लिए निशोथ अवलेह	८३४
धनी और सुकुमार के योग्य अन्य अवलेह	८३५
पित्त प्रकृति वालों के योग्य निशोथ के ४ सिता योग	८३५
कफप्रकृतियों के लिए अवलेह योग	८३५
सुकुमारों के लिए १ अन्य अवलेह	८३५
निशोथ के पानक आदि ५ योग	८३५
निशोथ का तर्पण योग	८३६
निशोथ का मोदक योग (१)	८३६
निशोथ का अष्टम अवलेह योग	८३६
कल्याणगुडमोदक योग (२)	८३६
व्योषादि मोदक योग (३)	८३७
पथ्यादि मोदक योग (४)	८३७
त्रिवृतादि मोदक योग (५)	८३७
निशोथ का वर्षाकालीन विरेचन योग	८३७
निशोथ का शरत्कालीन विरेचन योग	८३७
निशोथ का हेमन्तकालीन विरेचन योग	८३८
निशोथ का ग्रीष्मकालीन विरेचन योग	८३८
निशोथ का सभी ऋतुओं में प्रयोग योग्य योग	८३८
निशोथ का अन्य सर्वऋतु योग्य योग	८३८
त्र्यूषणादि योग	८३८
त्रिवृतादि विरेचन तर्पण	८३८
निशोथ के ४ घृत-दुग्ध योग	८३९
निशोथ के २ मद्ययोग	८३९
सौवीरक और तुषोदक के योग	८३९
षाडव आदि के साथ निशोथ के १० योग	८३९
वमन रोकने के उपाय के साथ विरेचन प्रयोग	८४०
अध्याय का उपसंहार	८४०
श्यामात्रिवृत्कल्पयोगबोधक सारणी	८४०

विषय	पृष्ठांक
(८) चतुरङ्गुलकल्पाध्यायः	
चतुरङ्गुल के पर्याय	८४१
अमलतास के गुण	८४१
अमलतास के संग्रह की विधि	८४१
अमलतास का बालकों में प्रयोग	८४१
अमलतास के ५ योग	८४१
अमलतास के २ योग	८४२
आरग्वधादि अवलेह	८४२
अमलतास के २ घृत योग	८४२
आरग्वधादि अरिष्ट	८४२
प्रिय एवं हितकर अनुपान	८४२
अध्याय का उपसंहार	८४३
चतुरङ्गुलकल्पयोगबोधक सारणी	८४३
(९) तिल्वककल्पाध्यायः	
तिल्वक के पर्याय	८४४
तिल्वक की त्वचा का प्रयोग	८४४
तिल्वक के ५ योग	८४४
लोध का सौवीरक योग	८४४
लोध का सुरा योग	८४४
लोध का कम्पिल्लक योग	८४५
लोध के ३ अवलेह योग	८४५
लोध के घृत योग	८४५
अध्याय का उपसंहार	८४६
तिल्वककल्पयोगबोधक सारणी	८४६
(१०) सुधाकल्पाध्यायः	
अन्य विकल्प के अभाव में ही सुधा का प्रयोग	८४७
सुधा का प्रयोग एवं प्रयोगस्थल	८४७
सुधा के भेद और पर्याय	८४७
सुधा के क्षीर का संग्रह	८४७
सुधाक्षीर का शोधन	८४८
सुधा के सौवीरक आदि के साथ ७ योग	८४८
सुधा के घी एवं मांसरस से २ योग	८४८
सुधा का १ पानक योग	८४८
सुधा का १ नस्य योग	८४८
सुधा का १ लेह योग	८४९
सुधा के यूष आदि से ३ योग	८४९
सुधा के शुष्क मत्स्य एवं मांस के २ योग	८४९
सुधा के २ घृत के तथा १ सुरा के योग	८४९
अध्याय का उपसंहार	८४९
सुधाकल्पयोगबोधक सारणी	८५०
(११) सप्तलाशङ्खिनीकल्पाध्यायः	
सप्तला और शंखिनी के पर्याय	८५१
सप्तला एवं शंखिनी के प्रयोगस्थल	८५१
सप्तला एवं शंखिनी का संग्रह	८५१
सप्तला एवं शंखिनी के १६ कषाय योग	८५२
सप्तला एवं शंखिनी के ६ तैल योग	८५२
सप्तला एवं शंखिनी के ८ घृत योग	८५२
सप्तला एवं शंखिनी के ३ अवलेह, १ सुरा एवं १ कम्पिल्लक योग	८५३
सप्तला और शंखिनी के ४ मद्य योग	८५३
अध्याय का उपसंहार	८५३
सप्तलाशंखिनीकल्पयोगबोधक सारणी	८५४
(१२) दन्तीद्रवन्तीकल्पाध्यायः	
दन्ती-द्रवन्ती के पर्याय	८५५
दन्ती-द्रवन्ती का संग्रह	८५५
दन्ती-द्रवन्ती के गुण	८५५
दन्ती और द्रवन्ती के १० योग	८५५
दन्ती और द्रवन्ती के ३ स्नेह योग	८५६
दन्ती और द्रवन्ती के ३ अवलेह योग	८५६
३ लेह योगों का अतिदेश	८५६
भावित चूर्ण का १ योग	८५६
गन्ने के रस का १ योग	८५६
८ कृताकृत मांसरस योग	८५६
१ यवागू, २ जांगल मांसरस तथा ३ माषयूष	८५७
१ उत्कारिका योग	८५७
१ मोदक और १ मद्य योग	८५७
१ भक्ष्य योग	८५७
१ गोमूत्रभावित चूर्ण योग	८५७
मोदक का १ योग	८५८
पाण्डुरोगहर क्वाथ योग	८५८
कामलानाशक चूर्ण योग	८५८
अरिष्ट के योग	८५८
सौवीरक, तुषोदक, सुरा और कम्पिल्लक योग	८५८
दन्ती-द्रवन्ती योग संग्रह	८५९
कल्पस्थान के विषयों का उपसंहार	८६०
योगों के नामकरण का आधार	८६०
विरुद्धवीर्य द्रव्य भी प्रधान द्रव्य के सहयोगी	८६०
विरुद्धवीर्य द्रव्यों के संयोग की उपयोगिता	८६०

विषय	पृष्ठांक
द्रव्यों के वीर्योत्कर्ष की विधि	८६०
तुल्य और अतुल्य वीर्य वाले द्रव्यों के संयोग आदि का फल	८६१
योगों की निश्चित संख्या नहीं है	८६१
तीक्ष्ण विरेचन या निरूहबस्ति का लक्षण	८६१
वमन-विरेचन द्रव्यों की तीक्ष्णता में कारण	८६१
मध्यवीर्य द्रव्य	८६२
मृदुवीर्य द्रव्य	८६२
तीक्ष्ण, मध्य एवं मृदु द्रव्यों के प्रयोगस्थल	८६२
वमन के अयोग में कर्तव्य	८६२
वमन-विरेचन के पुनः प्रयोग में अपवाद और औचित्य	८६२
उत्तम संशोधनार्थ पुनः औषध प्रयोग	८६२
वमन औषध के पाक की प्रतीक्षा न करें	८६३
पुनः विरेचन औषध कब ?	८६३
विरेचन पान की पात्रता	८६३
स्वयं प्रवृत्त विरेचन में कर्तव्य	८६३
शेष दोष के प्रतीकार का प्रयत्न	८६३
मृदु औषध का प्रयोगस्थल	८६३
मृदु औषध की सार्थकता	८६४
दुर्बल बहुदोषयुक्त के प्रति कर्तव्य	८६४
विरेचन औषध के वमन होने पर कर्तव्य	८६४
दोषविबन्ध में उष्ण जल का पान	८६४
दोषरुद्ध औषध में कर्तव्य	८६४
विरेचन के अतियोग की आशंका में कर्तव्य	८६४
विरेचन औषध के कार्यविलम्बन में हेतु	८६४
विरेचन औषध के अयोग में औषध कल्पना	८६४
विरेचन द्रव्य की पच्यमानावस्था में पित्तघ्न उपचार	८६५
कफावृत विरेचन औषध का लक्षण और उपचार	८६५
अपूर्ण विरेचन में कर्तव्य	८६५
स्नेहबस्ति के बाद विरेच्य व्यक्ति	८६५
स्नेहन के योग्य पुरुष	८६५
रूक्ष विरेचन का प्रयोग स्थल	८६६
वमन-विरेचन का निरापद प्रयोग	८६६
औषध योगों का प्रमाण	८६६
मध्यमार्गानुसारी	८६६
मान परिभाषा	८६६
मान का प्रमाण	८६७
प्राचीन मानबोधक सारणी (१)	८६८
चरकोक्त मान का पुराने मान तथा आधुनिक मान में परिवर्तन सारणी	८६८
नाप तौल की मीटरिक प्रणाली-सारणी (३)	८६९
मान और नाप की निकटतम परिवर्तन तालिका (४)	८६९
वर्तमान में प्रचलित भारतीय मान सारणी (५)	८७०
मीटरिक प्रणाली के मानचिह्न की सारणी (६)	८७०
द्रव तथा गीली औषध की मात्रा द्विगुण	८७०
स्नेहादि निर्माण में द्रव तथा पाद शब्द का अर्थ	८७१
स्नेहसाधन की सामान्य मात्रा	८७१
स्नेहपाक के तीन भेद और उनका प्रयोग	८७१
द्विविध मान	८७१
अध्याय का उपसंहार	८७२

सिद्धिस्थानम्

विषय	पृष्ठांक
(१) कल्पनासिद्धिरध्यायः	
'का कल्पना' आदि अग्निवेश के १२ प्रश्न	८७५
(१) 'का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता ?' का उत्तर	८७५
स्नेहन का फल	८७६
स्नेहनपूर्वक स्वेदन से लाभ	८७६
वमन के पूर्व दोष का उत्क्लेशन	८७६
विरेचन के पूर्व का आहार	८७६
वम्य की कफाधिकता तथा विरेच्य की कफाल्पता वाञ्छनीय	८७६
(२) 'क्रमश्च कः ?' का उत्तर	८७६
वमन-विरेचन के बाद संसर्जन क्रम	८७७
संसर्जनक्रमबोधक सारणी	८७७
संसर्जनक्रम से लाभ	८७७
प्रधान, मध्य एवं हीन शुद्धि या योग का लक्षण	८७७
वमन-विरेचनशुद्धिबोधक सारणी	८७८
(३) 'किंच कृताकृतेषु लिङ्ग-तथैवातिकृतेषु ?' का उत्तर	८७८
वमन के सम्यग्योग का लक्षण	८७९
वमन के हीनयोग का लक्षण	८७९
वमन के अतियोग का लक्षण	८७९
विरेचन के सम्यग्योग का लक्षण	८७९
विरेचन के हीनयोग का लक्षण	८७९
विरेचन के अतियोग का लक्षण	८७९
बस्ति कल्पना	८७९
अनुवासन बस्ति का प्रयोगकाल	८८०
अनुवासन और निरूहबस्ति का क्रम	८८०
(४) 'संख्या का ?' का उत्तर	८८०
निरूह और विरेचन का परस्पर विरामकाल	८८१
(५) 'किं गुणो बस्तिः ?' का उत्तर	८८१
अनुवासनबस्ति के गुण	८८१
निरूह और अनुवासनबस्ति के सामान्य गुण	८८२
(६) 'केषु च कश्च बस्तिः ?' का उत्तर	८८२
बृंहणबस्ति का निषेध	८८२
निरूहबस्ति का निषेध	८८२
बस्ति की प्रधानता	८८३
बस्ति के तात्कालिक सम्यग्योग का लक्षण	८८३
निरूहबस्ति के सम्यग्योग का फल	८८३
निरूहबस्ति के अयोग का लक्षण	८८३
निरूहबस्ति के अतियोग का लक्षण	८८३
अनुवासन के सम्यग्योग का लक्षण	८८३
अनुवासन के अयोग का लक्षण	८८४
अनुवासनबस्ति के अतियोग का लक्षण	८८४
अनुवासनबस्ति में उचित स्नेह प्रत्यागमन काल	८८४
कर्म, काल और योग बस्तियों की संख्या	८८४
कर्म, काल और योग बस्तिबोधक सारणी	८८५
स्नेहबस्ति के अनन्तर निरूहबस्ति	८८५
शिरोविरेचन	८८५
शिरोविरेचन के सम्यग्योग, अयोग एवं अतियोग के लक्षण	८८५
शिरोविरेचन के अतियोग या अयोग में उपचार	८८६
पञ्चकर्म प्रयोग का उपसंहार	८८६
(७) 'किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले'? का उत्तर	८८६
(८) 'कृते कियान् वा परिहारकाल' ? का उत्तर	८८६
(९, ११) 'प्रणीयमानश्च न याति केन' ? तथा 'सुचिराच्च केनैति' ? का उत्तर	८८६
(१०) 'केनैति शीघ्रं बस्तिः' ? का उत्तर	८८६
(१२) 'साध्याः गदाः स्वैः शमनैश्च केचित् कस्मात् प्रयुक्तैर्न शमं व्रजन्ति' ? का उत्तर	८८७
चिकित्सा में औषध मात्रा, काल और सम्यग्योग का महत्त्व	८८७
अध्याय का उपसंहार	८८७
(२) पञ्चकर्मीयसिद्धिरध्यायः	
अध्यायार्थ संकलन	८८८
अचिकित्स्य रोगी	८८८
चिकित्स्य रोगी	८८८
वमन के अयोग्य रोगी	८८९
उक्त रोगियों के अवम्य होने में युक्ति	८८९
अपवाद	८९०
वमन के योग्य रोगी	८९०
विरेचन के अयोग्य रोगी	८९०
सुकुमार आदि के अविरेच्य होने में युक्ति	८९१

विषय	पृष्ठांक
विरेचन के योग्य रोगी	८९१
निरूहबस्ति के अयोग्य रोगी	८९२
निरूहबस्ति की अपात्रता में युक्ति	८९२
निरूहबस्ति के योग्य रोगी	८९३
अनुवासन के अयोग्य रोगी	८९३
उक्त रोगियों को अनुवासन निषेध में युक्ति	८९३
अनुवासनबस्ति के योग्य रोगी	८९३
नस्य (शिरोविरेचन) के अयोग्य रोगी	८९४
उक्त रोगियों को नस्य न देने में युक्ति	८९४
शिरोविरेचन के योग्य रोगी	८९५
नस्य देने का काल	८९५
अध्याय का उपसंहार	८९५
(३) बस्तिसूत्रीया-सिद्धिरध्यायः	
विषय का उपक्रम	८९७
अग्निवेश के प्रश्न	८९७
'बस्तिनेरभ्यः किमपेक्ष्य दत्तः स्यात् सिद्धिमान्' ? का उत्तर	८९८
'किं मयमस्य नेत्रम्' ? का उत्तर	८९८
'कीदृक् प्रमाणाकृति किं गुणं च' ? का उत्तर	८९८
बस्तिनेत्र का छिद्र, आकार और मोटाई	८९८
नेत्रप्रमाणबोधक सारणी	८९९
'केभ्यश्च किं योनिगुणश्च बस्तिः' ? का उत्तर	८९९
प्रतिनिधि बस्ति की कल्पना	८९९
'निरूहकल्पः' ? का उत्तर	८९९
बलादि निरूहबस्ति और उसके प्रयोग	९००
बस्तिप्रयोग में तिर्यक् प्रणिधान आदि योग	९०१
बस्तिद्रव्य की औषधों के मिलाने का क्रम	९०१
वाम पार्श्व शयन का प्रयोजन	९०१
अपानवायु तथा मल के वेग के समय बस्ति का विराम	९०२
वातादि भेद से बस्ति संख्या	९०२
निरूहबस्ति का पश्चात्कर्म	९०२
'प्रणिधानमात्रा स्नेहस्य का' ? का उत्तर	९०२
निरूहबस्ति की कल्पना	९०३
'प्रणिधानमात्रा का' ? का उत्तर	९०३
आयु के अनुसार बस्ति मात्राबोधक सारणी	९०३
'शयने विधिः कः' ? का उत्तर	९०४
रोगानुसार पथ्य	९०४
'के बस्तयः केषु हिताः' ? का उत्तर	९०४
दशमूलादि निरूह	९०४
स्थिरादि निरूहबस्ति	९०४
एरण्डमूलादि निरूहबस्ति	९०५
बस्ति में मांसरस का प्रयोग	९०५
पलाशबस्ति	९०५
यष्ट्याह्वादि निरूहबस्ति-१	९०५
यष्ट्याह्वादि निरूहबस्ति-२	९०६
चन्दनादि निरूहबस्ति	९०६
द्राक्षादि निरूहबस्ति	९०७
कोषातक्यादि निरूहबस्ति	९०७
पटोलादि निरूहबस्ति	९०७
द्विपञ्चमूलादि निरूहबस्ति	९०७
रास्नादि निरूहबस्ति	९०८
पुनर्नवादि निरूहबस्ति	९०८
दोषानुसार बस्ति की संख्या	९०९
निरूहबस्ति के बाद पथ्य	९०९
अनुवासनबस्ति का योग	९०९
अध्याय का उपसंहार	९०९
(४) स्नेहव्यापत्सिद्धिरध्यायः	
विषय का उपक्रम	९१०
दशमूलाद्य अनुवासन तैल	९१०
दशमूलाद्य अनुवासन वसा	९१०
शताह्वादि तैल तथा सैन्धव घृत	९१०
जीवन्त्यादि अनुवासन यमक	९११
चन्दनाद्य यमक	९११
सैन्धवाद्य अनुवासन तैल	९११
मदनफल तैल, पञ्चमूल तैल एवं पिप्पल्यादि तैल	९११
विडङ्गादि तैल	९११
अनुवासनबस्ति के लाभ	९१२
स्नेहबस्ति के मिथ्यायोग के ६ व्यापत्	९१२
छः व्यापत्तियों के कारण	९१२
वातावृत अनुवासनबस्ति का लक्षण	९१२
वातावृत स्नेहबस्तिजन्य रोगों की चिकित्सा	९१२
पित्तावृत स्नेहबस्ति का लक्षण तथा उपचार	९१३
कफावृत स्नेहबस्ति का लक्षण तथा उपचार	९१३
अन्नावृत अनुवासनबस्ति का लक्षण	९१३

विषय	पृष्ठांक
अन्नावृत अनुवासनबस्तिजन्य रोगों की चिकित्सा	९१३
मलावृत अनुवासनबस्ति के लक्षण और उपचार	९१३
अभुक्तावस्था प्रदत्त स्नेहबस्ति के विकार और उपचार	९१३
कण्ठ से स्नेह आने पर चिकित्सा	९१४
स्नेहबस्ति की उपद्रवरहित अप्रवृत्ति उपेक्षणीय	९१४
अनुवासनबस्ति के बाद कर्त्तव्य	९१४
अनुवासित को गरम जल से लाभ	९१४
प्रतिदिन अनुवासनीय व्यक्ति	९१४
बस्तिसम्बन्धी कतिपय निर्देश	९१४
मात्राबस्ति का प्रयोगस्थल	९१५
मात्राबस्ति और उसका सार्वकालिक प्रयोग	९१५
मात्राबस्ति के लाभ	९१५
अध्याय का उपसंहार	९१५
(५) नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धिरध्यायः	
विषय का उपक्रम	९१६
नेत्र के आठ दोष	९१६
नेत्र के दोषों से हानियाँ	९१६
बस्ति के ८ दोष और उनसे हानियाँ	९१६
बस्तिदाता के १० दोष	९१७
सवात बस्ति से उपद्रव और उसका उपचार	९१७
अतिशीघ्र एवं उत्क्षिप्त बस्तिप्रवेशजन्य उपद्रव एवं उनका उपचार	९१७
तिर्यग् बस्तिनेत्र प्रयोग एवं बस्तिद्वारावरोध में उपचार	९१७
उल्लुप्त बस्ति के दोष और उनका उपचार	९१७
कम्पनयुक्त बस्ति के दोष एवं उपचार	९१८
अतिबस्ति-प्रयोग के दोष और उपचार	९१८
बाह्यग एवं मन्दबस्ति के दोष और उपचार	९१८
अतिवेगयुक्त बस्ति के दोष और उपचार	९१८
अध्याय का उपसंहार	९१८
(६) वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिरध्यायः	
विषय का उपक्रम	९१९
ऋतुओं के विभाग	९१९
संशोधन के योग्य ऋतु	९१९
संशोधन के पूर्व स्नेहन और अन्त में शमनीय स्नेह	९२०
विरेचन के अयोग्य	९२०
रूक्ष विरेचन का प्रयोग	९२०
संशोधन के सम्यग्योगकारक उपकरण	९२०
स्नेहन, स्वेदन और संशोधन की क्रियाशीलता	९२०
अजीर्ण में संशोधन से हानि	९२१
मात्रायुक्त औषध का लक्षण	९२१
दत्तचित्त होकर औषध-प्रयोग का सम्यग्योग	९२१
वमन और विरेचन कराने के पूर्व दिन का आहार	९२१
वमन-विरेचन के सम्यग्योग का लक्षण	९२१
विरेचन में औषध अवशिष्ट रहने पर, शुद्धि लक्षण दर्शन में कर्त्तव्य	९२२
सम्यग् वमन का फल	९२२
शोधन के बाद पेयादि क्रम से पथ्य	९२२
तर्पणादि प्रयोग विषय	९२२
औषध के जीर्ण होने के लक्षण	९२३
औषध के न पचने के लक्षण	९२३
औषध के उपद्रव करने में कारण	९२३
संशोधन औषध के अयोग एवं अतियोग से उत्पन्न १० उपद्रव	९२३
सम्यग्योग, अयोग और अतियोग के लक्षण	९२३
विरेचन औषध का विपरीत गमन	९२३
वामक औषध का विपरीत गमन	९२३
प्रतिलोम प्रवृत्ति में अयोग	९२४
औषध के पच जाने पर कर्त्तव्य	९२४
अवस्थानुसार मृदु या तीक्ष्ण शोधन प्रयोग	९२४
वमन-विरेचन के पुनः प्रयोग का निषेध	९२४
बिना स्नेहन-स्वेदन किये शोधन औषध से उपद्रव	९२४
अयोग का एक अन्य प्रकार	९२४
अयोग में चिकित्सा	९२५
संशोधन के अतियोग से उपद्रव	९२५
संशोधन के अतियोगजन्य उपद्रवों की चिकित्सा का सूत्र	९२५
विरेचन के अतियोग में औषध और पथ्य	९२५
वमन के अतियोग में चिकित्सा	९२६
पेयादि संसर्जनक्रम का महत्त्व	९२६
आध्मान का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९२६

विषय	पृष्ठांक
परिकर्तिका का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९२७
परिस्राव का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९२७
हृद्ग्रह का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९२७
अङ्गग्रह का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९२८
जीवादान का कारण	९२८
जीवरक्त और रक्तपित्त की परीक्षा	९२८
जीवादान की चिकित्सा	९२८
जीवाभिसन्धान की चिकित्सा	९२८
विभ्रंश का चिकित्सासूत्र	९२९
स्तम्भ का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९२९
घोर उपद्रव के कारण और चिकित्सासूत्र	९२९
क्लम का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९२९
अध्याय का उपसंहार	९२९
(७) बस्तिव्यापत्सिद्धिरध्यायः	
आचार्य पुनर्वसु से शिष्यों का प्रश्न	९३१
प्रश्न का स्वरूप	९३१
बस्ति के अयोग का कारण और लक्षण	९३१
अयोग की चिकित्सा	९३२
बिल्वादि बस्ति	९३२
अतियोग का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३२
क्लम का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३२
आध्मान का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३३
हिक्का के कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३३
हृत्प्राप्ति का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३४
ऊर्ध्वगमन का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३४
प्रवाहिका का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३५
शिरःशूल का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३५
अङ्गमर्द का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३५
परिकर्तिका का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३६
परिस्रव का कारण, लक्षण और चिकित्सा	९३६
बस्ति की तीक्ष्णता या मृदुता का सम्पादन	९३६
बस्ति का प्रभाव	९३७
बस्ति के मलांशमात्र निर्हरण में दृष्टान्त	९३७
अध्याय का उपसंहार	९३७
(८) प्रासृतयोगीयसिद्धिरध्यायः	
विषय का उपक्रम	९३८
पञ्चप्रासृतिक बस्ति	९३८
अष्टप्रासृतिक बस्ति	९३८
नव प्रासृतिक बस्ति	९३८
चतुःप्रासृतिक बस्ति	९३८
पञ्चतिक्त पञ्चप्रासृतिक बस्ति	९३८
षट्प्रासृतिक बस्ति	९३९
सप्तप्रासृतिक बस्ति	९३९
चतुःप्रासृतिक बस्ति	९३९
श्वदंष्ट्रादि पञ्चप्रासृतिक बस्ति	९३९
मृदुबस्ति की असफलता में कर्त्तव्य	९३९
गुददाह में कर्त्तव्य	९३९
मलक्षय में उपचार	९३९
आमज शूल में कर्त्तव्य	९४०
केवल शकृत् आदि जन्य अतिसार में कर्त्तव्य	९४०
अतिसार के भेद	९४०
अतिसारभेदबोधक सारणी	९४०
अतिसारों के सामान्य उपद्रव	९४०
आमातिसार की चिकित्सा	९४१
शकृदतिसार एवं वातातिसार की चिकित्सा	९४१
रक्तातिसार की चिकित्सा	९४१
पित्तातिसार की चिकित्सा	९४१
कफातिसार की चिकित्सा	९४१
संसर्ग में चिकित्सा	९४१
अनुक्तसंसर्ग का चिकित्सासूत्र	९४२
आमादिषट्क समुदायरूप संसर्ग में कर्त्तव्य	९४२
सर्व अतिसारनाशक घृत	९४२
सामान्य यवागू योग	९४३
विभिन्न अतिसारों में चिकित्सा का सिद्धान्त	९४३
अध्याय का उपसंहार	९४४
(९) त्रिमर्मीयसिद्धिरध्यायः	
विषय का उपक्रम	९४५
तीन मर्मों की व्यापकता	९४५
मर्मों की रक्षा आवश्यक	९४६
त्रिमर्मों के अभिघातज लक्षण	९४६
मर्मों की रक्षा में बस्ति की प्रधानता	९४६
मर्माभिघात की विशिष्ट चिकित्सा	९४७
मर्मरक्षा का विशेष उपदेश	९४८
अनुक्त मर्मगत रोग कथन का उपक्रम	९४८
अपतन्त्रक तथा अपतानक की सम्प्राप्ति और लक्षण	९४८
अपतन्त्रक चिकित्सासूत्र	९४९

विषय	पृष्ठांक
शिरोविरेचन नस्य	९४९
अपतन्त्रकनाशक चूर्ण	९४९
अपतन्त्रकनाशक घृत	९४९
तन्द्रा के कारण और सम्प्राप्ति	९४९
तन्द्रा का लक्षण	९४९
तन्द्रारोग का चिकित्सासूत्र	९४९
बस्ति के १३ रोग	९५०
मूत्रौकसाद का लक्षण	९५०
मूत्रौकसाद का चिकित्सासूत्र	९५०
मूत्रजठर का कारण और लक्षण	९५०
मूत्रजठर का चिकित्सासूत्र	९५०
मूत्रकृच्छ्र का कारण और लक्षण	९५०
मूत्रोत्संग का लक्षण	९५१
मूत्रक्षय का लक्षण	९५१
मूत्रातीत का लक्षण	९५१
वाताष्ठीला का लक्षण	९५१
वातबस्ति का लक्षण	९५१
उष्णवात का लक्षण	९५१
वातकुण्डलिका की सम्प्राप्ति और लक्षण	९५१
रक्तग्रन्थि का लक्षण	९५२
विड्विघात की सम्प्राप्ति और लक्षण	९५२
बस्तिकुण्डल का कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण	९५२
बस्तिकुण्डल का चिकित्सासूत्र	९५३
उत्तरबस्ति का पुष्पनेत्र और स्नेह मात्रा	९५३
उत्तरबस्ति देने की विधि	९५३
पिप्पल्यादि वर्ती	९५४
स्त्रियों में उत्तरबस्ति का अवसर	९५४
स्त्रियों में उत्तरबस्ति के पुष्पनेत्र का प्रमाण	९५४
स्त्रियों में उत्तरबस्ति की विधि	९५४
शिर के रोगों के वर्णन का उपक्रम	९५५
शंखक रोग की सम्प्राप्ति, लक्षण और चिकित्सासूत्र	९५५
अर्धावभेदक की सम्प्राप्ति, लक्षण और चिकित्सासूत्र	९५६
सूर्यावर्त रोग का कारण, सम्प्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा	९५७
अनन्तवात का कारण, सम्प्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा	९५७
शिरःकम्प और उसकी चिकित्सा	९५८
सर्व शिरोरोगों में नस्य प्रयोग	९५८
नस्य के भेद-उपभेद	९५८
विरेचन आदि नस्यों का प्रयोग	९६०
स्नेह नस्य या प्रधमन नस्य के द्रव्य	९६०
तर्पणस्नेह नस्य विधि	९६०
धूमपान और अवपीड नस्य	९६१
प्रध्मापन नस्य	९६१
नस्य का पश्चात्कर्म	९६१
अकाल नस्यप्रयोगजन्य रोग और उनका उपचार	९६१
रूक्ष नस्य के अयोग्य व्यक्ति	९६१
द्विविध नस्य और प्रतिमर्श	९६२
अध्याय का उपसंहार	९६२
(१०) बस्तिसिद्धिरध्यायः	
विषय का उपक्रम	९६३
बस्ति की श्रेष्ठता और उसके कार्य	९६३
विरेचन की अपेक्षा बस्ति की उत्तमता	९६३
बस्ति के भेद	९६४
बस्तिप्रयोग योग्य रोग	९६४
बृंहणीय बस्ति का निषेध	९६४
विशोधनीय बस्ति के योग्य व्यक्ति	९६४
शोधनीय बस्ति का निषेध	९६४
प्रयोजन के अनुसार बस्तियों का संस्कार विशेष	९६५
बस्ति में आवाप या प्रक्षेप द्रव्य	९६५
तीक्ष्ण और मृदु बस्तियों का प्रयोग	९६५
सिद्ध बस्तियों का वर्णन	९६५
वातनाशक तीन बस्तियाँ	९६५
पित्तनाशक तीन बस्तियाँ	९६६
कफनाशक तीन बस्तियाँ	९६६
पक्वाशयशोधक चार बस्तियाँ	९६६
वीर्यवर्धक तथा मांसवर्धक चार बस्तियाँ	९६६
सांग्राहिक चार बस्तियाँ	९६६
परिस्रावरोगनाशक दो बस्तियाँ	९६७
दाहशामक बस्तियाँ	९६७
परिकर्तिकानाशक बस्तियाँ	९६७
प्रवाहिकानाशक बस्तियाँ	९६७
विरेचन के अतियोग में दो बस्तियाँ	९६७
जीवरक्तावरोधक बस्तियाँ	९६७

विषय	पृष्ठांक
रक्तपित्तनाशक दो बस्तियाँ	९६८
प्रमेहनाशक बस्ति	९६८
अनुक्तबस्तिकल्पना का अतिदेश	९६८
अध्याय का उपसंहार	९६९
(११) फलमात्रासिद्धिरध्यायः	
मदनफलविषयक संभाषा परिषद्	९७०
ऋषियों के मतवाद	९७०
पुनर्वसु आत्रेय द्वारा ऋषियों की प्रशंसा	९७१
फलों की श्रेष्ठता रोगों के अनुसार	९७१
बस्ति के सर्वकर्मगुणकृत् होने का प्रश्न	९७२
आत्रेय द्वारा समाधान	९७२
पशुओं के रोगों की चिकित्सा का प्रश्न	९७२
पशुओं के लिए बस्ति पुटक	९७२
पशुओं में बस्तिनेत्र का प्रमाण	९७२
पशुओं में निरूहबस्ति की मात्रा	९७३
सामान्य बस्ति के द्रव्य	९७३
पशुभेद से बस्तिविशेष की कल्पना	९७३
'सदा रोगी कौन' ? प्रश्न का उत्तर	९७४
सदा रोगी रहने में कारण	९७४
सदातुर चिकित्सा में फलवर्ति का प्रयोग	९७४
पुनर्नवादि निरूह और निकुम्भ तैल का अनुवासन	९७४
बलादि वर्ति	९७५
शिशुओं और वृद्धों को विशेष बस्ति	९७५
अध्याय का उपसंहार	९७५
(१२) उत्तरबस्तिसिद्धिरध्यायः	
अपचारों से रोगी की रक्षा का उपदेश	९७६
जठराग्निसन्धुक्षणार्थ पेयादि क्रम	९७६
रसाभ्यास क्रम	९७७
रसाभ्यास क्रम से स्वस्थ हुए पुरुष का लक्षण	९७७
आठ महादोषकर भाव	९७७
आठ महादोषकर भावों के सेवन से रोग	९७८
महादोषकर भावजन्य रोग तथा उनकी चिकित्सा का उपक्रम	९७८
उच्च भाषण से होने वाले रोग	९७८
रथक्षोभ से होने वाले रोग	९७८
अधिक चलने से होने वाले रोग	९७८
अधिक बैठने से होने वाले रोग	९७८

विषय	पृष्ठांक
अजीर्ण में भोजन तथा अध्यशन से होने वाले रोग	९७९
विषम तथा अहित भोजन से होने वाले रोग	९७९
दिन में सोने से होने वाले रोग	९७९
मैथुन से होने वाले रोग	९७९
उपद्रवों के वर्णन का उपसंहार	९७९
आठ महादोषों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा	
उच्च भाषणजन्य रोग का चिकित्सासूत्र	९८०
रथक्षोभज, अतिचंक्रमणजन्य तथा अत्यासनजन्य रोगों का चिकित्सासूत्र	९८०
अजीर्णभोजनजन्य तथा अध्यशनजन्य रोगों का चिकित्सासूत्र	९८०
विषम एवं अहितभोजनजन्य रोगों का चिकित्सासूत्र	९८०
दिवाशयन से होने वाले रोगों का चिकित्सासूत्र	९८०
मैथुनजन्य रोगों का चिकित्सासूत्र	९८०
यापनाबस्ति का उपक्रम	९८०
मुस्तादि यापनबस्ति	९८१
एरण्डमूलादि यापनबस्ति	९८१
सहचरादि यापनबस्ति	९८२
बृहत्यादि यापनबस्ति	९८२
प्रथम बलादि यापनबस्ति	९८२
द्वितीय बलादि यापनबस्ति	९८२
हपुषादि यापनबस्ति	९८३
ह्रस्वपञ्चमूलादि यापनबस्ति	९८३
तृतीय बलादि यापनबस्ति	९८३
चतुर्थ बलादि यापनबस्ति	९८३
शालिपर्ण्यादि यापनबस्ति	९८४
स्थिरादि यापनबस्ति	९८४
तीन विशेष बस्तियाँ	९८४
तित्तिर्यादि बस्ति	९८४
द्विपञ्चमूलादि बस्ति	९८४
मयूरादि बस्ति	९८५
विष्किर आदि से अतिदेशिक बस्तियाँ	९८५
गोधानकुलादि बस्ति	९८५
कूर्मादि वृष्यबस्ति	९८५
कर्कटक बस्ति	९८६
गोवृषादि बस्ति	९८६
दशमूलमयूरादि बस्ति	९८६

विषय	पृष्ठांक
मृग आदि से आतिदेशिक ५९ बस्तियाँ	९८६
वृष्यतम बस्तियोग	९८६
वृष्यतम पित्तव्याधिहर बस्ति	९८६
दीपन, बृंहण एवं वृष्य बस्ति	९८७
मूत्राशय पाकनाशक दुग्धबस्ति	९८७
वातहर मांसरसबस्ति	९८७
सर्ववातरोगहर बस्ति	९८७
द्विपञ्चमूलादि बस्ति	९८७
चतुःस्नेह अनुवासन बस्ति	९८८
बलादि यमक अनुवासन बस्ति	९८९
सहचरादि यमक अनुवासन बस्ति	९८९
वृष्यतम स्नेहों का शतपाक या सहस्रपाक	९८९
यापनबस्तियाँ उभयार्थकर	९९०
यापनबस्तियों में अपथ्य	९९०
बस्तियों का उपसंहार	९९०
मधुयुक्त बस्तियाँ वाजीकरण	९९०
यापनबस्ति की अप्रवृत्ति में कर्त्तव्य	९९१
यापनबस्ति के अतिप्रयोग में दोष	९९१
यापनबस्ति के उपद्रवों का चिकित्सासूत्र	९९१
महादोषकर भावप्रकरण का उपसंहार	९९१
सिद्धिस्थान शब्द की निरुक्ति	९९१

विषय	पृष्ठांक
आत्रेयवचनमय चरकसंहिता का उपसंहार	९९१
चरकसंहिता के अध्ययन का फल	९९१
ग्रन्थसंस्कर्ता का कर्त्तव्य	९९१
अग्निवेशतन्त्र का संस्कार एवं प्रतिसंस्कार	९९२
तन्त्रयुक्तियों की गणना	९९२
तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन	९९४
तन्त्रयुक्ति शब्द की निरुक्ति	९९४
तन्त्रयुक्ति शब्द का निर्वचन	९९४
तन्त्रयुक्ति शब्द का परिचय	९९४
तन्त्रयुक्तियों का विस्तृत एवं संक्षिप्त कथन	९९७
तन्त्रयुक्तियों का कार्य	९९८
सम्यक् शास्त्राभ्यास का फल	९९८
तन्त्रयुक्ति ज्ञान के बिना शास्त्र नहीं आता	९९८
शास्त्र और शस्त्र के गुण-दोष	९९८
तन्त्रयुक्ति वर्णन	९९८
चरकसंहिता के अध्ययन और योगों के प्रयोग का फल	९९८
चिकित्साकुशल कौन ?	९९९
उपसंहार	९९९

चिकित्सास्थानम्

अथ प्रथमोऽध्यायः

रसायनाध्याये प्रथमः पादः

अथातोऽभयामलकीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'अभयामलकीय' नामक रसायनपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—इस स्थान के पूर्व में पठित 'इन्द्रियस्थान' में बतलाये गये अरिष्ट लक्षण जब रोगी में न दीखें, तो उसे आयुष्मान् जानकर तब उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। इसी अभिप्राय से इन्द्रियस्थान के पश्चात् चिकित्सास्थान का कथन किया गया है। आचार्य चरक ने आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन—स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण माना है और द्वितीय प्रयोजन—सावधानी से रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करना माना है ('प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च'—च.सू. ३०।२६)। अतएव चिकित्सास्थान के प्रारम्भ में भी स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को उत्कृष्ट एवं दीर्घायुष बनाने के लिए उसमें पौरुष और पराक्रम के सन्निधान के लिए प्रथम दो अध्यायों में 'रसायन' तथा 'वाजीकरण' का वर्णन किया है। रसायन रसादि शुक्रपर्यन्त समस्त धातुओं को समृद्ध तो बनाता ही है, साथ ही वह सत्त्वगुण को बढ़ाकर देवर्षि पद को प्राप्त करने की क्षमता लाकर परम पद (मोक्ष) की प्राप्ति का भी साधक होने से वाजीकरण की अपेक्षा उत्कृष्ट है, अतएव रसायन का उपदेश पहले किया गया है। रसायन और वाजीकरण इन दोनों को चिकित्सास्थान में वर्णित करने का तात्पर्य यह है कि ये दोनों अपना विशिष्ट कार्य करने के साथ ही रोगों को भी दूर करने का सामर्थ्य रखते हैं, इसलिए इनका चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। रसायन का प्रयोग बाल्यावस्था में अधिक उपयुक्त होता है, जब कि वाजीकरण प्रयोग के लिए युवावस्था उपयुक्त है, इसलिए भी रसायन की प्राथमिकता स्वयं सिद्ध होने से उसका प्रथमतः वर्णन किया गया है। रसायन-वर्णनपरक इस प्रथम पाद में प्रधान रूप से अभया और आमलकी का प्रयोग बतलाया गया है, इसलिए इसका नाम 'अभयामलकीय रसायनपाद' रखा गया है।

~~चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्। प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्॥ ३॥ विद्याद् भेषजनामानि—

भेषज के पर्याय—१. चिकित्सित, २. व्याधिहर, ३. पथ्य, ४. साधन, ५. औषध, ६. प्रायश्चित्त, ७. प्रशमन, ८. प्रकृतिस्थापन और ९. हित—ये नौ भेषज (चिकित्सा) के पर्याय हैं॥ ३॥

भेषज के पर्याय

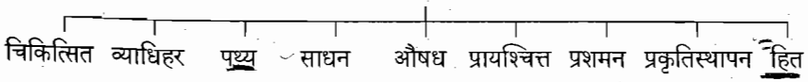

वक्तव्य—(१) चिकित्सा का अर्थ रोग का प्रतिकार है और जिसके रोग का प्रतिकार किया जाता है, उसे चिकित्सित कहा जाता है एवं रोग के प्रतिकार का प्रधान साधन होने के कारण उपचारात् औषध

को भी **चिकित्सित** कहते हैं—'चिकित्सा व्याधिप्रतीकारः साऽस्य सञ्जातेति चिकित्सितो रोगी तस्य च प्रधाननिमित्तत्वादौषधमपि चिकित्सितमुपचारात्' (चक्र०)। (२) जो रोग का हरण करता है उसे **व्याधिहर** कहते हैं। (३) पन्था का अर्थ है—व्याधिनिःसारक मार्ग (स्रोत) और उसके लिए जो हितकर हो उसे **पथ्य** कहते हैं। (४) जिस क्रिया या द्रव्य से रोग को दूर कर रोगी को स्वस्थ बनाया जाता है उसे **साधन** कहते हैं। (५) औषध के प्रयोग से चिकित्सा की जाती है, इसलिए उपलक्षण मात्र से अर्थात् रोग को दूर करने में समर्थ होने के कारण चिकित्सा का एक नाम **औषध** भी है। (६) प्रायश्चित्त में जैसे किसी पापकर्म के फल से बचने के लिए किन्हीं विशिष्ट व्रत-नियमादि का पालन किया जाता है, उसी तरह रोग को दूर करने के लिए भी अधर्मजन्य अशुभ को हटाने के लिए पूजा-बलि-उपहार आदि का प्रयोग किया जाता है, अतः चिकित्सा को **प्रायश्चित्त** भी कहते हैं। (७) जिस क्रिया या द्रव्य से दोषों का प्रकोप और रोग शान्त होता है, उसे **प्रशमन** कहते हैं। (८) जो क्रिया विषम हुए दोष एवं शारीर धातुओं को सम बनाती है, उसको **प्रकृतिस्थापन** कहा जाता है। (९) जो विधान शरीर की पीड़ा को और रोग को दूर कर शरीर का पोषण-धारण करे, उसे **हित** कहते हैं। इस प्रकार इस चिकित्सास्थान में इन शब्दों से चिकित्सा अर्थ का ग्रहण होता है। ये सभी भेषज के नाम हैं। भेष अर्थात् रोग का भय एवं उस रोग के भय को जीतने वाले उपचार को **भेषज** कहते हैं।

—भेषजं द्विविधं च तत्। स्वस्थस्योर्जस्करं किञ्चित् किञ्चिदार्तस्य रोगनुत्॥ ४॥

भेषज के दो प्रकार—वह पूर्वोक्त भेषज दो तरह का होता है—१. स्वस्थ व्यक्ति के शारीरिक दौर्बल्य, वार्धक्य, शुक्राल्पता और क्लैब्य आदि विकारों को दूर कर शरीर में पौरुष एवं पराक्रम का संचार कर शरीर को सुदृढ़ तथा सुन्दर बलशाली बनाने वाला और २. रोगी व्यक्ति के रोग को दूर कर उसे नीरोग बनाने वाला॥ ४॥

द्विविध भेषज

- स्वस्थ व्यक्ति की शक्ति बढ़ाने वाला
- रोगी व्यक्ति के रोग का नाशक

अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम्।

अभेषज के दो प्रकार—अभेषज भी १. बाधन और २. सानुबाधन भेद से दो प्रकार का होता है।

अभेषज के भेद

- बाधन
- सानुबाधन

वक्तव्य—बाधन का अर्थ है—सामान्य पीड़ाजनक; जैसे—थोड़ा-सा अपथ्य सेवन करना अथवा अपथ्य सेवन या अहिताहार-विहार के तत्काल बाद पीड़ा का होना। इसी प्रकार अनुबाधन का अर्थ है—विशिष्ट दीर्घकालस्थायी रोगजनक अपथ्यसेवन अथवा अपथ्यसंयोग के पश्चात् रोग का होना; जैसे—विषमाहार यक्ष्मा का जनक होता है। इस प्रकार बाधन से तात्पर्य संयोगसमकाल पीड़ा की उत्पत्ति, जैसे—धूप लग जाना एवं सानुबाधन से तात्पर्य है—अपथ्यसेवन के कुछ काल बाद विलम्ब से उत्पन्न होने वाला दीर्घकालिक रोग। क्रमशः बाधन से एक्यूट डिजीजेज (Acute diseases) और सानुबाधन से क्रॉनिक डिजीजेज (Chronic diseases) समझना चाहिए।

स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्॥ ५॥

प्रायः प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम्। प्रायःशब्दो विशेषार्थो ह्युभयं ह्युभयार्थकृत्॥ ६॥

द्विविध भेषज की उभयार्थकारिता—जो औषध स्वस्थ पुरुष के शारीरिक घटकों (धातुओं) को उत्कृष्ट एवं प्रशस्त बनाते हैं, उन्हें रसायन या वाजीकरण कहते हैं, क्योंकि (उनमें रोगदूरीकरण-सामर्थ्य होने पर भी) रसायन तथा वाजीकरण के गुण अधिकांश में देखे जाते हैं। इसी प्रकार औषध का दूसरा वर्ग (रसायन और वाजीकरण होते हुए भी) अधिकांशतः रोगों को शान्त करने वाला माना जाता है। यहाँ प्रायः शब्द से अधिकांश अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि दोनों प्रकार की औषधें दोनों ही तरह का कार्य करती हैं॥ ५-६॥

वक्तव्य—पूर्व में स्वस्थ के लिए शक्तिवर्धक और रोग को दूर करने वाला यह औषध का दो प्रकार बतलाया गया है। यहाँ उस कथन का ही स्पष्टीकरण किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि रसायन और वाजीकरण औषधें भी रोग को दूर करती हैं तथा रोगहर औषधें भी रसायन एवं वाजीकरण होती हैं, किन्तु दोनों में अन्तर यह होता है कि रसायन या वाजीकरण सामर्थ्य की अधिकता वाली औषधें प्रथम वर्ग में और रोगप्रशमन-सामर्थ्य की अधिकता वाली औषधें दूसरे वर्ग में पठनीय हैं।

स्वस्थ ऊर्जस्कर के भेद

- रसायन
- वाजीकरण

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥ ७॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्।

रसायन के लाभ—रसायन के सेवन से पुरुष दीर्घ आयु, तीव्र स्मरणशक्ति, उत्तम धारणाशक्ति, आरोग्य, तरुणावस्था, उत्कृष्ट प्रभा, उत्तम वर्ण, सुन्दर स्वर, उच्चकोटि का शारीरिक तथा इन्द्रियबल, वाक्सिद्धि (जो कह दे वह फलीभूत हो जाये), लोकवन्द्यता और कान्ति को प्राप्त करता है॥ ७॥

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥ ८॥

रसायन की परिभाषा—शरीर में प्रशस्त रस-रक्तादि धातुओं की उपलब्धि जिस उपाय या साधन से हो, उसे रसायन कहते हैं॥ ८॥

वक्तव्य—सामान्यतः उन औषधों और साधनों को या आचारों को रसायन कहा जाता है, जिससे शरीर आठ प्रकार के (रस-रक्तादि) सारों से सम्पन्न हो और जिससे उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य स्थापित हो। शार्ङ्गधर ने बुढापा और रोग को नष्ट करने वाली औषध को रसायन कहा है—'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्'। रसायन का मुख्य कार्य दीर्घायुष्य और उत्तम आरोग्य है। आचार्य डल्हण ने औषध-द्रव्यों में निहित रस-वीर्य-विपाक आदि के लाभोपाय को रसायन कहा है—'भेषजाश्रितानां रसवीर्यविपाकप्रभाव-परमायुर्बलवीर्य्याणां वयःस्थैर्यकराणामयनं लाभोपायो रसायनम्' (सु.सू. १)।

अपत्यसन्तानकरं वृत्तस्थः सम्प्रहर्षणम्। वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः॥ ९॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते। जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवच्चेन दृश्यते॥ १०॥
प्रभूतशाखः शाखीव येन चैत्यो यथा महान्। भवत्यर्च्यो बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रजः॥ ११॥
सन्तानमूलं येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते। यशः श्रियं बलं पुष्टिं वाजीकरणमेव तत्॥ १२॥

वाजीकरण की परिभाषा—जो औषध पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र आदि की परम्परा स्थापित करती है। जो औषध सेवन के बाद शीघ्रमेव रतिशक्ति को उत्पन्न करती है, जिसके सेवन से पुरुष अतिबलशाली होकर अश्व के समान अप्रतिहत गति से (निर्बाध रूप से) स्त्रियों के पास गमन करता है। जिसके प्रयोग से

पुरुष स्त्रियों का अतिप्रिय[1] हो जाता है। जिसके सेवन से शरीर सुपुष्ट और स्थूल होता है। जिससे वृद्धावस्था में भी उत्तम सन्तानजनक अक्षय वीर्य उत्पन्न होता दिखाई पड़ता है। जिसके द्वारा पुरुष पुत्र-पौत्रादि सन्तान-परम्परा से सम्पन्न होकर बहुत-सी शाखा-प्रशाखाओं से युक्त बृहदाकार ग्रामवृक्ष की तरह पूज्य हो जाता है। जो औषध सन्तानोत्पत्ति का मूल है और जिसके प्रयोग से बहुत विस्तृत सन्तान-परम्परा चलती रहती है एवं जिसके प्रयोग से यश, शोभा, बल और पुष्टि की प्राप्ति होती है तथा मरणोत्तर भी अपनी लम्बी सन्तति-शृङ्खला होने से वह संसार में स्मरण किया जाता है और उसकी यशःश्री बनी रहती है॥ ९-१२॥

वक्तव्य—वाजीकरण शब्द की निरुक्ति[2]—वाज अर्थात् वीर्य और वीर्य से जो सम्पन्न होता है, उसे वाजी (अश्व) कहते हैं। जिसमें वीर्य का अभाव होता है, उसे अवाजी कहते हैं; एवञ्च अवाजी को वाजी बनाने वाली औषध या प्रयोग को वाजीकरण कहते हैं।

'अपत्यसन्तानकरं'[3] का अर्थ यह है कि वाजीकरण औषध-सेवन के फलस्वरूप जो सन्तान उत्पन्न होती है वह भी पुत्रोत्पादन करने में समर्थ होती है। इस प्रकार वाजीकरण प्रयोग से वंश-परम्परा चलती रहती है।

स्वस्थस्योर्जस्करं त्वेतद् द्विविधं प्रोक्तमौषधम्। यदव्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते। चिकित्सितार्थ एतावान् विकाराणां यदौषधम्। रसायनविधिश्चाग्रे वाजीकरणमेव च॥ १४॥

स्वस्थहित औषध—स्वस्थ पुरुष के शरीर को ऊर्जस्वल बनाने वाले इन रसायन एवं वाजीकरण का वर्णन किया गया है और जो-जो औषधें ज्वर आदि रोगों को निर्मूल बनाने वाली होती है, उन सबका वर्णन चिकित्सा के सन्दर्भ में किया जायेगा।

(यहाँ पर आशङ्का होती है कि रसायन और वाजीकरण भी व्याधिनाशक होते हैं, इसलिए इनका भी वर्णन रोगों की चिकित्सा के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए? इसके समाधान में यह कथन किया गया है कि) 'चिकित्सित' का इतना ही तात्पर्य है कि ज्वरादि रोगों की चिकित्सा करना, (यद्यपि रसायन एवं वाजीकरण रोगनाशक होते हैं, किन्तु उनका यह गौण कार्य है और मुख्य कार्य है—शारीरिक स्वास्थ्य को उत्कृष्ट बनाना, अतः) रसायन और वाजीकरण विधियों को पहले ही कहा जायेगा॥ १३-१४॥

वक्तव्य—रसायन और वाजीकरण अष्टाङ्ग आयुर्वेद में स्वतन्त्र अस्तित्व वाले अंग हैं, किन्तु चरकसंहिता में विषयों का वर्णन संयुक्त रूप में ही किया गया है। जहाँ जैसा प्रसङ्ग आया वहाँ उसका वर्णन कर दिया गया है। चूँकि रसायन-वाजीकरण व्याधिनाशन भी होते हैं, अतः चिकित्सास्थान में प्रथमतः इनका वर्णन किया गया है।

अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात्। तदसेव्यं निषेव्यं तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम्॥ १५॥

अभेषज सेवन का निषेध—जो औषध से विपरीत हो अर्थात् जो रोगनाशक न होकर रोगजनक हो, उसे अभेषज जानना चाहिए और उसका सेवन नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार की औषधियों का सेवन करना चाहिए, अग्रिम सन्दर्भों में उनका वर्णन किया जायेगा॥ १५॥

---

१. 'अतिप्रियत्वं चेहोपचितशुक्रतया निरन्तरव्यवायकर्तृत्वात्। यदुक्तं—विरूपमपि योद्धारं भृत्यमिच्छन्ति पार्थिवाः। व्यवाय व्यायतं मूर्खं धृष्टं पतिमिव स्त्रियः'॥ (च.चि. १।१।१० चक्र०)

२. 'वाजः शुक्र तदस्यास्तीति वाजी (अश्वः), न वाजी अवाजी, अवाजी वाजी क्रियते इति तथाकरणं वाजीकरणम्'।

३. 'अपत्यसन्तानोऽपत्यपरम्परा, तेन पुत्रपौत्रकरमित्यर्थः, वाजीकरणजनिताच्छुक्राज्जातः पुत्रः पुत्रजनन-समर्थो भवतीत्यर्थः'। (च.चि. १।१।९ चक्र०)

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः। कुटीप्रावेशिकं चैव वातातपिकमेव च॥ १६॥

रसायन-सेवन के दो प्रकार—ऋषियों ने रसायन का प्रयोग दो तरह का बतलाया है—१. कुटीप्रावेशिक और २. वातातपिक॥ १६॥

रसायन के प्रकार

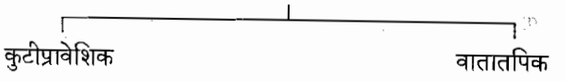

वक्तव्य—'कुटी' उस छोटे गृह को कहते हैं, जिसमें सोने-बैठने भर के लिए थोड़ा स्थान हो और शान्त तथा सुरक्षित रूप से निर्मित हो। जब किसी निर्धारित नियम के अनुसार कुटी में प्रविष्ट होकर रसायन का सेवन किया जाता है, तब उस रसायन-सेवन प्रकार को **'कुटीप्रावेशिक'** कहते हैं ('कुटीप्रवेशेन यत् क्रियते, तत् कुटीप्रावेशिकम्')। एवं जिस रसायन के प्रयोग में कोई स्थान-विशेष में रहने का प्रतिबन्ध नहीं होता, अपितु वह खुले स्थान में, धूप और वायु का जहाँ प्रवेश हो ऐसे स्थान में रहकर भी जिसका सेवन किया जा सकता है, उसे **'वातातपिक'** कहते हैं।

भेषज-अभेषज बोधक सारणी

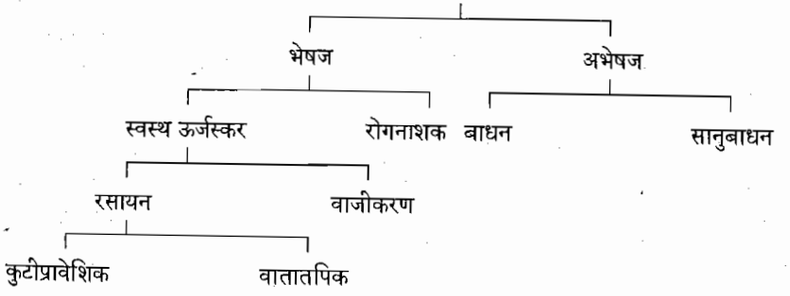

कुटीप्रावेशिकस्यादौ विधिः समुपदेक्ष्यते। नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम्॥ १७॥ निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे। दिशि पूर्वोत्तरस्यां च सुभूमौ कारयेत् कुटीम्॥ १८॥ विस्तारोत्सेधसम्पन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम्। घनभित्तिमृतुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम्॥ शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम्। इष्टोपकरणोपेतां सज्जवैद्यौषधद्विजाम्॥ २०॥

कुटीप्रावेशिक रसायन—पहले कुटीप्रावेशिक रसायन की विधि का उपदेश किया जायेगा।

कुटीनिर्माण-प्रकार—जिस स्थान में राजा, वैद्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और पुण्य-कार्य करने वाले सज्जन पुरुष रहते हों, जहाँ कोई भय-आतङ्क न हो, जो प्रत्येक दृष्टि से प्रशस्त हो और जहाँ सभी तरह के जीवनोपयोगी पदार्थ एवं औषधें सुगमता से उपलब्ध हों, ऐसे नगर में पूरब अथवा उत्तर की दिशा में उत्तम भूमि में कुटी-निर्माण कराये, जो लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई में विस्तृत हो, जिसमें एक के भीतर एक ऐसे तीन गर्भगृह हों, जिसमें छोटे-छोटे रोशनदान या गवाक्ष (झरोखे) हों, जिसकी दीवार मोटी हो एवं जो प्रत्येक ऋतु में सुखप्रद हो, जो प्रकाशयुक्त और मनोरम हो, जिसमें अप्रिय ध्वनि न आती हो और जिसमें स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध हो, जो आवश्यक मनोऽनुकूल उपकरणों से सम्पन्न हो एवं जहाँ वैद्य, औषध और ब्राह्मण श्रेणी के लोग कार्यसम्पादन करने में सदैव तत्परता के साथ तैयार रहते हों॥ १७-२०॥

अथोदगयने शुक्ले तिथिनक्षत्रपूजिते। मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते कृतवापनः॥ २१॥
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्दधानः समाहितः। विधूय मानसान्दोषान्मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन्॥ २२॥
देवताः पूजयित्वाऽग्रे द्विजातींश्च प्रदक्षिणम्। देवगोब्राह्मणान् कृत्वा ततस्तां प्रविशेत्कुटीम्॥

कुटी-प्रवेश का पूर्वकर्म—पूर्वोक्त प्रकार से कुटी बन जाने के पश्चात् जब सूर्य उत्तरायण के हों, शुक्ल पक्ष हो, तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त और करण—ये सब शुभ हों तब और कर्म कराकर, धैर्य धारण कर, स्मृतिबल बढ़ाकर, श्रद्धापूर्वक एकाग्रचित्त होकर, रज और तम इन मानस दोषों को हटाकर प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखते हुए सर्वप्रथम देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा कर तथा देवता एवं ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा कर उस कुटी में प्रवेश करे॥ २१-२३॥

तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः। रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम्॥ २४॥

शोधनोत्तर रसायन-प्रयोग—उस कुटी में प्रवेश करने के पश्चात् विधिवत् वमन, विरेचन, निरूह और नस्य का प्रयोग कर संशोधन करने के बाद क्रमशः पथ्यसेवन से शरीर में बलाधान हो जाने पर ही रसायन का प्रयोग करना चाहिए। शोधनार्थ औषध योग को आगे कहा जायेगा॥ २४॥

हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलके गुडम्। वचां विडङ्गं रजनीं पिप्पलीं विश्वभेषजम्॥ २५॥
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेहस्वेदोपपादितः। तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च॥ २६॥
त्रिरात्रं यावकं दद्यात् पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा। सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धेस्तु वर्चसः॥ २७॥
शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत्। वयःप्रकृतिसात्म्यज्ञो यौगिकं यस्य यद्भवेत्॥ २८॥

संशोधन-प्रयोग—हर्रे का चूर्ण, सेंधानमक, आँवला, गुड़, मीठा वच, वायविडंग, हलदी, पीपर और सोंठ—इन सब औषधियों का चूर्ण बना लें और रोगी या रसायनार्थी का स्नेहन-स्वेदन करने के बाद उसे (५ से १० ग्राम तक की मात्रा में) गरम जल से पिला दे। जब उस व्यक्ति का शोधन हो जाय तो संसर्जन क्रम से जघन्य-मध्य या प्रवर शुद्धि के अनुसार पेया-विलेपी आदि क्रम से उसे पथ्य दे। फिर हीन शुद्धिवाले को तीन दिन, मध्य शुद्धिवाले को पाँच दिन और प्रवर शुद्धिवाले को सात दिन तक जौ की यवागू खाने को दे अथवा जब तक पुराने मल की शुद्धि न हो जाये, तब तक यवागू का सेवन कराते रहे। जब रसायनसेवी व्यक्ति के कोष्ठ को शुद्ध हुआ जाने तब उसकी आयु, प्रकृति तथा सात्म्य (अनुकूलता) को जानने वाला चिकित्सक जिसके लिए जो उचित हो, उसके लिए उस रसायन का प्रयोग कराये॥ २५-२८॥

हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम्। दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम्॥ २९॥
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम्। सर्वरोगप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम्॥ ३०॥
कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम्। अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम्॥ ३१॥
हृद्रोगं सशिरोरोगमतीसारमरोचकम्। कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम्॥ ३२॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां क्रिमीन्। श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमङ्गावसादनम्॥ ३३॥
स्रोतोविबन्धान् विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः। स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी॥ ३४॥

हरीतकी के गुण—हरीतकी में लवण रस को छोड़कर शेष पाँचों रस रहते हैं। वह उष्ण है, उसका प्रयोग सदैव कल्याणकारी होता है। वह दोषों का अनुलोमन करती है अर्थात् मल के विबन्ध को तोड़कर उसे बहिर्मुख करती है, लघु गुणवाली है और दीपन-पाचन है। वह आयुवर्धक, पुष्टिकर, स्वास्थ्यप्रद, वयः-स्थापक, प्रयोगयोजना से सर्वरोगशामक और बुद्धि तथा इन्द्रियों को बलप्रद है।

हरीतकी का रोगहरत्व—कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त, शोष, पाण्डुरोग, मदात्यय, अर्श, ग्रहणीविकार, पुराना विषमज्वर, हृदयरोग, शिरोरोग, अतीसार, अरोचक, कास, प्रमेह, आनाह, प्लीहवृद्धि, नवीन उदररोग,

मुख से कफ निकलते रहना, स्वरभंग, शरीर की विवर्णता, कामला, कृमि, शोथ, तमक-श्वास, वमन, नपुंसकता, अंगों में थकावट या पीड़ा, स्रोतों में विबन्ध होने के कारण उत्पन्न रोग, हृदय एवं वक्षःस्थल पर किसी पदार्थ के लिप्त होने जैसा अनुभव होना, स्मृति का लोप और बुद्धि का विभ्रम—इन सभी विकारों को हरीतकी शीघ्र ही दूर कर देती है॥ २९-३४॥

वक्तव्य—हरीतकी और आमलक दोनों ही रोगहर और रसायन हैं, इसीलिए इन दोनों का अन्य द्रव्यों से पहले वर्णन करना अभीष्ट है। इनमें भी हरीतकी में आमलक की अपेक्षा रोगहरण-सामर्थ्य अधिक है, जब कि आमलक में रसायन के गुण अधिक हैं। यह चिकित्सास्थान है, अतः चिकित्सा की दृष्टि से हरीतकी की विशिष्टता को मानकर पहले उसी का वर्णन किया गया है और आमलक का उसके बाद वर्णन किया गया है।

सम्यग्योजना, अनुपान तथा संस्कार के भेद से हरीतकी का सर्वत्र प्रयोग विहित है। हरीतकी उष्णवीर्य और अनुलोमन होने से अतीसार एवं ग्रहणी रोग में अप्रयोज्य होनी चाहिए, जब कि इन दोनों रोगों मे भी इसका प्रयोग बतलाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जब इन रोगों में विबन्ध के साथ अल्प मात्रा में मलप्रवृत्ति हो रही हो, तो सुखोष्ण जल से हरीतकी और पिप्पली चूर्ण देकर विरेचन कराना चाहिए। जैसा कि सु.उ. ४० में कहा गया है—'स्तोकं स्तोकं विबद्धं वा सशूलमतिसार्यते। अभयापिप्पलीकल्कैः सुखोष्णैस्तं विरेचयेत्'॥ इस प्रकार स्रोतस् के विबन्ध को दूर कर अतीसाररोग में लाभ करती है।

(अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्शिताः। सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये॥३५॥)

(हरीतकी-सेवन का निषेध—जो अजीर्ण के रोगी हों, जो रूक्ष आहार करने वाले हों, जो स्त्रीसेवन, मद्यसेवन या विषसेवन करने के अभ्यास से कृश हो गये हों और जो भूख, प्यास एवं उष्णता से पीड़ित हों, उन्हें हरीतकी का सेवन नहीं करना चाहिए॥ ३५॥)

वक्तव्य—अजीर्ण में हरीतकी निषिद्ध है, क्योंकि वह कोष्ठ को क्षुब्ध करती है, जिससे उपद्रव होने की आशङ्का होती है। **रूक्षभोजी** व्यक्ति की रूक्षता को हरीतकी बढ़ा देती है, क्योंकि वह कषायरस प्रधान होती है, अतः निषिद्ध है। **स्त्रीसेवी** के लिए इसलिए हरीतकी का प्रयोग वर्जित है, क्योंकि वह शुक्रशोषिणी होती है। **मद्यसेवी** तथा **विषसेवी** के लिए इसलिए निषिद्ध है कि हरीतकी उष्णवीर्य होती है। **तृष्णापीड़ित** के लिए शोषण स्वभाव होने से हरीतकी निषिद्ध है। **क्षुधापीड़ित** के लिए इसलिए निषिद्ध है कि यह कोष्ठक्षोभक है। इसी प्रकार **उष्णतापीड़ित** के लिए उष्णवीर्य होने के कारण हरीतकी का सेवन निषिद्ध कहा गया है।[1] भावप्रकाश[2] में अन्य प्रकार के निषेध का वर्णन किया गया है।

तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि। यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः॥

आँवले के गुण-कर्म—जो गुण और कर्म हरीतकी के कहे गये हैं, आँवले में भी उन्हीं गुण-कर्मों को जानना चाहिए, किन्तु दोनों में वीर्य का भेद है। हरीतकी उष्णवीर्य है और आँवला शीतवीर्य होता है॥ ३६॥

अतश्चामृतकल्पानि विद्यात्कर्मभिरादृशैः। हरीतकीनां शस्यानि भिषगामलकस्य च॥ ३७॥

हरीतकी एवं आमलक अमृततुल्य—पूर्व में बतलाये गये गुणानुसार कर्मों के सम्पादन से हरीतकी और आमलक के बीजरहित फलों को अमृत के समान हितकारी समझना चाहिए॥ ३७॥

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवाञ् शैलसत्तमः। तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु॥ ३८॥
आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि। आदित्यपवनच्छायासलिलप्रीणितानि च॥ ३९॥

१. च.चि. १।१।३५ चक्रपाणि के आधार पर।

२. 'अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रूक्षः कृशो लङ्घनकर्शितश्च। पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत्'॥ (भा.प्र. हरीतक्यादिवर्ग)

यान्यजग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च। तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम्॥ ४०॥

हिमालय सर्वोत्तम औषधभूमि—पर्वतराज हिमालय औषधियों को उत्पन्न करने वाला सर्वश्रेष्ठ स्थान है, इसलिए वहाँ उत्पन्न फलों को संगृहीत करना चाहिए। जो फल अपने अनुकूल समय में उत्पन्न हों, पूर्ण रस-वीर्य वाले हों; सूर्य, वायु, छाया और जल के सम्पर्क से सुपुष्ट हों, वनाग्नि या ताप से जले न हों, सड़े न हों, कटे-फटे न हों और रोगरहित हों, उन्हें समय-समय पर शास्त्रीय औषध-संग्रहविधि के अनुसार ग्रहण करना चाहिए। उन फलों के प्रयोग और उनके उत्तम कर्मों को आगे कहूँगा॥ ३८-४०॥

पञ्चानां पञ्चमूलानां भागान् दशपलोन्मितान्। हरीतकीसहस्रं च त्रिगुणामलकं नवम्॥ ४१॥
विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्। विद्याद् विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम्॥
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलाम्। पुनर्नवां शूर्पपर्णीं बलामेरण्डमेव च॥ ४३॥
जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं सशतावरीम्। शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च॥ ४४॥
इत्येषां पञ्चमूलानां पञ्चानामुपकल्पयेत्। भागान् यथोक्तांस्तत्सर्वं साध्यं दशगुणेऽम्भसि॥
दशभागावशेषं तु पूतं तं ग्राहयेद्रसम्। हरीतकीश्च ताः सर्वाः सर्वाण्यामलकानि च॥ ४६॥
तानि सर्वाण्यनस्थीनि फलान्यापोथ्य कूर्चनैः। विनीय तस्मिन्निर्यूहे चूर्णानीमानि दापयेत्॥
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शङ्खपुष्प्याः प्लवस्य च। मुस्तानां सविडङ्गानां चन्दनागुरुणोस्तथा॥
मधुकस्य हरिद्राया वचायाः कनकस्य च। भागांश्चतुष्पलान् कृत्वा सूक्ष्मैलायास्त्वचस्तथा॥
सितोपलासहस्रं च चूर्णितं तुलयाऽधिकम्। तैलस्य द्व्याढकं तत्र दद्यात्त्रीणि च सर्पिषः॥ ५०॥
साध्यमौदुम्बरे पात्रे तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना। ज्ञात्वा लेहमदग्धं च शीतं क्षौद्रेण संसृजेत्॥ ५१॥
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्धं तत् सर्वं घृतभाजने। तिष्ठेत्सम्मूर्च्छितं तस्य मात्रां काले प्रयोजयेत्॥ ५२॥
या नोपरुन्ध्यादाहारमेकं मात्रा जरां प्रति। षष्टिकः पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते॥ ५३॥
वैखानसा बालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः। रसायनमिदं प्राश्य बभूवुरमितायुषः॥ ५४॥
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्यमवापुस्तरुणं वयः। वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातङ्काः समाहिताः॥
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः। ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया॥ ५६॥
रसायनमिदं ब्राह्ममायुष्कामः प्रयोजयेत्। दीर्घमायुर्वयश्चाग्र्यं कामांश्चेष्टान् समश्नुते॥ ५७॥

इति ब्राह्मरसायनम्।

ब्राह्मरसायन—पाँचों पञ्चमूलों के दश-दश पल (एवं प्रत्येक द्रव्य २ पल), हरीतकी का फल गिनती में एक हजार (वृद्ध वैद्यों के व्यवहार में १ हरीतकी का वजन १ तोला या १२ या १२ ग्राम माना जाता है) तथा नया आँवला गिनती में तीन हजार फल (१ आँवले का भी वजन १ तोला माना जाता है) लें।

पाँच पञ्चमूल—(१) १. विदारिगन्धा (शालिपर्णी), २. बृहती (वनभण्टा), ३. पृश्निपर्णी (पिठवन), ४. निदिग्धिका (छोटी कटेरी) और ५. गोखरू—ये लघु पञ्चमूल हैं; (२) १. बेल, २. गनियार, ३. सोनापाठा, ४. गम्भार और ५. पाढल—ये बृहत् पञ्चमूल हैं; (३) १. गदहपुर्ना, २. मुद्गपर्णी, ३. माषपर्णी, ४. वरिआरमूल और ५. एरण्डमूल—ये पुनर्नवादि पञ्चमूल हैं; (४) १. जीवक, २. ऋषभक, ३. मेदा, ४. जीवन्ती और ५. शतावर—ये जीवनीय पञ्चमूल हैं; (५) १. मूँज, २. गन्ने की जड़, ३. कुशमूल, ४. राड़ी और ५. धान की जड़—ये तृण पञ्चमूल हैं।

इस प्रकार सभी पञ्चमूल, हरीतकी और आँवला के वजन से दशगुना वजन में पानी डालकर क्वाथ करे। जब एक दशमांश जल अवशिष्ट बचे तब क्वाथ को छानकर अलग कर ले। फिर हरीतकी और आँवला को निकालकर, उनकी गुठली निकालकर सील पर बारीक पीसकर जालीदार कपड़े से छान ले

(जिससे उनके रेशे अलग हो जायें)। उस क्वाथ में छने गूदे को डाल दे और निम्नलिखित औषधियों का कपड़छन चूर्ण भी डाल दे—१. मण्डूकपर्णी, २. पीपर, ३. शंखपुष्पी, ४. केवटीमोथा, ५. नागरमोथा, ६. वायविडंग, ७. लाल चन्दन, ८. अगर, ९. मुलहठी, १०. हलदी, ११. मीठा वच, १२. नागकेशर, १३. छोटी इलायची और १४. दालचीनी—प्रत्येक ४ पल; महीन मिश्री एक हजार एक सौ (११००) पल, तिल का तेल २ आढक और घृत ३ आढक मिलाये। इन सबको ताम्रपात्र में डालकर मन्द आँच पर पकाये। यह ध्यान रहे कि जले नहीं और कच्चा भी न रहे इसलिए लकड़ी के पल्टे से चलाते रहे। जब अवलेह की तरह (हलवे के समान) हो जाये तो उतार कर ठण्डा करे, फिर उसमें २½ आढक मधु मिलाये। पुनः सब अवलेह ठीक से मिलाकर घृतलिप्त किसी दृढ़ पात्र में रख दे।

प्रयोग—इसे उतनी ही मात्रा में एक बार लेना चाहिए कि जितना खाने से भोजन की मात्रा में कमी न हो अर्थात् प्रातःकाल औषध ले तो भोजन के समय तक वह पच जाय। इसकी सामान्य मात्रा १२ से २० ग्राम तक होनी चाहिए। जब सेवन की हुई औषध पच जाय तब साठी चावल का भात दूध के साथ खाना चाहिए।

फलश्रुति—इस रसायन का सेवन करके वैखानस, बालखिल्य तथा अन्य तपस्वीजन अनन्त काल तक जीवित रहे और अपने जराजीर्ण शरीर का परित्याग कर पुनः श्रेष्ठ यौवनावस्था को प्राप्त किये। उनकी तन्द्रा टूट गयी, थकावट मिट गयी, श्वासरोग ठीक हो गया, आतङ्क नष्ट हो गये और वे तपस्वी एकाग्रचित्त होकर मेधा, स्मृति और बल से सम्पन्न होकर अत्यन्त श्रद्धा के साथ ब्राह्मतप तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। दीर्घ और निरापद आयु की कामना वाले को इस ब्राह्मरसायन का सेवन करना चाहिए। इसका सेवन करने वाला व्यक्ति दीर्घायु, तारुण्य तथा यथेष्ट कामनाओं की पूर्तिजन्य सुखों का उपभोग करता है॥ ४१-५७॥

वक्तव्य—मूल में पाँचो पञ्चमूल को दश-दश पल लेने को कहा गया है, जिससे प्रत्येक पञ्चमूल को दश पल की मात्रा में लेने का अर्थ निकलता है, जिसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य २ पल की मात्रा में लेना उचित है, किन्तु **'चक्रपाणि'** ने प्रत्येक द्रव्य को दश पल लेने को कहा है एवं जतूकर्ण का सन्दर्भ दिया है—'इति पञ्चमूलानि, तेषां प्रतिद्रव्यं दश पलानि' इति। चक्रपाणि का यह कथन चिन्त्य है।

क्वाथ बनाते समय हरीतकी और आँवले को अलग-अलग कपड़े के टुकड़ों में ठीक से बाँधकर क्वाथ में डालें और पक जाने पर गठरी निकाल ले, इसमें सफाई के साथ दोनों चीजें फिर निकाल ली जाती हैं। यह अवलेह सभी पदार्थों को एक में डालकर पकाया जाता है, जब कि सामान्यतः अवलेह-निर्माण की प्रक्रिया वही है जो आगे च्यवनप्राश-निर्माण में कही गयी है। यहाँ द्रव्यों की मात्रा मूल के अनुसार प्राचीन मान के अनुसार कही गयी है। निर्माणकर्ता को उसे आधुनिक मानों में परिवर्तित कर लेना चाहिए, जैसा कि प्राचीन-नवीन मानों का समन्वय-विवरण इस ग्रन्थ के आरम्भ में दिया गया है।

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रं पिष्टस्वेदनविधिना पयस ऊष्मणा सुस्विन्नमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णयेत्। तदामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं स्थिरापुनर्नवाजीवन्तीनागबलाब्रह्मसुवर्चलामण्डूकपर्णीशतावरीशङ्खपुष्पीपिप्पलीवचाविडङ्गस्वयंगुप्तामृताचन्दनागुरुमधुकमधूकपुष्पोत्पलपद्ममालतीयुवतीयूथिकाचूर्णाष्टभागसंयुक्तं पुनर्नागबलासहस्रपलस्वरसपरिपीतमनातपशुष्कं द्विगुणितसर्पिषा वा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुडाकृतिं कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधः स्थापयेदन्तर्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा, पक्षात्यये चोद्धृत्य कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टभागसंयुक्तमर्धकर्षवृद्ध्या यथोक्तेन विधिना प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य, जीर्णे च षष्टिकं पयसा ससर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान् गुणान् समश्नुत इति॥ ५८॥

द्वितीय ब्राह्मरसायन—पूर्व में बतलाये गये गुणों से सम्पन्न एक हजार आँवलों को 'पिष्टस्वेदन विधि' से दूध के वाष्प से अच्छी तरह उबाल कर, उसकी गुठली निकाल कर, छाया में सुखाकर चूर्ण बना ले। फिर उस चूर्ण में एक हजार आँवलों के स्वरस की भावना देकर सुखा ले। आँवलों के चूर्ण के कुल वजन का अष्टमांश निम्नलिखित द्रव्यों का चूर्ण मिला ले। प्रक्षेप द्रव्य—१. शालिपर्णी, २. पुनर्नवा, ३. जीवन्ती, ४. नागबला, ५. हुरहुर अथवा ब्राह्मी, ६. मण्डूकपर्णी, ७. शतावर, ८. शंखपुष्पी, ९. पीपर, १०. मीठा वच, ११. वायविडंग, १२. केवाँच के बीज, १३. गुरुच, १४. लाल चन्दन, १५. अगर (काला), १६. मुलहठी, १७. महुआ का फूल, १८. नीलकमल, १९. श्वेतकमल, २०-२१. मालती तथा गुलाब का फूल और २२. जूही का फूल—इन द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण मिलाने के बाद इस आमलक चूर्ण में एक हजार पल नागबला का स्वरस मिलाकर छाया में सुखाये। चूर्ण के सूख जाने पर पुनः उसे चूर्ण कर उस समूचे चूर्ण के वजन से दूना घी मिलाये या विषम मात्रा में मधु और घी चूर्ण से दूनी मात्रा में मिलाये। फिर राब (फाणित) जैसा बन जाने पर शुद्ध और दृढ़ घी चुपड़े हुए घड़े में उसे रखकर मुख को ढक्कन लगाकर ठीक से बन्दकर उस घड़े को जमीन के भीतर गड्ढा बना कर उसमें राख बिछाकर चारों ओर से ४-६ अंगुल ऊपर तक राख रखकर घड़े को पन्द्रह दिन तक रख छोड़े और अथर्ववेद के ज्ञाता विद्वान् द्वारा उसकी रक्षा की व्यवस्था कराये। एक पक्ष (१५ दिन) बीत जाने पर उस घड़े को गड्ढे से निकाल ले। पुनः उस आमलक चूर्ण के अष्टमांश में स्वर्णभस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म, प्रवालभस्म और लौहभस्म मिलाकर सब घोटकर रख लें।

प्रयोग—इस रसायन का सेवन कुटीप्रावेशिक विधि के अनुसार संशोधन एवं संसर्जन के पश्चात् शरीर में बलाधान हो जाने के बाद आधा कर्ष (६ ग्राम) से प्रारम्भ कर क्रमशः आधा-आधा कर्ष बढ़ाते हुए अपनी अग्नि के बल के अनुसार मात्रा का निर्धारण कर प्रतिदिन प्रातःकाल इस रसायन का सेवन करे और उतनी ही मात्रा ले जितनी मात्रा में सेवन करने से भोजन की मात्रा में कोई बाधा न हो। औषध पच जाने पर दूध और घी के साथ साठी के चावल का भात खाये। ऐसा करने से पूर्वोक्त ब्राह्मरसायन में कहे गये उन सभी गुणों की प्राप्ति होती है॥५८॥

वक्तव्य—मूल के 'पिष्टस्वेदनविधिना' की व्याख्या में चक्रपाणि ने कहा है कि 'यथा पिष्टकं तोयपरिपूरितपात्रोपरि दत्ततृणादिसंस्थितं स्वेद्यते, तथा तत् स्वेदनीयमित्यर्थः' अर्थात् जिस प्रकार किसी बटलोई में आधे भाग तक पानी भरकर उसके मुख पर पतला कपड़ा या पुआल आदि बाँधकर, उस पर आटे का पीठा बनाकर रखकर, ऊपर किसी नतोदर बहुगुणा आदि से ढककर चूल्हे पर बटलोई चढ़ाकर आँच लगाकर पानी के भाप से पीठा सिजाया जाता है, उसी प्रकार से आँवला को सिजाना चाहिए।

यहाँ कतिपय आचार्य 'पयसः'का अर्थ जल किये हैं, उसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि आमलक में व्यक्त अम्लरस के साथ दूध का विरोध है, अतः पानी ही लेना उचित है।

इस रसायन में स्वर्णादि के उत्तमोत्तम भस्म ही डालना चाहिए और समूचे चूर्ण का अष्टमांश न डालकर बत्तीसवाँ भाग डालना उचित होगा और इसकी १ मात्रा २ ग्राम से ४ ग्राम तक रखनी चाहिए।

भवन्ति चात्र—

इदं रसायनं ब्राह्मं महर्षिगणसेवितम्। भवत्यरोगो दीर्घायुः प्रयुञ्जानो महाबलः॥५९॥
कान्तः प्रजानां सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः। श्रुतं धारयते सत्त्वमार्षं चास्य प्रवर्तते॥६०॥
धरणीधरसारश्च वायुना समविक्रमः। स भवत्यविषं चास्य गात्रे सम्पद्यते विषम्॥६१॥

इति द्वितीयं ब्राह्मरसायनम्।

द्वितीय ब्राह्मरसायन की फलश्रुति—इस ब्राह्मरसायन का सेवन महर्षियों ने किया है। इसका प्रयोग करता हुआ मनुष्य रोगरहित, दीर्घायु और महाबली होता है, वह जनसमुदाय में सुन्दर और कान्तिमान् होता है, उसकी सभी कामनाएँ सिद्ध होती हैं एवं उसकी कान्ति चन्द्रमा और सूर्य के समान हो जाती

है। वह जो भी सुनता है उसे धारण कर लेता है। उसका मन ऋषियों जैसा सत्त्व गुणवाला हो जाता है। इसका सेवन करने वाला पुरुष लोहे जैसा दृढ़काय और वायु जैसा पराक्रमी होता है। उसके शरीर में भक्षित विष भी अविष अर्थात् निष्क्रिय निष्प्रभाव हो जाता है॥५९-६१॥

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिर्बला। पर्ण्यश्चतस्रः पिप्पल्यः श्वदंष्ट्रा बृहतीद्वयम्॥
शृङ्गी तामलकी द्राक्षा जीवन्ती पुष्करागुरु। अभया चामृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ शटी॥६३॥
मुस्तं पुनर्नवा मेदा सैला चन्दनमुत्पलम्। विदारी वृषमूलानि काकोली काकनासिका॥६४॥
एषां पलोन्मितान् भागाञ्छतान्यामलकस्य च। पञ्च दद्यात्तदैकध्यं जलद्रोणे विपाचयेत्॥६५॥
ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम्। तच्चामलकमुद्धृत्य निष्कुलं तैलसर्पिषोः॥६६॥
पलद्वादशके भृष्ट्वा दत्त्वा चार्धतुलां भिषक्। मत्स्यण्डिकायाः पूतायाः लेहवत्साधु साधयेत्॥६७॥
षट्पलं मधुनश्चात्र सिद्धशीते प्रदापयेत्। चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीद्विपलं तथा॥६८॥
पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात्। इत्ययं च्यवनप्राशः परमुक्तो रसायनः॥६९॥

च्यवनप्राश : क्वाथ द्रव्य—१. बेल की छाल, २. गनियार की छाल, ३. सोनापाठा की छाल, ४. गम्भार की छाल, ५. पाढल की छाल, ६. बरियार की जड़, ७. सरिवन, ८. पिठवन, ९. वनमूँग, १०. वन उड़द, ११. पीपर, १२. गोखरू, १३. वनभण्टा, १४. रेंगनीमूल, १५. काकड़ासींगी, १६. भुईं आँवला, १७. मुनक्का, १८. जीवन्ती, १९. पुष्करमूल, २०. अगर, २१. हर्रे, २२. गुरुच, २३. ऋद्धि, २४. जीवक, २५. ऋषभक, २६. कचूर, २७. नागरमोथा, २८. गदहपुर्ना, २९. मेदा, ३०. इलायची, ३१. लालचन्दन, ३२. नीलकमल, ३३. विदारीकन्द, ३४. अरुस की जड़, ३५. काकोली, ३६. कौआठोठी।

निर्माण-विधि—प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लेकर भूसा की तरह कूट ले और इन्हें एक द्रोण जल में पकाये। उसी जल में ५०० आँवले एक कपड़े में बाँधकर पकने के लिए डाल दें। जब यह अन्दाज लग जाय कि औषधों का रस क्वाथ में आ गया और आँवले ठीक से पक गये, तो आँवले की पोटली निकाल लें और क्वाथ को छानकर सीठी फेंक दें। फिर गुठली निकालकर आँवले को सील पर पीसकर किसी जालीदार मशहरी के कपड़े या महीन चलनी में घिसकर छान लें, जिससे रेशे निकल जायें। फिर एक कलईदार कड़ाही में ६ पल घी और ६ पल तिल का तेल डालकर छने हुए आँवले के गूदे को जल रहित एवं लाल होने तक भून लें। यह ध्यान रहे कि न जले न कच्चा रहे। पुनः निर्मित क्वाथ में आधी तुला (५० पल) मिश्री मिलाकर चासनी बना ले और चासनी तैयार होने पर भुने हुए आँवले के गूदे को उसमें डालकर चलाते रहे और तब तक पकाये जब तक वह अवलेह की तरह गाढ़ा न हो जाय। चूल्हे से उतार कर ठण्डा होने पर प्रक्षेप द्रव्यों का बारीक चूर्ण और मधु मिलाये।

प्रक्षेप द्रव्य—१. मधु ६ पल, २. वंशलोचन ४ पल, ३. पीपर २ पल, ४. दालचीनी १ पल, ५. इलायची १ पल, ६. तेजपात १ पल, ७. नागकेशर १ पल।

इस प्रकार तैयार किया हुआ च्यवनप्राश श्रेष्ठ रसायन कहा गया है॥६२-६९॥

वक्तव्य—यहाँ क्वाथ की अवशिष्ट मात्रा के सम्बन्ध में मूल में कोई निर्देश नहीं है, अतः स्वविवेकानुसार अष्टमांशावशिष्ट क्वाथ रखना चाहिए। यहाँ आँवले का प्रमाण संख्या में कहा गया है। वैद्य-व्यवहार के अनुसार एक आँवले का वजन १ तोला या १२ ग्राम मानकर उसी अनुसार आँवले को वजन में लेना चाहिए (जो ६ किलो होगा)। मिश्री की मात्रा आँवले के वजन के बराबर होनी चाहिए।

कासश्वासहरश्चैव विशेषेणोपदिश्यते। क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्धनः॥७०॥
स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम्। पिपासां मूत्रशुक्रस्थान्दोषांश्चाप्यपकर्षति॥७१॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत योपरुन्ध्यान्न भोजनम्। अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा॥

मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्वमायुःप्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम्।
स्त्रीषु प्रहर्षं परमाग्निवृद्धिं वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम्॥ ७३॥
रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात्।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य॥ ७४॥
इति च्यवनप्राशः।

च्यवनप्राश की फलश्रुति—यह रसायन खाँसी को और श्वासरोग को मिटाने में विशेष रूप में प्रशंसनीय है। यह बलहीन, क्षीण, उरःक्षत के रोगी, वृद्ध और बालकों के अंगों का संवर्धन करता है। यह स्वरक्षय, उरोरोग, हृद्रोग, वातरक्त, पिपासा, मूत्रविकार, मूत्राशय एवं शुक्राशय के दोषों को दूर करता है। इसकी मात्रा (१२ से २० ग्राम) रोगी के बलानुसार प्रयोग करनी चाहिए, जिससे उसके भोजन की मात्रा में रुकावट न डाले।

इस च्यवनप्राश के प्रयोग से जीर्ण-शीर्ण काया वाले अत्यन्त वृद्ध च्यवन ऋषि पुनः युवावस्थासम्पन्न हो गये। इसका सेवन करने से धारणाशक्ति, स्मरणशक्ति, कान्ति, आरोग्य, दीर्घ आयु, इन्द्रियों में बल, स्त्रियों को सन्तुष्ट करने की क्षमता और प्रहर्ष, जठराग्नि की तीव्रता, शरीर के वर्ण का निखार तथा वायु का अनुलोमन होता है। कुटीप्रावेशिक विधि से इस रसायन का प्रयोग करने से वृद्ध पुरुष भी बुढ़ापे के जराजीर्ण शरीर को छोड़कर नवयौवन का स्वरूप धारण कर लेता है॥ ७०-७४॥

अथामलकहरीतकीनामामलकबिभीतकानां हरीतकीबिभीतकानामामलकहरीतकीबिभीतकानां वा पलाशत्वगवनद्धानां मृदाऽवलिप्तानां कुकूलके स्विन्नानामकुलकानां पलसहस्रमुलूखले सम्पोथ्य दधिघृतमधुपललतैलशर्करासम्प्रयुक्तं भक्षयेदनन्नभुग्ययोक्तेन विधिना; तस्यान्ते यवाग्वादिभिः प्रत्यवस्थापनम्, अभ्यङ्गोत्सादनं सर्पिषा यवचूर्णैश्च, अयं च रसायनप्रयोगप्रकर्षो द्विस्तावदग्निबलमभिसमीक्ष्य, प्रतिभोजनं यूषेण पयसा वा षष्टिकः ससर्पिष्कः, अतः परं यथासुखविहारः कामभक्ष्यः स्यात्। अनेन प्रयोगेणर्षयः पुनर्युवत्वमवापुर्बभूवुश्चानेकवर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीरबुद्धीन्द्रियबलसमुदिताश्चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तपः॥ ७५॥ इति चतुर्थामलकरसायनम्।

आमलक रसायन—१. आँवला और हर्रे अथवा २. आँवला और बहेड़े अथवा ३. हर्रे और बहेड़े अथवा ४. आँवला, हर्रे और बहेड़े—इन चार रसायन-योगों में से किसी एक योग को लेकर चारों ओर से गीली पलाश छाल को लपेट कर बाँध दे और उस पर १ अंगुल मोटा मिट्टी का लेप कर, उस पिण्ड को सुखाकर गोहरी की आग के बीच रखकर पका ले, जिससे वे द्रव्य उबल जायें। फिर उनकी एक हजार पल की मात्रा लेकर गुठली हटाकर ऊखल में रखकर अच्छी प्रकार से कूट ले और उतने ही परिणाम में दही, घी, मधु और तिल का कल्क मिलाकर कुटीप्रावेशिक विधि से इसका सेवन करे।

इसके सेवनकाल में अन्नाहार का परित्याग कर दे (क्षुधा लगने पर दूध और फल लेना चाहिए)। जब इस रसायन का प्रयोगकाल समाप्त हो जाये, तब पेया-विलेपी आदि संसर्जन क्रम से प्राकृतिक आहार ग्रहण कराये। शरीर की मालिश और उबटन घी मिले जौ के आटे से कराये। जठराग्नि के बल के अनुसार इसे प्रातः-सायं दो बार प्रयोग कराया जा सकता है और भोजन में मूँग के यूष के साथ या दूध के साथ घी मिला साठी चावल का भात देना चाहिए। तत्पश्चात् अपनी रुचि के अनुसार यथेच्छ आहार-विहार करे। इसके प्रयोग से ऋषियों ने पुनरपि यौवन प्राप्त किया और कई सौ वर्षों तक रोगरहित जीवन-यापन किया। वे आजीवन शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि के बल से सम्पन्न होकर बड़ी ही संलग्नता के साथ तप करते रहे॥ ७५॥

हरीतक्यामलकबिभीतकपञ्चपञ्चमूलनिर्यूहे पिप्पलीमधुकमधूककाकोलीक्षीरकाकोल्यात्मगुप्ताजीवकर्षभकक्षीरशुक्लाकल्कसम्प्रयुक्तेन विदारीस्वरसेन क्षीराष्टगुणसम्प्रयुक्तेन च सर्पिषः कुम्भं

साधयित्वा प्रयुञ्जानोऽग्निबलसमां मात्रां जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमुष्णोदकानुपानमश्नञ्जराव्याधिपापाभिचारव्यपगतभयः शरीरेन्द्रियबुद्धिबलमतुलमुपलभ्याप्रतिहतसर्वारम्भः परमायुरवाप्नुयात्॥ ७६॥ इति पञ्चमो हरीतकीयोगः।

हरीतक्यादि रसायन—हर्रे, आँवला, बहेड़ा और पाँचों पञ्चमूल के (८ द्रोण) क्वाथ में पीपर, मुलहठी, महुआ, काकोली, क्षीरकाकोली, केवाँच के बीज, जीवक, ऋषभक तथा क्षीरविदारी का (½ द्रोण) कल्क मिलाकर विदारीकन्द के (८ द्रोण) स्वरस और (१६ द्रोण) दूध के साथ २ द्रोण घी को यथाविधि पकाकर तैयार करे।

इस रसायन घृत की मात्रा अग्निबल के अनुसार (१० ग्राम से २० ग्राम तक) निर्धारित कर प्रयोग करे और पच जाने पर दूध एवं घी के साथ अगहनी या साठी चावल का भात खाये तथा बाद में गरम जल का पान करे। इसके सेवन से वार्धक्य, व्याधि, पाप और अभिचार (पुरश्चरण) से भय नहीं होता और शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि का अतुलनीय बल पाकर मनुष्य अपने सभी कार्यों को निर्विघ्नता के साथ सम्पन्न कर (४०० वर्ष की) परमायु को प्राप्त करता है॥ ७६॥

वक्तव्य—इस रसायन के निर्माण में कषाय, कल्क एवं स्वरस की मात्रा नहीं बतलायी गयी है। ऐसी स्थिति में (चरक. कल्प. १२।१) सामान्य परिभाषा के अनुसार यहाँ घृत से चतुर्गुण क्वाथ और स्वरस, अष्टगुण दुग्ध और चतुर्थांश कल्क डालकर यह घृत बनाना चाहिए। चक्रपाणि और गंगाधर ने क्वाथ और स्वरस को घृत के समान लेने को कहा है तथा दूध को अष्टगुण एवं कल्क को चतुर्थांश लेने का निर्देश दिया है। वाग्भट ने घी से दुगुना हरीतकी आदि का क्वाथ और विदारीरस लेने को कहा है, दूध आठ गुना एवं कल्क चतुर्थांश कहा है। इन मतों में कल्क से चौगुना स्नेह और स्नेह से चौगुना द्रव लेने की परिभाषा की उपेक्षा की गयी है। इसलिए ये मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होते हैं।

हरीतक्यामलकबिभीतकहरिद्रास्थिराबलाविडङ्गामृतवल्लीविश्वभेषजमधुकपिप्पलीसोमवल्कसिद्धेन क्षीरसर्पिषा मधुशर्कराभ्यामपि च सन्नीयामलकस्वरसशतपरिपीतमामलकचूर्णमयश्चूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं पाणितलमात्रं प्रातः प्रातः प्राश्य यथोक्तेन विधिना सायं मुद्गयूषेण पयसा वा ससर्पिष्कं शालिषष्टिकान्नमश्नीयात्, त्रिवर्षप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, विषमविषं भवति गात्रे, गात्रमश्मवत् स्थिरीभवति, अधृष्यो भूतानां भवति॥ ७७॥
इति षष्ठो हरीतकीयोगः।

षष्ठ हरीतक्यादि रसायन—आँवला के स्वरस में सौ बार भावित आँवला का चूर्ण तैयार कर उसमें चतुर्थांश लौहभस्म मिलाकर रख ले। फिर हर्रे, आँवला, बहेड़ा, हलदी, सरिवन, वरिआर, वायविडंग, गुरुच, सोंठ, मुलहठी, पीपर और श्वेतखदिर—इनके क्वाथ और कल्क से सिद्ध दुग्ध से घी निकाल कर रख ले। प्रतिदिन प्रातः आमलक चूर्ण में उक्त घी मधु और चीनी मिलाकर १ कर्ष की मात्रा में सेवन करे। (आजकल लौहभस्म युक्त आँवला चूर्ण १ ग्राम, मधु १० ग्राम, घी ५ ग्राम, चीनी ३ ग्राम मिलाकर १ मात्रा लेना उचित होगा)। इस रसायन का सेवन पूर्वोक्त कुटीप्रावेशिक विधि से करे। औषध के पच जाने पर सायंकाल मूँग के यूष या दूध के साथ घी मिलाकर अगहनी या साठी के चावल का भात आहार में ग्रहण करे।

फलश्रुति—तीन वर्ष तक निरन्तर इस रसायन का सेवन करने वाला पुरुष बुढ़ापे से मुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है। उसका पढ़ा हुआ या सुना हुआ शास्त्र स्मरण रहता है। उसके सभी रोग शान्त हो जाते हैं। उसके शरीर में किसी तरह यदि विष का प्रवेश हो जाय तो वह विष प्रभावी नहीं होता। उसका शरीर पत्थर की तरह स्थिर हो जाता है। कोई भी प्राणी उसे परास्त नहीं कर सकता, वह अपराजेय हो जाता है॥ ७७॥

वक्तव्य—यहाँ घी के लिए जिस दुग्धपाक को कहा गया है, उसे सामान्य नियम से बनाना चाहिए। जैसे—उक्त औषधों का क्वाथ और कल्क दोनों ही डालना चाहिए। औषधकल्क से आठ गुना दूध और दूध से चार गुना क्वाथ डालकर क्षीरावशेष पाक करे और उस दूध से दही जमाकर फिर घी निकाल कर रख ले।

भवन्ति चात्र—

यथाऽमराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा। तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा॥ ७८॥
न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च। जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा॥ ७९॥

रसायन-सेवन का फल—जिस तरह देवताओं के लिए अमृत और नागों के लिए सुधा है, उसी तरह प्राचीन काल में महर्षियों के लिए रसायनविधि थी। वे उस प्राचीन काल में रसायन का सेवन करते हुए न तो वृद्धावस्था, न दुर्बलता, न रुग्णता और न मृत्यु से ग्रस्त होते थे। इस प्रकार वे सहस्रों वर्ष तक जीवित रहते थे॥ ७८-७९॥

न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षरम्॥ ८०॥

रसायन-सेवन से मोक्षप्राप्ति—जो मनुष्य विधिपूर्वक रसायन-प्रयोगों का सेवन करता है, वह न केवल दीर्घजीवन का उपभोग करता है, अपितु वह देवर्षियों के द्वारा प्राप्त शुभगति को भी प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, वह अनश्वर ब्रह्म (परमपद मोक्ष) को भी प्राप्त करता है॥ ८०॥

तत्र श्लोकः—

अभयामलकीयेऽस्मिन् षड्योगाः परिकीर्तिताः। रसायनानां सिद्धानामायुर्वेरनुवर्तते॥ ८१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये-
ऽभयामलकीयो नाम रसायनपादः प्रथमः॥ १॥

उपसंहार—इस अभयामलकीय नामक रसायनाध्याय के प्रथम पाद में सिद्ध (फलप्रद-अनुभूत) रसायनों के ऐसे छः योग (१. ब्राह्मरसायन, २. द्वितीय ब्राह्मरसायन, ३. च्यवनप्राश, ४. चार आमलकादि रसायन, ५. हरीतक्यादि रसायन और, ६. द्वितीय हरीतक्यादि रसायन) बतलाये गये हैं, जिनके सेवन से निरापद दीर्घायु स्थापित होती है॥ ८१॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के रसायनाध्याय में 'अभयामलकीय' नामक रसायन-विषयक प्रथम पाद समाप्त हुआ॥ १॥

रसायनाध्याये द्वितीयः पादः

अथातः प्राणकामीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'प्राणकामीय' नामक रसायनपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

प्राणकामाः! शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानममृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहरमनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरमबद्धमांसहरमन्तरग्निसन्धुक्षणं प्रभावर्णस्वरोत्तमकरं रसायनविधानम्। अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणां चेष्टतमा बभूवुः, स्थिरसमसुविभक्तमांसाः सुसंहतस्थिरशरीराः, सुप्रसन्नबलवर्णेन्द्रियाः, सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः क्लेशसहाश्च।

रसायन-सेवन की फलश्रुति—हे दीर्घजीवन के अभिलाषियो! आप लोग उस रसायन-विधान को सुने, जिसका मैं उपदेश कर रहा हूँ। यह रसायन-प्रयोग वैसा ही जीवनप्रद है, जैसा देवताओं के लिए अमृत हितकर होता है। इसका प्रभाव अगम-अपार-अचिन्त्य और विलक्षण है। यह दीर्घायु और आरोग्य देने वाला है। यह युवावस्था स्थापित करता है। यह निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य और दुर्बलता को दूर भगाता है; वात-पित्त-कफ को साम्यावस्था में रखता है, शरीर को दृढ़ बनाकर स्थिरता लाता है, मांसपेशियों की शिथिलता को दूर करता है, जठराग्नि को उद्दीप्त करता है, शरीर की कान्ति, वर्ण और स्वर को उत्तम बनाता है। इस रसायन के सेवन से (वृद्ध) च्यवन प्रभृति ऋषिगण फिर से यौवनावस्था को पा गये और उनकी युवावस्था देखकर स्त्रियाँ उन्हें प्रियतम मानने लगीं। उनके शरीर के अवयव एक समान सुचारु, स्थिर, सुसंगठित तथा मांसल हो गये और मांसपेशियों के यथास्थान समुचित रूप में सम्बद्ध एवं सुविभक्त होने से गठीले हो गये। उनकी सभी इन्द्रियाँ प्रसन्न हो गयीं और शरीर बलवान् हो गये एवं वर्ण निखर गये। उनका पराक्रम अनवरुद्ध और अपराजेय था। वे दृढ़काय होने से सभी तरह के क्लेश सहन करने में समर्थ थे।

सर्वे शरीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारादम्ललवणकटुकक्षारशुष्कशाकमांसतिलपललपिष्टान्नभोजिनां विरूढनवशूकशमीधान्यविरुद्धासात्म्यरूक्षक्षाराभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषितभोजिनां विषमाध्यशनप्रायाणां दिवास्वप्नस्त्रीमद्यनित्यानां विषमातिमात्रव्यायामसङ्क्षोभितशरीराणां भयक्रोधशोकलोभमोहायासबहुलानाम्; अतो निमित्तं हि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयः, विदह्यते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं मेदः, न सन्धीयतेऽस्थिषु मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते, क्षयमुपैत्योजः; स एवम्भूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितो निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसीनां, नष्टस्मृतिबुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति। तस्मादेतान् दोषानवेक्षमाणः सर्वान् यथोक्तानहितानपास्याहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुर्महतीत्युक्त्वा भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच॥ ३॥

ग्राम्य आहारजन्य विकार—जो व्यक्ति अधिकांशतः अम्ल पदार्थ, नमकीन, कड़वे, क्षारीय पदार्थ, सूखे शाक, सूखे मांस, तिल, तिलकुट और उड़द आदि पीसकर बनाये गये पकवान् खाते हैं; अंकुरित नूतन अन्न, शूकधान्य (गेहूँ, जो, धान आदि), शमीधान्य (मटर, चना, उड़द, मूँग आदि), परस्पर विरुद्ध,

असात्म्य, रूक्ष, क्षारप्रधान एवं जलांश को बढ़ाने वाले भोजन करते हैं; सड़े-गले, दुर्गन्धित तथा वासी भोजन करते हैं; विषम आहार या अध्यशन करते हैं; दिन में सोते रहते हैं; अतिशय स्त्रीसेवन एवं अतिमद्यपान करते हैं; ऊँचे-नीचे चढ़ने, चलने-फिरने या किसी तरह का अधिक व्यायाम करते हैं, जिससे उनका शरीर संक्षुब्ध हो गया है और जो भय-क्रोध-शोक-लोभ-मोह एवं परिश्रम अधिक करते हैं, उनके उक्त प्रकार के ग्राम्याहार करने से उनके शरीर के वात-पित्त-कफ प्रकुपित हो जाते हैं। इन्हीं कारणों से उनके मांसस्थल ढीले पड़ जाते हैं, उनकी सन्धियाँ विमुक्त हो जाती हैं, रक्त में विदाह होता है, मेद अधिक मात्रा में निकलने लगता है, अस्थियों में मज्जा स्थिर नहीं हो पाती है, वीर्य नहीं बनता है और उनके ओज का क्षय हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह पुरुष क्षीण हो जाता है, थकने से खिन्न रहता है; निद्रा, तन्द्रा और आलस्य से घिरा रहता है, उसे किसी कार्य में उत्साह नहीं होता और हाँफता रहता है, शारीरिक या मानसिक किन्हीं कार्यों के करने में असमर्थ होता है, उसकी स्मृति, बुद्धि और शरीरकान्ति नष्ट हो जाती है, उसका शरीर व्याधियों का मन्दिर बन जाता है और वह क्षीणायु हो जाता है।

इसलिए आप जैसे प्राणकाम मनुष्यों को चाहिए कि इन सब दोषों को देखते हुए पूर्वकथित सभी प्रकार के अहितकर अपथ्यों का परित्याग कर रसायनों का सेवन करें। इतना कहने के पश्चात् भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने पुनः उपदेश दिया॥ ३॥

आमलकानां सुभूमिजानां कालजानामनुपहतगन्धवर्णरसानामापूर्णरसप्रमाणवीर्याणां स्वरसेन पुनर्नवाकल्कपादसम्प्रयुक्तेन सर्पिषः साधयेदाढकम्, अतः परं विदारीस्वरसेन जीवन्तीकल्कसम्प्रयुक्तेन, अतः परं चतुर्गुणेन पयसा बलातिबलाकषायेण शतावरीकल्कसम्प्रयुक्तेन; अनेन क्रमेणैकैकं शतपाकं सहस्रपाकं वा शर्कराक्षौद्रचतुर्भागसम्प्रयुक्तं सौवर्णे राजते मार्तिके वा शुचौ दृढ़े घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्; तद्यथोक्तेन विधिना यथाग्नि प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। अस्य त्रिवर्षप्रयोगाद्वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, अप्रतिहतगतिः स्त्रीषु अपत्यवान् भवतीति॥ ४॥

आमलक घृत—एक आढ़क घी को उत्तम भूमि में उत्पन्न, अपने उचित काल में उत्पन्न अविकृत गन्ध-वर्ण-रसवाले, रसदार पूरे आकार-प्रमाण तथा वीर्यसम्पन्न आँवले के (४ आढक) स्वरस से $\frac{1}{4}$ आढक गदहपुर्ना का कल्क डालकर पकाये। उसके बाद उस घृत को (४ आढक) विदारीस्वरस और ($\frac{1}{4}$ आढक) जीवन्ती के कल्क से पकाये। पुनः उस घृत को ४ आढक गोदुग्ध, ४ आढक वरिआर तथा ककहिया के क्वाथ और ($\frac{1}{4}$ आढक) शतावर का कल्क डालकर पकाये। इसी क्रम से उक्त तीनों विधियों में एक-एक विधि से सौ बार अथवा हजार बार इस घृत को सिद्ध कर एक चतुर्थांश ($\frac{1}{4}$ आढक) घी और मधु (दोनों आधा-आधा) मिलाकर, घी चुपड़े हुए सोने के या चाँदी के या शुद्ध एवं दृढ़ मिट्टी के पात्र में रख ले।

प्रयोग—इस घृत को कुटीप्रावेशिक विधि से अपनी जठराग्नि के बल के अनुसार (१० से २० ग्राम तक) प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे। घृत के पच जाने पर दूध और घी से अगहनी या साठी का भात खाये।

फलश्रुति—इस रसायन के लगातार तीन वर्ष तक प्रयोग करने से बिना बुढापे के अर्थात् युवा रूप में मनुष्य एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है। वह जो सुनता है उसे याद रहता है, उसके सभी रोग शान्त हो जाते हैं, उसे स्त्रियों के उपभोग में सामर्थ्य बना रहता है और वह पुत्रवान् होता है॥ ४॥

वक्तव्य—यद्यपि इस घृत के निर्माण में द्रवों और कल्कों की मात्रा नहीं कही गयी है, फिर भी मैंने सामान्य परिभाषा के अनुसार द्रवों को चतुर्गुण और कल्कों को चतुर्थांश लेना उचित समझा है। इस घृत को एक बार, सौ बार तथा हजार बार पाक करने को कहा गया है, तदनुसार ही क्रमशः उसी अनुपात से उनका गुण भी जानना चाहिए।

भवतश्चात्र—

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियं च।
अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं प्रशस्तिपूजासुखचित्तभाक् च॥ ५॥
बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्र्या स्वरो घनौघस्तनितानुकारी।
भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरं च समश्नतो योगमिमं नरस्य॥ ६॥

इत्यामलकघृतम्।

विशिष्ट उपलब्धि—जो व्यक्ति इस आमलकघृत का सेवन करता है, उसका शरीर बड़े आकार-प्रकार वाला और लोहे के समान दृढ़ एवं गठीला होता है। वह अतिबलवान् होता है तथा उसकी इन्द्रियाँ स्थिर एवं बलसम्पन्न होती हैं। वह दूसरों से पराजित नहीं होता और उसका शरीर अतीव कान्तिमान् होता है। वह समाज में प्रशंसनीय, पूजनीय और स्वस्थ चित्तवाला होता है। वह अतिबलशाली होता है और उसके शरीर का वर्ण सुन्दर और निखरा हुआ होता है। उसका स्वर मेघमाला के गर्जन के समान होता है। उसकी बहुत-सी सन्तानें होती हैं और दृढ़ तथा दीर्घायु होती हैं॥ ५-६॥

आमलकसहस्रं पिप्पलीसहस्रसम्प्रयुक्तं पलाशतरुणक्षारोदकोत्तरं तिष्ठेत्, तदनुगतक्षारोदकमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णीकृतं चतुर्गुणाभ्यां मधुसर्पिर्भ्यां सन्नीय शर्कराचूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं घृतभाजनस्थं षण्मासान् स्थापयेदन्तर्भूमेः। तस्योत्तरकालमग्निबलसमां मात्रां खादेत्, पौर्वाह्णिकः प्रयोगो नापराह्णिकः, सात्म्यापेक्षश्चाहारविधिः। अस्य प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥ ७॥

इत्यामलकावलेहः।

आमलकावलेह—पूर्ण प्रमाण, रसवीर्यसम्पन्न (शुष्क) एक हजार आँवले और एक हजार पीपर को तरुण पलाश वृक्ष को जलाकर बनाये हुए क्षारोदक में भिगो दे। जब आँवले और पीपर उस क्षारोदक को सोख लें तब उन्हें छाया में सुखा ले और गुठली निकाल कर चूर्ण बनाकर छान ले। फिर आँवले और पीपर के चूर्ण को वजन करके, चौगुने वजन में मधु और घी (दोनों बराबर) मिलाकर, पुनः एक चतुर्थांश चीनी मिलाकर घी चुपड़े स्वच्छ दृढ़ पात्र में रखकर, जमीन में गड्ढा खोदकर उसमें छः महीने तक गाड़ दे। उसके बाद उसे निकाल कर जठराग्नि के बल के अनुसार (१० से २० ग्राम तक) मात्रा में प्रातःकाल सेवन करे। अपराह्ण में इसे नहीं खाना चाहिए। अनुकूल और हितकर आहार का सेवन करे। इसके प्रयोग से सौ वर्ष तक युवावस्था बनी रहती है, शरीर और मन सबल एवं स्वस्थ रहते हैं तथा उत्तम सन्तानें होती हैं॥ ७॥

वक्तव्य—क्षारोदक-निर्माणविधि—तरुण पलाश वृक्ष के सर्वाङ्ग को जलाकर राख बनाये और उसे छः गुना जल में अच्छी तरह घोलकर इक्कीस बार कपड़े से छान ले तो क्षारोदक तैयार हो जाता है।

आमलकचूर्णाढकमेकविंशतिरात्रमामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं मधुघृताढ़काभ्यां द्वाभ्यामेकीकृतमष्टभागपिप्पलीकं शर्कराचूर्णचतुर्भागसम्प्रयुक्तं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशौ निदध्यात्; तद्वर्षान्ते सात्म्यपथ्याशी प्रयोजयेत्; अस्य प्रयोगाद् वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥ ८॥

इत्यामलकचूर्णम्।

आमलक चूर्ण—आँवलों को सुखाकर चूर्ण कर उसमें से एक आढक चूर्ण लेकर किसी पात्र में रखे। उस चूर्ण में एक हजार आँवलों का स्वरस डालकर इक्कीस दिन तक पड़ा रहने दे (यह सावधानी बरते कि चूर्ण को कुछ घोंटता रहे और सड़ने न दे)। फिर उस चूर्ण को सुखाकर उसमें दो आढक मधु और घृत मिला लें (दोनों बराबर लें)। चूर्ण के वजन के अष्टमांश वजन में पिप्पलीचूर्ण मिला ले और चतुर्थांश

वजन में शर्करा मिला दे। उस योग को घी चुपड़े हुए किसी स्वच्छ और दृढ पात्र में ठीक से रखकर ढक्कन बन्द कर वर्षा ऋतु में उस पात्र को राख की ढेर में दबा कर रख दे। फिर वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर राख की ढेर से उस पात्र को निकाल ले।

अपनी जठराग्नि के बल के अनुसार उसकी मात्रा का निर्धारण कर (१० से २० ग्राम तक) प्रयोग करे। इस रसायन का जब पाचन हो जाय तब अनुकूल पथ्याहार का सेवन करे। इस रसायन के प्रयोग से युवावस्थासम्पन्न होकर पुरुष एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है और सब फल पूर्वकथित रसायनों जैसा ही है॥ ८॥

वक्तव्य—इस रसायन के प्रयोग का काल-निर्धारण नहीं किया गया है, ऐसी स्थिति में 'काले ऽनुक्ते प्रभातं स्यात्' इस नियम के अनुसार प्रतिदिन प्रातःकाल १ मात्रा सेवन करे।

विडङ्गतण्डुलचूर्णानामाढकमाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धाढकं सितोपलायाः सर्पिस्तैलमध्वाढकैः षड्भिरेकीकृतं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशाविति सर्वं समानं पूर्वेण यावदाशीः॥ ९॥

इति विडङ्गावलेहः।

विडङ्गावलेह—वायविडङ्ग का बारीक चूर्ण १ आढक, पीपर का महीन चूर्ण १ आढक, मिश्री १½ आढक, घृत, तैल और मधु प्रत्येक १-१ आढक लेकर इन छहों को एकरस मिला लें। इस रसायन को घी चुपड़े हुए पात्र में रखकर वर्षाकाल में राख की ढेर में दबा दे। वर्षाकाल समाप्त होने पर निकाल कर अपनी जठराग्नि के बल के अनुसार उचित (१० से २० ग्राम तक) मात्रा में सेवन करे। इसका फल भी पूर्वोक्त रसायनों के समान ही जानना चाहिए॥ ९॥

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रमार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां वाष्पमनुद्वमन्त्यामारण्यगोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तानि सुस्विन्नशीतान्युद्धृतकुलकान्यापोथ्याढकेन पिप्पलीचूर्णानामाढकेन च विडङ्गतण्डुलचूर्णानामध्यर्धेन चाढकेन शर्करायाः द्वाभ्यां द्वाभ्यामाढकाभ्यां तैलस्य मधुनः सर्पिषश्च संयोज्य शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेदेकविंशतिरात्रम्, अत ऊर्ध्वं प्रयोगः; अस्य प्रयोगाद् वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥ १०॥

इत्यामलकावलेहोऽपरः।

अपर आमलकावलेह—परिपक्व वीर्य के उत्तम आँवले एक हजार की संख्या में लेकर गीली पलाश की लकड़ी से बनी ढक्कनदार नौकाकार (पात्र) द्रोणी में रखे, जिसका ढक्कन लगा देने पर उसका वाष्प बाहर न निकले। फिर द्रोणी के चारों ओर जंगली गोइठा रखकर जला दे, जिसकी आँच से आँवले पक जायें। आँवलों के उबल जाने पर आग हटाकर द्रोणी का ढक्कन हटाकर आँवलों को निकाल कर ठण्डा कर लें। फिर बीज निकाल कर गूदे को पीसकर मोटे कपड़े पर या टाट पर घिसकर रेशे अलग कर दें। पुनः उस छने हुए गूदे में एक आढक पीपर का चूर्ण, एक आढक वायविडंग का चूर्ण, १½ आढक चीनी और दो-दो आढक तेल, मधु और घी—इन सबको ठीक से एक में मिलाकर घृतभावित स्वच्छ तथा दृढ़ पात्र में २१ दिन तक रख छोड़ें। उसके बाद उसका प्रयोग करे। इसके प्रयोग से मनुष्य सौ वर्ष तक बिना वृद्ध हुए युवा बनकर जीवित रहता है। अन्य गुण आदि पूर्वोक्त रसायनों जैसा है॥ १०॥

धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा व्यपगतविषश्वापदपवनसलिलाग्निदोषे कर्षणवल्मीकश्मशानचैत्योषरावसथवर्जिते देशे यथर्तुसुखपवनसलिलादित्यसेविते जातान्यनुपहतान्यनध्यारूढान्यबालान्यजीर्णान्यधिगतवीर्याणि शीर्णपुराणपर्णान्यसञ्जातान्यपर्णानि तपसि तपस्ये वा मासे शुचिः प्रयतः कृतदेवार्चनः स्वस्ति वाचयित्वा द्विजातीन् बले सुमुहूर्ते नागबलामूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाग्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥ ११॥

इति नागबलारसायनम्।

नागबला रसायन—जांगल प्रदेश में जहाँ कुश उपजे हों, जहाँ की मिट्टी चिकनी, काली और मधुर हो या सोने के वर्ण की पीली हो, जहाँ विषैले या हिंसक जीव-जन्तु न हों, जहाँ वायु और जल के विकार न हों तथा वनाग्नि न लगती हो, जो जोती न जाती हो, जहाँ दीमक न लगते हों, श्मशान न हो, कब्र या समाधि न हो, ऊसर भूमि न हो और आबादी न हो; जहाँ ऋतु के अनुसार सुखप्रद वायु, जल और धूप लगती हो, ऐसे स्थान में उत्पन्न नागबला का मूल ले। वह छिन्न-भिन्न न हो, किसी पौधे से न दबाया गया हो, न किसी पौधे को दबाकर पैदा हुआ हो, न एकदम छोटा पौधा हो, न एकदम पुराना हो, जो रस-गुण-वीर्य आदि से सम्पन्न हो, जिसके पुराने पत्ते गिर चुके हों और नये न जन्मे हों, ऐसे नागबला-मूल को माघ या फाल्गुन महीने में पवित्र और सावधान होकर, देवताओं की पूजा कर, ब्राह्मणों से स्वस्त्ययन कराकर उत्तम बलवान् मुहूर्त में उखाड़े। उसे अच्छी तरह धोकर उसकी छाल निकाल कर उसमें से अपनी शक्ति के अनुसार एक पल या एक कर्ष (तोला) की मात्रा में लेकर खूब महीन पीसकर दूध में मिलाकर प्रातःकाल सेवन करे अथवा सुखाकर चूर्ण बनाकर रख ले और दूध के साथ उचित मात्रा में प्रतिदिन प्रातःकाल ले या मधु और विषम मात्रा में चूर्ण में मिलाकर सेवन करे। जब यह रसायन पच जाय तब घी-दूध के साथ अगहनी या साठी चावल का भात खाये। इस रसायन के लगातार एक वर्ष तक प्रयोग करने से वृद्धावस्था रहित एक सौ वर्ष की आयु होती है। इसके अन्य लाभ पहले के रसायनों के समान है॥ ११॥

बलातिबलाचन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनस्वरसाः पुनर्नवान्ताश्चौषधयो दश नागबलया व्याख्याताः। स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः—चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत् प्रयोज्यम्॥ १२॥

उन्नीस बलादि रसायन—१. वरिआर, २. ककहिया, ३. श्वेत चन्दन, ४. काला अगर, ५. धव, ६. तिनिश, ७. खैर, ८. शीशम, ९. असन (विजयसार), १०. गुरुच, ११. हरीतकी, १२. आँवला, १३. मुक्ता (रास्ना), १४. श्वेत अपराजिता, १५. जीवन्ती, १६. शतावर, १७. मण्डूकपर्णी, १८. सरिवन और १९. गदहपुर्ना—इनका स्वरस निकाल कर दूध में मिलाकर बल के अनुसार प्रयोग करना चाहिए।

इन सभी औषधों का लाभ एवं प्रयोगविधान नागबला जैसा जाने। यदि इन द्रव्यों का ताजा स्वरस न मिले तो उनके स्वरस निकालने की विधि यह है कि एक आढक प्रमाण द्रव्य का चूर्ण एक आढक पानी में चौबीस घण्टे भिगो दे, फिर मसल कर रस निकाल कर छान ले और स्वरस की तरह प्रयोग करे॥ १२॥

भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसप्रमाणवीर्याणि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्ले वा मासे सङ्गृह्य यवपल्ले माषपल्ले वा निधापयेत्, तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः। पूर्वं दशभल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्, तेषां रसमष्टभागावशेषं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्य। तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दशभल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः। प्रयोगविधानेन सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः। जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः, प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः। तत्प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥ १३॥

इति भल्लातकक्षीरम्।

भल्लातक क्षीर—जो टूटे-फूटे न हों, नीरोग हों, रस से पूर्ण हों, पूरे प्रमाण के और वीर्यवान् हों तथा देखने में पके जामुन के काले फल जैसे चमकदार हों, ऐसे भिलावा के फलों को जेठ या अषाढ़ महीने में संग्रह करके जौ अथवा उड़द के ढेर में चार महीने तक रख दे। फिर उन्हें अगहन या पूष महीने में निकाल कर प्रयोग करे और प्रयोग करने से पहले शीतवीर्य स्निग्ध मधुर आहार से शरीर को सुपुष्ट बना ले।

पहले दश भिलावा कुचल कर वजन कर ले और उसे आठ गुना जल में अच्छी तरह पकाये। जब जल आठवाँ भाग बच जाय तो छानकर उसमें दूध मिला ले और मुख में थोड़ा घी का कवल धारण कर तब उसे पी जाय। फिर एक-एक भिलावा बढ़ाते हुए तीस तक ले जाय और पुनः घटाकर दश भिलावा तक आये। इस प्रकार ३० से अधिक न ले तथा १० से ३० तक बढ़ाते हुए और ३० से १० तक घटाते हुए १००० भिलावों का प्रयोग करना चाहिए। औषध पच जाने पर घी और दूध के साथ अगहनी या साठी का भात खाना चाहिए। जब एक हजार भिलावे का सेवन पूर्ण हो जाय, तो इस प्रयोग में जितने दिन लगें, उससे दूने दिनों तक दूध से ही भोजन करना चाहिए। इस रसायन के प्रयोग से बुढ़ापा रहित एक सौ वर्ष की आयु होती है। अन्य गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान हैं॥ १३॥

वक्तव्य—भल्लातक बड़ा दाहक होता है। अतएव उसे दूध मिलाकर ही पीने का विधान है और इसीलिए उसके पीने से पहले मुख में घृत धारण करने के लिए कहा गया है।

१० से ३० की संख्या तक बढ़ाने-घटाने के क्रम में भिलावे की संख्या इकतालीसवें दिन तक मात्र ८१० होती है। इसलिए आचार्य चक्रपाणि ने पुनरावृत्ति कर एक हजार की संख्या पूरी करने के लिए कहा है—'सहस्रसंख्यापूरणं चैहैकेन वर्धनह्रासक्रमेण न भवति, तेन पुनरावृत्त्या च त्रिंशत्पर्यन्तं प्रयोगः कर्तव्यः, यथा हि भल्लातकप्रयोगाभ्यासेन सहस्रसंख्यापूरणं भवति तथा कृत्वा परित्यागः कर्तव्यः'। निम्नाङ्कित सारणी में एक हजार भिलावा के सेवन का चक्रपाणिसम्मत क्रम निर्दिष्ट है।

भल्लातक-सहस्रप्रयोग-सारणी

दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या
१ले	१०	१२वें	२१	२३वें	२८	३४वें	१७	४५वें	१४
२रे	११	१३वें	२२	२४वें	२७	३५वें	१६	४६वें	१५
३रे	१२	१४वें	२३	२५वें	२६	३६वें	१५	४७वें	१६
४थे	१३	१५वें	२४	२६वें	२५	३७वें	१४	४८वें	१७
५वें	१४	१६वें	२५	२७वें	२४	३८वें	१३	४९वें	१६
६ठे	१५	१७वें	२६	२८वें	२३	३९वें	१२	५०वें	१५
७वें	१६	१८वें	२७	२९वें	२२	४०वें	११	५१वें	१४
८वें	१७	१९वें	२८	३०वें	२१	४१वें	१०	५२वें	१३
९वें	१८	२०वें	२९	३१वें	२०	४२वें	११	५३वें	१२
१०वें	१९	२१वें	३०	३२वें	१९	४३वें	१२	५४वें	११
११वें	२०	२२वें	२९	३३वें	१८	४४वें	१३	५५वें	११
योग	१६५	योग	२८४	योग	२५३	योग	१४४	योग	१५४
इस प्रकार १६५ + २८४ + २५३ + १४४ + १५४ = १००० भिलावों का प्रयोग होता है।									

आचार्य गङ्गाधर ने अन्य प्रकार से प्रयोग कर एक हजार की संख्या पूरी की है, जिसमें क्रमशः १० से प्रारम्भ कर १-१ बढ़ाकर इक्कीसवें दिन ३० तक पहुँचा जाता है और फिर २२ से २७वें दिन तक ३०-३० पर रहा जाता है तथा २८वें दिन से १-१ घटाकर ४८वें दिन १० पर रुका जाता है। इस तरह के क्रम में १००० भिलावों का सेवन पूरा हो जाता है।

गङ्गाधरसम्मत भल्लातक-सहस्रप्रयोग-सारणी

दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या
१ले	१०	११वें	२०	२१वें	३०	३१वें	२६	४१वें	१६
२रे	११	१२वें	२१	२२वें	३०	३२वें	२५	४२वें	१५
३रे	१२	१३वें	२२	२३वें	३०	३३वें	२४	४३वें	१४
४थे	१३	१४वें	२३	२४वें	३०	३४वें	२३	४४वें	१३
५वें	१४	१५वें	२४	२५वें	३०	३५वें	२२	४५वें	१२
६ठे	१५	१६वें	२५	२६वें	३०	३६वें	२१	४६वें	११
७वें	१६	१७वें	२६	२७वें	३०	३७वें	२०	४७वें	१०
८वें	१७	१८वें	२७	२८वें	२९	३८वें	१९	४८वें	१०
९वें	१८	१९वें	२८	२९वें	२८	३९वें	१८		
१०वें	१९	२०वें	२९	३०वें	२७	४०वें	१७		
योग	१४५	योग	२४५	योग	२९४	योग	२१५	योग	१०१
इस प्रकार १४५ + २४५ + २९४ + २१५ + १०१ = १००० भिलावों का प्रयोगक्रम है।									

आचार्य सुश्रुत ने अर्श की चिकित्सा (चि० अ० ६) में एक हजार भिलावे के सेवन की विधि बतलाई है, उसमें एक से ६५ भिलावे तक का सेवन-विधान है और फिर एक पर आना है।

वाग्भटाचार्य ने (उत्तर० अ० ३९ में) अन्य ही क्रम कहा है, जिसमें ८ से ४० भिलावे तक का सेवन-विधान है। इन दोनों का विस्तार वहीं देखना चाहिए। चरक के मत के साथ इनके मतों का सामञ्जस्य दुष्कर है।

भल्लातकानां जर्जरीकृतानां पिष्टस्वेदनं पूरयित्वा भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्य दृढस्योपरि कुम्भस्यारोप्योडुपेनापिधाय कृष्णमृत्तिकावलिप्तं गोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्; तेषां यः स्वरसः कुम्भं प्रपद्येत, तमष्टभागमधुसम्प्रयुक्तं द्विगुणघृतमश्नीयात्; तत्प्रयोगाद् वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥ १४॥ इति भल्लातकक्षौद्रम्।

भल्लातक क्षौद्र—उत्तम भिलावे लेकर कूट लें और एक पिष्टस्वेदन (नीचे पेंदी में अनेक छोटे छिद्रों वाले) घड़े में भरकर जमीन में कण्ठपर्यन्त गड्ढे में गड़े हुए घृतलिप्त उदर के दृढ़ घड़े के ऊपर इस प्रकार रखे कि पेंदी के छिद्रवाला भाग घड़े के मुख के भीतर ही रहे। फिर ऊपर से ढक्कन लगाकर सन्धि बन्द कर पुनः नीचे के घडे के ऊपर रखे घड़े की सन्धि ठीक से बन्द कर दे, जिससे वाष्प बाहर न निकले। तदनन्तर चारों ओर से गोहरा रखकर आग लगाकर स्वेदन करे। स्वेदन क्रिया से जो स्वरस नीचे के घड़े में प्राप्त हो, उसे सुरक्षित रख ले। फिर १ भाग भल्लातकस्वरस ८ भाग मधु और २ भाग घी मिलाकर प्रातःकाल सेवन करे। इस रसायन के प्रयोग से वृद्धावस्थारहित एक सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है। अन्य गुण पूर्वोक्त रसायनों जैसे हैं॥ १४॥

वक्तव्य—यहाँ मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है, इसलिए १० भिलावे के स्वरस की एक मात्रा से शुरू कर ३० भिलावे के स्वरस तक ले पुनः घटा-बढ़ाकर प्रयोग करते रहे। कोई आवश्यक नहीं कि एक हजार तक भिलावे का ही प्रयोग किया जाय। वर्तमान काल में ½ ग्राम तक की मात्रा घृतलिप्त मुख में दूध के साथ लेना उपयुक्त होगा। इसमें मधु की मात्रा विशेष होने से इसका नाम भल्लातकक्षौद्र रखा गया प्रतीत होता है। यह रसायन अर्शरोग में अतिहितकर है। अतएव सुश्रुत एवं वाग्भट ने अर्शरोग में इसके प्रयोग का उल्लेख किया है।

भल्लातकतैलपात्रं सपयस्कं मधुकेन कल्केनाक्षमात्रेण शतपाकं कुर्यादिति समानं पूर्वेण॥ १५॥
इति भल्लातकतैलम्।

भल्लातक तैल—पूर्वयोग में बतलाये गये प्रकार से भिलावे का तेल निकाले। उसमें से १ आढक तैल, ४ आढक दूध और १ कर्ष मुलहठी का कल्क डालकर तैलपाकविधि से पकाये। इस तरह उस तेल को सौ बार पकाये। इसका प्रयोग और गुण पूर्व के रसायनों जैसा है॥ १५॥

भल्लातकक्षीरः, भल्लातकसर्पिः, भल्लातकक्षौद्रं, गुडभल्लातकं, भल्लातकयूषः, भल्लातकतैलं, भल्लातकपललं, भल्लातकसक्तवः, भल्लातकलवणं, भल्लातकतर्पणम्, इति भल्लातकविधानमुक्तं भवति॥ १६॥

भल्लातक के दश योग—१. भल्लातकक्षीर, २. भल्लातकसर्पि, ३. भल्लातकक्षौद्र, ४. भल्लातकगुड, ५. भल्लातकयूष, ६. भल्लातकतैल, ७. भल्लातकपलल, ८. भल्लातकसक्तु, ९. भल्लातकलवण और १०. भल्लातकतर्पण—ये भल्लातक सेवन के दश प्रकार कहे गये हैं॥ १६॥

वक्तव्य—क्षीर, क्षौद्र और तैल का विधान पूर्व में बतलाया गया है। घृत का प्रयोग तेल की तरह ही पाक कर किया जाता है, यूष क्षीर की तरह बनाया जाता है, गुड़ के साथ मिलाकर सेवन किया जाता है, तिल को कूटकर कल्क बनाकर उसके साथ प्रयोग को भल्लातकपलल, सत्तू के साथ भल्लातकसक्तु, लवण तथा भिलावे को किसी हाँडी में रखकर मुख बन्द कर कपड़मिट्टी लगाकर गोहरे की आग में अन्तर्धूम जलाकर भल्लातकलवण बनाया जाता है और घी, दूध या धान के लाजा आदि तर्पक द्रव्यों के साथ पकाकर भल्लातक का प्रयोग भल्लातकतर्पण कहलाता है।

भवन्ति चात्र—

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च। भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि॥

भल्लातक के गुण—ये आग की तरह तीक्ष्ण और पका देने वाले होते हैं (इनके तेल के स्पर्श से जलन, शोथ और कण्डू होती है), किन्तु विधिपूर्वक शुद्ध कर प्रयोग किये जाने पर ये अमृत के समान लाभप्रद होते हैं॥ १७॥

एते दशविधास्त्वेषां प्रयोगाः परिकीर्तिताः। रोगप्रकृतिसात्म्यज्ञस्तान्प्रयोगान् प्रकल्पयेत्॥१८॥

रोग तथा प्रकृति के अनुसार प्रयोग—ये जो पूर्व में भल्लातक के दशविध योग कहे गये हैं, रोग और रोगी की प्रकृति एवं सात्म्य को जानने वाला वैद्य उनका प्रयोग करे अथवा अन्य योगों की कल्पना कर उनका सेवन कराये॥ १८॥

कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन। यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम्॥
इति भल्लातकविधिः।

भल्लातक के विशेष गुण—ऐसा कोई भी कफज रोग नहीं है, न तो कोई स्रोतस् का अवरोधक विबन्ध है जिसे भल्लातक न नष्ट कर सके। यह मेधा (धारणाशक्ति) और अग्नि को बढ़ाता है॥ १९॥

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्या महर्षयः। रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः॥ २०॥

ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यमध्यात्मध्यानमेव च। दीर्घायुषो यथाकामं सम्भृत्य त्रिदिवं गताः॥ २१॥
तस्मादायुःप्रकर्षार्थं प्राणकामैः सुखार्थिभिः। रसायनविधिः सेव्यो विधिवत्सुसमाहितैः॥ २२॥

रसायन की प्रशस्ति—प्राचीन काल में वृद्ध च्यवन आदि ऋषि दीर्घ जीवन की कामना से इन कल्याणकारी रसायनों के सेवन से असीम आयु प्राप्त किये। दीर्घायुष्य प्राप्त कर वे ब्रह्मज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य तथा अध्यात्मज्ञान में यथेष्ट रूप से उपासना में संलग्न होकर अन्त में स्वर्ग को प्राप्त किये। इसलिए सुख के अभिलाषी, दीर्घायुष्य के इच्छुक, समृद्ध जीवन चाहने वाले मनुष्यों को सावधान होकर शास्त्रीय विधि के अनुसार रसायन-योगों का सेवन करना चाहिए॥ २०-२२॥

तत्र श्लोकः—

रसायनानां संयोगाः सिद्धा भूतहितैषिणा। निर्दिष्टाः प्राणकामीये सप्तत्रिंशन्महर्षिणा॥ २३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये
प्राणकामीयो नाम रसायनपादो द्वितीयः॥ २॥

उपसंहार—प्राणिमात्र के हितैषी महर्षि आत्रेय ने रसायनाध्याय के इस प्राणकामीय पाद में रसायनों के सिद्ध (अनुभूत) ३७ योगों का उपदेश किया है॥ २३॥

रसायनयोगबोधक सारणी

१. शतपाक आमलक घृत	११. अगुरु रसायन	२१. श्वेताऽपराजिता रसायन	३१. भल्लातक यूष
२. सहस्रपाक आमलक घृत	१२. धव रसायन	२२. जीवन्ती रसायन	३२. भल्लातक सर्पि
३. आमलकावलेह	१३. तिनिश रसायन	२३. अतिरसा रसायन	३३. भल्लातक तैल
४. आमलक चूर्ण	१४. खदिर रसायन	२४. मण्डूकपर्णी रसायन	३४. भल्लातक पलल
५. विडङ्गावलेह	१५. शिंशपा रसायन	२५. स्थिरा रसायन	३५. भल्लातक सक्तु
६. अपर आमलकावलेह	१६. असन रसायन	२६. पुनर्नवा रसायन	३६. भल्लातक लवण
७. नागबला रसायन	१७. अमृता रसायन	२७. भल्लातक क्षीर	३७. भल्लातक तर्पण
८. बला रसायन	१८. अभया रसायन	२८. भल्लातक क्षौद्र	
९. अतिबला रसायन	१९. धात्री रसायन	२९. भल्लातक तैल	
१०. चन्दन रसायन	२०. मुक्ता रसायन	३०. भल्लातक गुड	

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के रसायनाध्याय में 'प्राणकामीय' नामक रसायनविषयक द्वितीय पाद समाप्त हुआ॥ २॥

रसायनाध्याये तृतीयः पादः

अथातः करप्रचितीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'करप्रचितीय' नामक रसायनपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

करप्रचितानां यथोक्तगुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां पुनर्माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःसप्तकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत्, अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां शुक्रजननानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानामौषधगणानां चन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनसाराणां चाणुशः कृत्तानामभयाबिभीतकपिप्पलीवचाचव्य-चित्रकविडङ्गानां च समस्तानामाढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत्। तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिर्वंशविदलशरतेजनाग्निभिर्वा साधयेद् यावदपनयाद् रसस्य। तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य शोषयेत्, सुशुष्कं तत् कृष्णाजिनस्योपरि दृषदि श्लक्ष्ण-पिष्टमयःस्थाल्यां निधापयेत् सम्यक्, तच्चूर्णमयश्चूर्णाष्टभागसम्प्रयुक्तं मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभि-समीक्ष्य प्रयोजयेदिति॥ ३॥

आमलकायस ब्राह्मरसायन—माघ अथवा फाल्गुन के महीने में पूर्ण आकार-प्रमाण-रस-वीर्य वाले आँवलों को हाथ से ही वृक्ष से तोड़कर संगृहीत करे और उनकी गुठली निकाल कर सुखाकर चूर्ण बना ले तथा उस चूर्ण में इक्कीस बार आँवले के स्वरस की भावना देकर सुखा ले। उस चूर्ण में से एक आढक ले। उसके बाद षड्विरेचनशताश्रितीय (च. सू. अ. ४) अध्याय में कहे गये जीवनीय गण, बृंहणीय गण, स्तन्यजनन, शुक्रजनन तथा वयःस्थापन गण की औषधों और चन्दन, अगर, धव, तिनिश, खदिर, शीशम एवं असन की लकड़ी का सारभाग (भीतर की हीर) लेकर छोटे-छोटे टुकड़े कर तथा हर्रे, बहेड़ा, पीपर, मीठा वच, चाभ, चित्रक और वायविडङ्ग—इन सबको मिलाकर एक आढक ले। इसे १० आढक जल में काढ़ा बनाये, जब एक आढक बच जाये, तब उसे ठीक से छानकर उसमें पूर्वोक्त आमलक चूर्ण डालकर (किसी पात्र में रखकर चूल्हे पर चढ़ाये और) गोहरी, बाँस के फट्टे या तेजबल की आँच से तब तक पकाये, जब तक जलांश सूख न जाये। यह ध्यान रहे कि जलने न पाये, फिर उसे निकाल कर लोहे की तश्तरी या थाल में फैलाकर सुखाये। अच्छी तरह सूख जाने पर कृष्णमृगचर्म पर रखी हुई सिलवट पर चिकना महीन पीस ले और लोहे के भाण्ड में सुरक्षित रख दे।

प्रयोग—अपनी जठराग्नि के बल के अनुसार इस चूर्ण की (२ ग्राम) मात्रा लेकर उसमें अष्टमांश (२ रत्ती) लौहभस्म मिलाकर (विषम मात्रा में गृहीत) मधु और घी के साथ सेवन करें॥ ३॥

भवन्ति चात्र—

एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः। जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः॥ ४॥
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्। यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः॥ ५॥
इदं रसायनं चक्रे ब्रह्मा वार्षसहस्रिकम्। जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम्॥ ६॥

इत्यामलकायसं ब्राह्मरसायनम्।

आमलकायस ब्राह्मरसायन की फलश्रुति—प्राचीन काल में वसिष्ठ, कश्यप, अंगिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु और इन्हीं जैसे अन्य ऋषि-महर्षियों ने बड़ी सावधानी से संयत होकर इस रसायन का प्रयोग किया था, जिससे वे थकावट, रोग तथा बुढ़ापे से मुक्त हो गये तथा इस रसायन के प्रभाव से वे महाबलशाली होकर अपनी इच्छानुसार जितना चाहे उतना तप किये। एक हजार वर्ष की आयु देने वाले, वार्धक्य-व्याधि से विमुक्त करने वाले, बुद्धि तथा इन्द्रियों को बलवान् बनाने वाले इस रसायन को ब्रह्मा ने बनाया था॥ ४-६॥

तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च। रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा॥ ७॥
स्थिता महर्षयः पूर्वं, नहि किञ्चिद्रसायनम्। ग्राम्याणामन्यकार्याणां सिद्धयत्यप्रयतात्मनाम्॥

संयमपूर्वक रसायन-सेवन से लाभ—प्राचीन काल में वसिष्ठ आदि ऋषिगण इस रसायन का (संयम-नियमपूर्वक) सेवन करने से दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर तपस्या, ब्रह्मचर्य, ध्यान और शान्ति के साथ जीवन-यापन किया। कोई भी रसायन असंयमी, अजितेन्द्रिय, स्त्री आदि के भोग-विलास में लिप्त, अन्यान्य कार्यों में व्यस्त लोगों के लिए फलदायक नहीं होता है॥ ७-८॥

संवत्सरं पयोवृत्तिर्गवां मध्ये वसेत् सदा। सावित्रीं मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी यतेन्द्रियः॥ ९॥
संवत्सरान्ते पौषीं वा माघीं वा फाल्गुनीं तिथिम्। त्र्यहोपवासी शुक्लस्य प्रविश्यामलकीवनम्॥
बृहत्फलाढ्यमारुह्य द्रुमं शाखागतं फलम्। गृहीत्वा पाणिना तिष्ठेज्जपन् ब्रह्मामृतागमात्॥ ११॥
तदा ह्यवश्यममृतं वसत्यामलके क्षणम्। शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्ति मृदूनि च॥ १२॥
भवन्त्यमृतसंयोगात्तानि यावन्ति भक्षयेत्। जीवेद् वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः॥ १३॥
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः। स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा वाक् च रूपिणी॥ १४॥

इति केवलामलकरसायनम्।

केवलामलक रसायन—रसायनार्थी पुरुष एक साल तक मात्र दुग्धपान पर निर्वाह करता हुआ लगातार गायों के बीच में निवास करे और इस अवधि में संयमी, जितेन्द्रिय एवं ब्रह्मचर्य-धारणशील बनकर मन से गायत्री मन्त्र का जप करता रहे। एक वर्ष बीतने के बाद तीन दिन उपवास कर पूष, माघ या फाल्गुन मास की शुक्ल पूर्णिमा तिथि को आँवला के वन में प्रवेश करे। जिस वृक्ष पर अधिक तादाद में उत्तम फल लगे हों, ऐसे वृक्ष पर चढ़कर किसी डाल में लगे फल को हाथ से पकड़कर ॐकार का जप तब तक करता रहे, जब तक कि आँवले में अमृत न चला आये। उस समय क्षणभर के लिए आँवले में अमृत अवश्यमेव आ जाता है। अमृत के संयोग से आँवले के फल चीनी या मधु के समान मधुर, मृदु और चिकने हो जाते हैं। इस तरह के जितने अमृतमय फलों को वह रसायनसेवी व्यक्ति खा लेता है, उतने हजार वर्षों तक वह युवावस्थासम्पन्न होकर जीवित रहता है। यदि वह व्यक्ति अपनी तृप्तिपर्यन्त (भरपेट) आँवलों को खा लेता है, तब तो वह देवताओं के समान अजर-अमर हो जाता है और लक्ष्मी (शोभा एवं धन-सम्पत्ति), वेद (ज्ञानराशि) तथा वाणी रूपिणी सरस्वती उसके पास स्वयं चली आती है॥ ९-१४॥

वक्तव्य—यहाँ पौषी, माघी तथा फाल्गुनी तिथि से इन महीनों की पूर्णिमा लेना ही उचित है, क्योंकि किसी कार्य की पूर्णता के लिए यह तिथि सर्वोत्तम है और इन महीनों में आँवले भी परिपक्व और रसपूर्ण हो जाते हैं। यदि इन शब्दों से पुष्य नक्षत्र वाली, मघा नक्षत्र वाली एवं पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र वाली तिथि का ग्रहण किया जाये, तब भी उक्त कथन संगत है, क्योंकि पुष्य, मघा या पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र पूष, माघ और फाल्गुन की पूर्णिमा को ही पड़ते हैं।

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवां क्षारे च लावणे। क्रमेण चेङ्गुदीक्षारे किंशुकक्षार एव च॥ १५॥

तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्निवर्णानि साधयेत्। चतुरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधतनूनि च॥ १६॥
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च॥ १७॥
युक्तानि लेहवत् कुम्भे स्थितानि घृतभाविते। संवत्सरं निधेयानि यवपल्ले तथैव च॥ १८॥
दद्यादालोडनं मासे सर्वत्रालोडयन् बुधः। संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधुसर्पिषा॥ १९॥
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्। एष एव च लौहानां प्रयोगः सम्प्रकीर्तितः॥ २०॥
नाभिघातैर्न चातङ्कैर्जरया न च मृत्युना। स धृष्यः स्याद् गजप्राणः सदा चातिबलेन्द्रियः॥ २१॥
धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाबलः। भवेत् समां प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम्॥ २२॥
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च। आयुःप्रकर्षकृत् सिद्धः प्रयोगः सर्वरोगनुत्॥ २३॥

इति लौहादिरसायनम्।

लौहादि रसायन—तीक्ष्ण लौह (फौलाद) के चार अंगुल लम्बे और तिलप्रमाण पतले पत्रकों को आग में तपाकर लाल अंगारों जैसा करके उन्हें त्रिफला के क्वाथ में, गोमूत्र में, मालकाँगनी के क्षारोदक में, इंगुदी (हिंगोट) के क्षारोदक में और पलाश के क्षारोदक में क्रमशः बुझाये। जब वे पत्रक अंजन के समान एकदम काले वर्ण के हो जाये, तब उनका बारीक चूर्ण बनाकर, उसमें मधु और आँवले का रस डालकर अवलेह जैसा बनाकर, घृतलिप्त उदर वाले घड़े में रखकर एक वर्ष तक उस घड़े को जौ की राशि में रख दे। प्रतिमास उस घड़े को निकाल कर इस तरह हिलाये कि मधु और आँवलों के रस लौह के साथ मिलकर एकरस हो जायें।

एक वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् जठराग्नि के बल के अनुसार इस रसायन का प्रयोग प्रातःकाल घी और मधु की विषम मात्रा से करना चाहिए। औषध का पाचन हो जाने पर अनुकूल सात्म्य आहार का सेवन करे। सभी प्रकार के लौहों (स्वर्ण-रजत-ताम्र आदि धातुओं) का प्रयोग इसी प्रकार करना चाहिए।

इस लौहादि रसायन का वर्षभर प्रयोग करने वाला व्यक्ति चोट लगने से, रोग से, बुढ़ापे से और मृत्यु से पराजित नहीं होता। वह गजराज की तरह महाप्राण, महाबली और सबल इन्द्रियों वाला होता है। वह बुद्धिमान्, यशस्वी, सिद्ध वाणी वाला (जो कहे वह हो जाय), श्रुतधर (जो सुने वह याद हो जाय) और अतिधनवान् होता है।

इसी विधि से स्वर्ण और चाँदी के भी पत्रक बनाकर उक्त विधि से उसे चूर्ण बनाकर सेवन करने से आयु की वृद्धि होती है और सभी रोग दूर होते हैं॥ १५-२३॥

ऐन्द्री मत्स्याक्षको ब्राह्मी वचा ब्रह्मसुवर्चला। पिप्पल्यो लवणं हेम शङ्खपुष्पी विषं घृतम्॥ २४॥
एषां त्रियवकान् भागान् हेमसर्पिर्विषैर्विना। द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद् विषस्य च॥ २५॥
सर्पिषश्च पलं दद्यात्तदैकध्यं प्रयोजयेत्। घृतप्रभूतं सक्षौद्रं जीर्णे चान्नं प्रशस्यते॥ २६॥
जराव्याधिप्रशमनं स्मृतिमेधाकरं परम्। आयुष्यं पौष्टिकं धन्यं स्वरवर्णप्रसादनम्॥ २७॥
परमोजस्करं चैतत् सिद्धमैन्द्रं रसायनम्। नैनत् प्रसहते कृत्या नालक्ष्मीर्न विषं न रुक्॥ २८॥
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि गुल्माः प्लीहा पुराणो विषमज्वरश्च।
मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाः शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः॥ २९॥

इत्यैन्द्रं रसायनम्।

ऐन्द्र रसायन—इन्द्रवारुणी का मूल, मछेछी, ब्राह्मी, मीठा वच, हुरहुर का मूल, पीपर, सेंधानमक, स्वर्णभस्म, शङ्खपुष्पी, विष तथा गोघृत—इनमें से स्वर्ण, विष एवं घृत को छोड़कर शेष औषधें तीन-तीन यवप्रमाण, स्वर्णभस्म २ यव, विष एक तिल बराबर और घी १ पल के प्रमाण लेकर सबको अच्छी तरह

मिला दे, फिर जठराग्नि के बल के अनुसार इसका सेवन करे। औषध के पच जाने पर घी और मधु विषम मात्रा में मिलाकर भोजन करे।

इस रसायन का सेवन करने से बुढ़ापा और रोग शान्त हो जाते हैं, स्मरणशक्ति और मेधा बढ़ती है। दीर्घ आयु प्राप्त होती है, शरीर पुष्ट होता है, बलवान् होता है, स्वर तथा वर्ण उत्तम होते हैं और यह ओज को बढ़ाता है। यह एक सिद्ध (अनुभूत) रसायन है। इस रसायन का सेवन करने वाला व्यक्ति कृत्या (मारण-उच्चाटन आदि का प्रयोग), अलक्ष्मी (दरिद्रता), विषप्रभाव और रोगजन्य पीड़ा से आक्रान्त नहीं होता। इस रसायन के सेवन से श्वित्र, कुष्ठरोग, उदररोग, गुल्मरोग, प्लीहावृद्धि, पुराना विषमज्वर; मेधा, स्मृति एवं ज्ञान को लुप्त करने वाले उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा आदि मानस विकार और अति उग्ररूप वाले वातरोग शान्त हो जाते हैं॥ २४-२९॥

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः॥ ३०॥
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी॥ ३१॥

इति मेध्यरसायनानि।

चार मेध्य रसायन—(१) मण्डूकपर्णी के स्वरस का प्रयोग करना चाहिए। (२) मुलहठी का चूर्ण दूध के साथ सेवन करे। (३) गुरुच के स्वरस का प्रयोग करना चाहिए। (४) मूल और पुष्प सहित शङ्खपुष्पी को पीसकर सेवन करना चाहिए। ये चारों रसायन दीर्घ आयु देने वाले, रोगों का नाश करने वाले, बल, पाचनशक्ति, वर्ण और कण्ठ के स्वर को उत्तम बनाने वाले एवं मेधा (धारणाशक्ति) को बढ़ाने वाले होते हैं। इनमें शङ्खपुष्पी विशेष रूप से मेधाशक्ति को बढ़ाती है॥ ३०-३१॥

वक्तव्य—इन औषधों का स्वरस १० से २० ग्राम तक मधु के साथ प्रातः-सायं दोनों समय लेना चाहिए। शंखपुष्पी को पीसकर गोदुग्ध के साथ लेना उत्तम है।

पञ्चाष्टौ सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा। रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत्॥ ३२॥
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च। पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः॥
प्रयोज्या मधुसम्मिश्रा रसायनगुणैषिणा। जेतुं कासं क्षयं शोषं श्वासं हिक्कां गलामयान्॥ ३४॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पाण्डुतां विषमज्वरम्। वैस्वर्यं पीनसं शोफं गुल्मं वातबलासकम्॥ ३५॥

इति पिप्पलीरसायनम्।

पिप्पलीरसायन—(यहाँ पिप्पली-सेवन के दो प्रकार कहे गये हैं। दोनों प्रकारों में किसी भी प्रकार को अपनाया जाय, किन्तु कुछ बातें दोनों के लिए सामान्य हैं; जैसे पिप्पली में भावना देकर घी में भूनना तथा सहपान।)

(१) उत्तम प्रकार की पिप्पली लेकर उन्हें पलाशक्षारोदक में (सात बार) भावना देकर सुखाकर घी में भूनकर सुरक्षित रख ले। रसायन गुण का लाभ पाने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (अपनी प्रकृति आदि का विचार कर) ५, ८, ७ या १० पिप्पली का महीन चूर्ण बनाकर मधु और घी के साथ एक वर्ष तक सेवन करे।

(२) (पूर्वोक्त प्रकार से भावित और घृतभर्जित) पिप्पली को ३-३ की संख्या में (कफदोषाधिक्य होने पर) प्रातःकाल, मध्यम वृद्ध दोष हो तो भोजन के पूर्व और अल्प वृद्ध दोष होने पर भोजन के बाद मधु तथा घी के साथ लेना चाहिए।

कास, क्षय, शोष, श्वास, हिक्का, कण्ठरोग, अर्श, ग्रहणीरोग, पाण्डु, विषमज्वर, स्वरभेद, पीनस, शोथ, गुल्म और वातबलासक ज्वर—इन व्याधियों पर विजय पाने के लिए इस पिप्पलीरसायन का प्रयोग करना चाहिए॥ ३२-३५॥

क्रमवृद्धया दशाहानि दशपैप्पलिकं दिनम्। वर्धयेत् पयसा सार्धं तथैवापनयेत् पुनः॥ ३६॥
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा। पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम्॥ ३७॥
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः, शृता मध्यबलैर्नरैः। शीतीकृता ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान्प्रति॥
दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट् प्रकीर्तितः। प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः॥
बृंहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम्। वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम्॥ ४०॥
इति पिप्पलीवर्धमानं रसायनम्।

वर्धमान पिप्पली रसायन—पहले दिन १० पिप्पली पीसकर या चूर्ण बनाकर दूध के साथ प्रयोग करे और दूसरे दिन से क्रमशः प्रतिदिन १० पिप्पली बढ़ाते हुए १० दिन तक दूध के साथ सेवन करे तथा दूध की भी मात्रा बढ़ाता जाय। ११वें दिन से १०-१० पिप्पली प्रतिदिन घटाता जाय। इस प्रकार १००० पिप्पली का प्रयोग इस रसायन में किया जाता है। पिप्पली के पच जाने के पश्चात् दूध और घी के साथ साठी का भात खाना चाहिए। इसका सेवन बलवान् व्यक्ति पीसकर, मध्यबल के व्यक्ति क्वाथ बनाकर और अल्पबल व्यक्ति शीतकषाय बनाकर करे। दोष तथा रोग का विचार कर पिप्पली का प्रयोग करना चाहिए।

पिप्पली के त्रिविध प्रयोग—(१) दश पिप्पली से आरम्भ कर प्रतिदिन १०-१० बढ़ाते हुए एवं पुनः घटाते हुए १००० पिप्पली का प्रयोग करे, यह श्रेष्ठ क्रम है। (२) छः पिप्पली से प्रारम्भ कर क्रमशः प्रतिदिन ६-६ बढ़ाते और पुनः घटाते हुए ६०० पिप्पली का प्रयोग मध्यम कहा गया है। (३) अल्पबल वाले व्यक्ति ३ पिप्पली से शुरू कर प्रतिदिन ३-३ बढ़ाते एवं पुनः घटाते हुए ३०० पिप्पली का प्रयोग करे। यह सबसे लघु प्रयोग होता है।

फलश्रुति—इस वर्धमान पिप्पलीरसायन के सेवन से शरीर में मांस की वृद्धि होती है, स्वर उत्तम होता है, आयु की वृद्धि होती है, प्लीहवृद्धि नष्ट होती है, उदररोग नष्ट होता है, जीवन में स्थिरता आती है और बुद्धि की वृद्धि होती है॥ ३६-४०॥

वक्तव्य—मूल ग्रन्थ में जो तीन प्रकार के क्रम बतलाये गये हैं, उसका अभिप्राय यह है कि बलवान् कफप्रकृति के व्यक्ति के लिए १० पिप्पली वाला क्रम, मध्यम बल वाले वातप्रकृति के व्यक्ति के लिए ६ पिप्पली वाला क्रम और हीन बल वाले पित्तप्रकृति के व्यक्ति के लिए ३ पिप्पली वाला क्रम अपनाना चाहिए तथा प्रथम में १००० पिप्पली, द्वितीय में ६०० पिप्पली एवं तृतीय में ३०० (२८०) पिप्पली का प्रयोग करना चाहिए।

आचार्य गङ्गाधर ने छः पिप्पली के क्रम में १०१४ पिप्पली और तीन पिप्पली के क्रम में १०२६ पिप्पली का प्रयोग करने को कहा है। हर हालत में प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति को किसी भी क्रम से पिप्पली-सेवन करने पर अन्ततोगत्वा १००० की संख्या पूरी करने का निर्देश दिया है।

पिप्पली वर्धमान में पिप्पली की प्रत्येक क्रमवृद्धि पर ५० ग्राम दूध बढ़ाते जाना चाहिए अर्थात् यदि १० पिप्पली के साथ ५०० ग्राम दूध लिया जाय, तो २० पिप्पली के साथ ५५० ग्राम। इसी तरह दूध की मात्रा भी बढ़ाये और पिप्पली घटाने पर दूध भी घटाता जाये।

वर्धमानपिप्पली क्रमबोधक सारणी

सारणी (१)

दिन	संख्या	दिन	संख्या
वृद्धिक्रम (उत्कर्ष)		ह्रासक्रम (अपकर्ष)	
१ले	१०	११वें	९०
२रे	२०	१२वें	८०
३रे	३०	१३वें	७०
४थे	४०	१४वें	६०
५वें	५०	१५वें	५०
६ठे	६०	१६वें	४०
७वें	७०	१७वें	३०
८वें	८०	१८वें	२०
९वें	९०	१९वें	९०
१०वें	१००		४५०
	५५०		

इस प्रकार उत्कर्ष में ५५० तथा अपकर्ष में ४५० पिप्पली प्रयुक्त होती है और दोनों का योग ५५० + ४५० = १००० पिप्पली का प्रयोग होता है। इसमें कुल उन्नीस दिन लगते हैं।

सारणी (२)

दिन	संख्या	दिन	संख्या
वृद्धिक्रम (उत्कर्ष)		ह्रासक्रम (अपकर्ष)	
१ले	६	१४वें	७२
२रे	१२	१५वें	६६
३रे	१८	१६वें	६०
४थे	२४	१७वें	५४
५वें	३०	१८वें	४८
६ठे	३६	१९वें	४२
७वें	४२	२०वें	३६
८वें	४८	२१वें	३०
९वें	५४	२२वें	२४
१०वें	६०	२३वें	१८
११वें	६६	२४वें	१२
१२वें	७२	२५वें	६
१३वें	७८		४६८
	५४६		

इस प्रकार मध्यम क्रम (६ पिप्पली वाले) प्रयोग में पच्चीस दिन में ५४६ + ४६८ = १०१४ पिप्पली का प्रयोग होता है।

सारणी (३)

वृद्धिक्रम				ह्रासक्रम			
दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या	दिन	संख्या
१ले	३	१०वें	३०	१९वें	५४	२८वें	२७
२रे	६	११वें	३३	२०वें	५१	२९वें	२४
३रे	९	१२वें	३६	२१वें	४८	३०वें	२१
४थे	१२	१३वें	३९	२२वें	४५	३१वें	१८
५वें	१५	१४वें	४२	२३वें	४२	३२वें	१५
६ठे	१८	१५वें	४५	२४वें	३९	३३वें	१२
७वें	२१	१६वें	४८	२५वें	३६	३४वें	९
८वें	२४	१७वें	५१	२६वें	३३	३५वें	६
९वें	२७	१८वें	५४	२७वें	३०	३६वें	३
			५१३				५१३

इस प्रकार कनिष्ठ (३ पिप्पली वाले) क्रम में छत्तीस दिन में ५१३ + ५१३ = १०२६ पिप्पली का प्रयोग होता है। यद्यपि इसमें २६ पिप्पली अधिक है, फिर भी १ हजार पिप्पलियों के सात्म्य हो जाने पर यह संख्या कोई विशेष नहीं है।

जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ताद् द्वे बिभीतके। भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि च॥
प्रयोजयन् समामेकां त्रिफलाया रसायनम्। जीवेद् वर्षशतं पूर्णमजरोऽव्याधिरेव च॥ ४२॥
इति त्रिफलारसायनम्।

त्रिफला रसायन (१)—पूर्वकृत आहार के पच जाने पर (प्रातःकाल) १ हर्रे का चूर्ण, भोजन करने के पूर्व २ बहेड़े का चूर्ण और भोजन करने के बाद ४ आँवले का चूर्ण मधु और घी से सेवन करे। इस त्रिफला रसायन का एक वर्ष तक प्रयोग करने वाला पुरुष एक सौ वर्ष तक वृद्धावस्था और रोग से मुक्त होकर जीवित रहता है॥ ४१-४२॥

त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेन्नवाम्। तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत् क्षौद्रोदकाप्लुतम्॥ ४३॥
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते। अजरोऽरुक् समाभ्यासाज्जीवेच्चैव समाः शतम्॥ ४४॥

त्रिफला रसायन (२)—नई लोहे की कड़ाही लेकर उसके भीतर चटनी की तरह पिसे हुए त्रिफलाकल्प का लेप करे और उसे एक दिन-रात (२४ घण्टे तक) पड़ा रहने दे। फिर उसे कड़ाही से उतार कर उचित मात्रा (६ से १२ ग्राम तक) में मधु के शर्बत में घोलकर पी जाये। औषध पच जाने पर पर्याप्त घृत आदि स्नेह पदार्थों के साथ (अगहनी या साठी का भात आदि) भोजन करे। एक वर्ष तक इस रसायन के अभ्यास से मनुष्य वृद्धावस्था तथा रोग से रहित होकर एक सौ वर्ष तक जीवित रहता है॥ ४३-४४॥

मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा। त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम्॥ ४५॥

त्रिफला रसायन (३)—त्रिफलाचूर्ण को मुलहठी, वंशलोचन, पीपर, मधु, घी और मिश्री के साथ १ वर्ष तक प्रयोग करना सिद्ध (अनुभूत या परीक्षित) रसायन है॥ ४५॥

सर्वलोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा। विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च॥ ४६॥
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा। भवत्यायुःप्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी॥ ४७॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्।

त्रिफला रसायन (४)—त्रिफलाचूर्ण सभी धातुओं की भस्मों के साथ, स्वर्णभस्म, मीठा वच, मधु, घी, वायविडंग, पीपर और सेंधानमक के साथ एक वर्ष तक प्रयोग में लाने से मेधा, स्मृति तथा बल की वृद्धि होती है। यह त्रिफला रसायन स्वास्थ्यवर्धक, दीर्घायु बनाने वाला और बुढ़ापा के दोष तथा रोगों को नष्ट करता है॥ ४६-४७॥

वक्तव्य—इस योग को आचार्य गंगाधर ने एक न मानकर छः माना है—(१) सभी धातुभस्मों के साथ, (२) सुवर्णभस्म के साथ, (३) वच के साथ, (४) पीपर के साथ, (५) वायविडंग के साथ और (६) लवण के साथ त्रिफलाचूर्ण का सेवन करना चाहिए।

'भागेऽनुक्ते समं ग्राह्यम्' के अनुसार यहाँ सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेना चाहिए। जैसे—आँवला १० ग्राम, बहेड़ा १० ग्राम, हर्रे १० ग्राम, सभी धातुओं (१. सोना, २. चाँदी, ३. ताँबा, ४. राँगा, ५. सीसा, ६. जस्ता और ७. लोहा) की भस्में समान भाग में सम्मिलित १० ग्राम, स्वर्णभस्म १० ग्राम, वचाचूर्ण १० ग्राम, वायविडंग १० ग्राम तथा पीपर १० ग्राम लेकर सबको घोंटकर मिलाकर सुरक्षित रख लें। इसकी २-३ रत्ती मात्रा होनी चाहिए।

अनम्लं च कषायं च कटु पाके शिलाजतु। नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य सम्भवः॥४८॥
हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरात् कृष्णायसादपि। रसायनं तद्विधिभिस्तद्वृष्यं तच्च रोगनुत्॥ ४९॥

शिलाजतु के गुण—शिलाजीत किञ्चित् अम्लरसयुक्त, कषायरसप्रधान, विपाक में कटु, न अधिक उष्ण, न अधिक शीत (मातदिल) अपितु समशीतोष्ण होता है। इसकी उत्पत्ति सोना से, चाँदी से, ताँबा

से और कृष्णलोह से होती है। विधिपूर्वक सेवन करने पर यह वाजीकरण तथा रोगनाशक होता है॥ ४८-४९॥

वक्तव्य—शिलाजीत पर्वत की चट्टानों से स्रवित होता है। जब ग्रीष्म ऋतु में तीव्र धूप होती है तो चट्टानें सन्तप्त होती हैं और उनसे काला-काला स्राव बहने लगता है, फिर वह जम जाता है। वही शिलाजीत कहलाता है। पर्वत की चट्टानों में जिन धातुओं का अंश होता है, तदनुसार उन-उन धातुओं से अंशतः सम्पृक्त रहने से उनसे शिलाजीत का उद्भव बतलाया जाता है।

वातपित्तकफघ्नैश्च निर्यूहैस्तत् सुभावितम्। वीर्योत्कर्षं परं याति सर्वैरेकैकशोऽपि वा॥ ५०॥
प्रक्षिप्योद्धृतमप्येनत् पुनस्तत् प्रक्षिपेद् रसे। कोष्णे सप्ताहमेतेन विधिना तस्य भावना॥ ५१॥
पूर्वोक्तेन विधानेन लोहैश्चूर्णीकृतैः सह। तत् पीतं पयसा दद्याद्दीर्घमायुः सुखान्वितम्॥ ५२॥
जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम्। मेधास्मृतिकरं धन्यं क्षीराशी तत् प्रयोजयेत्॥ ५३॥

शिलाजीत की भावना—शिलाजीत को वातघ्न, पित्तघ्न एवं कफघ्न गण की समस्त औषधों के क्वाथ से अथवा उन गणों की एक-एक औषध के क्वाथ से अच्छी प्रकार से भावना देने से वह और अधिक कार्य करने वाला तथा शक्तिशाली हो जाता है।

भावना देने का प्रकार—शिलाजीत में वातघ्न आदि गण की औषधों का हलका गरम क्वाथ डाले और उस क्वाथ के सूख जाने पर फिर उसमें क्वाथ डाले। इस प्रकार सात दिन में सात भावनाएँ देनी चाहिए।

भावित शिलाजीत के गुण—पूर्वोक्त प्रकार से भावना दिये गये शिलाजीत का चूर्ण बना ले और लौह आदि धातुओं की भस्मों के साथ सेवन करे। यह शिलाजीत आरोग्यमय दीर्घायु प्रदान करता है। यह वार्धक्य तथा रोगों को दूर करता है, शरीर को सुदृढ़ बनाता है, मेधा और स्मृति को बढ़ाकर उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करता है। इसके प्रयोग काल में दूध को प्रधान आहार रखना चाहिए॥ ५०-५३॥

वक्तव्य—शिलाजीत का सावधानी से शोधन करना चाहिए और उसके बाद उसमें भावना देनी चाहिए। सबसे पूर्व उसे स्वच्छ जल से धोना चाहिए। फिर उसे त्रिफला क्वाथ समान भाग और दूने गरम जल में डालकर धीमी आँच पर गरम कर पिघला दे और सब घुल जाने पर निथरने के लिए चूल्हे से उतार कर नीचे सुरक्षित रख दे। शीतल होने पर ऊपर जमे मलाई जैसे भाग को अलग कर ले और नीचे बैठे कंकड़ आदि फेंक दे। पुनः निथरे हुए द्रव को गरम कर गाढ़ा कर ले। इस प्रकार शिलाजीत शुद्ध हो जाता है। इसी तरह अशुद्ध शिलाजीत के छोटे-छोटे कण के रूप में चूर्ण बनाकर द्विगुण जल में डाल दे, जिससे शिलाजीत घुल जायेगा और उसकी अशुद्धि नीचे बैठ जायेगी। इस प्रक्रिया से शिलाजीत का घोल बनाकर बार-बार उसे निथार कर छानकर मैल निकाल दिया करे और यह क्रिया तब तक करे जब तक शिलाजीत के घोल में नीचे तल में कोई अपद्रव्य मिलता रहे। जब शिलाजीत की सारी अशुद्धि निकल जाये, तब उसे सुखाकर रख ले। हर बार गरम जल डालकर उसे धूप में रखे और मलाई जमने पर कपड़े से छान लिया करे।

भावना—शिलाजीत के समान वजन में क्वाथ-द्रव्य लेकर उसे आठ गुना जल में काढ़ा बनाये। जब आठवाँ भाग बच जाय तब उसे छान ले और उस क्वाथ से शिलाजीत में भावना दे और उसे घोट कर धूप में सुखा ले। सूख जाने पर पुनः पूर्ववत् भावना दे। इस प्रकार सात बार भावना[1] देनी चाहिए।

शिलाजीत के शोधन, भावना आदि के विशेष ज्ञान के लिए रसशास्त्र के ग्रन्थों को देखना चाहिए।

---

१. 'सप्तगिरिजमष्टगुणिते निष्क्वाथ्य भावनौषधं तोये। तन्निर्यूहेऽष्टांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम्॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद् रसे भूयः। स्वैः स्वैरेव क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत् सप्त॥'
(अ. सं. उ. ४९)

शिलाजीत रसायन

शुद्ध शिलाजीत की पहचान[1]—अंगारे पर डालने पर शिलाजीत से धुआँ नहीं निकलता है और वह ऊपर की ओर लिङ्गाकार हो जाता है। तिनके से जल में डालने पर वह नीचे जाकर गलता है और डोरे जैसे तन्तु छोड़ता है।

प्रयोगः सप्तसप्ताहास्त्रयश्चैकश्च सप्तकः। निर्दिष्टस्त्रिविधस्तस्य परो मध्योऽवरस्तथा॥५४॥

शिलाजीत की प्रयोग-विधि—शिलाजीत का प्रयोग तीन प्रकार का होता है—१. पर, २. मध्य तथा ३. अवर। **पर**—बिना व्यवधान के सात सप्ताह तक प्रयोग करना 'पर' है। **मध्य**—लगातार तीन सप्ताह तक प्रयोग करना 'मध्य' कहलाता है। **अवर**—एक सप्ताह तक लगातार प्रयोग करना 'अवर' (न्यूनतम) है॥५४॥

वक्तव्य—यहाँ तीन प्रकार के प्रयोग बतलाने का तात्पर्य यह है कि बलवान् तथा बहुदोष व्यक्ति सात सप्ताह, मध्यबल एवं मध्यदोष व्यक्ति तीन सप्ताह और अल्पबल एवं अल्पदोष व्यक्ति एक सप्ताह तक शिलाजीत का सेवन करे।

पलमर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता।

शिलाजीत की मात्रा—शिलाजीत के प्रयोग की तीन तरह की मात्रा है, जिसमें १ पल की (प्रवर), ½ आधे पल की (मध्य) और १ कर्ष (अवर) की मात्रा है।

वक्तव्य—यह मात्रा प्राचीनकालीन महाबली पुरुषों की है, वर्तमान में शिलाजीत की मात्रा १ ग्राम प्रवर, ½ ग्राम मध्य और ¼ ग्राम न्यूनतम समझना चाहिए।

जातेर्विशेषं सविधिं तस्य वक्ष्याम्यतः परम्॥५५॥

हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः। जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं यन्मलं तच्छिलाजतु॥५६॥

शिलाजीत की उत्पत्ति और स्वरूप—अब आगे शिलाजीत के प्रकार और उनकी प्रयोगविधि का वर्णन करेंगे। स्वर्ण आदि पर्वत की धातुमय चट्टानों की धातुएँ सूर्य की धूप से सन्तप्त होकर लाक्षा के समान एवं कोमल मिट्टी के समान जिस चिकने मल का स्राव करती है, उसे 'शिलाजीत' कहते हैं॥५५-५६॥

मधुरश्च सतिक्तश्च जपापुष्पनिभश्च यः। कटुर्विपाके शीतश्च स सुवर्णस्य निस्रवः॥५७॥

सुवर्णशिलानिःसृत शिलाजीत—स्वर्णशिला से निकला हुआ शिलाजीत रस में मधुर एवं तिक्त, वर्ण में अड़हुल के फूल के समान, विपाक में कटु और शीतवीर्य होता है॥५७॥

रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीतः स्वादु विपच्यते। ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णः पच्यते कटु॥

रजतशिलानिःसृत शिलाजीत—चाँदी की शिला से निकला हुआ शिलाजीत रस में कटु, वर्ण में श्वेत, वीर्य में शीत और विपाक में मधुर होता है।

ताम्रशिलानिःसृत शिलाजीत—ताम्र की शिला से निकला हुआ शिलाजीत वर्ण में मयूर के कण्ठ के समान नीला, रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण और कटुविपाकी होता है॥५८॥

यस्तु गुग्गुलुकाभासस्तिक्तको लवणान्वितः। कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः॥५९॥

लौहशिलानिःसृत शिलाजीत—लोहयुक्त शिला से निकला शिलाजीत रंग में गुग्गुल के समान कृष्ण, रस में तिक्त एवं नमकीन, विपाक में कटु और शीतवीर्य होता है एवं यह सर्वश्रेष्ठ शिलाजीत होता है॥५९॥

---

१. 'वह्नौ क्षिप्तं तु निर्धूमं पक्वं लिङ्गोपमं भवेत्। तृणाग्रेणाम्भसि क्षिप्तमधो गलति तन्तुवत्'॥ (प्रकीर्ण)

शिलाजतु प्रकार एवं गुणधर्मबोधक सारणी

प्रकार	वर्ण	रस	वीर्य	विपाक
सुवर्ण शिलाजीत	रक्ताभ	मधुर-तिक्त	शीत	कटु
रजत शिलाजीत	श्वेताभ	कटु	शीत	स्वादु
ताम्र शिलाजीत	मयूरकण्ठाभ	तिक्त	उष्ण	कटु
लौह शिलाजीत	कृष्ण	तिक्त-लवण	शीत	कटु

गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु यौगिकाः। रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते॥६०॥
यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु। विशेषतः प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः॥६१॥

शिलाजतु सर्वकर्मकर—सामान्यतः सभी प्रकार के शिलाजीत गोमूत्र जैसे गन्ध वाले होते हैं और वे सभी तरह के विकारों को दूर करने में उपयुक्त होते हैं। रसायन की दृष्टि से प्रयोग करने के लिए लौह शिलाजतु सर्वोत्तम है।

दोषानुसार शिलाजीत के गुण-कर्म—स्वर्णादि धातुशिलाओं से उत्पन्न शिलाजीतों में क्रमशः वात-पित्तज विकारों में स्वर्ण-शिलाजीत, कफ-पित्तज विकारों में रजत-शिलाजीत, कफज विकारों में ताम्र-शिलाजीत और त्रिदोषज विकारों में लौह-शिलाजीत अधिक लाभकर होता है॥६०-६१॥

शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च। वर्जयेत् सर्वकालं तु कुलत्थान् परिवर्जयेत्॥६२॥
ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वादश्मनो भेदनाः परम्। लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते॥६३॥

शिलाजतु-सेवन में अपथ्य—शिलाजीत का सेवन करने वाला व्यक्ति विदाह उत्पन्न करने वाले और पचने में भारी पदार्थों का सेवन न करे। कुलथी का प्रयोग तो सदा के लिए छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वह पत्थर को भी तोड़ देने वाला होता है और शिलाजीत पत्थर का ही स्राव है। लोक में यह देखा गया है कि कुलथी के क्वाथ से पत्थर टूटता है (इसलिए यह आशङ्का है कि शरीर में जाकर कुलथी शिलाजीत के प्रभाव को नष्ट कर सकती है) अतः उसका प्रयोग सर्वथा मना किया जाता है॥६२-६३॥

वक्तव्य—यह देखा जाता है कि पत्थर काटने का काम करने वाले कुलथी के काढ़ा के जल को पत्थरों पर डालकर भिगोने के बाद पत्थर काटते हैं, जिससे पत्थर कटता जाता है, अतः कुलथी में पत्थर काटने का गुण स्पष्टतः देखा जाता है। मूल ग्रन्थ में 'सर्वकाल' कुलथी के प्रयोग का निषेध कहा है, जिसकी व्याख्या में चक्रपाणि ने कहा है कि जब तक शिलाजीत-सेवन का लाभ शरीर में उपस्थित रहे, तब तक कुलथी का सेवन नहीं करना चाहिए। कुछ आचार्य यावज्जीवन कुलथी छोड़ने को कहते हैं। अन्यत्र जितने दिनों तक शिलाजीत का सेवन किया जाय उसके दूने दिनों तक कुलथी का प्रयोग वर्जित कहा है। यह वाग्भट का मत है। कुछ का मत है कि शिलाजीत-सेवन के बाद एक वर्ष तक कुलथी न खाये।

पयांसि तक्राणि रसाः सयूषास्तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्तास्ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम्॥६४॥

शिलाजीत को घोलने योग्य द्रव—रोग, दोष, रोगी की प्रकृति आदि का तथा प्रयोजन का विचार कर शिलाजीत को दूध, तक्र, मांसरस, यूष, जल, गोमूत्र और अनेक प्रकार के क्वाथों में घोलकर प्रयोग करना चाहिए॥६४॥

वक्तव्य—वाग्भटाचार्य[1] ने ज्वर में नागरमोथा और पित्तपापड़ा के क्वाथ में, रक्तपित्त में मुलहठी के क्वाथ में, क्षयरोग में मांसाहारी जीवों के मांसरस में, कृशता में दूध में, स्थूलता में मधु के शर्बत में,

उन्माद-अपस्मार आदि मनोविकारों में दूध में, पाण्डुरोग, उदररोग और शोथ में भैंस के मूत्र में, अश्मरी में वीरतर्वादि गण के क्वाथ में, कुष्ठ में खदिरक्वाथ में और विषविकार में विषघ्न औषधों के क्वाथ में शिलाजीत का प्रयोग करने के लिए कहा है।

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः शिलाह्वयं यं न जयेत् प्रसह्य।
तत्कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति॥ ६५॥

इति शिलाजतुरसायनम्।

शिलाजीत सर्वरोगनाशक—इस भूतल पर कोई भी साध्य स्थिति का ऐसा रोग नहीं है, जिसे शिलाजीत अपनी शक्ति से हठात् ठीक न कर दे। शिलाजीत उन-उन अवस्थाओं में उपयुक्त औषध-योगों के साथ शास्त्रविहित विधि-विधान से प्रयुक्त होने पर सर्वविध व्याधियों का निर्मूलन करता है और स्वस्थ व्यक्ति को अत्यन्त बल देता है (यह शिलाजतु रसायन है)॥ ६५॥

तत्र श्लोकः—

करप्रचितिके पादे दश षट् च महर्षिणा। रसायनानां सिद्धानां संयोगाः समुदाहृताः॥ ६६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये
करप्रचितीयो नाम रसायनपादस्तृतीयः॥ ३॥

उपसंहार—महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने इस करप्रचितीय रसायनाध्याय के पाद में १६ सिद्ध (अनुभूत) रसायन-योगों का वर्णन किया है॥ ६६॥

१६ रसायनबोधक सारणी

१. आमलकायस ब्राह्मरसायन	७. गुड्ची मेध्य रसायन	१३. त्रिफला रसायन (२)
२. केवलामलक रसायन	८. शंखपुष्पी मेध्य रसायन	१४. त्रिफला रसायन (३)
३. लौहादि रसायन	९. पिप्पली रसायन (१)	१५. त्रिफला रसायन (४)
४. ऐन्द्र रसायन	१०. पिप्पली रसायन (२)	१६. शिलाजतु रसायन
५. मण्डूकपर्णी मेध्य रसायन	११. पिप्पली वर्धमान रसायन	
६. यष्टीमधु मेध्य रसायन	१२. त्रिफला रसायन (१)	

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के रसायनाध्याय में 'करप्रचितीय' नामक रसायन-विषयक तृतीय पाद समाप्त हुआ॥ ३॥

१. 'ज्वरी ज्वरघ्नाम्बुदपर्पटादेः क्वाथेन रक्ती मधुयष्टिकायाः।
शोषी रसैः क्रव्यभुगामिषोत्थैर्मायूरमांसैः पयसा च काश्र्ये॥
मध्वम्बुना मेदसि सम्प्रवृद्धे क्षीरेण पर्याकुलबुद्धिसत्त्वः।
पाण्ड्वामयार्त्तावुदरे सशोफे पिबेच्छिलाजं महिषीजलेन॥
अश्म वीरतराद्येन कुष्ठं खदिरवारिणा। विषं विषघ्नैरगदैर्हन्त्येवं तद्यथामयम्'॥
(अ. सं. उ. ४९)

रसायनाध्याये चतुर्थः पादः

अथात आयुर्वेदसमुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'आयुर्वेदसमुत्थानीय' नामक रसायनपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्व-किन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधि-प्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवा-सितगौतमप्रभृतयो महर्षयः॥ ३॥

ऋषियों का हिमालय-गमन—प्राचीन काल में कभी गृहों में आराम से रहने वाले और भ्रमणशील यायावर ऋषि ग्रामीण औषधों एवं अन्नों का आहार करने के कारण सम्पन्न और मेदस्वी हो जाने से आलसी हो गये तथा रोगाक्रान्त होकर दुःखी जीवन व्यतीत करने लगे। वे ऋषि अपने सभी तरह के आवश्यक कर्तव्यों के पालन में असमर्थ हो गये और उन लोगों ने यह अनुभव किया कि ये सभी दोष ग्राम्यवास के ही कारण उत्पन्न हुए हैं। उन्हें यह प्रतीत हुआ कि हमारा पूर्वकालीन निवासस्थान ग्रामीण-क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले सभी विकारों से मुक्त है। वह कल्याणकारी है, पवित्र है, उदार है, मेधा को बढ़ाने वाला है, वहाँ पापी और अधार्मिक नहीं पहुँच सकते हैं। उस स्थान से गङ्गा की धारा प्रवाहित होती है। वहाँ देवता, गन्धर्व, किन्नर लोग विचरण करते हैं, वहाँ अनेक रत्नों की खानें हैं। उसका प्रभाव अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य और अद्भुत है। वहाँ ब्रह्मर्षि, सिद्ध तथा चारणजन रहते हैं। वहाँ दिव्य तीर्थ है, वहाँ दिव्य औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। वह शरणागत जनों का संरक्षक है और देवाधिराज इन्द्र उस स्थान की रक्षा करते हैं। इस तरह के रमणीय हिमगिरि पर भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि ऋषिगण पुनः चले गये॥ ३॥

तानिन्द्रः सहस्रदृगमरगुरुरब्रवीत्—स्वागतं ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणाम्। अस्ति ननु वो ग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च; ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानां, तत्कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानां, स्वशरीरमवेक्षितुं कालः कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य ब्रह्मर्षीणाम्; आत्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां, प्रजापतिरश्विभ्यां, प्रजापतये ब्रह्मा, प्रजानामल्पमायुर्जराव्याधिबहुलमसुखमसुखानुबन्धमल्पत्वादल्पतपोदमनियमदाना-ध्ययनसञ्चयं मत्वा पुण्यतममायुःप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हताथोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं ब्रह्म च प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्म-नश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति॥ ४॥

इन्द्र द्वारा ऋषियों को आयुर्वेद का उपदेश—(देवराज के समीप जाने पर) अमर गुरु सहस्रनेत्र इन्द्र ने उन ऋषियों से कहा—ब्रह्मज्ञानी, ज्ञान और तपश्चरण के धनी आप ब्रह्मर्षियों का स्वागत है। आप लोगों में ग्राम्य वास से अनेक दुःख उत्पन्न हो गये हैं और उन दुःखों का सिलसिला चल रहा है। आपका मन ग्लानि से भरा हुआ है, शरीर निस्तेज हो गया है, स्वर विकृत हो गया है और वर्ण विकृत हो गया है। ग्राम्यवास सभी तरह के अशुभ दुःखों का मूल है।

आप सब पुण्य कर्म करने वाले हैं, आप लोगों ने प्रजाजनों पर बड़ी कृपा की है (कि सुरम्य हिमालय का आवास छोड़कर इन्हें धर्मोपदेश देने के लिए ग्रामों में पधारे)। अब (जब कि आप सब अपनी दिनचर्या के निर्वाह में ही असमर्थ हैं, तब) अपने शरीर की देखभाल करने का समय आ गया है और ब्रह्मर्षियों को आयुर्वेद का उपदेश देने का यह उपयुक्त समय है।

अपने और प्रजाजनों के कल्याणार्थ अश्विनीकुमारों ने मुझे आयुर्वेद का उपदेश दिया था। अश्विनीकुमारों को प्रजापति ने और प्रजापति को ब्रह्मा ने आयुर्वेद का उपदेश दिया था। प्रजाजनों की आयु अल्प होती है, उसमें भी बुढ़ापा और रोग लगे रहते हैं, वे दुःखी रहते हैं और दुःखों की परम्परा चलती रहती है, जिसके कारण तपस्या, दम, नियम, दान और अध्ययन—इनका संचय या पालन भी थोड़ा ही हो पाता है, ऐसा विचार कर आप लोगों को पुण्यतम (चारों पुरुषार्थों—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधक) दीर्घायु-प्रदाता, वार्धक्य एवं व्याधि को शान्त करने वाले, शक्तिवर्धक, अमृत के समान जीवनदाता, कल्याणकारी, शरणागत के प्रतिपालक और उदार आयुर्वेद के उपदेश को सुनना चाहिए। उसका चिन्तन-मनन तथा धारण करना चाहिए। प्रजाजनों पर अनुग्रह करने के लिए उनके प्रति मैत्रीभाव तथा कारुण्यभाव रखते हुए और अपने कल्याण के लिए इस आर्ष ज्ञान, विज्ञान, सर्वोत्तम पुण्यमय, उदार एवं शाश्वत ब्राह्य कर्म के प्रकाशन और विस्तार के लिए सन्नद्ध रहना चाहिए॥ ४॥

तच्छ्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्व एवामरवरमृग्भिस्तुष्टुवुः, प्रहृष्टाश्च तद्वचनमभिननन्दुश्चेति॥ ५॥

ऋषियों द्वारा इन्द्र की प्रशस्ति—देवराज के उस वचन को सुनकर सभी ऋषि हर्षातिरेक से पुलकित हो गये और ऋचाओं के गान से देवेन्द्र की स्तुति करने लगे एवं उनके प्रवचन का अभिनन्दन किये॥ ५॥

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिभ्यः संक्रम्योवाच—एतत् सर्वमनुष्ठेयम्, अयं च शिवः कालो रसायनानां, दिव्याश्चौषधयो हिमवत्प्रभवाः प्राप्तवीर्याः; तद्यथा—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या, क्षीरपुष्पी, श्रावणी, महाश्रावणी, शतावरी, विदारी, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला, स्थिरा, वचा, छत्रा, अतिच्छत्रा, मेदा, महामेदा, जीवनीयाश्चान्याः पयसा प्रयुक्ताः षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसम्पदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावानावहन्ति सिद्धाः॥ ६॥

इतीन्द्रोक्तं रसायनम्।

इन्द्रोक्त रसायन—आयुर्वेदाध्ययन के लिए उद्बोधित करने के बाद इन्द्र ने उन ऋषियों को आयुर्वेदामृत का उपदेश दिया और कहा कि आप लोगों को आयुर्वेद में कहे गये नियमों का यथावत् पालन करना चाहिए। रसायनयोगों के सेवन का यह उत्तम कल्याणकारी समय है। हिमालय में उत्पन्न होने वाली दिव्य औषधियाँ इस समय वीर्यसम्पन्न हैं। जैसे—ऐन्द्री (ब्रह्मसुवर्चला), ब्राह्मी, पयस्या (क्षीरकाकोली), क्षीरपुष्पी (अपराजिता), गोरखमुण्डी छोटी, गोरखमुण्डी बड़ी, शतावरी, विदारीकन्द, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला (गंगेरन), शालिपर्णी, वच, छत्रा, अतिछत्रा, मेदा, महामेदा और जीवनीय गण (जीवक-ऋषभक-मेदा-

महामेदा-काकोली-क्षीरकाकोली-ऋद्धि-वृद्धि और माषपर्णी) की अन्य औषधें वीर्यसम्पन्न हैं। इन औषधों का दूध के साथ छः महीने तक प्रयोग करने से सिद्ध जितेन्द्रिय व्यक्ति दीर्घ आयु, तरुणावस्था, उत्तम स्वर, उत्तम वर्ण, शरीर की वृद्धि, मेधा, स्मरणशक्ति, उत्तम बल और इच्छानुसार वाञ्छित वस्तुओं को प्राप्त करते हैं॥ ६॥

ब्रह्मसुवर्चला नामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा, आदित्यपर्णी नामौषधिर्या 'सूर्यकान्ता' इति विज्ञायते सुवर्णक्षीरा सूर्यमण्डलाकारपुष्पा च, नारी नामौषधिः 'अश्वबला' इति विज्ञायते या बल्वजसदृशपत्रा, काष्ठगोधा नामौषधिर्गोधाकारा, सर्पा नामौषधिः सर्पाकारा, सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्वा स सोम इव हीयते वर्धते च, पद्मा नामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च, अजा नामौषधिः 'अजशृङ्गी' इति विज्ञायते, नीला नामौषधिस्तु नीलक्षीरा नीलपुष्पा लताप्रतानबहुलेति; आसामोषधीनां यां यामेवोपलभेत तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभावितायामार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत, तत्र प्रलीयते, षण्मासेन पुनः सम्भवति, तस्याजं पयः प्रत्यवस्थापनं; षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृतिबलप्रभाभिः, स्वयं चास्य सर्ववाचोगतानि प्रादुर्भवन्ति, दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं च भवति, गतिर्योजनसहस्रं, दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति॥ ७॥

द्रोणीप्रावेशिक रसायन—(१) 'ब्रह्मसुवर्चला' नाम की औषधि है, जिसका दूध सोने के समान पीला होता है और उसके पत्ते कमल के समान होते हैं। (२) 'आदित्यपर्णी' नाम की औषध है, जिसे सूर्यकान्ता के रूप में जाना जाता है। इसका दूध सुवर्ण के समान रंग का होता है और फूल सूर्यमण्डल के समान आकार वाला होता है। (३) 'नारी' नाम की औषध होती है, जिसे अश्वबला नाम से जाना जाता है, उसके पत्ते घास के समान होते हैं। (४) 'काष्ठगोधा' नाम की औषध गोह के समान होती है। (५) 'सर्पा' नाम की औषध सर्प के आकार की होती है। (६) 'सोम' नाम की औषध सर्वोत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न होने से औषधों का राजा है, उसमें पन्द्रह पर्व (गाँठें) होते हैं, वह चन्द्रमा की तरह घटती-बढ़ती है। (७) 'पद्मा' नाम की औषध कमल के आकार की होती है, वह कमल के समान लाल और कमल के समान गन्ध वाली होती है। (८) 'अजा' नाम की औषध को अजशृंगी (काकड़ासींगी) के नाम से जाना जाता है। (९) 'नीला' नाम की औषध का दूध नीला होता है, फूल भी नीला होता है और उसकी लता विस्तार के साथ फैलने वाली होती है।

इन औषधों में से जो-जो उपलब्ध हो, लेकर उनका स्वरस निकाल कर इच्छानुसार तृप्ति-पर्यन्त पीना चाहिए। फिर पलाश की गीली लकड़ी से बनाई गयी ढक्कनदार (छोटी पुरुष-प्रमाण नौका) द्रोणी के भीतर घी चुपड़ कर उसमें वस्त्रविहीन होकर सो जाये और ढक्कन बन्द कर दे। वह पुरुष उस द्रोणी में बेहोश हो जाता है और छः महीने के बाद उसे होश हो जाता है। उसके बलाधान के लिए बकरी का दूध उत्तम पथ्य है। छः महीने बाद वह पुरुष देवताओं जैसी आयु, वर्ण, स्वर, आकृति, बल और कान्ति प्राप्त कर लेता है। उसे स्वयमेव सभी विद्याओं का ज्ञान हो जाता है। उसे दिव्य दृष्टि और दिव्य श्रोत्र प्राप्त होते हैं। वह हजार योजन तक (चार सौ कोस) पैदल चलने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। बिना किसी उपद्रव के वह दश हजार वर्ष तक जीवित रहता है॥ ७॥

भवन्ति चात्र—

दिव्यानामोषधीनां यः प्रभावः स भवद्विधैः। शक्यः सोढुमशक्यस्तु स्यात् सोढुमकृतात्मभिः॥

ओषधीनां प्रभावेण तिष्ठतां स्वे च कर्मणि। भवतां निखिलं श्रेयः सर्वमेवोपपत्स्यते॥ ९॥
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः। शक्या ओषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः॥ १०॥

दिव्य औषधों के सेवन के अधिकारी—इन दिव्य औषधों का जो उत्कृष्ट प्रभाव है, उसे आप जैसे जितेन्द्रिय संयतात्मा महर्षि ही सहन कर सकते हैं। जो विषयलोलुप, अजितेन्द्रिय एवं असंयतात्मा होते हैं, वे इनके प्रभाव को सहन करने में असमर्थ होते हैं।

इन्द्र का महर्षियों को निर्देश—हे महर्षिगण! आप लोग अपने तपश्चरण, जप, ध्यान, समाधि आदि नियत कर्मों में लगे रहकर इन दिव्य औषधों के प्रभाव से सर्वविध कल्याण प्राप्त करेंगे।

अन्य लोग, जो वानप्रस्थ या गृहस्थ आश्रम के वासी हैं, वे लोग भी जितेन्द्रिय एवं संयमित होकर अपनी जन्मभूमि के देश-प्रदेश में उत्पन्न दिव्य औषधों का सेवन कर सकते हैं॥ ८-१०॥

यास्तु क्षेत्रगुणैस्तेषां मध्यमेन च कर्मणा। मृदुवीर्यतरास्तासां विधिर्ज्ञेयः स एव तु॥ ११॥
पर्येष्टुं ताः प्रयोक्तुं वा येऽसमर्थाः सुखार्थिनः। रसायनविधिस्तेषामयमन्यः प्रशस्यते॥ १२॥

अन्य रसायन-प्रयोग—हिमगिरि के अतिरिक्त अन्य स्थलों में उत्पन्न औषधें अपने क्षेत्र के गुणों से युक्त होती हैं। उनका वीर्य मध्यम होता है एवं उनके कर्म भी मध्यम श्रेणी के होते हैं। इस प्रकार वे औषधें वानप्रस्थी और गृहस्थ के लिए सेवन-योग्य होती हैं, किन्तु उनके सेवन की विधि वही है, जो दिव्य औषधों के लिए है। जो व्यक्ति आरोग्य और उत्तम जीवन चाहते हैं, किन्तु पूर्वोक्त दिव्य औषधों को ढूढने में या उनका प्रयोग करने में (नियमबद्ध न हो पाने से) असमर्थ हैं, उनके लिए दूसरी रसायन-विधि आगे कही जा रही है, उसका प्रयोग उत्तम है॥ ११-१२॥

बल्यानां जीवनीयानां बृंहणीयाश्च या दश। वयसः स्थापनानां च खदिरस्यासनस्य च॥ १३॥
खर्जूराणां मधूकानां मुस्तानामुत्पलस्य च। मृद्वीकानां विडङ्गानां वचायाश्चित्रकस्य च॥ १४॥
शतावर्याः पयस्यायाः पिप्पल्या जोङ्गकस्य च। ऋद्ध्या नागबलायाश्च द्वारदाया धवस्य च॥
त्रिफलाकण्टकार्योश्च विदार्याश्चन्दनस्य च। इक्षूणां शरमूलानां श्रीपर्ण्यास्तिनिशस्य च॥ १६॥
रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्याः पलाशक्षार एव च। एषां पलोन्मितान् भागान् पयो गव्यं चतुर्गुणम्॥
द्वे पात्रे तिलतैलस्य द्वे च गव्यस्य सर्पिषः। तत् साध्यं सर्वमेकत्र सुसिद्धं स्नेहमुद्धरेत्॥ १८॥
तत्रामलकचूर्णानामाढकं शतभावितम्। स्वरसेनैव दातव्यं क्षौद्रस्याभिनवस्य च॥ १९॥
शर्कराचूर्णपात्रं च प्रस्थमेकं प्रदापयेत्। तुगाक्षीर्याः सपिप्पल्याः स्थाप्यं सम्मूर्च्छितं च तत्॥ २०॥
सुचौक्षे मार्तिके कुम्भे मासार्धं घृतभाविते। मात्रामग्निसमां तस्य तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्॥ २१॥
हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च। मुक्तावैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च॥ २२॥
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्रां विहायायासमैथुनम्। जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा॥ २३॥
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम्। सत्त्वस्मृतिशरीराग्निबुद्धीन्द्रियबलप्रदम्॥ २४॥
परमूर्जस्करं चैव वर्णस्वरकरं तथा। विषालक्ष्मीप्रशमनं सर्ववाचोगतप्रदम्॥ २५॥
सिद्धार्थतां चाभिनवं वयश्च प्रजाप्रियत्वं च यशश्च लोके।
प्रयोज्यमिच्छद्भिरिदं यथावद् रसायनं ब्राह्ममुदारवीर्यम्॥ २६॥
इतीन्द्रोक्तरसायनमपरम्।

द्वितीय इन्द्रोक्त रसायन—बल्य (१. इन्द्रवारुणी, २. केवाँच के बीज, ३. शतावर, ४. माषपर्णी, ५. क्षीरविदारी, ६. असगन्ध, ७. शालिपर्णी, ८. कुटकी, ९. बरियार की जड़ और १०. अतिबला = ककहिया),

जीवनीय (१. जीवक, २. ऋषभक, ३. मेदा, ४. महामेदा, ५. काकोली, ६. क्षीरकाकोली, ७. मुद्गपर्णी, ८. माषपर्णी, ९. जीवन्ती और १०. मुलहठी), बृंहणीय (१. क्षीरविदारी, २. दुग्धिका, ३. असगन्ध, ४. काकोली, ५. क्षीरकाकोली, ६. श्वेतबला, ७. पीतबला, ८. वनकपास, ९. विदारीकन्द और १०. विधारा) तथा वयःस्थापन (१. गुरुच, २ हर्रे, ३. आँवला, ४. रास्ना, ५. अपराजिता, ६. जीवन्ती, ७. शतावरी, ८. मण्डूकपर्णी, ९. सरिवन और १०. पुनर्नवा) गण की चालीस औषधें; खैर की छाल, विजयसार, खजूर, महुआ, नागरमोथा, नीलकमल, मुनक्का, वायविडंग, मीठा वच, चित्रकमूल, शतावर, क्षीरविदारी, पीपर, अगर, ऋद्धि, नागबला, सागवान, धव, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, रेंगनी, विदारीकन्द, गन्ने की जड़, सरपत की जड़, गम्भारी की छाल और तिनिश (आबनूस)—इनका अलग-अलग स्वरस १-१ पल और पलाशक्षारोदक १ पल, इन सबके वजन से चौगुने वजन में गाय का दूध, २ पात्र (आढक) तिल का तेल, २ पात्र गाय का घृत—इन सबको मिलाकर स्नेहपाक विधि से पकाये। जब स्नेह सिद्ध हो जाय तो उसे चूल्हे से उतार कर ठण्डा होने के पहले ही छान ले। पुनः एक सौ बार आँवला के स्वरस की भावना दिये हुए आँवले के चूर्ण का १ आढक प्रमाण लेकर उस स्नेह में ठीक से मिला दे, नया मधु और चीनी १-१ आढक मिला ले। तत्पश्चात् १ प्रस्थ बारीक वंशलोचन का चूर्ण और १ प्रस्थ पीपर का चूर्ण मिलाये। इन सब द्रव्यों को फिर एक बार अच्छी तरह उलट-पलट कर मिलाये और घी चुपड़े हुए पवित्र मिट्टी के पात्र में रखकर पात्र के मुख को बन्द कर किसी सुरक्षित स्थान में रख छोड़े और पन्द्रह दिन तक यों ही पड़ा रहने दे। पन्द्रह दिन बीत जाने पर उस औषध-पात्र का मुख खोलकर उसमें स्वर्णभस्म, ताम्रभस्म, प्रवालभस्म, लौहभस्म, स्फटिकभस्म, मुक्ताभस्म, वैदूर्यमणि (लहसुनिया) भस्म, शंखभस्म और चाँदीभस्म—प्रत्येक १-१ पल डालकर पात्र को हिलाकर मिला दे।

जठराग्निबल के अनुसार इसकी उचित मात्रा का सेवन करना चाहिए। इसके सेवन-काल में श्रम के कार्य और स्त्रीप्रसङ्ग का परित्याग रखे। औषध पच जाने पर दूध और घी के साथ साठी चावल का भात खाना चाहिए।

फलश्रुति—इस रसायन का सेवन सभी रोगों को शान्त करता है। यह उच्चकोटि का वाजीकरण तथा आयुवर्धक है। यह मनोबल, स्मृतिबल, शरीरबल, अग्निबल, बुद्धिबल एवं इन्द्रियों के बल को बढ़ाता है। यह उत्तम बलाधायक है। यह उत्तम वर्ण और उत्तम स्वर प्रदान करता है। यह अलक्ष्मी और विष के प्रभाव को दूर करता है। यह सभी विद्याओं का ज्ञान देता है। यह सभी कामनाओं की पूर्ति करता है और तारुण्यप्रदाता है। जनसामान्य का प्रिय बनने और संसार में यश प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले व्यक्तियों को इस ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट महान् शक्तिशाली रसायन का विधिवत् प्रयोग करना चाहिए॥ १३-२६॥

वक्तव्य—यहाँ स्नेहपाक का सामान्य नियम—जो स्नेह, कल्क, क्वाथ, द्रव आदि के सम्बन्ध में है, वह नहीं लागू होता है, क्योंकि यहाँ सबकी मात्रा निर्दिष्ट है। यहाँ दी हुई सभी औषधों का स्वरस निकालना सुलभ नहीं है, इसलिए सभी द्रव्यों का नियमानुसार क्वाथ एक ही साथ बनाकर प्रति द्रव्य १ पल के हिसाब से ले। इस योग में कल्क का उल्लेख नहीं है, इसलिए स्नेह की मात्रा की चौथाई मात्रा में उन्हीं द्रव्यों का कल्क डालना उचित होगा, जिनका स्वरस लेने को कहा गया है। ''षोडशी'' शब्द पल का पर्याय है, इससे 'सोलहवाँ भाग' यह अर्थ निकालना समुचित नहीं है।

समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम्। कुटीप्रवेशः क्षणिनां परिच्छदवतां हितः॥ २७॥
अतोऽन्यथा तु यः तेषां सौर्यमारुतिको विधिः। तयोः श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः॥ २८॥

द्विविध रसायन-विधियों के अधिकारी—जो लोग सभी साधनों से सम्पन्न, संयमी, बुद्धिमान्, नीरोग और प्रत्येक दृष्टि से समर्थ हों एवं जिनके पास खाली समय हों, ऐसे व्यक्तियों के लिए 'कुटीप्रवेश' की विधि से रसायन का विधान करना चाहिए। जो व्यक्ति साधनहीन, अजितेन्द्रिय, चंचलचित्त, व्यस्त और बुद्धिहीन हों, उनके लिए वातातपिक (खुली हवा और धूप में रहकर) विधि से रसायन-सेवन का विधान करना उचित है। इन दोनों विधियों में पहली कुटीप्रवेश की विधि श्रेष्ठ है, परन्तु उसका निर्वाह करना आसान काम नहीं है; वह सुदुष्कर है अर्थात् अत्यन्त कठिनाई के साथ वह सम्पन्न होने वाली है॥ २७-२८॥

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि। यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम्॥ २९॥

रसायन का त्याग और उपद्रव की चिकित्सा—यदि (कुटीप्रावेशिक) रसायन का प्रयोग करते समय उसकी विधि का सम्यक् पालन न करने के कारण कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो रसायन का प्रयोग छोड़कर उन रोगों की दोष आदि के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए॥ २९॥

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्। अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥ ३०॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्। देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥ ३१॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्। समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥ ३२॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्। शस्ताचारमसङ्कीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥ ३३॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्। धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्॥ ३४॥
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्। रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते॥ ३५॥

इत्याचाररसायनम्।

आचार-रसायन—जो व्यक्ति सत्यवादी है, क्रोध नहीं करता है, मद्यसेवन और स्त्रीप्रसंग से विरत है, हिंसा नहीं करता है, अधिक थकावट लाने वाला कार्य नहीं करता है, शान्तचित्त है, सबसे प्रिय बोलता है, जप करता है, पवित्र रहता है, धैर्यवान् है, दान देने की प्रवृत्ति का है, तपस्या करता है, देवता-गौ-ब्राह्मण-आचार्य-गुरुजन तथा वृद्धजनों की पूजा और सेवा में लगा रहता है, क्रूरता का व्यवहार कभी नहीं करता है, सदैव करुणा के भाव से व्यवहार करता है, नियमित रूप से सोता-जागता है, नित्य घी-दूध का सेवन करता है, देश-काल की परिस्थितियों का ज्ञान रखता है, किसी कार्य को सम्पन्न करने की योजना बनाने में प्रवीण है, अंहङ्कार नहीं करता है, जिसका आचरण उत्तम है, जो संकुचित दृष्टिकोण का नहीं है, जो अपनी इन्द्रियों को आध्यात्मिक विषयों में प्रवृत्त करता रहता है, वृद्ध, आस्तिक और जितेन्द्रिय पुरुषों का सत्संग करता है एवं धर्मशास्त्रों के स्वाध्याय में संलग्न रहता है—इन गुणों से युक्त व्यक्ति को नित्य रसायनसेवी जानना चाहिए। इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त होकर जो व्यक्ति रसायन का सेवन करता है, वह उन सभी रसायन-गुणों को प्राप्त करता है जो पहले के रसायनों के साथ कहे गये हैं॥ ३०-३५॥

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषाञ्छारीरमानसान्। रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन॥ ३६॥
योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः। मनःशरीरशुद्धानां सिद्ध्यन्ति प्रयतात्मनाम्॥ ३७॥
तदेतन्न भवेद् वाच्यं सर्वमेव हतात्मसु। अरुजेभ्योऽद्विजातिभ्यः शुश्रूषा येषु नास्ति च॥ ३८॥

रसायन-सेवन के नियम—जो व्यक्ति साधरणतया शारीरिक तथा मानसिक दोषों को बिना दूर किये ही रसायन-योगों का सेवन करता है, वह व्यक्ति रसायन से प्राप्त होने वाले सभी लाभों को नहीं प्राप्त कर पाते हैं। ये आयु को बढ़ाने वाले, बुढ़ापा और रोग को दूर करने वाले जो रसायनों के योग हैं, इनके सेवन का फल उन्हें ही प्राप्त होता है जो मानसिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से शुद्ध

और संयतचित्त के होते हैं। अतः इन रसायनों को ऐसे लोगों को नहीं बतलाना चाहिए, जो नीरोग हों, द्विजाति (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) न हों और जिनके मन में सेवा का भाव नहीं है तथा जिनकी आत्मा गिर चुकी है, जो पापी और दुष्कर्मी हैं॥ ३६-३८॥

ये रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः। यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम्॥ ३९॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम्। अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः॥ ४०॥

वैद्य की पूजनीयता—जितने प्रकार के भी रसायनों के अथवा वाजीकरण के योग बनाये जाते हैं और रोगों की चिकित्सा के लिए जो भी साधन-सामग्री एवं औषध-कल्पनाएँ होती हैं, इन सबकी सफलता वैद्य के ऊपर निर्भर है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह आयुर्वेदशास्त्र के निष्णात बुद्धिमान् प्राणाचार्य के लक्षणों से विभूषित वैद्य की उसी प्रकार पूजा करे, जिस प्रकार अमराधिपति इन्द्र ने अश्विनीकुमारों की पूजा की थी॥ ३९-४०॥

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ। यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम्॥ ४१॥
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च। वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः॥ ४२॥
चिकित्सितश्च शीतांशुर्गृहीतो राजयक्ष्मणा। सोमाभिपतितश्चन्द्रः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी॥
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः। वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा॥ ४४॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ। बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम्॥ ४५॥
ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राणि तथा नानाहवींषि च। धूम्राश्च पशवस्ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते द्विजातिभिः॥

अश्विनीकुमारों का चिकित्सा-वैशिष्ट्य—दोनों अश्विनीकुमार देववैद्य हैं, वे यज्ञवाह कहे जाते हैं अर्थात् यज्ञ को पूर्ण करने वाले हैं। यज्ञ में इनका भाग दिया जाता है, क्योंकि इन्होंने बड़े विलक्षण कार्य किये हैं। जैसे—यज्ञ का शिर कट गया था, जिसे अश्विनीकुमारों ने पुनः जोड़ दिया; पूषा देव के दाँत गिर गये थे, भग देव (सूर्य) के दोनों नेत्र नष्ट हो गये थे एवं वज्र धारण करने वाले इन्द्र की बाँहें जकड़ गयी थीं; इन सबको अश्विनीकुमारों ने अपनी चिकित्सा से ठीक किया। (सोमाभिपतित—सोम अर्थात् शुक्रधातु की क्षीणता से ग्रस्त) चन्द्रमा का वीर्य नष्ट हो गया था और वे 'राजयक्ष्मा' से आक्रान्त हो गये थे, उन्हें अश्विनीकुमारों ने ही आरोग्य प्रदान किया। भृगुवंश में उत्पन्न 'च्यवन ऋषि' कामवासना में आसक्त होकर वृद्ध हो गये थे और उनका शरीर विकृत हो गया था, उनके शरीर का वर्ण तथा उनका स्वर विकृत हो गया था; उन्हें अश्विनीकुमारों ने पुनः नवयौवन प्रदान किया था। इस प्रकार के अन्य भी चमत्कारपूर्ण कार्य करने के कारण अश्विनीकुमार उत्तम चिकित्सक के रूप में इन्द्र आदि महात्माओं के भी पूजनीय एवं आदर-सम्मान के पात्र हो गये। द्विजाति (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) लोग अश्विनीकुमारों के लिए यज्ञ में ग्रह (मद्यपात्र) स्तोत्र, मन्त्र, आहुति, धूम (धूप देना) और पशुओं का संकल्प किया करते हैं॥ ४१-४६॥

प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते। सौत्रामण्यां च भगवानश्विभ्यां सह मोदते॥
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः। स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः॥
अजरैरमरैस्तावद्विबुधैः साधिपैर्ध्रुवैः। पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविति॥ ४९॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः। किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः॥

अश्विनीकुमारों का सम्मान और स्तवन—इन्द्र प्रातःकाल के यज्ञ में अश्विनीकुमारों के साथ हवि का प्राशन करते हैं। भगवान् इन्द्र सौत्रामणी नामक यज्ञ में अश्विनीकुमारों के साथ आमोद-प्रमोद

मनाते हैं। प्रायः ब्राह्मण लोग इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारों की स्तुति किया करते हैं। वेदमन्त्रों में जितनी अधिक इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारों की स्तुति की गयी है, उतनी अन्य किन्हीं देवताओं की नहीं की गयी है।

लोक में वैद्य पूजनीय—जब जरा-मरण के भय से रहित, ध्रुव, विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न देवता गण अपने अधिपति इन्द्र के साथ बड़ी ही श्रद्धा-भक्ति से सावधान होकर अश्विनीकुमारों की पूजा इसीलिए करते हैं, क्योंकि वे देवताओं के चिकित्सक हैं; तो क्या मृत्यु, रोग, बुढ़ापा के वशीभूत होकर दुःख भोगने वाले जो मनुष्य सुख की इच्छा रखते हैं, उनके द्वारा अपनी भरपूर शक्ति और साधन के साथ वैद्य की पूजा नहीं की जानी चाहिए? अर्थात् अपने वित्त-वैभव और सामर्थ्य के अनुसार आरोग्य की कामना करने वाले मनुष्यों को चिकित्सक को आदर-सम्मान अवश्यमेव देना चाहिए॥ ४७-५०॥

शीलवान् मतिमान् युक्तो द्विजातिः शास्त्रपारगः। प्राणिभिर्गुरुवत्पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः॥

प्राणाचार्य का लक्षण—जो द्विजाति (ब्राह्मण-क्षत्रिय या वैश्य) वर्ग का चिकित्सक उत्तम शील, स्वभाव और आचरण वाला हो, बुद्धिमान् हो, अपने कार्य में सदैव तत्पर हो और आयुर्वेदशास्त्र का पारङ्गत विद्वान् हो, प्राणियों को ऐसे गुणी वैद्य की गुरुदेव की तरह पूजा करनी चाहिए। वह प्राणाचार्य कहा जाता है॥ ५१॥

विद्यासमाप्तौ भिषजो द्वितीया जातिरुच्यते। अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना॥ ५२॥

वैद्य की द्वितीया जाति—विद्याध्ययन के पूर्ण हो जाने पर वैद्य का दूसरा जन्म होना कहा जाता है। विद्या के उपार्जन से विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न (विद्यामधीते वेत्ति वा इति वैद्यः) होने के कारण ही कोई व्यक्ति 'वैद्य' की अन्वर्थक उपाधि को धारण करता है। कोई भी व्यक्ति अपने पूर्वजन्म से वैद्य नहीं होता है॥ ५२॥

विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा। ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो द्विजः स्मृतः॥

वैद्य द्विज है—विद्योपार्जन की पूर्णता हो जाने पर वैद्य आयुर्वेदशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो जाता है, इसलिए उसका मन ब्राह्मसत्त्व या आर्षसत्त्व से आविष्ट हो जाता है। अतएव उसे 'द्विज' कहा जाता है॥ ५३॥

वक्तव्य—इस सूत्र की टीका में 'जेज्जट' ने एक प्रश्न उपस्थित कर उसका समाधान किया है—क्यों किसी एक ब्राह्म अथवा आर्ष सत्त्व का प्रवेश न कहकर दोनों को विकल्प रूप में कहा गया है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यदि अध्येता ब्राह्मण होता है, तो वेदार्थ और आयुर्वेद का ज्ञान हो जाने से उसमें ब्राह्मसत्त्व का प्रवेश होता है और वैश्य अध्येता हो तो उसमें आर्षसत्त्व का प्रवेश होता है। मूल के 'अथापि वा' पद से यह तात्पर्य लिया गया है कि वैश्य में शक्र-यम-वरुण या गन्धर्व आदि सत्त्वों का भी प्रवेश सम्भव है। मनुस्मृति में वैद्य का कार्य वैश्य या ब्राह्मण के करने का उल्लेख है। सम्भवतः इसी अभिप्राय से केवल उन दोनों की दृष्टि से दो तरह के सत्त्वों के प्रवेश की बात कही गई है। 'ब्राह्म' आदि सत्त्वों का वर्णन चरक-शारीरस्थान अ० ४ में किया गया है।

नाभिध्यायेन्न चाक्रोशेदहितं न समाचरेत्। प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम्॥ ५४॥
चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः। नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः॥

वैद्य के प्रति रोगी का कर्तव्य—कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति जो अपनी स्थिर आयु चाहता हो, वह प्राणाचार्य चिकित्सक का किसी भी प्रकार अहित करने की बात न सोचे और न उसके प्रति अनादर,

आक्रोश या निन्दा की बात करे। जो रोगी अपनी चिकित्सा करा लेने के पश्चात् वैद्य को धन देने की प्रतिज्ञा किया हो या न भी प्रतिज्ञा किया हो, फिर भी यदि वह चिकित्सा करने के एवज में वैद्य को कुछ देता नहीं है, तो इस संसार में उसकी इस कृतघ्नता का कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है॥ ५४-५५॥

भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्। आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम्॥ ५६॥
धर्मार्थं चार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः। प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम्॥ ५७॥
नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति। वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते॥ ५८॥
कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते॥ ५९॥

चिकित्सक की आचारसंहिता—जो वैद्य सर्वोत्कृष्ट धर्मपालन करना चाहता है, वह सभी श्रेणी के रोगियों को अपने पुत्रों के समान जानकर प्रयत्नशील होकर सभी तरह की रोगबाधाओं से उनकी रक्षा करता रहे। परम पद (मोक्ष) चाहने वाले धर्मात्मा महर्षियों ने धर्म, अर्थ एवं काम के लिए आयुर्वेदशास्त्र का प्रवर्तन किया है। जो चिकित्सक न तो मात्र धन कमाने के लिए, न केवल कामनाओं की तृप्ति के लिए, अपितु प्राणियों के प्रति दयाभाव को प्रमुखता देकर चिकित्साकर्म करता है, वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक होता है और मोक्ष पाने का अधिकारी होता है। जो चिकित्सक अपनी जीविका चलाने के लिए बाजार में बेची जाने वाली वस्तु की तरह चिकित्सा को 'पण्य' की तरह बेचते हैं, वे सोने की ढेर को छोड़कर मिट्टी की ढेर बटोरते हैं॥ ५६-५९॥

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्। छित्त्वा वैवस्वतान् पाशाञ्जीवितं यः प्रयच्छति॥ ६०॥
धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते। न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते॥ ६१॥

चिकित्सक सर्वोच्च दानी—अतिकष्टप्रद, यातनामय रोगों के द्वारा यमलोक की ओर खींचे जाते हुए रोगियों के प्राण को यमराज के पाशों को काटकर जो वैद्य जीवनदान देता है, उसके समान धर्म और अर्थ का महान् दानी इस संसार में नहीं पाया जाता। क्योंकि प्राणदान से बढ़कर कोई दान नहीं है॥ ६०-६१॥

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया। वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ ६२॥

सिद्धार्थ वैद्य—प्राणिमात्र पर दया करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है, ऐसा मानकर जो वैद्य चिकित्साकर्म में प्रवृत्त होता है, वह सफलमनोरथ होता है और अत्यन्त सुख का उपभोग करता है॥ ६२॥

तत्र श्लोकौ—

आयुर्वेदसमुत्थानं दिव्यौषधिविधिं शुभम्। अमृताल्पान्तरगुणं सिद्धं रत्नरसायनम्॥ ६३॥
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो यदुवाचामरेश्वरः। आयुर्वेदसमुत्थाने तत् सर्वं सम्प्रकाशितम्॥ ६४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये
आयुर्वेदसमुत्थानीयो नाम रसायनपादश्चतुर्थः॥ ४॥
॥ समाप्तश्चायं प्रथमो रसायनाध्यायः॥ १॥

उपसंहार—देवराज इन्द्र ने सिद्ध पुरुषों और ब्रह्मचारी महर्षियों के लिए जिस आयुर्वेद की उत्पत्ति, दिव्य औषधियों की कल्याणप्रद प्रयोगविधि एवं अमृत से कुछ ही कम गुण वाले सिद्ध, रत्नयुक्त रसायनों का उपदेश किया था, वह सब इस आयुर्वेदसमुत्थानीय नामक रसायनाध्याय के चतुर्थ पाद में प्रकाशित कर दिया गया है॥ ६३-६४॥

रसायनाध्यायगत रसायन-योगबोधक सारणी

आमलकीय रसायनपाद : १	: १. ब्राह्मरसायन (प्रथम), २. ब्राह्मरसायन (द्वितीय), ३. च्यवनप्राश, ४. आमलकरसायन, ५. हरीतक्यादि योग (प्र०), ६. हरीतक्यादि योग (द्वि०)।
प्राणकामीय रसायनपाद : २	: १. शतपाक आमलक घृत, २. सहस्रपाक आमलक घृत, ३. आमलकावलेह, ४. आमलक चूर्ण, ५. अपर आमलकावलेह, ६. विडंगावलेह, ७. नागबला रसायन, ८. बला रसायन, ९. अतिबला रसायन, १०. चन्दन रसायन, ११. अगुरु रसायन, १२. धव रसायन, १३. तिनिश रसायन, १४. खदिर रसायन, १५. शिंशपा रसायन, १६. असन रसायन, १७. अमृता रसायन, १८. अभया रसायन, १९. धात्री रसायन, २०. मुक्ता रसायन, २१. श्वेता (अपराजिता) रसायन, २२. जीवन्ती रसायन, २३. अतिरसा (शतावरी) रसायन, २४. मण्डूकपर्णी रसायन, २५. स्थिरा (शालिपर्णी) रसायन, २६. पुनर्नवा रसायन, २७. भल्लातक क्षीर, २८. भल्लातक क्षौद्र, २९. भल्लातक तैल, ३०. भल्लातक गुड़, ३१. भल्लातक यूष, ३२. भल्लातक सर्पि, ३३. भल्लातक तैल, ३४. भल्लातक पलल, ३५. भल्लातक सक्तु, ३६. भल्लातक लवण, ३७. भल्लातक तर्पण।
करप्रतिचीय रसायनपाद : ३	: १. आमलकायस ब्राह्म रसायन, २. केवलामलक रसायन, ३. लौहादि रसायन, ४. ऐन्द्र रसायन, ५. मण्डूकपर्णी मेध्य रसायन, ६. यष्टीमधु रसायन, ७. गुडूची रसायन, ८. शङ्खपुष्पी रसायन, ९. पिप्पली रसायन प्रथम, १०. पिप्पली रसायन द्वितीय, ११. पिप्पली वर्धमान रसायन, १२. त्रिफला रसायन प्रथम। १३. त्रिफला रसायन द्वितीय, १४. त्रिफला रसायन तृतीय, १५. त्रिफला रसायन चतुर्थ, १६. शिलाजतु रसायन।
आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद : ४	: १. इन्द्रोक्त रसायन प्रथम, २. द्रोणीप्रावेशिक रसायन, ३. इन्द्रोक्त रसायन द्वितीय, ४. आचार रसायन।
इस प्रकार ६ + ३७ + १६ + ४ = ६३ रसायन योगों का वर्णन किया गया है।	

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के रसायनाध्याय में 'आयुर्वेदसमुत्थानीय' नामक रसायन-विषयक चतुर्थ पाद समाप्त हुआ॥ ४॥

॥ रसायन नामक यह पहला अध्याय समाप्त ॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

वाजीकरणाध्याये प्रथमः पादः

अथातः संयोगशरमूलीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'संयोगशरमूलीय' नामक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्। तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च॥ ३॥
पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः।

वाजीकरण-सेवन का प्रयोजन—जितेन्द्रिय पुरुष को सदैव वाजीकरण आहार-विहार एवं औषध का सेवन करते रहना चाहिए, क्योंकि धर्म, अर्थ, प्रीति और यश उस पर ही निर्भर है। यह वाजीकरण औषध पुत्र होने का कारण है और ये धर्म, अर्थ, प्रीति और यश पुत्र पर ही आश्रित है॥ ३॥

वक्तव्य—मूल सूत्र में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य युवावस्था सम्पन्नपुरुष से है, इससे बालक एवं वृद्ध के लिए मैथुन का निषेध किया गया है। 'आत्मवान्' कहने से जितेन्द्रिय पुरुष का ग्रहण होता है, क्योंकि असंयत व्यक्ति वाजीकरण औषध का सेवन कर अगम्यागमन आदि दुराचार करेगा, इसलिए वह निषिद्ध है जो धैर्यवान् और संयमी हैं। उन्हें ही वाजीकरण का सेवन करना चाहिए। मनुष्य जन्म से ही तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी हो जाता है, वे हैं—१. देव ऋण, २. ऋषि ऋण और ३. पितृ ऋण। इनमें अग्निहोत्र से देव ऋण से, ब्रह्मचर्य से ऋषि ऋण से और पुत्रजन्म से पितृ ऋण से मुक्ति मिलती है। एवञ्च पुत्रहीन व्यक्ति लोक में आदर का पात्र नहीं होता और मर जाने पर उसकी वंश-परम्परा नष्ट हो जाती है, जब कि पुत्रवान् व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठित होता है; वह धर्म, अर्थ, प्रेम और यश का भागी होता है।

वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी॥ ४॥
इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः। किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन प्रतिष्ठिताः॥
स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम्। स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम्॥
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः।

स्त्री सर्वप्रधान वाजीकरण—पुरुषों में प्रचुर कामोत्तेजना उत्पन्न करने वाली क्षेत्ररूपिणी स्त्री सर्वश्रेष्ठ वाजीकरण है। (स्त्री का गर्भाशय प्रजनन अवयव है, उसमें गर्भोत्पत्ति होती है, इसलिए उसे क्षेत्र कहा गया है) प्रत्येक इन्द्रियों के विषय (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) जब मन के अनुरूप होते हैं, तब वे अत्यन्त प्रीति को उत्पन्न करते हैं। स्त्री के शरीर में तो प्रकृतिप्रदत्त—अधर रस, कोकिलालाप, रूपलावण्य, मादक गन्ध और रोमाञ्चजनक स्पर्श—एकत्र सभी अभीष्ट विषय उपस्थित रहते हैं। स्त्री शरीर में रहने वाले इन्द्रियों के विषय (शब्दादि) पुरुषों में स्त्री के प्रति आकर्षण, प्रेम, प्रहर्ष और अधिकाधिक कामवासना उत्पन्न करते हैं।

स्त्री की प्रतिष्ठा—पुरुषों का स्त्रियों में विशेषरूप से प्रेम होता है, स्त्रियों में ही सन्तान उत्पन्न होती है। स्त्रियाँ ही धर्म और अर्थ की आधार हैं, स्त्रियों पर ही लक्ष्मी निर्भर है, स्त्रियों पर ही समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं॥ ४-६॥

वक्तव्य—प्राचीन काल से यज्ञ का अधिकारी वही व्यक्ति माना जाता है, जिसके साथ स्त्री हो, इसलिए विवाह का एक प्रयोजन यज्ञ का अधिकार पाना कहा गया है। एवञ्च सभी प्रकार के धर्मकार्यों में स्त्री की सहधर्मिणी के रूप में उपयोगिता है। स्त्रियाँ जहाँ सम्मानित होती हैं, वहाँ देवताओं का निवास होता है और उस घर में सौमनस्य एवं शान्तिमय जीवन होता है। स्त्रियाँ गृहिणी कही जाती है, क्योंकि सभी आश्रमों का आधार गृहस्थाश्रम है, जिसका सञ्चालन सद्गृहिणी ही उत्तम ढंग से कर सकती है। स्त्रियाँ अर्थ-सञ्चय का भी ध्यान रखती हैं। कुलीन स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी होती हैं, क्योंकि घर-गृहस्थी को सुख-सम्पत्ति का आगार बनाती हैं। स्त्रियाँ गृहिणी तो होती ही हैं, साथ ही वे सचिव, मित्र और शिष्याएँ भी होती हैं—'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ' (कालिदास)। सृष्टि की आधार स्त्रियाँ हैं और उनसे ही घर-परिवार की शोभा, प्रतिष्ठा और मान-सम्मान एवं मर्यादा है। इसलिए स्त्रियाँ गृहलक्ष्मी हैं, गृहदेवता हैं और पारिवारिक जीवन को सुखद, रमणीय, सुसम्पन्न तथा हर्षोल्लासमय बनाना उन पर निर्भर है, अतः समस्त लोक-जीवन की आधारशिला स्त्री है।

सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता॥ ७॥
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता। नानाभक्त्या तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम्॥
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः। वयोरूपवचोहावैर्या यस्य परमाङ्गना॥ ९॥
प्रविशत्याशु हृदयं देवाद्वा कर्मणोऽपि वा। हृदयोत्सवरूपा या या समानमनःशया॥ १०॥
समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रियैः। या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणां परैर्गुणैः॥ ११॥
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत्। यस्या ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियैः॥ १२॥
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते। याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम्॥१३॥
अपूर्वामिव यां याति नित्यं हर्षातिवेगतः। गत्वा गत्वाऽपि बहुशो यां तृप्तिं नैव गच्छति॥ १४॥
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य नानाभावा हि मानवाः।

वृष्यतमा स्त्री के लक्षण—जो स्त्री सुन्दर स्वरूप वाली हो, जो यौवन की मादकता से भरी हो, जो स्त्रियोचित उत्तम लक्षणों से सुशोभित हो, जो वश में रहने वाली आज्ञाकारिणी हो और कामशास्त्रोक्त नृत्य-संगीत-गीत-वादित्र-लास्य आदि चौसठ कलाओं में प्रवीण हो, वह कामिनी पुरुष में कामोद्दीपन करने वाली वृष्यतमा स्त्री कही गयी है।

इस संसार में लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, इसलिए किसी स्त्री को पसन्द करने वाला जब कोई प्रेमी पुरुष मिल जाता है तब उसके रूप आदि गुण मनभावन पुरुष को पाकर बढ़ने लगते हैं, कदाचिद् पूर्वजन्मकृत कर्मों के उत्तम परिणाम के रूप में भी रूप आदि गुण बढ़कर स्त्री में वृष्यत्व ला देते हैं।

किसी पुरुष के लिए वह स्त्री सर्वश्रेष्ठ वाजीकरण या कामोद्दीपन है, जो अपनी जवानी, रूप-लावण्य, वशीकरण, मृदु वाणी और शृङ्गारिक चेष्टाओं के द्वारा या संयोगवश अथवा किसी वशीकरण उपाय के द्वारा शीघ्र ही हृदय में प्रवेश कर जाती है। वह हृदय में आनन्द और हर्ष उत्पन्न करती है। वह समान कामवासना वाली होती है अर्थात् दोनों ही एक-दूसरे के प्रति कामासक्त होकर आकृष्ट होते रहते हैं। जिसकी मनोवृत्ति पुरुष के अनुकूल होती है, जो पुरुष के वश में रहती है, जो पुरुष के प्रिय व्यवहार और गुणों से प्रसन्न रहती है। जो पुरुषों को अपनी इन्द्रियों की वासनाभरी चेष्टाओं से अपने प्रेमपाश में आबद्ध कर लेती है। जिसके वियोग की व्याकुलता से पुरुष संसार को स्त्रीविहीन मानता है, जिसके बिना

पुरुष का शरीर इन्द्रिय शून्य-सा हो जाता है, उसका देखना, सुनना, स्पर्श ज्ञान आदि लुप्त-सा हो जाता है।

जिस स्त्री को देखकर ही पुरुष को शोक, उद्वेग, व्यग्रता और भय से मुक्ति मिल जाती है तथा वह इन भावों से रंचमात्र भी विचलित नहीं होता; जिस स्त्री को पाकर पुरुष में विश्वास और मनोबल जागृत हो जाते हैं तथा जिसे देखकर पुरुष हर्षविह्वल हो जाता है; पुरुष कामोद्रेक से वेगातुर होकर नित्य उस स्त्री के साथ रमण करता है, जैसे वह कोई विलक्षण अपूर्व उपलब्धि हो। पुनः-पुनः सम्भोग करने पर भी पुरुष को तृप्ति नहीं होती। ऐसी स्त्री अत्यन्त वृष्य या वाजीकरण होती है। पुरुषों की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। एवञ्च अपनी पसन्द के अनुरूप स्त्री का मिलना ही वाजीकरण द्रव्य हो सकता है॥ ७-१४॥

अतुल्यगोत्रां वृष्यां च प्रहृष्टां निरुपद्रवाम्॥ १५॥
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः।

सन्तान के लिए सम्भोग—रोगरहित व्यक्ति यदि सन्तान की कामना रखता है, तो उसे ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना चाहिए, जो अपने समान गोत्र में न उत्पन्न हो, वह कामोत्तेजक हाव-भाव और चेष्टा वाली हो एवं स्वयं भी कामातुरा हो, किसी रोग से ग्रस्त न हो तथा रजोधर्म से शुद्ध होकर स्नान कर चुकी हो॥ १५॥

अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः॥ १६॥
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः। चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः॥ १७॥
निष्प्रजस्तृणपूलीति मन्तव्यः पुरुषाकृतिः। अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना॥ १८॥
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते।

निःसन्तान पुरुष निन्दनीय—सन्तानहीन पुरुष उस वृक्ष के जैसा है, जिसकी छाया नहीं होती, जिसकी एक मात्र शाखा हो, जिसमें फल नहीं लगता हो, जिसकी गन्ध प्रिय न हो अर्थात् जिस प्रकार छाया-फल-शाखा-गन्ध आदि से रहित वृक्ष की कोई उपयोगिता नहीं हाती है उसी प्रकार सन्तानरहित पुरुष की कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं होती। वह दीवाल पर बने चित्र के समान है, जिससे प्रकाश की किरण नहीं निकलती। वह सूखे हुए तालाब जैसा है जो किसी प्यासे की तृष्णा नहीं दूर कर सकता। वह कृत्रिम पुरुष वैसा ही है जैसे कोई वस्तु जो सोना-चाँदी आदि न हो, किन्तु देखने पर सोना-चाँदी जैसा दीख पड़े। वह तृणपूली (फसल चरने वाले पशुओं को डराने के लिए खेतों में घास-फूस से पुरुष के आकार का बना पुतला) है, जो केवल पुरुष के आकार का है। जिसकी कोई सन्तान नहीं होती, उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। वह नग्न होता है अर्थात् समय पड़ने पर उसे सुरक्षा या आवरण देने वाला कोई नहीं होता। वह शून्य की तरह बिना मूल्य का होता है। वह एक इन्द्रिय वाला होता है अर्थात् केवल भोजन करता है और किसी भी तरह का पुरुषार्थ—धर्म-अर्थ-काम के अयोग्य होता है अथवा लंगड़ा, काना आदि जैसा एक इन्द्रिय वाला होता है॥ १६-१८॥

बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः॥ १९॥
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः। मङ्गल्योऽयं प्रशस्योऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम्॥ २०॥
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः। प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम्॥ २१॥
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिताः। तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान्॥
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च।

सन्तानवान् पुरुष प्रशंसनीय—इस संसार में जिस व्यक्ति की बहुत-सी सन्तानें हैं, वह बहुत-सी मूर्तियों वाला, बहुत-से मुखों वाला, बहुत-से शरीरों वाला, बहुत-से कर्मों के सम्पादन में समर्थ, बहुत नेत्रों वाला, बहुत ज्ञान वाला और बहुत-सी आत्माओं वाला कहा जाता है। वह व्यक्ति शुभ माना जाता है, वह प्रशंसा योग्य होता है, वह धन्य है, शक्तिशाली है, वह पुत्र-पौत्र आदि रूप अनेक शाखाओं वाला है; इस प्रकार की स्तुतियों का वह पात्र होता है।

सन्तान के होने पर ही मनुष्य में स्वाभाविक रूप से प्रेमभाव का उदय होता है। बलसम्पन्नता, सुख, आजीविका, वंशविस्तार, कुल का बड़ा होना, यश का होना, भविष्य के सुखमय परिणाम वाला, लोकजीवन प्राप्त करना और सन्तोष होना—ये सब बातें सन्तान पर ही निर्भर हैं।

इसलिए सन्तान की कामना के साथ-साथ सन्तान से प्राप्त होने वाले सन्तानाश्रित गुणों के इच्छुक और कामसुख की लालसा वाले व्यक्ति को वाजीकरण औषधियों का नित्य ही सेवन करना चाहिए॥ १९-२२॥

उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान्॥ २३॥
वाजीकरणसंयोगान् प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम्।

वाजीकरण-योगों का उपक्रम—अब इसके आगे बहुत-से ऐसे वाजीकरण-योगों को कहेंगे, जो उपयोग करने पर सुखप्रद होते हैं, जो अनुभूत और सिद्ध हैं एवं वीर्य तथा सन्तान को बढ़ाने वाले होते हैं॥ २३॥

शरमूलेक्षुमूलानि काण्डेक्षुः सेक्षुवालिका॥ २४॥
शतावरी पयस्या च विदारी कण्टकारिका। जीवन्ती जीवको मेदा वीरा चर्षभको बला॥ २५॥
ऋद्धिर्गोक्षुरको रास्ना सात्मगुप्ता पुनर्नवा। एषां त्रिपलिकान् भागान् माषाणामाढकं नवम्॥
विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शेषयेत्। तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षा फल्गूनि पिप्पली॥ २७॥
आत्मगुप्ता मधूकानि खर्जूराणि शतावरी। विदार्यमलकेक्षूणां रसस्य च पृथक् पृथक्॥ २८॥
सर्पिषश्चाढकं दद्यात् क्षीरद्रोणं च तद्विषक्। साधयेद्घृतशेषं च सुपूतं योजयेत् पुनः॥ २९॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याश्चूर्णैः प्रस्थोन्मितैः पृथक्। पलैश्चतुर्भिर्मागध्याः पलेन मरिचस्य च॥
त्वगेलाकेशराणां च चूर्णैरर्धपलोन्मितैः। मधुनः कुडवाभ्यां च द्वाभ्यां तत्कारयेद्विषक्॥ ३१॥
पलिका गुलिकास्त्यानास्ता यथाग्नि प्रयोजयेत्। एष वृष्यः परं योगो बृंहणो बलवर्धनः॥ ३२॥
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत्।

इति बृंहणी गुटिका।

बृंहणी गुटिका—सरपत की जड़, गन्ने की जड़, बड़े गन्ने की जड़, छोटे गन्ने की जड़, शतावर, क्षीरकाकोली, विदारीकन्द, रेंगनी, जीवन्ती, जीवक, मेदा, काकोली, ऋषभक, वरिआर की जड़, ऋद्धि, गोखरू, रास्ना, केवाँच के बीज और गदहपुर्ना—इन औषधों से प्रत्येक ३-३ पल ले और १ आढक नया उड़द ले। इन सबको १ द्रोण पानी में पकाये, जब चतुर्थांश बच जाये तो उतार कर छान ले। फिर उसमें मुलहठी, मुनक्का, गूलर या अंजीर, पीपर, केवाँच के बीज, महुआ का फूल, खजूर और शतावर का अलग-अलग २-२ पल कल्क; विदारीकन्द, आँवला और गन्ना, इनमें से प्रत्येक का रस एक-एक आढक, घृत १ आढक तथा गाय का दूध १ द्रोण डालकर उस घृत को घृतपाकविधि से पकाये। जब घृत मात्र शेष बचे तो उसे छान ले। पुनः उस घृत में चीनी १ प्रस्थ, वंशलोचन १ प्रस्थ, पीपर ४ पल, मरिच १ पल, दालचीनी, इलायची और नागकेसर का आधा-आधा पल चूर्ण एवं मधु दो कुडव मिलाकर, सबको खूब अच्छी तरह मसल कर १-१ पल की कड़ी-कड़ी गोलियाँ बनाकर रख ले।

इसे अग्निबल के अनुसार उचित मात्रा में सेवन करे। यह बृंहणी गुटिका उत्तम वाजीकरण, उत्तम बृंहण और उत्तम बलवर्धक है। इसके सेवन से पुरुष अश्व के समान कामोत्तेजित होकर स्त्री-प्रसंग करता है। (यह बृंहणी गुटिका है)॥ २४-३२॥

वक्तव्य—इस योग में कड़ी गोली बनाना सम्भव नहीं है अपितु पिण्डित रूप में बनाया जा सकता है। इसकी मात्रा वर्तमान काल के पुरुषों के लिए १० से २० ग्राम तक की होनी चाहिए।

माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम्॥ ३३॥
जीवकर्षभकौ वीरां मेदामृद्धिं शतावरीम्। मधुकं चाश्वगन्धां च साधयेत् कुडवोन्मिताम्॥ ३४॥
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं गव्यं दशगुणं पयः। विदारीणां रसप्रस्थं प्रस्थमिक्षुरसस्य च॥ ३५॥
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत्। शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्य च पृथक् पृथक्॥
भागांश्चतुष्पलांस्तत्र पिप्पल्याश्चावपेत् पलम्। पलं पूर्वमतो लीढ्वा ततोऽन्नमुपयोजयेत्॥
य इच्छेदक्षयं शुक्रं शेफसश्चोत्तमं बलम्।

इति वाजीकरणं घृतम्।

वाजीकरण घृत—नये उड़द और केवाँच के बिना छिलके के बीज १-१ आढक; जीवक, ऋषभक, काकोली, मेदा, ऋद्धि, शतावर, मुलहठी और असगन्ध, प्रत्येक १-१ कुडव—इनको चौगुने जल में पका क़र चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर उस क्वाथ में १ प्रस्थ गाय का घी, १० प्रस्थ गाय का दूध, विदारीकन्द और गन्ने का रस १-१ प्रस्थ डालकर धीमी आँच पर पकाये। जब घृत सिद्ध हो जाय तो उसे गरम-गरम छान ले, फिर उसमें चीनी, वंशलोचन और मधु प्रत्येक ४ पल एवं पीपर का चूर्ण १ पल डालकर ठीक से मिलाकर रख दे। इसे भोजन के तुरन्त पहले १ पल (वर्तमान में १०-२० ग्राम) चाटकर तब भोजन करे। इसके सेवन से अक्षय शुक्र की प्राप्ति होती है और मूत्रेन्द्रिय में दृढ़ता तथा बल होता है॥ ३३-३७॥

शर्करा माषविदलास्तुगाक्षीरी पयो घृतम्॥ ३८॥
गोधूमचूर्णषष्ठानि सर्पिष्युत्कारिकां पचेत्। तां नातिपक्वां मृदितां कौक्कुटे मधुरे रसे॥
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे यथा सान्द्रीभवेद्रसः। एष पिण्डरसो वृष्यः पौष्टिको बलवर्धनः॥ ४०॥
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत्। शिखितित्तिरिहंसानामेवं पिण्डरसो मतः॥
बलवर्णस्वरकरः पुमांस्तेन वृषायते॥ ४१॥

इति वाजीकरणपिण्डरसाः।

वाजीकरण पिण्डरस—चीनी, उड़द की दाल, पिसी हुई वंशलोचन चूर्ण, दूध, घी और छठा गेहूँ का आटा—इन सबको समुचित मात्रा में लेकर एक में गूँथकर पूआ पकाये। इसका मृदुपाक करना चाहिए। फिर उन्हें छोटे-छोटे टुकड़े कर इलायची आदि डालकर सुगन्धित कर, मसल कर मुर्गे के मधुर मांसरस में डाल दे, जिससे वह मांसरस गाढ़ा हो जाय। इसे पिण्डरस कहते हैं। यह वाजीकरण पौष्टिक और बलवर्धक होता है। इसके सेवन से पुरुष अश्व की तरह कामासक्त होकर स्त्रीप्रसंग करता है। इसी प्रकार गेहूँ के आटे में पूर्वोक्त पदार्थों का मिश्रण कर मयूर, हंस, तीतर के मांसरस में अनेक तरह के पिण्डरंस बनाये जा सकते हैं। ये बलकारक एवं वर्णकारक हैं और सुस्वर देते हैं तथा इनके सेवन से पुरुष में वाजीकरण शक्ति जागृत होती है॥ ३८-४१॥

घृतं माषान् सबस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे। भर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि॥ ४२॥
ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः। एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः॥ ४३॥

इति वृष्यमाहिषरसः।

वृष्य माहिष रस—घी, छिलके रहित उड़द की दाल और बकरे का अण्डकोश, इन्हें भैंस के मांसरस में पकायें। जब मांसरस तैयार हो जाय तो उसे छानकर नये ताजे घी में भून ले और उनमें अनारदाना आदि खट्टे फलों का रस, थोड़ा सेंधानमक, धनियाँ, जीरा तथा सोंठ का चूर्ण मिला ले। यह उत्तम प्रकार का मांसरस है, जो वृष्य, बलकारक और मोटा बनाने वाला हाता है॥ ४२-४३॥

वक्तव्य—इस योग में सेवन करने वाले व्यक्ति की अग्नि के अनुसार ही घटक-द्रव्यों की मात्रा लेनी चाहिए, जिनका एक ही अन्नकाल में प्रयोग किया जा सके, क्योंकि बासी विकृत हो जायेगा।

चटकांस्तित्तिरिरसे तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे। कुक्कुटान् बार्हिणरसे हांसे बार्हिणमेव च॥ ४४॥
नवसर्पिषि सन्तप्तान् फलाम्लान् कारयेद्रसान्। मधुरान्वा यथासात्म्यं गन्धाढ्यान् बलवर्धनान्॥
इति वृष्यरसाः।

चार वृष्य रस—(१) चटक (गौरैया) के मांस को तीतर के मांसरस में, (२) तीतर के मांस को मुर्गे के मांसरस में, (३) मुर्गे के मांस को मोर के मांसरस में और (४) मोर के मांस को हंस के मांसरस में पकाये। उस रस को पुनः नये घी में भूनकर, अनारदाना या खट्टे बेर का रस डालकर अथवा चीनी डालकर रुचि के अनुसार खट्टा या मीठा बनाकर इलायची, शीतल चीनी आदि डालकर सुगन्धित बना ले। ये चार प्रकार के वृष्यरस योग हैं, ये बल को बढ़ाने वाले होते हैं॥ ४४-४५॥

तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत्पयः। न तस्य लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि॥ ४६॥
इति वृष्यमांसम्।

वृष्य मांसयोग—जो पुरुष गौरैया (चिड़िया) का मांस तृप्तिपर्यन्त खाने के बाद तुरन्त दुग्धपान करता है, उसकी जननेन्द्रिय यथेष्ट मैथुन करने पर भी शिथिल नहीं होती और न रात में (सम्भोगरत रहने पर भी) उसका वीर्य स्खलित होता है॥ ४६॥

माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्। पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान्॥
इति वृष्यमाषयोगः।

वृष्य माषयोग—जो पुरुष पर्याप्त घी में सना साठी का भात और उड़द की दाल का यूष खाने के बाद दूध पीता है, वह कामवेग से युक्त होकर सारी रात (स्त्रीप्रसङ्ग करते हुए) जागता रहता है॥ ४७॥

न ना स्वपिति रात्रिषु नित्यस्तब्धेन शेफसा। तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्रेरतसि॥ ४८॥
इति वृष्यः कुक्कुटमांसप्रयोगः।

वृष्य कुक्कुटमांस—जो पुरुष नाक (मगर) के वीर्य में भुने हुए मुर्गे के मांस को तृप्तिपर्यन्त खा लेता है, वह दृढलिङ्गी कामुक व्यक्ति समस्त रात्रि कामवेग युक्त होकर जगकर बिताता है॥ ४८॥

निःस्नाव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत्। हंसबर्हिणदक्षाणामेवमण्डानि भक्षयेत्॥ ४९॥
इति वृष्योऽण्डरसः।

वृष्य अण्डरस—मछली के अण्डों के रस को घी में भूनकर खाये। इसी प्रकार हंस, मयूर और मुर्गे के अण्डों का रस घी में भूनकर खाये तो यह वाजीकरण होता है॥ ४९॥

भवतश्चात्र—

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्यं यदा ना मितमत्ति काले।
वृषायते तेन परं मनुष्यस्तद्बृंहणं चैव बलप्रदं च॥ ५०॥
तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः।
सिद्ध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः॥ ५१॥

वाजीकरण-सेवन का पूर्वकर्म—जब कोई पुरुष शरीर के स्रोतों के शुद्ध हो जाने से शरीर के निर्मल हो जाने पर उचित समय में मात्रा के अनुसार परिमित रूप में वाजीकरण योग का प्रयोग करता है, तब वह पुरुष उस वृष्य औषध के प्रयोग से अधिकतम मैथुन-सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है और वह वृष्य योग उसके देह को समृद्ध एवं बलवान् बना देता है।

इसलिए वाजीकरण औषध के प्रयोग के पहले अपने बल के अनुसार संशोधन (वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन-नस्य) प्रयोगों द्वारा यथावश्यक शरीर को शुद्ध कर लेना चाहिए, क्योंकि वृष्य प्रयोग मलिन शरीर में कार्यकर नहीं होते। जैसे मलिन कपड़े पर यदि रंग चढ़ाया जाय तो वह बदरंग हो जाता है और उचित रूप से उस पर रंग नहीं चढ़ पाता॥ ५०-५१॥

तत्र श्लोकौ—

वाजीकरणसामर्थ्यं क्षेत्रं स्त्री यस्य चैव या। ये दोषा निरपत्यानां गुणाः पुत्रवतां च ये॥ ५२॥
दश पञ्च च संयोगा वीर्यापत्यविवर्धनाः। उक्तास्ते शरमूलीये पादे पुष्टिबलप्रदाः॥ ५३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये
संयोगशरमूलीयो नाम वाजीकरणपादः प्रथमः॥ १॥

उपसंहार—इस वाजीकरणाध्याय के 'संयोगशरमूलीय' नामक प्रथम पाद में भगवान् पुनर्वसु ने (१) वाजीकरण औषधों का महत्त्व, (२) जिस पुरुष को जैसी स्त्री उत्तम वाजीकरण क्षेत्र है, (३) निःसन्तान पुरुषों के दोष, (४) सन्तानयुक्त पुरुषों के गुण तथा शुक्रवर्धक, सन्तानवर्धक एवं पुष्टिकर और बलप्रद पन्द्रह वृष्य योगों का वर्णन किया है॥ ५२-५३॥

पञ्चदश वृष्ययोगबोधक सारणी

१. बृंहणी गुटिका	६. हंस पिण्डरस	११. वृष्य मयूररस
२. वाजीकरण घृत	७. वृष्य माहिष रस	१२. वृष्य चटकमांस
३. कुक्कुट पिण्डरस	८. वृष्य चटक रस	१३. वृष्य माषयोग
४. मयूर पिण्डरस	९. वृष्य तित्तिर रस	१४. वृष्य कुक्कुटमांस
५. तित्तिर पिण्डरस	१०. वृष्य कुक्कुट रस	१५. वृष्य अण्डरस

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में 'संयोगशरमूलीय' नामक वाजीकरण-विषयक प्रथम पाद समाप्त हुआ॥ १॥

वाजीकरणाध्याये द्वितीयः पादः

अथात आसिक्तक्षीरिकं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'आसिक्तक्षीरिक' नामक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

आसिक्तक्षीरमापूर्णमशुष्कं शुद्धषष्टिकम्। उदूखले समापोथ्य पीडयेत् क्षीरमर्दितम्॥ ३॥
गृहीत्वा तं रसं पूतं गव्येन पयसा सह। बीजानामात्मगुप्ताया धान्यमाषरसेन च॥ ४॥
बलायाः सूर्पपर्ण्योश्च जीवन्त्या जीवकस्य च। ऋद्धयर्षभककाकोलीश्वदंष्ट्रामधुकस्य च॥ ५॥
शतावर्या विदार्याश्च द्राक्षाखर्जूरयोरपि। संयुक्तं मात्रया वैद्यः साधयेत्तत्र चावपेत्॥ ६॥
तुगाक्षीर्याः समाषाणां शालीनां षष्टिकस्य च। गोधूमानां च चूर्णानि यैः स सान्द्रीभवेद्रसः॥ ७॥
सान्द्रीभूतं च तं कुर्यात् प्रभूतमधुशर्करम्। गुलिका बदरैस्तुल्यास्ताश्च सर्पिषि भर्जयेत्॥ ८॥
ता यथाग्नि प्रयुञ्जानः क्षीरमांसरसाशनः। पश्यत्यपत्यं विपुलं वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम्॥ ९॥
इत्यपत्यकरी षष्टिकादिगुटिका।

षष्टिकादि गुटिका—शुद्ध साठी के मोटे बिना सूखे ताजे चावल लेकर दूध में भिगो दे। जब चावल के दाने दूध सोखकर दुग्धमय हो जायें तो उन्हें ओखली में डालकर भलीभाँति कूट ले और थोड़ा दूध डालकर अच्छी तरह मथ दे, फिर उसे दूध में घोलकर कपड़े या छलनी से छान ले। सीठी को फिर एक-दो बार दूध में मथकर छान लें। इस प्रकार उस छने हुए साठी चावल के द्रव में समप्रमाण गोदुग्ध मिलाये, फिर उसमें केवाँच के बीजों का (एक चतुर्थांश) चूर्ण डालकर पकाये। जब द्रव सूखता दीख पड़े तो उसमें बारी-बारी से उक्त द्रव के समान प्रमाण में उड़द का क्वाथ, बला क्वाथ, मुद्गपर्णी क्वाथ, माषपर्णी क्वाथ, जीवन्ती क्वाथ, जीवक क्वाथ, ऋद्धि क्वाथ, ऋषभक क्वाथ, काकोली क्वाथ, गोखरू क्वाथ, मुलहठी क्वाथ, शतावरी क्वाथ, विदारीकन्द क्वाथ, द्राक्षा क्वाथ और खर्जूर क्वाथ डालकर पकाये। जब गाढ़ा द्रवरूप पाक सम्पन्न हो जाये तब उसमें वंशलोचन चूर्ण, उड़द का चूर्ण, अगहनी चावल का चूर्ण, साठी चावल का चूर्ण और गेहूँ का आटा सब बराबर-बराबर मात्रा में लेकर उस पाक में इतने प्रमाण में डाले, जिससे वह घना हो जाय, फिर उसमें मधु और चीनी पर्याप्त मात्रा में डाले, जिससे वह मीठा हो जाये। पुनः उसे खूब मथकर बड़े बेर के प्रमाण में गोलियाँ बनाकर घी में तल ले। अपनी जठराग्नि की शक्ति के अनुसार इसकी उचित मात्रा का सेवन करे। इसके प्रयोगकाल में दूध और मांसरस-प्रधान आहार करने वाला वृद्ध पुरुष भी अधिक सन्तानों वाला हो जाता है और मनोज (कामुकता) नष्ट नहीं होता। अर्थात् उसका शुक्र क्षीण नहीं होता है॥ ३-९॥

वक्तव्य—इस योग में साठी, दूध या क्वाथ आदि के प्रमाण नहीं दिये गये हैं, अतः सामान्य परिभाषा के अनुसार (भागेऽनुक्ते समं ग्राह्यं) समान भाग में दूध या क्वाथ लेना ठीक होगा। यहाँ 'आत्मज' शब्द से मनसिज (कामदेव) अथवा लक्षणया शुक्र का ग्रहण किया जाना उचित है। अलग-अलग क्वाथ बनाने की अपेक्षा सभी का एक में ही पर्याप्त मात्रा में द्रव्यों की संख्या के अनुसार उतने गुना क्वाथ बनाया जा सकता है। स्वविवेक से अन्य कल्पनाएँ करनी चाहिए।

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा। शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत्॥ १०॥
गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिङ्गस्य वसामपि। षष्टिकानां च चूर्णानि चूर्णं गोधूमकस्य च॥ ११॥

एभिः पूपलिकाः कार्याः शष्कुल्यो वर्तिकास्तथा।
पूपा धानाश्च विविधा भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः॥ १२॥
एषां प्रयोगाद्वक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा।
शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छं स्त्रियो नरः॥ १३॥
इति वृष्यभक्ष्याः।

वृष्य भक्ष्य—वैद्य गौरैया, हंस, मुर्गा, मोर, सूंस और मगर—इन प्राणियों के वीर्य (अथवा अण्डे); गाय का घी, सूअर और चटक की चर्बी, साठी और गेहूँ का आटा संगृहीत करे। इन सभी द्रव्यों को एक में ठीक से मिलाकर मठरी, पूआ, पूड़ी, बाटी या धाना (परमल जैसा) आदि अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ बना लें। इन खाद्य पदार्थों के सेवन से मनुष्य वीर्य से भरपूर होकर दृढ़ध्वज, हर्षयुक्त उपस्थ से स्वेच्छया जब तक चाहे अश्व के समान वेगवान् होकर स्त्रीप्रसङ्ग कर सकता है॥ १०-१३॥

आत्मगुप्ताफलं माषान् खर्जूराणि शतावरीम्। शृङ्गाटकानि मृद्वीकां साधयेत् प्रसृतोन्मितम्॥
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थमेतत् प्रस्थावशेषितम्। शुद्धेन वाससा पूतं योजयेत् प्रसृतैस्त्रिभिः॥ १५॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः सर्पिषोऽभिनवस्य च। तत् पाययेत सक्षौद्रं षष्टिकान्नं च भोजयेत्॥ १६॥
जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति। नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति॥ १७॥
इत्यपत्यकरः स्वरसः।

अपत्यकर स्वरस—केवाँच के बीज, उड़द की दाल, खजूर, शतावर, सिंघाड़ा और मुनक्का एक-एक प्रसृत लेकर १ प्रस्थ दूध और १ प्रस्थ पानी डालकर पकाये। जब पानी जल जाये और मात्र दूध बचे तो स्वच्छ कपड़े से उसे छान ले, फिर उस दूध में चीनी, वंशलोचन का चूर्ण तथा ताजा घी तीन-तीन प्रसृत मिला दे। इसे सिद्ध दुग्ध में मधु मिलाकर पिलाना चाहिए और भोजन में साठी का भात खिलाना चाहिए। इस योग के प्रयोग से बुढ़ापे से आक्रान्त निर्बल पुरुष भी बहुत-सी सन्तानें प्राप्त करता है और युवक जैसा प्रहर्षयुक्त हो जाता है॥ १४-१७॥

खर्जूरीमस्तकं माषान् पयस्यां सशतावरीम्। खर्जूराणि मधूकानि मृद्वीकामजडाफलम्॥ १८॥
पलोन्मितानि मतिमान् साधयेत् सलिलाढके। तेन पादावशेषेण क्षीरप्रस्थं विपाचयेत्॥ १९॥
क्षीरशेषेण तेनाद्याद् घृताढ्यं षष्टिकौदनम्। सशर्करेण संयोग एष वृष्यः परं स्मृतः॥ २०॥
इति वृष्यक्षीरम्।

वृष्य क्षीर—खजूर के वृक्ष का मस्तक (बाल), उड़द की दाल, क्षीरकाकोली, शतावर, पिण्डखजूर, महुए का फूल, मुनक्का और केवाँच के बीज—इनमें से हर एक एक-एक पल लेकर १ आढक जल में पकाये। जब एक चौथाई जल शेष बचे, तो उसमें १ प्रस्थ दूध डालकर पकाये। जब दूध मात्र बच जाये तो उसे उतार कर छान ले। उस दूध में चीनी डालकर घी में सने साठी के भात के साथ खाये। यह योग अतीव वाजीकरण होता है॥ १८-२०॥

जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं श्रावणीद्वयम्। खर्जूरं मधुकं द्राक्षां पिप्पलीं विश्वभेषजम्॥ २१॥
शृङ्गाटकं विदारीं च नवं सर्पिः पयो जलम्। सिद्धं घृतावशेषं तच्छर्कराक्षौद्रपादिकम्॥ २२॥
षष्टिकान्नेन संयुक्तमुपयोज्यं यथाबलम्। वृष्यं बल्यं च वर्ण्यं च कण्ठ्यं बृंहणमुत्तमम्॥ २३॥
इति वृष्यघृतम्।

वृष्य घृत—जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, छोटी मुण्डी, बड़ी मुण्डी, खजूर, मुलहठी, मुनक्का, पीपर, सोंठ, सिंघाड़ा और विदारीकन्द—इन सबका कल्क बना ले और उसे समस्त कल्क से चौगुने वजन

घृत में घी के समान मात्रा में दूध और घृत में चौगुना वजन में जल डालकर पकाये। जब घृत मात्र बचे तो गरम-गरम छान ले और उस घृत में चतुर्थांश वजन में चीनी और मधु मिलाकर सुरक्षित रख दे। अपनी पाचनशक्ति के अनुसार उचित मात्रा में सेवन करे तथा पथ्य में साठी के भात का सेवन करे। यह घृत वृष्य, बल्य, वर्णकारक, स्वर को उत्तम बनाने वाला और श्रेष्ठ बृंहण है॥ २१-२३॥

दध्नः सरं शरच्चन्द्रसन्निभं दोषवर्जितम्। शर्कराक्षौद्रमरिचैस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान्॥ २४॥
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं नवे कुम्भे शुचौ पटे। मार्जितं प्रक्षिपेच्छीते घृताढ्ये षष्टिकौदने॥ २५॥
पिबेन्मात्रां रसालायास्तं भुक्त्वा षष्टिकौदनम्। वर्णस्वरबलोपेतः पुमांस्तेन वृषायते॥ २६॥
इति वृष्यो दधिसरप्रयोगः।

वृष्य दधिसर—शरद् ऋतु के (पूर्णिमा के पूर्ण) चन्द्र के सदृश स्वच्छ एवं निर्दोष दही की मलाई में चीनी, मधु, मरिच, वंशलोचन और छोटी इलायची का बहुत बारीक चूर्ण अच्छी तरह मिलाकर किसी नये पात्र के मुख पर कपड़ा बाँधकर, उस पर उस मलाई को रखकर हथेली से मसल-मसल कर छान ले, जिससे वह नीचे पात्र में झर जाय। फिर शीतल किये हुए साठी के भात में भरपूर घृत डालकर, उसमें इसे मिलाकर खाये और भोजन के पश्चात् (दालचीनी-इलायची-तेजपात-नागकेशर-जीरा और सोंठ का बारीक चूर्ण, चीनी या गुड़ एवं पीसी हुई आदी डालकर मथानी से मथकर बनाई हुई) रसाला का उचित मात्रा में पान करे। इसके सेवन से पुरुष की कान्ति निखरती है, उत्तम स्वर होता है, बल की वृद्धि होती है और वाजीकरण शक्ति प्राप्त होती है॥ २४-२६॥

चन्द्रांशुकल्पं पयसा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्। शर्करामधुसंयुक्तं प्रयुञ्जानो वृषायते॥ २७॥
इति वृष्यषष्टिकौदनप्रयोगः।

वृष्य षष्टिकौदन—चन्द्र की चाँदनी के समान शुभ्रवर्ण के साठी के भात में भरपूर घी, चीनी और मधु मिलाकर दूध के साथ उसे खाने से पुरुष में रतिकर्म-सामर्थ्य की अभिवृद्धि होती है॥ २७॥

तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम्। युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च॥ २८॥
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्वारुणीमण्डपो नरः। य इच्छेदश्ववद्गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः॥ २९॥
इति वृष्यपूपलिकाः।

वृष्य पूपलिका—वारुणी नामक मद्य के पात्र के ऊपर के भाग के स्वच्छ मण्ड के पीने का अभ्यासी जो पुरुष अश्व के समान वेगवान् होकर हाथी के समान वीर्य-सेचन करना चाहता है, वह पुरुष मगर के अण्डे की जर्दी और मुर्गे के अण्डे की जर्दी को साठी के चावल के आटे में सानकर घी में पकौड़ी की तरह बनाकर उसे ताजे घी के साथ खाये॥ २८-२९॥

भवतश्चात्र—

एतैः प्रयोगैर्विधिवद् वपुष्मान् वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्तः।
हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो भवेत् समर्थश्च वराङ्गनासु॥ ३०॥

वाजीकरणयोगों का फल—इन पूर्वोक्त अनेकविध प्रयोगों के सेवन से मनुष्य सुपुष्ट सुन्दर शरीर वाला, वीर्यसम्पन्न, बलवान् और कान्तिमान् हो जाता है एवं वह आठ वर्ष के अश्व के समान प्रहर्षयुक्त होकर सुन्दरियों के साथ रमण करने में समर्थ हो जाता है॥ ३०॥

यद्यच्च किञ्चिन्मनसः प्रियं स्याद् रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः।
इष्टाः स्त्रियो भूषणगन्धमाल्यं प्रिया वयस्याश्च तदत्र योग्यम्॥ ३१॥

वाजीकरण-विहार—जो भी पदार्थ मन को प्रिय लगे, सुरम्य मनोरम उद्यान, नदी के बीच की उभरी हुई भूमि, पर्वतीय प्रदेश, मन को जँचने लायक प्रिय स्त्रियों का साहचर्य, आभूषण, मनपसन्द सुगन्ध, उत्तम मालाएँ और समान आयु के प्रियमित्र—ये सब वाजीकरण के सामर्थ्य को बढ़ाने वाले उत्तम साधन हैं॥ ३१॥

तत्र श्लोकः—

आसिक्तक्षीरिके पादे ये योगाः परिकीर्तिताः। अष्टावपत्यकामैस्ते प्रयोज्याः पौरुषार्थिभिः॥ ३२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये
आसिक्तक्षीरिको नाम वाजीकरणपादो द्वितीयः॥ २॥

उपसंहार—वाजीकरणाध्याय के इस आसिक्तक्षीरिक पाद में जो आठ वाजीकरण योग बतलाये गये हैं, सन्तान की कामना करने वाले और पौरुष तथा वाजीकरण सामर्थ्य को चाहने वाले व्यक्तियों को उनका सेवन करना चाहिए॥ ३२॥

आठ वाजीकरण-योगबोधक सारणी

१. अपत्यकरी षष्टिकादि गुटिका	४. वृष्य क्षीर	७. वृष्य षष्टिकौदन प्रयोग
२. वृष्य पूपलिकादि भक्ष्य	५. वृष्य घृत	८. वृष्य पूपलिका
३. अपत्यकर स्वरस	६. वृष्य दधिसर प्रयोग	

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में 'आसिक्तक्षीरिक' नामक वाजीकरण-विषयक द्वितीय पाद समाप्त हुआ॥ २॥

वाजीकरणाध्याये तृतीयः पादः

अथातो माषपर्णभृतीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'माषपर्णभृतीय' नामक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम्। समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान्॥ ३॥
रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणाम्। इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत्॥ ४॥
केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा। शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्युक्तं तद्वृष्यमुत्तमम्॥ ५॥
इति वृष्यः केवलं क्षीरयोगः।

वृष्य केवल क्षीरयोग—बुद्धिमान् पुरुष ऐसी गाय पाले जो केवल उड़द की पत्तियाँ, उसका डण्ठल या बीज खाकर हृष्ट-पुष्ट हुई हो अथवा गन्ने के पौधे को खाकर पुष्ट की गयी हो या अर्जुन के पत्ते का आहार करके पुष्ट हुई हो। वह प्रथम बार की प्रसूता हो, पुष्ट अवयवों की हो, चार स्तन वाली हो, जिस गाय का बछड़ा गाय के ही रंग का हो और जीवित हो, जो लाल या काली हो, जिसकी सींगें ऊपर की ओर हों, जो मारने वाली न हो और आसानी से दुहाती हो तथा जिसका दूध गाढ़ा हो। इन लक्षणों वाली गाय का दूध अकेले ही—१. धारोष्ण पान करे या २. गरम करके पान करे या ३. चीनी, मधु और घी मिलाकर पान करे; तीनों ही स्थिति में यह उत्तम वाजीकरण होता है॥ ३-५॥

वक्तव्य—इस वृष्य योग को चक्रपाणि और जेज्जट ने तीन प्रकार का माना है; यथा—१. अशृत (धारोष्ण) दुग्धपान, २. शृत दुग्धपान और ३. चीनी-मधु-घृतसंयुक्त दुग्धपान।

शुक्रलैर्जीवनीयैश्च बृंहणैर्बलवर्धनैः। क्षीरसञ्जननैश्चैव[1] पयः सिद्धं पृथक् पृथक्॥ ६॥
युक्तं गोधूमचूर्णेन सघृतक्षौद्रशर्करम्। पर्यायेण प्रयोक्तव्यमिच्छता शुक्रमक्षयम्॥ ७॥
इति वृष्यक्षीरप्रयोगः।

पाँच वृष्यक्षीर-प्रयोग—जो पुरुष शुक्र को क्षीण होने से बचाना चाहता है, वह बारी-बारी से पाँच प्रकार के वृष्यक्षीर प्रयोगों का सेवन करे। यथा—(१) जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली,

---

१. (क) 'जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृद्धरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति'।

(ख) 'जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति'।

(ग) 'क्षीरिणीराजक्षवकाश्वगन्धाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनीभद्रौदनीभारद्वाजीपयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति'।

(घ) 'ऐन्द्री ऋषभी अतिरसा ऋष्यप्रोक्ता पयस्या अश्वगन्धा स्थिरा रोहिणी बला अतिबला इति दशेमानि बल्यानि'।

(च) 'वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटकत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति'। (च. सू. ४)

मूँगपर्णी, माषपर्णी, मेदा, शतावर, जटामसी और गुञ्जामूल—इन शुक्रल औषधों का मोटा चूर्ण बनाकर इन सबके मिलित वजन से आठ गुना दूध और दूध से चौगुना जल डालकर पकाये। जब दूध मात्र अवशिष्ट रहे तब उसे चूल्हे से उतार कर छान ले। फिर एक कड़ाही में घी डालकर गरम करे और उसमें गेहूँ का आटा डालकर भून ले। जब ठीक से आटा भून कर लाल हो जाय, तो उसमें पकाया हुआ दूध और चीनी अन्दाज से डालकर हलवा बना ले। तैयार होने पर शीतल कर मधु मिलाकर सेवन करे। इसी प्रकार (२) जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलहठी—इन जीवनीय औषधों से सिद्ध दूध का हलवा बनाकर सेवन करे। (३) क्षीरविदारी, दुग्धिका, असगन्ध, काकोली, क्षीरकाकोली, श्वेतबला, पीतबला, वनकपास, विदारीकन्द और विधारा—इन जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध दूध डालकर गेहूँ के आटे का उक्त विधि से हलवा बनाये। (४) इन्द्रवारुणीमूल, केवाँच के बीज, शतावर, माषपर्णी, क्षीरविदारी, असगन्ध, सरिवन, कुटकी, वरियार की जड़ और ककहिया की जड़ से सिद्ध दुग्ध डालकर पकाया हलवा सेवन करे और (५) खस, शालि चावल, साठी चावल, इक्षुवालिका, डाभ, कुश, काश, गुन्द्रा, इत्कट और रोहिषघास—इनसे सिद्ध दुग्ध से पकाया गया हलवा सेवन करे॥ ६-७॥

वक्तव्य—उक्त पाँच गणों से सिद्ध पाँच प्रकार का दुग्ध बनता है और इनसे पाँच तरह का हलवा बनता है, जिनका क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम दिन सेवन करना चाहिए। एक क्रम पूर्ण होने पर पुनः नये सिरे से प्रयोग शुरू करे। इस प्रकार आठ बार आवृत्ति कर चालीस दिन तक यह प्रयोग करना चाहिए, जिससे पूर्णतः वाजीकरणसामर्थ्य प्राप्त हो जाये।

मेदां पयस्यां जीवन्तीं विदारीं कण्टकारिकाम्। श्वदंष्ट्रां क्षीरिकां माषान् गोधूमाञ्छालिषष्टिकान्॥
पयस्यर्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते। विवर्जयेत् पयःशेषं तत् पूतं क्षौद्रसर्पिषा॥ ९॥
युक्तं सशर्करं पीत्वा वृद्धः साप्ततिकोऽपि वा। विपुलं लभतेऽपत्यं युवेव च स हृष्यति॥ १०॥
इत्यपत्यकरक्षीरयोगः।

अपत्यकर क्षीर—मेदा, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, विदारीकन्द, रेंगनी, गोखरू, दुधिया, उड़द की बिना छिलके की दाल, गेहूँ की दलिया, अगहनी और साठी चावल के कण, प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष लेकर कुचल कर २ प्रस्थ जल एवं २ प्रस्थ दूध में पकायें। जब जल जल जायें और केवल दूध शेष रहे तो चूल्हे से उतार कर छान ले। फिर मधु, घी और चीनी डालकर पान करे। इस दुग्ध के प्रयोग से सत्तर वर्ष का वृद्ध व्यक्ति भी बहुत-सी सन्तानें उत्पन्न करता है और युवा पुरुष की तरह वेगयुक्त होकर स्त्रीसम्भोग करता है॥ ८-१०॥

मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम्। अपत्यजननं सिद्धं सघृतक्षौद्रशर्करम्॥ ११॥
इत्यपत्यजननक्षीरयोगः।

अपत्यजनन क्षीर-प्रयोग—उड़द की पत्ती, गन्ना अथवा अर्जुन की पत्ती खिलाकर पाली-पोसी गई हृष्ट-पुष्ट गाय के (½ लीटर) दूध में सोने का (एक) वर्क डालकर या सोने का टुकड़ा डालकर पकाये। फिर छानकर, शीतल कर मधु, घी तथा चीनी मिलाकर पान करे। इसके सेवन से पुत्रलाभ होता है॥ ११॥

त्रिंशत् सुपिष्टाः पिप्पल्यः प्रकुञ्चे तैलसर्पिषोः। भृष्टाः सशर्कराक्षौद्राः क्षीरधारावदोहिताः॥
पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा। भुक्त्वा न रात्रिमस्तब्धं लिङ्गं पश्यति ना क्षरत्॥
इति वृष्यः पिप्पलीयोगः।

वृष्य पिप्पली-योग—तीस पीपर लेकर उन्हें खूब बारीक पीस कर घी-तेल मिला हुआ एक पल ले और उसमें पीपर को ठीक से भून ले तथा उचित मात्रा में (जितने से माधुर्य आ जाय) चीनी और

3-4 कल्प

मधु मिलाकर किसी पात्र में रखकर उस पात्र में दूध दुहावे, जितने में पिप्पली ठीक से घुलकर पेय बन जाय। उसे अपनी जठराग्नि की शक्ति के अनुसार उचित मात्रा में पान करे और पथ्य में घी-दूध के साथ साठी चावल का भात खाये। इसके प्रयोग से रातभर मैथुन करने पर भी न लिङ्ग में शिथिलता होती है, न वीर्य का क्षरण होता है। यह योग प्रबल वृष्य और स्तम्भक है॥ १२-१३॥

वक्तव्य—आज के युग में एक साथ तीस पिप्पली की मात्रा असह्य होगी, इसलिए एक चौथाई ही पिप्पली का एक बार में प्रयोग करना उचित है और क्रमशः मात्रा बढ़ाकर सेवन किया जा सकता है।

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च रसे क्षीरचतुर्गुणे। घृताढ्यः साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः॥ १४॥
इति वृष्यपायसयोगः।

वृष्य पायस—पूर्वोक्त प्रकार की उड़द की पत्ती, गन्ना या अर्जुन की पत्ती खिलाकर पोषित की गयी गाय का दूध ले और दूध से चौगुना गोखरू तथा विदारीकन्द का क्वाथ डालकर दूध को पकाये। जब दूध मात्र बचे तो छान ले। इस दूध में उड़द की छिलका रहित दाल और साठी का चावल (दूध का अष्टमांश) डालकर खीर बना ले। जब खीर तैयार हो जाय तो उसमें भरपूर घी (और चीनी) डालकर खाये। यह खीर वाजीकरण होती है॥ १४॥

फलानां जीवनीयानां स्निग्धानां रुचिकारिणाम्। कुडवश्चूर्णितानां स्यात् स्वयंगुप्ताफलस्य च॥
कुडवश्चैव माषाणां द्वौ द्वौ च तिलमुद्गयोः। गोधूमशालिचूर्णानां कुडवः कुडवो भवेत्॥ १६॥
सर्पिषः कुडवश्चैकस्तत्सर्वं क्षीरमर्दितम्। पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्वह्व्यः स्युर्यस्य योषितः॥ १७॥
इति वृष्यपूपलिकाः।

वृष्य पूपलिकायोग—जो पुरुष बहुत-सी स्त्रियों को रखा हो, वह (१) जीवनीय (मुनक्का, किसमिस, छोहाड़ा, कमलगट्टा, सेव आदि), (२) स्निग्ध (बादाम, पिस्ता, अखरोट, काजू आदि) और (३) रुचिकर (फालसा, अञ्जीर, इलायची, अनार आदि) फलों का पिसा हुआ कल्क १-१ कुड़व, केवाँच के बीजों का चूर्ण १ कुडव, उड़द की बिना छिलके की दाल का चूर्ण १ कुडव, तिल कुटा हुआ २ कुडव, मूँग का छिलका रहित चूर्ण २ कुडव, गेहूँ का आटा १ कुडव, अगहनी चावल का आटा १ कुडव और गाय का घी १ कुडव—इन सबको लेकर मिला लें और दूध डालकर पुआ पकाने लायक खूब अच्छी तरह गूँथ ले, फिर इनका पुआ पकाकर सेवन करे॥ १५-१७॥

घृतं शतावरीगर्भं क्षीरे दशगुणे पचेत्। शर्करापिप्पलीक्षौद्रयुक्तं तद् वृष्यमुत्तमम्॥ १८॥
इति वृष्यं शतावरीघृतम्।

वृष्य शतावरीघृत—शतावर का कल्क १ कुडव, गाय का घी १ प्रस्थ लेकर उसमें १० प्रस्थ दूध डालकर पकाये। जब घृत मात्र शेष रहे तो उतार कर गरम-गरम छानकर सुरक्षित रख ले। इसे १ कर्ष की मात्रा में लेकर उसमें ½ कर्ष मधु और २ ग्राम चीनी मिलाकर एवं १ ग्राम पीपर का चूर्ण डालकर पीने से यह उत्तम कोटि का वाजीकरण योग है॥ १८॥

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमांशिकम्। प्रयुङ्क्ते यः पयश्चानु नित्यवेगः स ना भवेत्॥ १९॥
इति वृष्यमधुकयोगः।

वृष्य मधुकयोग—जो पुरुष मुलहठी का चूर्ण १ कर्ष, घी और मधु प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर मिलाकर दूध के अनुपान से सेवन करता है, उस पुरुष में सदैव काम का वेग बना रहता है॥ १९॥

वक्तव्य—युगानुरूप सन्दर्भ में मुलहठी की मात्रा ३-४ ग्राम होनी चाहिए और समान भाग घी-मधु मिलाकर सेवन करना चाहिए।

घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो युवा। सङ्कल्पप्रवणो नित्यं नरः स्त्रीषु वृषायते॥ २०॥

वाजीकरण आचार-विचार—जो पुरुष नित्य-नियमित रूप से घी और दूध का सेवन करता है, जो निर्भय एवं नीरोग रहता है, जो नित्य स्त्रीप्रसङ्ग का अभ्यासी होता है तथा जो मैथुन करने की प्रवृत्ति का संकल्प वाला होता है, वह पुरुष अश्व के समान मैथुनसामर्थ्यवान् होता है॥ २०॥

कृतैककृत्याः सिद्धार्था ये चान्योऽन्यानुवर्तिनः। कलासु कुशलास्तुल्याः सत्त्वेन वयसा च ये॥
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विताः। ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथाः॥
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियंवदाः। तैर्नरः सह विश्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते॥ २३॥

वाजीकरण के सहचर—जो व्यक्ति समान व्यवसाय-कर्म करते हैं, जो अपने कार्य में सफलमनोरथ होते हैं, जो एक-दूसरे की चित्तवृत्तियों के अनुकूल आचरण करते हैं, जो किन्हीं कलाओं में प्रवीण हैं, जो समान आयु तथा समान मनोवृत्ति के हैं, जो कुलीन हैं, मर्यादा या महत्त्व के पालक हैं, जो कार्य सिद्ध करने में चतुर, सुशील और पवित्रतायुक्त हैं, जो कामसुख का नित्य प्रयोग करते हैं, जो प्रसन्नचित्त, शोकरहित और व्यथारहित हैं, जो समान शील-आचरण के हैं, जो भक्ति और श्रद्धा रखते हैं, जो प्रिय हैं और मिष्टभाषी हैं, ऐसे हमउम्र सन्मित्रों के साहचर्य में विश्वासपूर्वक रहने वाला पुरुष वाजीकरणशक्तिसम्पन्न होकर मैथुन क्रिया में सामर्थ्यवान् होता है॥ २१-२३॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः। गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः॥ २४॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणां चाभरणस्वनैः। संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानां च वृषायते॥ २५॥

वाजीकरण-विहार—शरीर में तेल की मालिश, उबटन, स्नान, सुगन्ध, माला, आभूषण, सुखप्रद आवास, मनोरम आरामदेह लचकदार पलंग, मनपसन्द आसन और नूतन प्रिय वस्त्र, मन को लुभाने वाले पक्षियों के कलरव, कामिनियों के पायल आदि आभूषणों की झनकारें और प्रिय एवं सुन्दर ललनाओं की कमनीय करांगुलियों द्वारा सम्पादित संवाहन—ये पुरुष में वाजीकरण उत्पन्न करने के सिद्ध साधक हैं॥ २४-२५॥

मत्तद्विरेफाचरिताः सपद्माः सलिलाशयाः। जात्युत्पलसुगन्धीनि शीतगर्भगृहाणि च॥ २६॥
नद्यः फेनोत्तरीयाश्च गिरयो नीलसानवः। उन्नतिर्नीलमेघानां रम्यचन्द्रोदया निशाः॥ २७॥
वायवः सुखसंस्पर्शाः कुमुदाकारगन्धिनः। रतिभोगक्षमा रात्र्यः सङ्कोचागुरुवल्लभाः॥ २८॥
सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः।
गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च॥ २९॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य।
वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परमा नराणाम्॥ ३०॥

प्रकृति-सौन्दर्य वाजीकरणप्रवर्तक—मतवाले भौंरों की गुञ्जन, कमल के फूलों से सुशोभित जलाशय, चमेली के फूल, नीलकमल एवं विविध सुगन्ध द्रव्यों से सुगन्धित शीतल गर्भगृह (तहखाना), झाग उबलती नदियाँ, नीलवर्णी शिखरों वाले पर्वत, नीले-नीले घने बादलों की उमड़-घुमड़ चाँद की चाँदनी भरी सुहावनी रातें, सुखद स्पर्श वाली कुमुदवन-गन्धवाही मन्द-मन्द हवाएँ, रतिसुखोपभोग योग्य हेमन्त-शिशिर की लम्बी रातें और केशर एवं अगुरु के पङ्क से लिप्त मनोहर अङ्गों वाली कामिनियाँ वाजीकरण शक्ति को जागृत करने वाली होती हैं।

वाजीकरण के उद्दीपन तत्त्व—आनन्दविह्वल सहायक, वनप्रान्त में कोयल की मधुर कूक, स्वच्छ पौष्टिक खाद्य-पेय की उपलब्धि, सुमधुर वाद्य संगीत की ध्वनि, सुगन्धित इत्र एवं पुष्पमालाओं का धारण

करना, निश्चिन्त, शोक आदि से रहित उच्च एवं उदार मन, कार्य की सफलता, अभिनव कामावेश, हृदयाकर्षक ललित ललनाओं का साहचर्य, नवयौवनावस्था और मौसमी वसन्त बहार—ये सभी तत्त्व कन्दर्प के दर्प की अनुभूति का उद्रेक करने वाले शास्त्र हैं। ये मनुष्यों के शरीर में प्रबल कामोत्तेजना उत्पन्न करने वाले तत्त्व हैं॥ २६-३०॥

तत्र श्लोकः—

प्रहर्षयोनयो योगा व्याख्याता दश पञ्च च। माषपर्णभृतीयेऽस्मिन् पादे शुक्रबलप्रदाः॥ ३१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये माषपर्णभृतीयो नाम वाजीकरणपादस्तृतीयः॥ ३॥

उपसंहार—इस 'माषपर्णभृतीय' नामक वाजीकरणाध्याय के तृतीय पाद में वीर्य और बल को बढ़ाने वाले एवं कामवेग तथा प्रहर्ष को उत्पन्न करने वाले १५ योगों का वर्णन किया गया है॥ ३१॥

वक्तव्य—इस पाद में जो योग कहे गये हैं, उनका प्रयोग अनुभवगम्य एवं सिद्ध हैं एवं उनके करने में विशेष आडम्बर नहीं है।

'माषपर्णभृतीय' पादयोगबोधक सारणी

वृष्य केवल क्षीर	वृष्य क्षीर	अपत्यकर क्षीर	वृष्य योग
१. माषपर्णभृताक्षीर २. इक्षुभृताक्षीर ३. अर्जुनपत्रभृताक्षीर	१. शुक्रलगणसिद्ध क्षीर २. जीवनीय सिद्ध क्षीर ३. बृंहणसिद्ध क्षीर ४. बल्यसिद्ध क्षीर ५. क्षीरसंजननसिद्ध क्षीर	१. अपत्यकर क्षीर २. अपत्यजनन क्षीर	१. वृष्य पिप्पली २. वृष्य पायस ३. वृष्य पूपलिका ४. शतावरी घृत ५. वृष्य मधुक योग
इस प्रकार ३ + ५ + २ + ५ = १५ योग 'माषपर्णभृतीय' में वर्णित हैं।			

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में 'माषपर्णभृतीय' नामक वाजीकरण-विषयक तृतीय पाद समाप्त हुआ॥ ३॥

वाजीकरणाध्याये चतुर्थः पादः

अथातः पुमाञ्जातबलादिकं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'पुमाञ्जातबलादिक' नामक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं स्त्रियो व्रजेत्। यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते॥ ३॥

विषय का उपक्रम—पुरुष जिस प्रकार बलवान् होकर अपनी इच्छा के अनुसार स्त्रियों के साथ मैथुन करने में समर्थ हो जाये और जिस प्रकार शीघ्र ही सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हो सके, अब इस विषय से सम्बद्ध बातों को बतलायेंगे॥ ३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में पूर्ववर्णित वृष्य योगों की अपेक्षा कुछ विशेष बात कही गई है, वह यह कि पहले बहुत-से योग या प्रयोग वाजीकरण के बतलाये गये हैं, किन्तु उन्हें वाजीकरण ही कहा गया है। यह संकेत नहीं किया गया है कि वाजीकरण का सामर्थ्य प्राप्त होने पर वह सन्तानवान् भी होगा, अतः यहाँ दोनों ही बातें अलग-अलग कही गई हैं कि—१. पुरुष बलवान् कैसे होगा, जिससे वह यथेष्ट विषयोपभोग कर सके? दूसरी बात यह कि—२. पुरुष सन्तानवान् कैसे हो जाये? इस कथन से यह ध्वनित होता है कि वाजीकरण सामर्थ्य होने पर भी सन्तानवान् होना निश्चित नहीं है। इसलिए यहाँ उक्त उभय प्रयोजनों के साधक योगों को बतलायेंगे।

न हि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः। बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः॥ ४॥
सन्ति चाल्पाश्रयाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः। प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः॥
नराश्चटकवत् केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम्। गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः॥ ६॥
कालयोगबलाः केचित् केचिदभ्यसनध्रुवाः। केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः॥
तस्मात् प्रयोगान् वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान्। सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्धनान्॥

बलवत्ता और सन्तानोत्पादन-सामर्थ्य—शारीरिक बलसम्पन्न सभी पुरुष सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। ऐसा देखा जाता है कि बृहत्काय एवं बली पुरुष स्त्रीसम्भोग करने में असमर्थ होते हैं। इसके विपरीत बहुत-से पुरुष कृशकाय और अल्पबल होते हुए भी स्त्रीसम्भोग करने में प्रबल एवं बहुत-सी सन्तानों वाले होते हैं। कुछ लोग स्वभाव से ही निर्बल होते हैं और कुछ लोग रोगी होने के कारण दुर्बल हो जाते हैं, फिर भी वे लोग गौरैया पक्षी की तरह बहुत-सी स्त्रियों के साथ मैथुन करने में समर्थ होते हैं। कुछ दूसरे लोग अधिक स्त्रियों के साथ सम्भोग तो नहीं कर पाते, किन्तु हाथी के समान अधिक मात्रा में वीर्य का क्षरण करते हैं। कुछ लोग किसी विशेष काल (हेमन्त-शिशिर या सुखद वर्षा ऋतु) में ही मैथुन करने में समर्थ होते हैं। कुछ लोग औषध (वृष्य योग) प्रयोग करने के बाद मैथुन कर्म में समर्थ होते हैं। कुछ लोग नित्य मैथुन की प्रवृत्ति वाले होते हैं। कुछ लोग वाजीकरण औषध-प्रयोग एवं स्त्रियों के शृङ्गारिक हाव-भाव, आलिंगन, चुम्बन आदि से कामासक्त होकर मैथुन करते हैं और कुछ लोग स्वभाव से ही स्त्रीसम्भोग का सामर्थ्य रखते हैं।

इसलिए (हम) दुर्बलों को बल देने वाले और सुखपूर्वक उपभोग किये जाने वाले तथा बलवान् पुरुषों को और अधिक बलवान् बनाने वाले प्रयोगों को कहेंगे॥ ४-८॥

पूर्वं शुद्धशरीराणां निरूहैः सानुवासनैः। बलापेक्षी प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यविवर्धनान्॥ ९॥

पूर्वकर्म—शरीर को बलशाली बनाने की अपेक्षा रखने वाला पुरुष सर्वप्रथम अनुवासन के साथ-साथ निरूह वस्ति का प्रयोग कर शरीर का विधिवत् संशोधन करे, (क्योंकि अनुवासन या निरूह का अकेले प्रयोग नहीं करना चाहिए, नहीं तो अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं, अतः दोनों को यथोचित्त रूप से साथ ही प्रयुक्त किया जाता है) तत्पश्चात् वीर्य को बढ़ाने वाले और सन्तान-वृद्धि करने वाले योगों का प्रयोग करे॥ ९॥

वक्तव्य—अन्य व्याख्याकारों ने वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध शरीर करके, वीर्य एवं सन्तान की वृद्धि करने वाले निरूह एवं अनुवासन वस्तियों का साथ-साथ प्रयोग करना चाहिए—यह अर्थ किया है, जो उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। क्योंकि आचार्य को यदि यह अर्थ अभिप्रेत होता तो 'निरूहान् सानुवासनान्' यह 'शुक्रापत्यविवर्धनान्' का द्वितीयान्त विशेषण दिया होता।

घृततैलरसक्षीरशर्करामधुसंयुताः। वस्तयः संविधातव्याः क्षीरमांसरसाशिनाम्॥ १०॥

अनुवासन वस्ति—दूध एवं मांसरस प्रधान आहार के अभ्यास वाले पुरुषों के लिए घी, तेल, मांसरस, दूध, चीनी और मधु जिनमें डाला गया हो, उन वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए॥ १०॥

पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्त्वा मरिचसैन्धवे। कोलवद् गुलिकाः कृत्वा तप्ते सर्पिषि वर्तयेत्॥ ११॥
वर्तनस्तम्भितास्ताश्च प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे। घृताढ्ये गन्धपिशुने दधिदाडिमसारिके॥ १२॥
यथा न भिन्द्याद् गुलिकास्तथा तं साधयेद्रसम्। तं पिबन् भक्षयंस्ताश्च लभते शुक्रमक्षयम्॥ १३॥
मांसानामेवमन्येषां मेद्यानां कारयेद् भिषक्। गुलिकाः सरसास्तासां प्रयोगः शुक्रवर्धनः॥ १४॥
इति वृष्या मांसगुलिकाः।

वृष्य मांसगुलिका—सूअर के मांस को पीसकर, उसमें उचित प्रमाण में कालीमरिच और सेंधानमक मिलाकर बेर के बराबर गोलियाँ बनाकर (कड़ाही में) गरम घी में पका लें। यह ध्यान रहे कि गोलियाँ पककर कड़ी हो जायें। फिर मुर्गे के मांसरस में खूब घी डालकर किञ्चित् सुगन्धित द्रव्य, दही, अनार का रस मिला दे और उसमें उक्त गोलियों को डालकर कड़ाही में सावधानी से पकाये, जिससे गोलियाँ टूटने न पायें। जब अच्छी तरह गोलियाँ पक जायें और मांसरस गाढ़ा हो जाय तो उतार कर रख ले। इन गोलियों को अपनी जठराग्नि के अनुसार उचित मात्रा में खाकर उक्त मांसरस का पान करने से पुरुष को अक्षय वीर्य की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार दूसरे मेदस्वी जीवों के मांस की गोली तथा मांसरस बनाकर प्रयोग करना चाहिए। यह प्रयोग वीर्यवर्धक होता है॥ ११-१४॥

माषानङ्कुरिताञ्छुद्धान् वितुषान् साजडाफलान्। घृताढ्ये माहिषरसे दधिदाडिमसारिके॥
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तो धान्यजीरकनागरैः। भुक्तः पीतश्च स रसः कुरुते शुक्रमक्षयम्॥ १६॥
इति वृष्यो माहिषरसः।

वृष्य माहिषरस—उड़द और केवाँच के खड़े बीज लेकर जल में तब तक भिगाये जब तक उनमें अंकुर न उत्पन्न हो जायें, फिर उनकी भूसी मसल कर निकाल दे। तत्पश्चात् पर्याप्त घी में मिले हुए एवं दही तथा अनार का रस डाले हुए भैंस के मांसरस में उन बीजों को पकाये। पकाते समय उसमें उचित मात्रा में धनिया, जीरा और सोंठ का चूर्ण डालें। पक जाने पर उन बीजों का आहार और उस मांसरस का पान करने वाला व्यक्ति अक्षय शुक्र प्राप्त करता है॥ १५-१६॥

आर्द्राणि मत्स्यमांसानि शफरीर्वा सुभर्जिताः। तप्ते सर्पिषि यः खादेत् स गच्छेत् स्त्रीषु न क्षयम्॥
इति वृष्यघृतभृष्टमत्स्यमांसानि।

वृष्य घृतभृष्ट मत्स्यमांस—ताजी मछली के मांस को अथवा सिधरी मछली को गरम घी में तलकर जो पुरुष खाता है, वह स्त्री-प्रसंग करने पर भी क्षीणवीर्य नहीं होता है (यह अत्यन्त वीर्यवर्धक है)॥ १७॥

घृतभृष्टान् रसे च्छागे रोहितान् फलसारिके। अनुपीतरसान् सिद्धानपत्यार्थी प्रयोजयेत्॥ १८॥
इति गर्भाधानकरो योगः।

गर्भाधानकर योग—रोहित (रोहू) मछलियों को घी में तलकर बकरे के मांस में डाल दें और उस मांसरस में अनार आदि फलों का रस डालकर पकाये, जब पककर रस गाढ़ा हो जाय तो ठण्डा कर मछलियाँ खाकर ऊपर से उस मांसरस को पी ले। यह प्रयोग सन्तानार्थी पुरुष को करना चाहिए॥ १८॥

कुट्टकं मत्स्यमांसानां हिङ्गुसैन्धवधान्यकैः। युक्तं गोधूमचूर्णेन घृते पूपलिकाः पचेत्॥ १९॥
माहिषे च रसे मत्स्यान् स्निग्धाम्ललवणान् पचेत्। रसे चानुगते मांसं पोथयेत्तत्र चावपेत्॥ २०॥
मरिचं जीरकं धान्यमल्पं हिङ्गु नवं घृतम्। माषपूपलिकानां तद् गर्भार्थमुपकल्पयेत्॥ २१॥
एतौ पूपलिकायोगौ बृंहणौ बलवर्धनौ। हर्षसौभाग्यदौ पुत्र्यौ परं शुक्राभिवर्धनौ॥ २२॥
इति वृष्यौ पूपलिकायोगौ।

वृष्य दो पूपलिका योग—(१) मछली के मांस को कूट-कूट कर कीमा बना ले, फिर उसमें उचित मात्रा में हींग, सेंधानमक और धनिया डालकर पीस ले। पुनः गेहूँ के आटे में उसे सानकर घी में तलकर छोटे पुए पका ले। (२) मछली के मांस को खूब कूटकर उसमें घी, अनार का रस और सेंधानमक डालकर भैंस के मांसरस में पका ले। जब पकाते-पकाते मांसरस सूख जाय तो उस मत्स्यमांस को पीसकर उसमें उचित मात्रा में मरिच, जीरा, धनिया, थोड़ी-सी हींग और नया घी डालकर मसल दे। फिर उड़द के आटे की लोई में उस मांसपिष्ट को भीतर में भरकर घी में कचौड़ी की तरह छान ले। ये दोनों ही पूपलिका योग मांसवर्धक, बलवर्धक, रतिशक्तिवर्धक, सौभाग्यप्रद, सन्तानदाता और प्रचुर मात्रा में वीर्य को बढ़ाने वाले होते हैं॥ १९-२२॥

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपैष्टिकम्। शर्कराया विदार्याश्च चूर्णमिक्षुरकस्य च॥ २३॥
संयोज्य मसृणे क्षीरे घृते पूपलिकाः पचेत्। पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां पराम्॥ २४॥
इति वृष्या माषादिपूपलिकाः।

वृष्य माषादि पूपलिका—उड़द की धोई, केवाँच के बीज (छिलका रहित), गेहूँ, अगहनी चावल और साठी के चावल, इनका आटा लेकर उसमें उचित मात्रा में चीनी, विदारीकन्द और तालमखाना के बीज का चूर्ण मिलाकर गाढ़े दूध में गूँथकर पुए पका लें। इन्हें खाकर ऊपर से दूध पीने से ये पूपलिकाएँ पुरुष को वाजीकरण का अतिशय सामर्थ्य प्रदान करती हैं॥ २३-२४॥

शर्करायास्तुलैका स्यादेका गव्यस्य सर्पिषः। प्रस्थो विदार्याश्चूर्णस्य पिप्पल्याः प्रस्थ एव च॥
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्याभिनवस्य च। तत्सर्वं मूर्च्छितं तिष्ठेन्मार्तिके घृतभाजने॥ २६॥
मात्रामग्निसमां तस्य प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्। एष वृष्यः परं योगो बल्यो बृंहण एव च॥ २७॥
इति वृष्ययोगः।

वृष्य योग—चीनी १ तुला (एक सौ पल), गाय का घी १ तुला, विदारीकन्द का चूर्ण १ प्रस्थ, पीपर का चूर्ण १ प्रस्थ, वंशलोचन का चूर्ण आधा आढक और ताजा घी आधा आढक लेकर सबको मिलाकर घी चुपड़े हुए मिट्टी के पात्र में रख दे। अपनी जठराग्नि के बल के अनुसार उचित मात्रा में प्रतिदिन प्रातःकाल इस घी का प्रयोग करे। यह योग बहुत ही वृष्य, बलप्रद और बृंहण होता है॥ २५-२७॥

शतावर्या विदार्याश्च तथा माषात्मगुप्तयोः। श्वदंष्ट्रायाश्च निष्क्वाथाञ्जलेषु च पृथक् पृथक्॥
साधयित्वा घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पुनः। शर्करामधुसंयुक्तं तदपत्यार्थी प्रयोजयेत्॥ २९॥
इत्यपत्यकरं घृतम्।

अपत्यकर घृत—शतावर, विदारीकन्द, उड़द, केवाँचबीज और गोखरू—इनमें से प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रस्थ लेकर चौगुने जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बना ले एवं इन पाँचों का १-१ प्रस्थ क्वाथ डालकर १ प्रस्थ घी में पकायें और ८ प्रस्थ दूध भी डाले। जब घृतमात्र बचे छानकर सुरक्षित रख ले। जो पुरुष सन्तान की कामना करता हो, वह चीनी और मधु मिलाकर उचित मात्रा में इस घृत का सेवन करे॥ २८-२९॥

घृतपात्रं शतगुणे विदारीस्वरसे पचेत्। सिद्धं पुनः शतगुणे गव्ये पयसि साधयेत्॥ ३०॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्येक्षुरकस्य च। पिप्पल्याः साजडायाश्च भागैः पादांशिकैर्युतम्॥
गुलिकाः कारयेद् वैद्यो यथा स्थूलमुदुम्बरम्। तासां प्रयोगात् पुरुषः कुलिङ्ग इव हृष्यति॥ ३२॥
इति वृष्यगुलिकाः।

वृष्य गुलिका—१ पात्र घी को सौ गुने विदारीकन्द के स्वरस (या क्वाथ) में पकाये, जब घी मात्र बचे तो पुनः सौगुने दूध में उस घी को पकाये। घी सिद्ध हो जाने पर उस घी में १ प्रस्थ चीनी, १ प्रस्थ वंशलोचनचूर्ण, १ प्रस्थ मधु, १ प्रस्थ तालमखानाबीजचूर्ण, १ प्रस्थ पीपर का चूर्ण और १ प्रस्थ केवाँच के बीज का चूर्ण डालकर खूब मथकर एकरस कर ले। वैद्य अपने निर्देशन में गूलर के फल के बराबर इस घृतयोग की गोलियाँ बनवा दें। इनके प्रयोग से पुरुष गौरैया चिड़िया की तरह कामवेग युक्त हो जाता है॥ ३०-३२॥

सितोपलापलशतं तदर्धं नवसर्पिषः। क्षौद्रपादेन संयुक्तं साधयेज्जलपादिकम्॥ ३३॥
सान्द्रं गोधूमचूर्णानां पादं स्तीर्णे शिलातले। शुचौ श्लक्ष्णे समुत्कीर्य मर्दनेनोपपादयेत्॥ ३४॥
शुद्धा उत्कारिकाः कार्याश्चन्द्रमण्डलसन्निभाः। तासां प्रयोगाद् गजवन्नारीः सन्तर्पयेन्नरः॥
इति वृष्योत्कारिका।

वृष्य उत्कारिका—मिश्री १०० पल, ताजा घी ५० पल, मधु २५ पल और जल २५ पल डालकर २५ पल गेहूँ का आटा डालकर पकाये। जब वह पाक गाढ़ा हो जाय तो उसे एक स्वच्छ चिकनी पत्थर की चौकी पर फैलाकर खूब मसल कर पूर्ण चन्द्रमा के समान गोलाकार बनाकर पुनः घी में पका ले। ऐसी उत्कारिकाओं के प्रयोग से पुरुष स्त्रियों के साथ हाथी के समान रमण करता हुआ उन्हें सन्तुष्ट कर देता है॥ ३३-३५॥

वाजीकरणाध्याय पाठ सा. गुण

यत् किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु। हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते॥ ३६॥

वृष्य की परिभाषा—जो कोई भी पदार्थ मधुर रस वाले, स्निग्ध (चिकने—घी, दूध आदि), जीवन, बृंहण, गुरु और मन को प्रसन्न करने वाले होते हैं, वे सब वृष्य कहे जाते हैं॥ ३६॥

द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद् भावितः प्रमदां व्रजेत्। आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः॥ ३७॥
गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं वाऽनुशयीत ना। तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च॥

स्त्रीसम्भोग काल और पश्चात् कर्म—पूर्व में कहे गये वृष्यगुण युक्त द्रव्यों और योगों के प्रयोग से वाजीकरण-सामर्थ्यसम्पन्न होकर कामवासना उत्पन्न होने पर एवं स्त्री की शृङ्गारिक चेष्टाओं से प्रहर्षयुक्त होकर स्त्रीसम्भोग करना चाहिए। सम्भोग के पश्चात् स्नान करके गाय का दूध या मांसरस पीकर शयन करना चाहिए। इस प्रकार के आचरण से पुरुष का वीर्य तथा बल पुनः बढ़ जाते हैं॥ ३७-३८॥

यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते। लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम्॥ ३९॥

शुक्र का प्रकटीभाव—जिस प्रकार फूल जब कली के रूप में होता है, तब उसके सुगन्ध की अभिव्यक्ति नहीं होती है और जब फूल खिलता है तब उसकी सुगन्ध की पहचान होती है। उसी प्रकार बाल्यावस्था में अल्पांश में होने के कारण शुक्र प्रकट नहीं होता है और युवावस्था के आने पर शुक्र प्रकट रूप में दिखाई देने लगता है॥ ३९॥

नर्ते वै षोडशाद्वर्षात् सप्तत्याः परतो न च। आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति॥ ४०॥

स्त्रीसहवास-योग्य आयु—जो पुरुष अपनी आयु को निरापद रखना चाहता है, उसे सोलह वर्ष की आयु होने के पहले और सत्तर वर्ष की आयु पूरी होने के पश्चात् स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करना चाहिए॥ ४०॥

अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियं व्रजन्। उपशुष्येत सहसा तडागमिव काजलम्॥ ४१॥

बालक का मैथुन निषिद्ध—जब तक शरीर की सम्पूर्ण धातुएँ पूर्ण विकसित नहीं हो जातीं तब तक अति बाल्यावस्था वाला (१६ वर्ष से कम आयु का) व्यक्ति यदि स्त्रीप्रसङ्ग करता है, तो वह वैसे ही शुष्क एवं क्षीण धातु हो जाता है, जैसे थोड़े जल वाला तालाब थोड़ा ही जल निकालने पर सूख जाता है॥ ४१॥

शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुदग्धं विजर्जरम्। स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्॥ ४२॥

वृद्ध का मैथुन निषिद्ध—जिस प्रकार सूखा हुआ रूखा, कीड़ों के लगने से भीतर से निःसार छलनी हो गया काष्ठ स्पर्श करने पर ढह पड़ता है और टूट जाता है; वैसे ही शुष्क क्षीण जर्जर शरीर का वृद्ध व्यक्ति यदि स्त्रीसम्भोग करता है तो वह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है॥ ४२॥

जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात्। क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां चातिनिषेवणात्॥

वीर्यक्षीणता के कारण—वृद्धावस्था, चिन्ता, अनेक तरह के रोग होने से, शक्ति से अधिक कार्य करने के कारण कृशता होने से, भोजन न करने से और अतिशय स्त्रीप्रसंग करने से पुरुषों का वीर्य क्षीण हो जाता है॥ ४३॥

क्षयाद्व्यादविश्रम्भाच्छोकात् स्त्रीदोषदर्शनात्। नारीणामरसज्ञत्वादभिचारादसेवनात्॥ ४४॥
तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते। देहसत्त्वबलापेक्षी हर्षः शक्तिश्च हर्षजा॥ ४५॥

क्लीबता के कारण—देखने में स्वस्थ और सुखी प्रतीत होने वाला व्यक्ति भी इन आठ कारणों से स्त्रीसम्भोग करने में असमर्थ होता है—(१) वीर्य का अतिक्षय हो जाने से, (२) भयग्रस्त होने से, (३) स्त्रियों के प्रति विश्वास न होने से, (४) शोकग्रस्त होने से, (५) स्त्री में (आचरणहीनता, अस्वच्छता, रुग्णता आदि) दोष देखने से, (६) स्त्रियों के शृङ्गार रस की अनुभूति एवं अपाङ्ग वीक्षण-हाव-भाव आदि न होने से, (७) किसी व्यक्ति द्वारा पुरश्चरण आदि तान्त्रिक प्रयोगों से नपुंसक बना देने से और (८) स्त्रियों के सम्भोग का सर्वथा त्याग कर देने से। शरीर के बलवान् होने पर और मन के बलवान् होने पर ही प्रसन्नता और स्त्रीविषयक प्रहर्ष (लिङ्गोत्थानपूर्वक कामेच्छा) होता है और प्रहर्ष होने पर ही मैथुन करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है॥ ४४-४५॥

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा। सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा॥ ४६॥

शरीर में शुक्र की स्थिति—जिस प्रकार गन्ने के सर्वाङ्ग में रस, दही के सर्वांश में घी और तिल के सर्वाङ्ग में तेल रहता है, उसी प्रकार शरीर के जितने भाग में स्पर्शज्ञान होता है, उतने भाग में वीर्य व्याप्त रहता है। एवञ्च जिस भाग में स्पर्शज्ञान नहीं होता; जैसे—बाल, नख आदि; उनमें वीर्य नहीं होता॥ ४६॥

वक्तव्य—चक्रपाणि ने इक्षु, दधि और तिल, इन तीन दृष्टान्तों का अभिप्राय तीन प्रकार से शुक्र के बाह्य निर्गमन का होना व्यक्त किया है। जैसे—(१) ईख को प्रयत्नपूर्वक कोल्हू में पेरने से रस निकलता है, उसी प्रकार कामवेगातुर होकर स्त्रीसम्पर्क रूपी प्रयत्न करने पर शुक्रस्राव होता है। (२) जिस प्रकार दही मथने में अल्प प्रयत्न करने पर ही घी निकल जाता है, उसी प्रकार स्मरण, कीर्तन, केलि आदि के रूप में अल्प प्रयत्न से शुक्र निकल जाता है और (३) जिस प्रकार तिल से कोल्हू में पेरने रूपी महाप्रयत्न से तेल निकलता है, उसी प्रकार कामवासना से ओतप्रोत होकर शुक्रक्षरणपर्यन्त स्त्रीसम्भोग रूपी महाप्रयत्न करने से शुक्र निकलता है। अतः इन तीनों दृष्टान्तों से मध्यम प्रयत्न, अल्प प्रयत्न एवं महाप्रयत्न रूप त्रिविध व्यापार से शुक्र का बाह्य निर्गमन होना बतलाया गया है। ''इक्ष्वादिदृष्टान्तत्रयेणानतिप्रयत्नाल्प-प्रयत्नमहाप्रयत्नबाह्यशुक्रान् पुरुषान् यथाक्रमं दर्शयति''। (चक्रपाणि)

तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासङ्कल्पपीडनात्। शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव॥ ४७॥

शुक्रनिर्गमन में उदाहरण—जब परस्पर आकृष्ट होकर कामपीड़ित स्त्री-पुरुष मैथुनकर्म की चेष्टाओं से एवं कामपूर्ति के संकल्प से परस्पर प्रेमालिङ्गन में आबद्ध होकर रतिकर्म में तल्लीन होते हैं, तब शुक्र अपने स्थान से गतिशील होकर मूत्रमार्ग से उसी प्रकार बाहर निकलता है जैसे भीगे कपड़े को गारने-निचोड़ने से जल बाहर निकलता है॥ ४७॥

हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि। अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च॥ ४८॥
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात्प्रसिच्यते। चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते॥ ४९॥

वीर्यस्राव के आठ कारण—(१) स्त्रीसम्भोग की लालसा से प्रेरित जननेन्द्रिय की दृढ़ता एवं शुक्रप्रसेकजनक प्रहर्ष होना, (२) स्त्रीसमागम की प्रबल अभिलाषा, (३) शुक्र की चञ्चलता और स्रवणशीलता, (४) शुक्र का पिच्छिल होना, (५) शुक्र में भारीपन होना, (६) शुक्र का सूक्ष्म होना, (७) शुक्र का बहिर्गमन स्वभाव होना और (८) शुक्रप्रेरक अपानवायु का शीघ्र गतिशील होना; इन आठ कारणों से वीर्य शरीर से बाहर स्रवित होता है।

शुक्र आत्मा का रूपद्रव्य—अनेकानेक पशु-पक्षी-मनुष्य आदि योनियों में भ्रमण करने वाले अव्यक्त आत्मा को जब व्यक्त शरीर के रूप में अवतरित होने की कामना होती है, तब उसे रूप देने वाला द्रव्य शुक्र ही होता है, इसलिए इसे उस विश्वरूप विश्वात्मा का 'रूपद्रव्य' कहा जाता है॥ ४८-४९॥

वीर्यस्राव के आठ कारण

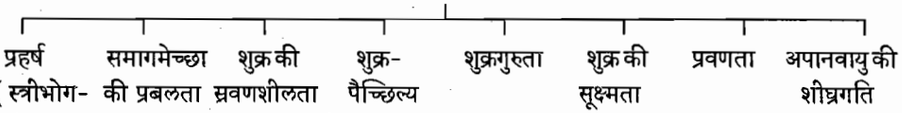

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्। शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम्॥ ५०॥

प्रशस्त फलप्रद शुक्र के गुण—जो वीर्य गाढ़ा हो, मधुर रसवाला हो, स्निग्ध हो, दुर्गन्धि से रहित हो, भारी हो, पिच्छिल हो, श्वेत वर्ण का हो और अधिक मात्रा में स्रवित हो, वह निश्चित ही सन्तान रूपी फल को देने वाला होता है॥ ५०॥

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः। व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्[1]॥ ५१॥

१. 'अनेन त्रिविधमपि निरुक्तेन वृष्यमवरुध्यते। यथा—शुक्रवृद्धिकरं च माषादि, तथा स्मृतिकरं सङ्कल्पादि, शुक्रस्मृतिवृद्धिकरं क्षीरादि'। (च.चि. २।४।५१ चक्रपाणिः)

वाजीकरण का निर्वचन—जिस आहार-विहार-आचार या औषध प्रयोग से मनुष्य स्त्रियों के साथ अश्व के समान रमण करने की शक्ति प्राप्त करता है और अधिक काल तक या अधिक बार मैथुन करने में समर्थ होता है, उस आहार-विहार एवं औषध या प्रकार को 'वाजीकरण' कहते हैं॥ ५१॥

तत्र श्लोकौ—

हेतुर्योगोपदेशस्य योगा द्वादश चोत्तमाः। यत्पूर्वं मैथुनात्सेव्यं सेव्यं यन्मैथुनादनु॥ ५२॥
यदा न सेव्याः प्रमदाः कृत्स्नः शुक्रविनिश्चयः। निरुक्तं चेह निर्दिष्टं पुमाञ्जातबलादिके॥ ५३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये पुमाञ्जातबलादिको नाम वाजीकरणपादश्चतुर्थः॥ ४॥

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः॥ २॥

उपसंहार—वाजीकरणाध्याय के इस चतुर्थ 'पुमाञ्जातबलादिक' नामक 'पाद' में वाजीकरण के योगों के कथन का कारण, बारह उत्तम प्रकार के योग, मैथुन के पूर्व और बाद में सेवन योग्य द्रव्य या प्रयोग, स्त्रीप्रसङ्ग का निषिद्ध काल या वय, शुक्र के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्तों का विवेचन और वाजीकरण की निरुक्ति—ये सब बातें कही गयी हैं॥ ५२-५३॥

पुमाञ्जातबलादिकपाद-योगबोधक सारणी

वस्ति	१. वृष्यवस्ति
गुटिका	१. वृष्य मांसगुटिका, २. वृष्यगुटिका
मांसरस	१. वृष्य माहिष रस, २. वृष्य घृतभृष्ट मत्स्यमांस, ३. वृष्य घृतभृष्ट छागरस पक्व मत्स्यमांस
वृष्ययोग	१. वृष्य घृतयोग
पूपलिका	१. वृष्य मत्स्यपूपलिका, २. वृष्य माहिषरसपक्व मत्स्यपूपलिका, ३. वृष्या माषादिपूपलिका
घृत	१. अपत्यकर घृत
उत्कारिका	१. वृष्या उत्कारिका
इस प्रकार १ + २ + ३ + १ + ३ + १ + १ = १२ कुल बारह योग होते हैं।	

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान के वाजीकरणाध्याय में 'पुमाञ्जातबलादिक' नामक वाजीकरण-विषयक चतुर्थ पाद समाप्त हुआ॥ ४॥

॥ वाजीकरण नामक यह दूसरा अध्याय समाप्त॥ २॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'ज्वरचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—चिकित्सा के जो दो भेद—१. स्वस्थ के लिए शक्तिप्रद और २. व्याधिघातक पूर्व में (च.चि.अ. १) कहे गये हैं, उनमें स्वस्थहित का उपदेश पहले दो अध्यायों में किया गया है। अब इस तृतीय अध्याय से रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा। यतः ज्वर सभी रोगों में अग्रजन्मा है, जन्म एवं मरणकाल में अवश्यम्भावी है और समस्त सृष्टि को आक्रान्त करता है, इसलिए सभी रोगों में प्रधान होने के कारण सर्वप्रथम ज्वर का उल्लेख किया जा रहा है।

विज्वरं ज्वरसन्देहं पर्यपृच्छत् पुनर्वसुम्। विविक्ते शान्तमासीनमग्निवेशः कृताञ्जलिः॥ ३॥

अग्निवेश का पुनर्वसु से प्रश्न—अग्निवेश ने अञ्जलि जोड़कर शरीर और मन से निर्व्याधि एकान्त स्थान में शान्तिपूर्वक बैठे हुए आचार्य पुनर्वसु से ज्वर-सम्बन्धी सन्देहों को पूछा॥ ३॥

वक्तव्य—जो व्यक्ति सर्वथा रोगमुक्त होगा, वही सन्देह का निवारण कर सकता है, इसलिए यहाँ पुनर्वसु का विशेषण 'विज्वरं' दिया गया है, यहाँ ज्वर शब्द रोगसामान्य का वाचक है। 'विविक्ते शान्तमासीनम्' का तात्पर्य यह है कि जब गुरुजन शान्तचित्त होकर एकान्त में बैठे हों, तभी उनको प्रणाम करके उनसे अपना सन्देह व्यक्त करना चाहिए।

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली। ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा॥ ४॥
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये। प्रकृतिं च प्रवृत्तिं च प्रभावं कारणानि च॥ ५॥
पूर्वरूपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम्। व्यासतो विधिभेदाच्च पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम्॥ ६॥
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य सौषधं च क्रियाक्रमम्। विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक् पृथक्॥
ज्वरावसृष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः। प्रशान्तः कारणैर्यैश्च पुनरावर्तते ज्वरः॥ ८॥
याश्चापि पुनरावृत्तं क्रियाः प्रशमयन्ति तम्। जगद्धितार्थं तत् सर्वं भगवन्! वक्तुमर्हसि॥ ९॥

ज्वर-सम्बन्धी प्रश्नावली—हे भगवन्! शरीर, इन्द्रिय और मन इन तीनों ही को सन्तप्त करने वाला, सभी रोगों में प्रथम उत्पन्न, रोगों में सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रधान ज्वर ही होता है; ऐसा आपने पूर्व (निदानस्थान अ. १) में कहा है। उस प्राणिमात्र के शत्रुस्वरूप एवं जन्म-मरण के समय अवश्यम्भावी ज्वर के विषय में संसार के कल्याण के लिए आप मेरे सन्देहों का समाधान बतलायें कि उस ज्वर की—(१) प्रकृति क्या है? (२) उसकी प्रवृत्ति कैसे हुई? (३) उसका प्रभाव क्या है? (४) उसका कारण क्या है? (५) पूर्वरूप क्या है? (६) अधिष्ठान (आश्रय) क्या है? (७) बल क्या है? (८) काल ग है? (९) आत्म लक्षण क्या है? (१०) ज्वर के प्रकारभेद और विस्तारपूर्वक जो प्रकार होते हैं, उनके ग-अलग लक्षण कौन-से हैं? (११) आम ज्वर के लक्षण क्या हैं? (१२) जीर्ण ज्वर के कौन लक्षण हैं? (१३) ज्वर की चिकित्सा-प्रक्रिया और औषध क्या है? (१४) मुच्यमान (छोड़ते समय) ज्वर के

क्या लक्षण हैं? (१५) जब ज्वर शान्त हो जाता है तो उसकी क्या पहचान है? (१६) ज्वरमुक्त होने पर व्यवाय-स्नान-श्रम आदि से रोगी को कितने समय तक बचाना चाहिए? (१७) निवृत्त हुआ ज्वर किन कारणों से पुनः आक्रमण कर बैठता है? और (१८) पुनरावर्तक (फिर से लौट आने वाले) ज्वर को प्रशान्त करने की कौन-सी क्रियाएँ होती हैं? (इन प्रश्नों का उत्तर आप दें, जिससे मैं अपने शिष्यों को ज्वर के विषय में असन्दिग्ध रूप से उपदेश दे सकूँ और वे लोककल्याणार्थ चिकित्सा करने में समर्थ हों)॥ ४-९॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत्। ज्वराधिकारे यद्वाच्यं तत् सौम्य निखिलं शृणु॥ १०॥

पुनर्वसु का अग्निवेश को उत्तर—अग्निवेश के ज्वर-सम्बन्धी प्रश्नों को सुनकर गुरु पुनर्वसु ने उत्तर दिया कि हे सौम्य! ज्वर के विषय में जो भी कुछ कथनीय विषय है, उनको पूर्णतया सुनिए॥ १०॥

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च। एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते॥ ११॥

ज्वर के पर्याय—एक ही ज्वर रूपी अर्थ को ज्वर, विकार, रोग, व्याधि और आतङ्क—इन अनेक नामबोधक पर्याय शब्दों से कहा जाता है॥ ११॥

वक्तव्य—एक ही अर्थ को बतलाने वाले भिन्न जाति के शब्दों को पर्याय कहते हैं।

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः। देहिनं न हि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते॥ १२॥

(१) ज्वर की कारणरूप प्रकृति—शारीरिक वात, पित्त, कफ और मानस रज एवं तम दोष ज्वर की प्रकृति (मूल कारण) कहे गये हैं, क्योंकि शारीरिक एवं मानस दोषों के प्रकोप के बिना शरीरधारियों को ज्वर नहीं होता?॥ १२॥

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः। पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा॥
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता—

ज्वर की स्वभावरूप प्रकृति—ज्वर क्षयकारक है, क्योंकि इससे शरीर के उपादान तत्त्व धातु आदि क्षीण हो जाते हैं, इसलिए इसे 'क्षय' कहा जाता है। ज्वर से तमोगुण का कार्य मोह होता है, अतः ज्वर को 'तम' कहते हैं। ज्वर पापों के फलस्वरूप होने से पाप्मा कहलाता है। यह मृत्यु का कारण होने से 'मृत्यु' कहा जाता है। इस प्रकार जैसे यमराज मारक हैं, वैसे ही इन विविध रूपों वाला ज्वर भी मारक होता है, अतः ज्वर के ये सभी विशेषण यमस्वरूप होते हैं, क्योंकि जब प्राणी अपने रोगजनक अपथ्य आहार-विहार करते हैं, तो पञ्चतत्त्व (मृत्यु) का कारण होने से ज्वर के ये रूप यमात्मक होते हैं। यह ज्वर की (स्वभावरूप) प्रकृति कही गयी॥ १३॥

—प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात्। निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात्॥ १४॥

(२) ज्वर की प्रवृत्ति (प्रथमोत्पत्ति)—ज्वर का प्रादुर्भाव 'परिग्रह' से हुआ (जिसका वर्णन च.वि.अ. ३ में है) एवं पूर्व में निदानस्थान अध्याय १ में भगवान् शंकर के भयंकर कोप से ज्वर की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) कही गयी है॥ १४॥

द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम्। दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः॥ १५॥
तपोविघ्नाशनाः कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनाम्। पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः॥
पुनर्महेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः। यज्ञे न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि॥ १७॥
ऋचः पशुपतेर्यांश्च शैव्य आहुतयश्च याः। यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान्॥ १८॥
अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम्। रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः॥ १९॥
सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः। बालं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम्॥ २०॥

ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः। दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः॥
अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम्। तमृग्भिरस्तुवन् यावच्छैवे भावे शिवः स्थितः॥ २२॥
शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः। भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः॥
ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात्। क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते॥
तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि। जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च॥ २५॥

ज्वरोत्पत्ति का कारण रुद्रकोप—त्रेतायुग में जब एक हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त चलने वाले 'अक्रोध' व्रत पर भगवान् शंकर बैठे हुए थे, तब (१) तपस्या में विघ्न करके अपनी जीविका चलाने वाले असुर साधु-महात्माओं की तपश्चर्या में विघ्न करने के लिए आक्रमण करने लगे। इस स्थिति को देखते हुए तथा असुरों का दमन करने में समर्थ होते हुए भी दक्ष प्रजापति ने न असुरों का दमन किया, न महात्माओं की रक्षा की; अपितु उन्होंने उपेक्षा की। (२) पुनः देवताओं के कहने पर भी दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में भगवान् शंकर को उनके लिए अवश्य देय भाग नहीं दिया। इतना ही नहीं, (३) दक्ष ने यज्ञ को सफल बनाने वाली जो पशुपति शिव की ऋचाएँ हैं और जो शिवजी की आहुतियाँ हैं, उनके बिना ही यज्ञ कर डाला।

भगवान् शंकर ने जब अपना व्रत पूरा कर लिया, तब उन्हें दक्ष द्वारा यज्ञ में किये गये व्यतिक्रम (नियमों का उल्लंघन) का ध्यान आया। फिर तो आत्मज्ञानी शिव ने अपना रौद्र रूप धारण कर ललाट में अपने तृतीय नेत्र को प्रकट कर उन राक्षसों को जला दिया और क्रोधाग्नि से सन्तप्त शरीर वाले, यज्ञ के विध्वंसन में समर्थ बालक (वीरभद्र) की सृष्टि की। उस बालक ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस कर दिया और देवतागण तथा अन्य प्राणी दाह और पीड़ा से व्यथित, व्याकुल और विक्षिप्त होकर इधर-उधर दिशाओं में भागने लगे।

(इस भयावह असह्य दुःस्थिति को देखकर) सप्तर्षियों के साथ देवगण उस व्यापक रौद्ररूप की स्तुति करने लगे और तब तक स्तुति करते रहे जब तक भगवान् रुद्र अपने कल्याणकारी शिव रूप में न आ गये।

जब क्रोधाग्नि ने भगवान् रुद्र को प्राणियों के कल्याण के लिए शिव के स्वरूप में अवस्थित देखा, तब वह भस्म को शस्त्र के रूप में प्रयोग करने वाला, तीन शिर और नौ नेत्रों वाला, छोटी-सी जंघा और छोटे पेट वाला, आग की लपटों की माला से घिरा हुआ, भयानक आकार का क्रोधाग्नि डरते-डरते हाथ जोड़कर भगवान् शिव से निवेदन किया—भगवन्! अब मैं क्या करूँ? शिव ने उस क्रोध से कहा—'इस संसार में प्राणियों के जन्मकाल और मृत्युकाल एवं जब वे विधिविरुद्ध आचरण (अपथ्यसेवन) करेंगे तब उनकी देह में तुम ज्वर बनकर अवतरित होंगे॥ १५-२५॥

सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा। ज्वरप्रभावो, जन्मादौ निधने च महत्तमः॥ २६॥
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः।

(३) ज्वर का प्रभाव—शरीर, मन और इन्द्रियों में सन्ताप होना, भोजन में रुचि का अभाव, प्यास लगते रहना, अंगों में दर्द और हृदय में व्यथा का होना—ये ज्वर के प्रभाव हैं। जन्म के पहले और मृत्यु के समय मोहग्रस्त हो जाना भी ज्वर का ही प्रभाव है, क्योंकि इन दोनों समयों में ज्वर अवश्यम्भावी है। इस प्रकार ज्वर की १. प्रकृति, २. प्रवृत्ति और ३. प्रभाव का वर्णन कर दिया गया॥ २६॥

निदाने कारणान्यष्टौ पूर्वोक्तानि विभागशः॥ २७॥

(४) ज्वर के निदान या कारण—(चरकसंहिता के) निदानस्थान (अध्याय १) में पहले ही विभाग करके कहे गये जो (१. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. वातपित्त, ५. वातकफ, ६. पित्तकफ, ७. वातपित्तकफ और ८. आगन्तुक) आठ कारण हैं, वे ही ज्वर के कारण हैं॥ २७॥

ज्वर के आठ कारण

वात पित्त कफ वातपित्त वातकफ पित्तकफ वात-पित्त-कफ आगन्तुक

आलस्यं नयने साम्ने जृम्भणं गौरवं क्लमः। ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषाविनिश्चितौ। २८॥
अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः। शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम्॥ २९॥

(५) ज्वर के पूर्वरूप—शरीर, मन और इन्द्रियों में आलस्य होना, आँखों में आँसू भर जाना, जम्भाई आना, शरीर में भारीपन मालूम होना, इन्द्रियों का अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होना, आग-धूप-वायु और जल के प्रति कभी लगाव होना तथा कभी इनसे अनिश्चित रूप से द्वेष हो जाना, भोजन का पाचन न होना, मुख का स्वाद फीका लगना, शरीर के बल का ह्रास होना, शरीर का वर्ण फीका पड़ जाना और कुछ अंश में स्वभाव का परिवर्तन हो जाना—ये सब ज्वर के पूर्वरूप हैं॥ २८-२९॥

केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते। शरीरं—

(६) ज्वर का अधिष्ठान—मन सहित सम्पूर्ण शरीर ज्वर का आश्रय (अधिष्ठान) है।

—बलकालस्तु निदाने सम्प्रदर्शितः॥ ३०॥

(७-८) ज्वर का बल और काल—ज्वर का काल और उसके बढ़कर बलवान् होने की बात पीछे निदानस्थान अध्याय १ में कही गयी है। जैसे—आहार के पचने पर, दिन के, रात के और घर्म के अन्त में वायु से, भोजन के पचने के बीच में, दिन के मध्य में, अर्धरात्रि और शरद् ऋतु में पित्त का तथा भोजनान्त में, पूर्वाह्ण में, रात्रि के प्रथम याम और वसन्त ऋतु में कफ का ज्वर होता है या बढ़कर प्रबल हो जाता है॥ ३०॥

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः। ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते॥ ३१॥

(९) ज्वर का प्रत्यात्म लक्षण—(प्रत्यात्मलक्षण वह कहलाता है जो उस रोग में अवश्यमेव उपस्थित रहे, जैसे) शरीर और मन में सन्ताप का होना, ज्वर का अवश्यम्भावी एवं निज का प्रत्यात्मलक्षण है। कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जिसके शरीर में ज्वर का प्रवेश हो और सन्ताप का अनुभव न करे॥ ३१॥

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः। पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव वा॥ ३२॥
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते। प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च॥ ३३॥
पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्। सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ॥ ३४॥
पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः। भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः॥ ३५॥

(१०) ज्वर के भेद—प्रकार-भेद से ज्वर दो प्रकार का होता है—१. शारीरिक और २. मानसिक। पुनः उसके दो भेद होते हैं—१. सौम्य और २. आग्नेय। वेग की दृष्टि से दो भेद—१. अन्तर्वेग और २. बहिर्वेग। कारण की दृष्टि से दो भेद—१. प्राकृत और २. वैकृत। चिकित्सा की दृष्टि से दो भेद—१. साध्य और २. असाध्य। इस तरह विधिभेद से ये दो-दो भेद बतलाये गये हैं। पुनः दोष के कालानुसार सबल और निर्बल होने से ज्वर पाँच प्रकार का देखा जाता है—१. सन्तत, २. सतत, ३. अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक और ५. चतुर्थक। इसी प्रकार सात धातुओं के आश्रयभेद से ज्वर सात प्रकार का माना गया है—१. रसज, २. रक्तज, ३. मांसज, ४. मेदोज, ५. अस्थिज, ६. मज्जागत और ७. शुक्रगत। एवञ्च कारण-भेद से ज्वर आठ प्रकार का होता है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज, ७. सन्निपातज और ८. आगन्तुक कारण से उत्पन्न॥ ३२-३५॥

ज्वर-भेद बोधक सारणी

द्विविध	(क) १. शारीर, २. मानस; (ख) १. सौम्य, २. आग्नेय; (ग) १. बहिर्वेग, २. अन्तर्वेग; (घ) १. प्राकृत, २. वैकृत; (ङ) १. साध्य, २. असाध्य।
पञ्चविध	१. सन्तत ज्वर, २. सतत ज्वर, ३. अन्येद्युष्क ज्वर, ४. तृतीयक ज्वर, ५. चतुर्थक ज्वर।
सप्तविध (धात्वाश्रय)	१. रसगत, २. रक्तगत, ३. मांसगत, ४. मेदोगत, ५. अस्थिगत, ६. मज्जागत, ७. शुक्रगत।
अष्टविध	**दोषज** : १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज, ७. त्रिदोषज, ८. **आगन्तु**→विषजन्य ज्वर, औषधिगन्धज ज्वर, कामज्वर, भयशोकादि-जन्य ज्वर।

शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः। वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्॥ ३६॥
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्।

मानस ताप और इन्द्रिय के सन्ताप का लक्षण—दोषों के प्रकोप से पहले शरीर में उत्पन्न होने वाला ज्वर 'शारीर' कहलाता है। जब मानस दोषों के प्रकुपित होने से पहले मन में सन्ताप होता है, तब उसे 'मानस' ज्वर कहते हैं। मन में विक्षिप्तता (व्यग्रता), मन का कहीं न लगना और मन में खिन्नता का होना—ये मन के सन्ताप या ज्वर के लक्षण हैं। जब इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है तो इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है, यह इन्द्रियों के सन्ताप या ज्वर का लक्षण है॥ ३६॥

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः॥ ३७॥
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः। योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्॥ ३८॥
दाहकृत्तेजसा युक्तः, शीतकृत् सोमसंश्रयात्।

सौम्य तथा आग्नेय ज्वर और उसका कारण—वात और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न ज्वर शीत पदार्थ की कामना करता है। जिस ज्वर की उत्पत्ति वात और कफ के प्रकोप से होती है, वह उष्ण पदार्थ चाहता है। जब दोनों प्रकार के ज्वरों का संयोग होता है अर्थात् कफ तथा पित्त से वात का संयोग है, तब मिले-जुले लक्षण होते हैं और आक्रान्त व्यक्ति शीत और उष्ण दोनों प्रकार के पदार्थों को चाहता है। वायु उच्च कोटि का योगवाही है। वह पित्त और कफ दोनों से संयुक्त होकर शरीर में दोनों के लक्षणों को प्रकट करता है। जब वायु तेज (पित्त) से संयुक्त होता है तो दाह उत्पन्न करता है और जब कफ से संयुक्त होता है, तब शीतलता उत्पन्न करता है॥ ३७-३८॥

वक्तव्य—'योगवाही' उसे कहते हैं जो अपने सहचर के गुणों को ग्रहण कर ले—"गृह्णाति योगवाहि द्रव्यं संसर्गिवस्तुगुणान्" एवञ्च वायु न तो शीत होता है, न उष्ण, अपितु शीत के साथ रहने पर शीत और उष्ण के साथ रहने पर उष्ण हो जाता है।

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः॥ ३९॥
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्त्मो विनिग्रहः। अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत्॥ ४०॥

अन्तर्वेगी ज्वर के लक्षण—शरीर के आभ्यन्तर भाग में दाह होना, तृष्णा अधिक लगना, अनाप-शनाप बकते रहना, श्वास-प्रश्वास की तीव्रता होना, चक्कर मालूम होना, सन्धिस्थलों और अस्थियों में वेदना होना, पसीना न होना, अपान वायु और मूत्र तथा मल की रुकावट होना; ये सब अन्तर्वेगी ज्वर के लक्षण होते हैं॥ ३९-४०॥

वक्तव्य—अन्तर्वेगी ज्वर की चिकित्सा कठिनाई से हो पाती है और यह हठी ज्वर होता है, अतः इसे कृच्छ्रसाध्य जानना चाहिए।

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च॥

बहिर्वेगी ज्वर के लक्षण—शरीर के बाह्य भाग में तापमान की अधिकता और प्यास आदि की कमी प्रतीत होना, बहिर्वेगी ज्वर के ये लक्षण हैं। यह ज्वर अल्पचिकित्सासाध्य होने से सुखसाध्य होता है॥ ४१॥

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः। उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति॥ ४२॥
चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते।

प्राकृत ज्वर की सुखसाध्यता—जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप होता है, उस ऋतु में उस दोष से होने वाला रोग प्राकृत कहलाता है। जैसे—वसन्त में कफज और शरद् में पित्तज ज्वर प्राकृत ज्वर हैं। ये दोनों ही ज्वर सुखसाध्य होते हैं।

पित्त तथा कफ के प्रकोपक ऋतु—उष्ण स्वभाव वाला पित्त उष्ण स्वभाव वाले पदार्थों के सेवन से एवं धूप लगने से शरद् ऋतु में प्रकुपित हो जाता है। इसी तरह शीत स्वभाव वाला संचित कफ वसन्त ऋतु में सूर्यसन्ताप से द्रवित होकर प्रकुपित हो जाता है॥ ४२॥

वर्षास्वम्लविपाकाभिरद्भिरोषधिभिस्तथा॥ ४३॥
सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा। ज्वरं सञ्जनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः॥ ४४॥
प्रकृत्यैव विसर्गस्य तत्र नानशनाद् भयम्।

प्राकृतिक पैत्तिक ज्वर—वर्षा ऋतु में जल का विपाक अम्ल हो जाता है, उस जल के सेवन से और वर्षा ऋतु में औषधियों का भी अम्ल विपाक हो जाता है तथा उनके सेवन से वर्षा ऋतु में पित्त का संचय होता है। शरद् ऋतु आने पर सूर्य की प्रखर किरणों के सन्ताप से पित्त प्रकुपित हो जाता है और शीघ्र ही ज्वर उत्पन्न कर देता है। उस पित्त का सहयोगी कफ भी अनुबन्ध रूप में रहता है। विसर्ग काल तथा पित्त की सहिष्णुता के कारण इस प्रकार के ज्वर में उपवास करने से (शक्तिक्षय का) भय नहीं रहता है॥ ४३-४४॥

अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः॥ ४५॥
हेमन्ते, सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति। वसन्ते श्लेष्मणा तस्माज्ज्वरः समुपजायते॥ ४६॥
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु।

प्राकृतिक कफज्वर—हेमन्त ऋतु में जल तथा औषधियों का विपाक मधुर होने के कारण उनके सेवन से कफ का संचय होता है और संचित हुआ कफ वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों के ताप से सन्तप्त होकर द्रवीभूत हो जाता है एवं प्रकुपित होता है, जिसके कारण वसन्त ऋतु में कफप्रकोप से ज्वर उत्पन्न होता है। वसन्त ऋतु आदान काल की तीन ऋतुओं में मध्य है, वसन्त ऋतु में कफदोष से उत्पन्न ज्वर के साथ वात तथा पित्त का भी अनुबन्ध रहता है॥ ४५-४६॥

आदावन्ते च मध्ये च बुद्ध्वा दोषबलाबलम्॥ ४७॥
शरद्वसन्तयोर्विद्वाञ्ज्वरस्य प्रतिकारयेत्। कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः॥ ४८॥
प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः। हेतवो विविधास्तस्य निदाने सम्प्रदर्शिताः॥ ४९॥
बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः।

प्राकृत ज्वरचिकित्सा सिद्धान्त—विद्वान् वैद्य शरद् एवं वसन्त में उत्पन्न ज्वरों की चिकित्सा करते समय उन ऋतुओं से आदि, मध्य तथा अन्त में दोषों की सबलता और निर्बलता को जानकर ही चिकित्सा करे अर्थात् दोष के प्रबल, मध्यबल या निर्बल होने पर तदनुसार उनके प्रतिकार का उपाय करे।

प्राकृत ज्वर—काल के स्वभाव अर्थात् किस काल (ऋतु) में किस दोष का प्रकोप होता है एवं उस दोष के अनुसार ज्वर की उत्पत्ति (स्वप्रकोपककालप्रकुपित दोषजन्य) होना 'प्राकृत ज्वर' कहलाता है।

प्राकृत वातज्वर की दुःसाध्यता—प्रायः करके वात से उत्पन्न होने वाला (वर्षाऋतुजन्य) प्राकृत ज्वर कृच्छ्रसाध्य होता है।

वैकृत ज्वर—अपने प्रकोपक काल के अतिरिक्त किसी अन्य काल में उत्पन्न (जैसे—वसन्त ऋतु में पित्त या वात से, शरद् ऋतु में कफ या वात से एवं वर्षा ऋतु में कफ या पित्त से उत्पन्न) ज्वर वैकृत कहलाता है और वह कृच्छ्रसाध्य होता है।

ज्वर के कारण—ज्वर को उत्पन्न करने वाले अनेक कारण होते हैं, जिनका वर्णन निदानस्थान अ० १ में कर दिया गया है।

ज्वर की साध्यता—जब रोगी बलवान् हो, अल्पांश में दोष का प्रकोप हो और कोई उपद्रव (कास-मूर्च्छा-अरुचि-वमन-तृष्णा-अतिसार-विबन्ध-हिक्का-श्वास और अङ्गमर्द) न हो, तब ज्वर साध्य होता है॥ ४७-४९॥

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः॥ ५०॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः। सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहात्तथैव च॥ ५१॥
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम्। ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः॥ ५२॥
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः।

साध्य ज्वर के लक्षण—जो ज्वर अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ हो, बहुत से लक्षणों वाला हो और जो शीघ्र ही इन्द्रियों के (शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श) विषयग्रहणसामर्थ्य को नष्ट कर देने वाला हो, वह ज्वर प्राणघातक होता है। यदि वातदोष से उत्पन्न ज्वर में भयंकर प्रलाप हो रहा हो, तो वह ज्वर सात दिन में प्राणान्त कर देता है। यदि पित्तज्वर में तीव्र भ्रम (चक्कर) आता हो, तो वह दस दिन में मारक होता है। इसी प्रकार कफज ज्वर में यदि तीक्ष्ण श्वास का वेग चल रहा हो, तो वह बारह दिन में रोगी को मार डालता है। यदि रोगी क्षीण हो और उसके शरीर में शोथ हो गया हो, रोगी गम्भीर (अन्तर्दाह, तृष्णा, श्वास, कास आदि के साथ) ज्वर से ग्रस्त हो एवं दीर्घकालीन ज्वर हो तो वह असाध्य होता है। जिस ज्वर का वेग तीव्र हो और रोगी के शिर के बाल बिना सजाये ही सजाये-सँवारे गये जैसे दीख पड़ें, तो वह रोगी असाध्य होता है॥ ५०-५२॥

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः॥ ५३॥
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा जवं कुर्वन्ति सन्ततम्। दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः॥ ५४॥
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा।

सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति—प्रवृद्ध दोष रसवह स्रोतों के माध्यम से जब सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं तब वे शरीर में स्तब्धता उत्पन्न कर सन्तत ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

सन्तत ज्वर की अवधि—सन्तत ज्वर बड़ा ही असह्य होता है। वह तीनों दोषों से उत्पन्न होने के कारण सुदुःसह कहा गया है। वातदोष की अधिकता से सात दिन में, पित्तदोष की अधिकता से दस दिन में और कफदोष की अधिकता से बारह दिन में अल्प प्रकोप होने पर ज्वर शान्त हो जाता है अथवा दोषप्रकोप की तीव्रता से रोगी को मार डालता है॥ ५३-५४॥

कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्॥ ५५॥
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः।

सन्तत ज्वर सुदुःसह—जब दोष का समानधर्मा काल (ऋतु), दोष के समान दूष्य (रस-रक्तादि धातुएँ) और दोष के समान रोगी की प्रकृति होती है (जैसे—वर्षा ऋतु, अस्थिदूष्य और वातप्रकृतिक रोगी; शरद्ऋतु, रक्तदूष्य और पित्तप्रकृतिक रोगी तथा वसन्त ऋतु, मेद दूष्य और कफप्रकृतिक रोगी) तब उस दोष को शान्त करने वाला कोई प्रतिरोधक या विरोधी नहीं होता और वह सन्तत ज्वर को उत्पन्न करता है। अतएव वह ज्वर भयंकर एवं असह्य कष्टकर होता है॥ ५५॥

यथा धातूँस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः॥ ५६॥
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे। स शुद्धया वाऽप्यशुद्धया वा रसादीनामशेषतः॥ ५७॥
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा।

सन्तत ज्वर के बारह आश्रय—जिस प्रकार कुपित हुए वात-पित्त-कफ सन्तत ज्वर में रस-रक्त आदि धातुओं में प्रविष्ट होकर उन्हें विकृत बना देते हैं, उसी प्रकार वे दोष मूत्र और मल में भी प्रवेश कर उन्हें दूषित कर देते हैं।

सन्तत ज्वर का शमन या मारकता—यदि समुचित उपचार करने से रस-रक्तादि धातुएँ पूर्णतः शुद्ध हो जाती हैं, तो सात, दस या बारह दिनों में सन्तत ज्वर प्रशान्त हो जाता है; अन्यथा सात, दस एवं बारह दिनों की अवधि में रसादि धातुएँ शुद्ध नहीं होतीं तो यह रोगी को मार डालता है॥ ५६-५७॥

यदा तु नातिशुद्ध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः॥ ५८॥
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा। विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम्॥ ५९॥
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते। इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्य उपक्रामेत्तु सन्ततम्॥ ६०॥
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः।

सन्तत ज्वर का विसर्ग और अनुवर्तन—सन्तत ज्वर के जो बारह आश्रय बतलाये गये हैं, जब ये एकदम शुद्ध नहीं हो पाते या सर्वांश में शुद्ध न होकर कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध होते हैं, तब यह बारहवें दिन छोड़कर पुनः तेरहवें दिन आ जाता है और उसके लक्षण व्यक्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में इसके शमन का उपाय कर पाना दुर्लभ होता है एवं यह ज्वर दीर्घकाल तक बना रह जाता है। इस सन्तत ज्वर की इन परिस्थितियों को अच्छी तरह जानने के पश्चात् वैद्य इसकी चिकित्सा का आरम्भ करे। सावधान होकर सर्वप्रथम अपतर्पण प्रयोगों से चिकित्साक्रम का विधान बनाये॥ ५८-६०॥

वक्तव्य—यह लगातार बना रहने वाला अविसर्गी ज्वर है। प्राचीन ग्रन्थों में सन्तत नाम से कथित ज्वर की अवधि दोषानुसार ७ दिन, १० दिन एवं १२ दिन कही गयी है। वर्तमान काल में इसे आन्त्रिक ज्वर, मधुरक ज्वर, मोतीझरा, टाईफायड, मियादी बुखार आदि नामों से जाना जाता है। गणनाथ सेन जी ने इसका वर्णन 'सिद्धान्तनिदान' प्रथम खण्ड में आन्त्रिक ज्वर नाम से किया है। प्रत्यक्षानुभूति से इसे १४ दिन, २२ दिन, २८ दिन या ४०-४२ दिन तक लगातार बने रहते देखा जाता है। प्रथम सप्ताहान्त में पिडकाएँ सर्षपाकार श्वेत वर्ण की दीख पड़ती हैं। ग्रीवा, उदर या जंघा (ऊरु) में पहले निकलती हैं। सम्पूर्ण ग्रीवा-ऊरु भाग में पिडकाओं के निकलने पर रोगी को पिड़कानिर्गमन काल में ताप की तीव्रता के कारण बड़ी बेचैनी होती है। क्रमशः पिडकाएँ भूसी की तरह मुरझा कर समाप्त हो जाती हैं और ज्वर का वेग घटने लगता है। दोषों के प्रकोपानुसार इसकी अवधि कम या अधिक होती है। इसकी चिकित्सा में स्वाभाविक क्रम से ज्वर उतरने देना चाहिए, जिससे अपनी अवधि बीतने पर ज्वर का वेग शान्त हो जाता है।

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्॥ ६१॥
सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम्। अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते॥ ६२॥

सततक ज्वर—रक्तधातु में आश्रित दोष जब काल, प्रकृति या दूष्य, इनमें से किसी को अपने से विपरीत भाव वाला पाता है, तब वह दोष अपने अनुगुण (गुणानुरूप) काल को न पाकर क्षीण या मन्दवेगी ज्वर को उत्पन्न करता है और जब अपने अनुरूप गुण वाले काल आदि को पाता है, तो बढ़ने वाले ज्वर को उत्पन्न करता है। यह ज्वर चौबीस घण्टे में दो बार उत्पन्न होता है। (यह ज्वर दिन में दो बार, रात्रि में दो बार अथवा दिन में एक बार एवं रात्रि में एक बार भी हो सकता है)॥ ६१-६२॥

कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद्बलम्। अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहाः सिराः॥ ६३॥
सप्रत्यनीकाः जनयत्येककालमहर्निशि। दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ॥ ६४॥

अन्येद्युष्क ज्वर लक्षण—काल, प्रकृति या दूष्य, इनमें से किसी एक का बल प्राप्त करके और इनमें से किसी के विरोधी रहने पर भी दोष मेदोवाही सिरा को रोककर एक अहोरात्र (दिन-रात) में एक बार ज्वर को उत्पन्न करता है, इस प्रकार के ज्वर को अन्येद्युष्क ज्वर कहते हैं।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वर—जब दोष अस्थि में प्रवेश कर उसे ही अपना आश्रय बना लेता है, तब वह तृतीयक ज्वर को उत्पन्न करता है। एवञ्च दोष जब मज्जा को आश्रय बनाता है, तब वह चतुर्थक ज्वर उत्पन्न करता है॥ ६३-६४॥

गतिर्द्वयेकान्तराऽन्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः। अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यादपि संश्रित्य शोणितम्॥
मांसस्रोतांस्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम्। संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम्[1]**॥ ६६॥**

दोषों की गति के अनुसार विषम ज्वर के विविध रूप—ज्वरोत्पादक दोषों की गति के अनुसार दो दिन, एक दिन छोड़कर या प्रतिदिन एक बार ज्वर का वेग आता है—जो ज्वर बीच के दो दिन नहीं रहता है, उसे 'चतुर्थक', जो बीच के एक दिन नहीं रहता है, उसे 'तृतीयक' और जो चौबीस घण्टे पर एक बार होता है, उसे 'अन्येद्युष्क' ज्वर कहते हैं।

अन्य आचार्यों का अभिमत है कि दोष जब रक्ताश्रित होता है तब 'अन्येद्युष्क' ज्वर उत्पन्न करता है, जब मांसवाही स्रोतों में जाता है तब 'तृतीयक' और जब मेदोवाही स्रोत में जाता है तब 'चतुर्थक' ज्वर को उत्पन्न करता है॥ ६५-६६॥

अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं हित्वा तृतीयकः। दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः॥ ६७॥

विषम ज्वरों का आक्रमण काल—'अन्येद्युष्क' ज्वर प्रतिदिन किसी समय चौबीस घण्टे में एक बार आता है। 'तृतीयक' ज्वर एक दिन बीच में छोड़कर होता है और जो ज्वर मध्य में दो दिनों का अन्तर देकर चौथे दिन आता है, उसे 'चतुर्थक ज्वर' कहते हैं॥ ६७॥

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति॥ ६८॥
स वृद्धिं बलकालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम्। चतुर्थकं च कुरुते[2] **प्रत्यनीकबलक्षयात्॥ ६९॥**

१. क्षारपाणीयं वचः—'अस्थीनि संश्रित्य तृतीयकस्तु मेदश्च संश्रित्य च केचिदन्ये। मज्जानमाश्रित्य चतुर्थकस्तु प्रवर्तते तेन स दुश्चिकित्स्यः॥' (च. चि. अ. ३।६६ पर जेज्जट टीका)

२. 'अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते। ततश्चामाशयं प्राप्य दोषः कुर्याज्ज्वरं नृणाम्'॥ (सु. उ. अ. ३९।५३)

'तत्र डल्हणः, यथा उर आदिस्थितो दोषोऽन्येद्युष्कादीन् करोति तथाऽऽह—अहोरात्रादित्यादि। अहोरात्रादुरःस्थो दोष आमाशयं प्राप्य अन्येद्युष्कं करोति अन्यस्मिन् दिवसे, कण्ठस्थितो द्वाभ्यामहोरात्राभ्यां तृतीयकं तृतीयदिवसे, शिरस्थितः स्थानत्रयमतिक्रम्य चतुर्थकं चतुर्थदिवसे, सन्धिषु स्थितो नित्यमेव प्रलेपकं करोति, स च राजयक्ष्मिणामेव'।

कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः[1]**॥**

विषमज्वर के वेगशमन और वेग के उदय में दृष्टान्त—वातादि दोष धातुओं में प्रविष्ट होकर पड़े रहते हैं और जब वे अपने अनुकूल परिस्थिति पाते हैं तब प्रकुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं; जैसे—कोई बीज भूमि में पड़ा रहता है और जब उसे खाद-पानी मिलता है, तो वह अपने अनुकूल ऋतु के आने पर अंकुरित हो जाता है।

तृतीयक आदि ज्वरों को उत्पन्न करने वाले दोष केवल काल की ही अपेक्षा नहीं करते, अपितु जब उनके विरोधी काल-प्रकृति आदि का बल क्षीण हो जाता है और जब दोष बढ़े हुए होते हैं, बलवान् होते हैं और काल भी अनुकूल होता है तब वे अपने समय पर तृतीयक या चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

दोष अपने बल-कालानुसार ज्वर के वेग को उत्पन्न करते हैं और वेगोत्पादन के पश्चात् वे बलहीन होकर पुनः अपने रक्त आदि आश्रय धातुओं में चले जाते हैं। फिर जब उनके अनुकूल समय आता है तो वे प्रवृद्ध होकर अपने समय पर मनुष्य को ज्वरग्रस्त बना देते हैं॥ ६८-७०॥

वक्तव्य—

विषमज्वर : निदान एवं सम्प्राप्ति

१. निज : आरम्भ से ही अल्पदोष : ज्वरोत्कृष्ट दोष	मिथ्या आहार-विहार ↓ दोष का पुनः प्रकोप ↓ धातुओं में दोषसंचय ↓ विषमारम्भ-क्रियाकाल-पूर्वक ज्वर ↓ निज ज्वर	२. आगन्तु : भूताभिषङ्ग (जीवाणु) स्वभाव, धातुवैषम्य	विषमारम्भ-क्रियाकालपूर्वक ज्वर ↓ आगन्तु विषम ज्वर

कफपित्तात् त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः। वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः॥

तृतीयक के तीन प्रकार—१. कफ और पित्त, इन दो दोषों की प्रबलता से होने वाला ज्वर त्रिकप्रदेश में जकड़ाहट उत्पन्न करता है। २. वात और कफ की प्रबलता से होने वाला ज्वर पृष्ठप्रदेश में पीड़ा उत्पन्न करता है और ३. वात तथा पित्त की प्रबलता से होने वाला ज्वर शिरःशूल उत्पन्न करता है॥ ७१॥

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः। जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसम्भवः॥ ७२॥

चतुर्थक का द्विविध प्रभाव—चतुर्थक ज्वर देह में दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है—१. जो कफ की प्रधानता से उत्पन्न होता है, वह पहले जाँघों में वेदना उत्पन्न करता है और २. जो ज्वर वातदोष की प्रधानता से होता है, वह पहले शिर में पीड़ा के साथ उत्पन्न होता है॥ ७२॥

१. 'वातेनोद्धूयमानस्तु यथा पूर्येत सागरः। वातेनोदीरितास्तद्वद्दोषाः कुर्वन्ति वै ज्वरान्॥
यथा वेगागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः। वेगहानौ तदेवाऽम्भस्तत्रैवान्तर्निलीयते॥
दोषवेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽस्य वै। वेगहानौ प्रशाम्येत यथाऽम्भः सागरे तथा'॥ (सु. उ. ३९।७२-७४)

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः[१]। त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोति यम्॥ ७३॥

चतुर्थक विपर्यय—जो पाँच प्रकार के विषम ज्वर (सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक) होते हैं, उन्हीं जैसा किन्तु उन से अन्य प्रकार का 'चतुर्थक विपर्यय' नाम का विषम ज्वर होता है, जिसको अलग-अलग तीनों दोष (वात-पित्त-कफ) अस्थि और मज्जा इन दो धातुओं के आश्रित रहकर उत्पन्न करते हैं। यह चतुर्थक के विपरीत होता है, अतएव इसे चतुर्थक विपर्यय कहते हैं, क्योंकि चतुर्थ आदि और अन्त में ज्वर करता है और बीच के दो दिन छोड़ देता है। जब कि यह आदि-अन्त में छोड़ देता है और बीच के दो दिन रहता है॥ ७३॥

विषमज्वर का वर्गीकरण

ज्वर-प्रकार	धात्वाश्रय	ज्वरवेग-काल	ज्वर का रूप (Nature of fever)	उपचार-सूत्र
१. सन्तत	रस	(वातज) सात दिन (पित्तज) दस दिन (कफज) बारह दिन तक लगातार चलने वाला ज्वर	Continuous or Remittent 7, 10, 12 days	वमन, उपवास
२. सतत	रक्त	रात-दिन अर्थात् एक अहोरात्र में दो बार वेग आना	Double quotidian two peaks per 24 hours	सेक, प्रदेह संशमन
३. अन्येद्युष्क	मांस	रात-दिन मिलाकर एक बार वेग आना	Quotidian one peak per 24 hours	विरेचन, उपवास
४. तृतीयक	मेद	प्रति तीसरे दिन वेग आना	Tertian fever every third day	उपवास
५. चतुर्थक	अस्थि, मज्जा	प्रति चौथे दिन ज्वर का वेग	Quartan every 4th day	निरूह, अनुवासन

प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः॥ ७४॥

विषम ज्वरों की त्रिदोषजन्यता—(चतुर्थक ज्वर को श्लैष्मिक और वातज तथा तृतीयक को दो-दो दोषों से उत्पन्न होना कहा गया है, जिससे यह आशंका होती है कि विषमज्वरों का सन्निपातज होना सन्दिग्ध है। इसी सन्दर्भ में यह उत्तर है कि) पूर्व में जो सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक—ये पाँच प्रकार के विषमज्वर कहे गये हैं, वे सब प्रायः करके तीनों दोषों से ही होते हैं और उन तीनों दोषों में जिस दोष का अधिक प्रकोप परिलक्षित होता है, उसके नाम से उस रोग को कहा जाता है॥ ७४॥

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते॥ ७५॥

१. कफस्थानेषु वा दोषस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्॥ (सु. उ. ३९।५५)

डल्हण-टीका—विषमज्वरानभिधाय तद्विपर्ययज्वरानाह—कफस्थानेष्वित्यादि। कफस्थानयोर्द्वयोरुरः-आमाशययोस्तिष्ठन् दोषोऽन्येद्युष्कविपर्ययं करोति; कस्तद्विपर्ययः? अहोरात्रे पूर्वाह्णादीनामेककालं मुक्त्वा समस्ताहोरात्रं भवतीति। एवं त्रिषु कफस्थानेषु कण्ठोरआमाशयेषु तिष्ठन् दोषस्तृतीयकविपर्ययं करोति, यस्तृतीयदिने मुञ्चति। चतुर्षु कफस्थानेषु शिरःकण्ठोरआमाशयेषु तिष्ठन् दोषश्चतुर्थकविपर्ययं करोति, स चतुर्थेऽह्नि मुञ्चतीति। सततस्य तु विपर्ययो न भवति, एकस्मिन्नेव कफस्थाने स्थितेन दोषेण तत्करणाद् व्याधिस्वभावाद्वा। कफस्थानेषु वा दोष इत्यत्र दोषशब्दः पृथग्द्वन्द्वसमस्तदोषप्रतिपादकः।

विषमज्वरों के काल-परिवर्तन के कारण—वर्षा-शरद्-हेमन्त-शिशिर-वसन्त और ग्रीष्म ऋतु, दिन, रात, वात-पित्त-कफ, मन तथा पूर्वजन्मकृत रोगजनक कर्म—इनकी सबलता एवं निर्बलता के कारण पूर्वोक्त पाँच प्रकार का विषमज्वर (सन्तत आदि) अपने काल का परिवर्तन कर परस्पर एक-दूसरे का काल अपना लेता है। (जैसे—सन्तत ज्वर अपना स्वरूप छोड़कर सततक आदि ज्वरों के रूप में परिवर्तित हो जाता है एवं वर्षाकाल में उत्पन्न चतुर्थक ज्वर शरद् ऋतु में बलवान् होकर तृतीयक आदि का रूप धारण कर लेता है॥ ७५॥

वक्तव्य—उक्त सूत्र में ज्वरों के रूप-परिवर्तन के पाँच तत्त्व बतलाये गये हैं, जिनके प्रबल या निर्बल होने से ज्वर का काल बढ़ता या घटता है। जैसे—१. ऋतु की सबलता या निर्बलता, २. अहोरात्र की सबलता या निर्बलता, ३. दोषों की सबलता या निर्बलता, ४. मन की सबलता या निर्बलता और ५. कर्म की सबलता या निर्बलता।

ऋतु, अहोरात्र, दोष, मन और कर्मवश ज्वरों की उत्कर्षापकर्षबोधक सारणी

(१) ऋतु-कृत		(२) अहोरात्र-कृत		(३) दोष-कृत	
उत्कर्ष	**अपकर्ष**	**उत्कर्ष**	**अपकर्ष**	**उत्कर्ष**	**अपकर्ष**
ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न **वातप्रधान** चतुर्थक ज्वर वर्षा ऋतु के आने पर बलवान् होकर प्रबलता के अनुसार तृतीयक, अन्येद्युष्क आदि का रूप धारण कर लेता है। वर्षा ऋतु में उत्पन्न **पित्तप्रधान** चतुर्थक ज्वर शरद् ऋतु में अधिक बलवान् होकर तृतीयक, अन्येद्युष्क आदि का रूप धारण कर लेता है। शिशिर ऋतु में उत्पन्न **कफप्रधान** चतुर्थक ज्वर वसन्त ऋतु में प्रबल होकर तृतीयक आदि का रूप पकड़ लेता है।	वर्षा ऋतु में उत्पन्न **वातप्रधान** सन्तत ज्वर शरद् ऋतु के आने पर निर्बलता के अनुसार सततक, अन्येद्युष्क आदि का रूप पकड़ लेता है। शरद् ऋतु में उत्पन्न **पित्तप्रधान** सन्तत ज्वर हेमन्त ऋतु में निर्बल हो कर सततक का रूप धारण कर लेता है। वसन्त ऋतु में उत्पन्न **कफप्रधान** सन्तत ज्वर ग्रीष्म ऋतु में निर्बल हो कर सततक आदि का रूप धारण कर लेता है।	जब वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में **वातप्रधान**, शरद् ऋतु के प्रारम्भ में **पित्तप्रधान** एवं वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में **कफप्रधान** चतुर्थक ज्वर उत्पन्न होता है, तब उन-उन ऋतुओं के मध्य दिनों में उन-उन दोषों के बलवान् होने से चतुर्थक ज्वर प्रबल होकर तृतीयक, अन्येद्युष्क या सतत अथवा सन्तत का रूप पकड़ लेता है।	वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में उत्पन्न **वातप्रधान** सन्तत ज्वर वर्षा के अन्तिम दिनों में निर्बल होकर सततक आदि का रूप धारण कर लेता है। शरद् ऋतु के प्रारम्भ में उत्पन्न **पित्तप्रधान** सन्तत ज्वर शरद् ऋतु के अन्तिम दिनों में निर्बल होकर सततक ज्वर का रूप पकड़ लेता है। वसन्त ऋतु में उत्पन्न **कफप्रधान** सन्तत ज्वर वसन्त ऋतु के अन्तिम दिनों में निर्बल हो कर सततक ज्वर के रूप में बदल जाता है।	**जब कफप्रधान** सततक ज्वर का रोगी कफवर्धक मधुर एवं स्निग्ध आहार-विहार एवं दिवाशयन करता है, तब कफ बढ़ने से उस ज्वर का बल बढ़ जाता है और वह सन्तत ज्वर के रूप में बदल जाता है। **जब वातप्रधान** सततक ज्वर का रोगी वातवर्धक आहार-विहार का सेवन करता है, तब वातवृद्धि होने से सततक सन्तत ज्वर के रूप में बदल जाता है। **जब पित्तप्रधान** सततक ज्वर का रोगी पित्तवर्धक आहार-विहार का सेवन करता है तब उसका ज्वर सन्तत का रूप धारण कर लेता है।	**जब कफप्रधान** सतत ज्वर का रोगी कफनाशक आहार-विहार करता है, तब उस का दोष निर्बल होकर सततक ज्वर को अन्येद्युष्क या तृतीयक आदि के रूप में परिवर्तित कर देता है। **जब वातप्रधान** सततक ज्वर का रोगी वातघ्न आहार-विहार करता है, तब वात के निर्बल होने से उसका ज्वर अन्येद्युष्क आदि के रूप में बदल जाता है। **जब पित्तप्रधान** सततक का रोगी पित्तघ्न आहार-विहार करता है, तब पित्त की क्षीणता से उसका सततक ज्वर अन्येद्युष्क आदि के रूप में बदल जाता है।

(४) मानसिक बलाबलकृत अथवा (४) बुद्धिदोषकृत				(५) पूर्वजन्मकृत	
उत्कर्ष	अपकर्ष	उत्कर्ष	अपकर्ष	उत्कर्ष	अपकर्ष
जब चतुर्थक ज्वर का रोगी रजोगुणी या तमोगुणी होता है तब वह बहुत व्याकुल, दुःखी और असहिष्णु होता है, जिस कारण उसका चतुर्थक ज्वर तृतीयक आदि का रूप धारण कर लेता है।	जब सन्तत ज्वर का रोगी सत्त्वगुणी होता है तब वह प्रसन्नचित्त एवं सहिष्णु होता है, जिस कारण उसके दोष की वृद्धि नहीं होती और उसका सन्तत ज्वर सततक आदि के रूप में बदल जाता है।	जब चतुर्थक ज्वरग्रस्त रोगी बुद्धिदोष (प्रज्ञापराध) से देवता, गुरु आदि का तिरस्कार तथा अहित आचरण करता है तब उसका चतुर्थक ज्वर तृतीयक आदि के रूप में परिणत होकर उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।	जब सन्तत ज्वर का रोगी शुद्ध सत्त्व गुणप्रधान होता है तब वह विवेक युक्त होकर देवाराधन, बलि, मंगलाचरण आदि शुभ कर्म करता है और उसका सन्तत ज्वर निर्बल होकर सततक आदि का रूप धारण कर लेता है।	जब चतुर्थक ज्वरग्रस्त रोगी का पूर्वजन्मकृत कर्म सन्तत ज्वर जैसी वेदना उत्पन्न करने में समर्थ होता है, तब उस रोगी का चतुर्थक ज्वर सन्तत ज्वर का रूप धारण कर लेता है।	जब सन्तत ज्वर के रोगी का पूर्वजन्मकृत कर्म चतुर्थक ज्वर के समान वेदना का जनक होता है, तब उसका सन्तत ज्वर चतुर्थक ज्वर के रूप में परिणत हो जाता है।
इस कर्मज उत्कर्ष और अपकर्ष का सम्बन्ध ऋतु, अहोरात्र, दोष और मन इन सबसे ही होता है।					

सप्तधातुगत ज्वर

गुरुत्वं दैन्यमुद्वेगः सदनं छर्दिरोचकौ। रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम्॥ ७६॥

१. रसधातुगत ज्वर के लक्षण—जब ज्वरकर दोष रसधातुगत होता है तब शरीरावयवों में भारीपन, दीनता, उद्विग्नता, शरीर में शिथिलता और थकावट, वमन होना, भोजन में अरुचि, त्वचा में ताप होना, अंगों में पीड़ा होना और जम्भाई आना—ये लक्षण होते हैं॥ ७६॥

रक्तोष्णाः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः। दाहरागभ्रममदप्रलापा रक्तसंस्थिते॥ ७७॥

२. रक्तधातुगत ज्वर के लक्षण—जब ज्वरजनक दोष रक्तधातु में स्थित होते हैं तब शरीर में रक्तज पिडकाएँ होती हैं, प्यास लगती हैं, बारम्बार रक्तमिश्रित थूक निकलता है, शरीर में जलन होती है, शरीर का वर्ण लाल होना, चक्कर आना, बेहोशी छा जाने जैसा और प्रलाप होना; ये सब लक्षण होते हैं॥ ७७॥

अन्तर्दाहः सतृष्मोहः सग्लानिः सृष्टविट्कता। दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो ज्वरे मांसस्थिते भवेत्॥

३. मांसधातुगत ज्वर के लक्षण—जब ज्वर के कारणीभूत दोष मांसधातु में स्थित होते हैं तब शरीर के अन्तर्भागों में जलन, प्यास लगना, मोहग्रस्त होना, मन में ग्लानि होना, मलोत्सर्ग होना, शरीर से दुर्गन्ध निकलना और अंगों को इधर-उधर फेंकते रहना—ये लक्षण होते हैं॥ ७८॥

स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो वम्यभीक्ष्णशः। स्वमन्धस्यासहत्वं च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ॥

४. मेदोधातुगत ज्वर—जब ज्वरोत्पादक दोष मेद धातु में स्थित होते हैं तब पसीना का अधिक होना, तीव्र प्यास लगना, प्रलाप करना, वमन का बार-बार होना, अपने ही शरीर का गन्ध सह्य न होना, ग्लानि होना और भोजन में अरुचि होना—ये लक्षण होते हैं॥ ७९॥

विरेकवमने चोभे सास्थिभेदं प्रकूजनम्। विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे॥ ८०॥

५. अस्थिधातुगत ज्वर—जब ज्वर उत्पन्न करने वाले दोष अस्थि धातु में स्थित होते हैं तब अतिसार, वमन, अस्थियों में वेदना, गले से कराहने जैसी ध्वनि निकलना और अंगों को फेंकते-पटकते रहना तथा श्वास का तीव्र होना—ये सब लक्षण होते हैं॥ ८०॥

हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम्। मर्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे॥

६. मज्जधातुगत ज्वर—जब ज्वर मज्जाधातु के आश्रित होता है तब हिचकी, दम फूलना, खाँसी आना, आँखों के सामने अँधेरा छा जाना, मर्मस्थान (फुप्फुस, हृदय आदि) में काटने जैसी पीड़ा, बाह्य शरीर में शीतलता और भीतर शरीर में जलन मालूम होना—ये सब लक्षण होते हैं॥ ८१॥

शुक्रस्थानगतः शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाश्य च। प्राणं वाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः॥ ८२॥

७. शुक्रधातुगत ज्वर के लक्षण—जब ज्वर को उत्पन्न करने वाला दोष शुक्र धातु में आश्रित होता है, तब वह उस रुग्ण का अतिशय वीर्यस्राव कराकर वीर्य को विनष्ट कर देता है और जीवात्मा प्राण, वायु, अग्नि एवं सोम (जलीयांश) के साथ (रुग्ण शरीर को छोड़कर) चली जाती है॥ ८२॥

रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः। अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिद्ध्यति॥ ८३॥

धातुगत ज्वरों की साध्यासाध्यता—जो ज्वर रस, रक्त, मांस और मेद धातु के आश्रित होता है, वह साध्य होता है। अस्थि तथा मज्जा धातु में आश्रित ज्वर कृच्छ्रसाध्य होता है और शुक्रधातुगत ज्वर असाध्य होता है॥ ८३॥

हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः पूर्वमष्टविधो ज्वरः। समासेनोपदिष्टस्य व्यासतः शृणु लक्षणम्॥ ८४॥

द्वन्द्वज-त्रिदोषज ज्वरों के वर्णन का उपक्रम—पूर्व में निदानस्थान अध्याय एक में कारण और लक्षणों के साथ संक्षेप में आठ प्रकार के ज्वर कहे गये हैं। अब आगे आप उन ज्वरों के लक्षणों को विस्तारपूर्वक सुनें॥

द्वन्द्वज ज्वर

शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम्। कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः॥
स्वप्ननाशोऽतिनिद्रा वा जृम्भा वातसितज्वराकृतिः।

वातपित्तज ज्वर-लक्षण—वात तथा पित्त इन दो दोषों से होने वाले ज्वर में शिर में पीड़ा, जोड़ों में टूटने जैसी व्यथा, शरीर में जलन, रोमाञ्च होना, कण्ठ और मुख का सूखना, वमन होना, प्यास लगना, बेहोशी होना, चक्कर मालूम होना, भोजन में अरुचि होना, नींद न आना, प्रलाप करना और जम्भाई आना—ये लक्षण होते हैं॥ ८५॥

शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक्॥ ८६॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्[1]। सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः॥

वातकफज ज्वर-लक्षण—वात और कफ से होने वाले द्वन्द्वज ज्वर में शीत लगना, देह में भारीपन, तन्द्रा, गीले वस्त्र से ढके होने जैसा अनुभव होना, पर्वों में वेदना, शिर में जकड़ाहट, प्रतिश्याय, कास, अचानक अधिक पसीना आना, सन्ताप और ज्वर का वेग मध्यकोटि का होना, ये सब लक्षण हैं॥ ८६-८७॥

मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः। मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम्॥ ८८॥
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः। इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः—

कफपित्तज ज्वर-लक्षण—कफ और पित्त से होने वाले द्वन्द्वज ज्वर में दाह का बार-बार होना, कभी शीत का बार-बार लगना, बार-बार पसीना का रुकना, मूर्च्छा आना, खाँसी, भोजन में अरुचि,

---

१. स्वेदाप्रवर्तनं—स्वेदस्य आ समन्तादकारणेन प्रवृत्तिः, विकृतिविषमसमवायारब्धत्वादिति कार्तिकः। युक्तं चैतत्, यथाह हारीतः—"शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य"॥

(माधवनि. ज्वर. श्लोक १६ मधुकोष टीका)

प्यास लगना, कफ और पित्त का वमन होना, मुख में तिक्त वस्तु का लेप किया हुआ-सा प्रतीत होना और तन्द्रा होना—ये सब कफपित्तज ज्वर के लक्षण हैं॥ ८८॥

इस प्रकार ये दो-दो दोषों से होने वाले द्वन्द्वज ज्वर बतला दिये गये।

सन्निपात ज्वर

—सन्निपातज उच्यते॥ ८९॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि। प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक् पृथक्॥ ९०॥

सन्निपातज्वर-वर्णन का उपक्रम—अब आगे सन्निपात (त्रिदोष) से होने वाले ज्वर का वर्णन करने जा रहे हैं। पहले सूत्र रूप में कहे गये तेरह प्रकार के सन्निपातज्वर के लक्षणों को अलग-अलग कहने जा रहे हैं॥ ८९-९०॥

भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे॥ ९१॥

१. वातपित्तोल्बण मन्दकफ सन्निपातज्वर—जब सन्निपातज्वर में वात और पित्त अधिक कुपित हों और कफ अल्प अंश में कुपित हो, तब उसमें चक्कर आना, प्यास अधिक लगना, दाह होना और शिर में अधिक पीड़ा होना—ये लक्षण रोगी में पाये जाते हैं॥ ९१॥

शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहरुग्व्यथाः। वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः॥

२. वातकफोल्बण हीनपित्त सन्निपातज्वर—इस ज्वर में ठण्डक लगना, खाँसी आना, भोजन में अरुचि होना, तन्द्रा, प्यास की अधिकता, जलन होना, शरीर में पीड़ा और व्यथा होना—ये लक्षण होते हैं॥ ९२॥

छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे॥ ९३॥

३. पित्तकफोल्बण मन्दवात सन्निपातज्वर—इस सन्निपात में वमन, शरीर में कभी शीत लगना, कभी जलन होना, प्यास लगना, मूर्च्छा होना और अस्थियों में वेदना होना—ये लक्षण होते हैं॥ ९३॥

सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद् द्वयनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता॥

४. वातोल्बण कफपित्तहीन सन्निपातज्वर—इस सन्निपातज्वर में सन्धिस्थलों में, अस्थियों में और शिर में वेदना होती है। प्रलाप, शरीर में भारीपन, शिर में चक्कर आना, प्यास लगना, कण्ठ और मुख का सूखना—ये सब लक्षण होते हैं॥ ९४॥

रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसङ्क्षयः। मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि॥ ९५॥

५. पित्तोल्बण वातकफहीन सन्निपातज्वर—इस सन्निपात में मल और मूत्र रक्त वर्ण का आना, शरीर में जलन होना, पसीना अधिक होना, प्यास लगना, बल का ह्रास होना और मूर्च्छा होना—ये लक्षण होते हैं॥ ९५॥

आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः। कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत्॥ ९६॥

६. कफोल्बण वातपित्तहीन सन्निपातज्वर—इस ज्वर में आलस्य, अरुचि, वमन की प्रवृत्ति, जलन, वमन होना, बेचैनी, चक्कर मालूम होना, तन्द्रा होना और खाँसी आना—ये लक्षण होते हैं॥ ९६॥

प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम्। हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम्॥

७. श्लेष्मोल्बण पित्तमध्य वातहीन सन्निपातज्वर—इस सन्निपात में प्रतिश्याय, वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि और मन्दाग्नि—ये लक्षण होते हैं॥ ९७॥

हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः। हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम्॥ ९८॥

८. पित्तोल्बण कफमध्य वातहीन सन्निपातज्वर—इस ज्वर में रुग्ण का मूत्र और उसके नेत्र पीले हो जाते हैं, देह में दाह होता है, प्यास अधिक लगती है, शिर में चक्कर और भोजन में अरुचि होती है॥ ९८॥

शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ। हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं स्यान्मारुताधिके॥ ९९॥

९. वातोल्बण कफमध्य पित्तहीन सन्निपातज्वर—इस सन्निपात में शिरःशूल, शरीर में कम्पन, श्वास की अधिकता, प्रलाप करना, वमन होना और भोजन में अरुचि होना—ये सब लक्षण होते हैं॥ ९९॥

शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक्। हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः॥

१०. कफोल्बण वातमध्य पित्तहीन सन्निपातज्वर—इस सन्निपात में शीत लगना, शरीर में भारीपन होना, तन्द्रा होना, प्रलाप करना, अस्थियों में और शिर में अत्यधिक वेदना होना; ये सब लक्षण होते हैं॥१००॥

श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्। कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम्॥

११. वातोल्बण पित्तमध्य कफहीन सन्निपातज्वर—इस ज्वर में श्वास, खाँसी, प्रतिश्याय, मुख का सूखना और पार्श्वप्रदेश में अधिक वेदना होना; ये सब लक्षण होते हैं॥ १०१॥

वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः॥

१२. पित्तोल्बण वातमध्य कफहीन सन्निपातज्वर—इस सन्निपातज्वर में पतला शौच होना, अग्निमान्द्य, प्यास की अधिकता, दाह, अरुचि और चक्कर आना—ये सब लक्षण होते हैं॥ १०२॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम्। क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा॥
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने। सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः॥ १०४॥
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः। परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा ग्रस्ताङ्गता परम्॥
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च। शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा॥ १०६॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिरादर्शनमल्पशः। कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्॥ १०७॥
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्। मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च॥ १०८॥
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः।

१३. सम-सन्निपातज्वर—अब (मैं) इसके आगे (समान रूप से बढ़े हुए तीनों दोषों से होने वाले) सन्निपातज्वर का लक्षण कह रहा हूँ। क्षणभर में जलन होना, क्षणभर बाद ठण्डक लगना, अस्थियों, सन्धियों तथा शिर में पीड़ा होना, आँखों का अश्रुयुक्त और कीचड़भरा होना, आँखों का लाल होना और कुछ टेढ़ा हो जाना, कानों में आवाज और वेदना होना, कण्ठ में गेहूँ, जौ आदि का शूक (टूण) फँसा हुआ-सा प्रतीत होना, तन्द्रा होना, मूर्च्छा आना, प्रलाप करना, खाँसी, श्वास, अरुचि, भ्रम होना, जिह्वा का जली हुई जैसा दीखना, स्पर्श खुरदुरा मालूम होना, अंगों में अतिशय शिथिलता होना, कफमिश्रित रक्त और पित्त का थूकना, शिर को घुमाते रहना, प्यास अधिक लगना, निद्रा नष्ट हो जाना, हृदय में पीड़ा होना, स्वेद, मूत्र और मल का देर से निकलना और अल्पमात्रा में आना, शरीराङ्गों का अधिक कृश नहीं होना, कण्ठ से लगातार अस्पष्ट कहरने की ध्वनि का निकलते रहना, शरीर की त्वचा पर श्याम या रक्त वर्ण के कोठ (हड्डे के काटने जैसी सूजन) और चकत्ते निकलना, मूकता (कण्ठ से ध्वनि न निकलना), मुख आदि स्रोतों का पक जाना, उदर का भारी बना रहना और दोषों का परिपाक विलम्ब से होना—ये सब सन्निपात[1] ज्वर के लक्षण हैं॥ १०३-१०८॥

---

१. (क) 'अम्लस्निग्धोष्णतीक्ष्णैः कटुमधुरसुरातापसेवाकषायैः कामक्रोधातिरूक्षैर्गुरुतरपिशिताहारसौहित्यशीतैः।
शोकव्यायामचिन्ताग्रहगणवनितात्यन्तसङ्गप्रसङ्गैः प्रायः कुप्यन्ति पुंसां मधुसमयशरद्वर्णने सन्निपाताः'॥
(योगरत्नाकर-ज्वर०)

(ख) 'आमो ह्याहारदोषात्प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे
श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः।
स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः
सम्मूर्च्छन्यन्योऽन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम्'॥ (भालुकितन्त्र)

वक्तव्य—यहाँ हीन-मध्य एवं उल्बण के क्रम से ६, द्व्युल्बण दोषों से तीन तथा एक-एक दोष की उल्बणता से तीन, इस प्रकार कुल बारह और सभी दोषों की समान रूप से वृद्धि से तेरहवाँ सन्निपात होता है।

त्रयोदश सन्निपातज्वरबोधक सारणी (१)

प्रकार	नाम
१. वातपित्तोल्बण मन्दकफ सन्निपातज्वर	: बभ्रु
२. वातकफोल्बण हीनपित्त सन्निपातज्वर	: शीघ्रकारी
३. पित्तकफोल्बण हीनवात सन्निपातज्वर	: भल्लु
४. वातोल्बण हीनकफपित्त सन्निपातज्वर	: विस्फारक
५. पित्तोल्बण हीनवातकफ सन्निपातज्वर	: आशुकारी
६. कफोल्बण हीनवातपित्त सन्निपातज्वर	: कम्पन
७. कफोल्बण हीनवात मध्यपित्त सन्निपातज्वर	: वैदारिक
८. पित्तोल्बण मध्यकफ हीनवात सन्निपातज्वर	: याम्य
९. वातोल्बण मध्यकफ हीनपित्त सन्निपातज्वर	: क्रकच
१०. कफोल्बण मध्यवात हीनपित्त सन्निपातज्वर	: कर्कट
११. वातोल्बण मध्यपित्त हीनकफ सन्निपातज्वर	: सम्मोहक
१२. पित्तोल्बण मध्यवात हीनकफ सन्निपातज्वर	: पाकल
१३. समवृद्ध वात-पित्त-कफ सन्निपातज्वर	: कूटपाकल

भालुकितन्त्रकथित द्व्युल्बण, एकोल्बण आदि सन्निपातबोधक सारणी[1] (२)

प्रकार	नाम
१. वातोल्बण सन्निपातज्वर	: विस्फुरक
२. पित्तोल्बण सन्निपातज्वर	: आशुकारी
३. कफोल्बण सन्निपातज्वर	: कम्फण
४. वातपित्तोल्बण सन्निपातज्वर	: विभु
५. पित्तश्लेष्मोल्बण सन्निपातज्वर	: फल्गु
६. वातश्लेष्मोल्बण सन्निपातज्वर	: मकरी
७. हीनवात मध्यपित्त कफोल्बण सन्निपातज्वर	: वैदारिक
८. हीनपित्त मध्यवात कफोल्बण सन्निपातज्वर	: कर्कोटक
९. हीनकफ मध्यपित्त वातोल्बण सन्निपातज्वर	: सम्मोहक
१०. हीनवात मध्यकफ पित्तोल्बण सन्निपातज्वर	: याम्यक
११. हीनकफ मध्यवात पित्तोल्बण सन्निपातज्वर	: क्रकच
१२. हीनपित्त मध्यकफ वातोल्बण सन्निपातज्वर	: पाकल
१३. समवृद्ध त्रिदोष सन्निपातज्वर	: कूटपाकल

१. माधवनिदान, सन्निपातज्वर, मधुकोष टीका के आधार पर।

तन्त्रान्तर में वर्णित सन्निपातबोधक सारणी (३)

योगरत्नाकर में वर्णित १३ सन्निपात	चरक-विद्योतिनी में वर्णित १३ सन्निपात
१. सन्धिक सन्निपातज्वर	१. कुम्भीपाक सन्निपातज्वर
२. अन्तक सन्निपातज्वर	२. प्राणुर्नाव सन्निपातज्वर
३. रुग्दाह सन्निपातज्वर	३. प्रलापि सन्निपातज्वर
४. चित्तविभ्रम सन्निपातज्वर	४. अन्तर्दाह सन्निपातज्वर
५. शीताङ्ग सन्निपातज्वर	५. दण्डपात सन्निपातज्वर
६. तन्द्रिक सन्निपातज्वर	६. अन्तक सन्निपातज्वर
७. कण्ठकुब्ज सन्निपातज्वर	७. एणीदाह सन्निपातज्वर
८. कर्णक सन्निपातज्वर	८. हारिद्रक सन्निपातज्वर
९. भुग्ननेत्र सन्निपातज्वर	९. अजघोष सन्निपातज्वर
१०. रक्तष्ठीवी सन्निपातज्वर	१०. भूतहास सन्निपातज्वर
११. प्रलापक सन्निपातज्वर	११. यन्त्रापीड सन्निपातज्वर
१२. जिह्वक सन्निपातज्वर	१२. सन्यास सन्निपातज्वर
१३. अभिन्यास सन्निपातज्वर	१३. संशोषि सन्निपातज्वर

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः ॥ १०९ ॥
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा। निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः ॥
संसर्गसन्निपातानां तया चोक्तं स्वलक्षणम्।

सन्निपातज्वर की साध्यासाध्यता—दोष जब शरीर के बाहर न निकल कर भीतर में ही बँध जाता है और जठराग्नि का व्यापार मन्द या नष्ट हो जाता है तथा सन्निपातज्वर के सभी लक्षण रोगी में उपस्थित हो जाते हैं, तब वह असाध्य होता है। एवञ्च जब दोष बाहर निकलते रहते हैं और जठराग्नि अपना कार्य कर रही होती है तथा सन्निपातज्वर के कुछ ही लक्षण उपस्थित हों, तो वह सन्निपातज्वर कृच्छ्रसाध्य होता है।

निदानस्थान में दोषों से अलग-अलग होने वाले ज्वरों के तीन तरह के लक्षण कहे गये हैं। उस कथन के अनुसार यहाँ भी दोषों के द्वन्द्वज और सन्निपातज ज्वरों के लक्षण कहे गये हैं॥ १०९-११०॥

आगन्तुरष्टमो यस्तु स विविधश्चतुर्विधः ॥ १११ ॥
अभिघातभिषङ्गाभिचाराभिशापतः। शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्टिचरत्नितलद्विजैः ॥
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः। तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ॥ ११३ ॥
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम्। कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः ॥ ११४ ॥
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः। कामशोकभयाद्वायुः, क्रोधात्पित्तं, त्रयो मलाः ॥
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः। भूताधिकारे व्याख्यातं तदष्टविधलक्षणम् ॥

आगन्तुक ज्वर के भेद—ज्वर का जो आठवाँ प्रकार आगन्तुक ज्वर होता है, वह भी चार प्रकार का कहा गया है; जैसे—१. अभिघात से, २. अभिषङ्ग से, ३. अभिचार से और ४. अभिशाप से।

अभिघातज्वर-निदान—शस्त्र (सीधे प्रत्यक्षतः प्रयोग किये जाने वाले हथियार), ढेला, चाबुक या कोड़ा, मुट्ठी, झापड़ या थप्पड़ और दाँत से अथवा इन्हीं जैसी अन्य वस्तुओं से चोट लगने पर अभिघातज ज्वर होता है।

अभिघातज्वर की सम्प्राप्ति और लक्षण—उस अभिघातज ज्वर में प्रायः वायु रक्त को दूषित करके वेदना, सूजन और त्वचा की विवर्णता के साथ ज्वर उत्पन्न करता है।

अभिषङ्गज्वर—कामपीड़ित, शोकग्रस्त, भयभीत और क्रोध से अभिभूत होने से उन व्यक्तियों को जो ज्वर होता है तथा भूत-प्रेत-पिशाच या सूक्ष्म जीवाणुओं के आक्रमण से जो ज्वर होता है, वह अभिषङ्गज्वर कहलाता है।

आगन्तुक ज्वर और दोष—कामवेग, शोक के आवेश और भयग्रस्तता के कारण वायु का प्रकोप होता है और भूतों के संसर्ग से तीनों दोषों का प्रकोप होता है।

भूताधिकार (निदानस्थान के उन्मादनिदान) में आठ प्रकार के (देव आदि) भूतों से होने वाले लक्षणों का वर्णन किया गया है॥ १११-११६॥

विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषसम्भवैः। अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्॥ ११७॥
चिकित्सया विषघ्न्यैव स शमं लभते नरः।

विषज अभिषङ्गज्वर—विषैले वृक्षों से होकर गुजरने वाली वायु के लगने से तथा अन्य प्रकार के विषों से मिले या बने पदार्थों के संसर्ग से जो ज्वर उत्पन्न होता है, कुछ लोग उसे भी अभिषङ्गज्वर कहते हैं। इसमें विषनाशक उपचार से ही ज्वरी को आरोग्यलाभ होता है॥ ११७॥

अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्तते॥ ११८॥
सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः। सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत्स्मृतम्॥ ११९॥
चित्तेन्द्रियशरीराणामर्तयोऽन्याश्च नैकशः। प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि॥
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन वा। वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके॥ १२१॥
यथाकर्मप्रयोगेण लक्षणं स्यात् पृथग्विधम्।

अभिचारज तथा अभिशापज ज्वर—अपनी तपश्चर्या से जो सिद्ध आप्तकाम महापुरुष होते हैं, उनके द्वारा घातक पुरश्चरण-मारण आदि कारक मन्त्रजप या हवन करना अथवा शाप दिये जाने से जो सन्निपातज्वर उत्पन्न होता है, वह बड़ा कष्टकर और असह्य होता है। अभिचार एवं अभिशाप से उत्पन्न ज्वरों में वे ही लक्षण होते हैं जो सन्निपातज्वर में कहे गये हैं। इसमें मन, इन्द्रिय तथा शरीर में नाना प्रकार की वेदनाएँ होती हैं। दक्ष चिकित्सक को अभिचार के प्रयोग को देखकर अथवा सुनकर या अनुमान कर अथवा चिकित्सा का प्रयोग कर अभिचार के प्रकार का ज्ञान हो जाता है। अभिचार और अभिशाप भी अनेकानेक प्रकार के होते हैं और जिस प्रकार का अभिचारकर्म या अभिशाप होता है, तदनुसार उनके विविध प्रकार के लक्षण होंगे॥ ११८-१२१॥

ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम्॥ १२२॥
शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे। क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम्॥ १२३॥
मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसम्भवे।

१. कामज्वर—काम के आवेश से होने वाले ज्वर में रुग्ण व्यक्ति अपनी कामपूर्ति के ध्यान में चिन्तित रहता है और वह श्वासवृद्धि से पीड़ित रहता है।

२. शोकज्वर—शोकजन्य ज्वर में आँसू बहुत अधिक निकलता है।

३. भयज्वर—इस ज्वर में रोगी सदा ही डरा-डरा-सा रहता है।

४. क्रोधज्वर—इसमें आडम्बर, नेत्रों में विस्फार, चेहरे का लाल होना और ओठों में कम्पन आदि लक्षण होते हैं।

५. भूतावेशजन्य ज्वर—भूत-प्रेत, देवता-राक्षस आदि के आक्रमण से उत्पन्न ज्वर में रोगी मनुष्य की शक्ति से परे विलक्षण चेष्टाएँ करता हैं; जैसे—अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान, अमानवीय वाणी, पराक्रम, बल आदि से युक्त हो जाता है।

६. विषज ज्वर—आभ्यन्तर या बाह्य किसी भी प्रकार से विषसंसर्ग के कारण होने वाले ज्वर में मूर्च्छा, इन्द्रियों की विमूढ़ता, हलका नशा (मद) होना और शरीर में शिथिलता होना—ये सब लक्षण होतें हैं॥ १२२-१२३॥

केषाञ्चिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः॥ १२४॥
पश्चात्तुल्यं तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु। कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद्विशेषणम्॥ १२५॥
कामादिजानामन्येषां रोगाणामपि तत्स्मृतम्।

कामादिजन्य ज्वरों में लक्षणों का पूर्वापरत्व—काम-शोक-भय आदि से उत्पन्न ज्वर से पीड़ित पुरुषों में जो लक्षण होते हैं, उन लक्षणों के उत्पन्न होने से पहले ही ज्वर उत्पन्न हो जाता है और कुछ रोगियों में अन्य लक्षणों के उत्पन्न होने के पश्चात् ज्वरोत्पत्ति होती है।

काम आदि अन्य ज्वरों में जो विशेष लक्षण कहे गये हैं वे लक्षण काम, शोक, क्रोध एवं भय आदि से उत्पन्न होने वाले अन्य अतिसार आदि अनेक रोगों में भी कहे गये हैं॥ १२४-१२५॥

मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम्॥ १२६॥
ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैर्देहो यावन्न दूष्यति। देहे चाभिह(द्रु)ते पूर्वं वाताद्यैर्न तथा बलम्॥
ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दूष्यति।

वातादि दोष एवं कामादि विकारों से ज्वर की प्रबलता—काम, क्रोध आदि से मन दूषित होने पर होने वाला ज्वर तब तक बलवान् नहीं होता जब तक काम आदि के कारण प्रकुपित वात शरीर को दूषित नहीं बना देते। एवञ्च वात आदि दोषों से शरीर के दूषित होने पर उत्पन्न ज्वर तब तक बलवान् नहीं होता जब तक काम आदि विकारों से मन दूषित न हो जाये॥ १२६-१२७॥

वक्तव्य—मन और शरीर का परस्पर अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है, अतएव एक के दूषित होने पर दूसरा भी दूषित हो जाता है। इसीलिए मानस रोगों में शारीरिक रोग तथा शारीरिक रोगों में मानस रोगों का अनुबन्ध देखा जाता है। तदनुसार यहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ज्वर में जब शारीर दोष और मानस दोष दोनों ही जुट जाते हैं तब ज्वर का वेग सबल हो जाता है।

ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणाः॥ १२८॥

आगन्तुक ज्वरों का निजदोषानुबन्ध—वे आगन्तुज ज्वर पहले तो अकेले ही होते हैं, किन्तु बाद में निज शारीर दोष (वात-पित्त-कफ) के लक्षणों से संयुक्त हो जाते हैं॥ १२८॥

हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः।

आगन्तुक ज्वरों का वैशिष्ट्य—आगन्तुक ज्वरों के कारण और उनकी औषधें निज वातादिदोषजन्य ज्वरों से विशिष्ट और भिन्न होती हैं।

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः॥ १२९॥
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिं स्थानाग्निरस्य च। स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम्॥
स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः। सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा॥ १३१॥
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते।

ज्वर की सम्प्राप्ति—दो-दो दोष, तीनों दोष एक साथ अथवा एक-एक दोष प्रकुपित होकर रस नामक धातु से मिलकर अग्न्याशय से अग्नि को बाहर निकाल कर अपने और उस अग्नि की ऊष्मा से शरीर

की गर्मी को प्रबल बना देते हैं। वे बढ़े हुए दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर स्रोतों में अवरोध उत्पन्न कर शरीर में अधिक ताप उत्पन्न कर देते हैं, तब वह पुरुष ज्वरग्रस्त कहा जाता है और उसके सभी अंग अत्यधिक उष्ण होते हैं॥ १२९-१३१॥

ज्वर की सम्प्राप्ति—

मिथ्या आहार-विहार → वात-पित्त-कफ-प्रकोप → आमाशय में दोषसञ्चय
दोषों का रस के साथ सर्वशरीर में प्रसरण ← रस + दोष → कोष्ठाग्नि का बहिर्गमन

(क) दोष : त्रिदोष, पित्तप्रधान।
(ख) दूष्य : १. कोष्ठाग्नि, २. रस।
(ग) अधिष्ठान : १. आमाशय, २. सर्वशरीर।

~~स्रोतसां सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं न नाधिगच्छति॥ १३२॥~~
~~स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायश्चास्तरुणे ज्वरे।~~

तरुणज्वर में स्वेद का अभाव—ज्वर में स्रोतों में रुकावट हो जाने के कारण तथा अग्नि के अपने स्थान से हट जाने के कारण प्रायः तरुणज्वर में पसीना नहीं आता है॥ १३२॥

~~अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च॥ १३३॥~~
~~हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च। ज्वरोऽबिसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम्॥ १३४॥~~
~~लालाप्रसेको हृल्लासः क्षुन्नाशो बिरसं मुखम्। स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता॥ १३५॥~~
~~न चिद् जीर्णं न च ग्लानिर्ज्ञेयामस्य लक्षणम्।~~

(११) आमज्वर के लक्षण—भोजन में अरुचि, भोजन का न पचना, उदर में भारीपन, हृदय का शुद्ध नहीं रहना, तन्द्रा का बने रहना, आलस्य होना, ज्वर का लगातार रहना और उसका वेग प्रबल होना, दोषों का बाहर न निकलना, मुख से लार गिरना, जी मिचलाना, भूख का नष्ट हो जाना, मुख का स्वाद फीका पड़ जाना, अंगों में जकड़ाहट, सूनापन और भारीपन होना, मूत्र का अधिक होना, मल का परिपाक न होना और ग्लानि (क्षीणता) न होना—ये सब आमज्वर के लक्षण होते हैं॥ १३३-१३५॥

~~ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः॥ १३६॥~~
~~मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम्। क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्॥ १३७॥~~
~~दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम्।~~

पच्यमानज्वर—ज्वर का वेग अधिक होना, प्यास लगना, प्रलाप करना, श्वास की गति तीव्र होना, चक्कर मालूम होना, मलोत्सर्ग होना और जी मिचलाना—ये सब पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं।

निरामज्वर—भूख लगना, शरीर के अंगों में दुबलापन, अंगों में हलकापन, ज्वर का वेग अल्प होना, दोषों का मल-मूत्र या पसीने से बाहर निकलना और ज्वरारम्भ के दिन से आठ दिन की अवधि का बीत जाना—ये सब निरामज्वर के लक्षण हैं॥ १३६-१३७॥

ज्वर में सौषध क्रियाक्रम

~~नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्न मैथुनम्॥ १३८॥~~
~~क्रोधप्रवातव्यायामान् कषायाँश्च विवर्जयेत्।~~

नव ज्वर में त्याज्य आहार-विहार—नये-नये ज्वर में दिन में सोना, स्नान करना, शरीर की मालिश करना, अन्न खाना, स्त्रीप्रसङ्ग करना, क्रोध करना, वायु के प्रवाह में रहना, व्यायाम करना और कषाय रस तथा कषाय क्वाथ का सेवन नहीं करना चाहिए॥ १३८॥

वक्तव्य—यहाँ कषाय शब्द से षड्रस में का कषाय रस और कषाय रस वाला क्वाथ—इन दोनों को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कषाय रस स्तम्भक और ग्राही होता है तथा इसके सेवन से दोष विबद्ध और स्तब्ध होकर विषमज्वर उत्पन्न कर देते हैं। कषाय रस मलावरोधक होने से मल का भी अवरोधक होता है। अतः ज्वर की प्रथमावस्था में कषाय का प्रयोग निषिद्ध है[१]।

~~ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्॥ १३९॥~~
~~क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्। लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले॥ १४०॥~~
~~विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते। प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्॥ १४१॥~~
~~बलाधिष्ठानमारोग्यं बलं चोऽयं क्रियाक्रमः।~~

ज्वर में उपवास प्रथम उपचार—ज्वर में सबसे पहले उपवास करने का उपदेश दिया गया है, किन्तु क्षयज, वातज, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज और श्रमजन्य ज्वरों में उपवास नहीं कराना चाहिए।

(१) **लंघन से लाभ**—(ज्वर आमाशयोत्थ व्याधि है) जब उपवास करने से दोष नष्ट हो जाते हैं तब जठराग्नि के उत्तेजित हो जाने पर ज्वर शान्त हो जाता है, शरीर में हलकापन हो जाता है और भूख लगने लगती है।

लंघन की सीमा—(जब अपान वायु, मल एवं मूत्र के विसर्जन में अवरोध न हो, शरीर हलका हो जाय, भोजन में रुचि और असह्य भूख तथा प्यास लगने लगे, शरीर में स्वस्थता प्रतीत होने लगे तब) जितने से शरीर की प्राणशक्ति का (बल का) क्षय न हो, उतने ही काल तक लंघन कराये। क्योंकि आरोग्य की उपलब्धि का आधार रोगी का शरीरबल है और आरोग्यलाभ के लिए ही यह चिकित्साक्रम अपनाया जाता है (अतः बल की रक्षा का ध्यान रखते हुए लंघन कराना चाहिए)॥ १३९-१४१॥

~~लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः॥ १४२॥~~
~~पाचनान्यविषक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे। तृष्यते सलिलं शीतं दद्याद्वातकफज्वरे॥ १४३॥~~
~~मद्योत्थे पैत्तिके वाथ शीतलं तिक्तकैः घृतम्। दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत्॥ १४४॥~~
~~स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम्।~~

(२) **तरुणज्वर में पाचन**—उपवास कराना, स्वेदनिर्गमन का उपाय करना (आठ दिनों का), काल व्यतीत करना, यवागू का प्रयोग करना और तिक्तरस में सिद्ध यवागू या जल आदि का प्रयोग करना—ये सब उपाय तरुणज्वर में आमदोष को पचाने वाले होते हैं।

(४) **ज्वर में जल का प्रयोग**—वात एवं कफ से होने वाले या द्वन्द्वज वातकफज्वर में रोगी को प्यास लगने पर गरम जल पीने को देना चाहिए। मद्यपानजन्य ज्वर में तथा पित्तज ज्वरों में तिक्त रसवाले द्रव्यों को डालकर पकाये गये क्वाथ को शीतल करके पीने को देना चाहिए। क्योंकि उष्ण जल और तिक्त द्रव्यसाधित

१. (क) 'स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम्॥
दोषा बद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे। न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते॥
यः कषायकषायः स्यात् स वर्ज्यस्तरुणज्वरे'। (च. चि. ३।१६१-१६२)
(ख) 'पित्तश्लेष्महरत्वेऽपि कषायः स न शक्यते। नवज्वरे यतस्तस्मात् कषायो विषमज्वरम्॥
कुरुतेऽरुचिहृल्लासहिक्काध्मानादिकानपि'॥ (अ. हृ. चि. १।४०-४१)

शीतजल ये दोनों ही अग्निप्रदीपन, पाचन तथा ज्वर नाशक होते हैं। ये दोनों प्रकार के जल स्रोतों को शुद्ध करते हैं, बल प्रदान करते हैं, भोजन में रुचि उत्पन्न करते हैं, पसीना लाते हैं और सभी दृष्टि से कल्याणकारी हैं॥ १४२-१४४॥

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः ॥ १४५॥
शृतशीतं जलं दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये।

षडङ्गपानीय—१. नागरमोथा, २. पित्तपापड़ा, ३. खश, ४. लाल चन्दन, ५. सुगन्धबाला और ६. सोंठ, इन छः द्रव्यों को (२-२ ग्राम लेकर जौकुट कर ½ लीटर जल में पकाये और आधा बचने पर छान ले, इस प्रकार) उबाल कर ठण्डा किये हुए जल को ज्वर के रोगी की प्यास बुझाने के लिए पीने को दे॥ १४५॥

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्॥ १४६॥
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्। अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे॥ १४७॥
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च जनयेद् भृशम्। सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः॥ १४८॥
दोषाः फलानामामानां स्वरसा इव सात्मयाः।

ज्वर में वमन—जो रोगी कफदोष की प्रधानता वाला हो और वमन करने के लिए जिसे मचली मालूम होती हो, जिसका ज्वरजनक दोष आमाशय में स्थित हो, यह सब जानकर वमन के योग्य रोगी का उचित समय पर वमन कराकर उसके दोषों का निर्हरण करना चाहिए।

तरुणज्वर में वमन-निषेध—जिन तरुणज्वर के रोगियों का दोष (आमाशय में) उपस्थित न हो और वमनोन्मुख न हो, ऐसे रोगियों का वमन कराने से हृदयरोग, श्वासरोग, आनाह और मूर्च्छा रोग होते हैं।

आमदोषनिर्हरण कष्टकर—जिस प्रकार कच्चे आम का स्वरस निकालने से आम का स्वरूप विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आमसहित धातुओं में स्थित तीनों दोष शरीर में व्याप्त होते हैं और आसानी से वे नहीं निकाले जा सकते हैं। यदि उन्हें बिना पाक हुए निकाला जाय तो बड़ी हानि होने की सम्भावना होती है॥ १४६-१४८॥

वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत्॥ १४९॥
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः। यावज्ज्वरमृदूभावात् षडहं वा विचक्षणः॥ १५०॥
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः। ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः॥
वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमनाः। स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात्तृट्प्रशान्तये॥ १५२॥
आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च। ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्तस्मात् पेयाभिरादितः॥
ज्वरानुपचरेद् धीमानृते मद्यसमुत्थितात्।

ज्वर में यवागू-प्रयोग—रोगी को वमन और लंघन कराने के बाद अन्न देने के समय ज्वरकारक दोषों को नष्ट करने वाली औषधियों के क्वाथ में पकाया हुआ मण्ड मिलाकर फिर यवागू खिलाना चाहिए।

यवागू-सेवनकाल—यवागू का प्रयोग तब तक कराना चाहिए जब तक ज्वर का वेग मन्द न पड़ जाय। अथवा छः दिन तक यवागू का सेवन कराना चाहिए। यवागू के सेवन से उस रोगी की अग्नि उसी प्रकार प्रदीप्त होती है जैसे अग्नि में इन्धन डालने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है।

यवागू-सेवन का फल—औषधों का योग होने से एवं लघुगुणविशिष्ट होने से यवागू अग्नि को प्रदीप्त करती हैं, अपान वायु, मूत्र, मल और दोषों को बाहर निकालती हैं, अनुलोमन होती हैं, द्रव और

उष्ण होने के कारण स्वेदनकारक होती हैं, द्रव होने से तृष्णाशामक होती हैं। आहारद्रव्य होने से शरीर में बल प्रदान करती हैं। ये 'सर' गुणसम्पन्न अर्थात् अनुलोमन होने से शरीर में लघुता या स्फूर्ति देती हैं। (ज्वरघ्न औषधसिद्ध होने से) ज्वरनाशक होती हैं और ज्वर में सात्म्य (अनुकूल) होती हैं। अतः बुद्धिमान् वैद्य मद्यपानजनित ज्वर के अतिरिक्त ज्वरों की चिकित्सा का आरम्भ पेया आदि (लघु एवं द्रव) पदार्थों से करें॥ १४९-१५३॥

मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके॥ १५४॥
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे। तत्र तर्पणमेवाग्ने प्रयोज्यं लाजसक्तुभिः॥ १५५॥
ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम्। ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम्॥ १५६॥
तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा।

यवागू-प्रयोग का निषेध—मद्यपान के नशे से उत्पन्न मदात्ययरोग में नित्य मद्यपान करने के अभ्यासी व्यक्ति के लिए ग्रीष्म ऋतु में ज्वर में जब पित्त और कफ दोष अधिक हों और रक्तपित्त का वेग ऊर्ध्वमार्गी हो, तो ऐसी स्थिति में ज्वर के रोगी को यवागू का सेवन हितकर नहीं होता। (क्योंकि यह उष्ण होने के कारण पित्त की वृद्धि कर ज्वर के वेग को बढ़ा सकती है।)

तर्पण का प्रयोग—रक्तपित्त की जिन परिस्थितियों में ज्वर के रोगी के लिए यवागू के प्रयोग का निषेध किया गया है, उनमें धान के लावा के सत्तू में ज्वरनाशक फलों का रस घी और चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए। उस 'तर्पण' के पच जाने के पश्चात् रोगी की अनुकूलता का विचार कर रोगी की जठराग्नि के बल के अनुसार पतले मूँग के साथ अथवा मांसभक्षी रोगी को जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन (भात) देना चाहिए॥ १५४-१५६॥

अन्नकालेषु चाप्यस्मै विधेयं दन्तधावनम्॥ १५७॥
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद् विपरीतं प्रियं च यत्। तदस्य मुखवैरस्यं प्रकाङ्क्षां चान्नपानयोः॥१५८॥
धत्ते रसविशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत्। विशोध्य द्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत्॥ १५९॥
मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात्।

दन्तधावन (दातौन) का प्रयोग—भोजन करने के समय पहले रोगी को दन्तधावन कराना चाहिए, जो रोगी के मुख के रस से भिन्न या विपरीत रस का हो और प्रिय हो। ऐसा दातौन करना मुख को स्वच्छ बनाता है। रोगी की खाने-पीने में रुचि होती है। उसे मधुर आदि छः रसों का परिज्ञान होता है।

दन्तधावन के बाद का कर्तव्य—वृक्षों की शाखाओं के मृदु दातौन की कूँची से बार-बार मुख और दाँतों को साफ कर मुखप्रक्षालन कर ले। तत्पश्चात् दही के पानी, गन्ने के रस या मद्य के साथ यथायोग्य आहार देना चाहिए॥ १५७-१५९॥

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेद् भिषक्॥ १६०॥
ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम्[1]।

ज्वर में कषाय-प्रयोग—ज्वर के प्रारम्भिक दिन के पश्चात् छः दिन और बीत जाने के बाद सातवें दिन हलका भोजन कराये और आठवें दिन आमदोष के पाचनार्थ पाचनद्रव्यों से सिद्ध कषाय और पक्व (निराम) दोष हो गया हो तो दोषशामक द्रव्यों से सिद्ध शमन कषाय पिलाये॥ १६०॥

---

१. 'षडहेऽतीते इति ज्वरादारभ्य षडहेऽतिक्रान्ते; अतः सप्तमेऽहनि लघ्वन्नं मात्रया स्वरूपेण च यत्, तत्प्रतिभोजितं ज्वरितमष्टमेऽहनि कषायं पाययेदिति वाक्यार्थः। एवञ्च पूर्वोक्ताष्टाहकृतनिरामताव्यवस्थायाः पाचनस्य शमनीयस्य वा उपयोग उपपन्नो भवति'। (चक्रपाणिः)

वक्तव्य—सात दिन तक 'तरुण', बारह दिन तक 'मध्य' और इससे अधिक समय तक रहने वाला ज्वर 'पुराण' कहा जाता है। तरुणज्वर में आमदोष के पाचनार्थ पेया का प्रयोग ज्वर के मृदु होने तक या छः दिन तक करने का विधान है। यहाँ 'षडहेऽतीते' से यही ध्वनित होता है कि छः दिन बीत जाने के पश्चात् सातवें दिन लघु भोजन कराकर आठवें दिन कषाय देना चाहिए। ज्वर में आठ दिन की अवधि निरामज्वर होने के लिए कही गयी है। यदि आठ दिन में ज्वरकर दोषों का पाचन न हो तो पाचनकषाय का प्रयोग कर पाचन करना चाहिए। यदि दोष का पाचन हो गया हो तो शमनकषाय का प्रयोग करना चाहिए।

स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम्॥ १६१॥
दोषा बद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे। न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते॥ १६२॥
यः कषायकषायः स्यात् स वर्ज्यस्तरुणज्वरे।

तरुणज्वर में कषाय-निषेध—तरुणज्वर में कषाय के प्रयोग से दोष अविचल भाव से एक ही स्थान में स्थिर हो जाते हैं और उनका चिरकाल तक भी पाचन नहीं हो पाता। जिसके परिणामस्वरूप वे विषमज्वर उत्पन्न करते हैं, क्योंकि कषाय अपने स्वभाव से ही स्तम्भनकारक होता है।

त्याज्य कषाय—(कषाय बनाने के अनेक प्रकार कहे गये हैं; जैसे—स्वरस, कल्क, शृत, शीत, फाण्ट, हिम आदि; इन अनेक प्रकार की) कल्पनाओं को लक्ष्य कर कषाय का निषेध नहीं किया गया है, अपितु जो (कषाय रस वाला) कषाय रस वाले द्रव्यों से निर्मित कषाय हो, उसका प्रयोग तरुणज्वर में नहीं करना चाहिए॥ १६१-१६२॥

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः॥ १६३॥
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये।

यवागूपान के बाद भोजन-व्यवस्था—यवागू देने के पश्चात् भोजन देने का समय आने पर रोगी में कफ की प्रबलता होने तथा जठराग्नि के तीव्र होने पर अनार का रस मिलाकर या रोगी को अम्ल सात्म्य न हो तो यों ही सादे मूँग के यूष के साथ साठी या अगहनी चावन का भात थोड़ी मात्रा में खिलाना चाहिए। यदि रोगी दुर्बल हो और वातदोष की प्रबलता हो तो जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ लघु अन्न का आहार देना चाहिए। ज्वर के शमन के लिए दश दिन तक यह प्रयोग चलाना चाहिए॥ १६३॥

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे॥ १६४॥
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम्। निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम्॥ १६५॥
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः कषायैस्तमुपाचरेत्। यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च॥ १६६॥
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां बलकृच्च तत्।

ज्वर में घृतपान—(ज्वर में दश दिन के बाद लंघन आदि के कारण) जब कफ क्षीण हो और ज्वरसन्ताप तथा रूक्षता के कारण धातुशोष होने से वात-पित्त बढ़े हुए हों एवं दोषों के परिपक्व होने पर घृतपान कराना अमृत जैसा लाभकर होता है।

घृतपान का अपवाद—ज्वर के प्रबल सामदोष से उत्पन्न होने से तथा सम्यक् उपचार न होने से दश दिन बीत जाने के बाद भी ज्वर में कफदोष की प्रधानता हो और लंघन के सम्यक् योग होने के लक्षणों के न रहने पर रोगी को घृतपान नहीं कराना चाहिए, अपितु कषायों के प्रयोग से उपचार करना चाहिए।

ज्वर में मांसरस-प्रयोग—जब तक शरीर में लंघन के फलस्वरूप लघुता न आ जाय तब तक जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ हलका भोजन देना चाहिए। यह आहार बलकारक होता है और बल ही दोषों के नियन्त्रण का सामर्थ्यवान् उपाय है॥ १६४-१६६॥

दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम्॥ १६७॥
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत्।

ज्वर में दुग्धपान—जिस ज्वर में वात एवं पित्त की प्रधानता होने से रोगी को दाह और तृष्णा सता रहे हों, ज्वर निराम हो गया हो तो यदि दोष (मल) का विबन्ध हो, तो गोदुग्ध का सेवन कराये एवं यदि दोष प्रवर्तमान हो तो बकरी का दूध पिलाकर ज्वर का उपचार करे॥ १६७॥

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः॥ १६८॥
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः। ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम्॥ १६९॥
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान्। निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्वं मुदं रुचिम्॥ १७०॥
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत्। पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्॥ १७१॥
ग्रंसनं, त्रीन्मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्।

ज्वर में विरेचन—यदि पूर्व में बतलायी गयी विधियों के प्रयोग से ज्वर न शान्त हो रहा हो और रोगी का बल, मांसधातु एवं जठराग्नि क्षीण न हों, तो ऐसे रोगी के ज्वर को विरेचन के प्रयोग से शान्त करना चाहिए।

ज्वर से क्षीण व्यक्ति का शोधन—जो व्यक्ति ज्वर होने के कारण क्षीणशरीर हो उनके लिए वमन या विरेचन हितकर नहीं होते। अतः उसे दूध पिलाकर अथवा निरूहवस्ति देकर उसके मलों को बाहर निकाले।

निरूह से लाभ—जब दोषों के परिपक्व हो जाने पर निरूह वस्ति का प्रयोग किया जाता है तब उससे शरीर में बल की वृद्धि होती है, जठराग्नि तीव्र होती है, ज्वर का वेग शान्त हो जाता है, मन प्रसन्न हो जाता है और भोजन में रुचि उत्पन्न होती है।

ग्रंसन (विरेचन-प्रकार)—ग्रंसन औषध का प्रयोग पित्ताशय में गये हुए पित्त, पित्तसामान्य या कफ-पित्त को निकालने वाला होता है और निरूहवस्ति पक्वाशय में स्थित वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों को निकालने में समर्थ है॥ १६८-१७१॥

जीर्णज्वरचिकित्सा

ज्वरे पुराणे सङ्क्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये॥ १७२॥
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम्।

(१२) जीर्णज्वर में अनुवासन—यदि ज्वर पुराना हो, कफ-पित्त क्षीण हों, जठराग्नि बली हो और मल रूक्ष एवं विबन्ध युक्त हो, तो ऐसे व्यक्ति को अनुवासन (स्निग्ध) वस्ति देनी चाहिए॥ १७२॥

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च॥ १७३॥
जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम्।

ज्वर में नस्य-प्रयोग—यदि जीर्णज्वर के रोगी के शिर में भारीपन हो, शिरःशूल हो, इन्द्रियाँ विबद्ध हों और अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हों, तो रोगी को रुचिकर शिरोविरेचन देना चाहिए॥ १७३॥

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने॥ १७४॥
विभज्य शीतोष्णकृतं कुर्याज्जीर्णज्वरे भिषक्। तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः॥ १७५॥
लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते।

जीर्णज्वर में बाह्य उपचार—वैद्य को चाहिए कि जीर्णज्वर में ज्वरकर कारणों का शीत तथा उष्ण की दृष्टि से विवेचन करके शीत से हुए ज्वर में उष्ण तथा उष्ण से उत्पन्न हुए ज्वर में शीत पदार्थों की मालिश, उबटन, शिर से स्नान (परिषेक) और जलावगाहन कराना चाहिए। ऐसा करने से बाहर के मार्गों

में व्याप्त ज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाता है। ऐसा करने से अंगों को सुख मिलता है, शरीर में बल बढ़ता है और त्वचा की कान्ति में निखार आता है॥ १७४-१७५॥

धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम्॥ १७६॥
त्वङ्मात्रशेषा येषां च भवत्यागन्तुरन्वयः। इति क्रियाक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः॥

ज्वर में धूपन—जिन जीर्णज्वरों में किसी प्रकार के आगन्तुक कारण अभिघात या प्रेत आदि अथवा अभिचार, अभिशाप आदि का सम्बन्ध हो और जो त्वचा मात्र के आश्रित हों, वे धूपनों एवं अञ्जनों के प्रयोग से शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार ज्वरनाशक चिकित्साक्रम की प्रक्रिया का प्रकाशन कर दिया गया है॥ १७६-१७७॥

ज्वरघ्न क्रियाक्रम-बोधक सारणी

१. त्याज्य विषय (दिवास्वप्न आदि)	७. वमन	१३. मांसरस	१९. अभ्यंग
२. लंघन	८. यवागूसेवन	१४. क्षीरविरेचन	२०. विविध प्रलेप
३. दोषपाचनसंग्रह	९. तर्पण	१५. निरूहवस्ति	२१. परिषेक
४. उष्णोदक	१०. दन्तधावन	१६. स्रंसन	२२. अवगाहन
५. शृतशीत जल	११. कषायपान	१७. अनुवासन	२३. धूपन
६. षडङ्गपानीय	१२. घृतपान	१८. शिरोविरेचन	२४. अञ्जन

येषां त्वेष क्रमस्तानि द्रव्याण्यूर्ध्वमतः शृणु। रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह॥
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः।

(१३) ज्वरनाशक द्रव्य—अब आगे उन द्रव्यों को कहा जा रहा है जो ज्वरनाशनार्थ प्रयोग में लाये जाते हैं, आप सुनें। ज्वरग्रस्त रोगियों के ज्वर को नष्ट करने के लिए यवागू, भात और लावा (खीलें) बनाने योग्य पुराने अगहनी धान के चावल आदि तथा साठी के चावल उत्तम होते हैं॥ १७८॥

लाजपेयां सुखजरां पिप्पलीनागरैः शृताम्॥ १७९॥
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां क्षुद्वानल्पाग्निरादितः। अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्लां सनागराम्॥
सृष्टविट् पैत्तिको वाऽथ शीतां मधुयुतां पिबेत्। पेयां वा रक्तशालीनां पार्श्वबस्तिशिरोरुजि॥
श्वदंष्ट्राकण्टकारिभ्यां सिद्धां ज्वरहरां पिबेत्। ज्वरातिसारी पेयां वा पिबेत् साम्लां शृतां नरः॥
पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः।

ज्वर में पेया प्रयोग : दश प्रकार की यवागू—(१) जिस ज्वर के रोगी की अग्नि मन्द हो किन्तु उसे भूख लगी हो, तो वह पहले पीपर और सोंठ का चूर्ण डालकर धान के लावा की बनी पेया का पान करे, क्योंकि यह आसानी से पच जाती है और ज्वर को दूर करती है। (२) जो ज्वर का रोगी खट्टी वस्तु पसन्द करता हो, वह पूर्वोक्त लाजपेया में सोंठ का चूर्ण और खट्टे अनार का रस डालकर पेया का पान करे। (३) यदि ज्वर के रोगी को अधिक शौच होता हो अथवा पैत्तिक ज्वर हो तो वह पूर्वोक्त पेया को ठण्डा कर मधु मिलाकर पीये। (४) यदि ज्वर के रोगी को पसलियों में, वस्तिस्थान में या शिर में पीड़ा हो रही हो तो वह गोखरू और कण्टकारी (रेंगनी) के क्वाथ में लाल अगहनी के चावल की बनी पेया पीये। (५) जिस ज्वर के रोगी को ज्वर के साथ अतिसाररोग भी हो तो वह पिठवन, बरिआर,

बेलसोंठ, सोंठ, कमलगट्टा और धनिया के क्वाथ में बनायी गई तथा खट्टे अनार के रस से खट्टी की गयी पेया का पान करे॥ १७९-१८२॥

शृतां विदारीगन्धाद्यैर्दीपनीं स्वेदनीं नरः॥ १८३॥
कासी श्वासी च हिक्की च यवागूं ज्वरितः पिबेत्। विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम्॥
सर्पिष्मतीं पिबेत् पेयां ज्वरी दोषानुलोमनीम्। कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत् पेयां शृतां ज्वरी॥
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः। पिबेत् सबिल्वां पेयां वा ज्वरे सपरिकर्तिके॥ १८६॥
बलावृक्षाम्लकोलाम्लकलशीधावनीशृताम्। अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तः पिबेत् पेयां सशर्कराम्॥
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम्।

पेया के अन्य योग—(६) ज्वर का जो रोगी खाँसी, दमा और हिचकी से पीड़ित हो, उसे विदारीगन्धादि गण (विदारीगन्धा, बड़ी कटेरी, पिठवन, छोटी कटेरी और गोखरू) के क्वाथ में बनाई हुई अग्नि को प्रदीप्त करने वाली एवं पसीना लाने वाली यवागू पीना चाहिए। (७) ज्वर के जिस रोगी को मलावरोध हो गया हो, उसे पीपर तथा आँवला के क्वाथ में लाल अहगनी चावल के साथ जौ की दलिया डालकर बनाई हुई घृतमिश्रित यवागू का पान करना चाहिए। यह मलावरोध को दूर करती है और दोषों का अनुलोमन करती है। (८) यदि ज्वर के रोगी को कोष्ठबद्धता (आमाशय, पक्वाशय आदि में अवरोध) और पीड़ा हो तो उसे मुनक्का, पिपरामूल, चाभ, आँवला और सोंठ के क्वाथ से बनाई हुई पेया का पान करना चाहिए। (९) यदि ज्वर के रोगी की गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा (परिकर्तिका) हो रही हो तो उसे वरिआर, वृक्षाम्ल (कोकम), खट्टीबेर, पिठवन, भटकटैया और बेलसोंठ के क्वाथ में अगहनी चावल की बनाई हुई पेया पिलानी चाहिए। (१०) जिस ज्वर के रोगी को पसीना न आता हो, नींद नहीं आती हो, प्यास बहुत लगती हो, उसे सोंठ और आँवला के क्वाथ में बनाई गई पेया घी का छौंक लगाकर एवं चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए॥ १८३-१८७॥

वक्तव्य—यहाँ दश प्रकार की पेया या यवागू का उल्लेख किया गया है। इन दोनों के निर्माण के जिन क्वाथ्य द्रव्यों का नाम लिया गया है उनके प्रयोग की सामान्यतः प्रचलित परिभाषा यह है कि जिस द्रव्य से पेया या यवागू बनाने का निर्देश है, उस द्रव्य को १ कर्ष (१२ ग्राम) की मात्रा में लेकर साफ कर जौकुट करके १ प्रस्थ पानी में पकाये। जब पानी आधा बच जाय तो छान ले। इस पानी में पेया अथवा यवागू को पकाना चाहिए। रोगी की बुभुक्षा और अग्नि के अनुसार उचित मात्रा में आहारद्रव्य को लेकर (जौ की दलिया, अगहनी का पुराना चावल, मूँग आदि) द्रव्य के वजन से चौदह गुना वजन जल में पकाये और अच्छी तरह से अन्नद्रव्य के कणों के गल जाने पर उतार ले, तो इसे पेया कहते हैं—'पेया चतुर्दश गुणे'। इसी प्रकार जब अन्नद्रव्य को छः गुना जल में डालकर पकाया जाता है तो उसे 'यवागू' कहते हैं—'यवागूः षड्गुणेऽम्भसि'।

ज्वर में अन्नपान

मुद्गान्मसूराँश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान्॥ १८८॥
यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत्।

ज्वर में यूष—ज्वर के जिन रोगियों को यूष का सेवन हितकर और अनुकूल पड़ता हो, उन्हें मूँग, मसूर, चना, कुलथी और मोठ का जूस बनाकर पिलाना चाहिए॥ १८८॥

वक्तव्य—जिस द्रव्य का यूष बनाना अभीष्ट हो, उसकी दाल बनाकर साफ कर द्रव्य के वजन से सोलह गुना वजन में पानी डालकर पकाये और चौथाई शेष रहने पर उतार ले।

पटोलपत्रं सफलं कुलकं पापचेलिकम्॥ १८९॥

कर्कोटकं कठिल्लं च विद्याच्छाकं ज्वरे हितम्।

ज्वर में शाक—परवर की पत्ती और फल, करेला, पाठा, कर्कोटक (चठइल) और कठिल्ल (लाल पुनर्नवा)—इनके शाक ज्वर में हितकर होते हैं॥ १८९॥

लावान् कपिञ्जलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान्॥ १९०॥
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान्पृषताञ्छशान्। प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान्॥
ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षणः।

ज्वर में मांसरस—विद्वान् वैद्य जिस ज्वर के रोगी को मांस का सेवन अनुकूल पड़ता हो, उसे भोजन के समय में ज्वरनाशक—बटेर, तीतर, काले हरिण, चकोर, चकवा, सामान्य मृग, काली पूँछवाले मृग, चीतल (बूँदीदार मृग) इन जातियों के हरिण, खरहा, इन पशु-पक्षियों के मांसरस को अनार का रस डालकर कुछ खट्टा कर अथवा बिना खट्टा किये ही खाने को दे॥ १९०-१९१॥

वक्तव्य—मांसरस-निर्माण—जब गाढ़ा मांसरस तैयार करना हो तो १२ पल मांस लेकर उसे १ प्रस्थ जल में अच्छी तरह पका लें और यदि पतला मांसरस बनाना हो तो ६ पल मांस को १ प्रस्थ जल में डालकर पकाना चाहिए—'पलानि द्वादशप्रस्थे घनेऽथ, तनुके तु षट्'। (परिभाषाप्रदीप)।

कुक्कुटांश्च मयूरांश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकान्॥ १९२॥
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः। लङ्घनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत्॥ १९३॥
भिषङ्मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित्।

मांसरस का निषेध और विधि—कतिपय चिकित्सक भारी और उष्ण गुणयुक्त होने के कारण मुर्गा, मोर, तीतर, सारस और बत्तख के मांसरस का सेवन ज्वर के रोगी के लिए अच्छा नहीं कहते हैं। फिर भी यदि उपवास करने के कारण वायु का बल बढ़ गया हो, तो मात्रा के प्रकारों को जानने वाला वैद्य समुचित मात्रा में उचित समय पर उक्त पक्षियों का मांसरस रोगी को दे सकता है॥ १९२-१९३॥

घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत्॥ १९४॥
मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम्।

ज्वर में अनुपान—ज्वर के रोगी को मांसरस-सेवन के पश्चात् प्यास लगने पर अनुपान के रूप में गरम जल देना चाहिए। यदि रोगी शराब पीने का अभ्यासी हो तो उसके दोष तथा शारीरिक बल का विचार कर उसे अनुपान के रूप में उचित मात्रा में मद्य पिलाये॥ १९४॥

गुरूष्णस्निग्धमधुरान् कषायांश्च नवज्वरे॥ १९५॥
आहारान् दोषपक्त्यर्थं प्रायशः परिवर्जयेत्। अन्नपानक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः॥१९६॥

नवज्वर में निषिद्ध आहार—नवीन ज्वर में दोषों के परिपाक के लिए गुरुद्रव्य, उष्णद्रव्य, स्निग्धद्रव्य, मधुरद्रव्य और कषायरस वाले द्रव्यों का आहार प्रायः नहीं करना चाहिए। (प्रायः कहने का अभिप्राय यह है कि क्षय, वात या क्रोध आदि से होने वाले ज्वर में इन द्रव्यों का प्रयोग किया जा सकता है।) इस प्रकार ज्वरनाशक अनुभूत (सिद्ध) अन्नपान-क्रम का वर्णन कर दिया गया॥ १९५-१९६॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते कषाया ज्वरनाशनाः। पाक्यं शीतकषायं वा मुस्तपर्पटकं पिबेत्॥ १९७॥
सनागरं पर्पटकं पिबेद्वा सदुरालभम्। किराततिक्तकं मुस्तं गुडूचीं विश्वभेषजम्॥ १९८॥
पाठामुशीरं सोदीच्यं पिबेद्वा ज्वरशान्तये। ज्वरघ्ना दीपनाश्चैते कषाया दोषपाचनाः॥ १९९॥
तृष्णारुचिप्रशमना मुखवैरस्यनाशनाः।

ज्वरनाशक पाँच कषाय—(१) नागरमोथा और पित्तपापड़ा का क्वाथ बनाकर अथवा इनके चूर्ण को गरम जल में १०-१२ घण्टे भिगोकर मसलकर छानकर शीतकषाय के रूप में पान करना चाहिए।

(२) इसी प्रकार सोंठ और पित्तपापड़ा दोनों समान भाग लेकर क्वाथ या शीतकषाय बनाकर अथवा (३) पित्तपापड़ा और धमासा का या (४) चिरायता, नागरमोथा, गुरुच और सोंठ का अथवा (५) पाठा, खस, सुगन्धबाला का क्वाथ या शीतकषाय बनाकर ज्वर को शान्त करने के लिए पान करना चाहिए। इनके कषाय ज्वर का नाश करने वाले, अग्निप्रदीपक और दोषों को पचाने वाले होते हैं। ये प्यास, अरुचि और मुख के फीके स्वाद को नष्ट करते हैं॥ १९७-१९९॥

वक्तव्य—'पाक्य' का अर्थ क्वाथ होता है और 'शीतकषाय' उसे कहते हैं, जैसे किसी द्रव्य को मोटा भूसी की तरह कूटकर गरम जल में डालकर रातभर छोड़ दे एवं प्रातःकाल मसल कर पानी छान ले, तो वह जल 'शीतकषाय' कहा जाता है। सामान्यतः २०-२५ ग्राम द्रव्य को छः गुना जल में भिगोना चाहिए और यह एक मात्रा होगी।

क्वाथ बनाने के लिए २५ ग्राम क्वाथ्य द्रव्य को द्रव्य की मृदुता, कठिनता एवं अतिकठिनता के अनुसार चौगुना, आठ गुना या सोलह गुना जल में पकाकर चतुर्थांशावशिष्ट होने पर छान लेना चाहिए। 'मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेऽष्टगुणं भवेत्। कठिनात्कठिनं यच्च दद्यात् षोडशिकं जलम्'॥ तथा 'क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम्। शर्वरीमुषितं सम्यक् ज्ञेयः शीतकषायकः'॥ (परिभाषाप्रदीप) मात्रा का निश्चय रोगी की प्रकृति, दोष, बल आदि के अनुसार करना चाहिए। वर्तमान में क्वाथ या शीतकषाय के लिए १० ग्राम, २० ग्राम, ३० ग्राम तक द्रव्य लेकर उसका क्वाथ बनाकर देना चाहिए।

कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी॥ २००॥
पटोलः सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी। निम्बः पटोलस्त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ॥२०१॥
किरततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम्। गुडूच्यामलकं मुस्तमर्धश्लोकसमापनाः॥ २०२॥
कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधाञ्ज्वरान्। सन्तं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान्॥ २०३॥

विषमज्वरनाशक पाँच कषाय—यहाँ आधे-आधे श्लोक में समाप्त होने वाले पाँच कषाय कहे गये हैं, जो क्रमशः सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक—इन पाँच प्रकार के विषमज्वरों को शीघ्र शान्त करते हैं। जैसे—**सन्ततज्वर में** (१) इन्द्रजौ, परवर की पत्ती और कुटकी का; **सततज्वर** में (२) परवर की पत्ती, सारिवा (अनन्तमूल), नागरमोथा, पाठा और कुटकी का; **अन्येद्युष्क** ज्वर में (३) नीम की गीली छाल, परवर की पत्ती, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, मुनक्का, नागरमोथा और इन्द्रजौ का; **तृतीयक** में (४) चिरायता, गुरुच, लालचन्दन और सोंठ का तथा **चतुर्थक** ज्वर में (५) गुरुच, आँवला और नागरमोथा का क्वाथ पिलाने से शीघ्र ही ये ज्वर शान्त हो जाते हैं॥ २००-२०३॥

वत्सकारग्वधौ पाठां षड्ग्रन्थां कटुरोहिणीम्। मूर्वां सातिविषां निम्बं पटोलं धन्वयासकम्॥
वचां मुस्तमुशीरं च मधुकं त्रिफलां बलाम्। पाक्यं शीतकषायं वा पिबेज्ज्वरहरं नरः॥ २०५॥

वत्सकादि कषाय—(१) वत्सक (इन्द्रजौ), अमलतास की गुद्दी, पाठा, वच मीठा और कुटकी; (२) मूर्वा की जड़, अतीस, नीम की छाल, परवर की पत्ती और धमासा; (३) मीठा वच, नागरमोथा, खश, मुलहठी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा और वरिआर की जड़; इन तीनों योगों का अलग-अलग क्वाथ या शीतकषाय बनाकर पीने से ज्वर नष्ट हो जाता है। कुछ आचार्य इन तीनों योगों को तीन योग न मानकर एक ही योग मानते हैं। एक योग मानने पर जो दवा एकाधिक बार कथित है, उसे उतनी गुणित मात्रा में लेना चाहिए॥ २०४-२०५॥

मधूकमुस्तमृद्वीकाकाश्मर्याणि परूषकम्। त्रायमाणामुशीरं च त्रिफलां कटुरोहिणीम्॥ २०६॥
पीत्वा निशि स्थितं जन्तुर्ज्वराच्छीघ्रं विमुच्यते।

मधूकादि शीतकषाय—१. महुआ का फूल, २. नागरमोथा, ३. मुनक्का, ४. गम्भार की छाल, ५. फालसा का फल या छाल, ६. त्रायमाणा, ७. खश, ८. आँवला, ९. हर्रे, १०. बहेड़ा और ११. कुटकी—इन ग्यारह द्रव्यों को भूसा की तरह कूट कर रख लें और २०-२५ ग्राम लेकर १५०-२०० मिलीलीटर गरम जल में १०-१२ घण्टे भिगोकर छान कर प्रातः-सायं पीने से मनुष्यों का ज्वर शीघ्र छूट जाता है॥ २०६॥

जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयवासकम्॥ २०७॥
विबद्धदोषो ज्वरितः कषायं सगुडं पिबेत्।

जात्यादि कषाय—१. चमेली की पत्ती, २. आँवला, ३. नागरमोथा और ४. जवासा—इन चार द्रव्यों का क्वाथ चतुर्थांश गुड़ मिलाकर उन ज्वर के रोगियों को पीना चाहिए, जिनके दोष अवरुद्ध या विबद्ध हों॥ २०७॥

त्रिफलां त्रायमाणां च मृद्वीकां कटुरोहिणीम्॥ २०८॥
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष कषायो ह्यानुलोमिकः। त्रिवृताशर्करायुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः॥ २०९॥

त्रिफलादि क्वाथ—१. आँवला, २. हर्रा, ३. बहेड़ा, ४. त्रायमाणा, ५. मुनक्का और ६. कुटकी—इन सबको बराबर-बराबर लेकर जौकुट कर २५ ग्राम का क्वाथ बनाकर प्रातः-सायं पीने से यह पित्त एवं कफ को नष्ट करता है और वायु का अनुलोमन करता है। इसी में निशोथ और चीनी मिलाकर पीने से यह क्वाथ पित्त-कफज्वर को दूर करता है॥ २०८-२०९॥

बृहत्यौ वत्सकं मुस्तं देवदारु महौषधम्। कोलवल्ली च योगोऽयं सन्निपातज्वरापहः॥ २१०॥

बृहत्यादि कषाय—बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ और चव्य—इनका समभागमिश्रित क्वाथ सन्निपातज्वर को दूर करता है॥ २१०॥

शटी पुष्करमूलं च व्याघ्री शृङ्गी दुरालभा। गुडूची नागरं पाठा किरातं कटुरोहिणी॥ २११॥
एष शटयादिको वर्गः सन्निपातज्वरापहः। कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिश्वासतन्द्रासु शस्यते॥ २१२॥

शटयादि कषाय—कचूर, पोहकरमूल, रेंगनी का फल या मूल, काकड़ासींगी, जवासा, गुरुच, सोंठ, पाठा, चिरायता और कुटकी; यह 'शटयादि' वर्ग है। यह सन्निपातज्वर को नष्ट करता है। यह शटयादि वर्ग का क्वाथ कास, हृदयप्रदेश में जकड़ाहट, पार्श्वपीड़ा, श्वास की अधिकता और तन्द्रा में भी उत्तम लाभप्रद है। विशेषकर जब सन्निपातज्वर में ये कास-श्वास आदि उपद्रव हों तो इसका प्रयोग करना चाहिए॥ २११-२१२॥

बृहत्यौ पौष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा। वत्सकस्य च बीजानि पटोलं कटुरोहिणी॥ २१३॥
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः सन्निपातज्वरापहः। कासादिषु च सर्वेषु दद्यात् सोपद्रवेषु च॥ २१४॥

बृहत्यादि क्वाथ—बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, पोहकरमूल, कचूर, काकड़ासींगी, जवासा, इन्द्रजौ, परवर की पत्ती और कुटकी; यह 'बृहत्यादि गण' है। इनको समभाग में लेकर बनाया गया क्वाथ सन्निपातज्वर को दूर करता है। उपद्रव से युक्त कास-श्वास-पार्श्वशूल-हिचकी आदि रोगों में भी इसका प्रयोग करना चाहिए तथा सन्निपात ज्वर में इन उपद्रवों के होने पर इस बृहत्यादिगण के क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए॥ २१३-२१४॥

कषायाश्च यवाग्वश्च पिपासाज्वरनाशनाः। निर्दिष्टा भेषजाध्याये भिषक्तानपि योजयेत्॥

अतीतावेक्षण तन्त्रयुक्ति के अनुसार पूर्व के ग्रन्थ-विषयों का स्मरण—भेषजाध्यायों (च० सू० १।४) में पिपासा और ज्वर को नष्ट करने वाले क्वाथों और यवागुओं का वर्णन किया गया है, वैद्य को अवसर के अनुसार उनका भी प्रयोग करना चाहिए॥ २१५॥

वक्तव्य—चरकसंहिता के सूत्रस्थान के पहले चार अध्याय (१ से ४ तक) भेषजाध्याय कहलाते हैं। उनमें चौथे (षड्विरेचनशताश्रितीय) अध्याय में तृष्णानिग्रहण एवं ज्वरहर दश कषायों का वर्णन किया गया है। एवञ्च सूत्र० द्वितीय अध्याय (अपामार्गतण्डुलीय) में यवागुओं का वर्णन किया गया है। उनमें से जिन्हें जहाँ उपयोगी समझें वहाँ उनका प्रयोग करें।

ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः। रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम्॥ २१६॥
रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च। यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहबध्यः स चानिलः[1]॥ २१७॥

ज्वर में घृतप्रयोग की युक्ति—रूक्ष शरीर वाले जिस रोगी का ज्वर क्वाथों के प्रयोग से, वमन के प्रयोग से, उपवास कराने अथवा लघु आहार कराने पर भी शान्त न हो रहा हो, ऐसे रोगियों की चिकित्सा में घृत का प्रयोग उपयुक्त होता है। रूक्ष पित्तोष्मा ज्वर को उत्पन्न करता है। तेज से शरीर के रूक्ष हो जाने पर उस रोगी का जो धातु प्रकुपित होकर बलवान् हो जाता है, वह वायु ही है और वह वायु स्निग्ध पदार्थ से ही शान्त किया जा सकता है॥ २१६-२१७॥

वक्तव्य—यहाँ 'तेज' शब्द ऊष्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अथ च रूक्ष ऊष्मा ज्वरकारक होती है, यह कहा गया है। यह ऊष्मा पित्त की ही होती है, क्योंकि बिना पित्त के ऊष्मा नहीं होती और बिना ऊष्मा के ज्वर नहीं होता। यद्यपि पित्त सस्नेह कहा गया है ('सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च'—च० सू० १०) फिर भी अवस्था-विशेष में निराम पित्त स्नेहहीन होता है। इस प्रकार रूक्ष ऊष्मा (पित्त) के साथ रूक्ष गुण वायु भी बढ़ जाता है तथा इन दोनों के उपचारार्थ स्निग्धगुणविशिष्ट घृत का प्रयोग लाभप्रद होता है। इसी बात को 'स्नेहबध्यः स चानिलः' इस उक्ति से स्पष्ट किया गया है। विस्तृत विवरण के लिए टिप्पणी में उद्धृत चक्रपाणि टीका द्रष्टव्य है।

कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सह योजिताः। प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसन्धुक्षणाः शिवाः॥

घृतयुक्त कषाय ज्वरशामक—पूर्व में जिन क्वाथों का उल्लेख किया गया है उन्हें घृत मिलाकर प्रयोग करने से ज्वरों का शमन होता है और वे अग्नि को प्रदीप्त करने वाले एवं लाभप्रद होते हैं॥ २१८॥

---

१. रूक्षं तेज इत्यादि। तत्र तेजःशब्दो यद्यपि पित्तानलस्नेहशक्तिद्युतिषु ग्रीष्मे च वर्तते, तथापीह तेजःशब्देनोष्माऽभिधीयते; तेन रूक्षस्वरूप ऊष्मा सर्वत्र ज्वरकर इत्युक्तं भवति। स चोष्मा आमाशयविक्षिप्तस्याग्नेस्तथा देहभवो ज्वरप्रभावकृतश्च ज्वररूपो ज्ञेयः। यदुक्तं—'स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम्। सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति' इत्यादि। अयं च ऊष्मा सूक्ष्मविचारे यद्यपि पित्तस्य भवति, यदुक्तं—'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना' (वा. चि. अ. १) इति, पित्तं च यद्यपि 'सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च' (सू. अ. १०) इत्यादिना ग्रन्थेन स्निग्धमुक्तं, तथाऽप्यवस्थावशात् पित्तं निरामं सनिःस्नेहं भवति। स्नेहश्च पित्तगुणो द्रवयोगनिमित्तको न सांसिद्धिकः; तेन स्नेहापगमः पित्तस्योह्यत एवावस्थायां; तेन निःस्नेहस्य पित्तस्योष्मा रूक्ष एव भवति। इयं च व्याध्यवस्था व्याधिप्रभावादेव जीर्णावस्थायां भवति, यथा मदात्ययस्यान्ते वातपित्तत्वं; यदुक्तं—'पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः' (चि. अ. २४) इति। क्षारपाणिनाऽप्युक्तं—'ज्वरोष्मणा रूक्षितेषु धातुषु बलवान् मारुतो ज्वरानुबन्धं विषमज्वराणामन्यतमं वा कुर्यात्' इत्यादि। तत्र रूक्षेण तेजसा ज्वरकालसम्बन्धाद् रूक्षितस्य ज्वरिणो योऽनुबन्धो धातुरनिलः स्यात् स च स्नेहबध्य इति सर्पिःकृतस्नेहगुणबध्य इत्यर्थः। चकाराद् रूक्षं तेजो यज्ज्वरकरं तदपि सर्पिःकृतस्नेहवध्यमिति समुच्चिनोति। धातुरिति विशेषणेन वायोर्धारणात्मता उच्यते, ततश्च धारणात्मकस्य वायोः प्रकोपो महात्यय इति सूचयति। अनु पश्चाद्बलं भवति यस्य सोऽनुबलः। तेन सर्वज्वरेषु कषायादिना द्वादशाहेन च कालेन कफांशविक्षये सति ज्वरोष्मा वृद्धो भवति, तद्विरूक्षणाच्च वायुरपि वृद्धो भवति। अत्र ज्वरोष्मणि पित्तधर्मे सर्पिस्तावच्छैत्याद्विहितं भवतीति प्रसिद्धत्वान्नोक्तम्। स्नेहांशेनैव तु सर्पिर्यथा पित्तोष्माणं ज्वरकरं रूक्षस्वरूपं तथा वातं च स्नेहाच्छमयति, तत् 'रूक्षं तेज' इत्यादिना श्लोकेनोक्तं भवति। (चक्रपाणि-टीका)

पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी। कलिङ्गकात्तामलकी सारिवाऽतिविषा स्थिरा॥
द्राक्षाऽऽमलकबिल्वानि त्रायमाणा निदिग्धिका। सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो जीर्णज्वरमपोहति॥ २२०॥
क्षयं कासं शिरःशूलं पार्श्वशूलं हलीमकम्। अंसप्रतापमग्निं च विषमं सन्नियच्छति॥ २२१॥

१. पिप्पल्यादि घृत—पीपर, लालचन्दन, नागरमोथा, खश, कुटकी, इन्द्रजौ, भूमिआँवला, सारिवा, अतीस, सरिवन, मुनक्का, आँवला, बेलसोंठ, त्रायमाणा और छोटी कटेरी की जड़—इन औषधियों के कल्क का प्रक्षेप डालकर पकाया हुआ घृत जीर्णज्वर को शीघ्र दूर करता है। यह घृत राजयक्ष्मा, खाँसी, शिरःशूल, पार्श्वशूल, हलीमक, अंसप्रदेह में होने वाले सन्ताप (दाह) और विषमाग्नि विकार को दूर करता है॥ २१९-२२१॥

वक्तव्य—सर्वप्रथम एक प्रस्थ घी को आग पर चढ़ाकर गरम करे और कलकलाकर जब आवाज बन्द हो जाय तो उसमें मूर्च्छन[1] (हर्रे, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, हल्दी और बिजौरानीबू का रस प्रत्येक ५०-५० ग्राम लेकर चटनी जैसा पीस ले) द्रव्य डालकर चतुर्गुण जल के साथ मन्दाग्नि से पकाये। जब कुछ जलांश शेष रहे तभी उतार ले। इसे मूर्च्छन-संस्कार कहते हैं, इससे घृत के आम आदि दोष मिट जाते हैं। तत्पश्चात् पिप्पली आदि द्रव्यों को चूर्ण कर जल डालकर चटनी जैसा पीसकर कल्क तैयार करे; सम्पूर्ण कल्क के वजन से चौगुना वजन में घी ले और घी में कल्क मिलाकर कड़ाही को चूल्हे पर चढ़ाये एवं उसमें घी के चतुर्गुण जल डालकर धीमी आँच से पाक करे और चलाते रहे। जब जलांश जल जाय तो कुछ बूँदें आग में डाले। यदि चटचटाहट न हो तो तैयार समझे। जल को जला देना चाहिए, क्योंकि जलांश रहने पर घृत विकृत हो जाता है। घृत सिद्ध करने की सामान्य परिभाषा—'जलस्नेहौषधानाञ्च प्रमाणं यत्र नेरितम्। पादः स्यादौषधं स्नेहात् स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम्'॥ (परिभाषाप्रदीप) कुछ लोगों का मत है कि जिन द्रव्यों से स्नेह सिद्ध करने का उल्लेख हो, उन द्रव्यों का कल्क और क्वाथ दोनों ही डालना चाहिए। किन्तु यह नियम किसी 'गण' से स्नेहसाधन करने पर ही लागू होता है—'यत्राधिकरणेनोक्ति-र्गणस्य स्नेहसंविधौ। तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिभिः'॥ चूँकि इस पिप्पल्यादिघृत में किसी गण से स्नेहपाक का विधान नहीं है, अतः इसमें चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण जल डालकर पकाना चाहिए।

वासां गुडूचीं त्रिफलां त्रायमाणां यवासकम्। पक्त्वा तेन कषायेण पयसा द्विगुणेन च॥ २२२॥
पिप्पलीमुस्तमृद्वीकाचन्दनोत्पलनागरैः। कल्कीकृतैश्च विपचेद् घृतं जीर्णज्वरापहम्॥ २२३॥

२. वासादि घृत—अडूसा, गुरुच, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, त्रायमाणा और जवासा—इन सबको बराबर-बराबर लेकर क्वाथ बनाये। घी से क्वाथ द्विगुण परिमाण में हो और दूध भी घी से दूने परिमाण में डाले। फिर पीपर, नागरमोथा, मुनक्का, लाल चन्दन, नीलकमल और सोंठ—ये सब मिलाकर घी के वजन से चतुर्थांश वजन में लेकर कल्क बनाकर घी में डालकर स्नेहपाकविधि से इस जीर्णज्वरनाशक घृत को बनाये॥ २२२-२२३॥

वक्तव्य—इस घृत के निर्माण में यदि घृत १ प्रस्थ हो तो क्वाथ और दूध दो-दो प्रस्थ ले और कल्क कुल मिलाकर ½ प्रस्थ डालना चाहिए।

बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीं कलसीं धावनीं स्थिराम्। निम्बं पर्पटकं मुस्तं त्रायमाणां दुरालभाम्॥ २२४॥
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे दद्यात्तामलकीं शटीम्। द्राक्षां पुष्करमूलं च मेदामामलकानि च॥ २२५॥

१. पथ्याधात्रीविभीतैर्जलधररजनीमातुलुङ्गद्रवैश्च
द्रव्यैरैतैः समस्तैः पलकपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन।
आज्यप्रस्थं विपेनं परिपचनगतं मूर्च्छयेद्वैद्यवर्य-
स्तस्मादामोपदोषं हरति च सकलं वीर्यवत् सौख्यदायि'॥ (भै. र. ज्वराधिकार)

घृतं पयश्च तत्सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं परम्। क्षयकासशिरःशूलपार्श्वशूलांसतापनुत्॥ २२६॥

३. बलादि घृत—वरियार का मूल, गोखरू, बड़ी कटेरी, पिठवन, सरिवन, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, त्रायमाणा और दुरालभा—इन सब द्रव्यों का क्वाथ और भुईं आँवला, कचूर, मुनक्का, पोहकरमूल, मेदा और आँवला का कल्क डालकर दूध के साथ घृत सिद्ध करें। यह घृत अत्यन्त ज्वरनाशक है। यह घृत क्षय, कास, शिरःशूल, पार्श्वशूल और अंसप्रदेश के दाह को दूर करता है॥ २२४-२२६॥

वक्तव्य—इस घृत में मान नहीं कहा है। घी की मात्रा यदि १ प्रस्थ हो तो क्वाथ को ४ प्रस्थ और दूध १ प्रस्थ लेना चाहिए। क्योंकि सामान्य परिभाषा के अनुसार जब एक, दो या तीन द्रवों के साथ स्नेह सिद्ध करना हो तो प्रत्येक द्रव स्नेह से चौगुना लेना चाहिए, किन्तु दूध स्नेह के समान ही लेना चाहिए—'एकद्वित्रिद्रवद्रव्यैः कुर्यात् स्नेहाच्चतुर्गुणम्। क्षीरं स्नेहसमं देयं चतुर्भिश्च चतुर्गुणम्'॥ (परिभाषाप्रदीप)

ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान्। दद्यात् संशोधनं काले कल्पे यदुपदेक्ष्यते॥ २२७॥

ज्वर में संशोधन—बुद्धिमान् चिकित्सक को ज्वर के जो रोगी बहुदोष (च. सू. १०।१३-१६) वाले हों, उन्हें वमन तथा विरेचन दोनों का प्रयोग उपयुक्त अवसर देखकर कराना चाहिए, जिनका उपदेश आगे कल्पस्थान में करेंगे॥ २२७॥

वक्तव्य—आचार्य चरक ने सूत्रस्थान के सोलहवें अध्याय में संशोधन-चिकित्सा की सर्वश्रेष्ठता का उल्लेख करते हुए कहा है कि लंघन एवं पाचन आदि उपचारों से शान्त हुए दोष पुनरपि प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं और संशोधन के द्वारा शोधन कर दिये जाने पर रोग के पुनरुद्भव की आशङ्का नहीं रहती है। इसी दृष्टि से यहाँ भी बहु दोष की स्थिति में संशोधन करने को कहा गया है।

मदनं पिप्पलीभिर्वा कलिङ्गैर्मधुकेन वा। युक्तमुष्णाम्बुना पेयं वमनं ज्वरशान्तये॥ २२८॥
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षोरथवा लवणाम्बुना। ज्वरे प्रच्छर्दनं शस्तं मद्यैर्वा तर्पणेन वा॥ २२९॥

ज्वर में वमन द्रव्य—(यहाँ दोषानुसार तीन योग और उनके अनुपान बतलाये गये हैं, जैसे) (१) ज्वर में कफ की प्रधानता होने पर २ ग्राम मदनफल को २ ग्राम पिप्पलीचूर्ण के साथ मधु के शर्बत के अनुपान से प्रयोग करे। (२) यदि पित्त एवं कफ की प्रधानता हो तो इन्द्रजौ २ ग्राम के साथ २ ग्राम मदनफलचूर्ण को गन्ने के रस के अनुपान से प्रयोग करे या नमक के पानी के अनुपान से दे। (३) यदि दाह और तृष्णा की अधिकता हो तो मदनफलचूर्ण २ ग्राम एवं मुलहठीचूर्ण २ ग्राम को गन्ने के रस के अनुपान से देना चाहिए। यदि रोगी दुर्बल हो तो भरपेट तर्पण आहार खिला कर वमन कराये एवं मद्यप व्यक्ति को मदिरापान कराकर वमन कराये। इन प्रयोगों द्वारा वमन कराने से ज्वर का वेग शान्त हो जाता है॥ २२८-२२९॥

वक्तव्य—कुछ आचार्य मद्य द्वारा वमन ऐसे लोगों का कराना उचित मानते हैं जो मद्यपान के अभ्यासी न हों, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों को मद्य की तीक्ष्णता सह्य न होने से सुखपूर्वक वमन हो जायेगा।

मृद्वीकामलकानां वा रसं प्रस्कन्दनं पिबेत्। रसमामलकानां वा घृतभृष्टं ज्वरापहम्॥ २३०॥
लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णं संयुक्तं मधुसर्पिषा। पिबेद्वा क्षौद्रमावाप्य सघृतं त्रिफलारसम्॥ २३१॥
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा। त्रिवृतां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत्॥ २३२॥
ज्वराद्विमुच्यते पीत्वा मृद्वीकाभिः सहाभयाम्। पयोऽनुपानमुष्णं वा पीत्वा द्राक्षारसं नरः॥

ज्वर में विरेचन द्रव्य—(१) मुनक्के का काढ़ा और आँवले का रस या काढ़ा समान मात्रा में लेकर विरेचनार्थ प्रयोग करे। (२) आँवले के रस को घी से छौंककर पिलाने से ज्वर दूर हो जाता है। (३) श्वेत निशोथ का चूर्ण विषम मात्रा में मधु-घी मिलाकर चाटना चाहिए। (४) त्रिफला के रस या क्वाथ में मधु और घी मिलाकर पान करे। (५) अमलतास को दूध में उबाल कर पान करे। (६) अमलतास को मुनक्के के क्वाथ से ले। (७) निशोथ के चूर्ण को ज्वर का रोगी दूध के साथ पान करे। (८) त्रायमाणा

का चूर्ण दूध के साथ सेवन करे। (९) मुनक्का के साथ हर्रे को दूध के साथ ले। अथवा (१०) गरम-गरम मुनक्के का क्वाथ पीये॥ २३०-२३३॥

कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात्। मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीश्रृतं पयः॥

पञ्चमूलसिद्ध दुग्ध—पञ्चमूल (सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू) से सिद्ध किये गये दूध को पीकर ज्वर का रोगी खाँसी, दमा, शिरःशूल, पार्श्वशूल और जीर्णज्वर से विमुक्त हो जाता है॥ २३४॥

वक्तव्य—यहाँ क्षीरपाकविधि से पकाया हुआ दुग्ध पीना चाहिए। एतदर्थ २० ग्राम पञ्चमूल को जौकुट कर १६० ग्राम दूध और ६४० ग्राम जल में पकाये। दुग्ध मात्र बचे तो छानकर पिलाये। इसमें औषध से आठ गुना दूध, दूध से चौगुना पानी और दुग्धावशेष पकाकर पिलाने का विधान है।

एरण्डमूलोत्क्वथितं ज्वरात् सपरिकर्तिकात्। पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद्विल्वशलाटुभिः॥ २३५॥

एरण्डमूलादि दुग्ध—ज्वर में यदि गुदाप्रदेश में कैंची से काटने जैसी पीड़ा हो रही हो तो एरण्ड की जड़ डालकर या कच्चे बेल की गिरी डालकर पकाया हुआ (क्षीरपाकविधि से सिद्ध) दूध पिलाने से रोगी की पीड़ा (परिकर्तिका) शान्त हो जाती है॥ २३५॥

त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीगुडनागरसाधितम्। वर्चोमूत्रविबन्धघ्नं शोफज्वरहरं पयः॥ २३६॥

त्रिकण्टकादि दुग्ध—मल-मूत्र की रुकावट और सूजन युक्त ज्वर को दूर करने के लिए गोखरू, वरिआर की जड़, रेंगनी की जड़, गुड़ और सोंठ को डालकर क्षीरपाकविधि से दूध पकाकर पीना चाहिए॥ २३६॥

सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम्। श्रृतं पयः सखर्जूरं पिपासाज्वरनाशनम्॥ २३७॥

नागरादि दुग्ध—सोंठ, मुनक्का और खजूर पीसकर डालकर पकाया हुआ दूध गोघृत, मधु तथा चीनी डालकर पीने से पिपासायुक्त ज्वर शान्त हो जाता है॥ २३७॥

चतुर्गुणेनाम्भसा वा श्रृतं ज्वरहरं पयः। धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत्॥ २३८॥

ज्वर में केवल दुग्ध—दूध में चौगुना जल डालकर दुग्धावशेष करके पीने से वह दुग्ध ज्वरनाशक होता है। धारोष्ण गोदुग्ध पीने से शीघ्र ही वातपित्त ज्वर शान्त हो जाता है॥ २३८॥

जीर्णज्वरेषां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम्। पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः श्रृतम्॥ २३९॥

जीर्णज्वर में दुग्ध-प्रयोग—सभी प्रकार के जीर्णज्वरों को शान्त करने में दुग्ध उत्तम पथ्य है। ज्वर में जिस दोष की प्रधानता हो उस दोष को दूर करने वाली औषधियों से सिद्ध किया हुआ दुग्ध उष्ण या शीत करके पीना चाहिए॥ २३९॥

प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनान्। [1]पक्वाशयगते दोषे वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु॥ २४०॥

ज्वर में वस्ति-प्रयोग—यदि पक्वाशय में दोष स्थित हों तो ज्वरनाशक निरूह तथा अनुवासन वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए, जिन्हें सिद्धस्थान में कहा जायेगा॥ २४०॥

वक्तव्य—पक्वाशय-शोधन के लिए सिद्धिस्थान (१०।२५-२७) में ४ योगों का वर्णन किया गया है—(१) मदनफल, देवदाली, तितलौकी, कड़वा नेनुआ और इन्द्रजौ—इन्हें गोमूत्र में क्वाथ बनाकर वस्तिप्रयोग करें। (२) काली निशोथ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, सरिवन, दन्ती और द्रवन्ती का मूल लेकर

१. फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकवत्सकाः। श्यामा च त्रिफला चैव स्थिरा दन्ती द्रवन्त्यपि॥
प्रकीर्या चोदकीर्या च नीलिनी क्षीरिणी तथा। सप्तला शङ्खिनी लोध्रं फलं कम्पिल्लकस्य च॥
चत्वारो मूत्रसिद्धास्ते पक्वाशयविशोधनाः। (च. सि. १०।२५-२७)

गोमूत्र में निर्मित क्वाथ का वस्ति द्वारा प्रयोग करें। (३) करञ्ज, पूतिकरञ्ज, नील की जड़ और दुधिया घास को गोमूत्र में क्वाथ कर वस्ति द्वारा प्रयोग करें। (४) सप्तला, यवतिक्ता, लोध और कबीले के फल के गोमूत्र में बने क्वाथ को वस्ति द्वारा प्रयोग करें। ये चार योग गोमूत्र में पकाकर बनाये क्वाथ की वस्ति देने से पक्वाशय का शोधन करते हैं।

पटोलारिष्टपत्राणि सोशीरश्चतुरङ्गुलः। ह्रीबेरं रोहिणी तिक्ता श्वदंष्ट्रा मदनानि च॥ २४१॥
स्थिरा बला च तत्सर्वं पयस्यर्धोदके श्रृतम्। क्षीरावशेषं निर्यूहं संयुक्तं मधुसर्पिषा॥ २४२॥
कल्कैर्मदनमुस्तानां पिप्पल्या मधुकस्य च। वत्सकस्य च संयुक्तं बस्तिं दद्याज्ज्वरापहम्॥ २४३॥
शुद्धे मार्गे हृते दोषे विप्रसन्नेषु धातुषु। गताङ्गशूलो लघ्वङ्गः सद्यो भवति विज्वरः॥ २४४॥

पटोलादि निरूह वस्ति—परवर और नीम की पत्तियाँ, खश, अमलतास की मज्जा, सुगन्धबाला, कुटकी, गोखरू, मदनफल, सरिवन और वरिआर की जड़—इन सबको समान मात्रा में लेकर आधा दूध मिले चौगुने जल में क्षीरावशेष क्वाथ बनाये और उसमें मधु तथा घी की उपयुक्त मात्रा डाले। फिर मदनफल, नागरमोथा, पीपर, मुलहठी और इन्द्रजौ का कल्क डालकर खूब मथकर वस्तियन्त्र द्वारा वस्ति देने से ज्वर शान्त हो जाता है। इस वस्ति के देने से मार्ग (स्रोत) खुल कर शुद्ध हो जाता है, दोषों का हरण हो जाता है और धातुएँ प्रसन्न हो जाती हैं। अंगों का शूल चला जाता है, अंगों में लघुता मालूम होती है और ज्वर जल्द ही छोड़ देता है॥ २४१-२४४॥

वक्तव्य—वस्ति-निर्माण में प्रक्षेप द्रव आदि के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान के लिए चरक-सिद्धि. १०।१३-१७ तक द्रष्टव्य है।

आरग्वधमुशीरं च मदनस्य फलं तथा। चतस्रः पर्णिनीश्चैव निर्यूहमुपकल्पयेत्॥ २४५॥
प्रियङ्गुर्मदनं मुस्तं शताह्वा मधुयष्टिका। कल्कः सर्पिर्गुडः क्षौद्रं ज्वरघ्नो बस्तिरुत्तमः॥ २४६॥

आरग्वधादि निरूहवस्ति—अमलतास की मज्जा, खश, मदनफल, सरिवन, पिठवन, माषपर्णी, मुद्गपर्णी; इन सबका क्वाथ बनाये और प्रियंगु, मदनफल, नागरमोथा, सौंफ और मुलहठी—इन्हें समभाग लेकर इनका कल्क बनाकर उक्त क्वाथ में मिलाये। फिर उस क्वाथ में घी, गुड़ और मधु उचित मात्रा में मिलाकर वस्तिप्रयोग करें। यह उत्तम ज्वरनाशक है॥ २४५-२४६॥

गुडूचीं त्रायमाणां च चन्दनं मधुकं वृषम्। स्थिरां बलां पृश्निपर्णीं मदनं चेति साधयेत्॥ २४७॥
रसं जाङ्गलमांसस्य रसेन सहितं भिषक्। पिप्पलीफलमुस्तानां कल्केन मधुकस्य च॥ २४८॥
ईषत्सलवणं युक्त्या निरूहं मधुसर्पिषा। ज्वरप्रशमनं दद्याद्बलस्वेदरुचिप्रदम्॥ २४९॥

गुडूच्यादि निरूह वस्ति—गुरुच, त्रायमाणा, लालचन्दन, मुलहठी, अरुस की पत्ती, सरिवन, वरिआर की जड़, पिठवन और मदनफल; इनको समान भाग लेकर क्वाथ बनाये। उसमें जाङ्गल पशुओं का मांसरस और पीपर, मदनफल, नागरमोथा और मुलहठी का कल्क मिलाये। फिर थोड़ी मात्रा में सेंधानमक, मधु और घृत इन सबको एक में मथकर निरूह वस्ति दे। यह ज्वरघ्न, बलकारक, स्वेदकारक और रुचिकारक होती है॥ २४७-२४९॥

जीवन्तीं मधुकं मेदां पिप्पलीं मदनं वचाम्। ऋद्धिं रास्नां बलां विश्वं शतपुष्पां शतावरीम्॥
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं च विपचेद् भिषक्। आनुवासनिकं स्नेहमेतं विद्याज्ज्वरापहम्॥

जीवन्त्यादि अनुवासनवस्ति—जीवन्ती, मुलहठी, मेदा, पिप्पली, मदनफल, वच, ऋद्धि, रास्ना, वरिआर की जड़, सोंठ, सौंफ और शतावर को पीसकर कल्क बनाये। दूध और जल मिलाकर घृत तथा तैल पकाये। यह स्नेह अनुवासन वस्ति के द्वारा प्रयोग किये जाने पर ज्वरनाशक है॥ २५०-२५१॥

वक्तव्य—इस स्नेहवस्ति के निर्माण में घी और तेल दोनों लेने को कहा है। ऐसी स्थिति में दोनों को बराबर-बराबर लेना चाहिए, अतः यदि ½ प्रस्थ घी लिया जाय तो तेल भी ½ प्रस्थ लेना चाहिए। दूध स्नेह के बराबर लेने का विधान है (क्षीरं स्नेहसमं देयम्), इसलिए दूध १ प्रस्थ लेना चाहिए और जल ६ प्रस्थ ले। कल्क कुल मिलाकर ½ प्रस्थ डालकर स्नेह सिद्ध करे तथा स्नेहावशिष्ट रहने पर उतार ले।

पटोलपिचुमर्दाभ्यां गुडूच्या मधुकेन च। मदनैश्च शृतः स्नेहो ज्वरघ्नमनुवासनम्॥ २५२॥

पटोलाद्यनुवासनवस्ति—परवर की पत्ती, नीम की पत्ती, गुरुच, मुलहठी और मदनफल के कल्क तथा क्वाथ से घी-तेल का पाक कर उसकी वस्ति देने से ज्वर नष्ट हो जाता है॥ २५२॥

चन्दनागुरुकाश्मर्यपटोलमधुकोत्पलैः। सिद्धः स्नेहो ज्वरहरः स्नेहबस्तिः प्रशस्यते॥ २५३॥

चन्दनाद्यनुवासनवस्ति—रक्तचन्दन, काला अगर, गम्भार की छाल, परवर की पत्ती, मुलहठी और नीलकमल—इनके कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध किये हुए तेल-घी की अनुवासनवस्ति ज्वर को नष्ट करने में समर्थ है और उत्तम ज्वरघ्न है॥ २५३॥

यदुक्तं भेषजाध्याये विमाने रोगभेषजे। शिरोविरेचनं कुर्याद्युक्तिज्ञस्तज्ज्वरापहम्॥ २५४॥

शिरोविरेचन—(जब शिर में शूल या भारीपन आदि हो तो) चरक-सूत्रस्थान के पहले चार अध्याय भेषजाध्याय कहे जाते हैं, उनमें द्वितीय 'अपामार्गतण्डुलीय' नामक अध्याय में शिरोविरेचन का योग बतलाया गया है तथा विमानस्थान के आठवें 'रोगभिषग्जितीय' अध्याय में शिरोविरेचन द्रव्यों का उल्लेख है। उनका नस्य बनाकर प्रयोग करने से ज्वर दूर होता है॥ २५४॥

यच्च नावनिकं तैलं याश्च प्राग्धूमवर्तयः। मात्राशितीये निर्दिष्टाः प्रयोज्यास्ता ज्वरेष्वपि॥

तैलनस्य तथा धूमवर्ति—सूत्रस्थान के पाँचवें 'मात्राशितीय' नामक अध्याय में जो नस्य-योग्य 'अणुतैल' बतलाया गया है और शिरोविरेचनार्ह धूमवर्तियाँ कही गयी हैं, ज्वरों में उनका भी प्रयोग करना चाहिए॥ २५५॥

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत्। यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम्॥

अभ्यङ्ग आदि—ज्वर दो प्रकार के होते हैं—१. शीताभिप्रायी (शीतपसन्द) और २. उष्णाभिप्रायी (गरमपसन्द)। इनमें से ज्वर के प्रकार का विवेचन कर शीतल अथवा उष्ण अभ्यङ्ग, प्रदेह (प्रलेप) और परिषेक का प्रयोग रोगी की इच्छा के अनुसार करना चाहिए॥ २५६॥

सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम्। दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक्॥ २५७॥

दाहज्वर में अभ्यंग—ज्वर में जब दाह की अधिकता हो तो उसके प्रशमन के लिए एक हजार बार जल से धोया हुआ घी अथवा चन्दनादि तेल की मालिश करनी चाहिए॥ २५७॥

अथ चन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः—चन्दनभद्रश्रीकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवा-मधुकप्रपौण्डरीकनागपुष्पोदीच्यवन्यपद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रबिसमृणालशालूक-शैवालकसेरुकानन्ताकुशकाशेक्षुदर्भशरनलशालिमूलजम्बुवेतसवानीरगुन्द्राककुभासनाश्वकर्णस्यन्दन-वातपोथशालतालधवतिनिशखदिरकदरकदम्बकाश्मर्यफलसर्जप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थन्यग्रोध-धातकीदूर्वेत्कटभृङ्गाटकमञ्जिष्ठाज्योतिष्मतीपुष्करबीजकौश्चादनबदरीकोविदारकदलीसंवर्तकारिष्ट-शतपर्वाशीतकुम्भिकाशतावरीश्रीपर्णीश्रावणीमहाश्रावणीरोहिणीशीतपाक्योदनपाकीकालाबलापय-स्याविदारीजीवकर्षभकमेदामहामेदामधुरसर्ष्यप्रोक्तातृणशून्यमोचरसाटरूषकबकुलकुटजपटोलनिम्ब-शाल्मलीनारिकेलखर्जूरमृद्वीकाप्रियालप्रियङ्गुधन्वनात्मगुप्तामधूकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्। तेन कषायेण द्विगुणितपयसा तेषामेव च कल्केन कषायार्ध-

मात्रं मृद्वग्निना साधयेत्तैलम्। एतत्तैलमभ्यङ्गात् सद्यो दाहज्वरमपनयति। एतैरेव चौषधैरश्लक्ष्ण-पिष्टैः सुशीतैः प्रदेहं कारयेत्। एतैरेव च शृतशीतं सलिलमवगाहपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत॥ २५८॥

इति चन्दनाद्यं तैलम्।

चन्दनाद्य तैल—अब (हम) चन्दनाद्य तैल का उपदेश करेंगे। क्वाथ के द्रव्य—१. लालचन्दन, २. श्वेतचन्दन, ३. तगर, ४. दारुहल्दी, ५. भारंगी, ६. पद्मकाष्ठ, ७. खश, ८. सारिवा, ९. मुलहठी, १०. पुण्डरिया काष्ठ, ११. नागकेसर, १२. सुगन्धबाला, १३. केवटीमोथा, १४. कमल, १५. नीलकमल, १६. लालकमल, १७. कोई, १८. सौगन्धिक (सुगन्धपूर्ण कमल), १९. श्वेतकमल, २०. गुलाब का फूल, २१. कमल का नाल, २२. कमल का दण्ड, २३. कमलकन्द, २४. सेवार, २५. कसेरू, २६. अनन्तमूल, २७. कुश की जड़, २८. कास की जड़, २९. गन्ने की जड़, ३०. दर्भ (बड़ा कुश), ३१. सरपत की जड़, ३२. नरकुल की जड़, ३३. धान की जड़, ३४. जामुन की छाल, ३५. बेंत की जड़, ३६. जलबेंत की जड़, ३७. गुन्द्रा (पटेरा) की जड़, ३८. अर्जुन की छाल, ३९. विजयसार की छाल, ४०. सेखुआ की छाल, ४१. स्यन्दन (तिन्दुक) की छाल, ४२. पलाश की छाल, ४३. शाल (बड़ा सेखुआ) की छाल, ४४. ताल की बाल, ४५. धव का फूल, ४६. तेंदू की छाल, ४७. खैरसार या खदिरछाल, ४८. विट्खदिर की छाल, ४९. कदम्ब का फूल, ५०. गम्भार की छाल, ५१. राल, ५२. पकड़ी की छाल, ५३. वट की छाल, ५४. आमड़ा, ५५. गूलर की छाल, ५६. पीपर की छाल, ५७. बर की बरोह, ५८. धाय की छाल, ५९. दूब, ६०. धान के खेत में पैदा होने वाली लेड़ई, ६१. सिंघाड़ा का फल, ६२. मजीठ, ६३. मालकाँगनी, ६४. कमलगट्टा, ६५. खिरनी की छाल, ६६. बेर की छाल, ६७. सफेद कचनार की छाल, ६८. केले का तना, ६९. बहेड़े की छाल, ७०. रीठा की छाल, ७१. सफेद दूब, ७२. जलकुम्भी, ७३. शतावर, ७४. गम्भार की छाल, ७५. मुण्डी, ७६. बड़ी मुण्डी, ७७. कुटकी, ७८. काकोली, ७९. नीली कटसरैया, ८०. नागबला काली, ८१. बरिआर का मूल, ८२. क्षीरविदारी, ८३. विदारीकन्द, ८४. जीवक, ८५. ऋषभक, ८६. मेदा, ८७. महामेदा, ८८. मूर्वा, ८९. ऋद्धि, ९०. केवड़े का फूल, ९१. मोचरस, ९२. अरुसे की पत्ती, ९३. मौलिश्री की छाल, ९४. कोरया की छाल, ९५. परवर की पत्ती, ९६. नीम की छाल, ९७. सेमर की छाल, ९८. नारियल, ९९. खजूर, १००. मुनक्का, १०१. चिरौंजी, १०२. प्रियंगु, १०३. धन्वन की छाल, १०४. केवाँच और १०५. महुआ; इनके अतिरिक्त अन्य भी शीतवीर्य औषधियों को (जो भी मिल सकें) लेकर काढ़ा बनायें।

काढ़े के वजन से आधे वजन में तिल का तेल[1] और दूने वजन में गाय का दूध तथा तेल का चतुर्थांश पूर्वोक्त औषधों का कल्क डालकर तेल पका ले। यह तेल अभ्यंग प्रयोग से दाहयुक्त ज्वर को शीघ्र ही दूर करता है। इन औषधों को मोटा पीसकर प्रलेप करना चाहिए और इन्हीं औषधों से सिद्ध किये हुए जल से अवगाहन और परिषेक करना चाहिए॥ २५८॥

मध्वारनालक्षीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च सद्यो दाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वात्॥

दाहज्वर में बाह्योपचार—मधु, काञ्जी, दूध, दही, घी और जल से परिषेचन तथा अवगाहन भी दाहज्वर को दूर करते हैं, क्योंकि ये सभी पदार्थ शीतस्पर्शवाले होते हैं॥ २५९॥

भवन्ति चात्र—

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च। कदलीनां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च॥ २६०॥
चन्दनोदकशीतेषु शीते धारागृहेऽपि वा। हिमाम्बुसिक्ते सदने दाहार्तः संविशेत् सुखम्॥ २६१॥

---

१. 'ननु चन्दनाद्येन गणेन कस्मान्न सर्पिः संस्क्रियते, तद्धि शैत्यात्पित्तमूष्माणं च शमयति, दाहज्वरप्रशमनञ्च घृतमुक्तम्। तस्मात्सर्पिरेव ज्यायः तैलं चोष्णवीर्यम्। उच्यते तैलस्य सौक्ष्म्यात्, सर्पिर्हि स्थूलं तैलं त्वन्यथा'। (जेज्जट टीका)

हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसाः स्पृशेत्॥ २६२॥
म्लग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि। शीतवातावहैर्व्यज्येच्चन्दनोदकवर्षिभिः॥ २६३॥
नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः। अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः॥

दाहज्वर में शीत विहार—दाह से पीड़ित व्यक्ति को रक्तकमल, श्वेत एवं नीलकमल के पत्तों पर तथा केले के पत्तों पर या स्वच्छ रेशमी चादरवाले बिस्तर पर चन्दन के जल से सींचकर शीतल किये बिछौने पर या शीतल फव्वारे लगे हुए गृह में अथवा बर्फ जैसे ठण्डे जल का छिड़काव जिसमें किया गया हो, ऐसे घर में सुखपूर्वक शयन करना चाहिए। सोना, शंख, मूँगा, मणियों और मोती की मालाओं को चन्दन के जल से सिक्त कर शीतल करके वक्षःस्थल पर धारण करना चाहिए। इससे दाह का शमन होता है। पुष्पमालाओं, नीलकमलों एवं श्वेतकमलों से गुम्फित, चन्दन के जलकणों से सिक्त होने के कारण चन्दनोदक की वर्षा करने वाले, ठण्डी वायु को प्रवाहित करने वाले विविध प्रकार के ताड़, बाँस, मयूरपंख या कपड़े के बने व्यजनों सें हवा करनी चाहिए। दाह, तृष्णा, ग्लानि और ज्वर को दूर करने के लिए जलावगाहन के हेतु नदी, सरोवर, पुष्करिणी और स्वच्छ जलवाले ह्रदों का प्रयोग करना हितावह होता है॥ २६०-२६४॥

प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः। सान्त्वयेयुः परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः॥
शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च। वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः॥२६६॥

दाहज्वर में आहार-विहार—मणिमुक्तामय आभरणों से अलंकृत, मलयजलिप्तगात्रा, अपनी वाणी, चेष्टा, हाव-भाव और मधुरिम व्यवहार से अनुकूल आचरण करने में दक्ष मनोहारिणी ललनाएँ अपने लालित्यपूर्ण एवं काम को जागृत करने वाली कलाओं से दाहज्वर से अभिभूत व्यक्ति को सान्त्वना दे।

शीतल खाद्य और पेय, शीतल उपवन, शीतल समीर का सुखद प्रवाह और चन्द्रकिरणों की ज्योत्स्ना—ये सब दाहज्वर को दूर करने के साधन हैं॥ २६५-२६६॥

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यङ्गादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः—अगुरुकुष्ठतगरपत्रनलदशैलेयध्यामकहरेणुकास्थौणेयकक्षेमकैलावराबराङ्गदलपुरतमालपत्रभूतीकरोहिषसरलशल्लकीदेवदार्वग्निमन्थबिल्वश्योनाककाश्मर्यपाटलापुनर्नवावृश्चीरकण्टकारीबृहतीशालिपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णीमुद्गपर्णीगोक्षुरकैरण्डशोभाञ्जनकवरुणार्कचिरबिल्वतिल्वकशटीपुष्करमूलगण्डीरोरुबूकपत्तूराक्षीवाश्मान्तकशिग्रुमातुलुङ्गपीलुकमूलकपर्णीतिलपर्णीपीलुपर्णीमेषशृङ्गीहिंस्रादन्तशठैरावतभल्लातकास्फोताकाण्डीरात्मजैकेषीकाकरञ्जधान्यकाजमोदपृथ्वीकासुमुखसुरसकुठेरककालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकभूस्तृणशृङ्गवेरपिप्पलीसर्षपाश्वगन्धारास्नारुहारोहावचाबलातिबलागुडूचीशतपुष्पाशीतवल्लीनाकुलीगन्धनाकुलीश्वेताज्योतिष्मतीचित्रकाध्यण्डाम्लचाङ्गेरीतिलबदरकुलत्थमाषाणामेवंविधानामन्येषां चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्, तेन कषायेण तेषामेव च कल्केन सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डारनालकट्वरप्रतिविनीतेन तेलपात्रं विपाचयेत्। तेन सुखोष्णेन तैलेनोष्णाभिप्रायिणं ज्वरितमभ्यञ्ज्यात्, तथा शीतज्वरः प्रशाम्यति; एतैरेव चौषधैः श्लक्ष्णपिष्टैः सुखोष्णैः प्रदेहं कारयेत्, एतैरेव च भृतं सुखोष्णं सलिलमवगाहनार्थं परिषेकार्थं च प्रयुञ्जीत शीतज्वरप्रशमनार्थम्॥ २६७॥ (इत्यगुर्वाद्यं तैलम्)

अगुर्वादि तैल का उपक्रम—अब आगे उष्णता पसन्द करने वाले (गरमी चाहने वाले) ज्वर के रोगियों के लिए अभ्यंग आदि उपचार-विधियों को बतलायेंगे।

अगुर्वादि तैल के क्वाथ तथा कल्क द्रव्य—१. अगर, २. कूठ, ३. तगर, ४. तेजपात, ५. जटामसी, ६. छरीला, ७. गन्धतृण, ८. रेणुका (मेहड़ी का बीज), ९. गठिवन, १०. चोरपुष्पी, ११. बड़ी इलायची, १२. त्रिफला, १३. दालचीनी, १४. गुग्गुलु, १५. तमालपत्र, १६. अजवायन, १७. रोहिषघास, १८. चीड़ की

छाल या निर्यास, १९. सर्ज, २०. देवदारु, २१. अरनी, २२. बेल, २३. सोनापाठा की छाल, २४. गम्भार की छाल, २५. पाढल की छाल, २६. सफेद गदहपुर्ना, २७. लाल गदहपुर्ना, २८. बड़ी कटेरी की जड़, २९. छोटी कटेरी की जड़, ३०. सरिवन, ३१. पिठवन, ३२. वनउड़द, ३३. वनमूँग, ३४. तालमखाने का बीज, ३५. रेड़ की जड़, ३६. सहिजन की छाल, ३७. वरुण की छाल, ३८. मदार की छाल, ३९. चिलविल की छाल, ४०. लोध की छाल, ४१. कचूर, ४२. पोहकरमूल, ४३. गण्डेरघास, ४४. लाल एरण्ड की छाल, ४५. पत्तूर (एक शाक), ४६. बकायन की छाल, ४७. पाषाणभेद, ४८. सहिजन की छाल, ४९. बिजौरानीबू की जड़, ५०. पीलू, ५१. मूलकपर्णी (भैंसा गुग्गुलु), ५२. हुरहुर, ५३. पीलुपर्णी (मूर्वा), ५४. मेढासींगी, ५५. हिंस्रा (हईस), ५६. गागल नीबू की छाल, ५७. हस्तिशुण्डी, ५८. भिलावा, ५९. हारफरेवड़ी, ६०. काण्डीर, ६१. आत्मजा (जियापोता), ६२. काला निशोथ, ६३. करञ्ज, ६४. धनियाँ, ६५. अजमोदा, ६६. मँगरैला, ६७. सुमुख, ६८. सुरस, ६९. कुठेरक, ७०. कालमालक, ७१. पर्णास, ७२. क्षवक, ७३. फणिज्झक (ये आठ तुलसी के भेद हैं), ७४. भूस्तृण (गन्धतृण, मूँज), ७५. शृंगवेर (आदी), ७६. पीपर, ७७. सरसो, ७८. असगन्ध, ७९. रास्ना, ८०. आकाशवल्ली, ८१. लजैनी, ८२. वच, ८३. वरिआर, ८४. गंगेरन, ८५. गुरुच, ८६. सौंफ, ८७. नीलदूर्वा, ८८. नाकुली, ८९. गन्धनाकुली, ९०. अपराजिता, ९१. मालकाँगनी, ९२. चित्रक, ९३. केवाँच, ९४. तिनपतिया, ९५. काला तिल, ९६. बड़ी बेर, ९७. कुलथी और उड़द।

इन औषधों से और उष्णवीर्य वाली ऐसी अन्य औषधों से जितनी औषधें मिल सकें उनका क्वाथ बनवा ले। इस क्वाथ से और उक्त औषधों के कल्क से तथा सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दही का पानी, काँजी और कङ्गर (साढी का मट्ठा) मिलाकर एक आढक तिल का तेल पकाये। इस तेल को हलका गरम कर उष्णता की अभिलाषा वाले ज्वर के रोगी का अभ्यंग कराये। इसके अभ्यंग से ज्वर जो शीत के साथ होता है, वह शान्त हो जाता है। इन औषधों को चिकना और बारीक पीसकर सुखोष्ण कर प्रलेप लगवाना चाहिए। इन्हीं औषधों से पकाया हुआ जल शीतज्वर को शान्त करने के निमित्त अवगाहन तथा परिषेचन के लिए भी प्रयोग करना चाहिए॥ २६७॥

वक्तव्य—यहाँ अनेक द्रवों से तैलपाक करने को कहा गया है, अतः "पञ्च प्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुः" अर्थात् पाँच या इससे अधिक द्रवों से जब स्नेह पकाना हो तो सभी द्रव स्नेह के समान लेना चाहिए। इस नियम के अनुसार यहाँ सुरा, सौवीरक आदि सभी द्रव तेल के बराबर वजन में होंगे और क्वाथ भी उतना ही रहेगा। कल्क तेल से चतुर्थांश रहेगा।

भवन्ति चात्र—

त्रयोदशविधः स्वेदः स्वेदाध्याये निदर्शितः। मात्राकालविदा युक्तः स च शीतज्वरापहः॥ २६८॥
सा कुटी तच्च शयनं तच्चावच्छादनं ज्वरम्। शीतं प्रशमयन्त्याशु धूपाश्चागुरुजा घनाः॥ २६९॥
चारूपचितगात्र्यश्च तरुण्यो यौवनोष्मणा। आश्लेषाच्छमयन्त्याशु प्रमदाः शिशिरज्वरम्॥
स्वेदनान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च। शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्गबलयोजनात्॥ २७१॥

शीतज्वरनाशक प्रयोग—(चरकसंहिता-सूत्रस्थान अध्याय चौदह में) तेरह प्रकार के स्वेदन-विधान बतलाये गये हैं, उन्हें उचित समय और मात्रा के साथ प्रयोग करने के ज्ञाता चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त होने पर वह सब स्वेदन-प्रकार ज्वरनाशक होता है॥ २६८॥

स्वेदाध्याय में कथित वह कुटीस्वेद, वह सोने के लिए कथित बिछौना और वह ओढ़ना तथा अगुरु के घने धूपन-प्रयोग ये सभी शीघ्र ही शीत ज्वर को प्रशान्त कर देते हैं॥ २६९॥

सौन्दर्यमयी, सुसंगठित, समृद्ध सुपुष्ट अवयवों वाली, तरुण मदहोश कामिनियाँ आलिङ्गन मात्र से अपनी जवानी की ऊष्मा से शीतज्वर को शान्त कर देती हैं॥ २७०॥

(शैत्य के अपनयन के पश्चात् स्त्री का आलिङ्गन छोड़ देना चाहिए।)

वायु तथा कफ के होने वाले ज्वर में जब वायु की प्रधानता हो तो गुरु, ऊष्ण एवं स्निग्ध अन्नपान तथा कफ की प्रधानता हो तो लघु, उष्ण एवं रूक्ष अन्नपान, इस प्रकार द्वन्द्वज ज्वर में दोषों के बल के अनुसार स्वेदनकारक एवं वातनाशक तथा श्लेष्महर अन्नपान के प्रयोग शीतज्वर को शीघ्र शान्त कर देते हैं॥ २७१॥

वातजे श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे ज्वरे। लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तमनुपाचरेत्॥ २७२॥

लंघन के अपवाद ज्वर—वातजन्य ज्वर की सभी अवस्थाओं में तथा श्रमजन्य ज्वर में, दश दिन के पश्चात् ज्वर के पुराने होने पर और आघात या क्षत से होने वाले ज्वर में उपवास करना हितकारक नहीं होता। इसलिए उक्त प्रकार के ज्वरों को प्रशमन-चिकित्सा के द्वारा शान्त करना चाहिए॥ २७२॥

विक्षिप्यामाशयोष्माणं यस्माद् गत्वा रसं नृणाम्। ज्वरं कुर्वन्ति दोषास्तु हीयतेऽग्निबलं ततः॥
यथा प्रज्वलितो वह्निः स्थाल्यामिन्धनवानपि। न पचत्योदनं सम्यगनिलप्रेरितो बहिः॥ २७४॥
पक्तिस्थानात्तथा दोषैरूष्मा क्षिप्तो बहिर्नृणाम्। न पचत्यभ्यवहृतं कृच्छ्रात् पचति वा लघु॥
अतोऽग्निबलरक्षार्थं लङ्घनादिक्रमो हितः।

ज्वर में अग्निमन्दता का कारण और लंघन—प्रकुपित हुए दोष मनुष्यों के आमाशय में स्थित ऊष्मा (अग्नि) को बाहर निकाल कर स्वयं रसगत होकर (ऊष्मा को समस्त शरीर में फैलाकर) ज्वर उत्पन्न करते हैं, इसलिए ज्वर होने पर अग्नि का बल क्षीण हो जाता है।

जिस प्रकार इन्धन के होने पर एवं प्रज्वलित रहते हुए भी वायु के झोंके से चूल्हे से बाहर की ओर लपट के चले जाने से बटुली के चावल को वह अग्नि नहीं पका पाती है, उसी प्रकार दोषों के द्वारा अग्निस्थान से अग्नि के बाहर निकाल दिये जाने के कारण पाचकाग्नि खाये हुए आहार को नहीं पचा पाती है अथवा यदि रोगी लघुगुणयुक्त आहार करता है तब वह उसे कठिनाई से पचा पाती है। इसलिए अग्नि के बल की रक्षा के लिए रोगी की लंघन-पाचन आदि क्रम से चिकित्सा करना हितकर होता है॥ २७३-२७५॥

सप्ताहेन हि पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः॥ २७६॥
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि।

ज्वर की निरामता की अवधि—ज्वर में मल (वात-पित्त-कफ) सातों धातुओं में फैल जाते हैं। (जब दोषों के पाचनार्थ तथा ज्वरप्रशमनार्थ औषध-प्रयोग एवं लंघन आदि किया जाता है तब) वे सामदोष प्रायः करके एक सप्ताह में परिपक्व हो जाने पर आठवें दिन निराम कहे जाते हैं॥ २७६॥

वक्तव्य—यह कोई निश्चित नहीं है कि ज्वर एक सप्ताह में निराम हो। निरामता सात दिन से पूर्व या आठवें दिन के बाद भी हो सकती है, क्योंकि निरामता के लक्षणों में ज्वर की मृदुता, शरीर की लघुता तथा मलों का अवरोध दूर होना आवश्यक होता है—'मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च। पक्वं दोषं विजानीयात्'। कभी यथासमय एक सप्ताह में कभी कम या अधिक दिनों में निरामता होने से यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग किया गया है।

उदीर्णदोषस्त्वल्पाग्निरश्नन् गुरु विशेषतः॥ २७७॥
मुच्यते सहसा प्राणैश्चिरं क्लिश्यति वा नरः। एतस्मात्कारणाद् विद्वान् वातिकेऽप्यादितो ज्वरे॥
नाति गुर्वति वा स्निग्धं भोजयेत् सहसा नरम्।

ज्वर में गुरु आहार का निषेध—ज्वर का जो रोगी मन्दाग्नियुक्त हो और उसके दोष प्रवृद्ध हों, ऐसी स्थिति में यदि वह व्यक्ति अधिकांश गुरुगुणयुक्त आहार का सेवन करता है, तो उसकी अचानक मृत्यु हो जाती है अथवा चिरकाल तक वह रोग की पीड़ा का भोग भोगता रहता है। इसलिए विद्वान् वैद्य को चाहिए कि यदि वात से ज्वर उत्पन्न हुआ हो तब भी ज्वर के शुरूआत में बहुत गुरु या बहुत स्निग्ध भोजन सहसा न दे॥ २७७-२७८॥

ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम्॥ २७९॥
कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यङ्गादीनुपक्रमान्। पाययित्वा कषायं च भोजयेद्रसभोजनम्॥ २८०॥
जीर्णज्वरहरं कुर्यात् सर्वशश्चाप्युपक्रमम्।

वातज्वर में अभ्यङ्ग—वात से उत्पन्न ज्वर में ज्वर की सामान्य चिकित्सा में बतलाये गये लंघन आदि क्रम की चिन्ता न कर पित्त या कफ का सम्बन्ध न हो तो अभ्यङ्ग आदि चिकित्सा-प्रकारों का प्रयोग करना चाहिए।

वातज्वर में जीर्णज्वरवत् उपचार—वातज्वर में क्वाथपान कराने के बाद मांसरस के साथ आहार देना चाहिए और जीर्णज्वर में किये जाने योग्य सभी चिकित्साविधानों का प्रयोग करना चाहिए॥ २७९-२८०॥

श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णः कफाधिकः॥ २८१॥
परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम्। तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना॥ २८२॥
आदशाहमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत्।

कफप्रधान ज्वर में उपचार—जिनका वात प्रकुपित न हो, ऐसे कफप्रकृति के व्यक्तियों का कफप्रधान अनुष्ण ज्वर अग्नि की मृदुता के कारण एक सप्ताह में भी परिपक्व नहीं होता। इस तरह के रोगी की लंघन, लघु भोजन आदि उपक्रमों में दश दिन तक चिकित्सा करने के पश्चात् कषायपान आदि के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए॥ २८१-२८२॥

सामा ये मे च कफजाः कफपित्तज्वराश्च ये॥ २८३॥
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति।

ज्वर में लंघन—जो ज्वर आमसहित हों या कफ से उत्पन्न हुए हों या कफ एवं पित्त के संसर्ग से उत्पन्न हों, उनमें लंघन के (चरकसंहिता-सूत्रस्थान अध्याय २२ लङ्घनबृंहणीय) अध्याय में कथित प्रकारों के लंघन-प्रयोग प्रतिव्यक्ति के दोषानुसार कराना चाहिए॥ २८३॥

वमनैश्च विरेकैश्च वस्तिभिश्च यथाक्रमम्॥ २८४॥
ज्वरानुपचरेद् धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान्।

ज्वरों में दोषानुसार वमन, विरेचन तथा वस्ति—(दोषों की अधिकता होने पर तथा रोगी के सहनशील होने पर) बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि कफज्वर की चिकित्सा वमन से, पित्तज्वर की चिकित्सा विरेचन से और वातज्वर की चिकित्सा वस्ति के प्रयोग द्वारा करे॥ २८४॥

संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः॥ २८५॥
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत्।

द्वन्द्वज या सन्निपात ज्वर में चिकित्सा—जो ज्वर दो-दो दोषों के संयोग से उत्पन्न हों या तीनों दोषों के मिलने से उत्पन्न हों, उनमें दोषों को तर-तम भेद से तथा समत्व की दृष्टि से विचार कर दोषों के प्रबल, प्रबलतर, प्रबलतम के क्रम के अनुसार उन-उन दोषों को शान्त करने वाली औषधों से उनका उपचार करें॥ २८५॥

वक्तव्य—जब किन्हीं दो वस्तुओं में श्रेष्ठता बतलानी होती है कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है, तो उसके लिए श्रेष्ठ वस्तु में 'तर' प्रत्यय लगाया जाता है; जैसे—वात-पित्त के संसर्ग में यदि वात की अपेक्षा पित्त अधिक बढ़ा होगा तो वातवृद्ध और पित्त वृद्धतर कहा जायेगा और यदि तीनों दोषों में कोई एक सबसे अधिक बढ़ा हो तो उसे वृद्धतम कहा जायेगा। जैसे—वात वृद्ध, पित्त वृद्धतर और कफ वृद्धतम कहा जायेगा। इस प्रकार के दोषों के प्रकुपित होने के क्रम को जानकर तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा॥ २८६॥
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्[1]।

सन्निपातज्वर का चिकित्सा-सिद्धान्त—एक दोष को बढ़ाकर और बढ़े हुए दोष को कम कर अथवा कफदोष के स्थान आमाशय की सर्वप्रथम चिकित्सा करने के क्रम से सन्निपातज्वर की चिकित्सा करनी चाहिए॥ २८६॥

वक्तव्य—सन्निपातज्वर के प्रकारों का वर्णन चरकसंहिता-सूत्रस्थान के अध्याय १७ में किया गया है। यहाँ बढ़े हुए दोषों से होने वाले त्रयोदश सन्निपातों का चिकित्सासूत्र बतलाया गया है। सन्निपात में तीनों दोष क्रमशः वृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम हो सकते हैं अथवा दो दोष बढ़े (द्वयुल्बण) हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में दोषों में समता लाने की दृष्टि से प्रथम दोष को बढ़ाये तथा वृद्धतर एवं वृद्धतम को घटाये। जैसे—कफ, वात, पित्त क्रम से वृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम हों तो वृद्ध कफ को मधुर पदार्थ का प्रयोग कर बढ़ा दे, मधुर पदार्थ वात-पित्त को क्षीण करता है। इसी तरह कफ वृद्ध और वात-पित्त दोनों वृद्धतर हों तो ऐसे द्वयुल्बण ज्वर में भी मधुर पदार्थ द्वारा कफ को बढ़ाये एवं वृद्धतर वात-पित्त को कम करे। तेरहवें समवृद्ध दोषों से होने वाले सन्निपातज्वर में कफस्थानानुपूर्वी चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् ज्वर के आमाशयसमुत्थ होने से 'स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानिनं प्रतिकृत्य च' के सिद्धान्त से कफ तथा आमाशय दोनों का शोधन जैसे सम्भव हो, वह लंघन-पाचन आदि क्रम से चिकित्सा करनी चाहिए।

'भेलसंहिता' में कहा गया है कि समवृद्ध दोषों से होने वाले सन्निपात में आमदोष तथा कफ को विनष्ट करने वाली चिकित्सा द्वारा आम एवं कफ के क्षीण हो जाने के पश्चात् पित्त तथा वात की शान्ति

१. "ननु त्रिदोषजे ज्वरे चिकित्सा नोपपद्यते, यतो न त्रिदोषशमनं प्रायो द्रव्यं भवति, यद्धि वातस्य पथ्यं तच्छ्लेष्मण्यपथ्यं यत् पित्ते पथ्यं तच्च प्रायः श्लेष्मण्यपथ्यं, यथा हि तिक्तकषायं कफपित्तहरं तद्वातकरं, यच्च मधुरं वातपित्तहरं तत् कफकरं यत्तु त्रिदोषहरमामलकादि तत् स्तोकं प्रतिनियतरोगविषयं नावश्यं ज्वरयौगिकं च, सन्निपातश्चायं महात्ययिकः, ततः कथमस्य चिकित्सा कर्तव्येत्याह—वर्धनेत्यादि। पञ्चविंशतिप्रकारोऽत्र सन्निपात उच्यते 'द्वयुल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्' (सू० अ० १७) इत्यादिना, तत्र स्वमते क्षीणद्वादशसु सन्निपातेषु ज्वरारम्भकत्वं नास्ति, क्षीणा हि दोषा स्वलिङ्गहानिमात्रविकारा नाधिकं ज्वरादिकं कर्तुं समर्थाः शेषेषु तु त्रयोदशसु त्रिदोषहरद्रव्यस्याभावादभ्यर्हितदोषापेक्षया चिकित्सोच्यते, गत्यन्तराभावात्। तत्र वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेनैकदोषस्य वर्धनेनापीत्यर्थः, एकशब्देन च द्वित्रिवृद्धो दोष एवापेक्षितो न वृद्धतरो नापि वृद्धतमः। तयोर्हि अतिवृद्धयोर्वर्धनेनातिमात्रवृद्ध्याऽत्यहितमेव स्यात्। वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेन वृद्धतरवृद्धतम-दोषद्वयक्षपणकेनैकदोषवर्धनेन, यथा—वृद्धे कफे वृद्धतरयोश्च वातपित्तयोर्मधुरं, तद्धि वृद्धतरवातपित्तद्वयहन्तृतया कफं क्षीणं वर्धयदपि ज्वरं बलवद्दोषहन्तृतया हरति, तथा वृद्धे कफे वृद्धतरे च पित्ते मधुरप्रयोगो ज्ञेयः। एवमुदाहरणान्तराणि ज्ञेयानि। अतश्च वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेन द्वयुल्बणानां त्रयाणां तथा हीनमध्याधिकदोषाणां सन्निपातानां चिकित्सोक्ता। क्षपणेनैकदोषस्येत्यनेन च क्षीणद्वयसंवर्धकमपि यन्महात्ययवृद्धतरवृद्धतमदोषक्षयकरं भवति तद् भेषजं कर्तव्यम्। वृद्धतमो ह्यप्रतिकृतः सद्यो हन्ति, तत्प्रतिक्रियायां च क्षीणयोर्वृद्धिरल्पात्यया, सा क्रमेण प्रतिकर्तव्येति भावः। अनेनैकोल्बणास्त्रयः सन्निपाताश्चिकित्सिताः। ····परिशिष्टसमसन्निपातचिकित्सा-माह—कफस्थानानुपूर्व्या वेति। वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पवाची, कफस्य स्थानं कफस्थानम्, आमाशयोर्ध्वभाग इत्यर्थः, आनुपूर्वी अनुक्रमः, तेन कफस्थानानुपूर्व्या जयेदिति कफस्थानं प्रथमं जयेत्। स्थानग्रहणेन स्थानिनः कफस्यापि ग्रहणम्। ····अन्ये तु कफस्थानमामाशयरूपं स्थानं यस्य तत् कफस्थानं पित्तमिति पश्चात्पदलो-पादुष्ट्रमुखवद्बहुव्रीहिं वदन्ति, ततश्च पित्तानुपूर्व्या जयेदित्यर्थः। ····अन्ये तु 'वर्धच्छेदने' इत्यस्माद्वर्धनेनेति साधयन्ति, वर्धनशब्देन च मूलच्छेदकारकं संशोधनमुच्यते। एकग्रहणेन च न युगपद् वातादीनां वस्त्यादिशोधनं कर्तव्यं, किं त्वेकैकेनेति दर्शयति। क्षपणेनोच्छ्रितस्येत्यनेन संशोधनविषयं संशमनमुच्यते"। (चक्रपाणिटीका)

के लिए उपाय करना चाहिए—"सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्। पश्चाच्छ्लेष्मणि सङ्क्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ॥" (चक्रपाणि में उद्धृत वचन)

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः॥ २८७॥
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते। रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत्॥ २८८॥
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः।

सन्निपातज्वर में उपद्रव—सन्निपातज्वर की अन्तिमावस्था में कर्णमूलप्रदेश में अतीव कष्टप्रद भयंकर शोथ हो जाता है, जिसके हो जाने पर कोई विरला ही भाग्यशाली व्यक्ति जीवित बच जाता है अर्थात् अधिकांशतः लोगों की मृत्यु हो जाती है॥ २८७-२८८॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति॥ २८९॥
शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति।

ज्वर में रक्तावसेक—जिन ज्वरग्रस्त व्यक्तियों का ज्वर शीत, उष्ण, स्निग्ध तथा रूक्ष आदि चिकित्सा के द्वारा शान्त नहीं होता है, तो उस ज्वर को रक्तगत समझना चाहिए और वह रक्तमोक्षण करने से शान्त हो जाता है॥ २८९॥

विसर्पेणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः॥ २९०॥
तत्रादौ सर्पिषः पानं कफपित्तोत्तरो न चेत्।

ज्वर में घृतपान—जो ज्वर विसर्प (फैलने वाले फोड़े-फुन्सी), चोट लगने या बड़े व्रणों के कारण उत्पन्न हुआ हो और उसमें कफ तथा पित्त प्रधान कारण न हो तो उसमें सर्वप्रथम घृतपान कराना चाहिए॥ २९०॥

दौर्बल्याद्देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते॥ २९१॥
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत्।

जीर्णज्वर में आहार—शरीर की धातुएँ जब दुर्बल हो जाती हैं तो ज्वर लगातार बना रहता है और वह जीर्णज्वर हो जाता है, इसलिए जीर्णज्वर के उपचार में बलकारक तथा शरीर की धातुओं को बढ़ाने वाले आहारों को देना चाहिए॥ २९१॥

विषमज्वर चिकित्सा

कर्म साधारणं ज्ञात्वातृतीयकचतुर्थकौ॥ २९२॥
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे। वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः॥ २९३॥
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम्। विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च॥ २९४॥
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत्। वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम्॥ २९५॥
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे।

तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर का चिकित्सासूत्र—ये दोनों विषम ज्वर हैं और इनमें आगन्तुक (जीवाणु, विष, वायु, भूत-प्रेत आदि) कारण भी होते हैं, अतः इनकी चिकित्सा में सामान्य प्रकार का उपचार करना चाहिए, जिससे ये शान्त हो जाते हैं। साधारण कर्म का अभिप्राय युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा तथा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से है। इसलिए दोषानुसार क्वाथ, चूर्ण आदि तथा आगन्तुक की दृष्टि से बलि, मंगल, होम, पूजा आदि करना चाहिए।

वातप्रधान विषमज्वर में (तृतीयक-चतुर्थक में) घृतपान, निरूह तथा अनुवासन वस्ति और स्निग्ध एवं उष्ण खाद्य और पेय का प्रयोग कर उसे शान्त करना चाहिए।

पित्तप्रधान तृतीयक-चतुर्थक में विरेचन के द्वारा पित्तशामक पदार्थों से सिद्ध-संस्कृत किये हुए दूध और घी से तथा तिक्त एवं शीतल पदार्थों के प्रयोग से ज्वर को शान्त करना चाहिए।

कफप्रधान तृतीयक-चतुर्थक में वमन कराना, पाचन औषध का प्रयोग, रूक्ष अन्न एवं पेय पदार्थ का प्रयोग, उपवास करना, कषायपान और उष्ण पदार्थों का प्रयोग करना लाभप्रद होता है॥ २९२-२९५॥

योगाः पराः प्रवक्ष्यन्ते विषमज्वरनाशनाः॥ २९६॥

प्रयोक्तव्या मतिमता दोषादीन् प्रविभज्य ते। सुरा समण्डा पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधः॥ २९७॥
तित्तिरिश्च मयूरश्च प्रयोज्या विषमज्वरे। पिबेद्वा षट्पलं सर्पिरभयां वा प्रयोजयेत्॥ २९८॥
त्रिफलायाः कषायं वा गुडूच्या रसमेव वा। नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम्॥ २९९॥
पिबेज्ज्वरागमे युक्त्या स्नेहस्वेदोपपादितः। सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत्पुनः॥ ३००॥
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत्। सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा स्वप्याज्ज्वरागमे॥ ३०१॥

विषमज्वरनाशक प्रयोग—विषमज्वरनाशक श्रेष्ठ योगों को अब कहने जा रहे हैं। बुद्धिमान् चिकित्सक को दोष, औषध, देश, काल आदि का विचार कर उनका प्रयोग करना चाहिए; यथा—(१) विषमज्वर में पीने के लिए मण्डसहित मदिरा और खाने के लिए मुर्गा, तीतर तथा मोर के मांस का प्रयोग करना चाहिए। (२) (गुल्मरोग-चिकित्सा में कथित) षट्पल घी का पान करना चाहिए। (३) हरीतकी का सेवन करे या (४) त्रिफला का काढ़ा पान करे अथवा (५) गुरुच के स्वरस का पान करे अथवा (६) स्नेहन-स्वेदन करने के पश्चात् ज्वर आने पर नीलपक्षाङ्ग, अजमोद, निशोथ और कुटकी के क्वाथ का पान करे अथवा (६) घी की उत्तम मात्रा का पान कर वमन कर दे अथवा (७) बहुत अधिक मात्रा में आहार और पेय खा-पीकर पुनः वमन करे अथवा (८) ज्वर के वेग के आने के समय अधिक भोजन करके पर्याप्त मात्रा में मद्य पीकर सो जाये॥ २९६-३०१॥

आस्थापनं यापनं वा कारयेद्विषमज्वरे। पयसा वृषदंशस्य शकृद्वा तदहः पिबेत्॥ ३०२॥
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम्। पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः॥ ३०३॥
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे। रसोनस्य सतैलस्य प्राग्भक्तमुपसेवनम्॥ ३०४॥
मेद्यानामुष्णवीर्याणामामिषाणां च भक्षणम्।

बस्ति-प्रयोग आदि—(९) विषमज्वर के वेग आने के समय में ही आस्थापन अथवा यापन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए (इन बस्तियों का वर्णन आगे सिद्धिस्थान में किया गया है)। (१०) जिस दिन या जिस समय ज्वर आने की सम्भावना हो, उसी दिन या समय वेग आने के पूर्व बिल्ली का मल दूध में मिलाकर पान करे। (११) अथवा बैल के गोबर के चूर्ण में सेंधानमक मिलाकर दही के पानी या मद्य के साथ पान करे। (१२) विषमज्वर में पिप्पली, त्रिफला, दही, मट्ठा, घी, पञ्चगव्य (गाय का दूध-दही-घी-मूत्र-गोबर) और दूध का प्रयोग करना चाहिए। (१३) भोजन के पहले तेल के साथ लहसुन का सेवन करे और मेदस्वी जीवों के उष्णवीर्य मांसों का सेवन करे॥ ३०२-३०४॥

हिङ्गुतुल्या च वैयाघ्री वसा नस्यं ससैन्धवा॥ ३०५॥

पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत् ससैन्धवा। सैन्धवं पिप्पलीनां च तण्डुलाः समनःशिलाः॥ ३०६॥
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं शस्यते विषमज्वरे। पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी॥ ३०७॥
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम्। ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत्॥ ३०८॥
मनोविकारे निर्दिष्टं कार्यं तद्विषमज्वरे।

नस्य—(१४) विषमज्वर में बाघ की चर्बी के बराबर हींग और सेंधानमक मिलाकर नस्य लेना चाहिए। (१५) इसी प्रकार सिंह की चर्बी के बराबर पुराना घी और सेंधानमक मिलाकर नस्य ले।

विषमज्वर में अंजन—(१६) सेंधानमक पीपर के कण और मैनसिल सब बराबर-बराबर लेकर तिल के तेल में घोटकर आँखों में अञ्जन करे।

विषमज्वर में धूप—(१७) गूगल, नीम की पत्ती, वच, कूठ, हर्रे, सरसों (पीला), जौ और घी एकत्र मिलाकर अग्नि पर डालकर धुआँ लेने से विषमज्वर नष्ट हो जाता है। (१८) मानस रोग (उन्मादचिकित्सा) में जो धूम, धूपन, नस्य एवं अञ्जन कहे गये हैं, विषमज्वर में भी उन सबका प्रयोग करना चाहिए॥ ३०५-३०८॥

मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च॥ ३०९॥

धारणादगदानाञ्च सेवनान्न भवेज्ज्वरः। सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्॥ ३१०॥
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्। विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्॥ ३११॥
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति। ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्॥ ३१२॥
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्ट्या पूजयञ्जयति ज्वरान्। भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च॥
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च। जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च॥ ३१४॥
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च।

विषमज्वर में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा : धारण—उच्चकोटि की मणियों, औषधियों, माङ्गलिक द्रव्यों, विषों और अगद (विषघ्न) द्रव्यों के धारण करने से विषमज्वर छूट जाता है।

पूजा—उमा एवं नन्दी आदि अनुचरों और कृत्तिका आदि मातृगणों के साथ शिव की जितेन्द्रिय होकर पूजा करने से मनुष्य विषमज्वर से मुक्त हो जाता है। सहस्र शिरोंवाले, चर-अचर के स्वामी, सर्वत्र व्यापक भगवान् विष्णु के सहस्रनाम का पाठ करता हुआ मनुष्य सभी तरह के ज्वरों को नष्ट कर देता है। ब्रह्मा, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्र, अग्नि, हिमालय, गङ्गा और मरुद्गण इन सबकी यज्ञ के द्वारा पूजा करने वाला मनुष्य सभी प्रकार के ज्वरों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार भक्तिश्रद्धापूर्वक माता-पिता और गुरुजनों की पूजा करने से, ब्रह्मचर्य धारण करने से, तप करने, सत्य बोलने और नियमों (शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान) के पालन करने से, जप करने, हवन करने, दान देने, वेदों का श्रवण करने और सज्जन पुरुषों के दर्शन से रोगी मनुष्य शीघ्र ही ज्वरमुक्त हो जाता है॥ ३०९-३१४॥

ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत्॥ ३१५॥
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा संशमनानि च। विरेचनं सोपवासं मांसमेदःस्थिते हितम्॥ ३१६॥
अस्थिमज्जगते देया विरूहाः सानुवासनाः।

धातुगत ज्वर-चिकित्सासूत्र—रसधातुगत ज्वर में वमन और उपवास कराना चाहिए। रक्तगत ज्वर में परिसेचन, प्रलेप और संशमन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। जब ज्वर मांस तथा मेदोधातु में आश्रय लिए हो तो उपवास और विरेचन कराना चाहिए। अस्थि और मज्जागत ज्वर में निरूह और अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ ३१५-३१६॥

शापाभिचाराद् भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः॥ ३१७॥

दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते। अभिघातज्वरो नश्येत् पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः॥ ३१८॥
रक्तावसेकैर्मद्यैश्च सात्म्यैर्मांसरसौदनैः। सानाहो मद्यसात्म्यानां मदिरारसभोजनैः॥ ३१९॥
क्षतानां व्रणितानां च क्षतव्रणचिकित्सया। आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च॥ ३२०॥
हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः। काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः॥ ३२१॥
सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः। कामात् क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात् कामसमुद्भवः॥
याति ताभ्यामुभाभ्यां च भयशोकसमुत्थितः। ज्वरस्य वेगं कालं च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः॥
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत् स्मृतिम्।

आगन्तुक ज्वर-चिकित्सा—जो ज्वर शाप या अभिचार (किसी व्यक्ति द्वारा पुरश्चरण आदि तान्त्रिक प्रयोग किये जाने से) अथवा भूत-प्रेत या जीवाणुओं के संसर्ग से उत्पन्न होता है, उसमें 'दैवव्यपाश्रय' में प्रयुक्त किये जाने वाले सभी चिकित्सा-प्रकारों (बलि, मंगल, होम, उपहार, यज्ञ, स्तुति आदि) का प्रयोग करना चाहिए तथा मणिधारण से लेकर साधुदर्शन तक जो उपचार (श्लोक ३०९-३१५) बतलाये गये हैं, वह सब करना चाहिए। अभिघात (चोट लगने) से उत्पन्न होने वाला ज्वर घृतपान करने एवं घृत का अभ्यंग करने से, रक्तावसेचन करने से, मनोऽनुकूल मद्यों तथा मनोऽनुकूल मांसरस के साथ भात खाने से नष्ट होता है। जिन व्यक्तियों को आनाह (उदर में आम या मल का विगुण वायु से अवरोध) के साथ अभिघातज आगन्तुक ज्वर हो, उन्हें यदि मद्यु अनुकूल पड़ता हो तो मद्यपान कराये तथा मांसरस के साथ भात खिलाये तो ज्वर नष्ट हो जाता है। क्षतजन्य या व्रणजन्य ज्वर हो तो क्षत और व्रण की चिकित्सा करने से ज्वर नष्ट होता है। काम की इच्छा, शोक और भय के कारण उत्पन्न ज्वर हों तो आश्वासन, प्रियवस्तुप्रदान, वायुविकारशामक औषध तथा मन को प्रसन्न करने के उपायों के अवलम्बन से उन्हें शान्त करना चाहिए। क्रोध से उत्पन्न ज्वर मनपसन्द मनोऽभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति से, पित्तनाशक औषध के प्रयोग से और प्रिय-मधुर वचनों से शान्त होता है। क्रोध से उत्पन्न ज्वर कामेच्छा की तृप्ति से और काम से उत्पन्न ज्वर क्रोध के होने से नष्ट हो जाता है तथा भय एवं शोक से उत्पन्न ज्वर काम और क्रोध का आवेश हो जाने से नष्ट हो जाता है।

जो व्यक्ति ज्वर के वेग और ज्वर के आक्रमण करने के समय की चिन्ता करते-करते ज्वराक्रान्त हो जाता है, उस व्यक्ति को मनोहर, रुचिकर और विलक्षण विषयों में लगाकर ज्वर के स्मरण करने की प्रवृत्ति को ही विस्मृत कर दे। इस प्रकार ज्वर के वेग और काल की स्मृति को नष्ट कर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ३१७-३२३॥

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमति चेष्टते। श्वसन् विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः॥ ३२४॥
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि। विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते॥ ३२५॥
सदोषशब्दं च शकृद् द्रवं स्रवति वेगवत्। लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः॥ ३२६॥

(१४) मुच्यमान (छोड़ते समय) ज्वर का लक्षण—ज्वर के छोड़ते समय ज्वराक्रान्त पुरुष गले से अव्यक्त ध्वनि निकालता हुआ वमन करता है और अंगों से विकृत चेष्टाएँ (हाथ-पैर पटकना आदि) करता है। जल्दी-जल्दी श्वास लेता है, शरीर का वर्ण फीका पड़ जाता है और पसीने से भीग जाता है। सारा शरीर काँपने लगता है तथा बार-बार मूर्च्छित होता रहता है। प्रलाप करता है, कदाचित् सर्वाङ्ग में उष्णता होती है, कभी शीताङ्गता होती है, कभी ज्वर के वेग से बेचैन होकर बेहोश हो जाता है और क्रोधी व्यक्ति की तरह देखता है। मल पतला वायु आदि दोष के साथ और वेग के साथ निकलता है। बुद्धिमान् चिकित्सक ज्वर के छूटने के समय होने वाले इन लक्षणों को जाने। अर्थात् इन लक्षणों के हो जाने पर अब ज्वर छोड़ने वाला है, यह समझे॥ ३२४-३२६॥

बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः। सत्क्रियादोषपक्त्या चेद्विमुञ्चति सुदारुणम्॥ ३२७॥

दारुण मोक्ष—जिस व्यक्ति में वात आदि दोष प्रबल हों और उसे तीव्र तरुणज्वर हुआ हो एवं जब उसकी उत्तम चिकित्सा की जाने से दोषों का परिपाक हो जाने पर ज्वर छोड़ता है, तब बड़ी पीड़ा होती है, यह दारुण मोक्ष कहलाता है॥ ३२७॥

कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये। तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम्॥ ३२८॥

अदारुण मोक्ष—ऐसे ज्वर, जो दोष के अनुसार अपना वेग प्रकट कर क्रमशः शान्त होते हैं और चिरकाल तक बने रहते हैं, वे बिना किसी विशेष कष्ट के छोड़ देते हैं। यह अदारुण मोक्ष कहलाता है॥ ३२८॥

विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम्। युक्तं प्रकृतिलक्ष्येण विद्यात् [1]पुरुषमज्वरम्॥ ३२९॥

(१५) ज्वर के शान्त होने के लक्षण—जब रोगी पुरुष क्लम (इन्द्रियों की विषयग्रहण में असमर्थता) और सन्ताप से मुक्त हो, किसी प्रकार की पीड़ा न हो, मन एवं इन्द्रियों में कोई विकार न हो और वह स्वभाविक रूप से स्वस्थचित्त हो तो उसे ज्वरमुक्त समझना चाहिए॥ ३२९॥

सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च। असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि च वर्जयेत्॥ ३३०॥
व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमत्यशनानि च। तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च॥ ३३१॥

(१६) ज्वरी एवं ज्वरमुक्त के लिए निषेध—ज्वर के रहने पर अथवा ज्वर के छोड़ देने पर विदाह उत्पन्न करने वाले, भारी, प्रकृति के विपरीत (असात्म्य) तथा परस्पर विरुद्ध पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। स्त्रीसहवास, श्रम के कार्य, स्नान और अधिक या पुनः-पुनः भोजन करना छोड़ दे। इस प्रकार के संयम से ज्वर शान्त हो जाता है और शान्त हो जाने पर फिर नहीं उत्पन्न होता है॥ ३३०-३३१॥

व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चङ्क्रमणानि च। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत्॥

ज्वरमुक्त के लिए संयम—ज्वरमुक्त हो जाने पर जब तक शरीर में बल न आ जाये तब तक ज्वरमुक्त व्यक्ति को व्यायाम, स्त्रीप्रसंग, स्नान और ज्यादे टहलना-घूमना छोड़ देना चाहिए॥ ३३२॥

असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते। वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः॥ ३३३॥
दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते। स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः॥ ३३४॥

(१७) ज्वर के पुनरावर्तन में कारण—ज्वर की समाप्ति के पश्चात् जब तक शरीर में बल नहीं हो जाता तब तक ही जो व्यक्ति पूर्व में कथित इन वर्जनीय विषयों का सेवन करने लग जाता है, तो उसका ज्वर लौट आकर पुनः आक्रमण कर देता है अथवा दोषों का संशोधन उचित ढंग से न हुआ हो और ज्वर निवृत्त हो जाये, ऐसी स्थिति में थोड़े ही अपथ्यसेवन से उसका ज्वर फिर से आ जाता है। इस प्रकार के ज्वर को 'पुनरावर्तक' ज्वर कहते हैं॥ ३३३-३३४॥

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं हीनचेतसम्। अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः॥ ३३५॥

पुनरावर्तक ज्वर की मारकता—जो पुनरावर्तक ज्वर का रोगी चिरकाल तक ज्वर के कारण कष्ट भोग चुका होता है, तो वह दुर्बल और हीन मनोबल का हो जाता है। उसे पुनः आक्रमण करने वाला ज्वर शीघ्र ही मार डालता है॥ ३३५॥

अथवाऽपि परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः। यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते॥ ३३६॥
दीनतां श्वयथुं ग्लानिं पाण्डुतां नान्नकामताम्। कण्डूरुत्कोठपिडकाः कुर्वन्त्यग्निं च ते मृदुम्॥

धातुलीन दोषों के उपद्रव—पुनरावर्तक ज्वरकारी दोष यदि पुनरावर्तक ज्वर उत्पन्न कर प्राण हरण नहीं करते हैं, तो भी वे धातुओं में ही परिपक्व होते रहते हैं। वे ज्वर को बिना उत्पन्न किये ही शरीर को हानि पहुँचाते रहते हैं। वे दीनता, शोथ, ग्लानि, पीलापन, भोजन में अरुचि, कण्डू, शरीर में चकत्ते वाले उभार एवं फोड़े-फुन्सियाँ तथा अग्निमान्द्य उत्पन्न करते हैं॥ ३३६-३३७॥

एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः। अनिर्घातेन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम्॥ ३३८॥

अपथ्य से सभी रोगों का पुनरावर्तन—इसी प्रकार जब दोषों का संशोधन या संशमन ठीक ढंग से नहीं किया जाता है तो थोड़े ही अपथ्य से मनुष्यों के अन्य रोग भी पुनः लौट आते हैं॥ ३३८॥

---

१. 'देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम्।
स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगिमनोऽन्नलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि'॥ (अ. हृ.)

निर्वृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद्यथावस्थं यथाबलम्। यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत्॥ ३३९॥
मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना वस्तयो हिताः। हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः॥
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च। हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च॥ ३४१॥
गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात् पुनरागते। लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत्॥

(१८) पुनरावर्तकज्वर की चिकित्सा-प्रक्रिया—ज्वर के छूट जाने के बाद भी अपनी शारीरिक स्थिति, बल और प्राणशक्ति (आन्तरिक क्षमता) के अनुसार संशोधन प्रयोगों से दोष का निर्हरण करे अथवा संशमन-चिकित्सा से दोषों को शान्त करे। मृदु संशोधनों के द्वारा दोषों का शोधन करना, (सिद्धिस्थान में कथित) यापना वस्तियों का प्रयोग, लघु यूष और जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांसरस सेवन करना हितकर है। पुनरावर्तक ज्वर में अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, धूपन, अंजन और तिक्तद्रव्यों से सिद्ध किये हुए घृत का प्रयोग हितकर होता है।

यदि गुरु, अभिष्यन्दी और असात्म्य (अहितकर, प्रतिकूल) आहारों के सेवन से पुनरपि ज्वर में आक्रमण कर दिया हो, तो सामान्य ज्वर में किये जाने वाले उपचार के समान लंघन तथा उष्ण चिकित्सा-क्रम आदि उपचार करना चाहिए॥ ३३९-३४२॥

किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता। घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्तकं ज्वरम्॥

पुनरावर्तकनाशक क्वाथ—(१) चिरायता, (२) कुटकी, (३) नागरमोथा, (४) पित्तपापड़ा और (५) गुरुच; इनका क्वाथ नियमित रूप से कुछ दिन पीते रहने से यह क्वाथ पुनरावर्तक ज्वर को नष्ट कर देता है॥ ३४३॥

तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः। ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात्तत्र चिकित्सितम्॥

पुनरावर्तकज्वर की आवस्थिक चिकित्सा—पुनरावर्तक ज्वर के चिकित्साक्रम की अपेक्षा करने वाले बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह ज्वर की (साम-निराम, तरुण-जीर्ण आदि) उन-उन अवस्थाओं में जो चिकित्सा बतलायी गई है, तदनुसार ही पुनरावर्तक ज्वर में भी चिकित्सा करे॥ ३४४॥

रोगराट् सर्वभूतानामन्तकृद्दारुणो ज्वरः। तस्माद्विशेषतस्तस्य यतेत प्रशमे भिषक्॥ ३४५॥

ज्वर का वैशिष्ट्य—ज्वर सभी रोगों का राजा है, यह प्राणिमात्र का संहारक है और बड़ा ही पीड़ादायक होता है, अतः उसकी चिकित्सा में विशेष सावधानी और तत्परता वर्तनी चाहिए॥ ३४५॥

तत्र श्लोकः—

यथाक्रमं यथाप्रश्नमुक्तं ज्वरचिकित्सितम्। आत्रेयेणाग्निवेशाय भूतानां हितकाम्यया॥ ३४६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
ज्वरचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अध्याय का उपसंहार—महर्षि आत्रेय ने प्राणियों के कल्याण के लिए अग्निवेश को क्रम से जैसे-जैसे प्रश्न किये गये थे, तदनुसार ज्वर की चिकित्सा का उपदेश किया॥ ३४६॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'ज्वरचिकित्सित' नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ ३॥

ज्वरभेदबोधक सारणी

(१) निज ज्वर	एकदोषज : वातज्वर, पित्तज्वर, कफज्वर। द्विदोषज : वातपैत्तिक ज्वर, वातश्लैष्मिक ज्वर, श्लेष्मपैत्तिक ज्वर। त्रयोदश सन्निपात : १. वातपित्तोल्बण मन्दकफ सन्निपातज ज्वर, २. वातकफोल्बण हीनपित्त सन्निपातज ज्वर, ३. पित्तकफोल्बण हीनवात सन्निपातज्वर, ४. वातोल्बणहीन कफपित्त सन्निपातज ज्वर, ५. पित्तोल्बणहीन कफवात सन्निपातज ज्वर, ६. श्लेष्मोल्बणहीन वातपित्त सन्निपातज ज्वर, ७. श्लेष्मोल्बण मध्यपित्त हीनवात सन्निपातज ज्वर, ८. पित्तोल्बण मध्यकफ हीनवात सन्निपातज ज्वर, ९. वातोल्बण मध्यकफ हीनपित्त सन्निपातज ज्वर, १०. श्लेष्मोल्बण मध्यवात हीनपित्त सन्निपातज ज्वर, ११. वातोल्बण मध्यपित्त हीनकफ सन्निपातज ज्वर, १२. पित्तोल्बण मध्यवात हीनकफ सन्निपातज ज्वर, १३. सम वात-पित्त-कफ सन्निपातज ज्वर।
(२) आगन्तुक ज्वर	अभिघातजन्य ज्वर, अभिषङ्गजन्य ज्वर, अभिचारजन्य ज्वर, अभिशापजन्य ज्वर, कामजन्य ज्वर, क्रोधजन्य ज्वर, भयजन्य ज्वर, भूतावेशजन्य ज्वर, विषजन्य ज्वर, स्मृतिजन्य ज्वर।
(३) आवस्थिक ज्वर	सौम्यज्वर, आग्नेयज्वर, तरुणज्वर, आमज्वर, पच्यमान-ज्वर, निरामज्वर, पुनरावर्तकज्वर, मुच्यमानज्वर, दारुणमोक्षज्वर, अदारुणमोक्षज्वर।
(४) स्थान भेद से	शारीरिक ज्वर, मानसिक ज्वर, अन्तर्वेगज्वर, बहिर्वेग-ज्वर, रसधातुगत ज्वर, रक्तधातुगत ज्वर, मांसधातुगत ज्वर, मेदोधातुगत ज्वर, अस्थिधातुगत ज्वर, मज्जा-धातुगत ज्वर, शुक्रधातुगत ज्वर।
(५) कालभेद से	प्राकृतज्वर, वैकृतज्वर।
(६) विषम ज्वर	सन्ततज्वर, सततज्वर, अन्येद्युष्कज्वर, तृतीयक—१. त्रिकग्राही, २. पृष्ठग्राही, ३. शिरोग्राही; चतुर्थक—१. जंघाग्राही, २. शिरोग्राही; चतुर्थक विपर्यय।

ज्वरघ्न क्रिया, औषध एवं अन्नपान बोधक सारणी

क्रिया	औषध	अन्नपान
१. **नवज्वर** में त्याज्य— दिवाशयन, स्नान, अभ्यङ्ग, अन्न, मैथुन, क्रोध, प्रवात, व्यायाम और कषाय रस।	(अवस्थानुसार) उष्ण जल एवं तिक्त रस वाले द्रव्यों से सिद्ध जल। षडङ्गपानीय।	(अवस्थानुसार) यवागू, तर्पणप्रयोग—मूँग का यूष एवं घृतपान। मांसरस। लघु आहार। दुग्धपान।
२. **तरुणज्वर** में सेव्य— लंघन, स्वेदन, आठ दिन का काल, तिक्तरससिद्ध यवागू।	**वमनार्थ**—मदनफल एवं पिप्पली या इन्द्रजौ या मुलेठी, लवणजल से। **विरेचनार्थ**—द्राक्षा-आँवला, त्रिवृत, त्रिफला, अमलतास।	(यूष द्रव्य) मूँग, मसूर, चना, कुलथी, मकुष्ठ।
३. **जीर्णज्वर** में— मूर्धविरेचन, अभ्यङ्ग, प्रलेप, परिषेक, अवगाहन, धूपन, अंजन, अनुवासन।	**निरूहवस्ति**—पटोलादि वस्ति, गुडूच्यादि निरूहवस्ति तथा जीवन्त्याद्यनुवासन वस्ति एवं चन्दनाद्यनुवासन वस्ति। **अभ्यंगार्थ**—दाहज्वर में चन्दनादि तैल एवं शीतज्वर में—अगुर्वादि तैल।	(ज्वरघ्न शाक) परवर, करेला, पाठा, चठइल, लाल गदहपुर्ना।
४. **लंघन का निषेध—** वातज, श्रमज, जीर्ण, क्षतज ज्वरों में लंघन निषिद्ध।	(दाहज्वर में) **शीतोपचारार्थ**—काँजी, दूध, दही, घृत, शीतजल, कमल, कुमुद, कदलीदल, चन्दनोदकावसेचन, शीतगृह आदि। **धारणार्थ**—सुवर्ण, शंख, प्रवाल, मणि-मुक्ताहार एवं पुष्पमाला। **साहचर्य**—मणिमुक्ताहार एवं भूषणों से विभूषित, चन्दनानुलिप्तगात्रा प्रमदाजनसंस्पर्श, शीतोद्यान, शीतसमीर, चन्द्रकिरण आदि। नदी, पुष्करिणी या ह्रद में अवगाहन करे।	(मांसरस) लावा, गौरैया, चकोर, कालामृग, कुरंग, कालपुच्छ, पृषत (मृग), खरहा, मुर्गा, मोर, तीतर, बटेर, क्रौञ्च। विसर्प, अभिघात और विस्फोटजन्य ज्वर में–यदि कफपित्त की प्रधानता न हो तो घृतपान कराये। जीर्णज्वर में—बलकारक और बृंहण आहार दे। मद्याभ्यासी के लिए मद्यपान कराये।
५. **कफज्वर** में—वमन, **पित्तज्वर** में—विरेचन, **वातज्वर** में—वस्ति।		
६. **द्वन्द्वज ज्वरों में**—दोषों की स्थिति के अनुसार उपचार।		
७. **सन्निपातज्वर** में—वर्धन, क्षपण एवं कफस्थान की क्रम से चिकित्सा।		
८. सन्निपात के उपद्रवस्वरूप कर्णमूलशोथ में—रक्तमोक्षण, घृतपान, प्रदेह, नस्य और कवलग्रह।		
९. **विषमज्वर** में— तृतीयक एवं चतुर्थक में दैवव्यपाश्रय तथा युक्तिव्यपाश्रय। **वातप्रधान** विषमज्वर में—घृतपान, अनुवासनवस्ति, निरूहवस्ति एवं स्निग्ध-उष्ण अनुपान। **पित्त की प्रधानता में**—विरेचन, पित्तनाशक द्रव्यसिद्ध दुग्ध एवं घृत तथा तिक्त-शीत द्रव्यसेवन।	**(पञ्च विषमज्वरघ्न पंचकषाय)** सन्तत में—कलिङ्गादि कषाय सतत में—पटोलादि कषाय अन्येद्युष्क में—निम्बादि कषाय तृतीयक में—किराततिक्तादि कषाय चतुर्थक में—गुडूच्यामलकादि कषाय।	पार्श्ववस्ति एवं शिरःशूल में लाल चावल की पेया, जो गोखरू एवं रेंगनी के क्वाथ से बनी हो। **ज्वरातिसार में**—पिठवन, बला, बिल्वसोंठ, सोंठ, नीलकमल और धनिया के क्वाथ से बनी एवं अनार के रस से अम्लीकृत पेया।

कफ की प्रधानता में—वमन, पाचन, रूक्ष द्रव्यसेवन, लंघन, क्वाथ एवं उष्ण उपचार। **१०. सप्तधातुगत ज्वर में—** १. रसस्थ ज्वर में—वमन-उपवास। २. रक्तस्थ में—परिषेक, प्रलेप, संशमन। ३-४. मांस एवं मेदोगत ज्वर में—विरेचन और उपवास। ५-६. अस्थि एवं मज्जागत ज्वर में—निरूह और अनुवासन वस्ति। **११. आगन्तुक ज्वर में—** दैवव्यपाश्रय चिकित्सा तथा कारणानुसार चिकित्सा। **१२. पुनरावर्तक ज्वर में—** मृदुशोधन, यापना वस्ति, लघु यूष, जाँगल मांसरस, अभ्यंग, धूप, अंजन, तिक्तघृत, किराततिक्तादि क्वाथ।	(कषाय आदि के योग) वत्सकादि क्वाथ मधूकादि क्वाथ जात्यादि क्वाथ त्रिफलादि क्वाथ बृहत्यादि क्वाथ शटचादिवर्ग क्वाथ बृहत्यादिगण क्वाथ पिप्पल्यादि घृत वासादि घृत बलादि घृत पंचमूलसाधित क्षीरपाक एरण्डमूलादि क्षीरपाक त्रिकण्टकादि क्षीरपाक नागरादि क्षीरपाक धारोष्ण दुग्ध। **(विषमज्वर में विशेष योग)** षट्पलघृत (गुल्म०), हरीतकी, त्रिफला एवं गुडूची का क्वाथ। **ज्वरवेगागमन काल में**—स्नेहन-स्वेदन के बाद नील, अजवायन, सफेद निशोथ और कुटकी का क्वाथ अथवा अन्न के साथ अधिमात्रा में मद्य पीकर सोना या आस्थापन या यापन वस्ति। वेग आने के पूर्व—बिडालविष्टा दूध के साथ पीना, मद्य के साथ गोमय एवं सेंधानमक। पीपर, त्रिफला, दूध, दही, घृत एवं पंचगव्य पान। **नस्यार्थ**—व्याघ्रवसा, सैन्धव हिंगु। **अंजनार्थ**—सैन्धव, पिप्पली, मनःशिला एवं धूपन तथा दैवव्यपाश्रय उपचार करे।	**कासश्वास में**–विदारिगन्धादिगण के क्वाथ से सिद्ध यवागू। विबन्ध होने पर—पीपर, आँवला के साथ जव तथा लाल चावल की पकायी पेया। **कोष्ठबद्धता में**—मुनक्का, पिपरामूल, चाभ, आँवला और सोंठ के क्वाथ से बनी पेया। गुदा में कर्तनवत् पीड़ा होने में—बला, वृक्षाम्ल, खट्टी बेर, पिठवन और रेंगनी के क्वाथ से सिद्ध पेया में बिल्वचूर्ण डालकर पीना। **स्वेदाभाव, अनिद्रा** एवं **तृष्णा में**—सोंठ एवं आँवला के क्वाथ से बनी पेया को घी से छौंककर पीना।

विशेष—सज्वर या ज्वरमुक्त व्यक्ति विदाही, गुरु, असात्म्य एवं विरुद्ध अन्नपान न करे। मैथुन, श्रम के कार्य, स्नान तथा अतिभोजन न करे। अधिक न टहले-घूमे। ऐसा संयम करने से ज्वर शान्त हो जाता है और पुनः नहीं आता है।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'रक्तपित्तचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—ज्वरोत्पत्ति के पश्चात् ज्वरसन्ताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति होने के कारण ज्वर के बाद रक्तपित्त का वर्णन उसी क्रम में किया जा रहा है।

विहरन्तं जितात्मानं पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम्। प्रणम्योवाच निर्मोहमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥ ३ ॥
भगवन् रक्तपित्तस्य हेतुरुक्तः सलक्षणः। वक्तव्यं यत् परं तस्य वक्तुमर्हसि तद् गुरो ॥ ४ ॥

रक्तपित्त का उपक्रम—अग्निवेश ने पञ्चगङ्ग (पंजाब) प्रदेश में विहरणशील, जितेन्द्रिय, मोहरहित और अग्नि के समान तेजस्वी महर्षि पुनर्वसु का प्रणाम कर उनसे पूछा—भगवन्! आपने कारण सहित रक्तपित्तरोग का लक्षण पहले निदानस्थान में कहा है। हे गुरुवर्य! अब उसके आगे जो कुछ कथनीय हो, वह सब आप रक्तपित्त के विषय में उपदेश करें ॥ ३-४ ॥

गुरुरुवाच—

महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च। हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥ ५ ॥
तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च। घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ॥ ६ ॥

महागद रक्तपित्त शीघ्र चिकित्स्य—गुरुवर ने उपदेश किया कि हेतु और लक्षण के ज्ञाता चिकित्सक को चाहिए कि वह अग्नि के सदृश शीघ्र विनाशकारी, तीव्र वेगवाले महाव्याधि रक्तपित्तरोग की अतिशीघ्र चिकित्सा करे। उस रक्तपित्त के उष्ण पदार्थ, तीक्ष्ण पदार्थ, अम्ल और कटु पदार्थ, लवण, धूप तथा विदाहकारक पदार्थ—ये सब कारण हैं, जो पहले निदानस्थान में कहे जा चुके हैं ॥ ५-६ ॥

तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते। तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत् ॥ ७ ॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते। स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति ॥ ८ ॥

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति—पूर्व में कहे गये उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल आदि कारणों के सेवन से स्वस्थान (आमाशय) से चलायमान दूषित पित्त रक्तधातु में मिल जाता है। समानयोनि होने से (पित्त के रक्त से ही उत्पन्न होने से) पित्त जब रक्त में जाता है तब वह रक्त को दूषित करता है और बढ़ जाता है (पित्त के मिलने से रक्त भी बढ़ जाता है)। इस प्रकार रक्त की उष्णता पित्त के संसर्ग से बढ़ जाती है और ऊष्मा के प्रभाव से मांस आदि धातुओं से द्रवरूप रक्तधातु क्षरित होने लगता है तथा रक्त की ऊष्मा के स्वेदन से मांसादि धातुगत पित्तरूपी द्रवांश बढ़कर रक्त में आने से रक्त की वृद्धि हो जाती है ॥ ७-८ ॥

संयोगाद् दूषणात्तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥ ९ ॥

रक्तपित्त शब्द का निर्वचन—पित्त के रक्त के साथ संयुक्त होने से, पित्त के द्वारा रक्त को दूषित किये जाने से और गन्ध एवं वर्ण में रक्त तथा पित्त की समानता होने के कारण विद्वान् मनीषियों ने रक्तप्रदूषक दूषित पित्तजन्य विकृति को 'रक्तपित्त' की संज्ञा दी है ॥ ९ ॥

रक्तपित्त : निरुक्ति, निदान और सम्प्राप्ति--

निरुक्ति :

१. 'रक्तं च पित्तं च (द्वन्द्व समास) इति रक्तपित्तम्'।
२. 'रक्तं च तत् पित्तं (कर्मधारय समास) इति रक्तपित्तम्'।

पित्तवर्धक हेतुओं से प्रकुपित पित्त रक्त के साथ मिलता है और अपने संसर्ग से रक्त को भी दूषित कर देता है। एवञ्च दुष्ट पित्त से दूषित रक्त का बाहर निकलना ही रक्तपित्त है।

इस प्रकार पित्त रक्त के साथ संयुक्त रहता (संयोगात्) है, उसे दूषित करता है (दूषणात्) और वह उसके संसर्ग से गन्ध एवं वर्ण में भी समान हो जाता है (सामान्याद् गन्धवर्णयोः), अतः इस रोग को रक्तपित्त कहते हैं।

निदान :

१. पैत्तिक आहार	: तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, लवण, अम्ल एवं कटु पदार्थों का अत्यधिक सेवन।
२. श्रमोत्पादक कार्य	: व्यायाम, मार्गगमन, भारवहन, धूपसेवन, अतिमैथुन आदि।
३. मनोविकार	: चिन्ता, शोक, भय, उद्वेग आदि।

सम्प्राप्ति :

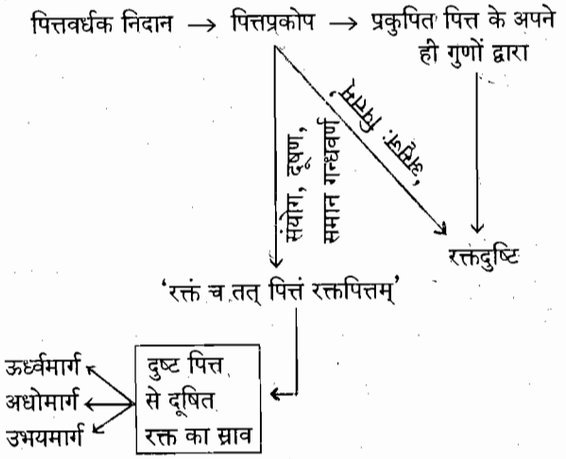

क्षेप : पित्त।
दूष्य : रक्त।
अधिष्ठान : १. ऊर्ध्वमार्ग (नासिका-नेत्र-कर्ण-मुख)।
२. अधोमार्ग (उपस्थ-योनि-गुद)।
३. व्यापक (समस्त रोमकूप तथा ऊर्ध्वाधः मार्ग)।

प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥ १० ॥

पित्त का आश्रयस्थान—वह (रंजक) पित्त प्लीहा और यकृत् को आश्रय बना कर रहता है। देहधारियों के रक्तवाही स्रोतों के भी वे ही दोनों मूल आधार हैं ॥ १० ॥

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्। श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥ ११ ॥

कफज रक्तपित्त—जब रक्तपित्त में निकलने वाला रक्त गाढ़ा, पीलापनयुक्त, स्नेहयुक्त और पिच्छिल (चिपचिपा) हो तो उसे कफज जानना चाहिए।

वातज रक्तपित्त—जब रक्तपित्त में निकलनेवाला रक्त स्याही सदृश, लाल, फेनयुक्त, पतला और रूखा दीख पड़े तो उसे वातज रक्तपित्त जानना चाहिए॥ ११॥

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्। मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम्॥ १२॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्।

पैत्तिक[1] रक्तपित्त—जब रक्तपित्त में निकलने वाला रक्त गैरिक वर्ण, कृष्णवर्ण, गोमूत्र के वर्ण का (पीतिमायुक्त), मेचक वर्ण (मयूरपिच्छ जैसा चकमकाहट वाला), घर के धुएँ के वर्ण के समान वर्ण का अथवा अञ्जन जैसी आभा से युक्त हो तो उसे पैत्तिक समझना चाहिए।

द्वन्द्वज रक्तपित्त—दो दोषों के संसर्ग से दोनों के लक्षणों से युक्त होता है।

सान्निपातिक रक्तपित्त—तीनों दोषों के योग से तीनों के लक्षणों से युक्त होता है॥ १२॥

वक्तव्य—जैसे ज्वररोग का आरम्भक पित्त और गुल्मरोग का आरम्भक वायु होता है, फिर भी जब ज्वर या गुल्म में वात-कफ या पित्त-कफ दोषों की प्रबलता होती है, तब ज्वर को तथा गुल्म को वातज, पित्तज या कफज कहा जाता है; उसी प्रकार यद्यपि रक्तपित्तरोग पित्त से होता है, किन्तु कफ के लक्षणों के प्रकट होने पर कफज तथा वात के लक्षण प्रकट होने पर वातिक कहलाता है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब रक्तपित्तरोग विकृत पित्त से ही होने वाला रोग है, तो इसे पैत्तिक विशेषण देना कथमपि उपयुक्त नहीं है? इसका उत्तर यह है कि श्लैष्मिक या वातिक रक्तपित्त के लक्षणों की अपेक्षा पैत्तिक रक्तपित्त के पित्त में अधिक प्रबलता होती है, क्योंकि इसी प्रकार में पित्त अपने लक्षणों को भरपूर प्रकट करता है। सामान्यतः रक्तपित्त का कारण यकृत्प्लीहाधिष्ठित रंजक पित्त होता है। किन्तु पित्त के अन्य चार प्रकार जब दूषित होकर रक्त से सम्बद्ध हो जाते हैं तब रक्तपित्तरोग प्रबल रूप धारण कर लेता है और उसे पैत्तिक रक्तपित्त कहा जाना समुचित है। इसी बात को चक्रपाणि ने अन्य मत के रूप में प्रदर्शित किया है—"अन्ये तु प्रदेशान्तरचितेन पित्तेन यदोत्तरकालं रक्तपित्तस्य सम्बन्धो भवति तदैवं पैत्तिकं रक्तपित्तं भवतीति ब्रुवते"।

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते॥ १३॥
यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत्। व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानशनश्च यत्[2]॥ १४॥

रक्तपित्त की साध्यासाध्य याप्यता—जो रक्तपित्त एक दोष से ही दूषित होता है, वह **साध्य** होता है। जो रक्तपित्त दो दोषों की विकृति से उत्पन्न होता है, वह **याप्य** होता है। जिस रक्तपित्त में तीनों दोष प्रकुपित होते हैं, वह **असाध्य** होता है। मन्दाग्नि युक्त जिस रोगी का रक्त अतिवेग से निकलता हो, वह एकदोषज, द्विदोषज अथवा त्रिदोषज हो असाध्य होता है। इसी प्रकार जो रोगी रोगों के कारण क्षीणशरीर हो, आयु से वृद्ध हो, भोजन न करता हो और रक्तपित्त का वेग प्रबल हो, तो रक्तपित्तरोग असाध्य होता है।

१. 'यत्तु कफवातविरहितेन केवलेनैव पित्तेन बलवता जनितं रक्तपित्तं पैत्तिकरक्तपित्तलक्षणं भवति तत् पैत्तिकं रक्तपित्तमित्युच्यते। लक्षणेनैव दोषव्यपदेशो भवति, तेन यद्दोषजनितलक्षणयुक्तं रक्तपित्तं भवति, तत्तद्दोषजमिति व्यपदिश्यते। श्लैष्मिकादिरक्तपित्तापेक्षया पैत्तिके रक्तपित्तेऽत्युल्बणं पित्तं भवति, यतस्तत्रैव पित्तं स्वलक्षणानि करोति'। (चक्रपाणि टीका)

२. 'मार्गभेदेन साध्यत्वादिकमाह—ऊर्ध्वमित्यादि। ऊर्ध्वं साध्यमिति ऊर्ध्वगस्य कफपित्तसंश्लिष्टत्वेन कषाय-तिक्तौ रसौ कफपित्तहरौ योग्यौ, पित्तहरणे प्रधानं विरेचनं च योग्यम्। अधोगे त्वेक एव मधुरो वातपित्तप्रशमनः, वमनं च प्रतिमार्गत्वेन वेगमात्रविरोधि, न तु पित्तहरणम्। उभयमार्गं च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम्। यदुक्तं चरके—साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योग्यत्वाद् बहुत्वाद् भेषजस्य च। विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्'॥ (च.नि. अ. २) (मा. नि. रक्तपित्त. श्लोक ७-८ मधुकोष टीका)

गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता। ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः॥ १५॥
सप्त च्छिद्राणि शिरसि, द्वे चाधः—

रक्तपित्त की दो गतियाँ और नौ द्वार—रक्तपित्त की ऊर्ध्वगति और अधोगति, ये दो गतियाँ (निदानस्थान) बतलायी गयी हैं। ऊर्ध्वगति के सात द्वार और अधोगति के दो द्वार होते हैं। शिर में सात छिद्र होते हैं—२ आँख, २ नाक, २ कान और १ मुख = ७। नीचे के दो द्वार होते हैं—१ गुदा और १ मूत्रमार्ग = २॥ १५॥

—साध्यमूर्ध्वमम्। याप्यं त्वधोगं, मार्गौ तु द्वावप्यसाध्यं प्रपद्यते॥ १६॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च। वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम्॥ १७॥

रक्तपित्त की मार्ग की दृष्टि से साध्यासाध्यता—जो रक्तपित्त केवल ऊपर के द्वारों से निकलता है, वह **साध्य** होता है और जो नीचे के मार्गों से जाता है, वह **याप्य** होता है। जो रक्तपित्त ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से निकलता है, वह **असाध्य** होता है।

आन्तिकी गति—जब शरीर के सभी छिद्रों और रोमकूपों से भी रक्तपित्त निकलने लगता है, तब ऐसे रक्तपित्त की गतियाँ असंख्य कही गयी हैं और यह गति जीवन का नाश करने वाली होती है॥ १६-१७॥

वक्तव्य—रक्तपित्त की चिकित्सा में प्रतिमार्गहरण (विपरीत मार्ग से दोष निकालने का) सिद्धान्त अपनाया जाता है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त का प्रतिमार्गहरण होगा—अधोमार्ग से विरेचन देना; और विरेचन श्रेष्ठ पित्तनिर्हारक होता है एवं ऊर्ध्वग रक्तपित्त में जो कफ का अनुबन्ध होता है, उस कफ को भी दूर करता है। विरेचनार्थ प्रयुक्त किये जाने वाले तिक्त तथा कषाय रस स्वभावतः कफपित्तनाशक होते हैं। विरेचन की औषधें भी बहुतायत में उपलब्ध होती हैं। इन कारणों से ऊर्ध्वग रक्तपित्त को साध्य कहा गया है। अधोग रक्तपित्त याप्य कहा गया है। प्रतिमार्गहरण सिद्धान्त के आधार पर इसमें वमन कराना चाहिए, किन्तु वमन की उपयोगिता कुछ नहीं होती; क्योंकि इसमें वायु का भी अनुबन्ध होता है और वमन न तो पित्त को शान्त करता है, न वायु का शमन करता है। रसों में केवल मधुर रस वातपित्तशामक होता है, इसलिए ऊर्ध्वग के लिए औषधें भी कम पायी जाती हैं। इन हेतुओं से अधोग रक्तपित्त याप्य होता है। उभयमार्गी रक्तपित्त असाध्य होता है, क्योंकि इसमें प्रतिमार्गहरण का चिकित्सा-सिद्धान्त नहीं लागू हो सकता। इसमें न वमन कराया जा सकता है न विरेचन, अतः यह असाध्य होता है।

यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते। तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च॥ १८॥
संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत्। यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम्॥
हारिद्रनीलहरिततामैर्वर्णैरुपद्रुतम्। क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिद्ध्यति॥ २०॥
यद् द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं शान्तं प्रकुप्यति। मार्गान्मार्गं चरेद्यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत्॥

रक्तपित्त की असाध्यता—जो रक्तपित्त ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से प्रवृत्त हो, जिसमें अधिक रक्त आता हो, जो शव के जैसा गन्ध वाला रक्त निकाले, जिसमें काले वर्ण का रक्त आये, जो कफ और वात के लक्षणों से युक्त हो. जो गले में आकर फँस जाता हो, जो अपने सभी उपद्रवों से युक्त हो, जिसमें निकले हुए रक्त का वर्ण पीला, नीला, हरा या ताम्र के वर्ण का हो, जो क्षीणशरीर हो और लगातार खाँसता रहता हो, तो ऐसा रक्तपित्तरोग असाध्य होता है।

रक्तपित्त की याप्यता—जिस रक्तपित्त में दो दोषों का प्रकोप हो या जो शान्त हो-होकर पुनः प्रकुपित हो जाता हो अथवा जो रक्तपित्त अपना मार्ग बदल-बदल कर कभी किसी मार्ग से, कभी किसी मार्ग से रक्त निकाले, वह रक्तपित्त भी याप्य होता है॥ १८-२१॥

वक्तव्य—यहाँ याप्य के लक्षण में 'मार्गान्मार्गं चरेत्' का अर्थ ऐसा नहीं है कि मुख का मार्ग छोड़कर अधोग हो जाये, बल्कि इसका तात्पर्य इतना ही है कि ऊर्ध्वग रक्तपित्त अपने मार्ग का परिवर्तन करता रहे—मुखमार्ग को छोड़कर नासिका से आने लगे—तो वह रक्तपित्त याप्य होता है, अधोग तो मार्गान्तरगमन न करने पर भी स्वतः ही याप्य होता है। (चक्रपाणि)

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्। रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्॥ २२॥

रक्तपित्त की साध्यता—बलवान् रोगी का एक मार्ग (ऊर्ध्वमार्ग) से निकलने वाला, जिसमें अधिक वेग न हो, जो नया-नया उत्पन्न हुआ हो एवं सुखकर काल (हेमन्त और शिशिर ऋतु) में उत्पन्न हो तथा जिसमें कोई उपद्रव न उत्पन्न हो, वह रक्तपित्त साध्य होता है॥ २२॥

वक्तव्य—इस प्रकार रक्तपित्त के साध्य, असाध्य और याप्य के भेद तीन दृष्टियों से—१. मार्ग की दृष्टि से, २. दोष की दृष्टि से और ३. लक्षण की दृष्टि से अलग-अलग बतलाये गये हैं। यह ज्ञातव्य है कि जब साध्य लक्षण तथा याप्य लक्षण का मेल होता है तो याप्यता की स्थिति होती है और जब याप्य एवं असाध्य लक्षणों का मेल होता है तब असाध्यता होती है, इसलिए ही निदानस्थान (अ. ८) में कहा गया है कि "नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्" तथा "साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा"।

स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम्। अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु॥ २३॥

रक्तपित्त के विशेष कारण—प्रायः स्निग्ध और उष्ण आहार-विहार तथा अन्नपान का सेवन करना ऊर्ध्वग रक्तपित्त का कारण होता है और रूक्ष तथा उष्ण आहार-विहार एवं अन्नपान करना अधोग रक्तपित्त का कारण होता है॥ २३॥

वक्तव्य—यहाँ प्रायः शब्द से यह अभिप्राय समझना चाहिए कि कदाचित् रूक्ष और उष्ण ऊर्ध्वग रक्तपित्त का तथा स्निग्ध और उष्ण अधोग रक्तपित्त का कारण हो सकता है।

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम्। द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुबध्यते॥ २४॥

रक्तपित्त में दोषों का सम्बन्ध—ऊर्ध्व मार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त का कफ से सम्बन्ध होता है और अधोमार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त का सम्बन्ध वायु से होता है। दोनों मार्गों से निकलने वाले रक्तपित्त का सम्बन्ध कफ और वात दोनों से होता है॥ २४॥

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः। तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति॥ २५॥
गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम्। गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं मूत्रकृच्छ्रताम्॥ २६॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम्। बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात् स्तम्भितमादितः॥ २७॥
तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा। रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता॥ २८॥

रक्तपित्त में स्तम्भन-निषेध—जिस रक्तपित्त के रोगी का बल तथा मांस क्षीण न हों और वह समुचित रूप से भोजन करता हो, उसके दोषप्रकोप से दुष्ट और बाहर निकलने में प्रवृत्त हुए रक्तपित्त को चिकित्सा के प्रारम्भ में ही रोकने का उपाय नहीं करना चाहिए।

रक्तस्रावस्तम्भनजन्य उपद्रव—यदि रक्तपित्त के रक्तस्राव को प्रारम्भ में ही रोक दिया जाय तो उससे गले में जकड़ाहट, नासिका में दुर्गन्धि उत्पन्न होना, मूर्च्छा, अरुचि, ज्वर, गुल्म, प्लीहवृद्धि, आनाह रोग, किलास (श्वेतकुष्ठ), मूत्रकृच्छ्र, कुष्ठ, अर्श, वीसर्प, वर्ण का नाश, भगन्दर, बुद्धि और इन्द्रियों का अपना कार्य न कर पाना—ये सब उत्पन्न करता है।

रक्तस्राव का रोकना उपेक्षणीय—उपर्युक्त उपद्रवकारक होने से बल एवं दोष के विचार में दक्ष सफलता चाहने वाले चिकित्सक को चाहिए कि यदि रोगी बलवान् हो तो प्रारम्भ में उसके निकलते हुए रक्त को रोकने की उपेक्षा करे अर्थात् न रोके॥ २५-२८॥

वक्तव्य—चिकित्सा के किसी भी प्रकार को अपनाने में रोगी के जीवन-रक्षा का प्रश्न प्रथम प्रश्न है, इसलिए यहाँ भी यह बात स्वतः सिद्ध समझनी चाहिए कि क्षीणकाय निर्बल रोगी के रक्त का स्तम्भन करने का निषेध नहीं किया गया है, अपितु उसका सर्वप्रथम रक्तस्तम्भन करना चाहिए।

प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्। वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक् तस्मात्तल्लङ्घनमादितः॥

रक्तपित्त में लंघन—प्रायः मनुष्यों के शरीर में आमदोष से दूषित रक्तपित्त उभड़ जाता है, इसलिए आमपाचनार्थ पहले लंघन कराना चाहिए॥ २९॥

मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्॥ ३०॥

रक्तपित्त में लंघन या तर्पण का अवसर—रक्तपित्त के रोगी के रक्त निकलने के मार्ग, दोषों का सम्बन्ध और रोग के कारण को अच्छी प्रकार से देख-सुनकर रोगारम्भ में लंघन अथवा तर्पण आवश्यकतानुसार करना चाहिए॥ ३०॥

ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम्। केवलं शृतशीतं वा दद्यात्तोयं पिपासवे॥ ३१॥

रक्तपित्त में पेयजल—रक्तपित्त के रोगी को प्यास लगने पर हाऊबेर, लालचन्दन, खश, नागरमोथा और पित्तपापड़ा डालकर पकाया गया अथवा अकेले जल को ही उबाल कर ठण्डा किया हुआ जल पीने को देना चाहिए॥ ३१॥

ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते। कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात् प्रकृतिकल्पवित्॥ ३२॥

रक्तपित्त में तर्पण या पेया का प्रयोग—हेमन्त ऋतु आदि काल, रोगी के लिए पथ्य की अनुकूलता, वात या कफ का सम्बन्ध, रोगी, रोग और औषध या आहार द्रव्य की गुरु-लघु आदि प्रकृति और आहार की कल्पना (संस्कार) के अनुसार उनके लाभ या हानि—इन सब बातों को जानने वाला चिकित्सक (लंघन कराने के पश्चात्) ऊर्ध्वग रक्तपित्त में पहले यथायोग्य तर्पण का प्रयोग करे और अधोग रक्तपित्त में पहले पेया का प्रयोग करे॥ ३२॥

जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः। शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम्॥ ३३॥
तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रदापयेत्। ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति॥ ३४॥
मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत् साम्लमपि कल्पयेत्। दाडिमामलकैर्विद्वानम्लार्थं चानुदापयेत्॥ ३५॥

खर्जूरादि तर्पण—पिण्डखजूर, मुनक्का, महुए का फूल और फालसा का क्वाथ ठण्डा करके मीठा होने भर चीनी मिलाकर तर्पण के लिए रोगी को पिलाना चाहिए।

लाजा तर्पण—धान के लावा को पीसकर उसमें पर्याप्त मात्रा में घृत और मधु मिलाकर जल में घोलकर पिलाना चाहिए। उचित समय पर इस तर्पण का प्रयोग करने पर यह ऊर्ध्वग रक्तपित्तरोग को नष्ट करता है।

अम्ल तर्पण—जिस रक्तपित्त के रोगी की अग्नि मन्द हो और उसे अम्ल रस अनुकूल पड़ता हो, तो उसे पूर्वोक्त तर्पणयोगों में अनारदाना या आँवले का चूर्ण मिलाकर उसे खट्टा बनाकर रोगी को पिलाना चाहिए॥ ३३-३५॥

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषव्रशान्तिकाः। श्यामाकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम्॥३६॥

रक्तपित्त में आहार—रक्तपित्त के रोगियों के भोजन के लिए शालि चावल, साठी का चावल, नीवार (तिन्नी का चावल), कोदो का चावल, टाँगुन का चावल, सावां का चावल और प्रियंगु (छोटी टाँगुन का चावल) के बने आहार देना चाहिए॥ ३६॥

वक्तव्य—निदानस्थान में कोदो को रक्तपित्त का कारण कहा गया है और यहाँ उसे पथ्य के रूप में कहा गया है, इसलिए स्ववचन-विरोध हो रहा है, ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निदान में निष्पाव-माष के यूष के साथ कोदो को हेतु कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि निष्पाव और माष के संयोग के कारण समुदायप्रभावतत्त्व के आधार पर विशेष होने से कोदो रक्तपित्त का कारण कहा गया है और उस कथन में कोदो में नहीं, अपितु निष्पाव एवं माष संयुक्त कोदो में रक्तपित्तजनकता है। तथ्य यह है कि कोदो अकेले में कषाय-मधुर और लघुगुणयुक्त होने से रक्तपित्तनाशक ही होता है। अतः यहाँ उसकी गणना पथ्याहार में करना समुचित है।

मुद्गा मसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः। प्रशस्ताः सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम्॥ ३७॥

रक्तपित्त में सूप-यूष—रक्तपित्त के रोगियों के लिए मूँग, मसूर, चना, मोठ, अरहर—ये सभी पदार्थ दाल के रूप में या यूष के रूप में सेवन करने में लाभप्रद होते हैं॥ ३७॥

पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः। किराततिक्तकं शाकं गण्डीरः सकठिल्लकः॥ ३८॥
कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्यस्याथ शाल्मलेः। अन्नपानविधौ शाकं यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत्॥
शाकार्थं शाकसात्म्यानां तच्छस्तं रक्तपित्तिनाम्। स्विन्नं वा सर्पिषा भृष्टं यूषवद्वा विपाचितम्॥

रक्तपित्त में शाक—परवर, निम्बपत्र, वेंत का अग्रभाग (कोंपल), पकड़ी का पत्रांकुर (ठूंसा), बेंत के कोमल पत्ते, चिरायता की पत्ती, गण्डीर की पत्ती, पुनर्नवा की पत्ती, कचनार के फूल, गम्भार की पत्ती, सेमर की पत्ती और फूल, इनके अतिरिक्त अन्नपानविधि (च. सू. २७) में वर्णित रक्तपित्तनाशक अन्य शाकों का भी प्रयोग करना चाहिए। रक्तपित्त के जिन रोगियों को शाक अनुकूल पड़ता है और जिन्हें शाक खाने का अभ्यास हो, उन्हें इन शाकों को उबाल कर फिर घी में भूनकर खिलाये अथवा इनको रस्सेदार बनाकर जैसे भी पसन्द हो, सेवन कराना चाहिए॥ ३८-४०॥

वक्तव्य—यहाँ पथ्याहार के रूप में गण्डीर को कहा गया है, जब कि रक्तपित्त के निदान में भी गण्डीर का नाम आया है—ऐसा क्यों? गण्डीर जब सुरा या सौवीर के साथ प्रयुक्त होता है तो संयोग की महिमा से वह रक्तपित्तकारक होता है। दूसरी बात यह है कि गण्डीर स्थलज और जलज भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें से स्थलज रक्तपित्तकारक और जलज रक्तपित्तहारक होता है। इस प्रकार अकेले जलज गण्डीर को पथ्य के रूप में स्थलज गण्डीर को निदान के रूप में समझना चाहिए।

पारावतान्कपोतांश्च लावान् रक्ताक्षवर्तकान्। शशान्कपिञ्जलानेणान् हरिणान्कालपुच्छकान्॥
रक्तपित्ते हितान् विद्याद्रसांस्तेषां प्रयोजयेत्। ईषदम्लाननम्लान्वा घृतभृष्टान् सशर्करान्॥ ४२॥

रक्तपित्त में मांसरस—परेवा, कबूतर, लावा, चकोर, बटेर, खरहा, गौरैया, एण (कृष्ण हरिण), हरिण (सामान्य हरिण) और काली पूँछवाले हरिण—इनके मांसरस को रक्तपित्त में हितकर जानना चाहिए। इनके मांसरसों को अनार के रस अथवा आँवले के रस या चूर्ण डालकर रुचि के अनुसार खट्टा बनाकर या बिना अम्ल बनाये ही घी का छौंक लगाकर और चीनी डालकर प्रयोग करना चाहिए॥ ४१-४२॥

कफानुगे यूषशाकं दद्याद् बान्धवे रसम्।

दोषानुसार पथ्य—यदि रक्तपित्तरोग में कफ का सम्बन्ध हो तो यूष और शाक का सेवन कराना चाहिए और वातदोष का सम्बन्ध होने पर मांसरस का प्रयोग कराना चाहिए।

रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते॥ ४३॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः। जले साध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम्॥

यवागू-प्रयोग—अब आगे यवागुओं के निर्माण-प्रकार का वर्णन किया जायेगा।

१. पद्मोत्पलादि पेया—श्वेत तथा नील कमल की केशर, पिठवन, फूलप्रियंगु—इन सब द्रव्यों को मिलित १ कर्ष लेकर १ प्रस्थ जल में पकाये। जब आधा जल बचा रहे तब छानकर उस जल में पेया पकाकर रक्तपित्त के रोगी को पिलाने से रक्तपित्तरोग नष्ट हो जाता है॥ ४३-४४॥

चन्दनोशीरलोध्राणां रसे तद्वत् सनागरे। किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च॥ ४५॥
धातकीधन्वयासाम्बुबिल्वानां वा रसे शृता। मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरामुद्गरसेऽथ वा॥ ४६॥
रसे हरेणुकानां वा सघृते सबलारसे। सिद्धाः पारावतादीनां रसे वा स्युः पृथक् पृथक्॥ ४७॥
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्न्यः शीताः समधुशर्कराः। यवाग्वः कल्पना चैषा कार्या मांसरसेष्वपि॥

विविध रक्तपित्तघ्न यवागू योग—(सभी यवागुओं का निर्माण क्रम संख्या (१) में बतलाये गये विधान के अनुसार औषधसिद्ध जल में करना चाहिए।)

२. चन्दनादि पेया—लालचन्दन, खश, लोध और सोंठ डालकर पकाये जल में पेया बनानी चाहिए।

३. किराततिक्तादि पेया—चिरायता, खश और नागरमोथा डालकर पकाये जल में पेया बनाये।

४. धातक्यादि पेया—धावा का फूल, जवासा, सुगन्धबाला और बेल इनसे सिद्ध जल में पेया बनाये।

५. मसूर की दाल और पिठवन से सिद्ध जल में पेया बनाये।

६. शालपर्णी (सरिवन) और मूँग की दाल से सिद्ध जल में पेया बनाये।

७. सिन्दुवार (मेउड़ी) के बीज से सिद्ध जल में पेया बनाये।

८. वरियार की जड़ डालकर सिद्ध जल में घृतमिश्रित पेया बनाये। अथवा—

९. पारावत (परेवा) आदि पक्षियों के मांसरस में अलग-अलग पकायी गयी पेया (अर्थात् उन पक्षियों के मांसरस तैयार करे और उसके साथ पेया पकाये) निर्माण करे।

ये सब योग शीतल करके उपयुक्त मात्रा में मधु और चीनी मिलाकर प्रयोग करने से रक्तपित्तनाशक हैं। इस प्रकार यवागुओं को बतलाया गया है।

उक्त प्रकार की पेयाओं को मांसरस के साथ भी बनाना चाहिए॥ ४५-४८॥

शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे रक्तपित्तिनाम्। वातोल्बणे तित्तिरिः स्याददुम्बररसे शृतः॥४९॥
मयूरः प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः। रसे बिल्वोत्पलादीनां वर्तकक्रकरौ हितौ॥ ५०॥

मांसरसों के साथ पेया के योग—(१) यदि रक्तपित्त वाले रोगी को विबन्ध हो तो बथुआ से सिद्ध जल में मांसरस के साथ पेया बनाकर देनी चाहिए। (२) यदि रक्तपित्त में वात की प्रधानता हो तो गूलर के रस में तीतर का मांस पकाकर देना चाहिए। (३) पकड़ी वृक्ष की छाल के रस में पकाया हुआ मोर का मांसरस या (४) बरगद की जटा के रस में सिद्ध किया हुआ मुर्गे का मांसरस अथवा (५) बेलगिरि तथा नीलकमल आदि के रस में सिद्ध किया हुआ बत्तख और क्रकर (पक्षि-विशेष) का मांसरस रक्तपित्तरोग में हितकर होता है॥ ४९-५०॥

तृष्यते तिक्तकैः सिद्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम्। सिद्धं विदारिगन्धाद्यैरथवा शृतशीतलम्॥ ५१॥
ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च। जलं पिपासवे दद्याद् विसर्गादल्पशोऽपि वा॥ ५२॥

रक्तपित्त में पेयजल—रक्तपित्त के रोगी को प्यास लगने पर तिक्तरस वाले (पित्तपापड़ा आदि) द्रव्यों से सिद्ध जल अथवा तृष्णा दूर करने वाले (खजूर, मुनक्का, फालसा आदि) फलों का रस या उनसे सिद्ध जल अथवा विदारीगन्धादि गण (सरिवन, पिठवन, रेंगनी, वनभण्टा, गोखरू एवं विदारीगन्धा) से सिद्ध जल या केवल उबाला हुआ जल ही शीतल करके पीने के लिए देना चाहिए।

रोगी के रोग के साथ सम्बद्ध वात तथा कफ दोष, रोगी का बल (निर्बल या सबल), आहार ग्रहण करने की शक्ति (मन्दाग्नि या तीक्ष्णाग्नि आदि)—इन सभी बातों को अच्छी प्रकार से जानकर (यदि रोगी सबल, तीक्ष्णाग्नि और वातदोष से सम्बद्ध हो) यथेष्ट जल पिलाये एवं रोगी क्षीणशक्ति हो, मन्दाग्नि हो और कफदोष से सम्बद्ध हो तो उसे अल्प मात्रा में बार-बार जल पिलाये॥ ५१-५२॥

निदानं रक्तपित्तस्य यत्किञ्चित् सम्प्रकाशितम्। जीवितारोग्यकामैस्तन्न सेव्यं रक्तपित्तिभिः॥
इत्यन्नपानं निर्दिष्टं क्रमशो रक्तपित्तनुत्।

रक्तपित्त में निदान-सेवन का निषेध—रक्तपित्त के रोगी यदि अपने जीवन और आरोग्यलाभ की कामना करते हैं तो उन्हें रक्तपित्त का जो निदान निदानस्थान में बतलाया गया है, उसका सेवन नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार क्रमशः रक्तपित्त के शमन के लिए समर्थ समुचित अन्नपान का वर्णन कर दिया गया॥ ५३॥

वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवतां च यत्॥ ५४॥
अक्षीणबलमांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्। बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः॥ ५५॥
काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम्। विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च॥ ५६॥

बहुदोष रक्तपित्त में वमन-विरेचन—अब बलवान् तथा बहुदोषयुक्त रक्तपित्त के रोगी के प्रति कर्तव्य का निर्देश कर रहे हैं—जो रोगी बलवान् हो और उसका बल एवं मांस भी क्षीण न हुआ हो, उसका रोग सन्तर्पण के कारण उत्पन्न हो, जिसमें बहुदोष के लक्षण (देखिए च. सूत्र. १६।१३-१६) उपस्थित हों, जिसमें कोई उपद्रव न हो और रोगी संशोधन के योग्य हो तो उचित काल में ऐसे रोगियों के ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग रक्तपित्त में वमन कराना चाहिए॥ ५४-५६॥

त्रिवृताममयां प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा। त्रायमाणां गवाक्ष्या वा मूलमामलकानि वा॥ ५७॥
विरेचनं प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम्। रसः प्रशस्यते तेषां रक्तपित्ते विशेषतः॥ ५८॥

विरेचन द्रव्य—निशोथ, हर्रे, अमलतास के फल की गुद्दी, त्रायमाणा या इन्द्रायण के मूल अथवा आँवले के रस को पर्याप्त मधु और चीनी मिलाकर विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए। उक्त द्रव्यों (निशोथ आदि) का स्वरस ही रक्तपित्त में विशेष लाभकर होता है॥ ५७-५८॥

वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः। सर्शकरं वा सलिलमिक्षूणां रस एव वा॥ ५९॥
वत्सकस्य फलं मुस्तं मदनं मधुकं मधु। अधोवहे रक्तपित्ते वमनं परमुच्यते॥ ६०॥

वमन द्रव्य—रक्तपित्त में वमन कराने के लिए मैनफलचूर्ण को उचित मात्रा में सत्तू में घोलकर, उसमें मधु और चीनी मिलाकर या शर्बत मिलाकर या गन्ने का रस मिलाकर पिलाये अथवा इन्द्रजौ, नागरमोथा, मदनफल, मुलहठी और मधु मिलाकर अधोग रक्तपित्त में वमनार्थ प्रयोग करना उत्तम है॥ ५९-६०॥

ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिः क्रमो हितः। अधोगते यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली॥ ६१॥

संशोधन के बाद पथ्य—ऊर्ध्वग रक्तपित्त में संशोधन के पश्चात् तर्पण आदि क्रम से पथ्य देना हितकर होता है और अधोग में यदि वातदोष प्रबल न हो तो यवागू के क्रम से पथ्य देना चाहिए (वात की प्रबलता की स्थिति में मांसरस का प्रयोग करना चाहिए)॥ ६१॥

बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम्। ज्वलनादित्यसन्तप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः॥ ६२॥
गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशनम्। अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद् रक्तपित्तिनम्॥ ६३॥
शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया। शस्यते रक्तपित्तस्य परं साऽथ प्रवक्ष्यते॥ ६४॥

संशमन-योग्य रोगी—जिस रक्तपित्त के रोगी का बल और मांस क्षीण हो गया हो, जो शोक, भार उठाने या रास्ता चलने से कृश हो गया हो, जो अग्नि या सूर्य के सन्ताप से सन्तप्त हो अथवा अन्य किन्हीं रोगों के होने से क्षीण हो गया हो या गर्भिणी स्त्री हो, वृद्ध रोगी हो, बालक हो या रूखा अल्प तथा कुछ ही मधुर आदि एक-दो रस वाला ही आहार ग्रहण करता हो या जो वमन-विरेचन के अयोग्य हो अथवा जो रोगी राजयक्ष्मारोग से ग्रस्त हो; इन उपर्युक्त प्रकार के रक्तपित्त के रोगियों का संशमन-उपचार करना चाहिए। अब आगे उस संशमन-उपचार का वर्णन किया जा रहा है॥ ६२-६४॥

आटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथः सशर्करः। मधुमिश्रः श्वासकासरक्तपित्तनिबर्हणः॥ ६५॥
आटरूषकनिर्यूहे प्रियङ्गुं मृत्तिकाञ्जने। विनीय लोध्रं क्षौद्रं च रक्तपित्तहरं पिबेत्॥ ६६॥

आटरूषकादि क्वाथ—अरूसे की पत्ती, मुनक्का और हर्रे को समान भाग लेकर क्वाथ बनाये तथा उसमें चीनी और मधु मिलाये। यह क्वाथ श्वासरोग, खाँसी और रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है। अरूसे के काढ़े में फूलप्रियंगु, काली मिट्टी और अंजन की भस्म, पठानीलोध और मधु मिलाकर पीने से रक्तपित्तरोग नष्ट होता है॥ ६५-६६॥

पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दूर्वां वास्तूकमुत्पलम्। नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत्॥ ६७॥

पद्मकादि क्वाथ—पद्मकाठ, कमल की केसर, दूब, बथुआ, नीलकमल, नागकेसर और पठानी लोध—इन सबका कल्क बनाकर अरूसे के रस में मिलाकर पीने से रक्तपित्त नष्ट होता है॥ ६७॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं मधु चाश्वशकृद्रसे। यवासभृङ्गरजसोर्मूलं वा गोशकृद्रसे॥ ६८॥
विनीय रक्तपित्तघ्नं पेयं स्यात्तण्डुलाम्बुना। युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद्गोश्वशकृद्रसम्॥ ६९॥
खदिरस्य प्रियङ्गूणां कोविदारस्य शाल्मलेः। पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्यान्ना रक्तपैत्तिकः॥ ७०॥
शृङ्गाटकानां लाजानां मुस्तखर्जूरयोरपि। लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च॥ ७१॥

रक्तपित्तनाशक योग—पुण्डरिया काष्ठ और मुलहठी के कल्क और मधु को एक साथ घोड़े की लीद के रस में अथवा जवासा और भृंगराज के मूल के चूर्ण को गाय के गोबर के रस में मिलाकर चावल के पानी के साथ पिलाने से ये दोनो योग रक्तपित्त का नाश करते हैं। अथवा गाय के गोबर और घोड़े की लीद के रस में मधु और घी मिलाकर चाटना चाहिए। खैर, फूलप्रियंगु, कचनार और सेमर के फूलों का चूर्ण मधु के साथ रक्तपित्त के रोगी को खाना चाहिए। अथवा सिंघाड़ा, धान का लावा, नागरमोथा, खजूर और कमलकेसर को पीसकर मधु से खाये॥ ६८-७१॥

धन्वजानामसृग् लिह्यान्मधुना मृगपक्षिणाम्। सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात् पारावतं शकृत्॥ ७२॥

रक्तपित्तनाशक रक्त—रक्तपित्तरोग को दूर करने के लिए जांगल पशु-पक्षियों का रक्त मधु मिलाकर चाटे। यदि रक्त में ग्रथितता (जमाव) आ गयी हो तो कबूतर के विंट का चूर्ण मधु के साथ चाटना चाहिए॥ ७२॥

उशीरकालीयकलोध्रपद्मकप्रियङ्गुकाकट्फलशङ्खगैरिकाः।
पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः॥ ७३॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः।

संशमन योग—१. खश, २. पीतकाष्ठ (कालीयक), ३. पठानी लोध, ४. पद्मकाठ, ५. प्रियंगु पुष्प, ६. कट्फल, ७. शंखभस्म और ८. शुद्ध सोनागेरू—इन सबको अलग-अलग समान भाग लालचन्दन चूर्ण के साथ चीनी डालकर चावल के पानी में घोलकर पीने से रक्तपित्त, तमकश्वास, पिपासा और दाह शीघ्र शान्त होते हैं॥ ७३॥

वक्तव्य—यहाँ आठ द्रव्यों के अलग-अलग आठ योग कहे गये हैं और ये द्रव्य रक्तपित्त को शान्त करने वाले हैं। यदि इन सभी द्रव्यों का एकत्र सम्मिश्रण कर एक योग के रूप में प्रयोग किया जाय, तो यह योग अधिक लाभकर होता है।

किराततिक्तं क्रमुकं समुस्तं प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च॥ ७४॥
ह्रीबेरमूलानि पटोलपत्रं दुरालभा पर्पटको मृणालम्।
धनञ्जयोदुम्बरवेतसत्वङ्न्यग्रोधशालेययवासकत्वक् ॥ ७५॥
तुगालतावेतसतण्डुलीयं ससारिवं मोचरसः समङ्गा।
पृथक् पृथक् चन्दनयोजितानि तेनैव कल्पेन हितानि तत्र॥ ७६॥

किराततिक्तादि संशमन द्रव्य—१. चिरायता, २. सोपारी, ३. नागरमोथा, ४. पुण्डरिया काठ, ५. कमल, ६. नीलकमल, ७. हाऊबेर का मूल, ८. परवर की छाल, ९. धमासा, १०. पित्तपापड़ा, ११. कमलनाल, १२. अर्जुन की छाल, १३. गूलर की छाल, १४. बेत की छाल. १५. वट की छाल, १६. जामुन की छाल, १७. जवासा की छाल, १८. वंशलोचन, १९. फूलप्रियंगु, २०. नागकेसर, २१. चौलाई, २२. अनन्तमूल, २३. मोचरस और २४. समङ्गा (लाजवन्ती)—इन्हें अलग-अलग लालचन्दन के चूर्ण के समान मात्रा में लेकर चावल के पानी में चीनी के साथ घोलकर पिलाने से रक्तपित्त नष्ट हो जाता है॥ ७४-७६॥

वक्तव्य—इन सभी द्रव्यों को एक साथ चूर्ण बनाकर सेवन करना अधिक लाभकर होगा अथवा यथालाभ औषधों का चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिए।

निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा कल्कीकृता वा मृदिताः शृता वा।
एते समस्ता गणशः पृथग्वा रक्तं सपित्तं शमयन्ति योगाः॥ ७७॥

उशीरादि औषधों की कल्पनाएँ—पूर्व में जो उशीरादि एवं किराततिक्तादि औषध द्रव्य बतलाये गये हैं, ये १. चूर्ण बनाकर रातभर जल में भिगोकर मसल कर सबेरे जल निकाल कर या २. नवीन द्रव्य हों तो स्वरस निकाल कर या ३. कल्क (गीला या सूखा) बनाकर या ४. फाण्ट अथवा ५. क्वाथ के रूप में बनाकर जैसी सुविधा हो वैसे, सभी एक साथ या अलग-अलग चन्दनचूर्ण के साथ प्रयोग करने से रक्तपित्त को शान्त करते हैं॥ ७७॥

मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन।
बलाजले पर्युषिताः कषाया रक्तं सपित्तं शमयन्त्युदीर्णम्॥ ७८॥

प्रबल रक्तपित्त में उपचार—मूँग की दाल, धान का लावा, जौ, पीपर, खश और नागरमोथा तथा लालचन्दन—इनके क्वाथ को रातभर सुरक्षित रखकर प्रातःकाल पिलाने से प्रबल रक्तपित्त भी शान्त हो जाता है॥ ७८॥

वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम्॥ ७९॥

रक्तपित्तशामक प्रयोग—वैदूर्य (लहसुनिया), मणिपिष्टी, मुक्तापिष्टी, शुद्ध गेरू, काली मिट्टी, शङ्खभस्म, नागकेशर, आँवला और सुगन्धबाला—इनके चूर्ण को मधु के शर्बत या गन्ने के रस के साथ पीने से रक्तपित्तरोग का शमन होता है॥ ७९॥

उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः॥ ८०॥

उशीरादि पेय—खश, कमल का फूल, नीलकमल का फूल, श्वेत चन्दन का बुरादा और आग में तपाया हुआ ईंट का टुकड़ा—इन सबको स्वच्छ जल में भिगोकर कुछ घण्टे छोड़ दें, फिर पानी निथार कर चीनी और मधु मिलाकर ठण्डा-ठण्डा पिलाने से अधिक मात्रा में निकलने वाला रक्तपित्त शान्त हो जाता है॥ ८०॥

प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्रसारिवामधूकमुस्ताभयधातकीजलम्।
समृत्प्रसादं सह यष्टिकाम्बुना सशर्करं रक्तनिबर्हणं परम्॥ ८१॥

प्रियंग्वादि पेय—प्रियंगु, श्वेत चन्दन, पठानी लोध, अनन्तमूल, महुआ का फूल, नागरमोथा, हर्रे और धाय के फूल के जल में पकी मिट्टी बुझाकर उस जल को साठी के चावल के धोवन के जल के साथ चीनी मिलाकर पीने से यह उत्तम प्रकार का रक्तपित्तनाशक होता है॥ ८१॥

वक्तव्य—प्रियंगु से लेकर धातकी पर्यन्त सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर भूसे की तरह कूट लें। उसमें से २० ग्राम औषध को १२० मि० ली० जल में १२ घण्टे भिगोकर फिर उस जल में औषध को मसल कर पानी छान ले, पुनः मिट्टी के छोटे ढेले को आग में लाल तपाकर उस जल में बुझाये तथा साठी के २० ग्राम चावल को १२० मि० ली० जल में मसल कर धोवे और उस धोवन के जल को उक्त जल के साथ मिला ले। इस जल को चीनी डालकर मीठा करके थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहने से रक्तपित्तरोग शान्त हो जाता है।

कषाययोगैर्विविधैर्यथोक्तैर्दीप्तेऽनले श्लेष्मणि निर्जिते च।
यद्रक्तपित्तं प्रशमं न याति तत्रानिलः स्यादनु तत्र कार्यम्॥ ८२॥
छागं पयः स्यात् परमं प्रयोगे गव्यं शृतं पञ्चगुणे जले वा।
सशर्करं माक्षिकसम्प्रयुक्तं विदारिगन्धादिगणैः शृतं वा॥ ८३॥

वातानुबन्धी रक्तपित्तहर योग—जो रक्तपित्तरोग पूर्व में वर्णित अनेकानेक कषाययोगों के प्रयोग से अग्नि के प्रदीप्त होने और कफ के क्षीण हो जाने पर शान्त न हो रहा हो, तो उसमें वातदोष को ही कारण मानना चाहिए और उसके शमन के लिए अग्रलिखित प्रयोग करने चाहिए—(१) बकरी का दूध पिलाये। (२) या पाँच गुना जल में दुग्धावशेष पकाया हुआ तथा चीनी एवं मधु मिला हुआ गाय का दूध पिलाये। (३) या विदारिगन्धादि गण (लघुपंचमूल) की औषधों से सिद्ध गोदुग्ध में चीनी और मधु मिलाकर पिलाये॥ ८२-८३॥

द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा।
सजीवकं सर्षभकं ससर्पिः पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा॥ ८४॥

दुग्धकल्पना—(४) अथवा मुनक्का डालकर पकाया हुआ गोदुग्ध पिलाये। (५) या सोंठ डालकर पकाया हुआ या (६) बरियार की जड़ की छाल डालकर पकाया हुआ या (७) गोखरू के साथ पकाया हुआ या (८) जीवक डालकर पकाया हुआ दूध अथवा (९) ऋषभक डालकर पकाया हुआ दूध अथवा (१०) गरम किये हुए दूध में मिश्री मिलाकर पीना चाहिए॥ ८४॥

शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा शृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभिः।
रक्तं निहन्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात् सरुजं प्रयाति॥ ८५॥

मूत्रमार्गी रक्तपित्त में योग—(११) शतावर और गोखरू डालकर पकाया हुआ दूध अथवा (१२) शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी और माषपर्णी—इन चार पर्णिनियों से पकाया हुआ दूध रक्तपित्त रोग को शीघ्र ही शान्त कर देता है। विशेषकर मूत्रमार्ग से पीड़ा युक्त प्रवृत्त रक्तपित्त को शान्त करने का यह विशेष योग है॥ ८५॥

विशेषतो विट्पथसम्प्रवृत्ते पयो मतं मोचरसेन सिद्धम्।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा ह्रीबेरनीलोत्पलनागरैर्वा॥ ८६॥

गुदमार्गी रक्तपित्त में योग—(१३) जो रक्तपित्त गुदामार्ग से आता हो, उसमें विशेषकर मोचरस का कल्क डालकर पकाया हुआ दूध या (१४) बरगद की बरोह या बरगद का ठूंसा (शुंग) डालकर पकाया हुआ दूध या (१५) सुगन्धबाला, नीलकमल और सोंठ डालकर पकाया हुआ दूध उत्तम लाभप्रद होता है॥ ८६॥

कषाययोगान् पयसा पुरा वा पीत्वाऽनु चाद्यात् पयसैव शालीन्।
कषाययोगैरथवा विपक्वमेतैः पिबेत् सर्पिरतिप्रवे च॥ ८७॥

दुग्ध और घृत का प्रयोग—(१६) अथवा उपर्युक्त कषाययोगों को दूध के साथ पीकर दूध के ही साथ लाल अगहनी चावल का भात खाना चाहिए। (१७) यदि बहुत अधिक रक्तस्राव हो रहा हो तो इन पूर्वोक्त कषाययोगों के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किये हुए घृत का पान करना चाहिए॥ ८७॥

वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्याः।
प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तत् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम्॥ ८८॥
इति वासाघृतम्।

वासाघृत—(१८) अरूसे की टहनी, पत्ते और जड़ (२ किलो) लेकर (१६ किलो) जल में (चतुर्थांशावशिष्ट) क्वाथ करें और उसमें अरुसे के (२५० ग्राम) फूलों का कल्क डालकर (१ किलो) गोघृत डालकर घी पकाये। मधु के साथ इस घृत का सेवन करने से यह शीघ्र ही रक्तपित्त का शमन करता है॥ ८८॥

पलाशवृन्तस्वरसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवेण।
लिह्याद् घृतं वत्सककल्कसिद्धं तद्वत् समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम्॥ ८९॥
स्यात् त्रायमाणाविधिरेष एव सोदुम्बरे चैव पटोलपत्रे।
सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि सर्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते॥ ९०॥

रक्तपित्तघ्न घृत के अन्य योग—(१९) पलाश के पुष्पगुच्छ और पत्तों के स्वरस तथा उन्हीं के कल्क से सिद्ध घृत को मधु के साथ सेवन करे अथवा (२०) इन्द्रजौ का कल्क डालकर सिद्ध घृत का सेवन करे या (२१) मजीठ या लाजवन्ती, नीलकमल और पठानी लोध के कल्क से सिद्ध घृत का सेवन करे। यही विधि त्रायमाणा के कल्क से घृत सिद्ध करने की है और (२२) गूलर के फल तथा परवर की पत्ती के कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिए। (इन घृतों को चतुर्थांश मधु मिलाकर सेवन करना चाहिए) पित्तज्वरनाशक जो घृत कहे गये हैं, वे सभी रक्तपित्तरोग को शान्त करने में प्रशस्त होते हैं॥ ८९-९०॥

अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि सेकावगाहाः शयनानि वेश्म।
शीतो विधिर्वस्तिविधानमग्र्यं पित्तज्वरे यत् प्रशमाय दिष्टम्॥ ९१॥
तद् रक्तपित्ते निखिलेन कार्यं कालं च मात्रां च पुनः समीक्ष्य।
सर्पिर्गुडा ये च हिताः क्षतेभ्यस्ते रक्तपित्तं शमयन्ति यद्यः॥ ९२॥

रक्तपित्त में अन्य उपचार—जो मालिश के योग, फब्बारे, जलसिंचन, सेक एवं अवगाहन के योग, बिस्तर, धारागृह, शीतल विधियाँ और वस्तियाँ पित्तज्वर को शान्त करने के लिए बतलाई गयी हैं, पहले उचित समय का तथा उचित मात्रा का विचार कर रक्तपित्त में उन सबका प्रयोग करना चाहिए। इसके

अतिरिक्त जो उरःक्षत की चिकित्सा में घृत-गुड के योग बतलाये गये हैं, वे भी शीघ्र ही रक्तपित्तशामक होते हैं और हितकर हैं॥ ९१-९२॥

ग्रथित रक्तपित्त

कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते कण्ठागते स्याद् ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य॥ ९३॥

कफानुबन्ध में क्षारप्रयोग—जब रक्तपित्त में कफ का अनुबन्ध होने से रक्त जमकर ग्रन्थि बन जाता है, तो वह कण्ठ में ग्रथित हो जाता है। इस स्थिति में कमल के नाल का क्षार बनाकर मधु और घी के साथ मिलाकर युक्तिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए॥ ९३॥

मृणालपद्मोत्पलकेशराणां तथा पलाशस्य तथा प्रियङ्गोः।
तथा मधूकस्य तथाऽसनस्य क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन॥ ९४॥

अन्य क्षारयोग—उसी प्रकार कमल की नाल, कमल का फूल, नीलकमल का केशर, पलाश, प्रियंगु, महुआ और असन के क्षार का प्रयोग करना चाहिए॥ ९४॥

शतावरीबाडिमतिन्तिडीकं काकोलिमेदे मधुकं विदारीम्।
पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य घृतं पचेत् क्षीरचतुर्गुणं ज्ञः॥ ९५॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं तद् रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात्।
यत् पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारि॥ ९६॥
इति शतावर्यादिघृतम्।

शतावरी घृत—शतावर, अनार, इमली, काकोली, मेदा, मुलहठी, विदारीकन्द, बिजौरा नीबू की जड़, इनका कल्क, (कल्क के चौगुना) घी और घी का चौगुना गोदुग्ध डालकर घृत पकाये। यह घृत कास, ज्वर, आनाह, विबन्ध, शूल और रक्तपित्त को नष्ट करता है।

पञ्च पञ्चमूल घृत—जो घृत पञ्चमूल द्रव्यों के क्वाथ और उनके ही कल्क से तैयार किया जाता है, वह भी शतावरी घृत के समान ही कार्यकारी होता है॥ ९५-९६॥

वक्तव्य—पाँच पंचमूल—१. क्षुद्रपंचमूल, २. बृहत्पंचमूल, ३. वल्लीपंचमूल, ४. जीवनपंचमूल अथवा कण्टकीपंचमूल और ५. तृणपंचमूल।

१. शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, रेंगनी, वनभण्टा और गोखरू—ये क्षुद्रपंचमूल हैं। २. बेल, पाढल, गनियार, गम्भार और सोनापाठा—ये बृहत्पंचमूल हैं। ३. विदारीकन्द, मेढ़ासींगी, हल्दी, अनन्तमूल और गुरूच—ये वल्लीपंचमूल हैं। ४. करञ्ज, गोखरू, तालमखाना, पियाबाँसा और शतावर—ये कंटकीपंचमूल हैं। ५. कुश, काश, शर, डाभ और गन्ना—ये तृणपञ्चमूल हैं।

कषाययोगा य इहोपदिष्टास्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः।
घ्राणात् प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं यदा भवेन्निःसृतदुष्टदोषम्॥ ९७॥

नासिका के रक्तपित्त का उपचार—नासिका से रक्तपित्त का रक्त जब निकल रहा हो तो जब दोषदुष्ट समस्त रक्त निकल जाये तब पूर्व के कषाययोगों का ('आटरूषकमृद्वीका' इत्यादि श्लोक ६५ से ७१ तक) जो उपदेश किया गया है, उनका (स्वरस निकाल कर) अवपीड नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए। (किन्हीं द्रव्यों को मसल कर रस निकाल कर रूई या वस्त्रखण्ड में तर करके नाक में बूँद-बूँद टपकाना 'अवपीड' कहलाता है)॥ ९७॥

रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः।
रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः॥ ९८॥

दुष्टरक्तावरोधजन्य रोग—जब (स्तम्भक) अवपीड नस्य का प्रयोग कर दूषित रक्त को निकलने से रोक दिया जाता है, तब दुष्ट प्रतिश्याय अनेक प्रकार के शिरोरोग, पूययुक्त रक्त का तथा शव जैसे दुर्गन्ध का नासिका से निकलना, घ्राणशक्ति का नष्ट होना और नासिका में कृमियों का उद्भव होना—ये सब लक्षण या रोग होते हैं॥ ९८॥

नीलोत्पलं गैरिकशङ्खयुक्तं सचन्दनं स्यात्तु सिताजलेन।
नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसः समङ्गा सधातकीमोचरसः सलोध्रः॥ ९९॥
द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्यं क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव।
यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम्॥ १००॥
प्रियालतैलं मधुकं पयश्च सिद्धं घृतं माहिषमाजिकं वा।
आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्यं ससारिवैः स्यात् कमलोत्पलैश्च॥ १०१॥

नासारक्तपित्त में स्तम्भक नस्ययोग—१. नीलकमल का फूल, गेरु, शंखभस्म और श्वेत चन्दन बुरादा—इन सबको पीसकर चीनी के शर्बत में घोलकर छानकर अवपीड नस्य देना चाहिए। २. आम की गुठली की मींगी का रस नस्य के रूप में प्रयोग करे। ३. लजालू और धावा के फूल का स्वरस निकाल कर नस्य दे। ४. मोचरस और पठानी लोध को चीनी के शर्बत से पीसकर नस्य-प्रयोग करे। ५. मुनक्का के रस का नस्य दे, ६. ईख के रस का नस्य दे, ७. दूध का नस्य दे, ८. दूब के रस का नस्य दे, ९. जवासा के रस का नस्य दे, १०. प्याज के रस का नस्य दे और ११. अनार के फूल के रस का नस्य दे।

१२. प्रियाल (चिरौंजी) के तेल में मुलहठी का कल्क और गोदुग्ध डालकर पकाकर उसका नस्य दे। १३. भैंस या बकरी के घी में मुलहठी का कल्क और गाय का दूध डालकर पकाकर उसका अवपीड नस्य दे। १४. आम की गुठली, लजैनी, धाय का फूल, मोचरस और लोध—इनके संयुक्त या अलग-अलग कल्क को दूध के साथ पीसकर इनका अवपीड नस्य दे। १५. अनन्तमूल के कल्क को दूध के साथ पीसकर अवपीड नस्य दे और १६. रक्तकमल एवं नीकमल को दूध से पीसकर उसका अवपीड नस्य देना चाहिए॥ ९९-१०१॥

भद्रश्रियं लोहितचन्दनं च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च।
उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्या मधुकं पयस्या॥ १०२॥
शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलानां कुशकाशयोश्च।
कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः॥ १०३॥
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च।
उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे॥ १०४॥
प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथाऽवगाहे घृततैलसिद्धौ।
रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक् प्रयुञ्ज्यात्॥ १०५॥

प्रदेह, परिसेचन, अवगाहन आदि के द्रव्य—श्वेतचन्दन, लालचन्दन, पुण्डरिया काठ, कमल (लाल) का फूल, नीलकमल का फूल, खस, जलबेंत, सुगन्धबाला, कमलनाल, नीली दूब, मुलहठी, क्षीरकाकोली, धान की जड़, ईख की जड़, जवासा की जड़, गुन्द्रा (तृणविशेष) की जड़, नरसल की जड़, कुश की जड़, कास की जड़, कुचन्दन (कालाचन्दन), सेवार, अनन्तमूल, कालानुसार्या (तगर) की जड़, गन्धतृण की जड़, ऋद्धि, कमलों का मूल और फूल, बावली की मिट्टी, गूलर, पीपर, महुआ, लोध और कषाय रसवाले एवं शीतवीर्य सभी वृक्ष रक्तपित्त के रोगी के प्रलेपन, प्रदेह, परिसेचन और अवगाहन के लिए लाभप्रद होते हैं। घी या तैल बनाने में इनके क्वाथ और कल्क का प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है।

रक्तपित्तरोग का शमन चाहने वाले चिकित्सक को बाह्य या आभ्यन्तर रूप में भद्रश्रिय (श्वेतचन्दन) आदि रक्तपित्तशामक औषधों का संयुक्त रूप में अथवा अलग-अलग प्रयोग करना चाहिए॥ १०२-१०५॥

धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम्।
वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः॥ १०६॥
पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमं च शीतं कदलीदलं च।
प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः॥ १०७॥

रक्तपित्तनाशक विहार—रक्तपित्तरोगजन्य दाह के शमन के लिए फव्वारे लगे शीतल धारागृह, शीतल भूमिगत गृह (तहखाना), रमणीय एवं जलयुक्त वायु के प्रवाह से शीतल वन-उपवन और ठण्डे जल के स्पर्श से शीतल वैदूर्यमणि, मोती एवं मणिमय पात्रों का स्पर्श करना प्रशस्त होता है।

कमल के पत्ते और फूल, शीतल रेशमी वस्त्र, केले के पत्ते, लाल और नील कमल के पत्ते बिस्तर पर बिछाकर सोने के लिए, आसन पर बिछाकर बैठने के लिए अथवा प्रच्छादन के लिए उत्तम होते हैं। क्योंकि ये सब उपकरण दाहशामक होते हैं॥ १०६-१०७॥

प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्।
दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानां च कलापवाताः॥ १०८॥
सरिद्ध्रदानां हिमवद्गुहाणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम्॥ १०९॥

रक्तपित्त में शीतस्पर्श एवं मनोऽनुकूल विहार और कथा—रक्तपित्त के रोगी को जब शरीर में दाह प्रतीत हो तो प्रियंगु और श्वेतचन्दन की धूल (सूक्ष्मचूर्ण) से जिनका शरीर लिप्त हो ऐसी प्रिय सुन्दर स्त्रियों का आलिङ्गन करना प्रशस्त होता है और जल के छींटे से तर किये हुए लाल तथा नील कमल के फूलों के गुच्छों के व्यजन से निकली ठण्डी वायु का सेवन करना भी उत्तम होता है।

नदियों, तालाबों एवं हिमगिरि की गुफाओं का सेवन करना, चाँदनी रात में खुले आकाश में चन्द्रोदय की छटा का निहारना, कमलों से भरे कासारों के किनारे बैठना, मनपसन्द शीतल स्पर्श करना और विनोदात्मक कथाओं का सुनना—ये सब रक्तपित्तरोग को शान्त करते हैं॥ १०८-१०९॥

तत्र श्लोकौ—

हेतुं वृद्धिं संज्ञां स्थानं लिङ्गं पृथक् प्रदुष्टस्य। मार्गौ साध्यमसाध्यं याप्यं कार्यक्रमं चैव॥ ११०॥
पानान्नमिष्टमेव च वर्ज्यं संशोधनं च शमनं च। गुरुरुक्तवान् यथावच्चिकित्सिते रक्तपित्तस्य॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
रक्तपित्तचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

अध्याय का उपसंहार—गुरुवर भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने इस 'रक्तपित्तचिकित्सित' नामक अध्याय में रक्तपित्तरोग के कारण, वृद्धि, संज्ञा, स्थान, दोषों से दूषित रक्त के अलग-अलग लक्षण, रक्तपित्त के दो प्रकार के मार्ग, साध्य, असाध्य तथा याप्य के लक्षण, चिकित्साक्रम, समुचित हितकर पान तथा अन्न, त्याज्य पदार्थ, संशोधन (वमन-विरेचन) का विधान और रक्तपित्त की प्रशमन-चिकित्सा का यथावत् उपदेश किया है॥ ११०-१११॥

वक्तव्य—जब रक्त एवं पित्त वर्धक पदार्थों से प्रकुपित पित्त अधिक मात्रा में रक्त के साथ मिलता है एवं रक्त का मल होने से उसके संसर्ग से अधिक बढ़कर बढ़े हुए रक्त को पुनः अधिक दूषित बना देता है। पित्त की ऊष्मा से स्विन्न मांस आदि धातुओं से द्रव धातु का क्षरण होता है तथा इसी द्रव के संयोग से रक्त और उसके समानजातीय पित्त की भी वृद्धि होती है। एवञ्च रक्तवर्धक आहार के सेवन से रक्त अधिक मात्रा में बनता है, किन्तु वह विदग्ध होता है, अतएव उससे मल रूप पित्त की भी अधिक उत्पत्ति होती है। रक्त में जलीय सन्तुलन रखने के लिए धातुगत जलीयांश का रक्त में शोषण होने से रक्त की मात्रा और भी बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप स्रोतोगत भाराधिक्य के कारण उत्पन्न तनाव एवं पित्त की अधिकता के कारण रक्तवह प्रणालियों की दीवार क्षतिग्रस्त हो जाती है और उनसे रक्त बाहर क्षरित होने लगता है। इसी प्रदुष्ट पित्त का प्रवृद्ध रक्त के साथ शरीर से बाहर निकलना रक्तपित्त कहलाता है।

सामान्य अवधारणा में बाह्य आघात के बिना शरीर के आभ्यन्तर कारणों से उत्पन्न रक्तस्राव को 'रक्तपित्त' कहते हैं। रक्तपित्त शब्द का प्रयोग वहीं किया जाना उचित है जहाँ दुष्ट पित्त से दूषित रक्त किसी भी मार्ग से निकलता हो।[1]

कुछ रोगों में उपद्रवस्वरूप रक्तपित्त हो जाता है, जैसे आन्त्रिक ज्वर अथवा पित्तोल्बण सन्निपातजन्य विष या संखिया आदि विषों से पित्त के प्रकुपित होने से 'अधोग रक्तपित्त' की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी जलोदर में यकृत् शोष होने पर यकृद्गामी रक्त का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप आमाशयगत सिराओं में रक्त का दबाव बढ़ जाता है और शिराओं की दीवार के फटने से आमाशय द्वारा ऊर्ध्वमार्ग से रक्तपित्त की प्रवृत्ति होती है।

रक्तपित्त के रक्तस्राव के मुख्यरूप से ऊपर और नीचे ये दो मार्ग हैं। जैसे—२ नासिकाद्वार, २ नेत्र, २ कान और १ मुख—ये सात ऊर्ध्वग रक्तपित्त के मार्ग हैं। मूत्रेन्द्रिय, योनि और गुदा ये नीचे के मार्ग हैं। रक्तस्राव की प्रवृत्ति अनेक रोगों में पायी जाती है, किन्तु उन सबको रक्तपित्त नहीं कहा जा सकता। प्रकार के अनुसार उन्हें रक्तवमन, रक्तष्ठीवन, नासारक्तस्राव, रक्तातिसार, प्रवाहिका, रक्तार्श, अधोग रक्तपित्त, रक्तमेह, मज्जिष्ठामेह, प्रदर, त्वचारक्तस्राव एवं रोमकूपों द्वारा रक्तस्राव आदि कहते हैं।

रक्तवमन—जो रक्तस्राव बिना खाँसी के होता हैं, उसे रक्तवमन कहते है। कण्ठ में पीड़ा के साथ काफी के वर्ण का रक्त निकलता है, यह आमाशय के विकार से होता है, जिसका कारण आमाशयिक रक्तस्राव होता है। इसमें रक्त मुखमार्ग से निकलता है। रक्त आहारांशमिश्रित या अकेला भी हो सकता है।

रक्तष्ठीवन—यह श्वासप्रणाली से होने वाला रक्तस्राव मुख द्वारा होता है एवं जो रक्तस्राव खाँसी के साथ होता है, उसे रक्तष्ठीवन कहते हैं। रक्तष्ठीवन का प्रधानतम कारण राजयक्ष्मा होता है। यह अधिकतर यौवनावस्था में होता है। अन्य दो प्रधान कारण—द्विपत्रक कपाट का संकोच और श्वासप्रणाली की विस्तीर्णता है। रक्तस्राव के अन्य कारण श्वास-पथ का व्रण, रक्तगत रोग, फुप्फुसीय अर्बुद या विद्रधि, उच्च-रक्तचाप, वक्षःस्थल पर अभिघात आदि होते हैं।

नासारक्तस्राव—नासिका की गुहा के विकार से रक्तस्राव होना सम्भव है, किन्तु अधिक मात्रा में रक्त का स्राव होना रक्तपित्त के कारण ही सम्भव है। शरीर में व्याधिक्षमत्व के अभाव से, व्यायाम की अधिकता से, अति उष्णता से, अस्वाभाविक अनभ्यस्त वायुमण्डल में निवास, हवाई जहाज की यात्रा आदि के कारण नासा से रक्तस्राव होने लगता है। कदाचित् स्थानीय नासासम्बन्धी विकृतियों के कारण भी रक्तस्राव होने लगता है। जैसे—नासिका का व्रण, तीव्रनासाव्रणशोथ, नासाशल्य, नासार्श, फिरंग आदि।

---

१. 'विनाभिघातात् स्फुटकारणाद्वा रक्तं स्रवेद् यत् प्रचुरं कुतश्चित्।
तद् रक्तपित्तं भिषजो वदन्ति विज्ञैस्तु वाच्यं निपुणं परीक्ष्य'॥ (सिद्धान्तनिदान)

अधोग रक्तपित्त में मूत्रेन्द्रिय, योनि तथा गुदा से रक्तस्राव होता है। मूत्र के साथ मिश्रित रक्त आ रहा हो तो मूत्रसंस्थान से रक्त का आगमन जानना चाहिए। वृक्क में शोथ होना, अर्बुद होना, वस्तिगत अश्मरी आदि इसके कारण हो सकते हैं। मज्जिष्ठामेह में मूत्र रञ्जक पाया जाता है।

गुदमार्ग से रक्तातिसार, सरक्ता प्रवाहिका, रक्तार्श एवं अधोग रक्तपित्त में रक्त आता है। रक्तातिसार का अन्तर मलपरीक्षा से हो सकता है। प्रवाहिका में मलत्याग के समय अन्त्र में ऐंठन-मरोड़ होकर मल के साथ रक्त निकलता है। कालाजार या आन्त्रिकज्वर में भी रक्तातिसार की स्थिति हो जाती है। आँतों में क्षय, व्रण या अर्बुद के होने पर भी रक्तस्राव कदाचित् हो सकता है।

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'रक्तपित्तचिकित्सित' नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ॥ ४॥

रक्तवमन और रक्तष्ठीवन पार्थक्यबोधक सारणी

रक्तवमन	रक्तष्ठीवन
१. रक्तस्राव के पूर्व मिचली एवं वमन होता है।	१. रक्तस्राव के पूर्व मिचली या वमन नहीं होता है।
२. रक्त के साथ भोजनकण मिलते हैं।	२. ष्ठीवन में रक्त आने के पूर्व खाँसी आती है।
३. वान्त द्रव्य आम्लिक होता है।	३. रक्त फेनिल तथा क्षारीय होता है।
४. वमनद्रव्य श्यामवर्ण का होता है।	४. ष्ठीवन रक्तवर्ण का होता है।
५. पाचनसंस्थान के रोगों का इतिहास मिलता है।	५. श्वसनसंस्थान के रोग का इतिहास मिलता है।

सापेक्ष-निदान

रक्तपित्त तथा अन्य रक्तस्राव-पार्थक्यबोधक सारणी

रक्तपित्त	शुद्ध रक्त
१. रक्तपित्त-रक्तमिश्रित अन्न को कौआ या कुत्ता नहीं खाता। २. रक्तपित्त के रक्त में रँगा गया श्वेत वस्त्र धोने पर विवर्ण हो जाता है।	१. शुद्ध रक्तमिश्रित अन्न को कौआ या कुत्ता खा जाता है। २. शुद्ध रक्त में रँगा श्वेत वस्त्र धोने पर एकदम साफ हो जाता है।
रक्तपित्त	**रक्तप्रमेह**
१. मूत्र में हरिद्रावर्ण और रक्त का अस्तित्व पाया जाता है। २. प्रमेह के पूर्वरूप नहीं होते।	१. मूत्र में हरिद्रावर्ण और रक्तमिश्रण प्राप्त होता है। २. प्रमेह के पूर्वरूप होते हैं।
रक्तपित्त	**रक्तार्श**
१. पहले का इतिहास नहीं होगा। २. गुदा, मुख, नासा आदि से भी रक्तस्राव सम्भव है। ३. गुदा में मस्से नहीं होंगे। ४. मलत्याग के बिना भी रक्तस्राव हो सकता है। ५. इसमें पीड़ा नहीं होती। ६. अजीर्ण का इससे विशेष सम्बन्ध नहीं है। ७. कुत्ता या कौआ इसे नहीं खाता। ८. इससे रँगा वस्त्र स्वच्छ न होगा। ९. रक्त की मात्रा अधिक होगी।	१. रोग के पूर्वकाल का इतिहास मिलेगा। २. केवल गुदा से रक्त आता है। ३. अंगुली द्वारा गुदपरीक्षा से मस्से मिलेंगे। ४. रक्तस्राव मलत्याग के पूर्व या पश्चात् होगा। ५. मलत्याग में अत्यधिक पीड़ा होती है। ६. रोगी को प्रायः अजीर्ण एवं विबन्ध रहता है। ७. इसके रक्त से मिश्रित अन्न को कुत्ता या कौआ खा जाता है। ८. इसके रक्त से रँगा वस्त्र धोने पर स्वच्छ हो जायेगा। ९. रक्त की मात्रा कम होती है।
रक्तपित्त	**रक्तातिसार**
१. रक्त का मलयुक्त होना आवश्यक नहीं है। २. रक्तप्रवृत्ति गुदा, मुख, नासिका आदि से भी हो सकती है। ३. इसमें जीव (शुद्ध) रक्त के लक्षण नहीं होते।	१. रक्त मलयुक्त होता है। २. रक्तप्रवृत्ति गुदामार्ग से ही होती है। ३. इसमें जीवरक्त के लक्षण भी मिल सकते हैं।

रक्तपित्त की चिकित्साक्रमबोधक सारणी

उपचार-क्रिया	औषध	आहार-पेय
अग्निवत् तीक्ष्ण महागद रक्तपित्त का उपचार शीघ्र करणीय। बलवान् रोगी का रोगारम्भ में रक्तस्तम्भन निषिद्ध। आमपाचनार्थ लंघन। मार्ग तथा दोषानुबन्ध का विचार कर लंघन या तर्पण। **ऊर्ध्वग में**—विरेचन। **अधोग में**—वमन। संशोधन के पश्चात् कर्म। संशमनी क्रिया। निदानपरिवर्जन। अभ्यङ्ग, परिषेचन, जलावगाहन, धारागृह-वास, भूमिगृह-निवास, रम्य शीत वनसेवन, कमल-पत्रादिनिर्मित शीतलशय्याशयन, प्रियवराङ्गनासंस्पर्श, हिमगिरि कन्दरावास, चन्द्रोदय-दर्शन, सुरम्य नद-नदीतटवास, मनोऽनुकूल गीत-नृत्य-सङ्गीत-कथा-श्रवण आदि का आनन्दानुभव।	**पिपासा में**—ह्रीबेरादि पेय तर्पण द्रव्य की अम्लतार्थ अनार और आँवला का प्रयोग। **विरेचनार्थ**—निशोथ, हरीतकी, अमलतास आदि का प्रयोग। **वमनार्थ**—मदनफल का मन्थ, इन्द्रजौ, नागरमोथा, मदनफल और मुलहठीचूर्ण मधु से। आटरूषकादि क्वाथ, प्रियंगु, मृत्तिका, अंजन और लोध्रचूर्ण मधु से। पद्मकादि क्वाथ, प्रपौण्डरीकादि योग, खदिरादि उशीरादि चूर्ण, किराततिक्तादि चूर्ण, अलाक्वाथ में मुद्गादि शीतकषाय, वैदूर्य-मुक्तादि शीतकषाय। **अतिरक्तस्राव में**—उशीरादि पेया एवं प्रियंग्वादि लेप। **वातानुबन्ध में**—अजाक्षीर या विदारिगन्धादिगणसिद्ध गोदुग्ध। **मूत्रमार्गगत रक्तपित्त में**—शतावरीक्षीर, गोखरूक्षीर या पर्णिनीसिद्ध क्षीर। **गुदगत रक्तपित्त में**—मोचरस-सिद्ध क्षीर, कसाघृत, शतावरी-घृत। **कफानुबन्ध में**—क्षार प्रयोग। **नासागत रक्तपित्त में**—आट-रूषादिक्वाथ का अवपीडनस्य, नीलोत्पलादि नस्य, द्राक्षारसादि नस्य। प्रदेह, परिषेचन आदि के लिए भद्रश्रिय (श्वेतचन्दन) आदि प्रयोज्य।	काल, सात्म्य और दोष का अनुबन्ध देखकर ऊर्ध्वग में पहले तर्पण और अधोग में पहले पेया। खर्जूरादि तर्पण, लाजतर्पण। **आहारार्थ**—शालि, साठी, कोदो, सावाँ और टाँगुन का चावल। मूँग, मसूर, चना, मोठ और अरहर की दाल और यूष। **शाकार्थ**—परवर, निम्ब-पत्र, वेत्राग्र, पाकड़ का टूंसा, करेला, कचनार का फूल, गम्भार की पत्ती और सेमर की पत्ती। **मांसरस**—परेवा, कबूतर, लवा, चकोर, बटेर, खरहा, गौरैया, हरिण। **कफानुबन्ध में**—यूष और शाक। **वातानुबन्ध में**—मांसरस का प्रयोग।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'गुल्मचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—लता आदि के परस्पर लिपट कर ग्रन्थि के आकार में बँध जाने को गुल्म (झुरमुट) कहते हैं। गुल्म का अर्थ गोले आकार का गुच्छा होता है। उदरगत महास्रोत के भीतर वायु (आहार-पाचन प्रक्रिया में उत्पन्न गैसें), पित्त (विभिन्न अम्ल या क्षार प्रधान पाचक रस) और कफ (आम या अन्य सान्द्र पदार्थ) का अस्वाभाविक रूप से किसी स्थान पर सञ्चित होकर गोले के आकार में प्रतीत होना गुल्म कहलाता है।

'गुल्म' शब्द की निरुक्ति— 'गुडि वेष्टने' (चुरादि) धातु से मक प्रत्यय करने पर 'डलयोरभेदः' के अनुसार गुल्म शब्द बनता है। मधुकोष (माधवनिदान की टीका) में 'गुल्म इति लतादिपिहितसंस्थानविशेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके, तत्सादृश्यात् सञ्चितपरिपिण्डितदोषेऽपि गुल्मसंज्ञेत्याहुः, वाप्यचन्द्रस्त्वाह—सम्पिण्डितदोषो गुडकेन मीयत इति निरुक्तिः' यह उल्लेख किया गया है।

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः।
चिकित्सितं गुल्मनिबर्हणार्थं प्रोवाच सिद्धं वदतां वरिष्ठः ॥ ३ ॥

गुल्म-वर्णन का उपक्रम—प्राणिमात्र को पितृतुल्य संरक्षण देनेवाले, अतीत और भविष्य को जानने वाले और सर्वश्रेष्ठ उपदेष्टा भगवान् पुनर्वसु ने गुल्मरोग को दूर करने के लिए अनुभवसिद्ध चिकित्सा का उपदेश किया ॥ ३ ॥

विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा तैरेव वृद्धैः परिपीडनाद्वा।
वेगैरुदीर्णैर्विहतैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ॥ ४ ॥
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा।
विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रं कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ॥ ५ ॥

गुल्म का निदान—मलाशय से मल के अधिक मात्रा में निकलने से, कफ के अधिक क्षय होने से अथवा पित्त के अधिक क्षय होने से या मल, कफ या पित्त के अधिक मात्रा में बढ़ने से, शरीर में अधिक पीड़ा होने से, मल, मूत्र, वीर्य आदि के वेग जब बढ़े हुए और प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हों तो उनके रोकने से या किसी प्रकार से बाहरी आघात लगने से, बहुत अधिक दबाव पड़ने से, रूक्ष अन्नपान का अतिमात्रा में सेवन करने से, शोक करने से अथवा वमन-विरेचन आदि चिकित्साविधियों के मिथ्यायोग से या शारीरिक चेष्टाओं के विषम तथा अतिमात्रा में किये जाने से कोष्ठ (आमाशय, पक्वाशय, मलाशय आदि) में वायु का प्रकोप हो जाता है ॥ ४-५ ॥

कफं च पित्तं च स दुष्टवायुरुद्धूय मार्गान् विनिबद्ध्य ताभ्याम्।
हृन्नाभिपार्श्वोदरवस्तिशूलं करोत्यधो याति न बद्धमार्गः ॥ ६ ॥
पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा।
स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद् गुल्मो यथादोषमुपैति नाम ॥ ७ ॥

गुल्म की सम्प्राप्ति—पूर्वोक्त कारणों से प्रकुपित हुआ वायु कफ और पित्त को उद्वेलित कर उन्हें अपने स्थान से चलायमान कर, उन दोनों के द्वारा अपने मार्गों को बन्द कर हृदय में, नाभिप्रदेश में, पार्श्वप्रदेश में, उदर और वस्तिप्रदेश में पीडा उत्पन्न करती है। वह वायु पक्वाशय में पित्ताशय अथवा कफाशय (आमाशय) में या स्वतन्त्र या दूसरे दोष के आश्रय में रहकर अपने सम्बद्ध दोष के अनुसार नाम से कही जाती है। वह पिण्ड के रूप में गोलाकार हो जाने से स्पर्श के द्वारा जानी जाती है। गुल्माकार होने से वह गुल्म कहलाती है। वायु जब स्वतन्त्र कारण होती है तब वातगुल्म, पित्त के आश्रय से पित्तगुल्म और कफ के आश्रय से कफगुल्म नाम से गुल्म को कहा जाता है ॥ ६-७ ॥

वस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।
पञ्चात्मकस्य प्रभवं तु तस्य वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ॥ ८ ॥

गुल्म के स्थान—वस्ति में या नाभि या हृदय में अथवा पार्श्वों में होने के कारण गुल्म के ये पाँच स्थान होने हैं। उस पञ्चात्मक (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज) गुल्म के कारण, लक्षण और चिकित्सा का उपदेश करूँगा ॥ ८ ॥

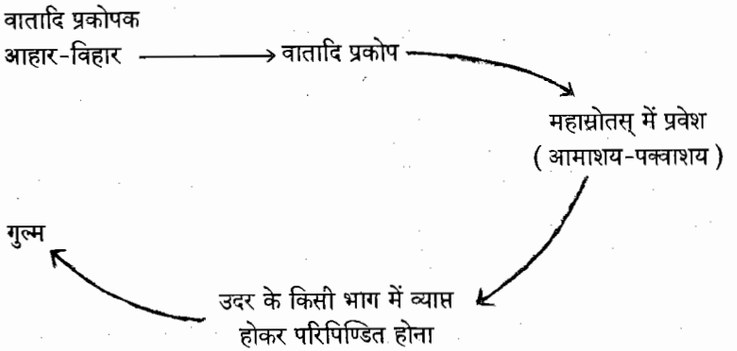

दोष	: प्रमुख रूप से वात
दूष्य	: निराश्रय
अधिष्ठान	: पार्श्व, हृदय, नाभि, वस्ति
स्रोतस्	: महास्रोतस् (आमाशय और पक्वाशय)

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ९ ॥

वातज गुल्मनिदान—रूक्ष अन्नपान का सेवन विषम या अधिक मात्रा में करना, शरीर से विषम चेष्टाएँ करना, मल-मूत्रादि वेगों को रोकना, शोक करना, चोट लगना, मल का अतिशय क्षीण हो जाना और अन्न न खाना—ये वातज गुल्म के कारण होते हैं ॥ ९ ॥

यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम्।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥ १० ॥
करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च।
वातात् स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥ ११ ॥

वातज गुल्म का लक्षण—जो गुल्म स्थान का विकल्प करता है अर्थात् कभी एक स्थान में, कभी दूसरे स्थान में, कभी नाभि में तो कभी वस्ति, हृदय या पार्श्व में चला जाता है; जो अपना रूप बदलता रहता है, कभी छोटा, कभी बड़ा हो जाता है; जो पीड़ा में भी विकल्प करता है अर्थात् कभी अधिक कभी कम पीड़ा करता है, जो मल और अपानवायु के निःसरण में रुकावट पैदा करता है, गले को और मुख को सुखाता है, शरीर में श्याम या अरुण वर्ण उत्पन्न करता है, जो शीत के साथ ज्वर उत्पन्न करता है, जो हृदय, कुक्षि, पार्श्व, अंसप्रदेश और शिर में पीड़ा उत्पन्न करता है, जो भोजन के पच जाने पर अधिक पीड़ादायक हो जाता है और भोजन कर लेने पर पीड़ा शान्त या मृदु हो जाती है एवं कषाय, तिक्त तथा कटु रस वाले द्रव्यों का सेवन जिसे बढ़ा देता है; इन लक्षणों के होने पर वातज गुल्म जानना चाहिए॥ १०-११॥

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा ।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम्॥ १२॥

पित्तज गुल्म के निदान—कटु तथा अम्ल रस वाले द्रव्यों का सेवन; तीक्ष्ण, उष्ण, विदाह उत्पन्न करने वाले एवं रूक्ष अन्नपान का अधिकांशतः प्रयोग करना; क्रोध करना, अधिक मात्रा में मदिरा पीना, अधिक देर तक धूप में बैठना, अधिक समय तक अग्नि के ताप के निकट रहना, आमदोष का उत्पन्न होना, चोट लगना और रक्त का दूषित हो जाना—ये सब पित्तज गुल्म के कारण हैं॥ १२॥

ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम्॥ १३॥

पित्तज गुल्म का लक्षण—ज्वर होना, प्यास का लगना, मुख तथा शरीर में रक्तिमा होना, भोजन के पचते समय उदर में तीव्र शूल का उठना, पसीना अधिक आना, उदर में जलन अधिक होना एवं व्रण के समान स्पर्श न सहन होना—ये सब पित्तज गुल्म के लक्षण हैं॥ १३॥

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च सम्पूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतुः कफसम्भवस्य सर्वस्तु दिष्टो निचयात्मकस्य॥ १४॥

कफज गुल्म के कारण—शीतल पदार्थ, भारी पदार्थ एवं चिकने पदार्थों का अधिक सेवन करना, शरीर से कोई श्रम का कार्य न करना, खूब छककर भोजन करना और दिन में शयन करना—ये सब कफज गुल्म के कारण हैं।

सन्निपातज गुल्म का कारण—वात, पित्त और कफ को दूषित करने वाले जितने भी कारण बतलाये गये हैं, वे सब सन्निपातज गुल्म के कारण हैं॥ १४॥

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य॥ १५॥

कफज गुल्म के लक्षण—शरीर का गीले कपड़े से ढका हुआ-सा लगना, शीत लगकर ज्वर उत्पन्न होना, शरीर में थकावट मालूम होना, वमन होने जैसा प्रतीत होना, खाँसी आना, भोजन में अरुचि होना, देह में भारीपन मालूम होना, ठण्डक लगना, गुल्म में कम वेदना होना, गुल्मस्थान में कठिनता और ऊँचा उठा होना—ये सब कफज गुल्म के लक्षण होते हैं॥ १५॥

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेच्चौषधकल्पनार्थम्॥ १६॥

द्वन्द्वज गुल्म—दो दोषों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले गुल्म में उन दोनों दोषों के प्रकोपक कारण, उनसे होने वाले लक्षण तथा दो दोषों में कौन दोष सबल एवं कौन दोष निर्बल है? यह देखकर तदनुसार औषध की समुचित योजना करने के लिए मिश्रित लक्षणों वाले तीन अन्य गुल्मों को भी जान लेना चाहिए। जैसे—१. वातपित्तज, २. वातकफज और ३. कफपित्तज—ये तीन द्वन्द्वज गुल्म होते हैं॥ १६॥

महारुजं दाहपरीतमश्मवद् घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत्॥ १७॥

असाध्य त्रिदोषज गुल्म के लक्षण—जो गुल्म अतिपीड़ायुक्त, तीव्र जलनवाला, पत्थर की तरह कड़ा, ऊपर को उठा हुआ, शीघ्र विदाह उत्पन्न करने वाला, भयंकर और मन, शरीर एवं जठराग्नि के बल को क्षीण या नष्ट करने वाला हो, उसे त्रिदोषज और असाध्य गुल्म जानना चाहिए॥ १७॥

ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति॥ १८॥

रक्तज गुल्म के कारण—ऋतुकाल में भोजन न करने से, भय खाने से, रूक्ष आहार-विहार के सेवन से, मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से, रक्त को रोकने वाले औषध या आहार-विहार के सेवन से, वमन कराने से और योनि के विकारग्रस्त होने से स्त्रीशरीर में (आर्तवजन्य) रक्तज गुल्म उत्पन्न हो जाता है॥ १८॥

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाड्यैश्चिरात् सशूलः समगर्भलिङ्गः।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः॥ १९॥

रक्तज गुल्म के लक्षण—जो गुल्म पिण्ड के समान होकर गतिमान होता है और जिसमें विलम्ब से स्पन्दन होता है, किन्तु उसमें हाथ-पैर आदि अंगों जैसा स्पन्दन नहीं होता है, जिसमें शूल होता है, जिसमें गर्भ के लक्षणों जैसे लक्षण होते हैं, वह आर्तवजन्य गुल्म स्त्रियों में ही होता है। उसकी चिकित्सा दश महीने बीत जाने पर करनी चाहिए॥ १९॥

वक्तव्य—नवप्रसव, आमगर्भपात तथा आर्तवस्राव इन तीनों स्थितियों में गर्भाशय समान रूप से प्रभावित होता है, अतः इन तीनों अवस्थाओं में अपथ्यसेवन के परिणामस्वरूप गुल्मरोग हो जाता है। ऋतुकाल अथवा उसके समान उक्त दोनों अवस्थाओं में अनशन, भय, रूक्ष पदार्थसेवन, वेगावरोध आदि कारणों से वायु प्रकुपित होकर गर्भाशय की सफाई नहीं होने देता; अपितु रक्त को अवरुद्ध कर पिण्डित कर देता है। यह पिण्डाकार होता है। इसमें हाथ-पैर आदि की तरह अंग नहीं होते। इसमें गर्भ के समान स्फुरण तथा अन्य लक्षण भी होते हैं।

चरकसंहिता के शारीरस्थान में अध्याय ४ में गर्भ के लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—"आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामता च, विशेषेण श्रद्धाप्रणयनञ्चोच्चावचेषु भावेषु, गुरुगात्रत्वम्, चक्षुषोर्ग्लानिः, स्तनयोः स्तन्यम्, ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च काष्र्ण्यम्, श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे पर्यागते लिङ्गानि भवन्ति।"

रक्तज गुल्म का (हस्त-पादादिविहीन) पिण्डित रूप देर-देर से शूल के साथ स्पन्दित होता है। उसका यह लक्षण वास्तविक गर्भ से गुल्म के पार्थक्य का बोध कराता है। वस्तुतः पिण्डित रूप और सशूल स्पन्दन होने से गर्भ की शंका निर्मूल हो जाती है। अतः दशम मास व्यतीत हो जाने के बाद गुल्म की

चिकित्सा करने के निर्देश से यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि चूँकि प्रसव नवम या दशम मास में होता है, अतः गर्भ का सन्देह दूर हो जाने पर ग्यारहवें मास में चिकित्सा करनी चाहिए।

अपितु दशवें मास के बाद रक्तजगुल्म पूर्णतया पिण्डित होकर ग्रहण एवं आहरण के योग्य हो जाता है, अतः उस समय सुगमता से चिकित्सा की जा सकती है। अतएव कहा गया है—"रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्" (तन्त्रान्तरवचन)। मधुकोषकार ने इस सम्बन्ध में जेज्जट का वचन उद्धृत किया है—"जेज्जटेनाप्युक्तं—यद्यर्वाग् रक्तभेदनं क्रियते तदा गर्भशय्यां क्षिणोति, तल्लीनत्वाद् रक्तस्य; एकादशे मासे तु परिपिण्डितगुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भशय्याया विकृतिमादधाति रक्तभेदनमिति"। (मा. नि. गुल्म १५-१६)

गुल्म जब पुरातन, अचिकित्सित या उपेक्षित होता है तब उसका परिवर्तन विद्रधि, ग्रन्थि अथवा अर्बुद के रूप में हो जाता है। फलस्वरूप क्षोभ और शोथ के कारण उदर में जलोदर आदि अन्य विविध रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है। उपेक्षित गुल्म समीपस्थ रक्तमांसादि धातुओं को दूषित कर विद्रधि, ग्रन्थि या अर्बुद के रूप में परिणत हो जाते हैं, तब वे जड़ पकड़ लेते हैं और अन्त्रादि अवयवों की भित्ति और उसके समीपस्थ अवयवों में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। कोष्ठ में गुल्म और विद्रधि दोनों रोग होते हैं, अतः दोनों की सन्दिग्धता के निराकरणार्थ भेदज्ञान आवश्यक है।

सापेक्ष निदान

गुल्म	विद्रधि
१. गुल्म का मूल नहीं होता है।	१. विद्रधि के रस-रक्त आदि मूल होते हैं।
२. दोष ही स्वयं गुल्म का रूप धारण कर अपने आश्रय स्वयं होते हैं।	२. विद्रधि के आश्रय मांस और रक्त हैं।
३. गुल्म का पाक नहीं होता है।	३. विद्रधि का पाक होता है।
दोष : त्रिदोष (मुख्यतः वात)	त्रिदोष (मुख्यतः पित्त)
दूष्य : निराश्रय	त्वचा, रक्त, मांस, मेद (मुख्यतः रक्त और मांस)।
अधिष्ठान : उदर, पार्श्व, हृदय, नाभि, वस्ति।	गुदा, वस्तिमुख, नाभि, कुक्षि, वंक्षण, वृक्क, प्लीहा, यकृत्, हृदय और क्लोम अन्तर्विद्रधि के स्थान हैं।
भेद : वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज।	वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, क्षतज, रक्तज।
मुख्य लक्षण : मल-मूत्र-अधोवायु के निकलने में कठिनाई, अरुचि, आनाह, गुल्म का घटना-बढ़ना।	पीड़ायुक्त शीघ्र पाकवान्, विशाल मूलवान्, स्थिर, स्रावयुक्त।

रक्तज गुल्म एवं गर्भ की समलिङ्गता तथा भेदबोधक सारणी

समलिङ्गता	
रक्तज गुल्म	**गर्भ**
१. आर्तवादर्शन।	१. आर्तवादर्शन।
२. मुखस्रवण।	२. मुखस्रवण।
३. स्तनमुखकृष्णता।	३. स्तनमुखकृष्णता।
४. दोहदोत्पत्ति।	४. दोहदोत्पत्ति।
५. स्फुरण।	५. स्फुरण।
भेद	
१. यह एक पिण्ड के रूप में शूल के साथ स्पन्दन करता है।	१. यह अंगों के साथ स्पन्दन करता है।
२. यह किसी एक स्थान में अनुभूत होता है।	२. यह एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता हुआ प्रतीत होता है।
३. गुल्म मन्दगति से बढ़ता है।	३. यह प्रतिदिन क्रमिक रूप से परिवर्धित होता है।
४. गुल्म के रोगी को अकारण ज्वर और दाह होता है।	४. गर्भिणी को अकारण ज्वर और दाह नहीं होता है।

वातज गुल्म-चिकित्सा

क्रियाक्रममतः सिद्धं गुल्मिनां गुल्मनाशनम्। प्रवक्ष्याम्यत ऊर्ध्वं च योगान् गुल्मनिबर्हणान्॥

गुल्मचिकित्सा का उपक्रम—अब यहाँ से (मैं) गुल्मरोगियों के गुल्म को दूर करने वाले अनुभूत चिकित्साक्रम का उपदेश करूँगा और तत्पश्चात् गुल्मनाशक योगों को बतलाऊँगा॥ २०॥

रूक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम्। बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत्॥ २१॥

वातज गुल्म में स्नेहन—रूक्ष आहार-विहार और कठोर व्यायाम करने से उत्पन्न होने वाले, तीव्र पीडाजनक तथा मल एवं अपानवायु की जिसमें रुकावट हो गयी हो, ऐसे वातज गुल्म की चिकित्सा का प्रारम्भ स्नेहों के प्रयोग द्वारा करना चाहिए॥ २१॥

भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः। स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये॥ २२॥

वातज गुल्म में स्वेदन—स्निग्ध पदार्थों के भोजन, स्नेहों की मालिश, स्नेहों के पान, स्नेहयुक्त निरूहवस्ति और स्नेह की अनुवासन वस्तियों के प्रयोग द्वारा स्नेहन कराने के पश्चात् गुल्म को नष्ट करने के लिए स्वेदन करना चाहिए॥ २२॥

स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्। भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति॥

स्वेदन से लाभ—स्नेहन करने के बाद स्वेदन करने से वह स्वेदनक्रिया स्रोतों को कोमल बनाकर, बढ़ी हुई प्रकुपित वायु को नष्ट कर, कोष्ठ में पित्त या कफ के द्वारा रुके हुए वायु के मार्ग का भेदन कर गुल्म को नष्ट कर देती है॥ २३॥

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे। पक्वाशयगते वस्तिरुभयं जठराश्रये॥ २४॥

गुल्म में स्नेहपान और वस्ति—यों तो गुल्म कैसा भी हो उसमें स्नेहपान करना लाभदायक होता है, किन्तु जब गुल्म नाभि के ऊपर के भाग में उत्पन्न हो तो स्नेहपान विशेष रूप से हितकर होता है। पक्वाशय में गुल्म होने पर वस्ति का प्रयोग करना उत्तम है और जब गुल्म पूरे उदरप्रदेश में अपना स्थान बना लिया हो, तो स्नेहपान और वस्तिप्रधान इन दोनों का प्रयोग करना चाहिए॥ २४॥

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः। बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत्॥

वातज गुल्म में बृंहण का प्रयोग—वातज गुल्म में जब जठराग्नि तीव्र हो और अपानवायु तथा मल का विबन्ध हो तो शरीर का बृंहण करने वाले चिकने और गरम-गरम अन्नपान का सेवन कराना चाहिए॥ २५॥

पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः। प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा॥ २६॥

वातज गुल्म में चिकित्सा की आवृत्ति—वातज गुल्म में कफ और पित्त का प्रकोप या इनके द्वारा अवरोध न होने पाये, इस बात की सावधानी रखनी चाहिए और बार-बार स्नेहपान कराना, बार-बार निरूह एवं अनुवासन वस्ति का प्रयोग करते रहना चाहिए॥ २६॥

कफो वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा। यदि कुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते॥ २७॥
यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्। आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता॥ २८॥

वायुनियन्त्रणपूर्वक उल्बण दोष की चिकित्सा—स्नेहन-स्वेदन आदि के द्वारा वायुदोष के प्रायः शमन हो जाने पर भी यदि चिकित्सा कर्म करते समय कफ, पित्त या स्त्रीशरीर में रक्त का प्रकोप बढ़ जाये, तो ऐसी स्थिति में जो भी दोष बढ़ जाये तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। किन्तु इस बात की सावधानी वर्तनी चाहिए कि चिकित्सा के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में वायु का प्रकोप न होने पाये (क्योंकि गुल्म का मूल कारण वायु ही होता है)॥ २७-२८॥

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि। हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम्॥ २९॥

वातज गुल्म में वमन—वातज गुल्म में यदि कफ बढ़कर अग्नि को नष्ट कर अरुचि, जी मिचलाना, शरीर में भारीपन और तन्द्रा उत्पन्न करे तो कफ को वमन कराकर निकाल देना चाहिए॥ २९॥

शूलानाहविबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे। वर्तयो गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम्॥ ३०॥

वातज गुल्म में वर्ति आदि का प्रयोग—वात और कफ के प्रकोप से होने वाले गुल्म में जब उदर में शूल, आनाहरोग या विबन्ध (मल का अवरोध) हो तो कफ एवं वात को नष्ट करने वाली वर्तियों (फलवर्ती आदि), गुटिकाओं (कांकायन गुटी आदि) और चूर्णों का प्रयोग करना चाहिए॥ ३०॥

पित्तं वा यदि संवृद्धं सन्तापं वातगुल्मिनः। कुर्याद्विरेच्यः स भवेत् सस्नेहैरानुलोमिकैः॥ ३१॥

वातज गुल्म में विरेचन—यदि वातज गुल्म के रोगी का पित्त बढ़कर सन्ताप (ज्वर या उष्णता) उत्पन्न करे, तो उसका स्नेहयुक्त अनुलोमन द्रव्यों के प्रयोग से विरेचन कराना चाहिए॥ ३१॥

गुल्मो यद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते। न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति॥ ३२॥

गुल्म में रक्तमोक्षण—जो गुल्म वात, पित्त एवं कफ की अच्छी प्रकार से चिकित्सा करने पर भी शान्त नहीं होता, वह रक्तमोक्षण करने से शान्त हो जाता है॥ ३२॥

पित्तज गुल्म की चिकित्सा

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम्। रूक्षोष्णेन तु सम्भूते सर्पिः प्रशमनं परम्॥ ३३॥

पैत्तिक गुल्म में स्रंसन[1] और घृतपान—स्निग्ध और उष्ण पदार्थों के सेवन करने से उत्पन्न हुए पित्तज गुल्म में स्रंसन (मृदु-विरेचन) औषध का प्रयोग करना हितकर होता है। यदि पित्तज गुल्म रूक्ष और उष्ण पदार्थों के सेवन से उत्पन्न हुआ हो, तो उसको शान्त करने के लिए घृत का प्रयोग सर्वोत्तम होता है॥ ३३॥

पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम्। कालविन्निर्हरेत्सद्यः सतिक्तैः क्षीरवस्तिभिः॥

पित्तज गुल्म में क्षीरवस्ति—चिकित्साविधियों के प्रयोग के अवसरों को जानने वाला चिकित्सक पित्त अथवा पित्तज गुल्म को पक्वाशय में स्थित जानकर शीघ्र ही तिक्त द्रव्यों के कल्क से मिश्रित दूध की वस्तियाँ देकर उसका निर्हरण करे॥ ३४॥

पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत्। भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा॥ ३५॥

गुल्म में विरेचन—पित्तज गुल्म के पक्वाशयगत होने पर (क्षीरवस्ति न देकर) तिक्त द्रव्य युक्त किञ्चित् गरम दूध अथवा (उदररोग में वर्णित) तिल्वक घृत पिलाकर विरेचन कराये, किन्तु रोगी के अग्निबल के अनुसार ही विरेचनार्थ औषध या दुग्ध की मात्रा रखनी चाहिए॥ ३५॥

तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्॥ ३६॥

पित्तज गुल्म में रक्तावसेचन—यदि पित्तज गुल्म के रोगी को प्यास, ज्वर, जलन, वेदना, पसीना आना, अग्निमान्द्य और अरुचि हो तो रक्तस्रावण ही करना चाहिए॥ ३६॥

छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम्।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चास्ति रुक्॥ ३७॥

रक्तमोक्षण करने में युक्ति—(रक्त में विदाह होने के ही कारण पित्तज गुल्म के रोगी को दाह, तृष्णा, पाक आदि होता है) जब गुल्मरोगी के रक्त का स्रावण कर दिया जाता है तब मूल कारण ही कट जाता है। अतः गुल्म में विदाह या पाक नहीं होता और गुल्म नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि गुल्म में रक्ताम्लता सम्पन्न हो जाती है, जिससे जलन होने लगती है। जब वह दुष्य रक्त ही नहीं रहता तब जलन या अन्य कोई पीड़ा भी नहीं होती है॥ ३७॥

हृतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः। समाश्वस्तं सशेषार्तिं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः॥ ३८॥

रक्तस्रावण का पश्चात्कर्म—रक्तमोक्षण करने से दोष जब निकल जाते हैं तो रोगी क्षीण और श्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन कराकर पुष्ट करना चाहिए। जब उसमें साहस हो जाये फिर भी कुछ पीड़ा बनी रहे, तो उसे बार-बार घृतसेवन का अभ्यास कराना चाहिए॥ ३८॥

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च। यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम्॥ ३९॥

गुल्म में शस्त्रकर्म—जब गुल्म के रोगी को उचित चिकित्सा न प्राप्त हुई हो और रक्त तथा पित्त अधिक मात्रा में बढ़ गये हों एवं गुल्म विदाह वाला (पाकोन्मुख) हो जाये, तो ऐसी स्थिति में उसका उपचार शस्त्रकर्म से ही करना चाहिए॥ ३९॥

गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमांसान्तराश्रयः। अविवर्णः स्थिरश्चैव ह्यपक्वो गुल्म उच्यते॥ ४०॥

---

१. 'पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्। नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात् कृतमालकः'॥
(शार्ङ्गधर. पू. ख. अ. ४)

अपक्व गुल्म के लक्षण—जो गुल्म कठोर आकृति का हो, जो भीतर गम्भीर मांस में आश्रय ले लिया हो, जिसमें त्वचा में विवर्णता न हो और जो स्थिर हो, उसे अपक्व गुल्म कहा जाता है॥ ४०॥

दाहशूलार्तिसङ्क्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः। विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत्॥ ४१॥

पच्यमान गुल्म के लक्षण—जिस गुल्म के होने पर दाह, वेदना, बेचैनी और क्षोभ हो, नींद न आये, व्यग्रता और ज्वर हो तो उसे पच्यमानावस्था का जानना चाहिए तथा उस पर उपनाह स्वेद (पुल्टिश बाँधना) करना चाहिए॥ ४१॥

विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्तुङ्गे समुन्नते। श्यावे सरक्तपर्यन्ते संस्पर्शे वस्तिसन्निभे॥ ४२॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात्। तत्रैव पिण्डिते शूले सम्पक्वं गुल्ममादिशेत्॥ ४३॥

पक्व गुल्म के लक्षण—जब गुल्म में जलन के लक्षण उत्पन्न हो जायें, बाहर की त्वचा में उभार दीख पड़े, उठे हुए भाग के चारों ओर की किनारी रक्तवर्ण की हो और मध्य में श्याम वर्ण हो; स्पर्श करने पर जल से पूर्ण वस्ति-मशक (ब्लैडर) जैसा प्रतीत हो, दबाने पर फिर उठ जाये, रोगी के करवट लेटने पर उस पार्श्व के दब जाने से गुल्मस्थान में स्तब्धता या निश्चलता मालूम हो और गुल्म पिण्डाकार और शूलयुक्त हो तो उसे पक्व गुल्म समझना चाहिए॥ ४२-४३॥

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ। वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे॥ ४४॥

पक्व गुल्म-चिकित्सा—गुल्म के पक जाने पर उसकी चिकित्सा करने का अधिकार धन्वन्तरि-सम्प्रदाय के उन शल्यविद् चिकित्सकों को है, जो व्यधन (चीरने), शोधन (पूय एवं दूषित रक्तादि को निकाल कर प्रक्षालन करने) और रोपण की क्रिया में विशेषज्ञ हों और जो क्रियाकुशल हों॥ ४४॥

अन्तर्भागस्य चाप्येतत् पच्यमानस्य लक्षणम्। हृत्कोडशूनताऽन्तःस्थे बहिःस्थे पार्श्वनिर्गतिः॥

अन्तर्भाग के पच्यमान गुल्म का लक्षण—जो गुल्म भीतर-ही-भीतर पक रहा होता है उसमें यह लक्षण होता है कि हृदय, पार्श्व या उदर प्रदेश में शोथ दिखाई देता है एवं कुछ उभार-सा दीखता है और जब गुल्म बाहर की ओर पकता है तब वह बाहर की ओर एक पार्श्व में उभड़ कर निकल आता है॥ ४५॥

पक्वः स्रोतांसि सङ्क्लेद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा। स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनैः॥ ४६॥
दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन् भिषगुपद्रवान्।

आभ्यन्तर पक्व गुल्म का लक्षण—जब आभ्यन्तर प्रदेश में गुल्म पक जाता है, तब वह भीतरी स्रोतों में क्लेद उत्पन्न कर मुखमार्ग से वमन द्वारा या गुदामार्ग से निकलने लगता है। यदि वह पूय स्वयं निकलने लगे तो पूय को निकलने दे, उसे न रोके। रोगी के लिए हितकर आहार की योजना कर उपद्रवों से रक्षा करते हुए दस-बारह दिन तक पथ्य पर ले चले॥ ४६॥

अत ऊर्ध्वं हितं पानं सर्पिषः सविशोधनम्॥ ४७॥
शुद्धस्य तिक्तं सक्षौद्रं प्रयोगे सर्पिरिष्यते।
(अन्तर्विद्रधिवच्चास्य कार्ये शोधनरोपणे।)

अन्तःपक्व गुल्म की विद्रधिवत् चिकित्सा—दश-बारह दिन तक स्वयं प्रवृत्त हुए पूय के निकल जाने के पश्चात् विशोधन द्रव्यसाधित घृत का पान कराना चाहिए। जब भीतरी गुल्म का पूय निकल कर शुद्ध हो जाय तब तिक्त औषधों को डालकर पकाया हुआ घृत मधु के साथ प्रयोग कराना चाहिए। (आभ्यन्तर भाग में उत्पन्न पक्व गुल्म का भीतर में हुई अन्तर्विद्रधि के समान शोधन तथा रोपण उपचार करना चाहिए)॥ ४७॥

कफज गुल्म-चिकित्सा

शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके॥ ४८॥
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः।

कफज गुल्म में लंघन—जब शीतल, भारी और स्निग्ध पदार्थों के आहार से कफज गुल्म उत्पन्न हुआ हो तथा रोगी की जठराग्नि मन्द हो एवं वह वमन कराने योग्य न हो, तो उसे प्रारम्भ में लंघन कराना चाहिए॥ ४८॥

मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता॥ ४९॥
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः।

कफज गुल्म में वमन—जब कफज गुल्म के रोगी की अग्नि मन्द हो, पीड़ा भी मन्द हो, उसका कोष्ठ भारी और निश्चल हो और उसे मिचली के साथ भोजन में अरुचि हो तो वह रोगी वमन कराने के योग्य होता है॥ ४९॥

उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलङ्घने॥ ५०॥
योज्यश्चाहारसंसर्गो भेषजैः कटुतिक्तकैः।

वमन एवं लंघन के बाद का उपचार—जिस गुल्म के रोगी को वमन या लंघन का प्रयोग कराया गया हो, उसका उष्ण आहार-विहार से ही उपचार करना चाहिए और कटु तथा तिक्त द्रव्यसिद्ध जल में पकाया हुआ आहार देना चाहिए॥ ५०॥

सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम्॥ ५१॥
दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नं च विलयेद्भिषक्।

कफज गुल्म का विलयन—जब कफज गुल्म में आनाह और विबन्ध हो, गुल्म कठोर और उठा हुआ प्रतीत हो, तो यह देखकर पहले युक्तिपूर्वक उसका स्वेदन करना चाहिए तथा स्वेदन करने के पश्चात् हाथों से मसल कर उसका विलयन करना चाहिए॥ ५१॥

लङ्घनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ सम्प्रधुक्षिते॥ ५२॥
कफगुल्मी पिबेत्काले सक्षारकटुकं घृतम्।

कफज गुल्म में क्षार एवं घृत प्रयोग—कफज गुल्म के रोगी का लंघन, वमन और स्वेदन करा देने के बाद जब उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो जाय तब उसे क्षार तथा कटुरस द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए॥ ५२॥

स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः॥ ५३॥
सस्नेहैर्वस्तिभिर्वापि शोधयेद्दाशमूलिकैः।

कफज गुल्म में विरेचन या वस्ति से शोधन—जब पूर्वोक्त चिकित्सा-प्रयोगों से कफज गुल्म को अपने स्थान से विचलित हुआ जाने तब विरेचन योगों द्वारा अथवा दशमूल क्वाथ में (एरण्ड) स्नेह मिलाकर वस्तिप्रयोगों से शोधन करना चाहिए॥ ५३॥

मन्देऽग्नावनिले मूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम्॥ ५४॥
गुटिकाचूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम्।

कफज गुल्म में गुटिका आदि का प्रयोग—जब अग्नि मन्द हो और वायु स्तब्ध हो तथा कोष्ठ स्निग्ध हो, तो कफज गुल्म के रोगी के लिए गुटिका, चूर्ण और क्वाथों का प्रयोग करना चाहिए॥ ५४॥

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम्॥ ५५॥
जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः।

कफज गुल्म में क्षारप्रयोग एवं अग्निकर्म—जब कफज गुल्म अपनी जड़ जमा लिया हो, बहुत-सा स्थान घेर रखा हो, कठोर, निश्चल और भारी हो गया हो तो क्षार एवं अरिष्ट प्रयोग तथा अग्निकर्म (दाह) द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ५५॥

दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोगं बुद्ध्वा कफोल्बणे॥ ५६॥
बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत्।

कफज गुल्म में क्षारप्रयोग में सावधानी—रोगी और रोग के बल तथा उनके दोष के प्रमाण का ज्ञाता वैद्य को दोष (कफ), प्रकृति (कफप्रकृति), कफज गुल्म की निश्चलता और ऋतु (हेमन्त या शिशिर) के समुचित समन्वय को जानकर तब कफज गुल्म में क्षार का प्रयोग करना चाहिए॥ ५६॥

एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः॥ ५७॥
शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः। श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः॥ ५८॥
छित्त्वा छित्त्वाऽऽशयात् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः।

कफज गुल्म में क्षार की कार्मुकता—शरीर, उसके बल तथा दोष को बढ़ाने और घटाने की क्रिया को जाननेवाला चिकित्सक एक दिन, दो दिन या तीन दिन बीच में विश्राम कर बार-बार क्षार का प्रयोग करे। क्योंकि क्षार का प्रयोग मांस, दूध तथा घी का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के मधुर एवं स्निग्ध कफ को अपने क्षरण (काटने) के स्वभाव के कारण काट-काट कर आशय से निकाल देता है॥ ५७-५८॥

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम्॥ ५९॥
प्रयोज्या मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम्।

कफज गुल्म में अरिष्ट का प्रयोग—कफज गुल्म के जो रोगी घी-तेल आदि में बने स्निग्ध पदार्थों को खाते हैं, उनकी अग्नि जब मन्द हो, भोजन में अरुचि हो और उन्हें मद्यपान अनुकूल पड़ता हो तो ऊर्ध्व तथा अधः मार्गों के शोधनार्थ अरिष्ट का प्रयोग कराना चाहिए॥ ५९॥

लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः॥ ६०॥
वस्तिभिर्गुटिकाचूर्णक्षाररिष्टगणैरपि। श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति॥ ६१॥
तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः।

कफज गुल्म में दाहकर्म—जब कफज गुल्म लंघन, वमन, स्वेदन, घृतपान, विरेचन, वस्तिप्रयोग तथा अनेक प्रकार की वटिका एवं चूर्ण, क्षार तथा अरिष्टों का प्रयोग करने पर भी जड़ पकड़ कर दृढ़मूल हो जाने के कारण नहीं अच्छा होता है, तब उसे बाण या लोहे के फाल आदि को अग्नि में तपाकर दाहकर्म करना चाहिए॥ ६०-६१॥

औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ॥ ६२॥
तयोः शमाच्च सङ्गतो गुल्मस्य विनिवर्तते।

अग्निकर्म से गुल्मशमन में युक्ति—चूँकि उष्ण और तीक्ष्ण गुणसम्पन्न होने से अग्नि गुल्म में कफ तथा वायु का शमन करता है, अतः कफ एवं वायु के शमन से गुल्म का संगठन नष्ट हो जाता है॥ ६२॥

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम्॥ ६३॥
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम्।

अग्निकर्म एवं क्षारप्रयोग में शल्यविद् का अधिकार—गुल्मरोग में दाहकर्म करने में धन्वन्तरि सम्प्रदाय वाले शल्यचिकित्सकों का विशेष अधिकार है एवं क्षार के प्रयोग में क्षारतन्त्र को जानने वाले वैद्यों का प्राधान्य है। अतः अग्निकर्म तथा क्षारकर्म के लिए शल्यशास्त्रियों को ही प्रमुखता देनी चाहिए॥ ६३॥

व्यामिश्रदोषे व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः॥ ६४॥

त्रिदोष गुल्म-चिकित्सासूत्र—जब गुल्मरोग तीनों दोषों के एक साथ प्रकुपित होने से उत्पन्न हुआ हो, तो तीनों दोषों की जो पृथक्-पृथक् चिकित्सा बतलायी गयी है, उन्हें मिलाकर करनी चाहिए॥ ६४॥

औषध योग

सिद्धानतः प्रवक्ष्यामि योगान् गुल्मनिबर्हणान्।

अब यहाँ से (मैं) गुल्मरोग को दूर करने वाले अनुभवसिद्ध योगों का वर्णन करूँगा।

त्र्यूषणत्रिफलाधान्यविडङ्गचव्यचित्रकैः॥ ६५॥
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धं सक्षीरं वातगुल्मनुत्।
इति त्र्यूषणादिघृतम्।

त्र्यूषणादि घृत—सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, धनिया, वायविडंग, चाभ और चित्रक—इनके (चतुर्थांश) कल्क और (चतुर्गुण) दूध से पकाया हुआ घी वातज गुल्म को नष्ट करता है॥ ६५॥

एत एव च कल्काः स्युः कषायः पञ्चमूलिकः॥ ६६॥
द्विपञ्चमूलिको वाऽपि तद्घृतं गुल्मनुत्परम्।
इति त्र्यूषणादिघृतमपरम्।

द्वितीय त्र्यूषणादि घृत—ऊपर के योग में पठित औषधों के कल्क और महापञ्चमूल के क्वाथ से अथवा दोनों पञ्चमूलों का क्वाथ डालकर घृत पकाये। यह घृत उत्तम कोटि का गुल्मनाशक है॥ ६७॥

(षट्पलं वा पिबेत्सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि॥ ६७॥)

प्रसन्नया वा क्षीरार्धं सुरया दाडिमेन वा। दध्नः सरेण वा कार्यं घृतं मारुतगुल्मनुत्॥ ६८॥

षट्पल या तृतीय त्र्यूषणादि घृत—(अथवा राजयक्ष्माऽधिकार में पठित षट्पल घृत का पान कराना चाहिए) या उक्त त्र्यूषणादि घृत को पकाने के लिए दूध की जगह उतनी ही मात्रा में प्रसन्ना (सुरामण्ड) डालकर या मद्य डालकर अथवा अनार का रस डालकर या दही का पानी डालकर घृत को पकाना चाहिए। यह घृत वातज गुल्मनाशक होता है॥ ६७-६८॥

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीविडदाडिमदीप्यकैः। पुष्करव्योषधान्याकवेतसक्षारचित्रकैः॥ ६९॥
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम्। शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम्॥ ७०॥
इति हिङ्गुसौवर्चलाद्यं घृतम्।

हिङ्गुसौवर्चलाद्य घृत—हींग, सोंचरनमक, जीरा, विडनमक, अनारदाना, अजवायन, पोहकरमूल, सोंठ, मरिच, पीपर, धनिया, अम्लबेत, यवक्षार, चित्रकमूल, कचूर, मीठा वच, अजमोद, छोटी इलायची और तुलसी की पत्ती—इन समस्त द्रव्यों के (चतुर्थांश) कल्क और (घृत से चतुर्गुण) क्वाथ से तथा दही का पानी डालकर सिद्ध किया हुआ घृत वातज गुल्म के रोगियों के शूल और आनाह को दूर करता है॥ ६९-७०॥

हपुषाव्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः। साजाजीपिप्पलीमूलदीप्यकैर्विपचेद् घृतम्॥ ७१॥
सकोलमूलकरसं सक्षीरदधिदाडिमम्। तत् परं वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम्॥ ७२॥
योन्यर्शोग्रहणीदोषश्वासकासारुचिज्वरान्। बस्तिहृत्पार्श्वशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति॥ ७३॥
इति हपुषाद्यं घृतम्।

हपुषाद्य घृत—हाऊबेर, सोंठ, पीपर, मरिच, मँगरैला, चाभ, चित्रक, सेंधानमक, जीरा, पिपरामूल और अजवायन—इनके (चतुर्थांश) कल्क तथा बेर-स्वरस, मूलीस्वरस, गोदुग्ध, दही और अनार का स्वरस—इन्हें घृत के बराबर मात्रा में डालकर घृतपाक करे। यह घृत उत्तम कोटि का वातज गुल्मनाशक तथा शूल और आनाह को दूर करने वाला होता है। यह घृत योनिरोग, अर्श, ग्रहणीरोग, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, वस्तिशूल, हृदयशूल और पार्श्वशूल को नष्ट करता है॥ ७१-७३॥

पिप्पल्याः पिचुरध्यर्धो दाडिमाद् द्विपलं पलम्। धान्यात्पञ्च घृताच्छुण्ठ्याः कर्षः क्षीरं चतुर्गुणम्॥
सिद्धमेतद् घृतं सद्यो वातगुल्मं व्यपोहति। योनिशूलं शिरःशूलमर्शांसि विषमज्वरम्॥ ७५॥
इति पिप्पल्याद्यं घृतम्।

पिप्पल्यादि घृत—पीपर ½ पिचु (कर्ष = १८ ग्राम), अनारदाना २ पल (९६ ग्राम), धनिया १ पल (४८ ग्राम), गोघृत ५ पल (२४० ग्राम), सोंठ १ कर्ष (१२ ग्राम) और गोदुग्ध चौगुना (९६० ग्राम) लेकर दुग्ध को छोड़कर शेष द्रव्यों का कल्क बनाकर एकत्र कर घृतपाक करे। इस प्रकार से सिद्ध यह घृत वातज गुल्म को शीघ्र नष्ट करता है और योनिशूल, शिरःशूल, अर्श और विषमज्वर को दूर करता है॥ ७४-७५॥

घृतानामौषधगणा य एते परिकीर्तिताः। ते चूर्णयोगा वर्त्यस्ताः कषायास्ते च गुल्मिनाम्॥ ७६॥

पूर्वोक्त कल्कद्रव्यों से चूर्ण आदि का निर्माण—घृतों का निर्माण करने के लिए जिन औषध-समूहों का कथन किया गया है, उन्हीं औषधों का चूर्ण, वर्ती या क्वाथ बनाकर गुल्म से पीड़ित रोगियों को देना चाहिए॥ ७६॥

कोलदाडिमधर्माम्बुसुरामण्डाम्लकाञ्जिकैः। शूलानाहहरा पेया बीजपूररसेन वा॥ ७७॥

गुल्मरोग में अनुपान—पूर्वोक्त औषध गणों से बनाये गये चूर्ण आदि को बेर के स्वरस, अनार के स्वरस, गरम जल, सुरामण्ड, अम्लकाञ्जी अथवा बिजौरानीबू के रस से प्रयोग करने से शूल और आनाह विकार दूर होते हैं॥ ७७॥

चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितानि रसेन वा। कुर्याद्वर्तीः सगुटिका गुल्मानाहार्तिशान्तये॥ ७८॥

गुल्म में मातुलुङ्ग-रस का प्रयोग—पूर्वोक्त औषधों के चूर्ण को बिजौरानीबू के रस की भावना देकर वर्ती या गुटिका बनाकर गुल्म तथा आनाह विकार के शमन के लिए प्रयोग करना चाहिए॥ ७८॥

हिङ्गु त्रिकटुकं पाठां हपुषामभयां शटीम्। अजमोदाजगन्धे च तिन्तिडीकाम्लवेतसौ॥ ७९॥
दाडिमं पुष्करं धान्यमजाजीं चित्रकं वचाम्। द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत्॥ ८०॥
चूर्णमेतत् प्रयोक्तव्यमन्नपानेष्वनत्ययम्। प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा॥ ८१॥
पार्श्वहृद्वस्तिशूलेषु गुल्मे वातकफात्मके। आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च शूले च गुदयोनिजे॥ ८२॥
ग्रहण्यर्शोविकारेषु प्लीह्नि पाण्ड्वामयेऽरुचौ। उरोविबन्धे हिक्कायां कासे श्वासे गलग्रहे॥ ८३॥
भावितं मातुलुङ्गस्य चूर्णमेतद् रसेन वा। बहुशो गुटिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम्॥
इति हिङ्ग्वादिचूर्णं गुटिका च।

हिङ्ग्वादि चूर्ण या गुटिका—हींग (भुनी), सोंठ, मरिच, पीपर, पाठा, हाऊबेर, हर्रे, कचूर, अजमोदा, अजगन्धा, इमली, अम्लवेत, अनारदाना, पोहकरमूल, धनिया, जीरा, चित्रकमूल, मीठा वच, जवाखार, सज्जीखार, सेंधानमक, सोंचरनमक और चाभ—इन सबको समान मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर रख लें। इस चूर्ण को आहार या पेय पदार्थ के साथ बिना किसी बाधा के प्रयोग करना चाहिए।

भोजन के पहले मद्य अथवा गरम जल से सेवन करना चाहिए। इस चूर्ण का प्रयोग पार्श्वशूल, हृदयशूल, वस्तिशूल, वातकफज गुल्म, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुदशूल, योनिशूल, ग्रहणीरोग, अर्शरोग, प्लीहवृद्धि, पाण्डुरोग, अरुचि, वक्षःस्थल की स्तब्धता, हिचकी, कास, श्वास और गलग्रह में करना चाहिए। इस चूर्ण में बिजौरानीबू का रस डालकर गुटिकाएँ बना लें तो यह और भी अधिक लाभकारी हो जाती हैं। एक ही योग चूर्ण या गुटिका के रूप में बनाया जाता है॥ ७९-८४॥

मातुलुङ्गरसो हिङ्गु दाडिमं विडसैन्धवे। सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम्॥ ८५॥

वातज गुल्म की पीड़ा में योग—बिजौरानीबू का रस, हींग, अनारदाना, विडलवण और सेंधानमक इन सबको मिश्रित कर सुरामण्ड के साथ पीने से वातज गुल्म की वेदना शान्त हो जाती है॥ ८५॥

शटीपुष्करहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारचित्रकान्। धान्यकं च यवानीं च विडङ्गं सैन्धवं वचाम्॥ ८६॥
सचव्यपिप्पलीमूलामजगन्धां सदाडिमाम्। अजाजीं चाजमोदां च चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत्॥ ८७॥
रसेन मातुलुङ्गस्य मधुशुक्तेन वा पुनः। भावितं गुटिकां कृत्वा सुपिष्टां कोलसम्मिताम्॥ ८८॥
गुल्मं प्लीहानमानाहं श्वासं कासमरोचकम्। हिक्कां हृद्रोगमर्शांसि विविधां शिरसो रुजम्॥
पाण्ड्वामयं कफोत्क्लेशं सर्वजां च प्रवाहिकाम्। पार्श्वहृद्वस्तिशूलं च गुटिकैषा व्यपोहति॥ ९०॥

शटयादि चूर्ण—कचूर, पोहकरमूल, हींग (भुनी), अम्लबेत, जवाखार, चित्रकमूल, धनिया, जवायन, वायविडंग, सेंधानमक, मीठा वच, चाभ, पिपरामूल, अजगन्धा, अनारदाना, जीरा, अजमोदा—इन सबको समान भाग में लेकर चूर्ण बना लें और बिजौरानीबू के रस की भावना देकर अथवा मधुशुक्त की भावना देकर अच्छी तरह घोट-पीसकर बेर के बराबर गोली बना ले। यह वटी गुल्मरोग, प्लीहावृद्धि, आनाह, श्वास, कास, अरुचि, हिचकी, हृदयरोग, अर्श, अनेक प्रकार के शिरोरोग, पाण्डुरोग, कफ आते रहना, सभी तरह की प्रवाहिका, पार्श्वशूल, हृदयशूल और वस्तिशूल को नष्ट करती है॥ ८६-९०॥

वक्तव्य—इस योग का चूर्ण और वटी दोनों रूपों में प्रयोग किया जा सकता है। इस चूर्ण में बिजौरानीबू के रस और मधुशुक्त की भावना तीन-तीन देनी चाहिए। मधुशुक्त एक पारिभाषिक शब्द है। जम्बीरी नीबू के रस में पीपरामूल का चूर्ण डालकर किसी मधु रखने के पात्र में रख कर धान्यराशि में तीन दिन तक रखने से मधुशुक्त तैयार हो जाता है।

नागरार्धपलं पिष्ट्वा द्वे पले लुञ्चितस्य च। तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरेणोष्णेन ना पिबेत्॥ ९१॥
वातगुल्ममुदावर्तं योनिशूलं च नाशयेत्।

नागरादि योग—सोंठ आधा पल, भूसी निकाला हुआ काला तिल २ पल और गुड़ १ पल—इन सबको एक में पीस-कूट कर लड्डू बना लें। (रोगी की प्रकृति और बल के अनुसार प्रातः-सायं २०-३० ग्राम की मात्रा में) गरम दूध के साथ सेवन करना चाहिए। यह वातजगुल्मरोग, उदावर्त और योनिशूल को नष्ट करता है॥ ९१॥

पिबेदरण्डजं तैलं वारुणीमण्डमिश्रितम्॥ ९२॥
तदेव तैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः। श्लेष्मण्यनुबले पूर्वं हितं पित्तानुगे परम्॥ ९३॥

एरण्डतैल योग—यदि वातज गुल्म में कफ का अनुबन्ध हो तो वारुणी (सुरा) के मण्ड के साथ एरण्डतैल का (उचित मात्रा में) प्रयोग करे और वातजगुल्म में पित्त का अनुबन्ध हो तो दूध के साथ एरण्डतैल का प्रयोग करना चाहिए॥ ९२-९३॥

साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम्। क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च ना पिबेत्॥ ९४॥
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम्। हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः॥ ९५॥
इति लशुनक्षीरम्।

लशुनक्षीर—सूखे हुए, साफ किये गये, बिना छिलके के लहसुन ४ पल लेकर आठ गुना क्षीरोदक (जिसमें १६ पल दूध और १६ पल पानी मिलाया गया हो) में पकाये और जब केवल दूध बचा रहे तो उसका पान करे। यह दूध वातज गुल्म, उदावर्त, गृध्रसी, विषमज्वर, हृदयरोग, विद्रधि और शोथ को शीघ्र ही दूर करता है॥ ९४-९५॥

वक्तव्य—लहसुन का दूध अमित्र है और इन दोनों का एक साथ प्रयोग विरुद्ध है, किन्तु यहाँ अपने प्रभाव से यह गुल्म आदि रोगों को दूर करता है। यहाँ लहसुन की मात्रा ४ पल कही गयी है, जो बहुत अधिक है। वर्तमान काल में ½ पल की एक मात्रा प्रयोग में लानी चाहिए।

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजम्। गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत्॥ ९६॥
इति तैलपञ्चकम्।

तैलपञ्चक—१. एरण्डतैल, २. प्रसन्ना (सुरा का ऊपरी भाग—मण्ड), ३. गोमूत्र, ४. काञ्जी और ५. जवाखार—इन पाँचों को एक में मिलाकर पान करने से यह योग गुल्म, उदररोग और आनाह को नष्ट करता है॥ ९६॥

पञ्चमूलीकषायेण सक्षारेण शिलाजतु। पिबेत्तस्य प्रयोगेण वातगुल्मात् प्रमुच्यते॥ ९७॥
इति शिलाजतुप्रयोगः।

गुल्म में शिलाजतु का प्रयोग—लघुपञ्चमूल के क्वाथ में जवाखार और शिलाजीत उचित मात्रा में मिलाकर पीने से वातगुल्म का रोगी रोगमुक्त हो जाता है॥ ९७॥

वाटच्यं यूषेण पिप्पल्या मूलकानां रसेन वा। भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद्वातगुल्माद्विमुच्यते॥ ९८॥

गुल्म में वाट्य-प्रयोग—घृत आदि स्नेह में बनाया हुआ वाट्य (जौ के आटे का हलवा) पीपर डालकर पकाये गये मूँग के यूष के साथ अथवा मूली के रस के साथ खाने से रोगी उदावर्त और वातज गुल्म से विमुक्त हो जाता है॥ ९८॥

शूलानाहविबन्धार्तं स्वेदयेद् वातगुल्मिनम्। स्वेदैः स्वेदविधावुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः॥ ९९॥

वातज गुल्म में स्वेदन—जब वातज गुल्म का रोगी शूल, आनाह और विबन्ध से पीड़ित हो तो स्वेदविधि में कहे गये नाड़ीस्वेद, प्रस्तरस्वेद या सङ्करस्वेद विधि से यथायोग्य स्वेदन करना चाहिए॥ ९९॥

बस्तिकर्म परं विद्याद् गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम्। स्वेस्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति॥

गुल्म में वस्तिकर्म सर्वोत्तम उपचार—(गुल्म वायुदोष-प्रधान रोग है, वायुदोष की उत्तम चिकित्सा वस्ति है, इसलिए) वस्तिकर्म को गुल्म को नष्ट करने वाला सर्वोत्कृष्ट उपचार जानना चाहिए, क्योंकि वस्तिकर्म अपने स्थान (पक्वाशय) में स्थित वायु को जीतकर गुल्म को नष्ट कर देता है॥ १००॥

तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैः सानुवासनैः। प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः॥
गुल्मघ्ना विविधा दिष्टाः सिद्धाः सिद्धिषु बस्तयः।

गुल्म में पुनः-पुनः वस्तिप्रयोग—बार-बार लगातार प्रयोग किये गये निरूह और अनुवासन वस्ति के प्रयोगों से वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न गुल्म शान्त हो जाते हैं। आगे सिद्धिस्थान में अनेक प्रकार की अनुभूत वस्तियों का वर्णन किया गया है॥ १०१॥

गुल्मघ्नानि च तैलानि वक्ष्यन्ते वातरोगिके॥ १०२॥

तानि मारुतजे गुल्मे पानाभ्यङ्गानुवासनैः। प्रयुक्तान्याशु सिध्यन्ति तैलं ह्यनिलजित्परम्॥

वातगुल्म में तैल का लाभ—वातरोग की चिकित्सा (अध्याय २८) के प्रसङ्ग में गुल्मनाशक तैल कहे जायेंगे। वे पीने से, अभ्यङ्ग और अनुवासनवस्ति के रूप में प्रयोग किये जाने से वातज गुल्म को शीघ्र नष्ट करते हैं, क्योंकि तैल सर्वोत्तम वातनाशक पदार्थ है॥ १०२-१०३॥

नीलिनीचूर्णसंयुक्तं पूर्वोक्तं घृतमेव च। समलाय प्रदातव्यं शोधनं वातगुल्मिने॥ १०४॥

वातज गुल्म में नीलिनी का प्रयोग—मलावरोध वाले वातज गुल्म के रोगी के मलशोधनार्थ पूर्व में कहे गये त्र्यूषणादि घृत में नीलिनी का चूर्ण मिलाकर देना चाहिए॥ १०४॥

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह। शोधनार्थं घृतं देयं सविडक्षारनागरम्॥ १०५॥

नीलिनी घृत—नीलिनी, निशोथ, दन्ती, हर्रे और कबीला तथा विडनमक, यवक्षार एवं सोंठ डालकर पकाया हुआ घृत शोधन के लिए देना चाहिए॥ १०५॥

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम्। पचेद् विडङ्गं व्याघ्रीं च पलिकानि जलाढके॥
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्। दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च॥ १०७॥
ततो घृतपलं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम्। जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद् रसभोजनम्॥ १०८॥
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान्। श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं घृतमेतद् व्यपोहति॥ १०९॥
इति नीलिन्याद्यं घृतम्।

नीलिन्यादि घृत—नील की जड़, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, रास्ना, वरियारमूल, कुटकी, वायविडंग और रेंगनी—इनको १-१ पल लेकर १ आढक जल में क्वाथ करे और जब चौथाई बचे तो उसे छान ले। फिर उस क्वाथ में १ प्रस्थ घी, १ प्रस्थ गाय का दही और १ पल सेंहुड़ का दूध डालकर विधिवत् पाक करे और तैयार होने पर पुराने घृतपात्र में छान कर रख ले। इसका प्रयोग यवागू के मण्ड में १ पल मिलाकर करना चाहिए और जब पच जाये तथा रोगी को सम्यक् विरेचन हो जाये तब मांसरस के साथ भोजन देना चाहिए। यह घृत गुल्म, कुष्ठ, उदररोग, व्यङ्ग, शोथ, पाण्डु, ज्वर, श्वित्र, प्लीहा और उन्माद को दूर करता है॥ १०६-१०९॥

वक्तव्य—इस घृत की मात्रा १ पल बतलायी गयी है, किन्तु वर्तमान काल में यह मात्रा बहुत अधिक है। इसकी वर्तमान काल में १० से २० ग्राम की एक मात्रा होनी चाहिए।

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः। शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम्॥
हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम्। समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम्॥ १११॥
मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति। तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घनम्॥

वातज गुल्म में पथ्य—मुर्गा, मोर, तीतर, क्रौञ्च (सारस) और बटेर का मांसरस और शालिधान्य, मदिरा एवं घृत—ये सब वातज गुल्म में पथ्य होते हैं। वातगुल्म के रोगियों के लिए उष्ण पदार्थ, द्रव पदार्थ, स्निग्ध भोजन—ये हितकर हैं और मण्ड के साथ वारुणी तथा धनियाँ डालकर पकाया हुआ जल पीना हितकर होता है।

गुल्म और जठराग्नि का सम्बन्ध—जब जठराग्नि मन्द होती है तब गुल्म बढ़ता है और जब जठराग्नि प्रदीप्त रहती है तब गुल्म शान्त रहता है। इसलिए मनुष्य को न तो खूब कसकर भोजन करना चाहिए और न ही एकदम उपवास करना चाहिए॥ ११०-११२॥

सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते। या क्रिया क्रियते सिद्धिं सा याति न विरूक्षिते॥ ११३॥

गुल्म में स्नेहन-स्वेदन का फल—सभी गुल्मों में पहले स्नेहन तथा स्वेदन करने के बाद जो चिकित्सा की जाती है, वह सफल होती है और जब शरीर में रूक्षता होती है तब कोई चिकित्सा फलवती नहीं होती है। (अतः स्नेहन-स्वेदन के बाद गुल्मरोग की चिकित्सा करनी चाहिए)॥ ११३॥

भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत्। वैरेचनिकसिद्धेन सर्पिषा तिक्तकेन वा॥ ११४॥

पित्तज गुल्म में वैरेचनिक घृत—पित्तज गुल्म की अति भयावह स्थिति को समझकर विरेचन-द्रव्यों से सिद्ध अथवा तिक्त रसवाले द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी पिलाकर उपचार करना चाहिए॥ ११४॥

रोहिणीकटुकानिम्बमधुकत्रिफलात्वचः। कर्षांशास्त्रायमाणा च पटोलत्रिवृतोः पले॥ ११५॥
द्वे पले च मसूराणां साध्यमष्टगुणेऽम्भसि। शृताच्छेषं घृतसमं सर्पिषश्च चतुष्पलम्॥ ११६॥
पिबेत् सम्मूर्च्छितं तेन गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः। ज्वरस्तृष्णा च शूलं च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा॥
इति रोहिण्याद्यं घृतम्।

रोहिण्याद्य घृत—कुटकी, नीम की छाल, मुलहठी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा और त्रायमाणा—इनकी प्रत्येक की छाल एक-एक कर्ष, परवर का मूल और निशोथ एक-एक पल तथा मसूर की दाल दो पल लेकर इन सबको घृत से आठ गुना जल में क्वाथ करें। जब क्वाथ अष्टमांश बचा रहे तो उसे छान ले और चार पल उस क्वाथ को चार पल घी के साथ अच्छी तरह मिलाकर पीये। इसके पीने से पैत्तिक गुल्म, ज्वर, तृष्णा, शूल, भ्रम, मूर्च्छा और अरुचि—ये सब विकार दूर हो जाते हैं॥ ११५-११७॥

वक्तव्य—ऐसा प्रतीत होता है कि 'गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये। तेषां मात्रा विनिर्दिष्टा पलान्यष्टौ विशेषतः'' इस परिभाषा के अनुसार यहाँ क्वाथसहित घृत की मात्रा आठ पल बतलायी गयी है, किन्तु यह मात्रा आज के युग में अधिक है। वर्तमान काल में यह मात्रा १-१ पल क्वाथ तथा घी की होनी चाहिए।

जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणाचतुष्पलम्। पञ्चभागस्थितं पूतं कल्कैः संयोज्य कार्षिकैः॥
रोहिणी कटुका मुस्ता त्रायमाणा दुरालभा। कल्कैस्तामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलैः॥ ११९॥
रसस्यामलकानां च क्षीरस्य च घृतस्य च। पलानि पृथगष्टाष्टौ दत्त्वा सम्यग्विपाचयेत्॥ १२०॥
पित्तरक्तभवं गुल्मं वीसर्पं पैत्तिकं ज्वरम्। हृद्रोगं कामलां कुष्ठं हन्यादेतत् घृतोत्तमम्॥ १२१॥
इति त्रायमाणाद्यं घृतम्।

त्रायमाणाद्य घृत—त्रायमाण को ४ पल की मात्रा में लेकर उसे दश गुना जल (४० पल) में काढ़ा बनाये। जब काढ़ा पञ्चमांश बचे तब उसे छान ले। फिर कुटकी, नागरमोथा, त्रायमाणा, दुरालभा, भुई आँवला, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, लालचन्दन और नीलकमल—इन सबको १-१ कर्ष लेकर इनका कल्क बनाये और आँवला का रस, दूध तथा घी प्रत्येक आठ-आठ पल लेकर क्वाथ और कल्क में मिलाकर अच्छी प्रकार पका लें। यह उत्तम प्रकार का घृत है, जो पित्तज तथा रक्तज गुल्म, विसर्प, पैत्तिक ज्वर, हृदयरोग, कामला और कुष्ठ को नष्ट करता है॥ ११८-१२१॥

रसेनामलकेक्षूणां घृतप्रस्थं विपाचयेत्। पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत्॥ १२२॥
इत्यामलकाद्यं घृतम्।

आमलकाद्य घृत—१ प्रस्थ घी, आँवला का स्वरस ४ प्रस्थ, गन्ने का रस ४ प्रस्थ और ¼ प्रस्थ (१ कुडव) हर्रे का कल्क डालकर घृत पकाये और तैयार होने पर छानकर रख ले। यह घृत पित्तज गुल्म को नष्ट करता है॥ १२२॥

द्राक्षां मधूकं खर्जूरं विदारीं सशतावरीम्। परूषकाणि त्रिफलां साधयेत्पलसम्मितम्॥ १२३॥
जलाढके पादशेषे रसमामलकस्य च। घृतमिक्षुरसं क्षीरमभयाकल्कपादिकम्॥ १२४॥
साधयेत्तद्घृतं सिद्धं शर्कराक्षौद्रपादिकम्। प्रयोगात् पित्तगुल्मघ्नं सर्वपित्तविकारनुत्॥ १२५॥
इति द्राक्षाद्यं घृतम्।

द्राक्षाद्य घृत—मुनक्का, महुए का फूल, खजूर, विदारीकन्द, शतावर, फालसा, आँवला, हर्रा, बहेड़ा—इनमें से प्रत्येक द्रव्य एक-एक पल लेकर, भूसा की तरह मोटा कूटकर १ आढक जल में पकाये। जब चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहे तो छान ले, फिर उस क्वाथ में आँवला का स्वरस, गाय का घी और गन्ने का रस प्रत्येक १-१ प्रस्थ डालकर हर्रे का कल्क ¼ प्रस्थ मिलाकर पाक कर घी तैयार करे। इस

घृत को (२० ग्राम) लेकर चतुर्थांश चीनी एवं मधु मिलाकर प्रयोग करने से यह घृत पित्तज गुल्म तथा सभी प्रकार के पित्तज विकारों को नष्ट करता है॥ १२३-१२५॥

वृषं समूलमापोथ्य पचेदष्टगुणे जले। शेषेऽष्टभागे तस्यैव पुष्पकल्कं प्रदापयेत्॥ १२६॥
तेन सिद्धं घृतं शीतं सक्षौद्रं पित्तगुल्मनुत्। रक्तपित्तज्वरश्वासकासहृद्रोगनाशनम्॥ १२७॥
इति वासाघृतम्।

वासाघृत—अरुस को मूलसहित सर्वाङ्ग लेकर धोकर काटकर, कूटकर आठ गुना जल में पकाये, जब अष्टमांश जल शेष रहे तो छान ले। इस क्वाथ में मात्रानुसार घृत और घृत के चतुर्थांश अरुसा के फूल का कल्क डालकर घृत का पाक कर ले। शीतल हो जाने पर मधु मिलाकर इसका प्रयोग करे। यह घृत पित्तज गुल्मनाशक है तथा रक्तपित्त, ज्वर, श्वास, कास और हृदयरोग को नष्ट करता है॥ १२६-१२७॥

वक्तव्य—पूर्व के रक्तपित्ताध्याय मे भी वासाघृत कहा गया है, उसके निर्माण-विधान में इससे कुछ भिन्नता है; वह यह कि रक्तपित्त वाले में चतुर्गुण जल में क्वाथ बनाने को कहा है और यहाँ अष्टगुण जल में अष्टमांशावशिष्ट क्वाथ-निर्माण का निर्देश है।

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम्। अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत्॥ १२८॥
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम्। तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः॥ १२९॥

त्रायमाणा-प्रयोग—त्रायमाणा को २ पल लेकर धोकर, कूटकर २ प्रस्थ जल में पकाये। जब अष्टमांश जल बचे तो छान ले और क्वाथ के बराबर हलका गरम दूध मिलाकर पान करे। तत्पश्चात् जितना पी सके उतना गरम-गरम दुग्धपान करे। इससे पित्तज दोष शान्त हो जाने पर पित्तज गुल्म शान्त हो जाता है॥ १२८-१२९॥

द्राक्षाभयारसं गुल्मे पैत्तिके सगुडं पिबेत्। लिह्यात्कम्पिल्लकं वाऽपि विरेकार्थं मधुद्रवम्॥ १३०॥

पित्तज गुल्म में विरेचन—पैत्तिक गुल्म में विरेचन के लिए मुनक्का और हर्रे का क्वाथ अपने बल के अनुसार उचित मात्रा में पान करना चाहिए अथवा कबीले का चूर्ण मधु मिलाकर गीला कर चाटना चाहिए॥ १३०॥

दाहप्रशमनोऽभ्यङ्गः सर्पिषा पित्तगुल्मिनाम्। चन्दनाद्येन तैलेन तैलेन मधुकस्य वा॥ १३१॥

पित्तज गुल्म में अभ्यङ्ग—पित्तज गुल्म के रोगियों के दाह की शान्ति के लिए घी की मालिश करनी चाहिए अथवा चन्दनाद्य तैल की मालिश करनी चाहिए या मुलेठी के क्वाथ तथा कल्क से पकाये गये तैल की मालिश करनी चाहिए॥ १३१॥

ये च पित्तज्वरहराः सतिक्ताः क्षीरबस्तयः। हितास्ते पित्तगुल्मिभ्यो वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु॥

पित्तज गुल्म में वस्तिप्रयोग—तिक्त द्रव्यों के साथ जो क्षीरवस्तियाँ पित्तज्वर को दूर करने वाली होती हैं और ऐसी वस्तियाँ जो आगे सिद्धिस्थान में कही जायेगी, वे सब पित्तज गुल्म के उपचार में हितकर होती हैं॥ १३२॥

शालयो जाङ्गलं मांसं गव्याजे पयसी घृतम्। खर्जूरामलकं द्राक्षां दाडिमं सपरूषकम्॥ १३३॥
आहारार्थं प्रयोक्तव्यं पानार्थं सलिलं शृतम्। बलविदारीगन्धाद्यैः पित्तगुल्मचिकित्सितम्॥

पित्तज गुल्म के पथ्य—अगहनी धान का चावल, जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस, गाय तथा बकरी का दूध और घृत, खजूर, आँवला, मुनक्का, अनार और फालसा—इन्हें आहार के रूप में प्रयोग करना चाहिए और पीने के लिए वरियार की जड़ तथा विदारीगन्धादि गण की औषधों से षडङ्ग परिभाषा के अनुसार सिद्ध जल देना चाहिए। यह पित्तगुल्म की चिकित्सा कही गयी है॥ १३३-१३४॥

आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके। यवागूभिः खडैर्यूषैः सन्धुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते॥ १३५॥

पित्तज गुल्म में अग्निदीपन—यदि पित्तज गुल्म में आम का सम्बन्ध हो या कफ-वात से उत्पन्न गुल्म में आम का सम्बन्ध हो, तो लंघन कराने के बाद यवागू, खड एवं यूषों के प्रयोग के द्वारा अग्नि को सन्धुक्षित करना चाहिए॥ १३५॥

वक्तव्य—मट्ठा, कैथ, तिनपतिया, मरिच, अजवायन और चित्रक के मूल की छाल मिलाकर जो यूष बनता है, उसे 'खण्डयूष' कहते हैं—'तक्रं कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम्' (परिभाषाप्रदीप)।

समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ। तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत्॥ १३६॥

अग्निसंरक्षण एवं निदानपरिवर्जन आवश्यक—दोषों का सम होना और उनका प्रकुपित (घटना-बढ़ना) होना, ये दोनों ही बातें जठराग्नि पर अवलम्बित है। इसलिए प्रत्येक स्थिति में जठराग्नि की रक्षा करनी चाहिए और गुल्मजनक कारणों का परिहार करना चाहिए॥ १३६॥

वमनं वमनार्हाय प्रदद्यात्कफगुल्मिने। स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते॥ १३७॥
परिवेष्टय प्रदीप्तांस्तु बल्वजानथवा कुशान्। भिषक्कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे न्यसेत्॥
सङ्गृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्। वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा भिन्द्यादगुल्मं प्रमाणवित्॥
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत्। मृद्गीयाद् गुल्ममेवैकं न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत्॥ १४०॥

कफज गुल्म में घटप्रयोग-चिकित्सा—जो कफज गुल्म का रोगी वमन के योग्य हो उसका स्नेहन-स्वेदन करने के पश्चात् वमन कराना चाहिए। इन क्रियाओं से गुल्म के शिथिल हो जाने पर उस गुल्म को (चारों ओर से घेरा लगाकर) परिवेष्टित कर दे। फिर एक घड़ा लेकर उसमें जलती हुई सूखी घास (बल्वज) अथवा कुश (या पुआल) डालकर उस घड़े को गुल्म पर औंधा इस प्रकार रखे कि गुल्म घड़े के मुख के भीतर आ जाय। जब गुल्म घड़े के भीतर एकत्र संगृहीत हो जाय तो घड़े को हटा ले। फिर गुल्म को कपड़े के बीच में कर के ठीक से बाँध दे और गुल्म के प्रमाण को जानने वाला चिकित्सक गुल्म में चीरा लगाये। तदनन्तर विमार्गग, अजपद और आदर्श, इन यन्त्रों में से जो मिले उससे गुल्म को पीडित कर दबाये, जिससे गुल्म के दोष बाहर निकल जायें। यह ध्यान रहे कि केवल गुल्म को ही दबाये, अन्त्र और हृदय का स्पर्श न करे॥ १३७-१४०॥

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च। श्लेष्मगुल्ममयः पात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक्॥ १४१॥

कफज गुल्म में स्वेदन—कफज गुल्म के स्थान पर काला तिल, रेड का बीज, तीसी और सरसों—इनको पीसकर लेप लगा दे और उसके ऊपर किञ्चित् गरम किये हुए लोहे के पात्र (छोटा तवा या पलटा आदि) से स्वेदन करे॥ १४१॥

सव्योषक्षारलवणं दशमूलीशृतं घृतम्। कफगुल्मं जयत्याशु सहिङ्गुविडदाडिमम्॥ १४२॥
इति दशमूलीघृतम्।

दशमूली घृत—सोंठ, मरिच, पीपर, यवाखार, सेंधानमक, हींग, विडनमक और अनारदाना—इन द्रव्यों का कल्क और दशमूल का क्वाथ डालकर गाय के घी को विधिवत् पकाकर सेवन करने से कफज गुल्म शीघ्र ही ठीक हो जाता है॥ १४२॥

वक्तव्य—यहाँ नियमानुसार दशमूल को १६ गुना जल में क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रखे और घी से चौगुना क्वाथ तथा चतुर्थांश कल्क डालकर घी का पाक करना चाहिए।

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम्। साध्यं विदारीगन्धाद्यमापोथ्य सलिलाढके॥ १४३॥
पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पलीं नागरं वचाम्। विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गु यावशूकं विडं शटीम्॥ १४४॥

चित्रकं मधुकं रास्नां पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक्। प्रस्थं च पयसो दत्त्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥
एतद् भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम्। प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत्॥ १४६॥
इति भल्लातकाद्यं घृतम्।

भल्लातकाद्य घृत—भिलावा २ पल, विदारीगन्धाद्य पंचमूल (सरिवन, पिठवन, रेगनी, वनभण्टा और गोखरू)—इनमें से प्रत्येक १-१ पल लेकर कूटकर १ आढक जल में क्वाथ करे। जब चतुर्थांश शेष बचे तब उसमें पिप्पली, सोंठ, मीठा वच, वायविडंग, सेंधानमक, हींग, जवाखार, विडनमक, कचूर, चित्रक, मुलहठी और रास्ना—प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर उनका कल्क बनाये। १ प्रस्थ दूध और १ प्रस्थ घी डालकर मधुर आँच पर विधिवत् घृत का पाक करे। यह भल्लातक घृत कफज गुल्मनाशक उत्तम औषध है। यह घृत प्लीहरोग, पाण्डुरोग, श्वास, कास और ग्रहणी रोग को नष्ट करता है॥ १४३-१४६॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। पलिकैः सयवक्षारैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥ १४७॥
क्षीरप्रस्थं च तत्सर्पिर्हन्ति गुल्मं कफात्मकम्। ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम्॥ १४८॥
इति क्षीरषट्पलकं घृतम्।

क्षीरषट्पल घृत—पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ और यवाखार—इन्हें १-१ पल लेकर, इनका कल्क डालकर और इनके क्वाथ में १ प्रस्थ घी और १ प्रस्थ दूध डालकर घृतपाक करे। यह घृत कफज गुल्म को नष्ट करता है तथा ग्रहणी, पाण्डु, प्लीहा, कास और ज्वर को नष्ट करता है॥ १४७-१४८॥

वक्तव्य—घृत से चतुर्थांश कल्क और चौगुना क्वाथ डालकर घी पकाना चाहिए।

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम्। जले चतुर्गुणे पक्त्वा चतुर्भागस्थितं रसम्॥ १४९॥
सर्पिरेरण्डजं तैलं क्षीरं चैकत्र साधयेत्। स सिद्धो मिश्रकस्नेहः सक्षौद्रः कफगुल्मनुत्॥ १५०॥
कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु च। प्रयोज्यो मिश्रकः स्नेहो योनिशूलेषु चाधिकम्॥ १५१॥
इति मिश्रकः स्नेहः।

मिश्रक स्नेह—निशोथ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, दन्तीमूल, दशमूल (बेलसोंठ, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढल की छाल, गनियार की छाल, सरिवन, पिठवन, रेंगनी, बनभण्टा और गोखरू)—इनमें से प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लेकर कूटकर चौगुने जल में पकाकर क्वाथ करे और चतुर्थांश जल अवशिष्ट रखे। उसे छानकर उसमें अर्थात् १५ पल क्वाथ में १५ पल दूध, १५ पल गोघृत और एरण्डतेल १५ पल डालकर पका लेने से यह मिश्रक स्नेह तैयार हो जाता है। मधु के साथ प्रयोग करने से यह कफज गुल्म को नष्ट करता है। यह कफरोग, वातरोग, विबन्ध (मलावरोध), कुष्ठ, प्लीहा, उदररोग और विशेषकर योनिशूल में प्रयोग करने योग्य 'मिश्रक स्नेह' होता है॥ १४९-१५१॥

यदुक्तं वातगुल्मघ्नं स्रंसनं नीलिनीघृतम्। द्विगुणं तद्विरेकार्थं प्रयोज्यं कफगुल्मिनाम्॥ १५२॥
सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम्। कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते॥ १५३॥

कफज गुल्म में विरेचन योग—पहले वातगुल्मनाशक स्रंसन कार्य करने वाला जो नीलिनीघृत कहा गया है, कफज गुल्म के रोगियों के विरेचन के लिए दूनी मात्रा में उसका प्रयोग करना चाहिए।

त्रिवृत्-विरेचन—सफेद निशोथ के चूर्ण को थूहर के दूध में अच्छी तरह भावना दे और १ कर्ष की मात्रा में इस चूर्ण को चाटना चाहिए, इसके प्रयोग से भलीभाँति विरेचन हो जाता है॥ १५२-१५३॥

वक्तव्य—नीलिनी घृत की मात्रा १ पल बतलायी गयी है जो पहले ही अधिक है, इसलिए उसकी द्विगुण मात्रा २ पल बहुत अधिक हो जायेगी। अतः वर्तमान काल में वह मात्रा सामान्यतः १ कर्ष ही ठीक है और उसके द्विगुण का अर्थ २ कर्ष तक सीमित रखना चाहिए। दूसरे योग में भी १ कर्ष की मात्रा वर्तमान काल में अधिक है, उसकी मात्रा $\frac{1}{2}$ कर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए॥

जलद्रोणे विपक्तव्या विंशतिः पञ्च चाभयाः। दन्त्याः पलानि तावन्ति चित्रकस्य तथैव च॥
अष्टभागावशेषं तु रसं पूतमधिक्षिपेत्। दन्तीसमं गुडं पूतं क्षिपेत्तत्राभयाश्च ताः॥ १५५॥
तैलार्धकुडवं चैव त्रिवृतायाश्चतुष्पलम्। चूर्णितं पलमेकं तु पिप्पलीविश्वभेषजम्॥ १५६॥
तत् साध्यं लेहवच्छीते तस्मिंस्तैलसमं मधु। क्षिपेच्चूर्णपलं चैकं त्वगेलापत्रकेशरात्॥ १५७॥
ततो लेहपलं लीढ्वा जग्ध्वा चैकां हरीतकीम्। सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयः॥
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि पाण्डुरोगमरोचकम्। हृद्रोगं ग्रहणीदोषं कामलां विषमज्वरम्॥ १५९॥
कुष्ठं प्लीहानमानाहमेषा हन्त्युपसेविता। निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनः॥ १६०॥
इति दन्तीहरीतकी।

दन्ती हरीतकी—२५ हर्रे (एक कपड़े की रूमाल में बँधी हुई), २५ पल दन्तीमूल, २५ पल चित्रकमूल, इन्हें मोटा कूटकर १ द्रोण जल में क्वाथ करे। जब अष्टमांश जल शेष रहे तब कड़ाहा उतार कर छान ले। उस क्वाथ में दन्ती के बराबर प्रमाण (२५ पल) गुड़ घोलकर पुनः छान ले। क्वाथ में उबली हुई हर्रे निकाल कर उसकी गुठली निकाल लें और उस हर्रे को आधा कुडव तिल के तेल में भून ले। फिर उक्त क्वाथ में उस हर्रे को डालकर पकाये, साथ ही उस क्वाथ में ४ पल निशोथ का चूर्ण, १-१ पल पीपर और सोंठ का चूर्ण डालकर अवलेह की तरह पका ले। जब वह ठण्डा हो जाय तो उसमें तेल के बराबर (½ कुडव) मधु, दालचीनी १ कर्ष, छोटी इलायची १ कर्ष, तेजपात १ कर्ष और नागकेशर १ कर्ष चूर्ण करके डालकर अच्छी तरह मिला दें।

इस अवलेह को १ पल की मात्रा में चाटकर ऊपर से हर्रे खा लेने से स्नेहन होकर बिना किसी पीड़ा के १ प्रस्थ दोष का विरेचन हो जाता है। (यहाँ प्रस्थ से १३½ पल की मात्रा समझनी चाहिए) इस हरीतकी के सेवन से गुल्म, शोथ, अर्श, पाण्डुरोग, अरुचि, हृदयरोग, ग्रहणीविकार, कामला, विषमज्वर, कुष्ठ, प्लीहा और आनाह रोग दूर हो जाते हैं। यह औषध निर्दोष और उपद्रवरहित है। इसके सेवनकाल में मांसरस के साथ भात खाना चाहिए॥ १५४-१६०॥

वक्तव्य—यद्यपि इस योग में हरीतकी को भी क्वाथ द्रव्य में रखा गया है, किन्तु इसे अधिक उपयोगी बनाने के लिए और सुरक्षित बनाने के लिए अलग पोटली बनाकर क्वाथ में डाला जाता है और गुठली निकाल कर तेल में भूनकर फिर पकाया जाता है। इस अवलेह की मात्रा १ पल कही गयी है, जो वर्तमान काल में अधिक है; उसे १ कर्ष की मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

सिद्धाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते निरूहाः कफगुल्मिनाम्। अरिष्टयोगाः सिद्धाश्च ग्रहण्यर्शश्चिकित्सिते॥

कफज गुल्म में वस्तियोग तथा अरिष्ट प्रयोग—कफज गुल्म के रोगियों के लिए फलप्रद वस्तियों के योग आगे सिद्धिस्थान में कहे जायेंगे और अनुभूत अरिष्टों के योगों को ग्रहणी तथा अर्श की चिकित्सा में कहा जायेगा॥ १६१॥

यच्चूर्णं गुटिका याश्च विहिता वातगुल्मिनाम्। द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसास्ताः कफे हिताः॥
य एव ग्रहणीदोषे क्षारास्ते कफगुल्मिनाम्। सिद्धा निरत्ययाः शस्ता दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते॥

कफज गुल्म में चूर्ण आदि का प्रयोग—वातज गुल्म के रोगियों के लिए जो चूर्ण-गुटिकाएँ बतलायी गयी हैं, वे ही कफज गुल्म के लिए भी हितकर हैं, किन्तु उन योगों में यवक्षार, हींग और अम्लवेंत—इनकी एक-एक भाग की जगह दो-दो भाग की मात्रा डालनी चाहिए। ग्रहणीविकार में जो क्षार बतलाये जायेंगे, वे सभी प्रकार के क्षार कफगुल्म में अनुभूत, निरापद और प्रशस्त हैं। यदि उक्त चिकित्सा-प्रकारों के प्रयोग से लाभ न प्रतीत हो तो अन्त में दाह करना चाहिए॥ १६२-१६३॥

प्रपुराणानि धान्यानि जाङ्गला मृगपक्षिणः। कौलत्थो मुद्गयूषश्च पिप्पल्या नागरस्य च॥ १६४॥

शुष्कमूलकयूषश्च बिल्वस्य वरुणस्य च। चिरबिल्वाङ्कुराणां च यवान्याश्चित्रकस्य च॥ १६५॥
बीजपूरकहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारदाडिमैः। तक्रेण तैलसर्पिर्भ्यां व्यञ्जनान्युपकल्पयेत्॥ १६६॥

कफज गुल्म में पथ्य—पुराने चावल (जो दो-तीन वर्ष पहले के हों) का भात जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ या कुलथी अथवा मूँग के यूष के साथ जिसमें पीपर तथा सोंठ का चूर्ण पड़ा हो, सूखी मूली का यूष, बेल, वरुण एवं करंज के अंकुरों (नवजात को मलपत्र) का एवं अजवायन और चित्रक के पत्तों का यूष या शाक जिसे तेल-घी में भुना गया हो एवं बिजौरानीबू का रस, हींग, अम्लबेंत, यवाखार तथा खट्टे अनार का रस और मट्ठा डालकर बनाया गया हो; इस तरह के विविध व्यञ्जन बनाकर सेवन करना चाहिए॥ १६४-१६६॥

पञ्चमूलीशृतं तोयं पुराणं वारुणीरसम्। कफगुल्मी पिबेत्काले जीर्णं माध्वीकमेव वा॥ १६७॥
यवानीचूर्णितं तक्रं विडेन लवणीकृतम्। पिबेत् सन्दीपनं वातकफमूत्रानुलोमनम्॥ १६८॥

कफज गुल्म में पेय—कफज गुल्म के रोगी को लघुपंचमूल डालकर पकाया गया जल, पुरानी वारुणी का रस (ताल या खजूर की बासी ताड़ी) अथवा पुरानी माध्वीक सुरा (महुआ से बनी मदिरा) प्यास लगने पर पीनी चाहिए। वात-कफ-मूत्र का अनुलोमन करने वाले और अग्नि को प्रदीप्त करने वाले यवायन का चूर्ण तथा विडनमक डालकर बनाये गये मट्ठे का पान करना चाहिए॥ १६७-१६८॥

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः। कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः॥ १६९॥
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासवम्यरतिज्वरैः। तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति॥ १७०॥
गृहीत्वा सज्वरश्वासं वम्यतीसारपीडितम्। हृन्नाभिहस्तपादेषु शोफः कर्षति गुल्मिनम्॥ १७१॥

असाध्य कफज गुल्म का लक्षण—जो गुल्म क्रमशः बढ़ता हुआ बड़ा-सा घेरा बना लिया हो और जड़ जमा लिया हो, जो सिराओं के जाल से आबद्ध हो गया हो तथा कछुए की तरह उन्नतपृष्ठ हो गया हो एवं जिसमें दुर्बलता, अरुचि, जी मिचलाना, कास, बेचैनी, ज्वर, तृष्णा, तन्द्रा और प्रतिश्याय—ये सब उपद्रव हो गये हों, वह गुल्म असाध्य होता है। इसी प्रकार ज्वर के साथ श्वास, वमन, अतिसार से ग्रस्त गुल्म के रोगी के हृदय, नाभि, हाथ और पैर में जब शोथ उत्पन्न हो गया हो, तो ऐसे गुल्म के रोगी की मृत्यु हो जाती है। १६९-१७१॥

रक्तज गुल्म-चिकित्सा

रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे। स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात् स्नेहविरेचनम्॥ १७२॥

रक्तज गुल्म में स्नेह-विरेचन—गर्भकाल (दश महीना) बीत जाने के बाद रक्तजगुल्म से ग्रस्त रोगिणी स्त्री के शरीर का स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद उसे विरेचन देना चाहिए॥ १७२॥

पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः। गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत्॥ १७३॥

पलाशक्षार-यमक—पलाशक्षार-जल २ आढक, तिल का तेल १ आढक और घी १ आढक मिलाकर पाक करे। जब घृत तथा तेल मात्र बचे तो छानकर रख ले। इसे गुल्म को शिथिल बनाने वाली मात्रा के अनुसार प्रयोग करना चाहिए॥ १७३॥

प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम्।

योनि-विशोधन—यदि पूर्वोक्त पलाशक्षारयमक के प्रयोग से भी रक्तगुल्म का भेदन न हो, तो योनि-विशोधनार्थ (योनि में रखने के लिए) औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा पुनः॥ १७४॥

आभ्यां वा भावितान् दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान्। वराहमत्स्यपित्ताभ्यां लक्तकान्वा सुभावितान्॥
अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान् वा समाक्षिकैः। किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनिविशोधनम्॥१७६॥
रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा। लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत्॥ १७७॥
वस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम्। अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद् गुल्मप्रभेदनम्॥ १७८॥

योनिविशोधन योग—(१) यवाखार मिलाया हुआ मांसखण्ड योनि में रखने को देना चाहिए या (२) सेहुँड के दूध के साथ मांसखण्ड को योनि में रखवाये। अथवा (३) यवाखार और सेहुँड के दूध, इन दोनों से भावना देकर सिधरी मछली को योनि मे रखने को दे या (४) सूअर और मछली के पित्त से भावित छोटे कपड़ों को या रूई के फाहों को योनि में रखवाये अथवा (५) विरेचनकारक तथा वमनकारक द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ में मधु मिलाकर फिर उसमें कपड़े के टुकड़े भिगोकर योनि में रखने को दे अथवा (६) गुड तथा यवाखार मिलाकर किण्व (सुराकिट्ट) के साथ बत्ती बनाकर योनि में रखने को दे। (७) रक्तपित्तनाशक क्षार को मधु तथा घृत मिलाकर चाटने को दे। (८) रोगिणी को आहार के साथ लहसुन, तीक्ष्ण मद्य और मछली खाने को देना चाहिए एवं (९) दूध, गोमूत्र और यवाखार मिलाकर दशमूलक्वाथ की उत्तरवस्ति देनी चाहिए। यदि इन उपर्युक्त प्रयोगों के बावजूद भी रुधिरस्राव होता न दिखाई पड़े तो गुल्म के भेदनार्थ शस्त्र-प्रयोग करना चाहिए॥ १७४-१७८॥

प्रवर्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम्। घृततैलेन चाभ्यङ्गं पानार्थं तरुणीं सुराम्॥ १७९॥
रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहरीः क्रियाः। कार्या वातरुगार्तायाः सर्वा वातहरीः पुनः॥ १८०॥
घृततैलावसेकांश्च तित्तिरींश्चरणायुधान्। सुरां समण्डां पूर्वं च पानमम्लस्य सर्पिषः॥ १८१॥
प्रयोजयेदुत्तरं वा जीवनीयेन सर्पिषा। अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनाऽनुवासनम्॥ १८२॥

रक्तज गुल्म में रुधिरस्राव काल में उपचार—जब पूर्वोक्त क्रियाओं के प्रयोग से रक्त का स्राव होने लगे, तो रोगिणी को भोजन में मांसरस के साथ भात खिलाना चाहिए। रोगिणी के देह में घी और तेल का अभ्यङ्ग कराना चाहिए और पीने के लिए नयी शराब देनी चाहिए। यदि अधिक मात्रा में रक्तस्राव होने लगे तो अधोग-रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। यदि रोगिणी वातज पीड़ा या वातज योनिरोग से ग्रस्त हो, तो वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। वातनाशक घृत-तैल का परिषेक करना चाहिए। भोजनार्थ तीतर और मुर्गे का मांस, पीने के लिए मण्डसहित सुरा और अनारदाना आदि अम्लद्रव्य से संस्कृत घृत का प्रयोग करना चाहिए। अथवा अतिरक्तस्राव की स्थिति में जीवनीय गण की औषधों से सिद्ध घृत की उत्तरवस्ति दे अथवा तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत की अनुवासन वस्ति दे॥ १७९-१८२॥

तत्र श्लोकाः—

स्नेहः स्वेदः सर्पिर्बस्तिश्चूर्णानि बृंहणं गुटिकाः। वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम्॥

वातज गुल्म का चिकित्सासूत्र—वातज गुल्म में स्नेहन, स्वेदन, घृतपान, चूर्ण, बृंहण-गुटिकाएँ, वमन, विरेचन, वस्ति और रक्त-मोक्षण कराना हितकर होता है॥ १८३॥

सर्पिः सतिक्तसिद्धं क्षीरं प्रसंसनं निरूहाश्च। रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसंशमनयोगाः॥
उपनाहनं सशस्त्रं पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य। संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य॥ १८५॥

पित्तज गुल्म का चिकित्सासूत्र—पित्तज गुल्म में तिक्तद्रव्यों से सिद्ध घृत, दूध, विरेचन, निरूहवस्ति, रक्तमोक्षण, आश्वासन, संशमनयोग, उपनाहस्वेद, पके हुए गुल्म में शस्त्रकर्म, आभ्यन्तर गुल्म यदि पककर फूट गया हो तो उसका शोधन और संशमन उपचार करना चाहिए॥ १८४-१८५॥

स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखनं विरेकश्च। सर्पिर्बस्तिर्गुटिकाश्चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः॥
गुल्मस्यान्ते दाहः कफजस्याप्येऽपनीतरक्तस्य।

कफज गुल्म का चिकित्सासूत्र—कफज गुल्म में स्नेहन, स्वेदन, भेदन, लंघन, वमन, विरेचन, घृतपान, वस्तिप्रयोग, गुटिका, चूर्ण, अरिष्ट और क्षार का प्रयोग करना चाहिए। आवश्यक होने पर यदि उक्त चिकित्सा से लाभ न हो, तो रक्तमोक्षण कराना चाहिए और उसके बाद अग्नि से दाह करना चाहिए॥ १८६॥

गुल्मस्य रौधिरस्य क्रियाक्रमः स्त्रीभवस्योक्तः॥ १८७॥

रक्तज गुल्म उपचार कथित—स्त्रियों को होने वाले आर्तव रक्तज गुल्म की चिकित्सा का क्रम पूर्व में बतला दिया गया है॥ १८७॥

पथ्यान्नपानसेवा हेतूनां वर्जनं यथास्वं च। नित्यं चाग्निसमाधिः स्निग्धस्य च सर्वकर्माणि॥
हेतुर्लिङ्गं सिद्धिः क्रियाक्रमः साध्यता न योगाश्च।
गुल्मचिकित्सितसङ्ग्रह एतावान् व्याहृतोऽग्निवेशस्य॥ १८९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
गुल्मचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

अध्याय का उपसंहार—अग्निवेश ने गुल्मचिकित्सा के सम्बन्ध में पथ्य अन्नाहार तथा पेय, गुल्मजनक कारणों का परित्याग, सदैव जठराग्नि की रक्षा करने में सावधान रहना, सभी कर्मों के पूर्व स्नेहन करना, गुल्म का कारण, गुल्म के लक्षण, गुल्मचिकित्सा का क्रम, गुल्म की साध्यासाध्यता, गुल्मनाशक योग आदि जो भी उपदेश दिया है, उन सबका इस गुल्मचिकित्साऽध्याय में संग्रह किया गया है॥ १८८-१८९॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'गुल्मचिकित्सित' नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥५॥

गुल्मचिकित्सा-क्रमबोधक सारणी

उपचार-क्रिया	औषध	आहार-पेय	योग
वातज गुल्म में—स्निग्ध आहार, स्निग्ध अभ्यंग, स्नेहपान एवं स्निग्धवस्ति द्वारा स्नेहन, स्वेदन। **पार्श्वगत गुल्म में**—वस्ति। **उदराश्रित में**—वस्ति, वमन, विरेचन, वर्ति एवं रक्तमोक्षण। **पित्तज में**—तृष्णा, ज्वर, दाह एवं शूल में निरूह वस्ति, रक्तमोक्षण, आश्वासन, संशमन, उपनाह, शस्त्रकर्म। **आभ्यन्तर पक्व में**—विशोधन एवं संशमन। **कफज में**—लंघन, स्नेहन, तिल, एरण्डबीज, अलसी और सरसों का लेप कर उसके ऊपर स्वेदन, वमन, विलयन, वस्ति, विरेचन, रक्तमोक्षण और अग्निकर्म। **रक्तज में**—पलाशक्षार योग, योनिविशोधन, गुल्मभेदन, दशमूल वस्ति। **अतिरक्तस्राव में**—रक्त-पित्तवत् उपचार उत्तर-वस्ति एवं अनुवासन-वस्ति।	**ऊर्ध्वनाभिज गुल्म में**—स्नेह (घृत) पान चूर्ण प्रयोग, बृंहण-गुटिका सेवन तथा वारुणीमण्ड-मिश्रित एरण्डतैलपान। सतिक्त क्षीरवस्ति, तिल्वकघृत, दूध के साथ एरण्डतैल, रोहिण्याद्य घृत, त्रायमाणा घृत, द्राक्षाघृत, वासाघृत एवं चन्दनादि तैल का अभ्यंग। क्षार, घृतप्रयोग, गुटिका, चूर्ण, क्वाथ, अरिष्टपान, दशमूलीघृत, भल्लातकाद्य घृत, क्षीरषट्पलघृत, मिश्रक स्नेह, नीलिनीघृत, सुधाक्षीरभावित त्रिवृत् चूर्ण, दन्ती, हरीतकी। लशुन-सेवन, तीक्ष्ण मदिरा, कुलत्थी, अम्लद्रव्य और मछली का सेवन, रक्तपित्त की तरह पथ्य।	**वातज गुल्म में**—बृंहण स्निग्ध-उष्ण अन्नपान, पुनः-पुनः स्नेहपान, तित्तिरि, मयूर, क्रौञ्च, वर्तक, शालि एवं मदिरा का सेवन। घृत, दुग्ध, शालि एवं जांगल मांस, खजूर, आँवला, मुनक्का, अनार (मीठा) और फालसा। उष्ण आहार एवं पेय, पुराना चावल (कई वर्ष का), जांगल मांस, कुलथी, मूँग, पीपर-सोंठ युक्त मूलीयूष, यवक्षार, अनार खट्टा, तक्रमिश्रित व्यञ्जन, लघुपंचमूलसिद्ध जल, माध्वीक सुरा, यवानी-विडनमकमिश्र। मांसरस और भात। तीतर, मुर्गा, सुरा एवं अम्लसर्पि।	त्र्यूषणादिघृत, अपर त्र्यूषणाद्य घृत, हिंगु, सौवर्चलाद्य घृत, हपुषाद्य घृत, पिप्पल्याद्य घृत। **अनुपान**—बेर का स्वरस, अनार का स्वरस, उष्णजल। सुरामण्ड, हिंग्वादि चूर्ण या गुटिका। **वेदना में**—बिजौरा नीबू का रस, भुनी हींग, विड लवण एवं सैन्धव लवण का सुरामण्ड से प्रयोग। शटयादि चूर्ण, नागरादि योग, एरण्डतैलयोग, तैल-पञ्चक, शिलाजतु योग, नीलिन्यादि घृत।

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'प्रमेहचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

निर्मोहमानानुशयो निराशः पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः।
कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गमनुवाच मेहाञ्शमनं च तेषाम्॥ ३॥

प्रमेह-वर्णन का उपक्रम—मोहरहित, अभिमानरहित और क्रोध या पश्चात्तापरहित, आशाओं और आकांक्षाओं से विमुक्त, परमतपस्वी और महान् ज्ञानी भगवान् पुनर्वसु ने अग्निवेश की जिज्ञासा-शान्ति के लिए यथा समय अग्निवेश को प्रमेहों के कारण, लक्षण तथा उनकी चिकित्सा का उपदेश किया॥ ३॥

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्॥ ४॥

प्रमेह रोग के सामान्य हेतु—आरामतलबी से गद्देदार या स्प्रिंगदार आसन पर अधिकांश समय बैठे-लेटे रहना, सुखपूर्वक कोमल शय्या पर देर तक सोते रहना, दही का अधिकांशतः सेवन, ग्राम के जल का तथा जलेचर एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांसरस का अधिकतर सेवन, दूध का अधिक सेवन, नये अन्न, वर्षा का जल और गुड़ या चीनी की बनी मिठाइयों का अधिक सेवन करना—ये पदार्थ तथा कफ को बढ़ाने वाले पदार्थ प्रमेह रोग को उत्पन्न करने में कारण होते हैं॥ ४॥

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतं प्रदूष्य।
करोति मेहान्—

कफज प्रमेह की सम्प्राप्ति—प्रकुपित हुआ कफ मेदो धातु, मांसधातु और वस्ति-स्थित (मूत्राशयगत) क्लेद (जलीयांश) को दूषित कर अनेक प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

—समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि॥ ५॥

पित्तज प्रमेह सम्प्राप्ति—उष्ण अन्न-पान एवं आहार-विहार के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त मेद, मांस और क्लेद को दूषित कर पित्तज प्रमेहों को उत्पन्न करता है॥ ५॥

क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य बस्तौ धातून् प्रमेहाननिलः करोति।

वातज प्रमेह सम्प्राप्ति—कफ और पित्तज, ये दोनों दोष जब वायु की अपेक्षा क्षीण रहते हैं और वायु बढ़ा होता है, तब वह वसा, मज्जा, ओज आदि धातुओं को मूत्राशय में लाकर वातज प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

दोषो हि बस्तिं समुपेत्य मूत्रं सन्दूष्य मेहाञ्जनयेद् यथास्वम्॥ ६॥

प्रमेहों की सामान्य सम्प्राप्ति—वात, पित्त या कफ, इनमें से कोई भी दोष प्रकुपित होकर मूत्राशय में पहुँचकर मूत्र को दूषित कर अपने लक्षणों वाले प्रमेहों को उत्पन्न कर देता है॥ ६॥

वक्तव्य—सामान्यतः 'वस्ति' शब्द मूत्राशय के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु यहाँ पर प्रयुक्त वस्ति शब्द से समस्त मूत्रवाही संस्थान का ग्रहण करना उचित है, क्योंकि उसके ही अवयवों में विकृति के

परिणामस्वरूप प्रमेहों की उत्पत्ति होती है। सुश्रुतसंहिता-निदानस्थान अध्याय ६ का यह सन्दर्भ इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है—'तस्य चैवंप्रवृत्तस्यापरिपक्वा एव वातपित्तश्लेष्माणो यदा मेदसा सहैकत्वमुपेत्य मूत्रवाहिस्रोतांस्यनुसृत्याधो गत्वा वस्तेर्मुखमाश्रित्य निर्भिद्यन्ते तदा प्रमेहान् जनयन्ति'। अपरिपक्वावस्था में वात, पित्त तथा कफ मेद के साथ मिलकर मूत्रवाही स्रोत (वृक्क, गविनी एवं) मूत्राशय में आकर प्रमेहों को उत्पन्न करते हैं। दोषों के साथ-साथ मूत्रवह स्रोत की विकृति होने से ही प्रमेह प्रकट होते हैं।

साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षड् याप्या, न साध्याः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते॥ ७॥

प्रमेहों की साध्यासाध्यता—कफ से उत्पन्न होने वाले दश प्रकार के प्रमेह (दोष तथा दूष्य की) समान चिकित्सा होने से साध्य होते हैं, पित्त से उत्पन्न होने वाले छः प्रकार के प्रमेह (दोष और दूष्य की परस्पर) विपरीत चिकित्सा होने से याप्य होते हैं और वात से होने वाले चार प्रकार के प्रमेह महान् विनाशकारी (एवं मज्जादि धातुगत) होने से असाध्य होते हैं॥ ७॥

वक्तव्य—सामान्य सिद्धान्त के आधार पर दोष और दूष्य का समान गुणी होना असाध्यता सूचक है और यहाँ कफ तथा मेद आदि दूष्य धातुएँ समान हैं। इसलिए **कफज प्रमेह साध्य कैसे?** यह प्रश्न उठता है। जिसके समाधान में यह युक्ति दी जाती है कि पूर्व के नियम का प्रमेह रोग अपवाद है अर्थात् यहाँ वह लागू नहीं होता है, अपितु व्याधिप्रभाव से दोष-दूष्य की समानधर्मिता होने पर भी रोग साध्य होता है, क्योंकि कफवर्धक कारणों से कफ (दोष) और मेद आदि दोनों ही विकृत होते हैं, अतः दोनों की चिकित्सा के लिए कटु-तिक्त-कषाय रसों वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है और समानगुणी दोष एवं दूष्य दोनों का शमन हो जाने से 'कफज प्रमेह' साध्य हो जाता है।

पित्तज प्रमेह में दोष और दूष्य की चिकित्सा एक-दूसरे के विपरीत होती है, अतः वह याप्य है, एवं जब दोष पित्त के शमनार्थ शीतवीर्य द्रव्यों तथा मधुर रस प्रधान द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, तब मेद तथा मेदोवर्धक कफ की वृद्धि हो जाने से रोग का ह्रास नहीं होगा। यदि दूष्यों के शमन के लिए उष्ण एवं कटु द्रव्यों का सेवन किया जायेगा, तो पित्त दोष की वृद्धि हो जायेगी। इस प्रकार पित्त दोष तथा मेद आदि दूष्य की परस्पर विषम चिकित्सा होने से 'पित्तज प्रमेह' याप्य होता है।

वातज प्रमेह गम्भीर मज्जादि धातुओं पर भी ह्रास का भयंकर परिणाम प्रकट करता है। इसमें अतिशीघ्र धातुओं की क्षीणता हो जाती है, जिससे सहसा विनाशकारी उपद्रव उठ खड़े होते हैं। वातनाशक स्निग्ध आदि गुण वाले द्रव्य वात का तो नाश करते हैं, किन्तु साथ ही मेद आदि के वर्धक होते हैं और मेद आदि दूष्यों के नाशक जो रूक्ष आदि गुण वाले द्रव्य होते हैं, वे वात वृद्धि करने वाले होते हैं, एवञ्च इनकी चिकित्सा में भी वैषम्य होने के कारण वातज प्रमेह असाध्य होते हैं और महात्ययकारी होने से भी यह असाध्य होता है।

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽम्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः॥ ८॥

१. समक्रियत्वादिति कफस्य दोषस्य दूष्यस्य च मेदःप्रभृतेः समानत्वात् कटुतिक्तादिक्रियायाः। अत्र व्याधिमहिम्ना तुल्यदूष्यता साध्यताया हेतुः। ...यदुक्तं—'प्रमेहे तुल्यदूष्यता। सुखसाध्यस्य लक्षणम्'। विषमक्रियत्वादिति पित्तस्य प्रमेहप्रधानदूष्यस्य मेदःप्रभृतेश्चान्योऽन्यविपरीतक्रियत्वात्, पित्तहरं हि मधुराधि मेदस्करं मेदोहरं च कटुकादि पित्तकरमिति क्रियावैषम्यम्, अत्र व्याधिस्वभावो हेतुः, अत्र व्याधिषु परस्परविरुद्धदोषदूष्यसंसर्गेऽप्युभयप्रत्यनीकभेषजविधिरविरोधीति। महात्ययत्वादिति मज्जादिगम्भीरधात्वपकर्षकत्वेन बहुव्यापत्तिकरत्वात्, आशुकारित्वादितीशानः। चकाराद्विषमक्रियत्वं च वातजानां समुच्चीयते। (माधवनिदान, मधुकोष टीका, प्रमेह० २-३)

प्रमेहजनक दोष और दूष्य—प्रमेह रोग के उत्पादक कफ, पित्त और वात—ये तीन दोष और मेद, रक्त, शुक्र, जल (क्लेद), वसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज और मांस—ये दश दूष्य होते हैं। एवञ्च इन दोष-दूष्यों से बीस प्रकार के प्रमेह होते हैं॥ ८॥

प्रमेह में दोष-दूष्य-अधिष्ठान और उसके भेद

दोष : सामान्यतः वात-पित्त-कफ
विशेषतः कफ

दूष्य : 'सामान्यतः मेदोऽम्रशुक्राम्बुवसालसीका-मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः'।
: विशेषतः मेद

अधिष्ठान : वस्ति एवं मूत्रवह संस्थान

भेद : (क) हेतु भेद से—१. सहज, २. कुलज, ३. अपथ्यज।
(ख) देह प्रकृति भेद से—१. स्थूल प्रमेही–बलवान्।
२. कृश प्रमेही–दुर्बल।
(ग) मूत्रविकार भेद से—१. कफज १० उपभेद।
२. पित्तज ६ उपभेद।
३. वातज ४ उपभेद।

वक्तव्य—यद्यपि प्रमेह में मेद आदि अनेक दूष्य होते हैं, किन्तु उनमें से मेद, मांस और शरीरज क्लेद—ये सभी प्रमेहों में अवश्यमेव दूषित होते हैं, इसलिए सम्प्राप्ति के वर्णन में प्रथम ही उनका उल्लेख कर दिया गया है। अन्य मज्जा आदि सभी प्रमेहों में नहीं दूषित होते। जैसे वसा, मज्जा, ओज और लसीका—ये चार मात्र वातज प्रमेह में दूषित होते हैं, पित्तज एवं कफज में नहीं दूषित होते।

यहाँ ओज से अर्धाञ्जलि प्रमाण वाले अपर ओज का ही ग्रहण करना उचित है, क्योंकि अष्ट बिन्द्वात्मक ओज के किञ्चिन्मात्र नाश से मृत्यु हो जाती है।

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम्।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा लालेव वा वालुकया युतं वा॥ ९॥
विद्यात् प्रमेहान् कफजान् दशैतान्—

कफज दश प्रमेह—१. जल के समान मूत्रवाला (उदकमेह), २. गन्ने के रस के समान मूत्र वाला (इक्षुमेह), ३. गाढ़ा मूत्रवाला (सान्द्रमेह), ४. पात्र में रखने पर नीचे के भाग में गाढ़ा और ऊपर के भाग में स्वच्छ मूत्र वाला (सान्द्रप्रसादमेह), ५. श्वेत रंग के मूत्र वाला (शुक्लमेह), ६. शुक्र मिश्रित मूत्र वाला (शुक्रमेह), ७. शीतल मूत्र स्रावयुक्त (शीतमेह), ८. जिसमें धीरे-धीरे मूत्रस्राव होता है (शनैर्मेह), ९. लार के समान मूत्रवाला (लालामेह) और १०. बालू के कण के समान कणों वाला (सिकतामेह)—ये कफ से होने वाले दश प्रमेह जानने चाहिए॥ ९॥

—क्षारोपमं कालमथापि नीलम्।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तमेतान् प्रमेहान् षडुशन्ति पित्तात्॥ १०॥

पित्तज छः प्रमेह—(१) जिसमें क्षार से युक्त जल के समान मूत्र आता है, उसे क्षारमेह कहते हैं। (२) जिसमें काले रंग का मूत्र निकलता है, उसे कालमेह कहते हैं। (३) जिसमें नीले रंग का मूत्र

आता है, उसे नीलमेह कहते हैं। (४) जिसमें हल्दी मिश्रित जल के समान पीले वर्ण का मूत्र निकलता है, उसे हारिद्रमेह कहते हैं। (५) जिसमें मजीठ के वर्ण का मूत्र आता है, उसे माञ्जिष्ठमेह कहते हैं। (६) जिसमें रक्त के वर्ण का लाल या रक्तमिश्रित मूत्र आता है, उसे रक्तमेह कहते हैं॥ १०॥

मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम्।
चतुर्विधं मूत्रयतीह वाताच्छेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु॥ ११॥

वातज चार प्रमेह—(१) जिसमें मूत्र के साथ मज्जाधातु जाती है, उसे मज्जामेह कहते हैं। (२) जिसमें मूत्र के साथ ओज धातु जाती है, उसे ओजोमेह कहते हैं। (३) जिसमें मूत्र के साथ वसा धातु जाती है, उसे वसामेह और (४) जिसमें मूत्र के साथ लसीका जाती है, उसे लसीकामेह कहते हैं; इसमें चिपचिपा तथा अवरोध के साथ मूत्र आता है। मेद आदि धातुओं के क्षीण हो जाने पर वायु के द्वारा ये चार प्रकार के प्रमेह होते हैं॥ ११॥

वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं यथास्वदोषं भजते प्रमेहः।
श्यावारुणो वातकृतः सशूलो मज्जादिसाद्गुण्यमुपैत्यसाध्यः॥ १२॥

प्रमेह में दोषानुसार वर्ण आदि—प्रमेह में वात-पित्त-कफ, इन दोषों के अनुसार अलग-अलग वर्ण, रस, स्पर्श और गन्ध होती है। जब वातज प्रमेह में मूत्र का वर्ण श्याव (श्याम) और अरुण (लाल) होता है, शूल होता है, मूत्र में मज्जा, ओज, वसा और लसीका का मिश्रण होता है, तब वह असाध्य होता है॥ १२॥

वक्तव्य—दोष के अनुसार कफज प्रमेह में श्वेत वर्ण, मधुर रस, शीत स्पर्श और आम गन्ध होती है तथा पित्तज प्रमेह में रक्ताभ या पीताभ वर्ण, अम्लरस, उष्ण स्पर्श और विस्र गन्ध होती है। यहाँ वातज प्रमेह को श्यावारुणवर्णता आदि के होने पर असाध्य कहने का कुछ विशेष अभिप्राय है, क्योंकि वातज प्रमेह तो असाध्य होता ही है। पुनः यह कहने की क्या आवश्यकता है? कथ्य यह है कि जब वातज प्रमेह अपने जन्मकाल से ही इन लक्षणों से युक्त होता है, तब वह असाध्य होता है और यदि अपनी उत्पत्ति के समय से इन लक्षणों से युक्त नहीं होता, तो साध्य होता है अथवा उत्पन्न होने के बाद भी जब श्याव आदि सभी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, तब वह असाध्य होता है।

स्वेदोऽङ्गमन्धः शिथिलाङ्गता च शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः॥ १३॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च॥ १४॥

प्रमेह का पूर्वरूप—जब प्रमेह रोग होने को होता है, तो उसके पहले ये पूर्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं—शरीर में पसीना होना, शरीर से गन्ध आना, अंगों में शिथिलता होना, लेटे रहने, बैठे रहने या सोते रहने में सुखानुभूति होती है और इनमें इच्छा या प्रेम होता है। हृदय प्रदेश, नेत्र, जीभ और कानों में मैल भर जाना, शरीर में स्थूलता होना, केश और नख का बहुत बढ़ जाना, शीतल पदार्थों में अभिरुचि होना, गला और तालु प्रदेश में शुष्कता प्रतीत होना, मुख का स्वाद मीठा होना, हाथ और पैर के तलवों में जलन होना और मूत्र में चीटियों का लगना॥ १३-१४॥

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥ १५॥

प्रमेह का चिकित्सासूत्र—प्रमेह के रोगी कोई-कोई मोटे और बलवान् होते हैं और कोई दुबला-पतला तथा शरीर से कमजोर होता है। अतः जो दुबले और बलहीन हों, उन्हें बृंहण द्रव्यों का सेवन कराकर

हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ बनाना चाहिए और जो प्रबल दोषवाले और अधिक बलवान् हों, उन्हें लंघन, वमन, विरेचन आदि के द्वारा संशोधन प्रयोग कराना चाहिए॥ १५॥

स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम्॥ १६॥

संशोधन तथा सन्तर्पण—प्रमेह से पीड़ित बलवान् रोगी का सर्षप, तिल, अतसी आदि स्नेहों के बाह्याभ्यन्तर प्रयोग से स्नेहन कराकर उनके शरीर के स्निग्ध हो जाने पर कल्पस्थान में उपदिष्ट विविध योगों का प्रयोग करना चाहिए। जब ऊपर या नीचे के मार्ग से वमन या विरेचन प्रयोगों से मल का शोधन हो जाय, तब प्रमेहों में सन्तर्पण का प्रयोग करना चाहिए॥ १६॥

गुल्मः क्षयो मेहनबस्तिशूलं मूत्रग्रहश्चाप्यपतर्पणेन।
प्रमेहिणः स्युः परितर्पणानि कार्याणि तस्य प्रसमीक्ष्य वह्निम्॥ १७॥

प्रमेही के सन्तर्पण में युक्ति—यदि बलवान् प्रमेही के संशोधन के पश्चात् उसका अपतर्पण किया जाय तो उससे उसमें वायु की वृद्धि होने से गुल्म, क्षय, मूत्रमार्ग और वस्ति में वेदना और मूत्रावरोध हो सकता है। इसलिए प्रमेही के संशोधन के बाद उसकी जठराग्नि के बल का विचार कर सन्तर्पणार्थ उसे पुष्टिकर आहार देने की व्यवस्था करनी चाहिए॥ १७॥

संशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या।
मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः॥ १८॥

प्रमेह में संशमन चिकित्सा—जिस प्रमेह के रोगी के लिए संशोधन देना उचित न प्रतीत होता हो, उसकी संशमन चिकित्सा करनी चाहिए और उनके प्रमेह के शमनार्थ जौ के सत्तू का घोल, कषाय, जौ के आटे के लप्सी और लघु आहार का प्रयोग कराना चाहिए॥ १८॥

ये विष्किरा ये प्रतुदा विहङ्गास्तेषां रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः।
यवौदनं रुक्षमथापि वाट्यं मद्यात् ससक्तूनपि चाप्यपूपान्॥ १९॥
मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः पुराणशाल्योदनमाददीत।
दन्तीङ्गुदीतैलयुतं प्रमेही तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम्॥ २०॥
सषष्टिकं स्यात्तृणधान्यमन्नं यवप्रधानस्तु भवेत् प्रमेही।
यवस्य भक्ष्यान्विविधांस्तथाऽद्यात्कफप्रमेही मधुसम्प्रयुक्तान्॥ २१॥

प्रमेह में पथ्य—मांसभक्षी प्रमेह के रोगियों को विष्किर (जो पंजे से कुरेद कर अपना आहार ढूँढ़ते हैं) और प्रतुद (जो चोंच से प्रहार कर आहार ग्रहण करते हैं) वर्ग के पक्षियों के मांस रस तथा जांगल पशु-पक्षियों के रुचिकर मांस रसों के साथ रुक्ष जौ का भात या वाट्य (भुना हुआ जौ) या जौ का सत्तू या जौ से बने हुए पुए खाने चाहिए। मूँग आदि के यूष के साथ अथवा तिक्त शाकों (करेला आदि) के साथ पुराने अगहनी के चावलों का भात खाना चाहिए। इसी तरह दन्ती, हिंगोट, अतसी और सरसों के तेल से यूष एवं शाक आदि छौंककर उससे पुराने चावलों का भात खायें। साठी का चावल और तृणधान्य वाले (सावाँ, कोदो, टाँगुन आदि) अन्नों को खाना चाहिए। प्रमेह के रोगी को मुख्य रूप से यव का ही भोजन करना चाहिए। यव से बनाये गये विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों को मधु मिलाकर खाना चाहिए॥ १९-२१॥

निशिस्थितानां त्रिफलाकषाये स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम्।
तान् सीधुयुक्तान् प्रपिबेत् प्रमेही प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव॥ २२॥

कफ प्रमेह में सन्तर्पण योग—भूसीरहित जौ (गूरी) को त्रिफला के काढ़े में रात भर भिगोकर फिर उसे भूनकर सत्तू बनाकर मधु मिलाकर गन्ने के सिरके (सीधु) में घोलकर प्रमेह नाश के लिए प्रमेही को पीना चाहिए॥ २२॥

ये श्लेष्ममेहे विहिताः कषायास्तैर्भावितानां च पृथग् यवानाम्।
सक्तूनपूपान्सगुडान्सधानान् भक्ष्यांस्तथाऽन्यान्विविधांश्च खादेत्॥ २३॥
खराश्वगोहंसपृषद्भृतानां तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः।
देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः॥ २४॥
संशोधनोल्लेखनलङ्घनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान्।
जयन्ति—

प्रमेह में सेवनीय आहार—कफज प्रमेहनाशक जिन कषायों का (अग्रिम २७-२९ श्लोकों में) विधान किया गया है, उन क्वाथों से अलग-अलग जौ में भावना देकर, सुखाकर, भूनकर, चूर्ण कर, उनसे बनाये गये सत्तू, पूए, धाना (भूजा) तथा अन्य अनेक भक्ष्य पदार्थों को (पुराना) गुड़ मिलाकर खाना चाहिए।

गदहा, घोड़ा, गाय, हंस और पृषत् (चीतल हरिण) को जौ खिलाया जाय और फिर वह जौ जब इनके गोबर से निकले, तो उस जौ से (कूट-पीस-पकाकर) बने अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थ प्रमेही को खिलाना चाहिए। इसी तरह बाँस के जौ से निर्मित विविध भक्ष्यों को खिलायें। जैसे जौ को उन जानवरों को खिलाकर उनके गोबर से संग्रह करने को कहा गया है, उसी तरह गेहूँ को भी खिलाकर उनके गोबर से संग्रह कर उससे विविध भक्ष्य पदार्थ बनाकर प्रमेही को खिलायें। (इस प्रक्रिया को अपनाने का लक्ष्य जौ-गेहूँ के मधुर रस का शोषण तथा उनमें रूक्षता एवं कषाय रस को बढ़ाना है, जिससे ये विशेष रूप से कफ-प्रमेह नाशक हो जाय।

उचित समय पर किये गये संशोधन (विरेचन), उल्लेखन (वमन) और लंघन (उपवास) के प्रयोग कफज प्रमेहों को नष्ट कर देते हैं॥ २३-२४॥

—पित्तप्रभवान् विरेकः सन्तर्पणः संशमनो विधिश्च॥ २५॥

पित्तप्रमेह में संशोधन और संशमन—पूर्व में सिद्धान्त के रूप में यह कहा गया है कि बलवान् रोगी का संशोधन और दुर्बल रोगी का संशमन या सन्तर्पण प्रयोग करना चाहिए। तदनुसार पित्तज प्रमेही का रोगी यदि बलवान् हो, तो उसका विरेचन द्वारा संशोधन करना चाहिए और दुर्बल हो, तो सन्तर्पण और संशमन उपचार से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ २५॥

दार्वीं सुराह्वां त्रिफलां समुस्तां कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत् प्रमेही।
क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद् रसेनामलकीफलानाम्॥ २६॥

प्रमेहनाशक संशमन योग—दारुहल्दी, देवदारु, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नागरमोथा—इन्हें सम परिमाण में लेकर, क्वाथ बनाकर प्रमेही को (प्रातः-सायं) पीना चाहिए अथवा हल्दी के चूर्ण को मधु और आँवले के स्वरस में मिलाकर पीना चाहिए॥ २६॥

हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्रं पाठाविडङ्गार्जुनधन्वनाश्च।
उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं कदम्बशालार्जुनदीप्यकाश्च॥ २७॥
दार्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि।
दार्व्यग्निमन्थौ त्रिफला सपाठा पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा॥ २८॥
यवान्युशीराण्यभयागुडूचीचव्याभयाचित्रकसप्तपर्णाः ।
पादैः कषायाः कफमेहिनां ते दशोपदिष्टा मधुसम्प्रयुक्ताः॥ २९॥

कफज प्रमेहनाशक दश योग—(१) हर्रे, कायफल, नागरमोथा, पठानीलोध; (२) पाठा, वायविडङ्ग, अर्जुन की छाल, धन्वन (धामन); (३) हल्दी, दारुहल्दी, तगर, वायविडङ्ग; (४) कदम्ब की छाल, शाल (साखू) की छाल, अर्जुन की छाल, अजवायन; (५) दारुहल्दी, वायविडङ्ग, खैर की छाल, धव की छाल; (६) देवदारु, कूठ, अगर, लालचन्दन; (७) दारुहल्दी, अरनी की छाल, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, पाठा; (८) पाठा, मूर्वा, गोखरू; (९) अजवायन, खश, हर्रे, गुरुच और (१०) चाभ, हर्रे, चित्रक की जड़ तथा छितवन की छाल— ये एक-एक श्लोक पाद से कहे गये दश क्वाथ मधु मिलाकर प्रयोग करने से कफज प्रमेह के रोगियों के लिए लाभप्रद होते हैं॥ २७-२९॥

उशीरलोध्राञ्जनचन्दनानामुशीरमुस्तामलकाभयानाम् ।
पटोलनिम्बामलकामृतानां मुस्ताभयापद्मकवृक्षकाणाम्॥ ३०॥
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम्।
शिरीषसर्जार्जुनकेशराणां प्रियङ्गुपद्मोत्पलकिंशुकानाम्॥ ३१॥
अश्वत्थपाठासनवेतसानां कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम्।
पैत्तेषु मेहेषु दश प्रदिष्टाः पादैः कषाया मधुसम्प्रयुक्ताः॥ ३२॥

पित्तज प्रमेहनाशक दश योग—(१) खश, लोध्र, अञ्जन, लालचन्दन; (२) खश, नागरमोथा, आँवला, हर्रे; (३) परवर की पत्ती, नीम की छाल, आँवला, गुरुच; (४) नागरमोथा, हर्रे, पद्मकाठ, कुटज की छाल; (५) पठानीलोध, सुगन्धबाला, कालीयक (पीतचन्दन), धाय का फूल; (६) नीम की छाल, अर्जुन की छाल, आमड़े की छाल, हल्दी, नीलकमल; (७) शिरीष की छाल, सर्ज की छाल, अर्जुन की छाल, नागकेशर; (८) फूलप्रियंगु, लालकमल, नीलकमल, पलाश का फूल; (९) पीपल के पेड़ की छाल, पाठा, असन (विजयसार) की छाल, वेत; (१०) दारुहल्दी, नीलकमल और नागरमोथा—ये श्लोक के प्रत्येक चरण में बतलाये गये क्वाथ मधु मिलाकर पित्तज प्रमेह के रोगियों में प्रयोग के योग्य हैं॥ ३०-३२॥

सर्वेषु मेहेषु मतौ तु पूर्वौ कषाययोगौ विहितास्तु सर्वे।
मन्थस्य पाने यवभावनायां स्युर्भोजने पानविधौ पृथक् च॥ ३३॥

प्रमेहहर कषायों का व्यावहारिक प्रयोग—पूर्व (श्लोक २६) में बतलाये गये दो कषाय योगों का सभी प्रमेहों में अन्न-पान के संस्कारार्थ प्रयोग करना चाहिए। बाद में कफहर तथा पित्तहर जो दो श्रेणी के बीस कषाय योग कहे गये हैं, उनमें से कफ-प्रमेह नाशक योगों का कफ प्रमेहों में और पित्त-प्रमेह नाशक योगों का पित्त प्रमेहों में यव का मन्थ बनाने, यव की भावना देने, भोजन में और पीने में प्रयोग करना चाहिए और अलग से जल को संस्कृत करने में भी प्रयोग करें॥ ३३॥

सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु।
मेदः कफश्चैव कषाययोगैः स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम्॥ ३४॥

प्रमेह में स्नेह का प्रयोग—वातज प्रमेहों में (कफ का अनुबन्ध होने पर कफनाशक कषायों से) सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिए और (पित्त का अनुबन्ध होने पर पित्तनाशक कषायों से) सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए। कषायों के प्रयोग से मेद, कफ (तथा पित्त) का और स्नेहों (तैल-घृत) के प्रयोग से रूक्ष वायु का शमन होता है॥ ३४॥

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि बैभीतरौहीतककौटजानि।
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि क्षौद्रेण लिह्यात्कफपित्तमेही॥ ३५॥
पिबेद् रसेनामलकस्य चापि कल्कीकृतान्यक्षसमानि काले।
जीर्णे च भुञ्जीत पुराणमन्नं मेही रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः॥ ३६॥

कफ-पित्त प्रमेह में उपचार—कफज या पित्तज प्रमेह के रोगी (१) कबीला, छितवन की छाल और शाल की लकड़ी; (२) अथवा बहेड़ा, रोहेड़ा और कुटज की छालें; (३) अथवा कैथ के फूलों का चूर्ण बनाकर मधु के साथ मिलाकर प्रयोग करें; (४) अथवा उक्त सभी औषधों के फूलों या छालों का चूर्ण बनाकर १ कर्ष की मात्रा में आँवले के रस के साथ यथासमय सेवन करें। औषध के जीर्ण हो जाने पर पुराना जौ, गेहूँ, सावाँ, टाँगुन या कोदो का भात मनपसन्द जांगल पशु-पक्षियों के मांसरसों के साथ खाना चाहिए॥ ३५-३६॥

वक्तव्य—अन्य आचार्य उक्त चार योगों को अलग-अलग न मानकर एक ही योग मानते हैं, जैसा कि वाग्भट ने कहा है। दूसरी बात यह है कि उक्त द्रव्यों के पुष्पों का ही प्रयोग करना बतलाया गया है—'आमलकरसेन पिबेदथवा शालसप्तपर्णकुटजकपित्थकम्पिल्लकविभीतकरोहीतककुसुमानि तच्चूर्णं वा क्षौद्रेण लिह्यात्' (अष्टाङ्गसंग्रह)। वर्तमान समय में चूर्ण की मात्रा ३ ग्राम होनी चाहिए।

दृष्ट्वाऽनुबन्धं पवनात् कफस्य पित्तस्य वा स्नेहविधिर्विकल्प्यः।
तैलं कफे स्यात् स्वकषायसिद्धं पित्ते घृतं पित्तहरैः कषायैः॥ ३७॥

वातज प्रमेह में स्नेहकल्पना—कफज प्रमेह या पित्तज प्रमेह का वायु के साथ अनुबन्ध देखकर स्नेह प्रयोग की कल्पना करनी चाहिए। कफज में कफनाशक कषायों से सिद्ध तैल का प्रयोग और पित्तज प्रमेह में वातानुबन्ध होने पर पित्तनाशक कषायों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए॥ ३७॥

त्रिकण्टकाश्मन्तकसोमवल्कैर्भल्लातकैः सातिविषैः सलोध्रैः।
वचापटोलार्जुननिम्बमुस्तैर्हरिद्रया पद्मकदीप्यकैश्च॥ ३८॥
मञ्जिष्ठया चागुरुचन्दनैश्च सर्वैः समस्तैः कफवातजेषु।
मेहेषु तैलं विपचेद्, घृतं तु पैत्तेषु, मिश्रं त्रिषु लक्षणेषु॥ ३९॥

त्रिकण्टकाद्य स्नेह (तैल-घृत)—गोखरू, पाषाणभेद, श्वेत खदिर, शुद्ध भिलावा, अतीस, पठानी लोध, मीठा वच, परवर की पत्ती, अर्जुन की छाल, नीम की छाल, नागरमोथा, हल्दी, पद्मकाठ, अजवायन, मजीठ, अगर और लालचन्दन— इनके क्वाथ और कल्क से तेल पकाकर कफ और वात से उत्पन्न प्रमेहों में प्रयोग करना चाहिए तथा पित्त से उत्पन्न प्रमेहों में उक्त औषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार जब प्रमेह में वात-पित्त-कफ, इन तीनों दोषों के लक्षण विद्यमान हों, तो तैल और घी दोनों को समान भाग में लेकर उन्हीं औषधों के चतुर्गुण क्वाथ एवं चतुर्थांश कल्क डालकर घृत-तैल (यमक) सिद्धकर प्रयोग करे।

फलत्रिकं दारुनिशां विशालां मुस्तां च निःक्वाथ्य निशां सकल्काम्।
पिबेत् कषायं मधुसम्प्रयुक्तं सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु॥ ४०॥

सर्वप्रमेहहर फलत्रिकादि क्वाथ—आँवला, हर्रे, बहेड़ा, दारुहल्दी, इन्द्रवारुणी और नागरमोथा—इनके क्वाथ में हल्दी का चूर्ण और मधु मिलाकर कोई भी प्रमेह रोग बढ़ा हो, उसमें सेवन करना चाहिए। यह क्वाथ अतीव व्यावहारिक तथा सर्व प्रमेहहर है॥ ४०॥

लोध्रं शटीं पुष्करमूलमेलां मूर्वां विडङ्गं त्रिफलां यमानीम्।
चव्यं प्रियङ्गुं क्रमुकं विशालां किराततिक्तं कटुरोहिणीं च॥ ४१॥
भार्ङ्गीं नतं चित्रकपिप्पलीनां मूलं सकुष्ठातिविषं सपाठम्।
कलिङ्गकान् केशरमिन्द्रसाह्वां नखं सपत्रं मरिचं प्लवं च॥ ४२॥
द्रोणेऽम्भसः कर्षसमानि पक्त्वा पूते चतुर्भागजलावशेषे।
रसेऽर्धभागं मधुनः प्रदाय पक्षं निधेयो घृतभाजनस्थः॥ ४३॥

लोध्रासवोऽयं कफपित्तमेहान् क्षिप्रं निहन्याद् द्विपलप्रयोगात्।
पाण्ड्वामयार्शांस्यरुचिं ग्रहण्या दोषं किलासं विविधं च कुष्ठम्॥ ४४॥

इति लोध्रासवः।

लोध्रासव अथवा मध्वासव—लोध, कचूर, पोहकरमूल, छोटी इलायची, मूर्वा (मरोड़फली), वायविडङ्ग, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, अजवायन, चाभ, प्रियंगु, सुपारी, इन्द्रायण की जड़, चिरायता, कुटकी, भारंगी, तगर, चित्रकमूल, पिपरामूल, कूठ, अतीस, पाठा, इन्द्रयव, नागकेशर, इन्द्रसाह्वा (इन्द्रयव), नखी, तेजपत्ता, मरिच और केवटीमोथा— इन औषधियों को १-१ कर्ष की मात्रा में लेकर १ द्रोण जल में पकायें और चतुर्थांश बचने पर उतार कर छान लें। इस क्वाथ के प्रमाण से आधे प्रमाण में मधु मिलाकर इस मधु-मिश्रित क्वाथ को घृतलिप्त मृत्पात्र में भरकर १५ दिनों तक जमीन में आकण्ठ गाड़कर सुरक्षित रख दें। बाद में दो बार छानकर स्वच्छ मृत्पात्र या बोतलों में रख दें। २ पल की मात्रा में (समान जल मिलाकर भोजनोपरान्त दोनों समय) पीने से यह आसव कफज प्रमेह, पित्तज प्रमेह, पाण्डु, अर्श, अरुचि, ग्रहणीरोग, किलास (श्वेतकुष्ठ) तथा अन्य विविध प्रकार के कुष्ठों को शीघ्र ही दूर करता है॥ ४१-४४॥

वक्तव्य—इस आसव में इन्द्रयव दो बार पठित है, अतः उसकी २ कर्ष मात्रा लेनी चाहिए। इस आसव की मात्रा वर्तमान काल में २०-३० मि० ली० लेनी चाहिए।

क्वाथः स एवाष्टपलं च दन्त्या भल्लातकानां च चतुष्पलं स्यात्।
सितोपला त्वष्टपला विशेषः क्षौद्रं च तावत् पृथगासवौ तौ॥ ४५॥

दन्त्यासव—लोध्रासव में पठित द्रव्यों को १-१ कर्ष तथा दन्तीमूल ८ पल डालकर पूर्ववत् क्वाथ का निर्माण कर क्वाथ का आधा मधु और ८ पल मिश्री मिलाकर सन्धान करने से दन्त्यासव बनता है।

भल्लातकासव—लोध्रासव में निर्दिष्ट क्वाथ के द्रव्यों के साथ ४ पल भिलावा डालकर क्वाथ तैयार करें और क्वाथ का आधा मधु तथा ८ पल मिश्री डालकर सन्धान करें। इस प्रकार अलग-अलग ये दो आसव तय्यार हो जाते हैं। इनका गुण लोध्रासव की तरह है॥ ४५॥

सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा मधूदकं वा त्रिफलारसं वा।
सीधुं पिबेद्वा निगदं प्रमेही माध्वीकमद्यं चिरसंस्थितं वा॥ ४६॥

प्रमेह में पेय द्रव—किसी भी प्रकार के प्रमेह रोगी को खैर की लकड़ी, विजयसार की लकड़ी या अश्वत्थ-वट आदि वृक्षों की लकड़ी के बुरादे को १ कर्ष लेकर १ प्रस्थ जल में अर्धावशिष्ट पकाकर पीने के लिए प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार पूर्वोक्त विधि से बनाया हुआ कुश का जल या मधु का शर्बत, त्रिफला का क्वाथ, ईख का रस, धूप में पकाकर तय्यार सीधु (मद्य विशेष) या मुनक्का से निर्मित पुराना निर्मल मद्य पान करें॥ ४६॥

मांसानि शूल्यानि मृगद्विजानां खादेद् यवानां विविधांश्च भक्ष्यान्।
संशोधनारिष्टकषायलेहैः सन्तर्पणोत्थाञ् शमयेत् प्रमेहान्॥ ४७॥
भृष्टान् यवान् भक्षयतः प्रयोगाज्जुष्कांश्च सक्तून्न भवन्ति मेहाः।
श्वित्रं च कृच्छ्रं कफजं च कुष्ठं तथैव मुद्गामलकप्रयोगान्॥ ४८॥

सन्तर्पणजन्य प्रमेह में अन्नपान—जांगल पशु-पक्षियों का लोहे की छड़ पर रखकर आँच पर पकाया हुआ मांस (कवाब) तथा जौ से बने अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थों का सेवन करें और आवश्यकतानुसार संशोधन (वमन-विरेचन-वस्ति आदि), अरिष्टपान, कषायपान एवं अवलेहों के सेवन से सन्तर्पण से उत्पन्न प्रमेहों का शमन करें। भुने हुए जौ और जौ के सूखे सत्तू खाने वालों को प्रमेह नहीं होता। इसी प्रकार मूँग और आँवले के नित्य प्रयोग करने से (प्रमेह) श्वित्र (श्वेतकुष्ठ) मूत्रकृच्छ्र, कफ के रोग और कुष्ठ रोग नहीं होते॥ ४७-४८॥

सन्तर्पणोत्थेषु गदेषु योगा मेदस्विनां ये च मयोपदिष्टाः।
विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धाः प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्याः॥ ४९॥

कफपित्तज प्रमेहों में विरूक्षण उपचार—सन्तर्पण से उत्पन्न होने वाले रोगों में (चरकसंहिता-सूत्रस्थान २३वें अध्याय के श्लोक १० से २५ तक) जो योग (त्रिफलादि एवं मुस्तादि क्वाथ, कुष्ठादि चूर्ण, त्र्यूषणादि मन्थ, व्योषाद्य सक्तु एवं आहार-विहार) बतलाये गये हैं और मेदस्वी लोगों की चिकित्सा के लिए (चरक-सूत्रस्थान अ० २१।२०-२८) जो चिकित्सा-सिद्धान्त (औषध-आहार-विहार) आदि कहे गये हैं, उन सभी अनुभूत योग-प्रयोगों का कफ तथा पित्त से उत्पन्न प्रमेहों में विरूक्षण के लिए प्रयोग करना चाहिए॥ ४९॥

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहा॥ ५०॥

प्रमेह में व्यायाम तथा बाह्य उपचार—अनेक प्रकार के आसन-व्यायाम एवं परिश्रम के कार्य करते रहने से, बलपूर्वक शरीर को रगड़कर उबटन लगाने से, (प्रमेहहर योगों में कही गयी औषधियों को डालकर पकाये हुए जल से) स्नान, जलावगाहन, परिषेक आदि से और खश, दालचीनी, छोटी इलायची, अगर तथा चन्दन आदि का शरीर में लेप लगाते रहने से प्रमेह रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं॥ ५०॥

क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि॥ ५१॥

प्रमेह में दोषानुसार अपतर्पण—जब शरीर में क्लेद (जलीयांश), मेद (चर्बी) और कफ, ये बढ़ जाते हैं, तब ये प्रमेहोत्पादक कारण हो जाते हैं। इसलिए इनका विचार कर वैद्य को कफज तथा पित्तज प्रमेहों में अपतर्पण का प्रयोग कराना चाहिए। (क्योंकि पीछे श्लोक १७ में अपतर्पण से गुल्म आदि होने की बात कही गयी है, अतः स्वविवेक बुद्धि से सोच-समझकर कर्तव्य का निर्धारण करना चाहिए)॥ ५१॥

या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्शितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता॥ ५२॥

वातोल्बण प्रमेह चिकित्सा—कफ या पित्त के वृद्ध होने पर वृद्धतर वात से जो प्रमेह होता है, उसके लिए वातज प्रमेहों के लिए जो चिकित्सा (श्लोक ३४) पहले कही गयी है, वही चिकित्सा समझनी चाहिए। जब प्रमेह के रोगी अति कृश हो जाते हैं, तब उनमें वायु का ही अधिक प्रकोप होता है और वातज प्रमेह (वसामेह आदि) जो होते हैं, वे तो असाध्य होते हैं और असाध्य रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती है, क्योंकि उनमें सफलता की आशा नहीं होती॥ ५२॥

यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः।
हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा॥ ५३॥

प्रमेह में निदान का त्याग, एक उपचार—जिन-जिन कारणों से जो-जो प्रमेह होते हैं, उन-उन प्रमेहों में उन-उन कारणों का परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि रोगजनक कारणों का सेवन न करना भी उत्पन्न हुए रोग की चिकित्सा है (इसीलिए निदानपरिवर्जन को संक्षिप्त चिकित्सा कहा गया है)॥ ५३॥

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥ ५४॥

रक्तपित्त में प्रमेह का भ्रम-निवारण—जब किसी व्यक्ति में प्रमेह का पूर्वरूप विद्यमान न हो और वह हल्दी के समान पीले रंग का मूत्र त्याग करता हो या रक्तमिश्रित मूत्र का त्याग करता हो, तब उसको प्रमेह नहीं कहना चाहिए, अपितु उसे रक्तपित्त रोग जानना चाहिए॥ ५४॥

वक्तव्य—प्रमेह के पूर्वरूपों के उपस्थित रहने पर यदि हरिद्रावर्ण या रक्तमिश्रित मूत्र आता है, तो उसे पित्तज प्रमेहों में हारिद्रमेह, माञ्जिष्ठमेह या लक्षणानुसार रक्तमेह समझना चाहिए। अन्यथा प्रमेह के पूर्वरूप न होने पर उसे रक्तपित्त समझना चाहिए।

मूत्र में पित्त की अधिक मात्रा होने से मूत्र हरिद्रावर्ण का हो जाता है। यकृद्-विकार और कामला में यह स्थिति होती है। जब रक्तकण भी मूत्र में आने लगते हैं, तो उसे रक्तमेह कहते हैं। ये दोनों प्रमेह वृक्कार्बुद, वृक्काश्मरी या वस्ति के अर्बुद में पाये जाते हैं। माञ्जिष्ठमेह भी रक्तमेह का ही एक प्रकार है। वृक्क या गविनी के रक्तस्राव में यह स्थिति होती है। एवं रक्तपित्त के पूर्वरूपों के होने पर उक्त वर्ण का मूत्र हो तो उसे रक्तपित्त समझना चाहिए।

द्रष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् सन्तर्पणाद्वा कफसम्भवः स्यात्॥ ५५॥

प्रमेह विशेष के निर्णय का आधार—प्रमेह रोगी के मूत्र को मधुर रस वाला, झागदार और मधु के समान वर्णादियुक्त देखकर दो तरह का विचार मन में उठता है। प्रथम यह कि दोष कफादि (एवं दूष्य) के क्षीण होने पर यदि उक्त लक्षण दीख पड़ें तो वातप्रमेह जानना चाहिए और यदि सन्तर्पण आहार-विहार के सेवन का इतिहास मिले तो कफज प्रमेह हो सकता है॥ ५५॥

वक्तव्य—शर्करायुक्त प्रमेह दो प्रकार का माना गया है—१. कफजन्य और २. वातजन्य। इनमें कफजन्य सन्तर्पण से तथा वातजन्य धातुक्षय से होता है। मूत्रपरीक्षा से शर्करा का ज्ञान होता है। कफजन्य शर्करामेह को इक्षुमेह माना जाता है। यह रोग मधुमेह से भिन्न है, क्योंकि इसमें रक्त में शर्करा नहीं पायी जाती है। मधुमेह में रक्त में शर्करा उपस्थित रहती है। क्षौद्रमेह को मधुमेह मानना ठीक है। यद्यपि मधुमेह प्रमेहों की चरम परिणति है और कोई भी प्रमेह जब साध्यता की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, तब वह मधुमेह हो जाता है। मधुमेह को डायबिटीज मेलाइटस कहते हैं।

सन्तर्पणजन्य कफज प्रमेहों में अपतर्पण और धातुक्षयज वातज प्रमेहों में सन्तर्पण चिकित्सा की जाती है। अतः चिकित्सा-पार्थक्य की दृष्टि से यह भेद करना आवश्यक होता है।

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः।
साध्या न ते, पित्तकृतास्तु याप्याः, साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम्॥ ५६॥

साध्य, याप्य एवं असाध्य प्रमेह—कफ प्रमेह (यद्यपि साध्य कहे गये हैं, किन्तु) जब अपने लक्षणों से युक्त हों और साथ-साथ प्रमेह के पूर्वरूप (स्वेद, अङ्गगन्ध आदि) से भी युक्त हों तो वे असाध्य होते हैं। पित्तज प्रमेह (यद्यपि याप्य कहे गये हैं, किन्तु) जब पूर्वरूप के साथ होते हैं, तब वे असाध्य हो जाते हैं। वातज प्रमेह जब अपने प्रकोपक कारणों से उत्पन्न हों, तो वे असाध्य होते हैं (किन्तु कफज या पित्तज प्रमेहों में जो वातानुबन्ध होने से उनके वातज होने का व्यपदेश होता है, तो ऐसे प्रमेह साध्य या याप्य होते हैं) पित्तज प्रमेह बिना पूर्वरूप के भी साध्य नहीं अपितु याप्य होते हैं। यदि पित्तज प्रमेह में मेद अधिक दुष्ट न हो, तो वे साध्य होते हैं॥ ५६॥

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान्॥ ५७॥

वंशानुगत प्रमेह असाध्य—जन्मकालिक (सहज) प्रमेह अथवा मधुमेह के रोगी पिता की सन्तान प्रमेहारम्भक दोषदुष्टबीज से उत्पन्न होने के कारण असाध्य होती है। इसी प्रकार अन्य रोग भी जो कुल परम्परागत रूप से पुत्र में संक्रान्त होते हैं, उन्हें भी विद्वान् चिकित्सक असाध्य बतलाते हैं॥ ५७॥

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सप्त।
ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च॥ ५८॥

शरावीका कच्छपिका जालिनी शर्षपी तथा।
अलजी विनताख्या च विद्रधिः चेति सप्तमी।। च.सू.१८

प्रमेहपिडका की चिकित्सा शल्यविद् करें—मैंने रोगाधिकार (चरक-सूत्रस्थान १७।८२-१०३) में अलग प्रमेह के रोगियों को होने वाली सात प्रकार की पिड़काओं को कहा है। उनकी चिकित्सा शल्यशास्त्र के कुशल चिकित्सकों द्वारा आवश्यकतानुसार शस्त्रप्रयोग से संशोधन करके तथा रोपणकारक औषधों के प्रयोग से करनी चाहिए॥५८॥

तत्र श्लोकाः—

हेतुर्दोषो दूष्यं मेहानां साध्यतानुरूपश्च। मेही द्विविधस्त्रिविधं भिषग्जितमतिक्षपणदोषः॥५९॥
आद्या यवान्नविकृतिर्मन्था मेहामहाः कषायाश्च। तैलघृतलेहयोगा भक्ष्याः प्रवरासवाः सिद्धाः॥
व्यायामविधिर्विविधः स्नानान्युद्वर्तनानि गन्धाश्च। मेहानां प्रशमार्थं चिकित्सिते दिष्टमेतावत्॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
प्रमेहचिकित्सितं नाम षष्ठोध्यायः॥६॥

अध्याय का उपसंहार—आचार्य पुनर्वसु ने 'प्रमेहचिकित्सित' नामक इस अध्याय में प्रमेह के कारण, दोष और दूष्य, साध्यता, पूर्वरूप, दो प्रकार के प्रमेह रोगी, प्रमेह की (१. संशोधन, २. संशमन और ३. निदानपरिवर्जन), ये तीन प्रकार की चिकित्साएँ, प्रमेह रोगी के अति अपतर्पण से होने वाले (गुल्म, क्षय आदि) दोष, खाने के लिए अनेक प्रकार के जौ से बने हुए पदार्थ, मन्थ (सत्तू का घोल), प्रमेहनाशक कषाय, तैल, घृत, घृत और अवलेह के योग, अनेक भक्ष्य आहार, उत्तम प्रकार के अनुभूत फल वाले आसव, अनेक प्रकार की व्यायाम विधियाँ, स्नान, उबटन तथा सुगन्धित पदार्थों के आलेपनों का वर्णन प्रमेह रोग के प्रशमनार्थ किया है॥५९-६१॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'प्रमेहचिकित्सित' नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ॥६॥

प्रमेहपिड़का-बोधक सारणी

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. शरावि‌का	१. शरावि‌का	१. शरावि‌का
२. कच्छपिका	२. कच्छपिका	२. कच्छपिका
३. जालिनी	३. जालिनी	३. जालिनी
४. सर्षपी	४. सर्षपी	४. सर्षपिका
५. अलजी	५. अलजी	५. अलजी
६. विनता	६. विनता	६. विद्रधि
७. विद्रधि	७. विद्रधिका	७. मसूरिका
	८. मसूरिका	८. पुत्रिणी
	९. पुत्रिणी	९. विदारिका
	१०. विदारिका	

संहिता-ग्रन्थों में वर्णित प्रमेहों में सामञ्जस्य बोधक सारणी

चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टाङ्गहृदय	माधवनिदान
कफज प्रमेह :			
१. उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह
२. इक्षुरसमेह	इक्षुवालिकामेह	इक्षुमेह	इक्षुमेह
३. सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह
४. सान्द्रप्रसादमेह	सुरामेह	सुरामेह	सुरामेह
५. शुक्लमेह	पिष्टमेह	पिष्टमेह	पिष्टमेह
६. शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह
७. शीतमेह	-	शीतमेह	शीतमेह
८. सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह
९. शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह
१०. लालामेह	-	लालामेह	लालामेह
११. -	लवणमेह	-	-
१२. -	फेनमेह	-	-
पित्तज प्रमेह :			
१. क्षारमेह	क्षारमेह	-	क्षारमेह
२. कालमेह	-	कालमेह	कालमेह
३. नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह
४. लोहितमेह	शोणितमेह	रक्तमेह	रक्तमेह
५. माञ्जिष्ठमेह	मञ्जिष्ठामेह	मञ्जिष्ठामेह	मञ्जिष्ठामेह
६. हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह
७. -	अम्लमेह	-	-
वातज प्रमेह :			
१. वसामेह	वसामेह	वसामेह	वसामेह
२. मज्जामेह	सर्पिर्मेह	मज्जामेह	मज्जामेह
३. हस्तिमेह	हस्तिमेह	हस्तिमेह	हस्तिमेह
४. मधुमेह	क्षौद्रमेह	मधुमेह	मधुमेह

द्विविध प्रमेही चिकित्सा-सारणी

स्थूल और बलवान् प्रमेही	कृश तथा दुर्बल प्रमेही
निदानपरिवर्जन : संशोधन चिकित्सा	**निदानपरिवर्जन : संशमन चिकित्सा**
वमन तथा विरेचन/सन्तर्पण/आसव-अरिष्ट कषाय-लेह एवं शूल्य मांस का सेवन/-यव के विविध रूक्ष भक्ष्य/यव का भात, वाट्य (भूजा) एवं सत्तू/मेदस्वी पुरुषों का **अपतर्पण** /कफ एवं मेदोहर उपचार/तीक्ष्ण, उष्ण एवं रूक्ष वस्तियाँ/रूक्ष उबटन/-तक्रारिष्ट/मुस्तादि क्वाथ/मधु का शर्बत/-व्यायाम/जागरण/मानसिक एवं शारीरिक श्रम करना/ चिन्तन आदि।	मन्थ-कषाय-अवलेह/यवान्न के भक्ष्य/लघु भक्ष्य सेवन/अभ्यंग-उन्मर्दन/प्रदेह-परिषक/-शारीरिक एवं मानसिक विश्राम/जांगल पशु-पक्षियों का मनोऽनुकूल मांसरस सेवन/शालि चावल/सुगन्धानुलेपन/रसायन योगों का सेवन एवं वाजीकरण योगों का प्रयोग।

प्रमेह चिकित्सा क्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	आहार-विहार
कफप्रमेह में—सन्तर्पणजन्य प्रमेह में अपर्तण करना चाहिए। वमन कराना चाहिए और उसके बाद सन्तर्पण का प्रयोग करें। त्रिफला क्वाथ की भावना दिये हुए जौ के सत्तू का मधु एवं सीधु के साथ प्रयोग। **कफज प्रमेह में वायु का अनुबन्ध होने पर**—कफनाशक कषाय योगों में कथित औषधों से सिद्ध तैल का प्रयोग करें। **पित्तज प्रमेह में**—विरेचन, सन्तर्पण और संशमन का प्रयोग करें। **पित्त प्रमेह में वायु का अनुबन्ध होने पर**—पित्तनाशक कषायों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए। **वात प्रमेह में**—कफ-पित्त प्रमेहनाशक औषधों से सिद्ध तैल एवं घृत का प्रयोग करें, क्योंकि कषाय औषधें मेद एवं कफ को और स्नेह वायु को शान्त करते हैं।	कफ प्रमेहनाशक हरीतक्यादि दस कषाय योगों का प्रयोग। दार्वीसुराह्वादि कषाय एवं आमलकी स्वरस में हरिद्राचूर्ण तथा मधु डालकर प्रयोग करें। कम्पिल्लक आदि चूर्ण तथा कफनाशक कषाय भावित यव के भक्ष्यों का सेवन। **मेदस्वी पुरुषों के विरूक्षणार्थ**—त्रिफला, गुडूची, शिलाजतु कालोह भस्म एवं मधु का प्रयोग। आसव, अरिष्ट, क्वाथ सेवन करना चाहिए। **पित्तज प्रमेहनाशक**—उशीर-लोध्रादि दस योगों के कषाय का प्रयोग। कम्पिल्लकादि चूर्ण। **सर्वविध प्रमेहों पर** त्रिकण्ट-काद्य स्नेह। फलत्रिकादि क्वाथ लोध्रासव, दन्त्यासव, क्षारोदक, कुशोदक, मधु का शर्बत, सीधु, माध्वीक का प्रयोग।	**सभी प्रमेहों में**—यव का भात, भूजा, सत्तू, पुआ आदि पथ्य है। पुराना शालि चावल, सावाँ, कोदो, टाँगुन का चावल, बाँस का चावल, मूँग का यूष, परवर, करेला आदि तिक्त शाक। दन्ती, हिंगोट, सरसों और तीसी के तेल। गदहा, घोड़ा, गाय आदि को जौ खिलाकर फिर उनके विट से निकले जौ का विविध भक्ष्य बनाकर सेवन करे। **पेय-द्रव**—षडंगपानीय विधि से पकाया गया विजयसार खैर, कुश का जल, सीधु (सिरका) और माध्वीक का सेवन करें। **मांस**—विष्किर, प्रतुद एवं जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस एवं शूल्य मांस। **विहार**—अनेक प्रकार के व्यायाम, प्रगाढ़ उबटन, स्नान, जलावगाहन और आलेपन आदि।

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'कुष्ठचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—यज्ञ के हविष्य के प्राशन से प्रमेह और कुष्ठ की उत्पत्ति का इतिहास बतलाया गया है, इसीलिए प्रमेह के बाद कुष्ठ रोग का वर्णन किया जा रहा है। शरीर को विकृत करने के कारण इस रोग को कुष्ठ कहा जाता है—'कुष्णाति सर्वं वपुः इति कुष्ठम्'। इसमें वात-पित्त-कफ, ये तीन दोष तथा त्वचा, रक्त, मांस और लसीका, ये चार दूष्य होते हैं। यह प्रथम तो किसी त्वचा में वैवर्ण्य उत्पन्न करता है, किन्तु शनैः शनैः उक्त सात द्रव्यों (तीन दोष एवं चार दूष्य) के संग्रह से समस्त शरीर को आक्रान्त कर देता है। यह संक्रामक व्याधि है, फिर भी इसके एक भेद श्वित्र को संक्रामक नहीं माना जाता है। इस रोग के निदान में पूर्वजन्मकृत कर्म को, पाप को, गुरुजनों के तिरस्कार आदि को भी कारण कहा गया है, इसलिए यह रोग प्रायश्चित्त के रूप में एक अभिशाप है और कितनी भी युक्तियाँ दी जायें किन्तु समाज इस रोग को घृणा की दृष्टि से देखता है और ऐसा इसलिए कि प्रत्यक्ष ही आकृति की विकृति दिखायी देती है। शास्त्रकारों ने इसके भेदों और प्रकारों का वर्णन किया है, किन्तु फिर भी इस रोग की किसी निश्चित संख्या की अवधारणा नहीं बनायी जा सकती—'अपरिसंख्येय विधानि च' (चरक-निदान०) क्योंकि इसके दूष्यों की विकृतियों की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

हेतुं द्रव्यं लिङ्गं कुष्ठानामाश्रयं प्रशमनं च। शृण्वग्निवेश! सम्यग्विशेषतः स्पर्शनघ्नानाम्॥ ३॥

कुष्ठ-वर्णन का उपक्रम—भगवान् पुनर्वसु ने सावधान करते हुए कहा—हे अग्निवेश! त्वचा को विनष्ट करने वाले कुष्ठों के कारण, कुष्ठों के सप्तद्रव्य (तीनों दोष तथा त्वचा-रक्त-मांस एवं लसीका) लक्षण, उनके आश्रय और उनकी चिकित्सा को विशेषरूप से कह रहा हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ३॥

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च। भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान्प्रतिघ्नताम्॥ ४॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वोपसेविनाम्। शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्॥
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम्। अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम्॥ ६॥
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्। माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम्॥ ७॥
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा। विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्॥ ८॥

कुष्ठ के कारण—जो लोग विरोधी खाद्य-पेय का सेवन तथा अधिक द्रव स्निग्ध एवं भारी पदार्थों का सेवन करते हैं, बहिर्गमनोन्मुख वमन के वेगों को और मल-मूत्रादि के वेगों को रोकते हैं, जो लोग अधिक मात्रा में भोजन करने के पश्चात् व्यायाम, धूप या अग्नि का अधिक सेवन करते हैं; जो लोग शीत, उष्ण, उपवास एवं भोजन का नियम-विरुद्ध सेवन करते हैं; जो धूप, परिश्रम या भय से पीड़ित होकर (बिना विश्राम किये) शीघ्र ही ठण्डा पानी पीते हैं; जो अजीर्ण रहने पर भी पुनः भोजन कर लेते हैं; जो लोग पञ्चकर्मों (वमन-विरेचन-निरूह-अनुवासन-नस्य) का अविधि प्रयोग करते हैं; जो लोग अधिकतर नया अन्न, दही, मछली, नमक तथा अधिकांश अम्ल का सेवन करते हैं; जो उड़द, मूली, पिष्टान्न, गुड़, दूध और तिल का अधिक सेवन करते हैं; जो अजीर्ण की स्थिति में स्त्री-प्रसंग करते हैं; जो दिन में भी

सोते हैं; जो लोग ब्राह्मणों एवं गुरुजनों का तिरस्कार करते हैं और तरह-तरह के पापों के आचरण में लगे रहते हैं, उन्हें कुष्ठ रोग होता है॥ ४-८॥

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च। दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसङ्ग्रहः॥ ९॥
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च। न चैकदोषजं किञ्चित् कुष्ठं समुपलभ्यते॥ १०॥

कुष्ठ की सम्प्राप्ति—उक्त हेतुओं से प्रदुष्ट हुए वात-पित्त-कफ, ये तीनों ही दोष त्वचा, रक्त, मांस और लसीका को दूषित कर देते हैं। इस प्रकार कुष्ठ को उत्पन्न करने वाले सात द्रव्यों का यह संग्रह है। इनसे ही अर्थात् इन सात दोष-दूष्यों के प्रदुष्ट होने से अठारह प्रकार के कुष्ठ होते हैं। कोई भी कुष्ठ एकदोषज नहीं पाया जाता है॥ ९-१०॥

वक्तव्य—कुष्ठ २ प्रकार के कहे गये हैं—१. क्षुद्रकुष्ठ और २. महाकुष्ठ। क्षुद्रकुष्ठ ग्यारह प्रकार का और महाकुष्ठ सात प्रकार का होता है। क्षुद्रकुष्ठ को आधुनिक विचार से त्वचा का रोग और महाकुष्ठ को कुष्ठ या लेप्रासी कहते हैं। उक्त कारणों से प्रकुपित पित्त तथा कफ प्रकुपित वायु के साथ तिर्यग्गामिनी सिराओं के द्वारा बाह्य रोगमार्ग में चारों ओर फैल जाते हैं। जिस-जिस जगह ये दोष पहुँचते हैं, वहाँ मण्डलों की उत्पत्ति हो जाती है। त्वचा में फैलने पर यदि शीघ्र उपचार नहीं हो पाता, तो कुपित दोष आभ्यन्तर धातुओं में प्रविष्ट होकर गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं।

कुष्ठ-वीसर्प सापेक्ष निदान-सारणी

कुष्ठ	वीसर्प
१. यह चिर क्रिया वाले स्थिर एवं निर्बल रक्त-पित्त वाले दोषों से होता है।	१. यह अचिरकारी विसर्पणशील प्रबल रक्त-पित्त वाले दोषों से होता है।
२. यह त्रिदोषज ही होता है।	२. यह वातादि एक-एक दोष से भी होता है।
३. यह गुरु अवज्ञा एवं पापकर्मज होता है।	३. इसमें पापकर्म कारण नहीं होता।
४. इसके चार प्रमुख दूष्य हैं।	४. इसमें प्रधान दूष्य रक्त होता है।
५. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक है।	५. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक नहीं।

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः। कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः॥११॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः। दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम्॥ १२॥

कुष्ठ का पूर्वरूप—स्पर्श का ज्ञान न होना, पसीने का अधिक निकलना अथवा पसीने का बिलकुल न होना, त्वचा का रंग बदरंग हो जाना, चकत्तों का उभड़कर उठ जाना, रोमाञ्च होना, खुजली होना, सुई चुभने जैसा दर्द उठना, थकावट होना, इन्द्रियों का अपना कार्य करने में असमर्थ होना, व्रण होने पर उनमें अधिक दर्द होना, व्रणों का शीघ्र उत्पन्न होना, दीर्घकाल तक व्रणों का अच्छा न होना, जलन होना और अङ्गों में सूनापन होना—ये सब कुष्ठ रोग के पूर्वरूप हैं॥ ११-१२॥

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणैककुष्ठ चर्मा-ख्यकिटिभविपादिकालसकदद्रुचर्मदलपामाविस्फोटकशतारुर्विचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः॥ १३॥

अष्टादश कुष्ठ—इसके आगे (हम) अठारह प्रकार के कुष्ठों के लक्षणों का उपदेश करेंगे; यथा—१. कपाल, २. उदुम्बर, ३. मण्डल, ४. ऋष्यजिह्व, ५. पुण्डरीक, ६. सिध्म, ७. काकण, ८. एककुष्ठ, ९. चर्माख्य, १०. किटिभ, ११. विपादिका, १२. अलसक, १३. दद्रु, १४. चर्मदल, १५. पामा, १६. विस्फोटक, १७. शतारु और १८. विचर्चिका। (इनमें प्रथम सात महाकुष्ठ हैं और शेष ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ हैं)॥ १३॥

कुष्ठ नाम-मतभेद दर्शक सारणी

	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
महाकुष्ठ	१. कपाल	कपाल	कपाल
	२. औदुम्बर	उदुम्बर	औदुम्बर
	३. मण्डल	अरुण	मण्डल
	४. ऋष्यजिह्व	ऋष्यजिह्व	ऋष्यजिह्व
	५. पुण्डरीक	पुण्डरीक	पुण्डरीक
	६. सिध्म	दद्रु	दद्रु
	७. काकण	काकण	काकण
क्षुद्रकुष्ठ	१. एककुष्ठ	एककुष्ठ	एककुष्ठ
	२. चर्मकुष्ठ	स्थूलारुष्क	चर्मकुष्ठ
	३. किटिभ	किटिभ	किटिभ
	४. विपादिका	महाकुष्ठ	विपादिका
	५. अलसक	विसर्प	अलसक
	६. दद्रु	परिसर्प	सिध्म
	७. चर्मदल	चर्मदल	चर्मदल
	८. पामा	पामा	पामा
	९. विस्फोट	सिध्म	विस्फोट
	१०. शतारु	रकसा	शतारु
	११. विचर्चिका	विचर्चिका	विचर्चिका

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु। कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम्॥ १४॥

(१) कपाल कुष्ठ का लक्षण—काली लालिमा लिये हुए घड़े के टूटे टुकड़े की तरह आभावाले रूक्ष, कठोर, पतले, विषम आकार वाले और सुई चुभाने जैसी वेदना वाले कुष्ठ को 'कपाल कुष्ठ' कहते हैं॥ १४॥

दाहकण्डूरुजारागपरीतं लोमपिञ्जरम्। उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः॥ १५॥

(२) औदुम्बरकुष्ठ का लक्षण—जो जलन, खुजली, पीड़ा और लालिमा से व्याप्त हो, जिसके लोम पीले वर्ण के हों और जो देखने में गूलर के (पके) फल जैसा दीखे, उसे 'औदुम्बर कुष्ठ' कहते हैं॥ १५॥

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्। कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते॥ १६॥

(३) मण्डल कुष्ठ का लक्षण—जो सफेदी लिए लाल रंग का हो, स्थिर और घना हो, चिकना तथा उठा हुआ मण्डलाकार हो, एक-दूसरे मण्डल (चकत्ते) जिसमें सटे हों, उसे 'मण्डल कुष्ठ' कहते हैं॥ १६॥

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम्। यद् ऋष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते॥ १७॥

(४) ऋष्यजिह्व कुष्ठ का लक्षण—जो खुरदुरा हो, जिसके किनारे लाल हों, जो भीतर से श्याव वर्ण हो, जो वेदनायुक्त हो और जो नीले अण्डकोष वाले हरिणविशेष की जीभ के समान आकार वाला हो, उसे 'ऋष्यजिह्व कुष्ठ' कहते हैं॥ १७॥

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्। सोत्सेधं च सदाहं च पुण्डरीकं तदुच्यते॥ १८॥

(५) **पुण्डरीक कुष्ठ का लक्षण**—जो सफेदी लिये लाल किनारी वाला हो, जो रक्तकमल के सदृश हो, जो उठा हुआ हो और जिसमें दाह भी हो, उसे 'पुण्डरीक कुष्ठ' कहते हैं॥ १८॥

श्वेतं ताम्रं तनु च यद् रजो घृष्टं विमुञ्चति। अलाबुपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि॥ १९॥

(६) **सिध्म कुष्ठ का लक्षण**—जो कुष्ठ श्वेताभ, ताम्र वर्ण का, पतला, घिसे जाने पर जिससे रूसी या धूल निकलती हो और जो लौकी के फूल के वर्ण का हो, उसे 'सिध्म कुष्ठ' कहते हैं। यह प्रायः छाती पर होता है॥ १९॥

यत् काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम्। त्रिदोषलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति॥ २०॥

इति सप्तमहाकुष्ठानि।

(७) **काकण कुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ का वर्ण रत्ती जैसा कृष्ण एवं लाल वर्ण का हो, जो पकता न हो, जिसमें तीक्ष्ण वेदना होती हो और जो तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त हो, उसे 'काकण कुष्ठ' कहते हैं। यह असाध्य होता है॥ २०॥

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्। तदेककुष्ठं—

(१) **एककुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ में पसीना न हो, जो बहुत स्थान घेर कर (बड़ा थाला बनाकर) फैला हो और जो मछली के छिलके के समान दीख पड़े, उसे 'एककुष्ठ' कहते हैं।

—चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत्॥ २१॥

(२) **चर्मकुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ में त्वचा की मोटाई हाथी के चमड़े के समान होती है, उसे 'चर्मकुष्ठ' कहते हैं॥ २१॥

श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं मतम्।

(३) **किटिभ कुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ का वर्ण श्याव हो और जो स्पर्श में व्रणचिह्न की तरह खुरदुरा हो तथा कठोर हो, उसे 'किटिभ कुष्ठ' कहते हैं।

वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम्॥ २२॥

(४) **विपादिका कुष्ठ का लक्षण**—जिसमें हाथ और पैर में फटन होती है और उसमें तीव्र वेदना होती है, उसे 'विपादिका कुष्ठ' कहते हैं॥ २२॥

कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम्।

(५) **अलसक कुष्ठ का लक्षण**—जिसमें लालिमा और खुजली के साथ फोड़े (अनेक व्रण) हो जाते हैं, उसे 'अलसक कुष्ठ' कहते हैं।

सकण्डूरागपिडकं वृत्तमण्डलमुद्गतम्॥ २३॥

(६) **दद्रु कुष्ठ का लक्षण**—खुजली और लालिमा युक्त (कुछ-कुछ) उभरी हुई पिडकाओं के चकत्ते को 'दद्रु कुष्ठ' कहते हैं॥ २३॥

रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत्। तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते॥ २४॥

(७) **चर्मदल कुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ में लालिमा हो, खुजली हो और व्रण हो, जो वेदना के साथ फूट भी जाता हो, जिसका स्पर्श असह्य होता हो, उसे 'चर्मदल कुष्ठ' कहते हैं॥ २४॥

पामा श्वेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडका भृशम्।

(८) **पामा कुष्ठ का लक्षण**—जिसमें श्वेत, लाल या श्याव वर्ण की अति खुजली युक्त बहुत-सी पिडकाएँ हों, उसे 'पामा कुष्ठ' कहते हैं।

स्फोटाः श्वेतारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः॥ २५॥

(९) **विस्फोट या स्फोट कुष्ठ का लक्षण**—जिस कुष्ठ में श्वेत तथा लाल वर्ण के पतली त्वचा वाले बहुत से स्फोट या पिडकाएँ हों, उसे 'स्फोट या विस्फोट कुष्ठ' कहते हैं॥ २५॥

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद् बहुव्रणम्।

(१०) **शतारु कुष्ठ का लक्षण**—जो कुष्ठ रक्त तथा श्याव वर्ण का हो, जिसमें जलन और पीड़ा हो एवं जो बहुत से व्रणों वाला हो, उसे 'शतारु कुष्ठ' कहते हैं।

सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका॥ २६॥

इत्येकादश क्षुद्रकुष्ठानि।

(११) **विचर्चिका कुष्ठ का लक्षण**—जिसमें खुजली के साथ श्याव वर्ण की बहुत-सी बहने वाली पिडकाएँ होती हैं, उसे 'विचर्चिका कुष्ठ' कहते हैं॥ २६॥

इस प्रकार ग्यारह क्षुद्र कुष्ठों का वर्णन किया जा चुका।

वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे। पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात् काकणं तु त्रिदोषजम्॥ २७॥
वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्मणि चाधिके। ऋष्यजिह्वं पुण्डरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते॥ २८॥
चर्माख्यमेककुष्ठं च किटिभं सविपादिकम्। कुष्ठं चालसकं ज्ञेयं प्रायो वातकफाधिकम्॥ २९॥
पामा शतारुर्विस्फोटं दद्रुश्चर्मदलं तथा। पित्तश्लेष्माधिकं प्रायः कफप्राया विचर्चिका॥ ३०॥

कुष्ठों में दोष-प्राधान्य का वर्णन—(यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं तथापि) (१) वातदोष की प्रधानता होने पर कापाल कुष्ठ, (२) कफ की प्रधानता होने पर मण्डल कुष्ठ, (३) पित्त की प्रधानता होने पर औदुम्बर कुष्ठ, (४) त्रिदोष की प्रबलता होने पर काकण कुष्ठ, (५) वात-पित्त की प्रधानता होने पर ऋष्यजिह्व कुष्ठ, (६) कफ-पित्त की प्रधानता होने पर पुण्डरीक कुष्ठ और (७) वात-कफ की प्रधानता होने पर सिध्म कुष्ठ होता है। (ये सात महाकुष्ठ कहे गये हैं)

प्रायः वात-कफ की प्रधानता होने पर १. चर्मकुष्ठ, २. एककुष्ठ, ३. किटिभ, ४. विपादिका तथा ५. अलसक होते हैं। पित्त-कफ की प्रधानता होने पर ६. पामा, ७. शतारु, ८. विस्फोट, ९. दद्रु और १०. चर्मदल, ये कुष्ठ होते हैं। कफ की प्रधानता होने पर ११. विचर्चिका कुष्ठ होता है॥ २७-३०॥

सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां तु बलाबलम्। यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया॥ ३१॥
दोषस्य यस्य पश्येत् कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्तम्। तस्यैव शमं कुर्यात्ततः परं चानुबन्धस्य॥

कुष्ठ चिकित्सा में प्रधान दोष की प्रथम चिकित्सा—यों तो सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, फिर भी दोषों के अपने निजी लक्षणों से उनकी सबलता तथा निर्बलता की समीक्षा कर तदनुसार (प्रधान दोष की प्रथम चिकित्सा के क्रम से) चिकित्सा की जाती है। कुष्ठों में जिस दोष के लक्षण को विशेष रूप से उभड़ा या बढ़ा हुआ देखें, पहले उसकी ही चिकित्सा करें। तत्पश्चात् गौण या अप्रधान (अनुबन्ध) दोष की चिकित्सा करें॥ ३१-३२॥

कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि। ज्ञायन्ते, तैर्हेतुर्हेतुस्तांश्च प्रकाशयति॥ ३३॥

कुष्ठ तथा दोष एक-दूसरे के ज्ञापक—विभिन्न कुष्ठों (कापाल-औदुम्बर आदि) के लक्षणों से उनके उत्पादक दोष जान लिये जाते हैं और वायु आदि दोषों के अपने विशिष्ट लक्षणों से कापाल, औदुम्बर आदि कुष्ठों का ज्ञान हो जाता है। कुष्ठों के लक्षणों से कारण का पता चलता है और कारण कुष्ठों के स्वरूप या लक्षणों को प्रकाशित करते हैं॥ ३३॥

रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलं सङ्कोचनं तथाऽऽयामः। पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च॥ ३४॥
कुष्ठेषु वातलिङ्गं, दाहो रागः परिस्रवः पाकः। विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम्॥

श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं चोत्सेधगौरवस्नेहाः। कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदः॥

कुष्ठों में दोषजन्य लक्षण—**वातज** कुष्ठों में रूक्षता, शरीर का सूखना, सुई चुभाने जैसी वेदना, शूल, त्वचा आदि में सिकुड़न, अंगों में खिंचाव, कठोरता, खुरदरापन, रोमाञ्च या झिनझिनी होना और कुष्ठाक्रान्त स्थल में श्याव अथवा अरुणवर्ण का होना—ये लक्षण वातज कुष्ठ के होते हैं। **पित्तज** कुष्ठों में जलन मालूम होना, लालिमा होना, स्राव का होना, पाक होना, आमगन्ध होना, क्लेद (गीलापन) होना और अंगुली आदि अंगों का गलकर गिर जाना—ये सब पित्तज कुष्ठ के लक्षण होते हैं। **कफज** कुष्ठों में सफेदी होना, शीतलता होना, खुजली, निश्चलता, उभार या ऊँचे उठना, भारीपन, चिकनापन, गीलापन और कृमियों द्वारा अंगों का भक्षण किया जाना—ये सब कफज कुष्ठ के लक्षण होते हैं॥ ३४-३६॥

सर्वैर्लिङ्गैर्युक्तं मतिमान् विवर्जयेदबलम्। तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम्॥ ३७॥
वातकफप्रबलं यद्यदेकदोषोल्बणं न तत्कृच्छ्रम्। कफपित्त-वातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रसाध्यानि॥

कुष्ठ की साध्यासाध्यता : असाध्य कुष्ठ—जब कुष्ठ का रोगी सभी (दोषों के) लक्षणों से युक्त हो, निर्बल हो, उसे प्यास और जलन से अधिक परेशानी हो, उसकी जठराग्नि एकदम मन्द हो गयी हो और उसके अंगों को कृमियाँ खा गयी हों, तो बुद्धिमान् वैद्य ऐसे रोगी की चिकित्सा न करें (क्योंकि वह असाध्य होता है)। **साध्य कुष्ठ**—जो कुष्ठ वात और कफ की प्रधानता वाला हो अथवा किसी एक दोष की प्रधानता जिस कुष्ठ में हो, वह कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य न होकर साध्य होता है। **कृच्छ्रसाध्य कुष्ठ**—जिन कुष्ठों में कफपित्त अथवा वातपित्त, ये दो-दो दोष प्रबल होते हैं, वे कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य होते हैं॥ ३७-३८॥

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु। पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे॥ ३९॥

दोषानुसार चिकित्सासूत्र—जिन कुष्ठों में वातदोष की प्रधानता हो उनमें घी का सेवन करना चाहिए। कफ-प्रधान कुष्ठों में सर्वप्रथम वमन कराना चाहिए और जिनमें पित्त की प्रधानता हो उनमें सबसे पहले विरेचन कराना चाहिए और रक्तमोक्षण कराना चाहिए॥ ३९॥

वमन विरेचनयोगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्याः।
प्रच्छन्नमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम्॥ ४०॥

कुष्ठ में वमन-विरेचन योग—कुष्ठ से ग्रस्त रोगियों को कल्पस्थान (चरकसंहिता) में कहे गये वमन तथा विरेचन योगों का प्रयोग करना चाहिए। जब कुष्ठ का प्रभाव अल्प एवं उत्तान रूप में हो, तो पाछकर शृङ्ग या तुम्बी से रक्त निकलवाना चाहिए और यदि गम्भीर अन्तः भाग में रोग का प्रभाव हो, तो सिरावेध कराकर रक्तमोक्षण कराना चाहिए॥ ४०॥

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्। दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु॥

कुष्ठ में पुनः-पुनः संशोधन—जिस कुष्ठ के रोगी में बहुदोष के (चरक-सूत्रस्थान १६।१३-१६ में पठित) लक्षण उपस्थित हों, उसके प्राणों की रक्षा करते हुए उसका अनेक बार संशोधन करना चाहिए, क्योंकि (रोगी के बल का विचार न कर सहसा) अधिक मात्रा में दोषनिर्हरण करने से वायु प्रकुपित होकर दुर्बल रोगी को मार डालता है॥ ४१॥

स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रक्ते। वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम्॥

संशोधन या रक्तमोक्षण के अनन्तर स्नेहपान—कुष्ठ रोगी के कोष्ठशोधन और रक्तमोक्षण के पश्चात् स्नेहपान कराना उचित है, क्योंकि शुद्धकोष्ठ किन्तु निर्बल कुष्ठ रोगी में शीघ्र ही वायु का प्रवेश हो जाता है॥ ४२॥

दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु। कुटजफलमदनमधुकैः सपटोलैर्निम्बरसयुक्तैः॥
शीतरसः पक्वरसो मधूनि मधुकं च वमनानि।

ऊर्ध्वभागस्थ कुष्ठ में वमन प्रयोग—जब कुष्ठ रोग शरीर के ऊर्ध्वांश में हो और उरःस्थल (हृदय) दोषों के कारण जी मचला रहा हो, तब रोगी को वमन कराना चाहिए।

वमनकारक द्रव्य—इन्द्रजौ, मदनफल, मुलहठी और परवर की पत्ती के शीतकषाय अथवा क्वाथ में नीम की पत्ती का स्वरस मिलाकर वमन कराने के लिए सेवन कराना चाहिए। मधु और मुलहठी, ये भी वमनकारक होते हैं॥ ४३॥

कुष्ठेषु त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता॥ ४४॥

कुष्ठ में विरेचनकारक द्रव्य—कुष्ठों में विरेचन कराने के लिए निशोथ, दन्ती की जड़ (या उसका फल जमालगोटा) और त्रिफला, ये उत्तम होते हैं॥ ४४॥

सौवीरकं तुषोदकमालोडनमासवाश्च सीधूनि। शंसन्त्यधोहराणां यथाविरेकं क्रमश्चेष्टः॥

विरेचन द्रव्यों के मिश्रणार्थ सहपान—अधोहर अर्थात् विरेचन द्रव्यों का घोल तय्यार करने के लिए सौवीरक, तुषोदक, आसव और सीधु, ये प्रशस्त होते हैं। उत्तम, मध्य और अवर विरेचन के अनुसार पेया, विलेपी, यूष और मांसरस के सेवन का क्रम अपनाना चाहिए॥ ४५॥

वक्तव्य—भूसीरहित जौ को पकाकर जल के साथ किसी बर्तन में सन्धान करने से 'सौवीरक' बनता है। उड़द के छिलकों को भूनकर कुछ जौ की दलिया मिलाकर पकायें और फिर काँजी की तरह सन्धान कर लेने पर 'तुषोदक' बनता है। सिरका को सीधु कहते हैं।

'यथाविरेकं'[1] का अर्थ है—जैसा प्रधान, मध्य या अवर विरेचन हो, उसके अनुसार। प्रधान, मध्य तथा अवर विरेचन की व्याख्या चरक-सिद्धिस्थान (१।१३-१५) में द्रष्टव्य है। 'क्रमश्चेष्टः'[2] का अर्थ है कि जिस श्रेणी का प्रधान, मध्य या अवर विरेचन हो उसके लिए बतलाये गये क्रम के अनुसार ही पथ्य देना चाहिए। इस क्रम का वर्णन चरक-सिद्धिस्थान (१।११) में किया गया है। यह भी वहीं द्रष्टव्य है।

दार्वीबृहतीसेव्यैः पटोलपिचुमर्दमदनकृतमालैः। सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तैः॥

कुष्ठ में आस्थापनवस्ति—दारुहरिद्रा, वनभंटा, खश, परवर की पत्ती, नीम की पत्ती, मदनफल तथा अमलतास के फल की मज्जा का काढ़ा बनाकर उसमें इन्द्रजौ और नागरमोथा का कल्क एवं घी अथवा तेल मिलाकर कुष्ठ रोगी को आस्थापन वस्ति देनी चाहिए॥ ४६॥

वक्तव्य—यद्यपि (चरक-सिद्धिस्थान २।१४ में अनास्थाप्यास्त्वजीर्ण्यतिस्निग्ध.....मधुमेहकुष्ठार्ताः) कुष्ठ रोगी को आस्थापन (निरूह) वस्ति देने का निषेध किया गया है, फिर यहाँ जो आस्थापन का प्रयोग बतलाया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि आवश्यक होने पर उसका प्रयोग करना चाहिए।

वातोल्बणं विरिक्तं निरूढमनुवासनार्हमालक्ष्य। फलमधुकनिम्बकुटजैः सपटोलैः साधयेत्स्नेहम्॥

वातप्रधान कुष्ठ में अनुवासन स्नेह—यदि वातप्रधान कुष्ठ रोगी का विरेचन कराकर और उसे निरूहवस्ति देने के बाद रोगी अनुवासनवस्ति देने योग्य प्रतीत हो तो मदनफल, मुलहठी, नीम की छाल, कोरया की छाल और परवर की पत्ती, इनके क्वाथ तथा कल्क से पकाये हुए तैल की वस्ति देनी चाहिए॥ ४७॥

---

१. जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ॥
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च।
पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः॥
द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान्मेयं विरेके वमने तु पीतम्। (च० सि० १।१३-१५)

२. पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥ (च० सि० १।११)

सैन्धवदन्तीमरिचं फणिज्झकः पिप्पली करञ्जफलम्।
नस्यं स्यात्सविडङ्गं कृमिकुष्ठकफप्रकोपघ्नम्॥ ४८॥

कुष्ठ में नस्य योग—सेंधानमक, दन्ती की जड़, मरिच, तुलसी बीज, पीपर, करञ्ज का फल और वायविडंग—इनका बारीक नस्य बनाकर प्रयोग करें। इससे (शिरःस्थ) कृमि, कुष्ठ और कफ के विकार नष्ट हो जाते हैं॥ ४८॥

वैरेचनिकैर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैः प्रशाम्यन्ति। कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्थाः॥

कुष्ठ में धूम्रपान—श्लोक (सूत्र) स्थान में (अ० ५।२६-२७) कहे गये शिरोविरेचन कारक धूमों के प्रयोग करने से शिरा में होने वाले कृमि, कुष्ठ और किलास (श्वेत कुष्ठ) नष्ट हो जाते हैं॥ ४९॥

स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रणाडीभिः। कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः॥
आनूपवारिजानां मांसानां पोट्टलैः सुखोष्णैश्च। स्विन्नोत्सन्नं विलिखेत् कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण॥
रुधिरागमार्थमथवा शृङ्गालाबूनि योजयेत्कुष्ठे। प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः॥

कुष्ठ में रक्तमोक्षण—जो कुष्ठ स्थिर तथा कठिन मण्डल वाले हों, उनको प्रस्तरस्वेद और नाड़ीस्वेद प्रकार से स्वेदन करने के पश्चात् कूर्चशस्त्र से खरोंचकर-घिसकर रक्त के विकार (दूषित रक्त) को दूर कर देना चाहिए। इसी तरह आनूप और जलेचर पशु-पक्षियों के मांसों की पोटलियाँ बनाकर उन्हें हल्का गरम कर उनसे स्वेदन करे, फिर किसी तीक्ष्णधार वाले शस्त्र से लेखन (खुरचना) करना चाहिए। जब कुष्ठ को अल्पदोषयुक्त समझे, तब उसे पोंछकर रक्त निकालने के लिए सींग तुम्बी अथवा जोंक का प्रयोग करें॥ ५०-५२॥

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृताम्रदोषाणाम्। संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत्तेषाम्॥ ५३॥

कुष्ठ में लेप का उपयोग—जिन कुष्ठ रोगियों को वमन-विरेचन कराकर उनके आशयों को शुद्ध कर दिया गया है और उनके रक्त विकार को भी निकाल दिया गया है, उनके लिए जिन कुष्ठहर (चरक-सूत्रस्थान, अध्याय ३ में पठित तथा चिकित्सास्थान अध्याय ७ में पठित) लेपों का प्रयोग किया जाता है, तो वे लेप शीघ्र लाभकारी होते हैं॥ ५३॥

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः। तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य॥

कुष्ठ में क्षार का प्रयोग—जिन कुष्ठों में शस्त्रकर्म नहीं किया जा सकता हो और जो कुष्ठ स्पर्शज्ञान शक्ति को नष्ट कर दिया हो, उनमें रक्तदोष को निकालकर क्षार का प्रयोग करना चाहिए॥ ५४॥

पाषाणकठिनपरुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च। पीतागदस्य कार्यो विषैः प्रदेहोऽगदश्चानु॥ ५५॥

कुष्ठ में अगद प्रयोग—जो कुष्ठ पत्थर की तरह कड़ा हो, खुरदुरा हो, शून्य हो, स्थिर और पुराना हो, उसमें रोगी को अगद औषधियों का पान कराकर, विषौषधों का लेप कर, फिर अगद औषधों का प्रलेप करना चाहिए॥ ५५॥

स्तब्धानि सुप्तसुप्तान्यस्वेदनकण्डुलानि कुष्ठानि। कूर्चैर्दन्तीत्रिवृताकरवीरकरञ्जकुटजानम्॥
जात्यर्कनिम्बजैर्वा पत्रैः शस्त्रैः समुद्रफेनैर्वा। घृष्टानि गोमयैर्वा ततः प्रदेहैः प्रदेह्यानि॥ ५७॥

कुष्ठ में प्रदेह—जो कुष्ठ निश्चल एवं स्तब्ध हों, जिनमें एकदम सूनापन हो गया हो और स्वेद न होता हो तथा खुजली हो रही हो, उनका कूर्च शस्त्र से या दन्ती, निशोथ, कनेर, करञ्ज, इन्द्रजौ, चमेली, मदार अथवा नीम के पत्तों से या शास्त्रों से या समुद्रफेन अथवा सूखे गोबर से घर्षण करना चाहिए तथा उसके बाद कुष्ठनाशक प्रदेहों का लेपन-प्रदेहन करना चाहिए॥ ५६-५७॥

मारुतकफकुष्ठघ्नं कर्मोक्तं पित्तकुष्ठिनां कार्यम्। कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकषायैः प्रशमनं च॥

कुष्ठ में संशमन प्रयोग—पूर्व में वात-कफज कुष्ठनाशक चिकित्सा कही गयी है। पित्त कुष्ठ में कफ को वमन से, पित्त को विरेचन से तथा रक्त को रक्तमोक्षण से निकालना चाहिए तथा इन क्रियाओं के साथ-साथ कुष्ठ को सर्वथा शान्त कर देने के लिए तिक्त एवं कषाय द्रव्यों के बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग भी करते रहना चाहिए॥ ५८॥

सर्पींषि तिक्तकानि च यच्चान्यद् रक्तपित्तनुत्कर्म। बाह्याभ्यन्तरमग्र्यं तत् कार्यं पित्तकुष्ठेषु॥
दोषाधिक्यविभागादित्येतत् कर्म कुष्ठनुत् प्रोक्तम्।

पित्तज कुष्ठ चिकित्सासूत्र—पित्तज कुष्ठ में तिक्त द्रव्यों में सिद्ध किया हुआ घृत सेवन करना चाहिए और रक्तपित्त रोग को नष्ट करने वाले जो बाह्य लेप आदि तथा आभ्यन्तर औषधपान आदि श्रेष्ठ योग बतलाये गये हैं, उन सबका प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार दोषों की अधिकता के अनुसार कुष्ठनाशक चिकित्सा का वर्णन किया गया है॥ ५९॥

वक्ष्यामि कुष्ठशमनं प्रायस्त्वग्दोषसामान्यात्॥ ६०॥

कुष्ठघ्न योग वर्णन का उपक्रम—सभी कुष्ठों में त्वचा दूषित होती ही है, अतः मैं सामान्य रूप से त्वचा के दोष को दूर करने वाले एवं कुष्ठ को नष्ट करने वाले योगों का वर्णन करूँगा॥ ६०॥

दार्वी रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबाधते कुष्ठम्। अभया प्रयोजिता वा मासं सव्योषगुडतैला॥ ६१॥

कुष्ठशामक योग—(१) दारुहल्दी का चूर्ण गोमूत्र के साथ पीने से कुष्ठ रोग नष्ट होता है अथवा रसाञ्जन (जो दारुहल्दी का घना क्वाथ होता है) को गोमूत्र के साथ कुष्ठशमनार्थ पीना चाहिए, या (२) हर्रे को सोंठ, मरिच, पीपर, गुड़ और तिल के तेल के साथ एक माह तक पीने से कुष्ठ दूर हो जाता है॥ ६१॥

वक्तव्य—यद्यपि गुड़ और तिल कुष्ठकारक हैं, किन्तु यहाँ त्रिकुट के साथ होने से वे कुष्ठहर होते हैं।

मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्याः पृथक् पलांशं त्रिफलात्रिवृच्च।
स्यात् त्रायमाणा कटुरोहिणी च भागार्धिका नागरपादयुक्ता॥ ६२॥
पलं तथैषां सह चूर्णितानां जले श्रृतं दोषहरं पिबेन्नरः।
जीर्णे रसैर्धन्वमृगद्विजानां पुराणशाल्योदनमाददीत॥ ६३॥
कुष्ठानि शोफं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि कृच्छ्रं च हलीमकं च।
षड्रात्रयोगेन निहन्ति चैष हृद्वस्तिशूलं विषमज्वरं च॥ ६४॥

पटोलमूलादि क्वाथ—(३) परवर की सोर, इन्द्रायन की जड़, आँवला, हर्रा, बहेड़ा और निशोथ—प्रत्येक १-१ पल, त्रायमाणा और कुटकी प्रत्येक आधा पल और सोंठ १ कर्ष लेकर सबका चूर्ण बना लें। उसमें से १ पल लेकर (१६ गुने जल में अष्टमांशावशिष्ट) क्वाथ बनाकर मनुष्य को इस कुष्ठ दोषहर क्वाथ का पान करना चाहिए। इस क्वाथ के पच जाने के पश्चात् जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ पुराने शालि चावल का भात खाना चाहिए। इसके सेवन से कुष्ठ रोग, शोथ, ग्रहणी रोग, अर्शरोग, मूत्रकृच्छ्र, हलीमक, हृदय एवं वस्ति का शूल और विषमज्वर ६ रात (छः दिन) में ही नष्ट हो जाते हैं॥ ६२-६४॥

वक्तव्य—वर्तमान काल में प्राणियों के बल का विचार कर इसकी मात्रा १ कर्ष से २ कर्ष तक रखनी चाहिए।

मुस्तं व्योषं त्रिफलां मञ्जिष्ठा दारु पञ्चमूल्यौ द्वे। सप्तच्छदनिम्बत्वक् सविशालश्चित्रको मूर्वा॥
चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं समध्वाज्यम्। सिद्धं कुष्ठनिबर्हणमेतत् प्रायोगिकं भक्ष्यम्॥

श्वयथुं सपाण्डुरोमं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि। ब्रध्नभगन्दरपिडकाकण्डूकोठांश्च विनिहन्ति॥
इति मुस्तादिचूर्णम्।

मुस्तादि चूर्ण—(४) नागरमोथा, सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, मजीठ, देवदारु, दोनों पञ्चमूल (१. सरिवन, २. पिठवन, ३. छोटी कटेरी, ४. बड़ी कटेरी, ५. गोखरू; और ६. बेल की छाल या बेलसोंठ, ७. अरनी की छाल, ८. सोनापाठा, ९. पाढ़ल, १०. गम्भार की छाल), छितवन की छाल, नीम की छाल, इन्द्रायन मूल, चित्रकमूल और मरोड़फली—इन सबको समान भाग में लेकर बारीक चूर्ण बना ले। इस चूर्ण में से १ भाग लेकर उसे ९ भाग सत्तू में मिलाकर यथोचित मात्रा में घी तथा मधु मिलाकर रोगी को खाने को दें। यह लगातार प्रतिदिन खाने योग्य आहार है, जो कुष्ठरोग को दूर करता है। यह चूर्ण शोथ, पाण्डु, श्वेत कुष्ठ, ग्रहणी, सभी तरह के अर्श रोग, ब्रध्नरोग, भगन्दर, पिड़का, कण्डू और कोठ (चकत्ता) को नष्ट करता है॥ ६५-६७॥

वक्तव्य—वर्तमान युग में इस चूर्ण की १ मात्रा २० ग्राम की रखना उचित प्रतीत होता है और उसमें १८० ग्राम जौ-चने का सत्तू, २ तोला घी और ४ तोला मधु मिलाकर खिलायें। यदि किसी की जठराग्नि तीक्ष्ण हो, तो चूर्ण की मात्रा २५ ग्राम और सत्तू २२५ ग्राम रखें अथवा दीर्घाहारी व्यक्ति हो, तो चूर्ण इतना ही लें, किन्तु सत्तू भोजन की मात्रा के अनुसार बढ़ा लें और उसी अनुपात से घी-मधु भी अधिक डालकर सेवन करें।

त्रिफलाऽतिविषाकटुकानिम्बकलिङ्गकवचापटोलानाम्।
मागधिकारजनीद्वयपद्मकमूर्वाविशालानाम्॥ ६८॥
भूनिम्बपलाशानां दद्याद् द्विपलं ततस्त्रिवृद् द्विगुणा। तस्याश्च पुनर्ब्राह्मी तच्चूर्णं सुप्तिनुत्परमम्॥

त्रिफलादि चूर्ण—(५) आँवला, हर्रा, बहेड़ा, अतीस, कुटकी, नीम की छाल, इन्द्रजौ, मीठावच, परवर की पत्ती, पीपर, हल्दी, दारुहल्दी, पद्मकाठ, मरोड़फली, इन्द्रायन का मूल, चिरायता और पलाश की छाल—प्रत्येक २-२ पल; सफेद निशोथ ४ पल और ब्राह्मी की पत्ती ८ पल—इन सबका एक साथ चूर्ण बनाकर (३ ग्राम की मात्रा में मधु तथा घी विषम मात्रा में मिलाकर) सेवन करना चाहिए। यह अंगों में स्पर्शज्ञान के अभाव और शून्यता की उच्च कोटि की औषध है॥ ६८-६९॥

लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः। सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण॥

कुष्ठ में गन्धक का प्रयोग तथा स्वर्णमाक्षिक का सेवन—(६) (शुद्ध) आमलासार गन्धक को चमेलीपत्र स्वरस और मधु के साथ सेवन करने से सत्रह प्रकार के कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं। यह उत्तम योग है। इसी प्रकार (७) स्वर्णमाक्षिक भस्म को गोमूत्र के साथ सेवन करने से भी सत्रह प्रकार के कुष्ठों का नाश होता है॥ ७०॥

श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा। सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात्कुष्ठी रसं च निगृहीतम्॥
वज्रशिलाजतुसहितं सहितं वा योगराजेन। सर्वव्याधिप्रशमनमद्यात्कुष्ठी निगृह्य नित्यं च॥

कुष्ठ में पारद का प्रयोग—(८) आमलासार गन्धक के योग से अथवा स्वर्णमाक्षिक के योग से भस्मीकृत पारद श्रेष्ठ सर्वरोगनाशक औषध है। कुष्ठ रोगी को इसका सेवन करना चाहिए अथवा (९) हीरे की खान से निकले हुए शिलाजीत के साथ पारद भस्म का सेवन करना चाहिए अथवा (१०) योगराज रस (चरक-चि० १६।८०-८६) के साथ पारद भस्म का सेवन करना चाहिए। इसके नित्य प्रयोग से कुष्ठ ब्रष्ट हो जाता है॥ ७१-७२॥

वक्तव्य—योगराज रस यद्यपि पाण्डुरोग चिकित्सा में पढ़ा गया है, किन्तु उसे अमृतोपम, सर्वव्याधिप्रशमन तथा कुष्ठनाशक कहा गया है। 'वज्र' हीरे को कहते हैं, उसकी भस्म के साथ शिलाजीत मिलाकर पारद भस्म का सेवन करना चाहिए।

खदिरसुरदारुसारं श्रपयित्वा तद्रसेन तोयार्थः। क्षौद्रप्रस्थे कार्यः कार्ये ते चाष्टपालेके च॥ ७३॥
तत्रायश्चूर्णानामष्टपलं प्रक्षिपेत्तथाऽमूनि। त्रिफलैले त्वङ्मरिचं पत्रं कनकं च कर्षांशम्॥ ७४॥
मत्स्यण्डिका मधुसमा तन्मासं जातमायसे भाण्डे। मध्वासवमाचरतः कुष्ठकिलासे शमं यातः॥
इति मध्वासवः।

मध्वासव—(११) खैर और देवदारु की हीरवाली (बीच का भाग) लकड़ी ८-८ पल लेकर उसको बुरादा या छोटा-छोटा कर क्वाथ बनावें। उस क्वाथ में १ प्रस्थ मधु और १ प्रस्थ मिश्री या चीनी घोल दें तथा लौह भस्म ८ पल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, छोटी इलायची, दालचीनी, मरिच, तेजपात और नागकेशर १-१ कर्ष लेकर इनका मोटा चूर्ण कर मिला दें। फिर बाद में १ महीना बीत जाने पर छानकर रख लें। इस मध्वासव के सेवन से कुष्ठ और किलास दोनों ही शान्त हो जाते हैं॥ ७३-७५॥

खदिरकषायद्रोणं कुम्भे घृतभाविते समावाप्य। द्रव्याणि चूर्णितानि च षट्पलिकान्यत्र देयानि॥
त्रिफलाव्योषविडङ्गरजनीमुस्ताटरूषकेन्द्रयवाः।
सौवर्णी च तथा त्वक् छिन्नरुहा चेति तन्मासम्॥ ७७॥
निदधीत धान्यमध्ये प्रातः प्रातः पिबेत्ततो युक्त्या।
मासेन महाकुष्ठं हन्त्येवाल्पं तु पक्षेण॥ ७८॥
अर्शःश्वासभगन्दरकासकिलासप्रमेहशोषांश्च।
ना भवति कनकवर्णः पीत्वाऽरिष्टं कनकबिन्दुम्॥ ७९॥
इति कनकबिन्द्वरिष्टम्।

कनकबिन्द्वरिष्ट—(१२) खैर के बीच का सारभाग लेकर उसका बुरादा या चूर्ण बनाकर १ द्रोण क्वाथ तैयार करें। उस क्वाथ को घी पुते हुए किसी मिट्टी के पात्र में रखकर उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का ६-६ पल चूर्ण डालें, यथा—आँवला, हर्रा, बहेड़ा, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग, हल्दी, नागरमोथा, अरूसा, इन्द्रजौ और भड़भाड़ की जड़ का छिलका (सौवर्णी त्वक्) तथा गुरुच। इन औषधों को डालकर उस पात्र को अन्न की ढेर में १ महीने तक गाड़कर रख दें। अवधि बीतने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इसे युक्तिपूर्वक (२ तोले की मात्रा में समान जल मिलाकर) प्रातःकाल भोजन के पश्चात् पीना चाहिए। एक महीने तक सेवन करने से यह अरिष्ट महाकुष्ठ को नष्ट कर देता है और क्षुद्रकुष्ठ को १५ दिन में नष्ट करता है। यह अरिष्ट अर्श, श्वास, भगन्दर, कास, किलास (श्वेतकुष्ठ), प्रमेह और यक्ष्मा रोग को भी दूर करता है। इस कनकबिन्द्वरिष्ट को पीने से मनुष्य की कान्ति सुवर्ण वर्ण की हो जाती है॥ ७६-७९॥

वक्तव्य—बिना गुड़, चीनी या मधु के आसव या अरिष्ट का निर्माण नहीं होता है। इस अरिष्ट में इन द्रव्यों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी नियमानुसार इसमें उचित मात्रा में ('अनुक्तमानारिष्टेषु द्रवद्रोणे तुला गुडम्। क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं प्रक्षेपं दशमांशिकम्' के अनुसार ५ किलो गुड़ और २½ किलो मधु) गुड़-मधु डालना चाहिए।

कुष्ठेष्वनिलकफकृतेष्वेवं पेयस्तथाऽपि पैत्तेषु। कृतमालक्वाथश्चाप्येष विशेषात् कफकृतेषु॥

अमलतास का क्वाथ—(१३) वात, कफ तथा पित्त से उत्पन्न कुष्ठों में अमलतास के क्वाथ का सेवन करना चाहिए। इसका सेवन कफकृत कुष्ठों में विशेष लाभकर होता है॥ ८०॥

वक्तव्य—इस क्वाथ के पूर्व कनकबिन्द्वरिष्ट का तथा बाद में त्रिफलासव का पाठ दिया हुआ है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्वाथ खदिरक्वाथ की जगह डालकर कनकबिन्द्वरिष्ट की शेष औषधें

डालकर इसे भी अरिष्ट ही बनाना चाहिए। यह अरिष्ट त्रिदोष प्रधान कुष्ठों में विशेष लाभकर होता है। उसमें भी जिस कुष्ठ में कफ की प्रबलता हो, उसमें अधिक लाभप्रद होता है।

त्रिफलासवश्च गौडः सचित्रकः कुष्ठरोगविनिहन्ता। क्रमुकदशमूलदन्तीवराङ्गमधुयोगसंयुक्तः॥

त्रिफलासव—(१४) त्रिफला के (१ द्रोण) क्वाथ में गुड़ (५ किलो) मधु (२½ किलो) और चित्रकमूल, सुपारी, दशमूल की प्रत्येक औषधें, दन्तीमूल और दालचीनी (प्रत्येक १०० ग्राम) डालकर (घृतलिप्त मृत्पात्र में १ माह तक सन्धान करके छानकर) त्रिफलासव तय्यार करें। यह सभी प्रकार के कुष्ठों को नष्ट करता है॥८१॥

लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात् कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि।
भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बैर्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव॥८२॥
पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि मांसानि मुद्गाश्च पटोलयुक्ताः।
शस्ता न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च॥८३॥

कुष्ठ में पथ्यापथ्य : पथ्य—सभी कुष्ठों में लघुगुण युक्त आहार द्रव्य और तिक्तरस युक्त (करेला, परवर आदि) शाक हितकर होते हैं। आहार द्रव्यों और घृतों को भिलावा, त्रिफला और निम्बपत्र के क्वाथ से संस्कृत कर प्रयोग करना चाहिए। पुराने अन्न, जांगल पशु-पक्षियों के मांस, मूँग का यूष और परवर—ये सब उत्तम पथ्य हैं॥८२-८३॥

अपथ्य—गुरुगुण युक्त पदार्थ, खट्टे पदार्थ, दूध, दही, आनूप पशु-पक्षियों का मांस, मछली, गुड़ और तिल—ये पदार्थ कुष्ठ में अपथ्य हैं।

एला कुष्ठं दार्वी शतपुष्पा चित्रको विडङ्गश्च। कुष्ठालेपनमिष्टं रसाञ्जनं चाभया चैव॥८४॥

कुष्ठ में आलेपन—(१) इलायची (बड़ी), कूठ, दारुहल्दी, सौंफ, चित्रक, वायविडंग, रसौंत और हर्रे—इन्हें समान भाग में लेकर जल में पीसकर कुष्ठ पर लेप लगाना चाहिए॥८४॥

चित्रकमेलां बिम्बीं वृषकं त्रिवृदर्कनागरकम्। चूर्णीकृतमष्टाहं भावयितव्यं पलाशस्य॥८५॥
क्षारेण गवां मूत्रप्लुतेन तेनास्य मण्डलान्याशु। भिद्यन्ते विनयन्ति च लिप्तान्यर्काभितप्तानि॥

चित्रकादि लेप—(२) चित्रक, बड़ी इलायची, कुन्दरू, अरूसा की पत्ती, निशोथ की पत्ती, मदार की पत्ती और सोंठ—इन सबको समान भाग में लेकर चूर्ण बना लें। गोमूत्र युक्त पलाश के क्षार से इस चूर्ण में आठ बार भावना दें। इस चूर्ण का लेपकर धूप में बैठने से मण्डलकुष्ठ फूट जाते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं॥८५-८६॥

मांसी मरिचं लवणं रजनी तगरं सुधा गृहाद् धूमः। मूत्रं पित्तं क्षारः पालाशः कुष्ठहा लेपः॥८७॥

मांस्यादि लेप—(३) जटामांसी, काली मरिच, सेंधानमक, हल्दी, तगर, सेहुँड़ की छाल, गृहधूम, गोमूत्र, गोरोचन और पलाशक्षार—इन सबको पीसकर लगाने से कुष्ठ नष्ट होता है॥८७॥

त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत् फल्गुचित्रकौ बृहती। गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत्॥

त्रप्वादि लेप—(४) राँगा, शीशा और लोहे की भस्में एक में मिलाकर लेप करने से मण्डलकुष्ठ नष्ट होता है।

फल्ग्वादि लेप—(५) फल्गु (कठगूलर) की छाल, चित्रक, बड़ी कटेरी, सेंधानमक और देवदारु, इन्हें समान भाग में लेकर चूर्णकर गोह के मांसरस तथा गोमूत्र में पीसकर लेप करने से मण्डलकुष्ठ नष्ट होता है॥८८॥

कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन। मांसेषु तोयकार्यं कार्यं पिष्टे च किण्वे च॥८९॥

तैर्मेदकः सुजातः किण्वैर्जनितं प्रलेपनं शस्तम्। मण्डलकुष्ठविनाशनमातपसंस्थं कृमिघ्नं च॥

कदल्यादि क्षार—(६) केला, पलाश, पाढल, जलवेंत—इनके स्वच्छ क्षार-जल को मांस के प्रक्षालन में, आटा सानने में और किण्व के निर्माण में प्रयोग करना चाहिए। मांस और आटा लेकर केला आदि के क्षार-जल में पकाकर रखने से किण्व बनता है, उससे मेदक बनता है। एवं मेदक[1] तथा किण्व (सुराबीज) का प्रलेप मण्डलकुष्ठ को नष्ट करता है। इस प्रलेप को लगाकर धूप में बैठने से मण्डलकुष्ठ एवं कृमियाँ नष्ट हो जाती हैं॥८९-९०॥

मुस्तं मदनं त्रिफला करञ्ज आरग्वधकलिङ्गयवाः। दार्वी ससप्तपर्णा स्नानं सिद्धार्थकं नाम॥
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकस्तथोद्घर्षः। त्वग्दोषकुष्ठशोफप्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः॥९२॥

सिद्धार्थक स्नान—(७) नागरमोथा, मदनफल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, करञ्ज की पत्ती, अमलतास की पत्ती, इन्द्रजौ, दारुहल्दी और छितवन की छाल या पत्ती—इनसे पकाये हुए जल से कुष्ठ रोगी को स्नान करना चाहिए। इस प्रकार के जल से नहाने को १. 'सिद्धार्थक स्नान' कहा जाता है क्योंकि इससे कुष्ठ रोग नाशन का कार्य सिद्ध होता है। इन्हीं द्रव्यों का २. क्वाथ, ३. वमनार्थ प्रयोग, ४. विरेचन प्रयोग, ५. लेपनार्थ प्रयोग और ६. उबटन के लिए भी प्रयोग करना चाहिए। इन भीतरी तथा बाह्य प्रयोगों के करने से त्वचा के दोष, कुष्ठ रोग, शोथ रोग और पाण्डुरोग नष्ट होते हैं॥९१-९२॥

कुष्ठं करञ्जबीजान्येडगजः कुष्ठसूदनो लेपः। प्रपुन्नाडबीजसैन्धवरसाञ्जनकपित्थलोध्राश्च॥

कुष्ठादि लेप—(८) कूठ, करञ्जबीज, चकवड़ के बीज—इन सबको जल में पीसकर लेप करने से कुष्ठ रोग नष्ट होता है।

प्रपुन्नाडादि लेप—(९) चकवड़ के बीज, सेंधानमक, रसौंत, कैथ के फल का गूदा और लोध को पीसकर लेप करने से कुष्ठ का नाश होता है॥९३॥

श्वेतकरवीरमूलं कुटजकरञ्जयोः फलं त्वचो दार्व्याः। सुमनःप्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः॥

करवीरादि लेप—(१०) कनइल की जड़, इन्द्रजौ, करञ्ज का फल, दारुहल्दी की छाल और चमेली के पत्ते—इन सबको पीसकर लेप करने से कुष्ठ नष्ट होता है, यह सिद्ध योग है॥९४॥

लोध्रस्य धातकीनां वत्सकबीजस्य नक्तमालस्य। कल्कश्च मालतीनां कुष्ठेषून्मर्दनालेपौ॥९५॥

लोध्रादि लेप—(११) लोध, धाय का फूल, इन्द्रजौ, अमलतास और चमेली के फूल या पत्ती—इनका कुष्ठों में उबटन अथवा आलेपन करना लाभकर होता है॥९५॥

शैरीषी त्वक् पुष्पं कार्पास्या राजवृक्षपत्राणि। पिष्टा च काकमाची चतुर्विधः कुष्ठनुल्लेपः॥
इति लेपाः।

कुष्ठनाशक चार लेप—(१२-१५) १. सिरस की छाल, २. कपास के फूल, ३. अमलतास के पत्ते और ४. काकमाची—इनके अलग-अलग चार प्रकार के लेप कुष्ठ का नाश करते हैं॥९६॥

दार्व्या रसाञ्जनस्य च निम्बपटोलस्य खदिरसारस्य। आरग्वधवृक्षकयोस्त्रिफलायाः सप्तपर्णस्य॥
इति षट् कषाययोगाः कुष्ठघ्नाः सप्तमश्च तिनिशस्य।
स्नाने पाने च हितास्तथाऽष्टमश्चाश्वमारस्य॥९८॥
आलेपनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेत एव च कषायाः। तैलघृतपाकयोगे चेष्यन्ते कुष्ठशान्त्यर्थम्॥

१. सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात् ततः कादम्बरी घना। तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद् घनः॥
परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः। वक्कसो हृतसारः स्यात् सुराबीजञ्च किण्वकम्॥
(परिभाषाप्रदीप)

आठ कषाय योग—(१६-२३) १. दारुहल्दी के साथ बनाया गया रसौत का कषाय, २. नीम की छाल और परवर की पत्ती का कषाय, ३. खैर के बीच की लकड़ी का कषाय, ४. अमलतास की पत्ती और कोरया की छाल का कषाय, ५. त्रिफला का कषाय और ६. छितवन की छाल का कषाय—ये छः कषाय कुष्ठ का नाश करते हैं। इनका क्वाथ के रूप में प्रयोग करना चाहिए। ७. तिनिशकषाय नहाने और पीने के लिए प्रयोग करना चाहिए। ८. कनेर का कषाय। इन आठों कषायों का लेपन, उबटन और अवचूर्णन (बुरकना) के रूप में प्रयोग करना चाहिए। ये कषाय कुष्ठ रोग के नाश के लिए पकाये जाने वाले तैल तथा घृत में भी डाले जाने चाहिए॥ ९७-९९॥

त्रिफला निम्बपटोलं मञ्जिष्ठा रोहिणी वचा रजनी।
एष कषायोऽभ्यस्तो निहन्ति कफपित्तजं कुष्ठम्॥ १००॥

एतैरेव च सर्पिः सिद्धं वातोल्बणं जयति कुष्ठम्। एष च कल्पो दिष्टः खदिरासनदारुनिम्बानाम्॥

त्रिफलादि क्वाथ एवं घृत—(२४) आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नीम की छाल, परवर की पत्ती, मजीठ, कुटकी, मीठावच और हल्दी—इनका समभाग लेकर कूटकर रख लें और क्वाथ बनाकर नित्य प्रयोग करने से यह कफ-पित्तज कुष्ठ को नष्ट करता है। (२५) उक्त क्वाथ के द्रव्यों से इनका क्वाथ तथा कल्क डालकर सिद्ध किया हुआ घृत वातप्रधान कुष्ठ को नष्ट करता है। (२६) इसी प्रकार खदिरसार, विजयसार, देवदारु और नीम की छाल का क्वाथ कफ-पित्तज कुष्ठ को नष्ट करता है। (२७) उक्त खदिरसार आदि द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से बनाया हुआ घृत वातप्रधान कुष्ठ को नष्ट करता है॥ १००-१०१॥

कुष्ठार्कतुत्थकट्फलमूलकबीजानि रोहिणी कटुका।
कुटजफलोत्पलमुस्तं बृहतीकरवीरकासीसम्॥ १०२॥
एडगजनिम्बपाठा दुरालभा चित्रको विडङ्गश्च।
तिक्तालाबुकबीजं कम्पिल्लकसर्षपौ वचा दार्वी॥ १०३॥
एतैस्तैलं सिद्धं कुष्ठघ्नं योग एष चालेपः।
उद्वर्तनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेष एवेष्टः॥ १०४॥

कुष्ठाद्य तैल—(२८) कूठ, मदार के मूल की छाल, तूतिया, कट्फल, मूली का बीज, कुटकी, इन्द्रजौ, नीलकमल, नागरमोथा, बड़ी कटेरी, कनेर की जड़, कासीस, चकवड़ के बीज, पाठा, नीम की छाल, धमासा, चित्रकमूल, वायविडंग, कड़वी तुम्बी का बीज, कबीला, पीली सरसों, बच और दारुहल्दी—इन द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से तिल के तेल को पकाना चाहिए। यह तैल कुष्ठनाशक होता है। इन्हीं कुष्ठ आदि द्रव्यों का चूर्ण बनाकर लेप, उबटन, मर्दन और अवचूर्णन करने से कुष्ठ रोग का नाश होता है। कुष्ठशमनार्थ इसका प्रयोग करना चाहिए॥ १०२-१०४॥

श्वेतकरवीरकरसो गोमूत्रं चित्रको विडङ्गश्च। कुष्ठेषु तैलयोगः सिद्धोऽयं सम्मतो भिषजाम्॥
इति श्वेतकरवीराद्यं तैलम्।

श्वेतकरवीराद्य तैल—(२९) श्वेत कनेर के पत्ते का रस (४ लीटर), गोमूत्र (४ लीटर), चित्रक-मूल और वायविडंग का कल्क प्रत्येक १२५ ग्राम, सरसों का तैल (१ लीटर) सब मिलाकर ठीक से पकाकर छानकर रख लें। यह वैद्यों द्वारा अनुभूत कुष्ठ में प्रयोग योग्य तैल है॥ १०५॥

श्वेतकरवीरपल्लवमूलत्वग्वत्सको विडङ्गश्च। कुष्ठार्कमूलसर्षपशिग्रुत्वग्रोहिणी कटुका॥
एतैस्तैलं सिद्धं कल्कैः पादांशिकैर्गवां मूत्रम्। दत्त्वा तैलचतुर्गुणमभ्यङ्गात्कुष्ठकण्डूघ्नम्॥ १०७॥
इति श्वेतकरवीरपल्लवाद्यं तैलम्।

श्वेतकरवीरपल्लवाद्य तैल—(३०) सफेद कनेर के पत्ते, मूल और छाल, इन्द्रजौ, वायविडंग, कूठ, मदार के जड़ की छाल, पीली सरसों, सहिजन की छाल और कुटकी—इनका कल्क तैल का चौथाई एवं तैल का चौगुना गोमूत्र डालकर सरसों का तैल विधिपूर्वक पकाकर छान लें। मालिश करने से यह तैल कुष्ठ और खुजली को दूर करता है॥ १०६-१०७॥

तिक्तालाबुकबीजं द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे। बृहतीफलमेरण्डः सविशालश्चित्रको मूर्वा॥१०८॥
कासीसहिङ्गुशिग्रुत्र्यूषणसुरदारुतुम्बुरुविडङ्गम्। लाङ्गलकं कुटजत्वक् कटुकाख्या रोहिणी चैव॥
सर्षपतैलं कल्कैरेतैर्मूत्रे चतुर्गुणे साध्यम्। कण्डूकुष्ठविनाशनमभ्यङ्गान्मारुतकफहन्तृ॥ ११०॥
इति तिक्तेक्ष्वाक्वादि तैलम्।

तिक्तेक्ष्वादि तैल—(३१) कड़वी तुम्बी के बीज, तूतिया और खपरिया, गोरोचन, हल्दी, दारुहल्दी, बड़ी कटेरी का फल, एरण्ड मूल की छाल, इन्द्रायन का फल, चित्रक, मूर्वा, कासीस, हींग, सहिजन की छाल, सोंठ, मरिच, पीपर, देवदारु, तुम्बुरु, वायविडंग, लांगली की जड़, कोरया की छाल और कुटकी—इनका कल्क तैल का चौथाई और तैल से चौगुना गोमूत्र डालकर सरसों का तैल पका लें। यह तैल अभ्यंग करने से कण्डू और कुष्ठ को नष्ट करता है तथा वात एवं कफजन्य उपद्रवों को भी शान्त करता है॥ १०८-११०॥

कनकक्षीरी शैला भार्गी दन्त्याः फलानि मूलं च। जातीप्रवालसर्षपलशुनविडङ्गं करञ्जत्वक्॥
सप्तच्छदार्कपल्लवमूलत्वङ्निम्बचित्रकास्फोताः। गुञ्जैरण्डं बृहतीमूलकसुरसार्जकफलानि॥
कुष्ठं पाठा मुस्तं तुम्बुरुमूर्वावचाः सषड्ग्रन्थाः। एडगजकुटजशिग्रुत्र्यूषणभल्लातकक्षवकाः॥
हरितालमवाक्पुष्पी तुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासंज्ञः।
सौराष्ट्री कासीसं दार्वीत्वक् सर्जिकालवणम्॥ ११४॥
कल्कैरेतैस्तैलं करवीरकमूलपल्लवकषाये।
सार्षपमथवा तैलं गोमूत्रचतुर्गुणं साध्यम्॥ ११५॥
स्थाप्यं कटुकालाबुनि तत्सिद्धं तेन मण्डलान्याशु।
भिन्द्याद् भिषगभ्यङ्गात्कृमींश्च कण्डूं च विनिहन्यात्॥ ११६॥
इति कनकक्षीरीतैलम्।

कनकक्षीरी तैल—(३२) भडभाड़, मैनसिल, भारंगी, जमालगोटा और दन्ती का मूल, चमेली की पत्ती, पीला सरसों, लहसुन, वायविडंग, करंज की छाल, छितवन की छाल, मदार की पत्ती तथा मदार के मूल की छाल, नीम की छाल, चित्रक, अपराजिता, सफेद गुञ्जा, रेड़ की जड़ की छाल, बड़ी कटेरी, मूली, तुलसी और वनतुलसी के बीज, कूठ, पाठा, नागरमोथा, तुम्बुरु, मूर्वा, बच (श्वेत), लालबच, चकवड़ के बीज, इन्द्रजौ, सहिजन की छाल, सोंठ, मरिच, पीपर, भिलावा, नकछिकनी, हरिताल, चिचिड़ा, तूतिया, कबीला, खपरिया, फिटकरी, कासीस, दारुहल्दी की छाल, सज्जीखार और सेंधानमक—इन सब द्रव्यों को मिलाकर तैल की (जितना पकाना हो, उसके) चौथाई मात्रा में लेकर कल्क बनायें। तैल का चौगुना गोमूत्र डालकर सरसों का तैल पकायें। तैयार होने पर छानकर कड़वी लौकी की तुमड़ी में रख लें। वैद्य को चाहिए कि वह इसको चुपड़ कर मण्डलकुष्ठ का भेदन करे और इस तैल की मालिश कराकर कृमियों का तथा खुजली का विनाश करें॥ १११-११६॥

कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समनःशिलं सकासीसम्। तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे॥ ११७॥
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद् व्येति तिष्ठतो घर्मे। मासान्नवं किलासं स्नानं मुक्त्वा विशुद्धतनोः॥
इति सिध्मे लेपः।

सिध्महर लेप—(३३) कूठ, सुरती का पत्ता (तमालपत्र), मरिच, मैनसिल और कासीस—इन सबको चूर्णकर किसी ताँबे के पात्र में तैल डालकर एक सप्ताह तक रख छोड़ें। इस लेप को धूप में बैठकर एक सप्ताह तक लगाने से सिध्म कुष्ठ नष्ट हो जाता है।

नये श्वेतकुष्ठ के रोगी का वमन-विरेचन कराकर शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् रुग्ण स्थल पर लगातार लेप करने से वह ठीक हो जाता है। इस अवधि में रोगी को स्नान नहीं करना चाहिए (अपितु रुग्ण स्थान को बचाकर तौलिया से शरीर पोछकर शुद्ध कर लेना चाहिए)॥ ११७-११८॥

सर्षपकरञ्जकोषातकीनां तैलान्यथेङ्गुदीनां च। कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं यच्चापि खदिरसारस्य॥

कुष्ठहर तैलों के नाम—सरसों, करञ्ज, कड़वी तरोई एवं हिंगोट का तैल कुष्ठ रोग को नष्ट करने में हितकर कहे गये हैं। इसी प्रकार खैर की मध्यसार भाग की लकड़ी के टुकड़ों से (पाताल यन्त्र विधि से) निकाला हुआ तैल भी कुष्ठनाशक होता है॥ ११९॥

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लकः पयस्तुत्थम्। एष घृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्जरसः॥
देयः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन शाम्यतेऽभ्यक्ता।
चर्मैककुष्ठकिटिभं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च॥ १२१॥
इति विपादिकाहरघृततैले।

विपादिकाहर घृत-तैल योग—(३४) जीवन्ती, मजीठ, दारुहल्दी, कबीला और तूतिया—इनके (तूतिया को छोड़कर) क्वाथ और कल्क से घी और तैल बराबर-बराबर मात्रा में लेकर तैलपाक विधि से पाक करें। पाक तैयार होने पर छान लें और फिर सर्जरस का चूर्ण और मोम डालकर पिघला लें। इसके लगाने से विपादिका कुष्ठ का नाश होता है तथा इसका प्रयोग करने से चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभ और अलसक कुष्ठ भी नष्ट हो जाते हैं॥ १२०-१२१॥

किण्वं वराहरुधिरं पृथ्वीका सैन्धवं च लेपः स्यात्। लेपो योज्यः कुस्तुम्बुरूणि कुष्ठं च मण्डलनुत्॥

मण्डलकुष्ठनाशक लेप—(३५) किण्व (सुराबीज, आसव या अरिष्ट के पात्र के तल में लगा भाग), सूअर का रक्त, मंगरैला और सेंधानमक—इनको सम भाग में लेकर बारीक पीसकर लगाने से मण्डल कुष्ठ नष्ट होता है।

तुम्बुरु कुष्ठ लेप—(३६) इसी प्रकार तुम्बरु और कूठ के समभाग का लेप लगाना मण्डलकुष्ठनाशक होता है॥ १२२॥

पूतीकदारुजटिलाः पक्वसुरा क्षौद्रमुद्गपर्ण्यौ च। लेपः सकाकनासो मण्डलकुष्ठापहः सिद्धः॥

अन्य मण्डलकुष्ठहर लेप—(३७) पूतिकरञ्ज का बीज (छिलकारहित), देवदारु, जटामांसी, मुद्गपर्णी और कौआठोठी—इनका बारीक चूर्ण मद्य में डालकर पकाकर गाढ़ा लेप तैयार कर मधु मिलाकर प्रयोग करे। यह मण्डलकुष्ठनाशक अनभूत योग है॥ १२३॥

चित्रकशोभाञ्जनकौ गुडूच्यपामार्गदेवदारूणि। खदिरो धवश्च लेपः श्यामा दन्ती द्रवन्ती च॥
लाक्षारसाञ्जनैलाः पुनर्नवा चेति कुष्ठिनो लेपाः।
दधिमण्डयुताः सर्वे देयाः षण्मारुतकफकुष्ठघ्नाः॥ १२५॥

वात-कफ कुष्ठनाशक छः योग—(३८-४३) १. चित्रक और सहिजन की छाल, २. गुरुच, देवदारु और चिचिड़ा, ३. खैर की लकड़ी का सारभाग, धाय का फूल, ४. काली निशोथ, दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल, ५. लाक्षा, रसौत और इलायची और ६. गदहपुर्ना—ये छः योग दही के पानी में पीसकर कुष्ठ रोगियों को लेप लगाने के लिए देना चाहिए। ये सभी वात-कफ जन्य कुष्ठ को नष्ट करते हैं॥ १२४-१२५॥

एडगजकुष्ठसैन्धवसौवीरकसर्षपैः कृमिघ्नैश्च। कृमिकुष्ठमण्डलाख्यं दद्रूकुष्ठं च शममुपैति॥
इति एडगजादि लेपः।

एडगजादि लेप—(४४) चकवड़ के बीज, कूठ, सेंधानमक, सौवीरक (काञ्जीभेद) सरसों और वायविडंग—इन्हें महीन पीसकर लेप लगाने से कृमियाँ नष्ट होती हैं और कुष्ठ, मण्डलकुष्ठ तथा दद्रुकुष्ठ भी नष्ट होते हैं॥ १२६॥

एडगजः सर्जरसो मूलकबीजं च सिध्मकुष्ठानाम्। काञ्जिकयुक्तं तु पृथङ्मतमिदमुद्वर्तनं लेपाः॥

एडगजादि तीन उबटन—(४५-४७) १. चकवड़ का बीज, २. सर्जरस और ३. मूली का बीज, इनको अलग-अलग काञ्जी में पीसकर सिध्म और कुष्ठ में उबटन या लेप लगाना चाहिए। ये तीन योग हैं॥ १२७॥

वासा त्रिफला पाने स्नाने चोद्वर्तने प्रलेपे च। बृहतीसेव्यपटोलाः ससारिवा रोहिणी चैव॥ १२८॥
खदिरावघातककुभरोहीतकलोध्रकुटजधवनिम्बाः। सप्तच्छदकरवीराः शस्यन्ते स्नानपानेषु॥

कुष्ठ में स्नान, पान, उद्वर्तन और लेप—(४८) अरूस, आँवला, हर्रा और बहेड़ा—इनका क्वाथ पीने और स्नान करने में उपयोगी है और अरूस तथा त्रिफला का पिसा हुआ कल्क उबटन लगाने एवं प्रलेप करने में उपयोगी होता है। (४९) बड़ी कटेरी, खस, परवर की पत्ती, अनन्तमूल, कुटकी, खदिरसार, अमलतास, अर्जुन, रोहेड़ा, लोध, इन्द्रजौ, धाय का फूल, नीम की छाल, छितवन की छाल और कनेर के जड़ की छाल का क्वाथ कुष्ठ रोग में स्नान करने और पीने के लिए उत्तम है॥ १२८-१२९॥

जलवाप्यलोहकेशरपत्रप्लवचन्दनं मृणालानि। भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे॥

पित्त-कफ कुष्ठहर लेप—(५०) सुगन्धबाला, कूठ, अगर, नागकेसर, तेजपात, केवटीमोथा, रक्तचन्दन और कमलनाल—इन द्रव्यों को उत्तरोत्तर १-१ भाग बढ़ाते हुए पीसकर लेप करने से पित्त एवं कफजन्य कुष्ठों में लाभ होता है॥ १३०॥

यष्ट्याह्वलोध्रपद्मकपटोलपिचुमर्दचन्दनरसाश्च ।
स्नाने पाने च हिताः सुशीतलाः पित्तकुष्ठिभ्यः॥ १३१॥

पित्तकुष्ठनाशक क्वाथ—(५१) मुलहठी, लोध, पद्मकाष्ठ, परवर की पत्ती, नीम की छाल और रक्तचन्दन—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर क्वाथ बनायें तथा शीतल करके पित्तकुष्ठ के रोगियों को इससे स्नान एवं पान कराना हितकर होता है॥ १३१॥

आलेपनं प्रियङ्गुहरेणुका वत्सकस्य च फलानि।
सातिविषा च ससेव्या सचन्दना रोहिणी कटुका॥ १३२॥

पित्तकुष्ठ में आलेपन—(५२) फूलप्रियंगु, रेणुका, इन्द्रजौ, अतीस, खस, लालचन्दन और कुटकी—इनका कल्क बनाकर लेप करने से पित्तज कुष्ठ शान्त होता है॥ १३२॥

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमानकुष्ठेषु। तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च॥ १३३॥

दाहयुक्त कुष्ठ में अभ्यंग—(५३) जिन कुष्ठ रोगियों को दाह का अनुभव हो रहा हो, उन्हें तिक्तघृत (जो इसी अध्याय में आगे है) से या सौ बार धोये हुए घृत से अथवा चन्दन, मुलहठी, पुण्डरीक काष्ठ और नीलोफर के कल्क से सिद्ध किये तैल का अभ्यंग करना लाभकर होता है॥ १३३॥

क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फाटके सचर्मदले। शीताः प्रदेहसेका व्यधो विरेको घृतं तिक्तम्॥

विस्फोटक एवं चर्मदल कुष्ठ में उपचार—(५४) कुष्ठ रोगी के कुष्ठ प्रदेश में जब गीलापन हो या कुष्ठग्रस्त अंग कटकर गिर रहा हो, जलन होती हो, विस्फोटक या चर्मदल कुष्ठ हो, तो उसमें शीतल प्रलेप, शीतल परिषेक, सिराव्यध, विरेचन एवं तिक्तघृत का पान कराना चाहिए॥ १३४॥

खदिरघृतं निम्बघृतं दार्वीघृतमुत्तमं पटोलघृतम्। कुष्ठेषु रक्तपित्तप्रबलेषु भिषग्जितं सिद्धम्॥

कुष्ठों में घृत प्रयोग—(५५-५८) रक्त-पित्त की प्रबलता जिन कुष्ठों में हो, उनमें १. खदिरघृत, २. निम्बघृत, ३. दार्वीघृत और ४. पटोलघृत का प्रयोग करना उत्तम तथा अनुभूत योग है॥ १३५॥

वक्तव्य—जिन द्रव्यों के नाम से घृत का नाम जुड़ा है, उन द्रव्यों का चौगुना क्वाथ और चतुर्थांश कल्क डालकर उन घृतों को सिद्ध करना चाहिए।

त्रिफलात्वचोऽर्धपलिकाः पटोलपत्रं च कार्षिकाः शेषाः।
कटुरोहिणी सनिम्बा यष्ट्याह्वा त्रायमाणा च॥ १३६॥
एष कषायः साध्यो दत्त्वा द्विपलं मसूरविदलानाम्। सलिलाढकेऽष्टभागे शेषे पूतो रसो ग्राह्यः॥
तत्र कषायेऽष्टपले चतुष्पलं सर्पिषश्च पक्तव्यम्। यावत्स्यादष्टपलं शेषं पेयं ततः कोष्णम्॥
तद्वातपित्तकुष्ठं वीसर्पं वातशोणितं प्रबलम्। ज्वरदाहगुल्मविद्रधिविभ्रमविस्फोटकान् हन्ति॥

त्रिफला योग—(५९) आँवला, हर्रा, बहेड़ा और परवर की पत्ती—प्रत्येक आधा पल; कुटकी, नीम की छाल, मुलहठी और त्रायमाणा—प्रत्येक १-१ कर्ष तथा मसूर की दाल २ पल लेकर जौकुट कर १ आढक पानी में पकायें। जब अष्टमांश जल बच जाये, तो चूल्हे से उतार कर क्वाथ को छान लें। उस अवशिष्ट ८ पल क्वाथ में ४ पल घी डालकर पकायें। जब क्वाथ और घी जल कर मात्र ८ पल बचा रहे, तो छानकर जब सहनयोग्य गरम रहे, तब उसे कुष्ठ रोगी को पिलायें। यह घृत-क्वाथ योग, वात-पित्त प्रधान कुष्ठ, विसर्प, प्रबल वातरक्त, ज्वर, दाह, गुल्म, विद्रधि, भ्रम और विस्फोट रोग को दूर करता है॥ १३६-१३९॥

वक्तव्य—मूलश्लोक में कई संस्करणों में 'तत्र कषायाष्टपले' के स्थान पर 'ते च कषायाष्टपले' पाठ मिलता है, जिससे 'ते' 'कषायाष्टपले' को प्रथमाद्विवचनान्त मानकर २ कषायाष्टापल शेष मानते है, जिससे १६ पल कषाय का शेष रहना; यह अर्थ निकलता है—'अष्टभागे शेषे इति षोडशपले, अत एवोक्तं 'ते च कषायाष्टपले' इति प्रथमाद्विवचनान्तं, ते षोडशपलमाह। अत्र चाष्टाविंशत्युत्तरपल-शतमानस्याष्टभागशेषे षोडशपलानि भवन्ति' (चक्रपाणि टीका)। यहाँ चक्रपाणि के मत से २ आढक जल लिया जाता है, जिसमें १२८ पल होते हैं। इस तरह १२८ पल का अष्टमांश १६ पल शेष रहने पर ४ पल घी डाले तथा १२ पल जल जाने के बाद शेष ८ पल बच जाने पर प्रयोग करें। यह मात्रा युगानुरूप नहीं है। वर्तमान में इस मात्रा का $\frac{1}{4}$ भाग ही प्रयोज्य है।

निम्बपटोलं दार्वी दुरालभां तिक्तरोहिणीं त्रिफलाम्।
कुर्यादर्धपलांशं पर्पटकं त्रायमाणां च॥ १४०॥
सलिलाढकसिद्धानां रसेऽष्टभागस्थिते क्षिपेत् पूते।
चन्दनकिराततिक्तकमागधिकास्त्रायमाणां च॥ १४१॥
मुस्तं वत्सकबीजं कल्कीकृत्यार्धकार्षिकान् भागान्।
नवसर्पिषश्च षट्पलमेतत्सिद्धं घृतं पेयम्॥ १४२॥
कुष्ठज्वरगुल्मार्शोग्रहणीपाण्ड्वामयश्वयथुहारि।
पामाविसर्पपिडकाकण्डूमदगण्डनुत् सिद्धम्॥ १४३॥

इति तिक्तषट्पलकं घृतम्।

तिक्तषट्पलक घृत—(६०) नीम की छाल, परवर की पत्ती, दारुहल्दी, धमासा, कुटकी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, पित्तपापड़ा तथा त्रायमाणा—इन द्रव्यों को आधा-आधा पल लेकर जौकुट कर एक आढक जल में क्वाथ करें। जब अष्टमांश जल शेष रहे तो उतारकर छान लें; फिर उसमें लालचन्दन, चिरायता,

पीपर, त्रायमाणा, नागरमोथा तथा इन्द्रजौ को आधा-आधा कर्ष लेकर कल्क बनाकर डालें और नया घी छः पल डालकर पाक करें। सिद्ध हो जाने पर छान कर पीने के लिए प्रयोग करें। इस घृत के सेवन से कुष्ठ, ज्वर, गुल्म, अर्श, संग्रहणी, पाण्डुरोग एवं शोथ दूर होते हैं और यह घृत पामा, विसर्प, पिडका, कण्डू, मद और गण्डमाला रोग को नष्ट करने में समर्थ है॥ १४०-१४३॥

सप्तच्छदं प्रतिविषां शम्याकं तिक्तरोहिणीं पाठाम्। मुस्तमुशीरं त्रिफलां पटोलपिचुमर्दपर्पटकम्॥
धन्वयवासं चन्दनमुपकुल्यां पद्मकं हरिद्रे द्वे। षड्ग्रन्थां सविशालां शतावरीं सारिवे चोभे॥
वत्सकबीजं वासां मूर्वाममृतां किराततिक्तं च।
कल्कान् कुर्यान्मतिमान्यष्ट्याह्वं त्रायमाणां च॥ १४६॥
कल्कश्चातुर्भागो जलमष्टगुणं रसोऽमृतफलानाम्। द्विगुणो घृतात्प्रदेयस्तत्सर्पिः पाययेत्सिद्धम्॥
कुष्ठानि रक्तपित्तप्रबलान्यर्शांसि रक्तवाहीनि। वीसर्पमम्लपित्तं वातासृक् पाण्डुरोगं च॥ १४८॥
विस्फोटकान्सपामानुन्मादं कामलां ज्वरं कण्डूम्। हृद्रोगगुल्मपिडका असृग्दरं गण्डमालां च॥
हन्यादेतत् सर्पिः पीतं काले यथाबलं सद्यः। योगशतैरप्यजितान्महाविकारान्महातिक्तम्॥

इति महातिक्तकं घृतम्।

महातिक्तक घृत—(६१) छितवन की छाल, अतीस, अमलतास की छाल, कुटकी, पाठा, नागरमोथा, खश, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, परवर की पत्ती, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, धमासा, लालचन्दन, पीपर, पद्मकाष्ठ, हल्दी, दारुहल्दी, बच, इन्द्रायन का मूल या फल, शतावरी, अनन्तमूल, सारिवा, इन्द्रजौ, अरूसा, मूर्वा, गुरुच, चिरायता, मुलहठी और त्रायमाणा—इन सबको समान भाग लेकर सब मिलाकर घृत का चौथाई वजन कल्क तैयार करें। घी का आठगुना जल और घी का दुगुना आँवले का स्वरस मिलाकर यथाविधि घी को पकाकर छानकर सुरक्षित रख लें। रोगी के बल एवं प्रकृति आदि के अनुसार इसका प्रयोग करें। यह घृत प्रबल रक्त एवं पित्त विकार वाले कुष्ठों को, रक्तस्रावयुक्त अर्शों को, विसर्प, अम्लपित्त, वातरक्त, पाण्डुरोग, विस्फोटक, पामा, उन्माद, कामला, ज्वर, कण्डू, हृदयरोग, गुल्म, पिडका, रक्तप्रदर और गण्डमाला को नष्ट करता है।

जो रोग अन्य सैकड़ों प्रकार के योगों के प्रयोग से भी नहीं अच्छे होते हैं उन महारोगों को भी यह महातिक्तक घृत नष्ट कर देता है। (महारोग शब्द से अतत्त्वाभिनिवेश तथा वातव्याधि, अश्मरी, कुष्ठ, प्रमेह, उदर रोग, भगन्दर, अर्श और ग्रहणी—ये रोग माने जाते हैं[1]) ॥ १४४-१५०॥

दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्याभ्यन्तरे कृते शमने। स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमनुवर्तते साध्यम्॥

साध्यकुष्ठ का अपुनरावर्तन—जो कुष्ठरोग साध्य होता है उसके रोगी का वमन-विरेचन कराकर दोषों को दूर कर देने पर, सिराव्यध आदि यथायोग्य विधियों से रक्तमोक्षण कर देने पर, बाह्य और आभ्यन्तररूप से शमन क्रिया तथा बाह्याभ्यन्तर रूप से उचित समय पर स्नेहन कर्म कर देने पर, उस रोगी का कुष्ठ अच्छा हो जाता है और उसका पुनः आक्रमण नहीं होता है॥ १५१॥

खदिरस्य तुलाः पञ्च शिंशपासनयोस्तुले। तुलार्धाः सर्व एवैते करञ्जारिष्टवेतसाः॥ १५२॥
पर्पटः कुटजश्चैव वृषः कृमिहरस्तथा। हरिद्रे कृतमालश्च गुडूची त्रिफला त्रिवृत्॥ १५३॥
सप्तपर्णश्च सङ्क्षुण्णा दशद्रोणेषु वारिणः। अष्टभागावशेषं तु कषायमवतारयेत्॥ १५४॥
धात्रीरसं च तुल्यांशं सर्पिषश्चाढकं पचेत्। महातिक्तककल्कैस्तु यथोक्तैः पलसम्मितैः॥ १५५॥

---

१. (क) एको महागद इति अतत्त्वाभिनिवेशः। (च. सू. १९।८)
(ख) वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः। अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः॥ (वाग्भट)

निहन्ति सर्वकुष्ठानि पानाभ्यङ्गनिषेवणात्। महाखदिरमित्येतत् परं कुष्ठविकारनुत्॥ १५६॥
इति महाखदिरं घृतम्।

महाखदिर घृत—(६२) खैर के तने की हीर लकड़ी ५ तुला, शीशम १ तुला, आसन १ तुला, करञ्ज की छाल, नीम की छाल, बेतस, पित्तपापड़ा, कोरया की छाल, अरूस की पत्ती, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, अमलतास की गुद्दी, गुरुच, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, निशोथ और छितवन की छाल—प्रत्येक द्रव्य आधी-आधी तुला लेकर भूसे की तरह कूटकर १० द्रोण जल में पकायें। जब अष्टमांश रह जाय तो काढ़े को चूल्हे से उतार लें। फिर उस क्वाथ में आँवले का स्वरस और घी १-१ आढक तथा महातिक्तक घृत के द्रव्यों को १-१ पल लेकर पीसकर डालकर घृत को पकायें। घी पक जाने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह घृत पीने तथा अभ्यंग करने से सभी तरह के कुष्ठों को नष्ट करता है। यह महाखदिर घृत श्रेष्ठ कुष्ठनाशक होता है॥ १५२-१५६॥

प्रपतत्सु लसीकाप्रस्रुतेषु गात्रेषु जन्तुजग्धेषु। मूत्रं निम्बविडङ्गे स्नानं पानं प्रदेहश्च॥ १५७॥

गलत्कुष्ठ में गोमूत्रपान—(६३) जिस कुष्ठ में अंग गल कर गिर रहे हों, लसीका का स्राव हो रहा हो, अंगों को कृमियाँ खा रही हों, ऐसी स्थिति में गोमूत्र, नीम की छाल का क्वाथ और वायविडंग का क्वाथ नहाने और पीने में प्रयोग करना चाहिए तथा गोमूत्र में पिसे नीम के पत्ते और वायविडंग का प्रलेप करना चाहिए॥ १५७॥

वृषकुटजसप्तपर्णाः करवीरकरञ्जनिम्बखदिराश्च। स्नाने पाने लेपे कृमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः॥

कुष्ठहर स्नानादि—(६४) अरूसे की पत्ती, कोरया की छाल, छितवन की छाल, कनेर की छाल, करञ्ज की छाल, नीम की छाल और खैर की छाल या उसके मध्यकाष्ठ का बुरादा—इन सबको समभाग लेकर क्वाथ बनाकर स्नान तथा पान में प्रयोग करना चाहिए एवं गोमूत्र में पीसकर लेप करना चाहिए। ये सभी द्रव्य कृमिरोग तथा कुष्ठरोग को दूर करते हैं॥ १५८॥

पानाहारविधाने प्रसेचने धूपने प्रदेहे च। कृमिनाशनं विडङ्गं विशिष्यते कुष्ठहा खदिरः॥ १५९॥

खदिर सर्वश्रेष्ठ कुष्ठनाशक—(६५) कुष्ठ से ग्रस्त रोगी के पीने के लिए, भोजन पकाने के लिए, स्नान के लिए, धुआँ लेने के लिए और लेपन के लिए कृमिनाशक वायविडंग तथा कुष्ठनाशक खैर का विविध रूप से प्रयोग करना चाहिए। पान-स्नान-भोजन निर्माण के लिए इनके क्वाथ का तथा धूपन एवं लेपन में इनके कल्क का प्रयोग करना चाहिए॥ १५९॥

एडगजः सविडङ्गो मूलान्यारग्वधस्य कुष्ठानाम्। उद्हालनं श्वदन्ता गोऽश्ववराहोष्ट्रदन्ताश्च॥
एडगजः सविडङ्गो द्वे च निशे राजवृक्षमूलं च। कुष्ठोद्हालनमग्र्यं सपिप्पलीपाकलं योज्यम्॥

कुष्ठनाशक लेप—(६६) चकवड़ के बीज, वायविडंग और अमलतास के मूल की छाल—इनका क्वाथ तथा कल्क स्नान-पान-लेप आदि में प्रयोग करने पर कुष्ठ को शान्त करता है। (६७) कुत्ते के दाँत, गाय, घोड़ा, सूअर और ऊँट के दाँत इन्हें घिस कर लेप करने से कुष्ठ का नाश होता है। (६८) चकवड़ के बीज, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, अमलतास के जड़ की छाल, पीपर और कूठ, इन औषधों का स्नान-पान और लेप में प्रयोग करना श्रेष्ठ कुष्ठनाशक है॥ १६०-१६१॥

श्वेतकुष्ठ-चिकित्सा

श्वित्राणां सविशेषं योक्तव्यं सर्वतो विशुद्धानाम्। श्वित्रे स्रंसनमग्र्यं मलपूरस इष्यते सगुडः॥

श्वित्र में विशेष उपचार—(६९) जब श्वेत कुष्ठ से ग्रस्त रोगी को वमन-विरेचन देकर, सब तरह से शरीर को विशुद्ध कर दिया जाय, तो पुनः उसके विशेष रूप से संशोधन के लिए (स्रंसन के लिए) कठगूलर का स्वरस गुड़ मिलाकर उचित मात्रा में पिलाना चाहिए॥ १६२॥

तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसन्तापम्। संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत् पेयाम्॥

विरेचन के बाद का उपचार—(७०) कठगूलर के रस और गुड़ को पीने के बाद विरेचन हो जाने पर रोगी का अच्छी प्रकार स्नेहन करे, तत्पश्चात् रोगी के बल के अनुसार तीन दिन तक उसे सूर्य की किरणों के ताप (धूप) का सेवन करायें। रोगी को इस अवधि में प्यास मालूम हो तो पेया का पान करायें॥ १६३॥

श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान्भिन्द्यात्। स्फोटेषु विस्रुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत्पक्षम्॥
मलपूमसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्क्वाथ्य। पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम्॥

कुष्ठ में स्फोट का भेदन—(७१) जिस शरीराङ्ग में श्वेत कुष्ठ हुआ हो, उस प्रदेश में जो स्फोट हों उन्हें (बेल या बबूर के) काँटों से भेदन कर दें। जब वे स्फोट फट जायें और उनसे लसीकास्राव हो जाय, तब प्रतिदिन प्रातःकाल कठगूलर की छाल, विजयसार की लकड़ी, प्रियंगु फूल और सौंफ—इनको समभाग लेकर क्वाथ बनाकर पान करें अथवा प्रतिदिन प्रातःकाल पलाश के क्षार को रोगी अपने बलानुसार मात्रा में सब मिलाकर पीये॥ १६४-१६५॥

यच्चान्यत् कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम्। खदिरोदकसंयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा॥

खदिरक्वाथ श्रेष्ठ श्वेतकुष्ठनाशक—(७२) कुष्ठनाशक जितने भी योग कहे गये हैं, वे खैर की छाल के क्वाथ के साथ प्रयोग करने पर श्वेतकुष्ठ को नष्ट करने में उपयुक्त हैं। खैर के क्वाथ का पान करना सभी कुष्ठघ्न औषधों में श्रेष्ठतम है॥ १६६॥

समनःशिलं विडङ्गं कासीसं रोचनां कनकपुष्पीम्।
श्वित्राणां प्रशमार्थं ससैन्धवं लेपनं दद्यात्॥ १६७॥
कदलीक्षारयुतं वा खरास्थि दग्धं गवां रुधिरयुक्तम्।
हस्तिमदाध्युषितं वा मालत्याः कोरकक्षारम्॥ १६८॥
नीलोत्पलं सकुष्ठं ससैन्धवं हस्तिमूत्रपिष्टं वा। मूलकबीजावल्गुजलेपः पिष्टो गवां मूत्रे॥ १६९॥
काकोदुम्बरिका वा सावल्गुजचित्रका गवां मूत्रे। पिष्टा मनःशिला वा संयुक्ता बर्हिपित्तेन॥
लेपः किलासहन्ता बीजान्यवल्गुजानि लाक्षा च। गोपित्तमञ्जने द्वे पिप्पल्यः काललोहरजः॥

मनः शिलादि लेप—(७३) मैनसिल, वायविडंग, कासीस, गोरोचन, भड़भाड़ के बीज और सेंधानमक, इन सबका लेप श्वेतकुष्ठ के नाश के लिए लगाना चाहिए। (७४) गदहे की हड्डी जलाकर उसकी भस्म, केला का क्षार और गाय का रक्त एक में मिलाकर श्वित्र पर लेप करना चाहिए। (७५) मालती की कोढ़ी का क्षार लेकर उसे हाथी के कपोल के चूने वाले मद में सानकर दो-एक दिन रख दें, फिर लगायें। (७६) नीलकमल, कूठ और सेंधानमक—इन सबको हाथी के मूत्र के साथ पीसकर लेप करना चाहिए। (७७) मूली के बीज और बाकुची को गोमूत्र में पीस कर लेप करें। (७८) कठगूलर की छाल, बाकुची बीज और चित्रक—इन्हें गोमूत्र में पीसकर लेप करना चाहिए। (७९) मैनसिल को मोर के पित्त के साथ पीसकर श्वेत कुष्ठ पर लेप करना चाहिए। (८०) बाकुची बीज, लाख, गोरोचन, रसांजन, सौवीरांजन, पीपर और कान्तलौह भस्म—इन सबको पीसकर लेप लगाना श्वेतकुष्ठ रोग नाशक होता है॥ १६७-१७१॥

शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम्। श्वित्रं कस्यचिदेव प्रणश्यति क्षीणपापस्य॥

पाप क्षीण होने पर ही श्वित्र साध्य—जब श्वित्र के रोगी को वमन-विरेचन देकर शरीर का शोधन कर दिया गया हो, उसका रक्तमोक्षण कर दिया गया हो और सत्तू खिला-खिलाकर जिसके शरीर में रूक्षता ला दी गयी हो और धर्माचरण से या भोग से जिसके पापों का क्षय हो चुका हो, तो भी कदाचित् किसी भाग्यशाली व्यक्ति का श्वित्र रोग अच्छा हो पाता है॥ १७२॥

दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः। विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत्॥
दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं मेदःस्थिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम्॥ १७४॥

श्वित्र के भेद—श्वेतकुष्ठ को तीन नामों से जानना चाहिए; यथा—१. दारुण श्वित्र, २. अरुण श्वित्र और ३. किलास श्वित्र। ये तीनों ही प्रायः त्रिदोषज होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कदाचित् दो दोषों से या एक दोष से भी श्वित्र होता है। जब दोष रक्तधातु के आश्रित होता है, तब श्वित्र का वर्ण रक्त होता है; जब दोष मांसधातु के आश्रित होता है, तब श्वित्र ताम्र वर्ण का होता है और मेदोधातुगत दोष होने पर श्वित्र सफेद वर्ण का होता है। ये क्रमशः अधिक दुश्चिकित्स्य होते हैं॥ १७३-१७४॥

यत् परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत्। यच्च वर्षगणोत्पन्नं तच्छ्वित्रं नैव सिद्ध्यति॥ १७५॥

असाध्य श्वित्र का लक्षण—जब श्वेतकुष्ठ के चकत्ते परस्पर मिल गये हों, बहुत से चकत्ते हों, जिसमें के बाल लाल वर्ण के हो गये हों, जो कुष्ठ कई वर्षों से उत्पन्न हों, वह श्वित्र अच्छा नहीं होता है॥ १७५॥

कुष्ठ-किलास सापेक्ष निदान बोधक-सारणी

कुष्ठ	किलास
१. यह कृमिजन्य होता है।	१. यह कृमिजन्य नहीं होता।
२. यह संक्रामक होता है।	२. यह संक्रामक नहीं होता।
३. इसमें शरीर धातुओं में क्षीणता होती है।	३. इसमें शरीर धातुएँ क्षीण नहीं होती हैं।
४. यह त्रिदोषज होता है।	४. यह एकदोषज या द्विदोषज भी होता है।
५. यह सप्तधातुगत होता है।	५. यह मात्र त्वचा, रक्त, मांस और मेद में होता है।

अरक्तलोम तनु यत् पाण्डु नातिचिरोत्थितम्।
मध्यावकाशे चोच्छ्रनं श्वित्रं तत्साध्यमुच्यते॥ १७६॥

श्वित्र की साध्यावस्था—जिस श्वेतकुष्ठ के चकत्तों के बीच के रोम लाल वर्ण के न हों, जो पतला हो, जो पाण्डुवर्ण का हो, जो बहुत पुराना न हो, जो श्वेतकुष्ठ मध्य भाग में कुछ उभरा हुआ हो, वह साध्य होता है॥ १७६॥

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुधर्षणञ्च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्॥ १७७॥

किलास (श्वेतकुष्ठ) का निदान—असत्य भाषण करना, किये हुए उपकार को भूलकर कृतघ्न हो जाना, देवताओं की निन्दा करना, गुरुजनों का अपमान या तिरस्कार करना, पूर्वजन्म में किये गये पाप और विरोधी अन्नाहार करना—ये सब किलास (श्वित्र) के उत्पादक कारण होते हैं॥ १७७॥

तत्र श्लोकाः—

हेतुर्द्रव्यं लिङ्गं विविधं ये येषु चाधिका दोषाः।
कुष्ठेषु दोषलिङ्गं समासतो दोषनिर्देशः॥ १७८॥
साध्यमसाध्यं कृच्छ्रं कुष्ठं कुष्ठापहाश्च ये योगाः।
सिद्धाः किलासहेतुर्लिङ्गं गुरुलाघवं तथा शान्तिः॥ १७९॥

इति संग्रहः प्रणीतो महर्षिणा कुष्ठनाशनेऽध्याये। स्मृतिबुद्धिवर्धनार्थं शिष्याय हुताशवेशाय॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
कुष्ठचिकित्सितं नाम सप्तमोध्यायः॥ ७॥

अध्याय का उपसंहार—महर्षि आत्रेय ने इस कुष्ठ चिकित्सा अध्याय में अग्निवेश की स्मृति और बुद्धि को बढ़ाने के लिए कुष्ठ रोग के कारण, कुष्ठ के सात द्रव्य (वातादि दोष ३ तथा त्वचा-रक्त-मांस-लसीका ४), कुष्ठ की विविधता और विभिन्न लक्षण, जिन कुष्ठों में जो-जो दोष प्रमुख होते हैं, कुष्ठों में दोषों के लक्षण, संक्षेप में दोषों का निर्देश, साध्य, असाध्य और कृच्छ्रसाध्य कुष्ठ के लक्षण, कुष्ठनाशक अनुभूत योग, किलास (श्वेतकुष्ठ) कुष्ठ का कारण, लक्षण, उसकी गुरुता-लघुता तथा उसके प्रशमन के उपायों का संग्रह किया है॥ १७८-१८०॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृततन्त्र के चिकित्सास्थान में
'कुष्ठचिकित्सित' नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ७॥

कुष्ठ चिकित्सा क्रमबोधक-सारणी

उपचार	औषध	आहार-विहार
'बहुदोष' कुष्ठी का संशोधन, संशोधन के बाद घृतपान-स्नेहपान		**पथ्य**—सभी कुष्ठों में लघु अन्न—पुराना अगहनी चावल, जौ, गेहूँ, चना, मूँग, अरहर, मसूर आदि। तिक्त रस वाले शाक, परवर, नीम की कोमल पत्ती, गदहपुर्ना की पत्ती, मकोय की पत्ती आदि, गोघृत, मधु, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, तिल, सरसों, नीम, हिंगोट के तैल। खदिरोदक का पान एवं स्नान ब्रह्मचर्य, सूर्य की उपासना, दान और धर्माचरण।
वातप्रधान में आस्थापन वस्ति	**आस्थापन योग**—दारुहल्दी, वन-भण्टा, खश, पटोलपत्र, निम्बपत्र, मदनफल, अमलतास फल के क्वाथ में इन्द्रजौ एवं नागरमोथा का कल्क तथा तैल मिलाकर वस्ति देनी चाहिए।	
वातप्रधान में अनुवासन	**अनुवासन योग**—मदनफल, मुल-हठी, निम्ब, कुटज एवं पटोल के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध घृत या तैल की वस्ति देनी चाहिए।	
कफप्रधान में वमन	**वमन योग**—इन्द्रजौ, मदनफल, मुलहठी के क्वाथ में पटोल एवं निम्बपत्र स्वरस मिलाकर पिलायें।	
पित्तप्रधान में विरेचन	**विरेचन योग**—निशोथ, दन्तीमूल एवं त्रिफला चूर्ण। विरेचन द्रव्यों का घोल बनाने के लिए—सौवीरक, तुषोदक, आसव तथा सीधु का प्रयोग करना चाहिए।	
संशोधन (वमन या विरेचन) के उत्तम, मध्यम या अवर होने के अनुसार पेया आदि के क्रम से पथ्य दें।	चरकसंहिता-सिद्धिस्थान (१।११) में वर्णित क्रम के अनुसार पथ्य दे।	
नस्य प्रयोग	**नस्य**—सेंधानमक, दन्तीमूल, मरिच, तुलसीबीज करञ्जफल एवं वायविडंग का बारीक चूर्ण बनाकर नस्य दें।	
वैरेचनिक धूम—स्थिर, कठिन मण्डल कुष्ठ में कूँची से घिसकर रक्त निकाले। आनूप या जलचर मांस की पोटली से स्वेदन कर उभड़े कुष्ठ को खुरच कर रक्त निकाले। अल्पदोषयुक्त कुष्ठ को पोंछ कर श्रृंग, अलाबूयन्त्र या जोंक से रक्त निकाले। शोधन तथा रक्तमोक्षण के पश्चात् लेप लगाना चाहिए।	चरकसंहिता-सूत्रस्थान ५।२०-५६ में वर्णित विधि से धूम्रपान करें। **कुष्ठनाशक योग**—रसाञ्जन गोमूत्र से पीना चाहिए या तिल गुड़ के साथ त्रिकुटयुक्त हरीतकी सेवन करें। पटोलादि क्वाथ, मुस्तादिचूर्ण, त्रिफलादि चूर्ण का प्रयोग करें। पारद भस्म, शिलाजीत या योगराजरस (पाण्डु चिकित्सा में पठित) के साथ प्रयोग करें। मध्वासव, कनकबिन्द्वरिष्ट और त्रिफलासव पिलायें।	

उपचार	औषध	आहार-विहार
क्षारकर्म—जिन कुष्ठों में सूनापन हो उनमें रक्त तथा दोष को निकालकर क्षार का प्रयोग करना चाहिए।	**गलित कुष्ठ में**—जब मांस या अंग कटकर गिर रहा हो, तब गोमूत्र या नीम की छाल का क्वाथ या विडंग का क्वाथ स्नानार्थ एवं पानार्थ प्रयोग करें। नीम की पत्ती या छाल तथा विडंग का कल्क लगायें।	**अपथ्य**—विषम भोजन, गुरु एवं विरुद्ध भोजन, विदाही विष्टम्भी आहार अम्ल, कटु, दही, आनूप मांस, मछली, उड़द, आदि। कृतघ्नता, झूठ बोलना, निन्दा करना, बड़ों का अपमान, मैथुन, दिवाशयन, अग्निसेवन, लवण सेवन एवं किसी भी तरह का पाप कर्म अपथ्य है।
अगद प्रयोग—पत्थर के समान कड़े, शून्य, स्थिर एवं पुराने कुष्ठ में अगद औषध का पान तथा लेप करें। स्तब्ध सुप्त, स्वेद रहित कण्डू बहुल कुष्ठों में दन्ती पत्र, समुद्र फेन या सूखे गोइठे से घर्षण के बाद प्रलेप लगायें।	**कुष्ठनाशक लेप**—१. एलादि लेप, चित्रकादि लेप, मांस्यादि लेप, त्रप्वादि लेप तथा मेदक एवं किण्व का लेप करें। २. सिद्धार्थक स्नान करें तथा कुष्ठादि लेप, श्वेतकरवीरमूलादि लेप, लोध्रादि लेप और शिरीष त्वग् लेप करें। ३. कुष्ठनाशक अष्ट कषायों का आलेपन, प्रघर्षण, अवचूर्णन और इनके क्वाथ-कल्क से सिद्ध घृत-तैल का प्रयोग करें। ४. त्रिफलादि क्वाथ का पान करायें।	
पित्तोल्बण कुष्ठ में—विरेचन, रक्तमोक्षण, तिक्त एवं कषाय द्रव्यों से सिद्ध घृतों का पान तथा रक्त पित्त की चिकित्सा में कथित बाह्य तथा आभ्यन्तर चिकित्सा का प्रयोग करें।	**अभ्यंगार्थ**—कुष्ठाद्य तैल, श्वेत करवीराद्य तैल, तिक्तेक्ष्वादि तैल, कनकक्षीरी तैल का प्रयोग करें। **सिध्म में**—कुष्ठादि लेप लगायें। **कुष्ठों में**—सर्षप-करञ्ज-कोषातकी-इंगुदी के तैल तथा खदिरसार तैल लगायें। विपादिकाहर घृत-तैल का प्रयोग करें।	
श्वेतकुष्ठ में– सर्वप्रथम वमन एवं विरेचन द्वारा संशोधन तत्पश्चात् स्नंसन के लिए कठगूलर के रस और गुड़ का सेवन करायें। बाह्य और आभ्यन्तर स्नेहन करने के पश्चात् ३ दिन तक रोगी की सहनशक्ति के अनुसार धूप का सेवन करायें। कुष्ठघ्न लेपों का प्रयोग करें और सूर्योपासना, दान, धर्माचरण आदि का पालन करें।	**मण्डल कुष्ठ में**—किण्वादि एवं करञ्जादि लेप लगायें। स्नान-उबटन एवं प्रलेपार्थ वासा-त्रिफला क्वाथ एवं कल्क का प्रयोग करें। एडगजादि लेप, प्रियंग्वादि आलेपन तथा सुगन्धबालादि लेप लगायें। **दाहाधिक्य में**—तिक्तघृत, शतधौतघृत तथा रक्त चन्दन, मुलहठी, नीलकमल आदि से सिद्ध घृत का अभ्यंग करें। **अंगपतन, दाह, विस्फोट एवं चर्मदल कुष्ठ में**—शीतल लेप, परिषेक, शिराव्यध, विरेचन एवं तिक्त घृत का पान कराना चाहिए। **रक्तपित्त प्रधान कुष्ठ में**—खदिरघृत, निम्बघृत, दार्वी घृत एवं पटोलघृत का प्रयोग करायें। घृत मिश्रित त्रिफला क्वाथ पिलायें। तिक्तषट्पल घृत, महातिक्तक घृत एवं महाखदिर घृत का प्रयोग करें। **श्वेत कुष्ठ में**—मनःशिलादि लेप, केले के क्षार में खरास्थि भस्म एवं गोरुधिर मिलाकर लेप। नीलोत्पलादि लेप तथा बाकुच्यादि लेप का प्रयोग करें।	

अथाष्टमोऽध्यायः

अथातो राजयक्ष्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'राजयक्ष्मचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—यहाँ कुष्ठ रोग के वर्णन के पश्चात् राजयक्ष्मा रोग का वर्णन किया जा रहा है। इसका तारतम्य यह है कि कुष्ठरोग त्रिदोषज एक गम्भीर तथा संक्रामक व्याधि है और उसी तरह राजयक्ष्मा भी त्रिदोषज गम्भीर तथा संक्रामक रोग है। पौराणिक कथा के अनुसार अपने ही श्वसुर के शाप के कारण नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को यह रोग सर्वप्रथम हुआ था। अतः राजा का रोग होने से इसका नाम 'राजयक्ष्मा' पड़ गया। **'यक्ष्मा'** का अर्थ रोग होता है। इस प्रकार इसे 'राजरोग' भी कहते हैं।

वाग्भट ने रोगों का राजा होने से इसका नाम 'राजयक्ष्मा' माना है। इस रोग में शरीर की रस-रक्तादि धातुओं का शोषण हो जाता है, इसलिए इसे **'शोष'** कहा जाता है। इस रोग के होने से शरीर की बाह्य तथा आन्तरिक क्रियाओं का अतिशय क्षय हो जाता है, जिससे इसे **'क्षय'** भी कहा जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक दण्डाणु विशेष 'बैसिलस ट्युबरकुलोसिस' को राजयक्ष्मा का उत्पादक कारण मानते हैं, जो आमाशय को छोड़कर शरीर के किसी भी भाग में राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति कर सकता है। इस रोग के सहयोगी कारण भी होते हैं; यथा—१. **वंशपरम्परा**—यह रोग कुछ वंशों में पूर्वजों से सन्तानों में संक्रान्त हो जाता है। २. **युवावस्था**—यह रोग युवकों में प्रश्रय पाता है। ३. **व्यवसाय**—धुआँ उगलने वाले कारखानों, आटा-चक्की, खराद की मशीन, आरा-मशीन, रूई धुनने की मशीन आदि स्थानों में काम करने वालों को यह रोग अधिकतर होता है। ४. **घनी बस्ती**—अस्वच्छ, गन्दे, सूर्य-प्रकाशरहित, भीड़ भरे स्थानों में रहने वाले अधिकांश व्यक्ति इस रोग से आक्रान्त हो जाते हैं। ५. **गरीबी या धनाभाव**—शरीर के उपयुक्त पोषक तत्त्वों से युक्त आहार न मिलने से, स्निग्धता के अभाव में शरीर इस रोग से आक्रान्त हो जाता है। ६. **अतिश्रम**—जो व्यक्ति अपनी शारीरिक क्षमता की अवहेलना कर अधिक श्रम करते हैं, उनमें साहसजन्य क्षय रोग होता है। ७. **जीर्ण रोग**—बहुत दिनों तक किन्हीं रोगों से आक्रान्त होने के कारण शरीर के निर्बल हो जाने पर या जीर्ण कास, श्वास, मधुमेह, वातश्लैष्मिक ज्वर आदि के दीर्घकाल तक रहने से इनके उपद्रवस्वरूप भी राजयक्ष्मा होता है। वर्तमान में कुपोषण के कारण यह व्याधि अधिक बढ़ रही है। व्यक्तियों में व्याधिक्षमतारूपी स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक शक्ति का ह्रास होता चला जा रहा है। मिथ्या आहार-विहार और असंयमित जीवनचर्या शरीर को रोगप्रतिरोधकशक्ति-सम्पन्न बनाने की अपेक्षा रोगग्रहणशील बना रही है। शरीर को स्वस्थ, बलिष्ठ, संयमित बनाकर हिताहार-विहार सेवन से ही इससे बचा जा सकता है।

दिवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा। कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ॥ ३ ॥
रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः। आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥ ४ ॥
दुहितॄणामसम्भोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः। क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ॥
प्रजापतेर्हि दुहितॄष्टाविंशतिमंशुमान्। भार्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ॥ ६ ॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम्। रजःपरीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत् ॥ ७ ॥

सोऽभिभूतोऽतिमहता गुरुक्रोधेन निष्प्रभः। देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ॥ ८ ॥
अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः। प्रसादं कृतवान् सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः ॥
स विमुक्तग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः। ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां शुद्धं सत्त्वमवाप च ॥ १० ॥

राजयक्ष्मा की उत्पत्ति—ऋषियों ने देवताओं द्वारा चन्द्रमा के कामव्यसन-संसक्त हो जाने की पौराणिक कथा सुनी।

कथा—चन्द्रमा ने प्रजापति की २८ कन्याओं को स्त्री के रूप में स्वीकार किया था, परन्तु वह उन सबमें समान व्यवहार नहीं रखता था। उनमें से रोहिणी के प्रति अत्यन्त कामासक्त होकर चन्द्रमा ने अपने शरीर की रक्षा की परवाह नहीं की। परिणामस्वरूप शुक्र तथा ओज के अतिशय क्षीण होने से उसका शरीर कृश और दुर्बल हो गया। इधर अपनी शेष कन्याओं के साथ स्त्रियोचित बर्ताव न किये जाने की बात जानकर प्रजापति क्रुद्ध हो गये और उनके मुख से निःश्वास के रूप में निकला हुआ क्रोध मूर्तिमान् हो उठा (जो राजयक्ष्मा रोग के रूप में अवतरित हुआ)। इस प्रकार अपनी स्त्रियों के प्रति समान प्रेमभाव न रखने वाले अपने श्वसुर प्रजापति द्वारा अभिशप्त एवं रजोगुण से ग्रस्त चन्द्रमा के शरीर में क्रोधस्वरूप यक्ष्मा ने प्रवेश किया।

चन्द्रमा की शरणागति और शापमुक्ति—अपने श्वसुर प्रजापति के अति भयंकर क्रोध से प्रताड़ित हुआ चन्द्रमा अपनी छवि खो बैठा और उसकी काया कान्तिविहीन हो गयी। विवश होकर वह देवताओं और देवर्षियों (को अपने अनुनय-विनय से अनुकूल बनाकर) सहित अपने श्वसुर की शरण में गया। जब प्रजापति को उसकी बुद्धिनिर्मलता के साथ अपने अपराधजन्य यक्ष्मारोगग्रस्तता का ज्ञान होने पर शरणागत होने का आभास हुआ तब वे प्रसन्न हो गये और उन्होंने (देव-वैद्य) अश्विनीकुमारों से चन्द्रमा की चिकित्सा करायी। अश्विनीकुमारों ने चन्द्रमा को राजयक्ष्मा रोग से मुक्त किया और उसके शरीर को ओज से भर दिया जिससे चन्द्रमा के मन में रजोगुण के स्थान पर सत्त्वगुण ने स्थान पाया एवं उसकी कान्ति पुनः ज्योति बिखेरने लगी और वह चमक उठा ॥ ३-१० ॥

क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग एकार्थो दुःखसंज्ञकः। यस्मात् स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः ॥

यक्ष्मा के पर्याय—क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर, रोग और दुःख—ये सभी शब्द एक ही अर्थ रखते हैं। एक ही अर्थ के बोधक शब्द परस्पर पर्याय कहे जाते हैं। नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को सबसे पहले हुआ था, इसलिए यक्ष्मा को राजयक्ष्मा कहा जाने लगा ॥ ११ ॥

स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्यां मानुषं लोकमागतः। लब्ध्वा चतुर्विधं हेतुं समाविशति मानवान् ॥

यक्ष्मा का मर्त्यलोक में अवतरण—अश्वियों की हुंकार से वह यक्ष्मा मर्त्यलोक में चला आया। चार प्रकार के ऐसे कारण हैं, जिन्हें पाकर यक्ष्मा मनुष्यों के शरीर में प्रवेश कर जाता है ॥ १२ ॥

अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम्। यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ॥ १३ ॥

राजयक्ष्मा के चार कारण—१. अपने शारीरिक बल की क्षमता से अधिक कार्य करना, २. मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना, ३. शरीर की धातुओं का क्षय होना और ४. विषम (नियम-विरुद्ध) भोजन करना—ये चार राजयक्ष्माजनक कारण होते हैं ॥ १३ ॥

युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः। पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः ॥ १४ ॥
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते। वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ प्रधावति ॥ १५ ॥
स शिरःस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः। कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ॥ १६ ॥
पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो वर्चोभेदं गुदे स्थितः। जृम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरःस्थश्चोरसो रुजम् ॥

क्षणनादुरसः कासात् कफं ष्ठीवेत् सशोणितम्। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूलातिपीडितः ॥१८॥
इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतैः प्रपद्यते। एकादशभिरात्मज्ञो भजेत् तस्मान्न साहसम्॥ १९॥

(१) साहसिक यक्ष्मा का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—युद्ध करना (अपनी शक्ति से अधिक शक्तिशाली के साथ लड़ना), बहुत पढ़ना, ज्यादा बोझ उठाना, अधिक पैदल चलना, अधिक उपवास करना या अधिक ऊँचाई से कूदना, अधिक तैरना, कहीं गिर पड़ना या चोट लग जाना या कोई ऐसा कार्य करना जो अपनी शक्ति से अधिक शक्ति की अपेक्षा रखता हो और अपने बल से कहीं अधिक श्रम करने से वक्षःस्थल के क्षतग्रस्त हो जाने से प्रकुपित वायु कफ तथा पित्त को प्रेरित कर शरीर के विभिन्न भागों में दौड़ने लगती है। जब प्रकुपित वायु शिरो भाग में जाती है तो १. शिरःशूल; गले में स्थित होकर २. कण्ठोद्ध्वंस (कण्ठ की विकृति), ३. कास, ४. स्वरभेद तथा ५. अरोचक; पार्श्व प्रदेश में जाकर ६. पार्श्वशूल; गुदा भाग में जाकर ७. वर्चोभेद (ढीलाशौच होना—अतिसार); सन्धियों में स्थित होकर ८. जृम्भा, ९. ज्वर; उरःस्थल में रहकर १०. उरःशूल एवं ११. उरःक्षत जब घावयुक्त हो जाता है तब रुग्ण व्यक्ति अपने विक्षत वक्षःस्थल पर जोर देकर खाँसते हुए रक्तमिश्रित कफ को कठिनाई के साथ बाहर निकाल पाता है (इसे उरःक्षत कहते हैं)। इस प्रकार अपनी शक्ति का विचार न कर सामर्थ्य से बाहर श्रम करने से उत्पन्न (साहसिक) राजयक्ष्मा इन ग्यारह लक्षणों के साथ प्रकट होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष साहस का कार्य न करे॥ १४-१९॥

ह्रीमत्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः॥ २०॥
तदा वेगप्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्। ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान्कुरुतेऽनिलः॥ २१॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्। पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम्॥ २२॥
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान्॥ २३॥

(२) वेगसन्धारणजन्य यक्ष्मा के निदान, सम्प्राप्ति एवं लक्षण—जब कोई पुरुष लज्जा से, घृणा से अथवा भय से ग्रस्त होकर प्रवर्तनोन्मुख अपानवायु, मूत्रवेग तथा पुरीषवेग को रोक लेता है, तब वायु कफ तथा पित्त को प्रेरित कर (उभाड़कर) शरीर के ऊर्ध्व, अधः अथवा तिर्यक् (तिरछे) प्रदेशों में अनेक तरह के विकारों को उत्पन्न करती है; यथा—१. प्रतिश्याय, २. कास, ३. स्वरभेद, ४. अरोचक, ५. पार्श्वशूल, ६. शिरःशूल, ७. ज्वर, ८. असावमर्द (कन्धों में दबाने जैसी पीड़ा), ९. अङ्गमर्द (अंगों में पीड़ा), १०. बार-बार वमन होना और ११. वात-पित्त-कफ, इन तीनों के लक्षणों से युक्त अतीसार होना—ये वेगसन्धारण से होने वाले ग्यारह लक्षण होते हैं, जिससे 'राजयक्ष्मा' महारोग कहा जाता है॥ २०-२३॥

ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्शनात्। अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोजश्च हीयते॥ २४॥
ततः स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन्। प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम्॥ २५॥
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्। करोति चांससन्तापमेकादशगदानिमान्॥ २६॥
लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम्। सम्प्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात् प्राणक्षयप्रदम्॥ २७॥

(३) धातुक्षयजन्य राजयक्ष्मा के कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण—ईर्ष्या करना (दूसरों को अपने से सम्पन्न देखकर डाह करना), किन्हीं वस्तुओं को पाने की लालसा, भयभीत होना, मन में पीड़ा होना, क्रोध करना, शोक करना; इन कारणों से तथा शरीर के कृश होने से, अत्यधिक स्त्री-प्रसङ्ग करने से और उपवास करने से शुक्र तथा ओज, ये दोनों क्षीण हो जाते हैं; फिर शरीर के स्नेहांश का क्षय होने के कारण बढ़ी हुई वायु पित्त एवं कफ को उभाड़कर (शरीर में सञ्चरण करती हुई) इन एकादश लक्षणों को उत्पन्न करती है; यथा—१. प्रतिश्याय, २. ज्वर, ३. कास, ४. अंगमर्द, ५. शिरःशूल, ६. श्वास, ७. विड्भेद

(अतिसार), ८. अरुचि, ९. पार्श्वपीड़ा, १०. स्वरक्षय और ११. अंससन्ताप। ये एकादश लक्षण शरीर की धातुओं के क्षीण होने से होने वाले प्राणक्षयकारक महाव्याधि राजयक्ष्मा को बतलाने वाले होते हैं॥ २४-२७॥

वक्तव्य—यहाँ राजयक्ष्मा के कारणों में कुछ मानस विकारों का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इन ईर्ष्या, भय आदि होने की स्थिति में जो भी आहार ग्रहण किया जाता है, उसका परिपाक सम्यक् नहीं होता है, जिससे रसादि धातुओं के क्रमिक निर्माण परम्परा में बाधा उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि जब पूर्व के रसधातु का निर्माण नहीं होगा, तो रक्त-मांस आदि का निर्माण भी नहीं होगा। अतः इन कारणों से अग्निमन्दताजनित धातुक्षय होने से राजयक्ष्मा होता है। मानसविकारों के कारण अग्निमान्द्य होने की चर्चा सुश्रुत-सूत्रस्थान (४६।५००) तथा चरक-विमानस्थान (२।९) में की गई है[1]।

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः। जनयन्त्यामयान् घोरान्विषमान्मारुतादयः॥ २८॥
स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः। रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः॥ २९॥
प्रतिश्यायं प्रसेकं च कासं छर्दिमरोचकम्। ज्वरमंसाभितापं च छर्दनं रुधिरस्य च॥ ३०॥
पार्श्वशूलं शिरःशूलं स्वरभेदमथापि च। कफपित्तानिलकृतं लिङ्गं विद्याद्यथाक्रमम्॥ ३१॥
इति व्याधिसमूहस्य रोगराजस्य हेतुजम्। रूपमेकादशविधं हेतुश्चोक्तश्चतुर्विधः[2]॥ ३२॥

(४) विषमाशनजन्य राजयक्ष्मा के निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—परस्पर विरुद्ध गुण वाले अनेक प्रकार के आहार को आहार-विधि-विधान के विपरीत प्रकार से ग्रहण करने वाले व्यक्ति के वातादि दोष विषम होकर अतिकष्टप्रद अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। विषमाहार सेवन से विषम हुए दोष रक्त आदि धातुओं के स्रोतों में अवरोध उत्पन्न कर देते हैं, जिससे अग्रिम धातुओं का पोषण नहीं हो पाता है और वे दोष अनेक प्रकार के रोगों को जन्म देते हैं; यथा—१. प्रतिश्याय, २. प्रसेक (मुख से पानी आते रहना), ३. कास, ४. छर्दि, ५. अरोचक, ये कफज लक्षण हैं; ६. ज्वर, ७. अंसाभिताप और ८. रक्तवमन, ये पित्तज लक्षण हैं तथा ९. पार्श्वशूल, १०. शिरःशूल और ११. स्वरभेद, ये वातज लक्षण हैं। उक्त क्रमानुसार लक्षणों को उन-उन दोषों से उत्पन्न हुआ जानना चाहिए। इस प्रकार उन चार कारणों को तथा उन चारों कारणों से होने वाले रोगों के समूह रूप राजयक्ष्मा के ग्यारह लक्षणों को कह दिया गया॥ २८-३२॥

---

१. (क) ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥ (सु. सू. ४६।५००)

(ख) मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः॥ (च. वि. २।९)

२. ननु शोषाणामयथाबलमारम्भादिजत्वभेदेन चातुर्विध्यकथनेन किं? यतस्तानि तान्येव लक्षणानि सर्वत्र भवन्ति, तथा सर्वेऽपि त्रिदोषजाः तेनैकरूपत्वाभिधानमेव युक्तम्, उक्तं च शल्ये—एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको गदः (सु. उ. ४१) इति इहापि चोक्तम्—सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा इत्यादि। मैवं, हेतुलक्षणचिकित्सितेन चतुर्णामपि भेदाद् भिन्न एवेति युक्तम्। तत्र हेतवोऽयथाबलमारम्भादय उक्ता एव, लिङ्गं च भिन्नं साहसजे कण्ठोद्ध्वंस उरोरुग् जृम्भा च, वेगसन्धारणजे च अङ्गमर्दो मुहुश्छर्दिस्तथा वर्चोभिदस्त्रिलक्षणः। अन्यत्र हि वर्चोभिदस्त्रिलक्षणो न भवति, क्षयजे पार्श्वशूलांससन्तापाः, विषमाशनजे छर्दनं रुधिरस्य, साहसजे प्रतिश्यायाभावः, शोषे तु प्रतिश्याय इत्यादि लक्षणभेदः। चिकित्सितभेदस्तु असाधारणलक्षणे चिकित्साभेदकृत एव, तस्माद् भेदो यक्ष्मणां युक्त एव, तन्त्रान्तरे तु स्थूलदृष्ट्या अभेद उक्तः, इहापि स्थूलदृशा 'सर्वस्त्रिदोषजो ज्ञेयः' इत्यादिनाऽभेद उक्त एव, सूक्ष्मचिन्तायां त्वयमेव भेद उक्तो ज्ञेयः। पुनश्च कासोऽङ्गताप इत्यादिना दोष लक्षणानि वक्ष्यति, तत्सामान्येन यक्ष्मणः प्रायोभाविलक्षणं चतुष्वपि समुच्चित्योक्तमिति ज्ञेयं, तेन न पौनरुक्त्यम्। (चक्रपाणि टीका)

(१) विप्रकृष्ट हेतु—

(क) साहस
(ख) वेगसन्धारण
(ग) क्षय
(घ) विषमाशन

→ शोष + उपसर्ग → राजयक्ष्मा

(२) सन्निकृष्ट हेतु—

उपसर्ग (संक्रमण) → शोष + उपसर्ग

१. (क) साहस—सामान्यतः जोश-खरोश के आगोश (आवेश) में आकर अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने की प्रवृत्ति को 'साहस' कहते हैं। जैसे—अपने से बलवान् के साथ युद्ध करना, खेलों के प्रदर्शन में ऊँचे-नीचे कूदना, अधिक भार उठाना, दौड़ते हुए घोड़े को पकड़ना, जोर लगाकर पत्थर या अयोगोलक फेंकना, चौड़े पाट की नदी को तैरना या लगातार अधिक समय तक नृत्य करना आदि साहस के ही रूप हैं। इन कारणों में से कुछ का सर्व शरीर पर और कुछ का केवल वक्षःस्थल पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के साहस से उरःक्षत होकर राजयक्ष्मा हो सकता है।

(ख) वेगसन्धारण—वायु (अपान), मूत्र और पुरीष के वेग को रोकने से वात का प्रकोप होता है, वात के प्रकोप से अग्निदुष्टि होती है और अग्निदोष से तीनों दोषों का प्रकोप होकर परम्परया राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। वेगावरोध से स्रोतोऽवरोधपूर्वक भी धातुक्षय हो सकता है।

वेगावरोध → वातप्रकोप → शोष → यक्ष्मा
↓
अग्निदुष्टि
↓
त्रिदोषप्रकोप
↓
स्रोतोऽवरोध

(ग) क्षय—जिसके कारण रोगी निरन्तर क्षीण होता जाय, उसे क्षय कहते हैं। क्षय के उत्पादक कारण दो तरह के होते हैं—

(१) शारीरिक—अतिव्यवाय
अनशन
रक्तस्राव आदि

(२) मानसिक—ईर्ष्या
द्वेष
विषाद आदि।

इन कारणों से रोगी कृश होकर क्षीण हो जाता है, जिससे उसे राजयक्ष्मा हो जाता है।

(घ) विषमाशन—चरकोक्त प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था और उपयोक्ता—इन अष्ट आहारविधिविशेषायतन तथा सुश्रुतोक्त द्वादशाशनप्रविचार के विरुद्ध आहार का सेवन करना विषमाशन कहलाता है। विषमाशन से स्रोतोऽवरोध होता है, जो आगे चलकर राजयक्ष्मा का उत्पादक बन जाता है।

सम्प्राप्ति

विप्रकृष्ट निदान
(१) विषमाशन
(२) वेगधारण
(३) क्षय
(४) साहस

(क) कफप्रधान दोष → स्रोतोऽवरोध → पोषणाभाव → अनुलोम क्रम से धातुक्षय (उत्तरोत्तर धातुक्षय)

(ख) शुक्रक्षय → वातप्रकोप → प्रतिलोम क्रम से धातुक्षय (पूर्वपूर्ववर्ती धातुक्षय)

सर्वधातुक्षय
↓
शोष
↓
उपसर्ग
↓
राजयक्ष्मा

→ कारणभेदजन्य राजयक्ष्मा लक्षणभेद-बोधक सारणी

साहसिक	वेगसंधारणजन्य	क्षयजन्य	विषमाशनजन्य
शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल	शिरःशूल
कण्ठोद्ध्वंस	अंसावमर्द	अंसताप	अंसताप
कास	कास	कास	कास
स्वरभेद	स्वरभेद	स्वरक्षय	स्वरभेद
अरोचक	अरोचक	अरोचक	अरोचक
पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल	पार्श्वशूल
अतिसार	अतिसार	अतिसार	रक्तवमन
जृम्भा	अङ्गमर्द	अङ्गमर्द	प्रसेक
ज्वर	ज्वर	ज्वर	ज्वर
उरःशूल	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय	प्रतिश्याय
रक्तमिश्रित कफष्ठीवन	वमन	श्वास	वमन छर्दि

पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम्॥ ३३॥
घृणित्वमशनतश्चापि बलमांसपरिक्षयः। स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने॥ ३४॥
मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्धनम्॥ ३५॥
पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्। स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम्॥
जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि। शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम्॥ ३७॥
प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः।

राजयक्ष्मा का पूर्वरूप—सर्दी-जुकाम होना, दुर्बलता, दोषरहित वस्तुओं में भी दोष देखना, शरीर में बीभत्स रूप देखना, घृणा करना, भोजन करने पर भी बल और मांस का क्षय होना, स्त्रियों में, मद्य

में और मांसभक्षण में अधिक रुचि होना, शरीर को सजाकर ढँककर रखने में रुचि होना, प्रायशः खाने-पीने की वस्तुओं में मक्खी, घुन या बाल अथवा तृण का गिरना, केशों तथा नखों का बहुत बढ़ना, स्वप्न में पक्षी-पतङ्गों और श्वापद (हिंसक) जीवों से त्रस्त होना, केश, हड्डी या राख की ढेर पर चढ़ना, जलाशयों को सूखते देखना, पर्वतों को गिरते देखना, वनों को सूखते देखना और ग्रह-नक्षत्र-तारागणों को गिरते देखना—ये सब बहुत से लक्षणों वाले स्वप्न राजयक्ष्मा के पूर्वरूप जानने चाहिए॥ ३३-३७॥

रूपं त्वस्य यथोद्देशं निर्देक्ष्यामि सभेषजम्॥ ३८॥

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः। स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः॥ ३९॥

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्। धातूष्मणां चाचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥ ४०॥

राजयक्ष्मा के विस्तृत वर्णन का उपक्रम—अब आगे क्रमशः राजयक्ष्मा के विविध रूपों तथा चिकित्सा का वर्णन कर रहा हूँ—शरीर की धातुएँ अपनी-अपनी ऊष्मा (रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोऽग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि और शुक्राग्नि) से पाक को प्राप्त होती हैं और सभी धातुएँ (रस) धातु से (अथवा क्रमपरिणाम पक्ष में रस से रक्त, रक्त से मांस इत्यादि क्रम से पूर्व-पूर्व धातु से उत्तर-उत्तर धातुएँ) पोषित होती रहती हैं। (जब राजयक्ष्माजनक दोषों के द्वारा अग्निव्यापार मन्द हो जाता है, तब जठराग्नि से आहार का तथा धात्वग्नियों से धातुओं का पाक नहीं हो पाता है और धातुपोषक रस के अभाव एवं आहाररस से कफ का ही विशेषरूप से निर्माण होने से) स्रोतों का मार्ग बन्द हो जाने से और रक्तादि धातुओं की क्षीणता होने से तथा धात्वग्नियों का ह्रास हो जाने के कारण राजयक्ष्मा रोग होता है॥ ३८-४०॥

तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्। मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे॥ ४१॥

तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः। सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्॥ ४२॥

राजयक्ष्मा में पुरीष की रक्षा करणीय—राजयक्ष्मा रोग के हो जाने पर खाये हुए कोष्ठगत अन्न को जब जठराग्नि पचाती है, तो प्रायः उसका अधिकांश मल बन जाता है और बहुत थोड़ा-सा भाग रस धातु का निर्माण करता है। एवञ्च अग्रिम धातुओं का निर्माण न हो पाने से रोगी के शरीर में सभी धातुओं का क्षय हो जाता है तथा धातुक्षीणता से पीड़ित व्यक्ति के बल का आधार उसका विड या मल होता है, इसलिए राजयक्ष्मा के रोगी के मल की विशेषकर रक्षा करनी चाहिए॥ ४१-४२॥

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते॥ ४३॥

जायन्ते व्याधयश्चातः षडेकादश वा पुनः। येषां सङ्घातयोगेन राजयक्ष्मेति कथ्यते॥ ४४॥

राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति—स्रोतों के अवरुद्ध हो जाने से आहार से निर्मित हुआ रस अपने स्थान में ही रहकर विदग्ध हो जाता है और (चूँकि उसका उपयोग शरीर में नहीं हो पाता, इसलिए) वह अनेक रूपों में खाँसी के वेग के समय बाहर निकलता रहता है। इसके कारण छः या ग्यारह प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, जिनके समुदाय को 'राजयक्ष्मा' कहा जाता है॥ ४३-४४॥

कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा। छर्दनं रक्तकफयोः श्वासवर्चोगदोऽरुचिः॥ ४५॥

रूपाण्येकादशैतानि—

राजयक्ष्मा के ग्यारह लक्षण—१. कास, २. अंसताप, ३. स्वरभेद, ४. ज्वर, ५. पार्श्वशूल, ६. शिरःशूल, ७. रक्तवमन, ८. कफ का वमन, ९. श्वास, १०. अतिसार और ११. अरुचि—ये राजयक्ष्मा के ग्यारह लक्षण होते हैं॥ ४५॥

—यक्ष्मिणः षडिमानि वा। कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोगदोऽरुचिः॥ ४६॥

राजयक्ष्मा के छः लक्षण—१. कास, २. ज्वर, ३. पार्श्वशूल, ४. स्वरभेद, ५. अतिसार और ६. अरुचि, राजयक्ष्मा के ये छः लक्षण होते हैं॥ ४६॥

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये। युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा[1]॥

राजयक्ष्मा की साध्यासाध्यता—जब राजयक्ष्मा के रोगी के शरीर का बल और मांस क्षीण हो जाये, तो रोगी चाहे ग्यारह लक्षण वाला हो अथवा छः लक्षण वाला या तीन लक्षण वाला हो, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए (क्योंकि वह असाध्य होता है)। इसके विपरीत जब रोगी के शरीर में बल और मांस उपयुक्त स्थिति में हों, तो चाहे रोगी सभी ग्यारहों लक्षणों से युक्त हो, तो भी उसकी चिकित्सा करनी चाहिए (क्योंकि वह साध्य होता है)॥ ४७॥

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा। मारुताध्मातशिरसो मारुतं श्यायते प्रति॥ ४८॥

प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्षणः। तस्य रूपं शिरःशूलं गौरवं घ्राणविप्लवः॥ ४९॥

ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः स्वरभेदोऽरुचिः क्लमः। इन्द्रियाणामसामर्थ्यं यक्ष्मा चातः प्रवर्तते॥

राजयक्ष्मा में प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति—जिस व्यक्ति का शिर वायु के आध्मान (भर जाना) से युक्त है, उसके नासिकामूल में रहने वाला कफ, रक्त अथवा पित्त उस शिरःस्थ वायु की ओर खिंच जाते हैं, जिससे उस व्यक्ति को शरीर को कर्षित कर देने वाला भयङ्कर प्रतिश्याय होता है। प्रतिश्याय होने से शिरःशूल, शिर में भारीपन, नासिका की घ्राणशक्ति का नाश, ज्वर, कास, कफ का जकड़ जाना, स्वरभेद, अरुचि, शरीर में थकावट और इन्द्रियों की क्रियाशीलता का ह्रास—ये सब लक्षण होते हैं, जिसके अनन्तर राजयक्ष्मा हो जाता है॥ ४८-५०॥

पिच्छिलं बहलं विस्रं हरितं श्वेतपीतकम्। कासमानो रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम्॥ ५१॥

(१) राजयक्ष्मा में कास का रूप—राजयक्ष्मा का रोगी जब खाँसता है, तो वह चिपचिपा, गाढ़ा, आमगन्धी, हरा, श्वेतयुक्त पीले रंग का द्रव रस के साथ-साथ थूकता रहता है॥ ५१॥

अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः। ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥ ५२॥

(२-३) राजयक्ष्मा का सामान्य लक्षण—(१) अंसप्रदेश और दोनों पार्श्वों में पीड़ा, हाथ और पैरों में जलन तथा समस्त शरीर में (३) ज्वर का व्याप्त होना—ये तीनों राजयक्ष्मा के परिचायक लक्षण हैं॥ ५२॥

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात् कासवेगात् सपीनसात्। स्वरभेदो भवेद्वाताद् रूक्षः क्षामश्चलः स्वरः॥

तालुकण्ठपरिप्लोषः पित्ताद्वक्तुमसूयते। कफान्मन्दो विबद्धश्च स्वरः खुरखुरायते॥ ५४॥

सन्नो रक्तविबद्धत्वात् स्वरः कृच्छ्रात्प्रवर्तते। कासातिवेगात्कषणः पीनसात्कफवातिकः॥ ५५॥

पार्श्वशूलं त्वनियतं सङ्कोचायामलक्षणम्। शिरःशूलं ससन्तापं यक्ष्मिणः स्यात्सगौरवम्॥ ५६॥

(४) राजयक्ष्मा में स्वरभेद की सम्प्राप्ति—वात से, पित्त से, कफ से, रक्त से, कास के वेग से और पीनस के कारण स्वरभेद होता है। वातज स्वरभेद में स्वर में रूक्षता, दुर्बलता और चञ्चलता होती

---

१. '…सर्वैरित्येकादशभिः। अर्धैरिति षड्भिः, एकादशस्य ज्येष्ठभागपरिग्रहात् षडेवार्धं भवति; दृष्टा चैषा विधा, यथा—'त्रिंशन्मताः कर्मसु वस्तयो हि, कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः' (च. सि. १) इत्यादौ त्रिंशद्वस्त्यर्धरूपः कालः श्रेष्ठभागपरिग्रहात् षोडशवस्तिरूप एव, 'काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः (च. सि. १) इत्यनेनोक्तः। त्रिभिरित्यत्र यानि कानि त्रीणि यक्ष्मणो रूपाणि ज्ञेयानि, शृङ्गग्राहिकयाऽनिर्देशात्। अन्ये तु 'अंसपार्श्वाभितापश्च' इत्यादिवक्ष्यमाणलक्षणत्रयं वर्णयन्ति। केचित्तु अंसपार्श्वाभितापश्चेत्यादिकं यक्ष्मसम्बन्धिज्वरलक्षणं वदन्ति। अन्यथेति बलमांसयोगे सति। (च. चि. ८।४७ पर चक्रपाणिटीका)

है। पित्तज में तालु तथा कण्ठ में जलन होती है और रोगी बोलने से कतराता है। कफज में स्वर मन्द होता है, ध्वनि बँधी-सी निकलती है और उसमें खरखराहट होती है। रक्तज में रक्त से अवरुद्ध होने के कारण स्वर बन्द-सा रहता है और बड़ी कठिनाई से निकल पाता है। जब खाँसी के वेग से स्वरभेद होता है, तब स्वर बड़ा ही कर्कश होता है और पीनसजन्य स्वरभेद में कफ तथा वात से होने वाले लक्षण पाये जाते हैं।

(५-६) पार्श्वशूल और शिरःशूल—यक्ष्मा रोगी के पार्श्वों में अनियतरूप से शूल होता है, उसमें कभी संकोच और कभी फैलाव या तनाव होता है। इसी तरह उसके शिर में शूल, सन्ताप और भारीपन हो जाता है॥ ५३-५६॥

अभिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात्। कण्ठात्प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्टसंचितः॥ ५७॥
रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते। आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात्कण्ठमेति च॥ ५८॥

(७-८) रक्त एवं कफ वमन—राजयक्ष्मा के रोगी का शरीर जब अत्यन्त कृश हो जाता है, तो उसके विषम आहार करने के कारण बाहर निकलने को उद्यत संचित कफ के साथ रक्त कण्ठ से आने लगता है। दोषों द्वारा स्रोतों के बन्द होने के कारण रक्त मांस आदि धातुओं में नहीं जा पाता। वह आमाशय में बढ़कर अधिक हो जाने पर कण्ठ से बाहर निकल जाता है॥ ५७-५८॥

वक्तव्य—यहाँ आमाशय का अर्थ—आम = अपक्व अर्थात् अशुद्ध रक्त और उसका आशय अर्थात् फुप्फुस। फुप्फुस में रक्त एकत्र होता है (क्योंकि अशुद्ध रक्त फुप्फुस में रहता है और आम (अशुद्ध) रक्त का आशय फुप्फुस होता है) एवं फुप्फुस की रक्तवाहिनियाँ विदीर्ण होती हैं, क्योंकि शक्तिहीन होने से वे रक्त के संचय को बर्दास्त नहीं कर पाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप थूक के साथ रक्त आने लग जाता है। राजयक्ष्मा में प्रमुख रूप से फुप्फुस रोगाक्रान्त होकर विकृत होते हैं।

वातश्लेष्मविबद्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति।

(९) श्वास—राजयक्ष्मा के रोगी का उरःस्थल (फुप्फुस) वायु और कफ के विकार से अवरुद्ध होने के कारण रोगी को श्वास लेने में कठिनाई होती है तथा वह श्वासरोग से ग्रस्त हो जाता है।

दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते॥ ५९॥

(१०) अतिसार—दोषों द्वारा जठराग्नि के मन्द हो जाने पर आहार रस का उचित निर्माण तथा उसका शोषण न होने से अपक्व आहार जलांशयुक्त तथा पिच्छिलतायुक्त द्रवमल के रूप में गुदा मार्ग से निकलने लगता है और अतिसार का रूप धारण कर लेता है॥ ५९॥

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंश्रितैः। जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरर्थैश्च मानसैः॥ ६०॥
कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात्। वाताद्यैररुचिं जातां सर्वजां दोषदर्शनात्॥ ६१॥

(११) अरुचि—वात-पित्त-कफ अलग-अलग अथवा सभी एक साथ जिह्वा और हृदय में रहकर अरुचि उत्पन्न करते हैं या मनोऽनुकूल आहार न मिलने से भी भोजन में अरुचि हो जाती है। मुख के कषाय रसयुक्त होने से वातज, तिक्त होने से पित्तज और मधुर होने से कफज अरुचि जानना चाहिए। मनोविकारजन्य अरुचि में भी इन लक्षणों के आधार पर दोषों का अनुबन्ध जानना चाहिए॥ ६०-६१॥

त्रिरूप यक्ष्मा

(१) अंसपार्श्वाभिताप
(२) करपाद सन्ताप
(३) सर्वाङ्ग ज्वर

षड्रूप यक्ष्मा

चरकोक्त	सुश्रुतोक्त
१. कास (Cough)	१. कास (Cough)
२. ज्वर (Fever)	२. ज्वर (Fever)
३. पार्श्वशूल (Chest pain)	३. स्वरभेद (Hoarsness of voice)
४. स्वरभेद (Hoarsness of voice)	४. अरुचि (Anorexia)
५. अतिसार (Diarrhoea)	५. श्वास (Dyspnoea)
६. अरुचि (Anorexia)	६. शोणित-दर्शन (Haemoptysis)

एकादशरूप यक्ष्मा

चरक	वाग्भट	सुश्रुत
१. कास	१. पीनस	**वात से** : १. स्वरभेद
२. असंताप	२. श्वास	२. शूल (अंस-पार्श्व)
३. वैस्वर्य	३. कास	३. संकोच (अंस-पार्श्व)
४. ज्वर	४. अंसरुजा	**पित्त से** : ४. ज्वर
५. पार्श्वशूल	५. शिरोरुजा	५. दाह
६. शिरःशूल	६. स्वररुजा	६. अतिसार
७. रक्तवमन	७. अरुचि	७. रक्तष्ठीवन
८. श्लेष्म छर्दि	८. –	**कफ से** : ८. शिरसःपरिपूर्णता
९. श्वास	९. –	९. अरुचि
१०. कोष्ठामय (अतिसार)	१०. पार्श्वशूल	१०. कास
११. अरुचि	११. ज्वर	११. कण्ठोद्ध्वंस

अरोचकात्कासवेगाद्दोषोत्क्लेशाद्भयादपि। छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः॥ ६२॥

वमन के कारण—अरुचि होने से, खाँसी का बार-बार दौरा पड़ने से, दोषों के उभड़कर बाहर निकलने को उद्यत होने से और भय से छर्दि या वमन होता है। इन्हीं कारणों से अन्य रोगों में भी उपद्रव के रूप में वमन होता है॥ ६२॥

सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम्। परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत्॥

राजयक्ष्मा में दोषानुसार चिकित्सा—सभी राजयक्ष्मा त्रिदोषज होते हैं, इसलिए वैद्य रोगी के दोष की प्रबलता और निर्बलता का विचार कर दोषानुसार यक्ष्मा की चिकित्सा करे॥ ६३॥

प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये। पार्श्वशूले च विविधाः क्रियाः साधारणीः शृणु॥

यक्ष्मा में साधारणी चिकित्सा—(पुनर्वसु आत्रेय ने शिष्य अग्निवेश को सावधान करते हुए कहा कि) १. प्रतिश्याय, २. शिरःशूल, ३. कास, ४. श्वास, ५. स्वरक्षय और ६. पार्श्वशूल के सामान्य उपायों को बतला रहा हूँ, उसे सुनो॥ ६४॥

पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च। परिषेकावगाहांश्च यावकं वाट्यमेव च॥ ६५॥

पीनस (प्रतिश्याय) में चिकित्सा—पीनस या प्रतिश्याय होने पर रोगी का स्वेदन, अभ्यंग, धूम, आलेपन, परिषेक और अवगाहन का प्रयोग करना चाहिए और उसे भोजन में जौ का भात, दलिया या भूजा देना चाहिए॥ ६५॥

लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान् स्नेहोपबृंहितान्। लावतित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां च कल्पयेत्॥

यक्ष्मा में मांस का प्रयोग—लावा, तीतर, मुर्गा और बटेर इनके मांस को घी में पकाकर सेंधानमक नीबू का रस अथवा अम्लबेंत एवं मरिच (कटुरस) चूर्ण मिलाकर मांसरस तैयार कर सेवन करायें॥ ६६॥

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्। दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत्॥ ६७॥
तेन षड् विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः।

यक्ष्मा में अजामांसरस प्रयोग—बकरे के मांस के साथ पीपर, कूटा हुआ जौ, कुलथी, सोंठ, अनारदाना और आँवला चूर्ण डालकर उसे घी में पकाकर मांसरस तैयार करें। इसके प्रयोग से पीनस आदि छह रोग दूर हो जाते हैं॥ ६७॥

मूलकानां कुलत्थानां यूषैर्वा सूपकल्पितैः॥ ६८॥
यवगोधूमशाल्यन्नैर्यथासात्म्यमुपाचरेत्।

राजयक्ष्मा में आहार—जौ, गेहूँ की रोटी या अगहनी चावल का भात, मूली और कुलथी के अच्छी प्रकार से रुचिकर बनाये हुए यूष के साथ जो अनुकूल पड़े उसका सेवन करे॥ ६८॥

पिबेत् प्रसादं वारुण्या जलं वा पाञ्चमूलिकम्॥ ६९॥
धान्यनागरसिद्धं वा तामलक्याऽथवा शृतम्। पर्णिनीभिश्चतसृभिस्तेन चान्नानि कल्पयेत्॥

राजयक्ष्मा में पेय पदार्थ—राजयक्ष्मा के रोगी को वारुणी मद्य का ऊपर का स्वच्छ भाग पीना चाहिए अथवा लघु पञ्चमूल डालकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार पकाया हुआ जल अथवा धनियाँ और सोंठ डालकर पकाया हुआ जल या भूईंआँवला से पकाया जल या चार पर्णिनियों (सरिवन, पिठवन, मूँगपर्णी, माषपर्णी) से सिद्ध किया हुआ जल पीने को देना चाहिए और इन्हीं चार पर्णिनियों से सिद्ध जल से दाल-भात आदि भी बनाना चाहिए॥ ६९-७०॥

कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः। संकरस्वेदविधिना कण्ठं पार्श्वमुरःशिरः॥ ७१॥
स्वेदयेत्—

यक्ष्मा में स्वेद विधान—खिचड़ी, रोटी, उड़द की पिट्ठी, कुलथी के चूर्ण की पोटली, जौचूर्ण की पोटली अथवा खीर की पोटली बनाकर (चरक-सूत्रस्थान अध्याय १४ में वर्णित) संकरस्वेद की विधि से कण्ठ, पार्श्व, वक्षःस्थल और शिर का स्वेदन करें॥ ७१॥

—पत्रभङ्गेन शिरश्च परिषेचयेत्। बलागुडूचीमधुकशृतैर्वा वारिभिः सुखैः॥ ७२॥

यक्ष्मा में परिषेक—वातनाशक औषधों के पत्तों के क्वाथ से अथवा बरियार, गुरुच और मुलहठी डालकर पकाये हुए किंचित् गरम जल की धारा शिर पर गिरायें॥ ७२॥

बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्। कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभिर्वा सवातिकैः॥ ७३॥

यक्ष्मा में नाड़ीस्वेद—बकरे के शिर और मछली के शिर को पानी में उबालकर उस पानी से रोगी के कण्ठ में, शिर में और पार्श्व देश में नाड़ीस्वेद करायें अथवा वातहर औषधों से पकाये गये गरम दूध से नाड़ीस्वेद करायें॥ ७३॥

औदकानूपमांसानि सलिलं पाञ्चमूलिकम्। सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदे प्रयोजयेत्॥ ७४॥

अन्य नाड़ीस्वेद—जलेचर और आनूप पशु-पक्षियों के मांस से पकाये गये जल से या महापञ्चमूल के क्वाथ से अथवा काञ्जी में घी-तेल मिलाकर नाड़ीस्वेद करना चाहिए॥ ७४॥

जीवन्त्याः शतपुष्पाया बलाया मधुकस्य च। वचाया वेशवारस्य विदार्या मूलकस्य च॥ ७५॥
औदकानूपमांसानामुपनाहाः सुसंस्कृताः। शस्यन्ते सचतुःस्नेहाः शिरःपार्श्वांसशूलिनाम्॥

यक्ष्मा में उपनाहस्वेद—जीवन्ती, सौंफ, बरियार, मुलहठी, बच, वेशवार (अस्थिरहित पिसा हुआ मांस), विदारीकन्द और मूली तथा जलेचर और आनूप पशु-पक्षियों का मांस—इन सबको लेकर (घी-तेल-वसा-मज्जा) चतुःस्नेहों के साथ पकाकर शिर, पार्श्व, अंसप्रदेश तथा शिरःशूल के रोगियों के लिए पुल्टिस बनाकर स्वेदन करना चाहिए॥ ७५-७६॥

शतपुष्पा समधुकं कुष्ठं तगरचन्दने। आलेपनं स्यात् सघृतं शिरःपार्श्वांसशूलनुत्॥ ७७॥

यक्ष्मा में आलेपन—सौंफ, मुलहठी, कूठ, तगर और रक्तचन्दन—इन सबको बारीक पीसकर घी मिलाकर किंचित् गरम कर शिर, पार्श्व और अंसप्रदेश के शूल को नष्ट करने के लिए लेप लगायें॥ ७७॥

बला रास्ना तिलाः सर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम्। पलङ्कषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम्॥ ७८॥
वीरा बला विदारी च कृष्णगन्धा पुनर्नवा। शतावरी पयस्या च कत्तृणं मधुकं घृतम्॥ ७९॥
चत्वार एते श्लोकार्धैः प्रदेहाः परिकीर्तिताः। शस्ताः संसृष्टदोषाणां शिरःपार्श्वांसशूलिनाम्॥

चार प्रदेह—(१) बरियार, रास्ना, तिल, घी, मुलहठी और नीलकमल; (२) गुग्गुलु, देवदारु, रक्तचन्दन, नागकेशर और घृत; (३) क्षीरकाकोली, विदारीकन्द, सहिजन की छाल और गदहपुर्ना; (४) शतावर, क्षीरकाकोली, रोहिषघास, मुलहठी और घी—ये चार प्रदेह आधे-आधे श्लोक में १-१ कहे गये हैं। इन्हें बारीक पीसकर घी मिलाकर गरम कर लेप लगाना चाहिए। ये चारों योग दो दोषों से उत्पन्न होने वाले शिरःशूल, पार्श्वशूल और अंसशूल के रोगियों के लिए उत्तम लाभप्रद होते हैं॥ ७८-८०॥

नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः। तैलान्यभ्यङ्गयोगानि वस्तिकर्म तथा परम्॥ ८१॥
शृङ्गालाबुजलौकोभिः प्रदुष्टं व्यधनेन वा। शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत्॥ ८२॥

यक्ष्मा में नस्य आदि का प्रयोग—शिरःशूल, पार्श्वशूल और अंसशूल वाले यक्ष्माग्रस्त रोगियों को लाभ पहुँचाने के लिए उचित रीति से नस्य का प्रयोग, धूमपान, भोजन करने के पश्चात् स्नेहपान, तैल-प्रयोग, विविध प्रकार के अभ्यङ्ग योग एवं वस्तिकर्म करे और दुष्ट हुए रक्त को शृंगयन्त्र से, तुम्बी से, जोंक लगाकर अथवा सिरावेध करके निकाल दे॥ ८१-८२॥

प्रदेहः सघृतश्चेष्टः पद्मकोशीरचन्दनैः। दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेशरैर्वा घृताप्लुतैः॥ ८३॥

पद्मकादि प्रदेह—पद्मकाठ, खश और रक्तचन्दन इनको महीन पीसकर घृत मिलाकर शीतल प्रदेह लगाना चाहिए अथवा दूब, मुलहठी, मजीठ और नागकेशर को पीसकर घी मिलाकर ठण्डा प्रलेप करे। (जब अंसप्रदेश में या अन्यत्र जलन हो तब इस प्रदेह को लगाना चाहिए। यह दाहशामक होता है)॥ ८३॥

प्रपौण्डरीकनिर्गुण्डीपद्मकेशरमुत्पलम्। कशेरुकाः पयस्या च ससर्पिष्कं प्रलेपनम्॥ ८४॥

प्रपौण्डरीकादि प्रलेप—पुण्डरिया काठ, मेउड़ी, कमल की केसर, नीलकमल, कशेरू और क्षीरकाकोली, इन सबको महीन पीसकर घी मिलाकर प्रलेप लगाना चाहिए॥ ८४॥

चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा। अभ्यङ्गः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना॥ ८५॥
माहेन्द्रेण सुशीतेन चन्दनादिशृतेन वा। परिषेकः प्रयोक्तव्य इति संशमनी क्रिया॥ ८६॥

दाहशामक उपचार—जब राजयक्ष्मा के रोगी को दाह का अनुभव हो, तो ज्वर-चिकित्सा में पठित चन्दनादि तैल अथवा शतधौत (सौ बार जल से धोया हुआ) घी का अभ्यंग करना चाहिए, गाय के दूध

या मुलहठी के क्वाथ से परिषेक करना चाहिए, आकाशीय जल से या चन्दनादिगण से पकाये हुए जल से परिषेक करना चाहिए। इस प्रकार राजयक्ष्मा में संशमन चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया॥ ८५-८६॥

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम्। स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्वेदं यन्न कर्शनम्॥ ८७॥
शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषन्नंसनादपि। अबलामेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते॥ ८८॥

यक्ष्मा में वमन और विरेचन—जिस यक्ष्मा के रोगी में दोष की अधिकता हो (जिसका लक्षण चरक-सूत्रस्थान अध्याय १६ में 'बहुदोषस्य लिङ्गानि' शीर्षक में प्रस्तुत है) उसको स्नेहन-स्वेदन करने के पश्चात् (मृदु) वमन कराना चाहिए। (पथ्य देने के पश्चात् शरीर में बल आ जाने के बाद पुनः) स्नेहन-स्वेदन करने के बाद स्नेहयुक्त विरेचन देना चाहिए जो कि शरीर को कृश एवं दुर्बल बनाने वाला न हो। क्योंकि राजयक्ष्मा का रोगी मल-निःसरण होने से भी कदाचित् मृत्यु का ग्रास बन जाता है और उसका देह छूट जाता है। ऐसी स्थिति में बिना बल का विचार किये यदि विरेचन औषध दे दी जाय तो फिर उसका क्या कहना! अर्थात् उसकी मृत्यु की अधिक सम्भावना हो जाती है। (इसलिए जहाँ तक हो सके विरेचन न देना अच्छा है। यदि देना ही पड़े तो सोच-समझकर अल्प मात्रा में दें)॥ ८७-८८॥

योगान् संशुद्धकोष्ठानां कासे श्वासे स्वरक्षये। शिरःपार्श्वांसशूलेषु सिद्धानेतान् प्रयोजयेत्॥

सिद्धयोग वर्णन का आरम्भ—शिरःशूल, पार्श्वशूल और अंसशूल में तथा कास, श्वास एवं स्वरक्षय में वमन-विरेचन कराकर कोष्ठ का शोधन करने के पश्चात् आगे कहे जा रहे इन अनुभूत योगों का प्रयोग करना चाहिए॥ ८९॥

बलाविदारिगन्धाद्यैर्विदार्या मधुकेन वा। सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्यात् स्वर्यमुत्तमम्॥ ९०॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला। क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम्॥ ९१॥

राजयक्ष्मा में नस्य—(१) बरियार की जड़ और विदारिगन्धादिगण (सरिवन, पिठवन, वनभण्टा, रेंगनी और गोखरू—लघु पंचमूल) से सिद्ध घृत में सेंधानमक मिलाकर नस्य दे अथवा (२) विदारीकन्द और मुलहठी से सिद्ध घृत में सेंधानमक मिलाकर नस्य का प्रयोग करना उत्तम स्वर-सुधारक होता है। इसी प्रकार (३) पुण्डरिया काठ, मुलहठी, पीपर, वनभण्टा और बरियार के मूल का कल्क तथा गोदुग्ध डालकर सिद्ध किया हुआ घृत स्वर को ठीक रखने वाला श्रेष्ठ नस्य होता है॥ ९०-९१॥

शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम्। प्रयुज्यमानं बहुशो घृतं चौत्तरभक्तिकम्॥ ९२॥

घृतपान काल एवं फल—भोजन करने के पश्चात् अनेकशः घी का प्रयोग करते रहने से शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास और श्वास विकार नष्ट होते हैं॥ ९२॥

*** दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन च। बलागर्भं घृतं सद्यो रोगानेतान् प्रबाधते॥ ९३॥**

दशमूलाद्य घृत—दशमूल के क्वाथ, गाय के दूध, मांसरस और बरियार मूल की छाल के कल्क से निर्मित घृत का भोजनोत्तर प्रयोग करने से शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास और श्वास रोग नष्ट होते हैं॥ ९३॥

भक्तस्योपरि मध्ये वा यथाग्न्यभ्यवचारितम्। रास्नाघृतं वा सक्षीरं सक्षीरं वा बलाघृतम्॥ ९४॥

रास्नाघृत एवं बलाघृत का सेवनकाल—(च.चि. ८।१७० में पठित) रास्नाघृत अथवा (च.चि. ३।२२४-२२६ में पठित) बलाघृत को दूध में डालकर राजयक्ष्माग्रस्त रोगी अपनी जठराग्नि की क्षमता के अनुसार भोजन के बाद या भोजन के बीच में पान करे। इससे पूर्वोक्त शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास और श्वास रोग नष्ट होते हैं॥ ९४॥

लेहान् कासापहान् स्वर्याञ् श्वासहिक्कानिबर्हणान्।
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नान् स्नेहांश्चातः परं शृणु॥ ९५॥

अवलेहों और स्नेहों का उपक्रम—अब इसके आगे कासनाशक, स्वरविकारनाशक, श्वास, हिचकी, शिरःशूल, पार्श्वशूल और अंसशूलनाशक अवलेहों एवं स्नेहों (का वर्णन किया जायेगा, उन) को सुनो॥ ९५॥

घृतं खर्जूरमृद्वीकाशर्कराक्षौद्रसंयुतम्। सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासज्वरापहम्॥ ९६॥

खर्जूरादि घृतावलेह—खजूर और मुनक्का को पीसकर उसमें पीपर का चूर्ण, चीनी, मधु तथा घृत मिलाकर अवलेह बना लें। इसके सेवन से स्वरभेद, कास, श्वास और ज्वर नष्ट होते हैं॥ ९६॥

दशमूलशृतात् क्षीरात् सर्पिर्यदुदियान्नवम्। सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत् परं स्वरबोधनम्॥ ९७॥

दशमूल घृत—कूटे हुए दशमूल को आठगुने दूध और दूध से चौगुना जल में औटायें और जब दूधमात्र शेष रहे, तब छानकर उस दूध की दही जमायें और उसे मथकर घी निकालें। उस घी में पीपर का चूर्ण और मधु मिलाकर चाटकर खाने से स्वर के विकार दूर होकर उत्तम स्वर हो जाता है॥ ९७॥

शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम्। पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद् घृतम्॥ ९८॥

पञ्च पञ्चमूलघृत—लघु पञ्चमूल, महापञ्चमूल, तृणपञ्चमूल, वल्ली पञ्चमूल और कण्टक पञ्चमूल, इन पाँचों पञ्चमूलों का अठगुना दूध और दूध का चौगुना पानी डालकर दूध पकायें। जब दूधमात्र बचे तो छानकर उसकी दही जमाकर घी निकाले। वह घृत शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास, श्वास तथा ज्वर को दूर करता है॥ ९८॥

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे। सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद् यक्ष्मणः सप्तकं बलम्॥ ९९॥

अन्य पञ्च पञ्चमूलघृत—पाँचो पञ्चमूलों का क्वाथ दूध से चौगुना और दूध का चतुर्थांश घी लेकर तीनों का पाक करे और घृत सिद्ध हो जाने पर छानकर रख ले। यह घृत राजयक्ष्मा के सात प्रकार के बल (लक्षण या उपद्रव) को नष्ट करता है। (पूर्व के श्लोक ९५ में सात रोगों का नाम देकर उनके नाशक लेह-घृतों के वर्णन की बात कही गयी है। यहाँ भी सप्तक पद से उन्हीं सातों—कास, स्वरभेद, श्वास, हिक्का, शिरःशूल, पार्श्वशूल और अंसशूल का ग्रहण करना चाहिए)॥ ९९॥

खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या शृङ्गी दुरालभा। त्रिफला पिप्पली मुस्तं शृङ्गाटगुडशर्कराः॥ १००॥
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करा गुडः। नागरं चित्रको लाजाः पिप्पल्यामलकं गुडः॥ १०१॥
श्लोकार्धैर्विहितानेतांल्लिह्यान्ना मधुसर्पिषा। कासश्वासापहान्स्वर्यान्पार्श्वशूलापहांस्तथा॥

चार अवलेह—(१) खजूर, पीपर, मुनक्का, हर्रा, काकड़ासींगी और धमासा; (२) आँवला, हर्रा, बहेड़ा, पीपर, नागरमोथा, सिंघाड़ा, गुड़ और चीनी; (३) क्षीरकाकोली, कचूर, पोहकरमूल, तुलसीबीज, चीनी और गुड़; (४) सोंठ, चित्रक, धान का लावा, पीपर, आँवला और गुड़—ये चार लेह आधे-आधे श्लोक में कहे गये हैं। इन्हें मधु और घी की विषम मात्रा के साथ मिलाकर चाटना चाहिए। ये कास, श्वास, स्वरभेद और पार्श्वशूल को नष्ट करते हैं॥ १००-१०२॥

सितोपलां तुगाक्षीरीं पिप्पलीं बहुलां त्वचम्। अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेन्मधुसर्पिषा॥ १०३॥
चूर्णितं प्राशयेद्वा तच्छ्वासकासकफातुरम्। सुप्तजिह्वाऽरोचकिनमल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम्।

सितोपलादि चूर्ण—मिश्री, वंशलोचन, पीपर, छोटी इलायची और दालचीनी—इन औषधों में से अन्तिम औषध दालचीनी से पूर्व की औषधों को क्रमशः दूनी मात्रा में लेकर सबका चूर्ण बना ले और मधु तथा घी विषम मात्रा में मिलाकर चाटना चाहिए। यह श्वास, कास, कफविकार, जिह्वा की शून्यता, अरुचि, मन्दाग्नि और पार्श्वशूल वाले रोगी को चटाना चाहिए॥ १०३-१०४॥

वक्तव्य—इस सितोपलादि की मात्रा इस प्रकार रखनी चाहिए—दालचीनी २० ग्राम, छोटी इलायची का दाना ४० ग्राम, पीपर ८० ग्राम, वंशलोचन १६० ग्राम और मिश्री ३२० ग्राम लेकर कपड़छन चूर्ण बना ले। २ ग्राम की मात्रा रखे।

हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे। वासाघृतं शतावर्यां सिद्धं वा परमं हितम्॥ १०५॥

दाह, ज्वर एवं रक्तपित्त में उपचार—राजयक्ष्मा के रोगी को जब हाथ, पैर और अंगों में जलन हो, ज्वर हो या ऊर्ध्वग रक्तपित्त हो, तो (रक्तपित्ताधिकार में पठित) वासाघृत अथवा शतावरीघृत का प्रयोग करना बहुत हितकर होता है॥ १०५॥

दुरालभां श्वदंष्ट्रां च चतस्रः पर्णिनीर्बलाम्। भागान्पलोन्मितान् कृत्वा पलं पर्पटकस्य च॥ १०६॥
पचेद् दशगुणे तोये दशभागावशेषिते। रसे सुपूते द्रव्याणामेषां कल्कान् समावपेत्॥ १०७॥
शटच्याः पुष्करमूलस्य पिप्पलीत्रायमाणयोः। तामलक्याः किरातानां तिक्तस्य कुटजस्य च॥
फलानां सारिवायाश्च सुपिष्टान् कर्षसम्मितान्। ततस्तेन घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत्॥
ज्वरं दाहं भ्रमं कासमंसपार्श्वशिरोरुजम्। तृष्णां छर्दिमतीसारमेतत् सर्पिर्व्यपोहति॥ ११०॥

दुरालभाद्य घृत—धमासा, गोखरू, सरिवन, पिठवन, मूँगपर्णी, माषपर्णी बरियार तथा पित्तपापड़ा—प्रत्येक १-१ पल लेकर जौकुटकर दशगुने जल में पकायें, जब दशवाँ भाग जल बचे तो क्वाथ को छानकर उसमें कचूर, पोहकरमूल, पीपर, त्रायमाणा, भूई आँवला, चिरायता, इन्द्रजौ और अनन्तमूल—इन्हें १-१ कर्ष लेकर पीसकर डाल दें। फिर १ प्रस्थ घी और २ प्रस्थ गोदुग्ध डालकर घृत का पाक करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख दें। यह घृत ज्वर, दाह, भ्रम, कास, अंसपार्श्व और शिर की पीड़ा, तृष्णा, वमन और अतिसार को नष्ट करता है॥ १०६-११०॥

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च। शटीं पुष्करमूलं च व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम्॥ १११॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्। पिप्पलीं च समं पिष्ट्वा घृतं वैद्यो विपाचयेत्॥
एतद् व्याधिसमूहस्य रोगेशस्य समुत्थितम्। रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति॥ ११३॥

जीवन्त्यादि घृत—जीवन्ती, मुलहठी, मुनक्का, इन्द्रजौ, कचूर, पोहकरमूल, छोटी कटेरी, गोखरू, बरियार की जड़, नीलकमल, भूई आँवला, त्रायमाणा, जवासा और पीपर—इन सबको बराबर-बराबर लेकर कल्क करे, सम्पूर्ण कल्क का चौगुना घी और घी का चौगुना पानी डालकर घी पकायें। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह श्रेष्ठ घृत रोगों के समूहरूप राजयक्ष्मा में होने वाले ग्यारह लक्षणों को नष्ट करता है॥ १११-११३॥

बलां स्थिरां पृश्निपर्णीं बृहतीं सनिदिग्धिकाम्। साधयित्वा रसे तस्मिन्पयो गव्यं सनागरम्॥
द्राक्षाखर्जूरसर्पिर्भिः पिप्पल्या च शृतं सह। सक्षौद्रं ज्वरकासघ्नं स्वर्यं चैतत् प्रयोजयेत्॥ ११५॥

बलादि क्षीर—बरियार, शालिपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी—प्रत्येक को बराबर-बराबर (२०-२० ग्राम) लेकर आठ गुने (८ लीटर) जल में (चतुर्थावशिष्ट) क्वाथ बनायें। उस (२ लीटर) क्वाथ में (आधा लीटर) दूध और सोंठ, मुनक्का, खजूर, घी और पीपर इनका कल्क (२०-२० ग्राम) डाल दुग्धावशिष्ट दूध का पाक करे। तैयार होने पर छानकर उसमें मधु मिलाकर सेवन करायें। यह दूध ज्वर और खाँसी को दूर करता है और स्वर को उत्तम बनाता है॥ ११४-११५॥

आजस्य पयसश्चैवं प्रयोगो जाङ्गला रसाः। यूषार्थे चणका मुद्गा मकुष्ठाश्चोपकल्पिताः॥

राजयक्ष्मा में पथ्य—राजयक्ष्मा के रोगी को बकरी का दूध, जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस रस और चना, मूँग तथा मोठ इनका यूष बनाकर सेवन करना चाहिए॥ ११६॥

ज्वराणां शमनीयो यः पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः। यक्ष्मिणां ज्वरदाहेषु ससर्पिष्कः प्रशस्यते॥ ११७॥

यक्ष्मारोगी के ज्वर तथा दाह में ज्वरवत् चिकित्सा—यक्ष्मा के रोगी के ज्वर एवं दाह को शान्त करने के लिए पूर्व में ज्वर-चिकित्सा में कहे गये उपचार को घृत मिलाकर प्रयोग करना हितकर होता है॥ ११७॥

कफप्रसेके बलवाञ् श्लैष्मिकश्छर्दयेन्नरः। पयसा फलयुक्तेन मधुरेण रसेन वा॥ ११८॥
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनीयोपसिद्धया।

कफप्रसेक में वमन—यदि यक्ष्मा के रोगी के मुख से बार-बार पानी आता हो और रोगी कफप्रधान तथा बलवान् हो, तो उसे १. मदनफल कल्क मिले दूध से अथवा २. मदनफल कल्कयुक्त जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस से या ३. वमनकारक औषधों के क्वाथ में पकायी गयी घृतमिश्रित यवागू पिलाकर वमन कराना चाहिए॥ ११८॥

वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नमाददीत सदीपनम्॥ ११९॥
यवगोधूममाध्वीकसीध्वरिष्टसुरासवान्। जाङ्गलानि च शूल्यानि सेवमानः कफं जयेत्॥

कफनाशक पथ्य—वमन कर लेने के पश्चात् भोजन के समय अग्निदीपन औषधों से युक्त हल्का अन्न ही भोजन करे। जौ, गेहूँ, माध्वीक, सीधु, अरिष्ट, सुरा, आसव और लोहे के छड़ पर रखकर पकाये गये जांगल पशु-पक्षियों के मांस का सेवन करता हुआ व्यक्ति कफ पर विजय प्राप्त करे॥ ११९-१२०॥

श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति। कफप्रसेकं तं विद्वान् स्निग्धोष्णेनैव निर्जयेत्॥

कफप्रसेक और उसका चिकित्सासूत्र—राजयक्ष्मा के रोगी के कफ के अधिक गिरने से प्रकुपित वायु कफ को बार-बार निकालती रहती है। विद्वान् वैद्य को चाहिए कि (वायु और कफ के कारण उत्पन्न) कफप्रसेक को स्निग्ध और उष्ण उपचारों से जीते॥ १२१॥

क्रिया कफप्रसेके या वमने सैव शस्यते। हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च॥ १२२॥

वमन चिकित्सा—राजयक्ष्मा रोगी के कफप्रसेक में जो चिकित्सा कही गयी है, वमन में भी वही चिकित्सा करनी चाहिए और मनोऽनुकूल, रुचिकर, स्निग्ध, उष्ण, वातनाशक तथा लघुगुण वाले आहार एवं पेय का प्रयोग करना चाहिए॥ १२२॥

प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपिच्छमतिसार्यते। प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति॥ १२३॥

अतिसार की सम्प्राप्ति—राजयक्ष्मा के रोगी की अग्नि प्रायः मन्द हो जाती है जिससे उसके आहार का सम्यक् पाचन नहीं होता है और वह रोगी पिच्छिल द्रवमल का विसर्जन करता है तथा उसे अतिसार हो जाता है। रोगी के मुख का स्वाद फीका हो जाता है और वह भोजन करना पसन्द नहीं करता है॥ १२३॥

अतिसार चिकित्सा

तस्याग्निदीपनान् योगानतीसारनिबर्हणान्। वक्त्रशुद्धिकरान् कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान्॥ १२४॥

अतिसार चिकित्सासूत्र—राजयक्ष्मा के रोगी को अतिसार होने पर उसे अग्नि को प्रदीप्त करने वाले अतिसारनाशक, मुख के स्वाद को ठीक करने वाले और अरुचि को दूर करने वाले योगों को खाने को दे॥ १२४॥

सनागरानिन्द्रयवान् पाययेत्तण्डुलाम्बुना। सिद्धां यवागूं जीर्णे च चाङ्गेरीतक्रदाडिमैः॥ १२५॥

अतिसार में पथ्य—सोंठ और इन्द्रजौ के चूर्ण को चावल के धोवन के साथ पिलायें और जब चूर्ण पच जाये तो तिनपतिया, मट्ठा और खट्टे अनार का रस डालकर पकायी गयी यवागू खिलानी चाहिए॥ १२५॥

पाठा बिल्वं यमानी च पातव्यं तक्रसंयुतम्। दुरालभा शृङ्गबेरं पाठा च सुरया सह॥ १२६॥
जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वं च सकपित्थं सनागरम्। पेयामण्डेन पातव्यमतीसारनिवृत्तये॥ १२७॥

(१) पाठादि चूर्ण—पाठा, बेलसोंठ और अजवायन इन तीनों को समभाग लेकर चूर्णकर मट्ठे के साथ सेवन करना चाहिए।

(२) दुरालभादि चूर्ण—जवासा, सोंठ और पाठा के समभाग चूर्ण को सुरा के साथ सेवन करायें।

(३) जम्बूबीजादि चूर्ण—जामुन के बीज की मींगी, आम की गुठली की मींगी, बेल की गिरी, कैथ की गुद्दी और सोंठ के समभाग चूर्ण को अतिसार को दूर करने के लिए पेया या मण्ड के साथ पीना चाहिए॥ १२६-१२७॥

एतानेव च योगांस्त्रीन् पाठादीन् कारयेत् खडान्।
ससूप्यधान्यान् सस्नेहान् साम्लान् संग्रहणान् परम्॥ १२८॥

अतिसार में खडयूष—पूर्व में बतलाये गये १. पाठादि, २. दुरालभादि और ३. जम्ब्वादि—इन तीन योगों के क्वाथ से मूँग, मसूर या अरहर की दाल का यूष बनाकर उसमें घी डालें और अनार का खट्टा रस या नीबू का रस डालकर उसे खट्टा बनाकर 'खडयूष' तैयार कर प्रयोग करें। ये 'खडयूष' उत्तम प्रकार के मलसंग्राही होते हैं॥ १२८॥

वक्तव्य—मूँग आदि की दाल के यूष में मट्ठा और नमक एवं घी डालकर किसी खट्टी वस्तु—अनारदाना या नीबू से उसे खट्टा बनाकर 'खडयूष' तैयार किया जाता है। 'परिभाषाप्रदीप' में खडयूष की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है—'तक्रं कपित्थचाङ्गेरी मरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम्।'

वेतसार्जुनजम्बूनां मृणालीकृष्णगन्धयोः। श्रीपर्ण्या मदयन्त्याश्च यूथिकायाश्च पल्लवान्॥
मातुलुङ्गस्य धातक्या दाडिमस्य च कारयेत्। स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान्साङ्ग्राहिकान् परम्॥
चाङ्गेर्याश्चुक्रिकायाश्च दुग्धिकायाश्च कारयेत्। खडान्दधिसरोपेतान्ससर्पिष्कान्सदाडिमान्॥

राजयक्ष्मा रोगी के अतिसार में खड-प्रयोग—१. बेंत की पत्ती, अर्जुन की पत्ती और जामुन की पत्ती, २. खश की पत्ती और सहिजन की पत्ती, ३. गम्भार की पत्ती, ४. मेंहदी की पत्ती, ५. जूही की पत्ती, ६. बिजौरा नीबू की पत्ती, ७. धाय की पत्ती और ८. अनार की पत्ती के स्वरस अथवा क्वाथ में दाल पकाकर अलग-अलग ८ प्रकार के खड तैयार करें। इन खडों में घी, अम्ल पदार्थ (नीबू का रस अथवा अम्लबेंत) और सेंधानमक मिलाकर तैयार करे। ये खड उत्तम प्रकार से मल बाँधते हैं।

इसी प्रकार १. चौपतिया की पत्ती, २. इमली की पत्ती और ३. दुधिया की पत्ती के स्वरस या क्वाथ से दाल पकाकर उसके यूष में दही की साढ़ी, घी और अनार का रस मिलाकर खड बनाकर प्रयोग करें। (ये भी मलसंग्राहक हैं)॥ १२९-१३१॥

मांसानां लघुपाकानां रसाः साङ्ग्राहिकैर्युताः। व्यञ्जनार्थं प्रशस्यन्ते भोज्यार्थं रक्तशालयः॥
स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं शृतं जलम्। तक्रं सुरा सचुक्रीका दाडिमस्याथवा रसः॥ १३३॥
इत्युक्तं भिन्नशकृतां दीपनं ग्राहि भेषजम्।

अतिसार में मांसरस और रक्तशालि—मलसंग्राहक औषधों के स्वरस या क्वाथ में शीघ्र पचने वाले जांगल पशु-पक्षियों के मांस को पकाकर व्यञ्जन के लिए मांसरस और भोजन के लिए लाल शालि-चावल का सेवन करना उत्तम पथ्य होता है।

पेय द्रव्य—यक्ष्मापीड़ित अतिसार के रोगी को पीने के लिए स्थिरादि (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, वनभण्टा, रेगनी, गोखरू) गण के द्रव्यों से षडङ्गपरिभाषा के अनुसार सिद्ध किया हुआ जल उत्तम होता है अथवा मट्ठा, चूक मिली मदिरा या अनार का रस पीना लाभप्रद होता है।

इस प्रकार द्रवमल के पीड़ित अतिसारयुक्त यक्ष्मा रोगियों के लिए अग्नि को प्रदीप्त करनेवाली तथा मलसंग्राहक औषधों को बतला दिया गया॥ १३२-१३३॥

अरोचक चिकित्सा

परं मुखस्य वैरस्यनाशनं रोचनं शृणु॥ १३४॥
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम्। तद्वत् प्रक्षालयेदास्यं धारयेत् कवलग्रहान्॥ १३५॥
पिबेद् धूमं ततो मृष्टमद्याद् दीपनपाचनम्। भेषजं पानमन्नं च हितमिष्टोपकल्पितम्॥ १३६॥

इसके आगे मुख की विरसता (फीकापन) को दूर करनेवाले तथा रुचिजनक उपचार को सुनिये।

मुख वैरस्य में उपचार—सबेरे-शाम मुख को स्वच्छ बनाने वाली दातौन को कूचकर दाँतों को साफ करना चाहिए और मुख को भी धोकर स्वच्छ रखना चाहिए। मुख में चबाकर खाने योग्य लौंग, इलायची, तुम्बुल आदि का कवल धारण करना चाहिए। नित्य प्रयोग के योग्य प्रायोगिक धूम्रपान करना चाहिए। जठराग्नि प्रदीपक तथा पाचक स्वादिष्ट औषधों का सेवन करना चाहिए। जो कुछ भी खाने-पीने के लिए दिया जाय, वह रोगी के लिए हितकर हो और रुचिकर द्रव्यों से सुसंस्कृत किया गया हो॥ १३४-१३६॥

त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि मुस्तमामलकं त्वचम्। दार्वीत्वचो यमानी च तेजोह्वा पिप्पली तथा॥
यमानी तिन्तिडीकं च पञ्चैते मुखधावनाः। श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुखधावनाः॥ १३८॥
गुटिकां धारयेदास्ये चूर्णैर्वा शोधयेन्मुखम्। एषामालोडितानां च धारयेत्कवलग्रहान्॥ १३९॥

मुखशोधक पाँच योग—(१) दालचीनी, नागरमोथा, छोटी इलायची और धनिया; (२) नागरमोथा, आँवला और दालचीनी; (३) दारुहल्दी, दालचीनी और जवायन; (४) तेजबल और पीपर; (५) जवायन और इमली—ये पाँच मुखशोधक योग हैं, जो श्लोकों के एक-एक चरण में कहे गये हैं। ये रुचिकारक और मुख को शुद्ध करनेवाले होते हैं। इन योगों से गोली बनाकर मुख में रखना चाहिए अथवा इनका चूर्ण बनाकर उससे मुख को स्वच्छ करना चाहिए या इनके चूर्ण को पानी में घोलकर कवलग्रह के रूप में मुख में रखकर धीरे-धीरे मुख चलाता रहे॥ १३७-१३९॥

सुरामाध्वीकसीधूनां तैलस्य मधुसर्पिषोः। कवलान् धारयेदिष्टान् क्षीरस्येक्षुरसस्य च॥ १४०॥

कवलयोग—सुरा, माध्वीक और सीधु, तिल का तेल, विषम मात्रा में मिश्रित मधु तथा घी, दूध और गन्ने का रस—इनमें से मनपसन्द वस्तु का कवलग्रह धारण करना चाहिए॥ १४०॥

यमानीं तिन्तिडीकञ्च नागरं साम्लवेतसम्। दाडिमं बदरं चाम्लं कार्षिकं चोपकल्पयेत्॥ १४१॥
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम्। पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च॥ १४२॥
शर्करायाश्च चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत्। जिह्वाविशोधनं हृद्यं तच्चूर्णं भक्तरोचनम्॥ १४३॥
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं विबन्धानाहनाशनम्। कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत्॥ १४४॥
इति यवानीषाडवम्।

यवानीषाडव चूर्ण—यवायन, इमली, सोंठ, अम्लबेत, खट्टे अनार, खट्टे बेर प्रत्येक १-१ कर्ष; धनियाँ, सौवर्चल नमक, जीरा, दालचीनी प्रत्येक आधा कर्ष; पीपर १०० अदद (१०० ग्राम), मरिच २०० दाने (१५ ग्राम)—इन सबका बारीक कपड़छन चूर्ण करें और पिसी हुई बारीक चीनी ४ पल मिलाकर सब खूब ठीक से मिला लें। यह चूर्ण जीभ को विशुद्ध बनाता है, हृदय के लिए हितकर है और आहार में रुचि उत्पन्न करता है। हृदयरोग, प्लीहविकार और पार्श्वशूल को नष्ट करता है। मलावरोध और आनाह को दूर करनेवाला, कास-श्वासनाशक, ग्राही, ग्रहणी एवं अर्श रोग को नष्ट करता है॥ १४१-१४४॥

वक्तव्य—यह खाने में स्वादिष्ट होता है और भोजन में रुचि बढ़ाता है। इसे भोजन के पहले लेना चाहिए। इसकी मात्रा ३-४ ग्राम से ६-८ ग्राम तक हो सकती है।

तालीसपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली शुभा। यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके॥ १४५॥
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र प्रदेया सितशर्करा। कासश्वासारुचिहरं तच्चूर्णं दीपनं परम्॥ १४६॥
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषशोषप्लीहज्वरापहम्। वम्यतीसारशूलघ्नं मूढवातानुलोमनम्॥ १४७॥
कल्पयेद् गुटिकां चैतच्चूर्णं पक्त्वा सितोपलाम्। गुटिका ह्यग्निसंयोगाच्चूर्णाल्लघुतराः स्मृताः॥
इति तालीसाद्यं चूर्णं गुटिकाश्च।

तालीशादि चूर्ण—तालीशपत्र, मरिच, सोंठ, पीपर और वंशलोचन—ये पाँच द्रव्य पूर्व द्रव्य से १-१ भाग अधिक अर्थात् क्रमशः १, २, ३, ४ और ५ भाग; दालचीनी तथा छोटी इलायची आधा-आधा

भाग और पीपर से अठगुना पिसी हुई सफेद चीनी लेकर पूर्व के द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण में मिलाकर सुरक्षित रख लें। यह चूर्ण कास, श्वास, अरुचिनाशक है और जठराग्नि को प्रदीप्त करने में श्रेष्ठ है। यह चूर्ण हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, राजयक्ष्मा, प्लीहा के रोग और ज्वर को नष्ट करता है। वमन, अतिसार तथा शूलनाशक है और विलोम वायु को अनुलोम बनाता है। चीनी की चासनी में चूर्ण को मिलाकर गुटिकाएँ भी बनायी जा सकती हैं जो चूर्ण की अपेक्षा अधिक लघुगुणयुक्त कही गयी हैं॥ १४५-१४८॥

शोष चिकित्सा

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्। दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः॥

यक्ष्मा में बृंहणार्थ मांसप्रयोग—यक्ष्मा के जो रोगी मांस की क्षीणता के कारण सूख रहे हों उन्हें, मांस पकाने की कला के ज्ञाता वैद्य को चाहिए कि मांसभक्षी पशु-पक्षियों का मांस खिलायें क्योंकि मांसाहारी जीवों का मांस विशेषरूप से शरीर के लिए बृंहणकारक होता है॥ १४९॥

शोषिणे बार्हिणं दद्याद् बर्हिशब्देन चापरान्। गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत् सूपकल्पितान्॥
काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान्। भृष्टान् मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि॥
लोपाकान् स्थूलनकुलान् बिडालांश्चोपकल्पितान्।
शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत्॥ १५२॥
सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा। मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये॥ १५३॥
गजखड्गितुरङ्गाणां वेशवारीकृतं भिषक्। दद्यान्महिषशब्देन मासं मांसाभिवृद्धये॥ १५४॥
मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्। तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥

यक्ष्मा में प्रदेय मांस—शोषग्रस्त यक्ष्मा के रोगी को मोर का मांस खिलायें और गीध, उल्लू तथा नीलकण्ठ के मांस को अच्छे ढंग से पकाकर मोर का मांस कहकर खिलायें। इसी तरह (१) कौवे के मांस को तीतर का कहकर, (२) साँप के मांस को वर्मी मछली कहकर और (३) केचुआ के भुने हुए मांस को मछली की आँत बताकर दें। (४) लोमड़ी के मांस को, स्थूल जाति के नेवले के मांस को, बिलार के मांस को और सियार के बच्चों के मांस को अच्छी तरह पकाकर खरहे का मांस कहकर देना चाहिए। (५) रोगी के शरीर में मांस को बढ़ाने के लिए सिंह, भालू, लकड़बग्घा और बाघ के मांस को तथा मांसभक्षी दूसरे पशुओं के मांस को भी विधिवत् बनाकर मृग का मांस कहकर खाने को दे। (६) हाथी, गैंडा एवं घोड़ा के मांस को छोटे टुकड़े काटकर कीमा बनाकर भैंसे का मांस कहकर मांस की वृद्धि के लिए खाने को दें। (७) मांस खाने से जिन पशु-पक्षियों के शरीर में मांस बढ़ा हुआ हो उनका मांस मांस को प्रचुरमात्रा में बढ़ानेवाला होता है और तीक्ष्ण, उष्ण तथा लघु गुणयुक्त होने से ऐसे पशु-पक्षियों का मांस यक्ष्मारोगी के लिए विशेष लाभप्रद होता है॥ १५०-१५५॥

मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत्। तेषूपधा, सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि॥
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत्। तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत्॥

यक्ष्मा में छद्मनाम से मांस का प्रयोग—रोगी को जिन मांसों के खाने का अभ्यास न होने से वे अरुचिकर हों, उनको खिलाने के लिए छद्मनाम का प्रयोग करना चाहिए जिससे रोगी आसानी से उन मांसों को खा सके। इस तरह वे मांस जो रोगी को न जँचते हों उन्हें भी दिया जा सकता है। यदि रोगी को सही बात ज्ञात हो जाय तो वह घृणावश उस मांस को खायेगा ही नहीं अथवा खा भी ले तो वमन कर देगा। इसलिए अनिच्छित मांसों को छद्म नामों से दिलवाना चाहिए, क्योंकि इसी में रोगी का कल्याण है॥ १५६-१५७॥

बर्हितित्तिरिदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयोः। खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम्॥ १५८॥

यक्ष्मोपयोगी श्रेष्ठ मांस—मोर, तीतर, मुर्गा, हंस, सूअर, ऊँट, गधा, गो और भैंसा—इन पशु-पक्षियों का मांस अत्यन्त मांसवर्धक होता है॥ १५८॥

योनिरष्टविधा चोक्ता मांसानामन्नपानिके। तां परीक्ष्य भिषग्विद्वान् दद्यान्मांसानि शोषिणे॥
प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः। आहारार्थं प्रदातव्या मात्रया वातशोषिणे॥ १६०॥
प्रतुदा विष्किराश्चैव धन्वजाश्च मृगद्विजाः। कफपित्तपरीतानां प्रयोज्याः शोषरोगिणाम्॥
विधिवत्सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च। रसवन्ति सुगन्धीनि मांसान्येतानि भक्षयेत्॥ १६२॥

मांस की योनियाँ और उनका उपयोग—इसी ग्रन्थ के सूत्रस्थान अध्याय २७ (अन्नपानिक) में मांसों की आठ (१. प्रसह, २. भूशय, ३. आनूप, ४. वारिशय, ५. जलेचर, ६. जांगल, ७. विष्किर और ८. प्रतुद) योनियाँ कही गयी हैं। उन सबकी परीक्षा करके विद्वान् वैद्य राजयक्ष्मा के शोषग्रस्त रोगियों के लिए मांसों का सेवन करायें। यथा—**वातप्रधान** शोष के रोगी के खाने के लिए (१) प्रसह (गो, गधा, घोड़ा, ऊँट, सिंह, भालू, भेड़िया, बाघ, बिल्ली, चूहा, कौवा, नीलकण्ठ आदि); (२) भूशय (साँप, मेढक, साही, गोह, नेवला आदि); (३) आनूप (सूअर, गैंडा, भैंस, वराह, हरिण, हाथी आदि); (४) वारिज (कछुआ, केकड़ा, मछली, नक्र, सूँस आदि) और (५) वारिचर (हंस, बकुला, सारस, चक्रवाक आदि) पशु-पक्षियों का मांस उचित मात्रा में देना चाहिए। **कफ-पित्तप्रधान** राजयक्ष्मा के रोगियों के खाने के लिए (१) प्रतुद (कोयल, कठफोरनी, कबूतर, सुग्गा, मैना, गौरैया आदि); २. विष्किर (चकोर, मोर, तित्तिर, मुर्गा आदि); ३. धन्वज (जांगल—खरहा, हरिण, बारहसिंघा, कृष्णसार मृग आदि) पशु-पक्षियों का मांस देना चाहिए।

मांसनिर्माण—उपर्युक्त मांसों को मांसनिर्माण विधि के अनुसार अच्छी प्रकार से पकाकर सुरुचिपूर्ण, मनोऽनुकूल, कोमल, सरस और आकर्षक सुगन्धयुक्त निर्माण करके सेवन करना चाहिए॥ १५९-१६२॥

मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च। नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति॥
वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः। अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम्॥ १६४॥
प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान्मधु। यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन्॥ १६५॥

यक्ष्मा में मांस, मद्य, इन्द्रियनिग्रह और अवेगरोध का महत्त्व—जो शोषग्रस्त यक्ष्मा का रोगी प्रधानतः मांसाहार, माध्वीक नामक मदिरा का पान और इन्द्रियनिग्रह तथा उदारचित्तता का अभ्यास बनाये रखता है, उसके शरीर में शोष रोग अधिक समय तक नहीं टिक पाता है। जो व्यक्ति मल-मूत्रादि वेगों को नहीं रोकता है, नित्य वारुणी नामक मद्य के ऊपरी भाग का पान करता है और शरीर के बाहरी भाग को प्रक्षालित करके स्वच्छ रखता है, उसके शरीर में यक्ष्मा रोग को अवकाश नहीं मिलता है।

मांसभक्षण में अनुपान—सुरा का मण्ड, वारुणी, सीधु, अरिष्ट, आसव और मधु—इन्हें पूर्वकथित मांसों का सेवन करनेवाला व्यक्ति अपनी अनुकूलता देखकर जिसको जो जँचे उसे अनुपान के रूप में पान करता रहे॥ १६३-१६५॥

मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात् स्रोतसां मुखम्।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्त धातवः॥ १६६॥
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति।

मद्य के द्वारा शोषशमन में युक्ति—मद्य में तीक्ष्णता, उष्णता, विशदता और सूक्ष्मता होती है, जिससे वह स्रोतों के मुखों को मथन कर खोल देता है और स्रोतों के मुख खुल जाने से सातों धातुएँ पुष्ट होने लगती हैं। इस प्रकार धातुओं का पोषण होने से शोष रोग शीघ्र ही शान्त हो जाता है॥ १६६॥

मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत्॥ १६७॥

सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा। सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायकैः॥ १६८॥
क्षीरमांसरसोपेतैर्घृतं शोषहरं परम्। पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः॥ १६९॥
सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम्। रास्नाबलागोक्षुरकस्थिरावर्षाभुसाधितम्॥ १७०॥
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषनुद् घृतम्।

राजयक्ष्मा में घृतयोग—(१) मांसभक्षी पशु-पक्षियों के मांसरस से तैयार किये गये घी का उचित प्रमाण एवं अनुपान-सहपान से प्रयोग करे अथवा (२) घी के प्रमाण से दश गुने प्रमाण में दूध मिलाकर घी पकाये और मधु मिलाकर उसका प्रयोग करे। (३) दशमूल का क्वाथ, गोदुग्ध और मांसरस तीनों अलग-अलग घी से चतुर्गुण, मधुरक द्रव्यों (जीवनीयं गण) का मिलित कल्क घी का चतुर्थांश डालकर घृत सिद्ध करें। यह घृत (१० ग्राम मात्रा में) श्रेष्ठ शोषनाशक होता है।

पञ्चकोलादि घृत—(४) पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता और सोंठ तथा यवक्षार का मिलित कल्क घी का चतुर्थांश और दूध, घी से चौगुना डालकर घृत सिद्ध करे। यह घृत स्रोतों को शुद्ध कर उनका मुख खोल देता है। **रास्नादि घृत**—(५) रास्ना, बरियार की जड़, गोखरू, सरिवन और गदहपुर्ना—इनका मिलित क्वाथ घी का चतुर्गुण, दूध घी से चतुर्गुण और जीवन्ती तथा पीपर का कल्क घी का चतुर्थांश डालकर घृतपाक करे। यह घृत शोषरोग को नष्ट करता है॥ १६७-१७०॥

यवाग्वा वा पिबेन्मात्रां लिह्याद्वा मधुना सह॥ १७१॥
सिद्धानां सर्पिषामेषामद्यादन्नेन वा सह। शुष्यतामेष निर्दिष्टो विधिराभ्यवहारिकः॥ १७२॥

आभ्यवहारिक विधि का निर्देश—इन उपर्युक्त सिद्ध घृतों को रोगी की प्रकृति, बल, देश-काल आदि का विचार कर प्रयोग करे। रोगी के अनुसार मात्रा का निर्धारण करना चाहिए और १. यवागू के साथ या २. मधु के साथ अथवा ३. अन्नाहार के साथ प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यक्ष्मा के सूखनेवाले रोगियों के खाने-पीने की विधि का निर्देश कर दिया गया॥ १७१-१७२॥

बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः। स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत्॥
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च।

राजयक्ष्मा में बाह्य प्रयोग—अब इसके आगे शरीर के बाहरी त्वचा पर किये जानेवाले प्रयोगों को कहेंगे।

अवगाहन—यक्ष्मा रोगी के स्रोतों में हुई रुकावट को दूर करने के लिए तथा उसके शरीर में बल और पुष्टि लाने के लिए उसके देह में तेल की विधिवत् मालिश करके तेल-घी, गोदुग्ध और जल से भरे टब में रोगी को बैठा-सुलाकर नहलाये॥ १७३॥

उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनरक्तैः सुखैः करैः॥ १७४॥
मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम्। जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम्॥ १७५॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम्। विदारीं सर्षपं कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम्॥ १७६॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत्। यवचूर्णत्रिगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम्॥ १७७॥
एतदुत्सादनं कार्यं बलपुष्टिविवर्धनम्।

यक्ष्मा में मर्दन और उबटन—पूर्वोक्त प्रकार से जलावगाहन से निकलने के पश्चात् अपने हाथों में घी-तेल लगाकर रोगी को (मचिया या पीढ़ा पर) बैठाकर मुलायम हाथों से उसके अंगों को दबाये और आराम के साथ (अधिक ताकत न लगाकर) उसे उबटन भी लगाये।

उबटन की औषधें—जीवन्ती, शतावर, मजीठ, गदहपुर्ना, असगन्ध, चिचिड़ा, अरनी की छाल, मुलहठी, बरिआर की जड़, विदारीकन्द, सरसों, कूठ, चावल, तीसी, उड़द, काला तिल और सुराबीज—इन सबको एक साथ कूट-पीसकर बारीक चूर्ण बना लें। सम्पूर्ण चूर्ण के प्रमाण से तिगुने प्रमाण में जौ का आटा मिला लें, फिर दही के साथ सब चूर्ण पीसकर मधु मिलाकर उबटन लगायें। यह उबटन शरीर को बलवान् और पुष्ट बनाता है॥ १७४-१७७॥

गौरसर्षपकल्केन कल्कैश्चापि सुगन्धिभिः॥ १७८॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः शृतैः।

यक्ष्मा में स्नानीय जल—उबटन लगाने के बाद जीवनीय गण की औषधों के क्वाथ में सफेद सरसों तथा सुगन्धितद्रव्यों[1] का कल्क मिलाकर ऋतु के अनुसार ठण्डा या गरम कर उससे स्नान करे॥ १७८॥

गन्धैः समाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः॥ १७९॥
स्पृश्यान् संस्पृश्य सम्पूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः। इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत् पानभोजनम्॥
इष्टमिष्टैरुपहितं सुखमद्यात् सुखप्रदम्।

यक्ष्मा में पानभोजन—स्नान-अवगाहन करके, उत्तम गन्धों, मालाओं, सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से विभूषित होकर, स्पर्श करने योग्य शंख आदि माङ्गलिक वस्तुओं का स्पर्श तथा देवता, वैद्य एवं ब्राह्मणों की पूजा कर मनोवांछित वर्ण-रस-स्पर्श-गन्धयुक्त तथा मनपसन्द भोजनोपयोगी वस्तुओं (व्यञ्जन पदार्थों) सहित आरोग्यकारक पान की वस्तुओं और आहार का सुखपूर्वक पान एवं भोजन करें॥ १७९-१८०॥

समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम्॥ १८१॥
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च। यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि॥ १८२॥

यक्ष्मा में पथ्यतम अन्न—यक्ष्मा के रोगियों के आहार के लिए एक वर्ष के पुराने अन्न (समातीत धान्य) अच्छी प्रकार सुसंस्कृत रुचिकर ढंग से पकाकर खिलाये। जो अन्न लघुगुणसम्पन्न, वीर्यसम्पन्न, स्वादिष्ट, सुगन्धित और खाने में प्रसन्नताजनक होते हैं वे उत्तम कोटि के पथ्य होते हैं॥ १८१-१८२॥

यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते। यक्ष्मिणस्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये॥ १८३॥

यक्ष्मा में क्षतक्षीणवत् चिकित्सा—आगे क्षतक्षीण रोग की चिकित्सा (च० चि० ११) में जिस प्रकार के पथ्य का उपदेश किया जायगा, यक्ष्मा के रोगी के शरीर में बल तथा मांस को बढ़ाने के लिए उसका प्रयोग करना चाहिए॥ १८३॥

अभ्यङ्गोत्सादनैश्चैव वासोभिरहतैः प्रियैः। यथर्तुविहितैः स्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः॥ १८४॥
बस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैर्मांसरसौदनैः। इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः॥ १८५॥
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः। गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च॥ १८६॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः। ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः॥ १८७॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गल्यैरप्यहिंसया। वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते॥ १८८॥

यक्ष्मा-चिकित्सा का उपसंहार—अभ्यंगों (मालिश) के सेवन से, उबटनों के प्रयोग से, ऋतुओं के अनुसार शीत या उष्ण जल से स्नान करने से, जलावगाहन (पानी में पूरे शरीर को डुबाकर नहाने से)

---

१. एलाचन्दनकुङ्कुमागुरुमुराकक्कोलमांसी शटीश्रीवासच्छदग्रन्थिपर्णशिशभृत् क्षौणिध्वजोशीरकम्।
कस्तूरीनखपूतिशैलजशुभामेथीलवङ्गादिकं गन्धद्रव्यमिदं प्रदेयमखिलं श्रीविष्णुतैलादिषु॥
(परिभाषा-प्रदीप, खण्ड-४)

और शरीर को भींगे वस्त्र से रगड़कर स्वच्छ रखने से, नये और प्रिय वस्त्रों के धारण करने से, वस्तियों के प्रयोग से, दूध, घी, मांस, मांसरस और भात खाने से, मनपसन्द मदिरा के पीने से, मन को अच्छी लगनेवाली गन्धों के सेवन से, शुभचिन्तक मित्रों के और प्रसन्नवदना सुरुचिपूर्ण ललनाओं के प्रियदर्शनों से, श्रुतिसुखद संगीत और वाद्ययन्त्रों की मनोरम ध्वनियों के सुनने से, हर्षप्रद वातावरण में रहने से, रोगमुक्ति के आश्वासनों से, सदा महान् व्यक्तियों के साथ आदर और श्रद्धा रखने से राजयक्ष्मा रोग दूर हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने से, दान देने से, तपस्या करने से, देवताओं की पूजा करने से, सत्य भाषण करने से, सदाचार के साथ रहने से, उत्तम मांगलिक कार्यों के करने से, मन-वचन-कर्म से किसी भी प्राणी के लिए कष्टकर आचरण न करने (अहिंसा) से, चिकित्सकों और ब्राह्मणों का आदर-सम्मान तथा पूजा करने से रोगराज राजयक्ष्मा छूट जाता है॥ *१८४-१८८*॥

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा जितः। तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥

राजयक्ष्मा की वैदिक चिकित्सा—प्राचीनकाल में जिस यज्ञकर्म के द्वारा राजयक्ष्मा रोग छूटा था, आरोग्य की कामना रखनेवाले व्यक्ति को उस वेदविहित यज्ञ-दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का अनुष्ठान करना चाहिए॥ *१८९*॥

तत्र श्लोकौ—

प्रागुत्पत्तिर्निमित्तानि प्राग्रूपं रूपसंग्रहः। समासाद् व्यासतश्चोक्तं भेषजं राजयक्ष्मणः॥ १९०॥
नामहेतुरसाध्यत्वं साध्यत्वं कृच्छ्रसाध्यता। इत्युक्तः संग्रहः कृत्स्नो राजयक्ष्मचिकित्सिते॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
राजयक्ष्मचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'राजयक्ष्मचिकित्सित' नामक अध्याय में राजयक्ष्मा रोग की पूर्व में उत्पत्ति, उसके कारण, उसका पूर्वरूप, उसके अनेक लक्षणों का संग्रह, संक्षेप और विस्तार से राजयक्ष्मा की चिकित्सा, 'राजयक्ष्मा' नाम रखने का कारण, यक्ष्मा की असाध्यता, साध्यता तथा कृच्छ्रसाध्यता—इन सभी विषयों का संग्रह किया गया है॥ *१९०-१९१*॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'राजयक्ष्मचिकित्सित' नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ८॥

राजयक्ष्माचिकित्साक्रमबोधक सारणी

उपचार	औषध	आहार-विहार
राजयक्ष्मा के रोगी के शुक्र तथा मल की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करें—'सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्'।		
आवस्थिक चिकित्सा—प्रतिश्याय में—स्वेद, अभ्यंग, धूम, आलेपन, परिषेक और अवगाहन करायें।	**स्वेदन**—खिचड़ी, हलवा-लप्सी, उड़द-कुलथी-यव की पिष्टी अथवा खीर से सुखोष्ण स्वेदन करे। वातघ्न द्रव्यसिद्ध क्वाथ अथवा बला-गुडूची-मुलहठी से सिद्ध सुखोष्ण जल से शिर का परिषेक करे। वातघ्न द्रव्यसिद्ध उष्णदुग्ध से नाड़ीयन्त्र से स्वेदन करे अथवा बकरी एवं मछली के मस्तक को पानी में उबाल कर उसी जल से शिर, कण्ठ, छाती आदि का नाड़ीस्वेद विधि से स्वेदन करे अथवा औदक या आनूप मांससिद्ध जल से या वृहत् पञ्चमूलसिद्ध जल से या स्नेहयुक्त कांजी से नाड़ीस्वेद करे।	जौ के बने पदार्थ भात-दलिया दे। लावा, तीतर, मुर्गा, बटेर के मांस को अम्ल-लवण-कटु से युक्त कर गरम-गरम खाने को दे। पीपर, जौ, कुलथी, सोंठ, अनार के रस और आँवले के साथ घी में बना बकरे का मांसरस पिलायें। वारुणी मद्य का निथरा हुआ स्वच्छ भाग, लघु पञ्चमूल से सिद्ध या धनियाँ-सोंठ या भूमि आँमला या चारों पर्णिनियों से सिद्ध किया हुआ जल पिलायें।
उपनाह स्वेद	जीवन्त्यादि योग की पोटली से स्वेदन करे।	
आलेपन	सौंफ, मुलहठी, कूठ, तगर तथा रक्तचन्दन पीसकर, सुखोष्ण कर शिर, पार्श्व और अंस देश में आलेपन करे।	
प्रदेह	बलादि, गुग्गुल्वादि, काकोल्यादि या शतावर्यादियोग को पीसकर घी मिलाकर प्रदेह लगायें या पद्मकादि प्रदेह लगायें।	
प्रलेप	प्रपौण्डरीकादि प्रलेप लगायें।	
भोजनोत्तर स्नेहपान तैलाभ्यंग एवं वस्ति का प्रयोग करे। शृंगयन्त्र से या सिरावेध करके रक्तमोक्षण करायें।	रास्नाघृत या शतावरीघृत का प्रयोग करायें।	
वमन-विरेचन	बहुदोष के लक्षण (च० सू० १६) दीखें तो स्नेहन-स्वेदन कराकर वमनकारक मदन-फलकल्क दूध में मिलाकर वमन करायें। पथ्य देने पर शरीर में बल आ जाने पर पुनः स्नेहन-स्वेदन के बाद विरेचन करायें। यह ध्यान रहे कि विरेचन कृशताकारक न हो।	
नस्य	बला एवं विदारिगन्धादि गण से या विदारी-कन्द एवं मुलहठी से सिद्ध और सेंधानमक मिला हुआ घृत नस्यार्थ दें।	

उपचार	औषध	आहार-विहार
स्वरभेद, कास और श्वास में अवलेह	खर्जूरादि घृत मधु से चटायें। दशमूलाद्य घृत अथवा पञ्च पञ्चमूलसिद्ध घृत का सेवन करायें।	औत्तरभक्तिक (भोजनोत्तर) घृतपान करायें यथा—दशमूलाद्य-घृत, रास्नाघृत या बलाघृत दूध के साथ दें।
कास-श्वास-मन्दाग्नि, पार्श्वशूल और अरुचि में चूर्ण	खर्जूरादि, त्रिफलादि, क्षीरकाकोल्यादि या शुण्ठ्यादि लेह मधु-घृत मिलाकर चटायें।	
भ्रम-तृष्णा, वमन, अतिसार आदि में घृत-दुग्ध का प्रयोग	सितोपलादि चूर्ण (१-२ ग्राम) मधु से या अकेले दिनभर में ४-५ बार सेवन करायें।	
दाह, ज्वर और ऊर्ध्वग रक्तपित्त में शमन उपचार	दुरालभाद्य घृत, जीवन्त्यादि घृत और बलादि क्षीर का प्रयोग करें।	
	वासाघृत या शतावरी घृत का सेवन करायें। ज्वर-चिकित्सा में कथित द्रव्यों का क्वाथ या कल्क घी मिलाकर प्रयोग करायें।	
कफप्रसेक में—वमन तथा स्निग्ध उष्ण उपचार करे।	मदनफल कल्क दूध में मिलाकर वमन करायें।	
अतिसार में—अग्नि-दीपक रुचिकर एवं संग्राही औषध दें।	सोंठ और इन्द्रजौ का चूर्ण २-३ ग्राम चावल के धोवन से दिन में ३-४ बार दें।	मनोऽनुकूल किन्तु रुचिकर लघु आहार दें। चांगेरी रस में या खट्टे अनार के रस में पकायी हुई पेया पिलायें।
	संग्राहक योग—जामुन-आम की गुठली, बेलगिरी, कैथमज्जा और सोंठ का चूर्ण पेया या मण्ड के साथ दें।	
	बेंत, अर्जुन, जामुन, खश, सहिजन, गम्भारू, मेंहदी, जूही, विजौरा नीबू, धावा, अनार इनकी पत्ती के क्वाथ में मूँग की दाल का यूष पकाकर उसमें नीबू और सेंधा नमक मिलाकर 'खड' बनाकर पिलायें।	मलसंग्राहक द्रव्यों के क्वाथ में शीघ्रपाकी जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस बनाकर पुराने अगहनी चावल के भात के साथ दें।
	इसी तरह चांगेरी, इमली या दुद्धी की पत्ती के रस या क्वाथ से सिद्ध यूष में मलाई, अनार का रस और घी मिलाकर पिलायें।	पीने के लिए लघु पञ्चमूलसिद्ध जल, मट्ठा, सुरा, चुक्र और अम्ल अनार का रस दें।
मुखवैरस्य में—नीम की दातौन से मुखप्रक्षालन करे। मुखशोधक द्रव्यों (लौंग, इलायची, जायफल, तुम्बुल आदि) को मुख में धारण करे। प्रायोगिक धूम्रपान, दीपन, पाचन, रोचक द्रव्यों का सेवन करे।	मुखवैरस्यनाशक योग—१. दालचीनी, नागरमोथा, इलायची, धनियाँ। २. दारु हल्दी, दालचीनी, यवायन। ३. नागरमोथा, आँवला, यवायन। ४. तेजपात और पीपर। ५. यवायन और इमली—इन सभी की मटर बराबर गोली बनाकर चूसने को दें।	
कवलग्रह धारण	सुरा, माध्वीक, सीधु, तिल का तेल, मधु, घृत, गोदुग्ध या गन्ने का रस, मुख में धारण करने को कहे।	
अरोचक में चूर्ण	यवानीषाडव चूर्ण अथवा तालीशादि चूर्ण २-२ ग्राम ४-५ बार रोज चूसना।	

उपचार	औषध	आहार-विहार
शोषग्रस्त रोगी के लिए मांसरस	मोर, तीतर, मुर्गा, हंस, वराह, ऊँट, गदहा, गौ और भैंस का मांस उत्तम मांसवर्धक होते हैं। इनका सेवन करायें।	मांसभक्षी रोगी को आठ प्रकार के मांस जीवों की योनियों में से चुनकर, जिसे जो पसन्द हो, अनुकूल हो, रुचिकर हो, उसे ठीक से पका लें और सुगन्ध युक्त करके खिलायें। अनुपान में माध्वीक नामक सुरा पिलायें।
	औषध के रूप में मांस खाने वाले रोगी को नाम बदल-बदल कर गीध, उल्लू, नीलकण्ठ, कौआ, साँप, केचुआ, लोमड़ी, नेवला, बिलार, गीदड़, सिंह, भालू, बाघ, हाथी, घोड़ा, इन जन्तुओं का मांस खिलाना चाहिए, जिससे रोगी को घृणा न हो।	अनुपान—सुरामण्ड (प्रसन्ना) वारुणी, सीधु, अरिष्ट, आसव और मधु का सेवन करायें।
घृत प्रयोग	शोषशमनार्थ—जीवनीय गण के कल्क, दशमूल के क्वाथ, दूध तथा मांस से सिद्ध घृत शोष-शामक होता है।	मांसरस में पकाया घी सेवन करायें। दशगुने दूध में सिद्ध घृत मधु मिलाकर दें।
	पञ्चकोलादि घृत एवं रास्ना घृत का प्रयोग शोषहर होता है।	अन्य घृतों का प्रयोग—घृतों को यवागू में मिलाकर या मधु से या अन्नाहार में मिलाकर सेवन कराना चाहिए।
वाह्य प्रयोग—शरीर का औषध सिद्ध स्नेहों के प्रयोग से स्नेहन कराकर, तैल-घी और गोदुग्ध से भरे टब में अवगाहन करायें।		
तत्पश्चात् शरीर का मर्दन करायें और उबटन लगवायें।	उबटन की औषधें—जीवन्ती, श्वेत दूब, मजीठ, गदहपुर्ना, असगन्ध, चिचिड़ा, नीम की छाल, बलामूल, विदारीकन्द, सरसों, कूठ और सुराबीज, इनका चूर्ण कर सम्पूर्ण चूर्ण से तीन गुना जौ का आटा मिला, दही से पीसकर, मधु मिलाकर शरीर में उबटन लगवायें।	स्नानार्थ जल—जीवनीय गण के द्रव्यों के क्वाथ में पीले सरसों का कल्क मिला सुगन्ध द्रव्यों से सुगन्धित कर ऋतु के अनुसार उष्ण अथवा शीत करके उससे स्नान करायें।
राजयक्ष्मा की संक्षिप्त चिकित्सा—अभ्यंग, उबटन, स्नान, अवगाहन, वस्ति, दूध, घी, मांस, मांसरस, प्रिय मद्य, प्रिय रमणियों का दर्शन, उत्तम स्वच्छ वस्त्र धारण, सुहृद मित्रों का दर्शन, संगीत तथा वाद्य की मधुर ध्वनियों का श्रवण, प्रसन्नता, आश्वासन, गुरु-जनों की उपासना, ब्रह्मचर्य, दान, तप, देवार्चन, सत्य-वचन, सदाचार, मांगलिक कर्म, अहिंसा और वैद्यों एवं ब्राह्मणों के श्रद्धापूर्वक पूजन से राजयक्ष्मा रोग दूर हो जाता है।		स्नान के पश्चात् इत्र लगाकर, माला पहनकर स्वच्छ एवं सुन्दर वस्त्र पहने। मांगलिक वस्तुओं का स्पर्श कर देवता, वैद्य और ब्राह्मणों की पूजा करें। उत्तम वर्ण-गन्ध-रस एवं स्पर्शयुक्त स्वादिष्ट रुचिकर मनोऽनुकूल और आरोग्यप्रद पथ्य दें। एक वर्ष का पुराना किन्तु वीर्यवान् अन्न का सेवन करे, जो हर्षजनक और सुस्वादु हो।

अथ नवमोऽध्यायः

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'उन्मादचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

बुद्धिस्मृतिज्ञानतपोनिवासः पुनर्वसुः प्राणभृतां शरण्यः।
उन्मादहेत्वाकृतिभेषजानि कालेऽग्निवेशाय शशंस पृष्टः॥ ३॥

उन्माद-वर्णन का उपक्रम—जब अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से उन्माद रोग के विषय में प्रश्न किया, तब बुद्धि-स्मृति-ज्ञान के विधान, परम तपस्वी और दुःखी प्राणियों के शरणदाता आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने उन्माद रोग के कारण, लक्षण और चिकित्सा का उपदेश किया॥ ३॥

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवमुखद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः॥ ४॥

उन्माद का निदान—देश-काल-संयोग-वीर्य आदि की दृष्टि से विरुद्ध भोजन (जैसे मछली-दूध) करना, विषाक्त या सड़ा गला भोजन करना, अपवित्र भोजन करना, देवता-गुरु तथा ब्राह्मणों का तिरस्कार या अपमान करना या सताना, अतिहर्ष या अतिभय होने से मन पर आघात लगना और शरीर को टेढ़े-मेढ़े करके आसन-व्यायाम या सोना-बैठना आदि चेष्टाएँ करना—ये सब उन्मादजनक कारण होते हैं॥ ४॥

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदुष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ ५॥

उन्माद की सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से हीन मनोबलवाले व्यक्ति के दूषित हुए वातादि दोष बुद्धि के निवास-स्थान (मस्तिष्कस्थ) हृदय को दूषित कर, मनोवाही स्रोतों में अधिष्ठित होकर, शीघ्र ही मनुष्य के मन को क्षुब्ध कर देते हैं और वह व्यक्ति पागल हो जाता है॥ ५॥

निदान :

(क) आहार सम्बन्धी कारण—विरुद्ध, दुष्ट एवं अपवित्र भोजन।

(ख) मनोदैहिक कारण—(१) देवता, गुरु, ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ एवं पूज्यजनों का तिरस्कार करना।
(२) अतिशय भय एवं हर्ष होना।
(३) मन का आघात।
(४) विषम चेष्टा आदि।

सम्प्राप्ति :

प्रकुपित वातादि दोष + अल्पसत्त्व व्यक्ति → बुद्धि के निवासस्थान हृदय (मस्तिष्क) को दूषित कर मनोवह स्रोत में अधिष्ठित होकर
उन्माद रोग ← मन का संक्षोभ ←

दोष :
(१) तीनों दोष (वात की प्रधानता)
(२) रज और तम मानस दोष

दूष्य : मनस्

अधिष्ठान : (१) बुद्धि का निवास हृदय (मस्तिष्क)
(२) स्रोतस्—मनोवह स्रोतस्

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादमदस्य लिङ्गम्॥ ६॥

उन्माद का सामान्य लक्षण—बुद्धि में निश्चयात्मक ज्ञान न होकर विशेषरूप से भ्रम उत्पन्न होना, मन का व्यग्र और चञ्चल हो जाना, नेत्रों में व्याकुलता होना, धैर्य का ह्रास हो जाना, अनवसर और परस्पर असम्बद्ध बातें करना और हृदय का शून्य हो जाना (किंकर्तव्यविमूढ़ होना)—ये उन्माद रोग के सामान्य लक्षण हैं॥ ६॥

स मूढचेता न सुखं न दुःखं नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम्।
विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च॥ ७॥

उन्माद में विवेकनाश—उन्माद के रोगी का मन विमूढ़ हो जाता है; वह सुख, दुःख, सदाचार और धर्म के ज्ञान से शून्य (बेखबर) हो जाता है; वह बेचैन रहता है; उसकी स्मृति, बुद्धि और उसका ज्ञान क्षीण हो जाता है। वह सदैव अशान्त होकर इधर-उधर घूमा करता है॥ ७॥

समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः।
तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च॥ ८॥

उन्माद के पाँच भेद—बुद्धि, मन और स्मरणशक्ति के व्यतिक्रम को ही उन्माद कहा गया है। यह मूलतः १. आगन्तुक और २. निज-भेद से दो प्रकार का होता है; पुनः इन दोनों कारणों से होनेवाला उन्माद अपने-अपने निदान-भेद से पाँच प्रकार का होता है (१. आगन्तुज, २. वातज, ३. पित्तज, ४. कफज, और ५. सन्निपातज)। अब उनके कारण, लक्षण और चिकित्सा को बतलाऊँगा॥ ८॥

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम्॥ ९॥

वातज उन्माद का निदान और सम्प्राप्ति—रूक्ष आहार, अल्प आहार और शीतल आहार का सेवन, विरेचन का अतियोग, धातुओं के क्षय और उपवास करने के कारण बढ़ा हुआ वायु चिन्ता आदि से ग्रस्त हृदय को दूषित कर शीघ्र ही बुद्धि और स्मृति को भी नष्ट कर देता है॥ ९॥

अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवाग्जृम्भविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम्॥ १०॥

वातज उन्माद का लक्षण—वात से उत्पन्न होनेवाले उन्माद का रोगी बिना किसी प्रसङ्ग के हँसता रहता है, अकारण ही मुस्कुराता है, अनवसर नाचने लगता है, गाने लगता है, बोलने लगता है, हाथ-पैर आदि को नचाने-घुमाने लगता है और रोने लगता है। उसका शरीर रूक्ष, कठोर, कृश और अरुण वर्ण का हो जाता है। भोजन के पच जाने पर रोग का बल बढ़ने से सभी लक्षण तीव्र हो जाते हैं। ये वातज उन्माद के लक्षण हैं॥ १०॥

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात्॥ ११॥

पित्तज उन्माद का निदान और सम्प्राप्ति—अजीर्ण होने से, कटु, अम्ल, विदाही और अत्युष्ण भोजन करने से पित्त का संचय हो जाता है तथा उसका वेग तीव्र हो जाता है। इस प्रकार का आहार करनेवाला व्यक्ति यदि अजितेन्द्रिय हो तो उसका हृदयस्थ पित्त वातज उन्माद की तरह पित्तज उन्माद को उत्पन्न करता है॥ ११॥

अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनाभिद्रवणौष्ण्यरोषाः।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम्॥ १२॥

पित्तज उन्माद के लक्षण—असहिष्णुता, आँखें तरेर कर भयंकर आडम्बरी रूप बनाना, कपड़े उतार-फेंककर नंगा हो जाना, लोगों को डराना-धमकाना, भाग-दौड़ करते रहना, शरीर का उष्ण होना, क्रोधी होना, घना छायादार स्थान, शीत भोजन और शीतल जल की अभिलाषा होना तथा शरीर की आभा का पीला वर्ण हो जाना—ये पित्तज उन्माद के लक्षण हैं॥ १२॥

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रवृद्धः।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् सञ्जनयेद् विकारम्॥ १३॥

कफज उन्माद का निदान और सम्प्राप्ति—जो व्यक्ति शरीर के श्रम के कार्य से तो कतराता है, किन्तु भोजन डटकर आकण्ठ करता है, उसके हृदय प्रदेश में प्रबलशक्तियुक्त कफ बढ़ जाता है और वह बुद्धि एवं स्मृति को नष्ट करके मन को सम्मूर्छित कर कफज उन्माद को उत्पन्न करता है॥ १३॥

वक्तव्य—प्रकृत श्लोक में 'सोष्मा कफ' कहने से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि ऊष्मा का अर्थ पित्त है और पित्त के साथ होकर कफ उन्माद करता है, किन्तु यथार्थतः यहाँ 'ऊष्मा' शब्द कफ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ शक्ति है अर्थात् प्रबलशक्तियुक्त कफ उन्माद उत्पन्न करता है। यहाँ चक्रपाणि टीका द्रष्टव्य है—'सोष्मा कफ उन्मादं करोति न केवल इति, उन्मादकरणे कफस्य ऊष्म सहितत्वरूपं स्वभावं दर्शयति किं वोष्मशब्देन वीर्यं शक्तिरुपमुच्यते तेन सोष्मा कफ इति उत्कृष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः। मर्मणीति हृदये।'

वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुङ्क्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मकस्य॥ १४॥

कफज उन्माद का लक्षण—कफज उन्माद का रोगी मन्द-मन्द कम बोलता है और शारीरिक चेष्टाएँ भी कम करता है। उसे भोजन में अरुचि होती है। वह स्त्रियों का साहचर्य पसन्द करता है। वह एकान्तप्रिय होता है। उसे नींद अधिक आती है। वह वमन करता है और उसके मुख से लार टपकती रहती है। भोजन करने के पश्चात् उसके रोग का वेग बढ़ जाता है। उसके नख, नेत्र और शरीर में सफेदी दीख पड़ती है॥ १४॥

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृद् विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः॥ १५॥

सन्निपातज उन्माद का निदान, लक्षण और त्याज्यता—जो उन्माद रोग तीनों दोषों से उत्पन्न होता है, वह महाभयंकर होता है और वह वातज, पित्तज तथा कफज उन्मादजनक उन सभी कारणों से उत्पन्न हो सकता है, जिनसे अलग-अलग दोषों से उन्माद होता है। उसमें सभी दोषज उन्मादों के लक्षण होते हैं। उसकी चिकित्सा परस्पर दोषों के विपरीत होती है। इसलिए उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ १५॥

देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षःपितॄणामभिधर्षणानि।
आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे॥ १६॥

आगन्तुक उन्माद के कारण—आगन्तुक उन्माद का कारण देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस और पितरों का शरीर में आवेश होना अथवा उनका तिरस्कार करना होता है। इसके अतिरिक्त नियम या विधि-विरुद्ध व्रत, पूजा-पाठ करना या पूर्वजन्मकृत अनुचित कर्म भी आगन्तुक उन्माद के कारण होते हैं॥ १६॥

अमर्त्यवाग् विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम्॥ १७॥

भूतोन्माद का लक्षण—जिस उन्माद के रोगी की वाणी में, उसके पराक्रम में, उसके शारीरिक बल में और उसकी क्रियाओं में मनुष्य की शक्ति से बढ़-चढ़कर सामर्थ्य प्रतीत हो तथा ज्ञान-विज्ञान और शक्ति से भी जो मनुष्य से विलक्षण हो एवं जिसके उन्मत्त होने का काल भी निश्चित न हो, उसे भूतोत्थ उन्माद से ग्रस्त समझना चाहिए॥ १७॥

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ॥ १८॥

देव आदि का शरीर में प्रवेश—देवता, राक्षस, पिशाच आदि पुरुष के शरीर में कोई विकार नहीं उत्पन्न करते हैं और वे अदृश्य रहकर अपने-अपने विलक्षण गुणों के प्रभाव से मनुष्य के शरीर में तेजी के साथ ऐसे प्रवेश कर जाते हैं, जैसे शीशे में वस्तु का प्रतिविम्ब और सूर्यकान्त मणि में सूर्य की किरणें प्रवेश कर जाती हैं॥ १८॥

आघातकालो हि स पूर्वरूपः प्रोक्तो निदानेऽथ सुरादिभिश्च।
उन्मादरूपाणि पृथङ्निबोध कालं च गम्यान् पुरुषांश्च तेषाम्॥ १९॥

देवादिकों का आघात (आवेश) काल—देवता, राक्षस आदि के शरीर में प्रवेश या आक्रमण करने के समय और आक्रान्त होने पर होनेवाले पूर्वरूप का वर्णन (चरकसंहिता के) निदानस्थान (अध्याय ७ के 'पापस्य कर्मणः समारम्भे' इत्यादि सन्दर्भों) में कर दिया गया है। अब उनके अलग-अलग लक्षण, काल और उनके आक्रमण के योग्य पुरुषों के विषय में भी जानिये॥ १९॥

तद्यथा—सौम्यदृष्टिं गम्भीरमधृष्यमकोपनमस्वप्नभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं शुभगन्धं फुल्लपद्मवदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात्।

(१) देवोन्माद का लक्षण—जो उन्माद का रोगी शान्तिमय सौम्य दृष्टि से देखता है, गम्भीरता से रहता है, जिसको कोई तिरस्कृत नहीं करता है, जो क्रोध नहीं करता है, सोता नहीं है, खाने की चेष्टा-अभिलाषा नहीं करता है, जिसके शरीर से पसीना, मूत्र, मल और अपानवायु कम निकलते हैं, जिसके शरीर से सुगन्ध निकलती है और जिसका मुख खिले हुए कमल के फूल के समान चमक रहा होता है, उसे देवता द्वारा अविष्ट होने से उन्मत्त समझना चाहिए।

गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभिशापाभिचाराभिध्यानानुरूपचेष्टाहारव्याहारं तैरुन्मत्तं विद्यात्।

(२) गुरु आदि के अभिशाप से हुए उन्माद का लक्षण—गुरुजन, वृद्धजन, सिद्ध पुरुष और ऋषियों के शाप देने से, अभिचार (तान्त्रिक प्रयोग-उच्चाटन आदि) से या उनके अनिष्टकारक भाव से जो व्यक्ति उन्मत्त होता है, उसमें शाप, अभिचार आदि के अनुरूप उस व्यक्ति के कार्य, उसका आहार और आचरण होता है, अतः उन लक्षणों को देखकर उसे गुरु आदि के शाप आदि से उन्मत्त जानना चाहिए।

अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवाचमनन्नाभिलाषिणमरोचकाविपाकपरीतं च पितृभिरुन्मत्तं विद्यात्।

(३) पितृग्रहज उन्माद का लक्षण—जो पुरुष पितरों के कारण उन्मत्त होता है उस व्यक्ति की दृष्टि से नाराजगी टपकती रहती है, वह किसी को देख नहीं पाता है, उसे नींद अधिक आती रहती है, वह रुक-रुक कर बोलता है, उसे भोजन की इच्छा नहीं होती, उसे अरुचि हो जाती है और भोजन कर भी लेता है, तो उसे पचता नहीं है—इन सभी लक्षणों से उसे पितरों द्वारा उन्मत्त जाने।

चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमधृष्यं मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्महास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात्।

(४) गन्धर्वोन्माद का लक्षण—जो उन्मत्त व्यक्ति क्रोधी, साहस करनेवाला, तीक्ष्ण स्वभाव का, गम्भीर रहनेवाला, किसी से परास्त न होनेवाला, मुख से बजाने योग्य बाजा पसन्द करनेवाला; नाच-गाना, खाने-पीने, स्नान करने, माला पहनने, धूप देने और सुगन्ध धारण करने में प्रेम रखनेवाला हो; लाल वस्त्र धारण करने, बलिकर्म करने, हास्य-विनोद करने, कथा-वार्ता करने और शास्त्रार्थ करने में रुचि रखने वाला हो और जिसके शरीर से उत्तम सुगन्ध निकलती हो उसे गन्धर्वोन्मत्त जानना चाहिए।

असकृत्स्वप्नरोदनहास्यं नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तविप्लुताक्षं द्विजातिवैद्यपरिवादिनं रहस्यभाषिणं च यक्षोन्मत्तं विद्यात्।

(५) यक्षोन्माद का लक्षण—जो उन्माद का रोगी रह-रहकर पुनः-पुनः सोता रहता है, रोता रहता है या हँसता रहता है; नाचने, गीत गाने, बाजा बजाने, स्तोत्र आदि का पाठ करने, कथा कहने, खाने-पीने, स्नान करने, माला धारण करने, धूप जलाने और इत्र आदि सुगन्धों का प्रयोग करने में प्रेम के साथ लगा रहता है, जिसकी आँखें लाल होती हैं और आँसुओं से भरी होती हैं; जो ब्राह्मणों और वैद्यों की निन्दा करता है तथा गोपनीय बातों को भी कहकर प्रकट कर देता है, उसे यक्ष द्वारा उन्मत्त हुआ जानना चाहिए।

नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्यतिबलिनं शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं सन्तर्जकं च राक्षसोन्मत्तं विद्यात्।

(६) राक्षसोन्माद का लक्षण—जो उन्माद का रोगी सोता नहीं हो, खाने-पीने की वस्तुओं से द्वेष करता हो, भोजन न करता हो फिर भी बलवान् हो, जिसे शस्त्र रखना, मांस खाना, लाल माला पहनना पसन्द हो और जो लोगों को डराता-धमकाता रहता हो, उसे राक्षस द्वारा उन्मत्त हुआ जानना चाहिए।

प्रहासनृत्यप्रधानं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिः स्तुतिवेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात्।

(७) ब्रह्मराक्षसोन्माद का लक्षण—जो उन्मादग्रस्त व्यक्ति खूब जोरों से हँसे और खूब नाचे, देवताओं का, ब्राह्मणों का तथा वैद्यों का अपमान करे, जो स्तोत्रों के, वेदमन्त्रों के और शास्त्रों के उदाहरण प्रस्तुत करे एवं अपने ही शरीर पर लाठी डण्डे से मारता रहे उसे ब्रह्मराक्षस द्वारा उन्मत्त जानना चाहिए।

अस्वस्थचित्तं स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं सङ्करकूटमलिनरथ्याचेलतृष्णाश्मकाष्ठाधिरोहणरतिं संभिन्नरूक्षवर्णस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात्॥ २०॥

(८) पिशाचोन्माद का लक्षण—जो उन्मादी सदा बेचैन रहे और उसे कहीं किसी स्थान पर रुकना पसन्द न हो, जो नाचता-गाता और हँसता रहे, जो कभी सम्बद्ध और कभी परस्पर असम्बद्ध बातें करे, जो कूड़े की ढेर पर, ऊँचे टीले पर, गन्दे स्थान पर या सड़क पर, चिथड़ों की ढेर, घास की ढेर, पत्थर

की गिट्टी की ढेर या लकड़ी की ढेर पर बैठना पसन्द करे, जिसकी आवाज फटी-फटी-सी रूखी और टूटे हुए वर्ण-स्वरवाली हो, जो नंगा दौड़ता रहता हो, कहीं एक स्थान पर नहीं बैठता हो, अपने दुःख दूसरों को सुनाता रहता हो और जिसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो गयी हो, उसे पिशाच द्वारा उन्मत्त हुआ जानना चाहिए[1]॥ २०॥

तत्र चौक्षाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति देवाः, स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिवाक्यकुशलं प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां चर्षयः, मातृपितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावास्यायां च पितरः, गन्धर्वाः स्तुतिगीतवादित्ररतिं परदारगन्धमाल्यप्रियं चौक्षाचारं प्रायो द्वादश्यां चतुर्दश्यां च, सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियमतिवाक्प्रवणं प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः, स्वाध्यायतपोनियमोपवासब्रह्मचर्यदेवयतिगुरुपूजाऽरतिं भ्रष्टशौचं ब्राह्मणमब्राह्मणं वा बाह्मणवादिनं शूरमानिनं देवागारसलिलक्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीनसत्त्वं पिशुनं स्त्रैणं लुब्धं शठं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु, इत्यपरिसंख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्याख्याताः॥ २१॥

देवादि ग्रहों के आवेशयोग्य काल और पुरुष—(१) जो व्यक्ति पवित्र आचरणवाला, तपस्या और शास्त्राध्ययन में लीन रहने वाला पण्डित होता है, उसकी तप या अध्ययन विधि की किसी त्रुटि के होने पर प्रायः देवता आदि ग्रह शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को अथवा त्रयोदशी को उनके शरीर में आविष्ट होते हैं। (२) जो व्यक्ति स्नान का अभ्यासी, पवित्र आचरणशील, एकान्तप्रिय, धर्मशास्त्र, वेद एवं वाक्य प्रयोग में कुशल होता है उसकी कोई त्रुटि पाकर ऋषिग्रह प्रायः षष्ठी या नवमी को आविष्ट हो जाते हैं। (३) जो व्यक्ति माता, पिता, गुरुजन, वृद्धजन, सिद्धजन और आचार्यों में भक्ति रखकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं उनकी किसी त्रुटि को पाकर पितृग्रह दशमी या अमावस्या को प्रवेश करते हैं। (४) जो पुरुष देवादि की स्तुति करनेवाले, गीत गानेवाले और वाद्य बजाने में लगे रहनेवाले होते हैं एवं परायी स्त्री, सुगन्ध और माला के प्रेमी होते हैं, फिर भी आचरण के पवित्र होते हैं, किसी छिद्र को पाकर गन्धर्वग्रह प्रायः उनमें द्वादशी या चतुर्दशी को प्रवेश करते हैं। (५) जो पुरुष सत्त्वगुणवाले, बलवान, रूपवान्, गर्वयुक्त, पराक्रमी, माला धारण करनेवाले, चन्दन आदि का अनुलेप करनेवाले, हास-परिहास जिन्हें प्रिय हो, जो बोलने में वाग्मी हों, उनमें कोई छिद्र पाकर यक्षग्रह प्रायः शुक्लपक्ष की एकादशी या सप्तमी को प्रवेश करते हैं। (६) जो पुरुष स्वाध्याय, तपस्या, नियम, उपवास, ब्रह्मचर्य, देवार्चन, साधु-संन्यासी तथा गुरुजनों के पूजन में प्रेम नहीं रखते, दुराचारी होते हैं, वे ब्राह्मण हों या अब्राह्मण परन्तु अपने को ब्राह्मण बतलाते हैं, अपने को शूर-वीर मानते हैं, देवालयों में और जलाशयों में क्रीड़ा करने के प्रेमी होते हैं उन्हें प्रायः शुक्लपक्ष की पञ्चमी या पूर्णिमा को ब्रह्मराक्षस आक्रान्त करते हैं। (७-८) जो पुरुष हीनमनोबल, चुगलखोर, स्त्रियों जैसे शील स्वभाववाले और लोभी होते हैं, राक्षस या पिशाचग्रह अवसर पाकर प्रायः द्वितीया, तृतीया या अष्टमी को आविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अगणित ग्रहों में जो विशेषरूप से प्रकट आठ ग्रह हैं उनका वर्णन यहाँ कर दिया गया॥ २१॥

---

१. आचार्य सुश्रुत ने देवता आदि का आवेश होना नहीं माना है, अपितु वे उन देवादि भूतग्रहों के परिचारकों का शरीर पर आक्रमण मानते हैं; यथा—

न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति,
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात् ते भूतविद्याविषयादपोह्याः।
तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः,
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तमाविशन्ति॥ (सु. उ. ६०)

सर्वेष्वपि तु खल्वेषु यो हस्तावुद्यम्य रोषसंरम्भान्निःशङ्कमन्येष्वात्मनि वा निपातयेत् स ह्यसाध्यो ज्ञेयः; तथा यः साश्रुनेत्रो मेढ्रप्रवृत्तरक्तः क्षतजिह्वः प्रस्रुतनासिकश्छिद्यमानचर्माऽप्रतिहन्यमानवाणिः सततं विकूजन् दुर्वर्णस्तृषार्तः पूतिगन्धश्च स हिंसार्थिनोन्मत्तो ज्ञेयः, तं परिवर्जयेत्॥ २२॥

भूतग्रहोन्माद का असाध्य लक्षण—इन उपर्युक्त सभी उन्माद प्रकारों में जो रोगी हाथों को ऊपर उठाकर क्रोधावेश के कारण विवेकशून्य होकर हाथों को दूसरों के शरीर पर या अपने ही शरीर पर पटकता है उसे असाध्य जानना चाहिए। इसी प्रकार जो आँखों में आँसू भरे होता है, जिसके मूत्रेन्द्रिय से रक्त निकल रहा होता है, जिसकी जीभ कट जाती है, जिसकी नाक से पानी निकलता रहता है, जिसके मर्म स्थान (हृदय-शिर-वस्ति) में काटने जैसी पीड़ा हो रही हो, जिसकी आवाज रुक-रुक निकलती हो, जो सदैव कराहता रहता है, जिसके शरीर का वर्ण विकृत हो गया हो, जो प्यास से तड़प रहा हो और जिसके शरीर से दुर्गन्धि निकल रही हो उसे किसी हिंसार्थी ग्रह द्वारा उन्मत्त हुआ जाने और उसकी चिकित्सा न करे॥ २२॥

उन्माद-चिकित्सा

रत्यर्चनाकामोन्मादिनौ तु भिषगभिप्रायाचाराभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत्॥ २३॥

रति एवं अर्चनार्थी भूत चिकित्सासूत्र—जब कोई ग्रह रति की इच्छा से रोगी में आवेश करता है, तो रोगी के माध्यम से वह रति (संभोग या प्रेम) की कामना प्रकट करेगा और तदनुकूल ही आचार-व्यवहार करेगा। इसी तरह पूजा-अर्चना की इच्छा से कोई ग्रह गृहीत करेगा, तो वह पूजा के नैवेद्य, गन्ध, धूप, आदि की कामना प्रकट करेगा। अतः चिकित्सक को चाहिए कि रोगी की चेष्टाओं से ग्रह के रतिकाम या अर्चनाकाम होने की बात जान ले, फिर उसके अनुसार रतिकाम के लिए रतिविषयक उपहार से तथा अर्चनाकाम के लिए पूजा सामग्री उपहार, बलि, गन्ध, दीप, पुष्प, फल आदि प्रदान कर मन्त्रों के प्रयोग तथा औषधों के प्रयोग से उपचार करे॥ २३॥

तत्र द्वयोरपि निजागन्तुनिमित्तयोरुन्मादयोः समासविस्ताराभ्यां भेषजविधिमनुव्याख्यास्यामः॥

चिकित्सा का उपक्रम—आगे (हम) निज और आगन्तुक दोनों कारणों से होनेवाले दोनों प्रकार के उन्मादों की संक्षेपतः तथा विस्तारपूर्वक चिकित्सा-विधि का उपदेश करेंगे॥ २४॥

उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित्। कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम्॥ २५॥

वातज उन्माद का चिकित्सासूत्र—वात की निरावरण रूपी विशेषता को जाननेवाला चिकित्सक वातज उन्माद में सबसे पहले स्नेहपान कराये, परन्तु यदि कफ तथा पित्त से वात का मार्ग अवरुद्ध हो तो ईषत् स्नेहयुक्त मृदु शोधन (आवश्यकतानुसार वमन या विरेचन) देना चाहिए॥ २५॥

कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम्। स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः॥ २६॥
निरूहं स्नेहवस्तिं च शिरसश्च विरेचनम्। ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत्॥ २७॥

उन्माद में पञ्चकर्म प्रयोग—कफज या पित्तज उन्माद में स्नेहन और स्वेदन करने के बाद कफज में वमन तथा पित्तज में विरेचन देना चाहिए। शोधन हो जाने के पश्चात् हीन, मध्यम और उत्तम शोधन के अनुसार पेया, विलेपी आदि के क्रम से (संसर्जन-क्रम से) पथ्य देना चाहिए। तत्पश्चात् (जब रोगी के शरीर में बल आ जाये, तो उसे पुनः स्नेहन-स्वेदन करके) निरूहवस्ति, अनुवासनवस्ति और शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग करना चाहिए। यदि दोष की अधिकता हो तो दोषाधिक्य के अनुपात से बार-बार वस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ २६-२७॥

हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः। मनःप्रसादमाप्नोति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति॥ २८॥

शोधन की फलश्रुति—वमन आदि पञ्चकर्म के प्रयोगों से हृदय, इन्द्रिय, शिर और कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर मन में प्रसन्नता होती है और वह व्यक्ति (संशोधित होने पर) स्मरणशक्ति-सम्पन्न और विवेकशील हो जाता है॥ २८॥

शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम्। ताडनं च मनोबुद्धिदेहसंवेजनं हितम्॥ २९॥

उन्माद में तीक्ष्ण उपचार—यदि पञ्चकर्म के प्रयोग से शरीर का संशोधन कर देने के बाद भी रोगी अपने होश-हवास और आचरण को व्यवस्थित न रख पाता हो तो उसे तीक्ष्ण नस्य और तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग करायें? यदि फिर भी नियन्त्रित न हो सके तो उसका ताड़न करे तथा मन, बुद्धि एवं शरीर में उद्विग्नता उत्पन्न करना हितकर होता है॥ २९॥

यः सक्तोऽविनये पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः। अपेतलोहकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे॥ ३०॥
तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम्। विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः॥ ३१॥
प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानं च सर्पिषः। प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम्॥ ३२॥

उन्माद रोग में प्रताडन—जो उन्माद का रोगी उद्दण्डतापूर्ण कार्य करने लगे उसे मजबूत कपड़े से बाँधे, किन्तु इसका ध्यान रहे कि बन्धन कष्टदायी न हो और उसे अँधेरे घर में बन्द कर दें। उस घर में लोहा, काठ या ऐसी कोई वस्तु न रहे जिससे वह अपने शरीर पर आघात कर सके। उन्मादी को डाँटना-डपटना चाहिए, उसे परेशान करने का उपाय करे, किसी वस्तु की उसकी विशेष इच्छा हो तो उसे दे, उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे, आश्वासन दे और उसे डराये। उसे आश्चर्यजनक वार्ता या दृश्य का प्रसङ्ग बतलाकर चकित कर दे। इन सब उपायों से उसका मन पूर्व के उन्मादकारक कारणों को भूल जाता है और उसका मन स्वस्थ हो जाता है।

उद्बोधन के उपाय—उन्मादी के शरीर में शीतल सुगन्धित चिकने प्रलेप, उबटन और अभ्यंग लगाने चाहिए तथा धूम्रपान और घृतपान कराना चाहिए। ये उपाय उन्मादी के मन, बुद्धि, स्मृति और उसके होश-हवास को जाग्रत् कर देते हैं॥ ३२॥

सर्पिःपानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः।

आगन्तुक उन्माद का चिकित्सासूत्र—आगन्तुक उन्माद वायुदोष-प्रधान त्रिदोषज होता है, इसलिए उसमें वातशामक घृतपान एवं निरूह एवं अनुवासन वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए तथा मन्त्र-प्रयोग, बलि, उपहार, स्तुतिपाठ आदि करना चाहिए।

वक्तव्य—वस्तुतः आगन्तुक उन्माद में १. युक्तिव्यपाश्रय, २. दैवव्यपाश्रय और ३. सत्त्वावजय—इन तीनों ही चिकित्सा-विधियों का प्रयोग करना श्रेयष्कर होता है।

अतः सिद्धतमान् योगाञ्छृणून्मादविनाशनान्॥ ३३॥

योग कथन का उपक्रम—अब यहाँ से अत्यन्त सफल उन्मादनाशक योग कहे जायेंगे, उन्हें आप सुनें॥ ३३॥

हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम्। चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम्॥ ३४॥

हिंग्वाद्य घृत—हींग, सोंचरनमक, सोंठ, मरिच, पीपर—प्रत्येक दो-दो पल लेकर बारीक पीसकर कल्क बना लें, उसे एक आढक घी तथा चार आढक गोमूत्र में डालकर यथाविधि घी पकायें। यह घृत अनुभवसिद्ध उन्मादनाशक है॥ ३४॥

विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्। स्थिरा नतं रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियङ्गुका॥ ३५॥
नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठादन्तीदाडिमकेशरम्। तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम्॥ ३६॥

विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ। अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैरक्षसमन्वितैः॥ ३७॥
चतुर्गुणे जले सम्यग् घृतप्रस्थं विपाचयेत्। अपस्मारे ज्वरे कासे श्वासे मन्देऽनले क्षये॥ ३८॥
वातरक्ते प्रतिश्याये तृतीयकचतुर्थके। छर्द्यर्शोमूत्रकृच्छ्रेषु विसर्पोपहतेषु च॥ ३९॥
कण्डूपाण्ड्वामयोन्मादविषमेहगदेषु च। भूतोपहतचित्तानां गद्गदानामचेतसाम्॥ ४०॥
शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां धन्यमायुर्बलप्रदम्। अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम्॥ ४१॥
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च।

इति कल्याणकं घृतम्।

कल्याणक घृत—इन्द्रवारुणी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, मेउड़ी का बीज, देवदारु, एलुआ, शालिपर्णी, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, अनन्तमूल, सारिवा (कपुरी), प्रियंगु, नीलकमल, छोटी इलायची, मजीठ, दन्तीमूल, अनारदाना, नागकेसर, तालीसपत्र, बनभण्टा, मालती के नये फूल, वायविडंग, पिठवन, कूठ, लालचन्दन और पद्मकाष्ठ—इन सबका १-१ कर्ष कल्क, १ प्रस्थ घी और ४ प्रस्थ जल डालकर घी का पाक करे। यह 'कल्याणक' नामक घृत अपस्मार, ज्वर, कास, श्वास, अग्निमान्द्य, राजयक्ष्मा, वातरक्त, प्रतिश्याय, तृतीयक ज्वर, चतुर्थक ज्वर, छर्दि (वमन), बवासीर, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, कण्डू, पाण्डुरोग, उन्माद, विषविकार, प्रमेहरोग और भूतोन्माद में विशेष लाभप्रद होता है। जिनकी वाणी रुक-रुक कर निकलती है, जो हीन मनोबलवाले हैं और जो स्त्रियाँ वन्ध्या होती हैं उनके लिए यह वरदान और धन्य है। यह घृत आयु और बल की वृद्धि करता है। शरीर की अलक्ष्मी (कुरूपता), पापरोग, भूत-प्रेत-राक्षस आदि के प्रभाव को नष्ट करता है और सभी प्रकार के ग्रहों के प्रभाव को विनष्ट करता है। यह घृत पुंसवन कर्मों में लाभप्रद होता है॥ ३५-४१॥

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम्॥ ४२॥
रसे तस्मिन् पचेत् सर्पिर्गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे। वीरार्द्रमाषकाकोलीस्वयंगुप्तर्षभर्द्धिभिः॥ ४३॥
मेदया च समैः कल्कैस्तत् स्यात् कल्याणकं महत्। बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम्॥ ४४॥

इति महाकल्याणकं घृतम्।

महाकल्याणक घृत—पूर्व के कल्याणक घृत में जो २८ औषधियाँ हैं, उनमें पहले की ७ औषधियों को छोड़कर शालिपर्णी से लेकर पद्मकाष्ठ तक की २१ औषधों को (प्रत्येक को ९० ग्राम लेकर) मोटा कूटकर (अठगुने जल/लगभग १६ लीटर) जल में (चतुर्थांशावशिष्ट) क्वाथ बनाये। उस क्वाथ में प्रथम बार ब्यायी हुई गाय का घी से चौगुना (४ लीटर) दूध एवं क्षीरकाकोली, हरा आर्द्र उड़द, काकोली, केवाँच का बीज, ऋषभक, ऋद्धि और मेदा समान भाग (प्रत्येक १५ ग्राम) लेकर इनके कल्क डालकर (१ लीटर) घृत का पाक करे। इस प्रकार यह महाकल्याणक घृत बनता है। यह घृत विशेषरूप से बृंहण होता है, मांस को बढ़ाता है तथा सन्निपातज उन्माद को दूर करता है॥ ४२-४४॥

जटिलां पूतनां केशीं चारटीं मर्कटीं वचाम्। त्रायमाणां जयां वीरां चोरकं कदुरोहिणीम्॥ ४५॥
वयःस्थां शूकरीं छत्रामतिच्छत्रां पलङ्कषाम्। महापुरुषदन्तां च कायस्थां नाकुलीद्वयम्॥ ४६॥
कटम्भरां वृश्चिकालीं स्थिरां चाहृत्य तैर्घृतम्। सिद्धं चातुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्॥ ४७॥
महापैशाचिकं नाम घृतमेतद् यथाऽमृतम्। बुद्धिस्मृतिकरं चैव बालानां चाङ्गवर्धनम्॥ ४८॥

इति महापैशाचिकं घृतम्।

महापैशाचिक घृत—जटामांसी, हर्रे, शंखपुष्पी, वभनेठी, केवाँच के बीज, मीठा बच, त्रायमाणा, जयन्ती, क्षीरकाकोली, चोरपुष्पी, कुटकी, ब्राह्मी, वाराहीकन्द, सोवा, सौंफ, गुग्गुलु, शतावर, छोटी इलायची, दोनों नाकुली (दोनों प्रकार की रास्ना), मालकांगनी, वृश्चिकाली (कौवाठोंठी) और सरिवन—इन सब

द्रव्यों को बराबर-बराबर लेकर, उनके क्वाथ तथा कल्क से विधिविधान से घी का निर्माण करे। यह घृत चातुर्थिक ज्वर, उन्माद, ग्रहबाधा और अपस्मार को दूर करता है। यह 'महापैशाचिक' नामक घृत अमृत के समान गुणकारी है। यह बुद्धिवर्धक, स्मृतिप्रद और बालकों के अङ्गों को बढ़ाने वाला होता है॥ ४५-४८॥

वक्तव्य—यहाँ मात्रा नहीं दी गयी है, इसका एक कल्पित मान रख लें—जैसे १ लीटर घी पकाना हो तो उसमें उक्त तेइस द्रव्यों को १२-१२ ग्राम लेकर उनका कल्क डालें और उन्हीं द्रव्यों को ५०-५० ग्राम लेकर १६ लीटर जल में पकायें। जब ४ लीटर बचे तो क्वाथ को छान लें। पुनः उक्त कल्क और क्वाथ को डालकर घी तैयार करें।

लशुनानां शतं त्रिंशदभयास्त्र्यूषणात् पलम्। गवां चर्ममसीप्रस्थो द्व्याढकं क्षीरमूत्रयोः॥ ४९॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थ एभिः सिद्धं प्रयोजयेत्। हिङ्गुचूर्णपलं शीते दत्वा च मधुमाणिकाम्॥ ५०॥
तद्दोषागन्तुसम्भूतानुन्मादान् विषमज्वरान्। अपस्मारांश्च हन्त्याशु पानाभ्यञ्जननावनैः॥ ५१॥

इति लशुनाद्यं घृतम्।

लशुनाद्य घृत—छिले हुए लहसुन १००, हर्रा निर्बीज ३०, सोंठ-मरिच-पीपर तीनों मिलाकर १ पल, गाय के चर्म की राख १ प्रस्थ, गोदुग्ध १ आढक, गोमूत्र १ आढक और पुराना घी १ प्रस्थ—इन सबको एक साथ डालकर घृतपाक विधि से पाक करे और घी तैयार होने पर सावधानी से गरम-गरम ही छानकर रख लें। जब घी ठण्डा हो जाय, तब शुद्ध हींग का बारीक चूर्ण १ पल और मधु १ माणिका (८ पल) डालकर ठीक से मिला ले। इस घृत का पान करने से, मालिश करने से और नस्य लेने से दोषज या आगन्तुज (भूतग्रहज) उन्माद, विषमज्वर और अपस्मार रोग शीघ्र नष्ट होते हैं॥ ४९-५१॥

वक्तव्य—मोतीलाल बनारसीदास द्वारा सन् १९४१ में प्रकाशित चरकसंहिता की चक्रपाणि टीका में लहसुन १०० पल लेने को कहा गया है—'लशुनानां शतमित्यत्र लशुनकन्दानां शतपलमानम्'। इस व्याख्या के अनुसार हर्रे की मात्रा भी ३० पल होनी चाहिए। विचारणीय यह है कि यहाँ घी तो १ प्रस्थ है और उसमें लहसुन और हर्रे का १३० पल कल्क और गोचर्म की राख १ प्रस्थ डालने पर सारा घी कल्क में ही रह जायगा। इसलिए चक्रपाणि की यह व्याख्या व्यावहारिक नहीं प्रतीत होती। दूसरी बात यह है कि चक्रपाणि ने मधु को द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार २ माणिका लेने को कहा है, किन्तु द्रवद्वैगुण्य की परिभाषा कुडव तक ही लागू होती है, जब कि माणिका २ कुडव की होती है—'शुष्कद्रव्येष्विदं मानं द्विगुणञ्च द्रवाद्रयोः। ज्ञातव्यं कुडवादूर्ध्वं प्रस्थादिश्रुतिमानतः' (परिभाषा-प्रदीप, प्रथम खण्ड)। इस प्रकार अधिक मधु मिलाने से इसकी अधिक मीठास लहसुन के प्रभाव को कम कर देगी।

लशुनस्याविनष्टस्य तुलार्धं निस्तुषीकृतम्। तदर्धं दशमूलस्य द्व्याढकेऽपां विपाचयेत्॥ ५२॥
पादशेषे घृतप्रस्थं लशुनस्य रसं तथा। कोलमूलकवृक्षाम्लमातुलुङ्गार्द्रकै रसैः॥ ५३॥
दाडिमाम्बुसुरामस्तुकाञ्जिकाम्लैस्तदर्धिकैः। साधयेत्त्रिफलादारुलवणव्योषदीप्यकैः॥ ५४॥
यवानीचव्यहिङ्ग्वम्लवेतसैश्च पलार्धिकैः। सिद्धमेतत् पिबेच्छूलगुल्मार्शोजठरापहम्॥ ५५॥
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीहयोनिदोषज्वरक्रिमीन्। वातश्लेष्मामयान् सर्वानुन्मादांश्चापकर्षति॥

इत्यपरं लशुनाद्यं घृतम्।

द्वितीय लशुनाद्य घृत—उत्तम गठीले पुष्ट अविकृत लहसुन जिसका छिलका हटा दिया गया हो, उसको आधी तुला (५० पल) लेवे और लहसुन के आधा परिमाण में (२५ पल) मिश्रित कूटा हुआ दशमूल लेकर दोनों को मोटा कूटकर दो आढक जल में क्वाथ करे और चतुर्थांश जल बचे तो क्वाथ को छान ले; फिर उस क्वाथ में एक प्रस्थ घी और एक प्रस्थ लहसुन का रस डाले, साथ ही बेर की पत्ती का रस, मूली का रस, वृक्षाम्ल का रस, बिजौरा नीबू का रस, आदी का रस, अनार का रस, मद्य, दही का पानी और अम्ल काञ्जी, प्रत्येक आधा प्रस्थ डाले और आँवला, हर्रा, बहेड़ा, देवदारु, सेंधानमक, सोंठ,

पीपर, मरिच, जवायन, खुरासानी जवायन, चाभ, हींग और अम्लबेंत—इनमें से प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा पल लेकर कल्क बनाकर डालकर विधिवत् घृत को सिद्ध कर ले और तैयार होने पर गरम-गरम छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत शूल, गुल्म, अर्श और उदर रोगों का नाशक है तथा ब्रध्न, पाण्डु, प्लीहवृद्धि, योनिदोष, ज्वर, क्रिमिरोग, सर्वविध वातज एवं कफज रोग और सभी प्रकार के उन्मादों को दूर करता है॥ ५२-५६॥

हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च सकायस्थवयःस्थया। सिद्धं सर्पिर्हितं तद्वद्वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः॥ ५७॥
केवलं सिद्धमेभिर्वा पुराणं पाययेद् घृतम्। पाययित्वोत्तमां मात्रां श्वभ्रे रुन्ध्याद् गृहेऽपि वा॥

अन्य घृत योग—(१) हींग, हिंगुपत्री, छोटी इलायची और ब्राह्मी—इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कल्क करे, कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना पानी डालकर घृतपाक करे। यह घृत उन्माद में हितकर होता है। इसी तरह (२) ब्राह्मी, हींग तथा चोरपुष्पी के कल्क से तैयार किया गया घृत उन्मादनाशक होता है (३) अथवा केवल पुराना घी उन्माद के रोगी को पिलाना चाहिए या (४) इन्हीं हींग आदि द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी पिलाना चाहिए। इन घृतों की उत्तम मात्रा पिलाकर रोगी को किसी गड्ढे में या किसी कमरे में बन्द कर देना चाहिए॥ ५७-५८॥

वक्तव्य—चक्रपाणि ने यहाँ श्लोक ५७ में तीन योग माना है—जैसे १. हींग और हिंगुपर्णी से सिद्ध, २. कायस्था (छोटी इलायची) और ब्राह्मी से सिद्ध और ३. वयस्था, हींग और चोरपुष्पी से सिद्ध किया हुआ घृत।

विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद् भिषक्। त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद् ग्रहनाशनम्॥ ५९॥
गुणकर्माधिकं पानादास्वादात् कटुतिक्तकम्।

उन्माद में पुराणघृत प्रयोज्य—उन्माद के रोगी को विशेषकर पुराना घृत पिलाना चाहिए; क्योंकि वह त्रिदोषनाक होता है और पवित्र होने से भूतग्रहजन्य उन्माद को नष्ट करता है। वह कटु एवं तिक्त रस वाला होता है। पीने से वह अपने गुणों और कर्मों को अधिक अंश में प्रकट करता है॥ ५९॥

उग्रगन्धं पुराणं स्याद् दशवर्षस्थितं घृतम्॥ ६०॥
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वग्रहापहम्। मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम्॥ ६१॥
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत् स्याद्वर्षशतस्थितम्। दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापहम्॥ ६२॥
अपस्मारग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः। एतानौषधयोगान् वा विधेयत्वमगच्छति॥ ६३॥
अञ्जनोत्सादनालेपनावनादिषु योजयेत्।

पुराण घृत का लक्षण और गुण—दश वर्ष तक रखा हुआ घृत 'पुराणघृत' कहा जाता है। वह गन्ध में उग्र (तीक्ष्ण) हो जाता है।

प्रपुराण घृत—दश वर्ष से अधिक (और सौ वर्ष तक के) घृत को 'प्रपुराण घृत' कहा जाता है। यह लाक्षारस के समान वर्ण का हो जाता है और शीत होता है। वह सभी प्रकार की ग्रहबाधा को मिटाता है, बुद्धि को बढ़ाता है और विरेचन कराने में उत्तम है।

सौ वर्ष का पुराना घी—जो घी सौ वर्ष का पुराना हो गया हो उसके लिए कोई भी रोग असाध्य नहीं होता। वह देख लेने से, स्पर्श कर लेने या नस्य ले लेने से सभी तरह के ग्रहजन्य रोगों को नष्ट करता है। वह घृत विशेषकर अपस्मार के रोगियों तथा भूतोन्माद के रोगियों के लिए विशेष लाभप्रद होता है।

यदि उन्माद के रोगी को इन औषधों का प्रयोग करने पर भी वश में न लाया जा सके तो इन पूर्वोक्त औषध योगों के द्रव्यों का अञ्जन, उबटन, आलेपन और नस्य आदि में प्रयोग करना चाहिए॥ ६०-६३॥

शिरीषो मधुकं हिङ्गु लशुनं तगरं वचा॥ ६४॥
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम्। तद्वद् व्योषं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठा हिङ्गुसर्षपाः॥ ६५॥
शिरीषबीजं चोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्।

उन्माद में नस्य एवं अञ्जन—शिरीष का बीज, मुलहठी, हींग, लहसुन, तगर, बच और कूठ, इन सब द्रव्यों को सम भाग लेकर बकरे के मूत्र में खूब बारीक पीसकर नस्य तथा अञ्जन के रूप में प्रयोग करे। इसी प्रकार सोंठ, मरिच, पीपर, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, हींग, पीली सरसों और शिरीष का बीज, इन सबको समान भाग लेकर बकरे के मूत्र से बारीक पीसकर नस्य और अंजन के रूप में प्रयोग करे। ये दोनों योग उन्माद, ग्रहोन्माद और अपस्मार को नष्ट करते हैं॥ ६४-६५॥

पिष्ट्वा तुल्यमपामार्गं हिङ्वालं हिङ्गुपत्रिकाम्॥ ६६॥
वर्तिः स्यान्मरिचार्धांशा पित्ताभ्यां गोभृगालयोः। तयाऽञ्जयेदपस्मारभूतोन्मादज्वरार्दितान्॥
भूतार्तानमरार्तांश्च नरांश्चैव दृगामये। मरिचं चातपे मासं सपित्तं स्थितमञ्जनम्॥ ६८॥
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृतेः।

अपामार्गाद्यञ्जन—चिचिड़ा के बीज, हींग, हिंगुपत्री और हरताल प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग और मरिच आधा भाग लेकर बारीक पीस ले; फिर गाय के पित्त तथा सियार के पित्त से पीसकर जौ जैसी वर्ती बना ले। जो पुरुष अपस्मार, भूतोन्माद और ज्वर से पीड़ित हों, जिन्हें भूत-प्रेत या देव आदि ग्रह सताते हों अथवा जो नेत्ररोग से ग्रस्त हों उन्हें इस वर्ती का अञ्जन लगाना चाहिए।

इसी प्रकार काली मरिच के महीन चूर्ण में प्रतिदिन गोपित्त एवं सियार का पित्त डालकर तथा घिसकर, धूप में सुखायें और एक महीने तक ऐसा करके तब उसकी वर्ती बनायें। जो व्यक्ति दोषज उन्माद या भूतोन्माद या अपस्मार के कारण जो वस्तु जैसी है उसे वैसी न देखकर छोटा-बड़ा, विकृत रूप, विकृत रंग आदि का देखते हों उन्हें इस वर्ती का अञ्जन लगाना चाहिए॥ ६६-६८॥

सिद्धार्थको वचा हिङ्गु करञ्जो देवदारु च॥ ६९॥
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभीत्वक् कटुत्रिकम्। समांशानि प्रियङ्गुश्च शिरीषो रजनीद्वयम्॥
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम्। नस्यमालेपनं चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा॥ ७१॥
अपस्मारविषोन्मादकृत्यालक्ष्मीज्वरापहः। भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते॥ ७२॥

सिद्धार्थकादि अगद—पीली सरसों, बच, हींग, करञ्ज बीज की मींगी (गुद्दी), देवदारु, मजीठ, आँवला-हर्रा-बहेड़ा का वक्कल, अपराजिता बीज, कण्टकीशिरीष की छाल, सोंठ, मरिच, पीपर, प्रियंगु, शिरीष की छाल, हल्दी और दारुहल्दी—इन सबको समभाग में लेकर कूटकर बकरे के मूत्र से पीस लें। यह सिद्धार्थक नामक अगद है, जिसका पीने में, अञ्जन लगाने में, नस्य लेने में, लेप लगाने में, स्नान करने में और उबटन लगाने में प्रयोग किया जाता है। यह अगद अपस्मार, विषविकार, उन्माद, तान्त्रिक विधि से अनुष्ठान द्वारा किया गया हानिकारक प्रयोग, शरीर की वर्ण सम्बन्धी विकृति और ज्वर को दूर करता है। इसका प्रयोग करने से भूत-प्रेत आदि से होने वाला भय नहीं होता और इसका आलेपनकर राजदरबार में जाना कार्यसाधक होता है॥ ६९-७२॥

सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत्। प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्तिं कृतां पिबेत्॥ ७३॥
वैरेचनिकधूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिङ्गुभिः।

सिद्धार्थक घृत—पूर्वोक्त सिद्धार्थक अगद के द्रव्यों के कल्क और गोमूत्र के साथ पकाया गया घृत भी उक्त अगद की तरह लाभकारी और कार्यकर होता है।

धूमपान—उन्माद के रोगी के मुख से लार टपकती हो या पीनस (जीर्ण प्रतिश्याय) रोग हो तो (ज्वरचिकित्सा में पठित अगुर्वादिगणोक्त) गन्ध द्रव्यों की धूम्रवर्ति बनाकर उसका पान करे या वैरेचनिक

धूम प्रकरण (च. सू. ५) में कथित श्वेता आदि (अपराजिता, मालकांगनी, हरताल, मनःशिला) के साथ हींग मिलाकर धूम्रवर्ति बनाकर पान करे॥ ७३॥

शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकबस्तजैः॥ ७४॥
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च। सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत्॥ ७५॥
वातश्लेष्मात्मके प्रायः; पैत्तिके तु प्रशस्यते। तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः॥
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि मृदूनि च।

वात-श्लेष्मज उन्माद में प्रतिकर्म—वात-कफज उन्माद में साही, उल्लू, बिलार, सियार, भेड़िया और बकरा—इनके मूत्र, पित्त, मल, लोम, नख और चमड़े से (जिससे जैसी सुविधा हो) रोगी के ऊपर जल छिड़कना या स्नान कराना (परिषेक), अञ्जन लगाना, प्रधमन नस्य देना और धूम देना—यह सब प्रायः करते रहना चाहिए।

पित्तज उन्माद में प्रतिकर्म—पित्तज उन्माद में (कुष्ठ चिकित्सा—च.चि. ७ में पठित) महातिक्तक घृत, (वातरक्त चिकित्सा—च. चि. २९ में पठित) जीवनीय घृत तथा (गुल्मचिकित्सा—च.चि. ५ में पठित) मिश्रक स्नेह का सेवन करना श्रेष्ठ लाभप्रद होता है और शीतल, मधुररस प्रधान एवं मृदु अन्नपान का प्रयोग करना श्रेष्ठ रहता है॥ ७४-७६॥

शङ्खकेशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक्सिराम्। उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च॥ ७७॥

उन्माद में सिरावेध—उन्माद, विषमज्वर और अपस्मार रोग में शल्यकर्मविद् चिकित्सक शंखप्रदेश और केशान्त देश के सन्धिप्रदेश में स्थित सिरा का वेधन करे॥ ७७॥

घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्थापयेत्सुखम्। त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रमुच्यते॥ ७८॥

उन्माद में घृत एवं मांस का सेवन—उन्माद से ग्रस्त रोगी को भरपेट (पुराना) घी और मांस खिलाकर वायुरहित स्थान में आराम से सुलायें। ऐसा करने से उसकी बुद्धि का विभ्रंश तथा स्मृतिविभ्रंश ठीक होकर वह पुनः समुचित ज्ञानसम्पन्न हो जाता है और उन्माद रोग से मुक्त हो जाता है॥ ७८॥

आश्वासयेत् सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः। ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा॥ ७९॥

उन्माद में आश्वासन—उन्माद के रोगी का कोई शुभचिन्तक मित्र धर्म और अर्थ से संयुक्त मधुर वचनों से उसे आश्वासन दे अथवा उसके किसी प्रिय सम्बन्धी की मृत्यु का समाचार सुनाये अथवा आश्चर्य में डाल देने वाले विलक्षण चमत्कार दिखाये॥ ७९॥

बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद्वोत्तानमातपे। कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत्॥ ८०॥
कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे। रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य तथा शमम्॥

उन्माद में कष्ट देना और ताडन करना—उन्माद के रोगी के शरीर को सरसों के तैल की मालिश कर तर-बतर कर दे और उसे उत्तान लिटाकर हाथ और पैर कपड़े की पट्टी से बाँधकर धूप में सुला दे; फिर उसके शरीर पर केवाँच की फली या तपाया हुआ लोहा या गरम जल से स्पर्श कराये। (केवाँच के स्पर्श से खूब खुजली पैदा होती है, सरसों का तैल लगाकर धूप लगाने से शरीर में चुनचुनाहट होती है और गरम चीज़ों का स्पर्श कराने से अकस्मात् मन की वृत्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं। अतएव इन क्रियाओं का निर्देश किया गया है)। अथवा उन्मादं के उपद्रवी रोगी को कपड़े से हाथ-पैर बाँधकर, कपड़े के कोड़े से मार-मार कर निर्जन एकान्त कमरे में बन्द कर दें। ऐसा करने से उसका भ्रमग्रस्त मन शान्त हो जाता है॥ ८०-८१॥

सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम्। त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा॥ ८२॥
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्। त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया॥ ८३॥

उन्माद में भय और त्रास देना—उन्माद के रोगी के सामने विषदन्तविहीन साँप प्रकट कर अथवा पालतू शिक्षित सिंहों या हाथियों या हाथों में शस्त्र धारण किये हुए कृत्रिम चोरों अथवा शत्रुरूपधारी पुरुषों द्वारा डरवाना चाहिए। अथवा बनावटी पुलिस की वर्दी पहने कृत्रिम पुलिस उसे बाँधकर वश में करके गृह-नगर से बाहर ले जाकर उसे डराते और धमकाते हुए यह कहे कि राजा की आज्ञा से तुम्हें जान से मार डाला जायगा॥ ८२-८३॥

देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं स्मृतम्। तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः॥ ८४॥

उन्माद में प्राणभय दिखाने में युक्ति—शरीर को कष्ट देने वाले जितने प्रकार के भी भय होते हैं, उनमें प्राण निकलने का भय सबसे अधिक कष्टदायक होता है और इस भय के उत्पन्न होने से रोगी का विक्षुब्ध और विचलित हुआ मन शान्त और एकाग्र हो जाता है॥ ८४॥

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते। तस्य तत्सदृशप्राप्तिसान्त्वाश्वासैः शमं नयेत्॥ ८५॥

उन्माद में सान्त्वना और आश्वासन—यदि किसी व्यक्ति का कोई प्रिय व्यक्ति या प्रिय वस्तु विनष्ट होने से मन उद्विग्न और उन्मत्त हो जाये, तो उसे उस विनष्ट वस्तु के सदृश वस्तु देकर, उसे सान्त्वना और आश्वासन देकर उसके मन को शान्त करना चाहिए॥ ८५॥

कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान्। परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत्॥ ८६॥

उन्माद में मनोविकारों में प्रतिद्वन्द्विता लाना—जब काम-शोक-भय-क्रोध-हर्ष-ईर्ष्या और लोभ के कारण उन्माद उत्पन्न हुआ हो, तो इनके प्रतिद्वन्द्वी भावों को जगाकर उन्माद को शान्त करना चाहिए, जैसे कामज को क्रोध उत्पन्न कर, क्रोधज को काम उत्पन्न कर, शोकज को हर्ष उत्पन्न कर, हर्षजन्य को शोक उत्पन्न कर, ईर्ष्याजन्य को लोभ उत्पन्न कर और लोभज उन्माद को ईर्ष्या उत्पन्न कर शान्त करना चाहिए॥ ८६॥

बुद्ध्वा देशं वयः सात्म्यं दोषं कालं बलाबले। चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे भूतदोषजे॥ ८७॥

भूतज या दोषज उन्माद में देशादि ज्ञानपूर्वक चिकित्सा—वात-पित्त-कफजन्य अथवा देवादि भूतजन्य उन्मादों में देश, रोगी की आयु, रोगी के लिए अनुकूलता, दोषप्रकोप, रोगप्रकोपक काल, रोग और रोगी की सबलता और निर्बलता—इन सब बातों को जानकर पूर्वोक्त चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८७॥

देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य बुद्धिमान्। वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च॥ ८८॥
सर्पिष्पानादि तस्येह मृदु भैषज्यमाचरेत्। पूजां बल्युपहारांश्च मन्त्राञ्जनविधींस्तथा॥ ८९॥
शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च। वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत्।

देवादिजन्य भूतोन्माद में तीक्ष्णकर्म का निषेध—बुद्धिमान् वैद्य देव, ऋषि, पितृ और गन्धर्व के द्वारा उत्पन्न किये गये उन्माद में तीक्ष्ण अञ्जन, नस्य, लेप, ताडन और त्रासन आदि कर्म न करे; अपितु घृतपान आदि तथा मृदु औषधियों का प्रयोग करना चाहिए एवं पूजा, बलि, उपहार, मन्त्रजप, मृदु अञ्जन, शान्तिपाठ, यज्ञ, हवन, स्वस्त्ययनपाठ, वेदोक्त नियम, व्रत और प्रायश्चित्त आदि का पालन करना चाहिए॥ ८८-९०॥

भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम्। पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम्॥ ९१॥
रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये। तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यः प्रमुच्यते॥ ९२॥
बलिभिर्मङ्गल्यैर्होमैरोषध्यगदधारणैः। सत्याचारतपोज्ञानप्रदाननियमव्रतैः॥ ९३॥
देवगोब्राह्मणानां च गुरूणां पूजनेन च। आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा॥ ९४॥

आगन्तुक उन्माद में दैवव्यपाश्रय उपचार—सर्वभूताधिपति समस्त संसार के स्वामी परमेश्वर की (शिव की) नित्य सावधानी के साथ पूजा करने वाला व्यक्ति उन्माद के भय पर विजय प्राप्त कर लेता

है। बलि वैश्वदेव करने से, माङ्गलिक कर्मों से, हवन करने से, ओषधि और विषघ्न अगद द्रव्यों के धारण करने से, सत्य भाषण, सदाचार, तपस्या, ज्ञानोपार्जन, दान, नियम-व्रत के पालन करने से, देवता-गौ-ब्राह्मण और गुरुजनों की पूजा करने से, सिद्धमन्त्रों तथा सिद्ध औषधों के प्रयोग से आगन्तुक उन्माद शान्त हो जाता है॥ ९१-९४॥

यच्चोपदेक्ष्यते किञ्चिदपस्मारचिकित्सिते। उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः॥ ९५॥

उन्माद में अपस्मारवत् चिकित्सा—यद्यपि उन्माद और अपस्मार इन दोनों के निदान और दूष्य एक समान होते हैं, इसलिए आगे अपस्मार रोग की चिकित्सा (च. चि. १०) में जो कुछ कहा जायेगा, वह सब चिकित्सा प्रकार उन्माद में भी अपनाना चाहिए॥ ९५॥

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः। निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते॥ ९६॥

सदाचार से उन्माद का प्रतिरोध—जो दृढ़मनोबल-सैम्पन्न सत्त्वसार व्यक्ति मांसभक्षण और मद्यपान से विरत होकर हितकर आहार करता है, सदैव सावधान रहता है और पवित्रतापूर्वक रहता है, वह निज (दोषजन्य) तथा आगन्तुक (देवादिजन्य) उन्मादों से ग्रस्त नहीं होता है॥ ९६॥

प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा। धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम्॥ ९७॥

उन्माद मुक्त का लक्षण—सभी इन्द्रियार्थों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) का समुचित रूप से ग्रहण होना और उनकी निर्मलता तथा बुद्धि, आत्मा एवं मन की प्रसन्नता के साथ-साथ सभी धातुओं (वातादि दोषों) का अपने स्वाभाविक रूप में रहना—ये लक्षण रोगी के उन्मादमुक्त होने के सूचक हैं॥ ९७॥

तत्र श्लोकः—

उन्मादानां समुत्थानं लक्षणं सचिकित्सितम्। निजागन्तुनिमित्तानामुक्तवान् भिषगुत्तमः॥ ९८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने उन्मादचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अध्याय का उपसंहार—इस उन्माद चिकित्साध्याय में वैद्यों में श्रेष्ठ आचार्य पुनर्वसु ने सभी प्रकार के उन्मादों के कारण, लक्षण और निज (शारीरदोषोत्थ) तथा आगन्तुक कारणों से उत्पन्न उन्मादों की चिकित्सा का उपदेश किया है॥ ९८॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'उन्मादचिकित्सित' नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ९॥

उन्मादचिकित्सा-क्रमबोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्य-आहार-विहार
वातज उन्माद में—स्नेहपान। कफ या पित्त से आवृत मार्ग में—स्नेहयुक्त मृदु शोधन। कफज में वमन, पित्तज में विरेचन, तदनन्तर संसर्जन क्रम से पथ्य दें। आवश्यकतानुसार—निरूहवस्ति, अनुवासन-वस्ति और शिरोविरेचन दें। शोधन के बाद भी यदि रोगी उद्धत बना रहे और उसका होशहवास ठीक न हो, तो तीक्ष्ण नस्य, अञ्जन, ताडन तथा अन्य उद्विग्नताजनक उपाय करें। उद्धत रोगी का हाथ-पैर कपड़े से बाँधकर किसी अँधेरे घर में बन्द कर दें, जिसमें कोई घातक हथियार या लोहा या पत्थर या काष्ठ न हो। रोगी को या तो डरायें, धमकायें या इच्छित वस्तु दें, प्रसन्न रखें, सान्त्वना दें और आश्चर्यचकित करें। रोगी के मन, बुद्धि और स्मृति को ठीक करने के लिए प्रलेप, उबटन, मालिश और धूम्रपान करायें। शंख प्रदेश और केशान्त सन्धि में सिरावेध करना चाहिए। शरीर में कड़वे तैल की मालिश कराकर, धूप में उत्तान सुला दें और केवाँच की फली या गरम लोहे का शरीर में स्पर्श करायें। अथवा—कपड़े के कोड़े से मार-मार कर हाथ-पैर बाँध कर एकान्त घर में डाल दें। विष के दाँत तोड़कर उन निर्विष सर्पों से, शिक्षित सिंहों, हाथियों या कृत्रिम चोरों या शत्रुओं से डरायें। अथवा—नकली पुलिस उन्मादी को बाँधकर ग्राम से बाहर ले जाकर यह कहे कि तुझे फाँसी की सजा हो गयी है। यदि किसी प्रियवस्तु के विनष्ट हो जाने के कारण उन्माद हुआ हो, तो रोगी को कोई उस विनष्ट वस्तु जैसी दूसरी वस्तु देकर सान्त्वना और आश्वासन दें। काम-शोक-भय-क्रोध-हर्ष या ईर्ष्या से उत्पन्न हुए उन्माद में एक भाव के विपरीत दूसरे भाव उत्पन्न करना चाहिए। जैसे काम में क्रोध या शोक में हर्ष आदि।	हिंग्वादिघृत, कल्याणघृत, महा कल्याणघृत, महापैशाचिकघृत तथा लशुनाद्यघृत का प्रयोग करे। हिंगु-हिंगुपर्ण्यादि घृत, पुराण घृत या प्रपुराणघृत का सेवन करे। शिरीषादि नस्य या अञ्जन व्योषादि नस्याञ्जन, अपामार्गाद्यञ्जन और मरिचाद्यञ्जन का प्रयोग करे। सिद्धार्थक अगद—इसका पान नस्य, अञ्जन, लेपन, स्नान, अभ्यंग और उबटन में प्रयोग करे। अगुर्वादि गन्धद्रव्यगण से निर्मित धूम्रवर्ति का प्रयोग करे। वातकफजोन्माद में—साही, उल्लू, बिलार आदि के पित्त, विष्ठा, रोम, मूत्र, नख या त्वचा से यथायोग्य निर्मित स्नान, अञ्जन, नस्य एवं धूम्र का प्रयोग करे। (पित्तोन्माद में—(कुष्ठाधिकारोक्त) महातिक्तक घृत (वातरक्त कथित) जीवनीय घृत और (गुल्मपठित) मिश्रक स्नेह का प्रयोग करे। भूतोन्माद में—दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करे। जैसे—बलि, मंगलपाठ, हवन, उपहार, यज्ञ, शान्तिकर्म और स्वस्त्ययनपाठ आदि कराना चाहिए। शिव की पूजा, उनके गणों की पूजा, देवता-गौ-ब्राह्मणों की पूजा, सत्यवचन, सदाचार से रहना, व्रत आदि का पालन लाभप्रद होता है। देवोन्माद में क्रूरकर्म-निषेध। देवता-ऋषि-पितृ और गन्धर्व ग्रह से उत्पन्न उन्माद में क्रूरकर्म जैसे—तीक्ष्ण अञ्जन, तीक्ष्ण नस्य आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।	पुराना गेहूँ, लाल अगहनी का चावल, साठी का चावल, मूँग की दाल, धारोष्ण गो दुग्ध, घृत, परवर, लौकी, बथुआ, चौलाई, नारियल, आम आदि मृदुवीर्य पदार्थों का सेवन पथ्य है। मांसभक्षी रोगी के लिए—जंगली, मेध्य पशु-पक्षियों का मांस रस, कछुए का मांस और कोयल का मांस विशेष पथ्य है।

अथ दशमोऽध्यायः

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'अपस्मारचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—उन्माद रोग के साथ ही अपस्मार रोग की उत्पत्ति कही गयी है, इसलिए उन्माद के बाद अपस्मार का वर्णन किया जा रहा है। इस रोग में पूर्व के अनुभवों से उत्पन्न स्मृतिरूप ज्ञान नष्ट हो जाता है, इसलिए इस रोग का नाम अपस्मार है, जो अन्वर्थक है।

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः। तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसम्प्लवात् ॥ ३ ॥

अपस्मार शब्द का निर्वचन—भिषग् विद्या के विद्वान् लोग स्मरणशक्ति के नाश को अपस्मार नाम से पुकारते हैं। इस रोग में रोगी की बुद्धि और मन में विभ्रम (ज्ञान की विपरीतता या आँधी-तूफान की स्थिति) होने से रोगी की आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, वह आँखें नचाने लगता है, हाथ-पैर पटकने लगता है, उसका शरीर काँपने लगता है, वह मुख से फेन या गाज फेंकता है, इस तरह वह अनेक बीभत्स (घृणाजनक) चेष्टाएँ करने लगता है ॥ ३ ॥

विभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजनात्। रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृत्ते हृदि ॥ ४ ॥
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा। मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्तते ॥ ५ ॥

अपस्मार का निदान—अहितकर और अपवित्र भोजन करने के कारण जिनके दोष बहुत अधिक बढ़कर उन्मार्गगामी हो जाते हैं और रज एवं तम, ये दोनों मानस दोष बढ़कर सत्त्वगुण को दबा देते हैं तथा हृदय दूषित वातादि दोषों से व्याप्त हो जाता है तब चिन्ता, कामवासना, भय, क्रोध, शोक और उद्वेग आदि मनोविकारों से मन पर आघात होने से अपस्मार रोग हो जाता है ॥ ४-५ ॥

धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि। सम्पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥ ६ ॥
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि। जिह्वाऽक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥
दोषवेगे च विगते सुप्तवत् प्रतिबुद्धयते।

अपस्मार की सम्प्राप्ति और उसका पूर्वरूप—धमनियों से आये हुए दोष हृदय में आश्रय बनाकर हृदय को पीड़ित करते हैं और हृदय की पीड़ा से रोगी व्यथित हो जाता है, वह संज्ञा-चेतना शून्य, विमूढ़ हो जाता है। उसका मन भ्रमित हो जाता है, जिसके कारण उसे अविद्यमान रूप आँखों के सामने दीखने लगते हैं। वह लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, जीभ, नेत्र और भौंहों में फड़कन होने लगती है, उसके मुख से लार टपकने लगती है, वह हाथ-पैर फेंकता रहता है और जब दोष का वेग समाप्त हो जाता है तब उसे चेतना आती है तथा वह ऐसा अनुभव करता है जैसे वह सोकर जग रहा है ॥ ६-७ ॥

सम्प्राप्तिः

चिन्ता, शोक आदि एवं काम, क्रोध आदि → वात-पित्त-कफ प्रकोप रज-तम प्रकोप → हृदय(मस्तिष्क)स्थ
↓
संज्ञावाही स्रोत पूर्णता
↓
स्मृतिविनाश
↓
तमः प्रवेश एवं बीभत्स चेष्टायुक्त आवेग
↓
अपस्मार रोग

दोष : (१) वातादि शारीर एवं (२) रज तथा तम मानस दोष
दूष्य : स्मृति (ज्ञान सामान्य)
अधिष्ठान : हृदय (मस्तिष्क) एवं संज्ञावाही स्रोतस्

वक्तव्य—यहाँ हृदय शब्द से वक्षःस्थ पेशीमय हृदय का ग्रहण करना उचित नहीं प्रतीत होता। अपितु आज्ञाचक्रान्तराल में स्थित ब्रह्महृदय का ग्रहण करना चाहिए। मन और मनोवह दश धमनियों का स्थान हृदय कहा है, वह भी मस्तिष्कस्थ ही है, क्योंकि उसी से मनोवाही धमनी के बारह जोड़े (Twelve pairs of cranial nerves) निकलते हैं, मांसपेशीमय हृदय से नहीं। इसी अभिप्राय से आचार्य भेल ने (जिस मन को हृदयस्थ कहा जाता है, उस) मन को मस्तिष्क माना है—'शिरस्तालवन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः' (भेल. चि.)। कविराज गणनाथ सेन ने भी मन का स्थान ब्रह्महृदय को ही माना है—'आज्ञाचक्रं नाम आज्ञाकन्दद्वयवेष्टितो ब्रह्मगुहांशः, तन्मनसोऽधिष्ठानमिति योगिनः' (प्रत्यक्षशारीर तृ. ख. अ. १२)।

अपस्मार मानसिक व्याधि है। यह रोग चिन्ता, काम, क्रोध, शोक तथा उद्वेग जैसे मानसिक कारण तथा शिरोऽभिघात अथवा मस्तिष्कावरणशोथ, मस्तिष्कगत रक्तस्राव तथा मस्तिष्कार्बुद जैसे कारणों से सत्त्वगुण की हीनता तथा रज और तम की वृद्धि होने पर होता है। हीन मनोबल वाले व्यक्तियों को यह रोग अधिकांशतः होता है। उक्त कारणों से प्रकुपित हुए दोष मस्तिष्क, मस्तिष्कगत इन्द्रियाधिष्ठानों तथा वातनाड़ियों में आश्रित होकर अपस्मार को उत्पन्न करते हैं।

यह रोग प्रायः बाल्यावस्था से ही होने लग जाता है। इस रोग को वंशपरम्परागत रूप से होते हुए पाया जाता है। योषापस्मार या तत्सदृश अन्य वातज रोगों से ग्रस्त माता-पिता के बालकों में यह रोग बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है और अवस्थानुसार अपना पूर्णरूप धारण कर लेता है।

यह रोग १. साधारण और २. उग्र भेद से दो तरह का होता है। **साधारण**—अपस्मार के साधारण आक्रमण से रोगी कुछ क्षण के लिए अचेत हो जाता है, वह बोल नहीं पाता और उसकी पुतलियाँ फैल जाती हैं, शिर लटक जाता है। कदाचित् मूत्रोत्सर्ग हो जाता है। स्मृति और चेतना लुप्त हो जाती है। फिर कुछ देर के बाद होश आने लगता है और रोगी की चेतना लौट आती है। **उग्र**—अपस्मार के तीव्र आक्रमण को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—१. प्रथमावस्था—इस अवस्था में रोगी को अचानक दुर्बलता होती है, शिर में चक्कर, सुस्ती और तन्द्रा की स्थिति हो जाती है। २. द्वितीयावस्था—इसमें आँखों

के सामने चिनगारी छूटती है। मुख, गले और आँखों की पेशियों के साथ सम्पूर्ण शरीर की पेशियों में संकोच होने लगता है। मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। रोगी चेतनाशून्य होकर गिर पड़ता है। श्वासनलिका के संकोच से श्वासावरोध जैसी स्थिति हो जाती है। गले में अव्यक्त ध्वनि होती है, मुख से झाग निकलता है। चेहरे पर झाईं छा जाती है, रोगी मल-मूत्रत्याग कर देता है और यह स्थिति ४-६ मिनट तक बनी रहती है। ३. तृतीयावस्था—इसमें पेशियाँ शिथिल होने लगती हैं। श्वासावरोध दूर होने लगता है। बार-बार आक्षेप आता है, रोगी हाथ-पैर पटकने लगता है। ४. चतुर्थावस्था—इस अवस्था में आक्षेप आना बन्द हो जाता है। झाग नहीं आता और होश आ जाने पर वह ऐसा अनुभव करता है जैसे वह सोने के बाद जगा हो।

पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः॥ ८॥

अपस्मार के प्रकार—अलग-अलग १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज और ४. सन्निपातज भेद से अपस्मार चार प्रकार का कहा जाता है॥ ८॥

कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि। परुषारुणकृष्णानि पश्येद् रूपाणि चानिलात्॥ ९॥

वातज अपस्मार का लक्षण—वातदोष के कारण उत्पन्न अपस्मार का रोगी काँपता रहता है, दातों को किटकिटाता है, मुख से झाग निकालता है, जल्दी-जल्दी श्वास लेता है और रूखे लाल या काले वर्ण के रूपों को देखता है॥ ९॥

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग् रूपदर्शनः। सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः॥ १०॥

पित्तज अपस्मार का लक्षण—पित्तज अपस्मार के रोगी के मुख से पीली झाग निकलती है, उसका शरीर, मुख और आँखें पीली होती हैं। उसे प्यास अधिक लगती है और शरीर में उष्णता रहती है। रोग का वेग आते समय वह संसार को आग की लपटों से घिरा हुआ देखता है॥ १०॥

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतो हृष्टाङ्गजो गुरुः।
पश्यञ्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात्॥ ११॥

कफज अपस्मार का लक्षण—कफज अपस्मार के रोगी के मुख का फेन, उसका शरीर, मुख और आँखें श्वेत होते हैं। उसका शरीर शीतल और भारी होता है। उसे रोमाञ्च होता है। वह वेगारम्भ के समय अनेक श्वेत वर्ण के रूपों को देखता हुआ बेहोश होता है और विलम्ब से होश में आता है॥ ११॥

सर्वैरेतैः समस्तैस्तु लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः। अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः॥ १२॥

सन्निपातज अपस्मार का लक्षण और असाध्यता—जिस रोगी में ये उपर्युक्त सभी लक्षण दिखलायी पड़ें उसे त्रिदोषज अपस्मार जानना चाहिए; और वह असाध्य होता है। यदि किसी क्षीण व्यक्ति को अपस्मार हो या बहुत पुराना अपस्मार हो, तो वह भी असाध्य होता है॥ १२॥

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिताः मलाः। अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम्॥ १३॥

अपस्मार के वेग का काल—प्रकुपित वात आदि दोष १-१ पक्ष (१५-१५ दिन) पर या १२-१२ दिन पर अथवा १-१ माह पर अपस्मार के वेग को उत्पन्न करते हैं और कदाचित् उक्त अवधि के बीच में भी वेग उत्पन्न कर देते हैं॥ १३॥

तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां सम्प्रबोधनम्। तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात् कर्मभिर्वमनादिभिः॥ १४॥
वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः। श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्॥ १५॥

अपस्मार का चिकित्सा सिद्धान्त—सर्वप्रथम वैद्य को चाहिए कि दोषों द्वारा अवरुद्ध या व्याप्त हृदय, स्रोत तथा मन को खोलने एवं चेतन बनाने के लिए वमन-विरेचन और वस्ति तथा तीक्ष्ण नस्य, अञ्जन आदि के द्वारा उपचार करे।

वातज अपस्मार को वस्ति प्रयोगों द्वारा, पित्तज अपस्मार को विरेचन योगों से और कफज अपस्मार को वमनों द्वारा प्रायः उपचार करना चाहिए॥ १४-१५॥

सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य। अपस्मारविमोक्षार्थं योगान् संशमनाञ्छृणु॥ १६॥

संशमन योगों का उपक्रम—यथायोग्य समुचित रूप से शोधन कर लेने के बाद रोगी को आरोग्य लाभार्थ अच्छी तरह आश्वासन देकर अपस्मार को दूर करने के लिए जो संशमन योग उपयुक्त होते हैं, उन्हें आप सुनें॥ १६॥

गोशकृद् रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्। सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम्॥ १७॥
इति पञ्चगव्यं घृतम्।

पञ्चगव्य घृत—गाय के गोबर का रस, गाय की खट्टी दही, गाय का दूध, गाय का मूत्र और गाय का घी बराबर-बराबर लेकर एक साथ पकायें। अपस्मार, कामला और ज्वर को नष्ट करने वाले इस घृत का अपस्मार रोगी सेवन करे॥ १७॥

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफला रजन्यौ कुटजत्वचम्। सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम्॥ १८॥
शम्पाकं फल्गुमूलं च पौष्करं सदुरालभम्। द्विपलानि जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते॥ १९॥
भार्गीं पाठां त्रिकटुकं त्रिवृतां निचुलानि च। श्रेयसीमाढकीं मूर्वां दन्तीं भूनिम्बचित्रकौ॥ २०॥
द्वे सारिवे रोहिषं च भूतीकं मदयन्तिकाम्। क्षिपेत् पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि तेन प्रस्थं घृतात्पचेत्॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैश्च तत्समैः। पञ्चगव्यमिति ख्यातं महत्तदमृतोपमम्॥ २२॥
अपस्मारे तथोन्मादे श्वयथावुदरेषु च। गुल्मार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके॥ २३॥
शस्यते घृतमेतत्तु प्रयोक्तव्यं दिने दिने। अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थकविनाशनम्॥ २४॥
इति महापञ्चगव्यं घृतम्।

महापञ्चगव्य घृत—दोनों पञ्चमूल (लघु पञ्चमूल और वृहत् पञ्चमूल—सरिवन, पिठवन, बनभण्टा, भटकटैया, गोखरू, बेल की गुद्दी, गम्भार की छाल, पाढल की छाल, अरनी की छाल और सोनापाठा की छाल), आँवला, हर्रा, बहेड़ा, हल्दी, दारुहल्दी, कोरया की छाल, छितवन की छाल, चिचिड़ा की जड़, नील की जड़, कुटकी, अमलतास की गुद्दी, गूलर की जड़, पोहकरमूल और धमासा—प्रत्येक दो-दो पल लेकर धो-साफकर भूसा की तरह कूटकर १ द्रोण जल में क्वाथ करे और चतुर्थांश बचे तो उतार कर छान ले। फिर भारंगी, पाठा, सोंठ, पीपर, मरिच, निशोथ, बेंत की छाल, रास्ना (या गजपीपर), अरहर की जड़, मूर्वा, दन्ती का मूल, चिरायता, चित्रक, अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, रोहिष घास, गन्धतृण और मेंहदी का फूल—प्रत्येक एक-एक कर्ष लेकर चटनी की तरह पीसकर कल्क बना लें और उपर्युक्त क्वाथ में मिला लें तथा उसमें गाय का घी, गाय के गोबर का रस, गाय के दूध की खट्टी दही, गोदुग्ध और गोमूत्र—प्रत्येक १-१ प्रस्थ डालकर मन्द आँच पर पका लें और पक जाने पर छान कर रख लें। यह महापञ्चगव्य घृत बहुत प्रसिद्ध अमृत के समान उपयोगी और लाभप्रद होता है। यह अपस्मार, उन्माद, शोथ, उदर रोग, गुल्म, अर्श, पाण्डु, कामला और हलीमक रोग में प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए। यह घृत शरीर की अलक्ष्मी (कुरूपता), ग्रहबाधाजन्य रोग तथा चातुर्थकज्वर को विनष्ट करता है॥ १८-२४॥

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च। पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपापनुत्॥ २५॥

ब्राह्मीघृत—बच, कूठ और शंखपुष्पी इनका कल्क घी का चतुर्थांश और ब्राह्मी का स्वरस अथवा क्वाथ घी से चौगुना डालकर पुराना घृत पकावे। यह घृत उन्माद, अलक्ष्मी (कुरुपता) और अपस्मार तथा पापजन्य रोगों को दूर करता है॥ २५॥

घृतं सैन्धवहिङ्गुभ्यां वार्षे बास्ते चतुर्गुणे। मूत्रे सिद्धमपस्मारहृद्ग्रहामयनाशनम्॥ २६॥

सैन्धवादि घृत—सेंधानमक और हींग बराबर लेकर कल्क करे और इनके वजन से चौगुना घी तथा घी से चौगुना बैल का मूत्र और उतना ही बकरे का मूत्र डालकर विधिवत् घृतपाक करे। यह घृत हृदयरोग, अपस्मार तथा ग्रहबाधाजन्य रोगों को दूर करता है॥ २६॥

वक्तव्य—यहाँ बैल का मूत्र डालने का विधान किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ पित्तप्रधान होती हैं इसलिए गाय का मूत्र अधिक तीक्ष्ण हो जाता; जब कि इस घृत को उतना तीक्ष्ण बनाना अभीष्ट नहीं है, अपितु सौम्य बनाना है। पुरुष सौम्य होता है, अतएव यहाँ बैल का मूत्र लेने के लिए कहा गया है।

वचाशम्पाककैटर्यवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः। सिद्धं पलङ्कषायुक्तैर्वातश्लेष्मात्मके घृतम्॥ २७॥

वचादि घृत—मीठा वच, अमलतास की गुद्दी, बकायन की छाल, ब्राह्मी, हींग, चोरपुष्पी और गुग्गुलु—इनके मिश्रित चतुर्थांश कल्क और चौगुना जल डालकर विधिवत् घृत का पाक करे। यह घृत वात-कफजन्य अपस्मार में लाभप्रद होता है॥ २७॥

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः। क्षीरद्रोणे पचेत् सिद्धमपस्मारविनाशनम्॥ २८॥

जीवनीय यमक प्रयोग—अष्टवर्ग—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि, मुलहठी, जीवन्ती, मुद्गपर्णी और माषपर्णी—इन जीवनीय गण की औषधियों में से प्रत्येक १ पल लेकर सबका कल्क, तिल का तेल १ प्रस्थ, गाय का घी १ प्रस्थ और गाय का दूध १ द्रोण लेकर सबको मिलाकर विधिवत् पाक करे और छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत अपस्मारनाशक होता है॥ २८॥

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे। कार्षिकैर्जीवनीयैश्च घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥ २९॥
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं नियच्छति।

जीवनीय घृत—गाय का दूध १ कंस (४ प्रस्थ), गन्ने का रस १ कंस (४ प्रस्थ), पुराना गाय का घी १ प्रस्थ, गम्भार की छाल का क्वाथ ८ कंस और जीवनीय गण की औषधियों (प्रत्येक) का कल्क १-१ कर्ष डालकर विधिवत् घृतपाक करे। यह घृत वात-पित्तजन्य अपस्मार को शीघ्र ही शान्त कर देता है॥ २९॥

तद्वत् काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं घृतम्॥ ३०॥

काशादि घृत—इसी प्रकार १ आढ़क गोदुग्ध, १ आढ़क गन्ने का रस, १ प्रस्थ पुराना गाय का घी और कास की जड़, विदारीकन्द, गन्ने का मूल तथा कुश के मूल का क्वाथ ८ प्रस्थ डालकर घृतपाक करना चाहिए। यह घृत भी वात-पित्तज अपस्मार को शीघ्र ही शान्त करता है॥ ३०॥

मधुकद्विपले कल्के द्रोणे चामलकीरसात्। तद्वत् सिद्धो घृतप्रस्थः पित्तापस्मारभेषजम्॥ ३१॥

आमलकादि घृत—मुलहठी का कल्क दो पल और आँवले का स्वरस या क्वाथ १ द्रोण (४ आढक) डालकर १ प्रस्थ पुराने गोघृत को सिद्ध करे। यह पित्तज अपस्मार का नाशक घृत है॥ ३१॥

अभ्यङ्गः सार्षपं तैलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे। सिद्धं स्याद् गोशकृन्मूत्रैः स्नानोत्सादनमेव च॥ ३२॥

अपस्मार में अभ्यङ्ग आदि—सरसों के तैल को चौगुने बकरे के मूत्र में डालकर पकाये। इस तैल की अपस्मार रोगी के शरीर में मालिश करना चाहिए। गाय के गोबर का उबटन तथा गाय के मूत्र से स्नान करना अपस्मार रोग में हितकर है॥ ३२॥

कटभीनिम्बकद्वङ्गमधुशिग्रुत्वचां रसे। सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यङ्गार्थे प्रशस्यते॥ ३३॥

कटभ्यादि तैल—कटभी (कण्टकी शिरीष) की छाल, नीम की छाल, कट्वंग (सोनापाठा) की छाल और मीठा सहिजन की छाल के (प्रत्येक आधा प्रस्थ लेकर १६ प्रस्थ जल में क्वाथ करे और ४ प्रस्थ बचे तो छान ले, उस) क्वाथ के साथ समान भाग (१-१ प्रस्थ) गोमूत्र तथा सरसों का तैल मिलाकर तैल पका ले। यह तैल अपस्मार रोग में मालिश करने के लिए उत्तम होता है॥ ३३॥

पलङ्कषावचापथ्यावृश्चिकाल्यर्कसर्षपैः। जटिलापूतनाकेशीनाकुलीहिङ्गुचोरकैः॥ ३४॥
लशुनातिरसाचित्राकुष्ठैर्विडभिश्च पक्षिणाम्। मांसाशिनां यथालाभं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे॥ ३५॥
सिद्धमभ्यञ्जनं तैलमपस्मारविनाशनम्। एतैश्चैवौषधैः कार्यं धूपनं सप्रलेपनम्॥ ३६॥

पलङ्कषादि तैल—गुग्गुलु, कड़वा बच, हर्रा का वक्कल, बिच्छूघास, मदार की छाल, सरसों, जटामसी, दूर्वा, नाकुली (रास्ना), हींग, चोरपुष्पी, लहसुन, मुलहठी, दन्तीमूल, कड़वा कूठ और मांस खाने वाले पक्षियों की विष्ठा (जिनकी-जिनकी मिल सके) इन सबका कल्क कटुतैल के चौथाई वजन में ले और तैल से चौगुना बकरे का मूत्र डालकर तैल पकाये। यह तैल अभ्यंग करने से अपस्मार को नष्ट करता है। इन्हीं पूर्वोक्त कल्क वाली औषधियों का धूप देना चाहिए और इन्हीं कल्कों का शरीर में लेप लगाना चाहिए॥ ३४-३६॥

पिप्पलीं लवणं चित्रां हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिकाम्। काकोलीं सर्षपान् काकनासां कैडर्यचन्दने॥
शुनःस्कन्धास्थिनखरान् पर्शुकां चेति पेषयेत्। बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात् सधूपनः॥३८॥

अपस्मार में धूपन द्रव्य—पीपर, सेंधानमक, हींग, हींगपत्ती, काकोली, पीली सरसों, कौआठोठी, बकायन की छाल, लालचन्दन, कुत्ते के कन्धे की हड्डी, उसका नख, उसकी पसली की हड्डी—इन सभी का बारीक चूर्ण बना लें और पुष्य नक्षत्र में बकरे के मूत्र से इन्हें पीसकर अपस्मार रोगी को लेप लगवायें तथा इन्हीं वस्तुओं को जलाकर रोगी को धुआँ दें॥ ३७-३८॥

अपेतराक्षसीकुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः। उत्सादनं मूत्रपिष्टैर्मूत्रैरेवावसेचनम्॥ ३९॥

अपस्मार में उबटन द्रव्य और आसेचन—तुलसी, कड़वा कूठ, हर्रे, जटामांसी और चोरपुष्पी—इन सबको गोमूत्र में पीसकर अपस्मार रोगी को उबटन लगाना चाहिए और गाय के मूत्र से ही स्नान कराना चाहिए॥ ३९॥

जलौकःशकृता तद्वद् दग्धैर्वा बस्तरोमभिः। खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः॥ ४०॥

अन्य उबटन द्रव्य—पूर्व के समान जोंक की विष्ठा का अथवा जलाये हुए बकरे के बाल का या गदहे की हड्डी, हाथी का नख या गाय की पूँछ का बाल जलाकर गोमूत्र के साथ पीसकर उबटन लगाना चाहिए॥ ४०॥

कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्। श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च शस्यते॥ ४१॥
भार्गी वचा नागदन्ती श्वेता श्वेता विषाणिका। ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ता मूत्रपेषिताः॥
योगास्त्रयोऽतः षड् बिन्दून् पञ्च वा नावयेद्भिषक्।

अपस्मार में नस्य योग—कपिला गाय का मूत्र नस्य के लिए उत्तम हितकारी होता है। कुत्ता, सियार, बिलार और सिंह आदि पशुओं का मूत्र भी नस्य के लिए श्रेष्ठ लाभकर है। १. भारंगी, कड़वा बच, नागदन्ती, २. अपराजिता, सफेद बच, काकड़ासींगी और ३. मालकांगनी तथा नागदन्ती—ये श्लोक के एक-एक चरण में जो ३ योग कहे गये हैं, इन योगों को पृथक्-पृथक् गोमूत्र में पीसकर वैद्य ५-६ बूँद नाक में टपकाये॥ ४१-४२॥

त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्झकैः॥ ४३॥
श्यामापामार्गकारञ्जफलैर्मूत्रेऽथ बस्तजे। साधितं नावनं तैलमपस्मारविनाशनम्॥ ४४॥

त्रिफलादि तैल नस्य—आँवला, हर्रे, बहेड़ा, सोंठ, मरिच, पीपर, दारुहल्दी, यवाखार, वनतुलसी, काली निशोथ, चिचिड़ा के बीज और करञ्ज के फल की मींगी—इन सभी द्रव्यों को बराबर लेकर तैल के चतुर्थांश मात्रा में कल्क करे और तैल से चौगुनी मात्रा में बकरे का मूत्र डालकर तैल पकायें। यह तैल नस्य के रूप में प्रयुक्त होने पर अपस्मार को नष्ट करता है॥ ४३-४४॥

पिप्पली वृश्चिकाली च कुष्ठं च लवणानि च। भार्गी च चूर्णितं नस्तः कार्यं प्रधमनं परम्॥ ४५॥

प्रधमन नस्य—पीपर, बिच्छू घास, कड़वा कूठ, पाँचो नमक और भारंगी—इन्हें खूब महीन चूर्ण कर नाक में सिगरेट जैसी नली से प्रधमन नस्य देना उत्तम है (इसके प्रयोग से शीघ्र होश आ जाता है, इसे वेग के समय प्रयोग करना चाहिए)॥ ४५॥

कायस्थां शारदान्मुद्गान्मुस्तोशीरयवांस्तथा। सव्योषान् बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तीः प्रकल्पयेत्॥
अपस्मारे तथोन्मादे सर्पदष्टे गरार्दिते। विषपीते जलमृते चैताः स्युरमृतोपमाः॥ ४७॥

कायस्थादि वर्ती—हर्रे, शरद् ऋतु में उत्पन्न मूँग, नागरमोथा, खश, जौ, सोंठ, मरिच और पीपर—इन सबको समान भाग में लेकर बकरे के मूत्र से पीसकर जौ के आकार की वर्तियाँ बना लें। ये वर्तियाँ अपस्मार में (बेहोशी की हालत में), उन्माद में, साँप काटने पर, विष पीने की स्थिति में और पानी में डूबने से मरणोन्मुख व्यक्ति की आँखों में अञ्जन करने से चेतना को लौटाने में अमृत के समान लाभकर होती हैं॥ ४६-४७॥

मुस्तं वयःस्थां त्रिफलां कायस्थां हिङ्गु शाद्वलम्। व्योषं माषान् यवान्मूत्रैर्बास्तमैषार्षभैस्त्रिभिः॥
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्तिमपस्मारे प्रयोजयेत्। किलासे च तथोन्मादे ज्वरेषु विषमेषु च॥ ४९॥

मुस्तादि वर्ती—नागरमोथा, दारुहल्दी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, बड़ी इलायची, हींग, नीलदूब, सोंठ, मरिच, पीपर, उड़द और जौ—इन सबको क्रमशः बकरे के, भेड़ के और बैल के मूत्र में पीसकर वर्ती बनायें। इस वर्ती का अपस्मार में, उन्माद में और विषम ज्वरों में अञ्जन लगाना चाहिए और सफेद कुष्ठ पर घिसकर लगाना चाहिए॥ ४८-४९॥

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम्। तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं मतम्॥ ५०॥
नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः। तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद्विषक्॥ ५१॥
आभिः क्रियाभिः सिद्धार्भिर्हृदयं सम्प्रबुध्यते। स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति ततः संज्ञां स विन्दति॥

अञ्जन, धूपन और उससे लाभ—पुष्य नक्षत्र में निकाला हुआ कुत्ते का पित्त अञ्जन के रूप में प्रयोग करने पर अपस्मार को नष्ट करता है और उसे घी में मिलाकर धूपन करने से भी अपस्मार नष्ट होता है। इसी प्रकार नेवला, उल्लू, बिलार, गीध, बिच्छू, साँप और कौआ की चोंच, पाँख एवं विष्ठा को कूटकर इनसे धूपन करना चाहिए। इन अञ्जन, धूपन आदि प्रयोगों की अनुभूत क्रियाओं से रोगी का हृदय सचेत होकर प्रबुद्ध हो जाता है, उसके स्रोत शुद्ध हो जाते हैं और वह चेतनायुक्त हो जाता है॥ ५०-५२॥

यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिः। दृश्यते तस्य कार्यं स्यादागन्तून्मादभेषजम्॥ ५३॥

आगन्तुक अपस्मार चिकित्सा—जिस अपस्मार के रोगी में दोषजन्य लक्षणों से अधिक लक्षण दिखलाई दें, उसमें आगन्तुक कारण समझना चाहिए और आगन्तुक उन्माद के समान उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—निज और आगन्तुज भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं। निज रोग में दोष का प्रकोप होने के बाद रोग होता है और आगन्तुज रोग पहले उत्पन्न होता है और बाद में उसमें दोष का प्रकोप होता है। यह सामान्य बात है; किन्तु आगन्तुज अपस्मार में पहले दोष का प्रकोप होकर रोग उत्पन्न होता है और बाद में उसके साथ आगन्तु का सम्बन्ध जुट जाता है, इसलिए यह भी पाँचवाँ अपस्मार न होकर दोषज चार अपस्मारों में ही गतार्थ है। इसलिए चरक-सूत्रस्थान १९ में 'चत्वारोऽपस्माराः' इस प्रतिज्ञा का कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। 'न च दोषलिङ्गं विनाऽऽगन्तुलिङ्गता सम्भवति; ततश्चागन्त्वपस्मारः पृथङ् न भवति, किन्तु दोषजस्यानुबन्धरूपः पश्चात्कालीनः स आगन्तुः, तेन 'चत्वारोऽपस्माराः' (सू. अ. १९) इति यदुक्तं तस्यागन्तुरनुबन्धो भवत्येव कदाचिदिति' चक्रपाणि टीका।

अनन्तरमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः। भगवन्! प्राक् समुद्दिष्टः सूत्रस्थाने महागदः॥ ५४॥
अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम्। तत्र नोक्तमतः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम्॥

अतत्त्वाभिनिवेश सम्बन्धी प्रश्न—तत्पश्चात् अपने हाथों को जोड़कर अग्निवेश ने आत्रेय पुनर्वसु से कहा—भगवन्! आपने श्लोक (सूत्र) स्थान में पहले 'महागद' (अतत्त्वाभिनिवेश) का नाम लिया है, किन्तु उस अतत्त्वाभिनिवेश का निदान, लक्षण या चिकित्सा वहाँ पर आपने नहीं कहा है, इसलिए मैं उसको सुनना चाहता हूँ, आप यहाँ उसका वर्णन कीजिए॥ ५४-५५॥

शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः। महागदं सौम्य! शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम्॥ ५६॥
मलिनाहारशीलस्य वेगान्प्राप्तान्निगृह्णतः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः॥ ५७॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः। दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः॥ ५८॥
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते। हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढोऽल्पचेतनः॥ ५९॥
विषमां कुरुते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते। अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम्॥ ६०॥

अतत्त्वाभिनिवेश का कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण—अग्निवेश के वचन को सुनकर उसकी सुनने की इच्छा जानकर आत्रेय ने अग्निवेश से कहा—मैं कारण, लक्षण और चिकित्सा के साथ महागद को बतला रहा हूँ; आप सुनें। जो व्यक्ति नित्य ही मलिन आहार करते हैं, बहिर्गमनोन्मुख वेगों को रोकते हैं, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आहार-विहार अधिक मात्रा में सेवन करते हैं, उनके दोष प्रकुपित हो जाते हैं, उनकी आत्मा रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त हो जाती है। बढ़े हुए दोष हृदय में जाकर मनोवाही एवं बुद्धिवाही सिराओं को दूषित कर वहाँ रुक जाते हैं। बढ़े हुए रज-तम दोषों से बुद्धि एवं मन के आवृत हो जाने पर, हृदय के व्याकुल होने पर रोग से आक्रान्त व्यक्ति विमूढ़ हो जाता है, उसकी चेतना क्षीण हो जाती है। वह नित्य को अनित्य, अनित्य को नित्य, हित को अहित और अहित को हित समझने लगता है। इस प्रकार के अतत्त्वाभिनिवेश को आप्त (यथार्थवक्ता) लोग 'महागद' कहते हैं॥ ५६-६०॥

वक्तव्य—यह मानस रोग है, जिसमें बुद्धि विपर्यय हो जाता है, जिससे रोगी व्यक्ति भ्रम का शिकार हो जाता है, उसे वस्तुस्थिति का विपरीत ज्ञान होता है। बिना रोग के ही अपने को रोगी समझता है। उसका मन चंचल रहता है और व्यर्थ के भ्रमजाल में फँसा रहता है। 'आयुर्वेद विज्ञान' ग्रन्थ में इसे गदोद्वेग या अपदार्थगद नाम से कहा गया है—'विना व्याधिं व्याधिशङ्का गदोद्वेग इतीरितः। पदार्थत्वाभाववत्त्वाद-पदार्थगदश्च सः'।

स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः। कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत्॥ ६१॥

अतत्त्वाभिनिवेश का चिकित्सासूत्र—अतत्त्वाभिनिवेश के रोगी का पहले स्नेहन और स्वेदन करे, फिर यथावश्यक वमन-विरेचन आदि के द्वारा संशोधन करे। तत्पश्चात् पेया-विलेपी आदि संसर्जन क्रम से पथ्य देना चाहिए और उसके बाद बुद्धिवर्धक एवं सात्त्विक आहार खाने को देना चाहिए॥ ६१॥

ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम्। तत् सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम्॥ ६२॥

ब्राह्मी, शंखपुष्पी और मेध्य रसायन—अतत्त्वाभिनिवेश के रोगी को पहले (इसी अध्याय के श्लोक १७ में) कहे 'पञ्चगव्य घृत' को ब्राह्मी के स्वरस के साथ सेवन कराना चाहिए और शंखपुष्पी का सेवन कराना चाहिए तथा जो मेध्य रसायन (च. चि. १।३।३०-३१ में) कहे गये हैं[1] उनका भी सेवन कराना चाहिए॥ ६२॥

---

१. मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः॥
आयुः प्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी॥ (च.चि.१।३।३०-३१)

सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वास्था धर्मार्थवादिनः। संयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥ ६३॥

धैर्य बँधाना—ऐसे मित्र जो सदैव अनुकूल रहने वाले हों, शुभचिन्तक हों, सही बात करने वाले हों तथा धर्म और अर्थ के सम्बन्ध में उचित सलाह देने वाले हों, वे रोगी को धैर्य बँधायें, विशेष ज्ञान की बातों में (आध्यात्मिक विषयों में) लगायें, रोगी की स्मरणशक्ति को स्थापित रखें और उसके मन को एकाग्र रखने के लिए प्रयत्नशील रहें॥ ६३॥

प्रयुञ्ज्यात्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम्। ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम्॥ ६४॥

पाँच योग—१. लहसुन को बारीक पीसकर उसमें तिल का तैल मिलाकर प्रयोग करना चाहिए अथवा २. शतावर को बारीक चूर्णकर दूध में मिलाकर प्रयोग करे या ३. मधु मिलाकर ब्राह्मी स्वरस या ४. मधु मिला हुआ कूठ का स्वरस या क्वाथ अथवा ५. मीठा बच का चूर्ण मधु मिलाकर सेवन कराना चाहिए॥ ६४॥

पाठ

दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पदः। तस्माद् रसायनैरेनं प्रायशः समुपाचरेत्॥ ६५॥

अपस्मार में रसायन-प्रयोग—अपस्मार रोग दीर्घकाल तक स्थायी और जड़ जमाकर शरीर को अपना घर बनाकर रहने वाला तथा कठिनाई से ठीक होने वाला (कृच्छ्रसाध्य) रोग है। अतः इस रोग की चिकित्सा के लिए रस-रसायन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए॥ ६५॥

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा। रक्षेदुन्मादिनं चैव सद्यः प्राणहरा हि ते॥ ६६॥

अपस्मार में चेतावनी—अपस्मार और उन्माद के रोगियों को (नदी-कुआँ आदि) जल के समीप जाने से, अग्नि के पास जाने से, वृक्ष पर चढ़ने, पहाड़ पर चढ़ने से और ऊँची-नीची जमीन पर चलने-फिरने से रोकना चाहिए, क्योंकि यदि इन स्थानों पर बेहोशी या उन्माद का दौरा हो जाय तो रोगी पानी में डूब सकता है, आग में जल सकता है या गम्भीर चोट खाकर घायल हो सकता है या मर सकता है। ये स्थान तुरन्त प्राणघातक होते हैं॥ ६६॥

तत्र श्लोकौ—

हेतुं कुर्वन्त्यपस्मारं दोषाः प्रकुपिता यथा। सामान्यतः पृथक्त्वाच्च लिङ्गं तेषां च भेषजम्॥६७॥
महागदसमुत्थानं लिङ्गं चोवाच सौषधम्। मुनिर्व्याससमासाभ्यामपस्मारचिकित्सिते॥ ६८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरित चिकित्सास्थाने
'अपस्मारचिकित्सितं' नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अध्याय का उपसंहार—महर्षि आत्रेय इस अपस्मारचिकित्सित नामक अध्याय में अपस्मार का निदान, दोष जिस प्रकार कुपित होकर अपस्मार रोग उत्पन्न करते हैं, सामान्य लक्षण और अलग-अलग दोषज लक्षण तथा अपस्मार की चिकित्सा का संक्षेप एवं विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। साथ ही महागद (अतत्त्वाभिनिवेश) रोग का कारण, उसका लक्षण और उसकी चिकित्सा भी संक्षेप एवं विस्तार से कही है॥ ६७-६८॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'अपस्मारचिकित्सित' नामक दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १०॥

अपस्मार-मूर्च्छा-सापेक्ष निदान बोधक सारणी

अपस्मार	मूर्च्छा
१. आक्रमण अति शीघ्र हो जाता है।	१. आक्रमण धीरे-धीरे होता है।
२. इसका पूर्व इतिहास मिलता है।	२. पूर्व इतिहास मिलना आवश्यक नहीं।
३. नेत्र वक्रगति होते हैं।	३. नेत्र सीधे होते हैं।
४. मुख से फेन निकलता है।	४. मुख से फेन नहीं निकलता है।
५. जीभ कटने या देह में चोट का निशान मिलता है।	५. चोट का निशान नहीं मिलता है।
६. शरीर गरम रहता है।	६. शरीर शीतल होता है।
७. इसमें पूर्वाभास होता है।	७. पूर्वाभास नहीं होता है।
८. कोई निश्चित कारण नहीं दीखता है।	८. कारण स्पष्ट प्रतीत होता है।
९. हृल्लास या आध्मान नहीं होता है।	९. हृल्लास और आध्मान होते हैं।
१०. हस्त, पाद आदि का प्रक्षेपण होता है।	१०. रोगी हाथ-पैर आदि नहीं पटकता है।

अपस्मार-योषापस्मार-सापेक्ष निदान बोधक सारणी

अपस्मार	योषापस्मार
१. इसका आक्रमण अति वेगपूर्वक होता है, जिसे रोगी रोक नहीं पाता।	१. इसका आक्रमण अति वेगपूर्वक नहीं होता है।
२. यह सोते समय भी हो सकता है।	२. यह सोते समय कभी नहीं होता।
३. इसका आक्रमण एकान्त में या समूह में कहीं भी हो सकता है।	३. इसका आक्रमण सहायकों के पास रहने पर ही होता है, एकान्त में नहीं होता।
४. इसका आक्रमण होने पर नेत्र और ग्रीवा टेढ़े हो जाते हैं।	४. इसमें नेत्र एवं ग्रीवा टेढ़े नहीं होते।
५. वेग आने पर रोगी अचानक गिर पड़ता है, जिससे उसे कहीं-न-कहीं चोट आ जाती है।	५. रोगी गिरते समय सावधान रहता है, जिससे उसे चोट नहीं आती।
६. वेग आने पर कदाचित् जीभ कट जाती है।	६. जीभ कभी नहीं कटती।
७. कदाचित् अनिच्छित रूप से मल-मूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है।	७. मल-मूत्र का अनिच्छित रूप से त्याग नहीं होता।
८. आक्रमण प्रायः निश्चित समय के बाद होता है।	८. इसके आक्रमण में समय की कोई नियमितता नहीं होती।
९. गर्भाशयिक विकार से सम्बन्ध नहीं होता।	९. गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।
१०. मूर्च्छावस्था में नींद आ जाती है।	१०. शीघ्र होश आ जाता है।

अपस्मार चिकित्सा क्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	आहार-विहार
दोषों से आवृत हृदय, स्रोत और मन के प्रबोधन के लिए वमन-विरेचन आदि तीक्ष्ण संशोधनों का प्रयोग करे। वातज में वस्ति कर्म; पित्तज में विरेचन तथा कफज में वमन करायें। शोधन के पश्चात् रोगी को पूर्ण आश्वासन दे और फिर संशमन उपचार करे। अपस्मार दुश्चिकित्स्य रोग है। इसलिए इसकी चिकित्सा में शीघ्र लाभकारी रसायन औषधों का प्रयोग करे। अभ्यंग, अंजन, नस्य, प्रधमन नस्य, उत्सादन और धूपन करना चाहिए। **अतत्त्वाभिनिवेश**—इसमें भी स्नेहन एवं स्वेदन करके वमन-विरेचन आदि के द्वारा संशोधन करे और संसर्जन क्रम से पथ्य देने के पश्चात् मेध्य अन्नपान दे। आध्यात्मिक वार्ता, धैर्य-स्मृति और मन को एकाग्र करने का उपाय करे।	पञ्चगव्य घृत, महापञ्चगव्य घृत, ब्राह्मी घृत, वचादि घृत, जीवनीय यमक, जीवनीय घृत, आमलकादि घृत—इन घृतों को ६ ग्राम की मात्रा में चीनी के साथ दूध में पिलाना चाहिए। पलंकषादि तैल का अभ्यंग करना चाहिए। पलंकषा आदि द्रव्यों का धूपन और लेपन करना चाहिए। पिप्पल्यादि योग का धूपन करे। बन तुलसी एवं कूठ आदि गोमूत्र से पीसकर उबटन लगाये। कपिला गौ का मूत्र तथा कुत्ता, सियार आदि का मूत्र नस्यार्थ प्रयोग करे। भारंग्यादि योगों का मूत्रपिष्ट नस्य दे। पिप्पल्यादि प्रधमन नस्य दे। कायस्थादि वर्ती एवं मुस्तादि वर्ती का अंजन करे। पुष्य नक्षत्र में निकाले गये कुत्ते के पित्त का अंजन करे। नकुल, उलूक आदि के पंख, तुण्ड आदि का धूपन करे। आगन्तुक अपस्मार में आगन्तुक उन्माद की तरह चिकित्सा करे। अन्य चिकित्सा क्रम अपस्मारवत् करे।	पथ्य में एक वर्ष का पुराना अगहनी चावल, साठी चावल मूँग की दाल, बथुआ, सहिजन, लौकी और गोदुग्ध दें। पुराना गोघृत का सेवन करायें। मुनक्का, आँवला, सेव, सन्तरा आदि मधुर फल खिलाना उत्तम है।

अथैकादशोऽध्यायः

अथातः क्षतक्षीणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'क्षतक्षीणचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—अपस्मार का रोगी ऊँची-नीची भूमि से गिर जाये, तो उसे उरःक्षत रोग हो सकता है और उसके होने पर रोगी क्षीण हो जाये, तो उसे क्षतक्षीण हो सकता है; अतएव अपस्मार के बाद इस रोग का वर्णन किया गया है। क्षीण शब्द से शुक्र एवं ओजःक्षययुक्त पुरुष का बोध होता है और क्षीण पुरुष में जब क्षत होता है, तब उसे क्षतक्षीण कहते हैं। कुछ लोग क्षत और क्षय इन दोनों को अलग-अलग दो रोग मानते हैं, किन्तु इस अध्याय के श्लोक १२ में 'अव्यक्तं लक्षणं तस्य' इत्यादि स्थलों में एक वचन का प्रयोग किये जाने से दो रोग मानना उचित नहीं है।

उदारकीर्तिर्ब्रह्मर्षिरात्रेयः परमार्थवित्। क्षतक्षीणचिकित्सार्थमिदमाह चिकित्सितम् ॥ ३ ॥

क्षतक्षीण का उपक्रम—वस्तुतत्त्व के ज्ञाता, प्रशंसित, यशस्वी, ब्रह्मर्षि आत्रेय ने क्षतक्षीण रोग की चिकित्सा की दृष्टि से आगे वक्ष्यमाण चिकित्सा का विधान कहा है ॥ ३ ॥

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्। पततो विषमोच्चेभ्यो बलिभिः सह युध्यतः ॥ ४ ॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः। शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्। महानदीं वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ ६ ॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चाऽतिप्रनृत्यतः। तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य च ॥ ७ ॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।

क्षत का निदान—जब कोई व्यक्ति धनुष की (कड़ी) डोरी को बार-बार चढ़ाता या खींचता है, वजनदार बोझ उठाता है, विषम या ऊँचे स्थान से गिरता है, अपने से बलवान् के साथ युद्ध करता है, दौड़ते हुए बैल, घोड़ा या दमनीय किसी अन्य पशु को कब्जे में करने का प्रयास करता है; पत्थर की शिला, काष्ठ या कोई मारने का पत्थर फेंकता है या उससे दूसरों को मारता है, उच्च स्वर में पढ़ता है, शीघ्रता से दूर तक दौड़ता है, चौड़ी पाटवाली नदी को तैरता है, घोड़ों के साथ दौड़ लगाता है, अकस्मात् दूर तक कूदता है, जल्दी-जल्दी देर तक नाचता है या जो कठोर कर्म करने से आहत हो गया है—इन कारणों से वक्ष के (फुप्फुस के) फट जाने से यह क्षत रोग बलवान् होकर उत्पन्न हो जाता है ॥ ४-७ ॥

स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥ ८ ॥

उरःक्षत का अन्य कारण—जो व्यक्ति रूक्ष भोजन करता है, किसी एक रसवाला भोजन करता है या भोजन का समय बिताकर 'अतीतकाल' भोजन करता है और स्त्री-सम्भोग में अधिकतर आसक्त रहता है उसको भी बलवान् उरःक्षत रोग होता है और उसके फुप्फुस क्षत हो जाते हैं ॥ ८ ॥

उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विभज्यते। प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥ ९ ॥
क्रमाद् वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते। ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधादपि ॥ १० ॥

दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः। कासमानस्य च श्लेष्मा सरक्तः सम्प्रवर्तते॥ ११॥
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।

क्षत का लक्षण—(पूर्वोक्त कारणों से फुप्फुस के फट जाने से) वक्ष में अधिक पीड़ा होती है, वक्ष विदीर्ण हो जाता है और टूटने जैसी पीड़ा होती है। फिर दोनों पार्श्वों में भी पीड़ा होने लगती है, रोगी के अंग सूखने लगते हैं, वह काँपने लगता है। क्रमशः उसकी शक्ति, उसका बल, उसके शरीर का रंग, भोजन में उसकी रुचि और उसकी जठराग्नि—ये सब क्षीण हो जाते हैं। उसे ज्वर, शरीर में व्यथा, मन में दीनता तथा पतला मल निकलना—ये सब लक्षण होते हैं। कदाचित् मन्दाग्नि न होने पर भी अतिसार हो जाता है। रोगी के खाँसने के साथ दूषित काले वर्ण का दुर्गन्धयुक्त या पीला गाँठदार रक्तमिश्रित कफ बहुत अधिक मात्रा में निकलता है। यदि रोगी अति स्त्रीसेवन करता है, तो शुक्र तथा ओज की क्षीणता होने से वह अत्यधिक क्षीण हो जाता है॥ ९-११॥

वक्तव्य—(१) उरःक्षत होने के साहसजन्य कारणों का पहले उल्लेख किया गया है जिनका कोई पूर्वरूप नहीं होता है, क्योंकि उन कारणों से रोग का आरम्भ अचानक ही होता है। (२) दूसरा कारण अति स्त्रीसेवन है, जिससे शुक्र और ओज की क्षीणता हो जाने से रोगी में क्षीणता अधिक होती है। इसके साथ यह भी प्रमुख कारण है कि रोगी अल्प एवं रूक्ष आहार करता है तथा उसकी अग्नि मन्द हो जाती है और उसकी धातुओं का पोषण न हो पाने से वह इस रोग से ग्रस्त हो जाता है।

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्॥ १२॥

पूर्वरूप—इसके लक्षणों की अव्यक्तावस्था को ही पूर्वरूप कहते हैं॥ १२॥

वक्तव्य—साहस से होने वाले इस रोग का पूर्वरूप व्यक्त रूप में नहीं होता है।

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते। क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः॥ १३॥

क्षतक्षीण में विशेष लक्षण—जब उरःक्षत होता है तो छाती में पीड़ा होना, रक्त का वमन होना और खाँसी आना, ये विशेष लक्षण होते हैं और जब शुक्र एवं ओज की क्षीणता होने के साथ उरःक्षत होता है तब रोगी का मूत्र रक्तमिश्रित होता है और उसके पार्श्वप्रदेश में, पीठ में और कटि-देश में जकड़ाहट होती है॥ १३॥

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः। परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत्॥ १४॥

साध्यासाध्यता—यदि रोगी में रोग के लक्षण अल्प हों, रोगी की जठराग्नि तीव्र हो, रोग नया हो और रोगी बलवान् हो तो रोग साध्य होता है; एक वर्ष का पुराना रोग याप्य होता है और सभी लक्षणों वाला असाध्य होता है और उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ १४॥

क्षतक्षीण-चिकित्सा

उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्। सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात् सशर्करम्॥ १५॥
पार्श्वबस्तिरुजी चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम्। भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम्॥

लाक्षा के योग—(१) उरःक्षत होने की जानकारी हो जाने पर तुरन्त ही (४-६ ग्राम) लाक्षाचूर्ण मधु के साथ खाकर दूध पीना चाहिए और औषध के पच जाने पर दूध में चीनी मिलाकर उसके साथ रोटी-भात खाना चाहिए। (२) यदि रोगी को पार्श्व तथा वस्ति प्रदेश में पीड़ा हो और रोगी में पित्त एवं अग्नि की अल्पता हो तो लाक्षा को उचित मात्रा में मद्य में मिलाकर सेवन करना चाहिए। (३) इसी प्रकार यदि पतले दस्त हों तो नागरमोथा, अतीस, पाठा और इन्द्रजौ के चूर्ण के साथ मिलाकर लाक्षा का सेवन करना चाहिए॥ १५-१६॥

लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयगणं सिताम्। त्वक्क्षीरीं समितां क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत्॥

लाक्षादि क्षीर—जिस रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो, उसे लाक्षा, घी, मोम जो मधु के छत्ते की हो, जीवनीय गण की औषधें, चीनी और वंशलोचन, इन सबको दूध में लप्सी की तरह पकाकर पीना चाहिए॥ १७॥

वक्तव्य—दुग्धपाक में औषध से आठगुना दूध और दूध से चौगुना जल मिलाकर धीमी आँच पर पकाना चाहिए। जब केवल दूध बचे तो छानकर प्रयोग करे; यथा—'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः'। किन्तु यहाँ उक्त द्रव्यों को दूध में डालकर गाढ़ा चाटने योग्य लप्सी बनाकर प्रयोग करना चाहिए।

इक्ष्वालिकाबिसग्रन्थिपद्मकेशरचन्दनैः। श्रृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत् क्षती॥ १८॥

इक्ष्वालिकादि क्षीर—ईख की जड़, बिसग्रन्थि (कमलनाल की गाँठ), कमल केशर तथा लाल चन्दन—इन्हें सम भाग में लेकर कल्क बनाकर उससे चौगुना गाय का दूध और दूध से चौगुना जल मिलाकर सिद्ध किये हुए दूध में मधु मिलाकर पीने से उरःक्षत रोगी के क्षत का सन्धान हो जाता है॥ १८॥

यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम्। ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत्॥ १९॥

उरःक्षत में यव का प्रयोग—(१) यदि उरःक्षत के रोगी को ज्वर और दाह हो तो जौ का आटा लेकर उसे घी में ठीक से भूनकर फिर दूध डालकर उसे पकाकर चाटने योग्य यवागू बनाकर देना चाहिए; अथवा (२) सत्तू में चीनी और मधु मिलाकर दूध में घोलकर पिलाना चाहिए॥ १९॥

मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः। कासी पार्श्वास्थिशूली च लिह्यात् सघृतमाक्षिकाः॥

मधुकादि योग—उरःक्षत के रोगी को यदि खाँसी आती हो और उसे पार्श्व में हड्डियों में शूल रहता हो तो महुए का फूल, मुलहठी, मुनक्का, वंशलोचन, पीपर और बरिआर की जड़—इन सबको समभाग लेकर बारीक चूर्ण बनाकर घी और मधु मिलाकर चटाना चाहिए॥ २०॥

एलापत्रत्वचोऽर्धांक्षाः पिप्पल्यर्धपलं तथा। सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः॥ २१॥
सञ्चूर्ण्य मधुना युक्ता गुटिकाः सम्प्रकल्पयेत्। अक्षमात्रां ततश्चैकां भक्षयेन्ना दिने दिने॥ २२॥
कासं श्वासं ज्वरं हिक्कां छर्दिं मूर्च्छां मदं भ्रमम्। रक्तनिष्ठीवनं तृष्णां पार्श्वशूलमरोचकम्॥
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च स्वरभेदं क्षतं क्षयम्। गुटिका तर्पणी वृष्या रक्तपित्तं च नाशयेत्॥ २४॥
इत्येलादिगुटिका।

एलादि गुटिका—छोटी इलायची, तेजपात, दालचीनी—प्रत्येक आधा-आधा कर्ष; पीपर आधा पल (२ कर्ष), मिश्री, मुलहठी, खजूर और निर्बीज मुनक्का—प्रत्येक एक-एक पल (४ कर्ष) लेकर सबको कूट-पीसकर मधु मिलाकर एक-एक कर्ष की गुटिका बना लेनी चाहिए। इसकी १-१ गुटिका को तोड़कर, चूसकर प्रतिदिन खाना चाहिए। यह गुटिका कास-श्वास, ज्वर, हिचकी, वमन, मूर्च्छा, मद, भ्रम (चक्कर आना), रक्त मिला थूक निकलना, प्यास, पार्श्वशूल, भोजन में अरुचि, शोष, प्लीहा, आढ्यवात, स्वरभेद, क्षत, क्षय और रक्तपित्त का नाश करती है। यह तर्पण करने वाली और वृष्य होती है॥ २१-२४॥

रक्तेऽतिक्ते दक्षाण्डं यूषैस्तोयेन वा पिबेत्। चटकाण्डरसं वाऽपि रक्तं वा छागजाङ्गलम्॥ २५॥

उरःक्षत में अति रक्तनिर्गमन में योग—यदि उरःक्षत के रोगी को रक्त का अधिक निर्गमन हो रहा हो, तो मुर्गे के अण्डे को यूष अथवा जल के साथ पिलायें या इसी प्रकार गौरैया के अण्डे के रस को अथवा बकरे या जंगली पशु-पक्षियों के रक्त को यूष या जल के साथ पिलाना चाहिए॥ २५॥

चूर्णं पौनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम्। रक्तष्ठीवी पिबेत् सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः॥ २६॥
मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम्।

रक्तष्ठीवन में प्रयोग—जो रोगी मुख से रक्त थूकता हो, उसे गदहपुर्ना के मूल का चूर्ण, लाल शालि चावल और चीनी मिलाकर मुनक्का के रस या क्वाथ, दूध और घी के साथ पकाकर पिलाना चाहिए

अथवा पिसा हुआ महुए का फूल, मुलहठी का चूर्ण और चौलाई की जड़ का चूर्ण यह सब दूध में डालकर पकाकर पिलाना चाहिए॥ २६॥

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम्॥ २७॥

उरःक्षत में मूढवात—यदि उरःक्षत के रोगी की अपानवायु की गति विलोम हो जाये तो उसके अनुलोमन के लिए बकरे की चर्बी को मद्य के साथ भूनकर उसमें सेंधानमक मिलाकर खाने को दें॥ २७॥

क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनिले। शृतक्षीरसरेणाद्यात् सक्षौद्रघृतशर्करम्॥ २८॥
शर्करां यवगोधूमौ जीवकर्षभकौ मधु। शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात् क्षीणः क्षती कृशः॥ २९॥
क्रव्यादमांसनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः। पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम्॥ ३०॥

उरःक्षत में पुष्टिकर योग—जब उरःक्षत से पीड़ित रोगी कृश और दुर्बल हो, अनिद्रा से पीड़ित तथा वात बढ़ा हुआ हो तो उसे उबले दूध की मलाई के साथ मधु-घी एवं चीनी मिलाकर खिलाये। जो रोगी क्षीण और कृश हो गया हो, वह जौ तथा गेहूँ के आटे को घी में भूनकर उसमें चीनी और जीवक-ऋषभक का चूर्ण तथा मधु में मिलाकर चाटे और बाद में गरम किया हुआ दूध पीये। रोगी के शरीर में मांस तथा रक्त को बढ़ाने के लिए मांस-भक्षी पशु-पक्षियों के मांसरस को घी में भूनकर उसमें पीपर और मधु मिलाकर खिलाना चाहिए॥ २८-३०॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः। तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः॥ ३१॥
साश्वकर्णैः शृतात् क्षीरादद्याज्जातेन सर्पिषा। शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रश्च मानवः॥

न्यग्रोधादि घृत—बड़ की जटा (बरोह), गूलर की छाल, पीपर की छाल, पाकड़ की छाल, सखुआ की छाल, फूलप्रियंगु, ताल की बाल, जामुन की छाल, चिरौंजी, पद्मकाष्ठ और अश्वकर्ण (सेखुआ का भेद) की छाल—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर, कूट-पीसकर इनसे गोदुग्ध को पकाकर उस दूध को जमाकर घी निकाले। जिनको उरःक्षत हो गया हो या जो क्षीणवीर्य पुरुष हों, उन्हें अगहनी चावल के भात के साथ यह घी खिलाना चाहिए॥ ३१-३२॥

यष्ट्याह्वनागबलयोः क्वाथे क्षीरसमं घृतम्। पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कसिद्धं क्षते शुभम्॥

यष्ट्यादि घृत—मुलहठी और नागबला के क्वाथ में (क्वाथ का चतुर्थांश) घी और दूध (घी के बराबर) तथा विदारीकन्द, पीपर और वंशलोचन का कल्क (घी का चतुर्थांश) डालकर घृत सिद्ध करे। यह घृत उरःक्षत में हितकर होता है॥ ३३॥

कोललाक्षारसे तद्वत् क्षीराष्टगुणसाधितम्। कल्कैः कद्वङ्गदार्वीत्वग्वत्सकत्वक्फलैर्घृतम्॥ ३४॥

कोललाक्षादि घृत—बेर की छाल और (पीपर की) कच्ची लाख के (चौगुने) क्वाथ और अठगुने दूध में (चतुर्थांश में) सोनापाठा की छाल, दारुहल्दी की छाल, कोरया की छाल और इन्द्रजौ का कल्क डालकर घी पकायें। यह घृत उरःक्षत में उत्तम लाभप्रद होता है॥ ३४॥

जीवकर्षभकौ वीरां जीवन्तीं नागरं शटीम्। चतस्रः पर्णिनीर्मेदे काकोल्यौ द्वे निदिग्धिके॥ ३५॥
पुनर्नवे द्वे मधुकमात्मगुप्तां शतावरीम्। ऋद्धिं परूषकं भार्गीं मृद्वीकां बृहतीं तथा॥ ३६॥
शृङ्गाटकं तामलकीं पयस्यां पिप्पलीं बलाम्। बदराक्षोटखर्जूरवातामाभिषुकाण्यपि॥ ३७॥
फलानि चैवमादीनि कल्कान् कुर्वीत कार्षिकान्। धात्रीरसविदारीक्षुच्छागमांसरसं पयः॥ ३८॥
कुर्यात् प्रस्थोन्मितं तेन घृतप्रस्थं विपाचयेत्। प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलां तथा॥ ३९॥
द्विकार्षिकाणि पत्रैलाहेमत्वङ्मरिचानि च। विनीय चूर्णितं तस्माल्लिह्यान्मात्रां सदा नरः॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम्। सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना॥ ४१॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान्। स्त्रीप्रसक्तान् कृशान् वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत्॥ ४२॥

कासहिक्काज्वरश्वासदाहतृष्णाग्रपित्तनुत्। पुत्रदं वमिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम्॥ ४३॥

इत्यमृतप्राशघृतम्।

अमृतप्राश घृत—जीवक, ऋषभक, सफेद मुसली, जीवन्ती, सोंठ, कचूर, सरिवन, पिठवन, मूँगपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, सफेद तथा बैंगनी फूल वाली दोनों भटकटैया, सफेद और लाल दोनों गदहपुर्ना, मुलहठी, केवाँच के बीज, शतावर, ऋद्धि, फालसा की छाल, भारंगी, मुनक्का, बनभण्टा, सिंघाड़ा, भूईआँवला, विदारीकन्द, पीपर, वरिआर, बेर, अखरोट, खजूर, बादाम, पिस्ता तथा इसी प्रकार के अन्य जो फल प्राप्त हों, उन सबको एक-एक कर्ष की मात्रा में लेकर चटनी की तरह पीस लें। फिर आँवले का स्वरस या क्वाथ, विदारीकन्द का स्वरस अथवा क्वाथ, ईंख का रस, बकरे का मांसरस और गोदुग्ध—प्रत्येक (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार) २-२ प्रस्थ और २ प्रस्थ गाय का घी मिलाकर विधिवत् घृतपाक करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले तथा ठण्डा हो जाने पर आधा प्रस्थ मधु एवं आधा तुला (५० पल) चीनी तथा तेजपात, इलायची, नागकेसर, दालचीनी और मरिच (सब मिलाकर) २ कर्ष का चूर्ण मिला लें। इसे उचित मात्रा में (१ कर्ष से २ कर्ष तक) नित्य सेवन करना चाहिए। यह अमृतप्राश नामक घृत मनुष्यों के लिए अमृत के समान है। दूध और मांसरस का सेवन करने वाला व्यक्ति इस घृत का सेवन करे। यह घृत ऐसे लोगों को मोटा-ताजा और मांसल बना देता है जिनका वीर्य नष्ट हो गया हो, जो उरःक्षत रोग के कारण दुर्बल और रोगजन्य कृशता के कारण क्षीण हो गये हों, जो स्त्रियों में अतिशय आसक्त रहने से कृशकाय हों, जो वर्ण तथा स्वर से हीन हों। यह घृत कास, हिचकी, ज्वर, श्वास, दाह, तृष्णा और रक्तपित्त को दूर करता है। यह वमन, मूर्च्छा, हृदयरोग, योनिरोग और मूत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करता है तथा पुत्र प्रदान करता है॥ ३५-४३॥

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम्। दर्भमूलं पृथक्पर्णीं पलाशर्षभकौ स्थिराम्॥ ४४॥
पलिकं साधयेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे। कल्कैः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः॥ ४५॥
शतावर्यृद्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः। प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्व्रवशूलनुत्॥ ४६॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शःकासशोषक्षयापहः। धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः॥ ४७॥

इति श्वदंष्ट्रादिघृतम्।

श्वदंष्ट्रादि घृत—क्वाथ के द्रव्य—गोखरू, खश, मजीठ, बरियार, गम्भार की छाल, सुगन्धित घास, डाभ की जड़, पिठवन, पलाश की छाल, ऋषभक और सरिवन १-१ पल लेकर कूटकर अठगुने (८८) पल जल में क्वाथ करे और २२ पल बचे तो छान ले; उस क्वाथ में २ प्रस्थ घी, ८ प्रस्थ दूध और केवाँच बीज, जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावर, ऋद्धि, मुनक्का, चीनी, गोरखमुण्डी और कमलनाल, प्रत्येक ३-३ कर्ष लेकर इनका कल्क डालकर यथाविधि घृत का पाक करे। तैयार हो जाने पर छानकर सुरक्षित रख ले। सेवन करने से यह घृत वातपित्तज हृदयशूल को नष्ट करता है। यह मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, कास, शोष तथा क्षयरोग को नष्ट करता है। जो व्यक्ति धनुष की प्रत्यञ्चा बार-बार खींचने से, अधिक स्त्री-सेवन से, अति मद्यपान करने से, अधिक भार ढोने से अथवा अधिक मार्ग चलने से क्षीण शरीर हो गये हों, उनके लिए यह घृत बल तथा मांस प्रदान करता है॥ ४४-४७॥

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे घृतं पचेत्। पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले॥ ४८॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत्। समसक्तु क्षतक्षीणे रक्तगुल्मे च तद्धितम्॥ ४९॥

सक्तु-प्रयोग—मुलहठी ८ पल, मुनक्का पीसा हुआ १ प्रस्थ (१६ पल) इन दोनों को अठगुने (१९२ पल) जल में चतुर्थांशावशिष्ट (४८ पल) क्वाथ करे। उसे छानकर उसमें १ प्रस्थ गो घृत तथा ८ पल पिप्पली कल्क डालकर विधिवत् घृतपाक करे। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित करके शीतल होने पर ८ पल मधु और ८ पल चीनी मिलाकर रख ले। रोगी के बल के अनुसार इस घृत की मात्रा

(१-२ कर्ष) लेकर घी के बराबर जौ का सत्तू मिलाकर सेवन करने से यह घृत उरःक्षत के कारण क्षीण हुए व्यक्ति के लिए और रक्तगुल्म में लाभकर होता है॥ ४८-४९॥

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसैर्घृतम्। अजागोपयसोश्चैव सप्त प्रस्थान् पचेद्भिषक्॥ ५०॥
सिद्धशीते सिताक्षौद्रद्विप्रस्थं विनयेच्च तत्। यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम्॥ ५१॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम्। घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत्॥
लीढं निर्वापयेत् पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम्। आक्रामत्यनित्यं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च॥

धात्रीफलाद्य घृत—आँवले का स्वरस या क्वाथ, विदारीकन्द का स्वरस या क्वाथ, गन्ने का रस, जीवनीय गण का स्वरस अथवा क्वाथ, गाय का घी, बकरी का दूध और गाय का दूध—प्रत्येक १-१ प्रस्थ लेकर घृतपाक करें। जब घी तैयार हो जाय, तो छान लें और ठण्डा हो जाने पर मिश्री और मधु १-१ प्रस्थ डालकर ठीक से मिला दें। यह घृत राजयक्ष्मा, अपस्मार, रक्तपित्त, खाँसी, प्रमेह तथा क्षय रोग को नष्ट करता है। यह आयु को स्थिर बनाता है और बढ़ाता है। यह मांस, वीर्य तथा बल को बढ़ाता है।

घृतसेवन के नियम—यदि पित्तदोष की अधिक वृद्धि हो, तो इस घी को चाटकर खाना चाहिए, क्योंकि चाटने से यह पित्त को शान्त करता है और अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने से अग्नि को नष्ट नहीं करता है। यदि वातदोष बढ़ा हो तो इस घृत को पीना चाहिए। पान किया हुआ घृत वायु का शमन करता है और अग्नि को शान्त करता है॥ ५०-५३॥

क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि तु। त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैः स्यानानि योजयेत्॥
सर्पिर्गुडान् समध्वंशाञ्जग्ध्वा चानु पयः पिबेत्। रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात्॥ ५५॥
इति प्रथमसर्पिर्गुडाः।

कृश एवं दुर्बलों के लिए सर्पिर्गुड—जो रोगी कृश और दुर्बल हो गये हों, उनके लिए ऊपर कहे गये घृतों को ही वंशलोचनचूर्ण, चीनी और धान के लावा का चूर्ण मिलाकर जिससे घी गाढ़ा हो जाय और लड्डू बाँधने लायक हो जाये तो प्रयोग करे। इनको सर्पिर्गुड कहते हैं। इन्हें कुछ मधु मिलाकर खाने के बाद दूध पीना चाहिए। इनका सेवन करने वाला व्यक्ति अतिशीघ्र ही शुक्रसम्पन्न, शक्तिशाली, बलवान् और हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला हो जाता है॥ ५४-५५॥

बला विदारी ह्रस्वा च पञ्चमूली पुनर्नवा। पञ्चानां क्षीरवृक्षाणां शुङ्गा मुष्टयंशका अपि॥ ५६॥
एषां कषाये द्विक्षीरे विदार्याजरसांशिके। जीवनीयैः पचेत्कल्कैरक्षमात्रैर्घृताढकम्॥ ५७॥
सितापलानि पूते च शीते द्वात्रिंशदावपेत्। गोधूमपिप्पलीवांशीचूर्णं शृङ्गाटकस्य च॥ ५८॥
समाक्षिकं कौडविकं तत् सर्वं खजमूर्च्छितम्। स्थानं सर्पिर्गुडान् कृत्वा भूर्जपत्रेण वेष्टयेत्॥ ५९॥
ताञ्जग्ध्वा पलिकान् क्षीरं मद्यं वाऽनुपिबेत्कफे। शोषे कासे क्षते क्षीणे श्रमस्त्रीभारकर्शिते॥
रक्तनिष्ठीवने तापे पीनसे चोरसि स्थिते। शस्ताः पार्श्वशिरःशूले भेदे च स्वरवर्णयोः॥ ६१॥
इति द्वितीयसर्पिर्गुडाः।

द्वितीय सर्पिर्गुड—बरियार की जड़, विदारीकन्द, लघु पञ्चमूल (सरिवन, पिठवन, रेंगनी, बनभण्टा, गोखरू), गदहपुर्ना, पञ्चक्षीरी वृक्ष (बर, पीपर, पाकड़, गूलर, महुआ) इन सबका ठूँसा (नये कोमल पत्तों के अंकुर) १-१ पल लेकर कुचलकर इस १३ पल द्रव्य को अठगुने (१०४ पल) जल में चतुर्थांशावशिष्ट (२६ पल शेष) क्वाथ करे। क्वाथ को छानकर उसमें १ आढक (६४ पल) घी, २ आढक (१२८ पल) गोदुग्ध, १ आढक (६४ पल) विदारीकन्द का स्वरस या क्वाथ, १ आढक (६४ पल) बकरे का मांसरस और जीवनीय गण की प्रत्येक औषध १-१ कर्ष की मात्रा में मिलाकर उनका कल्क बनाकर विधिवत् घृतपाक

करे और तैयार होने पर छान ले। ठण्डा होने पर उसमें ३२ पल चीनी डाले फिर घी में भुना हुआ गेहूँ का आटा, पीपर का चूर्ण, वंशलोचन का चूर्ण, घी में भुना सिंघाड़े का आटा और मधु—प्रत्येक १-१ कुडव (४-४ पल) डालकर दही मथने की मथानी (खज) से इन द्रव्यों को मथकर घी में एकरस कर दे। गाढ़ा हो जाने पर इस सर्पिर्गुड को (१-१ कर्ष के प्रमाण में) लड्डू बना लें और उन्हें भोजपत्र में लपेट कर रख दें।

इन सर्पिर्गुडों को १ पल की मात्रा में (वर्तमान काल में १ कर्ष की मात्रा पर्याप्त होगी) खाकर दूध पीना चाहिए। यदि उपभोक्ता को कफ विकार हो, तो दूध के स्थान पर मद्य पीना चाहिए। यह योग शोष रोग, कास रोग, उरःक्षत, क्षीण तथा श्रम की अधिकता, स्त्री-सेवन की अधिकता या भारी बोझ ढोने के कारण उत्पन्न कृशता या दुर्बलता, थूक में रक्त जाना, ताप बना रहना तथा लगातार सर्दी-जुकाम बना रहना (पीनस) आदि उरःस्थ रोगों में हितकारक होता है और पार्श्वशूल, शिरःशूल; स्वरभेद एवं वर्ण-विकृति में भी लाभकर होता है॥ ५६-६१॥

वक्तव्य—अन्य टीकाकार क्वाथ की मात्रा से द्विगुण दूध तथा क्वाथ के सामन विदारीकन्द स्वरस एवं अजा मांसरस लेने को लिखते हैं, किन्तु यह बात जँचती नहीं है, क्योंकि घृतपाक के लिए कम-से-कम चतुर्गुण द्रव लेना चाहिए। यहाँ १ आढक (६४ पल) घृत का पाक करना है। यदि बला आदि द्रव्य १३ पल लेकर अष्टगुण जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ करते हैं, तो २६ पल क्वाथ होता है। इस क्वाथ से दूना ५२ पल दूध और क्वाथ के समान विदारी स्वरस तथा अजामांस रस २६-२६ पल होते हैं। इस प्रकार इन सबका मान १३० (२६+५२+२६+२६) पल होता है, जो घी की मात्रा के दूने के लगभग है। इसलिए सहज धारणा के अनुसार उक्त व्याख्या की गयी है जिसमें कोई खींचतान नहीं है। यहाँ सर्पिर्गुडों को भोजपत्र में लपेटकर रखने का तात्पर्य है, उसकी शक्ति की वृद्धि और सुरक्षा।

त्वक्क्षीरीश्रावणीद्राक्षामूर्वर्षभकजीवकैः। वीरर्द्धिक्षीरकाकोलीबृहतीकपिकच्छुभिः॥ ६२॥
खर्जूरफलमेदाभिः क्षीरपिष्टैः पलोन्मितैः। धात्रीविदारीक्षुरसप्रस्थैः प्रस्थं घृतात् पचेत्॥ ६३॥
शर्करार्धतुलां शीते क्षौद्रार्धप्रस्थमेव च। दत्त्वा सर्पिर्गुडान्कुर्यात्कासहिक्काज्वरापहान्॥ ६४॥
यक्ष्माणं तमकं श्वासं रक्तपित्तं हलीमकम्। शुक्रनिद्राक्षयं तृष्णां हन्युः कार्श्यं सकामलम्॥
इति तृतीयसर्पिर्गुडाः।

तृतीय सर्पिर्गुड—वंशलोचन, गोरखमुण्डी, मुनक्का, मरोड़फली, ऋषभक, जीवक, श्वेतमुसली, ऋद्धि, क्षीरकाकोली, रेंगनी, केवाँच का बीज, पिण्ड खजूर और मेदा—इन्हें १-१ पल लेकर कूटकर गोदुग्ध से पीस ले। फिर १ प्रस्थ घी, १ प्रस्थ आँवले का स्वरस या क्वाथ, १ प्रस्थ विदारीकन्द स्वरस या क्वाथ और गन्ने का रस १ प्रस्थ के साथ उक्त कल्क मिलाकर विधिवत् घृतपाक करे। तैयार होने पर छानकर रख लें और ठण्डा हो जाने पर आधी तुला (५० पल) चीनी और आधा प्रस्थ (८ पल) मधु डालकर ठीक से मिलाकर सर्पिर्गुड (लड्डू जैसा) बना लें। ये सर्पिर्गुड (१ कर्ष की मात्रा में सेवन करने पर) कास, हिचकी, ज्वर, राजयक्ष्मा, तमकश्वास, रक्तपित्त, हलीमक, शुक्रक्षय, निद्राक्षय, तृष्णा, कृशता और कामला रोग को दूर करते हैं॥ ६२-६५॥

नवमामलकं द्राक्षामात्मगुप्तां पुनर्नवाम्। शतावरीं विदारीं च समङ्गा पिप्पलीं तथा॥ ६६॥
पृथग्दशपलान्भागान्पलान्यष्टौ च नागरात्। यष्ट्याह्वसौवर्चलयोर्द्विपलं मरिचस्य च॥ ६७॥
क्षीरतैलघृतानां च त्र्याढके शर्कराशते। क्वथिते तानि चूर्णानि दत्त्वा बिल्वसमान् गुडान्॥ ६८॥
कुर्यात्तान् भक्षयेत् क्षीणः क्षतः शुष्कश्च मानवः। तेन सद्यो रसादीनां वृद्ध्या पुष्टिं स विन्दति॥
इति चतुर्थसर्पिर्गुडाः।

चतुर्थ सर्पिर्गुड—निर्बीज नया आँवला, निर्बीज मुनक्का, केवाँच का बीज, गदहपुर्ना, शतावर, विदारीकन्द, मजीठ और पीपर—प्रत्येक १० पल; सोंठ ८ पल, मुलहठी १ पल, सौवर्चल नमक १ पल और मरिच २ पल लेकर इन सबका कपड़छन चूर्ण बनायें। दूध १ आढक, तिल का तेल १ आढक और घी १ आढक मिलाकर १०० पल चीनी डालकर औटायें और गाढ़ा हो जाने पर उक्त चूर्ण को डालकर अच्छी तरह मिला दें। ठण्डा होने पर १-१ पल की गोली बना लें। इन्हें उरःक्षत से क्षीण हुए पुरुष तथा कृश पुरुष (१-१ कर्ष) खायें। इनके सेवन करने से रस आदि धातुओं की अल्पकाल में वृद्धि हो जाने से शरीर पुष्ट हो जाता है॥ ६६-६९॥

गोक्षीरार्धाढकं सर्पिः प्रस्थमिक्षुरसाढकम्। विदार्याः स्वरसात्प्रस्थं रसात्प्रस्थं च तैत्तिरात्॥ ७०॥
दद्यात् सिद्धयति तस्मिंस्तु पिष्टानिक्षुरसैरिमान्। मधूकपुष्पकुडवं प्रियालकुडवं तथा॥ ७१॥
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः खर्जूराणां च विंशतिम्। पृथग् बिभीतकानां च पिप्पल्याश्च चतुर्थिकाम्॥
त्रिंशत्पलानि खण्डाच्च मधुकात् कर्षमेव च। तथाऽर्धपलिकान्यत्र जीवनीयानि दापयेत्॥ ७३॥
सिद्धेऽस्मिन् कुडवं क्षौद्रं शीते क्षिप्त्वाऽथ मोदकान्। कारयेन्मरिचाजाजीपलचूर्णावचूर्णितान्॥
वातासृक्पित्तरोगेषु क्षतकासक्षयेषु च। शुष्यतां क्षीणशुक्राणां रक्ते चोरसि संस्थिते॥ ७५॥
कृशदुर्बलवृद्धानां पुष्टिवर्णबलार्थिनाम्। योनिदोषकृतस्रावहतानां चापि योषिताम्॥ ७६॥
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद्यासां म्रियेत वा। धन्या बल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः॥
इति पञ्चमसर्पिर्मोदकाः।

पञ्चम सर्पिर्मोदक—गोदुग्ध आधा आढक (२ प्रस्थ), गोघृत १ प्रस्थ, ईख का रस १ आढक (४ प्रस्थ), विदारीकन्द का स्वरस या क्वाथ १ प्रस्थ, तित्तिर का मांसरस १ प्रस्थ—इन सबको पकाकर गाढ़ा कर ले, फिर उसमें महुए का फूल १ कुडव (४ पल), चिरौंजी १ कुडव, वंसलोचन आधा कुडव (२ पल), खजूर गिनती में २० (निर्बीज), बहेड़े (निर्बीज) गिनती में २०, पीपर १ पल, चीनी ३० पल, मुलहठी १ कर्ष और जीवनीय गण की प्रत्येक औषध आधा-आधा पल (२-२ कर्ष) लेकर गन्ने के रस से पीसकर कल्क बना लें और उक्त पाक में डालकर अच्छी तरह चला-चला कर ठीक से मिला लें और लड्डू बनाने लायक गाढ़ा होने पर कड़ाही को उतार कर ठण्डा कर लें। ठण्डा हो जाने पर १ कुडव (४ पल) मधु मिलाकर लड्डू बना लें और मरिच तथा जीरे का मिला हुआ चूर्ण १ पल लेकर उन पर छिड़क दें।

यह मोदक वातरक्त, पित्तजन्य विकार, उरःक्षत, कास, क्षय, शोष, शुक्रक्षीणता और फुप्फुस से होने वाले रक्तस्राव में प्रयोगयोग्य होता है। यह कृश, दुर्बल, वृद्ध व्यक्तियों के लिए तथा जो व्यक्ति शरीर को पुष्ट, बलवान् और कान्तिमान् बनाना चाहते हैं उनके लिए हितकर है। जो स्त्रियाँ योनिदोष, योनिक्षत या योनि से होने वाले रक्तस्राव से पीड़ित हों, जो गर्भधारण कराना चाहती हों, जिन्हें गर्भस्राव हो जाता हो या जिनके बच्चे मर जाते हों उनके लिए ये मोदक प्रशस्त बलकारक और लाभप्रद होते हैं। ये मोदक वीर्य और रक्त को बढ़ाने वाले होते हैं॥ ७०-७७॥

वक्तव्य—इस योग में ३० पल चीनी डालने को कहा गया है और उसका पाठ कल्क-द्रव्यों के बीच में दिया गया है, किन्तु चीनी को कल्क-द्रव्यों के साथ पीसना उचित नहीं है, अपितु चीनी की चासनी बनाकर डालना ठीक है। इसकी मात्रा १ कर्ष की होनी चाहिए और अनुपान दूध का होना चाहिए।

बस्तिदेशे विकुर्वाणे स्त्रीप्रसक्तस्य मारुते। वातघ्नान् बृंहणान् वृष्यान् योगांस्तस्य प्रयोजयेत्॥

मैथुनजन्य वस्तिगत वात में उपचार—अतिशय स्त्रीप्रसङ्ग करने के कारण जिस पुरुष के वस्तिप्रदेश में विकृत वायु पीड़ा उत्पन्न कर रही हो, उसके शमन के लिए वातनाशक बृंहण तथा वृष्य योगों का प्रयोग करना चाहिए॥ ७८॥

शर्करापिप्पलीचूर्णैः सर्पिषा माक्षिकेण च। संयुक्तं वा शृतं क्षीरं पिबेत् कासज्वरापहम्॥ ७९॥
फलाम्लं सर्पिषा भृष्टं विदारीक्षुरसे शृतम्। स्त्रीषु क्षीणः पिबेद्यूषं जीवनं बृंहणं परम्॥ ८०॥
सक्तूनां वस्त्रपूतानां मन्थं क्षौद्रघृतान्वितम्। यवान्नसात्म्यो दीप्ताग्निः क्षतक्षीणः पिबेन्नरः॥
जीवनीयोपसिद्धं वा जाङ्गलं घृतभर्जितम्। रसं प्रयोजयेत् क्षीणे व्यञ्जनार्थं सशर्करम्॥ ८२॥
गोमहिष्यश्वनागाजैः क्षीरैर्मांसरसैस्तथा। यवान्नं भोजयेद्यूषैः फलाम्लैर्घृतसंस्कृतैः॥ ८३॥
दीप्तेऽग्नौ विधिरेषः स्यान्मन्दे दीपनपाचनः। यक्ष्मिणां विहितो ग्राही भिन्ने शकृति चेष्यते॥

उरःक्षत में बृंहण योग—(१) गरम दूध में चीनी, पीपर का चूर्ण, घी और मधु मिलाकर पीना चाहिए। यह खाँसी और ज्वर को दूर करता है। इसे 'पञ्चसार' भी कहते हैं। (२) जो व्यक्ति अतिशय स्त्रीसंभोग के कारण क्षीण हो गया हो वह विदारीकन्द तथा ईख के रस में पकायी हुई मूँग की दाल को घी से छौंककर और नीबू या खट्टे अनार के रस से अम्ल बनाकर पान करे। यह योग जीवनदायक और उत्तम बृंहण है। (३) जिस उरःक्षत के रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो और उसे जौनिर्मित आहार अनुकूल पड़ता हो, तो वह कपड़े से छाने हुए जौ के सत्तू के घोल में उचित मात्रा में मधु तथा घी मिलाकर पान करे। (४) उरःक्षत से क्षीण रोगी भोजन के साथ व्यञ्जन के लिए जीवनीय गण की औषधियों के क्वाथ में पकाये हुए जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस को घी में भूनकर और चीनी मिलाकर सेवन करे। (५) उरःक्षत का रोगी अपनी जठराग्नि के अनुसार गाय, भैंस, घोड़ी, हथिनी या बकरी के दूध के साथ आहार करे अथवा इन्हीं पशुओं के मांसरस के साथ आहार करे अथवा मूँग की दाल के यूष को घी से छौंककर अनार के खट्टे रस से अम्ल बनाकर जौ की रोटी या भात के साथ खाये। (६) उपर्युक्त विधान उन्हीं उरःक्षत के रोगियों के लिए है जिनकी अग्नि प्रदीप्त हो। जिनकी जठराग्नि मन्द हो, उन्हें दीपन-पाचन औषध देनी चाहिए और यदि उन्हें अतिसार हो गया हो, तो यक्ष्मारोग में बतलायी हुई औषधियों का प्रयोग करना चाहिए॥ ७९-८४॥

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात् पले। कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्जकात्॥ ८५॥
एकैकं मरिचाजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके। शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत्॥ ८६॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपाने प्रयोजयेत्। रोचनं दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासनुत्॥ ८७॥
इति सैन्धवादिचूर्णम्।

सैन्धवादि चूर्ण—सेंधा नमक १ पल, सोंठ १ पल, सोंचर नमक २ पल, वृक्षाम्ल (विषांविल) ४ पल, खट्टा अनारदाना ४ पल, तुलसी की सूखी पत्ती ४ पल, मरिच १ पल, जीरा १ पल, धनियाँ २ पल—इन सबका बारीक चूर्ण बनाकर १२ पल चीनी मिलाकर सुरक्षित रख लें। इस चूर्ण को खाने-पीने की वस्तुओं के साथ प्रयोग में लाना चाहिए। यह आहार में रुचि उत्पन्न करता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, पार्श्वशूल, श्वास रोग और खाँसी को दूर करता है॥ ८५-८७॥

एका षोडशिका धान्याद् द्वे द्वेऽजाज्यजमोदयोः। ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लं द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम्॥
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य मध्यात् पञ्च पलानि च। तच्चूर्णं षोडशपले शर्कराया विमिश्रयेत्॥
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत्। मन्दानले शकृद्भेदे यक्ष्मिणामग्निवर्धनः॥ ९०॥
इति षाडवः।

षाडव—धनिया १ पल, जीरा २ पल, अजवायन २ पल, अनारदाना ४ पल, विषांविल ४ पल, सोंचर नमक १ पल, सोंठ १ कर्ष और कैथ के फल के गुद्दी ५ पल—इन सबका बारीक चूर्ण बनाकर महीन चलनी या कपड़े से छान लें; फिर उसमें १६ पल चीनी मिलाकर रख लें। यह चूर्ण भी पूर्व के सैन्धवादि चूर्ण की तरह खाने-पीने की वस्तुओं के साथ सेवन करना चाहिए। यक्ष्मा के रोगियों के अग्निमान्द्य में और अतिसार में हितकर है और अग्नि की वृद्धि करता है॥ ८८-९०॥

पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षविवर्धितम्। पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक्॥ ९१॥
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः। मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं शुण्ठीमधुकयोस्तथा॥ ९२॥

नागबला कल्प—नागबला (गंगरेन) की जड़ के चूर्ण को आधा कर्ष से प्रारम्भ कर प्रतिदिन आधा कर्ष बढ़ाते हुए १ पल तक सेवन करें और पुनः घटाकर आधा कर्ष तक क्रमशः लायें और पुनः बढ़ाकर १ पल तक खायें और फिर घटाकर आधा कर्ष सेवन करें। इस प्रकार १ महीने तक इसी कल्प के क्रम से दूध के साथ प्रयोग करें। इस कल्पकाल में अन्न न खाकर क्षुधा के अनुसार दुग्धपान पर निर्भर रहना चाहिए। यह प्रयोग पुष्टिकर, आयुर्वर्धक, बलदाता और आरोग्य प्रदान करने में उत्तम है। इसी तरह से कल्पविधान के अनुसार मण्डूकपर्णी, सोंठ और मुलहठी का भी प्रयोग करना चाहिए और ये प्रयोग भी नागबला कल्प के ही समान लाभप्रद हैं॥ ९१-९२॥

यद्यत् सन्तर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु। अन्नपानं निषेव्यं तत् क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः॥ ९३॥
यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम्। तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यं बलं तथा॥

क्षतक्षीण में पथ्य—आरोग्य लाभ की कामना करने वाले क्षतक्षीण के रोगी को वही अन्नपान सेवन करना चाहिए जो शरीर की धातुओं का पोषक हो, शीतवीर्य हो, दाह न उत्पन्न करे तथा हितकर और लघुगुण-युक्त हो। क्षतक्षीण के रोगी की मनःस्थिति, मनोविकार, उसके रोगबल, शरीरबल और सात्म्य का विचार करके राजयक्ष्मा (च.चि. ८), कास (च.चि. १८) तथा रक्तपित्त रोग की चिकित्सा में जो पथ्य कहे गये हैं, उनका सेवन करना चाहिए॥ ९३-९४॥

उपेक्षिते भवेत्तस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः। प्रामेवागमनात्तस्य तस्मात्तं त्वरया जयेत्॥ ९५॥

क्षतक्षीण की उपेक्षा से राजयक्ष्मा की सम्भावना—यदि क्षतक्षीण रोग की यथासमय उचित चिकित्सा न की जाय, तो राजयक्ष्मा रोग हो जाने की संभावना होती है, इसलिए राजयक्ष्मा रोग के शरीर में प्रवेश के पूर्व ही शीघ्रतापूर्वक उपचार करके क्षतक्षीण रोग को अच्छा कर लेना चाहिए॥ ९५॥

तत्र श्लोकौ—

क्षतक्षयसमुत्थानं सामान्यपृथगाकृतिम्। असाध्ययाप्यसाध्यत्वं साध्यानां सिद्धिमेव च॥ ९६॥
उक्तवाञ्ज्येष्ठशिष्याय क्षतक्षीणचिकित्सिते। तत्त्वार्थविद्वीतरजस्तमोदोषः पुनर्वसुः॥ ९७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने क्षतक्षीणचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अध्याय का उपसंहार—चिकित्सासम्बन्धी मूलभूत तत्त्वों के ज्ञाता रजोदोष और तमोदोष से विमुक्त आचार्य पुनर्वसु ने इस 'क्षतक्षीणचिकित्सित' नामक अध्याय में अपने ज्येष्ठ शिष्य अग्निवेश के ज्ञान के लिए क्षतक्षीण रोग के कारण उसका सामान्य लक्षण, अलग-अलग लक्षण, असाध्य लक्षण, याप्य लक्षण और साध्य लक्षणों की चिकित्सा का उपदेश किया है॥ ९६-९७॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'क्षतक्षीणचिकित्सित' नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ११॥

क्षतक्षीण चिकित्साक्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
उरःक्षत रोग के प्रकट होने पर तत्काल लाक्षाचूर्ण २-२ ग्राम की मात्रा में मधु के साथ २-२ घंटे पर दें। उरःक्षत के रोगी के पार्श्व या वस्ति के शूल में तथा मन्दाग्नि में लाक्षाचूर्ण को मधु से दें। **अतिसार** हो तो नागरमोथा, अतीस, पाठा, कुटजत्वक् चूर्ण के साथ लाक्षा-चूर्ण का प्रयोग करें। **उरःक्षती की अग्नि तीव्र हो** तो लाक्षादि क्षीर या इक्ष्वालिकादि क्षीर का प्रयोग करें। **कास पार्श्वशूल में** —मधुकादि योग का प्रयोग करें। **रक्त की अतिप्रवृत्ति में**—मुर्गे का अण्डा या चटक का अण्डा दें अथवा जांगल पशु-पक्षियों के रक्त को यूष या जल के साथ पिलायें। **रक्तष्ठीवन में** —पुनर्नवामूल के चूर्ण को शालिचावल के चूर्ण के साथ घी में भूनकर दूध में मुनक्के का क्वाथ डालकर, पकाकर पिलायें अथवा मधूकादि क्षीर योग पिलायें। **मूढवात में**—सुराभृष्ट अजामेद खिलायें। **क्षीणता दौर्बल्य तथा अनिद्रा में**—घृतभृष्ट अजामेद मलाई और चीनी के साथ खिलायें। **रक्त-मांसवर्धनार्थ**—पिप्पली-मधु-युक्त घृतभृष्ट क्रव्याद मांसरस दें। **शुक्रक्षीणता में**—न्यग्रोधादिसिद्ध दुग्धनिःसृत घी के साथ शालि चावल का भात खिलायें या यष्टीनागवलाघृत या कोललाक्षादि घृत का प्रयोग करें।	नष्टशुक्र, दुर्बल, कृश, क्षतक्षीण के रोगियों को अमृत सदृश जीवनदाता, बृंहण एवं वृष्य **अमृतप्राशघृत** का प्रयोग करें। मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, शोष, क्षयनाशक **श्वदंष्ट्रादिघृत** का सेवन करायें। **मधुकादि घृत** बराबर सत्तू मिलाकर खिलायें। रोगी के उपद्रवों के अनुसार सर्पिर्गुड मोदक सं० १, २, ३, ४ और ५ का आवश्यकता के अनुकूल प्रयोग करें। गाय, भैंस, बकरी, घोड़ी या हथिनी के दूध के साथ घृतभृष्ट जौ के आटे को अनार के रस से अम्ल बनाकर, पकाकर खिलायें। **अग्निमान्द्य हो** तो दीपन-पाचन औषधों को दें। **अतिसार हो** तो यक्ष्मा रोग में कथित ग्राही औषध खिलायें। **अग्निसन्धुक्षणार्थ**—सैन्धवादि चूर्ण और षाडव का प्रयोग करें। **पुष्टि, बल एवं आरोग्य के लिए**—नागबला का कल्प विधान से प्रयोग करें अथवा मण्डूकपर्णी, सोंठ या मुलहठी का कल्प प्रयोग करें। **अतिस्त्रीसेवनजन्य वस्तिगत वात विकार में**—वातघ्न, बृंहण एवं वृष्य योगों का प्रयोग करें। दूध में चीनी, मधु, घी और पिप्पली चूर्ण डालकर पिलायें। विदारीकन्द क्वाथ तथा गन्ने के रस में सिद्ध मुद्गयूष को अनारदाने के रस से अम्ल बनाकर घी से छौंककर पिलायें।	शरीर की धातुओं को बढ़ाने वाला सन्तर्पण आहार देना चाहिए। यथा—जौ या गेहूँ के आटे को घी में भूनकर दूध में पकाकर खिलायें या जौ के सत्तू में घी, चीनी एवं मधु मिलाकर दूध के साथ दें या सक्तुमन्थ पिलायें। जीवनीय द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस भोजन के साथ दें। शीतल, जलन न पैदा करने वाला, लघुगुणयुक्त और हित-कर आहार दें। यक्ष्मा, कास तथा रक्तपित्त रोग में जो पथ्य निर्दिष्ट हैं, वे ही पथ्य क्षतक्षीण में भी रोगी की अग्नि तथा सात्म्य का विचार कर देना चाहिए। जैसे शालि या साठी का चावल, जौ, गेहूँ, मूँग, धान का लावा दें। लौकी, परवर, सेमर का फूल, कचनार का फूल, आँवला खाना चाहिए। बकरी या गाय का दूध, घी, मक्खन, केला, फालसा, सिंघाड़ा, कमलगट्टा, कमल की जड़, मीठा अंगूर, किसमिस, कच्चा नारियल और गन्ने के रस का सेवन करना चाहिए।

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'श्वयथुचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—क्षतक्षीण रोग के वर्णन के पश्चात् शोथ रोग का वर्णन किया जा रहा है, क्योंकि जैसे क्षतक्षीण रोग का कारण आघात लगना है, वैसे ही शोथ भी आघात लगने से उत्पन्न होने वाला रोग है। शरीर के किसी अंग में उभार हो जाने अथवा उस स्थान में वृद्धि हो जाने को शोथ कहते हैं।

भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्धजुष्टं मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः।
महागदस्य श्वयथोर्यथावत् प्रकोपरूपप्रशमानपृच्छत् ॥ ३ ॥
तस्मै जगादागदवेदसिन्धुप्रवर्तनाद्विप्रवरोऽत्रिजस्तान्।
वातादिभेदात् त्रिविधस्य सम्यङ्निजानिजैकाङ्गजसर्वजस्य ॥ ४ ॥

श्वयथु वर्णन का उपक्रम—आचार्य अग्निवेश ने अग्रणी वैद्य, देवताओं तथा सिद्ध महापुरुषों द्वारा सम्मानित मुनिप्रवर महर्षि अत्रि के पुत्र भगवान् आत्रेय पुनर्वसु से महाव्याधि शोथ का निदान, लक्षण और उसकी चिकित्सा के विषय में प्रश्न किया।

अगदवेद अर्थात् आयुर्वेद की गङ्गा बहाने वाले अत्रिपुत्र आत्रेय, गङ्गा के उद्गम पर्वतराज हिमालय के समान महान् हैं। उन्होंने वात आदि दोषों से तीन प्रकार के एवं निज तथा अनिज (आगन्तुज) और एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में होने वाले शोथ रोग के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का उपदेश अग्निवेश को किया ॥ ३-४ ॥

शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ५ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥ ६ ॥

निज शोथ का कारण—वमन-विरेचन आदि संशोधनों से या किसी रोग के होने या भोजन न करने के कारण जो व्यक्ति कृश और निर्बल हो गये हों, वे जब क्षार पदार्थ, अम्ल वस्तु, तीक्ष्ण या उष्ण या भारी पदार्थ का आहार करते हैं; दही, बिना पका अन्न, मिट्टी, शाक, विरोधी अन्न, दूषित अन्न और कृत्रिम विषयुक्त अन्न का सेवन करते हैं, तो ये सब निज शोथ के कारण होते हैं। इसी प्रकार अर्श रोग होना, किसी प्रकार का शारीरिक श्रम न करना, शरीर का आन्तरिक शोधन (वमनादि द्वारा) या बाह्य (स्नानादि द्वारा) शोधन न करना, मर्म स्थानों पर चोट लगना, प्रसव में व्यतिक्रम ((मूढ़गर्भ) होना, वमन-विरेचन आदि संशोधनों का अथवा रोगों की चिकित्सा का सही ढंग से उपचार न किया जाना, यह सब निज अर्थात् दोषज शोथ के कारण कहे गये हैं ॥ ५-६ ॥

बाह्यास्त्वचो दूषयिताऽभिघातः काष्ठाश्मशस्त्राग्निविषायसाद्यैः।
आगन्तुहेतुः—

आगन्तुक शोथ के कारण—काठ (लाठी-डण्डा), पत्थर, शस्त्र, अग्नि, विष या लोहे की छड़ आदि से उत्पन्न आघात शरीर की बाहरी त्वचा को दूषित कर देता है। उक्त आघात के साधन आगन्तुक शोथ के कारण होते हैं।

—त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात् ॥ ७ ॥

निज शोथ के भेद—निज (दोषज) शोथ तीन प्रकार का होता है—(१) समस्त शरीर में होने वाला, (२) आधे शरीर में होने वाला और (३) शरीर के किसी एक भाग में होने वाला। इसी प्रकार सूत्र में 'च' के कथन से आगन्तुज शोथ को भी तीन प्रकार का जानना चाहिए ॥ ७ ॥

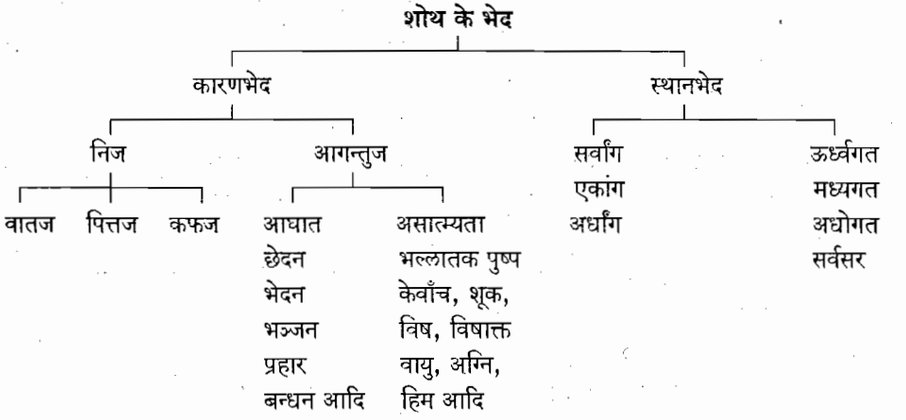

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्त्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥ ८ ॥

शोथ की सम्प्राप्ति—स्वप्रकोपक कारणों से दूषित हुआ वायु जब रक्तवाहिनी बाहरी सिराओं में पहुँचकर कफ, रक्त और पित्त को दूषित कर देता है; और रक्तवाहिनियों में बढ़े हुए कफ, रक्त एवं पित्त वायु के सञ्चरण को अवरुद्ध कर देते हैं एवं वह वायु जब इधर-उधर फैलने की चेष्टा करती है, तो उस स्थान में उभार उत्पन्नकर शोथ पैदा कर देती है ॥ ८ ॥

उरःस्थितैरूर्ध्वमधस्तु वायोः स्थानस्थितैर्मध्यगतैस्तु मध्ये।
सर्वाङ्गगः सर्वगतैः क्वचित्स्थैर्दोषैः क्वचित् स्याच्छ्वयथुस्तदाख्यः ॥ ९ ॥

विशिष्ट शोथों की विशिष्ट सम्प्राप्ति—जब वायु आदि दोष शरीर के उरो भाग आदि में सञ्चित होते हैं, तो ऊर्ध्व शरीर में शोथ उत्पन्न करते हैं। जब वायु के स्थान पक्वाशय आदि में दोष सञ्चित होते हैं, तो नाभि के नीचे अधोभाग में शोथ उत्पन्न करते हैं। जब दोष शरीर के मध्यभाग (उरःपक्वाशयमध्य) गत होते हैं, तो शरीर के मध्यभाग में शोथ उत्पन्न करते हैं। यदि दोष सर्वाङ्ग में फैले हुए होते हैं तो सर्वाङ्ग शोथ उत्पन्न करते हैं। यदि दोष शरीर के किसी एक भाग में कहीं पर स्थित होते हैं, तो स्थानीय रूप से उसी अंग में शोथ उत्पन्न करते हैं तब उसी अंग के नाम से वह शोथ कहा जाता है, जैसे—नासाशोथ, कर्णशोथ, गलशोथ आदि। इस प्रकार स्थान की दृष्टि से ऊर्ध्वशोथ, अधःशोथ, मध्यशोथ, सर्वाङ्गशोथ, एकाङ्गशोथ आदि नाम से शोथ कहा जाता है ॥ ९ ॥

ऊष्मा तथा स्याद्वयथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम्।

शोथ का पूर्वरूप—शोथ होने वाले स्थान में गर्मी का अनुभव होना, जलन होना और वहाँ की रक्तवाहिनियों में तनाव होना, ये तीन शोथ के पूर्वरूप हैं।

सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गैस्तत्संज्ञमभ्येति भिषग्जितं च॥ १०॥

सभी शोथ त्रिदोषज—सभी शोथ त्रिदोषज होते हैं, किन्तु जिस शोथ में जिस दोष के लक्षण अधिक होते हैं, उसे उसी दोष के नाम से कहा जाता है और उसी दोष के अनुसार उसकी चिकित्सा भी की जाती है॥ १०॥

सगौरवः स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमुष्माऽथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षाऽङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम्॥ ११॥

शोथ के सामान्य लक्षण—शोथ वाले स्थान में भारीपन, शोथ का एक जैसा सदा न रहना अर्थात् कभी कम, कभी अधिक होना (ऊँचा होना), गर्मी होना, सिराओं का पतला होना, रोंगटे खड़े हो जाना और अंगों में विवर्णता का हो जाना—ये शोथ के सामान्य लक्षण हैं॥ ११॥

चलस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात्॥ १२॥

वातज शोथ के लक्षण—वायु से होने वाला शोथ अस्थिर और बढ़ने-घटने वाला होता है। उसमें त्वचा में पतलापन, कठोरता, लालिमा तथा कालापन होता है। अकारण ही शोथ स्थान में सूनापन, रोमाञ्च या झिनझिनाहट और पीड़ा होती है। दबाने पर वह स्थान दब जाता है, किन्तु छोड़ देने पर फिर उठ जाता है और यह शोथ दिन में बढ़ जाता है॥ १२॥

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान् भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः।
य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान्॥ १३॥

पित्तज शोथ के लक्षण—पित्त से होने वाला शोथ छूने में कोमल होता है, गन्धयुक्त होता है, वर्ण में काला या पीला होता है। शोथ का रोगी शिर में चक्कर, ज्वर, पसीना आना, प्यास और मद (हल्का नशा) का अनुभव करता है। शोथ में जलन होती है, स्पर्श करने पर पीड़ा होती है, आँखों में लाली होती है और शोथ के स्थान में दाह होता है और वह पक भी जाता है; इन लक्षणों के होने पर शोथ को पित्तज शोथ जानना चाहिए॥ १३॥

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद् [1]रात्रिबली कफात्मकः॥ १४॥

कफज शोथ के लक्षण—जिस शोथ में भारीपन हो, स्थिरता हो, जिसका वर्ण पाण्डु (श्वेत) हो, रोगी को अरोचक हो, मुख से लालस्राव होता हो, निद्रा की अधिकता हो, वमन होता हो और अग्नि की मन्दता हो, जो शोथ कठिनाई से उत्पन्न होता हो और कृच्छ्रसाध्य हो, जो दबाने पर दब जाता हो और तुरत उठकर बराबर नहीं होता हो तथा रात्रि के समय बढ़ जाता हो, उसे कफज शोथ जानना चाहिए॥ १४॥

कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवेदुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैर्युतः।
स हन्ति मर्मानुगतोऽथ राजिमान् परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः॥ १५॥

१. 'रात्रौ स्रोतोरोधजेन देहक्लेदेनाचेष्टया च कफस्य वृद्धत्वात् तज्जनितशोथो बलवान् भवति, दिवा तु स्फुटस्रोतसि शरीरे चेष्टायुक्ते न कफो वली भवति, किन्तु वायुः; तेन वातशोथो दिवा वली भवति, कफशोथस्तु हीयते'—चक्रपाणि टीका।

शोथ का असाध्य लक्षण—जो शोथ रोगों के कारण कृश तथा दुर्बल हुए व्यक्ति को हुआ हो अथवा १. वमन, २. तृष्णा, ३. अरुचि, ४. श्वास, ५. ज्वर, ६. अतिसार एवं ७. दौर्बल्य—इन उपद्रवों के साथ उत्पन्न हुआ हो, जो शोथ मर्मस्थान तक पहुँच गया हो, जिस पर सिराओं का समूह उभड़ा हुआ हो, जो निर्बल व्यक्ति को हुआ हो, जो शोथ शरीर के सभी भागों में फैल गया हो और जिस शोथ से पानी बह रहा हो, तो इन लक्षणों को देखकर शोथ को असाध्य जानना चाहिए॥ १५॥

अहीनमांसस्य य एकदोषजो नवो बलस्थस्य सुखः स साधने।

शोथ का साध्य लक्षण—जो शोथ का रोगी हीन मांस वाला न हो, जो शोथ किसी एक दोष से उत्पन्न हो, जो नया हो और रोगी बलवान् हो तो वह शोथ सुखसाध्य होता है।

निदानदोषर्तुविपर्ययक्रमैरुपाचरेत्तं बलदोषकालवित्॥ १६॥

शोथ का चिकित्सासूत्र—रोगी के शारीरिक बल एवं उसके रोग के बल को, रोग के उत्पादक दोष एक या अनेक हैं, साम हैं या निराम हैं और रोग के क्रियाकाल को जानने वाला वैद्य, रोग के निदान (जिन कारणों से रोग हुआ हो), रोग से सम्बद्ध वात आदि दोष और रोग उत्पन्न होने की ऋतु के विपरीत क्रम से साध्य शोथ की चिकित्सा करे॥ १६॥

अथ मज्जं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो विरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम्॥ १७॥
उपाचरेत् स्नेहभवं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत् स्नेहविधिं च रूक्षजे।
विबद्धविट्केऽनिजले निरूहणं घृतं तु तिक्तं निजले सतिक्तकम्॥ १८॥
पयश्च मूर्च्छाऽस्तिदाहतर्षिते विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते।
कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत्॥ १९॥

अन्य चिकित्सासूत्र—(१) जब आम दोष के कारण शोथ रोग की उत्पत्ति हुई हो, तब लंघन (लघुत्व जनक) और पाचनकारक औषधों के प्रयोग द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। (२) जब दोष उग्ररूप से बढ़े हुए हों, तो वमन-विरेचन आदि के प्रयोग द्वारा संशोधन करके चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिए। (३) जब शोथ शिरोभाग में हुआ हो, तो नस्य के प्रयोग द्वारा शिरोविरेचन कराना चाहिए। (४) शरीर के अधोभाग में शोथ होने पर विरेचन के द्वारा विशोधन करना[1] चाहिए। (५) शरीर के ऊपरी भाग में शोथ होने पर वमन के प्रयोग से संशोधन करना चाहिए। (६) जब स्निग्ध पदार्थों के अधिक उपयोग के कारण शोथ रोग हुआ हो, तो द्रव्यों के सेवन तथा रूक्षताकारक प्रयोगों से चिकित्सा करनी चाहिए। (७) इसी प्रकार जब रूक्ष पदार्थों के अधिक उपयोग से शोथ की उत्पत्ति हुई हो, तो स्निग्ध पदार्थों के सेवन तथा स्निग्धताकारक प्रयोगों से चिकित्सा करनी चाहिए। (८) जब शोथ वातदोष के कारण हुआ हो और रोगी को मल का विबन्ध हो, तो निरूहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। (९) जब शोथ पित्त तथा वात से उत्पन्न हुआ हो, तो तिक्त पदार्थों से सिद्ध किया हुआ घृत सेवन कराना चाहिए। (१०) शोथ के रोगी को जब मूर्च्छा, बेचैनी, जलन और प्यास की अधिकता हो, तो तिक्त पदार्थों से क्षीरपाकविधि से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए और यदि उसका विशोधन कराना आवश्यक प्रतीत हो, तो दूध को गोमूत्र के साथ देना चाहिए। (११) कफ से उत्पन्न शोथ में क्षारद्रव्य, कटुरस वाले द्रव्य और उष्ण द्रव्यों तथा गोमूत्र, मट्ठा एवं आसवों का युक्तिपूर्वक प्रयोग करके उपचार करना चाहिए॥ १७-१९॥

१. श्रीगंगाधर ने इसके विपरीत व्याख्या की है—'ऊर्ध्वगं शोथमधो विरेचनैरुपाचरेत्, तथाऽधः शोथमूर्ध्व-विरेचनैरुपाचरेत्'।

ग्राम्याब्जानूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं नवान्नं
गौडं पिष्टान्नं दधि तिलकृतं विज्जलं मद्यमम्लम्।
धाना वल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि
स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान् वर्जयेन्मैथुनं च॥ २०॥

शोथ में अपथ्य—शोथ के रोगी को ग्रामीण, जलीय या आनूप प्रदेश के पशु-पक्षियों का मांस, निर्बल पशुओं का मांस, सूखा शाक, नया अन्न, गुड़ के बनाये गये पदार्थ, चावल के आटे से बने पदार्थ, दही, तिल के बने पदार्थ, चिकने पदार्थ, मद्य, खट्टे पदार्थ, अंकुरित भुने हुए जौ (जैसे-परमल), सूखा मांस, पथ्य और अपथ्य वस्तुओं को एक साथ मिलाकर खाना, गुरु पदार्थ, असात्म्य (जो रोगी के लिए अनुकूल न पड़ता हो) पदार्थ, जलन उत्पन्न करने वाले पदार्थ तथा दिन में सोना और स्त्री प्रसंग करना छोड़ देना चाहिए॥ २०॥

व्योषं त्रिवृत्तिक्तकरोहिणी च सायोरजस्का त्रिफलारसेन।
पीतं कफोत्थं शमयेत्तु शोफं गव्येन मूत्रेण हरीतकी च॥ २१॥

कफज शोथ चिकित्सा—(१) सोंठ, मरिच, पीपर, निशोथ, कुटकी—इनका चूर्ण और लौह भस्म सब बराबर लेकर रख लें। इसमें से मात्रानुसार (२ ग्राम) प्रातः-सायं त्रिफला के क्वाथ से प्रयोग करें। यह योग कफज शोथ को शान्त करता है। इसी प्रकार (२) हरीतकी चूर्ण (२-३ ग्राम) का गोमूत्र के साथ प्रयोग करना भी कफज शोथ नाशक होता है॥ २१॥

हरीतकीनागरदेवदारु सुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवं वा।
सर्वं पिबेत् त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं स्नातश्च जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात्॥ २२॥

हरीतक्यादि योग—(१) हर्रे, सोंठ और देवदारु, इनके चूर्ण को (२ ग्राम) किंचित् उष्ण जल से सेवन करें या (२) सोंठ, हर्रे, देवदारु और गदहपुर्ना के चूर्ण को गोमूत्र के साथ पान करें और उसके पच जाने के बाद दूध-रोटी खाना चाहिए। ये दोनों योग तीनों (वातज-पित्तज-कफज) शोथों में एवं त्रिदोषज शोथ में भी सेवन करना चाहिए॥ २२॥

पुनर्नवानागरमुस्तकल्कान् प्रस्थेन धीरः पयसाऽक्षमात्रान्।
मयूरकं मागधिकां समूलां सनागरां वा प्रपिबेत् सवाते॥ २३॥

वातज शोथ की चिकित्सा—वातज शोथ में गदहपुर्ना, सोंठ और नागरमोथा—इनका चूर्ण १ कर्ष की मात्रा में १ प्रस्थ दूध के साथ लेना चाहिए अथवा अपामार्ग (चिचिड़ा), पीपर, पिपरामूल और सोंठ—इनका १ कर्ष चूर्ण १ प्रस्थ दूध के साथ लेना चाहिए॥ २३॥

वक्तव्य—उक्त श्लोक की टीका में चक्रपाणि ने द्रव्य की अपेक्षा दूध की मात्रा अधिक होने से द्रव्यों के चूर्ण को दूध में डालकर आधा दूध जलाकर छानकर पीने के लिए कहा है, क्योंकि चूर्ण की अपेक्षा दुग्ध की मात्रा अधिक है और इसे पकाने के लिए जल भी नहीं डालना चाहिए। इसी प्रकार मयूरकादि वाला दूसरा योग भी प्रयोग करना चाहिए। 'पुनर्नवित्यादौ प्रस्थमानं क्षीरमतिबहुत्वात्तदर्धावशिष्टं पक्त्वा पेयम्। मयूरकमित्यादावपि पूर्वयोगोक्तं क्षीरं द्रव्यमानं च ज्ञेयम्' चक्रपाणि टीका।

दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणचित्रकैर्वा पयः शृतं दोषहरं पिबेन्ना।
द्विप्रस्थमात्रं तु पलार्धिकैस्तैरर्धावशिष्टं पवने सपित्ते॥ २४॥
सशुण्ठिपीतद्रुरसं प्रयोज्यं श्यामोरुबूकोषणसाधितं वा।
त्वग्दारुवर्षाभुमहौषधैर्वा गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा॥ २५॥

वात-पित्तज शोथ की चिकित्सा—१. दन्ती, निशोथ, सोंठ, मरिच, पीपर और चित्रक का चूर्ण प्रत्येक आधा-आधा पल (२-२ कर्ष) २ प्रस्थ दूध में डालकर पकायें और आधा बच जाय, तो छान

लें। उसे ४-५ बार में थोड़ा-थोड़ा करके पिलाना चाहिए। इसका प्रयोग वात-पित्तज शोथ में करना चाहिए। २. सोंठ और देवदारु के क्वाथ से सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना चाहिए अथवा ३. काली निशोथ, एरण्ड की जड़ और मरिच के चूर्ण से क्षीरपाक विधि से सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना चाहिए अथवा ४. दालचीनी, देवदारु, गदहपुर्ना और सोंठ से पकाया दूध पिलायें या ५. गुरुच, सोंठ और दन्तीमूल के कल्क से क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध पिलायें॥ २४-२५॥

सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपि मासं पयः पिबेद् भोजनवारिवर्जी।
गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा क्षीराशनो मूत्रमथो गवां वा॥ २६॥

दुग्धाहार—(शोथ के रोगी की प्रकृति एवं बल आदि का विचार कर उसे मात्र दुग्धाहार दे। दुग्ध की मात्रा क्रमशः बढ़ानी चाहिए और उसी से क्षुधा की तृप्ति करनी चाहिए) १. शोथग्रस्त व्यक्ति अन्नाहार और जल पीना छोड़कर एक सप्ताह तक या (बर्दास्त हो सके तो) एक महीने तक केवल ऊँटनी का दूध पीकर रहे अथवा २. वह गाय के दूध में गोमूत्र डालकर पान करे अथवा ३. भैंस के दूध में गोमूत्र डालकर पान करे या ४. केवल दूध का ही आहार के रूप में प्रयोग करता हुआ औषध के रूप में गोमूत्र का पान करता रहे॥ २६॥

तक्रं पिबेद् वा गुरुभिन्नवर्चाः सव्योषसौवर्चलमाक्षिकं वा।
गुडाभयां वा गुडनागरं वा सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः॥ २७॥

शोथातिसार चिकित्सा—शोथ के रोगी को जब उदर में भारीपन के साथ टूटकर पतला शौच हो, तो सोंठ, मरिच, पीपर और सोंचर नमक का चूर्ण (१० ग्राम) तथा मधु (१०-२० ग्राम) डालकर मट्ठा पीना चाहिए। और यदि अपानवायु के साथ कभी-कभी पतला कच्चा और विबन्धयुक्त शौच होता हो, तो गुड़ (१२ ग्राम) और हर्रे का चूर्ण (५ ग्राम) उष्णोदक से खाना चाहिए अथवा गुड़ और सोंठ का चूर्ण (क्रमशः १० ग्राम और ५ ग्राम) गरम जल के साथ सेवन करना चाहिए॥ २७॥

विड्वातसङ्गे पयसा रसैर्वा प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम्।
स्रोतोविबन्धेऽग्निरुचिप्रणाशे मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत् सुजातान्॥ २८॥

विबन्ध में उपचार—जब शोथी व्यक्ति को अपानवायु तथा मल का विबन्ध हो, तो भोजन के पहले दूध (२०० ग्राम) या मांसरस में (२० ग्राम) एरण्ड तैल मिलाकर पिलाना चाहिए। यदि स्रोतों में अवरोध हो, अग्नि मन्द हो और भोजन में अरुचि हो, तो विधि-विधान से अच्छी प्रकार बनी हुई मदिरा एवं अरिष्टों का पान कराना चाहिए॥ २८॥

गण्डीरभल्लातकचित्रकांश्च व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयं च।
द्विप्रस्थिकं गोमयपावकेन द्रोणे पचेत् कूर्चिकमस्तुनस्तु॥ २९॥
त्रिभागशेषं च सुपूतशीतं द्रोणेन तत् प्राकृतमस्तुना च।
सितोपलायाश्च शतेन युक्तं लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीनाम्॥ ३०॥
वैहायसे स्थापितमादशाहात् प्रयोजयंस्तद्विनिहन्ति शोफान्।
भगन्दरार्शःक्रिमिकुष्ठमेहान् वैवर्ण्यकार्श्यानिलहिक्कनं च॥ ३१॥
इति गण्डीराद्यरिष्टः।

गण्डीराद्यरिष्ट—गण्डीर दूब, शुद्ध भिलावा, चित्रकमूल, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग, वनभण्टा, रेंगनी—इन सबको मिलाकर दो प्रस्थ की मात्रा में लेकर मोटा भूसा की तरह कूट ले और एक द्रोण (१६ प्रस्थ) दही के पानी में डालकर गोइठा की आग पर पकाये। जब जलकर एक तिहाई हिस्सा पानी बचे, तो उसे छान ले। फिर उस जल में एक द्रोण प्राकृत मस्तु (दही में जो पानी छूटकर अलग हो

जाता है) मिलायें तथा एक सौ पल (१ तुला) मिश्री मिला दें। तत्पश्चात् एक बड़े मिट्टी के भाण्ड में भीतर की ओर चित्रक की जड़ और पीपर के पिसे हुए कल्क का लेप लगाकर उसे सुखा दें और सूख जाने पर उस भाण्ड में उक्त द्रव रखकर उस पात्र को खुले आसमान के नीचे सुरक्षित कर दश दिन तक रख दें। बाद में उसे छानकर सीसे के जारों में भर ले। इसे रोगी की प्रकृति के अनुसार उचित मात्रा में (२० ग्राम के लगभग समान जल मिलाकर) भोजन के बाद पीने को दें। यह अरिष्ट शोथ, भगन्दर, अर्श, कृमिरोग, कुष्ठप्रमेह, विवर्णता, कृशता और वातज हिक्का को नष्ट करता है॥ २९-३१॥

वक्तव्य—इस अरिष्ट में कूर्चिक मस्तु और प्राकृत मस्तु ये दो शब्द आये हैं। इनमें दही और दूध मिलाकर पकाकर उसके जमे हुए भाग से पृथक् हुए जल को 'कूर्चिकमस्तु' कहते हैं; यथा—'दध्ना सह पयः पक्वं सा भवेद्दधिकूर्चिका'। दही में से जो पानी अलग हो जाता है, उसे 'प्राकृत मस्तु' कहते हैं।

काश्मर्यधात्रीमरिचाभयाक्षद्राक्षाफलानां च सपिप्पलीनाम्।
शतं शतं जीर्णगुडात्तुलो च सङ्क्षुद्य कुम्भे मधुना प्रलिप्ते॥ ३२॥
सप्ताहमुष्णे द्विगुणं च शीते स्थितं जलद्रोणयुतं पिबेन्ना।
शोफान्विबन्धान्कफवातजांश्च निहन्त्यरिष्टोऽष्टशतोऽग्निकृच्च॥ ३३॥

इत्यष्टशतोऽरिष्टः।

अष्टशत अरिष्ट—गम्भार का फल, आँवले का फल निर्बीज, काली मरिच, हर्रे, बहेड़ा निर्बीज, मुनक्का और पीपर—प्रत्येक सौ-सौ पल और पुराना गुड़ एक तुला (१०० पल) लेकर सबको मोटा कूटकर और गुड़ के टुकड़े कर किसी मधुलिप्त मिट्टी के भाण्ड में दो द्रोण जल में मिलाकर गरमी के मौसम में सात दिन तक और जाड़े में चौदह दिन तक मुख पर कपड़मिट्टी से बन्द कर सुरक्षित रख दें। फिर उचित समय पर छानकर प्रयोग करने से यह अष्टशत अरिष्ट कफ-वातज शोथ और विबन्ध को ठीक करता है और जठराग्नि की वृद्धि करता है॥ ३२-३३॥

वक्तव्य—यहाँ काश्मर्य आदि सात द्रव्य और गुड़, ये आठों द्रव्य सौ-सौ पल हैं। इसलिए कुल का योग आठ सौ होने से इस अरिष्ट का नाम अष्टशत रखा गया है। यहाँ जल को पकाने की बात नहीं कही गयी है, फिर भी इसका नाम अरिष्ट है, क्योंकि चरकाचार्य ने अरिष्ट को क्वाथ सिद्ध और आसव को अपक्व जलसिद्ध यह भेद न मानकर दोनों को समान ही माना है और दोनों स्थितियों में दोनों का नामकरण किया है। यहाँ द्रवों के प्रमाण के अनुसार जल की मात्रा अल्प है, अतः उसे दूना लेना उचित है।

पुनर्नवे द्वे च बले सपाठे दन्तीं गुडूचीमथ चित्रकं च।
निदिग्धिकां च त्रिपलानि पक्त्वा द्रोणावशेषे सलिले ततस्तम्॥ ३४॥
पूत्वा रसं द्वे च गुडात् पुराणात्तुले मधुप्रस्थयुतं सुशीतम्।
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं पल्ले यवानां परतस्तु मासात्॥ ३५॥
चूर्णीकृतैरर्धपलांशिकैस्तं पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः।
गन्धान्वितं क्षौद्रघृतप्रदिग्धे जीर्णे पिबेद् व्याधिबलं समीक्ष्य॥ ३६॥
हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुं प्रवृद्धं प्लीहज्वरारोचकमेहगुल्मान्।
भगन्दरं षड्जठराणि कासं श्वासं ग्रहण्यामयकुष्ठकण्डूः॥ ३७॥
शाखानिलं बद्धपुरीषतां च हिक्कां किलासं च हलीमकं च।
क्षिप्रं जयेद् वर्णबलायुरोजस्तेजोऽन्वितो मांसरसान्नभोजी॥ ३८॥

इति पुनर्नवाद्यरिष्टः।

पुनर्नवाद्यरिष्ट—श्वेत और लाल दोनों प्रकार की गदहपुर्ना, बरियार और ककहिया, दोनों प्रकार की बला, पाठा, दन्तीमूल, गुरुच, चित्रक की जड़, रेंगनी—इन नौ द्रव्यों को तीन-तीन पल लेकर मोटा कूटकर ४ द्रोण जल में क्वाथ बनायें। जब १ द्रोण क्वाथ बचे तो छानकर उसमें २ तुला (२०० पल) पुराना गुड़ डाले और ठण्डा हो जाने पर १ प्रस्थ मधु डालकर मुख बन्द कर घृतलिप्त मृत्पात्र रखकर जौ की ढेर में गाड़कर रख दें। एक मास बीत जाने पर उसे छानकर किसी दूसरे मृत्पात्र जिसमें घी-मधु भीतर में चुपड़ा हुआ हो, रख दें और उसमें तेजपात, दालचीनी, छोटी इलायची, काली मरिच, सुगन्धबाला तथा काला अगर—प्रत्येक आधा-आधा पल लेकर इनका चूर्ण करके उसमें डालकर १-२ सप्ताह तक पुनः मुख बन्द कर जौ के ढेर में रख दें और बाद में जब वह सुगन्धित हो जाय, तब उसे छानकर स्वच्छ बोतलों में भर लें और रोग के बल के अनुसार (२०-३० ग्राम की मात्रा में) भोजन के पच जाने पर पीना चाहिए।

यह अरिष्ट हृदयरोग, पाण्डुरोग, बढ़ा हुआ शोथ, प्लीहरोग, ज्वर, अरोचक, प्रमेह, गुल्म, भगन्दर, छह प्रकार के उदर रोग (क्योंकि छिद्रोदर और जलोदर असाध्य कहे गये हैं), खाँसी, श्वास, ग्रहणी विकार, कुष्ठ, कण्डू, शाखागत वातविकार, मलावरोध, हिचकी, श्वेतकुष्ठ और हलीमक को शीघ्र नष्ट करता है। इसका सेवन करने वाला व्यक्ति उत्तम वर्ण, बल, आयु, ओज और तेज से सम्पन्न हो जाता है। इसके प्रयोगकाल में मांसरस के साथ अन्न का सेवन करना चाहिए॥ ३४-३८॥

फलत्रिकं दीप्यकचित्रकौ च सपिप्पलीलोहरजो विडङ्गम्।
चूर्णीकृतं कौडविकं द्विरंशं क्षौद्रं पुराणस्य तुलां गुडस्य॥ ३९॥
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं यवेषु तानेव निहन्ति रोगान्।

इति त्रिफलाद्यरिष्टः।

फलत्रिकाद्यरिष्ट—आँवला, हर्रा, बहेड़ा, जवायन, चित्रक की जड़, पीपर, लौहभस्म और वायविडंग—इन सबका मोटा चूर्ण १-१ कुडव (४-४ पल), मधु २ कुडव और पुराना गुड़ १ तोला तथा जल आधा द्रोण एकत्र कर किसी घृतलिप्त मिट्टी के पात्र में रखकर, मुख बन्द कर १ मास तक (जौ की ढेर में या भूसे में) सुरक्षित रख दें। बाद में छानकर प्रयोग में लायें। यह उन सभी रोगों को नष्ट करता है, जिन (हृद्रोग, पाण्डु, प्लीहा, प्रमेह आदि) रोगों को पुनर्नवाद्यरिष्ट की फलश्रुति में गिनाया गया है॥ ३९॥

ये चार्शसां पाण्डुविकारिणां च प्रोक्ता हिताः शोफिषु तेऽप्यरिष्टाः॥ ४०॥

अन्य हितकर अरिष्ट—अर्श तथा पाण्डुरोग की चिकित्सा में जिन अरिष्टों का प्रयोग बतलाया गया है वे सब अरिष्ट शोथ रोग में भी हितकारक होते हैं॥ ४०॥

कृष्णा सपाठा गजपिप्पली च निदिग्धिका चित्रकनागरे च।
सपिप्पलीमूलरजन्यजाजीमुस्तं च चूर्णं सुखतोयपीतम्॥ ४१॥
हन्यात् त्रिदोषं चिरजं च शोफं कल्कश्च भूनिम्बमहौषधस्य।
अयोरजस्त्र्यूषणयावशूकचूर्णं च पीतं त्रिफलासनेन॥ ४२॥

कृष्णादि चूर्ण—१. पीपर, पाठा, गजपीपर, छोटी कटेरी, चित्रक की जड़, सोंठ, पिप्पलीमूल, हल्दी, जीरा और नागरमोथा—इनका बारीक चूर्ण बनाकर रख लें। २. चिरायता और सोंठ, इनका चूर्ण बना लें। इन दोनों चूर्णों को सुखोष्ण (किञ्चित् गरम) जल से सेवन करें। ये चूर्ण तीनों दोषों से पृथक्-पृथक् होने वाले या त्रिदोषज शोथ को तथा पुराने शोथ को नष्ट करते हैं। इसी प्रकार ३. लौहभस्म, सोंठ, मरिच, पीपर और यवक्षार का चूर्ण त्रिफला के क्वाथ से सेवन करने से त्रिदोषज तथा चिरकालज शोथ को नष्ट करता है॥ ४१-४२॥

क्षारद्वयं स्याल्लवणानि चत्वार्ययोरजो व्योषफलत्रिके च।
सपिप्पलीमूलविडङ्गसारं मुस्ताजमोदामरदारुबिल्वम्॥ ४३॥
कलिङ्गकाश्चित्रकमूलपाठे यष्ट्याह्वयं सातिविषं पलांशम्।
सहिङ्गुकर्षं त्वणुशुष्कचूर्णं द्रोणं तथा मूलकशुण्ठकानाम्॥ ४४॥
स्याद् भस्मनस्तत् सलिलेन साध्यमालोड्य यावद्घनमप्रदग्धम्।
स्त्यानं ततः कोलसमां तु मात्रां कृत्वा सुशुष्कां विधिनोपयुञ्ज्यात्॥ ४५॥
प्लीहोदरश्वित्रहलीमकार्शःपाण्ड्वामयारोचकशोषशोफान् ।
विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्च सश्वासकासाः प्रणुदेत् सकुष्ठाः॥ ४६॥
इति क्षारगुटिका।

क्षारगुटिका—यवाखार, सज्जीखार, सोंचरनमक, सेंधानमक, विडनमक, साँभरनमक, लौहभस्म, सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, पिपरामूल, वायविडंग (भूसीरहित), नागरमोथा, जवायन, देवदारु, बेलसोंठ, इन्द्रजौ, चित्रकमूल, पाठा, मुलहठी और अतीस—प्रत्येक १-१ पल की मात्रा में लेकर सुखाकर बारीक चूर्ण कर लें। हींग को घी में भूनकर शुद्ध कर १ कर्ष लें और चूर्ण कर पहले वाले चूर्ण में मिला दें।

सूखी मूली की १ द्रोण भस्म को ४ द्रोण जल में घोलकर २१ बार कपड़े से छानें, फिर उस क्षारजल में पूर्वोक्त चूर्ण को डालकर किसी पात्र में रखकर मन्द-मन्द आँच पर पकायें और लकड़ी के डण्डे से चलाते रहें। सावधान रहें कि जलने न पाये और उसे गाढ़ा कर लें, जिससे कि गोली बनायी जा सके। फिर उस घनभाग की बेर को बराबर गोलियाँ बनाकर ठीक से सुखाकर सुरक्षित रख लें। इन्हें विधिपूर्वक (रोगी के बल आदि का विचार कर उचित मात्रा में गरम जल या त्रिफला क्वाथ के अनुपान से) प्रयोग करें।

यह क्षारगुटिका प्लीहावृद्धि, उदररोग, श्वेतकुष्ठ, हलीमक, अर्श, पाण्डुरोग, अरोचक, शोष, शोथ, विसूचिका, गुल्म, कृत्रिम विष, अश्मरीरोग, श्वास, कास और कुष्ठ रोग को नष्ट करती है॥ ४३-४६॥

प्रयोजयेदार्द्रकनागरं वा तुल्यं गुडेनार्धपलाभिवृद्धया।
मात्रा परं पञ्चपलानि मासं जीर्णे पयो यूषरसाश्च भक्तम्॥ ४७॥
गुल्मोदरार्शःश्वयथुप्रमेहाञ् श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान्।
सकामलाशोषमनोविकारान् कासं कफं चैव जयेत् प्रयोगः॥ ४८॥
इति गुडार्द्रकप्रयोगः।

गुडार्द्रक प्रयोग—गुड़ और आर्द्रकनागर अर्थात् अदरख, इन दोनों को अलग-अलग १-१ कर्ष लें, जिससे दोनों मिलकर आधा पल हो जायें और प्रतिदिन आधा-आधा पल बढ़ाते हुए (१० दिन में) ५ पल तक की पूर्ण मात्रा का सेवन करें तथा वही ५ पल की मात्रा ग्यारहवें दिन से तीसवें दिन तक सेवन करें। इस प्रकार १ मास तक यह गुडार्द्रक प्रयोग सेवन करें। औषध के पच जाने के बाद दूध के साथ या यूष के साथ या मांसरस के साथ अन्न का सेवन करें। यह प्रयोग गुल्म, उदररोग, अर्श, शोथ, प्रमेह, श्वासरोग, प्रतिश्याय, अलसक, अविपाक, कामलारोग, शोष (राजयक्ष्मा), मानसविकार, कास और कफ वृद्धि को दूर करता है॥ ४७-४८॥

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने अपने 'चक्रदत्त' नामक चिकित्सा-ग्रन्थ में इस योग को इस प्रकार कहा है—गुड़ और अदरख या गुड़ और सोंठ (चूर्ण) को मिलाकर १ कर्ष से प्रारम्भ कर प्रतिदिन १-१ कर्ष बढ़ाते हुए (१२ दिन में) ३ पल तक की मात्रा सेवन करें और वही ३ पल की मात्रा १५ दिन तक या १ मास तक सेवन करते रहें। यह प्रयोग अधिक व्यावहारिक प्रतीत हो रहा है। यहाँ मूल में आधे पल (२ कर्ष) से बढ़ाकर १० पल की मात्रा पूर्ण मात्रा कही गयी है, उसके अनुसार १ दिन में

जो मात्रा सेवनीय है उसे दिन में ४ बार करके लें और इस प्रकार अधिकतम मात्रा को ५-६ बार दिन में लेना चाहिए, जिससे उसके सेवन में उद्विग्नता न हो।

रसस्तथैवार्द्रकनागरस्य पेयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात्।

आर्द्रकस्वरस प्रयोग—पूर्वोक्त प्रकार से ही आधा पल की मात्रा में अदरक का रस १ कर्ष और गुड़ १ कर्ष मिलाकर सेवन करें और आधा-आधा पल प्रतिदिन बढ़ाकर (१० दिन में) ५ पल तक ले जायें और वही मात्रा ग्यारहवें दिन से तीसवें दिन तक १ मास पर्यन्त सेवन करते रहें तथा औषध के पच जाने पर दूध के साथ अन्न (रोटी आदि) का सेवन करना चाहिए।

जत्वश्मजं वा त्रिफलारसेन हन्यात् त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य॥ ४९॥
इति शिलाजतुप्रयोगः।

शिलाजतु प्रयोग—शुद्ध शिलाजीत को (½ ग्राम से १ ग्राम की मात्रा में) त्रिफला के क्वाथ के साथ सेवन करने से वह त्रिदोषज शोथ का निश्चित रूप से शमन करता है॥ ४९॥

द्विपञ्चमूलस्य पचेत् कषाये कंसेऽभयानां च शतं गुडस्य।
लेहे सुसिद्धेऽथ विनीय चूर्णं व्योषं त्रिसौगन्ध्यमुषास्थिते च॥ ५०॥
प्रस्थार्धमात्रं मधुनः सुशीते किञ्चिच्च चूर्णादपि यावशूकात्।
एकाभयां प्राश्य ततश्च लेहाच्छुक्तिं निहन्ति श्वयथुं प्रवृद्धम्॥ ५१॥
श्वासज्वरारोचकमेहगुल्मप्लीहत्रिदोषोदरपाण्डुरोगान् ।
कार्श्यामवातावसृगम्लपित्तवैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोषान्॥ ५२॥
इति कंसहरीतकी।

कंसहरीतकी—दोनों पञ्चमूल (सरिवन, पिठवन, रेंगनी, बनभण्टा, गोखरू, श्रीफल की छाल, गम्भार की छाल, पाढल की छाल, गनियार की छाल और सोनापाठा की छाल) के प्रत्येक द्रव्य को २५½ कर्ष लेकर आठगुने जल (८ आढक) में पकायें और एक कपड़े की पोटली में १ सौ बड़ी हर्रे को बाँधकर दोलायन्त्र की तरह उसमें लटका दें। जब पानी जल कर १ कंस बच जाये और हर्रे ठीक से पककर मुलायम हो जाये, तो हर्रे को निकालकर उसकी गुठली अलग कर लें और क्वाथ को छान लें। पुनः उस क्वाथ में १ सौ पल गुड़ घोल दें और हर्रे के निर्बीज फलों को डालकर चलाते रहें और अवलेह जैसा हो जाने पर उतार लें। फिर सोंठ, मरिच, पीपर चूर्ण मिलित ४ पल[1], दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात का मिलित चूर्ण २ पल तथा ठण्डा होने पर आधा प्रस्थ मधु एवं २ कर्ष यवाखार मिलाकर सब एकरस कर दें। इसमें से १ हर्रे खाकर २ कर्ष अवलेह चाटकर थोड़ा गरम जल का पान करें। यह बढ़े हुए शोथ को नष्ट करती है। यह श्वास, ज्वर, अरोचक, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा रोग, त्रिदोषज, उदररोग, पाण्डुरोग, कृशता, आमवात, रक्तपित्त, अम्लपित्त, शरीर की वर्ण विकृति, मूत्रविकार, वायुविकार और वीर्य के दोषों को नष्ट करती है॥ ५०-५२॥

पलोटमूलामरदारुदन्तीत्रायन्तिपिप्पल्यभयाविशालाः ।
यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणी च सचन्दना स्यान्निचुलानि दार्वी॥ ५३॥

---

१. व्योषत्रिसौगन्ध्ययोः मानानिर्देशेन अन्यत्र लेहान्तरोक्तचूर्णमानानुसारेण, मानं ज्ञेयम्। अगस्त्यहरीतक्यां गुडतुलायां पिप्पलीचूर्णपलचतुष्टयमुक्तं, तथा च्यवनप्राशे मत्स्यण्डिकार्धतुलायां पिप्पलीचूर्णपलद्वयमुक्तं तद्वदिहापि गुडशते व्योषस्य कटुद्रव्यस्य पलचतुष्टयं, तथा च्यवनप्राशे चातुर्जातकस्य गन्धार्धस्य पलमुक्तं, तदनुसारेणेह द्विपलं त्रिसौगन्ध्यम्। किञ्चिच्छब्दस्याल्पवचनत्वादत्रोक्तनागरादिचूर्णार्धमानं यावशूकस्य ज्ञेयं, केचित्तु किञ्चिच्छब्दं कर्षपर्यायं वदन्ति; तन्त्रान्तरप्रत्ययात्। (चक्रपाणिटीका)

कर्षोन्मितैस्तैः क्वथितः कषायो घृतेन पेयः कुडवेन युक्तः।
वीसर्पदाहज्वरसन्निपाततृष्णाविषाणि श्वयथुं च हन्ति॥५४॥

पटोलमूलादि क्वाथ—परवर की जड़, देवदारु, दन्ती की जड़, त्रायमाणा, पीपर, हर्रे, इन्द्रायन की जड़, मुलहठी, कुटकी, रक्तचन्दन, जलबेंत और दारुहल्दी—इनमें से प्रत्येक को १-१ कर्ष लेकर भूसा की तरह मोटा कूटकर आठगुने (९६ कर्ष) जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ करे और उसमें १ कुडव गाय का घी डालकर पान करे। इसका सेवन करने से वीसर्प, दाह, ज्वर, सन्निपात तृष्णा, विष-विकार और शोथ को नष्ट करता है॥५३-५४॥

वक्तव्य—वर्तमान काल में यह मात्रा बहुत अधिक है, इसलिए इसका चतुर्थांश ही प्रयोग करना चाहिए।

सचित्रकं धान्ययवान्यजाजीसौवर्चलं त्र्यूषणवेतसाम्लम्।
बिल्वात् फलं दाडिमयावशूकौ सपिप्पलीमूलमथापि चव्यम्॥५५॥
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि जलाढकेन पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात्।
अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं निहन्ति वह्निञ्च करोति दीप्तम्॥५६॥

चित्रकादि घृत—चीता, धनियाँ, अजवायन, जीरा, सोंचर नमक, सोंठ, मरिच, पीपर, अम्लबेंत, बेलगिरी, अनारदाना, जवाखार, पिपरामूल और चाभ—इन सबको १-१ कर्ष लेकर पीसकर कल्क बना लें। १ प्रस्थ घी में उक्त कल्क तथा १ आढक जल डालकर घी का पाक करें और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह घृत अर्श रोग, गुल्म, शोथ और मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है और जठराग्नि को प्रदीप्त करता है॥५५-५६॥

पिबेद् घृतं वाऽष्टगुणाम्बुसिद्धं सचित्रकक्षारमुदारवीर्यम्।
कल्याणकं वाऽपि सपञ्चगव्यं तिक्तं महद् वाऽप्यथ तिक्तकं वा॥५७॥

द्वितीय चित्रकादि घृत—चित्रक और यवाखार प्रत्येक २-२ कर्ष लेकर कल्क कर १ प्रस्थ गो-घृत और ८ प्रस्थ जल के साथ पाक करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इसका शोथ को दूर करने के लिए प्रयोग करें अथवा (उन्माद चिकित्सा में पठित) कल्याणघृत या (अपस्मार में पठित) पञ्चगव्य घृत अथवा (कुष्ठाधिकार में पठित) महातिक्तक घृत या तिक्तक घृत का प्रयोग करें॥५७॥

क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते दध्यागतं साधु विमथ्य तेन।
तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं तक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्यम्॥५८॥
अर्शांसि सामानिलगुल्ममेहांश्चैतन्निहन्त्यग्निबलप्रदं च।
तक्रेण चाद्यात् सघृतेन तेन भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम्॥५९॥

इति चित्रकघृतम्।

चित्रकघृत—चित्रक की जड़ के कल्क को किसी दही जमाने योग्य चौड़े मुखवाले पात्र के भीतर लेपकर उसमें दूध डालकर दही जमा ले और उस दही को मथकर घी निकाल ले। इस घृत में घी से चौथाई मात्रा में चित्रक का कल्क और चौगुना मट्ठा डालकर घृत पका ले। यह घृत श्रेष्ठ शोथघ्न होता है। यह सेवन करने से सभी प्रकार के अर्श, वातज गुल्म और प्रमेह को नष्ट करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है और बल की वृद्धि करता है। इस घृत और मट्ठे के साथ भोजन करे अथवा तक्रसिद्ध यवागू को इस घृत के साथ सेवन करे॥५८-५९॥

जीवन्त्यजाजीशटिपुष्करार्द्धैः सकारवीचित्रकबिल्वमध्यैः।
सयावशूकैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा॥६०॥

अर्शोऽतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः।
या पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत् सा च समा तयैव॥६१॥

जीवन्त्यादि यवागू—जीवन्ती, जीरा, कचूर, पोहकरमूल, मँगरैला, चित्रकमूल, बेलसोंठ और जवाखार, इन द्रव्यों में से प्रत्येक को १-१ बदर (आधा कर्ष) लेकर इनके कल्क के साथ यवागू पकायें और उसे वृक्षाम्ल (विषांविल) डालकर खट्टा करे तथा घी और तेल से भून ले। यह यवागू अर्श, अतिसार, वातज गुल्म, शोथ, हृदयरोग और मन्दाग्नि में हितकर है।

पञ्चकोल यवागू—पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता और सोंठ—इन पाँचों द्रव्यों को आधा-आधा कर्ष लेकर, उनका कल्क बनाकर उसके साथ यवागू पकायें, पक जाने पर वृक्षाम्ल डालकर खट्टा करें और घी-तैल में भून लें। यह यवागू भी पूर्व की यवागू के ही समान अर्श, अतिसार आदि रोगों में हितकर है॥६०-६१॥

वक्तव्य—यहाँ यवागू निर्माण करने में रोगी व्यक्ति के अग्निबल आदि के अनुसार औषध और अन्न की मात्रा लें और एक बार में अधिक न खिलायें।

कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सत्र्यूषणयावशूकः।
रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिशल्लकानाम्॥६२॥
सुवर्चला गृञ्जनकं पटोलं सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम्।
शाकार्थिनां शाकमिति प्रशस्तं भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः॥६३॥
आभ्यन्तरं भेषजमुक्तमेतत्—

शोथरोग में पथ्य—(१) पीपर का कल्क डालकर पकाया गया कुलथी का यूष या (२) सोंठ, मरिच, पीपर और जवाखार डालकर सिद्ध किया हुआ मूँग का यूष या (३) विष्किर पक्षी और जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस अथवा (४) कछुआ, गोहटी, मोर और शाही का मांसरस शोथ के रोगियों के लिए हितकर है।

शाकाहार—शाकाहारी रोगी के लिए हुरहुर की पत्ती का शाक, गाजर, परवर, मकोय, मूली, बेंत की फुनगी और नीम के कोमल पत्तों का शाक हितकर है।

अन्न—एक वर्ष का पुराना जौ अथवा अगहनी का चावल शोथ में उत्तम पथ्य है।

इस प्रकार आभ्यन्तर प्रयोगयोग्य औषध तथा पथ्य का वर्णन किया गया है॥६२-६३॥

—बर्हिर्हितं यच्छृणु तद्यथावत्।
स्नेहान् प्रदेहान् परिषेचनानि स्वेदांश्च वातप्रबलस्य कुर्यात्॥६४॥

शोथ में बाह्य चिकित्सा का उपक्रम—अब आप शोथ रोग में बाह्य उपचार सुनिये। वातप्रधान शोथ में स्नेहन योगों, प्रदेहों, परिसेचनों और स्वेदों का प्रयोग करना चाहिए॥६४॥

शैलेयकुष्ठागुरुदारुकौन्तीत्वक्पद्मकैलाम्बुपलाशमुस्तैः ।
प्रियङ्गुयौणेयकहेममांसीतालीशपत्रप्लवपत्रधान्यैः ॥६५॥
श्रीवेष्टकध्यामकपिप्पलीभिः स्पृक्कानखैश्चैव यथोपलाभम्।
वाताऽन्वितेऽभ्यङ्गमुशन्ति तैलं सिद्धं सुपिष्टैरपि च प्रदेहम्॥६६॥

इति शैलेयादि तैलप्रदेहौ।

शैलेयादि तैल और प्रदेह—छरीला, कूठ, काला अगर, देवदारु, रेणुकाबीज, दालचीनी, पद्मकाठ, छोटी इलायची, सुगन्धवाला, पलाशबीज, नागरमोथा, फूलप्रियंगु, गठिवन, नागकेसर, जटामसी, तालीशपत्र,

केवटीमोथा, तेजपात, धनियाँ, गन्धविरोजा, गन्धतृण, पीपर, स्पृक्का और नख—इन सभी द्रव्यों के अथवा इनमें से जितने द्रव्य मिल सकें, उनके क्वाथ और कल्क से तिल का तैल पकाकर छानकर रख लें। वातज शोथ में इस तैल की मालिश करनी चाहिए या सुविधानुसार इन्हीं द्रव्यों से अच्छी प्रकार पीसकर बनाया हुआ प्रदेह लगाना चाहिए॥ ६५-६६॥

जलैश्च वासार्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः।
स्विन्नो मृदूष्णै रवितप्ततोयैः स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः॥ ६७॥

वातज शोथ में स्वेदन, स्नान तथा अनुलेपन—अरूस, मदार, करंज, सहिजन, गम्भारी और वनतुलसी के पत्तों को डालकर पकाये गये जल के वाष्प से स्वेदन करे, तत्पश्चात् सूर्य की धूप लगने से हल्का गरम हुए जल से स्नान करके अगरु आदि गन्ध द्रव्यों का अनुलेप लगाये॥ ६७॥

सवेतसाः क्षीरवतां द्रुमाणां त्वचः समञ्जिष्ठलतामृणालाः।
सचन्दनाः पद्मकवालकौ च पैत्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः॥ ६८॥
आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं सचन्दनं साभयपद्मकं च।
स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनं च॥ ६९॥

पित्तज शोथ में तैल और प्रदेह—वेंत, दूधवाले वृक्षों (बड़, पीपल, पाकड़, गूलर) की छाल, मजीठ, कमलनाल, श्वेतचन्दन, पद्मकाष्ठ और सुगन्धबाला—इन द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से विधिवत् तैल पकायें और उसका पित्तज शोथ में मर्दन करें तथा इन्हीं द्रव्यों को बारीक पीसकर तैयार किये प्रलेप का लेपन करें।

पित्तज शोथ में स्नान और लेपन—पूर्वोक्त तैल की शरीर में मालिश कराकर सूर्य की किरणों से गरम किये गये जल में श्वेतचन्दन, खश और पद्मकाठ के कल्क को घोलकर उससे स्नान कराना हितकर है। इसी तरह दूधवाले वृक्षों (बड़, पीपल, गूलर, पाकड़) के क्वाथ से स्नान कराना हितकर है और पानी और दूध एक में मिलाकर उससे स्नान करना भी लाभप्रद होता है। स्नान के पश्चात् पूरे शरीर में श्वेतचन्दन का लेप लगाना चाहिए॥ ६८-६९॥

कफे तु कृष्णासिकतापुराणपिण्याकशिग्रुत्वगुमाप्रलेपः।
कुलत्थशुण्ठीजलमूत्रसेकश्चण्डागुरुभ्यामनुलेपनं च॥ ७०॥

कफज शोथ में प्रलेप, परिषेक और अनुलेप—कफज शोथ में पीपर, बालू, पुरानी तिल की खली, सहिजन की छाल और तीसी—इनको एक साथ जल में पीसकर लेप करे। कुलथी और सोंठ डालकर पकाये गये जल में गोमूत्र मिलाकर परिसेक या स्नान करना चाहिए और स्नान करने के बाद चोरपुष्पी और काला अगरु पीसकर शरीर के शोथवाले प्रदेश में अनुलेप लगाना चाहिए॥ ७०॥

बिभीतकानां फलमध्यलेपः सर्वेषु दाहार्तिहरः प्रदिष्टः।
यष्ट्याह्वमुस्तैः सकपित्थपत्रैः सचन्दनैस्तत्पिडकासु लेपः॥ ७१॥

शोथ में दाह-पीड़ाशामक लेप—शोथों में होने वाले दाह और पीड़ा के शमन के लिए बहेड़े के बीज की गिरी को बारीक पीसकर लेप करना चाहिए। इसी प्रकार शोथ में होने वाली पिड़काओं पर मुलहठी, नागरमोथा, कैथ के पत्ते और लालचन्दन का बारीक पिसा हुआ कल्क का लेप करना चाहिए॥ ७१॥

रास्नावृषार्कत्रिफलाविडङ्गं शिग्रुत्वचो मूषिकपर्णिका च।
निम्बार्जकौ व्याघ्रनखः सदूर्वा सुवर्चला तिक्तकरोहिणी च॥ ७२॥
सकाकमाची बृहती सकुष्ठा पुनर्नवा चित्रकनागरे च।
उन्मर्दनं शोफिषु मूत्रपिष्टं शस्तस्तथा मूलकतोयसेकः॥ ७३॥

शोथ में उन्मर्दन और परिसेचन—रास्ना, अरूसा, मदार के मूल की छाल या पत्ती, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, वायविडंग, सहिजन की छाल, मूसाकानी, नीम की पत्ती, तुलसी की पत्ती, नखी, दूब, हुरहुर की पत्ती, कुटकी, काकमाची (मकोय), रेंगनी, कूठ, गदहपुर्ना, चित्रक और सोंठ—इन सबको समान मात्रा में लेकर गोमूत्र में पीसकर शोथ के रोगियों को उबटन लगायें और तत्पश्चात् मूली डालकर उबाले हुए जल से स्नान करायें। यह उन्मर्दन और स्नान सभी प्रकार के शोथों में लाभकर होता है॥ ७२-७३॥

शोफास्तु गात्रावयवाश्रिता ये ते स्थानदूष्याकृतिनामभेदात्।
अनेकसंख्याः कतिचिच्च तेषां निदर्शनार्थं गदतो निबोध॥ ७४॥

स्थानादि भेदों से शोथों के भेद—जो अनेकविध शोथ शरीर के विभिन्न अवयवों में हो जाते हैं, वे स्थान-भेद, दूष्य धातु के भेद, आकार-प्रकार तथा नाम के भेद से बहुसंख्यक हो जाते हैं। उनमें से नमूने के तौर पर कुछ का वर्णन किया जा रहा है, उन्हें आप सुनिये॥ ७४॥

दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता निदानैः कुर्वन्ति शोफं शिरसः सुघोरम्।

शिरःशोथ—स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुए वात-पित्त-कफ शिर में भयंकर शोथ को उत्पन्न करते हैं।

अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितं च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि॥ ७५॥

शालूक—जब वातादि दोष प्रकुपित होकर गले के भीतर ऐसा शोथ उत्पन्न कर देते हैं, जो श्वास-प्रश्वास में रुकावट उत्पन्न करता है, तो उसे शालूक कहते हैं॥ ७५॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने इस शोथ का नाम 'कण्ठशालूक' कहा है और इसे शस्त्रकर्मसाध्य बतलाया है।

गलस्य सन्धौ चिबुके गले च सदाहरागः श्वसनासु चोग्रः।
शोथो भृशार्तिस्तु बिडालिका स्याद् धन्याद्गले चेद्वलयीकृता सा॥ ७६॥

विडालिका—गले की सन्धि में, चिबुक के भीतर या गले में, श्वासपथ में शोथ तथा दाह के साथ एवं भयंकर वेदना के साथ जो शोथ उत्पन्न होता है, उसे 'विडालिका' कहते हैं। यदि यह शोथ गले के भीतरी प्रदेश में चारों ओर अंगूठी की तरह वलयाकार हो जाये, तो यह मारक होता है॥ ७६॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता के निदानस्थान (अध्याय १६) में वलय को विवर्जनीय कहा गया है और इसका प्रमुख दोष कफ को कहा गया है। गले के भीतर होने वाले रोहिणी, अधिजिह्व आदि रोगों का वर्णन वहाँ ही देखना चाहिए।

स्यात्तालुविद्रध्यपि दाहरागपाकान्वितस्तालुनि सा त्रिदोषात्।
जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च॥ ७७॥
यो दन्तमांसेषु तु रक्तपित्तात् पाको भवेत् सोपकुशः प्रदिष्टः।
स्याद् दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे शोफः कफाच्छोणितसञ्चयोत्थः॥ ७८॥

तालुविद्रधि—वातादि तीनों दोषों के प्रकोप से तालुप्रदेश में दाह तथा पाक के साथ जो शोथ उत्पन्न होता है, उसे तालुविद्रधि कहते हैं।

उपजिह्विका तथा अधिजिह्विका—कफ प्रकोप से जिह्वा के ऊपर उत्पन्न होने वाले शोथ को उपजिह्विका तथा जिह्वा के नीचे उत्पन्न शोथ को अधिजिह्विका कहते हैं।

उपकुश—रक्त और पित्त दोष के प्रकोप से दाँतों के मसूड़ों में जो पाक हो जाता है, उसे उपकुश कहते हैं।

दन्तविद्रधि—कफ के प्रकोप से दाँतों के मांस में रक्त का संचय होने से जो शोथ होता है, उसे दन्तविद्रधि कहते हैं॥ ७७-७८॥

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः॥ ७९॥

गलगण्ड—गले के किसी एक ओर उत्पन्न शोथ को गलगण्ड कहते हैं।

गण्डमाला—जब गले के कई प्रदेशों में बहुत से शोथ हो जाते हैं, तो उन्हें गण्डमाला कहते हैं। ये दोनों ही रोग साध्य हैं, किन्तु जब इन रोगों में पीनस (बार-बार सर्दी-जुकाम होना), पार्श्वशूल, कास, ज्वर और वमन, ये उपद्रव हो जायें तो इन्हें असाध्य जानना चाहिए॥ ७९॥

वक्तव्य—गलगण्ड रोग गले में एक ओर होकर प्रायः छोटे-बड़े आकार के नारियल जैसा लटक जाता है। सुश्रुत ने अण्डकोष के समान लटकना कहा है—'निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले। महान् वा यदि ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत्'। गण्डमाला रोग बेर के या आँवले के बराबर गाँठों का गले में निकलना है। यह मेद तथा कफ के दोष से होता है और धीरे-धीरे मन्द गति से इसका पाक होता है। इसके जो उपद्रव बतलाये गये हैं, वे 'राजयक्ष्मा' रोग से सम्बन्ध रखते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक इसे यक्ष्मा रोग से सम्बद्ध मानते हैं।

तेषां सिराकायशिरोविरेका धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम्।
स्याल्लङ्घनं वक्त्रभवेषु चापि प्रघर्षणं स्यात् कवलग्रहश्च॥ ८०॥

शरीरावयवज शोथों का चिकित्सासूत्र—उन शिरःशोथ, शालूक आदि तथा गलगण्ड एवं गण्डमाला में सिरावेध करना, वमन-विरेचन का प्रयोग करना, शिरोविरेचन (नस्य) देना, धूम्रपान कराना और पुराने घृत का पान कराना लाभप्रद होता है। मुख के आभ्यन्तर गले आदि में होने वाले शोथों में उपवास कराना, औषध चूर्णों का घर्षण करना और मुख में शोथघ्न सौम्य औषधों का कल्क धारण कर उसे जीभ के सहारे मुख के भीतर घुमाते रहना हितकर होता है॥ ८०॥

अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात् स्वरूपधारी स्फुरणः सिराभिः।
ग्रन्थिर्महान्मांसभवस्त्वनर्तिर्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च॥ ८१॥

ग्रन्थि शोथ—वात, पित्त तथा कफ दोषों के कारण उन दोषों के लक्षणों वाली ग्रन्थियाँ शरीर के किन्ही प्रदेशों में उत्पन्न हो जाती हैं। जो ग्रन्थियाँ सिराओं के विकार से उत्पन्न होती हैं, उनमें स्फुरण (फड़कन) होता है, जो ग्रन्थि मांस के विकार से उत्पन्न होती है, वह विशाल आकार की होती है और उसमें वेदना नहीं होती और जो ग्रन्थि मेदोधातु के विकार से उत्पन्न होती है, उसमें चिकनाहट अधिक होती है और वह चञ्चल होती है॥ ८१॥

संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः साङ्गुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम्।
विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्॥ ८२॥
अदग्ध ईषत् परिशेषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्।
तस्मादशेषः कुशलैः समन्ताच्छेद्यो भवेद् वीक्ष्य शरीरदेशान्॥ ८३॥
शेषे कृते पाकवशेन शीर्यात् ततः क्षतोत्थः प्रसरेद् विसर्पः।
उपद्रवं तं प्रविचार्य तज्ज्ञस्तैर्भेषजैः पूर्वतरैर्यथोक्तैः॥ ८४॥
निवारयेदादित एव यत्नाद् विधानवित् स्वस्वविधिं विधाय।
ततः क्रमेणास्य यथाविधानं व्रणं व्रणज्ञस्त्वरया चिकित्सेत्॥ ८५॥

ग्रन्थिशोथ चिकित्सा—ग्रन्थिरूप शोथ के रोगी का सर्वप्रथम वमन-विरेचन द्वारा संशोधन करके ग्रन्थि का स्वेदन करे। तदनन्तर यदि ग्रन्थि पकी न हो, तो उसे किसी पत्थर के टुकड़े से या काठ से या अंगूठे से अथवा किसी दण्ड से दबा-दबा कर शरीर में ही विलीन कर खपा दे। यदि ग्रन्थि पक गयी

हो तो उसे शस्त्र से चीरा लगाकर उसको कोश (मूल) सहित निकालकर उस स्थान को जला दे और फिर व्रण के समान उसकी चिकित्सा करे। यदि ग्रन्थि को ठीक ढंग से न जलाया जाय और उसका मूल छोड़ दिया जाय, तो वह धीरे-धीरे पुनः बढ़ जाती है। इसलिए कुशल शल्यविद् चिकित्सक को चाहिए कि ग्रन्थियुक्त शरीरावयव का अच्छी प्रकार निरीक्षण कर ग्रन्थि का समूल उच्छेदन कर दे। काटने में यदि ग्रन्थि का कुछ भी भाग अवशिष्ट रह जाता है, तो वह पककर गल जाती है और परिणामस्वरूप क्षतजन्य विसर्प बनकर फैलने लग जाती है। शल्यज्ञ चिकित्सक उस उपद्रव का विचार कर पहले ही पूर्व में कथित औषधों द्वारा उपचार कर उपद्रव का निवारण करे और बाद में विसर्प के विभिन्न प्रकारों की चिकित्सा विधि से व्यवस्था कर विधि-विधान के अनुसार शीघ्रतापूर्वक व्रणज्ञ वैद्य उस व्रण की चिकित्सा करे॥ ८२-८५॥

विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं यत्।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम्॥ ८६॥

ग्रन्थिशोथ की असाध्यता—कुक्षि, उदर, गला और मर्मस्थान में उत्पन्न ग्रन्थियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। इन स्थानों के अतिरिक्त कहीं भी उत्पन्न ग्रन्थि जो मोटी हो तथा खर (रूक्ष स्पर्शयुक्त) हो, उसकी चिकित्सा न करे। इसी प्रकार बालक, वृद्ध या स्त्री के शरीर में उत्पन्न ग्रन्थि या निर्बल व्यक्ति के शरीर में उत्पन्न ग्रन्थि की भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ८६॥

ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः।
ततश्चिकित्सेद् भिषगर्बुदानि विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सितेन॥ ८७॥

अर्बुद चिकित्सा—ग्रन्थिशोथ और अर्बुद, ये दोनों ही रोग समान स्थान, समान कारण, समान लक्षण और समान दोष-दूष्य वाले होते हैं। इसलिए चिकित्सा-प्रक्रिया के ज्ञाता वैद्य को ग्रन्थिरोग की चिकित्सा की ही तरह अर्बुदों की भी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८७॥

वक्तव्य—यहाँ अर्बुद रोग का वर्णन नहीं किया गया है, अतः सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट अर्बुद का लक्षण दिया जा रहा है[1]—'शरीर के किसी भी प्रदेश में बढ़े हुए दोष मांस को दूषित करके गोल, स्थिर, अल्पपीड़ा वाले, बड़े, गम्भीर धातुओं में फैले हुए, धीरे-धीरे बढ़ने वाले, न पकने वाले, मांसवृद्धियुक्त शोथ को उत्पन्न करते हैं, उसे 'अर्बुद' कहते हैं। यह वात से, पित्त से, कफ से, रक्त से, मांस से और मेद से उत्पन्न होता है तथा ग्रन्थि के समान इसके लक्षण होते हैं।'

ताम्रा सशूला पिडका भवेद्या सा चालजी नाम परिस्रुताग्रा।

अलजी—जो पिडका ताम्बे के वर्ण की लाल हो, जिसमें पीड़ा होती हो और जिसके अग्रिम भाग से स्राव निकलता रहता हो, उसको अलजी कहते हैं।

वक्तव्य—यह पिडका जहाँ होती है, वहाँ दाह होता है। इसके होने से तृष्णा, मोह और ज्वर होता है। यह शीघ्र फैलती है। यह अग्निदग्ध के समान सदा जलन के साथ कष्ट देने वाली होती है—'दहति त्वचमुत्थाने तृष्णमोहज्वरप्रदा। विसर्पत्यनिशं दुःखाद्दहत्यग्निरिवालजी॥' (च.सू. १७।८८) सुश्रुत ने इसे रक्ता, सिता, स्पोटवती और दारुणा कहा है—'रक्ता सिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत्।' (सु.नि. ६।२०)

शोफोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदूषी भृशशीघ्रपाकः॥ ८८॥

मांसास्रदूषी—चर्म और नख के सन्धि-स्थल में रक्त और मांस को दूषित करने वाला शीघ्र ही अत्यन्त पाक हो जाने वाला मांसास्रदूषी होता है।

१. गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्धचपाकम्॥
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति। (सु. नि. ११।१३-१४)

वक्तव्य—चर्म और नख के बीच में होने वाले इस रोग का दूसरा नाम 'चिप्प' है। इसे 'ह्विटलो' कहते हैं।

ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षजा या वर्तिर्निरर्तिः कठिनायता च।
विदारिका सा कफमारुताभ्यां तेषां यथादोषमुपक्रमः स्यात्॥ ८९॥
विस्रावणं पिण्डिकयोपनाहः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।

विदारिका—वर्ती (बत्ती) के समान, बिना पीड़ा के, कठिन और लम्बा जो शोथ वंक्षण और काँख में ज्वर के साथ होता है, उसे विदारिका कहते हैं। यह कफ और वात दोष से उत्पन्न होती है।

इन सभी रोगों की चिकित्सा दोषों के अनुसार करनी चाहिए। इनमें पहले विस्रावण करना चाहिए। यदि स्राव न निकले, तो पुल्टिस बनाकर बाँधें और पक जाने पर व्रण के समान छेदन-भेदन कर शोधन करके व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८९॥

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु स्फोटाः सदाहज्वरतर्षयुक्ताः॥ ९०॥

विस्फोटक—सारे शरीर में जो व्रण होते हैं, जिनमें दाह, ज्वर और प्यास लगती है, ऐसे व्रणों को विस्फोटक कहते हैं॥ ९०॥

यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः।
याश्चापराः स्युः पिडकाः प्रकीर्णाः स्थूलाणुमध्या अपि पित्तजास्ताः॥ ९१॥

कक्षा—पित्त तथा वातदोष के कारण यज्ञोपवीत पहनने के स्थान पर अनेक पंक्तियों में जो पिडकाएँ निकलती हैं, उन्हें कक्षा कहते हैं।

पित्तज पिडका—इसी प्रकार पित्तदोष के कारण शरीर में जहाँ कहीं छिटपुट रूप में कुछ स्थूल, कुछ छोटी और कुछ मध्य आकार की पिडकाएँ निकलती हैं, ये पित्तज पिडकाएँ कहलाती हैं॥ ९१॥

क्षुद्रप्रमाणाः पिडकाः शरीरे सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः।
कण्डूयुताः सारुचिसप्रसेका रोमान्तिकाः पित्तकफात् प्रदिष्टाः॥ ९२॥

रोमान्तिका—पित्त और कफ के प्रकोप से शरीर के सभी अंगों में छोटी-छोटी जो खुजली, ज्वर, दाह, अरुचि और मुखप्रसेक के साथ पिडकाएँ होती हैं, उन्हें रोमान्तिका कहते हैं॥ ९२॥

याः सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिकाः पित्तकफात् प्रदिष्टाः।
वीसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या तां तेषु कुष्ठे च हितां विदध्यात्॥ ९३॥

मसूरिका—पित्त तथा कफ के प्रकोप से समस्त शरीर में मसूर के आकार की जो पिडकाएँ होती हैं, उन्हें मसूरिका कहते हैं। इन पिडकाओं में विसर्प रोग की शान्ति के लिए जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उसका प्रयोग करना चाहिए और कुष्ठ रोग में कही गयी चिकित्सा को भी हितकर जानना चाहिए॥ ९३॥

ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत् स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम्॥ ९४॥
विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।
स्यान्मूत्रमेदःकफजं विपाट्य विशोध्य सीव्येद् व्रणवच्च पक्वम्॥ ९५॥

ब्रध्नरोग—वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप के कारण अन्त्र (वंक्षण प्रदेश के भीतर के छिद्रों से) अण्डकोषों में चली जाती है और वहाँ से निकलकर अपने स्थान में चली जाती है, इसे ही ब्रध्नरोग कहते हैं।

मूत्रज वृद्धि—जब अण्डकोषों में मूत्र अधिक मात्रा में भर जाता है, तो अण्डकोष स्पर्श में मृदु मालूम पड़ता है।

मेदोज वृद्धि—जब अण्डकोषों में मेद भर जाने से वृद्धि हो जाती है, तो वे स्पर्श में चिकने और कठोर प्रतीत होते हैं।

ब्रध्न तथा मूत्रवृद्धि चिकित्सा—इन अण्डकोष वृद्धियों में रोगी का विरेचन कराना चाहिए, निरूह वस्ति देनी चाहिए, उसका अभ्यङ्ग करना चाहिए और लेप लगाना चाहिए। जब अण्डवृद्धि पक जाय, तो व्रण के समान शस्त्र-प्रयोग तथा शोधन एवं रोपण उपचार करना चाहिए। मूत्रज, मेदोज और कफज वृद्धि में शस्त्रकर्म करके विपाटन कर विकृत पदार्थों को निकालकर शोधन करने के पश्चात् सिल देना चाहिए। यदि सिलने के बाद व्रण का रूप धारण कर ले, तो पक जाने पर व्रण की तरह शोधन-रोपण आदि उपचार करना चाहिए॥ ९४-९५॥

वक्तव्य—यहाँ 'ब्रध्न' शब्द वृषणशोथ अर्थ में प्रयुक्त है और उसके छह भेद कहे गये हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. अन्त्रज, ५. मूत्रज और मेदोज। इनमें जब दोषों के कारण वृषणशोथ होता है तो उन शोथों में उन दोषों के लक्षण मिलते हैं। अन्त्रज वृद्धि में न तो अन्त्र के आकार में वृद्धि होती है और न ही उसमें किसी प्रकार की विकृति होती है। वास्तविकता यह है कि वह अपने स्थान (उदरगुहा) से निकलकर वृषण कोष में चली जाती है। वर्तमान में इस स्थिति के लिए हर्निया (Hernia) शब्द प्रयुक्त होता है। 'किसी अंग या उसके भाग का अपने प्राकृत स्थान से किसी छिद्र के द्वारा अस्वाभाविक रूप से निकलना हर्निया है'। अन्त्रज वृद्धि के प्रायः ये स्थान होते हैं; यथा—वंक्षण, सुरंगा, और्वी सुरंगा और नाभि।

इसके सहज कारण हैं—१. उदर से वृषण तक के गर्भकालीन मार्ग का बन्द न होना, २. अण्डग्रन्थि का उदर से अण्डकोष में विलम्ब से उतरना, ३. उदर प्राचीर की पेशियों की स्वाभाविक दुर्बलता तथा वंक्षणसुरंगा का अत्यधिक चौड़ा होना और नाभि की स्वाभाविक दुर्बलता। जन्मोत्तर कारणों में—१. आघात-जन्य उदर प्राचीर की दुर्बलता, २. सगर्भावस्था, ३. वृद्धावस्था, ४. भारी बोझ उठाना, ५. मलावरोध, ६. मूत्रमार्ग में संकोच, ७. जीर्ण खाँसी, ८. मेदोवृद्धि और उदर के अर्बुद।

प्रायः खाँसने से इसकी उत्पत्ति होती है। खड़े होने और कूँथने से बढ़ती है और लेटने तथा दबाने से कम अथवा लुप्त हो जाती है। दबाने पर कभी-कभी उदरशूल एवं गड़गड़ाहट की ध्वनि होती है। प्रारम्भिक अवस्था में पीड़ा होती है। इसके भेदों और उनके लक्षणों को शल्यशास्त्र के ग्रन्थों में देखना चाहिए।

मूत्रज वृद्धि को हाइड्रोसील (Hydrocele) कहते हैं। जिस प्रकार जलोदर रोग में रक्तवाहिनियों से जल चूकर उदरावरण गुहा में एकत्रित हो जाता है, उसी प्रकार इसमें भी रक्तवाहिनियों से जल चूकर वृषणावरण में एकत्रित हो जाता है एवं वृषणावरण में रक्त एवं पूयातिरिक्त द्रव के एकत्रीभवन को मूत्रज वृद्धि कहते हैं। मेदोज वृद्धि को फाइलेरिया (Filaria) के अन्तर्गत माना जा सकता है, इसमें द्रव के स्थान पर मेद एकत्र हो जाता है।

क्रिम्यस्थिसूक्ष्मक्षणनव्यवायप्रबाहणान्युत्कटकाश्वपृष्ठैः।
गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्तिः पक्वप्रभिन्नास्तु भगन्दरः स्यात्॥ ९६॥

भगन्दर—कृमि के द्वारा या सूक्ष्म हड्डी आदि के द्वारा गुदप्रदेश में घर्षण होने से, अधिक स्त्री प्रसंग करने से, मल-त्याग करते समय अधिक कूँथने से, ऊबड़-खाबड़ स्थान पर बैठने से और घोड़े की पीठ पर अधिक समय तक सवारी करने से बहुत अधिक पीड़ा करने वाली गुदप्रदेश में जो पिडका होती है, जब वह पककर फूट जाती है, तो उसे भगन्दर कहते हैं॥ ९६॥

वक्तव्य—गुदा के पास की फूटी हुई पिडका को भगन्दर कहते हैं। गुदा के चारों ओर का भाग अधिक मृदुल होता है। वहाँ जब पिडका होती है और फूटती है तो पूय का निर्हरण न हो पाने से नाड़ीव्रण बन जाता है और वही भगन्दर है, जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—'ते तु भगगुदवस्तिप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा

इत्युच्यन्ते, अपक्वाः पिडकाः, पक्वास्तु भगन्दराः' (सु.नि. ४)। यह संज्ञा गुदसम्बन्धी नाड़ीव्रण के लिए रूढ़ हो गयी है। सामान्य परिभाषा के अनुसार दो आशयों को मिलाने वाले नाड़ीव्रण को भगन्दर कहते हैं, जिसका आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में फिस्चुला (Fistula) नाम है। इसका विशेष वर्णन शल्यतन्त्र के ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

विरेचनं चैषणपाटनं च विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः।
स्यात् क्षारसूत्रेण सुपाचितेन च्छिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा॥ ९७॥

भगन्दर चिकित्सा—सर्वप्रथम भगन्दर के रोगी को विरेचन औषध देकर मलमार्ग का शोधन कराये, उसके बाद शलाका द्वारा उसका मार्ग खोज निकाले, तत्पश्चात् उस स्थान पर पाटन क्रिया (चीरा लगाने का काम) करनी चाहिए। फिर भगन्दर के गतिमार्ग का ठीक से औषधों के प्रयोग से शोधन करे और शोधन के बाद तप्ततैल से उसका दाह करना चाहिए (यदि शस्त्रकर्म करना अभीष्ट न हो तो)। व्रण को अच्छी प्रकार पकाकर क्षारसूत्र बाँधकर उसका भेदन करे और भेदन के बाद व्रण के समान शोधन-रोपण आदि उपचार करना चाहिए॥ ९७॥

वक्तव्य—क्षारसूत्र का प्रयोग क्षारसूत्र-प्रयोगज्ञ शल्यविद् चिकित्सक के द्वारा कराना चाहिए। इसके लिए रेशम के डोरे को क्षारद्रव्य, गोमूत्र, सेहुण्डदुग्ध और हल्दीचूर्ण के मिश्रण में बार-बार भावना देकर सुखाकर सुरक्षित रखा जाता है। भगन्दर को प्रोब लगाकर ठीक से उसकी दिशा और गति का ज्ञान कर लेने के बाद क्षारसूत्र को भगन्दर में आर-पार डाल कर बाँध दिया जाता है। इससे व्रण का पाक और छेदन ये दोनों क्रियायें होती हैं। क्षारसूत्र को प्रतिदिन कसकर बाँधा जाता है, इससे व्रण कट जाता है और रोपण भी होता है। यदि रोपण न हो रहा हो, तो व्रण-रोपणार्थ औषधोपचार करना चाहिए।

जङ्घासु पिण्डीप्रपदोपरिष्टात् स्याच्छ्लीपदं मांसकफाम्रदोषात्।
सिराकफघ्नश्च विधिः समग्रस्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च॥ ९८॥

श्लीपद—मांस, रक्त एवं कफदोष की दुष्टि के कारण रोगी की जंघाओं में तथा पिण्डलियों एवं पैर के ऊपरी भाग में शोथयुक्त 'श्लीपद' रोग होता है।

चिकित्सा—श्लीपद की चिकित्सा में सिरावेध तथा कफनाशक सभी उपचार करना चाहिए और शोथ के ऊपर पिसे हुए सरसों का लेप लगाना चाहिए।

वक्तव्य—यह रोग विशेषकर पैरों के ऊपरी भाग में शोथ के साथ परिलक्षित होता है और पैर हाथी के पैर की तरह मोटे पत्थर जैसा स्थूल हो जाता है, इसीलिए इसकी व्युत्पत्ति 'शिलावत् पदं श्लीपदम्' की जाती है और इसे हाथीपाँव भी कहते हैं। यों यह रोग लटकनेवाले अंगों में भी होता है, जैसे हाथ, कान, आँख, शिश्न, ओठ और वृषण। वस्तुतः लसीकावाहिनियों का अवरोध होकर किसी भी स्थान की त्वचा में श्लीपदजन्य शोथ हो सकता है। इस रोग को एलिफैण्टायसिस (Elephantiasis) और फाइलेरिया (Filaria) कहते हैं। यह प्रायः आनूपदेश में होता है, जैसे—हिमालय की तराई, उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग, बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि इसके स्थान हैं। पैर के श्लीपद में सर्वप्रथम वंक्षणप्रदेश की लसीका ग्रन्थियाँ शोथयुक्त हो जाती हैं, रोगी को ज्वर हो जाता है, जोरों का जाड़ा लगता है, अंगों में वेदना की अधिकता होती है और तापमान बढ़ जाता है। शोथ ऊरु, जानु, जंघा में होकर पैरों में पहुँच जाता है[1]।

मन्दास्तु पित्तप्रबलाः प्रदुष्टा दोषाः सुतीव्रं तनुरक्तपाकम्।
कुर्वन्ति शोथं ज्वरतर्षयुक्तं विसर्पणं जालकगर्दभाख्यम्॥ ९९॥

१. यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः॥ (माधवनिदान)

विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं च।
धात्रीप्रयोगाञ्च शिशिरान् प्रदेहान् कुर्यात् सदा जालकगर्दभस्य॥ १००॥

जालकगर्दभ—प्रकुपित वात-कफ तथा प्रबल रूप से प्रकुपित पित्तदोष, अत्यन्त तीव्र एवं तनु (पतला) रक्तपाकयुक्त शोथ को उत्पन्न करते हैं, जिसमें ज्वर और प्यास अधिक लगती है तथा यह शोथ फैलने वाला होता है॥ ९९॥

चिकित्सा—इसमें उपवास कराना चाहिए, सिरावेध के द्वारा दूषित रक्त को निकालना चाहिए, रूक्ष पदार्थों के सेवन से शरीर में रूक्षता उत्पन्न करनी चाहिए और वमन-विरेचन आदि यथावश्यक संशोधनों का प्रयोग कर शरीर का शोधन करना चाहिए। खाने और लगाने के लिए आँवले का प्रयोग करना चाहिए तथा अन्य शीतल लेप लगाकर जालकगर्दभ के शोथ तथा विसर्पण को दूर करना चाहिए॥ १००॥

वक्तव्य—यह पित्तोल्वण त्रिदोषज व्याधि है, जो विसर्प का ही एक प्रकार है। अन्यत्र भी इसे पित्तप्रधान ज्वरोत्पादक विसर्प के रूप में कहा गया है। इसे अग्निवात भी कहते हैं। यह पित्तप्रबल रोग है, इसलिए इसमें पित्तशामक शीतल उपचार करना ही श्रेयस्कर होता है।

एवंविधांश्चाप्यपरान् परीक्ष्य शोथप्रकारानिलादिलिङ्गैः।
शान्तिं नयेद् दोषहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदनभेददाहैः॥ १०१॥

शोथों का उपचार दोषानुसार—इसी प्रकार अनेक अन्य शोथों को (जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है) भी वात-पित्त-कफ दोषों के लक्षणों से उनमें दोषविशेष का ज्ञान कर उन-उन दोषों को नष्ट करने वाले आलेपन, छेदन, भेदन और दाह आदि उपचारों से चिकित्सा करे॥ १०१॥

प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः शोथं सरागं प्रकरोति तत्र।
वीसर्पनुन्मारुतरक्तनुच्च कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म॥ १०२॥

आगन्तुक शोथ चिकित्सा—प्रायः आघात के स्थान में चोट लगने से प्रकुपित हुआ वायु रक्त के साथ मिलकर लालिमा लिए हुए शोथ उत्पन्न करता है, ऐसी स्थिति में विसर्पनाशक तथा वात एवं रक्तविकार को दूर करने वाले उपचार करने चाहिए। यदि शोथ विष के कारण उत्पन्न हुआ हो तो विषनाशक उपचार करना चाहिए॥ १०२॥

तत्र श्लोकः—

त्रिविधस्य दोषभेदात् सर्वार्धावयवगात्रभेदाच्च।
श्वयथोर्द्विविधस्य तथा लिङ्गानि चिकित्सितं चोक्तम्॥ १०३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने श्वयथुचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अध्याय का उपसंहार—इस श्वयथुचिकित्सा नामक अध्याय में दोषभेद से तीन प्रकार के शोथ; १. सर्वशरीरगत, २. अर्धशरीरगत एवं ३. अवयवगत दृष्टि से तीन प्रकार के शोथ एवं निज और आगन्तुज भेद से दो प्रकार के शोथ के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन किया गया है॥ १०३॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'श्वयथुचिकित्सित' नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १२॥

श्वयथु चिकित्साक्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
शोथरोग की चिकित्सा रोगी के बल, दोष तथा काल का विचार कर निदान, दोष, दूष्य और ऋतु के विपरीत क्रम से करनी चाहिए। **आत्मज** शोथ में लंघन और पाचन औषध दें। अतिप्रबल **दोषवाले** शोथ में प्रथम संशोधन करे। **शिरःशोथ** में नस्य दें। शरीर के अधोभाग के शोथ में विरेचन और ऊर्ध्वभाग के शोथ में वमन करायें। **स्नेहजन्य** शोथ में रूक्षण तथा रूक्ष-जन्य शोथ में स्निग्ध उपचार करे। **वातज शोथ** में विबन्ध हो तो निरूह वस्ति दे। **वातपित्तज** शोथ में तिक्त द्रव्यसिद्ध घृत का प्रयोग करे। यदि रोगी को मूर्च्छा, दाह और तृष्णा अधिक हो, तो तिक्तद्रव्य सिद्ध दुग्ध पिलायें। संशोधन की आवश्यकता हो, तो दूध में गोमूत्र डालकर पिलायें। **कफज शोथ** में क्षार, कटु, एवं उष्ण द्रव्यों का प्रयोग करें एवं गोमूत्र, तक्र तथा आसव-अरिष्ट दें। **शिरःशोथ, शालूक, विडालिका, तालु विद्रधि एवं गलगण्ड में चिकित्सासूत्र**—सिरावेध, विरेचन, नस्य, धूम्रपान तथा पुराने घृत का पान कराना चाहिए। **मुख के भीतर रोगों में**—लंघन, प्रघर्षण (चूर्णों का मलना) और कवलग्रह धारण करना चाहिए। **ग्रन्थिरोग चिकित्सासूत्र**—रोगी का वमन-विरेचन से संशोधन कर ग्रन्थि का स्वेदन करें, यदि पकी न हो तो	**कफज शोथ में**—त्रिकुट, निशोथ, कुटकी, लौहभस्म का योग त्रिफला के क्वाथ से दें या हर्रे का चूर्ण गोमूत्र से, या हर्रे, सोंठ, देवदारु का चूर्ण या उसमें पुनर्नवा मिलाकर सुखोष्ण जल से दें। **वातज शोथ में**—पुनर्नवा, सोंठ और नागरमोथा, क्षीरपाकविधि से पकाकर पिलायें या अपामार्गमूल, पिपरामूल एवं सोंठ क्षीरपाक विधि से दें। **वातपित्तज शोथ में**—दन्ती, निशोथ, त्रिकटु एवं चित्रक से क्षीरपाक कर दें। सोंठ एवं देवदारु से सिद्ध दूध दें या निशोथ, एरण्डमूल तथा मरिचकल्क सिद्ध दूध दें या दालचीनी पुनर्नवा, देवदारु एवं सोंठ से सिद्ध दूध या गुरुच, सोंठ, दन्ती से सिद्ध दूध दें। (अथवा) भोजन और जल का परित्याग कर १ मास तक केवल रोगी की क्षुधा-तृषा के अनुसार ऊँटनी का दूध दें। गोदुग्ध में या भैंस के दूध में गोमूत्र डालकर पिलायें या गोदुग्ध का आहार लेते हुए गोमूत्र का पान करे। **शोथातिसार में**—त्रिकटु, सोंचर नमक और मधु मिलाकर मट्ठा पिलायें, हरीतकी या सोंठ और गुड़ का प्रयोग करायें। **अपानवायु एवं मल का विबन्ध होने पर**—भोजन के पहले दूध में या मांसरस में एरण्ड तैल उचित मात्रा में पीने को दें। **स्रोतों के अवरोध, मन्दाग्नि एवं अरुचि में**—मद्य एवं अरिष्ट पिलायें। **सिद्ध औषधयोग**—भोजन के बाद पीने के लिए गण्डीराद्यरिष्ट, अष्टशत अरिष्ट, पुनर्नवाद्यरिष्ट या त्रिफलाद्यरिष्ट २५-३० ग्राम की मात्रा में समान जल	**अपथ्य**—ग्रामीण, आनूप और जलीय जीवों का मांस, नमक, सूखा साग, नया अन्न, गुड़ से बने पदार्थ, चावल का आटा, दही, तिल के बने पदार्थ, पिच्छिल पदार्थ, अम्ल मद्य, सूखा मांस, समशन (पथ्य-अपथ्य दोनों मिलाकर खाना) भारी पदार्थ, असात्म्य पदार्थ, विदाही अन्न का सेवन, दिन में सोना, और मैथुन को त्याग देना चाहिए। **पथ्य**—जीवन्त्यादि यवागू या पंचकोल क्वाथ से सिद्ध यवागू खिलायें। पिप्पली कल्क सिद्ध कुलथी का यूष या त्रिकुट एवं यवक्षार से सिद्ध मूँग का यूष दें। विष्किर एवं जांगल पशु-पक्षियों का मांस, कछुआ, गोह, मोर, शाही का मांसरस खिलायें। शाकाहारी रोगी को हुरहुर, गाजर, परवर, मकोय, मूली, नीम की पत्ती का शाक दे। अन्न में—एक वर्ष का पुराना जौ और पुराने अगहनी चावल का प्रयोग करें।

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
पत्थर, काठ या अँगूठे से दबाकर उसे विलीन करें, पकी हो तो चीरा लगाकर समूल काटकर निकाल दें और अग्निदग्ध कर व्रणवत् उपचार करें। **अर्बुद** की चिकित्सा ग्रन्थिवत् करें। अलजी एवं विदारिका की चिकित्सा दोषानुसार करें तथा रक्तविस्रावण करें, पुल्टिस बाँधें, पक जाने पर व्रणवत् उपचार करें। **विस्फोटक, कक्षा, रोमान्तिका एवं मसूरिका में**—विसर्प तथा कुष्ठरोग में विहित उपचार करें। **व्रध्न, मूत्रवृद्धि एवं मेदोज वृद्धि में**—विरेचन, अभ्यंग, निरूहवस्ति और लेप करें। पक जाने पर व्रणवत् उपचार करें। **मूत्रज, मेदोज एवं कफज वृद्धि में**—शस्त्रकर्म करके शोधन कर फिर सीवन करें। यदि पाक हो जाये तो व्रणवत् उपचार करें। **भगन्दर में**—सर्वप्रथम विरेचन दें, तत्पश्चात् एषणी से व्रणमार्ग का पता लगाकर चीरा लगायें और शोधन कर तैल द्वारा दग्ध करें अथवा क्षारसूत्र बाँधकर उसका भेदन कर व्रणवत् शोधन-रोपण करें। **श्लीपद में**—सिरावेध, कफघ्न उपचार और शोथ पर सरसों का लेप करें। **जालकगर्दभ में**—लेप, रक्त-मोक्षण, शरीर का रूक्षण, वमन-विरेचन से शोधन तथा आँवले का शीतल प्रलेप करें। **सर्वविध शोथ में**–दोषानुसार लेपन, छेदन, भेदन, दाहकर्म आदि करें। **आगन्तुक शोथ में**—विसर्पनाशक और वातरक्त रोगनाशक उपचार करें। **विषज शोथ में**—विषघ्न उपचार करें।	मिलाकर पीने को दें। कृष्णाद्य चूर्ण, क्षारगुटिका और गुड़ के साथ आर्द्रक का प्रयोग करें। शिलाजीत को त्रिफलाक्वाथ से दें। रोगी के बल के अनुसार कंसहरी-तकी, पटोलमूलादिक्वाथ, चित्रकादिघृत, कल्याणघृत, पञ्चगव्यघृत एवं महातिक्त घृत का सेवन करायें। **शोथनाशक बाह्य प्रयोग—** **वातज शोथ में**—शैलेयादि तैल एवं प्रदेह का अभ्यंग तथा प्रलेप लगायें। **पित्तज शोथ में**—बेंत, क्षीरीवृक्ष की छाल, मजीठ, कमलनाल, रक्त चन्दन, पद्मकाठ, सुगन्धवाला, इनसे सिद्ध तैल का मर्दन करायें, इसके बाद श्वेतचन्दन, खश और पद्मकाठ के कल्क से मिश्रित किञ्चित् उष्ण जल से स्नान करायें। **कफज शोथ में**—पीपर, बालू, तिल की खली, सहिजन की छाल और तीसी समान भाग पीसकर लेप करना चाहिए और पुनः कुलथी तथा सोंठ से सिद्ध क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर स्नान करें। **सर्वविध शोथ में**—बहेड़े के फल की मज्जा का लेप करना सभी तरह के शोथ के दाह और पीड़ा को शान्त करता है। यष्ट्यादि उबटन को गोमूत्र में पीसकर लगाना चाहिए इसके बाद मूली के क्वाथ से स्नान करना सभी शोथों में लाभप्रद होता है।	

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'उदरचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे। तप्यमानं तपस्तीव्रं साक्षाद् धर्ममिव स्थितम्॥ ३॥
आयुर्वेदविदां श्रेष्ठं भिषग्विद्याप्रवर्तकम्। पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद् वचः॥ ४॥
भगवन्नुदरैर्दुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः। शुष्कवक्त्रा कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः॥ ५॥
प्रनष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः। दीनाः प्रतिक्रियाऽभावाज्जहतोऽसूननाथवत्॥
तेषामायतनं संख्यां प्राग्रूपाकृतिभेषजम्। यथावच्छ्रोतुमिच्छामि गुरुणा सम्यगीरितम्॥ ७॥

उदररोगों का उपक्रम—सिद्ध पुरुषों और विद्याधर नामक देवयोनि विशेष पुरुषों से व्याप्त नन्दनवन के समान सुन्दर कैलास पर्वत पर तीव्र तप करने में संलग्न, साक्षात् धर्म के समान विराजमान, आयुर्वेदज्ञों में श्रेष्ठ, आयुर्वेदशास्त्र के प्रवर्तक और जितेन्द्रिय भगवान् पुनर्वसु से शिष्य अग्निवेश ने पूछा—हे भगवन्! कष्टप्रद उदर रोगों से बहुत से लोग पीड़ित दिखाई देते हैं, जिनके मुख सूखे हुए हैं, शरीर के अंग दुबले-पतले हो गये हैं, उनके उदर और कोख में सूजन है। उनकी जठराग्नि और भोजन करने की शक्ति क्षीण हो गयी है। वे किसी भी तरह का कार्य करने में असमर्थ हैं। वे दीन हैं और चिकित्सा का साधन नहीं उपलब्ध होने से अनाथों की तरह प्राण छोड़ रहे हैं। इसलिए आप गुरुजनों द्वारा अच्छी प्रकार से उपदिश्यमान, उन उदर रोगों के कारण, उनकी संख्या, उनका पूर्वरूप, उनका लक्षण और उनकी चिकित्सा सुनना चाहता हूँ॥ ३-७॥

सर्वभूतहितायर्षिः शिष्येणैवं प्रचोदितः। सर्वभूतहितं वाक्यं व्याहर्तुमुपचक्रमे॥ ८॥

पुनर्वसु के प्रवचन का उपक्रम—प्राणिमात्र के हित की कामना से अपने शिष्य अग्निवेश द्वारा इस प्रकार से प्रेरित किये जाने पर आचार्य पुनर्वसु ने सर्वप्राणि-हितकर वचन कहना प्रारम्भ किया॥ ८॥

अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः। मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि च॥ ९॥
मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसञ्चयः। प्राणान्व्यपानान् सन्दूष्य मार्गाणि रुद्ध्वाऽधरोत्तरान्॥
त्वङ्मांसान्तरमागम्य कुक्षिमाध्मापयन् भृशम्। जनयत्युदरं तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम्॥ ११॥

उदर रोग की सम्प्राप्ति—जठराग्नि की मन्दता के कारण वातादि दोष या मूत्र-पुरीष मल बढ़ जाते हैं, जिसके कारण अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने लग जाते हैं और विशेषकर उदर रोग होते हैं। अग्नि के मन्द हो जाने पर जब दोषयुक्त मलिन भोजन किया जाता है, तब भोजन का ठीक से पाक न होने से दोषों का संचय होने लगता है। वह दोषसंचय प्राणवायु, जठराग्नि और अपान वायु को दूषित कर ऊपर तथा नीचे के मार्गों को रोक देता है एवं त्वचा और मांस के बीच में आकर कुक्षि को आध्मान युक्त बनाकर उदर रोग उत्पन्न करता है। अब उस उदर रोग के कारण और लक्षण को आप सुनें॥ ९-११॥

अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात्। मिथ्यासंसर्जनाद् रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात्॥ १२॥
प्लीहार्शोग्रहणीदोषकर्शनात् कर्मविभ्रमात्। क्लिष्टानामप्रतीकाराद् रौक्ष्याद्वेगविधारणात्॥
स्रोतसां दूषणादामात् सङ्क्षोभादतिपूरणात्। अर्शोघ्नाशकृद् रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात्॥ १४॥

अतिसञ्चितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्। उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः॥ १५॥

उदर रोग का निदान—अधिक उष्ण भोजन, अधिक लवण, क्षार, जलन पैदा करने वाले पदार्थ, अधिक खट्टे पदार्थ और संयोग से उत्पन्न गर विष के खाने से, वमन आदि द्वारा संशोधन करने के बाद समुचित तथा क्रमिक रूप से पथ्य न लेने से, रूक्ष पदार्थ, विरोधी पदार्थ और अपवित्र भोजन करने से, प्लीहारोग, अर्शरोग या ग्रहणीविकार के कारण शरीर के कृश हो जाने से, वमन-विरेचन आदि पंचकर्मों का अविधि प्रयोग करने से, कठिन रोगों की उचित समय पर चिकित्सा न करने से, रूक्ष वस्तुओं के अधिक सेवन से, मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से, शरीर के स्रोतों के दूषित होने से आहार का सम्यक् पाचन न होकर आम रस बनने से, भोजन करने के बाद शरीर में क्षोभ (चंचलता) उत्पन्न होने से, बहुत अधिक मात्रा में ठूँसकर भोजन करने से, अर्श होने से या अपानवायु के या मलमार्ग में मल के अवरुद्ध होने से या अन्त्र के फटने या भेदन होने से, जिनके उदरदेश में दोषों का अधिक संचय हो गया हो या जो अधिकतर पापकर्म करने वाले हों और विशेषतः जो मन्दाग्नि से ग्रस्त हों, उनको उदर रोग होते हैं॥ १२-१५॥

क्षुन्नाशः स्वाद्वतिस्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात्। भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च॥ १६॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः। शवद्वलक्ष्योऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमुच्छति॥
वृद्धिः पुरीषनिचयो रूक्षोदावर्तहेतुका। बस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाट्यतेऽपि च॥ १८॥
आतन्यते च जठरमपि लघ्वल्पभोजनात्। राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम्॥ १९॥

उदर रोग का पूर्वरूप—भूख न लगना, मधुर, अतिस्निग्ध एवं भारी पदार्थों का देर से पचना, किये हुए भोजन का विदग्ध हो जाना, भोजन के पच जाने का या अजीर्ण हो जाने का परिज्ञान न होना, अधिक भोजन कर लेने पर सहन न कर पाने से कष्ट का अनुभव होना, पैरों में थोड़ी सूजन हो जाना, लगातार शरीर के बल का ह्रास होते जाना, थोड़ा भी व्यायाम या श्रम का कार्य करने पर श्वास बढ़ जाना, उदर का बढ़ जाना, मल का संचित होना, रूक्षता एवं उदावर्त होने से वस्तिसन्धि में पीड़ा होना, उदर में वायु का भर जाना, लघुगुण युक्त एवं अल्पमात्रा में भी भोजन करने पर उदर बढ़ जाता है, फटने लगता है और तन जाता है। उदर पर नीली रेखाओं का उभड़ जाना और उदर की वलियों का लुप्त हो जाना, ये सब उदर रोग के पूर्वरूप होते हैं॥ १६-१९॥

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि सञ्चिताः। प्राणाग्न्यपानान्सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्॥

उदर रोग की उत्पत्ति—उदर प्रदेश में एकत्रीभूत दोष, स्वेदवाही और जलवहन करने वाले स्रोतों को रोककर प्राणवायु, जठराग्नि तथा अपानवायु को दूषित कर मनुष्यों के शरीर में उदर रोग को उत्पन्न करते हैं॥ २०॥

सम्प्राप्ति

मन्दाग्नि, अजीर्ण, मलिन अन्न → निदान → दोषदुष्टि → स्वेदवह स्रोत अवरोध, अम्बुवह स्रोत अवरोध ↓ जठराग्नि दुष्टि, अपानवायु दुष्टि, प्राणवायु दुष्टि ← विगुण वायु द्वारा उपस्नेह की भाँति अन्नरस का उदरगुहा में स्रवण ↓ उदरगुहा में अन्नरस का संचय एवं विस्तार → **उदर रोग**

दोष : तीनों दोष भिन्न-भिन्न रोगों में प्रधान।
दूष्य : रस, अम्बु प्रमुखरूप से।
अधिष्ठान : उदर।
स्रोतस् : रसवह, अम्बुवह, स्वेदवह।

कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च। मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम्॥

उदर रोग का सामान्य लक्षण—कुक्षि में वायु का भर जाना और गुड़गुड़ का शब्द होना, हाथ-पैर में सूजन होना, जठराग्नि का मन्द हो जाना, कपोलप्रदेश में चिकनापन होना और शरीर का दुबला-पतला हो जाना—ये सभी उदररोग के सामान्य लक्षण हैं॥ २१॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः। सम्भवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु॥ २२॥

उदर रोग के आठ भेद—अलग-अलग वात-पित्त-कफ से, मिलित तीनों दोषों से, प्लीहविकार से, मलबद्धता से, क्षत हो जाने से और जल का संचय हो जाने से—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. प्लीहोदर, ६. बद्धोदर, ७. क्षतोदर और ८. जलोदर—ये आठ प्रकार के उदर रोग होते हैं। अब इनके अलग-अलग उपदिश्यमान लक्षणों को सुनिये॥ २२॥

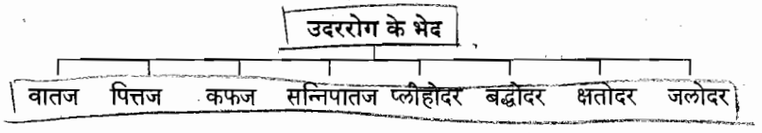

रूक्षाल्पभोजनायासवेगोदावर्तकर्शनैः। वायुः प्रकुपितः कुक्षिहृद्वस्तिगुदमार्गगः॥ २३॥
हत्वाऽग्निं कफमुद्धूय तेन रुद्धगतिस्ततः। आचिनोत्युदरं जन्तोस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः॥ २४॥

वातज उदर रोग का कारण और सम्प्राप्ति—रूक्ष भोजन, अल्प भोजन, थकावट, मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने, उदावर्त तथा शरीर को कृश बनाने वाले कारणों से प्रकुपित हुआ वायु कुक्षिप्रदेश, हृदय, वस्ति एवं गुदप्रदेश में व्याप्त हो जाता है। वह वायु अग्नि को नष्ट कर कफ को अपने स्थान से निकालकर और उसी कफ से अवरुद्ध गति होकर त्वचा और मांस के भीतर प्रविष्ट होकर उदररोग उत्पन्न करता है॥ २३-२४॥

तस्य रूपाणि—कुक्षिपाणिपादवृषणश्वयथुः, उदरविपाटनम्, अनियतौ च वृद्धिह्रासौ, कुक्षिपार्श्वशूलोदावर्ताङ्गमर्दपर्वभेदशुष्ककासकार्श्यदौर्बल्यारोचकाविपाकाः, अधोगुरुत्वं, वातवर्चोमूत्रसङ्गः, श्यावारुणत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं तन्वसितराजीसिरासन्ततम्, आहतमाध्मातदृतिशब्दवद् भवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूलशब्दश्चरति एतद् वातोदरमिति विद्यात्॥ २५॥

वातोदर के लक्षण—कुक्षिप्रदेश, हाथ-पैर और अण्डकोष में सूजन तथा उदर में चीरने-फाड़ने जैसी वेदना होती है। उदर अनिश्चित रूप से कभी घट जाता है और कभी बढ़ जाता है। कुक्षि एवं पार्श्व में शूल, अंगमर्द, पर्वों में टूटन, सूखी खाँसी, कृशता, दुर्बलता, अरुचि, भोजन का ठीक से न पचना, उदर के अधोभाग में भारीपन, अपानवायु, मल और मूत्र के निःसरण में अवरोध उत्पन्न होना, नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र तथा मल का काला या लाल होना, उदर पर पतली काली रेखाओं का व्याप्त होना, उदर पर अंगुलि से ताड़न करने पर वायु भरे मशक जैसा शब्द होना, उदर के भीतर ऊपर-नीचे और तिरछे संचरण करती हुई वायु का शूल उत्पन्न करना—इन लक्षणों को देखकर वातोदर जानना चाहिए॥ २५॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः। विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम्॥ २६॥
प्राप्यानिलकफौ रुद्ध्वा मार्गमुन्मार्गमास्थितम्। निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः॥ २७॥

पित्तोदर का निदान और सम्प्राप्ति—कटु, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम और तीक्ष्ण आहार पदार्थों के सेवन से, अग्नि और धूप के अधिक सेवन से, विदाही पदार्थों के सेवन से, पहले किये हुए आहार के बिना पचे ही पुनः भोजन करने से और अजीर्ण होने से संचित हुआ पित्त वात तथा कफ के साथ मिल जाता है और उनके मार्ग को अवरुद्ध कर देता है तथा स्वयं भी उन्मार्गगामी होकर आमाशय की जठराग्नि को मन्दकर उदररोग उत्पन्न करता है॥ २६-२७॥

तस्य रूपाणि—दाहज्वरतृष्णामूर्च्छातीसारभ्रमाः, कटुकास्यत्वं, हरितहारिद्रत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं नीलपीतहारिद्रहरितताम्रराजीसिरावनद्धं, दह्यते, दूयते, धूप्यते, ऊष्मायते, स्विद्यते, क्लिद्यते, मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं[1] च भवति, एतत् पित्तोदरमिति विद्यात्॥ २८॥

पित्तोदर के लक्षण—शरीर में जलन, ज्वर, प्यास, मूर्च्छा, अतिसार, शिर में चक्कर आना, मुख में कड़वापन, नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र और मल का हरा या हल्दी के समान पीला पड़ जाना, उदर पर नीली, पीली, हरी, हरिद्रावर्णी या ताम्रवर्णी रेखाओं और सिराओं का उभार होना, उदर में जलन, सन्ताप, धुआँ उठने जैसा, गरमी उत्पन्न होना, पसीना होना, गीलापन होना, उदर कोमलस्पर्शी होना और शीघ्र ही परिपक्व होकर जलोदर का रूप पकड़ लेना—ये सब लक्षण दीख पड़ें तो उसे पित्तोदर समझना चाहिए॥ २८॥

अव्यायामदिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः। दधिदुग्धौदकानूपमांसैश्चाप्यतिसेवितैः॥ २९॥
रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतोऽनिलः। तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्त्रगः॥ ३०॥

कफोदर का निदान और सम्प्राप्ति—व्यायाम न करने से, दिन में सोने से, मधुरप्राय भोजन करने से, अति चिकने एवं पिच्छिल पदार्थों का अधिकांश आहार करने से, दही, दूध, जलीय मांस और आनूप मांसों का अधिक सेवन करने से कफ प्रकुपित हो जाता है और उससे स्रोतों में अवरोध हो जाता है, फिर वायु रुककर कफ को पीड़ित करती हुई अन्त्र में रहकर उदररोग को उत्पन्न करती है॥ २९-३०॥

तस्य रूपाणि—गौरवारोचकाविपाकाङ्गमर्दाः, सुप्तिः, पाणिपादमुष्कोरुशोफः, उत्क्लेशनिद्राकासश्वासाः, शुक्लत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं शुक्लराजीसिरासन्ततं, गुरु, स्तिमितं, स्थिरं, कठिनं च भवति; एतच्छ्लेष्मोदरमिति विद्यात्॥ ३१॥

कफोदर के लक्षण—शरीर में भारीपन, भोजन में अरुचि, अन्न का ठीक से न पचना, अंगों में दर्द होना, अंगों में शून्यता, हाथ-पैर, अण्डकोष और ऊरुप्रदेश में सूजन होना, जी मिचलाना, नींद अधिक आना, खाँसी आना, श्वासरोग होना तथा नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र एवं मल में श्वेत वर्ण दीखना, उदरप्रदेश का श्वेतवर्ण की रेखाओं और सिराओं से व्याप्त हो जाना, उदर का भारी रहना, निश्चल तथा स्थिर रहना और कठोर होना—इन लक्षणों के होने पर कफोदर जानना चाहिए॥ ३१॥

दुर्बलाग्नेरपथ्यामविरोधिगुरुभोजनैः। स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिनखादिभिः॥ ३२॥
विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः सञ्चयं त्रयः। शनैः कोष्ठे प्रकुर्वन्तो जनयन्त्युदरं नृणाम्॥ ३३॥

सन्निपातज उदररोग का कारण और सम्प्राप्ति—अग्नि के मन्द होने की स्थिति में जब कोई व्यक्ति अपथ्य आहार, अपक्व भोजन, परस्पर विरोधी भोजन और गुरुगुणयुक्त आहार करता है एवं जब (द्वेष करने वाली, प्रतिकूल) स्त्री द्वारा दिये गये मासिकधर्म का रजःस्राव, रोम, विट्, मूत्र, अस्थि और

१. क्षिप्रपाकं भवतीति शीघ्रपाकाज्जलोदरतां याति। (चक्रपाणिटीका)

नख आदि से युक्त आहार करता है जिसके कारण मन्द (दूषी) विष[1] के सेवन करने से प्रकुपित होकर धीरे-धीरे कोष्ठ में संचित हुए वात आदि दोष उदररोग उत्पन्न करते हैं॥ ३२-३३॥

वक्तव्य—आचार्य सुश्रुत ने सन्निपातोदर का दूसरा नाम दूष्योदर कहा है और इसके निदान में यह स्पष्ट किया है कि कपट-छल और दुष्टतापूर्ण व्यवहार करने वाली स्त्रियाँ नख, रोम आदि अपद्रव्यों को खाने-पीने में मिलाकर खिला देती हैं और शत्रुपक्ष के द्वेषी लोग गर (कृत्रिम) विष खिला देते हैं या दूषित जल एवं दूषी विष के सेवन से वातादि दोष प्रकुपित होकर त्रिदोषज उदररोग उत्पन्न करते हैं।[2]

तस्य रूपाणि—सर्वेषामेव दोषाणां समस्तानि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते, वर्णाश्च सर्वे नखादिषु, उदरमपि नानावर्णराजीसिरासन्ततं भवति, एतत् सन्निपातोदरमिति विद्यात्॥ ३४॥

सन्निपातोदर के लक्षण—पूर्व में कहे गये वातोदर, पित्तोदर और कफोदर के सभी लक्षण सन्निपातोदर में मिलते हैं और उनके जो वर्ण नख-नेत्र आदि में कहे गये हैं वे भी मिलते हैं तथा उदर भी अनेक वर्ण की रेखाओं और सिराओं से व्याप्त रहता है, इन लक्षणों को देखकर सन्निपातोदर जानना चाहिए॥ ३४॥

अशितस्यातिसङ्क्षोभाद् यानयानातिचेष्टितैः। अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्शनैः॥ ३५॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात् प्रवर्धते। शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत्॥ ३६॥

प्लीहोदर का कारण और सम्प्राप्ति—भोजन करने के बाद अधिक हिलने-डुलने से, किसी हिलकोचे भरने वाली सवारी (बैलगाड़ी-एक्का) से यात्रा करने से, अधिक श्रम का कार्य करने से, अति मैथुन करने से, अधिक भार ढोने से, अधिक पैदल चलने से, अधिक वमन होने से तथा किसी रोग के कारण शरीर के कृश हो जाने से, वाम पार्श्व-प्रदेश में रहने वाली प्लीहा अपने स्थान से च्युत हो जाती है अथवा रसादि धातुओं के बढ़ जाने से बढ़ा हुआ रक्त प्लीहा को बढ़ा देता है॥ ३५-३६॥

तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते; स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति॥ ३७॥

तस्य रूपाणि—दौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रग्रहतमःप्रवेशपिपासाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाऽङ्गसाद-कासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्यास्यवैरस्यपर्वभेदकोष्ठवातशूलानि, अपि चोदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद् भवति; एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्, तुल्यहेतुलिङ्गौषध-त्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इति; एतत् प्लीहोदरमिति विद्यात्॥ ३८॥

वृद्ध प्लीहा की आकृति—उक्त कारणों से जिसकी प्लीहा बढ़ जाती है, उसकी प्लीहा पत्थर जैसी ग्रन्थिस्वरूप, स्पर्श में कठोर, बढ़ती हुई कछुए के समान आकृति में उभरी हुई दिखायी देती है। यदि प्रारम्भ में ही उसकी चिकित्सा नहीं की जाती है, तो वह प्लीहा क्रमशः कुक्षि, उदर तथा अग्न्याशय को आक्रान्त कर उदर रोग को उत्पन्न कर देती है और प्लीहोदर हो जाता है॥ ३७॥

प्लीहोदर का लक्षण—रोगी दुर्बल हो जाता है, उसे भोजन में अरुचि होती है, भोजन नहीं पचता है, मल और मूत्र का अवरोध हो जाता है, नेत्रों के सामने अँधेरा छा जाता है, प्यास अधिक लगती है, अंगों में दर्द होता है, वमन होता है, मूर्च्छा होती है, अंगों में थकावट होती है, खाँसी आती है, दम फूलने

१. जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपसेवितं वा।
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति॥ (सु.क. २।२५)

२. स्त्रियोऽन्नपानं नखलोममूत्रविडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः।
तस्मैः प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद् वा'॥ (सु.नि. ७।११)

लगता है, मन्द-मन्द ज्वर रहता है, आनाह होता है, मन्दाग्नि हो जाती है, शरीर में कृशता होती है, मुख का स्वाद फीका होता है, सन्धियों में टूटन होती है और आमाशय-पक्वाशय-वस्ति आदि प्रदेशों में वातजन्य शूल उठता है। उदर का ऊपरी भाग लालवर्ण का हो जाता है अथवा विकृत वर्ण का हो जाता है और उस पर नीली, हरी या हल्दी के वर्ण की रेखाएँ दीखने लगती हैं। इन लक्षणों के होने पर प्लीहोदर जानना चाहिए।

इसी प्रकार उदर में दक्षिण पार्श्वप्रदेश में स्थित यकृत् भी **यकृदुदर** रोग उत्पन्न करता है। उसके कारण, लक्षण और उसकी चिकित्सा प्लीहोदर के ही समान है, इसलिए उसे प्लीहोदर में गतार्थ माना जाता है॥ ३८॥

पक्ष्मबालैः सहान्त्रेण भुक्तैर्बद्धायने गुदे। उदावर्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसम्मूर्च्छनेन वा॥ ३९॥
अपानो मार्गसंरोधाद्वह्त्वाग्निं कुपितोऽनिलः। वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः॥

बद्धगुदोदर का निदान और सम्प्राप्ति—बरौनी के बाल या शिर आदि के बाल जब भोजन के साथ उदर में चले जाते हैं, तो क्रमशः वे गुदामार्ग में पहुँचकर रुकावट पैदा कर देते हैं अथवा उदावर्त रोग होने से, अर्श के मस्सों के होने से एवं आँत के सम्मूर्च्छन (एक पर दूसरे भाग के चढ़कर उलझ जाने) से गुदामार्ग में अवरोध हो जाने से प्रकुपित अपानवायु पाचक अग्नि को नष्ट कर देती है और मल, पित्त तथा कफ को रोककर उदर रोग उत्पन्न करती है, जिसे बद्धगुदोदर कहते हैं॥ ३९-४०॥

वक्तव्य—बद्धगुदोदर में अपानवायु और मल का निकलना गुदमार्ग के अवरोध के कारण या तो एकदम बन्द हो जाता है अथवा कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा निकलते हैं। इसकी उत्पत्ति १. बाल आदि या सूखे मल की ग्रन्थियों के कारण रुकावट होने से, २. सन्निरुद्ध गुद होने से ३. उदावर्तरोग के होने से, ४. बवासीर के मस्सों के बढ़कर गुदामार्ग को बन्द कर देने से या ५. अन्त्रसम्मूर्च्छन (अन्त्रान्त्र प्रवेश) होने से होती है। अन्त्र में कुछ परिवर्तन भी होते हैं; यथा—१. अवरोध-स्थान से ऊपर का अन्त्र शोथमय हो जाता है। २. अवरोध के नीचे का भाग सिकुड़नयुक्त पीला और कठोर होता है। ३. अवरोध का स्थल जब ऊपरी भाग का क्षुद्रान्त्र होता है, तो हृदय और नाभि के मध्य में उभार होता है। ४. नाभि प्रदेश में पीड़ा उठती है और सम्पूर्ण उदर में फैल जाती है। ५. वायु की गति प्रतिलोम होने से थोड़ी-थोड़ी देर में वमन भी होता रहता है। वमन में पहले आमाशय के पदार्थ, उसके बाद पित्तयुक्त पदार्थ और फिर मल की-सी गन्ध से युक्त पदार्थ निकलता है। अधोमार्ग से मल तथा अपानवायु का निर्गमन बन्द हो जाता है।

तस्य रूपाणि—तृष्णादाहज्वरमुखतालुशोषोरुसादकासश्वासदौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्र-सङ्गाध्मानच्छर्दिक्षवथुशिरोहृन्नाभिगुदशूलानि, अपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुणं नीलराजि सिरा-वनद्धमराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तत इति, एतद् बद्धगुदोदरमिति विद्यात्॥ ४१॥

बद्धगुदोदर का लक्षण—प्यास लगती है, जलन होती है, ज्वर होता है, मुख और तालु प्रदेश सूखे रहते हैं, ऊरुओं में थकावट मालूम होती है, खाँसी आती है, श्वास बढ़ जाता है, अरुचि होती है, दुर्बलता हो जाती है, भोजन नहीं पचता है, मल-मूत्र के निकलने में रुकावट होती है, पेट में वायु भर जाती है, वमन होता है, छींकें आती हैं, शिरःशूल, हृदयशूल और नाभिशूल होता है और गुदादेश में शूल होता है। उदरप्रदेश में वायु की गति अवरुद्ध हो जाती है, उदर निश्चल और लाल वर्ण का हो जाता है उदर पर नीली रेखाएँ व्याप्त हो जाती हैं या रेखाएँ नहीं भी होती हैं। प्रायः नाभि के ऊपरी भाग में गाय की पूँछ के सदृश उभार दीखता है—इन सब लक्षणों के होने पर बद्धगुदोदर जानना चाहिए॥ ४१॥

शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः। भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा॥ ४२॥
पाकं गच्छेद्रसस्तेभ्यश्छिद्रेभ्यः प्रस्रवद् बहिः। पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं ततः॥ ४३॥

छिद्रोदर का निदान और सम्प्राप्ति—जब भोजन के साथ छोटी कंकड़ियाँ, तृण, काठ के टुकड़े, हड्डी के टुकड़े या मछली के काँटे उदर में चले जाते हैं, तो अन्त्र में छिद्र हो जाता है या जम्भाई लेने से या अधिक भोजन करने से अन्त्र में पाक हो जाता है और फिर छिद्र होने से अन्नरस बाहर बहने लग जाता है, जिससे गुदा और अन्त्र भर जाते हैं, फिर छिद्रोदर रोग हो जाता है॥ ४२-४३॥

वक्तव्य—आचार्य सुश्रुत ने इसे 'परिस्रावी' उदर रोग कहा है। अन्न के साथ आया हुआ अथवा किसी भी तरह से आया हुआ कोई शल्य अन्त्र की दीवार को विदीर्ण कर देता है, तो अन्त्र से जल के समान निकला हुआ स्राव उदर में संचित हो जाता है और गुदा मार्ग से बाहर भी निकलता है। नाभि के नीचे के भाग में सूजन होती है। छिद्रोदर आगे चलकर जलोदर में परिवर्तित हो जाता है अथवा छिद्रोदर होने के बाद जलोदर होने की अधिक सम्भावना रहती है।

तस्य रूपाणि—तदधो नाभेः प्रायोऽभिवर्धमानमुदकोदरं भवति, यथाबलं च दोषाणां रूपाणि दर्शयति, अपि चातुरः सलोहितनीलपीतपिच्छिलकुणपगन्ध्यामवर्चं उपवेशते, हिक्काश्वासकास-तृष्णाप्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति; एतच्छिद्रोदरमिति विद्यात्॥ ४४॥

छिद्रोदर के लक्षण—यह प्रायः नाभि के नीचे के भाग में बढ़ता हुआ जलोदर का रूप धारण कर लेता है और जैसे-जैसे दोष प्रबल होते हैं, उनके लक्षणों को भी प्रदर्शित करता है। रोगी लाल, नीले वर्ण का, पीला, पिच्छिल (चिकना द्रव), मुर्दे की-सी गन्धवाला अपक्व मल त्याग करता है। वह हिचकी, दमा, खाँसी, तृष्णा, प्रमेह, अरुचि, अनपच और दुर्बलता से ग्रस्त होता है। इन लक्षणों के होने पर छिद्रोदर जानना चाहिए॥ ४४॥

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा। अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्नि संस्थितः॥
स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ॥ ४६॥

जलोदर का कारण और सम्प्राप्ति—स्नेहपान करने के पश्चात् जिसकी अग्नि मन्द हो जाती है या जो व्यक्ति दुर्बल तथा कृश शरीर वाले होते हैं, वे जब अधिक मात्रा में जल पीते रहते हैं, तो उनकी जठराग्नि नष्ट हो जाती है और क्लोमनलिका में वायु भर जाती है। स्रोतों के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं और कफ में जल बढ़ जाता है, फिर कफ और जल उदर में जल को अपने स्थान से बढ़ाकर उदर रोग (जलोदर) की उत्पत्ति करते हैं॥ ४५-४६॥

वक्तव्य—उदर की दीवार से जल छन-छनकर उदरावरण में संचित हो जाता है, यही जलोदर है, जो जलवाही स्रोतों की दुष्टि के कारण होता है। इसके जनक कारणों में हृदयरोग, वृक्करोग एवं प्रतिहारिणी सिरा का अवरोध मुख्य होते हैं। (१) जब रुग्ण हृदय स्वाभाविक रूप से रक्त को अपनी ओर नहीं आकर्षित कर पाता है, तो सिराओं में दबाव बढ़ जाने से जलोदर एवं पादशोथ होता है। (२) विकारग्रस्त वृक्क में रक्त का आश्रितीय पीड़न बदल जाता है जिससे रक्तवाहिनियों की दीवार की प्रवेश्यता बढ़ जाने से उदरावरण कला में जल के संचय से जलोदर हो जाता है। इसी प्रकार (३) प्रतिहारिणी महासिरा में रुकावट हो जाने से सिराओं में रक्त का दबाव बढ़ जाता है, जिसके परिणामस्वरूप जलोदर एवं अर्श रोग की उत्पत्ति होती है। एवञ्च (४) प्लीहा तथा यकृत् की विकृति के कारण भी जलोदर हो जाता है और (५) क्षयज उदरावरणशोथ होने पर रक्तवाहिनियों की दीवार से जलीयांश के क्षरण होने से भी जलोदर हो जाता है।

तस्य रूपाणि—अनन्नकाङ्क्षापिपासागुदस्रावशूलश्वासकासदौर्बल्यानि, अपि चोदरं नानावर्ण-राजिसिरासन्ततमुदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्श भवति, एतदुदकोदरमिति विद्यात्॥ ४७॥

तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकमप्राप्तमुदरं त्वरमाणश्चिकित्सेत्। उपेक्षितानां ह्येषां दोषाः स्वस्थानादपवृत्ताः परिपाकाद् द्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च बाह्येषु स्रोतःसु

प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति। तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरु स्तिमित-माकोठितमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पति। ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः। तस्य रूपाणि—कुक्षेरतिमात्रवृद्धिः, सिराऽन्तर्धानगमनम्, उदकपूर्णदृतिसङ्क्षोभसंस्पर्शत्वं च॥४८॥

जलोदर के लक्षण—अन्न खाने की इच्छा नहीं होती, प्यास बढ़ जाती है, गुदा से पानी निकलता है, उदरशूल होता है, दम फूलता है, खाँसी आती है और शरीर दुर्बल हो जाता है। उदर पर अनेक वर्ण की रेखाएँ और सिराएँ उभर आती हैं। उदर का स्पर्श करने पर वह पानी से भरी मशक के समान चंचल एवं जलपूर्ण प्रतीत होता है। इन सब लक्षणों को देखकर जलोदर जानना चाहिए॥ ४७॥

जलोदर की प्रारम्भ में ही चिकित्सा—जो जलोदर शीघ्र ही उत्पन्न हुआ हो, जिसमें कोई उपद्रव न हुआ हो और जिसमें अभी जल नहीं के बराबर हो, उसकी शीघ्रतापूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए। पूर्वोक्त उदररोगों की उपेक्षा करने से वात-पित्त-कफ अपने स्थान से हटकर परिपक्व होने से द्रवीभूत होकर सन्धियों और स्रोतों को क्लिन्न (गीला) कर देते हैं (जिससे उनमें भी जल भरने लग जाता है)। पसीना बाहर निकलने के स्रोतों के मार्गों के अवरुद्ध होने से बाहर न निकलकर तिर्यग् गति से भीतर प्रविष्ट होकर उसी जल को और अधिक बढ़ा देता है। फिर जब उदर में जल के बढ़ जाने से गाढ़ा द्रव उत्पन्न हो जाता है, तो उदर की परिधि (घेरा) गोलाकार, भारी, तनी हुई, अंगुलि से ताड़न करने से शब्दरहित और स्पर्श में मृदु होती है। उदर पर रेखाएँ नहीं दीख पड़तीं। उदर का उभार नाभि से शुरू होकर ऊपर की ओर फैलता जाता है। इसके बाद उदरावरण कला में जलवृद्धि स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। उसके ये लक्षण होते हैं; यथा—उदर का बहुत बढ़ जाना, सिराओं का छिप जाना, उदर का जलभरे मशक के समान जल के हिलने-डुलने जैसा स्पर्शानुभव होना (ज्ञातव्य है कि जलोदर में जलतरंग की परीक्षा के लिए नाभि के एक ओर हाथ को खड़ा कर दूसरे हाथ से हल्का आघात करने से दूसरे हाथ में जल तरंग या जल के हलचल का अनुभव होता है)॥ ४८॥

वक्तव्य—जलोदर में प्रायः होने वाले लक्षणों में १. उदर का ऊपर की ओर उठना, २. गोलाकार परिधि होना, ३. नाभि का उलट जाना, ४. जलपूर्ण मशक के समान जल का कम्पन होना, ५. जल की चंचलता की मन्द ध्वनि सुनाई देना, ६. हृदय की गति का बढ़ना, ७. श्वास लेने में कठिनाई होना, ८. खाँसी आना, ९. मन्दाग्नि, १०. भूख का अभाव, ११. गमन में असमर्थता, १२. मूत्राल्पता, १३. विबन्ध होना आदि हैं। यदि जलोदर किन्हीं विशेष कारणों से होता है, तो कारणों के अनुसार कुछ विशिष्ट लक्षण या उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं; जैसे—**हृद्विकारजन्य** जलोदर में १. पादशोथ तथा २. हृदय की गति तेज होना। **वृक्कविकारजन्य** जलोदर में १. नेत्रकूट में शोथ, २. मूत्राल्पता। **प्रतिहारिणीसिरावरोधजन्य** जलोदर में १. पादशोथ, २. अग्निमान्द्य, ३. अर्श, ४. विबन्ध ५. कामला, ६. यकृद्वृद्धि और ७. प्लीहावृद्धि। **रक्तदोषजन्य** जलोदर में १. यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि और २. जल के संचय की अल्पता। इसी प्रकार **क्षयजन्य** जलोदर में क्षय के लक्षण (ज्वर, कास, अङ्गमर्द आदि) की उपस्थिति तथा अल्प जलसंचय आदि लक्षण मिलते हैं। मूलकारण का अन्वेषण करके तदनुसार ही चिकित्साक्रम अपनाना श्रेयस्कर होता है। केवल दुग्धाहार पर रखकर बड़ी तत्परता और सावधानी से चिकित्सा करने पर कदाचित् आरोग्य की आशा की जा सकती है।

तदाऽऽतुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति—छर्दितीसारतमकतृष्णाश्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूला-रुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गादयः, तथाविधमचिकित्स्यं विद्यादिति॥ ४९॥

जलोदर की असाध्यता—जब जलोदर अपने पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है, तब उस रोगी में ये उपद्रव होते हैं; यथा—वमन होना, अतिसार होना, तमक श्वास होना, तृष्णा रोग होना, श्वास का बढ़ना, खाँसी आना, हिचकी आना, दुर्बलता होना, पार्श्वशूल होना, भोजन में अरुचि होना, स्वरभेद होना और मूत्र-कृच्छ्र या मूत्राघात होना आदि। इन उपद्रवों के हो जाने पर जलोदर के रोगी को असाध्य जानना चाहिए॥ ४९॥

भवन्ति चात्र—

वातात्पित्तात्कफात् प्लीह्नः सन्निपातात्तथोदकात्। परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत्॥ ५०॥
पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा। प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम्॥ ५१॥

उदर रोग उत्तरोत्तर कृच्छ्रसाध्य—वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर और जलोदर (उदकोदर) इनमें पहले गिने गये की अपेक्षा बाद में गिने गये उदर रोग पूर्व की अपेक्षा अधिक कृच्छ्रसाध्य होते हैं अथवा असाध्य होते हैं। जैसे—बद्धगुदोदर रोग १५ दिन के बाद प्रायः मृत्युकारक होता है और किसी भी उदर रोग का जलोदर का रूप धारण कर लेना तथा छिद्रोदर भी प्रायः मृत्युजनक होता है॥ ५०-५१॥

वक्तव्य—यहाँ प्रायः शब्द का कुछ विशेष तात्पर्य है। जैसे—प्रायः बद्धगुद पन्द्रह दिन का पुराना हो जाने पर मारक होता है, किन्तु प्रायः शब्द लग जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि पन्द्रह दिन का पुराना होने पर भी कदाचित् नहीं मारक होता है। इसी प्रकार जलोदर और छिद्रोदर भी प्रायः विनाशकारक होते हैं, किन्तु विषचिकित्सा के प्रयोग से अथवा शस्त्रप्रयोग से कदाचित् जलोदर और छिद्रोदर भी साध्य हो जाते हैं। यह अभिव्यक्ति प्रायः शब्द के प्रयोग से होती है।

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नततुत्वचम्। बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च वर्जयेत्॥ ५२॥
श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट्। मूर्च्छा छर्दिरतीसारो निहन्त्युदरिणं नरम्॥
जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्। बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम्॥ ५४॥

उदररोग की असाध्यता—जिस उदर रोगी की आँखों में सूजन हो (पलकों में शोथ हो), मूत्र इन्द्रिय टेढ़ी हो गयी हो, त्वचा पतली और गीली हो गयी हो और जिसका बल, रक्त, मांस और जठराग्नि क्षीण हो गये हों, उस रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए (क्योंकि वह असाध्य होता है)। जिस उदर रोगी के हृदय आदि सभी मर्मस्थानों में शोथ हो गया हो, श्वास तीव्र हो, हिचकी आ रही हो, भोजन में अरुचि हो, प्यास अधिक लगती हो, मूर्च्छा होती हो, वमन होता हो और अतिसार हो रहा हो, तो वह उदर रोगी इन उपद्रवों से मारा जाता है।

कृच्छ्रसाध्यता—सभी उदररोग प्रायः अपने उत्पत्तिकाल से ही कृच्छ्रसाध्य माने जाते हैं।

साध्यता—जो उदर रोगी बलवान् हो, जिसके उदररोग में जलोदर नहीं हुआ हो और जिसका रोग नया हो, तो रोग के आरम्भ में ही प्रयत्नपूर्वक उपचार करने पर वह रोगसाध्य हो जाता है॥ ५२-५४॥

अजातशोथमरुणं सशब्दं नातिभारिकम्। सदा गुडगुडायच्च सिराजालगवाक्षितम्॥ ५५॥
नाभिं विष्टभ्य पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति। हृन्नाभिवङ्क्षणकटीगुदप्रत्येकशूलिनः॥ ५६॥
कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके। लालया विरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विषि॥ ५७॥
अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वतः। उपाक्रमेद् भिषग्दोषबलकालविशेषवित्॥ ५८॥

अजातोदक का लक्षण—जिस उदररोगी के उदर में शोथ न हो, जो उदर लाल वर्ण का हो, जिस पर ताड़न करने से या श्रवण-यन्त्र से सुनने में शब्द सुनाई दे, उदर अधिक भारमय नहीं मालूम होता हो, उदर में गुड़गुड़ाहट का शब्द होता हो, उदर पर सिराओं का समूह दिखाई देता हो एवं जिस उदर के नाभिदेश में अवरुद्ध होकर वायु पुनः गुदाप्रदेश में वेग उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है, जिस रोगी के हृदय, नाभि, वंक्षण, कटिप्रदेश और गुदा, इन प्रत्येक स्थानों में शूल चलता हो, गुदामार्ग से अपानवायु वेग के साथ ध्वनियुक्त निकले, जठराग्नि एकदम मन्द न हो, लालास्राव होने से मुख का स्वाद फीका रहता हो, मूत्र की मात्रा कम हो और मल बँधा हुआ आता हो, तो उस रोगी के उदर में जल नहीं आया है अर्थात् वह अजातोदक है, ऐसा जानना चाहिए। उक्त लक्षणों द्वारा खूब अच्छी तरह जान समझकर दोषों के बल और काल विशेष को जानने वाला चिकित्सक उदर रोग का उपचार करे॥ ५५-५८॥

वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत्। स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात् स्नेहविरेचनम्॥ ५९॥
हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद् वाससोदरम्। तथाऽस्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाध्मापयेत्पुनः॥ ६०॥

वातोदर में चिकित्सासूत्र—जो वातोदर का रोगी बलवान् हो उसका सबसे पहले स्नेहों के प्रयोग से उपचार करना चाहिए। स्नेहन के पश्चात् उसका स्वेदन करना चाहिए, उसके बाद उसे (एरण्ड तैल आदि का) स्नेह विरेचन देना चाहिए। विरेचन के प्रयोग से दोषों के निकल जाने पर उदर क्षीण हो जाता है; अतः उसे कपड़े के लम्बे फेंटे से बाँध देना चाहिए, जिससे उदर में खाली जगह न रहने पाये और वायु पुनः उदर में आध्मान न उत्पन्न कर सके॥ ५९-६०॥

दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्गनिरोधनात्। सम्भवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचयेत्॥ ६१॥

उदररोग में नित्य विरेचन प्रयोग—वात आदि दोषों के अत्यधिक रूप में संचित होने से स्रोतों के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं, जिस कारण उदर रोग उत्पन्न होता है। अतः उदर रोगियों को नित्य ही यथायोग्य विरेचन देते रहना चाहिए। (क्योंकि विरेचन से स्रोतों के मुख खुल जाने से उदर रोग शान्त हो जाता है और पुनः उसके होने की संभावना समाप्त हो जाती है)॥ ६१॥

शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम्। प्रामुत्क्लेशान्निवर्त्तं च बले लब्धे क्रमात्पयः॥ ६२॥

संसर्जन और दुग्ध प्रयोग—वातोदर के रोगी का संशोधन करके उसे पेया-विलेपी आदि संसर्जन क्रम से पथ्य देने के पश्चात् उसके शरीर में शीघ्र बल लाने के लिए रोगी की क्षमता के अनुसार उसे दूध पिलाना चाहिए जब तक कि उसे दूध पीने से उत्क्लेश या अरुचि न हो जाये और जब रोगी के शरीर में बल आ जाय तो दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिए। शरीर में बलाधान हो जाने पर क्रमशः मात्रा कम करके दूध छुड़ाना चाहिए॥ ६२॥

यूषै रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम्। सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम्॥ ६३॥

आस्थापन प्रयोग—खट्टे अनार या अम्लबेंत आदि हल्के अम्ल द्रव्यों को और नमक डालकर बनाये गये मूँग आदि के यूष का अथवा मांसरसों का सेवन कराकर रोगी की जठराग्नि को प्रदीप्त करे। यदि उस रोगी को फिर भी उदावर्त हो जाय, तो उसका स्नेहन-स्वेदन करके उसे आस्थापन वस्ति देनी चाहिए॥ ६३॥

स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु। दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत्॥ ६४॥
तीक्ष्णाधोभागयुक्तोऽस्य निरूहो दाशमूलिकः। वातघ्नाम्लभृतैरण्डतिलतैलानुवासनम्॥ ६५॥

अनुवासन तथा निरूहवस्ति का प्रयोग—यदि वातोदार के रोगी को अंगों में फड़कन, आक्षेप, सन्धियों, अस्थियों, पार्श्वों, पीठ और त्रिकप्रदेश में पीड़ा हो रही हो, उसकी अग्नि प्रदीप्त हो, किन्तु अपानवायु के निकलने तथा मलविसर्जन में रुकावट हो एवं रूक्षता हो, तो ऐसे रोगी को अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

निरूहवस्ति का योग—उक्त विकारग्रस्त रोगी को दशमूल के क्वाथ में तीक्ष्ण विरेचनकारक औषधियों के कल्क से युक्त निरूहवस्ति देनी चाहिए।

अनुवासन योग—वातनाशक दशमूल आदि द्रव्यों तथा अम्ल काञ्जी से सिद्ध किये गये एरण्डतैल और तिल-तैल की अनुवासनवस्ति देनी चाहिए॥ ६४-६५॥

अविरेच्यं तु यं विद्याद् दुर्बलं स्थविरं शिशुम्। सुकुमारं प्रकृत्याऽल्पदोषं वाऽथोल्बणानिलम्॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः। बस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः॥ ६७॥

दुर्बल वातोदरी का उपचार—वैद्य वातोदर से पीड़ित जिन दुर्बल, वृद्ध, बालक या सुकुमार रोगियों को और अल्पदोष वाले जिन रोगियों को विरेचन औषध के प्रयोग के योग्य न समझें और उनमें वायु का अधिक प्रकोप प्रतीत हो रहा हो, तो ऐसे रोगियों का उपचार दोषप्रकोपशामक घी, मुद्गयूष, मांसरस

और भात आदि खाद्य-पेय पदार्थों से करे तथा आवश्यकतानुसार वातदोषनाशक वस्ति, अभ्यङ्ग, अनुवासन और दुग्धसेवन कराकर चिकित्सा करे॥ ६६-६७॥

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत्। दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरवस्तिना॥ ६८॥
सञ्जातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत्। पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा॥ ६९॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा। सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा॥ ७०॥
पुनः क्षीरप्रयोगं च बस्तिकर्म विरेचनम्। क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् युक्तः पित्तोदरं जयेत्॥ ७१॥

पित्तोदर चिकित्सा—यदि पित्तोदर से ग्रस्त रोगी बलवान् हो तो उसे सबसे पहले विरेचन ही कराना चाहिए। यदि रोगी बलहीन हो तो पहले अनुवासन वस्ति दें, तत्पश्चात् दुग्धयुक्त वस्ति देकर उसका संशोधन करना चाहिए।

पुनः विरेचन—जब पित्तोदर के रोगी का संशोधन करके उसे समुचित पथ्याहार का सेवन कराकर बलिष्ठ तथा दीप्ताग्नि बना दिया जाय, तो उसका स्नेहन करके पुनः विरेचन कराना चाहिए। विरेचनार्थ योग—(१) सफेद निशोथ के कल्क से सिद्ध किया हुआ दूध दें अथवा (२) एरण्डतैल डालकर पकाये हुए दूध का प्रयोग करें या (३) सातला (सेहुँड़) और त्रायमाणा के कल्क से सिद्ध दूध दें अथवा (४) अमलतास के कल्क से सिद्ध दूध पिलाकर विरेचन करायें।

यदि पित्तोदर में कफ का अनुबन्ध हो तो गोमूत्र से युक्त दूध पिलायें और वात का अनुबन्ध हो तो तिक्तघृत मिला हुआ दूध पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार शोधन के बाद पेया आदि क्रम से पथ्य देकर पुनः शरीर में बल लाने के लिए दूध पिलाना चाहिए और बल आ जाने पर पुनः वस्ति कर्म और विरेचन प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार क्रम से पुनः-पुनः दुग्धपान और फिर विरेचन का प्रयोग कराते हुए पित्तोदर की चिकित्सा सफलता के साथ करे॥ ६८-७१॥

स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम्। संसर्जयेत् कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः॥ ७२॥
गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा। सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम्॥ ७३॥

कफोदर चिकित्सा—कफोदर के रोगी का स्नेहन और स्वेदन करने के पश्चात् विरेचन देकर शोधन कराना चाहिए (यद्यपि कफ के शोधनार्थ वमन कराने का विधान है, किन्तु उदर रोग में वमन निषिद्ध है—'अवम्यास्तावत्—क्षतक्षीण·····प्लीहगुल्मोदराष्ठीलास्वरोपघाततिमिरशिरःशङ्खकर्णाक्षिशूलार्ताः' च. सि. २।८)। तत्पश्चात् कटुद्रव्य एवं क्षारद्रव्ययुक्त कफघ्न अन्नों का संसर्जन क्रम से पथ्य देना चाहिए। फिर गोमूत्र और अरिष्ट पिलाकर तथा 'नवायस चूर्ण' आदि लौहभस्मयुक्त योगों के प्रयोग से एवं क्षारयुक्त तैलपान कराकर कफोदर को शान्त करना चाहिए॥ ७२-७३॥

सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत् क्रियाः। सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता॥ ७४॥

सन्निपातोदर चिकित्सा—जब तीनों दोषों से सन्निपातोदर हुआ हो तो उसकी चिकित्सा के लिए वात-पित्त-कफ से होने वाले उदर रोग की जो चिकित्सा-विधियाँ बतलायी गयी हैं, उन सबका प्रयोग करना चाहिए। यदि सन्निपातोदर में सभी हृदय आदि मर्मस्थानों में शोथ हो, श्वास हो, हिक्का हो, अरुचि हो, तृष्णा की अधिकता हो, मूर्च्छा हो, वमन और अतिसार हो तो विज्ञ वैद्य को उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ७४॥

उदावर्तरुजानाहैर्दाहमोहतृषाज्वरैः। गौरवारुचिकाठिन्यैश्चानिलादीन् यथाक्रमम्॥ ७५॥
लिङ्गैः प्लीह्यधिकान् दृष्ट्वा रक्तं चापि स्वलक्षणैः।
चिकित्सां सम्प्रकुर्वीत यथादोषं यथाबलम्॥ ७६॥

प्लीहोदर में दोषानुसार चिकित्सा—प्लीहोदर रोग में उदावर्त, उदरशूल और आनाह (आममल या अपानवायु का विबन्ध एवं विलोम गति होना) होने पर उसे वातज जाने। जब उदर में जलन, मूर्च्छा, तृष्णा की अधिकता और ज्वर हो तो पित्तज जाने; तथा उदर में भारीपन, भोजन में अरुचि और उदर में कठोरता हो तो कफज प्लीहोदर जानना चाहिए। इसी प्रकार रक्त की अधिकता हो या रक्त दोषदुष्ट हो तो (चरक-सूत्रस्थान अध्याय २४ 'विधिशोणितीय' के अनुसार) उसके लक्षणों को देखना-जानना चाहिए। एवं प्लीहोदर रोग में दोषों का विचार कर विकृत दोष के अनुसार तथा रोग एवं रोगी के बल के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए॥ ७५-७६॥

स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम्। समीक्ष्य कारयेद्वाहौ वामे वा व्यधयेत्सिराम्॥ ७७॥
षट्पलं पाययेत् सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत्। सगुडामभयां वाऽपि क्षारारिष्टगणांस्तथा॥ ७८॥
एष क्रियाक्रमः प्रोक्तो योगान् संशमनाञ्छृणु।

प्लीहोदर में क्रियाक्रम—(१) प्लीहोदर रोग में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, निरूह (आस्थापन) वस्ति और अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए अथवा (२) रोगी के बायें हाथ के कूर्परप्रदेश के भीतर की सिरा का वेध करना चाहिए या (३) राजयक्ष्माधिकार में पठित क्षीरषट्पलघृत का पान कराना चाहिए अथवा (४) चिकित्सास्थान १ में कथित वर्धमान पिप्पली का प्रयोग करें या (५) गुड़ के साथ हरीतकी चूर्ण खिलायें और (६) क्षार तथा अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार प्लीहोदर का चिकित्साक्रम यहाँ बतला दिया गया। अब उदर रोग में प्रयोग-योग्य संशमन योगों को सुनिये॥ ७७-७८॥

पिप्पली नागरं दन्ती चित्रकं द्विगुणाभयम्॥ ७९॥
विडङ्गांशयुतं चूर्णमेतदुष्णाम्बुना पिबेत्। विडङ्गं चित्रकं शुण्ठीं सघृतां सैन्धवं वचाम्॥ ८०॥
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत्।

पिप्पल्यादि चूर्ण—पीपर, सोंठ, दन्ती की जड़, चित्रक की जड़ और वायविडंग—प्रत्येक एक-एक भाग और हर्रे दो भाग लेकर सबका चूर्ण बना लें और (२ ग्राम की १ मात्रा प्रातः-सायं) गरम जल से सेवन करें।

विडङ्गादि क्षार—वायविडंग, चीते की जड़, सोंठ, सेंधानमक, बच और घी—सब समान भाग लेकर मिट्टी के परई में रखकर दूसरी परई से ढँककर कपड़मिट्टी से दोनों की सन्धि बन्दकर गोइठे की आग में गजपुट लगाकर भस्म कर लें। फिर उसे निकालकर कपड़छन कर रख लें। रोगी की प्रकृति के अनुसार उचित (१ ग्राम) मात्रा में दूध के साथ प्रयोग करें। यह गुल्म और प्लीहा को नष्ट करता है॥ ७९-८०॥

रोहीतकलतानाञ्च काण्डकानभयाजले॥ ८१॥
मूत्रे वा सुनुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत्। कामलागुल्ममेहार्शःप्लीहसर्वोदरक्रिमीन्॥ ८२॥
स हन्याज्जाङ्गलरसैर्जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम्।

रोहीतकादि योग—रोहीतक वृक्ष की लता की तरह पतली टहनी को छोटे-छोटे टुकड़े काटकर उसे कूटकर हर्रे के क्वाथ में अथवा गोमूत्र में डालकर किसी मिट्टी के पात्र में रखकर ढक्कन से सन्धि-बन्द कर सन्धान करें और सात दिन तक पड़ा रहने दें। फिर उसे छानकर उचित मात्रा में पीना चाहिए। यह कामला, गुल्म, प्रमेह, अर्श, प्लीहा, सभी प्रकार के उदर रोग और कृमि रोग को नष्ट करता है। इस योग के पच जाने पर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन देना चाहिए॥ ८१-८२॥

रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम्॥ ८३॥
कालद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत्। पलिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः सर्वैश्चापि तुल्यया॥ ८४॥
रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्। प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम्॥ ८५॥
तथा गुल्मोदरश्वासक्रिमिपाण्डुत्वकामलाः।

रोहीतक घृत—रोहीतक की छाल २५ पल और खट्टी बेर २ प्रस्थ (३२ पल) लेकर जौकुट कर लें। इस (५७ पल) क्वाथ्य द्रव्य को आठ गुने (४५६ पल) जल में क्वाथ बनायें और चतुर्थांश शेष रहने पर छान लें। फिर पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ) का प्रत्येक द्रव्य १-१ पल और ५ पल रोहीतक की छाल लेकर सब पीसकर कल्क बना लें। १ प्रस्थ घी के साथ उक्त क्वाथ तथा कल्क डालकर घृतपाक करें और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इस घृत का सेवन प्लीहा की वृद्धि को शीघ्र ही शान्त कर देता है। इसके प्रयोग से गुल्मरोग, उदररोग, श्वासरोग, कृमिरोग, पाण्डुरोग और कामलारोग भी दूर होते हैं॥ ८३-८५॥

अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे॥ ८६॥

प्लीहोदर में अग्निकर्म—वैद्य को चाहिए कि वात-कफप्रधान प्लीहोदर रोग में अग्निकर्म करे (अग्निकर्म में वाम बाहु की कूर्परसन्धि की सिरा का गरम शलाका या शर से दाह किया जाता है)॥ ८६॥

पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरबस्तयः। रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते॥ ८७॥
यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः। यकृति प्लीहवत्सर्वं तुल्यत्वाद्भेषजं मतम्॥ ८८॥
लघून्यन्नानि संसृज्य दद्यात् प्लीहोदरे भिषक्।

पैत्तिकप्लीहोदर में उपचार—पित्तज प्लीहोदर में जीवनीय गण की औषधों को डालकर पकाया हुआ घी, दुग्धप्रधान वस्तियाँ, रक्तमोक्षण कराना, विरेचन द्वारा संशोधन करना और दुग्धपान कराना उत्तम है। अग्नि को प्रदीप्त करने वाले द्रव्यों से युक्त मूँग आदि के यूषों और मांसरसों के साथ लघुपाकी अन्नों को सेवनार्थ प्रयुक्त करना चाहिए।

यद्यपि प्लीहोदर और यकृतोदर ये दोनों रोग समान कारणों से होते हैं, अतः यकृतोदर में भी वही उपचार और उन्हीं औषधों का प्रयोग करना चाहिए जिनका प्लीहोदर में प्रयोग किया जाता है॥ ८७-८८॥

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम्॥ ८९॥
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम्। परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम्॥ ९०॥
उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च।

बद्धोदर चिकित्सा—बद्धोदर के रोगी का (स्नेहन करने के बाद) स्वेदन करके गोमूत्र के साथ तीक्ष्ण अनुलोमन औषधों से युक्त निरूह और तिल के तेल में नमक मिलाकर अनुवासन वस्ति देनी चाहिए। भोजन में अनुलोमन अन्नों का प्रयोग करना चाहिए। तीक्ष्ण (स्नुहीक्षीर आदि) विरेचन देना चाहिए। आवश्यकतानुसार उदावर्तनाशक तथा वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८९-९०॥

वक्तव्य—चरकसंहिता-सिद्धिस्थान (२।१५) में बद्धोदर, छिद्रोदर, जलोदर और आध्मान में आस्थापन (निरूह) वस्ति तथा अनुवासनवस्ति का निषेध किया गया है—'बद्धछिद्रोदकोदराध्मानार्तानां भृशतरमाध्माप्य वस्तिः प्राणान् हिंस्यात्·····तस्मादेतेनास्थाप्याः'। किन्तु यहाँ बद्धोदर में वस्ति का विधान किया गया है, अतः चिकित्सक स्वविवेकानुसार यथावश्यक वस्तियों का प्रयोग करे। सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान (१४।१७) में बद्धगुदोदर में इण्टेस्टाइनल आब्स्ट्रक्शन को (आँतों के अवरोधक पत्थर, बाल या मल को) दूर करने के लिए शल्यकर्म का विधान बतलाया गया है, जो अवरोधक बाधाओं को हटाने का व्यावहारिक उपाय है।

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत्॥ ९१॥
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद्यापयेद् भिषक्। तृष्णाकासज्वरार्तं तु क्षीणमांसाग्निभोजनम्॥
वर्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छ्लिनं दुर्बलेन्द्रियम्।

छिद्रोदर चिकित्सा—छिद्रोदर में स्वेदन के अतिरिक्त अन्य सभी उपचार कफोदर के समान करना चाहिए। छिद्रोदर में जब-जब जल का संचय हो, तब-तब उस जल को निकाल कर रोगी का कालयापन करना चाहिए।

असाध्य लक्षण—जो छिद्रोदर का रोगी तृष्णा, कास और ज्वर से पीड़ित हो, जिसके शरीर में मांस क्षीण हो गया हो, अग्नि क्षीण हो और वह भोजन बहुत कम मात्रा में ले रहा हो, उसे श्वासरोग हो, शूलरोग हो और जिसकी इन्द्रियाँ दुर्बल हो गयी हों, उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह असाध्य होता है॥ ९१-९२॥

अपां दोषहराण्यादौ प्रदद्यादुदकोदरे॥ ९३॥
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च। दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत्॥ ९४॥
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेदनुपूर्वशः।

जलोदर की चिकित्सा—जलोदर रोग में सबसे पहले जल के विकार को नष्ट करने वाला उपचार करना चाहिए, जैसे—गोमूत्रयुक्त तीक्ष्ण अनेक प्रकार के क्षारों से युक्त औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। अग्नि को प्रदीप्त करने वाले और कफ को नष्ट करने वाले आहारों का सेवन कराना चाहिए तथा जल आदि द्रव पदार्थों के सेवन से क्रमशः रोगी का नियन्त्रण करना चाहिए॥ ९३-९४॥

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम्॥ ९५॥

सभी उदररोग त्रिदोषज हैं—सभी उदररोग प्रायः तीनों दोषों के प्रकोप से ही होते हैं॥ ९५॥

तस्मात् त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वत्र कारयेत्। दोषैः कुक्षौ हि सम्पूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति॥
तस्माद्भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च। रक्तशालीन् यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्च मृगद्विजान्॥
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधुसीधुं तथा सुराम्। यवागूमोदनं वाऽपि यूषैरद्याद् रसैरपि॥ ९८॥
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः।

सभी उदर रोगों में सामान्य उपचार और पथ्य—(समस्त उदररोग त्रिदोषज होते हैं) इसलिए सभी उदर रोगों में तीनों दोषों को शान्त करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। जब उदररुहा में दोष पूर्णरूप से व्याप्त हो जाते हैं, तब जठराग्नि मन्द हो जाती है, इसलिए सभी उदररोगों में अग्नि को प्रदीप्त करने वाले हल्के आहार ग्रहण करने चाहिए।

पथ्याहार—लाल अगहनी का चावल, जौ, मूँग, जंगली पशु-पक्षियों का मांस, दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, सीधु और सुरा का सेवन करना चाहिए। लघु पञ्चमूल (सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू) के क्वाथ में पकाये गये तथा अल्प मात्रा में नीबू या अनारदाना डालकर खट्टा किये गये, घी एवं कालीमिर्च चूर्ण मिश्रित मूँग के यूष अथवा मांसरस के साथ यवागू का भात खाना चाहिए॥ ९६-९८॥

औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलान्॥ ९९॥
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानं च वर्जयेत्। तथोष्णलवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च॥ १००॥
नाद्यादन्नानि जठरी तोयपानं च वर्जयेत्।

उदररोग में अपथ्य—उदर रोग से पीड़ित व्यक्ति को चाहिए कि वह जल-जन्तुओं तथा आनूप देश के जीवों का मांस, पत्ती वाले शाक, चावल के आटे से बने पदार्थ और तिल न खाये। उसे व्यायाम करना, अधिक पैदल चलना, दिन में शयन करना, इक्का-ताँगा या घोड़े की सवारी करना छोड़ देना चाहिए। वह उष्ण पदार्थ, नमकीन वस्तु, अम्ल पदार्थ, विदाही पदार्थ, भारी पदार्थ या इन गुणों वाले अन्नों का परित्याग कर दे और अधिक जल पीना छोड़ दे॥ ९९-१००॥

नातिसान्द्रं हितं पाने स्वादु तक्रमपेलवम्॥ १०१॥
त्र्यूषणक्षारलवणैर्युक्तं तु निचयोदरी। वातोदरी पिबेत् तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम्॥ १०२॥
शर्कारामधुकोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत्। यवानीसैन्धवाजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी॥ १०३॥

पिबेन्मधुयुतं तक्रं कवोष्णं नातिपेलवम्। मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः॥ १०४॥
युक्तं प्लीहोदरी जातं सव्योषं तूदकोदरी। बद्धोदरी तु हपुषायवान्यजाजिसैन्धवैः॥ १०५॥
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम्। गौरवारोचकार्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम्॥ १०६॥
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते।

उदरामयों में तक्रप्रयोग विधि—उदररोग से पीड़ित व्यक्ति को पीने के लिए ऐसा मट्ठा देना चाहिए, जो बहुत गाढ़ा न हो, स्वाद में मधुर हो और जिसमें से घी निकाल लिया गया हो। (१) **त्रिदोषज उदररोग में**—सोंठ, मरिच, पीपर, यतक्षार और सेंधानमक मिला हुआ तक्र पीना चाहिए। (२) **वातोदर में**—पीपर और नमक मिला मट्ठा पीना चाहिए। (३) **पित्तोदर में**—चीनी और मुलहठी का चूर्ण मिलाकर मीठा किया हुआ मट्ठा पीना चाहिए। (४) **कफोदर में**—अजवायन, सेंधानमक, भुने जीरे का चूर्ण, सोंठ, मरिच, पीपर का चूर्ण और मधु मिला हुआ, अल्पस्नेहांशयुक्त तथा ईषत् उष्ण तक्र पीना चाहिए। (५) **प्लीहोदर में**—मधु, तिल का तैल, मीठा बच, सोंठ, सौंफ, कूठ, मीठा और सेंधानमक मिला हुआ मट्ठा पीना चाहिए। (६) **जलोदर में**—सोंठ, मरिच और पीपर का चूर्ण मिला हुआ ताजा मट्ठा पीना चाहिए। (७) **बद्धोदर में**—हाऊबेर, अजवायन, भुना जीरा और सेंधानमक मिला हुआ मट्ठा पीना चाहिए। (८) **छिद्रोदर में**—पीपर का चूर्ण और मधु मिलाकर मट्ठा पीना चाहिए। एवञ्च जो रोगी उदर में भारीपन तथा भोजन में अरुचि से पीड़ित हो, मन्दाग्नि से ग्रस्त हो या अतिसार का रोगी हो या जो वात और कफ के विकार से पीड़ित हो, उनके लिए मट्ठे का सेवन करना अमृत के समान गुणकारी है॥ १०१-१०६॥

शोफानाहार्तितृण्मूर्च्छापीडिते कारभं पयः॥ १०७॥

उदररोग में ऊँटनी का दूध—जो उदर रोगी शोथ, आनाहरोग, पीड़ा, तृष्णा और मूर्च्छा से पीड़ित हो, उसे ऊँटनी का दूध पिलाना चाहिए॥ १०७॥

शुद्धानां क्षामदेहानां गव्यं छागं समाहिषम्।

दुग्धपान—जिन उदर रोगियों का वमन-विरेचन आदि के द्वारा संशोधन किया गया हो और जो कृश शरीरवाले हों, उन्हें गाय, बकरी या भैंस का दूध पिलाना चाहिए।

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः॥ १०८॥
साश्वगन्धैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं समैः।

देवदार्वादि लेप—देवदारु, पलाशबीज, मदार के जड़ की छाल, गजपीपर, सहिजन की छाल और असगन्ध की जड़—इन सबको समान भाग लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर उदर पर सुखोष्ण लेप करना चाहिए॥ १०८॥

वृश्चिकालीं वचां कुष्ठं पञ्चमूलीं पुनर्नवाम्॥ १०९॥
भूतीकं नागरं धान्यं जले पक्त्वाऽवसेचयेत्। पलाशं कत्तृणं रास्नां तद्वत्पक्त्वाऽवसेचयेत्॥ ११०॥
मूत्राण्यष्टावुदरिणां सेके पाने च योजयेत्।

उदररोग में परिसेचन योग—विछुवा घास, बच, कूठ, वृहत्पञ्चमूल (बेलगिरी, सोनापाठा की छाल, गम्भार की छाल, पाढल की छाल और अरनी की छाल), गदहपुर्ना, अजवायन, सोंठ और धनियाँ—इन्हें सम मात्रा में लेकर जौकुट कर ४ कर्ष की मात्रा में लेकर ४ प्रस्थ पानी में औटें, जब आधा बचे तो छान लें और उससे उदर पर परिसेचन करना चाहिए। इसी प्रकार पलाश के बीज, गन्धतृण और रास्ना को जल में पकाकर उस जल से उदर पर सिञ्चन करना चाहिए। आठ प्रकार के (भेड़, बकरी, गाय, भैंस, हाथी, ऊँट, घोड़ा और गधा) मूत्रों का भी उदर पर परिसेचन और पान करना चाहिए॥ १०९-११०॥

रूक्षाणां बहुवातानां तथा संशोधनार्थिनाम्॥ १११॥
दीपनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि चक्ष्महे। पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः॥ ११२॥
सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विप्रस्थं सर्पिषः पचेत्। कल्कैर्द्विपञ्चमूलस्य तुलार्धस्वरसेन च॥ ११३॥
दधिमण्डाढकोपेतं तत् सर्पिर्जठरापहम्। श्वयथुं वातविष्टम्भं गुल्मार्शांसि च नाशयेत्॥ ११४॥

पञ्चकोल घृत—जो उदररोगी रूक्षशरीर वाले हों, जिनमें वातदोष की अधिकता हो और जिनके लिए संशोधन की आवश्यकता का अनुभव हो रहा हो, ऐसे रोगियों के लिए उदर रोगनाशक दीपनीय घृतों का वर्णन कर रहे हैं—पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ और यवाक्षार—प्रत्येक द्रव्य २-२ कर्ष लेकर कल्क बना लें, उसे २ प्रस्थ गोघृत और दशमूल के विधिवत् बनाये हुए आधी तुला (५० पल) क्वाथ तथा १ आढक दही के पानी में डालकर यथाविधि घी पकायें। यह घृत उदररोगनाशक होता है तथा शोथ, वायु के अवरोध, गुल्म एवं अर्शरोग को नष्ट करता है॥ १११-११४॥

नागरत्रिफलाप्रस्थं घृततैलात् तथाऽऽढकम्। मस्तुनः साधयित्वैतत् पिबेत् सर्वोदरापहम्॥
कफमारुतसम्भूते गुल्मे चैतत् प्रशस्यते॥ ११५॥

नागरादि यमक—सोंठ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा चारों समान भाग (४-४ पल) मिलाकर १ प्रस्थ लेकर कल्क बना लें आधा आढक घी, आधा आढक तिल का तैल और ४ आढक दही का पानी लें तथा सब मिलाकर इस यमक का विधिवत् पाक कर लें। यह सभी प्रकार के उदर रोगों को नष्ट करता है और कफ एवं वात से उत्पन्न गुल्मरोग में भी लाभकर होता है॥ ११५॥

वक्तव्य—यहाँ मूल श्लोक में मस्तु (दही के पानी) से इसे पकाने के लिए कहा गया है, उसकी मात्रा नहीं बतलायी गयी है। अन्य टीकाकारों ने मस्तु का प्रमाण १ आढक कहा है जो घी-तैल के समान है। यदि इतने से ही पकाया जाय तो ठीक से पाक नहीं होगा। इसलिए मैंने नियमानुसार चतुर्गुण मस्तु डालने के लिए लिखा है। घी और तैल के योग की पारिभाषिक संज्ञा 'यमक' है, अतः इस योग का नाम 'नागरादि यमक' रखा गया है।

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात् पले। कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत्॥ ११६॥

चित्रक घृत—१ प्रस्थ गोघृत को ४ प्रस्थ जल, २ प्रस्थ गोमूत्र, चित्रक के मूल तथा यवक्षार का कल्क १-१ पल डालकर पकायें और तैयार होने पर सुरक्षित छानकर रख लें। उदर रोग से पीड़ित व्यक्ति को इसे (५-१० ग्राम की मात्रा में) सेवन करना चाहिए॥ ११६॥

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलरसेन च। सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वाऽपि पिबेद् घृतम्॥ ११७॥

यवादि घृत—१ प्रस्थ घी में जौ, खट्टी बेर और कुलथी का १-१ पल कल्क, बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ २ प्रस्थ, सुरा १ प्रस्थ तथा सौवीरक (काँजी) १ प्रस्थ डालकर विधिवत् घृत का पाक करे। यह घृत उदररोगनाशक है॥ ११७॥

एभिः स्निग्धाय सञ्जाते बले शान्ते च मारुते। स्रस्ते दोषाशये दद्यात् कल्पदिष्टं विरेचनम्॥

उदररोग में विरेचन का अवसर—इन उपर्युक्त घृतों के सेवन करने से जब रोगी का स्नेहन हो जाय और उसके शरीर में बल आ जाय तथा दोषों के आशय आमाशय-मलाशय आदि जब ढीले पड़ जायँ, तो चरकसंहिता के कल्पस्थान में बतलाये गये विरेचन आवश्यकतानुसार देने चाहिए॥ ११८॥

पटोलमूलं रजनीं विडङ्गं त्रिफलात्वचम्। कम्पिल्लकं नीलिनीं त्रिवृतां चेति चूर्णयेत्॥ ११९॥
षडाद्यान् कार्षिकानन्त्यांस्त्रींश्च द्वित्रिचतुर्गुणान्। कृत्वा चूर्णमतो मुष्टिं गवां मूत्रेण ना पिबेत्॥
विरिक्तो मृदु भुञ्जीत भोजनं जाङ्गलै रसैः। मण्डं पेयां च पीत्वा ना सव्योषं षडहं पयः॥ १२१॥
शृतं पिबेत्ततश्चूर्णं पिबेदेवं पुनः पुनः। हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि॥ १२२॥

कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चापकर्षति। पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम्॥ १२३॥

पटोलमूलाद्य चूर्ण—परवर का मूल, हल्दी, वायविडंग, आँवला, हर्रे और बहेड़े के फल की त्वचा प्रत्येक १-१ कर्ष, कबीला २ कर्ष, नील का बीज ३ कर्ष तथा सफेद निशोथ ४ कर्ष लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर सुरक्षित रख लें। इस चूर्ण को १ पल की मात्रा में गोमूत्र के साथ सेवन करना चाहिए। इसके सेवन करने से जब ठीक से विरेचन हो जाय, तो जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ मृदु सुपाच्य भोजन करें या मण्ड तथा पेया का पान करते हुए छह दिनों तक सोंठ-मरिच-पीपर के चूर्ण से मिश्रित गरम दूध का पान करें। तत्पश्चात् शरीर में बल आ जाने के बाद फिर भी पटोलाद्य चूर्ण का प्रयोग कर विरेचन हो जाने पर पुनः उसी क्रम से आहार लें और रोग अच्छा होने तक इसी क्रम से इस चूर्ण का सेवन करते रहें। यह चूर्ण जलोदर के साथ सभी उदर रोगों को नष्ट करता है। यह चूर्ण कामला, पाण्डुरोग और शोथ को दूर करता है। यह पटोलाद्य चूर्ण सभी उदर रोगों को नष्ट करने हेतु श्रेष्ठ कहा गया है॥ ११९-१२३॥

वक्तव्य—वर्तमान युग में इस चूर्ण की मात्रा १ पल के बजाय $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ पल ही रखनी चाहिए जो प्रचलित मान से ३ ग्राम से १२ ग्राम तक होगा। रोगी के दोष, प्रकृति, बल आदि का तथा देश-काल का विचार कर यथायोग्य मात्रा में जब तक उचित समझें प्रयोग करें

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम्। पिबेद् द्राक्षाम्बुगोमूत्रकोलकर्कन्धुसीधुभिः॥

गवाक्ष्यादि चूर्ण—इन्द्रायन का फल, यवतिक्ता (कालमेघ), दन्ती का मूल, तिल्वक (गुलाबचीन) की छाल और मीठा बच—इन्हें समभाग लेकर चूर्ण कर १ ग्राम से २-३ ग्राम की मात्रा में मुनक्का के क्वाथ, गोमूत्र, बड़ी-छोटी बेर के क्वाथ अथवा सीधु (गन्ने के रस का सिरका) के साथ पीना चाहिए॥ १२४॥

यवानी हपुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका। कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धाशटी वचा॥ १२५॥
शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरी सचित्रका। द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम्॥ १२६॥
विडङ्गं च समांशानि दन्त्यं भागत्रयं तथा। त्रिवृद्विशाले द्विगुणे सातला स्याच्चतुर्गुणा॥ १२७॥
एतन्नारायणं नाम चूर्णं रोगगणापहम्। नैतत् प्राप्यातिवर्तन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः॥ १२८॥
तक्रेणोदरिभिः पेयं गुल्मिभिर्बदराम्बुना। आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया॥ १२९॥
दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्बुभिरर्शसे। परिकर्ते सवृक्षाम्लमुष्णाम्बुभिरजीर्णके॥ १३०॥
भगन्दरे पाण्डुरोगे श्वासे कासे गलग्रहे। हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे॥ १३१॥
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे। यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम्॥ १३२॥

इति नारायणचूर्णम्।

नारायण चूर्ण—अजवायन, हाऊबेर, धनियाँ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, स्याहजीरा, मँगरैला, पिपरामूल, अजमोदा, कचूर, मीठाबच, सौंफ, जीरा, सोंठ, पीपर, मरिच, सत्यानाशी (भड़भाड़) की जड़, चित्रकमूल, यवाखार, सज्जीखार, पोहकरमूल, मीठा कूठ, पाचों प्रकार के नमक (सेंधानमक, सोंचरनमक, विडनमक, समुद्रनमक, साँभरनमक) और वायविडंग—इन द्रव्यों को समान भाग में लें (अर्थात् इन सबका १-१ भाग), दन्ती का मूल ३ भाग, सफेद निशोथ तथा इन्द्रायन, ये दोनों २-२ भाग तथा सातला (सेहुँड़) का ४ भाग लेकर इन सबका चूर्ण बनाकर सुरक्षित कर लें। यह 'नारायण चूर्ण' है, जो रोगों के समूह को नष्ट करता है। जिस प्रकार भगवान् विष्णु के समक्ष असुर नहीं टिक सकते। उसी तरह इस चूर्ण का सेवन करने वाले के पास रोग नहीं फटक पाते हैं।

रोगानुसार अनुपान—(१) उदररोग वालों को मट्ठे के साथ, (२) गुल्म के पीड़ितों को बेर के क्वाथ के साथ, (३) आनद्धवात या आनाह रोग में शराब के साथ, (४) वातरोग में मद्य के ऊपर के

निथरे हुए अंश (प्रसन्ना) के साथ, (५) मल के विबन्ध में दही के पानी से, (६) अर्शरोग में अनार के रस के साथ, (७) गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा (परिकर्त) होने पर वृक्षाम्ल (कोकम) के रस के साथ और (८) अजीर्ण होने पर गरम जल से इस चूर्ण का सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार कोष्ठ को स्निग्ध करने के बाद विरेचनकारक इस चूर्ण को (५-१० ग्राम की मात्रा में) भगन्दर, पाण्डुरोग, श्वास, कास, गलग्रह, हृदयरोग, ग्रहणी विकार, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वर, दंष्ट्रा विष (सर्प या पागल कुत्ता आदि के काटने पर), मूल विष (वत्सनाभ आदि स्थावर औषधमूल के विष), गर विष (संयोगज विष) और कृत्रिम विष में उपयुक्त अनुपान के साथ प्रयुक्त करना चाहिए॥ १२५-१३२॥

वक्तव्य—सुदीर्घकाल से व्यावहारिक रूप से प्रचलित यह चूर्ण उदर रोग की प्रसिद्ध औषध है। यथाविधि निर्माण कर रोगानुसार अनुपान के साथ प्रयोग करने पर लाभप्रद होता है।

हपुषां काञ्चनक्षीरीं त्रिफलां कटुरोहिणीम्। नीलिनीं त्रायमाणां च सातलां त्रिवृतां वचाम्।
सैन्धवं काललवणं पिप्पलीं चेति चूर्णयेत्। दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः॥ १३४॥
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च। श्वित्रे कुष्ठे सरुजके सवाते विषमाग्निषु॥ १३५॥
शोथार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके। वातं पित्तं कफं चापि विरेकात् सम्प्रसाधयेत्॥ १३६॥

इति हपुषाद्यं चूर्णम्।

हपुषाद्य चूर्ण—हाऊबेर, सत्यानाशी (भड़भाड़) की जड़, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, कुटकी, नील का बीज, त्रायमाणा, सेहुँड़, सफेद निशोथ, मीठा बच, सेंधानमक, विडनमक और पीपर—इन द्रव्यों को बराबर-बराबर लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को (५ ग्राम की मात्रा में) खट्टे अनार के रस, त्रिफला के क्वाथ, मांसरस, गोमूत्र या गरम जल के साथ खाना-पीना चाहिए। इस चूर्ण को सभी प्रकार के गुल्मों में, प्लीहारोग में, सभी उदर रोगों में, श्वेत कुष्ठ में, वेदना होने में, वात-विकार में, विषमाग्नि में, शोथ और अर्श में, पाण्डुरोग में, कामलारोग में तथा हलीमक रोग में प्रयुक्त करना चाहिए। यह चूर्ण विरेचन कराकर वात, पित्त और कफ के विकारों को शान्त करता है॥ १३३-१३६॥

नीलिनीं निचुलं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणानि च। चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत्॥ १३७॥

इति नीलिनाद्यं चूर्णम्।

नीलिन्यादि चूर्ण—नील का बीज, जलबेंत, सोंठ, मरिच, पीपर, यवक्षार, सज्जीखार, पाँचों नमक और चित्रक की जड़—इन्हें समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का घी के साथ प्रयोग करने पर यह उदररोग एवं गुल्म को नष्ट करता है॥ १३७॥

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसहितं दधि। जातं विमथ्य तद्युक्त्या त्रिवृत्सिद्धं पिबेद् घृतम्॥ १३८॥

स्नुहीक्षीर घृत (१)—गाय का दूध १ द्रोण लेकर उसमें आधा प्रस्थ सेहुँड़ का दूध मिलाकर गरम कर जामन डालकर दही जमायें, फिर उस दही के जम जाने पर उसकी साढ़ी निकालकर मथकर घी निकालें और घृत का चतुर्थांश सफेद निशोथ का कल्क और घृत का चतुर्गुण जल डालकर विधिवत् घृत का पाक करें। इस घृत को (५ ग्राम से १० ग्राम तक की मात्रा में) उदर रोगी को उपयुक्त अनुपान से सेवन करायें॥ १३८॥

तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत्। स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च॥ १३९॥
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये।

इति स्नुहीक्षीरघृतम्।

स्नुहीक्षीर घृत (२)—गाय का दूध ८ प्रस्थ, गाय का घी १ प्रस्थ, सेहुँड़ का दूध १ पल और सफेद निशोथ का कल्क ६ पल डालकर विधिपूर्वक बनाया हुआ घी सभी प्रकार के गुल्मों, संयोगज विषों और उदर रोगों की शान्ति के लिए पीना चाहिए॥ १३९॥

दधिमण्डाढके सिद्धात् स्नुक्क्षीरपलकल्कितात्॥ १४०॥
घृतप्रस्थात् पिबेन्मात्रां तद्वज्जठरशान्तये।

स्नुहीक्षीर घृत (३)—दही के १ आढक पानी में १ पल सेहुँड़ का दूध और १ प्रस्थ गाय का घी डालकर विधिवत् घृत पकायें। इस घृत को उचित मात्रा में उदररोग के शमनार्थ पान करें॥ १४०॥

एषां चानु पिबेत् पेयां पयो वा स्वादु वा रसम्॥ १४१॥
घृते जीर्णे विरिक्तस्तु कोष्णं नागरकैः शृतम्। पिबेदम्बु ततः पेयां यूषं कौलत्थकं ततः॥ १४२॥
पिबेद् रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं भूयो वा प्रतिभोजितः। पुनः पुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्या तयैव च॥ १४३॥
घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात् कुशलो भिषक्। गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये॥

स्नुहीक्षीर घृतों का अनुपान—इन घृतों के साथ अनुपान के रूप में पेया या चीनी मिला हुआ दूध अथवा मांसरस लेना चाहिए। घृत के पच जाने पर जब विरेचन हो जाये तो सोंठ डालकर पकाया हुआ ईषत् उष्ण जल पीना चाहिए। उसके बाद पेया पीयें, फिर कुलथी की दाल का यूष पीना चाहिए। इस प्रकार तीन दिन तक क्रमशः इन अनुपानों को लेते रहें। यदि रोगी में रूक्षता हो, तो उसे भोजन कराने के बाद बार-बार इसी क्रम से घृतपान कराना चाहिए अर्थात् पहले दिन घृतपान के बाद सोंठ का जल, दूसरे दिन पेया और तीसरे दिन कुलथी का यूष पिलायें, फिर आहार करे तथा यही क्रम यथावश्यक चलता रहे। सभी प्रकार के गुल्मों, गरदोषों और उदररोगों के शमन के लिए इन परीक्षित घृतों को कुशल वैद्य को बनाना चाहिए॥ १४१-१४४॥

पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम्। गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत्॥ १४५॥

उदररोग में अन्य घृत—(१) पीलु के फल के कल्क से सिद्ध घृत का सेवन आनाहरोग को दूर करता है। (२) नीलिनी घृत गुल्म को नष्ट करने वाला कहा गया है और इसी प्रकार (३) गुल्म रोग की चिकित्सा में मिश्रकस्नेह (घृत-तैल मिश्रण) कहा गया है। इन योगों का भी उदर रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए प्रयोग करना चाहिए॥ १४५॥

क्रमान्निर्हृतदोषाणां जाङ्गलप्रतिभोजनाम्। दोषशेषनिवृत्त्यर्थं योगान् वक्ष्याम्यतः परम्॥

शेष दोषनिवर्तक योगों का उपक्रम—इस प्रकार क्रम से जिन रोगियों का दोष निकाला जा चुका है और जिन्हें जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करा दिया गया हो, उनके बचे हुए दोषों को दूर करने के लिए अनेक योगों का उपदेश अब आगे किया जायेगा॥ १४६॥

चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण ना पिबेत्। मासं युक्तस्तथा हस्तिपिप्पली विश्वभेषजम्॥

चित्रकादि योग—(१) चित्रकमूल और देवदारु का चूर्ण दूध के साथ अथवा (२) गजपीपर और सोंठ का चूर्ण दूध से एक मास तक संयमपूर्वक सेवन करना चाहिए॥ १४७॥

विडङ्गं चित्रकं दन्ती चव्यं व्योषं च तैः पयः। कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत्॥ १४८॥

विडङ्गादि योग—(३) वायविडंग, चित्रकमूल, दन्तीमूल, चाभ, सोंठ, मरिच और पीपर, इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को १ कोल (आधा कर्ष) की मात्रा में दूध के साथ पीने से बढ़ा हुआ उदररोग भी शान्त हो जाता है॥ १४८॥

पिबेत् कषायं त्रिफलादन्तीरोहितकैः शृतम्। व्योषक्षारयुतं जीर्णे रसैरद्यात्तु जाङ्गलैः॥ १४९॥

त्रिफलादि क्वाथ—(४) हर्रा, बहेड़ा, आँवला (तीनों निर्बीज), दन्तीमूल और रोहीतक की छाल को (सब मिलाकर २५ ग्राम लेकर जौकुट कर १६ गुने जल में अष्टमांशावशिष्ट) क्वाथ बनाकर उसमें सोंठ, मरिच और पीपर तथा यवक्षार का चूर्ण (३ ग्राम) मिलाकर पीना चाहिए। औषध के पच जाने के पश्चात् जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करना चाहिए॥ १४९॥

मांसं वा भोजनं भोज्यं सुधाक्षीरघृतान्वितम्। क्षीरानुपानां गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत्॥ १५०॥

मांसाहार—(५) पूर्व में कथित 'स्नुहीक्षीर घृत' के साथ जांगल पशु-पक्षियों के मांस का प्रमुख रूप से भोजन करें अथवा (६) हर्रे का चूर्ण गोमूत्र के साथ गोमूत्र से सेवन करें और बाद में दुग्धपान का अनुपान प्रयोग करें॥ १५०॥

सप्ताहं माहिषं मूत्रं क्षीरं चानन्नभुक् पिबेत्। मासमौष्ट्रं पयश्छागं त्रीन्मासान् व्योषसंयुतम्। हरीतकीसहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु। शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत्॥ १५२॥
शृङ्गवेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो हितः। तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा॥ १५३॥

उदररोग में विविध क्षीर योग—(७) उदररोगी अन्नाहार का परित्याग कर एक सप्ताह तक भैंस के मूत्र का पान करे और आहार में भैंस के दूध का सेवन करे। (८) अथवा १ महीने तक सोंठ, मरिच तथा पीपर का चूर्ण मिलाकर ऊँटनी का दूध पीये या (९) तीन महीने तक सोंठ, मरिच, पीपर का चूर्ण मिलाकर बकरी का दुग्धपान करे अथवा (१०) केवल दुग्धाहार का सेवन करता हुआ एक हजार हर्रे का प्रयोग क्रमिक रूप से करे या (११) दुग्ध का ही आहार करता हुआ शिलाजीत का प्रयोग करे या (१२) दुग्धाहार पर रहकर शिलाजीत की तरह गुग्गुलु का प्रयोग करे अथवा (१३) हरी आदी का स्वरस (१०-१५ ग्राम) समान गोदुग्ध मिलाकर पान करे अथवा (१४) दशगुने अदरक के रस में पकाया हुआ तिल का तैल का सेवन करना चाहिए॥ १५१-१५३॥

वक्तव्य—उदररोग शमनार्थ हरीतकी को एक हजार की संख्या में खाने को कहा गया है। कई आचार्य इसे वर्धमान पिप्पली की तरह (च० चि० अ० १ पा० ३) सेवन का विधान बतलाते हैं, जैसे—उत्तम बल वाले के लिए श्रेष्ठ मात्रा १० हरीतकी, मध्यमबल वाले के लिए ६ हरीतकी और अल्पबल व्यक्ति के लिए अल्पमात्रा ३ हरीतकी देनी चाहिए। वर्तमान काल में यह सब क्रम अधिक हैं। अतः एक हजार हरीतकी के सेवन का क्रम यह होना चाहिए कि प्रारम्भिक मात्रा १ हरीतकी रखकर प्रतिदिन १-१ हरीतकी बढ़ाते जायें, जिससे दशवें दिन १० हरीतकी की मात्रा हो। इस अनुपात से १० दिन में कुल ५५ हरीतकी का प्रयोग होगा। फिर १०-१० हरीतकी ९० दिनों तक लेते रहने से ९० दिन में ९०० हरीतकी का सेवन किया जायगा। फिर एक्यानबे दिन से १-१ हरीतकी कम करते हुए ९वें दिन १ पर पहुँच जाय। इस प्रकार ९ दिनों में ४५ हरीतकी का प्रयोग होता है। एवञ्च १० + ९० + ९ = १०९ दिनों में ५५ + ९०० + ४५ = १००० एक हजार हरीतकी का सेवन पूरा होता है।

सहस्र हरीतकी सेवन बोधक सारणी

वृद्धिक्रम		स्थिरक्रम		ह्रासक्रम	
दिन	मात्रा	दिन	मात्रा	दिन	मात्रा
१ले	१	११वें दिन से		१०१वें	९
२रे	२	लेकर १००वें दिन		१०२रे	८
३रे	३	तक प्रत्येक दिन १०		१०३रे	७
४थे	४	हरीतकी का सेवन		१०४थे	६
५वें	५	करते हुए कुल ९००		१०५वें	५
६ठे	६	हरीतक का सेवन		१०६ठे	४
७वें	७	करना है।		१०७वें	३
८वें	८			१०८वें	२
९वें	९			१०९वें	१
१०वें	१०				
	५५		९००		४५
इस प्रकार ५५ + ९०० + ४५ = १००० हरीतकी का सेवन होगा।					

शिलाजीत और गुग्गुलु का प्रयोग भी वर्धमान क्रम से किया जा सकता है। वर्तमान काल में १ रत्ती की १ मात्रा मानकर १० दिन में १० रत्ती तक बढ़ायें और उसी पर स्थिर होकर रोग-निवृत्तिपर्यन्त सेवन कराते रहें। जब उसका सेवन बन्द करना हो, तो क्रमशः १-१ रत्ती घटाकर १ रत्ती पर पहुँचकर तब औषध सेवन बन्द करना चाहिए।

दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं दूष्योदरे हितम्। शूलानाहविबन्धेषु मस्तुयूषरसादिभिः॥ १५४॥

दूष्योदर चिकित्सा—(१५) दूष्योदर रोग में जब उदरशूल, मलविबन्ध और आनाह हो, तो दही के पानी, मूँग के यूष या कुलथी के यूष तथा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस आदि के साथ दन्ती एवं द्रवन्ती (छोटा एवं बड़ा जमालगोटा) के तैल को २-४ बूँद पीना चाहिए॥ १५४॥

सरलामधुशिग्रूणां बीजेभ्यो मूलकस्य च। तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे॥ १५५॥

वातोदर में तैल प्रयोग—(१६) वातोदर में त्रिवृत्, मीठा सहिजन और मूली के बीजों के तैल को मालिश और पीने के लिए प्रयोग करना चाहिए। ये तैल शूल को नष्ट करने वाले होते हैं॥ १५५॥

स्तैमित्यारुचिहृल्लासे मन्देऽग्नौ मद्यपाय च। अरिष्टान् दापयेत् क्षारान् कफस्त्यानस्थिरोदरे॥
श्लेष्मणो विलयार्थं तु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः।

कफोदर में अरिष्ट तथा क्षार—(१७) जिस रोगी का उदर कफदोष की अधिकता के कारण कसा हुआ और निश्चल हो गया हो, शरीर में गीलापन हो, भोजन में अरुचि हो, जी मचलता हो और अग्निमान्द्य हो, तो मद्यपान करने वाले रोगी को कफ के विलयन के लिए दोष के अनुसार अरिष्टों तथा क्षारों का प्रयोग करना चाहिए॥ १५६॥

पिप्पलीं तिल्वकं हिङ्गु नागरं हस्तिपिप्पलीम्॥ १५७॥
भल्लातकं शिग्रुफलं त्रिफलां कटुरोहिणीम्। देवदारु हरिद्रे द्वे सरलातिविषे वचाम्॥ १५८॥
कुष्ठं मुस्तं तथा पञ्च लवणानि प्रकल्प्य च। दधिसर्पिर्वसामज्जतैलयुक्तानि दाहयेत्॥ १५९॥
अन्नाद्यूर्ध्वमतः क्षाराद् बिडालकपदं पिबेत्। मदिरादधिमण्डोष्णजलारिष्टसुरासवैः॥ १६०॥
हृद्रोगं श्वयथुं गुल्मं प्लीहार्शोजठराणि च। विसूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत्॥ १६१॥

पिप्पल्यादि क्षार—(१८) पीपर, तिल्वक (गुलाबचीन) की छाल, हींग, सोंठ, गजपीपर, भिलावा, सहिजन का फल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, कुटकी, देवदारु, हरदी, दारुहरदी, चीड़ की छाल, अतीस, मीठा बच, मीठा कूठ, नागरमोथा और पाँचों नमक—इन सभी द्रव्यों को जौकुट कर सबको दही, घी, वसा, मज्जा और तिल के तैल के घोल में घोंटकर मिला दें और टिकिया बनाकर सुखा लें, फिर छोटी घटी में रखकर सन्धिबन्द कर गोइठे की आग में गजपुट देकर भस्म कर लें। ठण्डा होने पर चूर्ण कर कपड़-छन कर रख लें। भोजन करने के पश्चात् १ कर्ष की मात्रा में मद्य, दही का पानी, गरम जल, अरिष्ट, सुरा या आसव के साथ इस क्षार का सेवन करना चाहिए। यह क्षार हृदय रोग, शोथ, गुल्म, प्लीहा, अर्श रोग, सभी प्रकार के उदर रोग, विसूचिका, उदावर्त और वाताष्ठीला रोग को नष्ट करता है॥ १५७-१६१॥

वक्तव्य—आधुनिक काल में इस क्षार की मात्रा २ से ४ ग्राम तक देनी चाहिए।

क्षारं चाजकरीषाणां स्रुतं मूत्रैर्विपाचयेत्। कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च॥ १६२॥
पिप्पलीं चित्रकं शुण्ठीं त्रिफलां त्रिवृतां वचाम्। द्वौ क्षारौ सातलां दन्तीं स्वर्णक्षीरीं विषाणिकाम्॥
कोलप्रमाणां वटिकां पिबेत् सौवीरसंयुताम्। श्वयथावविपाके च प्रवृद्धे च दकोदरे॥ १६४॥

क्षारवटी—(१९) बकरी की मींगनी को किसी मिट्टी की छोटी हाँड़ी में रखकर कपड़मिट्टी लगाकर मुँह बन्द कर गजपुट में फूँक कर भस्म बना लें, उसे (छह गुने) गोमूत्र में घोल कर २१ बार छानकर उस द्रव को कड़ाही में पकाकर गाढ़ा कर लें, फिर उसमें पिपरामूल, पृथक्-पृथक् पाँचों नमक, पीपर, चित्रकमूल, सोंठ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, निशोथ, मीठा बच, जवाखार, सज्जीखार, सातला (थूहर), दन्ती का मूल, स्वर्णक्षीरी का मूल और काकड़ासींगी—प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर डालकर अच्छी तरह रगड़कर मिला लें और १ कोल (आधा कर्ष) बराबर बटी बनाकर रख लें। इस बटिका को शोथ, अजीर्ण और अति बढ़े हुए जलोदर रोग में सौवीर के साथ सेवन करना चाहिए॥ १६२-१६४॥

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां तु तण्डुलैः। यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम्॥ १६५॥
पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये। स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येवं तथा पित्तकफानिलाः॥ १६६॥

उदररोगनाशक यवागू—(२०) साठी के चावल को गोमूत्र में सात बार भावना देकर उस चावल को (६ गुने) दूध में डालकर यवागू बनायें। उदररोगी को इच्छानुसार खाने को दें और अनुपान के रूप में गन्ने का रस पिलायें। इससे उदर रोग नष्ट होते हैं और वात, पित्त तथा कफ अपने-अपने स्थान में व्यवस्थित हो जाते हैं॥ १६५-१६६॥

शङ्खिनीस्नुक्त्रिवृद्दन्तीचिरबिल्वादिपल्लवैः। शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद्विषक्॥ १६७॥
ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चोदोषाय शास्त्रवित्। दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरं दोषशेषहरं शिवम्॥ १६८॥

मलविबन्ध में उपचार—(२१) जिस उदररोगी का मल गाढ़ा हो गया हो, उसे भोजन के पूर्व कालमेघ, सेहुँड़, सफेद निशोथ और करञ्ज आदि के पत्तों का साग बनवाकर खिलाना चाहिए। साग के सेवन के बाद जब रोगी के मल में ढीलापन हो जाय, तो शास्त्रज्ञ वैद्य को चाहिए कि बचे हुए दोष को हटाने में लाभप्रद गोमूत्र मिलाकर गोदुग्ध पीने को दें॥ १६७-१६८॥

पार्श्वशूलमुपस्तम्भं हृद्ग्रहं चापि मारुतः। जनयेद्यस्य तैलं स बिल्वक्षारेण ना पिबेत्॥ १६९॥
तथाऽग्निमन्थस्योनाकपलाशतिलनालजैः। बलाकदल्यपामार्गक्षारैः प्रत्येकशः स्रुतैः॥ १७०॥
तैलं पक्त्वा भिषग्दद्यादुदराणां प्रशान्तये। निवर्तते चोदरिणां हृद्ग्रहश्चानिलोद्भवः॥ १७१॥

पार्श्वशूल आदि में उपचार—(२२) वायु से जिस उदर रोगी को पार्श्वप्रदेश में शूल और जकड़ाहट हो तथा हृदय में भी जकड़न हो, उसे बिल्व की छाल के क्षार से सिद्ध तैल का पान करना चाहिए। (२३) इसी प्रकार अरणी, सोनापाठा, पलाश, तिल का डण्ठल, बरियार, केला और चिचिड़ा—इनके क्षारद्रवों से तैल को पकाना चाहिए। इस तैल का प्रयोग उदररोगों को शान्त करने के लिए करना चाहिए। इसके सेवन से वातज हृदयग्रह भी शान्त हो जाता है॥ १६९-१७१॥

वक्तव्य—इन तैलों में क्षार डालकर पकाना विहित है। सामान्यतः जिन द्रव्यों का क्षार बनाना होता है उन्हें टुकड़े कर जलाकर राख को ६ गुने जल में घोलकर २१ बार छाना जाता है और उस द्रव को गाढ़ा कर, सुखाकर रख लिया जाता है। यहाँ मूल में 'स्रुतैः क्षारैः' कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि क्षार के जल को एकदम न सुखाकर उसे द्रवरूप में ही रखा जाय और उससे तैल पकाया जाय और तिल का तैल जितना हो, उससे चौगुना क्षार द्रव लेना चाहिए।

कफे वातेन पित्तेन ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले। बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम्॥ १७२॥

एरण्डतैल प्रयोग—(२४) उदररोग से ग्रस्त रोगी के शरीर में जब वायु और पित्त से कफ आवृत हो जाये अथवा पित्त और कफ से वायु आवृत हो जाय और रोगी बलवान् हो, तो उसे उदररोगनाशक औषध के साथ एरण्ड तैल का पान कराना हितकर होता है॥ १७२॥

सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराध्मापितो भवेत्। सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैस्तमुपाचरेत्॥ १७३॥
सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम्। तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्बस्तिभिस्तमुपाचरेत्॥

निरूहवस्ति का प्रयोग—(२५) अच्छी प्रकार विरेचन हो जाने पर भी जिस रोगी के उदर में वायु भरकर आध्मान उत्पन्न कर दे, तो उसकी चिकित्सा अधिक स्नेह तथा अम्ल एवं लवण मिलाकर निर्मित निरूहवस्तियों को देकर करनी चाहिए। (२६) इसी प्रकार ठीक से विरेचन हो जाने के बाद भी यदि वायु शरीर में जकड़ाहट और आध्मान उत्पन्न करे, तो उस रोगी को तीक्ष्ण वीर्य वाली औषधियों के क्वाथ में क्षार और गोमूत्र मिलाकर निरूहवस्ति देकर चिकित्सा करनी चाहिए॥ १७३-१७४॥

क्रियातिवृत्ते जठरे त्रिदोषे चाप्रशाम्यति। ज्ञातीन्ससुहृदो दारान् ब्राह्मणान्नृपतीन्गुरून्॥ १७५॥
अनुज्ञाप्य भिषक् कर्म विदध्यात्संशयं ब्रुवन्। अक्रियमाणे ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्॥
एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः। पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रयोजयेत्॥ १७७॥
यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम्। भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः॥ १७८॥
तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः। विषेणाशुप्रमाथित्वादाशु भिन्नः प्रवर्तते॥ १७९॥

उदररोग में विष का प्रयोग—(२७) जब त्रिदोषज उदररोग सभी प्रकार की उदररोगनाशक चिकित्साओं का सेवन करने के बाद भी शान्त होता न दीख पड़े, तो वैद्य का यह नैतिक कर्तव्य है, कि वह रोगी के भाई-बन्धुओं, उसके मित्रों, उसके घर की स्त्रियों, ब्राह्मणों और राजा तथा गुरुजन को इस बात की जानकारी दे देवे कि रोगी की स्थिति गम्भीर है। उसका जीवन सन्दिग्ध है। क्योंकि इस रोगी को उपयुक्त सभी औषधों का प्रयोग करने पर भी लाभ नहीं हो रहा है। यदि इसकी चिकित्सा नहीं की जाती है, तो इसकी मृत्यु निश्चित है और यदि चिकित्सा की भी जाती है, तब भी सफलता प्राप्त होने में सन्देह है। इस प्रकार की सूचना देने पर यदि रोगी के मित्र या शुभचिन्तक चिकित्सा करने के लिए निवेदन करें, तब उसकी अनुमति प्राप्त कर रोगी को पेय एवं खाद्य पदार्थों में विष मिलाकर दे। (२८) अथवा जिस फल को कुपित सर्प ने काट खाया हो और अपना विष उस फल में छोड़ दिया हो, दक्ष वैद्य को अच्छी प्रकार से परिस्थिति का विचार करके उस विषमय फल को रोगी को खिलाना चाहिए। इस प्रकार विष का प्रयोग करने से रोगी के शरीर में स्थिर, धातुओं में लीन और विपरीत मार्गगामी दोषों का समुदाय विष के आशुकारी और प्रमाथी गुण के कारण बाहर निकलने को उद्यत हो जाता है (प्रमाथी द्रव्य उसे कहते हैं, जो अपने तीक्ष्णवीर्य से स्रोतों में विलीन दोषों को खींचकर हठात् बाहर निकाल देता है)॥ १७५-१७९॥

वक्तव्य—आचार्य सुश्रुत ने दूष्योदर की चिकित्सा (सु० चि० १४) में रोगी को कोष्ठशोधन कराने के बाद मद्य के साथ कनेर, गुञ्जा और काकादनी के मूल का कल्क पिलाने को कहा है अथवा काले सर्प से गन्ने में या ककड़ी आदि फल को कटवाकर चूसने, खाने के लिए कहा है। मूलज तथा कन्दज विषों के सेवन का भी निर्देश दिया है। यहाँ त्रिदोषज उदररोग की चिकित्सा में भी उपलब्धता के आधार पर विषों का प्रयोग करना चाहिए। विष की विशेषता यह है कि वह अपनी तीक्ष्ण प्रतिक्रिया से शरीर के स्रोतों में संलग्न दोषसंघात को हठात् बाहर निकाल देता है। विष समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है, इससे विरेचन भी होता है। विष के प्रयोग में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए और रोगी का सतत पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए।

विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम्। पाययेत भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम्॥ १८०॥
त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाकं सयववास्तुकम्। भक्षयेत्कालशाकं वा स्वरसोदकसाधितम्॥ १८१॥
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक्। मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं पिबेत्॥ १८२॥
एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात् परं ततः। दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत्कारभं पयः॥ १८३॥

विष प्रयोग के बाद पथ्य—जब विष का प्रयोग करने से रोगी के दोष दूर हो जायें, तो रोगी को शीतल जल से स्नान करवाकर वैद्य उसे उसके बल के अनुसार गोदुग्ध या यवागू पिलवायें। उसके बाद सफेद निशोथ, मण्डूकपर्णी, जौ, बथुआ और कालशाक (मरसा) की पत्ती का साग जो इन्हीं शाकों के स्वरस के जल से पकाया गया हो और जिसमें तैल-घी, खटाई तथा नमक नहीं डाला गया हो। यह शाक पकाकर या कच्चा ही खाना चाहिए। इसके सेवनकाल में अन्न का त्यागकर शाक पर निर्भर रहे। प्यास लगने पर इन्हीं शाकों का स्वरस पीना चाहिए और इस प्रयोग को एक मास तक लगातार चलाना चाहिए। इस प्रकार शाकों के सेवन से दोषों के सर्वथा निर्मूल हो जाने पर एक मास पश्चात् दुर्बल रोगी को प्राणधारण-सामर्थ्य प्रदान करने वाला ऊँटनी का दूध पिलाना चाहिए॥ १८०-१८३॥

इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम्। वामं कुक्षिं मापयित्वा नाभ्यधश्चतुरङ्गुलम्॥
मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक्। विपाट्यान्त्रं ततः पश्चाद्वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः॥
सर्पिषाऽभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत्। मूर्च्छनाद्यञ्च संमूढमन्त्रं तच्च विमोक्षयेत्॥१८६॥
छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलिकैः। बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा छित्वा पिपीलिकान्॥
प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रेयैः सीव्येद् व्रणं ततः[1]।

बद्धोदर तथा छिद्रोदर में शल्य-चिकित्सा—अग्रिम पङ्क्तियों में जिस शल्यकर्म का उपदेश किया जा रहा है, वह कर्म ऐसे शल्यविद् चिकित्सकों द्वारा किया जाना चाहिए, जिन्होंने इस प्रकार के शल्यकर्म को प्रत्यक्ष देखा है (और सिद्धहस्त हैं)। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि नाभि के नीचे बाईं ओर ४ अंगुल नापकर सूक्ष्म धार वाले शस्त्र से चीरा लगाकर आँत को निकालकर बद्धोदर के एवं छिद्रोदर के जनक कारणों का निरीक्षण कर यदि बाल या कंटक आदि हो, तो उसे निकाल दे और निकालने के पूर्व घी से आँत का लेपन कर लें। यदि आँत परस्पर चढ़ गयी हो जिसके कारण बद्धोदर हो, तो उसे छुड़ा दें। छिद्रोदर की आँत में बने छिद्रों में काले मोटे चींटों से कटवा दे और जितनी दूरी तक छिद्र हो उतने चींटें लगायें तथा जब चींटें आँत को अपने मुख में ठीक से पकड़ लें, तो उन्हें गर्दन पर से तोड़ दें, उसके बाद आँत को यथास्थान रखकर ऊपर से सूई से सिल दें। तत्पश्चात् व्रण की तरह बन्धन आदि उपचार का विधान करें॥ १८४-१८७॥

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद् भिषक्॥ १८८॥
वामपार्श्वे त्वधो नाभेर्नाडीं दत्त्वा च गालयेत्। विस्राव्य च विमृद्यैतद्वेष्टयेद्वाससोदरम्॥ १८९॥
तथा बस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत्।

जलोदर में शस्त्रकर्म—वैद्य को चाहिए कि जब उदरावरण कला में जल का सञ्चय हो जाय, तो नाभि के नीचे वामभाग में चीरा लगाये और उसमें नाड़ीयन्त्र लगाकर भीतर भरा हुआ जल निकाल दे और हाथ से उदर का मर्दन करते हुए जल को निकाले। तत्पश्चात् कपड़े के पट्टे से उदर को परिवेष्टित कर बाँध दे। इसी प्रकार यदि वस्ति एवं विरेचन आदि के द्वारा भी जल निकल जाने के कारण उदर क्षीण (जलहीन) हो जाये, तो भी कपड़े के बड़े पट्टे से उदर का बन्धन कर देना चाहिए॥ १८८-१८९॥

---

१. बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणमन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वाऽपोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्। परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य, तच्छिद्रमान्त्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्, दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि, ततः पूर्ववत् सीव्येत्, सन्धानं च यथोक्तं कारयेत् इत्यादि। (सु. चि. १४।१७)

वक्तव्य—पहले ही बद्धोदर और छिद्रोदर की चिकित्सा का उपदेश करते समय आचार्य चरक ने शल्यशास्त्रविद् सिद्धहस्त चिकित्सक के द्वारा शल्यकर्म का संकेत किया है और वही बात यहाँ जलोदर में भी जाननी चाहिए। इसलिए यह आवश्यक है कि शास्त्रसाध्य उदररोगों की चिकित्सा विधि का सुश्रुतोक्त प्रकरण में अवलोकन किया जाय। जिसका वर्णन सु. चि. १४ में है।

निःस्रुते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्॥ १९०॥
अतः परं तु षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः। त्रीन्मासान्पयसा पेयां पिबेत् त्रींश्चापि भोजयेत्॥
श्यामाकं कोरदूषं वा क्षीरेणालवणं लघु। नरः संवत्सरेणैवं जयेत् प्राप्तं जलोदरम्॥ १९२॥

जलोदर में पथ्य—पूर्वोक्त प्रकार से जल निकल जाने पर रोगी को उपवास कराना चाहिए और भूख लगने पर बिना घी-तैल तथा नमक के पेया पिलानी चाहिए। उसके बाद छह महीने तक केवल दुग्धाहार से जीवन निर्वाह करना चाहिए एवं तदनन्तर तीन माह तक दूध और पेया पीनी चाहिए, फिर तीन माह पर्यन्त दूध के साथ सावाँ या कोदो का भात खिलाना चाहिए तथा इस अवधि में नमक एकदम नहीं खाना चाहिए। इस प्रकार का उपचार करता हुआ मनुष्य एक वर्ष में जलोदर रोग पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ १९०-१९२॥

प्रयोगाणां तु सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत्। दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च॥ १९३॥
प्रयोगपचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः। सर्वधातुक्षयार्तानां देवानाममृतं यथा॥ १९४॥

उदररोग में दुग्ध सर्वोत्तम पथ्य—पहले कहे गये सभी चिकित्सा प्रयोगों के पश्चात् दूध का सेवन निश्चय रूप से करना चाहिए। जिससे पुनः दोषों का उपद्रव न उत्पन्न हो और शरीर में स्थिर बल की उपलब्धि हो। उदर रोग को दूर करने के लिए औषधों के प्रयोग से जिनका शरीर क्षीण हो गया हो अथवा जिनकी सभी धातुएँ क्षय को प्राप्त हो गयी हैं, उनके लिए दूध का सेवन उतना ही लाभप्रद है, जितना देवताओं के लिए अमृत का सेवन करना लाभप्रद होता है॥ १९३-१९४॥

तत्र श्लोकौ—

हेतुं प्राग्रूपमष्टानां लिङ्गं व्याससमासतः। उपद्रवान् गरीयस्त्वं साध्यासाध्यत्वमेव च॥ १९५॥
जाताजाताम्बुलिङ्गानि चिकित्सां चोक्तवानृषिः। समासव्यासनिर्देशैरुदराणां चिकित्सिते॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने उदरचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अध्याय का उपसंहार—महामति ऋषि आत्रेय ने इस 'उदरचिकित्सित' नामक अध्याय में आठ प्रकार के उदर रोगों के कारण, उनके पूर्वरूप, उनके लक्षण, उनके उपद्रव, उनकी अपेक्षाकृत प्रबलता और साध्य और असाध्य स्वरूप को विस्तार और संक्षेप से बतलाया है, उदर में जल संचित होने के लक्षण और उदर में जल न संचित होने के लक्षण तथा उदररोग की चिकित्सा का भी संक्षेप एवं विस्तार से कथन किया है॥ १९५-१९६॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'उदरचिकित्सित' नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १३॥

उदररोग चिकित्साक्रम-बोधक सारणी

उपचार	औषध	आहार-विहार
(१) वातोदर में—यदि रोगी बलवान् हो, तो स्नेहन-स्वेदन करके स्नेह-विरेचन (जैसे—गोदुग्ध में एरण्ड तैल पिलाना) देकर दोषों को निकाले और उदर को कपड़े के फेरे से कसकर बाँध दें, जिससे खाली उदर में वायु प्रविष्ट होकर आध्मान न करे। **नित्य विरेचन**—स्रोतों के अवरोध को दूर करने के लिए नित्य विरेचन दें और विरेचन से पूर्णतः संशोधन हो जाने के बाद पेयाविलेपी आदि संसर्जन क्रम में पथ्य देकर बलवृद्धि के लिए बाद में दूध पीने को दें। **आस्थापन**—अम्ल-लवणयुक्त यूष या मांसरस के सेवन से जठराग्नि जब तीव्र हो, ऐसी स्थिति में जब रोगी को उदावर्त हो, तो पुनः स्नेहन-स्वेदन करके आस्थापन वस्ति दें। **अनुवासन**—शरीर में फड़कन, आक्षेप एवं सन्धिशूल आदि में प्रदीप्त अग्नि वाले को मल अथवा अपान वायु के विबन्ध में अनुवासन वस्ति दें। **अविरेच्य रोगी**—दुर्बल एवं सुकुमार, बालक, वृद्ध, अल्पदोष एवं वातवृद्धियुक्त अविरेच्य रोगियों को दोषशामक घी-यूष-मांसरस और भात आदि का पथ्य देते हुए वातघ्न वस्ति, अभ्यंग, अनुवासन और दुग्ध के प्रयोग से उपचार करना चाहिए। **(२) पित्तोदर में**—रोगी बलवान् हो, तो पहले विरेचन दे और दुर्बल हो तो क्षीर-प्रधान निरूह वस्ति देकर शोधन करे। शरीर में बल आ जाने पर पुनः विरेचन दे और पहले स्नेहन कर ले। विरेचन कराकर बल प्राप्ति के लिए गोदुग्ध पीने को दें। बल आ जाने पर पुनः वस्तिकर्म और विरेचन करायें। इस प्रकार क्रम से इन कर्मों को करें। **(३) कफोदर में**—स्नेहन-स्वेदन करने के बाद विरेचन कराकर, कटु तथा क्षारयुक्त अन्नों के प्रयोग से संसर्जन क्रम से पथ्य दें, फिर गोमूत्र, अरिष्ट, चूर्ण, लौह भस्म और क्षार के प्रयोग से एवं तैल पान कराकर कफोदर को शान्त करें।	आस्थापन वस्ति के लिए दश मूल के क्वाथ में निशोथ, अमलतास आदि का कल्क डालकर प्रयोग करें। अनुवासनार्थ—वातनाशक द्रव्यों के कल्क से सिद्ध एरण्ड तैल और तिल के तैल का प्रयोग करें। **पित्तोदर में विरेचन योग**—१. सफेद निशोथ के कल्क और एरण्ड के क्वाथ से सिद्ध दूध पिलायें या २. सातला (सेहुँड़) और त्रायमाणा के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध दूध पिलायें या ३. अमलतास की गुद्दी के कल्क से सिद्ध दुग्ध पिलाकर विरेचन करायें। यदि पित्तोदर में कफ का अनुबन्ध हो, तो अमलतास की गुद्दी से सिद्ध गोदुग्ध में गोमूत्र मिलाकर पिलायें और यदि वायु का अनुबन्ध हो, तो 'पंचतिक्त घृत' पिलाकर विरेचन करायें। **संशमन योग**—१. पिप्पल्यादि चूर्ण ३-३ ग्राम की मात्रा में प्रातः-सायं गरम जल से सेवन करना चाहिए। २. विडंगादिक्षार १-१ ग्राम २ बार प्रतिदिन गोदुग्ध से दें।	**सेवनीय आहार**—लाल अगहनी चावल, जौ मूँग, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, सीधु और सुरा का सेवन करना चाहिए। **दुग्ध का प्रयोग**—शोथ, आनाह, वेदना, प्यास और मूर्च्छा से पीड़ित रोगियों को ऊँटनी का दूध पीना चाहिए। यदि उदर रोगी का संशोधन किया जा चुका हो और शरीर में क्षीणता हो, तो बकरी, गौ और भैंस का दूध पीना चाहिए। **दुग्ध के विभिन्न योग** १. सामान्यतः सभी उदररोगों में एक सप्ताह तक अन्न का त्यागकर भैंस का मूत्र और गोदुग्ध लें। २. एक माह तक त्रिकटु चूर्ण मिला ऊँटनी का दूध लें। ३. तीन मास तक त्रिकटु चूर्ण मिला बकरी का दूध लें। ४. 'वर्धमान पिप्पली' की तरह क्रम से एक हजार हर्रे का सेवन करें और दुग्धाहार पर रहें। ५. शिलाजीत का सेवन करते हुए केवल गोदुग्ध-पान पर रहें। ६. गुग्गुलु का सेवन करें और पथ्य में मात्र गोदुग्ध लें।

उपचार	औषध	आहार-विहार
(४) सन्निपातोदर में—वात, पित्त और कफ की अलग-अलग जो चिकित्सा कही गयी है, उन सबका प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए, जिससे लोभ हो। **(५) प्लीहोदर में**—स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, निरूह और अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि इन प्रयोगों से लाभ न प्रतीत हो,तो वाम बाहु में **सिरावेध** करना चाहिए अथवा राजयक्ष्माधिकारोक्त 'षट्पलसर्पि' या रसायनाधिकारोक्त (चरक) वर्धमान पिप्पली का प्रयोग करना चाहिए एवं गुड़ के साथ हर्रे का चूर्ण, क्षार तथा अरिष्टों का प्रयोग करें। **वातकफप्रधान प्लीहोदर में**—गरम लौह शलाका से प्लीहा का दाह करना चाहिए। **पित्तज प्लीहोदर में**—जीवनीय गण से सिद्ध किया हुआ घृत, दुग्धप्रधान निरूहवस्ति, रक्तमोक्षण, विरेचन द्वारा संशोधन और दुग्ध का पान कराना चाहिए। अग्नि को प्रदीप्त करने वाले अम्ल, तिक्त एवं कटु रस से युक्त यूष या मांसरस के साथ लघु अन्न खिलाना चाहिए। **(६) बद्धोदर में**—रोगी का स्नेहन-स्वेदन कर तीक्ष्ण (सेहुँड़ का दूध आदि) औषधों को गोमूत्र तथा तिल तैल एवं नमक के साथ घोलकर निरूह और अनुवासन वस्ति का प्रयोग करें। भोजन में अनुलोमन (जौ आदि) अन्नों का सेवन करें। आवश्यक समझें तो तीक्ष्ण विरेचन दें। उदावर्तहर और वातनाशक उपचार करना चाहिए। गम्भीर और प्रवृद्ध रोग में शल्यकर्म करें। **(७) जलोदर में**– सर्वप्रथम जल के दोष का हरण करने वाली चिकित्सा करें। एतदर्थ तीक्ष्ण क्षार द्रव्यों को गोमूत्र के साथ पान करें। दीपनीय कफनाशक आहार द्रव्यों का सेवन करें और जल की जगह दुग्धपान करें। **(८) छिद्रोदर में**—स्वेदन न करें और शेष उपचार कफोदर के समान ही करें। यदि	३. रोहीतक घृत १५-२० ग्राम की मात्रा में दूध के साथ प्रतिदिन २ बार दें। ४. देवदार्वादि लेप, सभी द्रव्यों को गोमूत्र में पीसकर, गरमकर उदर पर लेप करना चाहिए। **५. परिषेक योग**–बिच्छू घास, बच, कूठ, वृहत्पंचमूल, पुनर्नवा, अजवायन, सोंठ और धनियाँ को कूटकर, मिश्रित ४ कर्ष लेकर (५० ग्राम) ४ प्रस्थ (४ लीटर) जल में अर्धावशिष्ट उबाल कर उस जल से परिषेक या स्नान करना चाहिए। ६. परिषेक और पान—पलाश बीज, गन्धतृण और रास्ना को जल में पकाकर उससे परिषेक करें तथा पान भी करें। ७. अष्टमूत्र– इसी प्रकार १. भेड़ २. बकरी, ३. गाय, ४. भैंस, ५. हाथी ६. ऊँट, ७. घोड़ा और ८. गधे के मूत्र से स्नान तथा इनका पान करें। **दीपनीय घृत**—रूक्ष एवं वात-प्रधान, संशोधनयोग्य व्यक्तियों के लिए इन उदररोगनाशक घृतों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—१. पंचकोल घृत, २. नागरादि घृत ३. चित्रक घृत, ४. यवादि घृत। इनकी मात्रा १५ से २५ ग्राम तक देनी चाहिए। इन घृतों से रोगी का स्नेहन हो जाने पर कल्पस्थान में कथित विरेचनों में से जिसे उचित समझे, उसका प्रयोग करें। **उदररोगनाशक चूर्ण**—१. पटोलमूलाद्य चूर्ण, २. गवाक्ष्यादि चूर्ण, ३. नारायण चूर्ण, ४. हपुषाद्य चूर्ण, ५. नीलिन्यादि चूर्ण २-३ ग्राम की मात्रा में प्रातः-सायं गरम जल से दें।	७. आदी के रस को समान गोदुग्ध में पान करें। ८. दश गुने आदी के रस में सिद्ध तिल के तैल का उचित मात्रा में पान करें और दुग्धाहार पर निर्भर रहें। **तक्र सेवन के योग**–उदररोग में न गाढ़ा न पतला, घृतरहित, ताजा तक्र का सेवन करें। १. सन्निपात में—त्रिकटु, यवक्षार और सेंधा नमक से लें। २. वातोदर में—पीपर और सेंधानमक से लें। ३. पित्तोदर में—चीनी और मुलहठी डालकर लें। ४. कफोदर में—जवायन, जीरा, सेंधानमक और त्रिकटु चूर्ण से लें। ५. प्लीहोदर में—मधु, तिल तैल, मीठा बच, सोंठ मीठा कूठ, सौंफ और सेंधा नमक से लें। ६. जलोदर में—त्रिकुट का चूर्ण मिलाकर लें। ७. बद्धोदर में—हाऊबेर, अजवायन, भुना जीरा और सेंधानमक से लें। ८. छिद्रोदर में—पीपर तथा मधु मिलाकर तक्र पीना चाहिए। वात-कफ से पीड़ित, अरुचि, गुरुता एवं मन्दाग्नि तथा अतिसार से

उपचार	औषध	आहार-विहार
इस रोग में जल का संचय हो जाय, तो उसे बार-बार निकाल कर चिकित्सा करते हुए समय व्यतीत करें। **विशेष निर्देश**— (१) प्रायः सभी उदर रोगों में तीनों दोषों का सम्बन्ध रहता है, अतः सभी उदर रोगों में त्रिदोषशामक चिकित्सा करनी चाहिए। (२) उदर रोगों में दोषों के कुक्षि में भर जाने से अग्नि मन्द हो जाती है, अतः अग्नि को प्रदीप्त करने वाले हल्के आहार का सेवन करना चाहिए। (३) यदि विरेचन कराने के बाद भी उदररोगी के उदर में आध्मान होता हो, तो उसे अम्ल एवं सेंधानमक मिलाकर निरूह-वस्ति दें। उग्र आध्मान में तीक्ष्ण वीर्य द्रव्यों के क्वाथ में क्षार तथा गोमूत्र मिलाकर निरूहवस्ति देनी चाहिए। **सर्प विष प्रयोग**— जब उदररोग अति गम्भीर हो और सभी औषधें विफल हो चुकी हों, तो रोगी के भाई-बन्धु-मित्रों से रोग की स्थिति स्पष्ट कर दें और यदि वे अनुमत हों, तो रोगी को पेय या भोजन के साथ मूल विष या सर्प विष खिलायें। विष से विरेचन होकर दोषसंघात का निर्हरण हो जाता है, तदनन्तर शीतल जल से बदन पर छींटे मारें एवं रोगी को दूध या यवागू पिलायें। निशोथ, मण्डूकपर्णी और बथुआ का शाक खिलाना हितकर है या बिना घी-तैल-नमक के मरसा का शाक कच्चा या पक्का १ माह तक खिलायें उसके बाद ऊँटनी का दूध पिलायें। **बद्धगुदोदर, छिद्रोदर और जलोदर में** शस्त्रकर्म करना चाहिए। जलोदर में से जल तथा दोष के निकल जाने पर लंघन करायें और जब भूख लगे, तो घी-तैल रहित पेया पिलायें। फिर ६ माह तक मात्र दूध पर रखें, तत्पश्चात् ३ माह तक दूध और पेया पिलायें, उसके बाद ३ माह तक सावाँ या कोदो के भात के साथ दूध दें। इस अवधि में नमक निषिद्ध है। रोगी में दोषों के पुनः अनुबन्ध को रोकने और बल की प्राप्ति के लिए क्षीण रोगी को दूध देते रहना चाहिए।	शेष दोष निवारणार्थ— १. चित्रकादि योग, २. विडंगादि योग और ३. त्रिफलादि क्वाथ का यथावश्यक प्रयोग करें। **दूष्योदर में**—शूल, आनाह एवं विबन्ध होता हो, तो दन्ती तथा द्रवन्ती के तैल को दही के पानी, कुलथी के यूष या जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ पीना चाहिए। उदर में कफजन्य स्तब्धता, अरुचि, हृदय में स्तैमित्य और मन्दाग्नि हो, तो कफ विलयनार्थ अरिष्टों और क्षारों का प्रयोग करना चाहिए। **भोजनोत्तर पेय**—पिप्पल्यादि लवण को उचित मात्रा में भोजन के बाद मदिरा, दही के पानी, गरम जल, अरिष्ट या आसव के साथ पीना चाहिए। यह लवण हृदयरोग, शोथ, गुल्म, प्लीहा, अर्शरोग तथा सभी प्रकार के उदर रोग को नष्ट करता है। **वटिका** १. बढ़े हुए शोथ, जलोदर और अपच में सौवीराम्ल के साथ 'क्षार वटिका' का सेवन करायें। २. पार्श्वशूल और हृद्ग्रह में बिल्वक्षार-सिद्ध तैल का पान कराना चाहिए। ३. अरणी, सोनापाठा, पलाश-बीज, तिलों का डण्ठल, बरियार, केला और अपामार्ग, इनके क्षार से सिद्ध तैल का पान उदररोग को नष्ट करता है। ४. एरण्डतैल—यदि कफदोष वात तथा पित्त से आवृत हो या वातदोष पित्त एवं कफ से आवृत हो, तो उदररोगनाशक औषध के साथ एरण्ड तैल पिलाना चाहिए।	ग्रस्त रोगियों के लिए तक्र का सेवन अमृत के समान लाभप्रद होता है। **यवागू**—साठी के चावल को ७ बार गोमूत्र की भावना देकर चावल से ६ गुने दूध में पकाकर भरपेट खिलायें और बाद में गन्ने का ताजा रस इच्छानुसार पिलायें। **शाक**—यदि मल शुष्क हो तो भोजन के पहले यवतिक्ता, सेहुँड़, निशोथ, दन्ती या करंज के पत्तों का शाक खिलाना चाहिए। पुनः जब मल में शिथिलता आ जाय, तो कुछ दिन तक गोमूत्र युक्त गोदुग्ध का पान कराना चाहिए। **त्याज्य आहार**—जलीय तथा आनूप मांस, जैसे—मछली, सूअर का मांस आदि न खायें। शाक, चावल का आटा, व्यायाम, अधिक पैदल चलना, दिन में सोना, घोड़ा आदि की सवारी करना, उष्ण, नमकीन, खट्टे, विदाही, गुरु पदार्थ एवं अधिक जल का पीना, ये सब त्याज्य हैं।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

अथातोऽर्शश्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'अर्शचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—उदररोग और अर्शरोग, ये दोनों ही त्रिदोषज होते हैं और दूसरी बात यह है कि बद्धोदर के उपद्रवस्वरूप अर्श के मस्से गुदवलि में उत्पन्न होते हैं; इसलिए उदररोग के साथ निकट का सामञ्जस्य होने से उदररोग के बाद अर्श की चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है।

'अर्श' शब्द की निरुक्ति—'अरिवत् प्राणान् शृणाति पीडयति इति अर्शः' अर्थात् जो रोग शत्रु के समान पीड़ादायक होता है, उसे अर्श कहते हैं।

आसीनं मुनिमव्यग्रं कृतजाप्यं कृतक्षणम्। पृष्टवानर्शसां युक्तमग्निवेशः पुनर्वसुम् ॥ ३ ॥
प्रकोपहेतुं संस्थानं स्थानं लिङ्गं चिकित्सितम्। साध्यासाध्यविभागं च तस्य तन्मुनिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

अर्श-वर्णन का उपक्रम—अग्निवेश ने शान्तचित्त, जप से निवृत्त एवं संयत ऋषि पुनर्वसु से अवकाश के समय अर्शरोग के प्रकोप का कारण, अर्श के मस्से की आकृति, अर्श के स्थान, लक्षण, चिकित्सा और साध्य-असाध्य के भेद के विषय में पूछा और मुनिप्रवर आत्रेय पुनर्वसु ने उन्हें यह सब बतलाया ॥ ३-४ ॥

इह खल्वग्निवेश! द्विविधान्यर्शांसि—कानिचित् सहजानि, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि। तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः—माता-पित्रोरपचारः, पूर्वकृतं च कर्म; तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण, अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ॥ ५ ॥

अर्श के कारण और प्रकार—हे अग्निवेश! अर्श दो प्रकार के होते हैं—१. कुछ अर्श सहज होते हैं, जो शिशु के जन्मकाल के साथ ही उत्पन्न होते हैं और २. कुछ जन्म लेने के बाद उत्पन्न होते हैं। सहज अर्शों के उत्पन्न होने में माता के आर्तव के गुदवलि उत्पादक अंश में दोष होता है और उसी कारण बालक की गुदवलि विकृत हो जाती है। बीज (आर्तव-शुक्र) के विकृत होने में दो कारण होते हैं—१. पहला माता-पिता का आहार-विहार दूषित होना और २. दूसरा पूर्वजन्म में किया हुआ दुष्कर्म या पाप। ये दोनों कारण अन्य सहज रोगों में भी होते हैं। शरीर के साथ उत्पन्न होने वाले सहज अर्श होते हैं। अर्श मांस के भीतर होने वाला विकार है ॥ ५ ॥

विशेष—चरक-चिकित्सास्थान (३०।२८९-२९०) में कहा गया है कि चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशतन्त्र में चिकित्सास्थान के सत्रह (१४वें अर्श से लेकर ३०वें योनिव्यापत् चिकित्सित पर्यन्त—यह मत आचार्य गंगाधर और योगीन्द्रनाथ सेन का है) अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान नहीं प्राप्त होते हैं और कपिलबल के पुत्र दृढ़बल ने इस संहिता को सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने के लिए इन सत्रह अध्यायों एवं कल्प तथा सिद्धि, इन दोनों स्थानों की रचना की। भट्टारहरिचन्द्र, जेज्जट और चक्रपाणि के मत से चिकित्सास्थान अध्याय १ से ८ तक तथा १४, १९, २१, २४ एवं २५ को छोड़कर शेष सत्रह अध्यायों की रचना दृढ़बल ने की है। चक्रपाणि का मत—'ते च (सप्तदशाध्यायाः) चरकसंस्कृतान् यक्ष्मचिकित्सान्तानष्टावध्यायान् तथार्शोऽतिसारविसर्प-द्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय ज्ञेयाः' (च.चि. ३०।२८९-२९०)।

वक्तव्य—गुदा की सिराओं के उत्सेध या उभार को 'अर्श' कहते हैं। रक्तवाहिनी सिराओं के प्ररोह या अंकुर मांसाश्रित होते हैं। इसके विभिन्न कारण हैं—१. उदर के अर्बुद या यकृत् में शोथ के कारण अन्त्र का रक्त जब प्रतिहारिणी सिरा के द्वारा यकृत् में नहीं पहुँचता है, तो उसके अधोगमन से अर्श होता है। २. विबन्ध का लगातार बना रहना भी अर्श का प्रमुख कारण है। ३. अति मद्यपान के कारण परम्परया प्रतिहारिणी सिरा के अवरोध के कारण अर्श की उत्पत्ति होती है। ४. शारीरिक श्रम का न करना, अधिक बैठना, दिन में शयन करना और आलसी स्वभाव का होना, ये सब भी अर्शजनक कारण हैं। ५. गर्भोत्पीड़न, गर्भच्युति और विषम प्रसव भी अर्श के कारण हैं। गुदा में सिराएँ लम्बाई में स्थित हैं, इस कारण उन सिराओं में रक्त के रुकने में सहजता होती है। किन्हीं कारणों से जब गुदगत सिराओं में अवरोध होता है, तो मांसांकुर उत्पन्न होते हैं। ये बाह्य गुदवलि में होने पर बाह्यार्श और भीतर होने पर आभ्यन्तरार्श कहे जाते हैं।

सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं—गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलावकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः क्षेत्रमिति; केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति। तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। सर्वेषां चार्श-सामधिष्ठानं—मेदो मांसं त्वक् च ॥ ६ ॥

अर्श का स्थान या क्षेत्र—सभी अर्शों के उत्पन्न होने का स्थान गुदा के ४½ अंगुल अवकाश में तीन भागों में विभक्त तीन गुदवलियाँ हैं। कुछ आचार्य बहुत अधिक स्थानों को अर्शों की उत्पत्ति का स्थान मानते हैं, जैसे—मूत्रेन्द्रिय, योनिमार्ग, गला, तालु, मुख, नासिका, कर्ण, नेत्र के पलक और त्वचा। इन स्थानों में मांस है और अर्श मांस में उत्पन्न होने वाला अंगविशेष में उत्पन्न अंकुर होता है। इस प्रकार मांस के भीतर (अधिमांस) होने से ये भी अर्श कहे जाते हैं। किन्तु इस चरकसंहिता शास्त्र में गुदवलियों में होने वाले मांसांकुर को ही अर्श कहा जाता है। सभी प्रकार के अर्शों के उत्पन्न होने के स्थान-भेद मांस और त्वचा हैं ॥ ६ ॥

वक्तव्य—गुदवलि का आकार शंख के आवर्त (घुमावदार नाभि) की तरह है। गुदा बृहदन्त्र का अन्तिम भाग या छोर है। गुदा की लम्बाई ४½ अंगुल होती है। इसमें ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः १. प्रवाहणी, २. विसर्जनी और ३. संवरणी नाम की तीन वलियाँ होती हैं, जिनमें प्रवाहणी १½ अंगुल, विसर्जनी १½ अंगुल और संवरणी १ अंगुल लम्बी होती है एवं गुदौष्ठ की लम्बाई ½ अंगुल है। इस प्रकार गुदा की कुल लम्बाई साढ़े चार अंगुल होती है। इन्हीं वलियों में होने वाले मांसांकुर को चरकाचार्य ने अर्श की संज्ञा दी है।

सम्प्राप्तिः

मन्दाग्नि + वातादिवर्धक निदान → त्रिदोष प्रकोप → प्रधान धमनी द्वारा
+ रक्तप्रकोप → गुदा में स्थानसंश्रय
↓
मांस प्ररोह उत्पत्ति
(मांसवत् कठिन अंकुर)
(Heamorrhoids)

दोष : त्रिदोष, वातप्रधान।
दूष्य : मांस, मेद, रक्त, त्वक्।
अधिष्ठान : गुदवलि त्रय।

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि, कानिचिन्महान्ति, कानिचिद्दीर्घाणि, कानिचिद्ध्रस्वानि, कानिचिद्वृत्तानि, कानिचिद्विषमविसृतानि, कानिचिदन्तःकुटिलानि, कानिचिद्बहिःकुटलानि, कानिचिज्जटिलानि, कानिचिदन्तर्मुखानि, यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि॥ ७॥

सहज अर्शो के रूप—जो सहज अर्श होते हैं, उनमें कोई बहुत छोटे मस्से वाले, कोई बड़े मस्से वाले, कोई लम्बे, कोई छोटे कम लम्बे, कोई गोलाकार, कोई ऊँचे-नीचे फैले हुए, कोई भीतर में टेढ़े, कोई बाहर में टेढ़े, कोई जटा की तरह परस्पर मिले हुए होते हैं और कोई भीतर की ओर मुख किये हुए होते हैं। इनका रंग दोषों की प्रधानता के अनुसार होता है (जैसे—वायु की प्रबलता से अरुणवर्ण, पित्त की प्रबलता से पीला या नीला और कफ की प्रबलता से श्वेतवर्ण होता है)॥ ७॥

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः शर्करा-श्मरीमान्, तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वामशुष्कभिन्नवर्चा, अन्तराऽन्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्ता-रुणतनुसान्द्रपिच्छिलकुणपगन्ध्यामपुरीषोपवेशी, नाभिबस्तिवङ्क्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः, सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्षप्रमेहप्रसक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृदयेन्द्रियोपलेपः, प्रचुरविबद्धतिक्ता-म्लोद्गारः, सुदुर्बलः, सुदुर्बलाग्निः, अल्पशुक्रः, क्रोधनो, दुःखोपचारशीलः, कासश्वासतमकतृष्णा-हृल्लासच्छर्द्यरोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीतः, तैमिरिकः, शिरःशूली, क्षामभिन्नसन्नसक्तजर्जर-स्वरः, कर्णरोगी, शूनपाणिपादवदनाक्षिकूटः, सज्वरः, साङ्गमर्दः, सर्वपर्वास्थिशूली च, अन्तराऽन्तरा पार्श्वकुक्षिबस्तिहृदयपृष्ठत्रिकग्रहोपतप्तः, प्रध्यानपरः, परमालसश्चेति; जन्मप्रभृत्यस्य गुदजैरावृतो मार्गोपरोधाद्वायुरपानः प्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, एते सर्व एव प्रकुपिताः पञ्च वायवः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्ति; इत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि॥ ८॥

सहज अर्श के लक्षण—सहज अर्श से पीड़ित रोगी जन्मकाल से ही बहुत कृशशरीर, बदरंग, दुबला-पतला और दीन होता है। उसे अपानवायु के निकलने तथा मल-मूत्र के विसर्जन में बहुत रुकावट होती है। वह मूत्रशर्करा या अश्मरी से ग्रस्त होता है। उसका मलोत्सर्ग एक क्रम से नहीं होता है, कभी तो विबन्ध होता है, कभी पतला शौच होता है, कभी पक्व मल और कभी कच्चा मल आता है, कभी सूखा हुआ और कभी टूट-टूट कर मल आता है। रह-रहकर बीच-बीच में श्वेत, पीला, हरा, हरिद्रा वर्ण का; लाल, अरुण, पतला, गाढ़ा, पिच्छिल, मुर्दे की-सी गन्ध वाला या कच्चे मल का त्याग करता है। उसके नाभि, वस्ति (मूत्राशय) और वंक्षण प्रदेश में कैंची से काटने के समान बहुत अधिक पीड़ा होती है। गुदा में शूल के साथ प्रवाहिका होती है। रोगी को रोमाञ्च, प्रमेह, लगातार कब्जियत बना रहना, अन्त्रों में गुड़गुड़ाहट, उदावर्त, हृदय पर और इन्द्रियों पर (कफ जैसे द्रव का) लेप किया हुआ प्रतीत होना, ये लक्षण होते हैं। डकार आने में रुकावट, तीतापन और खट्टापन होता है। रोगी बहुत दुर्बल हो जाता है और उसे भीषण मन्दाग्नि होती है। उसमें वीर्य अल्प होता है और उसे क्रोध बहुत आता है। उसकी चिकित्सा करने में बड़ी कठिनाई होती है। वह कास, श्वास, तमकश्वास, तृष्णा, जी मचलाना, वमन, अरुचि, अपच, पीनस और बार-बार छींक आने से पीड़ित रहता है। उसकी दृष्टि अन्धकारमय होती है और उसे शिर में शूल होता है। उसका स्वर क्षीण, फटा-फटा-सा, रुकावटयुक्त, कभी एकदम रुकने वाला और टूटा-सा होता है। वह कान का रोगी होता है। उसके हाथ, पैर, बदन और नेत्रकोटर में शोथ होता है। उसे ज्वर रहता है, उसके अंगों में वेदना होती है और सभी जोड़ों तथा अस्थियों में शूल होता है। बीच-बीच में कभी-कभी उसकी पसलियों में, कुक्षि में, वस्ति में, हृदय, पीठ और त्रिकप्रदेश में अकड़न तथा पीड़ा होती है। वह रोगी सदैव चिन्तातुर रहता है और बहुत आलसी होता है। जन्म के समय से ही अर्श के मस्सों से गुदामार्ग के अवरुद्ध रहने से अपानवायु नीचे न उतर कर ऊपर की ओर चढ़कर

समान-व्यान-प्राण-उदान वायुओं तथा पित्त और कफ को भी प्रकुपित कर देती है। ये सभी पाँच वायुएँ और (पाँच) पित्त एवं (पाँच) कफ प्रकुपित होकर अर्श से आक्रान्त रोगी को पीड़ित करते हुए इन पूर्वकथित विकारों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सहज अर्श का वर्णन किया गया है॥ ८॥

अत ऊर्ध्वं जातस्योत्तरकालजानि व्याख्यास्यामः—

अब हम इसके पश्चात् उत्पन्न हुए मनुष्यों के जन्म के बाद होने वाले अर्शों की व्याख्या करेंगे।

गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्यभोजनाद् गव्यमात्स्यवाराहमा-हिषाजाविकपिशितभक्षणात् कृशशुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरदधिमण्डतिलगुडविकृतिसेवना-न्माषयूषेक्षुरसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्तलशुनकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणालशालूकक्रौञ्चाद-नकशेरुकशृङ्गाटकतरूटविरूढनवशूकशमीधान्यामूलकोपयोगाद् गुरुफलशाकरागहरितकमर्दक-वसाशिरस्पदपर्युषितपूतिशीतसङ्कीर्णान्नाभ्यवहारान्मन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद् व्यापन्नगुरुसलिल-पानादतिस्नेहपानादसंशोधनाद् बस्तिकर्मविभ्रमादव्यायामादव्यवायाद् दिवास्वप्नात् सुखशयनासन-स्थानसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रं, तथोत्कटविषमकठिनासनसेवनादुद्भ्रान्त-यानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद् बस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद् गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेल-लोष्टतृणादिघर्षणात्प्रततातिनिर्वाहणाद् वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात् स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद् गर्भोत्पीडनाद् विषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति॥ ९॥

अर्श का निदान और उसकी सम्प्राप्ति—भारी, मधुर, शीत, अभिष्यन्दी (जैसे—दही आदि), दाहजनक, देश-काल-मात्रा आदि की दृष्टि से एवं गुण की दृष्टि से परस्पर विरुद्ध द्रव्यों का सेवन, अजीर्ण रहने पर भोजन करने से, अल्प मात्रा में भोजन करने से एवं शरीर की प्रकृति के विपरीत (प्रतिकूल या असात्म्य) भोजन करने से; गोमांस, मछली का मांस, सूअर का मांस, भैंसे का मांस, बकरी का मांस और भेड़ के मांस के खाने से; कृश जीवों के मांस, सूखे और सड़े मांस खाने से, चावल के आटे से बने पदार्थों के खाने से, खीर, दूध, दही, मण्ड, तिल एवं गुड़ के बने हुए पदार्थों के खाने से, उड़द की दाल, गन्ने का रस, तिल की खली, पिण्डालुक (अरबी, बंडा, आलू), सूखे शाक, सिरका, लहसुन, फटे दूध का छेना, गाढ़ा मट्ठा, कमल की मोटी (बिस) या पतली (मृणाल) नाल, भसीड़ (कमलकन्द), छोटा कसेरू, बड़ा कसेरू, सिंघाड़ा, कुमुद (कोई, बेर्रा) का कन्द, अंकुरित अन्न (चना, मूँग आदि), नया शूकधान्य (जौ-गेहूँ), नया शमी धान्य (चना-मटर आदि), कच्ची मूली, इनके सेवन से; पचने में भारी फल, शाक, रायता-अचार, हरी धनिया, अदरक आदि, पिसे हुए गरम मसाले (मर्दक), चर्बी, बकरे आदि के शिर का मांस (शिरस्पद); बासी, सड़ा हुआ, ठंडा एवं संकीर्ण अन्न (जिसमें जौ-चना-मटर-मसूर आदि अनेक अन्न मिले हुए हों—बेझड़) के खाने से; ठीक से न जमी हुई दही, सड़कर खराब हुआ मद्य पीने से, दूषित और भारी जल के पीने से, अधिक स्नेह (घी-तैल-वसा) पीने से, वमन-विरेचन आदि के द्वारा संशोधन करने से, वस्तिकर्म का ठीक से प्रयोग न किये जाने से, व्यायाम न करने से, मैथुन का उचित प्रयोग न करने से, दिन में सोने से तथा आराम के साथ गद्देदार शय्या-आसन-कुर्सी आदि पर सोने-बैठने से अग्नि मन्द हो जाती है, जिससे बहुत अधिक अंश में मल का अवरोध होता है और मल संचित हो जाता है। इसी प्रकार विषम, ऊँचा-नीचा, कठिन आसन प्रयोग में लाने से, असंयत यान (जिसमें उद्धत घोड़े जुते हों ऐसी सवारी एक्का-ताँगा आदि) पर या ऊँट द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी पर यात्रा करने से, अति मैथुन करने से, वस्ति यन्त्र के नेत्र (गुदा में प्रविष्ट की जाने वाली नली) के ठीक से गुदा में न लगाने से, गुदा के छिल जाने से, सदैव शीतल जल का स्पर्श करने से, कपड़ा, ढेला, घास आदि के गुदा में रगड़ खाने से, सदा ही मल बाहर निकालने के लिए कूँथने और बल लगाने से; अपानवायु,

मूत्र और मल के वेगों को हठपूर्वक प्रवृत्त करने से, स्वयं प्रवृत्त वायु-मूत्र एवं पुरीष के वेगों को रोकने से, स्त्रियों का अपक्व गर्भ गिरने से, गर्भ का अधिक दबाव पड़ने से, विषम रूप से (मूढ़गर्भ की स्थिति में) प्रसव होने से—इन सब कारणों से प्रकुपित हुआ अपानवायु उस संचित हुए मल को आघात पहुँचाती है और मल को गुदवलियों में ढकेल देती है, फिर शुष्क मल के दबाव से रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने से उन गुदवलियों में अर्श उत्पन्न होते हैं॥ ९॥

सर्षपमसूरमाषमुद्गमकुष्ठकयवकलायपिण्डिटिण्टिकेरकेबुकतिन्दुककर्कन्धुकाकणन्तिकाबिम्बी-बदरकरीरोदुम्बरखर्जूरजाम्बवगोस्तनाङ्गुष्ठकशेरुशृङ्गाटकशृङ्गीदक्षशिखिशुकतुण्डजिह्वापद्ममुकुल-कर्णिकासंस्थानानि सामान्याद्वातपित्तकफप्रबलानि॥ १०॥

अर्शों के आकार-प्रकार—सरसों, मसूर, उड़द, मूँग, मोठ, जौ, मटर, मैनफल, करीर का फल, करेमू का शाक, तेंदू का फल, झरबैरा का फल, रत्ती का फल, कुन्दरू, बड़ी बेर, करीर का छोटा फल, गूलर का फल, खजूर, जामुन, गोस्तन या मुनक्का, अंगूठा, कशेरू, सिंघाड़ा, काकड़ासींगी, मुर्गा, मोर या सुग्गे की चोंच या जिह्वा, कमल की कली और उसकी केसर—इन पूर्वोक्त वस्तुओं के सदृश आकार के अर्श के मस्से या अंकुर होते हैं और विभिन्न रूपों के होने में वात-पित्त-कफ कारण होते हैं॥ १०॥

तेषामयं विशेषः—शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि, तीक्ष्णाग्राणि, वक्राणि, स्फुटित-मुखानि, विषमविसृतानि, शूलाक्षेपतोदस्फुरणचिमिचिमासंहर्षपरीतानि, स्निग्धोष्णोपशयानि, प्रवाहिकाध्मानशिश्नवृषणबस्तिवङ्क्षणहृदुग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रवप्रबलानि, प्रततविबद्धवातमूत्रवर्चांसि, ऊरुकटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिबस्तिशूलशिरोऽभितापक्षवथूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायामशोषशोथ-मूर्च्छाऽरोचकमुखवैरस्यतैमिर्यकण्डूनासाकर्णशङ्खशूलस्वरोपघातकराणि, श्यावारुणपरुषनखनयन-वदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्॥ ११॥

वातज अर्शों के लक्षण—उन अर्शों के ये कुछ विशेष लक्षण होते हैं; यथा—जिन अर्शों में वात की प्रबलता होती है, उनमें जो अंकुर या अर्श के मस्से होते हैं, वे सूखे हुए, मुरझाये हुए, कठोर, खुरदरे, रूखे और साँवले होते हैं। उनके अग्र भाग नुकीले, टेढ़े, फटे मुखवाले होते हैं। वे ऊँचे-नीचे विषम रूप में फैले होते हैं। वे मस्से दर्द, फड़कन, सूई चुभाने जैसी वेदना, स्फुरण, चिमचिमाहट और रोमाञ्चयुक्त होते हैं। स्नेहयुक्त और उष्ण उपचार से आराम मिलता है। वातज अर्श में प्रवाहिका, आध्मान, मूत्रेन्द्रिय, अण्डकोष, वस्ति, वंक्षण तथा हृदयप्रदेश में जकड़न, अङ्गों में पीड़ा एवं हृदय गति में तीव्रता—ये सब लक्षण प्रबल होते हैं। अपानवायु, मूत्र और मल के विसर्जन में सदा ही रुकावट होती है। ऊरु, कटिप्रदेश, पीठ, त्रिकप्रदेश, पार्श्व, कुक्षि तथा वस्ति (मूत्राशय) में शूल होता है। शिर में सन्ताप, छींक, डकार, सर्दी-जुकाम, खाँसी, उदावर्त, अंगों में खिंचाव, शरीर का सूखना, शोथ होना, मूर्च्छा, अरुचि, मुख में विरसता, आँखों में अन्धता, खुजली होना, नासिका, कान, कनपटी में शूल होना और स्वरभेद होना—ये सब लक्षण होते हैं। रुग्ण व्यक्ति के नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र और पुरीष में श्यावता, अरुणवर्णता और खुरदरापन होता है। इन लक्षणों के होने पर वातप्रधान अर्श जानना चाहिए॥ ११॥

वक्तव्य—यद्यपि अर्श रोग की उत्पत्ति में पाँच वायु, पाँच पित्त और पाँच कफ, ये सभी प्रकुपित होते हैं, किन्तु जिस अर्श में जिस दोष की प्रबलता या अधिकता होती है, उसे उसी दोष से उत्पन्न कहा जाता है; अतएव वातप्रबल अर्श में होने वाले लक्षणों का उल्लेख पृथक् किया गया है। अर्श का प्रधान कारण श्रोणिगुहा में रक्त की अधिकता है। रक्त की अधिकता से सिराओं पर दबाव पड़ने से अर्श होता है। कषाय, कटु, तिक्त आदि वातवर्धक पदार्थों का अधिक सेवन एवं तीक्ष्ण मद्य सेवन आदि कारण महासिरा में रक्तभार बढ़ाकर परम्परया श्रोणिगुहा की गुदासम्बद्ध सिराओं में भी रक्त की अधिकता करके वातज अर्श को उत्पन्न करते हैं। मैथुन से वात की वृद्धि होती है और श्रोणिगुहा में रक्ताधिक्य होने से वातज

अर्श होता है। शीत स्पर्श से सिरागत रक्त जम जाता है, जिसके परिणामस्वरूप शुष्क अर्श या वातार्श होते हैं। काम-शोक-भय आदि भी परम्परया वात की वृद्धि करके अर्श को उत्पन्न करते हैं।

भवतश्चात्र—

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम्॥ १२॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च। शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः॥ १३॥

वात प्रधान अर्श के कारण—कषाय, कटु और तिक्त रस वाले द्रव्यों का सेवन करना; रूक्ष, शीत तथा लघुगुणयुक्त पदार्थों का सेवन, किसी एक ही रस वाले द्रव्य का सेवन, कम भोजन करना, तीक्ष्ण मद्य का पीना, अधिक मैथुन करना, उपवास करना, शीतगुणयुक्त देश और काल, अधिक व्यायाम करना, शोक करना, वायु का या धूप का अधिक स्पर्श होना—ये सभी वातज अर्श के उत्पादक कारण होते हैं॥ १२-१३॥

मृदुशिथिलसुकुमाराण्यस्पर्शसहानि, रक्तपीतनीलकृष्णानि, स्वेदोपक्लेदबहुलानि, विस्रगन्धि-तनुपीतरक्तस्रावीणि, रुधिरवहानि, दाहकण्डूशूलनिस्तोदपाकवन्ति, शीतोपशयानि, सम्भिन्नपीत-हरितवर्चांसि, पीतविस्रगन्धिप्रचुरविण्मूत्राणि, पिपासाज्वरतमकसम्मोहभोजनद्वेषकराणि पीतनख-नयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्॥ १४॥

पित्तज अर्श के लक्षण—जो अर्श कोमल, ढीले, सुकुमार और स्पर्श न सहन करने वाले, लाल, पीले, नीले या काले हों, जिन मस्सों में पसीना और गीलापन हो, जिनमें सड़न की गन्ध एवं पतला, पीला या लाल स्राव निकलता हो, रक्त बहता हो, जलन, खुजली, शूल और सुई चुभाने जैसी वेदना होती हो, जो पक गये हों, जिनमें शीतल उपचार करने से सुख मिलता हो, जिनके होने पर टूटा हुआ पीला या हरा मल आता हो, पीला सड़न जैसी गन्ध का अधिक मात्रा में मूत्र और मल निकलते हों, रोगी को प्यास अधिक लगती हो, ज्वर रहता हो, तमक श्वास और मूर्च्छा हो तथा वह भोजन से द्वेष करता हो एवं रोगी के नख, नेत्र, त्वचा, मूत्र और पुरीष में पीलापन हो, तो उसे पित्तप्रधान अर्श से ग्रस्त समझना चाहिए॥ १४॥

वक्तव्य—पित्तार्श में दाह और पाक विशेष रूप से होते हैं। पतला दुर्गन्धपूर्ण स्राव निकलता है, पूय के होने से दुर्गन्धि होती है। पित्त की अधिकता से तृष्णा और मूर्च्छा होती है—'मूर्च्छा पित्ततमः प्राया'। वेदना के अधिक बढ़ जाने से या अति रक्तस्राव होने से भी मूर्च्छा होना सम्भव है। त्वचा, नख आदि का पीला होना पाँचों प्रकार के पित्त की विकृति का सूचक है। अर्श के उपद्रवस्वरूप यकृत् की वृद्धि एवं पित्त का अवरोध होने पर त्वचा में तथा नख-नेत्रादि में पीलापन हो जाता है। कटु, अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण एवं विदाह उत्पन्न करने वाले पित्तप्रकोपक आहार क्षोभ उत्पन्न कर पाक तथा दाहजनक होते हैं। पित्तार्श में मल प्रायः रक्तवर्ण का होता है; मात्र रक्तस्राव होता नहीं दीखता, जब कि रक्तार्श में सहसा रक्त का अतिस्राव होता है। मल में रक्त होने से इसे रक्तार्श नहीं समझना चाहिए।

भवतश्चात्र—

कट्वम्ललवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः। देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम्॥ १५॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्। पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम्॥ १६॥

पित्तज अर्श के कारण—कटु पदार्थ, अम्ल पदार्थ, लवणप्रधान पदार्थ और अधिक क्षार के सेवन से; अधिक व्यायाम, अग्नि, धूप और अग्नि की ज्योति का अधिक सेवन करने से; उष्ण देश तथा उष्ण काल के सेवन से, क्रोध करने से, मद्यपान करने से, दूसरे के दोषों को देखने से, दाह उत्पन्न करने वाले तीक्ष्ण और उष्ण पेय, आहार या औषध के सेवन करने से पित्तप्रधान अर्श रोग होता है और पित्तार्श की उत्पत्ति में यही सब कारण हैं॥ १५-१६॥

तत्र यानि प्रमाणवन्ति, उपचितानि, श्लक्ष्णानि, स्पर्शसहानि, स्निग्धश्वेतपाण्डुपिच्छिलानि, स्तब्धानि, गुरूणि, स्तिमितानि, सुप्तसुप्तानि, स्थिरश्वयथूनि, कण्डूबहुलानि, बहुप्रततपिञ्जर-श्वेतरक्तपिच्छास्रावीणि, गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि, रूक्षोष्णोपशयानि, प्रवाहिकातिमात्रो-त्थानवङ्क्षणानाहवन्ति, परिकर्तिकाहृल्लासनिष्ठीविकाकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दिमूत्रकृच्छ्र-शोषशोथपाण्डुरोगशीतज्वराश्मरीशर्कराहृदयेन्द्रियोपलेपास्यमाधुर्यप्रमेहकराणि, दीर्घकालानुबन्धीनि, अतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकराणि, आमविकारप्रबलानि, शुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्॥ १७॥

कफज अर्श के लक्षण—जिस रोगी के अर्श के मांसांकुर बृहत् प्रमाण वाले, मोटे, चिकने, स्पर्श करने पर जिनमें कष्ट न हो ऐसे, चिकने, श्वेत या पाण्डु वर्ण के, पिच्छिल, कड़े या जकड़े, भारी, निश्चल, सूने-सूने से, स्थिर, शोथयुक्त एवं बहुत कण्डू वाले हों, जिनमें से लगातार बहुत मात्रा में पीताभ, श्वेत, रक्तवर्ण का चिपचिपा-सा स्राव निकलता हो; मूत्र और पुरीष भारी, पिच्छिल और श्वेत वर्ण के निकलते हों; रूक्ष और उष्ण उपचार से रोग शान्त होता हो, रोगी को प्रवाहिका हो, बार-बार शौच लगता हो और वंक्षण प्रदेश में वायु के वैगुण्य से आनाह होता हो, रोगी को गुदा प्रदेश में कैंची से काटने के समान पीड़ा होती हो, मुख से पानी छूटना, थूकने की प्रवृत्ति होना, खाँसी, अरुचि, प्रतिश्याय, अंगों में भारीपन, वमन, मूत्रकृच्छ्र, शोष, पाण्डुरोग, ठंड के साथ ज्वर होना, पथरी, मूत्रशर्करा रोग, हृदय और इन्द्रियों पर किसी द्रव का लेप लगाया हुआ-सा प्रतीत होना, मुख का मीठा बना रहना और प्रमेहरोग से ग्रस्त आदि लक्षणों का होना, अधिक दिनों तक अर्श के अंकुरों का बना रह जाना, जठराग्नि का अतिमन्द हो जाना, नपुंसकता होना, आमाजीर्ण के लक्षणों का होना और मूत्र तथा पुरीष का एवं नख, नेत्र और वदन का सफेद पड़ जाना, ये सब लक्षण जब उपस्थित हो जायँ तो उसे कफप्रधान अर्श जानना चाहिए॥ १७॥

भवतश्चात्र—

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च। अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः॥ १८॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्। श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम्॥

कफज अर्श के कारण—मधुर, चिकने और शीत पदार्थों का सेवन; नमकीन, खट्टे और भारी पदार्थों का सेवन; व्यायाम न करना, दिन में सोना, सोने या बैठने के बिस्तर पर आराम के साथ सोना-बैठना, पुरवैया हवा का सेवन, शीत देश-काल में रहना, निश्चिन्त और मौजमस्ती के साथ रहना—ये सब कफज अर्श के कारण होते हैं॥ १८-१९॥

वक्तव्य—मल का विबन्ध, अति मद्यपान और बैठे रहने की आदत, शीत आदि के कारण श्रोणिगुहा में रक्त का दबाव बढ़ने से सिरासंकोच होने से अर्श की उत्पत्ति होती है। अधिक मधुर, स्निग्ध आदि पदार्थ कफकारक और अजीर्ण के जनक होने से अर्श उत्पन्न करते हैं। व्यायाम न करना, स्थूलता, आलस्य, दिवाशयन और बेफिक्र रहना, ये कफज अर्श के प्रमुख कारण हैं। कफज अर्श के मस्से अधिक बड़े होने के कारण गुदा को पीड़ित करते हैं। मस्सों के द्वारा पौरुषग्रन्थि और शुक्राशय पर दबाव पड़ने से, मलोत्सर्ग के समय शुक्रक्षरण होने से शुक्राल्पता या नपुंसकता भी होती है।

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च। सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणैः समम्॥ २०॥

द्वन्द्वज और त्रिदोषज अर्शों के हेतु और लक्षण—पूर्वोक्त पृथक्-पृथक् जो दोषज अर्श कहे गये हैं, उनमें से किन्हीं दो दोषों के निदान परस्पर जब मिलते हैं, तो वे द्वन्द्वज अर्श के हेतु होते हैं। दो दोषों के मिश्रित लक्षण द्वन्द्वज अर्श के लक्षण होते हैं। इसी प्रकार तीनों दोषों के प्रकोपक कारणों के एकत्र होने से वे त्रिदोषज अर्श के कारण होते हैं और तीनों दोषों के लक्षण जब मिलते हैं, तो वे त्रिदोषज अर्श के लक्षण होते हैं। त्रिदोषज अर्श में सहज अर्श जैसे लक्षण होते हैं॥ २०॥

वक्तव्य—आचार्य चरक ने १. सहज और २. जन्मोत्तर कालज भेद से दो प्रकार का अर्श होता है, यह कहकर आगे १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. वातपित्तज, ५. वातकफज, ६. पित्तकफज, ७. सन्निपातज और ८. सहज भेद से ८ प्रकार के अर्श का वर्णन किया है। सुश्रुताचार्य ने १. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. रक्त, ५. सन्निपात और ६. सहज भेद से (षडर्शांसि भवन्ति— 'वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति'—सु.नि. १।३) ६ प्रकार का अर्श बतलाया है; फिर द्वन्द्वज अर्श के ६ भेदों का उल्लेख किया है, यथा—१. वातपित्तज, २. वातकफज, ३. पित्तकफज, ४. वातरक्तज, ५. पित्तरक्तज और ६. कफरक्तज। सुश्रुत ने रक्त को भी दोष माना है, इसलिए उनके मत से संसर्गज के उक्त भेद कहे गये हैं। चरक ने रक्त को दोष नहीं माना है और उनके मत से रक्तज अर्श पित्तार्श में ही गतार्थ है। वाग्भट ने सहज और जन्मोत्तर, इन दो भेदों का उल्लेख कर पुनः शुष्क और स्रावी इन भेदों को कहा है। पुनः वात-पित्त-कफ, द्वन्द्व, रक्त और सन्निपात भेद से वर्णन किया है एवं उन्होंने भी आठ भेदों को माना है। सुश्रुत ने लिंग, नाभि, नेत्र, कर्ण, मुख, ओष्ठ, तालु आदि में भी अर्श की उत्पत्ति माना है।

संहिताग्रन्थानुसार अर्शभेदबोधक सारणी

चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता		अष्टाङ्गहृदय	माधवनिदान
१. वातज		द्वन्द्वज अर्श	१. वातज	१. वातज
२. पित्तज	१. वातज	१. वातपित्तज	२. पित्तज | १. शुष्क	२. पित्तज
३. कफज	२. पित्तज	२. वातकफज	३. कफज | २. आर्द्र	३. कफज
४. वातपित्तज	३. कफज	३. पित्तकफज	४. वातपित्तज	४. सन्निपातज
५. वातकफज	४. सन्निपातज	४. वातरक्तज	५. वातकफज	५. रक्तज
६. पित्तकफज	५. रक्तज	५. पित्तरक्तज	६. पित्तकफज	६. सहज
७. सन्निपातज	६. सहज	६. कफरक्तज	७. त्रिदोषज	
८. सहज	**नोट**—लिंग, नाभि, कर्ण, नेत्र, नासा, मुख, ओष्ठ, तालु आदि में भी अर्श की उत्पत्ति मानी गयी है।		८. सहज	

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च। पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये॥ २२॥

अर्श के पूर्वरूप—भोजन का न पचकर विष्टब्धाजीर्ण हो जाना, देह का दुर्बल होना, उदर में गुड़गुड़ाहट का शब्द होना, शरीर का कृश होना, डकार अधिक आना, पैर की हड्डियों में थकावट होना, मल का अल्पमात्रा में निकलना, ग्रहणीविकार, पाण्डुरोग और उदररोग होने की आशङ्का होना—ये सब लक्षण अर्श रोग के बढ़ने की सूचना देने वाले पूर्वरूप हैं॥ २१-२२॥

वक्तव्य—विष्टब्ध का अर्थ है—पाचन कर्म में रुकावट होना, जिससे विबन्ध होकर अर्श उत्पन्न होने की सम्भावना हो सकती है। अपानवायु के न निकल पाने से उदर में अवरुद्ध वायु के गतिमान होने से गुड़गुड़ाहट या आटोप होता है और वायु की ऊपर की ओर विलोम गति होने से उद्गार या डकारें आती हैं। विष्टब्धाजीर्ण से ग्रहणी का विकार होता है एवं कृमि की उत्पत्ति होती है तथा कृमि से पाण्डु रोग होता है। उदर रोग आठ प्रकार के होते हैं, जिनमें और अर्श के कारणों में समानता होती है। विशेषकर अजीर्ण होने से क्रमशः प्रतिहारिणी सिरा का अवरोध होने से सहायक रक्तवाहिनियों का विस्फार हो जाता

है। इस प्रकार गुदा के ऊर्ध्व एवं मध्यभाग की सिरायें गुदा के अधोभाग की रक्तवाहिनी सिरा के साथ मिलकर उनमें विस्फार उत्पन्न कर अर्श को उत्पन्न करती है एवं अर्श की उत्पत्ति में उदरविकार का साहचर्य प्रमुख कारण होता है। प्रतिहारिणी महासिरा के अवरोध से यकृद्दाल्युदर एवं जलोदर के होने की भी सम्भावना हो सकती है। इसी कारण उदर की विकृति की आशंका कही गयी है।

अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम्॥२३॥

अर्शों में दोषविशेष का व्यपदेश—जब तक तीनों दोष एक साथ नहीं प्रकुपित होते हैं तब तक अर्श रोग की उत्पत्ति नहीं होती। फिर भी जिस अर्श रोग में जो दोष अपने विशेष लक्षण प्रकट करता है, उस अर्श रोग को उसी दोष से उत्पन्न हुआ माना जाता है। (वस्तुतः सभी अर्श सन्निपातज होते हैं)॥२३॥

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे॥२४॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च। सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च॥२५॥

अर्श के कृच्छ्रतम होने में हेतु—अर्श रोग के उत्पन्न होने में पञ्चात्मक तीनों दोष अर्थात् १. प्राण, २. उदान, ३. समान, ४. व्यान, ५. अपान ये पाँच वायु; १. पाचक, २. रञ्जक, ३. भ्राजक, ४. आलोचक, ५. साधक ये पाँच पित्त; १. तर्पक, २. क्लेदक, ३. श्लेषक, ४. अवलम्बक, ५. बोधक ये पाँच कफ तथा १. प्रवाहणी, २. विसर्जनी और ३. संवरणी; ये तीनों गुदवलियाँ प्रकुपित होती हैं। इसलिए अर्श रोग बहुत ही कष्टदायक, अनेक रोगों के जनक, समस्त शरीर को पीड़ित करने वाले और प्रायः कृच्छ्रतम अर्थात् अत्यन्त कठिनाई से साध्य होने वाले होते हैं॥ २४-२५॥

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः॥
हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः। तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम्॥२७॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां बलिम्। जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत्॥

अर्श की असाध्यता—जब अर्श से पीड़ित रोगी के हाथ-पैर में, मुख में, नाभिप्रदेश में, गुदा में और दोनों अण्डकोषों में सूजन हो जाये, हृदय तथा पसलियों में शूल हो, तो उसे असाध्य जानना चाहिए। हृदय और पार्श्वों में शूल होना, मूर्च्छा होना, वमन होना, अङ्ग-अङ्ग में पीड़ा होना, ज्वर होना, प्यास का अधिक लगना तथा गुदा में पाक होना—ये लक्षण अर्श के रोगी के प्राण का हरण कर लेते हैं। जो अर्शरोग जन्मजात-सहज हों, जो त्रिदोषज हों और जो गुदवलि के भीतर की दीवार में उत्पन्न हों, उन सबको असाध्य जानना चाहिए॥ २६-२८॥

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते। याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा॥ २९॥

याप्य और प्रत्याख्येय अर्श—जिस रोगी में असाध्य अर्श के लक्षण उत्पन्न हो गये हों, फिर भी जिस रोगी की आयु शेष हो, उसके चिकित्सा के चारों पाद—वैद्य, औषध, परिचारक तथा रोगी अपने-अपने गुणों से सम्पन्न हों और रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो, तो उस रोगी को इन सब साधनों के बल पर जीवित रखा जा सकता है। ऐसे रोगी याप्य होते हैं। जिन असाध्य रोगियों में ये सब साधन-सुविधाएँ उपलब्ध न हों, उन्हें प्रत्याख्येय जानना चाहिए॥ २९॥

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च। कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च॥३०॥

कृच्छ्रसाध्य अर्श—जो अर्श दो दोषों से उत्पन्न होते हैं, जो दूसरी वलि में होते हैं और जो एक वर्ष पुराने हो गये हों, वे कृच्छ्रसाध्य होते हैं॥ ३०॥

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च। अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च॥

सुखसाध्य अर्श के लक्षण—जो अर्श बाहरी वलि में उत्पन्न हों, जिनमें किसी एक ही दोष की प्रधानता हो और जो चिरकालिक न हों, वे सुखसाध्य होते हैं॥ ३१॥

तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः। तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम्॥ ३२॥

अर्श में शीघ्र चिकित्सा का निर्देश—अर्श बड़ा ही कष्टकारक रोग है, इसलिए बुद्धिमान् वैद्य को उसके शमन के लिए शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि वे शीघ्र ही गुदमार्ग को अवरुद्ध कर लेते हैं और 'बद्धगुदोदर' रोग को उत्पन्न कर देते हैं॥ ३२॥

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम्। दाहं क्षारेण चाप्येके, दाहमेके तथाऽग्निना॥ ३३॥

अर्श का चिकित्सा सिद्धान्त—कुछ आचार्य अर्श को शस्त्र से काट देना हितकर मानते हैं। अन्य लोग क्षार से जलाना ठीक समझते हैं और कुछ लोग अग्नि के द्वारा जला देना ही अच्छा मानते हैं। इस प्रकार अर्श की चिकित्सा में ये तीन शल्यशास्त्रीय उपचार कहे गये हैं॥ ३३॥

अस्त्येतद् भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा। क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंसस्तत्र सुदारुणः॥ ३४॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः। आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्तनम्॥ ३५॥
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च। मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्॥ ३६॥

शस्त्र, क्षार एवं अग्निकर्म के उपद्रव—पूर्व में अर्श की चिकित्सा में जो तीन कर्म बतलाये गये हैं, ये कर्म शास्त्रज्ञ एवं शल्यकर्म के अभ्यस्त चिकित्सक के द्वारा ही सम्पादन-योग्य हैं। यदि इन कर्मों में चिकित्सक असावधान या अल्पज्ञ होता है, तो बहुत ही कष्टकारक भ्रंश की स्थिति हो जाती है; यथा—पुंस्त्वशक्ति का नाश, गुदा में सूजन, मलावरोध, आध्मान, उदर में भयंकर शूल, अंगों में दर्द, रक्त का अधिक निकलना, अर्श के मस्सों का पुनः बढ़ जाना या मस्से के व्रण के भर जाने के बाद पुनः व्रणस्राव होना, गुदा (काँच) का बाहर निकलना अथवा शस्त्र, क्षार या अग्निकर्म के असम्यक् प्रयोग होने से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है॥ ३४-३६॥

यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम्। तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये॥ ३७॥

अर्श की अदारुण चिकित्सा का उपक्रम—अब मैं अर्श रोग को समूल नष्ट करने के लिए सुखपूर्वक किये जाने योग्य अल्प उपद्रव वाली अकष्टकर चिकित्सा का उपदेश कर रहा हूँ॥ ३७॥

वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः। प्रस्रावीणि तथाऽऽर्द्राणि रक्त पित्तोल्बणानि च॥

अर्श के भेद—चिकित्साशास्त्र के विद्वान् लोग १. शुष्क और २. आर्द्र—भेद से दो प्रकार का अर्श मानते हैं, जिनमें शुष्कार्श को वात-कफ प्रधान और प्रस्रावी आर्द्र अर्श को रक्त तथा पित्तप्रधान कहते हैं॥ ३८॥

तत्र शुष्कार्शसां पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्।

शुष्कार्श-चिकित्सा का उपक्रम—उक्त दोनों अर्श-भेदों में से पहले शुष्कार्श का उपदेश किया जायगा।

स्तब्धानि स्वेदयेत् पूर्वं शोफशूलान्वितानि च॥ ३९॥
चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनाभ्यज्य बुद्धिमान्। यवमाषकुलत्थानां पुलाकानां च पोट्टलैः॥ ४०॥
गोखराश्वशकृत्पिण्डैस्तिलकल्कैस्तुषैस्तथा। वचाशताह्नापिण्डैर्वा सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः॥ ४१॥
सक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा। शुष्कमूलकपिण्डैर्वा पिण्डैर्वा कार्ष्णगन्धिकैः॥
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा सस्नेहैर्हापुषैरपि। इष्टकस्य खराह्नायाः शाकैर्गृञ्जनकस्य वा॥ ४२॥
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत् पोट्टलीकृतैः।

अर्श में स्वेदन—जो अर्श जकड़े हुए हों और जिनमें सूजन और पीड़ा हो उनका सबसे पहले स्वेदन करना चाहिए। (१) चित्रकमूल, जवाखार और बेलसोंठ के कल्क से बनाये गये तैल की मालिश करके जौ, उड़द, कुलथी और पुलाक (धान की भूसी) की पोटली से सेंकना चाहिए या (२) गाय, गदहा और घोड़ा के गोबर तथा लीद के पिण्ड से या (३) तिल की खली से या (४) धान, जौ-गेहूँ की भूसी की पोटली से या (५) बच तथा सौंफ के पिण्ड से या (६) तैल-घी मिलाकर सत्तू की सुखोष्ण पिण्डी से या (७) तैल तथा घी लगाकर स्निग्ध करके सूखी मूली के पिण्डी से या (८) सहिजन की छाल के पिण्ड से या (९) सुखोष्ण रास्ना के पिण्ड से या (१०) हाऊबेर के पिण्ड को स्निग्ध बनाकर उससे स्वेदन करना चाहिए। इसी प्रकार कूठ से तैयार किये गये तैल का अभ्यंग कर (११) ईंट की सुर्खी की पोटली से या (१२) जवायन के चूर्ण की पोटली से या (१३) गाजर को उबालकर, पीसकर पोटली बनाकर उससे स्वेदन करना चाहिए॥ ३९-४३॥

वृषार्कैरण्डबिल्वानां पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत्॥ ४४॥

मूलकत्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च। अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च॥ ४५॥
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत्। कोलोत्क्वाथेऽथवा कोष्णे सौवीरकतुषोदके॥
बिल्वक्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके। गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत्॥

अर्श में परिसेचन और अवगाहन—(१) अरूस, मदार, एरण्ड और बेल के पत्तों के क्वाथ से अर्श का परिसेचन करना चाहिए (२) अवगाहनार्थ जल—मूली, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, मदार की पत्ती, बाँस की पत्ती, वरुण की पत्ती, अरनी की पत्ती, सहिजन की पत्ती और पाषाणभेद की पत्ती का क्वाथ बनाकर उस सुखोष्ण क्वाथ में शूल की पीड़ा से युक्त अर्श के रोगी का अभ्यंग कर उसमें बैठाना चाहिए अथवा (३) बेर की पत्ती के क्वाथ में अथवा (४) बिना भूसी के जौ से बनी काँजी (सौवीरक) में या (५) भूसी सहित जौ से बनी किञ्चित् उष्ण काँजी में या (६) बिल्वपत्र के क्वाथ में या (७) तक्र में या (८) दही के पानी में या (९) अम्लकाँजी में अथवा (१०) सुखोष्ण गोमूत्र में स्वेदन करने के पश्चात् अवगाहन करायें॥ ४४-४७॥

कृष्णसर्पवराहोष्ट्रजतुकावृषदंशजाम्। वसामभ्यञ्जने दद्याद् धूपनं चार्शसां हितम्॥ ४८॥
नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च। अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम्॥ ४९॥
तुम्बुरूणि विडङ्गानि देवदार्वक्षता घृतम्। बृहती चाश्वगन्धा च पिप्पल्यः सुरसा घृतम्॥ ५०॥
वराहवृषविट् चैव धूपनं सक्तवो घृतम्। कुञ्जरस्य पुरीषं तु घृतं सर्जरसस्तथा॥ ५१॥

अर्श में अभ्यंग—काले सर्प, सूअर, ऊँट, चमगादड़ और वनबिलार—इनमें जो मिले उनकी चर्बी का अर्श के मस्सों पर अभ्यंग करना चाहिए और उसके बाद अर्श का धूपन करना हितकारी होता है।

अर्श में धूपन योग—१. मनुष्यों के बाल, २. साँप की केंचुल, ३. बिलार का चमड़ा, ४. मदार की जड़, ५. शमी के पत्ते—इनसे धूपन करना अर्श के मस्सों के लिए हितकर होता है। ६. तुम्बुरू (नेपाली धनियाँ), वायविडंग, देवदारु, अक्षत और घी एक में कूटकर अर्श के मस्सों का धूपन करे। ७. बड़ी कटेरी, असगन्ध, पीपर और तुलसी-पत्र—इन सबको कूटकर घी मिलाकर धूपन करे। ८. सूअर की बिष्ठा और बैल के गोबर में सत्तू तथा घी मिलाकर धूपन करे। ९. हाथी की बिष्ठा, घी, सर्जरस (राल) एक में मिश्रित करके इससे धूपन करना चाहिए॥ ४८-५१॥

वक्तव्य—अर्श के मस्से का धूपन करने के लिए रोगी को एक नंगी चारपाई पर उत्तान सुलाना चाहिए। चारपाई के नीचे पैताने की ओर जहाँ कटिभाग हो उसके नीचे एक अंगीठी जलाकर उसमें धूपन द्रव्यों को डाल दे और एक चिलम आग पर रख दे, जिससे धुआँ निकलकर सीधे मस्से पर लगे। रोगी

को सुलाने के पूर्व सूअर आदि की चर्बी से मस्से का अभ्यंग कर लेना चाहिए। इस प्रकार के धूपन से मस्सों का दर्द जाता रहता है और वे सूख जाते हैं।

हरिद्राचूर्णसंयुक्तं सुधाक्षीरं प्रलेपनम्। गोपित्तपिष्टाः पिप्पल्यः सहरिद्राः प्रलेपनम्॥ ५२॥
शिरीषबीजं कुष्ठं च पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः। अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम्॥ ५३॥
पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा किण्वं मदनतण्डुलाः। प्रलेपः कुक्कुटशकृद्धरिद्रागुडसंयुतः॥ ५४॥
दन्ती श्यामाऽमृतासङ्गः पारावतशकृद्गुडः। प्रलेपः स्याद् गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च॥
प्रलेपः स्यादलं कोष्णं वासन्तकवसायुतम्। शूलश्वयथुहृद्युक्तं चुलूकीवसयाऽथवा॥ ५६॥
आर्कं पयः सुधाकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः। करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम्॥ ५७॥
अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता य एते परिकीर्तिताः। स्तम्भश्वयथुकण्ड्वर्तिशमनास्तेऽर्शसां मताः॥
प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि। सञ्चितं दुष्टरुधिरं ततः सम्पद्यते सुखी॥ ५९॥

अर्शनाशक प्रलेपन—(१) सेहुँड़ के दूध में हल्दी का चूर्ण मिलाकर मस्सों पर प्रलेप करे। (२) पीपर के चूर्ण तथा हल्दी के चूर्ण को गाय के पित्त में पीसकर प्रलेप करे। (३) शिरीष का बीज, कूठ, पीपर, सेंधानमक, गुड़, मदार का दूध, सेहुँड़ का दूध, आँवला, हर्रा और बहेड़ा, इनका चूर्ण पीसकर प्रलेप करे। (४) पीपर, चित्रक की जड़, काली निशोथ, सुराबीज, मदनफल, मुर्गे का विट्, हरदी का चूर्ण और गुड़, यह सब एक में पीसकर लेप करे। (५) दन्ती की जड़, काली निशोथ, तूतिया, कबूतर की बिष्ठा और गुड़, इन सबको पीसकर प्रलेप करे। (६) हाथी की हड्डी, नीम का बीज और भिलावे की गुठली को एकत्र पीसकर लेप करे। (७) अशोधित पिण्ड हरताल के चूर्ण को ऊँट की चर्बी के साथ पीसकर किञ्चित् उष्ण कर प्रलेप करे। (८) अशुद्ध हरताल चूर्ण को चुलूकी मछली की चर्बी के साथ पीसकर लेप करने से अर्श के मस्सों की सूजन तथा पीड़ा शान्त हो जाती है। (९) मदार का दूध, सेहुँड़ की टहनी, तितलौकी की पत्ती और करञ्ज की पत्ती को बकरे के मूत्र के साथ पीस कर लेप करने से अर्श के मस्सों में आराम होता है। यह श्रेष्ठ प्रलेप है।

पूर्वकथित अभ्यंग योग (कृष्णसर्पवसा आदि—श्लोक ४८) से लेकर प्रदेहयोग (मदार का दूध, सेहुँड़ की टहनी आदि—श्लोक ५७) पर्यन्त जो योग बतलाये गये हैं, वे अर्श के मस्सों में होने वाली जकड़न, सूजन, खुजली और पीड़ा को शान्त करते हैं। प्रदेहपर्यन्त जो उपचार के योग बतलाये गये हैं, उनके द्वारा उपचार करने पर मस्सों में संचित हुआ दुष्ट रक्त स्रवित होकर निकल जाता है, जिसके पश्चात् रोगी को आराम मालूम होता है॥ ५२-५९॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति। रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत्॥ ६०॥
जलौकोभिस्तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः। अवर्तमानं रुधिरं रक्तार्शोभ्यः प्रवाहयेत्॥ ६१॥

अर्श में रक्तमोक्षण—अर्शरोग में जब रक्त दुष्ट हो जाता है, तो शीतल या उष्ण एवं स्निग्ध अथवा रूक्ष उपचारों के प्रयोग से रोग का शमन नहीं होता। इसलिए रक्तदुष्टि में रक्त का मोक्षण ही करना चाहिए। यदि पूर्वोक्त अभ्यंग, धूप, लेप एवं प्रदेह से रक्त का स्रवण न हो रहा हो, तो जोंक लगाकर या शस्त्रों से या सूचीवेध के द्वारा बार-बार अर्श के शुष्क मस्सों से रक्त को निकालना चाहिए॥ ६०-६१॥

गुदश्वयथुशूलार्तं मन्दाग्निं पाययेत्तु तम्। त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं पाठां हिङ्गु सचित्रकम्॥ ६२॥
सौवर्चलं पुष्कराख्यमजाजीं बिल्वपेशिकाम्। बिडं यवानीं हपुषां विडङ्गं सैन्धवं वचाम्॥ ६३॥
तिन्तिडीकं च मण्डेन मद्येनोष्णोदकेन वा। तथाऽर्शोग्रहणीदोषशूलानाहाद्विमुच्यते॥ ६४॥

त्र्यूषणाद्य चूर्ण—(१) सोंठ, मरिच, पीपर, पिपरामूल, हींग, चित्रकमूल, सोंचरनमक, पोहकरमूल, जीरा, बेलसोंठ, विडनमक, अजवायन, हाऊबेर, वायविडंग, सेंधानमक, मीठा बच और इमली, इनका चूर्ण

बनाकर रख ले। अर्श का जो रोगी गुदा के शोथ और शूल तथा मन्दाग्नि से पीड़ित हो, उसे मण्ड से, मद्य से अथवा गरम जल से इस चूर्ण को २-३ ग्राम की मात्रा में सबेरे-शाम खिलाना चाहिए। इस चूर्ण के सेवन से अर्श, ग्रहणीविकार, शूल और आनाह का रोगी रोगमुक्त हो जाता है। ६२-६४॥

पाचनं पाययेद्वा तद् यदुक्तं ह्यातिसारिके। सगुडामभयां वाऽपि प्राशयेत्पौर्वभक्तिकीम्॥ ६५॥
पाययेद्वा त्रिवृच्चूर्णं त्रिफलारससंयुतम्। हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि सङ्क्षयम्॥ ६६॥
गोमूत्राध्युषितां दद्यात्सगुडां वा हरीतकीम्। हरीतकीं तक्रयुतां त्रिफलां वा प्रयोजयेत्॥६७॥
सनागरं चित्रकं वा सीधुयुक्तं प्रयोजयेत्। दापयेच्चव्ययुक्तं वा सीधुं साजाजिचित्रकम्॥ ६८॥
सुरां सहपुषापाठां दद्यात् सौवर्चलान्विताम्। दधित्थबिल्वसंयुक्तं युक्तं वा चव्यचित्रकैः॥ ६९॥
भल्लातकयुतं वाऽपि प्रदद्यात्तक्रतर्पणम्। बिल्वनागरयुक्तं वा यवान्या चित्रकेण वा॥ ७०॥
चित्रकं हपुषां हिङ्गुं दद्याद्वा तक्रसंयुतम्। पञ्चकोलयुतं वाऽपि तक्रमस्मै प्रदापयेत्॥ ७१॥

कतिपय अर्शनाशक योग—(२) अर्श के रोगी को 'अतिसार-चिकित्सा' (च. चि. १९) में कहे गये पाचन योगों का प्रयोग कराना चाहिए अथवा (३) भोजन करने के पहले गुड़ (३ ग्राम) के साथ हरीतकी चूर्ण (३ ग्राम) खिलाना चाहिए अथवा (४) सफेद निशोथ का चूर्ण (३ ग्राम) त्रिफला के क्वाथ से पिलाना चाहिए एवं जब गुदा में अपानवायु या मल का अवरोध समाप्त हो जाता है, तो अर्श का विकार समाप्त हो जाता है अथवा (५) गोमूत्र में हर्रे को रात भर भिगोकर सबेरे निकालकर गुड़ के साथ खाने को दें या (६) हर्रे के (३ ग्राम) चूर्ण को मट्ठे के साथ दें अथवा (७) त्रिफला के चूर्ण को मट्ठे के साथ सेवन करायें अथवा (८) सोंठ और चित्रकमूल का चूर्ण (प्रत्येक १-१ ग्राम) गन्ने के सिरके (सीधु) के साथ खिलायें या (९) जीरा, चित्रक और चाभ के (प्रत्येक १-१ ग्राम) चूर्ण को गन्ने के सिरके से प्रयोग करायें अथवा (१०) हाऊबेर, पाठा और सोंचर नमक के चूर्ण को (३ ग्राम मिश्र) सुरा के साथ दें अथवा (११) कैथ और बेल के गूदे का (३ ग्राम) चूर्ण सुरा के साथ दे या (१२) चाभ और चीते का (३ ग्राम) चूर्ण सुरा के साथ दे या (१३) शुद्ध भिलावे का चूर्ण (१ भाग) और तर्पण (सत्तू ९ भाग) मिलाकर यथोचित मात्रा में मट्ठे के साथ देना चाहिए या (१४) बेल की गुद्दी और सोंठ का चूर्ण सत्तू में मिलाकर मट्ठे से दे अथवा (१५) अजवायन और चित्रक के चूर्ण को सत्तू मिलाकर मट्ठे से दे अथवा (१६) चित्रक, हाऊबेर, घी में भुनी हींग, इन्हें चूर्ण कर उचित मात्रा में मट्ठे के साथ दे अथवा (१७) पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता और सोंठ (पंचकोल) इनका चूर्ण (२-३ ग्राम) मिला हुआ मट्ठा पिलाना चाहिए॥ ६५-७१॥

वक्तव्य—यहाँ जो योग दिये गये हैं इनमें से अर्श के रोगी की परिस्थिति के अनुसार प्रयोग करना चाहिए; क्योंकि सभी योग समान कार्यकारी नहीं हैं। इनमें से कुछ रेचक हैं तो दूसरे स्तम्भक हैं, कुछ पाचन हैं, कुछ रक्तस्तम्भक या मलावरोधक हैं। अतः चिकित्सक को चाहिए कि रोगी के लक्षणों या उपद्रवों का अध्ययन कर योगों का प्रयोग करे और रोगी तथा रोग के बल के अनुसार मात्रा दे।

हपुषां कुञ्चिकां धान्यमजाजीं कारवीं शटीम्। पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्॥
यवानीं चाजमोदां च चूर्णितं तक्रसंयुतम्। मन्दाम्लकटुकं विद्वान् स्थापयेद् घृतभाजने॥ ७३॥
व्यक्ताम्लकटुकं जातं तक्रारिष्टं मुखप्रियम्। प्रपिबेन्मात्रया कालेष्वन्नस्य तृषितस्त्रिषु॥ ७४॥
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम्। गुदश्वयथुकण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्धनम्॥ ७५॥
इति तक्रारिष्टः।

तक्रारिष्ट—(१८) हाऊबेर, स्याहजीरा, धनिया, जीरा, मँगरैला. कचूर, पीपर, पिपरामूल, चित्रक, गजपीपर, अजवायन और अजमोदा—इन सभी द्रव्यों को मोटा कूटकर किसी घृतलिप्त मिट्टी के पात्र में

रखकर उस पात्र में किंचित् अम्ल और कटुरस वाले मट्ठे को डाल दे और उस पात्र को मुखबन्द कर अनाज या भूसे की ढेर में (एक सप्ताह तक) रख छोड़ें। फिर आठवें दिन उसे निकालकर छान लें। यदि उसमें अम्ल एवं कटुरस की स्पष्ट प्रतीति हो रही हो, तो तैयार जानें। यह पीने में भी स्वादिष्ट लगता है। इसे भोजन के तीनों कालों में अर्थात् आदि, मध्य तथा अन्त में उचित मात्रा में प्यास लगने पर पीना चाहिए। यह अरिष्ट अग्नि को प्रदीप्त करता है, रुचि उत्पन्न करता है, शरीर को कान्तिमान् बनाता है और कफ तथा वायु का अनुलोमन करता है। यह अरिष्ट गुदाप्रदेश की सूजन, खुजली और पीड़ा को नष्ट करता है तथा बल को बढ़ाता है॥ ७२-७५॥

वक्तव्य—यहाँ तक्र और प्रक्षेप द्रव्यों की मात्रा का उल्लेख नहीं किया गया है। अतः अरिष्टों की सामान्य परिभाषा के अनुसार १ द्रोण तक्र (लगभग १२ लीटर) में १० पल (लगभग ५०० ग्राम) उक्त द्रव्यों का प्रक्षेप डालना चाहिए—'अनुक्तमानारिष्टेषु द्रवद्रोणे तुला गुडम्। क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं प्रक्षेपो दशमांशिकः' (शार्ङ्गधरसंहिता)।

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत्। तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत्॥ ७६॥
वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम्। तत् प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा॥ ७७॥

वात-कफज अर्श में तक्र सर्वश्रेष्ठ औषध—चीता की मूल की छाल को बारीक पीसकर एक मिट्टी के घड़े (या तौला-हण्डी) के भीतरी भाग में लेप करे और उसी घड़े में लेप के सूख जाने पर दूध डालकर दही जमा लें। उस दही का या दही से बने मट्ठे का सेवन अर्शरोगनाशक होता है। वात और कफ से उत्पन्न अर्शों को नष्ट करने वाली मट्ठे से बढ़कर कोई औषध नहीं है। दोष के अनुसार मट्ठे को मक्खन के साथ या मक्खन निकालकर प्रयोग करना चाहिए। जैसे—वातज अर्श में बिना घी निकाले और कफज अर्श में घी को निकालकर मट्ठे का प्रयोग करना चाहिए॥ ७६-७७॥

सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा। बलकालविशेषज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत्॥ ७८॥

तक्र-प्रयोग की अवधि—जो चिकित्सक रोगी के बल को और रोग के बल को तथा रोग के काल को ठीक-ठीक जानता हो, वह सब दृष्टि से दोष, औषध आदि का विचार कर सात दिन तक या दश दिन तक या एक पक्ष (१५ दिन) तक अथवा एक माह तक (या इससे भी अधिक समय तक) तक्र का प्रयोग करायें॥ ७८॥

अत्यर्थमृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत्। सायं वा लाजशक्तूनां दद्यात् तक्रावलेहिकाम्॥ ७९॥
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम्। तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम्॥ ८०॥
यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि भोजयेत्तक्रसंयुतैः। (यूषै रसेन वाऽप्यूर्ध्वं तक्रसिद्धेन भोजयेत्)॥ ८१॥

तक्र के सहपान—(२०) अर्श से ग्रस्त जिन रोगियों की जठराग्नि अत्यन्त ही मन्द पड़ गयी हो, उन्हें तक्र का ही सेवन कराना चाहिए। (२१) अथवा धान के लावा का सत्तू मट्ठे में मिलाकर चाटने लायक गाढ़ा अवलेह बनाकर सायंकाल खिलायें। (२२) लाजसक्तु के पच जाने के बाद तक्र दें या सेंधानमक डालकर पकायी गयी लाजपेया पिलायें। उसके बाद स्नेहसहित तक्र को अनुपान के रूप में पिलायें। तत्पश्चात् (२३) मट्ठा-भात दें अथवा मूँग के यूष या मांसरस के साथ मट्ठा मिलाकर भात खिलाना चाहिए। फिर मट्ठे में बना मूँग का यूष या मांसरस भात के साथ खाने को दें॥ ७९-८१॥

कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवर्तयेत्। तक्रप्रयोगो मासान्तः क्रमेणोपरमो हितः॥ ८२॥
अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते। शक्त्यागमनरक्षार्थं दाढर्ढ्यार्थमनलस्य च॥ ८३॥
बलोपचयवर्णार्थमेष निर्दिश्यते क्रमः।

तक्र-प्रयोग का क्रम—तक्र के प्रयोग के योग्य काल तथा तक्र के सेवन के क्रम को जानने वाला चिकित्सक (रोगी को अन्न का सेवन प्रारम्भ कराकर भी) तक्र का सेवन एकाएक सहसा न बन्द करे। तक्र का प्रयोग लगातार एक महीने तक कराना चाहिए, उसके बाद क्रमशः जैसे-जैसे मट्ठे की मात्रा पहले बढ़ायी गयी हो, वैसे-वैसे मट्ठे की मात्रा कम करते जायें किन्तु रोगी के आहार की मात्रा कम नहीं करनी चाहिए और न मट्ठे का सेवन सहसा बन्द करना चाहिए।

मट्ठा के क्रमिक प्रयोग से लाभ—बलहीन रोगी के शरीर में बल लाने के लिए और उस बल की स्थिरता के लिए, अग्नि को उत्तेजित कर दृढ़ बनाने के लिए, बलवृद्धि तथा शरीर के वर्ण के निखार के लिए तक्र के सेवन का यह क्रम कहा गया है॥ ८२-८३॥

रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम्॥ ८४॥
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत् प्रयोजयेत्। हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु॥ ८५॥

त्रिविध तक्र का प्रयोग—तक्र के तीन प्रयोग होते हैं—१. रूक्ष तक्र (जिसमें से मक्खन पूरा-का-पूरा निकाला जा चुका हो) २. अर्धोद्धृत स्नेह (जिसमें का आधा मक्खन निकाला गया हो) और ३. अनुद्धृत घृत (जिसमें का घी एकदम न निकाला गया हो)। रोगी के वात-पित्त तथा कफ दोष और रोगी की जठराग्नि एवं बल जानने वाला वैद्य कफ में रूक्ष, पित्त में अर्धोद्धृत स्नेह और वात में अनुद्धृत तक्र का प्रयोग करे। इसी प्रकार मन्द, मन्दतर और मन्दतम जठराग्नियों में तथा अधम, मध्यम तथा उत्तम बलवालों में इसी क्रम से तक्रभेदों का प्रयोग करना चाहिए। तक्र के प्रयोग से नष्ट हुए अर्श के मस्से पुनः नहीं अंकुरित होते हैं॥ ८४-८५॥

भूमावपि निषिक्तं तद्धेत्तक्रं तृणोलुपम्। किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः॥ ८६॥
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः। तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते॥ ८७॥
वातश्लेष्मविकारणां शतं चापि निवर्तते। नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे॥ ८८॥

तक्र का विशिष्ट गुण—यदि मट्ठे को घास की जड़ जहाँ फैली हो, उस भूमि पर डाल दिया जाये तो मट्ठा उस घास-फूस को जला डालता है, तो फिर जिस अर्श के रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो, उसके शुष्कार्श को तो मट्ठा अवश्य ही नष्ट कर देगा। जब तक्र के सेवन से शरीर के स्रोत शुद्ध हो जाते हैं, तब आहार रस शरीर में उचित प्रकार से गतिशीत होता है, जिससे शरीर में पुष्टि, बल, वर्ण और प्रसन्नता प्राप्त होती है। तक्र के सेवन से वात और कफ से (वात से अस्सी और कफ से बीस) होने वाले सैकड़ों रोग निवृत्त हो जाते हैं। कफ तथा वात से उत्पन्न अर्श में तक्र से बढ़कर कोई अन्य औषध नहीं है॥ ८६-८८॥

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्। शृङ्गवेरमजाजीं च कारवीं धान्यतुम्बुरु॥ ८९॥
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत्। फलाम्लां यमकैर्भृष्टां तां दद्याद्गुदजापहाम्॥ ९०॥
एतैश्चैव खडान् कुर्यादेतैश्च विपचेज्जलम्। एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये॥ ९१॥
शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा। दद्याद्यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम्॥ ९२॥

अर्श में पेया-यवागू प्रयोग—पीपर, पिपरामूल, चीता, गजपीपर, सोंठ, जीरा, मँगरैला, धनिया, तुम्बुल (नेपाली धनिया), बेलसोंठ, काकड़ासींगीं और पाठा—इन सब को समभाग लेकर, पीसकर पेया बनायें। तैयार हो जाने पर घी-तैल से छौंक दें और अनारदाना या नीबू डालकर उसे खट्टी बना लें, फिर इस अर्शनाशक पेया का प्रयोग करें।

खड, जल और घृत—इन पीपर-पिपरामूल आदि यौगिक द्रव्यों से १. खडयूष तैयार करे, इनसे ही पकाया हुआ २. जल तैयार कराये और इन्हीं औषधों के कल्क से ३. घी का निर्माण करायें। इनके प्रयोग से अर्श के मस्से नष्ट हो जाते हैं।

यवागू—१. कचूर की जड़ और पलाशबीज डालकर पकायी गयी पेया या २. पीपर डालकर या ३. सोंठ डालकर पकायी गयी पेया में तक्र डालकर, खट्टा कर तथा मरिचचूर्ण बुरक कर अर्शरोगी के लिए खाने को दें॥ ८९-९२॥

शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा। दधित्थबिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम्॥ ९३॥
छागलं वा रसं दद्याद् यूषैरेभिर्विमिश्रितम्। लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम्॥ ९४॥

यूष और मांस रस के योग—(१) सूखी मूली का यूष अथवा (२) कुलथी का यूष या (३) कैथ तथा बेल की गुद्दी का यूष अथवा (४) कुलथी और मोठ का यूष अर्श के रोगी को देना चाहिए। (५) उक्त यूषों के साथ पकाया हुआ मांसरस अथवा (६) लावा आदि पक्षियों के मांसरस में बेल-कैथ आदि ग्राही औषधों का चूर्ण तक्र और अनार या नीबू डालकर अर्श के रोगी को खाने को देना चाहिए॥ ९३-९४॥

रक्तशालिर्महाशालिः कलमो लाङ्गलः सितः। शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम्॥
इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च क्रियाक्रमः।

अर्श में अन्नाहार—लाल अगहनी चावल, महाशालि (ऊँची जाति का—बासमती आदि) चावल, रोपा धान का चावल, जंगली तिन्नी आदि का चावल, सफेद चावल, क्वार में उत्पन्न चावल और साठी चावल का भात आदि बनाकर अर्श के रोगियों को खाने के लिए देना चाहिए। यहाँ तक पतले मल वाले अर्शरोगियों का उपचार कहा गया है॥ ९५॥

येऽत्यर्थं गाढशकृतस्तेषां वक्ष्यामि भेषजम्॥ ९६॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तां प्रसन्नां लवणीकृताम्। दद्यान्मत्स्यण्डिकां पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम्॥ ९७॥
गुडं सनागरं पाठां फलाम्लं पाययेच्च तम्। गुडं घृतयवक्षारयुक्तं वाऽपि प्रयोजयेत्॥ ९८॥
यवानीं नागरं पाठां दाडिमस्य रसं गुडम्। सतक्रलवणं दद्याद् वातवर्चोऽनुलोमनम्॥ ९९॥

विबन्धयुक्त अर्श की चिकित्सा—जिन अर्श के रोगियों का मल विबन्ध के साथ निकलता है, अब उनकी चिकित्सा कही जायगी। (१) पहले अर्श के रोगी को सोंठ के चूर्ण के साथ राब खिलाना चाहिए, फिर सत्तू में घी मिलाकर उसे सुरामण्ड में मिलाकर, सेंधानमक डालकर, नमकीन बनाकर खिलायें। (२) गुड़, सोंठ और पाठा का चूर्ण अनार के रस में मिलाकर पिलायें। या (३) घी और यवाखार के साथ गुड़ खिलायें। इसी प्रकार (४) अजवायन, सोंठ, पाठा, इनका चूर्ण कर उसमें अनार का रस, गुड़ और नमक डालकर, मट्ठे में घोलकर पिलाना चाहिए। इससे अपानवायु और मल का अनुलोमन होता है और इन दोनों का विबन्ध दूर हो जाता है॥ ९६-९९॥

दुःस्पर्शकिन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा। एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम्॥ १००॥

अर्श वेदनाहर योग—(५) यवासा और पाठा या (६) बेलसोंठ और पाठा या (७) अजवायन और पाठा या (८) सोंठ और पाठा या (९) यवासा, बेलसोंठ, अजवायन और सोंठ के साथ पाठा के चूर्ण का प्रयोग करने से अर्श की वेदना शान्त होती है॥ १००॥

वक्तव्य—२-२ ग्राम यवासा आदि और पाठा का चूर्ण लेना चाहिए तथा मट्ठे के अनुपान से खाना चाहिए। जब चारों के साथ पाठा का प्रयोग कराना हो, तो कुल चूर्ण का योग ४-५ ग्राम लेकर सेवन करे।

प्राग्भक्तं यमके भृष्टान् शक्तुभिश्चावचूर्णितान्। करञ्जपल्लवान् दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनान्॥
मदिरां वा सलवणां सीधुं सौवीरकं तथा। गुडनागरसंयुक्तं पिबेद्वा पौर्वभक्तिकम्॥ १०२॥
पिप्पलीनागरक्षारकारवीधान्यजीरकैः। फाणितेन च संयोज्य फलाम्लं दापयेद् घृतम्॥ १०३॥

अनुलोमन योग—(१०) करञ्ज के कोमल पत्तों को समान भाग घी-तैल में भूनकर, चूर्णकर उसे जौ के सत्तू में मिलाकर भोजन के पहले खिलायें। इससे अपानवायु और मल का विबन्ध दूर होकर इन दोनों का अनुलोमन होता है। (११) लवण मिली मदिरा को अथवा (१२) सोंठ के चूर्ण और गुड़ के साथ सीधु (सिरका) को या (१३) सोंठ तथा गुड़ के साथ सौवीरक को भोजन के पहले सेवन करना चाहिए। इससे वायु और मल का अनुलोमन होता है। (१४) पीपर, सोंठ, यवाखार, मँगरैला, धनिया और जीरे के चूर्ण को अनार का रस डालकर, खट्टा कर राब और घी के साथ खिलाना चाहिए। इससे वायु और जल का अनुलोमन होने से अर्श में लाभ होता है॥ १०१-१०३॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली। शृङ्गवेरयवक्षारौ तैः सिद्धं वा पिबेद् घृतम्॥१०४॥
चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम्। पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम्॥ १०५॥
पिप्पलीपिप्पलीमूलदधिदाडिमधान्यकैः। सिद्धं सर्पिर्विधातव्यं वातवर्चोविबन्धनुत्॥ १०६॥

पिप्पल्यादि घृत—(१५) अर्श का रोगी पीपर, पिपरामूल, चित्रकमूल, गजपीपर, सोंठ और यवक्षार, इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध किये गये घृत का पान करे अथवा चाभ और चित्रकमूल का कल्क डालकर पकाये गये घृत में गुड़ तथा यवक्षार मिलाकर पान करे या पिपरामूल के कल्क से पकाये गये घृत में गुड़, यवक्षार तथा सोंठ का चूर्ण मिलाकर पान करे। अथवा द्वितीय पिप्पल्यादि घृत—पीपर, पिपरामूल, दही, खट्टे अनारदाने और धनिया, इन पदार्थों से सिद्ध घृत का प्रयोग अपानवायु तथा मल के विबन्ध को दूर करता है॥ १०४-१०६॥

चव्यं त्रिकटुकं पाठां क्षारं कुस्तुम्बुरूणि च। यवानीं पिप्पलीमूलमुभे च विडसैन्धवे॥ १०७॥
चित्रकं बिल्वमभयां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत्। शकृद्वातानुलोम्यार्थं जाते दध्नि चतुर्गुणे॥
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम्। गुदवङ्क्षणशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति॥ १०९॥

चव्याद्य घृत—(१६) चाभ, सोंठ, मरिच, पीपर, पाठा, जवाखार, कुस्तुम्बुरु (नेपाली धनिया) अजवायन, पिपरामूल, विडनमक, सेंधानमक, चित्रक, बेल की गिरी और हर्रे—इन द्रव्यों के घृत से चतुर्थांश कल्क और घृत से चौगुनी दही के साथ पकाकर घृत तैयार करे। यह घृत प्रवाहिका, गुदभ्रंश, मूत्रकृच्छ्र, अतिसार तथा गुदा एवं वंक्षण के शूल को नष्ट करता है॥ १०७-१०९॥

नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली। श्वदंष्ट्रां पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठा यवानिका॥
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत्। चतुर्गुणेन दध्ना च तद् घृतं कफवातनुत्॥ १११॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्। गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद् व्यपोहति॥ ११२॥

नागराद्य घृत—(१७) सोंठ, पिपरामूल, चित्रक की जड़, गजपीपर, गोखरू, पीपर, धनिया, बेलगिरी, पाठा और अजवायन—इन समभाग में लिये गये द्रव्यों का कल्क घृत का चतुर्थांश, चांगेरी (तिनपतिया) का स्वरस घी से चौगुना और दही घी से चौगुना डालकर घृत पकायें। यह घृत कफ तथा वातविकार को नष्ट करता है और अर्शरोग, ग्रहणीविकार, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश की पीड़ा तथा आनाह रोग को विनष्ट करता है॥ ११०-११२॥

पिप्पलीं नागरं पाठां श्वदंष्ट्रां च पृथक् पृथक्। भागांस्त्रिपलिकान् कृत्वा कषायमुपकल्पयेत्॥
गण्डीरं पिप्पलीमूलं व्योषं चव्यं च चित्रकम्। पिष्ट्वा कषाये विनयेत् पूते द्विपलिकं भिषक्॥
पलानि सर्पिषस्तस्मिंश्चत्वारिंशत् प्रदापयेत्। चाङ्गेरीस्वरसं तुल्यं सर्पिषा दधि षड्गुणम्॥
मृद्वग्निना ततः साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत्। तदाहारे विधातव्यं पाने प्रायेगिके विधौ॥ ११६॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं गुल्महृद् रोगनाशनम्। शोथप्लीहोदरानाहमूत्रकृच्छ्रज्वरापहम्॥ ११७॥
कासहिक्काऽरुचिश्वाससूदनं पार्श्वशूलनुत्। बलपुष्टिकरं वर्ण्यमग्निसन्दीपनं परम्॥ ११८॥

तृतीय पिप्पल्यादि घृत—(१८) क्वाथ द्रव्य—पीपर, सोंठ, पाठा और गोखरू, प्रत्येक ३-३ पल लेकर १६० पल जल में क्वाथ बनायें और ४० पल शेष रहने पर छान लें। कल्क द्रव्य—गण्डीर घास, पिपरामूल, सोंठ, मरिच, पीपर, चाभ और चित्रक—इन प्रत्येक द्रव का कल्क २-२ पल लेकर उक्त क्वाथ में डाल दें। उस क्वाथ में ४० पल गाय का घी, ४० पल तिनपतिया का स्वरस और घी से छः गुना दही (२४० पल) डालकर विधिवत् घृतपाक करे और मृदु अग्नि से घी पकायें। तैयार होने पर छानकर स्वच्छ पात्र में रख लें। इस घी को भोजन के साथ खाने में, दूध आदि के साथ पीने में और प्रायोगिक अर्थात् नित्य प्रयोग करने योग्य औषध के रूप में प्रयोग करना चाहिए। यह घृत ग्रहणीविकार और अर्शरोग का नाशक है, गुल्म तथा हृदयरोग, शोथ, प्लीहारोग, उदररोग, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, कास, हिचकी, अरुचि, श्वास और पार्श्वशूल को नष्ट करता है तथा बलकारक, पुष्टिकारक, वर्णकारक एवं अग्नि को प्रदीप्त करने में अति हितकर है॥ ११३-११८॥

सगुडां पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां हरीतकीम्। त्रिवृद्दन्तीयुतां वाऽपि भक्षयेदानुलोमिकीम्॥ ११९॥
विड्वातकफपित्तानामानुलोम्येऽथ निर्वृते। गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यन्ति पावकश्चाभिवर्धते॥ १२०॥

वात-मलानुलोमन—(१९) घी में भुनी हर्रे के चूर्ण (३-४ ग्राम) को पीपर (१ ग्राम) के चूर्ण और (५ ग्राम) गुड़ के साथ सेवन करे अथवा (२०) घी में भुनी हर्रे के चूर्ण को निशोथ तथा दन्तीमूल के चूर्ण के साथ सेवन करे। इन दोनों प्रयोगों से वायु एवं मल का अनुलोमन होता है। जब मल, वात, पित्त और कफ, इन सबका अनुलोमन हो जाता है तब गुदा में दोष न होने से अर्श के मस्से स्वयमेव शान्त हो जाते हैं और जठराग्नि की वृद्धि हो जाती है॥ ११९-१२०॥

बर्हितित्तिरिलावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान्। दक्षाणां वर्तकानां च दद्याद्विड्वातसंग्रहे॥ १२१॥

अर्श में पक्षियों का मांसरस—यदि मल और अपानवायु गुदा में रुक जाय तो मोर, तीतर और लावा तथा मुर्गा एवं बटेर पक्षी के मांसरसों को ठीक से छौंक-बनाकर अनार या नीबू का रस डालकर खट्टा करके सेवन करायें। इन मांसों को अलग-अलग बनाकर प्रयोग करना ठीक है॥ १२१॥

त्रिवृद्दन्तीपलाशानां चाङ्गेर्याश्चित्रकस्य च। यमके भर्जितं दद्याच्छाकं दधिसमन्वितम्॥ १२२॥
उपोदिकां तण्डुलीयं वीरां वास्तुकपल्लवान्। सुवर्चलां सलोणीकां यवशाकमवल्गुजम्॥ १२३॥
काकमाचीं रुहापत्रं महापत्रं तथाऽम्लिकाम्। जीवन्तीं शटिशाकं च शाकं गृञ्जनकस्य च॥
दधिदाडिमसिद्धानि यमके भर्जितानि च। धान्यनागरयुक्तानि शाकान्येतानि दापयेत्॥ १२५॥

अर्श में शाक—सफेद निशोथ की पत्ती, दन्ती की पत्ती, पलाश की कोमल पत्ती या फूल, तिनपतिया की पत्ती और चित्रक की पत्ती के शाक को समभाग घी-तैल (यमक) में भूनकर, पकाकर, दही मिलाकर खाने को देना चाहिए। इसी प्रकार पोई की पत्ती, चौलाई की पत्ती, शतावर और बथुआ की पत्ती का शाक घी-तैल में पकाकर खिलायें। हुरहुर की पत्ती (सुवर्चला), लोनी की पत्ती, जौ की पत्ती अर्थात् जौ के खेत में उत्पन्न बथुआ आदि की पत्ती, कालीजीरी की पत्ती, काकमाची की पत्ती, गुरुच की पत्ती, मानकन्द की पत्ती, इमली की पत्ती, जीवन्ती की पत्ती, कचूर की पत्ती और गाजर—इनको घी-तैल में भूनकर, दही और अनार का रस डालकर (स्टेनलेस स्टील की कड़ाही में) पकाकर तैयार होने पर धनिया और सोंठ का चूर्ण उचित मात्रा में मिलाकर अर्श के रोगी को खिलाना चाहिए॥ १२२-१२५॥

गोधालोपाकमार्जारश्वाविदुष्ट्रगवामपि। कूर्मशल्लकयोश्चैव साधयेच्छाकवद् रसान्॥ १२६॥
रक्तशाल्योदनं दद्याद् रसैस्तैर्वातशान्तये।

अर्श में पशुओं का मांसरस—जब अर्श के रोगी के शरीर में वात की वृद्धि हो तो उसे गोहटी, लोमड़ी, बिलार, साही का भेद, ऊँट, गाय, कछुआ और साही के मांस को शाक की तरह (दही और

अनार के रस के साथ पकाकर तैयार होने पर धनिया और सोंठ का चूर्ण डालकर) घी-तैल में भूनकर लाल अगहनी चावल के भात के साथ उस मांसरस को खिलायें॥ १२६॥

ज्ञात्वा वातोल्बणं रूक्षं मन्दाग्निं गुदजातुरम्॥ १२७॥
मदिरां शार्करं जातं सीधुं तक्रं तुषोदकम्। अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम्॥ १२८॥
कण्टकार्या शृतं वाऽपि शृतं नागरधान्यकैः। अनुपानं भिषग्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम्॥ १२९॥

अर्श में अनुपान—जब चिकित्सक यह जान ले कि अर्श के रोगी के शरीर में वात की अधिकता है, उसमें रूक्षता है और रोगी की अग्नि मन्द है, तब उस रोगी को मदिरा, चीनी से बना मद्य, गन्ने के रस से बना मद्य (सीधु), मट्ठा, तुषोदक (कांजी), अरिष्ट, दही का पानी, उबाला हुआ जल या शीतल जल या कण्टकारी डालकर उबाला जल या सोंठ और धनिया डालकर गरम किया हुआ जल अनुपान के रूप में देना चाहिए। ये सभी अपानवायु और मल का अनुलोमन करते हैं॥ १२७-१२९॥

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः। विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम्॥ १३०॥

अनुवासनार्ह अर्श रोगी—अर्श से पीड़ित जो रोगी उदावर्त से ग्रस्त हों, अत्यन्त रूक्ष शरीर हों, जो वायु की प्रतिलोम गति से कष्ट पा रहे हों और जो उदर या गुदा के शूल से पीड़ित हों, उन्हें अनुवासनवस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। १३०॥

पिप्पलीं मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम्। कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च॥ १३१॥
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं पयसा द्विगुणेन च। अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम्॥ १३२॥
गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्। कटीगूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वङ्क्षणाश्रयम्॥ १३३॥
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम्। उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात्॥ १३४॥

पिप्पल्यादि अनुवासन वस्ति—पीपर, मदनफल, बेलगिरी, सौंफ, मुलहठी, बच, कूठ, कचूर, पोहकरमूल, चित्रक की जड़ और देवदारु—इन सबका कल्क बनाकर कल्क से चौगुना तिलतैल और तैल से दूना गोदुग्ध डालकर तैल का पाक कर ले। जिन अर्श के रोगियों का अपानवायु अवरुद्ध हो, उन्हें आरोग्य प्रदान करने वाला यह श्रेष्ठ अनुवासन है। इस अनुवासनवस्ति के प्रयोग से गुदा का बाहर निकलना, शूल होना, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कटि, ऊरु और पीठ की दुर्बलता, वंक्षणप्रदेश में आनाह (वायु का तनाव), गुदा से द्रव स्रवित होना, गुदा की सूजन, अपानवायु और मल का रुकना तथा बार-बार शौच लगना—इन सभी विकारों पर विजय पाना चाहिए॥ १३१-१३४॥

आनुवासनिकैः पिष्टैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः। दार्वन्तैः स्रंसनध्वंसशूलानि गुदजानि प्रलेपयेत्॥ १३५॥
दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु श्लेष्मपिच्छां सशोणिताम्।
कण्डूः स्तम्भः सरुक् शोफः स्रुतानां विनिवर्तते॥ १३६॥

अर्श के मस्सों पर लेप—पीपर से लेकर देवदारु पर्यन्त जो द्रव्य ऊपर की अनुवासनवस्ति में बतलाये गये हैं, उन्हें बारीक पीसकर घी अथवा तैल मिलाकर हल्का गरम कर जकड़े हुए और शूलयुक्त मस्सों पर लेप करे। इस प्रकार लेप करने से वे मस्से फूटकर रक्त के साथ कफ तथा पिच्छायुक्त द्रव का स्राव करने लगते हैं और स्राव होकर दूषित रक्त आदि के निकल जाने से खुजली, जकड़ाहट, वेदना और सूजन मिट जाती है॥ १३५-१३६॥

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम्। समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः॥ १३७॥

निरूह वस्ति—शुष्कार्श से ग्रस्त रोगियों को दशमूल के क्वाथ में गोदुग्ध, गोमूत्र, घी या तैल और सेंधानमक तथा मदनफल का कल्क डालकर निरूहवस्ति देनी चाहिए॥ १३७॥

हरीतकीनां प्रस्थार्धं प्रस्थमामलकस्य च। स्यात् कपित्थाद्दशपलं ततोऽर्धा चेन्द्रवारुणी॥ १३८॥
विडङ्गं पिप्पली लोध्रं मरिचं सैलवालुकम्। द्विपलांशं जलस्यैतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत्॥ १३९॥
द्रोणशेषे रसे तस्मिन् पूते शीते समावपेत्। गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत् तत्पक्षं घृतभाजने॥ १४०॥
पक्षादूर्ध्वं भवेत् पेया ततो मात्रां यथाबलम्। अस्याभ्यासादरिष्टस्य गुदजा यान्ति सङ्क्षयम्॥
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदरापहः। कुष्ठशोफारुचिहरो बलवर्णाग्निवर्धनः॥ १४२॥
सिद्धोऽयमभयारिष्टः कामलाश्वित्रनाशनः। कृमिग्रन्थ्यर्बुदव्यङ्गराजयक्ष्मज्वरान्तकृत्॥
इत्यभयारिष्टः।

अभयारिष्ट—निर्बीज हर्रा आधा प्रस्थ (८ पल), निर्बीज आँवला एक प्रस्थ (१६ पल), कैथ का गूदा १० पल, इन्द्रायन का फल या मूल ५ पल; वायविडंग, पीपर, लोध, मरिच और एलवालुक—प्रत्येक २-२ पल लेकर मोटा कूटकर ४ द्रोण (१०२४ पल) जल में पकायें। जब १ द्रोण (२५६ पल) जल शेष रहे तो क्वाथ को छान ले और उसमें २०० पल पुराना गुड़ मिलाकर किसी आभ्यन्तर में घी पुते हुए मिट्टी के पात्र में डालकर कपड़मिट्टी लगाकर मुखसन्धि को परई से बन्द कर दे। उस पात्र को भूसे या अनाज की ढेर में १५ दिन तक सुरक्षित रख छोड़े। इसके बाद अरिष्ट तैयार हो गया हो, तो छान लें अन्यथा १-२ सप्ताह और पड़ा रहने दें, फिर छानकर सुरक्षित स्वच्छ बोतलों में भर लें। रोगी की शक्ति के अनुसार मात्रा में इसका प्रयोग करे। इसके लगातार प्रयोग से सभी अर्श नष्ट हो जाते हैं। यह अरिष्ट ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, हृदयरोग, प्लीहरोग, गुल्मरोग, उदररोग, कुष्ठरोग, शोथरोग और भोजन में अरुचि होने को दूर करता है। यह शरीर के बल को, वर्ण को तथा जठराग्नि को बढ़ाता है और कामला, श्वेतकुष्ठ, कृमिरोग, ग्रन्थिरोग, अर्बुद, व्यङ्ग (चेहरे पर झाईं या दाग) राजयक्ष्मा एवं ज्वर को नष्ट करता है॥ १३८-१४३॥

दन्तीचित्रकमूलानामुभयोः पञ्चमूलयोः। भागान्पलांशानापोथ्य जलद्रोणे विपाचयेत्॥ १४४॥
त्रिपलं त्रिफलायाश्च दलानां तत्र दापयेत्। रसे चतुर्थशेषे तु पूते शीते समावपेत्॥ १४५॥
तुलां गुडस्य तत्तिष्ठेन्मासार्धं घृत भाजने। तन्मात्रया पिबन्नित्यमर्शोभ्यो विप्रमुच्यते॥ १४६॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं वातवर्चोऽनुलोमनम्। दीपनं चारुचिघ्नं च दन्त्यरिष्टमिमं विदुः॥ १४७॥
इति दन्त्यरिष्टः।

दन्त्यरिष्ट—दन्ती की जड़, चीते की जड़, दोनों पञ्चमूल (१. बेलगिरी, २. गम्भार की छाल, ३. गनियार की छाल, ४. पाढल की छाल, ५. सोनापाठा, ६. सरिवन. ७. पिठवन, ८. छोटी कटेरी, ९. बड़ी कटेरी और १०. गोखरू) प्रत्येक १-१ पल; निर्बीज आँवला १ पल, निर्बीज बहेड़ा १ पल और निर्बीज हर्रा १ पल, इन सबको मोटा कूटकर १ द्रोण जल में पकायें और जब चतुर्थांश जल बचे तो छानकर उस क्वाथ में १ तुला गुड़ डालकर मिट्टी के घी चुपड़े हुए पात्र में मुख बन्द कर १५ दिन तक भूसे की ढेर में रख दें। अपने बल के अनुसार उचित मात्रा में (२० से ४० ग्राम तक) लगातार इस अरिष्ट को पीने वाला रोगी सभी प्रकार के अर्शविकार से मुक्त हो जाता है। आचार्यों ने इस दन्त्यरिष्ट ग्रहणीरोग एवं पाण्डुरोग-नाशक, अपानवायु और मल को निकालनेवाला, अग्निप्रदीपक और अरुचिनाशक कहा है॥ १४४-१४७॥

हरीतकीफलप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च। विशालाया दधित्थस्य पाठाचित्रकमूलयोः॥ १४८॥
द्वे द्वे पले समापोथ्य द्विद्रोणे साधयेदपाम्। पादावशेषे पूते च रसे तस्मिन् प्रदापयेत्॥ १४९॥
गुडस्यैकां तुलां वैद्यस्तत्स्थाप्यं घृतभाजने। पक्षस्थितं पिबेदेनं ग्रहण्यर्शोविकारवान्॥१५०॥
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं कामलां विषमज्वरम्। वर्चोमूत्राऽनिलकृतान् विबन्धानग्निमार्दवम्॥
कासं गुल्ममुदावर्तं फलारिष्टो व्यपोहति। अग्निसन्दीपनो ह्येष कृष्णात्रेयेण भाषितः॥ १५२॥
इति फलारिष्टः।

फलारिष्ट—निर्बीज हर्रा १ प्रस्थ, निर्बीज आँवला १ प्रस्थ; इन्द्रायन का फल या मूल, कैथ का गूदा, पाठा और चित्रक का मूल, प्रत्येक दो-दो पल लेकर मोटा कूटकर दो द्रोण जल में पकायें, जब चतुर्थांश जल बचे, तो क्वाथ को छानकर उसमें एक तुला गुड़ मिलाकर घी चुपड़े मिट्टी के पात्र में रखकर पात्र के मुख की सन्धि परई रखकर कपड़मिट्टी लगाकर बन्द कर दे। इस पात्र को भूसे की ढेर में १५ दिन तक रखना चाहिए, उसके बाद तैयार अरिष्ट को रोगी के बल के अनुसार मात्रा में पीने को दे। ग्रहणी तथा अर्श के रोगी को इसे पीना चाहिए। यह फलारिष्ट महर्षि कृष्णात्रेय द्वारा कहा गया है। यह हृदयरोग, पाण्डुरोग, कामला, विषमज्वर, मल, मूत्र तथा अपानवायु के विबन्ध, मन्दाग्नि, कास, गुल्म और उदावर्त को नष्ट करता है एवं अग्नि को तीव्र बनाता है॥ १४८-१५२॥

दुरालभायाः प्रस्थः स्याच्चित्रकस्य वृषस्य च। पथ्यामलकयोश्चैव पाठाया नागरस्य च॥ १५३॥
दन्त्याश्च द्विपलान् भागाञ्जलद्रोणे विपाचयेत्। पादावशेषे पूते च सुशीते शर्कराशतम्॥ १५४॥
प्रक्षिप्य स्थापयेत् कुम्भे मासार्धं घृतभाविते। प्रलिप्ते पिप्पलीचव्यप्रियङ्गुक्षौद्रसर्पिषा॥ १५५॥
तस्य मात्रां पिबेत्काले शार्करस्य यथाबलम्। अर्शांसि ग्रहणीदोषमुदावर्तमरोचकम्॥ १५६॥
शकृन्मूत्रानिलोद्गारविबन्धानग्निमार्दवम्। हृद्रोगं पाण्डुरोगं च सर्वमेतेन साधयेत्॥ १५७॥
इति द्वितीयफलारिष्टः।

द्वितीय फलारिष्ट—धमासा या यवासा १ प्रस्थ, चित्रक की जड़, अरूस की पत्ती, निर्बीज हर्रे, निर्बीज आँवला, पाठा, सोंठ और दन्तीमूल—प्रत्येक २-२ पल लेकर मोटा कूटकर १ द्रोण जल में क्वाथ करे और चतुर्थांश जल बचने पर छानकर ठंडा कर ले। उसे भीतर में घी चुपड़े हुए किसी मिट्टी के पात्र में, जिसमें भीतर की तह में पीपर, चाभ, फूलप्रियंगु, मधु और घी मिला प्रलेप लगाकर सुखाया गया हो, उसमें रखकर १०० पल चीनी डालकर, पात्र के मुख पर परई रखकर, कपड़मिट्टी कर भूसे की ढेर में रख दे और १५ दिन तक या अरिष्ट तैयार होने तक पड़ा रहने दे, फिर छानकर बोतलों में भर लें। रोगी के बल के अनुसार उचित समय पर, उचित मात्रा में सेवन कराकर अर्शरोग, ग्रहणी, उदावर्त, अरुचि, मल-मूत्र-अपानवायु और डकार की रुकावट, मन्दाग्नि, हृदयरोग और पाण्डुरोग इन सभी विकारों को वैद्य दूर करे॥ १५३-१५७॥

नवस्यामलकस्यैकां कुर्याज्जर्जरितां तुलाम्। कुडवांशाश्च पिप्पल्यो विडङ्गं मरिचं तथा॥ १५८॥
पाठां च पिप्पलीमूलं क्रमुकं चव्यचित्रकौ। मञ्जिष्ठैल्वालुकं लोध्रं पलिकानुपकल्पयेत्॥ १५९॥
कुष्ठं दारुहरिद्रा च सुराह्वं सारिवाद्वयम्। इन्द्राह्वं भद्रमुस्तं च कुर्यादर्धपलोन्मितम्॥ १६०॥
चत्वारि नागपुष्पस्य पलान्यभिनवस्य च। द्रोणाभ्यामम्भसो द्वाभ्यां साधयित्वाऽवतारयेत्॥
पादावशेषे पूते च शीते तस्मिन्प्रदापयेत्। मृद्वीकाद्व्याढकरसं शीतं निर्यूहसम्मितम्॥ १६२॥
शर्करायाश्च भिन्नाया दद्याद् द्विगुणितां तुलाम्। कुसुमस्य रसस्यैकमर्धप्रस्थं नवस्य च॥ १६३॥
त्वगेलाप्लवपत्राम्बुसेव्यक्रमुककेशरान्। चूर्णयित्वा तु मतिमान् कार्षिकानत्र दापयेत्॥१६४॥
तत्सर्वं स्थापयेत् पक्षं सुचौक्षे घृतभाजने। प्रलिप्ते सर्पिषा किञ्चिच्छर्करागुरुधूपिते॥ १६५॥
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयं कनको नाम विश्रुतः। पेयः स्वादुरसो हृद्यः प्रयोगाद् भक्तरोचनः॥ १६६॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहमुदरं ज्वरम्। हृद्रोगं पाण्डुतां शोथं गुल्मं वर्चोविनिग्रहम्॥ १६७॥
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान् सर्वानेवापकर्षति। वलीपलितखालित्यं दोषजं च व्यपोहति॥
इति कनकारिष्टः।

कनकारिष्ट—बीज निकाले हुए और कुटे हुए ताजे आँवले १ तुला (१०० पल), पीपर, वायविडंग और काली मरिच, प्रत्येक १-१ कुडव (४ पल); पाठा, पिपरामूल, कसैली, चाभ, चित्रकमूल, मजीठ,

एलवालुक और लोध्र, प्रत्येक १-१ पल; कूठ, दारुहल्दी, देवदारु, कृष्णसारिवा, श्वेतसारिवा, इन्द्रायण और नागरमोथा, प्रत्येक आधा-आधा पल; नई नागकेसर ४ पल—इन सभी द्रव्यों को मोटा कूटकर २ द्रोण जल में क्वाथ करे और चतुर्थांश (आधा द्रोण) जल बचे, तो उसे छान ले और ठण्डा होने पर उस क्वाथ में मुनक्के का क्वाथ (२ आढक मुनक्का ८ आढक जल में पकाकर २ आढक बचने पर छानकर ठण्डाकर) २ आढक मिला दे, फिर २ तुला (२०० पल) महीन चीनी और नया मधु १½ प्रस्थ मिला दें। फिर एक मिट्टी के बड़े पात्र में भीतर घी का लेप कर चीनी तथा धूप से धूपित कर उस स्वच्छ पात्र में उक्त द्रव आदि डाल दे, फिर दालचीनी, छोटी इलायची, नागरमोथा, तेजपात, सुगन्धबाला, खश, सुपारी और केसर—इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष लेकर चूर्ण कर उस मृत्पात्र में डाल दे और उस पात्र को भूसे की ढेर में १५ दिन तक छोड़ दे। उसके बाद अरिष्ट के तैयार होने पर छानकर सुरक्षित बोतलों में भर लें। इसका नाम कनकारिष्ट है, जो प्रसिद्ध है। यह पीने में मधुर है और भोजन में रुचि उत्पन्न करता है तथा हृदय के लिए हितकर है। यह अरिष्ट सभी प्रकार के अर्शरोग, ग्रहणीविकार, आनाह, उदररोग, ज्वर, हृदयरोग, पाण्डुरोग, शोथ, गुल्म, मल की रुकावट, खाँसी एवं भयंकर रूप से प्रवृद्ध सभी प्रकार के कफज विकारों को दूर करता है। यह कनकारिष्ट वातादि दोषों के प्रकोप से उत्पन्न चेहरे आदि की झुर्रियों को, बालों के पकने को और बालों के झड़ने को रोकता है॥ १५८-१६८॥

वक्तव्य—यह अरिष्ट धतूरे के अर्थ में या धातुविशेष के अर्थ में प्रयुक्त कनक का यौगिक नहीं है। न तो इसमें धतूरा है, न स्वर्ण; अपितु यह शरीर को वली, पलित तथा खालित्यरहित एवं स्वर्ण की तरह कान्तिमान् बनाता है। इस अभिप्राय से इसका नाम कनकारिष्ट रखा गया है।

पत्रभङ्गोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन चाम्भसा। इति शुष्कार्शसां सिद्धमुक्तमेतच्चिकित्सितम्॥

अर्श में मस्सों का प्रक्षालन—एरण्डपत्र, अरूसपत्र या भांग आदि पत्ते के क्वाथ से गुदा का प्रक्षालन करना चाहिए या केवल सुखोष्ण जल से गुदा का प्रक्षालन करे। इस प्रकार यह शुष्क अर्श की अनुभूत चिकित्सा बतलायी गयी है॥ १६९॥

चिकित्सितमिदं सिद्धं स्राविणां शृण्वतः परम्। तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च॥

स्रावी अर्श (खूनी बवासीर) की चिकित्सा का उपक्रम—अब शुष्क अर्श की चिकित्सा कहने के पश्चात् स्रावी अर्श की चिकित्सा का उपदेश किया जा रहा है, उसे आप सुनें। स्रावी अर्शों में दो प्रकार का दोषानुबन्ध होता है—१. कफ का और २. वायु का॥ १७०॥

विट् श्यावं कठिनं रूक्षं चाधो वायुर्न वर्तते। तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम्॥ १७१॥
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम्। तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्॥ १७२॥

रक्तार्श में वात का अनुबन्ध—जब अर्श के रोगी का मल कालापन लिये हुए कड़ा और रूखा हो तथा अपानवायु गुदमार्ग से बाहर नहीं निकल रही हो; मस्सों से निकलने वाला रक्त पतला, लाल रंग का और झागदार हो; कटि में, ऊरु में और गुदा में शूल हो तथा बहुत अधिक दुर्बलता हो एवं रूक्ष आहार-विहार करने के कारण अर्श की उत्पत्ति हुई हो, तो उस अर्श में वात का अनुबन्ध जानना चाहिए॥ १७१-१७२॥

शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम्। यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलम्॥
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम्। श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः॥

रक्तार्श में कफ का अनुबन्ध—जब रक्तार्श वाले रोगी का मल ढीला, सफेद, पीला, चिकना, भारी और शीतल हो, अर्श के मस्सों से निकलने वाला रक्त घना, तन्तुओं से युक्त, पाण्डुवर्ण का और पिच्छिल हो तथा गुदा में मण्ड जैसा द्रव आता हो और ठण्डक प्रतीत हो एवं अर्श की उत्पत्ति में गुरु

तथा स्निग्ध पदार्थों का अधिक उपयोग करना कारण हो, तो ऐसी स्थिति में विद्वानों को रक्तार्श में कफ का अनुबन्ध जानना चाहिए॥ १७३-१७४॥

स्निग्धशीतं हितं वाते रूक्षशीतं कफानुगे। चिकित्सितमिदं तस्मात् सम्प्रधार्य प्रयोजयेत्॥१७५॥
पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत्। स्रवणं चाप्युपेक्षेत लङ्घनैर्वा समाचरेत्॥ १७६॥

रक्तार्श का चिकित्सासूत्र—यदि रक्तार्श में वात का अनुबन्ध हो तो स्निग्ध और शीत आहार-विहार तथा चिकित्सोपचार का प्रयोग करना चाहिए। यदि कफ का अनुबन्ध हो तो रूक्ष तथा शीत आहार-विहार एवं औषध द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। यह चिकित्सा देश-काल और परिस्थिति, रोगी और रोग को देखते हुए समुचित रूप से करनी चाहिए।

यदि रक्तार्श के रोगी में पित्त और कफ की अधिकता प्रतीत हो, तो उसका आवश्यकतानुसार वमन-विरेचन आदि संशोधन द्वारा उपचार करना चाहिए। यदि अर्श के मस्सों से रक्त निकल रहा हो, तो उसे तुरन्त बन्द नहीं करना चाहिए और रक्तस्राव की उपेक्षा करनी चाहिए (यदि रोगी सबल हो तभी संशोधन करना या रक्तस्राव की उपेक्षा करना ठीक है, क्योंकि दुर्बल रोगी शोधनकर्म को तथा अधिक रक्तस्राव होने को सहन नहीं कर सकता।) अथवा उपवास कराकर उसका उपचार करना चाहिए॥ १७५-१७६॥

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान्। शोणितं दोषमनिलं तद्रोगाञ्जनयेद्बहून्॥ १७७॥
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निसादमरोचकम्। कामलां श्वयथुं शूलं गुदवङ्क्षणसंश्रयम्॥ १७८॥
कण्डूवरुःकोठपिडकाः कुष्ठं पाण्ड्वाह्वयं गदम्। वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम्॥
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथाऽन्यान् रक्तजान् गदान्। तस्मात् स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसङ्ग्रहणं हितम्॥
हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्। कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्॥ १८१॥

अर्श के रक्तस्राव को प्रारम्भ में ही रोकना हानिकर—जो अबुद्धि वैद्य अर्श से निकलने वाले रक्त को तुरत ही रोक देता है एवं मल तथा अपानवायु के वेग को रोकता है, तो उसका यह कार्य अनेक रोगों को उत्पन्न करता है; यथा—रक्तपित्त, ज्वर, तृष्णा, अग्निमान्द्य, अरोचक, कामला, शोथ, गुदा और वंक्षणप्रदेश में शोथ, खुजली, छोटी फुंसियाँ, चकत्ते, पिडकाएँ, कुष्ठरोग, पाण्डुरोग; अपानवायु, मल तथा मूत्र की रुकावट, शिरःशूल, गीले वस्त्र से ढका हुआ जैसा लगना, अंगों का भारीपन और इनके अतिरिक्त दूसरे कितने ही रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए जब दूषित रक्त का स्राव हो जाय तभी रक्त को रोकना ठीक रहता है।

जो चिकित्सक रक्तार्श के कारणों का, लक्षणों का और रक्तस्राव तथा रक्तनिरोध के उचित समय का ज्ञान रखता हो, जो रोगी के बल को जानता हो, जिसे दुष्ट तथा शुद्ध रक्त के वर्ण का ज्ञान हो, वह अर्श के मस्सों से निकलते हुए रक्तस्राव की तब तक उपेक्षा करे जब तक आगे रक्तस्राव होने से रोगी के जीवन को किसी संकट की सम्भावना न प्रतीत हो॥ १७७-१८१॥

अग्निसन्दीपनार्थं च रक्तसङ्ग्रहणाय च। दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत्॥ १८२॥

पाठ

रक्तार्श में तिक्त रस से उपचार—रक्तार्श के रोगी के दुष्ट रक्त के स्रवित हो जाने के पश्चात् रोगी के रक्तस्राव को बन्द करने के लिए जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए और दोषों के पाचनार्थ तिक्त रस वाले द्रव्यों द्वारा उपचार करना चाहिए॥ १८२॥

यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च। वर्तते स्नेहसाध्यं तत्पानाभ्यङ्गानुवासनैः॥ १८३॥
यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते। स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम्॥ १८४॥

अर्श में स्नेह का प्रयोग—जिस रक्तार्श के रोगी के दोष क्षीण हो गये हों और वह रोगी वात प्रधान हो, तो वह रोगी स्नेह के पिलाने से, अभ्यङ्ग करने से और अनुवासन वस्ति के प्रयोग से साध्य होता है।

रक्तस्तम्भन अनिवार्य—जब पित्तप्रधान रक्तार्श के रोगी के मस्सों से गर्मी की ऋतु में रक्तस्राव हो रहा हो और यदि उसमें वात एवं कफ का अनुबन्ध न हो, तो उसका निश्चय ही स्तम्भन करना चाहिए॥ १८३-१८४॥

कुटजत्वङ्निर्यूहः सनागरः स्निग्धरक्तसङ्ग्रहणः।
त्वग्दाडिमस्य तद्वत् सनागरश्चन्दनरसश्च॥ १८५॥
चन्दनकिराततिक्तकधन्वयवासाः सनागराः क्वथिताः।
रक्तार्शसां प्रशमना दार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च॥ १८६॥
सातिविषा कुटजत्वक् फलं च सरसाञ्जनं मधुयुतानि।
रक्तापहानि दद्यात् पिपासवे तण्डुलजलेन॥ १८७॥

रक्तरोधक योग—(१) कोरया की छाल के क्वाथ में सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीने से कफानुबन्धी रक्तस्राव बन्द हो जाता है। (२) अनार के फल की या वृक्ष की छाल के क्वाथ में सोंठ मिलाकर पीने से रक्तस्राव होना बन्द हो जाता है। (३) इसी प्रकार रक्तचन्दन के क्वाथ में सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीना रक्तसंग्राहक होता है। (४) लालचन्दन, चिरायता, धमासा और सोंठ, इनका क्वाथ पीना रक्तार्श में गिरने वाले रक्त को रोकता है। (५) दारुहल्दी, दालचीनी, खश और नीम की छाल का क्वाथ रक्तार्श के रक्तस्राव को बन्द करता है। (६) अतीस, कोरया की छाल, इन्द्रजौ और रसौंत समभाग लेकर चूर्ण कर मधु मिलाकर खिलाने से रक्त का स्राव बन्द होता है। जिस रोगी को प्यास अधिक लगती हो, उसे यह योग चावल के पानी (तण्डुलोदक) के साथ देना चाहिए॥ १८५-१८७॥

वक्तव्य—रक्तपित्त की चिकित्सा में कथित रक्तसंग्राही औषधों का प्रयोग भी सफल होता है।

कुटजत्वचो विपाच्यं पलशतमार्द्रं महेन्द्रसलिलेन।
यावत्स्याद् गतरसं तद् द्रव्यं पूतो रसस्ततो ग्राह्यः॥ १८८॥
मोचरसः ससमङ्गः फलिनी च समांशिकैस्त्रिभिस्तैश्च।
वत्सकबीजं तुल्यं चूर्णितमत्र प्रदातव्यम्॥ १८९॥
पूतोत्क्वथितः सान्द्रः स रसो दर्वीप्रलेपनो ग्राह्यः।
मात्राकालोपहिता रसक्रियैषा जयत्यसृक्स्रावम्॥ १९०॥
छगलीपयसा पीता पेयामण्डेन वा यथाऽग्निबलम्।
जीर्णौषधश्च शालीन् पयसा छागेन भुञ्जीत॥ १९१॥
रक्तार्शांस्यतिसारं रक्तं सासृग् रुजो निहन्त्याशु।
बलवच्च रक्तपित्तं रसक्रियैषा जयत्युभयभागम्॥ १९२॥
इति कुटजादिरसक्रिया।

कुटजादि रसक्रिया—(७) कोरया की गीली छाल १०० पल लेकर मोटा कूटकर वर्षा के (४०० पल) जल में पकायें। जब यह जाने कि औषध का साररस क्वाथ में आ गया है और १०० पल जल शेष है) तब छानकर क्वाथ को निकाल ले। उस क्वाथ में मोचरस, मजीठ या लाजवन्ती और फूलप्रियंगु, इन तीनों का समभाग में (२००-२०० ग्राम) चूर्ण डाले और इन तीनों के वज़न के बराबर (६०० ग्राम) इन्द्रजौ का बारीक छना हुआ चूर्ण भी क्वाथ में डाल दें। फिर उस चूर्णमिश्रित क्वाथ को मन्द आँच पर

करछुल से चला-चलाकर पकायें। जब वह क्वाथ इतना गाढ़ा हो जाय कि करछुल पकड़ ले तब उसे उतार कर सुरक्षित रख लें।

प्रयोग—यह रसक्रिया उचित मात्रा में (३ से ६ ग्राम तक) और उचित समय पर सेवन किये जाने से रक्तस्राव को रोक देती है। इसके सहपान के रूप में बकरी का दूध अथवा पतली पेया पिलानी चाहिए। यह ध्यान रखे कि रोगी की जठराग्नि कैसी है और उसका शरीरबल कैसा है। क्योंकि औषध या सहपान की मात्रा अग्निबल और शरीरबल पर निर्भर है। औषध के पच जाने पर पथ्य में अगहनी चावल का भात बकरी के दूध के साथ खाना चाहिए।

फल—यह रसक्रिया रक्तार्श, रक्तातिसार, रक्तस्राव और पीड़ा के साथ होने वाले सभी प्रकार के रक्तज विकारों को नष्ट करती है। यह दोनों मार्गों से प्रवृत्त और प्रबल ऊर्ध्वग एवं अधोग रक्तपित्त को भी शान्त कर देती है॥ १८८-१९२॥

वक्तव्य—किसी क्वाथ या द्रव स्वरस आदि को कड़ाही में डालकर पकाते-पकाते जब गाढ़ा अवलेह जैसा बना दिया जाता है, तो उसे 'रसक्रिया' कहते हैं—'क्वाथादीनां पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया'।

नीलोत्पलं समङ्गा मोचरसश्चन्दनं तिला लोध्रम्।
पीत्वा छगलीपयसा भोज्यं पयसैव शाल्यन्नम्॥ १९३॥
छागलिपयः प्रयुक्तं निहन्ति रक्तं सवास्तुकरसं च।
धन्वविहङ्गमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा॥ १९४॥
पाठा वत्सकबीजं रसाञ्जनं नागरं यवान्यश्च।
बिल्वमिति चार्शसैश्चूर्णितानि पेयानि शूलेषु॥ १९५॥
दार्वी किराततिक्तं मुस्तं दुःस्पर्शकश्च रुधिरघ्नम्।

रक्तार्शनाशक योग—(८) नीलकमल, मजीठ, मोचरस, लाल चन्दन, काला तिल और लोध, इन सबको समभाग लेकर कूटकर बारीक चलनी से चालकर महीन चूर्ण बना ले। इसे (३-४ ग्राम की मात्रा में) बकरी के दूध के साथ खाना चाहिए और भोजन में अगहनी चावल का भात बकरी के दूध के साथ खाना चाहिए। (९) बथुए के रस को बकरी के दूध के साथ पीने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। (१०) जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस में अनार का रस डालकर, थोड़ा खट्टा बनाकर या बिना खट्टा बनाये ही सेवन करने से रक्तार्श नष्ट होता है। (११) पाठा, इन्द्रजौ, रसौंत, सोंठ, अजवायन और बेलगिरी, इन सबको समभाग लेकर चूर्ण बनाकर, शूलसहित रक्तार्श में (बकरी के दूध या तण्डुलोदक से) पीना चाहिए। (१२) दारुहल्दी, चिरायता, नागरमोथा और यवासा, इनके समभाग का चूर्ण बनाकर उचित मात्रा और उचित अनुपान के साथ सेवन करने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है॥ १९३-१९५॥

रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम्॥ १९६॥
कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः।
सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा॥ १९७॥
सर्पिः सदाडिमरसं सयावशूकं श्रृतं जयत्याशु।
रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिकादुग्धिकासिद्धम्॥ १९८॥

रक्तार्श में सिद्ध घृत प्रयोग—जब रक्तार्श से पीड़ित रोगी को शूल हो और अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो, तो उसे औषधों से सिद्ध किये हुए घृत का प्रयोग कराना चाहिए।

कुटजफलाद्य घृत—(१) इन्द्रजौ, कोरया की छाल, नागकेसर, नीलकमल, लोध और धावा का फूल, सबको समान भाग लेकर चटनी की तरह पीसकर चौगुने गोघृत में डालकर, चौगुने पानी के साथ

मन्दाग्नि से पकाकर तैयार करे। वैद्य को शूलयुक्त रक्तार्श के रोगी के लिए उचित मात्रा में इस घृत का प्रयोग करना चाहिए। (२) यवाखार और अनार के रस से सिद्ध किया हुआ घी शूलयुक्त रक्तार्श को नष्ट करता है। (३) अथवा रेंगनी और दूधी के कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत सशूल रक्तार्श को नष्ट करता है॥ १९६-१९८॥

लाजापेया पीता सचुक्रिका केशरोत्पलैः सिद्धा।
हन्त्याश्वसम्रावं तथा बलापृश्निपर्णीभ्याम्॥ १९९॥
ह्रीबेरबिल्वनागरनिर्यूहे साधितां सनवनीताम्।
वृक्षाम्लदाडिमाम्लामम्लीकाम्लां सकोलाम्लाम्॥ २००॥
गृञ्जनकसुरासिद्धां दद्याद् यमकेन भर्जितां पेयाम्।
रक्तातिसारशूलप्रवाहिकाशोथनिग्रहणीम् ॥ २०१॥

रक्तार्श में पेया के योग—(१) तिनपतिया, नागकेसर और नीलकमल के क्वाथ से यथाविधि निर्मित लाजा (धान का लावा) की बनी पेया रक्तस्राव को शीघ्र दूर करती है। (२) एवं बरियार के मूल और पिठवन के क्वाथ से बनी हुई लाजा की पेया शीघ्र रक्तस्राव को बन्द करती है। (३) सुगन्धबाला, बेलगिरी और सोंठ के क्वाथ से यथाविधि बनायी गयी पेया को मक्खन मिलाकर तथा कोकम या आलूबुखारा के रस से या अनार के रस से या इमली के रस से अथवा खट्टे बेर मिलाकर खट्टा करके रक्तार्श के रोगी को पिलायें। अथवा (४) गाजर और सुरा के साथ तैयार की गयी लाजपेया को घी-तैल से छौंककर रक्तार्श के रोगी को पिलाना चाहिए। यह पेया रक्तातिसार, शूल, प्रवाहिका और शोथ को नष्ट करती है॥ १९९-२०१॥

काश्मर्यामलकानां सकर्बुदारान् फलाम्लांश्च।
गृञ्जनकशाल्मलीनां क्षीरिण्याश्चुक्रिकायाश्च॥ २०२॥
न्यग्रोधशुङ्गकानां खडांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम्।
दध्नः सरेण सिद्धान् दद्याद् रक्ते प्रवृत्तेऽति॥ २०३॥

रक्तार्श में खडयूष का प्रयोग—(१) गम्भारी, आँवला और कचनार की छाल के क्वाथ से पकाये गये तथा अनार, इमली या नीबू के फल के रस से खट्टा किये हुए 'खडयूष' का सेवन करायें (२) अथवा गाजर और सेमर के पुष्प या छाल के क्वाथ से सिद्ध या (३) दूधिया के क्वाथ से सिद्ध या (४) तिनपतिया के क्वाथ से सिद्ध या (५) बर की जटा के क्वाथ से सिद्ध या (६) कचनार के फूलों के स्वरस या क्वाथ से दही के साथ बनाये गये खडयूष को रक्तार्श में रक्त के अधिक निकलने की स्थिति में रोगी को सेवन कराना चाहिए॥ २०२-२०३॥

वक्तव्य—तक्र, कैथ, तिनपतिया, मरिच, जीरा और चित्रक मिलाकर (मूँग की दाल को) पकाने से 'खडयूष' बनता है। यह पारिभाषिक शब्द है—'तक्रं कपित्थचाङ्गेरी मरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम्' (परिभाषाप्रदीप)। यहाँ भी इससे मिलते-जुलते खडयूषों का वर्णन किया गया है। इन सबको किसी खट्टे फल के रस से अम्ल बनाकर प्रयोग करना चाहिए।

सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम्।
रुधिरस्रवे प्रदद्यान् मसूरसूपं च तक्राम्लम्॥ २०४॥

रक्तार्श में रक्तस्राव होने पर योग—रक्तार्श में जब रक्त का स्राव हो रहा हो तो (१) मट्ठे के साथ प्याज का शाक या (२) पोई के शाक में खट्टी बेर मिलाकर मट्ठे से या (३) मसूर की दाल में खट्टा मट्ठा मिलाकर खिलाना चाहिए॥ २०४॥

पयसा शृतेन यूषैर्मसूरमुद्गाढकीमकुष्ठानाम्।
भोजनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम्॥ २०५॥

रक्तार्श में पथ्य—जब रक्तार्श के रोगी के अर्श के अंकुरों से रक्तस्राव हो रहा हो, तो उसे अगहनी चावल, सावाँ या कोदो का भात, गरम किये हुए दूध के साथ अथवा मसूर, मूँग या अरहर या मकोठ के यूष के साथ, जो यूष किसी खट्टे फल (अनार या नीबू) के रस से अम्ल बनाया गया हो, खाने को दे॥ २०५॥

शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैणेयकैः सुसिद्धैश्च।
भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत् समरिचैर्वा॥ २०६॥
दक्षशिखितित्तिरिरसैर्द्विककुदलोपाकजैश्च मधुराम्लैः।
अद्याद् रसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्बणशरीरः॥ २०७॥

रक्तार्श में मांस का प्रयोग—जब रक्तार्श के रोगी में वात की प्रधानता हो और मस्सों से रक्तस्राव अधिक हो रहा हो, तो उसे (१) खरहा, हरिण, लवापक्षी, गौरैया और एण जाति के मृग के मांसों को अच्छी तरह पकाकर, उसमें कुछ खट्टे, कुछ मीठे रसों का योग कर अथवा कुछ मरिचचूर्ण मिलाकर भात के साथ खाना चाहिए अथवा (२) मुर्गा, मोर और तीतर के मांसरस के साथ अथवा (३) ऊँट और लोमड़ी के मांसरस को थोड़ा खट्टा और थोड़ा मीठा बनाकर भात के साथ खाना चाहिए॥ २०६-२०७॥

रसखडयूषयवागूसंयोगतः केवलोऽथवा जयति।
रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलाण्डुरुपयुक्तः॥ २०८॥

रक्तार्श में रक्तस्राव रोधक पलाण्डु—मांसरस, खडयूष या यवागू के साथ प्रयोग करने से अथवा अकेले ही प्रयोग करने से प्याज रक्तार्श के बहते हुए रक्तस्राव को तथा वात की उग्रता को शान्त करता है॥ २०८॥

छागान्तराधि तरुणं सरुधिरमुपसाधितं बहुपलाण्डु।
व्यत्यासान्मधुराम्लं विट्शोणितसङ्क्षये देयम्॥ २०९॥

पलाण्डु मांसरस योग—जब रक्तार्श के रोगी के मल और रक्त की अधिक क्षीणता हो गयी हो, तो जवान बकरे के मध्य शरीर के मांस (कलेजी) को रक्त और बहुत-सी प्याज डालकर पकायें तथा कभी उसे मीठा बनाकर और कभी खट्टा बनाकर बारी-बारी से खाने के लिए देना चाहिए॥ २०९॥

नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शास्यपयान्ति रक्तानि॥ २१०॥

रक्तार्शनाशक नवनीत योग—(१) मक्खन के साथ काले तिलों का चूर्ण खाने से, (२) मक्खन के साथ नागकेशर चूर्ण और चीनी मिलाकर खाने से और (३) दही की मलाई को मथकर नित्य उसका सेवन करते रहने से रक्तार्श नष्ट हो जाते हैं॥ २१०॥

नवनीतघृतं छागं मांसं च सषष्टिकः शालिः।
तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा निहन्त्यग्रम्॥ २११॥

रक्तार्शनाशक कुछ द्रव्य—(१) मक्खन (२) गोघृत (३) बकरे का मांस (४) साठी चावल (५) अगहनी चावल का भात (६) ताजी सुरा का ऊपरी स्वच्छ भाग और (७) नयी सुरा—ये सब द्रव्य रक्तार्श को नष्ट करते हैं॥ २११॥

प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते।
दुष्टेऽपि च कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिको ज्ञेयः॥ २१२॥

रक्तार्श में वात की अधिकता—रक्तार्श में जब रक्तस्राव अधिक हो जाता है तब अर्शों में वातप्रकोप बढ़ जाता है। इसलिए कफ-पित्त के प्रकुपित होने पर भी वात को अधिक प्रकुपित हुआ जानना चाहिए॥ २१२॥

दृष्ट्वा तु रक्तपित्तं प्रबलं कफवातलिङ्गमल्पं च।
शीता क्रिया प्रयोज्या यथेरिता वक्ष्यते चान्या॥ २१३॥

रक्तपित्त प्रबल रक्तार्श में उपचार—जब रक्तार्श पीड़ित रोगी में रक्त और पित्त के प्रकोप के अधिक लक्षण दिखायी दें तथा कफ एवं वात के लक्षण अल्प दिखायी दें, तो पूर्व में कही गयी और आगे जो बतलायी जायगी, वह सब शीत चिकित्सा करनी चाहिए॥ २१३॥

मधुकं सपञ्चवल्कं बदरीत्वगुदुम्बरं धवपटोलम्।
परिषेचने विदध्याद् वृषककुभयवासनिम्बांश्च॥ २१४॥

शीतक्रिया के योग—(१) मुलहठी, पञ्चवल्कल (१. बर, २. पीपर, ३. पाकड़, ४. शिरीष और ५. पारसपीपल) की छाल, बेर की छाल, गूलर की छाल, धव की छाल और परवर की पत्ती, इन सबका क्वाथ बनाकर उससे अर्श के मस्सों का परिसेचन करना चाहिए। इसी प्रकार (२) अरूस के पत्ते, अर्जुन की छाल, यवासा और नीम की छाल के क्वाथ से अर्श के मस्सों का परिसेचन करना चाहिए॥ २१४॥

रक्तेऽतिवर्तमाने दाहे क्लेदेऽवगाहयेच्चापि।
मधुकमृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिष्क्वाथे॥ २१५॥
इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम्।
अवगाहयेत् प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन॥ २१६॥

रक्तार्श में अवगाहन—(३) जब रक्तार्श के रोगी के मस्सों से रक्त अधिक निकलता हो, गुदा में दाह और गीलापन हो, तो मुलहठी, खश, पद्माख, लालचन्दन, कुश और काश (सरपत-राड़ी) के मूल लेकर धो-साफकर इनका क्वाथ बनाकर और उस क्वाथ को किसी टब में डालकर उसमें रोगी का अवगाहन (लेटकर स्नान) कराना चाहिए। (४) इसी प्रकार गन्ने के रस एवं मुलहठी और बेंत के शीतल किये हुए क्वाथ में अथवा (५) शीतल दूध में अवगाहन करायें। अवगाहन के पूर्व शीतवीर्य औषधों से सिद्ध शीतल तैल के द्वारा मस्सों का मर्दन कर लेना चाहिए॥ २१५-२१६॥

दत्त्वा घृतं सशर्करमुपस्थदेशे गुदे त्रिकदेशे च।
शिशिरजलस्पर्शसुखा धारा प्रस्तम्भनी योज्या॥ २१७॥

रक्तार्श में धारासेक—(६) घी में महीन चीनी मिलाकर रोगी के मूत्रेन्द्रिय पर (शिश्नमुण्ड के चारों ओर) त्रिकप्रदेश और गुदा में लगाकर, उसे लेटाकर शीतल जल की स्पर्श में सुखद जलधारा उक्त स्थानों पर गिरायें। इस धारा से रक्तस्राव बन्द हो जाता है॥ २१७॥

कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः।
प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च॥ २१८॥

रक्तार्श में गुदा का आच्छादन—(७) शीतल जल से भिगोये गये केले के नये-नये कोमल पत्तों से एवं कमल के पत्तों से, लालकमल और नीलकमल के पत्तों से गुदप्रदेश को बार-बार आच्छादित कर ठण्डक पहुँचाता रहे। (इस प्रयोग से दाह और रक्तस्राव मिटता है)॥ २१८॥

दूर्वाघृतप्रदेहः शतधौतसहस्रधौतमपि सर्पिः।
व्यजनपवनः सुशीतो रक्तस्रावं जयत्याशु॥ २१९॥

समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम्।
सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां वा॥ २२०॥
दार्वीत्वक्सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम्।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः॥ २२१॥

रक्तार्श में प्रदेह-प्रलेप—(८) रक्तार्श के मस्सों पर दूब को बारीक पीसकर उसका स्वरस निकालकर घी मिलाकर लगायें अथवा (९) सौ बार धोया हुआ या हजार बार धोया हुआ घी लगायें और (१०) ठण्डे जल में भिगोये हुए पंखे से ठण्डी हवा देते रहने से मस्सों से रक्त का निकलना बन्द हो जाता है। (११) जब रक्तार्श में जलन, गीलापन या गुदभ्रंश (काँच निकलना) हो, तो मजीठ या लजैनी और मुलहठी को बारीक पीसकर मस्सों पर लेप करना चाहिए या (१२) कालातिल और मुलहठी का लेप करे या (१३) रसौंत और घी का लेप करे या (१४) सर्जरस और घी मिलाकर लेप करे या (१५) नीम की पत्ती का रस और घी मिलाकर लेप करे या (१६) मधु और घी का लेप करे या (१७) दारुहल्दी पीसकर घी के साथ लेप करे अथवा (१८) नीलकमलचूर्ण, लाल चन्दनचूर्ण और सफेद चन्दनचूर्ण को घी में मिलाकर मस्सों पर लेप लगायें या प्रतिसारण (घर्षण) करे॥ २१९-२२१॥

आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य तिष्ठति न रक्तम्।
तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान्॥ २२२॥
अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाऽभ्यङ्गैः।
क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैः समुपाचरेदाशु॥ २२३॥

रक्तार्श में स्निग्ध-उष्ण प्रयोग—(१९) पूर्व में कही गयी इन चिकित्सा-विधियों के प्रयोग से भी जब रक्तार्श का रक्तस्राव बन्द न हो, तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि उस रोगी को उष्ण एवं स्निग्ध मांसरसों का सेवन कराकर तृप्त करे एवं (२०) उसे भोजन के बाद घृतपान कराकर या अधिक मात्रा में घृत का सेवन कराकर (२१) किञ्चित् उष्ण घृत तथा तैल की मालिश कराकर तथा (२२) हल्के गरम दूध, घी और तैल का अवसेचन कराकर शीघ्र रक्तस्राव को बन्द करने का उपचार करे॥ २२२-२२३॥

कोष्णेन वातप्रबले घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम्।
पिच्छाबस्तिं दद्यात् काले तस्याथवा सिद्धम्॥ २२४॥

अनुवासन वस्ति का प्रयोग—(१) यदि रक्तार्श में वात की प्रधानता दृष्टिगोचर हो तो किञ्चित् उष्ण घृत द्रव की अनुवासन वस्ति का शीघ्र ही प्रयोग करना चाहिए अथवा (२) उचित समय पर अनुभूत पिच्छावस्ति देनी चाहिए॥ २२४॥

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलम्। न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः॥
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत् क्षीरप्रस्थं च साधयेत्। क्षीरशेषं कषायं च पूतं कल्कैर्विमिश्रयेत्॥ २२६॥
कल्काः शाल्मलिनिर्याससमङ्गाचन्दनोत्पलम्। वत्सकस्य च बीजानि प्रियङ्गुः पद्मकेशरम्॥
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः। प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः॥ २२८॥

पिच्छावस्ति—यवासा, कुश और काश की जड़ें, सेमर का फूल, बर, गूलर, पीपर के नये टूँसे (कोपल)—ये सभी द्रव्य २-२ पल लेकर मोटा कूटकर तीन प्रस्थ जल और १ प्रस्थ दूध में पकायें। जब मात्र दूध शेष रहे, तो उसे छानकर निकाल लें, फिर उसमें मोचरस, लज्जावन्ती, लालचन्दन, नीलकमल, इन्द्रजौ, फूलप्रियंगु और कमल की केसर को महीन चटनी की तरह पीसकर, घोलकर मिला दें। इसके साथ ही घी, मधु और चीनी भी अन्दाज से मिला लें। यह पिच्छावस्ति एक अनुभूत योग है, जो प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव और ज्वर को नष्ट करता है॥ २२५-२२८॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पिच्छाबस्तौ यथेरितान्। पिष्ट्वाऽनुवासनं स्नेहं क्षीरद्विगुणितं पचेत्॥ २२९॥
इति पिच्छाबस्तिः।

प्रपौण्डरीकादि अनुवासन—पुण्डरियाकाठ, मुलहठी और पूर्वकथित पिच्छावस्ति में जो कल्क द्रव्य बतलाये गये हैं, उन सबको पीसकर कल्क तैयार करे और कल्क से चौगुना तिल का तैल तथा तैल से दूना गाय का दूध डालकर स्नेहपाक करे और तैयार होने पर उस स्नेह से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए॥ २२९॥

ह्रीबेरमुत्पलं लोध्रं समङ्गाचव्यचन्दनम्। पाठा सातिविषा बिल्वं धातकी देवदारु च॥ २३०॥
दार्वीत्वङ् नागरं मांसी मुस्तं क्षारो यवाग्रजः। चित्रकश्चेति पेष्याणि चाङ्गेरीस्वरसे घृतम्॥
ऐकध्यं साधयेत् सर्वं तत्सर्पिः परमौषधम्। अर्शोऽतिसारग्रहणीपाण्डुरोगे ज्वरेऽरुचौ॥ २३२॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे बस्त्यानाहे प्रवाहणे। पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले योज्यमेतत्त्रिदोषनुत्॥ २३३॥
इति ह्रीबेरादिघृतम्।

ह्रीबेरादि घृत—सुगन्धबाला, नीलकमल, लोध, मजीठ, चाभ, लालचन्दन, पाठा, अतीस, बेलगिरी, धावा का फूल, देवदारु, दारुहल्दी, दालचीनी, सोंठ, जटामसी, नागरमोथा, जवाखार और चित्रकमूल—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर बारीक पीसकर चौगुने गोघृत में डाल दे और घी से चौगुना तिनपतिया का स्वरस डालकर पकायें। जब मात्र घी शेष रहे तो छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत रक्तार्श की श्रेष्ठ औषध है और त्रिदोषनाशक है। अर्श, अतिसार, ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, ज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, वस्ति के आनाह, प्रवाहिका, गुदा से पिच्छा स्राव (आँव आना) और अर्शों में शूल होने पर इस घृत का प्रयोग करना चाहिए॥ २३०-२३३॥

अवाक्पुष्पी बला दार्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः। न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः॥
कषाय एषां पेष्यास्तु जीवन्ती कटुरोहिणी। पिप्पली पिप्पलीमूलं नागरं सुरदारु च॥ २३५॥
कलिङ्गाः शाल्मलं पुष्पं वीरा चन्दनमुत्पलम्। कट्फलं चित्रको मुस्तं प्रियङ्ग्वतिविषास्थिराः॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः समङ्गा सनिदिग्धिका। बिल्वं मोचरसः पाठा भागाः कर्षसमन्विताः॥
चतुष्प्रस्थे भृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत्। त्रिंशत्पलानि प्रस्थोऽत्र विज्ञेयो द्विपलाधिकः॥ २३८॥
सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च। सर्वैरतैर्यथोद्दिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥ २३९॥
एतदर्शःस्वतीसारे रक्तस्रावे त्रिदोषजे। प्रवाहणे गुदभ्रंशे पिच्छासु विविधासु च॥ २४०॥
उत्थाने चातिबहुशः शोथशूले गुदाश्रये। मूत्रग्रहे मूढवाते मन्देऽग्नावरुचावपि॥ २४१॥
प्रयोज्यं विधिवत् सर्पिर्बलवर्णाग्निवर्धनम्। विविधेष्वन्नपानेषु केवलं वा निरत्ययम्॥ २४२॥
इति सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम्।

सुनिषण्णक चाङ्गेरी घृत—क्वाथ के द्रव्य—अवाक्पुष्पी (अन्धाहुली), बरियार की जड़, दारुहल्दी, पिठवन, गोखरू तथा बर-पीपर-गूलर (इन तीनों) के नये कोपल—इन द्रव्यों में प्रत्येक २-२ पल लेकर जौकुट कर ले और इन्हें ४ प्रस्थ जल में क्वाथ करे और १ प्रस्थ बचनें पर क्वाथ को छान ले। (यह स्मरणीय है कि इस घृत के निर्माण के सिलसिले में ३२ पल का १ प्रस्थ मानना चाहिए। सामान्य परिभाषा में १६ पल का १ प्रस्थ होता है)।

कल्क द्रव्य—जीवन्ती, कुटकी, पीपर, पिपरामूल, सोंठ, देवदारु, इन्द्रजौ, सेमर का फूल, शतावर, लालचन्दन, नीलकमल, कट्फल, चित्रकमूल, नागरमोथा, फूलप्रियंगु, अतीस, सरिवन, लालकमल की केसर, लज्जावन्ती, छोटी कटेरी, बेलगिरी, मोचरस और पाठा, इनमें से प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष लेकर कल्क बनायें।

तत्पश्चात् चौपतिया और तिनपतिया का मिलित स्वरस २ प्रस्थ, पहले का क्वाथ १ प्रस्थ और १ प्रस्थ घी में उक्त कल्क डालकर विधिवत् घृत पका ले। यह घृत बल, वर्ण तथा अग्नि को बढ़ाता है। इस घृत का सभी अर्शों में, अतिसार में, त्रिदोषज रक्तस्राव में, प्रवाहिका में, गुदभ्रंश में, गुदा से अनेक प्रकार के पिच्छा (आँव) स्राव में, बार-बार दस्त लगने में, गुदा में सूजन और शूल होने में, मूत्रावरोध में, वायु के रुकने में, मन्दाग्नि में और भोजन में अरुचि होने में विधिवत् प्रयोग करना चाहिए। इसका प्रयोग खाने-पीने की वस्तुओं के साथ अथवा अकेले भी किया जाना चाहिए। इस घृत का सेवन करने में किसी प्रकार के उपद्रव होने की आशंका नहीं होती है॥ २३४-२४२॥

भवन्ति चात्र—

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत्। नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शःकृतान् गदान्॥

अर्श में मधुर-अम्ल एवं शीत-उष्ण द्रव्यों का सेवन-क्रम—रोगी के चिकित्सक को चाहिए कि वह रुग्ण व्यक्ति की अग्नि के बल के अनुसार ही उसे कभी मधुर पदार्थ, कभी अम्ल पदार्थ और कभी शीत पदार्थ, कभी उष्ण पदार्थ बारी-बारी से बदल-बदल कर खाने को दे। अर्थात् एक ही साथ मधुर और अम्ल या शीत तथा उष्ण का सेवन न करायें। इस प्रकार रोगी के अग्निबल के अनुसार पथ्यव्यवस्था करने वाला वैद्य अर्शरोग से सम्बद्ध रोगों पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ २४३॥

त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः। अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च॥ २४४॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः। तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः॥ २४५॥

तीन रोगों का परस्पर निदानत्व—तीन रोग ऐसे हैं, जो प्रायः एक दूसरे के कारण बन जाते हैं और वे हैं—१. अर्श, २. अतिसार और ३. ग्रहणी विकार अर्थात् इनमें से किसी एक रोग के उत्पन्न होने पर अन्य दोनों रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। जब जठराग्नि का बल क्षीण होता है, तब इन रोगों की वृद्धि होती है और जब जठराग्नि प्रबल होती है तब इन रोगों का नाश हो जाता है। इसलिए इन तीनों रोगों की चिकित्सा करते समय जठराग्नि के बल की रक्षा करते हुए उसे बढ़ाना चाहिए॥ २४४-२४५॥

भृष्टैः शाकैर्यवागूभिर्यूषैर्मांसरसैः खडैः। क्षीरतक्रप्रयोगैश्च विविधैर्गुदजाञ्जयेत्॥ २४६॥

अर्श में पथ्याहार—घी-तैल से भुने हुए शाक खिलाकर या यवागू, यूष, मांसरस, खडयूष, दूध एवं मट्ठा आदि का सेवन कराकर अर्श रोग को नष्ट करना चाहिए। (ऐसे बहुत से प्रयोग पहले बतलाये गये हैं, उनमें से जिस रोगी के लिए जो अनुकूल पड़े उसके लिए उसका प्रयोग कर इस कष्टकर रोग को शान्त करना चाहिए)॥ २४६॥

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये। अन्नपानौषधद्रव्यं तत् सेव्यं नित्यमर्शसैः॥ २४७॥

अर्श रोग का विशिष्ट चिकित्सा सिद्धान्त—(मन्दाग्नि और अपानवायु का प्रतिलोम होना, ये दोनों अर्शरोग के विशेष कारण होते हैं, इसलिए) अर्श से पीड़ित रोगियों को वही खान-पान और औषध प्रयोग में लाना चाहिए, जो वायु का अनुलोमन कर उसे अपने मार्ग की ओर गतिशील बनाये और जो जठराग्नि के बल को बढ़ाये॥ २४७॥

यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यच्च दर्शितम्। गुदजाभिपरीतेन तत् सेव्यं न कदाचन॥ २४८॥

अर्श में अपथ्य—जो अन्न-पान या औषध द्रव्य वायु का अनुलोमन न करे और जठराग्नि के बल को न बढाये तथा अर्श रोग के निदान में जो बातें कही गयी हैं, अर्श के रोगी को कथमपि उनका सेवन नहीं करना चाहिए॥ २४८॥

तत्र श्लोकाः—

अर्शसां द्विविधं जन्म पृथगायतनानि च। स्थानसंस्थानलिङ्गानि साध्यासाध्यविनिश्चयः॥
अभ्यङ्गः स्वेदनं धूमाः सावगाहाः प्रलेपनाः। शोणितस्यावसेकश्च योगा दीपनपाचनाः॥
पानान्नविधिरग्र्यश्च वातवर्चोऽनुलोमनः। योगाः संशमनीयाश्च सर्पींषि विविधानि च॥
बस्तयस्तक्रयोगाश्च वरारिष्टाः सशर्कराः। शुष्काणामर्शसां शस्ताः स्राविणां लक्षणानि च॥
द्विविधं सानुबन्धानां तेषां चेष्टं यदौषधम्। रक्तसङ्ग्रहणाः क्वाथाः पेष्याश्च विविधात्मकाः॥
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो योगाश्च प्रतिसारणाः। प्रक्षालनावगाहाश्च प्रदेहाः सेचनानि च॥
अतिवृत्तस्य रक्तस्य विदातव्यं यदौषधम्। तत्सर्वमिह निर्दिष्टं गुदजानां चिकित्सिते॥ २५५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
अर्शश्चिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'अर्शचिकित्सित' नामक अध्याय में अर्शों की दो तरह से उत्पत्ति, उनके अलग-अलग कारण, उनके स्थान, उनके आकार, उनके लक्षण, उनके साध्य या असाध्य होने का निश्चय, उनका अभ्यंग (मालिश), स्वेदन, धूम, अवगाहन (स्नान), प्रलेप, रक्तस्राव कराना, दीपन-पाचन योग, अपानवायु और मल के अनुलोमक (सही दिशा में प्रवृत्त कराने वाले) श्रेष्ठ आहार तथा पेय पदार्थ, अर्श की उग्रता के शामक योग, अनेक प्रकार के घृत, अनेक प्रकार के वस्तियोग एवं तक्र के प्रयोग, उत्तम अरिष्ट, शर्करारिष्ट, शुष्क अर्श में हितकर प्रयोग, स्रावी अर्श के लक्षण, उनके दो प्रकार के अनुबन्ध और उनकी उत्तम औषध, रक्त को रोकने वाले क्वाथ, अनेक प्रकार के चूर्ण, श्रेष्ठ स्नेह विधि और आहार विधि, अनेक प्रतिसारण योग, प्रक्षालन, अवगाहन, प्रदेह और परिसेचन तथा अधिक रक्तस्राव होने पर प्रयोग करने योग्य औषध—ये सभी विषय बतला दिये गये हैं॥ २४९-२५५॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'अर्शश्चिकित्सित' नाम चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १४॥

अर्शश्चिकित्साक्रम-बोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
अर्श चिकित्सा के ४ प्रकार हैं—१. शस्त्रकर्म, २. क्षारकर्म, ३. अग्निकर्म और ४. औषध प्रयोग। इनमें प्रथम तीन शस्त्र, क्षार एवं अग्निकर्म कुशल एवं सिद्धहस्त शल्यविद् द्वारा ही किये जा सकते हैं। इनके करने में थोड़ी भी चूक हो जाने से भयंकर गुदभ्रंश, नपुंसकता, गुदशोथ, मलावरोध, आध्मान एवं शूल के साथ मृत्यु भी हो सकती है, इसलिए चरकसंहिता में हानिरहित, निरापद औषध चिकित्सा से ही उपचार करने का विधान बतलाया गया है, जिसे संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है— चिकित्सा की दृष्टि से अर्श के २ भेद किये गये हैं—१. शुष्कार्श और २. रक्तार्श या आर्द्र अर्श या परिस्रावी अर्श। **शुष्कार्श में उपचार** (बाह्य प्रयोग) **अर्श के मस्सों का स्नेहन-स्वेदन**—स्तब्धता और शूल होने पर, गुदा पर तैल लगाकर स्नेहयुक्त सुखोष्ण औषध कल्कों से पिण्ड बनाकर स्वेदन करना चाहिए। 'कुष्ठ तैल' का अभ्यंग करके मृदु पोटली से मृदु स्वेदन करे। **अवसेचन-धारासेक**—अरूस, मदार आदि के पत्तों के क्वाथ से अवसेचन या धारासेक करे। **अवगाहन**–शूल होता हो, तो तैलमर्दन कर मूली, त्रिफला, बाँस के पत्र आदि के क्वाथ को टब में भरकर रोगी को लिटाकर अवगाहन करायें।	**बाह्य औषधें—** **स्नेहन-अभ्यंग योग**–चित्रक की जड़, यवाखार एवं बेलगिरी के कल्क से सिद्ध तैल का या कुष्ठ के कल्क से निर्मित तैल का या तिल तैल या घी का अभ्यंग कर स्नेहन करना चाहिए। **स्वेदन योग**–जौ, उड़द, कुलथी की पोटली से या गाय, गधा, घोड़ा की लीद से या तिल की खली और भूसी से या कुछ गरम किये वच एवं सौंफ के कल्क से या सत्तू की पिण्डी से या सूखी मूली या सहिजन की छाल के पिण्ड से या रास्ना, हाऊबेर या अजवायन चूर्ण या गाजर के कल्क से स्वेदन करना चाहिए। **अवसेचन योग**–अरूस, मदार, एरण्ड और बिल्व के पत्तों के क्वाथ से अवसेचन या धारासेक करना चाहिए। **अवगाहन योग**–मूली, त्रिफला, मदार की पत्ती बाँस-वरुण-गनियार-सहिजन और पत्थरचूर की पत्ती के क्वाथ में अवगाहन करायें अथवा बेर के क्वाथ में सौवीरक या तुषोदक या बिल्वक्वाथ में या तक्र, दही के पानी या अम्ल काँजी या सुखोष्ण गोमूत्र में अवगाहन कराना चाहिए। **धूपन योग**—कृष्णसर्प-वराह-ऊँट, चमगादड़ तथा बिलार की चर्बी में से जो मिले उससे गुदा की मालिश करे। मनुष्य के बाल, सर्पकेंचुल, बिलार की त्वचा, मदार की जड़ और शमी	**तक्र का प्रयोग**–मन्दाग्नि वाले अर्श के रोगी को केवल तक्र दे या सायंकाल धान के लावा का सत्तू तक्र में घोलकर दे। उसके पचने पर सेंधानमक मिले तक्र के साथ लाजपेया पिलायें। रोगी की क्षुधा के अनुसार तक्र की मात्रा बढ़ायें और क्रमशः घटायें। एक माह तक तक्र दें। रोगी के दोषानुसार रूक्ष तक्र या अर्धरूक्ष या सस्नेह तक्र यथायोग्य दें। **शुष्कार्श में पेया**—पिप्पल्यादि पेया को अनार के रस से अम्ल बना घी-तैल से छौंककर पिलायें। **खडयूष**—पिप्पल्यादि द्रव्यों से ही खडयूष या जल या घी पकाकर दें। **यवागू**—कचूर और पलाशबीज के कल्क से या पीपर और सोंठ के कल्क से सिद्ध यवागू को खट्टा बना, मरिचचूर्ण मिलाकर सेवन करायें। **यूष और मांसरस**–सूखी मूली या कुल्थी या कैथ तथा बेलगिरी या कुल्थी और मोठ का यूष बनाकर उसमें मांस-रस मिलाकर या बटेर आदि के मांसरस में अनार का रस और तक्र तथा पाठा आदि ग्राही औषधों का कल्क

उपचार	औषध	पथ्य
अभ्यंग-धूपन–कृष्णसर्प, वराह आदि की चर्बी का गूदा में अभ्यंग करे तथा नरकेश तथा साँप की केंचुल आदि जलाकर मस्सों पर इनका धुआँ लगायें। **लेप**—हल्दी का चूर्ण और सेहुँड़ का दूध मिलाकर मस्सों पर लेप करे। तैलाभ्यंग से लेकर लेप लगाने तक के उपचारों से अर्श के मस्सों की स्तब्धता, शोथ, कण्डू और वेदना का शमन होता है। इन उपचारों से अर्श के मस्सों में संचित दुष्ट रक्त निकल जाता है, जिससे रोगी का कष्ट दूर हो जाता है। **अनुवासनवस्ति और प्रक्षालन**–उदावर्त, रूक्षता, शूल एवं वायु के विलोम होने पर अनुवासनवस्ति दें। शुष्कार्श के मस्सों को प्रक्षालित करने के लिए भांग की पत्ती को जल में उबालकर, छानकर उस गुनगुने जल से गुदा एवं अर्श के मस्सों का प्रक्षालन करना चाहिए। **रक्तस्राव**—जब शुष्कार्श के उपचार में शीत या उष्ण एवं स्निग्ध अथवा रूक्ष आहार-विहार एवं उपचार से रोग का शमन होता न दीख पड़े तो जोंक, शस्त्र या सूचीवेध से रक्त निकलवाना चाहिए।	पत्र का धुआँ मस्से में लगायें अथवा धनिया, वायविडंग, देवदारु, अक्षत और गोघृत जलाकर या कण्टकारी, असगन्ध, पीपर, तुलसीपत्र और गोघृत जलाकर या वराहविट्, बैल का गोबर, जौ का सत्तू और गोघृत जलाकर या हाथी की लीद, राल और गोघृत जलाकर धूपन करना चाहिए। **प्रलेप**—हरिद्राचूर्णादि लेप, पिप्पल्यादि लेप, शिरीषबीजादि लेप, दन्त्यादि लेप, गजास्थ्यादि लेप, हरतालाद्य लेप या अर्कक्षीराद्य लेप लगाना चाहिए। **आभ्यन्तर औषधें**—त्र्यूषणाद्य चूर्ण ३ ग्राम २ बार उष्णोदक से दे। अतिसार में प्रयोगयोग्य पाचन चूर्णों को दे। भोजन के पूर्व हर्रे और गुड़ दें। निशोथचूर्ण को त्रिफलाक्वाथ से या त्रिफला या हरीतकी चूर्ण तक्र से दे। सोंठ-चित्रकमूल चूर्ण सीधु से या चव्य-चित्रक-जीरा सीधु से या हाऊबेर-पाठाचूर्ण में सोंचरनमक मिला मदिरा से या कैथ-बिल्वगिरी, मदिरा से या बेलगिरी-सोंठचूर्ण, अजवायन और चित्रक क्वाथ से दे। या चित्रकमूल, हाऊबेर और भुनी हींग समभाग चूर्ण तक्र से दे। भोजन के बाद 'तक्रारिष्ट' ३० मि.ली. समान जल से पिलायें या चित्रकमूल कल्कलिप्त पात्र में जमाई हुई दही या तक्र पिलायें। वात एवं मल के अनुलोमनार्थ—घी में भुनी हर्रे और गुड़ या सोंठचूर्ण और राब या जौ का सत्तू नमक मिलाकर दे और सुरामण्ड पीने को दें।	मिलाकर देना चाहिए। **पथ्य अन्न**—अगहनी चावल महाशालि (उत्तम चावल) रोपा धान के चावल, क्वारी चावल, साठी चावल और तिन्नी के चावल का भात या पेया आदि खाने-पीने के लिए दे। **मांसरस**—वायु एवं मल के विबन्ध में मोर-तीतर-लवा-मुर्गा और बटेर के मांस को घी में भून कर मसाले तथा अनार के रस मिलाकर खिलायें। रूक्षता, मन्दाग्नि और वायु की प्रबलता में—गोहटी, लोमड़ी, बिलार, साही, ऊँट, गाय, कछुआ के मांस में खट्टे अनार के रस एवं दही मिलाकर घी-तैल में भून कर धनिया और सोंठ का चूर्ण मिलाकर खाने को दें। **शाक प्रयोग**—निशोथ, दन्ती, पलाश, तिनपतिया, चित्रक, पोई, चौराई, शतावर, बथुआ, हुरहुर, लोनी, जौ, बाकुची, मकोय, गुरुच, मानकन्द, जीवन्ती, कचूर और गाजर के शाक, दही और खट्टे अनार के रस में पकाकर, घी-तैल में भूनकर धनिया एवं सोंठ का चूर्ण मिलाकर खिलायें। **अनुपान**–मदिरा, सीधु, तक्र, तुषोदक, अरिष्ट, दही का पानी गरम या शीतल

उपचार	औषध	पथ्य
	अनार के रस में सोंठ और पाठा चूर्ण गुड़ मिलाकर या गोघृत में यवाखार और गुड़ मिलाकर दें। या अजवायन, सोंठ, पाठा चूर्ण को खट्टे अनार के रस, गुड़, तक्र, सेंधानमक मिलाकर पिलायें। **वेदना में**—पाठा, जवासा, बेलगिरी, जवायन और सोंठ का चूर्ण खिलायें। करंज पत्र को घी में भूनकर चूर्ण बनाकर जौ का सत्तू मिलाकर पिलायें। या सोंठ, सेंधानमक, गुड़ मिली मदिरा या सोंठ मिलाकर सीधु या सौवीर पिलायें। खट्टे अनार के रस में पीपर, सोंठ, जवाखार, मँगरैला, धनिया और जीरा का चूर्ण, राब तथा गोघृत मिलाकर पीने से अर्श नष्ट हो जाता है। **घृतप्रयोग**—पिप्पल्यादि घृत, पिप्पलीमूलादि घृत, चव्यादि घृत, द्वितीय एवं तृतीय पिप्पल्यादि घृत, और नागराद्य घृत का प्रयोग करे। **अनुवासन एवं निरूहवस्ति**—पिप्पल्यादि अनुवासनवस्ति दे या उन्हीं औषधों को पीसकर घी-तैल मिला हलका गरम कर लेप करे। या दशमूल के क्वाथ में गोदुग्ध गोमूत्र, तैल या घी, सेंधानमक और मदनफल आदि का कल्क मिलाकर निरूह वस्ति दे एवं अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, फलारिष्ट और कनकारिष्ट का यथोचित प्रयोग करे।	जल, कण्टकारी सिद्ध जल या सोंठ और धनिया डालकर पकाया गया जल पिलायें। ये सब वायु एवं मल का अनुलोमन करते हैं।

आर्द्र, स्रावी या रक्तार्श चिकित्सा

रक्तार्श चिकित्सासूत्र	रक्तावरोधक योग	रक्तार्श में पेया
रक्तार्श में यदि वात का अनुबन्ध हो तो स्निग्ध और शीतल आहार-विहार तथा औषध के द्वारा और कफ का अनुबन्ध हो तो रूक्ष और शीतल आहार-विहार और औषध द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। पित्त तथा कफ की अधिकता हो, तो वमन-विरेचन द्वारा संशोधन करना चाहिए। आरम्भ में रक्त को नहीं रोकें अन्यथा अनेक रोगों की सम्भावना हो जाती है। जब दुष्ट रक्त निकल जाये तब रक्त को बन्द करने का यत्न करे। इसके लिए अग्निदीपक एवं दोषपाचक तिक्तरस वाले द्रव्यों का प्रयोग करे। वातप्रधान एवं क्षीण दोष वाले व्यक्ति के रक्तस्राव को, स्नेहपान, अभ्यंग तथा अनुवासन वस्ति से ठीक करना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में पित्त की प्रधानता से रक्तस्राव हो और उसमें वात या कफ का अनुबन्ध न हो, तो उसे अवश्यमेव रोक दें। रक्तार्श में शूल हो, तो खट्टे अनार के रस में गोघृत और यवाखार मिलाकर पिलायें या दुद्धी या रेंगनी से	**क्वाथ**—कुटजत्वक् और सोंठ के क्वाथ में गोघृत पिलाना रक्तस्राव को रोकता है। अनार के फल की छाल, सोंठ और रक्तचन्दन, समभाग का क्वाथ गोघृत मिला कर पिलाने से रक्त गिरना बन्द हो जाता है। दारुहल्दी, दालचीनी, यवासा, सोंठ, इनके समभाग का क्वाथ गोघृत मिला कर दे। रक्तचन्दन, चिरैता, यवासा, सोंठ का क्वाथ गोघृत के साथ या अतीस, कोरया की छाल और इन्द्रजौ के समभाग के क्वाथ में रसौंत और गोघृत मिलाकर पिलायें। **कुटजादि रसक्रिया**—रोगी के बल के अनुसार मात्रा में बकरी के दूध से २-३ बार दिन में दें या मण्ड के साथ पिलायें। **चूर्ण**—नीलकमल, मजीठ, मोचरस, काला तिल, नागकेसर और लोध का चूर्ण बकरी के दूध से दें तथा पथ्य में दूध-भात खिलायें। बथुए के रस में बकरी का दूध पिलायें। **मांसरस**—जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस अनार के रस से खट्टाकर या यों ही खिलायें। पाठा, इन्द्रजौ, रसौंत, सोंठ, अजवायन और बेलगिरी का चूर्ण दे या दारुहल्दी, चिरैता, नागरमोथा और यवासा का चूर्ण दें। **घृत**—कुटजफलादि घृत का यथोचित प्रयोग करे। **तिलादि योग**—काला तिल और मक्खन, केसर, मक्खन और चीनी या दही की साढ़ी के तक्र के लगातार प्रयोग से अर्श नष्ट होते हैं। **परिसेचन**–मुलहठी, पञ्चवल्कल, बेर-गूलर की छाल, धावा का फूल, पटोलपत्र,	तिनपतिया, नागकेसर एवं नीलकमल के क्वाथ में धान के लावा की पेया बनाकर पिलायें। या— बरिआर की जड़ एवं पिठवन के क्वाथ से बनी लाजा की पेया दे। या— सुगन्धबाला, बेलगिरी और सोंठ के क्वाथ से बनी लाजपेया को अनार के रस या इमली या खट्टे बेर के रस से खट्टा बनाकर दें। या— गाजर और सुरा से सिद्ध घी-तैल में भुनी लाजपेया पिलायें। प्याज का शाक तक्र से या पोई के शाक में खट्टे बेर मिलाकर तक्र से या मसूर की दाल में खट्टा तक्र मिलाकर दें। **अन्न**—अगहनी या सावाँ-कोदो का भात औंटे गये दूध से या मसूर, मूँग, रहर या मोंठ के बनाये गये यूष को अम्ल बनाकर दें। **मांसरस**—खरहा, हरिण, लावा, गौरैया एवं मृग के मांस को पकाकर कुछ खट्टा तथा कुछ मीठा बनाकर, मरिच चूर्ण डालकर भात से खिलायें या— मुर्गा, मोर, तीतर के मांसरस या ऊँट या लोमड़ी के मांसरस से अन्न दे। अति रक्तस्राव एवं वात की

रक्तार्श चिकित्सासूत्र	रक्तावरोधक योग	रक्तार्श में पेया
सिद्ध गोघृत का सेवन कराना चाहिए। **विशेष व्यवस्था**—यदि शीतलोपचार से रक्तस्राव न रुके, तो स्निग्ध एवं उष्ण मांसरस से तृप्त करे। भोजनोत्तर घी दें। सुखोष्ण घी-तैल का अभ्यंग कुछ गरम दूध या घी-तैल से परिसेचन करे। यवासादि योग से पिच्छा वस्ति या प्रपौण्डरीकादि योग से अनुवासन वस्ति दे। **घृत**—सुनिषण्णक तथा चांगेरीघृत का सेवन करायें। बारी-बारी से शीत-उष्ण एवं मधुर एवं अम्ल पदार्थों का सेवन करायें। **निर्देश**—जो अन्नपान या औषध वायु का अनुलोमन करे और अग्नि को प्रदीप्त करे, अर्श के रोगी को उसी का नित्य सेवन करना चाहिए।	अरूसपत्र, अर्जुन की छाल, यवासा तथा नीम की छाल के क्वाथ से परिसेचन करना चाहिए। **अवगाहन**—मुलहठी, खश, पद्मकाठ, लालचन्दन, कुश, कास के क्वाथ को टब में भरकर रोगी को लेटाकर अवगाहन करायें। रक्तस्राव, दाह और क्लेद होने पर गुदांकुरों पर तैल का मर्दन कर गन्ने के रस या मुलहठी या बेंत के शीतल क्वाथ में या शीतल गोदुग्ध में अवगाहन करायें। **आच्छादन**—केला या कमलपत्र पर जल छिड़ककर उससे गुदा को आच्छादित कराते रहें। **शीतलेप-शीतवायु**—दूर्वा के रस शतधौत या सहस्रधौत घृत का प्रलेप तथा ठण्डे पंखे की हवा करे। **प्रतिसारण**—दाह, क्लेद या गुदभ्रंश हो, तो मजीठ, लजैनी, मुलहठी या कालातिल, मुलहठी या रसौत, गोघृत या राल और घी या मधु, दारुहल्दी, घी या लालचन्दन, श्वेतचन्दन या नीलकमल और घृत का अवघर्षण (प्रतिसारण) करना चाहिए।	प्रबलता हो, तो मांसरस खडयूष, यूष और यवागू में प्याज का रस देना चाहिए। मल तथा रक्त के अतिक्षय में—बकरे की कलेजी को रक्त के साथ पकाकर पर्याप्त मात्रा में प्याज का रस मिला कर कभी मधुर तो कभी अम्ल बनाकर दें। मक्खन, घी, बकरे का मांस, साठी और अगहनी चावल का भात, नूतन सुरा एवं नूतन सुरामण्ड, इनका बारी-बारी से प्रयोग करे।

१. रक्तार्श एवं रक्तातिसार का सापेक्ष निदान

रक्तार्श	रक्तातिसार
१. अर्श का इतिहास मिलेगा।	१. अर्श का इतिहास नहीं मिलेगा।
२. अंगुलि द्वारा गुद परीक्षा से मस्सों का स्पर्श होगा।	२. मस्से का स्पर्शानुभव नहीं होगा।
३. मलत्याग के पहले या बाद में रक्तस्राव होगा।	३. मल के साथ मिला हुआ रक्त आता है।
४. शौच करते समय गुदा में पीड़ा होगी।	४. गुदा में पीड़ा होना निश्चित नहीं है।
५. प्रायः गाढ़ा या कड़ा मल निकलेगा।	५. मल पतला निकलता है।

२. रक्तार्श एवं रक्तपित्त का सापेक्ष निदान

रक्तार्श	रक्तपित्त
१. रोग का प्राचीन इतिहास मिलेगा।	१. पुराना इतिहास नहीं होगा।
२. रक्तप्रवृत्ति गुदामार्ग से ही होती है।	२. गुदा, मुख, नासिका आदि से भी रक्त निकल सकता है।
३. अंगुलि द्वारा गुदापरीक्षण से मस्से मिलेंगे।	३. गुदपरीक्षण में मस्से नहीं मिलेंगे।
४. शौच आने के पहले या बाद में रक्तस्राव होता है।	४. बिना शौच के भी रक्त निकल सकता है।
५. शौच होते समय अतिकष्ट होता है।	५. इसमें मलोत्सर्ग में कष्ट नहीं होता है क्योंकि गुदा में मस्से नहीं होते।
६. रोगी को प्रायः अजीर्ण एवं विबन्ध रहता है।	६. इसमें विबन्ध नहीं होता है।
७. मलद्वार से निकले हुए रक्त से मिश्रित अन्न को कुत्ते या कौवे खा जाते हैं।	७. इस रक्त को कुत्ते या कौए नहीं खाते।
८. इसके रक्त से रंजित वस्त्र धोने पर स्वच्छ हो जायगा।	८. इसके रक्त का दाग नहीं छूटता है।
९. कम मात्रा में रक्त निकलता है।	९. रक्त अधिक मात्रा में निकलता है।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो ग्रहणीदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'ग्रहणीदोषचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—अर्श होने से ग्रहणी रोग होने की सम्भावना होती है; क्योंकि अर्श, अतिसार तथा ग्रहणी इनमें अग्निमान्द्य होता है एवं ये परस्पर एक-दूसरे के कारण भी बन जाते हैं, इसलिए अर्श के बाद ग्रहणीरोग का वर्णन किया गया है। ग्रहणी में होने वाले अग्निदोष को ही 'ग्रहणीदोष' कहते हैं। आश्रय ग्रहणी और आश्रयी अग्नि इन दोनों में अभेद मानकर ग्रहणीदोष शब्द से ग्रहणी में आश्रित अग्नि का दोष भी समझा जाता है।

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥३॥
शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः। रोगी स्याद्विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥ ४॥

प्राकृत अग्नि के कार्य—मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग (एवं चेतना का अस्तित्व), गौर-श्याम आदि वर्ण, शक्ति, शरीर का स्वस्थ बना रहना, कठिन कार्यों के करने की प्रवृत्ति का होना, देह की पुष्टि और वृद्धि, कान्ति, सर्वधातुसाररूप ओज, शरीर की ऊष्मा और वीर्य, सात धात्वग्नियाँ एवं पाँच भूताग्नियाँ और सभी प्राण (पाँच वायु अथवा अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व, रज, तम, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और भूतात्मा), ये देहपोषक जठराग्नि के समुचित क्रियाशीलता पर अवलम्बित है। क्योंकि जब जठराग्नि का व्यापार रुक जाता है, तो मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है और जब अग्नि सम रहकर अपना कार्य-व्यापार ठीक से चलाती रहती है, तब प्राणी नीरोग रहकर चिरकाल तक जीवित रहता है तथा जब अग्नि विकृत होकर मन्द, तीक्ष्ण या विषम हो जाती है, तो मनुष्य रोगी हो जाता है। इसलिए जीवित रहने तथा बल-वर्ण सम्पन्न एवं सुखी जीवन प्राप्त करने में अग्नि को निश्चयपूर्वक प्रधान कारण कहा जाता है॥ ३-४॥

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः॥५॥

शरीर पोषण में अग्नि का साक्षात् कारणत्व—आहार के रूप में खाया हुआ जो अन्न शरीर की धातुओं एवं ओज, बल तथा वर्ण आदि का पोषण करता है, उस पोषण-कार्य के सम्पादन में अग्नि ही प्रधान कारण है; क्योंकि यदि अग्नि आहार का समुचित रूप से पाचन न करे तो अपक्व आहार से रस-रक्त आदि धातुओं का उत्पादन नहीं हो सकता॥ ५॥

वक्तव्य—यहाँ ग्रहणीदोष वर्णन के प्रसङ्ग में अग्नि के दोषों एवं उसकी विकृतियों का वर्णन करना प्रासङ्गिक है; किन्तु यहाँ पहले अग्नि के प्राकृत कार्यों का ही वर्णन किया जा रहा है, क्योंकि जब अग्नि के प्राकृत कर्मों का (अविकृत अवस्था में किये जाने वाले कार्यों का) पहले से ज्ञान होगा, तब उसके विकृत अवस्था के कार्यों को जानने में आसानी होगी। अतएव यहाँ पहले अविकृत अग्नि के कार्यों का वर्णन किया गया है।

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तद् द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥ ६॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥ ७॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥ ८॥

अग्निकर्म में वायु का सहयोग और आहार का पाचन—जब मुख में ग्रास डाला जाता है, तो वह चर्वण-क्रिया एवं लाला-सम्मिश्रण होने से मृदु हो जाता है, सूक्ष्म और गोलाकार हो जाता है। आहार

को गृहीत कर आकृष्ट करने वाला (आदानकर्मा) प्राणवायु आहार के ग्रास को मुखगुहा से गले में वहाँ से अन्नप्रणाली में और वहाँ से हार्दिकद्वार होकर आमाशय में प्रविष्ट करता है। आमाशय प्रविष्ट आहार मुख के लालास्राव के मिश्रण, आमाशयिक रस, आहार के साथ पिये गये जल आदि द्रव द्रव्य एवं आमाशयगत क्लेदककफ के स्नेहांश (एवं आमाशयिक चेष्टा आदि) से कुचला जाकर शिथिल, मृदु, छिन्न-भिन्न और द्रवरूप में हो जाता है। बुभुक्षाकाल में आहार विधि-विधान के अनुसार मात्रा-प्रकृति आदि का विचार कर सेवित आहार को समान वायु की प्रेरणा से संधुक्षित जठराग्नि अच्छी प्रकार से पचाती है, जिससे 'शरीर-इन्द्रिय-मन-आत्मा संयोग' रूप आयु का अस्तित्त्व स्थापित रहे और आयु की वृद्धि हो।

जिस प्रकार बटलोही में रखे गये जल के साथ चावल को चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे आग की आँच देने से अग्नि चावल को भात बना देती है, उसी तरह आमाशयस्थ आहार को आमाशय के अधोभाग में स्थित जठराग्नि पका देती है, जिससे आहारपाचन के फलस्वरूप आहार रस और मल भाग का निर्माण होता है। आहार का प्रसाद भाग रस और शेष भाग मल बन जाता है॥ ६-८॥

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड् रसस्य प्रपाकतः। मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते॥ ९॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥ १०॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। पारिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः॥ ११॥

तीन अवस्थापाक और कफ, पित्त एवं वायु की उत्पत्ति—

प्रथम (मधुर) अवस्थापाक—भोजन के तत्काल बाद षड्रसयुक्त आहार के अन्न का आमाशय में जब प्रथम पाक होता है, तो सम्पूर्ण अन्न माधुर्ययुक्त हो जाता है और कफवर्धक मधुर-अम्ल-लवण तथा पिच्छिल, द्रव, स्निग्ध आदि गुणयुक्त आहार हो, तो विशेष कफ की वृद्धि और उक्त गुणयुक्त आहार की न्यूनता होने पर स्वभावतः मधुर अवस्थापाक में कफ की उत्पत्ति कम होती है (कफ बढ़कर कष्टकर न हो, इसीलिए भोजन के बाद पान खाने का विधान किया गया है)। मधुर आहार रस के निर्माण से फेन के रूप में (न द्रव, न घन) कफ उत्पन्न होता है।

द्वितीय (अम्ल) अवस्थापाक—प्रथम मधुरपाक के बाद जब द्वितीय अवस्थापाक में समस्त आहार अर्धपक्व (विदग्ध) होकर अम्ल हो जाता है; आमाशय में अर्धपक्व अन्न सम्पूर्ण पाक के लिए जब आमाशय से च्युत होकर ग्रहणी में जाता है, तो अम्लता के प्रभाव से ग्रहणी में स्वच्छ और पतले पित्त का स्राव होता है और पित्त की वृद्धि होती है। उस समय पित्ताशय से विशुद्ध पित्त उत्पन्न होकर आहार में मिलता है।

तृतीय (कटु) अवस्थापाक—जब ग्रहणी में पाक और रस का शोषण होने के अनन्तर मलरूप में शेष आहार पक्वाशय में पहुँचता है, तो अग्नि द्वारा शोषित होकर पिण्डरूप को प्राप्त होता है और कटुरसयुक्त हो जाता है। एवञ्च मल की रूक्षता तथा कटुरसता के कारण वात की वृद्धि या उत्पत्ति होती है। इसे कटु अवस्थापक कहते हैं॥ ९-११॥

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि[1] ने 'अवस्थापाक' का 'विपाक' के साथ विरोध का सन्देह उठाकर उसका समाधान भी किया है, जिसका सारांश दिया जा रहा है—अवस्थापाक और विपाक या निष्ठापाक दोनों

---

१. चक्रपाणि ने तन्त्रान्तर से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं, जो अवस्थापाक के विषय में भिन्न मत प्रकट करते हैं; जैसे—अन्न का अग्नि के संयोग से मधुरादि रस नहीं होता, अपितु आमाशय आदि कफ आदि दोषों के स्वाभाविक स्थान हैं। अपने स्थान में आये अन्न को ये रस अपने प्रभाव से अपने जैसा बना लेते हैं, अतएव स्थानों में उस-उस दोष की वृद्धि होती है; यथा—

मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः। ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्धनः॥
नाभीहृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः। स्वभावेन ततः पित्तं मनुष्याणां विवर्धते॥
अधो नाभ्यास्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः। प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः॥
तस्माद्विपाकास्त्रिविधो रसानां नात्र संशयः। (च. चि. १५।९-११ पर चक्रपाणि)

का काल भिन्न होता है तथा दोनों का स्थान-भेद भी है। अवस्थापाक आमाशय आदि भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न कालों में होता है। उस-उस अवस्थापाक में उत्पन्न हुए रसों के अनुसार उस-उस दोष की वृद्धि होती है। प्रत्येक अवस्थापाक में आहार में ग्रहण किये गये सभी रस अपने द्रव्य में अपने रूप में रहते हैं। अन्न के अन्तिम रूप से पच जाने पर आहार द्रव्यों के रस के अनुसार उनका अलग-अलग विपाक होता है। विपाक प्रत्येक द्रव्य का जठराग्नि द्वारा पाक या रूपान्तर होने पर उसमें विद्यमान रस का सूचक होता है, जबकि अवस्थापाक उस-उस स्थान में पाक की अवस्थावश हुए सम्पूर्ण आहार के रस को प्रकट करता है।

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक्। देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनीन्द्रियाणि च।

प्रिय एवं हित आहार से इन्द्रियों का पोषण—मनपसन्द और हितकारक गन्ध-रूप-रस-शब्द-स्पर्श से युक्त आहार का उपयोग शरीर में आश्रित गन्ध-रूप-रस-शब्द-स्पर्श को पोषण प्रदान करता है और घ्राण-नेत्र-जिह्वा-श्रोत्र और स्पर्शन, इन इन्द्रियों को प्रसन्न, तृप्त और पोषित करता है। (स्मरणीय है कि आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक माना गया है। उनके प्रतिक्षण होने वाले क्षय की पूर्ति के लिए उक्त गुण सम्पन्न आहार की महती उपयोगिता है)॥ १२॥

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन्पचन्ति हि[1]॥

भौतिक अग्नि का कार्य—शरीर में (१) भूमि से उत्पन्न भौम, (२) जल से उत्पन्न आप्य, (३) अग्नि से उत्पन्न आग्नेय, (४) वायु से उत्पन्न वायव्य और (५) आकाश से उत्पन्न नाभरस, ये पाँच ऊष्माएँ (अग्नियाँ) हैं। ये पाँचों क्रम से पार्थिव आदि आहार के गुणों को पचाती हैं अर्थात् (१) पार्थिव आहार को पार्थिव अग्नि, (२) जलीय आहार को आप्याग्नि, (३) आग्नेय आहार को आग्नेय ऊष्मा, (४) वायव्य आहार को वायव्याग्नि और (५) नाभस आहार को नाभसाग्नि पचाती है। (यद्यपि आयुर्वेद में सभी द्रव्यों को पाँच भौतिक माना गया है, फिर भी जिस द्रव्य में जिस भूत की अधिकता पायी जाती है, उसे उसी भूत के नाम से जाना जाता है)॥ १३॥

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः[2]।

१. **चक्रपाणि टीका**—भौतिकवह्निव्यापारमाह—भौमेत्यादि। भौमादयः पञ्चोष्माणः पार्थिवादिद्रव्य-व्यवस्थिता जाठराग्निसन्धुक्षितबला अन्तरीयं द्रव्यं पचन्तः स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पूर्वपार्थिवगन्धत्वादिविलक्षणान् गुणान् निर्वर्तयन्ति। एतदेव 'विविधमशितपीतलीढखादितं जन्तोर्हितमन्तराग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्वि-पच्यमानम्' (सू. अ. २८) इत्यादिना सूत्रस्थानेऽप्युक्तम्। यद्यपि भूताग्निना पार्थिवादिद्रव्यं पच्यते, तथापि पार्थिवादि द्रव्याणां पाकेनैतदेव जननं यद्विशिष्टगुणयुक्तत्वं, तेन पाकेन जन्यमानेऽपि द्रव्ये गुणा एव जन्यन्त इत्यभिप्रायेण पार्थिवादीनाहारगुणान् जनयन्तीत्युच्यते। अनेन गुणजननमेवाग्निनोच्यते, न द्रव्यजननम्। किंवा आहाराश्च गुणाश्चेति विग्रहादाहारशब्देन आहाराधिकरणरूपं द्रव्यमपि गृह्यते। पार्थिवादीनिति पार्थिवाप्यतैजसवायवीयनाभसान्। तत्र जाठराग्निः सर्वानेवाहाररसमलविपाकान् पचति, भौतिकास्त्वग्नयः स्वान् स्वान् गुणान् जनयन्ति। उक्तं च—'जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद् भूताग्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति' इति। अयं भूताग्निव्यापारो धातु-ष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पञ्चभूतानि सन्ति। तत्रापि धात्वग्निव्यापारो भूताग्निव्यापारश्च जाठराग्निक्रमेणैवोक्तो ज्ञेयः।

२. **चक्रपाणि टीका**—अग्निपक्वानाहारगुणानाह—यथेत्यादि। यथास्वमिति यद्यस्यात्मीयं; सजातीया द्रव्यगुणा सजातीयान् द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति। तेन द्रव्याणि पार्थिवादिद्रव्यरूपाणि देहधातुदोषमलाख्यानि पुष्णन्ति, गुणास्तु पाकस्थितगन्धस्नेहौष्ण्यगौरवादयः देहगन्धस्नेहौष्ण्यगौरवादीन् पुष्णन्ति। यथास्वमित्यादिशब्दार्थं स्फोटयति—पार्थिवा इत्यादि। पार्थिवा आहारद्रव्यगुणा देहगतान् पार्थिवानेव द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति। आहारद्रव्यगुणा इत्यत्र द्रव्यगतगुणा एव उच्यन्ते। द्रव्यपोषणं तु गुणपोषणेन लभ्यते, गुणपोषणं द्रव्यपोषणमन्तरा कर्तुमशक्यत्वात्।

आहार द्रव्यों के गुण देहद्रव्य गुणों के पोषक—पञ्चमहाभूतात्मक आहार द्रव्यों के गुण अपने अनुरूप पाञ्चभौतिक देहद्रव्यों का पोषण करते हैं। आहारगत पञ्चभूताग्नियों से शरीरगत पञ्चमहाभूताग्नियों का पोषण होता है एवं पार्थिव आहारद्रव्यों के गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर आदि गुण शरीरद्रव्य के गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर आदि पार्थिव गुणों का पोषण करते हैं। इसी प्रकार आहारद्रव्यों के शेष जलीय आदि गुण शरीर के जलीय आदि गुणों का पोषण करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण देह का अग्नि द्वारा परिपक्व आहार-गुणों से पोषण होता रहता है॥ १४॥

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ १५॥

धात्वग्नियों का व्यापार—शरीर का धारण तथा पोषण करने वाली सात धातुएँ हैं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र)। इन धातुओं की अपनी-अपनी अग्नि होती है, जो सात हैं—१. रसाग्नि, २. रक्ताग्नि, ३. मांसाग्नि, ४. मेदोऽग्नि, ५. अस्थ्यग्नि, ६. मज्जाग्नि और ७. पुरुषों में शुक्राग्नि तथा स्त्रियों में आर्तवाग्नि। इन धातुओं का अपनी स्वयं की अग्नियों से पाक होता है, जिसके परिणामस्वरूप उनसे प्रसाद भाग तथा किट्टभाग बनते हैं॥ १५॥

वक्तव्य—शरीर की धातुओं का पोषण आहाररस के पुनः-पुनः पाक से होता है, जैसे—जठराग्नि से आहार का पाक होने पर आहार रस बनता है वैसे ही रसधातु की अग्नि से रसधातु का पाक होने पर उसके प्रसाद भाग से अपना तथा रक्तधातु का पोषण होता है एवं उपधातु स्तन्य और आर्तव का पोषण होता है और किट्टांश कफ है। एवं रक्त का पित्त, मांस के मल, कर्ण-नासिका-नेत्र-मुख तथा बाह्य जननेन्द्रियों में रहने वाले मल, मेद का स्वेद, अस्थि के केश-श्मश्रु-रोम तथा नख एवं मज्जा के मल नेत्र तथा त्वचा के स्नेह हैं। शुक्र सहस्रों बार शुद्ध किये गये स्वर्ण के समान होने से मलहीन होता है। कुछ का कथन है कि शुक्र का मल श्मश्रु है, क्योंकि जिन पुरुषों के अण्डकोश निकाल दिये जाते हैं उनकी श्मश्रु झड़ जाती है; परन्तु ऐसा नहीं है। यद्यपि श्मश्रुविहीन पुरुषों में भी शुक्र होता है, अतः श्मश्रु शुक्र का मल नहीं है।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः[1]॥
रसात्स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः॥

१. **चक्रपाणि टीका**—पाकजन्यानां रसादीनामुत्पादं क्रमेणाह—रसादित्यादि। रसाद्रक्तं प्रसादजं, ततो रक्तान्मांसं प्रसादजं, मांसान्मेदः प्रसादजमित्यादि यावच्छुक्रादगर्भः प्रसादज इति। प्रसादजशब्देन रसादिभ्यः प्रसादांशजन्या रक्तादयः, किट्टांशजन्यास्तु वक्ष्यमाणाः कफादय इति। शुक्रात्तु निर्मलतया प्रसादज एव गर्भो भवति, न तु मलजन्यं किञ्चित्। केचित्तु शुक्रमलतया श्मश्रूणि वदन्ति; तन्न, तन्त्रेऽनभिधानात्, तथा शुक्रमलं यदि श्मश्रूणि स्युस्तदा स्त्रीणामपि सशुक्रतया श्मश्रूणि भवेयुः; स्त्रियश्च सशुक्रा एव, परं तासां शुक्रं गर्भारम्भकं न भवतीत्यादि प्रतिपादितं प्राक्। अन्ये तु गर्भप्रसादजशब्देन नपुंसकेन ओजोऽभिदधति। प्रसादज इत्यत्र जातशब्दः पोषण एव वर्तते, नापूर्वोत्पादे; रक्तादयो हि गर्भात्प्रभृत्येवोत्पन्ना रसादिभिः पोष्यन्ते; (रक्तादयो हि गर्भप्रभृत्येव पोष्यन्ते)। तत्र च त्रिधातूत्पादे व्याख्यातारो वर्णयन्ति—तत्र रसः स्वाग्निपच्यमानो रक्ततां याति, रक्तं मांसतामित्यादि पूर्वपूर्वधातुपरिणामादुत्तरोत्तरधातूत्पादः, यथा क्षीराद्दधि भवति, दध्नो नवनीतं, नवनीताद् घृतं, घृताद् घृतमण्डः, **इत्येकः पक्षः**। किं वा रस एव रक्तं प्रथमं प्लावयति, तत्र च रक्तस्थानसम्बन्धाद्रक्तसादृश्यमनुभवति, रक्तं च रक्तसमानेनांशेन पोषयति; ततो रक्तमाप्लाव्य मांसमाप्लावयति, तत्रापि मांसपोषणं करोति, मांससादृश्यतामनुभवति; एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति वर्धयति च; यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीं तर्पयित्वा क्रमेण केदारिकान्तराणि आप्लावयति (इति द्वितीयः पक्षः)। किं वा आहाररस उत्पन्नो भिन्नैरेव मार्गे रसरुधिरादीनि

(क्रमशः)

रसादि धातुओं की निर्माण-प्रक्रिया—(आहार का जठराग्नि द्वारा पाक होने पर अन्नरस बनता है और अन्नरस से रसधातु की वृद्धि होती है) (१) रसधातु का रसाग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म भाग से रक्तधातु का निर्माण होता (और स्थूल अंश से रस का पोषण होता है)। (२) रक्तधातु का रक्ताग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म भाग से मांस धातु बनती है (और स्थूल अंश से रक्त का पोषण होता है)। (३) मांसधातु का मांसाग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म अंश से मेदोधातु बनती है (और स्थूल अंश से मांस का पोषण होता है)। (४) मेदोधातु का मेदोऽग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म अंश से अस्थिधातु बनती है (और स्थूल अंश से मेद का पोषण होता है)। (५) अस्थिधातु का अस्थ्यग्नि से पाक होने पर मज्जाधातु बनती है (और स्थूल अंश से अस्थि का पोषण होता है)। (६) मज्जाधातु का मज्जाऽग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म अंश से शुक्रधातु बनती है (और स्थूल अंश से मज्जा का पोषण होता है)। (७) शुक्रधातु का शुक्राग्नि से पाक होने पर उसके सूक्ष्म अंश से ओज बनता है (और स्थूल अंश से शुक्र का पोषण होता है)। शुक्र के प्रसाद अंश से गर्भ का निर्माण होता है।

उपधातुओं का निर्माण या पोषण[1]—रसधातु के प्रसाद अंश से स्त्रियों के स्तन में दूध एवं रजःसंज्ञक रक्त बनता है। रक्तधातु से कण्डराएँ (स्थूल स्नायु) और सिरायें बनती हैं। मांसधातु से वसा और छः त्वचाओं की उत्पत्ति होती है। मेदो धातु से (सूक्ष्म) स्नायु और सन्धियाँ बनती हैं॥ १६-१७॥

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने 'धातुओं की उत्पत्ति या पोषण में एक विशेष क्रम या आनुपूर्वी है' इसकी विवेचना में तीन मतों का उद्धरण दिया है, जिनके नाम ये हैं—**१. क्रमपरिणाम पक्ष या सर्वात्म-परिणाम पक्ष या क्षीरदधिन्याय, २. केदारीकुल्यान्याय** और **३. खलेकपोतन्याय**। 'सभी धातुओं की पुष्टि रस के द्वारा अपनी-अपनी अग्नि की सहायता से होती है'—इस विषय में आचार्यों में एकमत्य या सहमति है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व-पूर्व धातु की पुष्टि हो चुकने के पश्चात् उत्तर-उत्तर धातुओं की पुष्टि शेष रस से होती है, इस विषय में मतभेद है।

समानेनांशेन तर्पयति, तत्र च यः प्रत्यासन्नो धातुस्तत्पोषको धातुभागस्तं शीघ्रं पुष्णाति, यस्तु विदूरो धातुस्तस्य विदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति, एवं भिन्नैरेव मार्गैर्धातूनां पोषणं भवति; यथा खले उत्पतितानां कपोतानां भिन्नदिग्गामिनां स्वीयस्वीयमार्गेणैव गच्छतां गम्यदेशस्य प्रत्यासन्नविप्रकृष्टत्वादिभेदेन शीघ्रं चिरेण च गमनं भवति, तद्वत्। इति **क्षीरदधिन्याय-केदारीकुल्यान्याय-खलेकपोतन्यायात् त्रेधा धातुपोषणक्रमः**। तत्रेह शब्दार्थ-पर्यालोचनया केदारीकुल्यान्यायः क्षीरदधिन्यायो वा संगत एव, खलेकपोतन्यायस्तु मनाग्दुर्घटः। तस्मिन् हि पक्षे रसाद्रक्तं प्रसादजमित्यर्थव्युत्पादनं दुःशकमिति। प्रपञ्चितं चैतद्विविधाशितपीतीये, तत्रैवानुसरणीयः प्रपञ्चः। ननु, विविधाशितपीतीये आहाररसाद् रसादिपुष्टिरुक्ता 'पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिर' (सू० अ० २८) इत्यादिना, तत्र रसद्वयं स्वीकृतम्, इह त्वेक एव रसपोषको रस इति कथं न विरोधः? मैवं, तत्रापि आहाररसशब्देन आहारजः प्रसादोऽभिधीयते, स च रसग्रहणगृहीत एव। यतो द्विविधो रसः—स्थायी, पोषकश्चेति; तेन तत्र धातुपोषक-पोष्यरसांशयोर्भेदविवक्षया भेद उक्तः, इह स्थायीपोषकरसांशावप्येकतया निर्दिष्टौ, स्थायिरसपोषकरसभागयोः स्थानभेदाद्यभावादेकत्वम्, एवं कृत्वा सप्तधातुकं शरीरमुच्यते। एतदपि विविधाशितपीतीये एव प्रपञ्चितम्।

१. यहाँ उपधातुओं एवं धातुओं का जो 'बनना' कहा गया है, उसका आशय पोषण से है, क्योंकि इनका निर्माण तो गर्भ में ही हो जाता है।

उपधातु संज्ञा का कारण—चक्रपाणि द्वारा उद्धृत 'भोज' वचन में यह कहा गया है कि सिरा, स्नायु, रजःस्तन्य और त्वचा, इनकी उत्पत्ति धातुओं से होती है और ये गतिहीन होते हैं, अतः ये उपधातु कहे जाते हैं—सिरास्नायुरजःस्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातवः।

(१) क्रमपरिणाम पक्ष—इस पक्ष के आधार कुछ मूलश्लोक हैं, किन्तु निर्णयसागरीय चरकसंहिता में एक सम्पादकीय टिप्पणी में इस प्रकार कहा गया है—'इत्युक्तवन्तम्' (च० चि० १५।२२) इत्यादिः 'स्थलान्निम्नादिवोदकम्' (च० चि० १५।३५) इत्यन्तः पाठश्चक्रदत्तेनाव्याख्यातत्वादनार्ष इति प्रतिभाति।

इस प्रकार क्रमपरिणाम पक्ष प्रतिपादक ग्रन्थ के अनार्ष कथन से इस 'धातुपोषण-क्रम' विषय पर स्वतन्त्र विचार के लिए अवसर प्राप्त होता है।

अन्नरस से रसादि धातुओं के पोषण के विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि जैसे दूध समूचा-का-समूचा दही के रूप में परिणत हो जाता है, दही नवनीत के रूप में और नवनीत घृत के रूप में परिणत होता है वैसे ही अन्नरस रसधातु से मिश्रित होकर सर्वात्मना रसधातु के रूप में परिणत हो जाता है, रसधातु रसाग्नि से पक्व होकर रक्त के रूप में, रक्त मांस के रूप में, इस प्रकार पूर्व-पूर्व धातु अपने-अपने अग्नि से पक्व होकर उत्तर-उत्तर धातुओं के रूप में सर्वात्मना परिणत होता जाता है। इस पक्ष को क्रमपरिणाम पक्ष या सर्वात्मपरिणाम पक्ष या क्षीरदधिन्याय कहते हैं।

खण्डन और समाधान—चरक-सूत्रस्थान (अ० २८।४) की टीका करते हुए चक्रपाणि ने इस पक्ष का खण्डन करते हुए कहा[1] है कि इस पक्ष के अनुसार यदि प्रत्येक पूर्वधातु का उत्तर धातु के रूप में सर्वात्मना परिणत होने की बात स्वीकार कर ली जाय, तब तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि तीन-चार दिन अनशन करने के बाद शरीर में रसधातु सर्वथा नहीं रहेगा और नीरस होने से शरीर मृत हो जायगा। इसी प्रकार यदि एक महीने तक अन्न का सेवन न किया जाय, तब तो शेष धातुओं का निर्माण बन्द हो जाने से, इस अवधि में सभी धातुओं के शुक्र के रूप में परिणत हो चुकने पर शरीर में केवल शुक्र ही शेष रह जायेगा और शरीर शुक्रमय हो जायेगा। परन्तु व्यवहार में ऐसा होते देखा नहीं जाता है। इसलिए यह पक्ष अप्रामाणिक है।

डल्हणाचार्य ने सु० सू० अ० १४।१० पर टीका करते हुए क्रमपरिणाम पक्ष के दोष का समाधान करते हुए कहा है कि अपनी-अपनी अग्नि से पाक होने पर सम्पूर्ण पूर्वधातु उत्तरधातु तथा उपधातु के रूप में नहीं परिवर्तित हो जाता। किन्तु सार अंश के दो भाग होते हैं—१. स्थूल अंश तथा २. सूक्ष्म अंश। स्थूल अंश से स्वयं उसी धातु का पोषण होता है और सूक्ष्म अंश से उत्तर धातु और उपधातु बनती है। इस प्रकार पूर्वधातु उत्तर धातु की पुष्टि होते हुए पूर्वधातु का सम्पूर्णतया क्षय नहीं होता है। एवञ्च पूर्वधातु के तीन भाग[2] होते हैं—१. सूक्ष्म भाग (उत्तर धातु), २. स्थूल भाग (स्वयं पूर्वधातु) और ३. मल।

उदाहरण के रूप में धातुपोषण प्रक्रिया यह है कि अन्नपान का जठराग्नि से पाक होकर सार अन्नरस बनता है तथा मल (पुरीष), मूत्र और अधोवायु बनते हैं। अन्नरस रसधातु से मिलकर उसकी वृद्धि करता है। रसधातु का रसाग्नि से पाक होकर सूक्ष्म भाग रक्तधातु तथा आर्तव एवं स्तन्य उपधातु बनते हैं, स्थूल भाग रसधातु तथा मल, कफ और लसीका। इसी प्रकार अन्य धातुओं का भी अपनी अग्नि से पाक होने पर उत्तर धातु और स्वयं का पोषण तथा उपधातु एवं मल बनते हैं।

(२) केदारीकुल्यान्याय—इसका आशय यह है कि रस ही साक्षात् प्रत्येक धातु के आशय में जाकर उसे पोषक सामग्री देकर पुष्ट बनाता है। जैसे—किसी खेत में जल को प्रवाहित किया जाय, तो वह सम्पूर्ण जल पहले निकटतम क्यारी में जाता है और उस क्यारी को भरकर आगे बढ़ता है, फिर अगली क्यारी को तृप्त करता है, फिर अगली क्यारी को भरता है। इस प्रकार शेष जल से अग्रिम-अग्रिम क्यारियों में जल भरता है। इसी तरह रस द्वारा धातुओं के पोषण की भी प्रक्रिया है।

---

१. एषु च पक्षेषु सर्वात्मपरिणामपक्षो विरुद्ध एव। येन सर्वात्मपरिणामे त्रिचतुरोपवासेनैव नीरसत्वाच्छरीरस्य मरणं स्यात्; मासोपवासे च केवलं शुक्रमयं शरीरं स्यात्।

२. स्थूलाण्वंशमलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा। स्वः स्थूलोंऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः॥
(सु० सू० १४।१० पर डल्हण टीका)

प्रथम रसधातु रक्तधातु के आशय में जाता है। रक्तस्थान के संसर्गवश वह रक्त के सदृश गन्ध, वर्ण तथा उसकी संज्ञा प्राप्त करता है तथा रक्त के पोषण के अनुरूप सामग्री रक्त को देकर उसे पुष्ट करता है। तत्पश्चात् रक्त सदृश एवं रक्तसंज्ञा वाला रक्त मांसधातु के अधिष्ठान में जाकर मांस के पोषण के अनुरूप सामग्री देकर उसे पुष्ट करता है और उससे सदृश होकर उसका नाम ग्रहण करता है। इस प्रकार उस धातु के सम्पर्कवश उसके सदृश हुआ रस ही शेषांश से उत्तर-उत्तर धातु की पुष्टि करता जाता है। चक्रपाणि का कथन है कि चरक ने 'रसाद्रक्तं' इस वचन द्वारा, सुश्रुत ने 'स खल्वाप्यो रसः' इत्यादि (सु० सू० १४।४) वचनों द्वारा तथा हारीत ने 'रसः सप्ताहादर्वाक्' इत्यादि वचन द्वारा इसी पक्ष की पुष्टि की है। चक्रपाणि ने केदारीकुल्यान्याय के प्रति अपनी सहमति व्यक्ति की है—'स्वरसस्त्वस्माकं केदारी कुल्यान्याये'।

सुश्रुताचार्य ने सुश्रुत-शारीरस्थान ७।४ में स्पष्ट ही कहा है—'इदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभिरुपस्निह्यते'।

(३) खलेकपोतन्याय—इस मत के अनुसार अन्नरस ही साक्षात् सभी धातुओं की पुष्टि करता है। एक धातु के पोषक रस का अन्य धातु के पोषक रस के साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार किसी खलिहान में दाना चुगने के लिए एकत्र हुए कबूतर दाना चुग लेने के बाद अपने-अपने आवास को जाने के लिए जब उड़ते हैं, तो जिसका स्थान जितना दूर होता है उसका मार्ग भी उतना दूर होता है, अतः उसके आवास तक पहुँचने में उसी के अनुसार समय लगता है। इस प्रकार प्रत्येक कबूतर को अपने आवास तक पहुँचने में भिन्न-भिन्न समय लगता है; कोई शीघ्र पहुँचाता है, तो कोई देर से पहुँचता है। इस पक्ष के अनुसार यही स्थिति धातुओं के पोषण की भी है।

अन्नरस विभिन्न धातुओं में विभिन्न मार्गों से पहुँचता है। जो धातु दूर होगी उसमें अन्नरस देर से और जो धातु निकट होगी उसमें शीघ्र अन्न रस पहुँचेगा। पूर्व-पूर्व धातु की अपेक्षा उत्तर-उत्तरधातु का पोषकमार्ग सूक्ष्मतर होता है। इस कारण भी पूर्वधातु की अपेक्षा उत्तरधातु के पोषण में अधिक समय लगता है। आचार्य चरक ने 'स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना' (च० चि० ८।३९) इस कथन से प्रत्येक धातु का पृथक् स्रोत होता है, यह स्वीकार किया है।

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं, मांसस्य खमला, मलः स्वेदस्तु मेदसः॥ १८॥
स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नो, मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम्। प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवंविधर्च्छतः॥

परस्परोपसंस्तब्धा धातुस्नेहपरम्परा।

धातुओं के किट्ट या मल—आहारान्न का मल पुरीष और मूत्र हैं। रसधातु का पाक होने पर उसका मल कफ बनता है, रक्त का मल पित्त है, मांस के मल कान-नेत्र-नासिका-मुख एवं जननेन्द्रिय के मल हैं, मेद का मल स्वेद है, अस्थि के मल केश और रोम हैं, मज्जा का मल स्नेहांश और नेत्र का कीचड़, त्वचा का मल है। इस प्रकार धातुओं का अपनी अग्नियों से पाक होने पर ये दो पदार्थ—१. प्रसाद भाग और २. किट्ट भाग बनते हैं। ये दोनों परस्पर उपस्नेहन से एक-दूसरे को धारण करते हैं॥ १८-१९॥

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु[1] हि॥ २०॥

१. चक्रपाणि टीका—वृष्यादिद्रव्याणां धातुपरम्पराक्रमेण शुक्रजननादिकार्यं निषेधयन्नाह—वृष्यादीनामित्यादि। आदिशब्देन बल्यभेदनादीनि ग्राहयति। वृष्यादीनां क्षीरादिद्रव्याणां प्रभावो बलमाशु पुष्णाति। ततस्ते क्षीरादयः प्रभाववर्धितबलाः शीघ्रमेवान्नकार्यं शुक्रजननादि कुर्वन्ति, न यथोक्तधातुक्रमेणेत्यर्थः। किं वा वृष्यादीनां क्षीरादिद्रव्याणां यः प्रभावः स आशु बलं पुष्णाति स्वजन्यानां शुक्रादीनामित्यर्थः। हि शब्दोऽवधारणे एवं वृष्यादीनां प्रभावाच्छुक्राद्युत्पत्तिः शीघ्रं भवति।

वृष्य आदि द्रव्यों की पाकक्रिया में क्रम भंग—वृष्य, बल्य, भेदन, विषघ्न एवं मूढगर्भ तथा जरायु के निष्क्रामक द्रव्यों की क्रिया, इनके प्रभाव (अचिन्त्य शक्ति) से शीघ्र पौरुषप्रद, बलप्रद एवं भेदन आदि होती है॥ २०॥

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्।

धातुपरिवर्तन की अवधि—कुछ आचार्य रस की उत्पत्ति के प्रथम दिन को न गिनकर छः दिन-रात में रस से शुक्र की उत्पत्ति या पुष्टि मानते हैं। यदि रसोत्पत्ति के दिन को भी गिना जाय, तो छः दिन व्यतीत हो जाने पर सातवें दिन रस का शुक्र के रूप में परिवर्तन होना जानना चाहिए।

सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्[1]॥ २१॥

रसादि धातु-परिवर्तन विषयक निज मत—आहार ग्रहण करने के बाद उत्पन्न अन्न रस से रसादि धातुओं की उत्पत्ति चक्रवत् निरन्तर होती रहती है॥ २१॥

वक्तव्य—अन्नरस प्रत्येक धातु के पोषणार्थ अनवरत पहुँचता रहता है, फिर भी धात्वग्नि या भूताग्नि बल के न्यूनाधिक होने से उन-उन धातुओं के निर्माण में भिन्न-भिन्न काल लगता है। अतः धातुओं के परिवर्तन में कोई काल का नियम नहीं लागू होता। अपितु जैसे कुएँ से पानी निकालने के लिए लगाया गया हाथ का पम्प, उसके चलाने वाले के बल के अनुसार थोड़े समय में अधिक जल या अधिक समय में अल्प जल निकालता है, तद्वत् तीक्ष्ण, मध्य या मन्द अग्नि वाले व्यक्तियों में धातु-परिवर्तन का काल अल्प, मध्य या अधिक हो सकता है।

इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत्। रसाद्रक्तं विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते॥ २२॥
रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्। द्रवाद्रक्तात् स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम्।
द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः सम्भवः कथम्। श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु।
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा। मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते॥ २५॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः। तथाऽस्थिमध्यमज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम्॥ २६॥
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम्।

धातुपरिवर्तन विषयक प्रश्नावली—इस प्रकार से आचार्य पुनर्वसु के कहने पर शिष्य अग्निवेश ने उनसे कहा—(१) शरीर में रक्त से असमान रसधातु से रक्त कैसे बनता है? जब रस में लालिमा नहीं होती, तो उससे लालवर्ण का रक्त कैसे बन जाता है? (२) मनुष्यों के द्रव रक्त से स्थिर मांस कैसे बनता है? (३) ठोस मांस से द्रव मेद का निर्माण कैसे होता है? (४) मांस और मेद, ये दोनों धातुएँ तो चिकनी होती है, तो फिर इनसे बनी अस्थियों में कठिनता क्यों हो जाती है? (५) कठिन अस्थियों के

१. स्वमतमाह—सन्तत्येत्यादि। भोज्ये उपयुक्ते सति धातूनां रसादीनां चक्रवत् परिवृत्तिर्भवति = अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां भवति। चक्रदृष्टान्तेन तु परिवृत्तिकालानियमं दर्शयति; यथा चक्रं पानीयोद्धरणार्थं नियुक्तं बाह्यमानं बाहुबलप्रकर्षात् कदाचिदाश्वेव परिवर्तते, कदाचिद् बाहुबलमान्द्याच्चिरेण, एवं धातवोऽपि अग्न्यादिसौष्ठवाच्छीघ्रमेव परिवर्तन्ते, अग्न्यादिवैगुण्ये चिरेण परिवर्तन्ते इति। एवं सुश्रुतेनापि 'शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीरं केवलम्' (सु० सू० १४।१६)। 'शब्दादिदृष्टान्तत्रयेण तीक्ष्णमध्य मन्दाग्नयो निर्दिष्टाः। शब्दसन्तानवत्तीक्ष्णाग्नीनां रसः सञ्चरति, अर्चिः सन्तावन्मध्याग्नीना, जलसन्तानवन्मन्दाग्नीनामिति। तेन तीक्ष्णाग्नीनामष्टाहेनैव रसः शुक्री भवति (डल्हण टीका)। 'इत्यत्र दृष्टान्तत्रयेण रसपरिणामोऽपि अग्न्यादिभेदेन प्रकृष्टापकृष्टकालज उक्त एव। तत्र हि जलसन्तानदृष्टान्तेन चिरेण मासपर्यन्तेन शुक्रतापत्तिः रसस्योक्ता; शब्दसन्तानदृष्टान्तेन तु नातिशीघ्रं नातिचिराच्च शुक्रोत्पत्तिरुक्ता, अर्चिःसन्तानदृष्टान्तेन त्वतिशीघ्रं शुक्रोत्पत्तिरुक्ता। तथान्यत्राप्युक्तं—केचिदाहुरहोरात्रात् षड् रात्रादपरे परे। मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति'। तदेतत्सकलं चक्रदृष्टान्तेन गृहीतं ज्ञेयम्।

बीच में चिकनी तथा मृदु मज्जा का निर्माण कैसे हो जाता है? (६) जब मज्जा से ही उसके परिणामस्वरूप शुक्र बनता है, तो विद्वान् लोग उसे सर्वशरीर व्यापक कैसे कहते हैं? (७) यदि मनुष्यों के अस्थि मध्यस्थित मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है, तो अस्थियों में तो छिद्र दिखायी नहीं पड़ता, तो फिर उनमें से वह शुक्र किस प्रकार निकलता है?॥ २२-२६॥

एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम्॥ २७॥

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति॥ २८॥
वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्। स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत्॥
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते। पृथिव्यग्न्यनिलादीनां सङ्घातः स्वोष्मणा कृतः॥
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्। करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः॥ ३१॥
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः। तस्मान्मज्जास्तु यः स्नेहः शुक्रं सञ्जायते ततः॥
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु। तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम्॥
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात् समन्ताच्छुक्रवाहिभिः। हर्षेणोदीरितं वेगात् सङ्कल्पाच्चं मनोभवात्॥
विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्।
बस्तौ सम्भृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम्[1]॥ ३५॥

धातुपरिवर्तन सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान—इस प्रकार शिष्य अग्निवेश के पूछने पर गुरुप्रवर आत्रेय महर्षि ने प्रश्नों का यह उत्तर दिया—(१) सभी मनुष्यों के आहाररस के प्रसादभाग से उत्पन्न जिस रस को तेज कहा जाता है, वह रस रसाग्नि द्वारा परिपक्व होकर (यकृत् एवं प्लीहा से आये हुए) रञ्जक पित्त की ऊष्मा के साहचर्य से एवं उसके रंग से रँगा जाकर **रक्त** के स्वरूप को प्राप्त करता है (एवं रसाग्नि, पित्तोष्मा तथा पित्त के रंग के मिलने से रस रक्तत्व प्राप्त करता है)। (२) पूर्वोक्त रक्त वायु, जल, अग्नि-तथा अपनी रक्ताग्नि से परिपक्वावस्था में घना या स्थिर होकर **मांस** बन जाता है। (३) वह मांस अपनी मांसाग्नि से परिपक्व और अपने तेज तथा जल के स्निग्ध गुण से सम्पन्न होकर **मेद** बन जाता है। (४) मेदो धातु अपनी अग्नि से परिपक्व होकर और पृथिवी, अग्नि और वायु के संयोग से स्थिर तथा कठिन बनकर **अस्थि** बन जाती है। (५) वायु अस्थियों में छिद्र बना देता है और वे छिद्र मेद से भर जाते हैं। और वह मेद का स्नेहांश **मज्जा** कही जाती है। (६) उस मज्जा के स्नेह भाग से **शुक्र** बनता है एवं वायु-आकाश आदि तत्त्वों से ही अस्थियों में छिद्र बनते हैं और जैसे नये घड़े के अतिशय सूक्ष्म छिद्रों से जल का स्राव होता रहता है, उसी तरह उन छिद्रों से शुक्र का स्राव होता है। वह शुक्र मन की कामवासना से उत्पन्न संकल्प तथा प्रहर्ष (कामुकता) से प्रेरित होकर सम्पूर्ण शरीर में स्थित शुक्रवाही स्रोतों से बहने लगता है। जिस प्रकार गर्मी पाकर जमा हुआ घी पिघलकर द्रव बन जाता है, वैसे ही मैथुन के व्यायाम की गर्मी से पिघलकर अपने स्थान से च्युत हुआ वीर्य वस्ति में एकत्र होता है और जैसे ऊँचे स्थान से जल गिरकर नीचे की ओर बहने लगता है, वैसे ही शुक्र भी उपर्युक्त कारणों से मूत्रमार्ग से बाहर निकलने लगता है॥ २७-३५॥

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥ ३६॥

एककाल धातुपोषण—बिखेरना-फेंकना-फैलाना ही जिसका स्वाभाविक कार्य है, वह व्यान वायु एक साथ ही रस धातु को समस्त शरीर में निरन्तर फेंकता रहता है॥ ३६॥

वक्तव्य—पहले कही गयी धातुपोषण प्रक्रिया के सन्दर्भ में क्रमपरिणाम, क्षीरदधिन्याय और खले कपोतन्याय का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ चौथे **एककालधातुपोषण पक्ष** का लेख दिया गया है।

१. 'इत्युक्तवन्तं' से लेकर 'स्थलान्निम्नादिवोदकम्' (सूत्र २२ से ३५) तक की चक्रपाणि ने टीका नहीं की है, अतः कुछ लोग इस अंश को अनार्ष मानते हैं।

'अरुणदत्त' ने अपनी टीका (अ० हृ० शा० ३।६२) में पूर्व पक्ष के रूप में इस पक्ष का उल्लेख किया है—'आहाररसादेककालं सप्तसु धातुस्रोतःसु प्रवेशिताद् रसरक्तादयो धातव उत्पद्यन्ते इति एककालधातुपोषण-पक्षः'; किन्तु इस पक्ष में दोष दिखलाकर 'युगपत्' का अर्थ लिया है।

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः। करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥ ३७॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्। इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्म भाषितम्॥ ३८॥

स्रोतोवैगुण्यजन्य रससंवहनावरोध रोग का कारण—व्यानवायु के द्वारा रस समस्त शरीर में फेंका जाता है। जब किसी स्रोत के विकार से रससंवहन बाधित हो जाता है, तब वह वहाँ रुककर रोग उत्पन्न करता है, जैसे कि वायु द्वारा नीयमान आकाश संचारी बादल जहाँ रुकते हैं, वहाँ ही बरसने लगते हैं। इसी प्रकार समस्त देह संचारी दोष शरीर में जहाँ रुकते हैं वहाँ ही रोग उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार पाँच भूताग्नियों, सात धात्वग्नियों और अन्न को पचाने वाली जठराग्नि—इन सबका कर्म कह दिया गया॥ ३७-३८॥

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः। तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥ ३९॥
तस्मात्तं विधिवद् युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः। पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः॥ ४०॥

जठराग्नि की प्रधानता—शरीरस्थ सभी त्रयोदश अग्नियों में अन्न को पचाने वाली जठराग्नि ही सबकी स्वामिनी है, क्योंकि वे भी इस पर ही अवलम्बित हैं। इसी से उनको भी बल मिलता है और उन सब अग्नियों का बढ़ना या घटना जठराग्नि के बढ़ने-घटने पर निर्भर है। इसलिए 'आहारविधिविधान' के अनुसार हितकर एवं सन्तुलित अन्नाहार तथा पेयरूपी इन्धन के प्रयोग से सावधान होकर जठराग्नि का पालन करना चाहिए। शरीर में जठराग्नि की समुचित स्थिति होने पर ही शरीर में आयु, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, उत्साह, वृद्धि और कान्ति आदि का अस्तित्व रहता है॥ ३९-४०॥

यो हि भुङ्क्ते विधिं त्यक्त्वा ग्रहणीदोषजान्मदान्। स लौल्याल्लभते शीघ्रं वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ते॥

भोजन की लोलुपता से ग्रहणी विकार—जो व्यक्ति शास्त्रकारों द्वारा बतलाये गये भोजन सम्बन्धी नियमों की अवहेलना कर अपनी जिह्वा की लोलुपता के वशीभूत होकर अविधि भोजन करते हैं, वे शीघ्र ही ग्रहणी की विकृति से होने वाले रोगों से ग्रस्त और त्रस्त हो जाते हैं। अब आगे उन ग्रहणीरोगों का वर्णन किया जायगा॥ ४१॥

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात्। असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसन्दुष्टभोजनात्॥ ४२॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात्। देशकालर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात्॥ ४३॥
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि। अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्॥ ४४॥

ग्रहणी विकार के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति—भोजन न करने से, अजीर्ण होने से, अधिक बार या अधिक मात्रा में भोजन करने से, विषम (कभी ठीक समय पर, कभी देर से, कभी कम, कभी अधिक एवं अनियमित) प्रकार से भोजन करने से, प्रकृति के अनुकूल न पड़ने वाला आहार करने से, अधिक भारी, अधिक शीत और अधिक रूक्ष आहार करने से, दूषित आहार करने से, विरेचन, वमन और स्नेहपान के मिथ्यायोग के कारण, किसी दीर्घकालीन रोग से शरीर के कृश हो जाने से, देश के व्यापन्न होने से, संवत्सर या वर्ष के व्यापन्न होने से, ऋतुओं के अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग से और मल-मूत्रादि के वेगों के रोकने से जठराग्नि दूषित हो जाती है। वह दूषित अग्नि अल्प मात्रा में और लघुगुणयुक्त आहार को भी ठीक से नहीं पचा पाती है और वह न पचा हुआ अन्न अम्ल बन जाता है एवं विष की तरह अनेक विकारों का जनक होता है॥ ४२-४४॥

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा। शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः॥ ४५॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम्। अरोचकोऽविपाकश्च, घोरमन्नविषं च तत्॥

संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान्। जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान्गदान्॥ ४७॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान्कफसङ्गतम्। करोति वातसंसृष्टं वातजाश्च गदान् बहून्॥ ४८॥
मूत्ररोगाश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्। रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान्॥

अजीर्ण के सामान्य लक्षण—उस अजीर्ण के ये लक्षण हैं—विष्टम्भ (अन्न का बिना पचे रुका रहना), शरीर में थकावट होना, शिर में पीड़ा, मूर्च्छा, चक्कर आना, पृष्ठ और कटि प्रदेश में जकड़ाहट, जम्भाई आना, अंगों में दर्द होना, प्यास लगना, ज्वर होना, वमन होना, बार-बार शौच होना, भोजन में अरुचि होना और भोजन का न पचना। भोजन का जो अंश नहीं पचता है, वह भयङ्कर उपद्रव करने वाला आमविष बन जाता है। जब वह आमविष दोष-धातु-मलों से संसृष्ट होता है, तो अपने संसर्ग के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षणों को प्रकट करता है। जैसे—**१. पित्ताजीर्ण लक्षण**—जब पित्तदुष्टिजन्य आमविष होता है, तो वह शरीर में जलन, प्यास की अधिकता, मुख के रोग, अम्लपित्त तथा अन्य पित्तज रोगों को उत्पन्न करता है। **२. कफाजीर्ण लक्षण**—जब कफदुष्टिजन्य आमविष होता है, तो वह राजयक्ष्मा, पीनस और प्रमेह आदि कफज रोगों को उत्पन्न करता है। **३. वाताजीर्ण लक्षण**—जब वातदुष्टिजन्य आमविष होता है, तो वह अनेक प्रकार के वातरोगों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार वह आमविष मूत्र में मिलकर मूत्रसम्बन्धी रोगों को, मल में मिलकर पक्वाशय आदि के रोगों को और रसादि धातुओं में मिलकर रसादि धातुओं में होने वाले रोगों को उत्पन्न करता है॥ ४५-४९॥

वक्तव्य—जो आहार नहीं पचता है, वह जब अम्लीभूत हो जाता है, तो वह विष की तरह विकार करने वाला होता है। आहार का अविपाक घोर अन्नविष है। सामान्यतः भोजन का न पचना ही अजीर्ण है, किन्तु इस अजीर्ण के कारण वातादि दोषों के भयंकर उपद्रव होते हैं, जिनमें कदाचित् प्राण भी संकटापन्न हो जाता है। विसूचिका और अलसक आदि रोग भी अजीर्ण से ही उत्पन्न होते हैं। चरकसंहिता एवं वाग्भट में अजीर्ण का स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता। अपितु यहाँ ग्रहणीचिकित्सित अध्याय में अजीर्ण का वर्णन किया गया है। सुश्रुत ने (सूत्र० ४६।४९८) १. आम, २. विदग्ध, ३. विष्टब्ध और ४. रसशेष, इन चार प्रकार के अजीर्णों का वर्णन किया है, किन्तु माधवकर ने इनके अतिरिक्त ५. दिनपाकी और ६. प्राकृत अजीर्ण का भी वर्णन किया है।

मधुकोषकार ने (अजीर्णनिदान ५-६ की टीका में) कहा है कि चरक ने अन्नविष नामक अजीर्ण का पाठ किया है, किन्तु वह पित्तादि से युक्त रसशेषाजीर्ण का ही एक प्रवृद्ध रूप है। अतः इसका पृथक् पाठ नहीं किया गया है—'चरके तु···अन्नविषाख्यमजीर्णपठितं, तच्च पित्तादिसंसृष्टरसशेषाजीर्णमेवेति व्याचक्षते, तेन रसशेष एवं तस्यान्तर्भाव इति न पृथक् पठितम्'। 'शुद्ध डकार आने पर भी जिसमें भोजन की इच्छा नहीं होती, हृदयप्रदेश में भारीपन रहता है और मुँह में पानी भरा-सा लगता है, उसे (रसशेषजन्य) चतुर्थ **रसशेषाजीर्ण**[1] कहते हैं।

सुश्रुत ने भी कहा है कि जब वातादि दोषों से विबद्ध थोड़ा-सा आम शरीर के एकाध स्रोत में लीन होकर पित्त के मार्ग को नहीं रोकता है, तब अजीर्ण होने पर भी भूख लगती है (परन्तु उस झूठी भूख में भोजन कर लेने से) वह भूख विष की तरह उस मन्द बुद्धि मनुष्य के प्राणों की ग्राहक बन जाती है[2]।

१. उद्गारशुद्धावपि भक्तकांक्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य।
रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम्॥ (सु० सू० ४६।५०२)

२. स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं लीनं न तेजः पथमातृणोति।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति॥ (सु० सू० ४६।५१२)

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्। तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः॥ ५०॥
युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्। दुर्बलो विदहत्यन्नं तद् यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा॥ ५१॥

चतुर्विध अग्नियों का व्यापार—१. जब जठराग्नि कभी तो आहार को ठीक से पचाती, कभी नहीं पचाती या विदग्ध कर देती है, तो उसके इस अनियत कार्य से शरीर की धातुओं में भी विषमता हो जाती है, उसे **विषमाग्नि** कहते हैं। २. जब जठराग्नि तीक्ष्ण होती है और उसे पर्याप्त मात्रा में आहार-रूपी इन्धन नहीं उपलब्ध होता, तो वह शरीर की धातुओं का शोषण करती है, उसे **तीक्ष्णाग्नि** कहते हैं। ३. जब जठराग्नि अपने सही रूप में सम रहती है, तो वह विधि-विधान के अनुसार उचित मात्रा में किये गये आहार का ठीक-ठीक पाचन कर शरीर में धातुओं को सम रखती है, उसे **समाग्नि** कहते हैं। ४. जब जठराग्नि मन्द और दुर्बल होती है, तो वह अन्न का सम्यक् पाचन नहीं कर उसमें विदाह (अम्लता) उत्पन्न करती है एवं वह विदग्ध अन्न या तो वमन द्वारा बाहर हो जाता है अथवा विरेचन के द्वारा अधोमार्ग से बाहर निकलने का प्रयास करता है, उस अग्नि को **मन्दाग्नि** कहते हैं॥ ५०-५१॥

अधस्तं पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः। उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते॥ ५२॥

मन्दाग्निव्यापार ही ग्रहणीरोग—जठराग्नि के मन्द होने से जब गुदामार्ग से पका हुआ या बिना पचे ही आहारांश निकलने लगता है, तो इस स्थिति को ग्रहणीरोग कहते हैं, जिसमें प्रायः सम्पूर्ण आहार विदग्ध होकर अम्ल हो जाता है॥ ५२॥

अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते। तृष्णारोचकवैरस्यप्रसेकतमकान्वितः॥ ५३॥
शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः। लोहामगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते॥ ५४॥

ग्रहणीरोग के लक्षण—ग्रहणी का रोगी कभी पतला, कभी बँधा हुआ और कभी केवल द्रव (पानी) जैसा मल त्याग करता है। वह प्यास, अरुचि, मुख के फीकापन, मुख से पानी गिरते रहना और तमकश्वास, इन व्याधियों से पीड़ित रहता है। उसके हाथ-पैर फूल जाते हैं। उसकी अस्थियों और जोड़ों में पीड़ा होती है। उसे वमन होता है। उसे लोहे को गरम कर आग में बुझाने पर उठने वाली गन्ध या आम (अपक्व अन्न) जैसी गन्ध से युक्त तिक्त तथा अम्ल (कच्ची) डकार भी आने लगती है॥ ५३-५४॥

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः। विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम्॥

ग्रहणीरोग का पूर्वरूप—प्यास की अधिकता, आलस्य होना, शरीर में बल का ह्रास होना, आहार का पाक न होकर विदाहजनक होना, आहार का विलम्ब से पाचन होना और शरीर में भारीपन होना, ये सब ग्रहणीरोग के पूर्वरूप हैं॥ ५५॥

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता॥ ५६॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥ ५७॥

'ग्रहणी' नाम की सार्थकता—(यह पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित है) यह अग्नि का आश्रयस्थल है और यह अन्न को ग्रहण करती है इसलिए इसे 'ग्रहणी' कहा जाता है। वह नाभि के ऊपर होती है और अग्नि के बल पर अवलम्बित और उसी से पुष्ट रहती है। वह आमाशय से न पचे हुए अन्न को धारण करती है और पके हुए अन्न को अपने पार्श्व भाग से छोड़ती है। जब ग्रहणी का अग्निबल मन्द या क्षीण हो जाता है, तो वह दूषित होकर अपक्व अन्न को ही आगे बढ़ा देती है॥ ५६-५७॥

वक्तव्य—उक्त सन्दर्भ के अनुरूप ही अष्टाङ्गसंग्रह (शा० ५) में भी उल्लेख है—'षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था। सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च विमुञ्चति। दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव। ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणी संज्ञा। बलं च तस्याः पित्तमेवाऽग्न्यभिधानमतः साऽग्निनोपस्तब्धोपबृंहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति।

आमाशय से च्युत हुआ अन्न पक्वाशय की ओर प्रगति करता हुआ प्रथम ग्रहणी में आता है। इस स्थान को ग्रहणी इसलिए कहते हैं, क्योंकि पित्त या अग्नि की क्रिया से जब तक अन्नपान का सम्पूर्ण पाक नहीं हो जाता, तब तक उसका ग्रहण या धारण किये रहती है। अग्नि किंवा पित्त की क्रिया का स्थान होने से इसे 'अग्न्यधिष्ठान या पित्तधरा कला' भी कहते हैं।

वातात्पित्तात्कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च। हेतुं लिङ्गं चिकित्सां च शृणु तस्य पृथक् पृथक्।

ग्रहणीरोग के भेद—यह ग्रहणी रोग वात से, पित्त से, कफ से और इन तीनों से (त्रिदोषज) भी होता है। अब आप इसका निदान, लक्षण और इस रोग की चिकित्सा भी सुनिये॥ ५८॥

कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीताल्पभोजनैः। प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः॥ ५९॥
मारुतः कुपितो वह्निं सञ्छाद्य कुरुते गदान्।

वातज ग्रहणी का निदान एवं सम्प्राप्ति—कटु-तिक्त एवं कषायरस वाले द्रव्यों के अधिक सेवन से, रुक्ष आहार, शीत आहार, अल्पाहार, एकरसाहार और अनाहार से, अधिक मार्ग चलने से और मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से तथा अति मैथुन करने से कुपित हुआ वायु अग्नि को आच्छादित कर ग्रहणीरोग को उत्पन्न करता है॥ ५९॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता॥ ६०॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः। पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका॥
हृत्पीडा काश्यर्दौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका। गुदिः सर्वगमानं च मनसः सदनं तथा॥ ६२॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च। स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः॥
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत्। पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात्॥

वातज ग्रहणी के लक्षण—वातज ग्रहणी से पीड़ित रोगी का किया हुआ आहारान्न कष्ट देकर पचता है और वह अम्लपाकी खट्टा-खट्टा-सा होता है। रोगी के शरीर में रूक्षता या खरखरापन होता है। उसका कण्ठ और मुख सूखते रहते हैं। उसे भूख-प्यास लगती है, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, कानों में आवाज होती है, पार्श्व, ऊरु, वंक्षण और ग्रीवा में निरन्तर पीड़ा होती रहती है और बिना पका अन्न वमन और विरेचन के साथ निकलता रहता है। हृदय में पीड़ा, कृशता, दुर्बलता, मुख में स्वादहीनता तथा गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा होती रहती है। रोगी में सभी रसों के खाने की लालसा होती है और उसका मन खिन्न रहता है। भोजन के पच जाने पर या पचते समय उदर में आध्मान होकर वायु भर जाती है और भोजन कर लेने पर रोगी को आराम मिलने से स्वस्थता का अनुभव होता है। रोगी को वातज गुल्म, हृदयरोग और प्लीहा रोग से आक्रान्त होने की आशंका होती है। वह बार-बार शौच जाता है और देर तक बैठता है। उसका मल कष्ट के साथ द्रव या सूखा, पतला आम (कच्चा) युक्त तथा आवाज एवं गाज के साथ निकलता है। रोगी खाँसी एवं श्वास से परेशान रहता है। ये वातज ग्रहणी के लक्षण हैं॥ ६०-६४॥

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्॥ ६५॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्। पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः॥ ६६॥

पित्तज ग्रहणी का निदान और सम्प्राप्ति—कटुरस वाले पदार्थों के सेवन से, अजीर्ण होते रहने से, विदाही, अम्ल तथा क्षार आदि के अति सेवन से बढ़ा हुआ पित्त अग्नि को अपने से सराबोर (आप्लावित) कर नष्ट कर देता है, जैसे—गरम जल डालने पर अग्नि बुझ जाती है, गरम पानी आग को शीतल बना देता है।

पित्तज ग्रहणी के लक्षण—पित्तज ग्रहणी का रोगी पीला पड़ जाता है। वह बिना पका हुआ, नीला या पीला द्रव मल त्याग करता है। उसे दुर्गन्धित (सड़े हुए अन्न की) खट्टी डकार आती है, उसके हृदय प्रदेश और कण्ठ में जलन होती है। उसे अन्न खाने में रुचि नहीं होती और प्यास सताती रहती है॥ ६५-६६॥

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्। भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥ ६७॥

तस्यान्नं पच्यते दुखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः। आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः॥ ६८॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु। दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥ ६९॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम्। अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके॥ ७०॥

कफज ग्रहणी का निदान और सम्प्राप्ति—गुरु गुणयुक्त, बहुत चिकने और शीतल-मधुर आदि आहारद्रव्यों के भोजन से, अधिक मात्रा में भोजन करने से और भोजन करने के तुरन्त बाद शयन करने से कफ का प्रकोप होता है। वह प्रकुपित कफ जठराग्नि को नष्ट कर देता है, जिससे कफज ग्रहणी विकार होता है।

कफज ग्रहणी के लक्षण—कफज ग्रहणी से पीड़ित रोगी का खाया हुआ अन्न बड़ी कठिनाई से कष्ट के साथ पचता है। उसे मुख से पानी आने, जी मचलाने, वमन होने और अरुचि होने का कष्ट होता है। उसे मुख में कुछ लिया हुआ प्रतीत होता है, मुँह में मीठापन रहता है, खाँसी आती है और थुक-थुकी होती है तथा सर्दी-जुकाम बना रहता है। हृदय भारी-भारी कसा हुआ लगता है, पेट जकड़ा हुआ और भारी मालूम होता है। दूषित मिठास भरी डकार आती है, शरीर में थकावट और स्त्री-सम्भोग में प्रहर्ष का अभाव होता है। रोगी का मल टूटा हुआ, कच्चा, कफमिश्रित और भारी निकलता है। रोगी में कृशता नहीं होती, फिर भी वह निर्बल और आलसी होता है। ये सब लक्षण कफज ग्रहणी रोग के हैं॥ ६७-७०॥

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः। तं चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे॥ ७१॥

अग्नियों का ग्रहणीदोष से सामञ्जस्य—पहले विमानस्थान के छठे रोगानीक अध्याय में जो चार प्रकार (१. मन्द, २. विषम, ३. तीक्ष्ण और ४. सम) की अग्नियाँ कही गयी हैं। उनमें सम अग्नि को छोड़कर शेष तीनों (मन्द-विषम-तीक्ष्ण) को ग्रहणी दोष ही कहते हैं॥ ७१॥

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे। त्रिदोषं निर्दिशेत्तेषां भेषजं शृण्वतः परम्॥ ७२॥

त्रिदोषज ग्रहणी—पूर्व में अलग-अलग जो वात-पित्त-कफ के निदान और लक्षण कहे गये हैं, उन सबके एक साथ प्रकट होने पर ग्रहणीरोग को त्रिदोषज जानना चाहिए। अब आगे उन सभी ग्रहणी दोषों की चिकित्सा कही जायगी, उसे सुनिये॥ ७२॥

ग्रहणी रोग के विभिन्न रूप

तीन अग्नियाँ	: मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, विषमाग्नि
स्वतन्त्र/परतन्त्र	: बिना अतिसार के उत्पन्न/अतिसार के बाद उत्पन्न
दोषज	: वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज
अवस्था भेद से	: संग्रहग्रहणी[1], घटीयन्त्रग्रहणी[2], ओमग्रहणी[3]

१. अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा। द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत्॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्। पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाप्यथ मुञ्चति॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च सा। दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धनी॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता॥ (मा० नि०)

२. स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः। तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणी गदम्॥ (मा० नि०)

३. ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्। सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः॥
आमलिङ्गान्वितं ज्ञात्वा सुखाष्णेनाम्बुनोद्धरेत्। (च० चि० १५।७३-७४)

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्। सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः॥ ७३॥
आमलिङ्गान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्। फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा॥ ७४॥
लीनं पक्वाशयस्थं वाऽप्यामं स्राव्यं सदीपनैः। शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम्॥ ७५॥
विशुद्धामाशयायास्मै पञ्चकोलादिभिः भृतम्। दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान्॥

आमदोषयुक्त ग्रहणी में उपचार—ग्रहणी के रोगी को जब विष्टम्भ (विबन्ध), मुख से लार टपकना, उदरशूल, जलन, अरुचि और भारीपन हो, तो उसे अर्धपक्व आहार से कुपित वातादि दोषजन्य आम के लक्षणों से युक्त ग्रहणीविकार जानकर, सुखोष्ण जल पिलाकर वमन कराना चाहिए अथवा मदनफल के क्वाथ में पीपर और सरसों का चूर्ण मिलाकर रोगी को पिलाकर वमन कराना चाहिए।

लीन एवं पक्वाशयस्थ आम में उपचार—जब आम अनुत्क्लिष्ट अर्थात् बहिर्गमनोन्मुख न हो या पक्वाशय में हो, तो अग्निदीपन द्रव्यों से युक्त विरेचन औषधों का प्रयोग कर विरेचन कराना चाहिए।

सामरस के शरीर-व्यापक होने पर उपचार—जब अपक्व आहाररस समस्त शरीर में व्याप्त हो जाये, तो लंघन कराना चाहिए और पाचन औषधों का प्रयोग कराना चाहिए।

आमाशय-शोधन के बाद का उपचार—जब वमनादि के प्रयोग से आमाशय शुद्ध हो जाय, तो पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ) आदि दीपन-पाचन औषधों के क्वाथ में बनायी हुई पेया पिलायें एवं लघु अन्न खिलायें। फिर दीपन औषधों का प्रयोग करते रहना चाहिए॥ ७३-७६॥

ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम्। दीपनीययुतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक्॥ ७७॥
किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम्। द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत्॥
तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा। सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत्॥ ७९॥
शुद्धं रूक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत्। दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया॥ ८०॥
निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम्। लघ्वन्नं प्रतिसम्भुक्तं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः॥ ८१॥

वातज ग्रहणी चिकित्सासूत्र : (१) घृतपान—पेया तथा दीपनीय औषधों के प्रयोग से ग्रहणी रोगी के आम का परिपाक हुआ जानकर वातज ग्रहणी के रोगी को दीपनीयगण की (पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ, अम्लबेंत, मरिच, अजवायन, भिलावा और हींग) औषधों के कल्क से सिद्ध घृत या इनका चूर्ण मिला हुआ घी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पिलाना चाहिए।

(२) निरूहवस्ति—जब वातज ग्रहणी के रोगी को घृतपान कराने से उसकी जठराग्नि कुछ प्रदीप्त हो जाय, फिर भी रोगी के मल, मूत्र और अपानवायु के निःसरण में रुकावट हो, तो दो-तीन दिन घी पिलाकर स्नेहन करके, स्वेदन करे; फिर मालिश करने के पश्चात् उसे निरूहवस्ति देनी चाहिए।

(३) विरेचन—निरूहवस्ति के प्रयोग से जब मल-मूत्र-अपान वायु की रुकावट दूर हो जाये, तो एरण्ड तैल अथवा तिल्वकघृत में उचित मात्रा में क्षार मिलाकर रोगी को पिलाकर विरेचन कराना चाहिए।

(४) अनुवासनवस्ति—जब विरेचन देने से पक्वाशय का शोधन हो जाये, किन्तु पक्वाशय में रूक्षता बनी हो और मलबद्ध हो, तो दीपनीय द्रव्य, अम्लद्रव्य तथा वातनाशक द्रव्यों से बनाये हुए तैल का समुचित मात्रा में प्रयोग कर अनुवासनवस्ति देनी चाहिए।

(५) घृत खाने का अभ्यास—पूर्वकथित प्रकार से वातज ग्रहणी के रोगी को निरूहवस्ति, विरेचन प्रयोग और अनुवासनवस्ति का सम्यक् प्रयोग करने के पश्चात् पेया, विलेपी आदि के क्रम से लघु अन्न निर्मित आहार खिलाकर रोगी की पाचनशक्ति के अनुसार उसे घी खाने का निरन्तर अभ्यास कराना चाहिए॥ ७७-८१॥

द्वे पञ्चमूले सरलं देवदारु सनागरम्। पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्॥ ८२॥
शणबीजं यवान् कोलान् कुलत्थान् सुषवीं तथा। पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा॥ ८३॥
चतुर्भागावशेषेण पचेत्तेन घृताढकम्। स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ दत्त्वा च युक्तितः॥ ८४॥
सैन्धवौद्भिदसामुद्रबिडानां रोमकस्य च। ससौवर्चलपाक्यानां भागान्द्विपलिकान् पृथक्॥ ८५॥
विनीय चूर्णितान् तस्मात् पाययेत् प्रसृतं बुधः। करोत्यग्निं बलं वर्णं वातघ्नं भुक्तपाचनम्॥ ८६॥
इति दशमूलाद्यं घृतम्।

दशमूलाद्य घृत—दोनों पञ्चमूल (बेल, गम्भार, पाटल, अरनी, सोनापाठा, इनकी छाल; सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू, इनका पंचांग), सरलकाष्ठ, देवदारु, सोंठ, पीपर, पिपरामूल, चीता, गजपीपर, सन के बीज, जौ, बेर, कुलथी और मँगरैला—इन सभी द्रव्यों को (मिलित १६ प्रस्थ की मात्रा में) लेकर चौगुने जल में क्वाथ करे और चतुर्थांश (१६ प्रस्थ) बचने पर क्वाथ को छानकर उसमें १ आढक गोघृत डालकर, सज्जीखार और जवाखार थोड़ी मात्रा में (१-१ पल) डाले तथा सेंधानमक, उद्भिद् लवण, समुद्रीनमक, विडनमक, रोमकनमक, सोंचरनमक और पांगानमक—इन सात लवणों को २-२ पल लेकर महीन कल्क बनाकर, डालकर विधिवत् घृतपाक करना चाहिए। इस घृत को २-२ पल की मात्रा में रोगी को सेवन करायें। यह घृत जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, बल-वर्ण की वृद्धि करता है, वातरोग को नष्ट करता है और खाये हुए अन्न को ठीक से पचाता है॥ ८२-८६॥

वक्तव्य—आधुनिक समय में प्राणियों के बल के अनुसार इस घृत की मात्रा २०-२५ ग्राम की होनी चाहिए।

त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात्पले। सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दोनलः पिबेत्॥ ८७॥
इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

त्र्यूषणाद्य घृत—सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा (तीनों बीजरहित) इनका मिलित १ पल और २ पल गुड़ का कल्क डालकर ८ पल गाय का घी पकायें। जिसकी अग्नि मन्द हो गयी हो, वह अपने बल के अनुसार उचित मात्रा में इसका पान करे॥ ८७॥

पञ्चमूलाभयाव्योषपिप्पलीमूलसैन्धवैः। रास्नाक्षारद्वयाजाजीविडङ्गशटिभिर्घृतम्॥ ८८॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च। शुष्कमूलककोलाम्बुचुक्रिकादाडिमस्य च॥ ८९॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः। काञ्जिकेन च तत् पक्वमग्निदीप्तिकरं परम्॥ ९०॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम्। सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम्॥ ९१॥
सिद्धमभ्यञ्जनार्थं वा तैलमेतैः प्रयोजयेत्। एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना॥ ९२॥
वाते श्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते। दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम्॥ ९३॥
इति पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च।

पञ्चमूलाद्य घृत—(१) बेल, पाढल, गम्भार, अरनी और सोनापाठा की छाल; हर्रे, सोंठ, मरिच, पीपर, पिपरामूल, सेंधानमक, रास्ना, जवाखार, सज्जीखार, जीरा, वायविडंग और कचूर, इनके कल्क डालकर, कल्क से चौगुना गोघृत को सिरका, बिजौरा नीबू के रस, आदी के रस, सूखी मूली के क्वाथ, खट्टे बेर के रस, इमली के रस, अनार के रस, तक्र, दही के पानी, सुरामण्ड, सौवीरक, तुषोदक और काँजी, इनके द्रव को घी के समान भाग में डालकर विधिवत् पाक करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले। (२) अथवा उक्त कल्क और बिजौरा नीबू के रस से घी पका लें और उसे रोगियों को पिलायें। यह घृत शूल, गुल्म, उदररोग, श्वास, कास और वात एवं कफज विकारों को शान्त करता है। इसके प्रयोग से जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

पञ्चमूलादि तैल—(३) उपर्युक्त घृत में कहे गये पञ्चमूल आदि कल्क तथा शुक्त आदि द्रवों से तैल का निर्माण कर शरीर में अभ्यंग करने के लिए प्रयोग कराना चाहिए। अथवा—

पञ्चमूलाद्य चूर्ण—(४) इन्हीं कल्क द्रव्यों का चूर्ण बनाकर उचित मात्रा में सुखोष्ण जल से प्रातः-सायं सेवन करानां चाहिए।

जब वात कफ से आवृत हो या आम के साथ कफ हो या वायु के साथ कफ बढ़ा हुआ हो, तो अग्नि को प्रदीप्त करने वाले इस चूर्ण का पाचनार्थ प्रयोग करना चाहिए॥ ८८-९३॥

मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले। विनाऽतिद्रवसङ्गतशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात्॥ ९४॥
परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणम्। विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा॥ ९५॥

आम एवं पक्व मल की परीक्षा—मल आम होने पर अपने भारीपन के कारण पानी में डूब जाता है और पक्व मल (हल्का होने से) पानी में तैरता रहता है।

आम और पक्व मल के लक्षणों का अपवाद—ये परीक्षाएँ तभी सही हो सकती हैं, जब मल बहुत पतला या बहुत गाढ़ा न हो, उसमें अतिशीतलता न हो और वह कफ से दूषित न हो। क्योंकि अतिशय द्रव होने पर आम मल भी जल पर तैरता है और अति कठिन होने पर पक्व मल भी डूब जाता है, शैत्य तथा कफ से प्रदूषित होने से पक्व मल में भी भारीपन होता है और वह डूब जाता है। ऐसी स्थिति में गन्ध द्वारा परीक्षा करनी चाहिए।

इसी प्रकार आमसहित और आमरहित मल की परीक्षा करके, साम होने पर विधिवत् पाचन औषधों के प्रयोग से चिकित्सा करे और निराम मल होने पर ग्रहणीदोषशमनार्थ उपचार करना चाहिए॥ ९४-९५॥

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ क्षारौ लवणानि च। व्योषं हिङ्ग्वजमोदां च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत्॥ ९६॥
गुटिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा। कृता विपाचत्यामं दीपयत्याशु चानलम्॥ ९७॥
इति चित्रकाद्या गुटिका।

चित्रकादि वटी—चीते की जड़, पिपरामूल, सज्जीखार और जवाखार, सभी लवण (सेंधानमक, औद्भिद नमक, विडनमक, सोंचर नमक एवं समुद्रीनमक), सोंठ, मरिच, पीपर, भुनी हींग, अजवायन और चाभ—इन सबको चूर्ण कर एकत्र मिला लें और बिजौरा नीबू या खट्टे अनार के रस की भावना देकर (बड़ी मटर बराबर) गोलियाँ बना लें। यह आम को पचाती और जठराग्नि को प्रदीप्त करती है॥ ९६-९७॥

वक्तव्य—यह वटी उत्तम पाचन है। इसकी आधे-आधे ग्राम (४ रत्ती) की गोलियाँ बना लें और भोजन के बाद गरम जल या मट्ठे से सेवन करायें।

नागरातिविषामुस्तक्वाथः स्यादामपाचनः। मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरं चोष्णवारिणा॥

आम पाचन योग—(१) सोंठ, अतीस और नागरमोथे का क्वाथ आम को पचाता है अथवा (२) इन्हीं तीन द्रव्यों का चूर्ण या (३) हरीतकी चूर्ण या (४) सोंठ का चूर्ण गरम जल से सेवन करने से आम पाचन होता है॥ ९८॥

देवदारुवचामुस्तनागरातिविषाभयाः। वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वाऽलवणाः पिबेत्॥ ९९॥
वर्चस्यामे सशूले च पिबेद्वा दाडिमाम्बुना। विडेन लवणं पिष्टं बिल्वं चित्रकनागरम्॥ १००॥
सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत्। कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयाः॥ १०१॥
छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा। पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम्॥ १०२॥

लाक्षणिक चिकित्सा : शूल के साथ आम मल में—(१) देवदारु, बच, नागरमोथा, अतीस और हर्रे का सम भाग चूर्ण वारुणी मद्य में सात दिन तक रख छोड़े और इसके बाद छानकर पीना चाहिए

अथवा इसी चूर्ण को गरम जल में (एक दिन) रखकर छानकर बिना नमक डाले या थोड़ा-सा नमक डालकर पीना चाहिए या (२) सेंधानमक, बेलसोंठ, चित्रक और सोंठ के चूर्ण में विडनमक मिलाकर खट्टे अनार के रस के साथ पीना चाहिए। **साम मल एवं वातकफजन्य उदरशूल में**—(३) इन्द्रजौ, भुनी हींग, अतीस, मीठा बच, सोंचरनमक और हर्रे, इनके समभाग चूर्ण को गरम जल या अनार के रस के साथ पीना चाहिए। **वमन, अर्श और शूल में**—(४) हर्रे, सोंचरनमक, जीरा और मरिच इनके समभाग का चूर्ण गरम जल से पीना चाहिए॥ ९९-१०२॥

अभयां पिप्पलीमूलं वचां कटुकरोहिणीम्। पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम्॥ १०३॥
पिबेन्निष्क्वाथ्य चूर्णं वा कृत्वा कोष्णेन वारिणा। पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम्॥

पित्त-कफज ग्रहणी के शूल में अभयादि चूर्ण—(५) हर्रे, पिपरामूल, मीठा बच, कुटकी, पाठा, इन्द्रजौ, चित्रकमूल और सोंठ, इनका क्वाथ बनाकर अथवा चूर्ण बनाकर गरम जल से पिलाना चाहिए। यह पित्त-कफजन्य ग्रहणी विकार में होने वाले शूल को नष्ट करता है॥ १०३-१०४॥

सामे सातिविषं व्योषं लवणक्षारहिङ्गु च। निःक्वाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा॥

पित्त-कफज ग्रहणी में कच्चा मल आने पर—(६) सोंठ, मरिच, पीपर और अतीस के क्वाथ में सेंधानमक, जवाखार और भुनी हुई हींग मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा इन्हीं द्रव्यों के समभाग का चूर्ण गरम जल से खिलाना चाहिए॥ १०५॥

पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम्। चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च॥ १०६॥
तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः। पिबेदग्निविवृद्धयर्थं कोष्ठवातहरं नरः॥ १०७॥

पिप्पल्यादि चूर्ण—पीपर, सोंठ, पाठा, सारिवा, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चित्रक की जड़, इन्द्रजौ और पाँचों नमक (सेंधानमक, विडनमक, औद्भिद नमक, सोंचरनमक और पांगानमक) तथा यवाखार, इन सबको कपड़छन चूर्ण बनाकर रख ले। इस चूर्ण को दही या गरम जल या मदिरा आदि के साथ सेवन कराना चाहिए। जठराग्नि को बढ़ाने के लिए और उदरगत वायु को दूर करने के लिए इसका प्रयोग करे॥ १०६-१०७॥

मरिचं कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लाः कुडवाः पृथक्। पलानि दश चाम्लस्य वेतसस्य पलार्धिकम्॥
सौवर्चलं बिडं पाक्यं यवक्षारः ससैन्धवः। शटीपुष्करमूलानि हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिका॥ १०९॥
तत् सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत्। हितं वाताभिभूतायां ग्रहण्यामरुचौ तथा॥ ११०॥
इति मरिचाद्यं चूर्णम्।

मरिचादि चूर्ण—मरिच, मँगरैला, पाठा, वृक्षाम्ल (कोकम)—प्रत्येक १-१ कुड़व; अम्लबेंत १० पल, सोंचरनमक, विडनमक, पाक्यनमक (रेह का बना), यवाखार, सेंधानमक, कचूर, पोहकरमूल, भुनी हींग और वंशपत्री—इन सबको आधा-आधा पल लेकर सूक्ष्म चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिए। इसे वातज ग्रहणीविकार और अरुचि में गरम जल या मट्ठे के साथ देना चाहिए॥ १०८-११०॥

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणस्य पलत्रयम्। लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम्॥ १११॥
सञ्चूर्ण्य शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत्। कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्ड्वामयशूलनुत्॥ ११२॥

चार अम्ल द्रव्यों का प्रयोग—वृक्षाम्ल (कोकम), अनारदाना, अम्लबेंत और खट्टे बेर, इनका मिलित प्रमाण १ प्रस्थ; सोंठ, मरिच, पीपर, प्रत्येक १-१ पल; पाँचों नमक मिलाकर ४ पल और चीनी ८ पल—इन सबका चूर्ण बनाकर शाक, दाल, अन्न, रायता आदि में डालकर प्रयोग करे। यह चूर्ण कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृदयरोग, पाण्डुरोग और शूल को नष्ट करता है॥ १११-११२॥

चव्यत्वक्पिप्पलीमूलधातकीव्योषचित्रकान्।
कपित्थं बिल्वमम्बष्ठां शाल्मलं हस्तिपिप्पलीम्। शिलोद्भेदं तथाऽजाजीं पिष्ट्वा बदरसम्मितम्॥
परिभर्ज्य घृते दध्ना यवागूं साधयेद्भिषक्। रसैः कपित्थचुक्रीकावृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च॥ ११४॥
सर्वातिसारग्रहणीगुल्मार्शःप्लीहनाशिनी ।

पाँच यवागू योग—(१) चाभ, दालचीनी, पिपरामूल, धाय का फूल, सोंठ, मरिच, पीपर, चित्रक, कैथ का गूदा, बेलगिरी, पाठा, मोचरस, गजपीपर, छरीला और सफेद जीरा, इनमें से प्रत्येक द्रव्य को आधा-आधा कर्ष लेकर उन्हें पानी डालकर, पीसकर घी में भून लें। फिर (इस कल्क से चौगुना, जिस अन्न से यवागू बनाना हो वह अन्न लें और अन्न से छह गुना) दही डालकर विधिवत् यवागू बनाना चाहिए। इसी प्रकार (२) चव्य आदि के कल्क को कैथ के स्वरस या क्वाथ के साथ या (३) तिनपतिया के रस के साथ या (४) वृक्षाम्ल (कोकम) के रस के साथ या (५) खट्टे अनारदाने के रस के साथ यवागू का निर्माण करे। इस प्रकार से बनायी गयी यवागू सभी प्रकार के अतिसार, ग्रहणी, गुल्मरोग, अर्शरोग और प्लीहा के रोगों को नष्ट करती है॥ ११३-११४॥

पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः॥ ११५॥
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः। क्रव्यादस्वरसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः॥
तक्रारनालमद्यानि पानायारिष्ट एव च।

ग्रहणी में यूष-मांसरस-तक्र-काञ्जी-मद्य एवं अरिष्ट का प्रयोग—ग्रहणी वाले रोगी को पथ्य में (१) पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता और सोंठ के कल्क के साथ पकाया हुआ मूँग या मसूर आदि का यूष पिलाना चाहिए अथवा (२) मूली के यूष में मरिचचूर्ण मिलाकर दे या (३) जांगल पशु-पक्षियों के पके मांसरस को घी से छौंककर स्निग्ध करके तथा खट्टे अनार के रस या तक्र से खट्टा बनाकर दें या (४) कच्चा मांस खाने वाले (क्रव्याद) पशु-पक्षियों का मांसरस अग्निदीपन द्रव्यों के चूर्ण के साथ भोजन के लिए देना उत्तम और प्रशस्त है। पीने के लिए तक्र, काञ्जी, मदिरा और अरिष्ट देना चाहिए॥ ११५-११६॥

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात्॥ ११७॥
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत्। कषायोष्णविकासित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे हितम्॥
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत्। तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणां तथाऽर्शसाम्॥
विहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत्।

ग्रहणी में तक्र[1] प्रयोग—मट्ठा अग्नि को प्रदीप्त करता है, मल को बाँधता है और पचने में हल्का होता है, इसलिए ग्रहणीविकार में परम हितकारी पथ्य है। यद्यपि अम्ल होने से इसे पित्त प्रकोपक होना

१. (क) तक्रं ग्राहि कषायाम्लं स्वादुपाकरसं लघु। वीर्योष्णं दीपनं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम्॥
ग्रहण्यादिमतां पथ्यं भवेत् संग्राहि लाघवात्। किं च स्वादुविपाकित्वान्न च पित्तप्रकोपणम्॥
अम्लोष्णं दीपनं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम्। कषायोष्णविकाशित्वाद् रौक्ष्याच्चापि कफापहम्॥
न तक्रसेवी व्यथते कदाचित् न तक्रददग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः॥
अम्लेन वातं मधुरेण पित्तं कफं कषायेण निहन्ति सद्यः॥ (भा० प्र० तक्रवर्ग ४-७)

(ख) कैलाशे यदि तक्रमस्ति गिरिशः किं नीलकण्ठो भवेत्
वैकुण्ठे यदि कृष्णतामनुभवेदद्यापि किं केशवः।
इन्द्रो दुर्भगतां क्षयं द्विजपतिर्लम्बोदरत्वं गणः
कुष्ठित्वं च कुबेरको दहनतामाग्निश्च किं विन्दति॥ (सुभाषित)

चाहिए, किन्तु इसका विपाक मधुर होता है; अतः यह पित्त को नहीं प्रकुपित करता है। तक्र अभिष्यन्दी होता है, इसलिए इसे कफवर्धक होना चाहिए। किन्तु कषायरस, उष्ण, विकासी (दोष से आवृत स्रोतों का विशोधक) और रूक्षगुणयुक्त होने से कफ को दूर करने में भी हितकर है। इसी प्रकार कषायरस तथा रुक्ष गुण होने से वात को बढ़ाना चाहिए। किन्तु मधुर, अम्ल एवं सान्द्र होने से वातदोष का भी शमन करता है। तुरन्त का मथा हुआ तक्र उदर में जाकर पचते समय विदाह या जलन नहीं उत्पन्न करता है, इसलिए तक्र के जो-जो प्रयोग उदररोग में या अर्शरोग में बतलाये गये हैं, ग्रहणी रोग में भी उन सबका प्रयोग करना चाहिए॥ ११७-११९॥

यवान्यामलके पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम्॥ १२०॥
लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत्। तक्रकं सासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः॥
दीपनं शोथगुल्मार्शःक्रिमिमेहोदरापहम्॥ १२१॥

इति तक्रारिष्टः।

तक्रारिष्ट—अजवायन, आँवला, हर्रे, निर्बीज और मरिच प्रत्येक ३-३ पल; सेंधानमक, विडनमक, सोंचरनमक, सामुद्रनमक और आर्द्रिदनमक प्रत्येक १-१ पल लेकर सबका चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को १ कंस (आढ़क) तक्र में डालकर किसी मिट्टी के कूड़े (भाण्ड) में रखकर, कपड़मिट्टी लगाकर, मुँह बन्दकर भूसे की ढेर में सुरक्षित रख दें। तीन-चार सप्ताह में वह अरिष्ट तैयार हो जाता है। तैयार होने पर छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित कर दें। इसे भोजनोपरान्त २ कर्ष की मात्रा में समान जल मिलाकर पीना चाहिए। यह अग्नि को प्रदीप्त करता है और शोथ, गुल्म, अर्श, क्रिमि, प्रमेह तथा उदररोगों को नष्ट करता है॥ १२०-१२१॥

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निर्निर्वापकं भिषक्। पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा॥ १२२॥
अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः। जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मृदूनां खडैरपि॥ १२३॥
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः। तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैः॥१२४॥

पित्तज ग्रहणी चिकित्सा—जब वैद्य को यह ज्ञात हो जाये कि पित्त अपने स्थान में स्थित है और वह बहिर्गमनोन्मुख है तथा अग्नि को शान्त कर रहा है, तो उसे विरेचन द्वारा या वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिए। रोगी को जलन न पैदा करने वाले, लघुगुणयुक्त अन्नाहार में तिक्तरसवाले द्रव्यों को मिलाकर खिलायें। जांगल पशु-पक्षियों के मांसरसों, मूँग आदि के यूषों और खड्यूषों में अनार का रस मिलाकर खट्टाकर दीपन एवं ग्राही औषधों एवं घी के साथ भोजन कराकर रोगी की जठराग्नि को प्रदीप्त करे। इसी प्रकार कुष्ठाधिकारोक्त तिक्तघृत-महातिक्त घृत या अन्य तिक्त द्रव्य-साधित घृतों के सेवन से तथा अग्निवर्धक चूर्णों के प्रयोग से जठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए॥ १२२-१२४॥

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम्। षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान्॥ १२५॥
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतकान्। कटुकां रोहिणीं मुस्तं निम्बं च द्विपलांशिकम्॥ १२६॥
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात् पचेत्। किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः॥ १२७॥
कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे। तिक्तकं यद् घृतं चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत्॥ १२८॥

इति चन्दनाद्यं घृतम्।

चन्दनाद्य घृत—लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, पाठा, मूर्वा, केवटीमोथा, मीठा बच, अनन्तमूल, अपराजिता, छितवन की छाल, अरूस, परवर की पत्ती, गूलर की छाल, पीपर की छाल, बड़ की बरोह, पकड़ी की छाल, आमड़ा की छाल, कुटकी, नागरमोथा और नीम की छाल—इन सबको २-२ पल लेकर १ द्रोण जल में क्वाथ करे और जल चतुर्थांश शेष रहने पर क्वाथ छान लें। उस क्वाथ में चिरायता, इन्द्रजौ, क्षीरकाकोली, पीपर और कमलपत्र, इनका १-१ कर्ष कल्क करके डाले तथा १ प्रस्थ गोघृत डालकर यथाविधि पकायें एवं तैयार होने पर छानकर रख लें। पित्तज ग्रहणी रोग में रोगी के बल के अनुसार इसका प्रयोग करे और कुष्ठ रोग में कहे गये तिक्तक घृतों का भी प्रयोग कराना चाहिए॥ १२५-१२८॥

नागरातिविषे मुस्तं धातकीं च रसाञ्जनम्। वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठां कटुकरोहिणीम्॥ १२९॥
पिबेत्समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना। पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते॥ १३०॥
अर्शांसि च गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम्। नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम्॥ १३१॥
इति नागराद्यं चूर्णम्।

नागराद्य चूर्ण—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, धावा का फूल, रसौंत, कोरया की छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, पाठा और कुटकी—इन सबको समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर रख लें। उचित मात्रा में मधु के साथ सेवन करायें और अनुपान में चावल का धोवन (तण्डुलोदक) पिलायें। इस चूर्ण को पैत्तिक ग्रहणी विकार में मल के साथ रक्त आने में सेवन कराना चाहिए। यह चूर्ण सभी प्रकार के अर्श, गुदा के शूल और प्रवाहिका को नष्ट करता है। इस नागराद्य चूर्ण को आचार्य कृष्णात्रेय ने आदर के साथ बतलाया है॥ १२९-१३१॥

भूनिम्बकटुकाव्योषमुस्तकेन्द्रयवान्समान्। द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत्॥१३२॥
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत्। कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारनुत्॥ १३३॥
इति भूनिम्बाद्यं चूर्णम्।

भूनिम्बाद्य चूर्ण—चिरायता, कुटकी, सोंठ, मरिच, पीपर, नागरमोथा और इन्द्रजौ, प्रत्येक समभाग (१-१ पल), चीते की जड़ दो भाग (२ पल) और कोरया की छाल १६ भाग (१६ पल) लेकर सबका कपड़छन चूर्ण तैयार करें। इसे पित्तज ग्रहणी रोग तथा गुल्म में गुड़ के शर्बत के साथ देने से उन दोनों को नष्ट करता है और कामलारोग, ज्वर, पाण्डु, प्रमेह, अरुचि एवं अतिसार को नष्ट करता है॥ १३२-१३३॥

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम्। श्योनाकोदीच्यकट्वङ्ग-वत्सकत्वग्दुरालभाः॥ १३४॥
दार्वीं पर्पटकं पाठां यवानीं मधुशिग्रुकम्। पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान्॥ १३५॥
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च। तद्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत्॥

वचादि चूर्ण—मीठा बच, अतीस, पाठा, छितवन, रसौंत, सोनापाठा (छोटा), सुगन्धवाला, सोनापाठा बड़ा (कट्वङ्ग) की छाल, कुटज की छाल, कुटज की छाल, यवासा, दारुहरिद्रा, पित्तपापड़ा, पाठा, जवायन, मीठा सहिजन, परवर के पत्ते, पीली सरसों, जूही की पत्ती, चमेली की पत्ती, जामुन की गुठली, आम की गुठली, बेलगिरी, नीम के पत्ते (निम्बशाक) और नीम के फल—इनको समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें तथा पूर्व में कथित (सरक्ता ग्रहणी, अर्श, गुदशूल और प्रवाहिका) रोगों का शमन चाहनेवाला वैद्य इसके साथ भूनिम्बादिचूर्ण को मिलाकर यथोचित मात्रा में गुड़ के शर्बत के साथ प्रयोग करे॥ १३४-१३६॥

वक्तव्य—इस योग में पाठा और सोनापाठा इन्हें २-२ बार कहा गया है। इनमें पाठा दो भाग लेना चाहिए और सोनापाठा से एक बड़ी शिम्बी वाला और दूसरा छोटी शिम्बी वाला लेना चाहिए। चक्रपाणि ने मूल के 'भूनिम्बाद्येन योजयेत्' की व्याख्या में वचादि चूर्ण के साथ भूनिम्बादि चूर्ण की औषधों को सम भाग में मिलाने के लिए कहा है, किन्तु अन्य मतों का उल्लेख कर 'भूनिम्बाद्येन योजयेत्' इस वचन से 'गुड़ के शर्बत का अनुपान वचादि चूर्ण के साथ भी रखना चाहिए' यह अभिप्राय व्यक्त किया है; यथा—'भूनिम्बाद्येनेति भूनिम्बाद्युक्तद्रव्यगणेन यथोक्तमानेन योजयेद् वचादीन्; अपरे तु भूनिम्बाद्येनेति वचनेनात्र भूनिम्बाद्युक्तगुडशीताम्बुपेयतामस्याप्यतिदिशतीति वदन्ति'।

किराततिक्तः षड्ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम्। चन्दनं पद्मकोशीरं दार्वीत्वक् कटुरोहिणी॥१३७॥
कुटजत्वक्फलं मुस्तं यवानी देवदारु च। पटोलनिम्बपत्रैलासौराष्ट्र्यतिविषात्वचः॥ १३८॥
मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वा पर्पटकस्तथा। तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मद्यैर्जलेन वा॥ १३९॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान्। कामलां सन्निपातं च मुखरोगांश्च नाशयेत्॥ १४०॥
इति किराताद्यं चूर्णम्।

किरातादि चूर्ण—चिरायता, मीठा बच, त्रायमाणा, सोंठ, मरिच, पीपर, लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, दारुहरिद्रा, कुटकी, कोरया की छाल, इन्द्रजौ, अजवायन, देवदारु, परवर की पत्ती, नीम की पत्ती, इलायची, फिटकरी, अतीस, दालचीनी, मीठे सहिजन के बीज, मूर्वा और पित्तपापड़ा—इन सबको बराबर-बराबर लेकर महीन चूर्ण बनाकर रख ले। इस चूर्ण को मधु मिलाकर चाटना चाहिए और बाद में मद्य या जल पीना चाहिए। यह चूर्ण हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, गुल्म, शूल, अरुचि, ज्वर, कामलारोग, सन्निपात और मुखरोगों को नष्ट करता है॥ १३७-१४०॥

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि। कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत्॥ १४१॥

कफज ग्रहणी का चिकित्सासूत्र—जब ग्रहणी कफदुष्टि के कारण दूषित हो गयी हो, तो उस रोगी को विधिवत् वमन कराना चाहिए और उसे कटु, अम्ल, लवण और क्षार पदार्थों का प्रयोग कराकर उसकी अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए॥ १४१॥

पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकीम्। पिप्पलीं पिप्पलीमूलं पाठां नागरधान्यकम्॥ १४२॥
कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितम्। पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधयेत्॥ १४३॥
शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः। कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत्॥ १४४॥
अम्लं चानु पिबेत्तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा। मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं सीधुमेव वा॥ १४५॥

अग्निवर्धक अन्नपान—(१) पलाशबीज, चित्रकमूल, चाभ, बिजौरा नीबू, हर्रे, पीपर, पिपरामूल, पाठा, सोंठ और धनिया, इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष की मात्रा में लेकर भूसा की तरह कूटकर १ प्रस्थ जल में पकाकर चौथाई जल बचने पर छानकर रख लें। कफज ग्रहणी के रोगी को पीने के लिए इस जल का प्रयोग करें और इसी जल में यवागू आदि बनाकर खिलायें। (२) उक्त जल से सिद्ध पेया, यवागू आदि खिलाने के बाद जब रोगी की जठराग्नि कुछ तीव्र हो जाय, तो उसे कटु, अम्ल, क्षार तथा लवण मिश्रित सूखी मूली के यूष या कुलथी के यूष के साथ हल्के अन्न से बना आहार खाने के लिए देना चाहिए। भोजनोत्तर पीने के लिए अम्ल तक्र या तक्रारिष्ट या मदिरा या मध्वरिष्ट अथवा केवल स्वच्छ सीधु को उचित मात्रा में प्रयोग कराना चाहिए॥ १४२-१४५॥

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गानां ततोऽर्धतः। चित्रकस्य ततोऽर्धं स्यात्तथा भल्लातकाढकम्॥
मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव त्रिद्रोणेऽपां विपाचयेत्। द्रोणशेषं तु तच्छीतं मध्वर्धाढकसंयुतम्॥ १४७॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते। कुम्भे मासस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत्॥ १४८॥
ग्रहणीं दीपयत्येव बृंहणः कफपित्तजित्। शोथं कुष्ठं किलासं च प्रमेहांश्च प्रणाशयेत्॥ १४९॥
इति मधूकासवः।

मधूकासव—महुए का फूल १ द्रोण (४ आढक), वायविडंग आधा द्रोण (२ आढक), चित्रकमूल चौथाई द्रोण (१ आढक), भिलावा १ आढक और मजीठ ८ पल लेकर कुचलकर ३ द्रोण (१२ आढक) जल में क्वाथ पकायें; जब १ द्रोण जल शेष रहे, तो क्वाथ को छानकर ठण्डा कर लें और आधा आढक मधु मिलायें। एक मिट्टी के घड़े के भीतरी भाग में इलायची, खश, अगर और चन्दन का लेप लगाकर सुखा लें और उस घड़े में मधु मिश्रित क्वाथ को डालकर मुख की सन्धि को ढक्कन रखकर कपड़मिट्टी लगाकर बन्द कर दें। इस घड़े को भूसे की ढेर में एक माह तक पड़ा रहने दें और जब आसव तैयार हुआ समझे, तो छानकर बोतलों में भर लें और आवश्यकतानुसार प्रयोग करें। यह आसव ग्रहणी को प्रदीप्त करता है, शरीर को स्थूल बनाता है और कफ तथा पित्त विकारों को नष्ट करता है। यह शोथ, कुष्ठ, किलास (श्वेत कुष्ठ) और प्रमेहों को भी नष्ट करता है॥ १४६-१४९॥

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम्। क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत्॥ १५०॥
तं पिबन् ग्रहणीदोषाञ्जयेत् सर्वान् हिताशनः। तद्वद् द्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिबेत्॥१५१॥

कुछ अन्य आसव—महुए के फूल के स्वरस को किसी पात्र में (कड़ाही आदि में) रखकर आँच पर पकायें और जब आधा बचे तो उसे छानकर, शीतलकर उसमें चौथाई हिस्सा मधु मिला दें। पूर्ववत् इलायची आदि से लिप्त घड़े में उसे रखकर सन्धिबन्द कर एक महीने तक रख छोड़े, तैयार होने पर छानकर रख लें। यह सभी प्रकार के ग्रहणीरोगों को नष्ट करता है। इसी प्रकार मुनक्का स्वरस, गन्ने का स्वरस और खजूर का स्वरस पकाकर सन्धानकर आसव बनाकर पीना चाहिए॥ १५०-१५१॥

प्रस्थौ दुरालभाया द्वौ प्रस्थमामलकस्य च। मुष्टी चित्रकदन्त्योर्द्वे प्रत्यग्रं चाभयाशतम्॥ १५२॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम्। सगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुडवायुतम्॥ १५३॥
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गानां च चूर्णितैः। कुडवैर्घृतकुम्भस्थं पक्षाज्जातं ततः पिबेत्॥
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठवीसर्पमेहनुत्। स्वरवर्णकरश्चैष रक्तपित्तकफापहः॥ १५५॥
इति दुरालभासवः।

दुरालभासव—जवासा २ प्रस्थ, आँवला १ प्रस्थ, चित्रक १ पल, दन्ती १ पल, ताजी हर्रे गिनती में १००, इन सबको कुचलकर, ४ द्रोण जल में पकाकर १ द्रोण शेष रहने पर छान लें। फिर एक ऐसा घड़ा लें, जिसमें भीतर में घी चुपड़ा गया हो, उसमें क्वाथ डालकर २०० पल गुड़ और ८ पल मधु मिला दें एवं फूलप्रियंगु, पीपर और वायविडंग का चूर्ण १-१ कुडव (८-८ पल) मिला दें। इस पात्र को भूसे में १५ दिन तक सुरक्षित रखें और आसव तैयार होने पर छानकर बोतलों में रख लें। भोजन के बाद २५-३० ग्राम की मात्रा में बराबर जल से पिलायें। यह आसव ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, अर्शरोग, कुष्ठ, वीसर्प और प्रमेह को नष्ट करता है, स्वर तथा वर्ण में निखार लाता है तथा रक्त, पित्त एवं कफ के रोगों को दूर करता है॥ १५२-१५५॥

हरिद्रा पञ्चमूले द्वे वीरर्षभकजीवकम्। एषां पञ्चपलान् भागांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत्॥ १५६॥
द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक्। चूर्णितान् कुडवार्धांशान् प्रक्षिपेच्च समाक्षिकान्॥ १५७॥
प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठाविडङ्गमधुकप्लवान्। लोध्रं शाबरकं चैव मासार्धस्थं पिबेत्तु तम्॥ १५८॥
एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तजित्। आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुत्॥ १५९॥
इति मूलासवः।

मूलासव—हल्दी, दोनों पञ्चमूल (श्रीफल, पाढल, गनियार, गम्भार, सोनापाठा, इनकी छाल और सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी तथा गोखरू का पञ्चांग), क्षीरकाकोली, ऋषभक, जीवक, इन सबको ५-५ पल लेकर मोटा कूटकर ४ द्रोण जल में क्वाथ बनायें; जब १ द्रोण पानी बचे तो छान लें और उसमें २०० पल गुड़ घोल दें एवं २ पल मधु मिलाकर घृत लिप्त मिट्टी के पात्र में रख दें। पुनः प्रियंगु के फूल, नागरमोथा, मजीठ, वायविडंग, मुलहठी, केवटीमोथा और शाबरलोध, इन सबका चूर्ण २-२ पल उस क्वाथ में मिलाकर मुख को कपड़मिट्टी लगाकर बन्द कर भूसे में १५ दिन तक रख छोड़े। आसव तैयार होने पर छानकर बोतलों में सुरक्षित रख दें और रोगी के बल के अनुसार २०-३० ग्राम की मात्रा में समान जल से भोजन के बाद सेवन करायें। यह मूलासाव परीक्षित है और अग्निदीपक है। यह रक्तपित्तनाशक है तथा आनाह, कफ के रोग, हृदयरोग, पाण्डुरोग और अङ्गों की थकावट को दूर करता है॥ १५६-१५९॥

प्रास्थिकं पिप्पलीं पिष्ट्वा गुडं मध्यं बिभीतकात्। उदकप्रस्थसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत्॥
तस्मात्पलं सुजातात्तु सलिलाञ्जलिसंयुतम्। पिबेत् पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः॥
स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासं नरः सिद्धं रसायनम्। इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं रोगाणां येऽत्र कीर्तिताः॥
इति पिण्डासवः।

पिण्डासव—पीपर का चूर्ण १ प्रस्थ, गुड़ १ प्रस्थ (पिसा हुआ), बहेड़े की मींगी का चूर्ण १ प्रस्थ और जल १ प्रस्थ, इन सबको किसी आभ्यन्तर में घृतलिप्त पात्र में रखकर जौ की राशि में १५ दिन तक (मुखसन्धि ठीक से बन्द कर) रख दें। जब आसव तैयार हो जाये, तो उसे पुनः ठीक से मिलाकर अन्य घृतलिप्त पात्र में रख लें। इसमें से १ पल (आधुनिक मात्रा १ कर्ष = १२ ग्राम) लेकर ४ पल जल के साथ सेवन करें। यह पिण्डासव रोगसमूहनाशक है। जो व्यक्ति रोगों से मुक्त रहने की इच्छा रखते हों, उन्हें स्वस्थ रहते हुए भी १ मास तक इस सिद्ध रसायन का सेवन करना चाहिए॥ १६०-१६२॥

वक्तव्य—इस आसव में अन्य आसवों की तरह जल की मात्रा नहीं है, अपितु वह सभी द्रव्यों को एकरस करके पिण्ड बनाने लायक ही है। यह आसव द्रव न होकर पिण्ड बनाने लायक होता है, इसीलिए इसका नाम पिण्डासव रखा गया है।

नवे पिप्पलिमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते। मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत्॥ १६३॥
कुडवार्धं विडङ्गानां पिप्पल्याः कुडवं तथा। चतुर्थिकांशां त्वक्क्षीरीं केशरं मरिचानि च॥ १६४॥
त्वगेलापत्रकशटीक्रमुकातिविषाघनान्। हरेण्वेल्वालुतेजोह्वापिप्पलीमूलचित्रकान्॥ १६५॥
कार्षिकांस्तत् स्थितं मासमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्। मन्दं संदीपयत्यग्निं करोति विषमं समम्॥ १६६॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगकुष्ठार्शःश्वयथुज्वरान्। वातश्लेष्मामयांश्चान्यान्मध्वरिष्टो व्यपोहति॥
इति मध्वरिष्टः।

मध्वरिष्ट—एक नवीन मिट्टी का घड़ा लेकर उसके भीतरी सतह में पीपर को बारीक पीसकर उसमें मधु मिलाकर लेप करें, फिर अगुरु जलाकर घड़े के भीतरी भाग को धूपित करें। उस घड़े में १ आढक मधु और १ आढक जल मिलाकर घोल दें तथा इन अग्रलिखित द्रव्यों का चूर्ण मिलायें, यथा—वायविडंग का चूर्ण आधा कुडव (२ पल), पीपर १ कुडव (४ पल), वंशलोचन (१ पल) $\frac{1}{4}$ कुडव, केशर, मरिच, दालचीनी, इलायची, तेजपत्ते, कचूर, कसैली, अतीस, नागरमोथा, मेउड़ी का बीज, एलुआ, चाभ, पिपरामूल और चित्रक—इनको १-१ कर्ष लेकर उक्त द्रव में डाले। पात्र के मुख को परई से ढककर सन्धिबन्द कर भूसे में १ महीने तक सुरक्षित पड़ा रहने दें और तैयार होने पर प्रयोग में लायें। यह मध्वरिष्ट मन्द अग्नि को प्रदीप्त करता है और विषम अग्नि को सम बनाता है तथा हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, कुष्ठरोग, अर्शरोग, शोथ, ज्वर एवं अन्य अनेक वात और कफ से होने वाले रोगों को दूर करता है॥ १६३-१६७॥

समूलां पिप्पलीं क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च। मातुलुङ्गाभयारास्नाशटीमरिचनागरम्॥ १६८॥
कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिबेत्प्रातः सुखाम्बुना। श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्धनम्॥ १६९॥

पिप्पलीमूलादि चूर्ण—पिपरामूल, जवाखार, सज्जीखार, पाँचो नमक (सेंधानमक, विडनमक, सोंचर, औद्भिद और सामुद्र), हर्रे का निर्बीज फल, रास्ना, कचूर, मरिच और सोंठ, इन सबको समभाग लेकर चूर्ण बनाकर, बिजौरा नीबू के रस की भावना देकर, घोटकर रख लें। इसे रोगी के बल के अनुसार उचित मात्रा में (२-३ ग्राम) गरम जल से प्रतिदिन प्रातः-काल सेवन करना चाहिए। यह चूर्ण कफज ग्रहणी विकार में सेवन करने से रोगी के बल, वर्ण और जठराग्नि को बढ़ाता है॥ १६८-१६९॥

एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते। गौल्मिके षट्पलं प्रोक्तं भल्लातकघृतं च यत्॥ १७०॥

पिप्पलीमूलाद्य घृत—पूर्व के पिप्पलीमूलादि चूर्ण में पठित औषधों के कल्क और क्वाथ से पकाये गये घृत का सेवन वात-कफज ग्रहणी में कराना चाहिए। इसी प्रकार गुल्माधिकारोक्त षट्पल घृत तथा भल्लातक घृत का भी सेवन करना चाहिए॥ १७०॥

बिडं कालोत्थलवणं सर्जिकायवशूकजम्। सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चेति दाहयेत्॥ १७१॥
सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य क्षारस्य द्व्याढकेन तु। आढकं सर्पिषः पक्त्वा पिबेदग्निविवर्धनम्॥ १७२॥
इति क्षारघृतम्।

क्षारघृत—विडनमक, कालानमक, सज्जीखार, जवाखार, सातला, कण्टकारी (रेंगनी) और चित्रकमूल, इन सबको जलाकर भस्म करें और छः गुने जल में भस्म को घोलकर सात बार छान लें। उस क्षार जल को २ आढक की मात्रा में लें और एक आढक घी में मिलाकर मन्द आँच पर पाक करें। तैयार होने पर घृतलिप्त पात्र में भरकर रखें। इस घृत को उचित मात्रा में पीने से यह अग्नि को बढ़ाता है॥ १७१-१७२॥

समूलां पिप्पलीं पाठां चव्येन्द्रयवनागरम्। चित्रकातिविषे हिङ्गु श्वदंष्ट्रां कटुरोहिणीम्॥ १७३॥
वचां च कार्षिकं पञ्चलवणानां पलानि च। दध्नः प्रस्थद्वये तैलसर्पिषोः कुडवद्वये॥ १७४॥
खण्डीकृतानि निष्क्वाथ्य शनैरन्तर्गते रसे। अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम्॥ १७५॥
पिबेत्पाणितलं तस्मिञ्जीर्णे स्यान्ममधुराशनः। वातश्लेष्मामयान्सर्वान्हन्याद्विषगरांश्च सः॥

पिप्पलीमूलाद्य क्षार—पिपरामूल, पाठा, चाभ, इन्द्रजौ, सोंठ, चित्रक, अतीस, हींग, गोखरू, कुटकी और बच प्रत्येक १-१ पल लेकर कूट लें तथा दही २ प्रस्थ एवं तिल का तैल और गाय का घी १-१ कुड़व मिला लें। इन सबको एक कड़ाही में रखकर चूल्हे पर चढ़ा, मन्द आँच देकर द्रवांश सुखा डाले। फिर उसे एक मिट्टी के पात्र में रख मुख पर कपड़मिट्टी लगाकर बन्द करें और पुटपाक करके भस्म कर दें। तत्पश्चात् उसका चूर्ण बनाकर रख लें। इसमें से १ कर्ष की मात्रा (वर्तमान में ३ ग्राम) लेकर घी मिलाकर पान करें। औषध पच जाने पर मधुररसप्रधान भोजन करना चाहिए। यह क्षार सभी प्रकार के वात-कफज रोगों को, विष-विकार को और कृत्रिम विषों को नष्ट करता है॥ १७३-१७६॥

भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रयम्। अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत्॥ १७७॥
स क्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये वाऽप्यवचूर्णितः। हृत्पाण्डुग्रहणीदोषगुल्मोदावर्तशूलनुत्॥ १७८॥

भल्लातक क्षार—भिलावा, सोंठ, पीपर, मरिच, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, सेंधानमक, विडनमक और सोंचरनमक, इन सभी द्रव्यों को २-२ पल लेकर, कूटकर किसी मिट्टी की हण्डी में रखकर, मुख सन्धिबन्द कर, गोबरी की आग में पुट देकर भस्म बना लें। इस क्षार को घी से चाटना चाहिए या भोजन द्रव्य में मिलाकर सेवन करना चाहिए। यह क्षार हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, गुल्म, उदावर्त और शूलरोग को नष्ट करता है॥ १७७-१७८॥

दुरालभां करञ्जौ द्वौ सप्तपर्णं सवत्सकम्। षड्ग्रन्थां मदनं मूर्वां पाठामाग्वधं तथा॥ १७९॥
गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत्। दग्धा च तं पिबेत् क्षारं ग्रहणीबलवर्धनम्॥ १८०॥

दुरालभादि क्षार—यवासा, दोनों करञ्ज (लता और वृक्ष), छितवन, कोरया, बच, मदनफल, मूर्वा, पाठा और अमलतास—इन सबको समानभाग लेकर चूर्ण करें और चूर्ण के बराबर गोमूत्र की भावना देकर सुखा लें और किसी मृत्पात्र में बन्द कर पुट देकर भस्म करें। यह उचित मात्रा में (२-३ ग्राम) लेकर घी मिलाकर सेवन करने से ग्रहणी के बल को बढ़ाता है॥ १७९-१८०॥

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम्। दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः॥ १८१॥

भूनिम्बादि क्षार—चिरायता, कुटकी, परवर के पत्ते, निम्बपत्र और पित्तपापड़ा, इन सबको समभाग लेकर चूर्ण कर, कुल चूर्ण के बराबर भैंस के मूत्र की भावना देकर, सुखाकर, मृत्पात्र में रखकर, पुट देकर गोबरी की आँच में पका लें। इस क्षार को भी उचित मात्रा में सेवन करने से यह अग्नि को बढ़ाता है॥ १८१॥

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी। मुस्तं च बस्तमूत्रेण दहेत् क्षारोऽग्निवर्धनः॥ १८२॥

हरिद्रादि क्षार—हल्दी, दारुहल्दी, बच, कूठ, चित्रक, कुटकी और नागरमोथा, इनके समभाग चूर्ण के बराबर बकरे के मूत्र की भावना देकर, सुखाकर, मृत्पात्र में रखकर, मुख सन्धिबन्द कर, पुट देकर भस्म करें। यह क्षार भी अग्नि को बढ़ाता है॥ १८२॥

चतुष्पलं सुधाकाण्डात् त्रिपलं लवणत्रयात्। वार्ताकीकुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात् पले॥

दग्धानि वार्ताकुरसे गुटिका भोजनोत्तराः। भुक्तं भुक्तं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः॥
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः। इत्येषा क्षारगुटिका कृष्णात्रेयेण कीर्तिता॥ १८५॥

इति क्षारगुटिका॥

क्षार-गुटिका—सेहुँड़ की शाखा ४ पल, सेंधानमक १ पल, विडनमक १ पल, सोंचरनमक १ पल, रेंगनी १ कुडव (४ पल), मदार की पत्ती ८ पल और चित्रकमूल २ पल, इन सबको कूटकर, हण्डी में रखकर, मुख सन्धिबन्द कर गोबरी की अग्नि में फूँक दें। भस्म तैयार होने पर कण्टकारी के स्वरस की भावना देकर, खूब घोटकर गोलियाँ बनायें जो झरबेरी के आकार की हों। भोजन के बाद १-२ गोली खाने से आहार का पाचन शीघ्र होता है। यह गुटिका कास, श्वास और अर्श में हितकर है। इनके सेवन से विसूचिका, प्रतिश्याय और हृदयरोग शान्त हो जाते हैं। इस गुटिका को आचार्य कृष्णात्रेय ने बतलाया है॥ १८३-१८५॥

वत्सकातिविषे पाठां दुःस्पर्शां हिङ्गु चित्रकम्। चूर्णीकृत्य पलाशाग्रक्षारे मूत्रसुते पचेत्॥ १८६॥
आयसे भाजने सान्द्रात्तस्मात् कोलं सुखाम्बुना। मद्यैर्वा ग्रहणीदोषशोथार्शःपाण्डुमान् पिबेत्॥

इति चतुर्थक्षारः।

चतुर्थ वत्सकादि क्षार—कोरया की छाल, अतीस, पाठा, यवासा, हींग और चित्रक, इन्हें समभाग लेकर चूर्ण करें, फिर उसे गोमूत्र में बनाये गये पलाशक्षार के जल में लोहे की कड़ाही में पकायें। जब गाढ़ा और गोली बनाने लायक हो जाय, तो उतार कर रख लें। इसे १ कोल ($\frac{1}{2}$ कर्ष) की मात्रा में गरम जल या मद्य के साथ पीना चाहिए। जिन लोगों को ग्रहणीरोग, शोथरोग, अर्शरोग या पाण्डुरोग हो, उन्हें इसका सेवन करना चाहिए॥ १८६-१८७॥

त्रिफलां कटभीं चव्यं बिल्वमध्यमयोरजः। रोहिणीं कटुकां मुस्तं कुष्ठं पाठां च हिङ्गु च॥ १८८॥
मधुकं मुष्ककयवक्षारौ त्रिकटुकं वचाम्। विडङ्गं पिप्पलीमूलं स्वर्जिकां निम्बचित्रकौ॥ १८९॥
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान् गुडूचीं देवदारु च। कार्षिकं लवणानां च पञ्चानां पलिकान्पृथक्॥ १९०॥
भागान् दध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितम्। अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा तस्मात्पाणितलं पिबेत्॥१९१॥
सर्पिषा कफवातार्शोग्रहणीपाण्डुरोगवान्। प्लीहमूत्रग्रहश्वासहिक्काकासक्रिमिज्वरान्॥१९२॥
शोषातिसारौ श्वयथुं प्रमेहानाहहृद्ग्रहान्। हन्यात्सर्वविषं चैव क्षारोऽग्निजननो वरः॥ १९३॥
जीर्णे रसैर्वा मधुरैरश्नीयात् पयसाऽपि वा।

इति पञ्चमक्षारः।

पञ्चम त्रिफलादि क्षार—आँवला, हर्रा, बहेड़ा, कटभी, चाभ, बेलगिरी, लौहभस्म, कुटकी, नागरमोथा, कूठ, पाठा, शुद्ध हींग, मुलहठी, मुष्कक (मोखा), जवाखार, सोंठ, मरिच, पीपर, बच, वायविडंग, पिपरामूल, सज्जीखार, नीम, चित्रकमूल, मूर्वा, अजमोदा, इन्द्रजौ, गुरुच और देवदारु—प्रत्येक १-१ कर्ष; पाँच प्रकार के नमक (सेंधानमक, विडनमक, सोंचर, औद्भिद और सामुद्र) प्रत्येक १-१ पल लेकर सभी द्रव्यों का चूर्ण बना ले। फिर घी, तैल और दही १-१ कुडव मिलाकर सुखा ले। इन सबको एक हण्डी में रखकर मुखसन्धि को कपड़मिट्टी लगाकर, बन्द कर, सुखाकर, गोहरी की आग में भस्म कर लें। इसे १ कर्ष (किन्तु वर्तमान काल में चतुर्थांश मात्रा ३ ग्राम) की मात्रा में गोघृत मिलाकर सेवन करना चाहिए। इसका सेवन वात एवं कफरोग, अर्शरोग, ग्रहणीरोग और पाण्डुरोग वालों को करना चाहिए। यह क्षार प्लीहरोग, मूत्राघात, श्वास, हिचकी, कास, क्रिमि, ज्वर, शोष, अतिसार, शोथ, प्रमेह, आनाह, हृद्ग्रह और सभी तरह के विषों को दूर करता है। यह क्षार श्रेष्ठ जठराग्निदीपन है। इस औषध के पच जाने पर मधुर मांसरस के साथ अथवा दूध के साथ लघु पुराने अगहनी के चावल का भात आदि खाना चाहिए॥ १८८-१९३॥

त्रिदोषे विधिवद् वैद्यः पञ्च कर्माणि कारयेत्॥ १९४॥
घृतक्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्धनान्। क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति॥

व्यत्यासात्तां समस्तां वा कुर्याद्दोषविशेषवित्।

त्रिदोषज ग्रहणी चिकित्सासूत्र—वैद्य को चाहिए कि जब ग्रहणीरोग त्रिदोषज हो, तो विधि-विधान के साथ पञ्चकर्म करायें। उसके बाद अग्नि को प्रदीप्त करने वाले घृत, क्षार, आसव और अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिए। दोषविशेष का ज्ञाता वैद्य वातज, पित्तज या कफज ग्रहणी की जो चिकित्सा बतलायी है, उनको भी अलग-अलग प्रकार तथा काल से करे या सभी चिकित्सा प्रकारों को एक साथ ही करे॥ १९४-१९५॥

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत्॥ १९६॥
चूर्णानि लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः। विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम्॥ १९७॥
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः—

ग्रहणीनाशक उपचार और औषध—ग्रहणी विकार से ग्रस्त रोगियों में स्नेहन, स्वेदन, शोधन (वमन-विरेचन), लंघन और दीपन उपचार करना चाहिए और चूर्णों का, लवणों का, क्षारों का एवं मध्वरिष्ट का, सुरा और आसवों का तथा अनेक प्रकार के तक्रयोगों का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले घृतों का प्रयोग करना चाहिए॥ १९६-१९७॥

—क्रियां चावस्थिकीं शृणु। ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम्॥ १९८॥
सकृद्रूक्षं सकृत् स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम्। परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम्॥ १९०॥
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम्। बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम्॥ २००॥
सन्धुक्षति तथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः।

ग्रहणीरोग में आवस्थिक चिकित्सा—अब आप ग्रहणीरोग की अवस्थानुसार चिकित्सा सुनें—

(१) कफज ग्रहणीरोग में—रूक्ष द्रव्य, अग्निदीपन द्रव्य और तिक्तरस वाले द्रव्यों का कल्क बनाकर कवल धारण करें या क्वाथ बनाकर गण्डूष धारण करें और पुनः-पुनः धारण कर थूकता रहे। जब रोगी कृश हो और उसका कफ बहुत बढ़ा हो, तो बारी-बारी से कभी रूक्ष द्रव्यों का, कभी स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि यदि केवल रूक्ष का ही प्रयोग किया जाये, तो बल की हानि होगी और यदि स्निग्ध का ही प्रयोग किया जाये, तो बहुकफ रोगी में कफ की वृद्धि होगी। अतः क्रम से एक के बाद दूसरे का प्रयोग बार-बार करना चाहिए। शरीर के भीतर के आमदोष की (एवं अन्य कफज उपद्रवों की) परीक्षा करने के पश्चात् स्नेह (घृत-तैल) युक्त दीपन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

(२) पैत्तिक ग्रहणी की आवस्थिक चिकित्सा—जब ग्रहणी विकार में पित्त की अधिकता हो, तो तिक्त तथा मधुर रसयुक्त अग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

(३) वातज ग्रहणीरोग की आवस्थिक चिकित्सा—जब ग्रहणी रोग में वात की प्रधानता हो, तो उसके शमन के लिए स्निग्ध तथा लवण एवं अम्लरस युक्त औषधों का प्रयोग करना हितकर होता है।

जिस प्रकार लौकिक अग्नि में समुचित इन्धन (लकड़ी आदि या स्नेह द्रव्य) डालने से वह प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार इन वात, पित्त या कफप्रधान ग्रहणी विकारों में विधि-विधान के अनुसार औषधों (तथा आहार-विहार) का प्रयोग करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है॥ १९८-२००॥

स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलाग्नेर्दीपनम्॥ २०१॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि। मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते॥ २०२॥
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तु सः। तया समानः पवनः प्रसन्नो मार्गमास्थितः॥ २०३॥
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम्। काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः॥ २०४॥
सघृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत्।

स्नेह सर्वोत्तम अग्निदीपन—(स्नेह शब्द से यहाँ घृत का ग्रहण करना चाहिए) दुर्बल अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए जितने भी द्रव्य हैं, उनमें घृत सर्वश्रेष्ठ द्रव्य है। यदि कदाचित् गुरु गुणयुक्त भोजन

कर लिया जाये, तो वह भी स्नेह के प्रयोग से प्रदीप्त हुई अग्नि को शान्त नहीं कर सकता। यदि कोई ग्रहणी का रोगी मन्दाग्नि होने के कारण अपक्व मलद्रव का त्याग करता है, तो उसे अग्निप्रदीपक औषधों से युक्त घी का उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। जब समुचित मात्रा में घी का सेवन किया जाता है, तो इससे समानवायु निर्दोष होकर अपने उचित मार्ग में स्थित हो जाती है और अग्नि के समीप रहने के कारण शीघ्र ही जठराग्नि के बल को बढ़ा देती है। जो ग्रहणी का रोगी मल के सूखकर कठिन हो जाने के कारण उसे कठिनाई से बाहर निकाल पाता है, उसे भोजन के बीच में नमक मिलाकर घी पिलाना चाहिए या आहार द्रव्य में मिलाकर खिलाना चाहिए॥ २०१-२०४॥

रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत्सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम्॥ २०५॥
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः। भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः॥ २०६॥
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहबस्तयः। दोषवृद्ध्या तु मन्दऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत्॥
व्याधियुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनम्। उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद् घृतम्॥
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत्।

मन्दाग्नि में कारणानुसार उपचार—(१) यदि कोष्ठ में रूक्षता बढ़ जाने से जठराग्नि मन्द हो गयी हो, तो अग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधों से युक्त घृत या तैल का सेवन करना चाहिए। (२) यदि अधिकांश स्नेहयुक्त पदार्थों के सेवन से जठराग्नि मन्द हो गयी हो, तो चूर्ण, अरिष्ट तथा आसवों का प्रयोग करना हितकर है। (३) यदि गुदा में मल के लिप्त होने से पतला मल निकलता हो, तो तैल, सुरा और आसव का प्रयोग करना हितकारक है। (४) यदि उदावर्त होने के कारण अग्नि मन्द पड़ गयी हो, तो निरूहवस्ति तथा अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। (५) यदि वात आदि दोष बढ़ जाने से अग्निमान्द्य हुआ हो, तो वमन-विरेचन या वस्ति के प्रयोग से यथायोग्य संशोधन करने के पश्चात् अग्निमान्द्यकारक दोष की चिकित्सा यथाविधि करनी चाहिए। (६) यदि किसी रोग से आक्रान्त होने के कारण मन्दाग्नि हो गयी हो, तो घी का प्रयोग करना ही अग्निप्रदीप्तिकारक होता है। (७) यदि उपवास करने के कारण अग्नि मन्द हो गयी हो, तो मण्ड, पेया या यवागू के साथ उनमें मिलाकर घृत का सेवन करना चाहिए। क्योंकि अन्नाहार के मध्य में भोजन द्रव्य के साथ मिला हुआ घी बल को बढ़ाने वाला, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला और शरीर को स्थूल बनाने वाला होता है॥ २०५-२०८॥

दीर्घकालप्रसङ्गात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान्॥ २०९॥
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत् पिशिताशिनाम्। लघु तीक्ष्णोष्णशोधित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम्॥
मांसोपचितमांसत्वात्तथाऽऽशुतरबृंहणाः।

दुर्बल और हीनमांस कृश रोगियों को मांसरस देय—जो मनुष्य अधिक समय तक (बिना बाजीकरण द्रव्यों का सेवन किये ही) अतिशय स्त्रीप्रसङ्ग करने के कारण, व्यवायसामर्थ्यशून्य, दुर्बल और क्षीणकाय हो गये हों, उन्हें मांसभक्षी प्रसह जाति के पशु-पक्षियों के मांसरस को अनार आदि का रस डालकर, खट्टा करके, भोजन के साथ खिलाना चाहिए। इस प्रकार के मांसरस पचने में हल्के, तीक्ष्ण और उष्ण तथा शोधन करने वाले होते हैं। इसलिए वे शीघ्र ही जठराग्नि को प्रदीप्त कर देते हैं। उन पशु-पक्षियों का मांस मांस से ही समृद्ध हुआ होता है, इसलिए वे अतिशीघ्र ही शरीर का संवर्धन कर उसे हृष्ट-पुष्ट बना देते हैं॥ २०९-२१०॥

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात्॥ २११॥
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः। स्नेहान्नविधिभिश्चित्रैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः॥२१२॥
सम्यक्प्रयुक्तैर्भिषजा बलमग्नेः प्रवर्धते। यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरःसन्तिष्ठते चिरम्॥ २१३॥
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत् स्थिरः।

अन्न का सम्यक् प्रयोग ही अग्नि-बलवर्धक—शरीर की जठराग्नि भोजन न करने से या अल्पभोजन करने से प्रदीप्त नहीं होती; न तो वह अधिक भोजन करने से ही प्रदीप्त होती है। जिस प्रकार बिना इन्धन (लकड़ी आदि) के अग्नि बुझ जाती है अथवा अल्प अग्नि पर बहुत अधिक इन्धन रख देने पर भी अग्नि बुझ जाती है। अतः भोजन का न करना, अल्प भोजन करना या अति भोजन करना अग्नि को नष्ट करते हैं। जब आहार विधि-विधान (चरक-विमानस्थान अ० १) के अनुसार वैद्य द्वारा अनुमत सम्यक् प्रकार से आहार ग्रहण किया जाता है, तो जठराग्नि का बल बढ़ता है। अनेक प्रकार के स्नेहों से युक्त अन्नों के सेवन से तथा अनेकविध चूर्ण, अरिष्ट, सुरा और आसवों के सेवन से जठराग्नि की वृद्धि होती है। जिस प्रकार सार भाग युक्त (हीर वाली) ठोस लकड़ी की आग अधिक समय तक स्थिर रहती है, उसी प्रकार स्निग्ध अन्नपान आदि के प्रयोग से जठराग्नि चिरकाल तक सन्धुक्षित और स्थिर रहती है॥ २११-२१३॥

हितं जीर्णे मितं चाश्नंश्चिरमारोग्यमश्नुते॥ २१४॥

अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना। समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः॥ २१५॥
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये। दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद् गदान्॥ २१६॥

वाच्यं मन्दस्य तत्रोक्तमतिवृद्धस्य वक्ष्यते।

हिताहार और मिताहार दीर्घ जीवनदाता—पहले के खाये हुए आहार के पच जाने पर हितकारक एवं मात्रापूर्वक भोजन करने वाला मनुष्य चिरकाल तक आरोग्यमय जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि उसके वातादि दोष तथा रस-रक्तादि धातुओं में विषमता न होने पाये और जठराग्नि की वृद्धि हो। शरीर के मध्य भाग में रहने वाली जठराग्नि की ऊष्मा दोषों के समावस्था में रहने पर सम रहती है और सम रहने पर वह अन्न का सम्यक् पाचन कर शरीर के आरोग्य, पुष्टि, आयु और बल को बढ़ाती है। कफ से मन्द, पित्त से तीक्ष्ण (अतिवृद्ध) और वात से विषम हुई अग्नि नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है। इस सन्दर्भ में मन्दाग्नि के सम्बन्ध में कथनीय चिकित्सा आदि का उल्लेख कर दिया गया। अब आगे अतिवृद्ध (तीक्ष्ण) अग्नि के सम्बन्ध में कहेंगे॥ २१४-२१६॥

नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्॥ २१७॥
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति। तदा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः॥ २१८॥
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः। पक्त्वाऽन्नं स ततो धातूञ्छोणितादीन् पचत्यपि॥ २१९॥
ततो दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युं चोपनयेन्नरम्। भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति॥ २२०॥
तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः।

तीक्ष्णाग्नि (भस्मक रोग) की सम्प्राप्ति और लक्षण—जब मनुष्य के शरीर में कफ की कमी होती है और वायु के साथ पित्त प्रकुपित होता है, तो वह पित्त अपनी ऊष्मा से अग्नि के समीप स्थान में स्थित होकर जठराग्नि को बल प्रदान करता है। इस प्रकार बल प्राप्त कर वह अग्नि वायु के साथ होकर रूक्ष शरीर में अन्न के गुणों को दबाकर, अपनी तीक्ष्णता से खाये हुए अन्न को बार-बार शीघ्र ही पचा डालती है। (यदि पुनः आहार न कर लिया जाय तो) वह अग्नि पहले के भोजन को पचाकर रक्त आदि धातुओं को भी पचाने लगती है। फिर धातुओं का पाक होने से शरीर में दुर्बलता हो जाती है, तरह-तरह के रोग होते हैं और मृत्यु के मुख में चले जाने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भोजन कर लेने पर थोड़े समय के लिए शान्ति मिलती है और जब भोजन पच जाता है तब रोगी ग्लानि और व्यग्रता का अनुभव करता है। तीक्ष्णाग्नि (भस्मक) या अग्नि की अतिवृद्धि होने से प्यास की अधिकता, श्वासवृद्धि, दाह और मूर्च्छा आदि रोग उत्पन्न होते हैं॥ २१७-२२०॥

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः॥ २२१॥
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः। मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत्॥ २२२॥

निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत्। पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम्॥ २२३॥
अद्यात् तथौदकानूपपिशितानि भूतानि च। मत्स्यान् विशेषतः श्लक्ष्णान् स्थिरतोयचरांस्तथा॥

अत्यग्नि (भस्मक) का चिकित्सासूत्र—जैसे लपट फेंकती हुई दहकती आग को पानी डालकर तुरन्त ही शान्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार अत्यग्नि के रोगी को गुरु, स्निग्ध, मधुर और पिच्छिल द्रव्यों का आहार देकर उसकी अग्नि को शान्त करना चाहिए। जब तक पहले किया गया आहार पचे नहीं तब तक उसे पुनः-पुनः भोजन देते रहना चाहिए, जिससे इन्धन न पाकर वह अत्यग्नि रोगी को विनष्ट न कर दे। इसलिए उस रोगी को खीर, तिल, चावल और उड़द की दाल की बनी खिचड़ी, घी-तैल मिले चावल के आटे के बने पदार्थ, गुड़ डालकर पकाये गये पकवान तथा जलेचर एवं आनूप पशु-पक्षियों का मांस घी में भूनकर खिलाना चाहिए। स्थिर जल में रहने वाली चिकनी मछलियों को विशेषकर खिलाना चाहिए॥ २२१-२२४॥

आविकं च भृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम्। यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत्॥ २२५॥

अत्यग्नि में भेड़ का मांस—भेड़ का घी में भूनकर पकाया हुआ मांस अत्यग्नि को नष्ट करता है। भूख लगने पर मधु की मोम मिली यवागू का पान करे या केवल घृत का ही पान करे॥ २२५॥

गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत्। पयो वा शर्करासर्पिर्जीवनीयौषधैः श्रृतम्॥ २२६॥

अत्यग्नि में गोधूम चूर्ण मन्थ—अत्यग्नि से पीड़ित व्यक्ति गेहूँ के आटे को घी में भूनकर, चीनी डालकर पानी डालकर, मोटा पेय जैसा बनाकर पान करे।

अत्यग्नि में सिरावेध—अत्यग्नि में दोषयुक्त रक्त को सिरावेध द्वारा निकालने के बाद जीवनीय औषधों से क्षीरपाक विधि से पकाये गये दूध में चीनी और घी मिलाकर पान करना चाहिए॥ २२६॥

वक्तव्य—क्षीरपाक विधि यह है—'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरस्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः'।

फलानां तैलयोनीनामुत्कुञ्चाश्च सशर्कराः। मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धा मांसरसास्तथा॥ २२७॥
पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन संयुतम्। गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः॥ २२८॥
आनूपरससिद्धान्वा त्रीन् स्नेहांस्तैलवर्जितान्। पयसा समितां चापि घनां त्रिस्नेहसंयुतम्॥

तैल फलों का प्रयोग—जिन फलों में से तैल निकलता है (जैसे—बादाम, अखरोट, पिस्ता, चिरौंजी आदि) उन द्रव्यों को कूट-पीसकर कल्क बनाकर चीनी मिलाकर खाने से एवं प्रचुर मात्रा में घी-तैल डालकर बनाये गये स्निग्ध मांसरसों के सेवन से बढ़ी हुई अग्नि मन्द हो जाती है।

घृत-प्रयोग—मधु की मोम मिलाकर घृत का पान कर शीतल जल पीना चाहिए एवं गेहूँ के आटे को पर्याप्त घी में भूनकर दूध में घोल बनाकर अत्यग्नि के रोगी को पीना चाहिए।

स्नेह-प्रयोग—आनूप देश के पशु-पक्षियों के मांसरस से तैल के अतिरिक्त तीन स्नेहों (घृत, वसा, मज्जा) को पकाकर पीने के लिए देना चाहिए। इसी प्रकार गेहूँ के आटे को भूनकर, दूध में डालकर गाढ़ी लपसी (नरम हलवा) बनाकर उसमें घी, वसा और मज्जा मिलाकर खाने को दे॥ २२७-२२९॥

नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम्। ताभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये॥ २३०॥

स्त्रीदुग्ध और गूलर का प्रयोग—गूलर की छाल को पीसकर स्त्री के दूध में मिलाकर पीना चाहिए अथवा गूलर की छाल का कल्क और स्त्री का दूध डालकर चावल और दूध से बनायी गयी खीर बढ़ी हुई अग्नि को शान्त करने के लिए देना चाहिए॥ २३०॥

श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम्। असकृत् पित्तशान्त्यर्थं पायसप्रतिभोजनम्॥
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद्विधानवित्। यत्किञ्चिन्मधुरं मेद्यं श्लेष्मलं गुरुभोजनम्॥
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा। मेद्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रतान्तः समश्नुते॥

न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च। कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः॥ २३४॥
समधातोः पचत्यन्नं पुष्टश्चायुर्बलवृद्धये।

त्रिवृत का प्रयोग—अत्यग्नि चिकित्सा के विधान का ज्ञाता दक्ष वैद्य रोगी की प्रकृति, बल एवं दोष आदि का विचार कर अत्यग्नि के रोगी को पित्तशमनार्थ काली निशोथ के कल्क से पकाये हुए दूध का विरेचन बार-बार दे और भोजन में खीर खिलाये।

अत्यग्नि में आहार—जो भी आहार द्रव्य रस में मधुर, मेद को बढ़ाने वाला, कफवर्धक और गुरुपाकी होता है, वह अत्यग्निविकार में हितकारक होता है। इसी प्रकार भोजन के बाद दिन में सोना भी अत्यग्नि विकार में हितकर होता है। (क्योंकि भोजन करने के बाद दिन में शयन करने से कफ की वृद्धि होती है और वह बढ़ा हुआ कफ अग्नि को मन्द बनाता है)। अत्यग्नि से ग्रस्त जो व्यक्ति बिना भूख लगे ही मेदस्वी या मेदजनक अन्न का आहार करता है, वह अत्यग्नि से होने वाले संकट या मृत्यु से ग्रस्त नहीं होता और उसका शरीर पुष्ट रहता है।

समाग्नि और उसका कर्म—कफ के बढ़ जाने पर एवं पित्त और वायु का वैषम्य दूर कर देने पर जठराग्नि सम हो जाती है। वह समाग्नि समधातु पुरुष द्वारा खाये गये अन्न का पाचन उस व्यक्ति की शरीर पुष्टि, आयु तथा बल को बढ़ाने के लिए करती है॥ २३१-२३४॥

भवन्ति चात्र—

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्॥ २३५॥
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः। भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्॥ २३६॥
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा।

समशन, विषमाशन और अध्यशन के लक्षण—(१) पथ्य और अपथ्य को एक साथ मिलाकर खाने को **समशन** कहते हैं। (२) भोजन की सामान्य मात्रा से अधिक मात्रा में या बहुत कम मात्रा में भोजन करना अथवा भोजन के नियत समय के पहले भोजन करना या भोजन के निर्धारित समय के बहुत बाद भोजन करना **विषमाशन** कहलाता है। इसी प्रकार (३) पहले किये गये भोजन के बिना पचे ही पुनः भोजन करना **अध्यशन** कहलाता है। ये तीनों ही प्रकार या तो मृत्युमुख में डाल देते हैं या भयंकर व्याधियों को जन्म देते हैं॥२३५-२३६॥

[1]प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति॥ २३७॥

१. (क) ननु चतुर्भिर्यामैरन्नपाक उक्तः, तत्कथमहःसंज्ञे—चतुर्यमि द्वौ वारौ भोजनं विधीयते, अजीर्णप्रतिषेधः कथं नापततीत्याह—प्रातराशेत्विति। पूर्वाह्नभोजनेऽजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति। बलादुक्तं सायमाशेऽजीर्णे प्रातराशो दुष्यतीति। कात्र युक्तिरिति? उभयत्रापि युक्तिरभिधीयते। प्रथमस्य युक्तिः, दिवसस्य प्रारम्भप्रभृत्यर्केण = सूर्यभट्टारकेण बाह्यपुण्डरीकवत् पुरुषस्य हृदयपुण्डरीकं प्रबोध्यते = प्रकाश्यते। तस्मिंश्च हृदये प्रबुद्धे पुरुषस्य व्यायामेन = शरीरचेष्टया, विचारेण च = बुद्धिविकल्पेन तथा चेतसश्च = मनसोविक्षिप्तत्वेन क्रियायोगात् व्यायामादियोगाच्च सर्वस्रोतांसि स्वबाह्यवाहकत्वे स्फुटत्वं = निरावरणत्वं यान्ति। यतः स्रोतसां स्फुटत्वेन वातादयो धातवः कोष्ठे परिक्लेदं न यान्ति। तेनाक्लिन्नेषु धातुषु सायमाशोऽन्नमासिक्तं = जठरे न्यस्तमत्यन्तेन न दुष्यति। अत्यन्तग्रहणं किञ्चिद् दुष्यति सात्म्यत्वादिना रोगं न करोति इति ज्ञापनार्थम्। दृष्टान्तो यथा—अविदग्धेऽनग्निस्पृष्टे पयस्यन्यत् पयो न्यस्तं न दुष्यतीति। ये त्वन्नमन्यदासिक्तं तेन हेतुना न दुष्यतीति वदन्ति, तेषामासिक्तशब्देनैवान्यत्वस्य लब्धत्वाद् विचारणीयम्। इति शशिलेखायामिन्दुकरः।

(ख) 'हृदयपुण्डरीकप्रबोधे स्रोतसां विवृतत्वात् अव्याहतं वहति रसे, निर्याति च वहज्जाठरजातवेदोऽर्चिषि नान्ने क्लेदविदाहोदयः। तदभावात्सायं भुक्तं न दुष्यति। क्लेदविदाहोद्भवात्तु पुनर्निशाऽजीर्णे भुक्तं दुष्यत्येवेति' व्याख्याकुसुमावल्यां श्रीकण्ठदतः।

दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत्। तस्मिन् विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः॥ २३८॥
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः। न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति। अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम्॥ २४०॥
नैव दूष्यति तेनैव समं सम्पद्यते यथा।

प्रातः भोजन के अजीर्ण में सायं का भोजन अहानिकर—यदि प्रातःकाल का किया हुआ भोजन न भी पचा हो, तो सायंकाल भोजन कर लेना कोई विशेष हानिप्रद नहीं होता। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से दिन में कमल खिला रहता है उसी प्रकार सूर्य की किरणों के आलोक से मानव या प्राणियों का हृदय प्रबुद्ध रहता है तथा हृदय के प्रबुद्ध (विकसित) रहने पर शरीर के स्रोतों के मुख खुले रहते हैं। यद्यपि दिन में शारीरिक श्रम करते रहने से, चलने-फिरने से और मानसिक व्यापार की व्यस्तता से स्रोतों के मुख खुले रहते हैं और स्रोतों द्वारा रस के अव्याहत गति से वहन होते रहने से स्रोतों में क्लिन्नता नहीं होती, जिसके परिणामस्वरूप धातुएँ भी दिन में क्लिन्न नहीं होतीं। एवञ्च दिन में आहार क्लिन्न नहीं होता और सायंकाल जो दूसरा आहार किया जाता है वह प्रक्षिप्त आहार भी दूषित नहीं होता। क्योंकि दोनों ही आहार निर्दुष्ट होते हैं। जैसे अविकृत दूध में दूसरा अविकृत दूध डाल देने पर वह बिगड़ता नहीं है और दोनों एक समान हो जाते हैं; इसी प्रकार प्रातः भोजन के अजीर्ण होने पर सायंकाल भोजन कर लेना कोई दोष या विकार नहीं उत्पन्न करता है॥ २३७-२४०॥

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च। यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते देहधातवः॥ २४१॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदूष्यति। विदग्धेषु पयःस्वन्यत् पयस्तप्तमिवार्पितम्॥ २४२॥
नैशेष्वाहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान्। तस्मादन्यत्समश्नीयात्पालयिष्यन्बलायुषी॥ २४३॥

रात्रि भोजन के अजीर्ण में प्रातः भोजन हानिकर—रात्रि के समय हृदय म्लान अर्थात् अल्प सक्रिय होता है और स्रोतों में भी मार्गसंकोच होता है जिससे धातुओं की गति या उनके संवहन में ह्रास होता है, ऐसी स्थिति में रात का किया हुआ आहार यदि नहीं पच पाया, तो उसमें क्लिन्नता होकर विकृति हो जाती है। फिर भी यदि निशाऽजीर्ण के होते हुए प्रातःकाल भोजन कर लिया जाये, तो पूर्व के अपक्व और क्लिन्न आहार के साथ मिलकर वह भी दूषित हो जाता है। जैसे कि फटे हुए दूध में यदि दूसरा गरम किया हुआ दूध डाला जाता है, तो वह भी फट जाता है। इसलिए जो बुद्धिमान् मनुष्य अपने शारीरिक बल और आयु की रक्षा करना चाहता है, वह रात्रि में किये गये भोजन के न पचने पर प्रातःकाल फिर दूसरा भोजन न करे॥ २४१-२४३॥

तत्र श्लोकाः

अन्तरग्निगुणा देहं यथा धारयते च सः। यथाऽन्नं पच्यते यांश्च यथाऽऽहारः करोत्यपि॥ २४४॥
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यावन्तो ये पचन्ति यान्। रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तेभ्य एव च॥
वृष्याणामाशुकृद्धेतुर्धातुकालोद्भवक्रमः। रोगैकदेशकृद्धेतुरन्तरग्निर्यथाऽधिकः॥ २४६॥
प्रदुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगाञ्जनयत्यपि। ग्रहणी या यथा यच्च ग्रहणीदोषलक्षणम्॥ २४७॥
पूर्वरूपं पृथक् चैव व्यञ्जनं सचिकित्सितम्। चतुर्विधस्य निर्दिष्टं तथा चावस्थिकी क्रिया॥
जायते च यथाऽत्यग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम्। उक्तवानिह तत्सर्वं ग्रहणीदोषके मुनिः॥ २४९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
ग्रहणीचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अध्याय का उपसंहार—भगवान् आत्रेय पुनर्वसु मुनि ने इस 'ग्रहणीदोषचिकित्सित' नामक अध्याय में जठराग्नि के गुण, वह जैसे देह को धारण करती है, जैसे अन्न को पचाती है, आहार जिन्हें उत्पन्न करता है, जितनी अग्नियाँ हैं, जो-जो अग्नियाँ जिन्हें पचाती हैं, रस आदि धातुओं की क्रम से उत्पत्ति और उन धातुओं से मलों की उत्पत्ति, इन सब विषयों का वर्णन किया है। वृष्य द्रव्यों के शीघ्र कार्यकारी होने में हेतु, धातुओं की कितने समय में किस क्रम से उत्पत्ति होती है, रोग के देह के किसी एक भाग में उत्पन्न होने में कारण, जठराग्नि की प्रमुखता का कारण, उसके दूषित होने का कारण, वह दूषित होकर जिन रोगों को उत्पन्न करती है, जिसे ग्रहणी कहते हैं, ग्रहणीदोष के लक्षण, उसके पूर्वरूप और रूप तथा चिकित्सा, चारों प्रकार की ग्रहणी का वर्णन, ग्रहणीदोष की अवस्थानुसार भिन्न-भिन्न चिकित्सा, अत्यग्नि (भस्मकरोग) की उत्पत्ति और उसकी चिकित्सा, ये सभी विषय इस अध्याय में कहे गये हैं॥ २४४-२४९॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'ग्रहणीचिकित्सित' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १५॥

(१) ग्रहणीरोगचिकित्साक्रम बोधक सारणी

(क) ग्रहणीरोग में सामान्य उपक्रम—

सर्वविध ग्रहणी विकार में स्नेहन, स्वेदन, वमन-विरेचन द्वारा शोधन, लंघन करना, अग्निदीपन, औषध एवं आहार-विहार का प्रयोग, पाचनचूर्ण-पाचनलवण-क्षारयोग का प्रयोग, मध्वरिष्ट, सुरा (अन्न की बनी पुरानी शराब), मूलासव आदि का प्रयोग, अनेकविध तक्रों का प्रयोग और जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले पिप्पल्यादि चूर्ण, मरिचादि चूर्ण, दशमूलादि घृत, षट्पल घृत, त्र्यूषणाद्य घृत एवं चित्रकादि वटी आदि का प्रयोग करना चाहिए।

(ख) आवस्थिकी चिकित्सा—

सामग्रहणी चिकित्सा—जब विदग्ध (अर्धपक्व) आहार से कुपित वातादि दोष ग्रहणीरोग उत्पन्न करते हैं, तब विष्टम्भ, मुख से लालास्राव, उदरशूल, विदाह और अरुचि आदि लक्षणों से सामग्रहणी को पहचान लेना चाहिए। फिर रोगी को गरम जल पिलाकर वमन करायें और दोषों का शमन करें। वमनार्थ मदनफल के क्वाथ में पीपर तथा सरसों का कल्क मिलाकर पिलाना चाहिए।

यदि आमदोष कोष्ठ में **लीन** या **पक्वाशयस्थ** हो, तो अग्निदीपन द्रव्यों से युक्त विरेचन औषधों का प्रयोगकर उसे निकाल देना चाहिए।

यदि आमदोषयुक्त रस **शरीर में व्याप्त** हो गया हो, तो लंघन तथा पाचन का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार वमन, विरेचन, लंघन एवं पाचन के प्रयोग से जब कोष्ठ से आम निकल जाये, तो पञ्चकोल (पीपर-पिपरामूल-चाभ-चीता-सोंठ) आदि दीपन-पाचन द्रव्यों के क्वाथ में पकायी हुई पेया या लघु अन्न खिलाते हुए दीप-पाचन योगों का प्रयोग करते रहना चाहिए।

मलविबन्ध—जिस ग्रहणी के रोगी की अग्नि मन्द हो और उसका मल कठिन हो जाने के कारण बड़ी कठिनाई से निकलता हो, उसे भोजन के मध्य में कुछ अधिक मात्रा में नमक मिश्रित घी का सेवन करना चाहिए।

मन्दाग्नि—(१) यदि रूक्षता के कारण अग्नि मन्द हो, तो दीपन औषधयुक्त घृत का सेवन करायें। (२) यदि स्निग्धता के कारण मन्दाग्नि हो, तो चूर्ण, क्षार, आसव एवं अरिष्टों का सेवन कराना चाहिए। (३) उदावर्तजन्य मन्दाग्नि में निरूह एवं अनुवासन वस्ति दे। (४) दोषाधिक्य के कारण मन्दाग्नि हो, तो दोषानुसार वमन, विरेचन या वस्ति का प्रयोग करे एवं संशोधन करे। (५) उपवासजन्य मन्दाग्नि में मण्ड, पेया या विलेपी आदि में घृत मिलाकर पिलाये।

दीर्घकालिक ग्रहणी—यदि अधिक दिनों में ग्रहणी विकार होने से रोगी क्षीण, दुर्बल और कृश हो, तो उसे कच्चा मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांसरस में खट्टे अनार का रस मिलाकर भोजन के साथ खिलाये। आममांस भोजी पशु-पक्षियों का मांस लघु, तीक्ष्ण, उष्ण और शोधन गुणयुक्त होता है। अतः वह शीघ्र ही जठराग्नि को प्रदीप्त कर देता है।

(२) दोषानुसार ग्रहणीरोग चिकित्साक्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
(१) वातजग्रहणी—जब वातजग्रहणी में दीपन-पाचन औषधों के प्रयोग से आम का पाचन हो जाय तब दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध **घृत का पान** करायें या उनका चूर्ण मिलाकर थोड़ा-थोड़ा घृत पिलायें। जब घृत के प्रयोग से अग्नि कुछ तीव्र हो जायें, तो भी मल-मूत्र एवं अपान वायु के निकलने में रुकावट हो, तो २-३ दिन घृतपान कराकर स्नेहन करें, फिर स्वेदन तथा तैल का अभ्यंग करके **निरूहवस्ति** (गोदुग्ध आधा लीटर, मधु सौ ग्राम, घी सौ ग्राम, तिल का तैल सौ ग्राम मिलाकर वस्तियन्त्र में भरकर) दें। इसके बाद जब निरूहवस्ति से वायु का प्रकोप शान्त हो जाय एवं मल में कुछ शिथिलता आ जाय, तो एरण्डतैल में क्षार मिलाकर या तिल्वक घृत में क्षार मिलाकर **विरेचन** कराने के लिए पिलाना चाहिए। शोधन के बाद कोष्ठ रूक्ष होने पर यदि मलविबन्ध हो, तो दीपन द्रव्य, अम्ल रस वाले द्रव्य एवं वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तैल द्वारा मात्रा के अनुसार **अनुवासनवस्ति** देनी चाहिए। इस प्रकार वातज ग्रहणी के रोगियों को निरूहवस्ति, विरेचन एवं अनुवासनवस्ति देने के बाद लघु अन्न द्वारा सिद्ध पेया-विलेपी आदि का पथ्य देते हुए प्रतिदिन रोगी के बल एवं अग्नि की क्षमता के अनुसार घृत सेवन का अभ्यास कायम रखें। वातजग्रहणी में स्निग्ध, लवण एवं अम्ल रसों से युक्त दीपन औषधों का सतत् प्रयोग करना लाभप्रद होता है।	**(१) वातज ग्रहणी में घृताभ्यास दशमूलाद्य घृत**—२०-२५ ग्राम की मात्रा में प्रातः-सायं भोजन के साथ देने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। **त्र्यूषणाद्य घृत** का पूर्ववत् प्रयोग मन्दाग्नि को दूर करता है। **पञ्चमूलादि घृत** एवं **पंचमूलादि चूर्ण**—ये दोनों श्रेष्ठ अग्निदीपक हैं। **साम मल होने पर**—पाचन औषध के सेवन से और **निराम** होने पर संशमन औषध से चिकित्सा करें। आम पाचनार्थ **चित्रकादि गुटिका** १ ग्राम भोजनोत्तर गरम जल से खिलायें। तथा सोंठ, अतीस, नागरमोथा या हर्रे या केवल सोंठ का चूर्ण प्रातः-सायं गरम जल से खिलायें। **सशूल आम मल में**—देवदारु, बच, नागरमोथा, सोंठ, अतीस और हर्रे का चूर्ण वारुणी मद्य की भावना देकर सेवन करायें या बेलगिरी, चित्रक और सोंठ का चूर्ण विडलवण मिलाकर अनार रस से दें अथवा इन्द्रजौ, भुनी हींग, अतीस, मीठा बच, सोंचरनमक और हर्रे का चूर्ण मट्ठे से प्रातः-सायं दें। यदि ग्रहणी के साथ **वमन, अर्श** और **शूल** हो तो हर्रे, सोंचरनमक, जीरा और मरिच समान भाग में लेकर चूर्ण कर ५ ग्राम की मात्रा में गरम जल से दें। **कोष्ठगत वातशमनार्थ**—पिप्पल्यादि चूर्ण का प्रयोग करें। **अरुचि होने पर**—मरिचादि चूर्ण ५ ग्राम मट्ठे के साथ दें। भोजनोत्तर २० ग्राम की मात्रा में समान जल मिलाकर **तक्रारिष्ट** पिलाना चाहिए। **तक्रप्रयोग**—सान्द्र, सघृत, अम्ल एवं मधुर होने से तक्र वातशामक होता है तथा दीपनग्राही एवं लघु होने से वातजग्रहणी में श्रेष्ठ औषध एवं पथ्य है।	**(१) अम्लप्रयोग**–वृक्षाम्ल, बिजौरा नीबू, खट्टे बेर और अम्ल-बेंत १-१ प्रस्थ, सोंठ-मरिच-पीपर १-१ पल, सेंधा, सोंचर, विड और औद्भिद लवण १-१ पल एवं चीनी ८ पल, इन सबका चूर्ण बनाकर रख लें। इसे शाक, दाल, भोजन और रायते में डालकर खाना चाहिए। इससे अजीर्ण, अरुचि कास, शूल आदि नष्ट होते हैं। **यवागू प्रयोग**–चव्य, दालचीनी, पिपरामूल, धाय का फूल, सोंठ, मरिच, पीपर, चित्रक, कैथ, बेलगिरी, पाठा, सेमर की गोंद, गजपीपर, पाषाण भेद और जीरा, प्रत्येक ½ कर्ष ले। इन्हें पीसकर घी में भून कर दही मिलाकर यवागू बनायें। इसी तरह (२) कैथ के रस (३) तिन्तिड़िक के रस (४) इमली के क्वाथ और (५) खट्टे अनार के स्वरस में यवागू बनाकर सेवन करायें। इससे अतिसार, ग्रहणी, गुल्म, अर्श नष्ट होते हैं। इसी प्रकार (१) पंचकोल कल्क सिद्ध मूँग का यूष (२) मरिच चूर्ण मिश्रित मूली का यूष (३) जांगल पशु-पक्षियों के मांस का दीपन औषधों के क्वाथ से सिद्ध मांसरस, अनार का रस और खट्टा तक्र मिलाकर और (४) कच्चा मांस खाने वाले जीवों का मांस दीपन द्रव्यों के क्वाथ में पकाकर तैयार मांसरस ग्रहणीरोग में उत्तम पथ्य है।

उपचार	औषध	पथ्य
(२) पित्तजग्रहणी–पित्तजग्रहणी विकार में जब पित्त अपने स्थान में उपस्थित हो और वह बहिर्गमनोन्मुख हो एवं अपने द्रवांश की अधिकता से जठराग्नि को मन्द कर रहा हो, तो उसे वमन या विरेचन द्वारा निकालना चाहिए। पित्तजग्रहणी में तिक्त एवं मधुर रसयुक्त दीपन औषधों का प्रयोग करना उत्तम एवं हितकर होता है। विदाह न उत्पन्न करने वाले लघु अन्न के द्वारा सिद्ध आहार में तिक्त रस वाले द्रव्यों को मिलाकर जांगल पशु-पक्षियों के मांस रस या मूँग अथवा मसूर के यूष से या दीपन और ग्राही औषध तथा घृत मिलाकर खट्टे अनार के रस से खट्टा कर भोजन करना चाहिए। इसी प्रकार कुष्ठाधिकार में कहे गये तिक्तक घृत के प्रयोग से या दीपन द्रव्यों के चूर्णों के प्रयोग से जठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। **(३) कफजग्रहणी**–कफजग्रहणी रोग में विधिवत् वमन कराना चाहिए, तत्पश्चात् कटु, अम्ल, लवण, क्षार एवं तिक्त द्रव्यों का प्रयोग कर अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। रूक्ष, अग्निप्रदीपक एवं तिक्त द्रव्यों का क्वाथ बनाकर मुख में कवल धारण कर बार-बार थूकना चाहिए। यदि रोगी कृश हो, कफ अधिक हो तो कभी रूक्ष, कभी स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। आमदोष की परीक्षा करने के बाद स्नेह मिले हुए दीपन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। इसमें कटु, अम्ल, लवण, क्षार एवं तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग कर जठराग्नि को उद्दीप्त करना चाहिए।	**(२) पित्तजग्रहणी रोग में घृत का प्रयोग**—पित्तविकार के शमनार्थ सबेरे-शाम मिश्री मिलाकर **चन्दनाद्य घृत** का २०-२५ ग्राम की मात्रा में प्रयोग करना हितकर है। कुष्ठाधिकारोक्त **तिक्तक घृत** का प्रयोग करना लाभप्रद है। इसी प्रकार **क्षारघृत** का भी प्रयोग उचित मात्रा में समुचित अनुपान के साथ करें। **चूर्ण**—नागराद्य चूर्ण, भूनिम्बादि चूर्ण, वचादि चूर्ण, किरातादि चूर्ण, इनका मधु, मदिरा या शीत जल से उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। **आसव-अरिष्ट**—मधूकासव, दुरालभासव, मूलासव, पिण्डासव और मध्वरिष्ट, इनको भोजनोत्तर २०-२५ ग्राम समान जल से पिलाना चाहिए। **क्षार**—भल्लातक क्षार, दुरालभाद्य क्षार, भूनिम्बादि क्षार, हरिद्रादि क्षार, क्षारगुटिका, वत्सकादि क्षार, त्रिफलादि क्षार, इनका घृत के साथ उचित मात्रा में प्रयोग करना चाहिए। **(३) कफजग्रहणी** में भी पूर्वोक्त क्षार, चूर्ण एवं घृतों का प्रयोग करना चाहिए। यदि कफजग्रहणी में शूल हो तो **अभयाचूर्ण, मरिचादिचूर्ण, पञ्चमूलादिचूर्ण** या **चित्रकादिवटी** का प्रयोग करना चाहिए। बल एवं वर्ण वृद्धि के लिए **पिप्पलीमूलाद्य चूर्ण** का प्रयोग करे। पूर्वोक्त औषधों को यथावश्यक देते रहें।	**(२) पित्तजग्रहणी में**—मीठा बनाकर तक्र का प्रयोग करे आधा मक्खन निकाला हुआ तक्र पित्तजग्रहणी में श्रेष्ठ पथ्य है। मण्ड, पेया और यवागू को तिक्तरस वाले द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध कर खिलायें। तिक्तरसयुक्त लघु अन्न दें। अनार का रस कच्चे केले की सब्जी, पका गूलर खिलायें। मखाना या धान्यलाज को पकाकर मीठाकर देना चाहिए। **(३) कफजग्रहणी**–जठराग्नि को बढ़ाने के लिए पलाश बीज, चित्रकमूल, चाभ, बिजौरा नीबू, हर्रे, पीपर, पिपरामूल, पाठा, सोंठ, धनिया, इन्हें १-१ कर्ष ले कर कूटकर १ प्रस्थ जल में क्वाथ करें, चौथाई बचे तो छान लें। प्यास लगने पर यही जल पिलायें और इसी जल में मण्ड, पेया, विलेपी, यवागू आदि सिद्ध कर भोजन दें। इस प्रकार जब अग्नि तीव्र हो जाय, तब सूखी मूली के यूष या कुलथी के यूष में कटुद्रव्य या अम्लद्रव्य या क्षार द्रव्य या नमक मिला कर उससे लाल अगहनी के चावल का भात खाना चाहिए। खाने के बाद खट्टा मट्ठा या तक्रारिष्ट या मदिरा या मध्वरिष्ट या सीधु पीने को दें।

उपचार	औषध	पथ्य
(४) **त्रिदोषजग्रहणी**—त्रिदोषजग्रहणी विकार में पञ्च-कर्म विधानज्ञ वैद्य को चाहिए कि वह विधिपूर्वक यथावश्यक पञ्च-कर्म करायें, तत्पश्चात् अग्नि को बढ़ाने वाले घृत, क्षार, आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग करे।	(४) **त्रिदोषजग्रहणी**—त्रिदोषज ग्रहणी में वही चिकित्सा करें, जो वात-पित्त या कफजग्रहणी में कही गयी है। उसे पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ यथायोग्य दोषानुसार करना चाहिए।	(४) **त्रिदोषजग्रहणी**—दोष की प्रधानता के अनुसार पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए।
(५) **भस्मक रोग या अत्यग्नि**—इस रोग में पित्त की अति-वृद्धि हो जाती है। अतः पित्त के शमनार्थ दोष एवं रोगी के बल का विचार कर काली निशोथ के कल्क से विधिवत् पकाये हुए दूध को पिलाकर विरेचन कराना चाहिए और विरेचन के बाद खीर खिलानी चाहिए। आहार में मधुर, मेदोवर्धक, कफवर्धक और गुरु पदार्थों का सेवन करायें। दिन में भोजन के बाद सोना चाहिए। बिना भूख के भी गरिष्ठ आहार करते रहना चाहिए। **सिरावेध**—रोगी की वाम बाहु के कूर्पर प्रदेश की सिरा का वेधकर रक्तमोक्षण करे और उस के बाद जीवनीयगण (अष्टवर्ग जेठी मधु, जीवन्ती, मुद्गपर्णी, माषपर्णी) की औषधों से पकाये गये दूध में चीनी और घी मिला कर पीने को दे। भस्मक रोग से पीड़ित व्यक्ति को लगातार मेदोवर्धक आहार का सेवन करायें। इससे उसके शरीर में पुष्टि बनी रहती है।	(५) **भस्मक चिकित्सा**—जिस प्रकार बढ़ी हुई अग्नि की शान्ति जल के द्वारा शीघ्र ही की जाती है, उसी प्रकार जठराग्नि के अति तीव्र हो जाने पर, गुरु, स्निग्ध, शीत, मधुर और पिच्छिल आहार से उसे शीघ्र ही शान्त करना चाहिए। यदि उक्त प्रकार के आहार से उसे अजीर्ण भी हो जाय, तो भी उसे बार-बार भोजन देना चाहिए। भस्मक रोगी को **मधु की मोम और घी** एक में मिलाकर खिलाकर शीतल जल पिलायें अथवा **गेहूँ के आटे** को प्रचुर घी में तरबतर भून कर पुनः दूध में घोलकर चीनी मिलकार पिलायें। **तैलयुक्त फलों का योग**—जिन फलों से तैल निकाला जाता है, जैसे तिल, सरसों, बादाम आदि, उन्हें सील पर पीसकर, चीनी मिलाकर खाने को दें एवं स्निग्ध मांसरस पिलायें। **नारीक्षीर-उदुम्बर**—गूलर की छाल का कल्क बनाकर स्त्री के दूध में घोल कर पिलायें या स्त्रीस्तन्य एवं गूलर की छाल के कल्क को डालकर पकायी हुई खीर पिलायें। इससे अत्यग्नि शान्त होती है।	(५) **भस्मक में सेवनीय आहार**—खीर, तिल, उड़द, चावल की खिचड़ी, स्निग्ध आहार में मालपूआ आदि, चावल के आटे से बने स्निग्ध पदार्थ, मिठाइयाँ, जलीय तथा आनूप मांस को घी में तलकर खाना ठीक है। गहरे जल में रहने वाली **मछलियाँ** खानी चाहिए। **भेड़ के मांस** को घी में भून-कर या पेया आदि में मिला कर खिलायें अथवा केवल घृत का पान करायें। **गेहूँ** के आटे को घी में भून-कर, चीनी मिलाकर जल में घोलकर पिलायें। **स्नेह प्रयोग**—आनूप देश में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस-रस से सिद्ध तैल के अतिरिक्त तीन स्नेह—घी-वसा-मज्जा पीने के लिए दे अथवा गेहूँ के आटे को दूध में पकाकर जब गाढ़ा हो जाये, तो घृत-वसा-मज्जा मिलाकर पीने के लिए दें।

अथ षोडशोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'पाण्डुरोगचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—'तीक्ष्णाग्नि' रोग आदि पित्तजनक होते हैं, जिनका वर्णन ग्रहणीचिकित्सा में किया गया है। उन पित्तजनक विकारों के बाद पाण्डुरोग होने की सम्भावना होती है, इसलिए ग्रहणीरोग के पश्चात् पाण्डुरोग का वर्णन किया गया है। पाण्डु का अर्थ है—केतकी की धूल के समान वर्ण और इस तरह का पीताभ-श्वेत वर्ण होना ही पाण्डुरोग है। पाण्डुरोग के साथ कामला एवं हलीमक का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार पाण्डुप्रधान लक्षण वाले अनेक रोगों के वर्ग को पाण्डुरोग कहते हैं।

पाण्डुरोग

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ ३ ॥

पाण्डुरोग के भेद—पाण्डुरोग पाँच प्रकार के कहे गये हैं; यथा—१. वातज, २. पित्तज और ३. कफज ये तीन; ४. सन्निपातज और ५. मिट्टी खाने से मृद्भक्षणजन्य पाण्डु होता है ॥ ३ ॥

वक्तव्य—आचार्य सुश्रुत ने दोषों से होने वाले चार प्रकार के 'पाण्डुरोग' गिनाये हैं (यथा—'पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः, पृथक् समस्तैर्युगपच्च दोषैः' सु. उ. ४४)। चरक द्वारा निर्दिष्ट पञ्चम भेद मृद्भक्षणजन्य पाण्डु को खायी हुई मिट्टी की प्रकृति के आधार पर दोषप्रकोपजन्य ही माना है, जैसे—१. कषाय रस की मिट्टी खाने से वातप्रकोपजन्य वातज पाण्डु, २. ऊषर मिट्टी खाने से पित्तप्रकोपजन्य पित्तज पाण्डु और ३. मधुर मिट्टी खाने से कफज पाण्डुरोग उत्पन्न होता है। यद्यपि सुश्रुत का मत युक्तिसंगत है, तथापि चिकित्सा-भेद की दृष्टि से चरक ने मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग की पृथक् गणना की है। हारीत ने कामला, कुम्भकामला और हलीमक के रूप में ३ अतिरिक्त भेद माना है। सुश्रुताचार्य ने १. पानकी, २. लाघरक और ३. अलस, इन तीन भेदों को माना है।

चरकानुसार पाण्डु के भेद

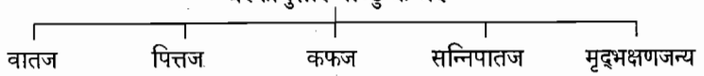

सुश्रुतानुसार पाण्डु के भेद

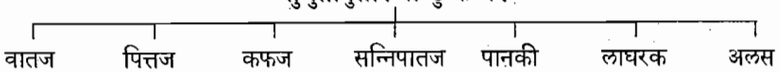

हारीत के अनुसार पाण्डु के भेद

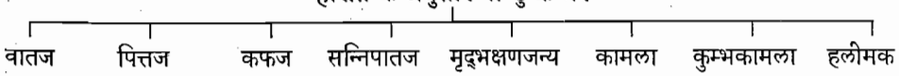

सुश्रुत ने कामला, कुम्भकामला और हलीमक को पाण्डु का पर्याय माना है। उक्त ४ के अतिरिक्त १. पानकी, २. लाघरक और ३. अलस ये तीन भेद माना है; यथा—सकामलापानकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघरकोऽलसाख्यः। **हारीत** ने पाण्डु के भेदों में कामला, कुम्भकामला और हलीमक, ये ३ अधिक माना है;

यथा—'वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवे च। द्वे कामले चैव हलीमकाख्यः स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः'॥

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु। शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते॥ ४॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः। व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात्॥ ५॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः। वैवर्ण्यं भजते—

पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति—जिस पुरुष की रक्त आदि धातुओं में पित्तप्रधान वातादि दोष प्रकुपित हो जाते हैं, उसकी धातुओं में शिथिलता और गुरुता हो जाती है। वातादि दोषों द्वारा रक्तादि धातुओं के प्रकृष्ट रूप से दूषित हो जाने से शरीर के वर्ण, बल, स्नेहांश और ओज के (दश गुण—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, वहल, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल और श्लक्ष्ण) गुण अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं। वह पुरुष अष्टविध सार (विमान० ८) से हीन हो जाता है। उसके शरीर में रक्त और मेदोधातु की अल्पता हो जाती है और उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। चूँकि पित्त विकृत होता है, इसलिए उस व्यक्ति की त्वचा का वर्ण बदलकर विवर्ण हो जाता है॥ ४-५॥

—तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम्॥ ६॥
क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात्। निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात्॥ ७॥
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात्तथा। प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात्॥ ८॥
कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः। समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम्॥ ९॥
वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश। प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम्॥ १०॥
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत्। पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्तथा॥
स पाण्डुरोग इत्युक्तः—

पाण्डुरोग का निदान और विशिष्ट सम्प्राप्ति—उस पाण्डुरोग के कारणों एवं लक्षणों को (जिनका मैं उपदेश कर रहा हूँ) सुनो—क्षार, अम्ल, लवण, अधिक उष्ण, परस्पर विरुद्ध एवं प्रकृति-विरुद्ध तथा अहितकर आहार करने से; सेम, उड़द, तिल की खली और तिल के तैल का सेवन करने से; भोजन के विदग्धाजीर्ण की स्थिति में व्यायाम या मैथुन करने से, दिन में सोने से, वमन-विरेचन आदि के व्यतिक्रम से, ऋतुओं की विषमता से, मल-मूत्रादि वेगों को रोकने से, काम-चिन्ता-भय-क्रोध या शोक से पीड़ित होने के कारण हीन मनोबल वाले व्यक्ति के हृदय में अवस्थित साधक पित्त बढ़ जाता है और वायु के प्रबल वेग से हृदय से सम्बद्ध दश धमनियों में पहुँच जाता है, फिर समस्त शरीर में व्याप्त होकर त्वचा और मांस में स्थानसंश्रय करता है। तत्पश्चात् वह पित्त कफ-वात-रक्त-त्वचा और मांस को प्रदूषित करके त्वचा के ऊपर पाण्डुवर्ण (पीताभ-श्वेतवर्ण), हरिद्रा का वर्ण अथवा हरित आदि अनेक प्रकार के वर्णों को उत्पन्न करता है और इसे ही पाण्डुरोग कहा गया है॥ ६-११॥

सम्प्राप्ति—

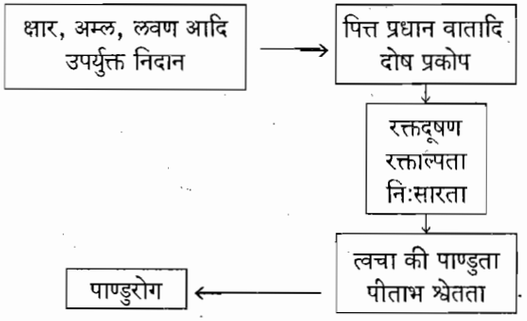

दोष-दूष्य-अधिष्ठान—

दोष : त्रिदोष (पित्त की प्रधानता)।
दूष्य : रक्त, त्वचा, मांस।
अधिष्ठान : सर्वशरीरगत त्वचा।

—तस्य लिङ्गं भविष्यतः। हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा॥ १२॥

पाण्डुरोग का पूर्वरूप—उस पाण्डुरोग के ये पूर्वरूप होते हैं, जैसे—हृदय की गति बढ़ जाती है, शरीर में रूक्षता होती है, पसीना नहीं होता है और शरीर में थकावट महसूस होती है॥ १२॥

सम्भूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः। दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः॥ १३॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान्नरः। मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव॥ १४॥
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतप्रभः। कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक्॥
पिण्डिकोद्वेष्टकटयूरुपादरुक्सदनानि च। भवन्त्यारोहणायासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते॥ १६॥

पाण्डुरोग का सामान्य लक्षण—पाण्डुरोग के उत्पन्न हो जाने पर सभी प्रकार के रोगी कर्णक्ष्वेड (कानों में ध्वनि होना) से ग्रस्त होते हैं। उनकी अग्नि नष्ट हो जाती है। वे दुर्बल होते हैं तथा शरीर में थकावट, भोजन के प्रति द्वेष, श्रम तथा भ्रम से पीड़ित होते हैं। पाण्डुरोगी व्यक्ति अङ्गों में वेदना, ज्वर, श्वास, भारीपन और अरुचियुक्त होता है। जैसे—उसके शरीराङ्गों को मसल दिया गया हो, दबा दिया गया हो या मथ दिया गया हो, ऐसी वेदना होती है। अक्षिकूट में शोथ, त्वचा के वर्ण में हरापन, रोमों का गिरना, शरीर की कान्ति नष्ट होना, अकारण क्रोध करना, शीतल, वस्तुओं से द्वेष करना, अधिक सोना और पुनः-पुनः थूकते रहना—ये सब लक्षण होते हैं। पाण्डु का रोगी कम बोलता है, उसकी पिण्डलियों में ऐंठन होती है, उसके कमर, ऊरु प्रदेश और पैरों में पीड़ा होती है और ऊँचे स्थान पर चढ़ने से आयास तथा थकावट का अनुभव होता है। आगे अलग-अलग वातादि दोषों से होने वाले पाण्डुरोग का वर्णन किया जायगा॥ १३-१६॥

आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः। जनयेत्कृष्णपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम्॥ १७॥
अङ्गमर्दं रुजं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम्। वर्चःशोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान्॥ १८॥

वातज पाण्डुरोग का निदान और लक्षण—वायु को बढ़ानेवाले आहार-विहार के सेवन से प्रकुपित हुआ वायु शरीर के अङ्गों में कालापन, पाण्डुता, रूक्षता तथा लालिमा उत्पन्न करता है। वह वायु अङ्गों में वेदना, पीड़ा, सूई चुभाने जैसा दर्द, कम्पन, पार्श्वशूल, शिरःशूल, पुरीष का शोषण, मुख में स्वाद का नाश, शोथ, आनाह और बलक्षय—इन लक्षणों को उत्पन्न करता है॥ १७-१८॥

पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः। दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते॥ १९॥
स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः। तृष्णामूर्च्छोपिपासार्तः पीतमूत्रशकृन्नरः॥ २०॥
स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति। कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च॥ २१॥
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते। दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च॥

पित्तज पाण्डुरोग का निदान और सम्प्राप्ति—जब पित्तप्रकृति का व्यक्ति पित्तप्रकोपक आहार-विहार का सेवन करता है तब पित्त संचित होकर रक्त, त्वचा एवं मांस को प्रदूषित कर 'पाण्डुरोग' उत्पन्न करता है।

लक्षण—पित्तज पाण्डु का रोगी पीला या हरित आभायुक्त होता है। वह ज्वर, दाह, पिपासा और तृष्णाजनित मूर्च्छा से पीड़ित होता है तथा उसका मूत्र एवं मल पीले वर्ण का होता है। उसे पसीना आता रहता है, वह ठण्डक पसन्द करता है और भोजन करना नापसन्द करता है। उसके मुख का स्वाद कड़वा होता है। उसे उष्ण पदार्थ और अम्ल रसयुक्त पदार्थ अनुकूल नहीं पड़ते हैं। उसे खट्टी डकारें आती हैं और आहार के विदग्धाजीर्ण होने से उदर में और शरीर में जलन होती है। शरीर में दुर्गन्ध, मल में पतलापन, दुर्बलता और आँखों के सामने अँधेरा दीखना—ये पित्तज पाण्डु के सूचक लक्षण हैं॥ १९-२२॥

विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत्। करोति गौरवं तन्द्रां छर्दिं श्वेतावभासताम्॥
प्रसेकं लोमहर्षं च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम्। श्वासं कासं तथाऽऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम्॥
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्णकामताम्। श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात्॥

कफज पाण्डुरोग का निदान—जब कोई व्यक्ति कफ को बढ़ाने वाले आहार-विहार का सेवन करता है तब उसका बढ़ा हुआ कफ वात और पित्त की ही तरह रक्त, त्वचा एवं मांस धातुओं को प्रदूषितकर पाण्डुरोग उत्पन्न करता है।

लक्षण—कफज पाण्डुरोग शरीर में भारीपन, तन्द्रा, वमन, शरीर के वर्ण में सफेदी, मुख से लालास्राव, रोमाञ्च, थकावट, मूर्च्छा, शिर में चक्कर और इन्द्रियों में अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थता लाता है। रोगी को श्वास, खाँसी, आलस्य, अरुचि, वाक्संग, स्वरावरोध, मूत्र, नेत्र तथा मल में सफेदी आना, कटु-रूक्ष एवं उष्ण पदार्थों के खाने-पीने की इच्छा, शोथ और मुख का मीठापन होने पर कफज पाण्डु जानना चाहिए॥ २३-२५॥

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्॥ २६॥

सन्निपातज पाण्डुरोग का निदान और लक्षण—जब कोई व्यक्ति तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाले आहार का सेवन करता है तब उसके शरीर के तीनों दोष प्रकुपित होकर वातज, पित्तज एवं कफज पाण्डुरोग के लक्षणों से युक्त बडी कठिनाई से सहन करने योग्य त्रिदोषज पाण्डुरोग को उत्पन्न करते हैं॥ २६॥

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः। कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम्॥ २७॥
कोपयेन्मृद् रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्षयेत्। पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च॥ २८॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा। पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम्॥ २९॥
शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः। क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम्॥

मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति—मिट्टी खाने की आदत वाले व्यक्ति के शरीर में वात-पित्त-कफ में से कोई दोष प्रकुपित हो जाता है। जैसे—कषायरस की मिट्टी वायु को, ऊषर मिट्टी पित्त को और मधुररस की मिट्टी खाने से कफ को प्रकुपित करती है। मिट्टी अपनी रूक्षता से किये गये भोजन को और रसादि धातुओं को रूक्ष बना देती है। मिट्टी पचती नहीं है, इसलिए वह रस-रक्तादि वहन करने वाले स्रोतों को अवरुद्ध कर देती है, जिससे धातुओं का समुचित पोषण नहीं हो पाता। वह खायी हुई मिट्टी दोष को कुपित कर इन्द्रियों के बल को एवं शरीर के तेज, वीर्य और ओज को नष्ट कर बल, वर्ण तथा जठराग्नि को नष्ट करने वाले पाण्डुरोग को शीघ्र ही उत्पन्न कर देती है।

लक्षण—मृद्भक्षणजन्य पाण्डु के रोगी के कपोलस्थल, नेत्रकूट और भौंह में तथा पैर, नाभि एवं मूत्रेन्द्रिय में शोथ होता है। उसके कोष्ठ में क्रिमियाँ पड़ जाती हैं और वह रक्त तथा कफ मिश्रित मल के अतिसार से पीड़ित होता है॥ २७-३०॥

सम्प्राप्तिः

मृद्भक्षण का आदती व्यक्ति →
कषाय मिट्टी → वातप्रकोप
ऊषर मिट्टी → पित्तप्रकोप + मृत्तिका का रूक्ष गुण → भोजन एवं रस-रक्तादि धातुओं की रूक्षता
मधुर मिट्टी → कफप्रकोप

↓
अपक्व मृत्तिका द्वारा स्रोतोऽवरोध
↓
अग्निनाश
↓
पोषणाभाव
↓
इन्द्रियशक्ति, वीर्य, ऊष्मा, ओज, बल एवं वर्ण का नाश
↓
पाण्डु

लक्षण—(१) शोथ—अक्षिकूट, गण्डप्रदेश, भ्रू, पाद, नाभि एवं मेहन (मूत्रेन्द्रिय)।
(२) क्रिमिकोष्ठताजनित लक्षण।
(३) अतिसार—रक्त एवं कफ मिश्रित मल-त्याग करना।

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति। कालप्रकर्षाच्छ्लनो ना यश्च पीतानि पश्यति॥
बद्धाल्पविट्कं सकफं हरितं योऽतिसार्यते। दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गःश्छर्दिमूर्च्छातृषार्दितः॥३२॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्। इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम्॥

पाण्डुरोग का असाध्य लक्षण—(१) अधिक दिनों से उत्पन्न पाण्डुरोग अच्छा नहीं होता; क्योंकि प्राचीन हो जाने से शरीर की धातुओं में रूक्षता हो जाती है और बल-वर्ण आदि का ह्रास हो गया होता है अथवा (२) पाण्डुरोग के अति दीर्घकाल तक रह जाने से जिसे शोथ हो गया हो और वह सभी वस्तुओं को पीले रंग में देखता है, वह भी साध्य नहीं होता है। (३) जो पाण्डुरोगी बँधे हुए हरित वर्ण वाले कफयुक्त मल का त्याग करता है, वह असाध्य होता है। (४) जो पाण्डु का रोगी दीन हो, जिसके शरीर का वर्ण किसी श्वेत पदार्थ से लिप्त जैसा प्रतीत हो रहा हो और जो वमन, मूर्च्छा तथा अधिक प्यास से पीड़ित हो, वह असाध्य होता है। (५) जिस रोगी के शरीर का पाण्डुवर्ण रक्ताल्पता के कारण श्वेत वर्ण का हो गया हो, उसे भी जीवित नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार पाँच प्रकार के पाण्डुरोग का वर्णन कर दिया गया॥ ३१-३३॥

कामला रोग

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृग्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥ ३४॥

कामलारोग की सम्प्राप्ति—पाण्डु से पीड़ित जो रोगी पित्तवर्धक पदार्थों का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग करता है, उसका प्रवृद्ध पित्त रक्त और मांस को जलाकर कामला रोग का जनक होता है॥ ३४॥

निदान-सम्प्राप्ति—

पाण्डुरोगी
+
पित्तवर्धक पदार्थों का अतिसेवन
→ पित्त का और भी अधिक प्रदूषण
↓
कामला ← रक्त तथा मांस का अत्यधिक प्रदूषण

दोष : पित्त
दूष्य : रक्त-मांस
अधिष्ठान : (१) कोष्ठ (महास्रोत)
: (२) शाखा (रक्तादि धातु + त्वचा)

हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः। रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः॥ ३५॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः। कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥ ३६॥

कामलारोग का लक्षण—कामला के रोगी के नेत्र हरिद्रा के वर्ण के समान पीले रंग के होते हैं। उसके शरीर की त्वचा, नख और मुख भी हल्दी के रंग के पीले होते हैं। उसका मूत्र लाल-पीला निकलता है। वह बरसाती बड़े मेढक जैसा पीला दीखता है। उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होती हैं। वह रोगी दाह, अपचन, दुर्बलता, शरीर की थकावट और अरुचि से पीड़ित रहता है। यह कामला रोग पित्त की अधिकता से होने वाला रोग है। इसके दो प्रकार हैं—(१) कोष्ठाश्रया और (२) शाखाश्रया॥ ३५-३६॥

वक्तव्य—

कामला के भेद

१.	१. शाखाश्रया, २. कोष्ठाश्रया, ३. उभयाश्रया।
२.	१. स्वतन्त्र कामला, २. परतन्त्र कामला।
३.	पाण्डु की प्रवृद्ध दशा कामला (चरक)।
४.	पाण्डुभेद कामला (हारीत)।
५.	अन्य रोगों के उपद्रवस्वरूप कामला।

कामला पैत्तिक रोग है। पाण्डु के समान ही इसमें प्रधानतः रक्त की दुष्टि होती है। **चरक** ने कामला को पाण्डु का ही प्रवृद्ध रूप माना है। **हारीत** ने कामला तथा हलीमक को पाण्डु का ही विशेषरूप मानकर पाण्डु को आठ प्रकार का कहा है।[1] **सुश्रुत** ने कामला को पाण्डु के अतिरिक्त अन्य रोगों का भी उपद्रव माना है। **वाग्भट**[2] ने पाण्डुरोग के अतिरिक्त कामला को स्वतन्त्र रूप से भी उत्पन्न होने वाला रोग माना है।

चरक ने १. कोष्ठाश्रित और २. शाखाश्रित रूप से कामला को दो प्रकार का कहा है; उनमें कोष्ठ से महास्रोत का ग्रहण होता है ('कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे')। शाखा शब्द से रक्तादि धातुओं का और त्वचा का ग्रहण होता है ('शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च') किसी भी कारण से जब रक्तादि धातुओं में अथवा महास्रोत आदि कोष्ठों में रहने वाले रक्त में पित्त रञ्जक द्रव्यों (Bile pigments) की उपस्थिति होती है, तो कामला रोग की उत्पत्ति होती है। इस स्थिति में नेत्रकला और त्वचा में पीलापन दिखायी देता है। पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से पित्त की वृद्धि होती है एवं व्यायाम, रूक्ष, शीत तथा मधुर पदार्थों के सेवन से कफ से अवरुद्ध वायु कोष्ठ में जाने वाले पित्त का अवरोध करके उसे शाखा (रक्तादि धातु तथा त्वचा) में फेंकता है। तब कामला

१. वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवे च। द्वे कामले चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः॥ (हारीतसंहिता)

२. भवेत् पित्तोल्वणस्यासौ पाण्डुरोगाद् ऋतेऽपि च। (अ.हृ.नि. १३।१७)

के रोगी के नेत्र-मूत्र-त्वचा हल्दी के रंग के और मल तिलकल्क के समान श्वेतवर्ण का होता है; यह **शाखाश्रित कामला** है। इस प्रकार शाखाश्रित कामला में पित्त कफ से अवरुद्ध रहता है। **कोष्ठाश्रित कामला** वह है जब शाखा में अधिक पित्त बढ़ जाता है, तो कफ के आवरण को तोड़कर कोष्ठ में चला जाता है। दोषों के शाखा को छोड़कर कोष्ठ में चले जाने के सम्बन्ध में चरकाचार्य ने निम्नाङ्कित कारणों को बतलाया है—'वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्। शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्'॥

शाखाश्रित कामला (Obstructive jaundice) प्रायः **स्वतन्त्र** होता है एवं पाण्डुरोग के बाद पित्तल पदार्थों के सेवन से होने वाला कामला **परतन्त्र** होता है। **वाग्भट** ने जो अन्य रोगों के उपद्रवस्वरूप कामला की उत्पत्ति कही है, वह आधुनिक रक्तविषमयताजन्य कामला (Toxic jaundice) के अन्तर्गत आ सकती है।

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला। कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिर्विण्मूत्रो यश्च ताम्यति। दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः॥ ३८॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते।

कुम्भकामला—जब पाण्डुरोग अधिक दिनों तक रह जाता है तब सभी धातुओं में रूक्षता हो जाने से 'कुम्भकामला' की उत्पत्ति होती है जो एक कष्टसाध्य रोग है।

असाध्यतासूचक लक्षण—जब रोगी का मल और उसका मूत्र कृष्ण या पीत वर्ण का होता हो, जिसका शरीर अति शोथयुक्त हो; जिसके नेत्र, मुख, वमन द्रव्य, मल तथा मूत्र लाल रंग के हों; जो बहुत ग्लानि का अनुभव करता हो या बेहोश हो जाता हो; जो दाह, अरुचि, प्यास, आनाह, तन्द्रा और मूर्च्छा से पीड़ित हो और जिसकी अग्नि नष्ट हो गयी हो एवं जिसकी चेतना लुप्त हो गयी हो, वह कामला का रोगी शीघ्र ही मृत्यु का वरण करता है॥ ३७-३८॥

वक्तव्य—यह कामला का ही अवस्थान्तर है। कुम्भ का अर्थ यहाँ पर कोष्ठ है और कोष्ठ में आश्रित कामला को 'कुम्भकामला'[1] कहा गया है। इसके लक्षणों में शरीर की रूक्षता, शोथ और सन्धियों में वेदना-विशेष लक्षण हैं। यह शोथयुक्त जीर्णकामला (Chronic jaundice with oedema) की स्थिति है।

पहले अल्पवृद्ध पित्त शाखाश्रया कामला को उत्पन्न करता है और जब कामला पुराना हो जाता है, तो पित्त की वृद्धि होने से वह कोष्ठाश्रित होकर कोष्ठाश्रया कामला को उत्पन्न करता है।

साध्यानामितरेषां तु प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्॥ ३९॥

साध्य पाण्डुरोग की चिकित्सा का उपक्रम—यहाँ से आगे असाध्य पाण्डु रोग और असाध्य कामला रोग को छोड़कर शेष साध्य पाण्डु एवं कामला की चिकित्सा का वर्णन किया जायगा॥ ३९॥

तत्र पाण्डवामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः। संशोध्यो मृद्वभिस्तिक्तैः, कामली तु विरेचनैः॥
ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत्। शालीन् सयवगोधूमान्पुराणान् यूषसंहितान्॥
मुद्गाढकीमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः। यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत्॥ ४२॥

१. कुम्भकामलेति अवस्थाभेदेन कोष्ठगतकामलायाः संज्ञा, कुम्भः कोष्ठः तदाश्रया कामला कुम्भकामला। अस्यां च शोथोऽपि लक्षणं भवति। उक्तं हि सुश्रुते—भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोथो महांस्तत्र च पर्वभेदः (सु. उ. ४४) इति। (च.चि. १६।३७-३८ पर चक्रपाणिटीका)

साध्य पाण्डु एवं कामला का चिकित्सासूत्र—साध्य पाण्डुरोगी का समुचित स्नेहन कर लेने के पश्चात् तीक्ष्ण वमन और विरेचनकारक औषधों का प्रयोग कर संशोधन करना चाहिए। यदि कामला रोग से ग्रस्त रोगी हो, तो उसे यदि साध्य जाने, तो तिक्त द्रव्यों से निर्मित मृदुविरेचन औषधों का प्रयोग कर उसका विरेचन कराकर संशोधन करे। जब ये दोनों प्रकार के रोगी वमन-विरेचन के प्रयोग से शुद्ध कोष्ठवाले हो जायँ, तो उन्हें पथ्य (हितकर) आहार खाने को देना चाहिए। जैसे—पुराना अगहनी चावल, जौ, गेहूँ, इनका भात या रोटी, मूँग, अरहर या मसूर के यूष के साथ खाने को दे अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के हितकर मांसरक्त के साथ खिलाये। इसके बाद पाण्डु और कामला के रोगियों के दोषों का विचार कर दोषविशेष के अनुसार औषध प्रयोग करे॥ ४०-४२॥

पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा। स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे॥ ४३॥

स्नेहनार्थ घृत-प्रयोग—पाण्डु एवं कामला के रोगियों के स्नेहन के लिए उन्हें (अपस्मार में कथित) पञ्चगव्यघृत (कुष्ठ में कथित) महातिक्तघृत और (उन्माद में कथित) कल्याणघृत का सेवन कराना चाहिए॥ ४३॥

दाडिमात् कुडवो धान्यात् कुडवार्धं पलं पलम्। चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा॥
तैः कल्कैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके। सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शःप्लीहवातकफार्तिनुत्॥ ४५॥
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते। दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां चैव गर्भदम्॥ ४६॥
इति दाडिमाद्यं घृतम्।

दाडिमाद्य घृत—खट्टा अनारदाना १ कुडव, धनिया आधा कुडव, चित्रकमूल १ पल, सोंठ १ पल और पीपर २ कर्ष, इन सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क बना ले; उसे १ आढक जल में मिलाकर तथा २० पल गोघृत मिलाकर धीमी आँच पर कलईदार कड़ाही में पकाकर यथाविधि सिद्ध कर ले। तैयार हो जाने पर गरम-गरम छानकर चीनी मिट्टी के या शीशे के जार में सुरक्षित रख दे। इसे १० ग्राम की मात्रा में दूध-मिश्री के साथ सेवन करे।

यह घृत हृदयरोग, पाण्डुरोग, गुल्म, अर्श, प्लीहरोग और वात तथा कफजन्य विकारों को नष्ट करता है। यह अग्नि को प्रदीप्त करता है और श्वास-कास को नष्ट करता है। मूढवात को दूर करने में श्रेष्ठ है। जिन स्त्रियों को भयङ्कर प्रसव-पीड़ा होती हो, उनके लिए यह लाभकर है और वन्ध्या स्त्रियों को सेवन कराने से उन्हें गर्भ-धारण करने की क्षमता प्रदान करता है॥ ४४-४६॥

कटुकारोहिणी मुस्तं हरिद्रे वत्सकात् फलम्। पटोलं चन्दनं मूर्वा त्रायमाणा दुरालभा॥ ४७॥
कृष्णा पर्पटको निम्बो भूनिम्बो देवदारु च। तैः कार्षिकैर्घृतप्रस्थः सिद्धः क्षीरचतुर्गुणः॥ ४८॥
रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्वयथुं सभगन्दरम्। अर्शांस्यसृग्दरं चैव हन्ति विस्फोटकांस्तथा॥ ४९॥
इति कटुकाद्यं घृतम्।

कटुकाद्य घृत—कुटकी, हर्रे, नागरमोथा, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, परवर की पत्ती, लालचन्दन, मूर्वा, त्रायमाण, धमासा, पीपर, पित्तपापड़ा, नीम की गीली छाल, चिरायता और देवदारु—इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष लेकर कल्क बना लें; उसे १ प्रस्थ गोघृत और ४ प्रस्थ गोदुग्ध के साथ एक में मिलाकर मन्द आँच पर विधिवत् घृतपाक करे और सिद्ध हो जाने पर गरम-गरम छानकर सुरक्षित रख ले। इसकी मात्रा १ कर्ष रखें। यह घृत सेवन किये जाने पर रक्तपित्त, ज्वर, दाह, शोथ, भगन्दर, अर्श, रक्तप्रदर और विस्फोटकों को नष्ट कर देता है॥ ४७-४९॥

पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कवान्। प्रस्थः सिद्धो घृतात् पेयः स पाण्ड्वामयगुल्मनुत्॥
इति पथ्याघृतम्।

पथ्याघृत—ताजी १०० पक्ववीर्य हर्रे का स्वरस और हर्रे का फल जिस डण्ठल में लगते हैं, उसे ५० की संख्या में लेकर उसका कल्क—इन दोनों को १ प्रस्थ घृत में डालकर यथाविधि घृतपाक करें। यह घृत पाण्डु तथा गुल्म रोग को नष्ट करता है॥ ५०॥

वक्तव्य—घृत अच्छी तरह पक जाये, इसके लिए इस घृत को ४ प्रस्थ जल डालकर घृतावशिष्ट पकाना चाहिए।

दन्त्याश्चतुष्पलरसे पिष्टैर्दन्तीशलाटुभिः। तद्वत्प्रस्थो घृतात्सिद्धः प्लीहपाण्ड्वर्तिशोफजित्॥
इति दन्तीघृतम्।

दन्तीघृत—दन्ती के पत्ते या मूल का विधिवत् निर्मित क्वाथ ४ पल और दन्ती के कच्चे फल का कल्क १ पल लेकर इन दोनों को १ प्रस्थ गोघृत में डालकर विधिवत् पाक कर घृत सिद्ध करे। यह घृत प्लीहा, पाण्डु तथा शोथ को नष्ट करता है॥ ५१॥

वक्तव्य—यहाँ घृत में चौथाई क्वाथ डालने को कहा गया है, जो कम है; अतः घी से चौगुना जल डालकर पकाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि दन्ती के कच्चे फल की मात्रा नहीं बतलायी गयी है। वह तीक्ष्ण विरेचन होता है; अतः उसकी मात्रा १ पल ही डालना ठीक है। यह घृत तीव्र विरेचक होगा, इसलिए इसकी मात्रा ४-६ बूँद ही देनी चाहिए।

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः। कामलागुल्मपाण्ड्वर्तिज्वरमेहोदरापहः॥ ५२॥
इति द्राक्षाघृतम्।

द्राक्षाघृत—आधा प्रस्थ मुनक्के का कल्क और पुराना गोघृत १ प्रस्थ लेकर (चतुर्गुण जल डालकर) घृत सिद्ध करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत कामला, गुल्म, पाण्डुरोग, ज्वर, प्रमेह और उदर रोगों को नष्ट करता है॥ ५२॥

हरिद्रात्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम्। सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम्॥ ५३॥
इति हरिद्रादिघृतम्।

हरिद्रादि घृत—हल्दी, निर्बीज आँवला-हर्रा-बहेड़ा, नीम की छाल, बरियार की जड़ और मुलहठी, इन सबको समान भाग २-२ कर्ष लेकर कल्क करे और १ प्रस्थ भैंस का घी तथा ४ प्रस्थ भैंस का दूध डालकर पकाकर घृतसिद्ध करके सुरक्षित रख ले। यह घृत कामला रोग को दूर करने की उत्तम औषध है॥ ५३॥

गोमूत्रे द्विगुणे दार्व्याः कल्काक्षद्वयसाधितः। दार्व्याः पञ्चपलक्वाथे कल्के कालीयके परः॥ ५४॥
माहिषात् सर्पिषः प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः।

दार्वीघृत—दारुहल्दी का कल्क २ कर्ष, गोमूत्र २ प्रस्थ औरा भैंस का घी १ प्रस्थ, एक में मिलाकर यथाविधि घृतपाक करना चाहिए।

कालीयक घृत—पाँच पल दारुहल्दी (१२ सेर ६४ तोला जल में क्वाथ करे और चतुर्थांश ३ सेर १६ तोला शेष बचायें) के विधिवत् बने क्वाथ में कालीयक काष्ठ (अगर की लकड़ी) का कल्क २ कर्ष और भैंस का घृत १ प्रस्थ मिलाकर विधिवत् घृतपाक करे। इनमें का पहला घृत पाण्डु में और दूसरा कामला में हितकर है। ५४॥

स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत्॥ ५५॥
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा। दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना शृतम्॥ ५६॥
द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात् पाण्ड्वामयापहम्। द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत्॥

स्नेहन के बाद विरेचन—पूर्वोक्त स्नेहों-घृतों के प्रयोग से पाण्डु एवं कामला के रोगी के शरीर के सम्यक् स्निग्ध हो जाने के बाद उसका विरेचन कराना चाहिए। विरेचन के लिए केवल दूध अथवा गोमूत्र मिला हुआ दूध अनेकशः पिलाना चाहिए अथवा दन्तीफल के गरम क्वाथ में गम्भार का फल ४ पल या मुनक्का ४ पल पीसकर, मसलकर, मिलाकर पीने को दे। यह विरेचनयोग पाण्डुरोगनाशक है। इसी प्रकार पित्तज पाण्डुरोग वाले रोगी को आधा पल निशोथ चूर्ण में १ पल चीनी मिलाकर, घोलकर पिलाना चाहिए॥ ५५-५७॥

वक्तव्य—वर्तमान काल में निशोथचूर्ण की मात्रा ३ से ६ ग्राम की द्विगुण चीनी मिलाकर देनी चाहिए।

कफपाण्डुस्तु गोमूत्रयुक्तां क्लिन्नां हरीतकीम्।

कफज पाण्डुनाशक योग—कफज पाण्डु के रोगी को हरीतकी को गोमूत्र में भिगोकर कल्क बनाकर गोमूत्र के साथ सेवन कराना चाहिए।

आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य च॥ ५८॥
सत्र्यूषणं बिल्वपत्रं पिबेन्ना कामलापहम्। दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा॥ ५९॥
कामली त्रिवृतां वाऽपि त्रिफलाया रसैः पिबेत्।

कामलानाशक योग—(१) अमलतास की गुद्दी को (६ ग्राम) गन्ने के रस के साथ दें; या (२) सोंठ, मरिच, पीपर, इनका चूर्ण (३ ग्राम) और बिल्वपत्र (३ ग्राम) का चूर्ण एक साथ विदारीकन्द के स्वरस या क्वाथ अथवा आँवले के स्वरस अथवा क्वाथ के सहपान से दें; अथवा (३) दन्तीमूल का कल्क आधा पल और एक पल गुड़ एक साथ शीतल जल से खिलायें; अथवा (४) निशोथ का चूर्ण (३ ग्राम) त्रिफला के स्वरस या क्वाथ से पीना चाहिए॥ ५८-५९॥

विशालात्रिफलामुस्तकुष्ठदारुकलिङ्गकान्॥ ६०॥
कार्षिकानर्धकर्षांशां कुर्यादतिविषां तथा। कर्षौ मधुरसाया द्वौ सर्वमेतत् सुखाम्बुना॥ ६१॥
मृदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च मध्वनु। कास श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम्॥ ६२॥
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत्।

विशालादि फाण्ट—इन्द्रायन का मूल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नागरमोथा, कूठ, देवदारु, इन्द्रजौ, प्रत्येक १ कर्ष, अतीस आधा कर्ष और मूर्वा २ कर्ष—इन सभी द्रव्यों का मोटा चूर्ण बना ले और उसे कुछ समय गरम जल में रखकर, फिर मसलकर, छानकर पीना चाहिए और उसके बाद मधु चाटना चाहिए। यह फाण्ट कास, श्वास, ज्वर, दाह, पाण्डुरोग, अरुचि, गुल्म, आनाह, आमवात और रक्तपित्त को नष्ट करता है॥ ६०-६२॥

वक्तव्य—चूर्णद्रव्य गरम जल में डालकर, फिर मसलकर छान लेने पर फाण्ट बन जाता है—'क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं फाण्ट इत्यभिधीयते'। सामान्य परिभाषा में १ पल चूर्ण को १ कुडव जल में डालकर फाण्ट निर्माण का विधान है—'क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग्जलमुष्णं विनिक्षिपेत्। मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्रावयेत्पटात्'। वर्तमान काल में उक्त मात्रा अधिक है, इसलिए उसका चतुर्थांश लेकर ही फाण्ट बनाना चाहिए।

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम्॥ ६३॥
शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः।

प्रातःकाल सेवनीय योग—कामला के रोगी को प्रातःकाल में (१) आँवला-हर्रा-बहेड़ा का क्वाथ अथवा (२) गुरुच का रस या क्वाथ या (३) नीम की पत्ती या छाल का रस या क्वाथ अथवा (४) दारुहल्दी का क्वाथ थोड़ा मधु मिलाकर ठण्डा ही पीना चाहिए॥ ६३॥

क्षीरमूत्रं पिबेत् पक्षं गव्यं माहिषमेव वा॥ ६४॥
पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहे त्रिफलारसम्।

पाण्डु में गोमूत्र-प्रयोग—(१) गोमूत्र में गोदुग्ध मिलाकर अथवा (२) भैंस के मूत्र में भैंस का मूत्र मिलाकर पाण्डुरोगी पन्द्रह दिन पान करे या (३) गोमूत्र को त्रिफला के क्वाथ में डालकर एक सप्ताह तक पान करे॥ ६४॥

तरुजान् ज्वलितान्मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चाङ्कुरान्॥ ६५॥
मातुलुङ्गस्य तत् पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत्।

मातुलुङ्ग का प्रयोग—बिजौरा नीबू के नये कोपलों को आग में जलाकर उसे गोमूत्र में बुझाकर, हाथ से मसलकर, छानकर पीना चाहिए। यह पाण्डुरोग और शोथ को दूर करता है॥ ६५॥

स्वर्णक्षीरी त्रिवृच्छ्यामे भद्रदारु सनागरम्॥ ६६॥
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं मूत्रे वा क्वथितं पिबेत्। क्षीरमेभिः शृतं वाऽपि पिबेद्दोषानुलोमनम्॥

स्वर्णक्षीर्यादि योग—स्वर्णक्षीरी (भड़भाड़), सफेद निशोथ, काली निशोथ, देवदारु और सोंठ को ५-५ ग्राम लेकर बारीक पीसकर ४ पल गोमूत्र में घोलकर पीना चाहिए; अथवा उक्त द्रव्यों को २०० मिली लीटर गोमूत्र में पकाकर ५० मिलीलीटर शेष रहने पर छानकर पान करे; या उन्हीं द्रव्यों को २०० मिली लीटर गोदुग्ध और ८०० मिली लीटर जल में क्षीरावशेष पकाकर, छान कर पान करना चाहिए। यह योग पाण्डु तथा कामला में दोषों का अनुलोमन करता है॥ ६६-६७॥

हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत्। जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा॥ ६८॥

गोमूत्रहरीतकी—अथवा पाण्डु या कामला से पीड़ित व्यक्ति हरीतकी का ३-४ ग्राम चूर्ण १ कप गोमूत्र के साथ नियमित रूप से कुछ दिनों तक पीता रहे और औषध पच जाने पर दूध के साथ अथवा मधुर मांसरस के साथ भोजन करे॥ ६८॥

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः। पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक्॥ ६९॥

लौहभस्म प्रयोग—पाण्डुरोग को नष्ट करने के लिए लौहभस्म को सात दिन तक गोमूत्र में भावना देकर २ रत्ती की मात्रा में दूध के साथ सबेरे-शाम प्रयोग कराना चाहिए॥ ६९॥

त्र्यूषणत्रिफलामुस्तविडङ्गदहनाः समाः। नवायो रजसो भागास्तच्चूर्णं मधुसर्पिषा॥ ७०॥
भक्षयेत्पाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहम्। नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम्॥ ७१॥
इति नवायसचूर्णम्।

नवायस चूर्ण—सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नागरमोथा, वायविडंग और चित्रकमूल, इनमें से प्रत्येक का चूर्ण १-१ भाग और लौहभस्म ९ भाग लेकर अच्छी तरह घोंटकर, मिलाकर सुरक्षित रख दें। इसमें से ४ रत्ती की मात्रा लेकर ६ ग्राम घी और १० ग्राम मधु के साथ प्रातः-सायं सेवन करना चाहिए। यह पाण्डुरोग, हृदयरोग, कुष्ठ, अर्श और कामला रोग को नष्ट करता है। इस नवायसचूर्ण के योग को महर्षि कृष्णात्रेय ने बतलाया है॥ ७०-७१॥

गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान्। पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे॥ ७२॥

मण्डूरभस्म योग—पाण्डुरोग से पीड़ित व्यक्ति के लिए पुराना गुड़, सोंठ का चूर्ण, मण्डूरभस्म और काले तिल का चूर्ण समान भाग और पीपर का चूर्ण २ भाग लेकर (४-५ रत्ती की) गोलियाँ बनाकर (प्रातः-सायं) गोमूत्र के साथ प्रयोग कराना चाहिए॥ ७२॥

त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ। दार्वीत्वङ् माक्षिको धातुर्ग्रन्थिकं देवदारु च॥ ७३॥
एतान् द्विपलिकान्भागांश्चूर्णं कुर्यात् पृथक् पृथक्। मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम्॥

गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत् प्रक्षिपेत्ततः। उदुम्बरसमान्कृत्वा वटकांस्तान् यथाग्नि ना॥
उपयुञ्जीत तक्रेण सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्। मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम्॥ ७६॥
कुष्ठान्यजीर्णकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान्। अर्शांसि कामलां मेहं प्लीहानं शमयन्ति च॥ ७७॥

इति मण्डूरवटकाः।

मण्डूरवटक—सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नागरमोथा, वायविडङ्ग, चव्य, चित्रकमूल, दारुहल्दी की छाल, स्वर्णमाक्षिक भस्म, पिपरामूल और देवदारु, इन हर एक द्रव्यों का चूर्ण अलग-अलग २-२ पल की मात्रा में लेकर रख ले। इन मिलित चूर्णों के वजन से दूने वजन में शुद्ध मण्डूर का चूर्ण लेकर, उसे अठगुने गोमूत्र में डालकर जब तक गाढ़ा तथा चूर्ण डालने पर गुटिका बनाने लायक न हो जायें तब तक पकायें। जब गुटिका बनाने योग्य गाढ़ापन आ जाय, तो पूर्वकथित चूर्ण डालकर खूब अच्छी तरह मिलाकर, गूलर के (छोटे) फल प्रमाण की गोलियाँ बनाकर रख ले। पाण्डु, कामला आदि का रोगी अपनी जठराग्नि की पाचनशक्ति के अनुसार ½, १ या २ गोली (प्रातः-सायं) मट्ठे के साथ सेवन करे और औषध पच जाने पर पथ्य आहार ग्रहण करे। ये वटक पाण्डुरोग से ग्रस्त व्यक्तियों के प्राणरक्षक हैं और कुष्ठरोग, अजीर्ण, शोथ, ऊरुस्तम्भ, कफज रोग, अर्श, कामला, प्रमेह और प्लीहा रोग को नष्ट करते हैं॥ ७३-७७॥

ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक्। चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पलिकैः सह॥ ७८॥
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाऽऽप्लुताः। अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीर्णे हितमिताशिना॥
कुलत्थकाकमाच्यादिकपोतपरिहारिणा।

स्वर्णमाक्षिकादि योग—स्वर्णमाक्षिक भस्म ५ पल, शुद्ध शिलाजीत ५ पल, रजतमाक्षिक भस्म ५ पल, मण्डूर भस्म ५ पल, चित्रकमूल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग, प्रत्येक का चूर्ण १-१ पल और चीनी ८ पल बारीक लेकर सबको एक में घोंटकर मिला दे। इसमें से अपने अग्निबल के अनुसार (४-६ रत्ती) मात्रा में मधु के साथ प्रातः-सायं सेवन करे और औषध के पच जाने पर अल्पमात्रा में पथ्य भोजन लेना चाहिए। इस योग के सेवनकाल में कुलथी, मकोय आदि तथा कबूतर के मांस का सेवन वर्जित है॥ ७८-७९॥

त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च॥ ८०॥
भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च। पञ्चाश्मजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च॥ ८१॥
माक्षिकस्य च शुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा। अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम्॥
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भोजने शुभे। उदुम्बरसमां मात्रां ततः खादेद्यथाग्निना॥ ८३॥
दिने दिने प्रयुञ्जीत जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम्। वर्जयित्वा कुलत्थानि काकमाचीं कपोतकम्॥
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः। रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम्॥ ८५॥
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम्। कुष्ठान्यजीर्णकं मेहं शोषं श्वासमरोचकम्॥ ८६॥
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च।

इति योगराजः।

योगराज—आँवला, हर्रे, बहेड़ा, सोंठ, मरिच, पीपर, चित्रकमूल, वायविडंग, प्रत्येक का चूर्ण १-१ भाग; शुद्ध शिलाजीत, रजतमाक्षिक भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, लौहभस्म, प्रत्येक ५-५ भाग और मिश्री ८ भाग लेकर सभी द्रव्यों को खरल में घोंटकर, जितने मधु में सब दवा मिल जाय उतने मधु में औषध को डालकर, ठीक से मिलाकर किसी स्वच्छ लौहपात्र में रख दें।

इस योगराज को अपनी-अपनी अग्नि के अनुसार (छोटे) गूलर के फल के समान मात्रा में (किन्तु वर्तमान काल में ४-५ रत्ती की मात्रा में) प्रातः-सायं सेवन करना चाहिए और औषध के पच जाने पर इच्छानुसार पथ्य भोजन लेना चाहिए। इस औषध के सेवनकाल में कुलथी, मकोय और कबूतर का मांस खाना वर्जित है।

अमृत के समान जीवन देने वाला यह योग 'योगराज' नाम से प्रसिद्ध है। यह श्रेष्ठ रसायन है, जो सभी प्रकार के रोगों को दूर करने में कल्याणकारी है। यह योग पाण्डुरोग, विषविकार, कास, राजयक्ष्मा, विषमज्वर, कुष्ठरोग, अजीर्ण, प्रमेह, शोष, श्वास और अरोचक को दूर करता है तथा अपस्माररोग, कामलारोग एवं अर्शरोग को विशेष करके नष्ट करता है॥ ८०-८६॥

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलघननागरैः॥ ८७॥
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा। शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा॥ ८८॥
त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री कर्कटाख्या पलोन्मिता।
निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्धकम्॥ ८९॥
चूर्णितं मधुनः कुर्यात् त्रिपलेनाक्षिकान् गुडान्। दाडिमाम्बुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान्॥ ९०॥
तान् भक्षयित्वाऽनुपिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा। पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरान्॥ ९१॥
पूतिहृच्छुक्रमूत्राग्निदोषशोषगरोदरान्। कासासृग्दरपित्तासृक्शोथगुल्मगलामयान्॥ ९२॥
ते च सर्वव्रणान् हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः।

इति शिलाजतुवटकाः।

शिलाजतु वटक—इन्द्रजौ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नीम की छाल, परवर की पत्ती, नागरमोथा और सोंठ को १-१ पल लेकर ३२ पल जल में क्वाथ करे और जब ८ पल बचे, तो छान ले। इस क्वाथ में ८ पल शुद्ध शिलाजीत डालकर भावना दे। इस तरह १० दिन, २० दिन या ३० दिन तक उक्त क्वाथ से शिलाजीत में भावना दें। फिर उस शिलाजीत में ८ पल मिश्री तथा वंशलोचन, पीपर, आँवला, काकड़ासींगी, रेंगनी का मूल और फल १-१ पल एवं दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात १-१ कर्ष लेकर, इन सबका चूर्ण कर, सभी औषधें मिलाकर एकरस कर लें, फिर ३ पल मधु मिलाकर १-१ कर्ष की गोलियाँ बना ले। इसे रोगी व्यक्ति के जठराग्नि बल के अनुसार उचित मात्रा में प्रयोग करे। इसका प्रयोग प्रातः-सायं खाली पेट या भोजन के बाद करना चाहिए और अनुपान के रूप में अनार का रस, गोदुग्ध, पक्षियों का मांसरस, जल, सुरा या आसव पिलाना चाहिए।

इस शिलाजतु वटक के सेवन से पाण्डु, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहारोग, तमकश्वास, अर्श, भगन्दर, मुखदुर्गन्ध, हृदयरोग, वीर्यविकार, मूत्रविकार, जठराग्नि विकृति, शोष, कृत्रिम विष के विकार, उदररोग, कास, प्रदररोग, रक्तपित्त, शोथ, गुल्म, गले के रोग और सभी प्रकार के व्रणविकार दूर हो जाते हैं। ये वटक सभी रोगों को दूर करने में कल्याणकारी होते हैं॥ ८७-९२॥

पुनर्नवा त्रिवृद्व्योषं विडङ्गं दारु चित्रकम्॥ ९३॥
कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः। पिप्पली पिप्पलीमूलं मुस्तं चेति पलोन्मितम्॥
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद् गोमूत्रे द्व्याढके पचेत्। कोलवद् गुटिकाः कृत्वा तक्रेणालोड्य ना पिबेत्॥
ताः पाण्डुरोगान् प्लीहानमर्शांसि विषमज्वरम्। श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं क्रिमींस्तथा॥

इति पुनर्नवामण्डूरम्।

पुनर्नवामण्डूर—गदहपुर्ना की जड़, सफेद निशोथ, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग, देवदारु, चित्रकमूल, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, दन्तीमूल, चव्य, इन्द्रजौ, पीपर, पिपरामूल और नागरमोथा, प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण १-१ पल और इन द्रव्यों के मिलित वजन से दूने वजन में अर्थात् ४० पल मण्डूर भस्म मिलाकर दो आढक गोमूत्र में मन्द आँच पर पकायें। जब गाढ़ा होकर गोली बनाने लायक हो जाये,

तो बेर की छोटी गुठली के बराबर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को मट्ठे में घोलकर पीना चाहिए। ये गोलियाँ पाण्डुरोग, प्लीहारोग, अर्शरोग, विषमज्वर, शोथ, ग्रहणीदोष और कृमिरोग को दूर करती हैं॥ ९३-९६॥

दार्वीत्वक् त्रिफला व्योषं विडङ्गमयसो रजः। मधुसर्पिर्युतं लिह्यात् कामलापाण्डुरोगवान्॥

दार्व्यादि लेह—दारुहल्दी की छाल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा (तीनों निर्बीज), सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग और लौहभस्म, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर, एक में मिलाकर रख ले। कामला तथा पाण्डु के रोगी को उचित मात्रा में (४-५ रत्ती की मात्रा में) आधा चम्मच घी और १ चम्मच मधु मिलाकर प्रातः-सायं सेवन करना चाहिए॥ ९७॥

तुल्या अयोरजःपथ्याहरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा। चूर्णिताः कामली लिह्याद् गुडक्षौद्रेण वाऽभयाः॥

कामलानाशक योग—(१) समान मात्रा में लौहभस्म, हरीतकी चूर्ण और हल्दी का चूर्ण एकत्र मिलाकर रख लें और कामला रोगी उचित मात्रा में इसे घी-मधु (विषम मात्रा) में मिलाकर सेवन करे अथवा (२) अकेले हरीतकी का चूर्ण ३-४ ग्राम की मात्रा में गुड़ एवं मधु के साथ प्रातः-सायं सेवन करे॥ ९८॥

त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः। चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां स लेहः कामलापहः॥ ९९॥

त्रिफलादि योग—आँवला, हर्रा, बहेड़ा, हल्दी, दारुहल्दी और कुटकी का चूर्ण तथा लौहभस्म, इन सभी द्रव्यों को समभाग में लेकर मिलाकर रख ले। इसे उचित मात्रा में (४-६ रत्ती) मधु-घी मिलाकर खाने से यह कामला रोग को नष्ट करता है॥ ९९॥

द्विपलांशां तुगाक्षीरीं नागरं मधुयष्टिकाम्। प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्करार्धतुलां शुभाम्॥
धात्रीफलरसद्रोणे चूर्णितं लेहवत् पचेत्। शीतं मधुप्रस्थयुतं लिह्यात् पाणितलं ततः॥ १०१॥
हन्त्येष कामलां पित्तं पाण्डुं कासं हलीमकम्।

इति धात्र्यवलेहः।

धात्र्यवलेह—वंशलोचन, सोंठ और मुलहठी का चूर्ण २-२ पल, पीपर का चूर्ण १ प्रस्थ, पिसा मुनक्का १ प्रस्थ और चीनी आधी तुला, इन सभी द्रव्यों को आँवले के १ द्रोण स्वरस या क्वाथ में कड़ाही में डालकर मन्द आँच पर अवलेह की तरह पकायें। जब अवलेह तैयार हो जाय, तो चूल्हे से नीचे उतार कर ठंडा होने पर उसमें १ प्रस्थ मधु डालकर ठीक से मिला दें। तैयार होने पर किसी जार में भीतर में घी लगाकर उसमें सुरक्षित रख दें। इसे १ कर्ष की मात्रा में सेवन करना चाहिए। यह अवलेह कामला, पित्तविकार, पाण्डु, कास और हलीमक रोग को दूर करता है॥ १००-१०१॥

त्र्यूषणं त्रिफला चव्यं चित्रको देवदारु च॥ १०२॥
विडङ्गान्यथ मुस्तं च वत्सकं चेति चूर्णयेत्। मण्डूरतुल्यं तच्चूर्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत्॥ १०३॥
शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्याः कर्षसमा गुडाः। यथाग्नि भक्षणीयास्ते प्लीहपाण्ड्वामयापहाः॥
ग्रहण्यर्शोनुद्बश्चैव तक्रवाट्याशिनः स्मृताः।

इति मण्डूरवटकाः।

मण्डूर वटक—सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, चव्य, चित्रकमूल, देवदारु, वायविडंग, नागरमोथा और इन्द्रजौ—प्रत्येक का चूर्ण बराबर-बराबर ले और समस्त मिलित चूर्ण के बराबर मण्डूर भस्म या बारीक पिसा शुद्ध मण्डूर चूर्ण ले। प्रथम मण्डूर के वजन से अठगुने वजन गोमूत्र में मण्डूर को पकायें, जब यह अन्दाजा लगे कि चूर्ण डालने पर गोली बनाने लायक गाढ़ा हो जायगा, तो कड़ाही को चूल्हे से नीचे उतार ले और १-१ कर्ष की गोलियाँ बना ले। अग्नि की शक्ति के अनुसार मात्रा का निश्चय कर सेवन करे। ये वटक पाण्डुरोग, प्लीहारोग, ग्रहणीरोग और अर्श रोग को नष्ट कर देते हैं। इनके सेवन काल में जौ की रोटी मट्ठे से खानी चाहिए॥ १०२-१०४॥

मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्ययोरजः॥ १०५॥
लोध्रं चैतेषु गौडः स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम्।

इति गौडोऽरिष्टः।

गौड अरिष्ट—मजीठ, हल्दी, मुनक्का और वरिआर की जड़—प्रत्येक ५०० ग्राम लेकर भूसा की तरह कूटकर १६ लीटर पानी में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ करे। जब ४ लीटर बचे तो छान ले और मिट्टी के घड़े में रखकर २ किलो ५०० ग्राम गुड़ घोल दे और लोहे का चूर्ण ५०० ग्राम लेकर किसी कपड़े के टुकड़े में बाँधकर डाल दे और उसे १ महीने तक सन्धिबन्द कर सुरक्षित भूसे की ढेर में रख दे। बाद में छानकर निथर जाने पर प्रयोग करे। गुड़ की मात्रा की प्रधानता के कारण इसका नाम गौड अरिष्ट रखा गया है॥ १०५॥

बीजकात् षोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः॥ १०६॥
द्राक्षायाः पञ्च लाक्षायाः सप्त द्रोणे जलस्य तत्। साध्यं पादावशेषे तु पूतशेषे समावपेत्॥
शर्करायास्तुलां प्रस्थं माक्षिकस्य च कार्षिकम्। व्योषं व्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम्॥
मधुकं कुष्ठमित्येतच्चूर्णितं घृतभाजने। यवेषु दशरात्रं तद्ग्रीष्मे द्विः शिशिरे स्थितम्॥ १०९॥
पिबेत् तद्ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःशोथगुल्मनुत्। मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलासन्निपातजित्॥११०॥
बीजकारिष्ट इत्येष आत्रेयेण प्रकीर्तितः।

इति बीजकारिष्टः।

बीजकारिष्ट—विजयसार की लकड़ी (पतली कटी) १६ पल, आँवला ७ पल, हर्रा ७ पल, बहेड़ा ६ पल, मुनक्का ५ पल, पीपर की लाख ७ पल—इन सभी द्रव्यों को कुचलकर १ द्रोण पानी में क्वाथ करे और जब चौथाई जल बचे तो छान ले। इस क्वाथ को किसी मजबूत घृतलिप्त घड़े में रखकर उसमें १ तुला चीनी, १ प्रस्थ मधु और सोंठ, मरिच, पीपर, व्याघ्रनख, खश, कसैली, एलवालुक, महुए का फूल और कूठ—इन सभी द्रव्यों का १-१ कर्ष चूर्ण डालकर मिला दे और ढक्कन बन्द कर दे। इस घड़े को गर्मी के दिनों में १० दिन तक और जाड़े में २० दिनों तक जौ की राशि में गाड़कर रखे। फिर वह अरिष्ट जब तैयार हो जाय, तो छानकर बोतलों में सुरक्षित भर ले। यह अरिष्ट ग्रहणीरोग, पाण्डुरोग, अर्शरोग, शोथरोग, गुल्म, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, प्रमेह, कामला और सन्निपातज रोगों को दूर करता है। इस योग को आत्रेय भगवान् पुनर्वसु ने बतलाया है॥ १०६-११०॥

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं तु तम्॥ १११॥
क्षौद्राष्टांशेन संयुक्तं कृष्णार्धकुडवेन च। शर्करार्धतुलोन्मिश्रं पक्षं स्निग्धघटे स्थितम्॥ ११२॥
प्रपिबेन्मात्रया प्रातर्जीर्णे हितमिताशनः। कामलापाण्डुहृद्रोगवातासृग्विषमज्वरान्॥ ११३॥
कासहिक्कारुचिश्वासांश्चैषोऽरिष्टः प्रणाशयेत्।

इति धात्र्यरिष्टः।

धात्र्यरिष्ट—दो हजार पक्ववीर्य बड़े पुष्ट आँवले को कुचलकर, पीसकर, कपड़े में रख-रखकर रस निचोड़ ले। उस रस के वजन से अष्टमांश वजन में मधु मिलायें, फिर आधा कुडव पीपर का चूर्ण, आधी तुला चीनी मिलाकर किसी घड़े में भीतर घी चुपड़कर, उसमें डालकर मुखसन्धि को कपड़मिट्टी लगाकर बन्द कर दे और १५ दिनों तक भूसे की ढेर में सुरक्षित रख छोड़े। तैयार हो जाने पर छानकर बोतलों में भरकर रख ले। हितकारक एवं परिमित आहार करते हुए प्रतिदिन प्रातःकाल भोजन के बाद अपनी जठराग्नि के अनुसार उचित मात्रा में सेवन करे। यह अरिष्ट कामला, पाण्डु, हृदयरोग, वातरक्त, विषमज्वर, कास, हिक्का, अरुचि और श्वासरोग को नष्ट करता है॥ १११-११३॥

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते॥ ११४॥
पाण्डूनां, कामलार्तानां मृद्वीकामलकीरसः।

पाण्डु और कामला में जल-प्रयोग—पाण्डुरोगी के पीने के लिए अथवा उसका भोजन पकाने के लिए शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू से सिद्ध किये हुए जल का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार यदि रोगी कामला रोग से पीड़ित हो, तो उसे पीने के लिए अथवा भोजन पकाने के लिए मुनक्का या आँवले से सिद्ध किये हुए जल का प्रयोग करना चाहिए॥ ११४॥

वक्तव्य—शालिपर्णी आदि से जल सिद्ध करने के लिए षडङ्गपानीय की परिभाषा के अनुसार जल बनाना चाहिए। जैसे—१ कर्ष औषध द्रव्य को मोटा कूटकर १ प्रस्थ जल में डालकर पकायें और जब आधा जल बच जाये, तो उसे छानकर पीने आदि में प्रयुक्त करना चाहिए; यथा—'कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ' परिभाषा-प्रदीप।

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिति प्रोक्तं महर्षिणा॥ ११५॥
विकल्प्यमेतद्विषजा पृथग्दोषबलं प्रति। वातिके स्नेहभूयिष्ठं, पैत्तिके तिक्तशीतलम्॥ ११६॥
श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं, विमिश्रं सान्निपातिके।

पाण्डुरोग चिकित्सासूत्र—इस प्रकार महर्षि आत्रेय ने पाण्डुरोग की शान्ति के लिए औषधयोगों का उपदेश किया है। चिकित्सक को चाहिए कि रोगी के दोष एवं बल का विचार कर जिसे जहाँ उपयुक्त समझे उसका वहाँ प्रयोग करे।

दोषानुसार चिकित्सासूत्र—वातज पाण्डुरोग में स्निग्धगुण-विशिष्ट औषध, पित्तज पाण्डुरोग में तिक्तरसयुक्त तथा शीतवीर्य औषध और कफज पाण्डु में कटु एवं तिक्तरस और उष्णवीर्य औषध का प्रयोग करना चाहिए। यदि सन्निपातज पाण्डुरोग हो, तो मिश्रित औषधों का प्रयोग करना चाहिए॥ ११५-११६॥

निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक्॥ ११७॥
युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम्। शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत्॥

मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोगचिकित्सासूत्र—औषध-योजना के सुविज्ञ वैद्य को चाहिए कि वह रोगी के बलाबल का अच्छी प्रकार से विचार कर तीक्ष्ण संशोधन औषधों का प्रयोग कर खाई हुई मिट्टी को शरीर से बाहर निकाले। जब संशोधन के प्रयोग से शरीर शुद्ध हो जाये तो रोगी के शरीर में बलाधान के लिए औषधसिद्ध घृतों का प्रयोग करना चाहिए॥ ११७-११८॥

व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे। मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च॥ ११९॥
वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षीरैस्तैः समैर्घृतम्। साधयित्वा पिबेद्युक्त्या नरो मृद्दोषपीडितः॥

व्योषाद्य घृत—सोंठ, मरिच, पीपर, बेल का गूदा, हल्दी, दारुहल्दी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, श्वेत पुनर्नवा, रक्तपुनर्नवा, नागरमोथा, लौह भस्म, पाठा, वायविडंग, देवदारु, काकनासा (बिछुवा घास) और भारङ्गी—इन सभी १८ द्रव्यों को समान भाग १-१ कर्ष लेकर कल्क बनायें और कल्क से चौगुना ७२ कर्ष घी तथा घी से चौगुना २८८ कर्ष गोदुग्ध डालकर कलईदार कड़ाही में मन्द आँच पर घृतपाक करें। मृत्तिकाभक्षणजनित पाण्डुरोग से पीड़ित व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उचित मात्रा में युक्तिपूर्वक इस घृत का प्रयोग करे॥ ११९-१२०॥

तद्वत् केशरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षारशाद्वलैः।

केशरादि घृत—पूर्व के घृत के समान ही नागकेशर, मुलहठी, पीपर, यवक्षार और दूब, इनका कल्क कर, कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना गोदुग्ध डालकर घी पकायें। इस घृत के सेवन से मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग ठीक हो जाता है।

मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्यादविनिवर्तिनः॥ १२१॥
द्वेष्यार्थं भावितां कामं दद्यात् तद्दोषनाशनैः। विडङ्गैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया॥ १२२॥
वार्ताकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा।

मिट्टी खाने में अरुचि उत्पादन—यदि रोगी जिह्वा की लोलुपता के कारण मिट्टी खाना न छोड़ रहा हो, तो उसे पाण्डुरोगनाशक औषधों के रस की भावना दी हुई मिट्टी खाने को दे; जिससे उसे मिट्टी खाने से अरुचि हो जाय। वायविडंग, इलायची, अतीस, निम्बपत्र, पाठा, बड़ी कटेरी, कुटकी, इन्द्रजौ अथवा मूर्वा, इनमें से सभी या एक-दो द्रव्यों के रस की भावना देकर उस मिट्टी को खाने को दे॥ १२१-१२२॥

यथादोषं प्रकुर्वीत भैषज्यं पाण्डुरोगिणाम्॥ १२३॥
क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुर्विशेषतः।

मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग की दोषानुसार चिकित्सा—मिट्टी खाने से उत्पन्न पाण्डुरोग की चिकित्सा करते समय सबसे पहले संशोधन कराकर बलवर्धनार्थ घृत का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। हेतु की विशेषता के कारण इसमें संशोधन एवं घृतप्रयोग तथा औषधरसभावित मृत्तिका खिलाने का विधान बतलाया गया है॥ १२३॥

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली॥ १२४॥
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत्।

शाखाश्रित कामला का चिकित्सासूत्र—जो कामला का रोगी तिल के कल्क के समान शौच का त्याग करता है, उसके विषय में यह जानना चाहिए कि इस रोगी के पित्त का मार्ग कफ के द्वारा अवरुद्ध हो गया है। अतः उसके पित्त की चिकित्सा के लिए कफघ्न औषधों का प्रयोग करना चाहिए॥ १२४॥

रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहैः॥ १२५॥
कफसम्मूर्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली। हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः॥
भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च। दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः॥
क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते।

शाखाश्रित कामला का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण—रूक्ष, शीतल, गुरु और मधुर पदार्थों के सेवन से, व्यायाम करने से और मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकने से कफ से सम्मूर्च्छित वायु पित्त को अपने स्थान से बाहर निकाल फेंकता है, जिसके परिणामस्वरूप रुग्ण व्यक्ति के नेत्र, मूत्र और त्वचा का रंग हल्दी के समान पीला हो जाता है और उसके मल का रंग सफेद हो जाता है। उसके उदर में आटोप (गुड़गुड़ाहट) और विष्टब्धाजीर्ण हो जाता है तथा हृदय में भारीपन होता है। जब पित्त शाखाश्रित होता है, तो रोगी उक्त लक्षणों के साथ दुर्बलता, मन्दाग्नि, पार्श्वशूल, हिक्का, श्वास, अरुचि एवं ज्वर से ग्रस्त हो जाता है॥ १२५-१२७॥

निदान—रूक्ष, शीत, गुरु, मधुर द्रव्यों का सेवन।

सम्प्राप्ति—

व्यायाम एवं वेगनिग्रह → कफ सम्मूर्छित वायु द्वारा कोष्ठ से पित्त का शाखाओं में सम्प्रेषण
↓
रुद्धपथ कामला ← नेत्र-मूत्र आदि में पीतता
(Obstructive jaundice)

बर्हितित्तिरिदक्षाणां रुक्षाम्लैः कटुकै रसैः ॥ १२८ ॥
शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत्। मातुलुङ्गरसं क्षौद्रपिप्पलीमरिचान्वितम् ॥ १२९ ॥

कामला रोग में पथ्य—कामला रोगी को जो भोजन दिया जाय उसमें मोर, तीतर और मुर्गे का मांस पकाकर खिलाया जाय, जिसमें तैल-घी न डाला गया हो तथा अनार का रस और कालीमिर्च का चूर्ण डाला गया हो। इसी प्रकार सूखी मूली एवं कुलथी के यूष के साथ भोजन दें और बिजौरा नीबू के रस में मधु, पीपर तथा मरिच का चूर्ण मिलाकर पिलायें॥ १२८-१२९॥

सनागरं पिबेत् पित्तं तथाऽस्यैति स्वमाशयम्। कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः ॥
आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत्। स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरञ्जिते ॥ १३१ ॥
निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्वःकामलिको विधिः।

पित्त को शाखा से कोष्ठ में लाने का उपचार—पहले के श्लोक में जो बिजौरा नीबू के रस में मधु, पीपर और मरिचचूर्ण डालकर पीने के लिए कहा गया है, उसमें सोंठ का चूर्ण डालकर पिलाने से पित्त अपने आशय में चला जाता है। जब तक मल में पीतवर्ण न आ जाय और वायु का प्रशमन न हो जाय, तब तक रोगी के उपचार में कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण तथा अत्यम्ल द्रव्यों का प्रयोग करते रहना चाहिए। जब पित्त अपने स्थान में चला जाय और पुरीष का वर्ण पीत हो जाय तथा उपद्रव शान्त हो जायें, तो पूर्व में कथित कामला रोग की चिकित्सा करनी चाहिए॥ १३०-१३१॥

हलीमक रोग

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः ॥ १३२ ॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः। स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः।

हलीमक रोग वर्णन—जब पाण्डु से ग्रस्त रोगी के शरीर का वर्ण हरा, श्यामल एवं पीत हो जाय, बल तथा उत्साह का नाश, तन्द्रा, मन्दाग्नि, मन्दज्वर, स्त्रियों में अनुराग का अभाव, अङ्गमर्द, श्वास, तृष्णा, अरुचि और भ्रम उत्पन्न हो जाय, तो उस रोगी को वात और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न 'हलीमक' रोग से ग्रसित जानना चाहिए॥ १३२-१३३॥

वक्तव्य—पाण्डुरोग में जब रोगी के शरीर का वर्ण हरित-श्याव तथा पीत हो जाये और मृदुज्वर आदि लक्षण हों, तो यह स्थिति 'हलीमक' रोग अर्थात् सज्वर कामला (Chronic jaundice complicated with fever) की है। इसी को सुश्रुत ने लाघरक एवं अलसक नाम दिया है। यह वातपित्त-प्रधान रोग है।

पानकी

(Jaundice Complicated with Diarrhoea)

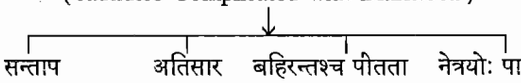

इन लक्षणों से युक्त कामला को 'पानकी' कहते हैं। इसमें अतिसार होना विशिष्ट लक्षण है। इस प्रकार पानकी रोग 'सातिसार कामला' है। जैसा कि माधवकर ने कहा है—'सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता। पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकी लक्षणं भवेत्' ॥

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम् ॥ १३४ ॥
स पिबेत्त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु। विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम् ॥ १३५ ॥
द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च। यापनान् क्षीरवस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान् ॥ १३६ ॥
मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये।

हलीमक रोग की चिकित्सा—हलीमक रोग से ग्रस्त व्यक्ति को भैंस के घृत को चौगुने गुडूचीस्वरस तथा चौगुने भैंस के दूध के साथ विधिपूर्वक पकाकर पान करायें। घृतसेवन से शरीर का स्नेहन हो जाने के बाद आँवले के स्वरस के साथ निशोथ का चूर्ण (३-४ ग्राम की मात्रा में) लेना चाहिए। विरेचन हो जाने के बाद वात-पित्तनाशक मधुररसप्रधान आहार करना चाहिए। पूर्वोक्त द्राक्षालेह का तथा मधुरद्रव्यों से सिद्ध घृतों का सेवन करें। आगे सिद्धिस्थान में वक्ष्यमाण यापनावस्ति, क्षीरवस्ति और अनुवासनवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। जठराग्नि की वृद्धि के लिए मुनक्के से बनाये गये अरिष्ट योगों का प्रयोग करना चाहिए॥ १३४-१३६॥

कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम् ॥ १३७ ॥
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम्।

हरीतकी का प्रयोग—कासरोग की चिकित्सा में कथित अभयावलेह (अगस्त्यहरीतकी) का प्रयोग तथा पीपर, मुलहठी एवं बरियार के मूल के चूर्ण का दूध के साथ प्रयोग करते समय रोग के दोष तथा रोग एवं रोगी के बल का विचार करना चाहिए॥ १३७॥

तत्र श्लोकौ—

पाण्डोः पञ्चविधस्योक्तं हेतुलक्षणभेषजम्। कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च ॥
तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः। तस्य चोक्तं समासेन व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
पाण्डुरोगचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'पाण्डुरोगचिकित्सित' नामक अध्याय में पाँच प्रकार के पाण्डुरोग का निदान, लक्षण, चिकित्सा, दो प्रकार का कामला तथा उनकी साध्यासाध्यता, उनका अन्य विकल्प, महारोग हलीमक एवं संक्षेप में उसका लक्षण और उसकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है॥ १३८-१३९॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'पाण्डुरोगचिकित्सित' नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १६॥

पाण्डु-कामला-हलीमक-चिकित्साक्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
साध्य पाण्डुरोग में स्नेहन करने के बाद तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन द्वारा शोधन करना चाहिए। **कामला** में तिक्तद्रव्य सिद्ध मृदुविरेचन औषध देकर शोधन करना चाहिए। तदनन्तर पथ्याहार देना चाहिए। **वातज** पाण्डु में स्नेह-प्रधान औषध, **पित्तज** में तिक्तरस वाले एवं शीत वीर्य द्रव्य, **कफज** में कटु-तिक्त द्रव्य एवं उष्णवीर्य औषध तथा **त्रिदोषज** पाण्डु में उक्त औषधों का मिश्रित रूप में प्रयोग करें। **मृद्भक्षणजन्य पाण्डु** में रोगी के बलाबल का विचार कर तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन का प्रयोग कर मिट्टी को बाहर निकाल दें, फिर शोधन हो जाने पर बलकारक औषधों से सिद्ध किये हुए घृत का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—व्योषाद्यघृत लाभकर है। **मिट्टी खाने की रुचि को दूर करने के लिए**—वायविडंग, अतीस, नीम की पत्ती, पाठा, रेंगनी, कुटकी, इन्द्रजौ और मूर्वा के स्वरस या क्वाथ की भावना से मिट्टी की गोली बनाकर चूसने को दें।	पाण्डु रोग की चिकित्सा दोषानुसार करनी चाहिए। स्नेहनार्थ—पञ्चगव्यघृत, महातिक्तघृत, कल्याणघृत, दाडिमाद्यघृत, कटुकाद्यघृत, पथ्याघृत, दन्तीघृत, द्राक्षाघृत और हरिद्रादि घृत का प्रयोग करना चाहिए। **पाण्डु** रोग में गोमूत्र तथा दारुहल्दी के कल्क से सिद्ध भैंस का घृत खाने को दें। **कामला** में पाँच पल दारुहल्दी से विधिवत् बने क्वाथ में कालाचन्दन का कल्क मिलाकर सिद्ध भैंस का घी खाने को दें। **विरेचन**—उक्त घृतों के प्रयोग से स्नेहन करने के पश्चात् दूध में गोमूत्र मिला कर पिलायें या केवल दूध अधिक मात्रा में मिलाकर विरेचन करायें या दन्तीफल का क्वाथ, गम्भारी फल या मुनक्का पीसकर पिलायें अथवा निशोथ चूर्ण में दूनी चीनी मिलाकर १-२ कर्ष की मात्रा में दें। **कामला रोगी** को दन्तीमूल का कल्क १ कर्ष दूने गुड़ के साथ दें या निशोथ चूर्ण ५ ग्राम की मात्रा में त्रिफलाक्वाथ से दें। विशालादि फाण्ट पिलायें। प्रातःकाल त्रिफलाक्वाथ या गुडूची स्वरस या दारुहल्दी का क्वाथ या नीम की पत्ती का स्वरस मधु के साथ पिलाना चाहिए। गोदुग्ध में गोमूत्र मिलाकर या भैंस के दूध में भैंस का मूत्र मिलाकर पिलायें या त्रिफलाक्वाथ में गोमूत्र मिलाकर ७ दिन तक पिलायें। स्वर्णक्षीर्यादि योग—स्वर्णक्षीरी (भड़भाड़), काली निशोथ, देवदारु और सोंठ समान भाग का चूर्ण या क्वाथ या क्षीरपाक विधि से पकाकर दें। **हरीतकी** चूर्ण ५ ग्राम गोमूत्र से खिलायें। औषध पच जाने पर गोदुग्ध से या मधुर मांसरस से भोजन दें।	पुराना अगहनी का चावल, जौ, गेहूँ, मूँग का यूष और जांगल पशु-पक्षियों का मांस रस पथ्य है। **पेय जल** पीने या भोजन पकाने के लिए पञ्चमूल (लघु) से सिद्ध जल का प्रयोग करना चाहिए। **कामला में पथ्य**—रूक्ष, अम्ल एवं कटु-रस-द्रव्यों से सिद्ध मोर, तीतर और मुर्गा के मांसरसों के साथ या सूखी मूली के यूष या कुलथी के यूष के साथ आहार का सेवन करें एवं बिजौरा नीबू के रस में मधु, त्रिकटु चूर्ण २ ग्राम मिलाकर पिलाने से पित्त अपने आशय में चला जाता है।

उपचार	औषध	पथ्य
मृद्भक्षणजन्य पाण्डु में जिस दोष का अनुबन्ध हो, उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। **शाखाश्रित कामला** में जब रोगी तिलपिष्ट सदृश मल का त्याग करे, तो यह समझना चाहिए कि कफ से पित्त का मार्ग अवरुद्ध है। अतः कफ को दूर करने वाले उपचार से पित्त के मार्ग का अवरोध दूर करना चाहिए।	सात दिन तक गोमूत्र में भावित **लौह भस्म** २-२ रत्ती प्रातः-सायं प्रयोग करें। **नवायस चूर्ण** ५ रत्ती मधु से दें। **मण्डूर भस्म** पुराना गुड़, काला तिल १-१ भाग और पीपर २ भाग मिलाकर वटी बनाकर प्रयोग करे। मात्रा १ ग्राम। स्वर्णमाक्षीक भस्मयोग, योगराजरस, शिलाजतुबटक, पुनर्नवा मण्डूर और दाव्र्यादि लेह मधु-घी से दें। **कामला** में लौह भस्म २ रत्ती, हर्रे चूर्ण १ ग्राम और हल्दी चूर्ण ४ रत्ती मिलाकर मधु-घी से प्रयोग करें। धात्रीअवलेह, मण्डूरवटक, गौड अरिष्ट, बीजकारिष्ट, धात्र्यरिष्ट, इनका प्रयोग रोगी के दोषानुसार करना चाहिए। **दोष को शाखा से कोष्ठ में लाने के लिए** अत्यन्त तीक्ष्ण, उष्ण तथा लवण के द्वारा उपचार करें। जब तक पित्त मल को रँगने न लगे एवं वायु का शमन न हो जाये तथा उपद्रव शान्त न हो जायें। **हलीमक** में गुडूची स्वरस तथा भैंस के दूध से भैंस का घी पकाकर प्रयोग करें, जिससे शरीर स्निग्ध हो जाय। तत्पश्चात् आँवले के क्वाथ से निशोथ का चूर्ण ३ ग्राम की मात्रा में सबेरे-शाम दें। इससे विरेचन हो जाने के बाद वात-पित्तनाशक मधुर अन्न का सेवन करें। द्राक्षावलेह या अन्य मधुरद्रव्य-सिद्ध घृतों का सेवन करायें। यापनावस्ति एवं अनुवासन वस्ति दें। जठराग्नि की वृद्धि के लिए द्राक्षारिष्ट आदि का प्रयोग करें। कासाधिकार की 'अगस्त्यहरीतकी' का प्रयोग करना चाहिए। रोगी के बलानुसार पीपर, मुलहठी और बरियार की जड़ के कल्क से सिद्ध घृत का प्रयोग करें।	

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अथातो हिक्का-श्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'हिक्का-श्वासचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—इस अध्याय के श्लोक १४ में यह कहा गया है कि हिक्का तथा श्वासरोग पाण्डुरोग होने से हो जाते हैं—'पाण्डुरोगाद् विषाच्चैव प्रवर्तते गदाविमौ'। पाण्डुरोग के कारण उत्पन्न होने के कारण पाण्डुरोग के वर्णन के बाद हिक्का-श्वास का वर्णन किया गया है।

हिक्का शब्द की निरुक्ति—हिग् इति कृत्वा कायति शब्दायते इति हिक्का। जिस रोग में हिक्-हिक् की ध्वनि कण्ठ से निकलती है, उसे हिक्का कहते हैं।

विशेष— हिक्का तब उत्पन्न होती है जब जिह्वामूलद्वार के संकोच काल में महाप्राचीरा में अनिश्चित रूप से संकुचन या उद्वेष्टन होने से श्वासकर्म में रुकावट होकर कण्ठ में हिक्-हिक् शब्द निकलता है। सामान्यतः महाप्राचीरा पेशी का संकोच होने के समय उरोगुहा में शून्यता होती है, फिर कण्ठच्छद (Epiglottis) खुलता है और वायु फुप्फुस में प्रवेश कर जाती है एवं फिर जब महाप्राचीरा यथास्थिति में आती है, तो वायु बाहर निकल जाती है। यह श्वासकर्म का सामान्य प्रकार है, जिसमें (१) महाप्राचीरा का संकोच, (२) उरोगुहा की शून्यता और (३) एपिग्लॉटिस का खुलना, ये तीनों क्रियाएँ एक साथ होती हैं। यदि उक्त क्रियाएँ एक साथ न हों, तो एपिग्लॉटिस के असामयिक बन्द हो जाने से वायु बीच में ही रुका रह जाता है और हिक्का होने लगती है।

महाप्राचीरा के अकस्मात् असामयिक रूप से बन्द होने के अनेक कारण हो सकते हैं, जिन्हें मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—१. महास्रोत सम्बन्धी और २. वातनाड़ी-संस्थान सम्बन्धी।

(१) महास्रोत में उपस्थित अन्न द्वारा अन्ननलिका या आमाशय में क्षोभ या आमाशयशोथ, आमाशय-विस्फार, आन्त्रशोथ, आन्त्रावरोध, आध्मान आदि में हिक्का होती है।

(२) वातनाड़ी-संस्थानगत कारणों में अपतन्त्रक, अपस्मार, मस्तिष्क अर्बुद, मस्तिष्ककलाशोथ, मदात्यय आदि से हिक्का होती है[1]।

1. A recurring involuntary spasm or clonic contraction of the diaphragm associated with a characteristic sound is described as a hiccup, hiccough or singultus.

Causes: There are many and varied causes. They may be gastrointestinal, toxic, neurological, psychogenic, infective or surgical. (1) *Intraabdominal causes* : Peritonitis, diaphragmatic lesions, intestinal obstruction, subphrenic abscess, dilatation of stomach or liver abscess. (2) *Mediastinal causes* : Enlarged heart, pericardinal effusion, mediastinal tumours, aortic aneurysm, mediastinitis asthama, substernal goitre. (3) *Toxic causes* : High fevers, toxaemia, septicaemia, shock. (4) *Neurological* : Tuberculous meningitis, encephalitis, hydrocephalus, epilepsy, chorea, cerebral arteriosclerosis, brain tumour. (5) *Psychogenic* : Neurosis, hysteria, sudden laughter, swelling, cold drinks, cold

दोष : सकफ वात (प्राण, उदान)।
दूष्य : अन्न, श्वासवायु।
अधिष्ठान : (१) 'पित्तस्थानसमुद्भव' पित्तस्थानशब्देन आमाशयोऽभिप्रेतः, चक्रपाणिः।
(२) स्वरयन्त्र।

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुत्तमम्। अपृच्छत् संशयं धीमानग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषास्त्रिप्रकोपणाः। रोगा नानात्मकास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ॥

दुर्जय रोगों के विषय में अग्निवेश का प्रश्न—बुद्धिमान् अग्निवेश ने हाथ जोड़कर वैदिक वाङ्मय तथा लौकिक वाङ्मय के विषयों के तत्त्व को जानने वाले ऋषिप्रवर महर्षि आत्रेय से अपने सन्देह को पूछा कि हे महर्षि! आपने जो सामान्य-असामान्य या मृदु-दारुण या निज-आगन्तुक भेद से दो प्रकार के; वात-पित्त-कफ, इन तीनों दोषों से पृथक्-पृथक् अथवा मिलित रूप से उत्पन्न होने वाले एवं असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम इन तीन कारणों से होने वाले अनेक लक्षणों वाले रोगों को कहा है, उनमें कौन-कौन से रोग कठिनतापूर्वक जीते जाते हैं ॥ ३-४ ॥

अग्निवेशस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा मतिमतां वरः। उवाच परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ॥ ५ ॥
कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणनाशु निकृन्ततः ॥ ६ ॥

आत्रेय का उत्तर—अग्निवेश के प्रश्न को सुनकर सुधीप्रवर महर्षि आत्रेय अति प्रसन्न हुए और यथार्थ तथा निश्चयात्मक रूप से यह कहा कि यों तो बहुतेरे ऐसे रोग होते हैं जो प्राणघातक होते हैं, किन्तु वे तीव्रता और शीघ्रता में वैसे नहीं होते, जैसे कि श्वास तथा हिक्का शीघ्र ही प्राणनाश कर देते हैं ॥ ५-६ ॥

अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः। अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥ ७ ॥

मृत्युकाल में हिक्का या श्वास की उत्पत्ति—हिक्का रोग स्वतन्त्र रूप से हो अथवा किसी अन्य प्रकार के रोग से ग्रस्त व्यक्ति को हो; जीवन की अन्तिम बेला में तीव्रवेदना के साथ हिक्का या श्वास रोग उसे हो ही जाते हैं ॥ ७ ॥

कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ। हृदयस्य रसादीनां धातूनां चोपशोषणौ ॥ ८ ॥
तस्मात् साधारणावेतौ मतौ परमदुर्जयौ। मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हत आशीविषाविव ॥ ९ ॥

समानधर्मा हिक्का एवं श्वास अति दुर्जेय—हिक्का तथा श्वास, ये दोनों कफ और वात से उत्पन्न रोग हैं। इनकी उत्पत्ति पित्तस्थान (आमाशय) से होती है। ये दोनों रोग हृदय एवं रस-रक्तादि धातुओं का शोषण करते हैं। इसलिए साधारण रूप से उत्पन्न होने वाले भी ये रोग कठिनाई से साध्य होते हैं। यदि इनकी चिकित्सा विधिवत् समुचित पथ्य-सेवनपूर्वक न की गयी, तो ये क्रुद्ध सर्प की तरह प्राणनाशक रूप धारण कर लेते हैं ॥ ८-९ ॥

पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसंग्रहे। तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गं च सभिषग्जितम् ॥ १० ॥

हिक्का-श्वास के निदान आदि का उपक्रम—रोगसंग्रहाध्याय में ये दोनों रोग अलग-अलग पाँच-पाँच प्रकार के कहे गये हैं। उन दोनों (हिक्का और श्वास) का कारण, लक्षण और उनकी चिकित्सा आगे बतलायेंगे, उसे आप सुनें ॥ १० ॥

shower. (6) *Post-operative* : Dilatation of stomach, peritonitis. (7) *Metabolic and avitaminosis* : Uraemia, acidosis, gout. (8) *Apidemic hiccup* : Viral infection in males over 40, usually in apidemics related to influenza and encephalitis and followed by parkinsonian manifestations. —'Clinical Diagnosis' Rustom Jal Vakil

रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात्। व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमाशनात्॥
आमप्रदोषादानाहाद् रौक्ष्यादत्यपतर्पणात्। दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद् द्वन्द्वाच्छुद्धच्यतियोगतः॥
अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात्। रक्तपित्तादुदावर्ताद् विसूच्यलसकादपि॥ १३॥
पाण्डुरोगाद् विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ।

हिक्का और श्वास का निदान—धूल या धुएँ से युक्त वायु के श्वासपथ में जाने से, शीतयुक्त स्थान में रहने से, शीतल जल से स्नान करने या उसके पीने से, अतिव्यायाम, अतिस्त्रीसेवन, अधिक पैदलयात्रा, अधिक रूक्ष अन्न का सेवन तथा विषम भोजन से, आम दोष होने से, आनाह रोग से, शरीर में रूक्षता होने से, अधिक उपवास करने से, अधिक दुर्बलता से, मर्मस्थल पर चोट लगने से, शीत और उष्ण के समकालीन संयोग से, वमन-विरेचन या वस्ति के अतियोग से, अतिसार, ज्वर, छर्दि, प्रतिश्याय, उरःक्षत, क्षयरोग, रक्तपित्त, उदावर्त, विसूचिका, अलसक, पाण्डुरोग और विष के सेवन से हिक्का और श्वास रोग उत्पन्न होते हैं॥ ११-१३॥

निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात्॥ १४॥
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात्। जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात्॥ १५॥
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात्। कण्ठोरसः प्रतीघाताद् विबन्धैश्च पृथग्विधैः॥
मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः॥
घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च।

हिक्का-श्वास के अन्य कारण—सेम, उड़द, तिल की खली और तिल के तैल के सेवन से; चावल का आटा, कमल की जड़, विष्टम्भकारक अन्न, विदाही अन्न और गुरु आहार के सेवन से; जलज मांस, आनूप मांस, दही और कच्चे दूध के अधिक अंश में प्रयोग से, कफकारक तथा स्रोतोऽवरोधक आहार-विहार करने से, कफ को बढ़ाने वाले आहार के सेवन से, कण्ठ एवं उरःस्थल पर किसी तरह का आघात होने से और अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले विबन्धों से हिक्का और श्वास रोग उत्पन्न होते हैं॥ १४-१६॥

हिक्का और श्वास की सम्प्राप्ति—पूर्वोक्त कारणों से प्रकुपित वायु प्राणवाही स्रोतों में जाकर और अधिक प्रकुपित हो जाती है। वक्षःस्थल में जाकर वह वायु कफदोष को उभाड़कर प्राणधारियों के श्वासकर्म के व्यवधानकारक पाँच-पाँच प्रकार के हिक्का और श्वास रोग को उत्पन्न करती है॥ १७॥

उभयोः पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम्॥ १८॥
कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता। हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च॥ १९॥
आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च। प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम्॥ २०॥

हिक्का और श्वास के पूर्वरूप—अब यहाँ से आगे मैं हिक्का और श्वास, इन दोनों का पूर्वरूप बतलाऊँगा, आप सुनें (ऐसा महर्षि आत्रेय ने कहा)।

कण्ठ और उरःस्थल में भारीपन, मुख का कसैला स्वाद होना और उदर में गुड़गुड़ाहट की ध्वनि होना, ये हिक्का के पूर्वरूप हैं। उदर में आनाह, पार्श्वशूल, हृदय में पीड़ा होना और प्राणवायु का विलोम होना, ये श्वास के पूर्वरूप हैं॥ १८-२०॥

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः। हिक्काः करोति संरुध्य तासां लिङ्गं पृथक् शृणु॥

हिक्का की विशिष्ट सम्प्राप्ति—जब कुपित वायु कफ को लेकर प्राणवह, उदकवह तथा अन्नवह स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करती है तब वह हिक्का को उत्पन्न करती है। उन अनेक प्रकार की हिक्का के अलग-अलग लक्षण सुनिये॥ २१॥

क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः। गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवतीं भृशम्॥ २२॥
करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां तथा। प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च॥ २३॥
संज्ञां मुष्णाति गात्राणां स्तम्भं सञ्जनयत्यपि। मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्धयुपहतस्मृतेः॥ २४॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः। सक्तजल्पप्रलापस्य निर्वृत्तिं नाधिगच्छतः॥ २५॥
महामूला महावेगा महाशब्दा महाबला। महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता॥ २६॥
इति महाहिक्का।

महाहिक्का की सम्प्राप्ति—जब किसी व्यक्ति के शरीर के मांस, बल, प्राणशक्ति और अग्नि की क्षीणता हो जाती है तब उसके शरीरस्थ कुपित कफ के साथ कुपित वायु उस व्यक्ति के कण्ठप्रदेश को आक्रान्त कर ऊँची जोर की आवाज के साथ लगातार आने वाले हिक्का रोग को उत्पन्न करती है। वह हिक्का कभी एक, कभी दो और कभी तीन वेगों के साथ होती है।

लक्षण—कुपित प्राणवायु स्रोतों को, मर्म (हृदय आदि) स्थलों को और शरीरस्थ ऊष्मा को अवरुद्ध कर चेतना को लुप्त कर देता है और शरीर में स्तब्धता (जकड़ाहट) उत्पन्न कर देता है। उस व्यक्ति की स्मृति नष्ट हो जाती है और वायु उसके अन्नवह तथा जलवह स्रोतों को भी बन्द कर देता है। उस व्यक्ति के नेत्र अश्रुपूर्ण एवं बन्द-से रहते हैं, शंखप्रदेश में स्तब्धता होती है, भौंहें नीचे झुक जाती हैं, उसकी वाणी रुक जाती है और यदि बोलता है, तो प्रलाप (निरर्थक वचन) करता है। किसी भी तरह उठने-बैठने-सोने में उसे शान्ति नहीं मिलती। ऐसी स्रोतों को गम्भीरता से जकड़ने वाली महामूला भयङ्कर वेगों के साथ तीव्र ध्वनि करती हुई महावेगा और महाशब्दा और प्रबल शक्तिवाली महाबला होती है—महाहिक्का; जिसे मनुष्यों के प्राण को सद्यः हरण करने वाली कहा गया है॥ २२-२६॥

हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन्॥ २७॥
संजृम्भन् सङ्किपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन्। पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः॥
नाभेः पक्वाशयाद्वापि हिक्का चास्योपजायते। क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः॥ २९॥
रुणद्धयुच्छ्वासमार्गं तु प्रनष्टबलचेतसः। गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता॥३०॥
इति गम्भीरा हिक्का।

गम्भीरा हिक्का के लक्षण—जिस व्यक्ति का शरीर कृश हो, जो हीन मन का हो और जिसके कफ तथा वायुदोष उग्र हों, वह अपने जर्जर उरःस्थल से गम्भीर ध्वनि गुञ्जन के साथ निकालते हुए हिक्का से पीड़ित होता है। वह अपने अङ्गों को कभी संकुचित करता है, कभी फैलाता है और जम्भाई लेता रहता है। वह अपने दोनों पार्श्व प्रदेशों को संकुचित करता है, अव्यक्त शब्द बोलता है (कराहता है), शरीर के अङ्गों की स्तब्धता तथा पीड़ा से व्याकुल और पीड़ित रहता है। इसकी हिचकी नाभि या पक्वाशय से उठती है। रोगी ग्लानियुक्त होता है। शरीर में क्षोभ उत्पन्न कर शरीर को झुकाने वाली यह हिचकी रोगी के बल और उसकी चेतना के नष्ट हो जाने पर उसके श्वासमार्ग को रोक देती है। इसका नाम 'गम्भीरा' है; क्योंकि यह गम्भीर स्थान से उत्पन्न होती है। यह प्राणहारिणी होती है॥ २७-३०॥

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे। आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम्॥ ३१॥
प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः। जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः॥ ३२॥
पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता। सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी॥ ३३॥
इति व्यपेता हिक्का।

व्यपेता हिक्का के लक्षण—(व्यपेता का अर्थ परिणता है—अर्थात् आहार के पच जाने के पश्चात् प्रबल होने वाली हिक्का) जो हिक्का चार प्रकार—१. अशित, २. पीत, ३. लीढ और ४. खादित—के (आहार) ग्रहण करने के बाद उत्पन्न होती है और किये हुए आहार के पच जाने के बाद बढ़ जाती है, उसे व्यपेता कहते हैं। इस हिक्का का रोगी प्रलाप, वमन, अतिसार और तृष्णा की अधिकता से बेचैन होकर अचेत और बेहोश हो जाता है। उसे जब हिचकी आती है, तो जम्भाई आने से नेत्रों में आँसू भर जाते हैं, मुख सूख जाता है, शरीर झुक जाता है, उदर में भयावह आध्मान हो जाता है और रह-रह कर जत्रुमूल से उठकर हिचकी आती रहती है। इस प्राणनाशिनी हिक्का को 'व्यपेता' जानना चाहिए॥ ३१-३३॥

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद् व्यायामपरिघट्टितः। कण्ठे प्रपद्यते हिक्कां तदा क्षुद्रां करोति सः॥ ३४॥
अतिदुःखा न सा चोरःशिरोमर्मप्रबाधिनी। न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति॥ ३५॥
वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम्। यतः प्रवर्तते पूर्वं तत एव निवर्तते॥ ३६॥
हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता। मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकार्तिता॥ ३७॥
इति क्षुद्रहिक्का।

क्षुद्रा हिक्का का लक्षण—(यह हिक्का क्षुद्र = अल्प वायुविकार से होती है और अल्प कष्टकर होती है; इसलिए इसे क्षुद्रा हिक्का कहा जाता है) जब व्यायाम करने से अल्पांश में वायु का प्रकोप होता है और वह प्रकुपित वायु कोष्ठ से कण्ठप्रदेश में चली जाती है, तब वह 'क्षुद्रा हिक्का' को उत्पन्न करती है। वह अधिक कष्ट नहीं देती तथा उरःस्थल, शिर या मर्मस्थानों को भी नहीं पीड़ित करती एवं वह श्वासमार्ग, अन्नवह अथवा जलवह स्रोतों के मार्ग में रुकावट नहीं पैदा करती है। जब कोई शारीरिक श्रम किया जाता है, तो हिचकी बढ़ जाती है और भोजन कर लेने के बाद शान्त हो जाती है। (कुछ समय बाद) वह हिक्का जिन श्रमजनक कारणों से उत्पन्न हुई थी, वह उन्हीं श्रमजनक कारणों से शान्त भी हो जाती है। इसके स्थान हृदय, क्लोम, कण्ठ और तालुप्रदेश हैं। यह क्षुद्र हिक्का कम उपद्रवयुक्त होने के कारण मृद्वी और साध्य कही गयी है॥ ३४-३७॥

सहसाऽत्यभ्यवहृतैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः। ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मद्यैर्वाऽतिमदप्रदैः॥ ३८॥
तथाऽतिरोषभाष्याध्वहास्यभारातिवर्तनैः। वायुः कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः॥
उरःस्रोतः समाविश्य कुर्याद्धिक्कां ततोऽन्नजाम्। तथा शनैरसम्बन्धं क्षुवंश्चापि स हिक्कते॥
न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रबाधिनी। हिक्का पीते च भुक्ते च शमं याति च साऽन्नजा॥ ४१॥
इत्यन्नजा हिक्का।

अन्नजा हिक्का का लक्षण—(यद्यपि यह हिक्का भी दोषजा है, किन्तु यह अन्नपान के अतियोग से उत्पन्न होने के कारण अन्नजा कही जाती है) जब कोई व्यक्ति अचानक अधिक मात्रा में खा-पी लेता है अथवा मदिरा या अन्य मादक पदार्थों का अतिसेवन करता है अथवा अधिक क्रोध करता है, अधिक बोलता है, अधिक पैदल चलता है, अधिक हँसता है या अधिक भार ढोता है, तब खाने-पीने के दबाव से प्रेरित होकर गतिशील वायु ऊपर उरःस्थल के स्रोत—फुफ्फुस-श्वासनलिका आदि में प्रविष्ट होकर 'अन्नजा हिक्का' को उत्पन्न करती है। इसमें कम वेग से हिचकी आती है और हिचकी के वेग असम्बद्धरूप से अलग-अलग होते हैं तथा छींकें भी आती रहती हैं। यह मर्मस्थानों में कोई बाधा नहीं उत्पन्न करती है, न तो इन्द्रियों को पीड़ित करती है। इस प्रकार जो हिक्का भोजन कर लेने पर या कोई द्रव पी लेने पर शान्त हो जाती है, उसे 'अन्नजा हिक्का' कहते हैं॥ ३८-४१॥

अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च। व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः॥ ४२॥

आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्। यमिका च प्रलापार्तितृष्णामोहसमन्विता॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः। तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यता[1]॥

हिक्का बोधिनी सारणी

क्र० सं०	नाम	अधिष्ठान	साध्या-साध्यता	विशेष लक्षण
१	महाहिक्का	सर्वशरीर, कण्ठ, स्रोत, मर्म विशेष	असाध्य	उच्च घोष, द्विगुण-त्रिगुण वेग, संज्ञानाश, मर्मपीडन, स्तब्धता, सतत वेग, महावेग। Continuous severe hiccough may be of psychoneurological origin.
२	गम्भीरा हिक्का	नाभि पक्वाशय	असाध्य	नाभि से उठकर गम्भीर शब्दयुक्त, अंगों में संकोच-प्रसार, शरीर नमन, बल एवं चेतना का ह्रास। Severe hiccough with multiple complications.
३	व्यपेता हिक्का	जत्रुमूल शिर-ग्रीवा	असाध्य	भोजन पच जाने पर उत्पत्ति, मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, अतिसार, तृष्णा, जम्भाई, मुखशोष, आध्मान। Hiccough occuring after digestion of food.
४	क्षुद्रहिक्का	हृदय, क्लोम, कण्ठ, तालु	साध्य	अल्पवेग, अकष्टकर, अल्प वातप्रकोप, व्यायामजन्य। आहार से शमन। Occasional hiccough with light attacks increasing due to exertion and decreasing after meals.
५	अन्नजा हिक्का	आमाशय	साध्य	सहसा अति आहार-पान से उत्पत्ति, छींक। खाने-पीने से शमन। 'हिक्का पीते तथा भुक्ते शमं याति च साऽन्नजा'। Hiccough due to over eating

१. यमिका चेत्यनेन क्षुद्रा अन्नजा च या साध्यत्वेनोक्ता सा यमलवेगेन जायमाना यमिका ज्ञेया; पूर्वोक्तानुवेगेन या जायमाना सा महाहिक्का, सा स्वरूपेणैवासाध्या, तस्या अतीत्यादियोगेनासाध्यताविधानमनर्थकम्। तथा महत्यादिहिक्कानां तिसृणामसम्पूर्णलक्षणानां साध्यत्वं, क्षुद्रान्नजयोस्तु सम्पूर्णलक्षणयोरपि साध्यत्वं, महाहिक्कादित्रयं निसर्गत एवासाध्यम्। (चक्रपाणि-टीका)

हिक्का की साध्यासाध्यता—जिस व्यक्ति के शरीर में दोष अधिक अंश में संचित हों, जो व्यक्ति भोजन न करने से दुबला-पतला हो गया हो, जो किन्हीं रोगों से आक्रान्त होने के कारण क्षीणकाय हो गया हो, जो वृद्ध हो गया हो अथवा जो अतिमैथुन का अभ्यासी हो, ऐसे व्यक्तियों को होने वाली हिक्का शीघ्र ही प्राणनाश कर देती है।

यदि यमिका हिक्का के साथ रोगी प्रलाप, व्यथा, प्यास तथा मोहग्रस्त हो, तो वह मारक होती है। यदि यमिका हिक्का से पीड़ित व्यक्ति क्षीण और दीन न हो तथा उसकी धातुएँ एवं इन्द्रियाँ स्थिर हों, तो उसकी यमिका हिक्का साध्य होती है अन्यथा वह मारक होती है॥ ४२-४४॥

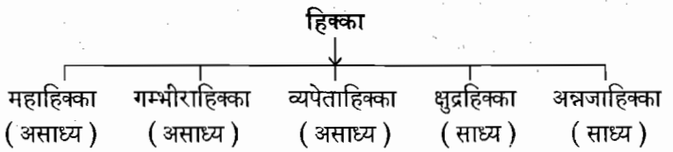

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान्करोति सः॥ ४५॥

श्वासरोग की विशेष सम्प्राप्ति—कफप्रकोपपूर्वक प्रकुपित वायु जब प्राणवह, अन्नवह तथा उदकवह स्रोतों को रोककर सब ओर (पूरे फुप्फुस प्रदेश में) फैलती है, तो श्वासरोग को उत्पन्न करती है॥ ४५॥

वक्तव्य—वायुकोषों और श्वासनलिकाओं में सदा ही कुछ तरल पदार्थ स्रवित होता रहता है। जब कभी यह स्राव फुप्फुस अथवा श्वासनलिकाओं में अधिरक्तता (Congestion), शोथ (Inflammation) आदि के कारण अधिक मात्रा में होने लगता है, तो फुप्फुस एवं श्वासनलिकाओं में कफ होने से क्षोभ और श्वासवायु के लिए स्थान की कमी से प्रतिक्रियास्वरूप प्राण तथा उदान वायु का प्रकोप होकर कास एवं श्वास जल्दी-जल्दी आने लगते हैं। यदि शीघ्रतया कफ नहीं निकल पाता, तो श्वास की ही तीव्रता बढ़ती जाती है। कफाधिक्य से अलब्धगति वायु समस्त फुप्फुस में व्याप्त होकर श्वास को उत्पन्न करती है।

प्रथमतः कफ की विकृति होती है एवं तत्पश्चात् रुकावट होने के कारण वायु प्रकुपित होकर श्वास को उत्पन्न करता है। वायु के प्रकोप में उसके मार्ग का अवरोध एवं धातुक्षय प्रमुख कारण होते हैं—'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च'। वस्तुतः साक्षात् वायु या उसके अधिष्ठानभूत वातनाड़ियों की विकृति ही श्वासोत्पत्ति में प्रधान कारण है। प्राणदा (Vagus) की क्रिया की कमी अथवा सिम्पैथेटिक की क्रिया की अधिकता का ही परिणाम श्वासाधिक्य है। विदाही अन्न, व्यायाम, उपवास आदि कारण रूक्षता बढ़ाकर वायु की वृद्धि करते हैं तथा उपवृक्क के अन्तःस्राव को बढ़ाकर सिम्पैथेटिक की क्रियाशीलता को बढ़ा देते हैं।

विष्टम्भी, अभिष्यन्दी या गुरु पदार्थ भी आमाशयिक क्षोभ द्वारा या कफ की वृद्धि से फुप्फुस में अवरोध उत्पन्न करके सुषुम्नाशीर्षस्थ श्वासनियन्त्रक केन्द्र को उत्तेजित करके श्वास की उत्पत्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी अधिक भोजन कर लेने पर भी फुप्फुस पर आमाशय का दबाव पड़ता है, जिससे फुप्फुस के वायुसंचार की व्यवस्था में कमी हो जाने से जल्दी-जल्दी श्वास आने लगता है।

साधारणतया श्वासरोग के तीन मुख्य कारण हो सकते हैं—

(१) श्वासकेन्द्र की विकृति—यह अधोलिखित कारणों से होती है—१. अत्यधिक हृदयातिपात (Congestive heart failure), २. अत्यधिक रक्ताल्पता—इसमें प्राणवायु के संचालन में कमी हो जाती है, ३. मधुमेहजन्य सन्यास (Diabetic coma), ४. जानपदिक शोथ (Epidemic dropsy)। इन कारणों से होने वाला श्वासरोग—१. अन्तःश्वसनिक श्वासकष्ट तथा २. बहिःश्वसनिक श्वासकष्ट, इन दोनों ही प्रकारों का होता है।

(२) श्वासमार्ग में अवरोध तथा वायुसंचारार्थ स्थान की कमी—इसके कारण जो श्वासकष्ट होता है, वह अन्तःश्वसनिक प्रकार का होता है। श्वासमार्ग में अवरोध करने वाले कारण—तुण्डिकाशोथ, रोहिणी आदि हैं। निमोनिया, राजयक्ष्मा जैसे रोग वायुसंचरण के लिए फुप्फुस की सतह को कम करते हैं।

(३) श्वास लेने में सहायक पेशियों के कार्य में बाधा होना: यह बाधा निम्न कारणों से होती है—१. वक्षःस्थ या उदरस्थ किसी अङ्ग में शोथ होना। २. उरोवात (Emphysema)—स्वाभाविक लचीलापन कम हो जाने से फुप्फुस निरन्तर वायु से भरा रहता है और उसे पूर्णतया नहीं निकाल पाता। ३. अनुकोष्ठिका तथा वक्ष की पेशियों की वातनाड़ी का घात होना, इससे महाप्राचीरा तथा वक्ष की पेशियाँ क्रिया नहीं कर पातीं, जिससे श्वास में भी कष्ट होता है। ४. आमाशय आदि का शोथ होना या जलोदर आदि होना। उदर के किसी अवयव का शोथ श्वासकर्म में बाधा पहुँचाता है।

निदान-सम्प्राप्ति संक्षेप—

आहार—विष्टम्भी, विदाही, रूक्ष, गुरु, अभिष्यन्दी, जलज-आनूप मांस आदि।
विहार—धूल, धुआँ, शीतस्थानसेवन, व्यायाम, अपतर्पण, साहस आदि।
सम्प्राप्ति—कफ-वातवर्धक आहार-विहार सेवन → कफ-वात प्रकोप
↓
श्वास ← प्रतिलोम वायु

दोष : वात, कफ।
दूष्य : प्राणवह, अन्नवह, उदकवह स्रोतस्।
अधिष्ठान : प्राणवह, उदानवह स्रोतस्।

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः। उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मर्त्तर्षभ इवानिशम्॥ ४६॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः। विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्॥ ४७॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते॥ ४८॥
इति महाश्वासः।

महाश्वास के लक्षण—जो श्वासपीड़ित मनुष्य वायु की ऊर्ध्वमुखी गति हो जाने के कारण मतवाले साँड़ के समान जोरों की आवाज के साथ फुफकार मारता हुआ लगातार कष्ट के साथ श्वास खींचता रहता है; जिसका शास्त्रज्ञान और उसके अर्थ का ज्ञान नष्ट हो जाता है, जो आँखें नचाता रहता है, जिसके नेत्र और मुखाकृति विकृति हो जाती है, मल-मूत्र के वेग नहीं आते और जिसके मुख से अस्पष्ट वाणी निकलती है, जो दीन बना रहता है, उसके श्वास का वेग ध्वनि के साथ निकलने से दूर से ही उसके श्वासपीड़ित होने की पहचान हो जाती है। इस प्रकार का महाश्वास-रोगग्रस्त व्यक्ति शीघ्र ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर देता है॥ ४६-४८॥

दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः। श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः॥ ४९॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः। प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः।
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते। मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून्।
इत्यूर्ध्वश्वासः।

ऊर्ध्वश्वास का लक्षण—ऊर्ध्वश्वास का रोगी ऊपर की ओर श्वास देर तक छोड़ता है, किन्तु वह अन्दर की ओर उतनी देर तक नहीं खींच पाता। रोगी कुपित वायु की पीड़ा से बेचैन रहता है, मुख तथा श्वासमार्ग के कफ से आवृत होने से वह पीड़ित रहता है। रोगी की आँखें ऊपर की ओर टँग जाती हैं। वह चञ्चल नेत्रों से इधर-उधर देखता रहता है। पीड़ा की असह्यता के कारण वह बेहोश हो जाता है, उसका मुख सूख जाता और वह व्यग्र हो जाता है। ऊर्ध्वश्वास के प्रकुपित होने पर अधःश्वास रुक जाता है। अतएव रोगी बार-बार बेचैन होकर मूर्च्छित हो जाता है। इस स्थिति में 'ऊर्ध्वश्वास' रोगी के प्राण का हरण कर लेता है॥ ४९-५१॥

वक्तव्य—इस 'ऊर्ध्वश्वास' को Stertorous breathing or failing respiration की स्थिति कह सकते हैं। यह अवस्था फुप्फुस की अधिरक्तता (Congestion), घनता (Consolidation) जैसे श्वसनक, विद्रधि, कोथ, अन्तःस्फार तथा विभिन्न प्रकार की मूर्च्छाओं में हो सकती है।

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः। न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः॥ ५२॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन वस्तिना। विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः। छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून्॥
इति च्छिन्नश्वासः।

छिन्नश्वास का लक्षण—जो रोगी अपनी पूरी ताकत लगाने के बावजूद रुक-रुक कर श्वास लेता है या हृदय आदि मर्मस्थानों की महती वेदना से व्याकुल होकर एवं पीड़ा से बेचैन होकर श्वास ही नहीं ले पाता है; वह उदर में आनाह, शरीर में स्वेद या मूर्च्छा से पीड़ित रहता है। वस्ति में दाह, आँखें अश्रुपूर्ण एवं शरीर में क्षीणता होती है। श्वास लेते समय एक आँख में लाली होती है। वह व्यग्रचित्त, शुष्कमुख, विवर्ण (कान्तिहीन) और प्रलाप करने वाला होता है। छिन्नश्वास से पीड़ित रोगी की सभी सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं और वह शीघ्र ही अपने प्राण त्याग देता है॥ ५२-५४॥

वक्तव्य—इस श्वास में पित्तानुबन्ध होने से दाह होता है। इसमें सभी अंग शिथिल हो जाते हैं। रक्तसञ्चार की अव्यवस्था से शरीर का वर्ण कान्तिहीन हो जाता है। इस स्थिति को आधुनिक शब्दों में Laboured respiration with chynestrockes breathing कहा जा सकता है।

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते। ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च॥ ५५॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा। अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम्॥ ५६॥
प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते। प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः॥ ५७॥
श्लेष्मण्युन्मुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः। तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम्॥ ५८॥
अथास्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम्। न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः।
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः। आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति॥ ६०॥
उच्छ्विताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान्। विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते॥
मेघाम्बुशीतप्रावातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते। स याप्यस्तमकश्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः॥
इति तमकश्वासः।

तमकश्वास की सम्प्राप्ति और लक्षण—जब प्राणवह स्रोतों में विपरीत गति करती हुई वायु संचरण करती है, तो वह ग्रीवा तथा शिर को जकड़ लेती है एवं कफ को उत्प्रेरित कर पीनस रोग (सर्दी-जुकाम) को उत्पन्न करती है। इस प्रकार कफ से अवरुद्ध वायु कण्ठ में घुरघुर शब्द करती हुई अतितीव्र वेगयुक्त प्राण को संकट में डालने वाले श्वासरोग को उत्पन्न करती है। श्वास का वेग अधिक तीव्र होने से रोगी ग्लानि का अनुभव करता है, उसे खाँसी आती है और कभी रुक जाती है, खाँसते-खाँसते कदाचित् बेहोश हो जाता है। कफ निकलते समय उसे बड़ी पीड़ा होती है और जब कफ निकल जाता है, तो क्षण भर

के लिए आराम मालूम होता है। रोगी का गला बैठ जाता है और बड़ी कठिनाई से कुछ बोल पाता है। श्वास से पीड़ित होने के कारण विस्तर पर लेटने पर भी उसे नींद नहीं आती। सोते समय उसके दोनों पार्श्व प्रदेशों में वायु पीड़ा उत्पन्न करती है और जब वह बैठा रहता है, तो उसे सुख मालूम होता है। उष्ण वातावरण तथा गरम पदार्थ उसे पसन्द आते हैं। उसकी आँखें चढ़ी होती हैं या उभरी हुई होती हैं। उसके ललाट पर पसीना आता रहता है एवं उसे अत्यन्त वेदना सताती है। उसका मुख सूखता रहता है, वह बार-बार श्वास लेता है और धौंकनी की तरह फूत्कार करके श्वास छोड़ता है। बादलों का छा जाना, शीतल जल का प्रयोग, पुरवैया पवन और कफवर्धक पदार्थों के सेवन से यह श्वासरोग बढ़ जाता है। यह तमकश्वास 'याप्य' होता है या नया रोग होने पर 'साध्य' भी है॥ ५५-६२॥

वक्तव्य—तमकश्वास को 'प्राणप्रपीडक' कहा गया है, क्योंकि श्वास की गति बढ़ने के साथ हृदय की गति भी बढ़ जाती है, इसलिए रोगी अत्यन्त कष्ट का अनुभव करता है। इसमें जब कफ गाढ़ा और चिपका हुआ होता है, तो श्वासनलिकाओं में अवरोध बना रहने से प्रबल खाँसी तथा श्वास के वेग आते हैं। रोगी को बोलने में भी कठिनाई होती है। फुप्फुसों में कफ के व्याप्त होने से श्वास-प्रश्वास के समय कष्ट का अनुभव होता है और श्वासावरोध का भय उपस्थित रहता है, परिणामस्वरूप रोगी सो नहीं पाता है। रोगी बेचैन होकर बैठे-बैठे रातें गुजारता है। बैठने में उसे कुछ आराम महसूस होता है।

तमकश्वास, कफ तथा वात से होने वाला रोग है, अतः इसमें रोगी को उष्ण पदार्थों से लगाव होता है, क्योंकि उससे उसे सुखानुभूति होती है। इसमें उष्ण उपचार उपशय होता है। बादल, शीत और कफवर्धक आहार-विहार रोग को बढ़ाते हैं, अतः ये सब अनुपशय हैं। रोगी श्वास छोड़ते समय हाँफता है एवं फूत्कार करता है, जिससे सारे शरीर में भटका-सा लगता है। यह इसे अन्य श्वासों से अलग करने वाला लक्षण है।

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम्।

प्रतमकश्वांस का लक्षण—जब तमक श्वास के लक्षणों के साथ रोगी में ज्वर और मूर्च्छा भी हो, तो उसे 'प्रतमक श्वास' जानना चाहिए।

उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः॥ ६३॥
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति। मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात्सन्तमकं तु तम्॥ ६४॥
इति प्रतमकसन्तमकश्वासौ।

सन्तमकश्वास का लक्षण—उदावर्त रोग के कारण नासा या मुख में धूल के चले जाने से, अजीर्ण होने से, शरीर के भींग जाने से या वेगों के रोकने से जो श्वासरोग उत्पन्न होता है और अन्धकार के समय जो बढ़ता है, शीतल उपचारों से जो शान्त होता है तथा जिसके उत्पन्न होने पर रोगी अन्धकार में डूबता-सा अनुभव करता है, उसे 'सन्तमक श्वास' जानना चाहिए॥ ६३-६४॥

वक्तव्य—यहाँ 'क्लिन्नकायनिरोधजः' के अर्थ विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग किया है, जैसे किसी ने क्लिन्नकाय का अर्थ 'वृद्ध' किया है एवं 'तमसा' का अर्थ कुछ लोग 'तमोगुण' करते हैं। कोई 'अजीर्ण-क्लिन्नकायनिरोधजः' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—अजीर्ण से आमाजीर्ण, क्लिन्न से विष्टब्धाजीर्ण एवं कायनिरोध से वेगावरोध अथवा जिन व्यक्तियों को प्राणायाम (कुम्भक-पूरक-रेचक) की विधि का ज्ञान हो उनके विधि-विपरीत प्राणायाम करने से यह श्वास होता है।

वस्तुतः सन्तमक प्रतमक की ही आगे की अवस्था है। उदावर्त आदि विशेष कारणों से उत्पन्न होने से और विशेष लक्षणों के होने से प्रतमक को सन्तमक कहते हैं।

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्। क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः॥६५॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे। न च भोजनपानानां निरुणद्धि युचितां गतिम्॥ ६६॥

नेन्द्रियाणां व्यथां नापि काश्चिदापादयेद् रुजम्। स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः॥

क्षुद्रश्वास का लक्षण—रूक्ष आहार-विहार से और अधिक श्रम का कार्य करने से अल्प प्रकुपित वायु श्वासपथ की ओर बढ़कर 'क्षुद्र श्वास' रोग उत्पन्न करता है। चूँकि इसका वेग प्रबल नहीं होता, इसलिए यह शरीर के अंगों को अधिक कष्ट नहीं पहुँचाता है। यह शरीर की क्रियाओं को बाधित नहीं करता। अन्य श्वासरोगों की तरह कष्टदायक भी नहीं होता। यह खाने-पीने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं उत्पन्न करता। इन्द्रियों में कोई विकार नहीं उत्पन्न करता है। न किसी प्रकार की पीड़ा पैदा करता है। यह साध्य होता है तथा अन्य चार प्रकार के श्वास, यदि रोगी बलवान् हो, तो अपनी अव्यक्तावस्था में साध्य होते हैं॥ ६५-६७॥

वक्तव्य—कारण तथा लक्षण-भेद से श्वासरोग पाँच प्रकार का कहा गया है। इनमें तमकश्वास के विशेष लक्षणों के आधार पर दो और भेद किये गये हैं। प्रतमकश्वास में पित्तदोष प्रधान होता है, जिससे रोगी को ज्वर तथा मूर्च्छा होती है। सन्तमक अत्युग्रावस्था है जो पूर्वोक्त लक्षणों के होने से उत्पन्न होती है।

श्वास के भेद, दोष तथा साध्यासाध्यता

रोग नाम	प्रधान दोष	साध्यासाध्यता
महाश्वास	वात	असाध्य
ऊर्ध्वश्वास	वात	असाध्य
छिन्नश्वास	कफ-वात	असाध्य
तमकश्वास	कफ	कृच्छ्रसाध्य
प्रतमक/सन्तमक	कफ	कृच्छ्रसाध्य
क्षुद्रश्वास	वात	साध्य

इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः। एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः। भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत्। उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः॥ ६९॥

हिक्का-श्वास सद्यः चिकित्स्य रोग—इस प्रकार श्वास और हिक्कारोग अपने-अपने लक्षणों के कथन के साथ बतला दिये गये। इनमें से जो श्वास (महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास तथा छिन्नश्वास) और हिक्का (महाहिक्का-गम्भीरा हिक्का-व्यपेता हिक्का) प्राणहर या असाध्य हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिए। उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे भयङ्कर और शीघ्र मारक होते हैं। साध्य या याप्य हिक्का तथा श्वास रोगों की चिकित्सा शीघ्र ही औषधों का प्रयोग करके करनी चाहिए, क्योंकि उपेक्षा करने पर हिक्का एवं श्वास जीवन को उसी तरह समाप्त कर देते हैं, जैसे अग्नि सूखे तृणों को जलाकर नष्ट कर देती है॥ ६८-६९॥

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम्। द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत॥ ७०॥

हिक्का-श्वास की चिकित्सा—हिक्का और श्वास, इन दोनों रोगों में एकता है, क्योंकि इन दोनों का कारण, स्थान तथा मूल एक ही होता है। अतएव इन दोनों की चिकित्सा भी एक ही है। प्राचीन ऋषियों ने इनकी जिस प्रकार की चिकित्सा का विधान किया है, उसे आप अच्छी प्रकार से जानिये-सुनिये॥ ७०॥

हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत्। आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः॥ ७१॥
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते। खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता॥ ७२॥

यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम्। श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा॥७३॥

हिक्का और श्वास का चिकित्सासूत्र—हिक्का तथा श्वास के रोगी को सर्वप्रथम (उसके उरो भाग में) तिलतैल एवं सेंधानमक की मालिश कर स्निग्ध द्रव्यों से युक्त नाड़ीस्वेद या प्रस्तरस्वेद अथवा सङ्करस्वेद विधि से स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन करने से स्रोतों में गाँठ के रूप में फँसा हुआ कफ पिघल जाता है, स्रोत कोमल हो जाते हैं और तत्पश्चात् वायु भी अनुलोम हो जाता है। जिस प्रकार गिरिगह्वरों में जमे हुए बर्फ की शिला पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तो वह द्रवीभूत होकर बह जाता है, उसी प्रकार स्वेदन करने से श्वासमार्ग में फँसा हुआ कफ पिघलकर बाहर निकलने लगता है॥ ७१-७३॥

स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम्। मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा॥ ७४॥
ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम्। पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रैर्युक्तं वाताविरोधि यत्॥ ७५॥
निर्हृते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे। स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः॥ ७६॥

हिक्का-श्वास में वमन-प्रयोग—रोगी का स्वेदन यथोचित प्रकार से हो गया है—यह जानकर शीघ्र ही उसे स्निग्ध किया हुआ (घी मिलाया हुआ) भात खिलायें अथवा मछली या सूअर के मांसरस के साथ भात खिलाना चाहिए या दही की साढ़ी के साथ भात खिलाना चाहिए। (इस प्रकार के भोजन से कफ की वृद्धि हो जाती है और तत्पश्चात् बिना कष्ट के वमन हो जाता है) जब कफ की वृद्धि हो जाये, तो पीपर के चूर्ण, सेंधानमक और मधु के साथ वमनद्रव्य (मदनफल) पिलाना चाहिए। वमन अधिक तीक्ष्ण न हो, जो वात को उभाड़ दे, अपितु वह वातकारक न हो। जब दूषित कफ निकल जाता है, तो रोगी को सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार स्रोतों के संशोधित हो जाने पर वायु अप्रतिहत गति से बिना रुकावट के उन स्रोतों में सञ्चरण करने लगता है॥ ७४-७६॥

लीनश्चेद्दोषशेषः स्याद् धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः। हरिद्रां यवमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम्॥ ७७॥
सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत्। तां घृताक्तां पिबेद् धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः॥ ७८॥
मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसम्पुटे। कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं बालं वा स्नायु वा गवाम्॥ ७९॥
श्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा। पद्मकं गुग्गुलुं लोहं शल्लकीं वा घृताप्लुतम्॥

धूम्रपान—यदि हिक्का-श्वास के रोगी को स्नेहन-स्वेदन करके वमन कराने के बाद भी स्रोतों में कफदोष कहीं चिपका रह जाय, तो उसे धूम्रपान कराकर निकालना चाहिए।

धूम्रपान के योग—(१) हल्दी, जौ, एरण्ड की जड़, पीपर की लाख, मैनसिल, देवदारु, हरिताल और जटामांसी—इन सबको समभाग लेकर पीसकर वर्ती बनायें, फिर उस वर्ती को घी लगाकर चिलम पर रख धूम्रपान करे (सूत्रस्थान अ० ५ में प्रायोगिक वर्ती बनाने का विधान है। तदनुसार ही वर्ती बनानी चाहिए)। (२) अथवा जौ को घी में मसलकर चिलम पर रखकर धूम्रपान करे। (३) मोम, राल तथा घी को मिलाकर चिलम पर रखकर धूम्रपान करे। (४) गौ की सींग, बाल या स्नायु को घी में मिलाकर चिलम पर रखकर धूम्रपान करे। (५) सोनापाठा की नली (डंठल), रेड़ की सूखी लकड़ी की नली अथवा सूखे कुश की खोखली डंठल को घी में डुबोकर फिर सिगरेट की तरह जलाकर पीना चाहिए या (६) पद्मकाठ, गुगुलु, अगर, सलई, इनमें से किसी एक के काष्ठ के चूर्ण में घी मिलाकर, चिलम पर रखकर धूम्रपान करे॥ ७७-८०॥

स्वरक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान्। मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत्॥८१॥

हिक्का-श्वास में मधुर-स्निग्ध-शीत प्रयोग—यदि स्वररोग, क्षतक्षीण, अतिसार, रक्तपित्त और दाहरोग होने के पश्चात् हिक्का या श्वासरोग उत्पन्न हुए हों, तो मधुर रसयुक्त, स्निग्ध तथा शीतवीर्य आदि औषधों के प्रयोग से उनकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८१॥

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः। क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः॥

अस्वेद्य रोगी—हिक्का-श्वास के जो रोगी पित्तविकार या दाह से दुःखी हों, जिन्हें रक्त आता हो या अधिक पसीना आता हो, जिनकी धातुएँ तथा शारीरिक बल क्षीण हो गये हों, जो रूक्षशरीर के हों या गर्भिणी स्त्री हो या पित्तप्रकृति के व्यक्ति हों, तो उनका स्वेदन नहीं करना चाहिए॥ ८२॥

कोष्णैः काममुरःकण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः। उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेन्मृदुभिः क्षणम्॥ ८३॥

मृदुस्वेदन—पूर्व के श्लोक ८२ में जिन रोगियों के स्वेदन का निषेध किया गया है, यदि उनका स्वेदन करना आवश्यक हो, तो किंचित् उष्ण स्नेहों से परिषेक करे या चीनी मिलाकर बनायी गयी उत्कारिका से या उपनाह स्वेद के प्रकार से छाती और कण्ठप्रदेश में क्षणभर के लिए मृदुस्वेद करना चाहिए (उपनाह स्वेद का विधान सूत्रस्थान अ० १४ में बतलाया गया है)॥ ८३॥

वक्तव्य—उत्कारिका मोटी रोटी को कहते हैं या लप्सी या हलवे की तरह का बना पदार्थ जो सेंकने के काम आ सके। अग्रिम श्लोक में उत्कारिका का निर्माण बतलाया गया है।

तिलोमामाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैः सह। स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षीरैर्वा कृता हिता॥ ८४॥

उत्कारिका—कृष्णतिलचूर्ण, तीसीचूर्ण, उड़द का आटा, गेहूँ का आटा, इन सबको वातनाशक तैल तथा काञ्जी आदि अम्ल पदार्थों के साथ पीसकर, उत्कारिका बनाकर स्वेदन करना चाहिए अथवा काञ्जी के स्थान में दूध डालकर उत्कारिका बनाकर स्वेदन करे॥ ८४॥

नवज्वरामदोषेषु रूक्षस्वेदं विलङ्घनम्। समीक्ष्योल्लेखनं वाऽपि कारयेल्लवणाम्बुना॥ ८५॥

रूक्षस्वेद, लंघन या वमन—अभिनव ज्वर एवं आमदोष से पीड़ित रोगियों में उनकी प्रकृति-दोष-बल आदि का सम्यक् विचार कर रूक्षस्वेदन और लंघन करना चाहिए अथवा नमक और पानी को यथेष्ट घोल बनाकर एवं पिलाकर वमन कराना चाहिए॥ ८५॥

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक्। रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत्॥ ८६॥

वमन के अतियोग में उपचार—यदि हिक्का और श्वास के रोगी को वमन का अतियोग हो जाने से वात की वृद्धि हो गयी हो, तो वातनाशक द्रव्यों के जल में सिद्ध मांसरस के साथ पथ्य देना चाहिए तथा जो द्रव्य न अतिशीत हों, न अति उष्ण हों, अपितु समशीतोष्ण न हों उनका अभ्यंग कराकर वातशमन करना चाहिए॥ ८६॥

उदावर्ते तथाऽऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः। हिङ्गुपीलुबिडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम्॥ ८७॥

उदावर्त एवं आध्मान में वातानुलोमन—हिक्का और श्वास के रोगी को यदि उदावर्त या आध्मान हो गया हो, तो बिजौरा नीबू के रस, अम्लबेंत के चूर्ण, भुनी हींग, पीलु वृक्ष के फल और विडनमक से युक्त भोजन खाने को देना चाहिए। यह वात का अनुलोमन करके उदावर्त तथा आध्मान को नष्ट करता है॥ ८७॥

हिक्काश्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः। कफाधिकस्तथैवैको रूक्षो बह्वनिलोऽपरः॥

सबल और दुर्बल रोगी तथा दोषाधिक्य—कोई हिक्का-श्वास का रोगी सबल होता है और कोई निर्बल होता है। इसी प्रकार किसी रोगी में कफदोष की प्रधानता होती है और किसी में वायु की प्रधानता होती है॥ ८८॥

कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम्। कुर्यात् पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः॥ ८९॥

वमन-विरेचन प्रयोग—यदि हिक्का-श्वास का रोगी बलवान् हो और उसमें कफ की अधिकता हो, तो उसे वमन तथा विरेचन देकर संशोधन करना चाहिए। फिर उसे पथ्याहार देते रहें तथा हिक्का-श्वासनाशक धूम तथा अवलेह आदि शमन उपचार करते रहता चाहिए॥ ८९॥

वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः। तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः॥ ९०॥

प्रशमन तर्पण का प्रयोग—जो हिक्का-श्वास के रोगी वातप्रकृति के हों, दुर्बल हों, बालक हों या वृद्ध हों, तो उन्हें वातनाशक औषधों के साथ निर्मित स्नेह, यूष तथा मांसरस आदि हिक्का-श्वासशमन प्रयोगों से तर्पण पथ्य देना चाहिए॥ ९०॥

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां विशोधनात्। वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून्॥ ९१॥

संशोधन का निषेध—जिन हिक्का-श्वास के रोगियों को कफवर्धक आहार देकर या उनका स्नेहन-स्वेदन करके कफ को बहिर्गमन योग्य नहीं बनाया गया हो या जिनका स्वेदन न किया गया हो या जो दुर्बल हों, ऐसे रोगियों का वमन-विरेचन द्वारा संशोधन कराने से अवसर पाकर वायु मर्मस्थानों (हृदय-फुप्फुस-श्वासप्रणाली) को सुखाकर शीघ्र ही प्राणहरण कर लेता है॥ ९१॥

दृढान् बहुकफांस्तस्माद् रसैरानूपवारिजैः। तृप्तान् विशोधयेत्स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक्॥

संशोधन के योग्य तथा बृंहणीय रोगी—वैद्य को चाहिए कि जो रोगी बलवान् तथा अधिक कफवाले हों, उन्हें आनूप और जलचर पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन देकर तृप्त करे, तत्पश्चात् उनका स्वेदन कर संशोधन करे (यथावश्यक वमन-विरेचन करायें)। इसके विपरीत जो रोगी दुर्बल हों और उनमें कफ की प्रधानता न हो, तो उनका बृंहण उपचार कराना चाहिए॥ ९२॥

बर्हितित्तिरिदक्षाश्च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः। दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः॥ ९३॥

बृंहणीय द्रव्य—जो श्वास-कास के रोगी दुर्बल तथा वातप्रधान हों, उनके बृंहण के लिए मोर, तीतर, मुर्गा तथा जांगल पशु-पक्षियों के मांस को दशमूल के क्वाथ में या कुलथी के क्वाथ में पकाकर मांसरस तैयार कर अन्न के साथ खाने को देना चाहिए॥ ९३॥

निदिग्धिकां बिल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम्। त्रिकण्टकं गुडूचीं च कुलत्थांश्च सचित्रकान्॥
जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः। सनागरः सलवणः स्याद्यूषो भोजने हितः॥ ९५॥

निदिग्धिकाद्य यूष—छोटी कटेरी, बेलसोंठ, काकड़ासींगी, दुरालभा, गोखरू, गुरुच, कुलथी और चित्रक—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर जल में क्वाथ पकाकर छान लें और पीपर तथा घी से छौंक दे एवं सोंठ तथा सेंधानमक का चूर्ण मिलाकर हिक्का-श्वास के रोगी को सेवन करायें॥ ९४-९५॥

वक्तव्य—इस योग में यद्यपि साथ में कुलथी का भी पाठ है, किन्तु यूष के लिए तो वही प्रधान द्रव्य है, अतः उसकी मात्रा अलग और विशिष्ट होनी चाहिए। जैसे—छोटी कटेरी आदि को सम भाग लेकर कुल मिलाकर १ कर्ष लें और १ प्रस्थ जल में डालकर पकायें, जब आधा बचे तो छान ले और उसी जल में यूष बनायें। यूष बनाने के लिए यदि १ कर्ष कुलथी ले, तो उसे अठारह गुने (१८ कर्ष) जल में पकाना चाहिए। इस योग में पीपर और सोंठ का चूर्ण ३-३ ग्राम डालना चाहिए और जितने से यूष नमकीन हो जाय उतनी मात्रा में नमक डालना चाहिए।

रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान् सचित्रकान्।
पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन् यूषः साध्यश्च पूर्ववत्॥ ९६॥

रास्नादि यूष—रास्ना, बरियार की जड़, लघु पंचमूल (छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू) और चित्रक समान भाग लेकर (षडंग परिभाषा से) उसे डालकर अर्धावशिष्ट जल पकाकर उसमें मूँग की दाल का यूष बनाये (मूँग की मात्रा से अठारह गुना जल डालकर यूष तैयार करें)। तैयार होने पर पीपर के चूर्ण और घी से छौंकें तथा सोंठ और नमक का चूर्ण मिलाकर प्रयोग करें॥ ९६॥

पल्लवान्मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कुलकस्य च। पक्त्वा मुद्गांश्च सव्योषान् क्षारयूषं विपाचयेत्॥

मातुलुङ्गादि यूष—बिजौरा नीबू, नीम और परवर इनकी पत्तियों को १ कर्ष की मात्रा में लेकर १ प्रस्थ जल में अर्धविशेष पकायें, उस जल में मूँग का यूष बनायें और पीते समय उस यूष में त्रिकटु (सोंठ-मरिच-पीपर) का चूर्ण तथा यवक्षार १-१ ग्राम डालकर पान करें॥ ९७॥

दत्त्वा सलवणं क्षारं शिग्रूणि मरिचानि च। युक्त्या संसाधितो यूषो हिक्काश्वासविकारनुत्॥९८॥

मुद्गयूष—युक्तिपूर्वक यथाविधि बनाये हुए मूँग के यूष में सेंधानमक, यवक्षार, सहिजन बीज और मरिच का चूर्ण मिलाकर हिक्का-श्वास के रोगी को पिलाना लाभप्रद होता है॥ ९८॥

कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च। शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः॥ ९९॥
सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वार्ताकजो हितः।

विविध यूष—१. कासमर्दपत्र यूष, २. सहिजनपत्र यूष और ३. सूखी मूलीपत्र यूष, इन्हें विधिपूर्वक बनाकर सेवन करने से हिक्का-श्वास रोग ठीक हो जाते हैं। इसी प्रकार बड़ी कटेरी के पत्र से बने यूष में दही, सोंठ, मरिच तथा पीपर एवं घृत मिलाकर पीना हिक्का-श्वास रोग के लिए लाभप्रद होता है॥ ९९॥

शालिषष्टिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च॥ १००॥

पथ्य—(पूर्व के सन्दर्भों में कतिपय यूष बतलाये गये हैं, परन्तु आहार का कार्य मात्र यूष से नहीं पूर्ण हो सकता है, अतः उक्त यूषों के साथ पुराने अगहनी चावल का भात, पुराने साठी चावल का भात, पुराने गेहूँ और जौ की रोटी पथ्य में देनी चाहिए॥ १००॥

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीबिडपौष्करचित्रकैः। सिद्धा कर्कटशृङ्ग्या च यवागूः श्वासहिक्किनाम्॥

हिंग्वादि यवागू—हींग, सोंचरनमक, जीरा, विडनमक, पोहकरमूल और चिचक, इनके कल्क के साथ पकाई हुई यवागू अथवा काकड़ासींगी के साथ पकाई हुई यवागू श्वास एवं हिक्का के रोगियों के लिए लाभप्रद होती है॥ १०१॥

दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीमूलपौष्करैः। शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागराम्बुभिः॥ १०२॥
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः। कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिक्काश्वासप्रशान्तये॥

दशमूलादि यवागू—दशमूल (सरिवन-पिठवन-छोटीकटेरी-बड़ीकटेरी-गोखरू-बेल-गम्भार-पाढल-गनियार और सोनापाठा), कचूर, रास्ना, पिपरामूल, पोहकरमूल, काकड़ासींगी, भुईंआँवला, भारंगी, गुरुच और सोंठ के जल से विधिपूर्वक बनायी गयी यवागू अथवा इनके क्वाथ को पीना चाहिए। इससे कास, हृद्ग्रह, पार्श्वशूल, हिक्का और श्वास रोग शान्त हो जाते हैं॥ १०२-१०३॥

वक्तव्य—यवागू बनाने के लिए 'षडङ्गपरिभाषा' के अनुसार (जल १ प्रस्थ और औषध १ कर्ष लेकर औंटायें और आधा बचे तो छान लें) बने छः गुने जल में पुराने शालि या षष्टिक चावल डालकर निर्माण करना चाहिए। क्वाथ-निर्माण के लिए २ कर्ष औषध को १६ गुने जल में अष्टमांशावशिष्ट पकाकर प्रयोग करना चाहिए। एवं सामान्य प्रयोग में पीने आदि के लिए अर्धावशिष्ट जल षडङ्गपरिभाषा के अनुसार ही बनाना चाहिए।

पुष्कराह्वशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसैः। योजयेदन्नपानानि ससर्पिर्बिडहिङ्गुभिः॥ १०४॥

पुष्करादि पथ्य—वैद्य को चाहिए कि वह हिक्का-श्वास से पीड़ित रोगियों को पोहकरमूल, कचूर, सोंठ, मरिच, पीपर और अम्लबेंत से सिद्ध जल में यवागू, मण्ड, पेया आदि का निर्माण कराकर बिजौरा नीबू और विडनमक डालकर तथा हींग एवं घृत का छौंक लगाकर खाने को दें और पीने के जल को भी पोहकरमूल आदि से सिद्ध कराकर दें॥ १०४॥

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः। तृषितो मदिरां वाऽपि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः॥१०५॥

पेय पदार्थ—हिक्का-श्वास का रोगी प्यास लगने पर पीने के लिए दशमूलक्वाथ या देवदारुक्वाथ अथवा मदिरा का प्रयोग करे॥ १०५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में प्यासे रोगी के लिए क्वाथ पीने को कहा गया है, किन्तु क्वाथ से प्यास का शमन सम्भव नहीं है। अतः यहाँ क्वाथ के स्थान में षडङ्गपरिभाषा से बनाये गये जल को पिलाना उपयुक्त है।

पाठां मधुरसां रास्नां सरलं देवदारु च। प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयेत्॥ १०६॥
तं मन्दलवणं कृत्वा भिषक् प्रसृतसम्मितम्। पाययेत्तु ततो हिक्का श्वासश्चैवोपशाम्यति॥

पाठाद्यासव—पाठा, मूर्वा, रास्ना, सलई की लकड़ी का बुरादा और देवदारु, इन सबको समान भाग में लेकर अच्छी तरह धोकर, साफ कर कूट ले। तत्पश्चात् समस्त द्रव्य के वजन से ६ गुने वजन मदिरा में डालकर किसी मिट्टी के पात्र में मुखसन्धि के लिए परई लगाकर बन्द कर सात दिन पड़ा रहने दें, फिर छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख ले। १ प्रसृत की मात्रा में हल्का सेंधानमक डालकर पिलाना चाहिए। इससे हिक्का एवं श्वासरोग शान्त हो जाते हैं॥ १०६-१०७॥

वक्तव्य—वर्तमान समय में १ प्रसृत की मात्रा अधिक है, अतः $\frac{1}{4}$ प्रसृत अर्थात् २ कर्ष की ही मात्रा देनी चाहिए।

हिङ्गु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम्। मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन वा पिबेत्॥ १०८॥

हिंग्वादि पेय योग—हींग, सोंचरनमक, खट्टी बेर, लजैनी और पीपर तथा बरियार की जड़, इन सबको बराबर मात्रा में आधा-आधा ग्राम लेकर बिजौरा नीबू के रस में पीसकर अथवा काञ्जी में पीसकर पीना चाहिए। इससे हिक्का और श्वासरोग शान्त हो जाते हैं॥ १०८॥

सौवर्चलं नागरं च भार्गीं द्विशर्करायुतम्। उष्णाम्बुना पिबेदेतद्धिक्काश्वासविकारनुत्॥ १०९॥

सौवर्चलादि चूर्ण—सोंचरनमक, सोंठ तथा भारंगी १-१ भाग तथा चीनी २ भाग लेकर महीन कर, सब मिलाकर रख लें। इस चूर्ण को २ ग्राम की मात्रा में गरम जल से दिन में २ या ३ बार देने से यह हिक्का एवं श्वास के विकार को नष्ट करता है॥ १०९॥

भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचक्षारयोस्तथा। पीतद्वुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत्॥

भार्गीनागरादि योग—१. भारंगी और सोंठ या २. मरिच और यवक्षार या ३. दारुहल्दी, चित्रक, सारिवा और मूर्वा का चूर्ण गरम जल से पीना चाहिए॥ ११०॥

वक्तव्य—इसमें तीन योग बनते हैं, जिन्हें १, २, ३ के अङ्कों से अलग किया गया है।

मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा। उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे॥ १११॥

उत्कारिका का प्रयोग—मधूलिका (गेहूँ का आटा या दलिया), वंशलोचन, सोंठ और पीपर, इनका चूर्ण कर लें। गेहूँ का आटा यदि २०० ग्राम लें, तो अन्य द्रव्यों का चूर्ण २-२ ग्राम डालकर, पानी मिलाकर सान लें और उसे घी में तलकर पूड़ी या पूआ पकाकर पित्तज श्वास के रोगी को खाने को दें॥ १११॥

श्वाविधं शशमांसं च शल्लकस्य च शोणितम्। पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धजे॥

मांस-प्रयोग—यदि रोगी वातज श्वासरोग से पीड़ित हो, तो उसे (बड़ी) शाही का मांस, खरगोश का मांस और (छोटी) शाही का रक्त, इन्हें घी में बनाकर आवश्यकतानुसार पीपर का चूर्ण डालकर खिलाना चाहिए॥ ११२॥

वक्तव्य—यहाँ 'सिद्धानि' इस बहुवचन के प्रयोग से तीनों के अलग-अलग प्रयोग करने का अभिप्राय प्रकट होता है। अतः इस योग को एक में अथवा पृथक्-पृथक् भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम्। शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम्॥ ११३॥

वात-पित्तज श्वास में अनुपान—वात-पित्तज श्वासरोग से पीड़ित रोगी को अगहनी चावल का भात खाने के बाद हुरहुर का रस अथवा त्रिकटुचूर्ण मिला दूध अथवा त्रिकटुचूर्ण मिला घी पीने को देना चाहिए॥ ११३॥

शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः। पिप्पलीमधुसंयुक्तः कफपित्तानुगे मतः॥ ११४॥

कफ-पित्तज श्वास में स्वरस प्रयोग—जब श्वासरोग में कफ तथा पित्त दोनों का अनुबन्ध हो, तो शिरीष के फूलों का स्वरस या छितवन के फूल अथवा पत्ती का स्वरस पिप्पली चूर्ण तथा मधु मिलाकर पिलाना चाहिए॥ ११४॥

मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोऽश्वशकृद्रसः। घृतं क्षौद्रं कासश्वासहिक्काभिष्यन्दिनां शुभम्॥

मधुकादि योग—मुलहठी, पिपरामूल, गुड़, गाय तथा घोड़े की विष्ठा का रस, घृत और मधु, यह सब एक साथ मिलाकर पीने से कास, श्वास, हिचकी और अभिष्यन्द रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ११५॥

खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च। शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत्॥ ११६॥

कफप्रधान हिक्का-श्वास में उपचार—जब हिक्का या श्वासरोग में कफ की प्रधानता हो, तो रोगी को गदहा, घोड़ा, ऊँट, सूअर, भेड़ अथवा हाथी, इन पशुओं में से जो भी उपलब्ध हो, किसी एक की विष्ठा का स्वरस निकालकर, मधु मिलाकर पीना चाहिए॥ ११६॥

क्षारं चाप्यश्वगन्धाया लिह्यान्ना क्षौद्रसर्पिषा। मयूरपादनालं वा शकलं शल्लकस्य वा॥ ११७॥

कफयुक्त हिक्का-श्वास में कुछ प्रयोग—(१) हिक्का-श्वास के रोगी को कफ की अधिकता होने पर असगन्ध का क्षार मधु-घृत की विषम मात्रा के साथ देना चाहिए अथवा (२) मोर के (पंख का भस्म या) पैर की नली का भस्म अथवा (३) शाही के काँटे की भस्म मधु-घृत के साथ सेवन कराना चाहिए॥ ११७॥

श्वाविज्जाण्डकचाषाणां रोमाणि कुररस्य वा। एकद्विशफशृङ्गाणि चर्मास्थीनि खुरांस्तथा॥
सर्वाण्येकैकशो वाऽपि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम्।
चूर्णं लीढ्वा जयेत्कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम्॥ ११९॥

दारुण हिक्का-श्वास नाशक योग—बड़ी शाही के लोम (काँटे), जाण्डक (जन्तुविशेष) के और नीलकण्ठ के तथा कुरर पक्षी के पंख का क्षार अथवा एक खुर वाले एवं दो खुर वाले पशुओं के चर्म, हड्डी और खुर इन सबको जलाकर या एक-एक को जलाकर तथा राख का चूर्ण बनाकर, मधु-घी के साथ सेवन करने से भयङ्कर खाँसी, हिक्का तथा श्वास रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ११८-११९॥

एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपहाः। तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे॥ १२०॥

क्षार-प्रयोग से स्रोतःशोधन—ऊपर में जो क्षार बतलाये गये हैं, ये सब कफ के द्वारा श्वासमार्ग में अवरोध होने से उत्पन्न प्राणवायु के प्रकोप को दूर करने वाले हैं। इसलिए श्वासमार्ग की बाधा को दूर करने के लिए उक्त क्षारों का प्रयोग करना चाहिए। यदि कफ के द्वारा श्वासमार्ग में अवरोध न हो, तो इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ १२०॥

कासिने छर्दनं दद्यात् स्वरभङ्गे च बुद्धिमान्। वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम्॥ १२१॥

वमन-विरेचन प्रयोग—जब श्वास के रोगी को कास या स्वरभेद हो, तो उसमें बुद्धिमान् वैद्य को वमन का प्रयोग कराना चाहिए। इसी प्रकार तमकश्वास रोग में वातकफनाशक औषधों से युक्त विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए॥ १२१॥

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद् वहज्जलम्। यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत्॥ १२२॥

वायुमार्ग का नित्य शोधन—जिस प्रकार नदी या नहर आदि में बहते हुए जल के वेग में बाँध या वृक्ष आदि के टूटकर गिरने से रुकावट होने से अवरुद्ध वेग प्रबल होकर इधर-उधर फैलने लगता है, उसी प्रकार कफ के कारण अवरुद्ध वायु अति प्रकुपित होकर उपद्रव करने लगता है। इसलिए वायु के मार्ग का शोधन नित्य करते रहना चाहिए॥ १२२॥

शटीचोरकजीवन्तीत्वङ्मुस्तं पुष्कराह्वयम्। सुरसं तामलक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम्॥ १२३॥
बालकं च समं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणशर्करम्। सर्वथा तमके श्वासे हिक्कायां च प्रयोजयेत्॥ १२४॥

शटयादि चूर्ण—कचूर, चोरपुष्पी, जीवन्ती, दालचीनी, नागरमोथा, पोहकरमूल, तुलसी की पत्ती, भुईंआँवला, छोटी इलायची, पीपर, अगर, नागरमोथा और सुगन्धबाला—इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर महीन चूर्ण कर सम्पूर्ण चूर्ण के वजन से आठ गुने वजन में महीन चीनी मिलाकर रख लें। इसमें से २ से ४ ग्राम तक की मात्रा में ३-४ बार प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए॥ १२३-१२४॥

मुक्ताप्रवालवैदूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम्। ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम्॥ १२५॥
ताम्रायोरजसी रूप्यं ससौगन्धिकसीसकम्। जातीफलं शणाद्बीजमपामार्गस्य तण्डुलाः॥ १२६॥
एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा। हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति॥
अञ्जनात्तिमिरं काचं नीलिकां पुष्पकं तमः। पिल्लं कण्डूमभिष्यन्दमर्म चैव प्रणाशयेत्॥ १२८॥
इति मुक्ताद्यं चूर्णम्।

मुक्तादि चूर्ण—मुक्ताभस्म, प्रवालभस्म, वैदूर्य (लहसुनिया) भस्म, शंखभस्म, स्फटिक (बिल्लौर) भस्म, अञ्जनभस्म, ससार ('स्फटिक'-चक्रपाणि) भस्म, शुद्ध गन्धक, काचभस्म, मदार का फूल, छोटी इलायची, सोंचरनमक, सेंधानमक, ताम्र भस्म, लौह भस्म, रजत भस्म, माणिक्य भेद का भस्म, सौवीराञ्जन भस्म, जायफल, सन का बीज और चिचिड़ी का बीज—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर महीन चूर्ण कर, एक में मिलाकर खरल में घोंट लें और सुरक्षित जार में रख ले। इसे १ कर्ष की मात्रा में (किन्तु वर्तमान में १-१½ ग्राम) मधु-घी से चाटे। यह चूर्ण हिक्का, श्वास तथा कास रोग को शीघ्र नष्ट करता है और अञ्जन के रूप में प्रयोग करने से तिमिर, काच, नीलिका, फूली पड़ना, कम दीखना, पिल्लरोग, कण्डू, अभिष्यन्द और अर्म रोग को नष्ट करता है॥ १२५-१२८॥

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च। मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम्॥ १२९॥

शटयादि योग—कचूर, पोहकरमूल और आँवला समान भाग लेकर, चूर्ण बनाकर मधु के साथ अथवा तीक्ष्ण लौह भस्म को मधु के साथ चाटने से हिक्का तथा श्वासरोग नष्ट होते हैं॥ १२९॥

सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोऽश्वशकृद्रसम्। तुल्यं गुडं नागरञ्च प्राशयेन्नावयेत्तथा॥ १३०॥

शर्करा-तामलकी योग—चीनी, भूईंआँवला, द्राक्षा, गोबर का रस, घोड़े की लीद का रस, गुड़ और सोंठ एक में पीसकर चाटना चाहिए और इन्हीं औषधों का स्वरस नाक में टपकायें। इससे हिक्का तथा श्वास शान्त हो जाते हैं॥ १३०॥

वक्तव्य—इस योग को कुछ लोग दो योग मानते हैं, क्योंकि चीनी और गुड़, इन दोनों को एक ही योग में रखने का कोई औचित्य नहीं है। अतः गुड़ और सोंठ का दूसरा योग मानते हैं।

लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा। नावयेच्चन्दनं वाऽपि नारीक्षीरेण संयुतम्॥ १३१॥

हिक्का-श्वासनाशक नस्य—हिक्का एवं श्वास के वेग को शान्त करने के लिए लहसुन का या प्याज का या गाजर का स्वरस नाक में टपकायें अथवा श्वेत चन्दन को स्त्री के दुग्ध में घिसकर नासिका में डालें॥ १३१॥

सुखोष्णं घृतमण्डं वा सैन्धवेनावचूर्णितम्। नावयेन्माक्षिकीं विष्ठामलक्तकरसेन वा॥ १३२॥
नारीक्षीरेण सिद्धं वा सर्पिर्मधुरकैरपि। पीतं नस्तो निषिक्तं वा सद्यो हिक्कां नियच्छति॥ १३३॥
सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्धिक्किनां पयः। पाने नस्तःक्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम्॥

हिक्कानाशक अन्य योग—(१) घृत को हल्का गरम कर सेंधानमक डालकर नस्य दे या (२) लाक्षारस में मक्खी की विष्ठा को घिसकर नस्य दे या (३) केवल स्त्री के दूध का नस्य दे अथवा (४) मधुरगण (जीवनीयगण) की औषधों से सिद्ध घृत का पान करने से या नस्य देने से तत्काल हिक्का का वेग शान्त हो जाता है। इसी प्रकार कभी गरम, कभी ठण्डा दूध मधु और चीनी मिला हुआ पिलाने से हिक्का शान्त हो जाती है एवं ठण्डा या गरम दूध का बारी-बारी से नस्य देने से भी हिक्का में लाभ होता है॥ १३२-१३४॥

अधोभागैर्घृतं सिद्धं सद्यो हिक्कां नियच्छति। पिप्पलीमधुयुक्तौ वा रसौ धात्रीकपित्थयोः॥

घृत एवं स्वरस प्रयोग—(१) अधोभागहर (विरेचन) द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध किये हुए घृत का पान करने से हिक्का का वेग तत्काल ही शान्त हो जाता है। (२) आँवले के स्वरस में पीपर और मधु मिलाकर सेवन करने से अथवा (३) कपित्थ के रस में पीपर का चूर्ण और मधु मिलाकर पीने से हिक्कारोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥ १३५॥

लाजालाक्षामधुद्राक्षापिप्पल्यश्वशकृद्रसान्। लिह्यात् कोलमधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा॥

लाजादि तथा कोलादि योग—(१) धान का लावा, पीपर की लाख, मुनक्का और पीपर, इन सबको समान भाग में लेकर, पीसकर अश्वपुरीष के स्वरस तथा मधु के साथ चाटना चाहिए अथवा (२) खट्टी बेर का चूर्ण, मुनक्का, पीपर और सोंठ के समभाग चूर्ण को मधु के साथ खाना चाहिए। इससे हिक्का एवं श्वास रोग शान्त हो जाते हैं॥ १३६॥

शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम्। क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यावना मताः॥

हिक्का में मानसिक उपाय—हिक्का के वेग शान्त करने के लिए इन उपचारों को करे—१. शिर पर शीतल जलधारा गिराना, २. अचानक रोगी को डराना, ३. रोगी को आश्चर्यचकित करना, ४. मृत्युजनक भय उत्पन्न करना, ५. रोगी को क्रुद्ध कर देना, ६. रोगी को प्रसन्न करना, ७. प्रिय वस्तु देना और ८. उद्विग्न कर देना—ये उपाय हिक्का के वेग को दूर कर देते हैं॥ १३७॥

हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत् प्रकीर्तितम्। वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्धिक्काश्वासविकारिभिः॥

निदान का निषेध—हिक्का एवं श्वास से पीड़ित व्यक्ति यदि अपने आरोग्य-लाभ की कामना करते हों, तो उन्हें इनके जो निदान बतलाये गये हैं, उनका सेवन करना छोड़ देना चाहिए॥ १३८॥

हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरःकण्ठतालुकाः। प्रकृत्या रूक्षदेहाश्च सर्पिर्भिस्तानुपाचरेत्॥

हिक्का-श्वास में घृत-सेवन—हिक्का-श्वास के साथ-साथ जब उपद्रवस्वरूप उरःप्रदेश, कण्ठ और तालु में शुष्कता हो जाय और रोगी प्रकृति से रूक्षशरीर हो, तो उसे घृत का सेवन कराकर चिकित्सा करे॥ १३९॥

दशमूलरसे सर्पिर्दधिमण्डे च साधयेत्। कृष्णासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः॥ १४०॥
कायस्थया च तत्पानाद्धिक्काश्वासौ प्रणाशयेत्॥

दशमूलादि घृत—पीपर, सोंचरनमक, यवक्षार, ब्राह्मी, हींग, चोरपुष्पी और हर्रे सब समान भाग और कुल मिलाकर (१६ कर्ष) कल्क करे। कल्क से चौगुना (१ प्रस्थ) घी लेकर तथा घी से चौगुना (१ आढक) दही का पानी डालकर घी का पाक करे और यथाविधि तैयार कर, छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत हिक्का तथा श्वासरोग को नष्ट करता है॥ १४०॥

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी॥ १४१॥
भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी। सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं बिल्वपेशिका॥ १४२॥
तालीसपत्रं जीवन्ती वचा तैरक्षसम्मितैः। हिङ्गुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत्तोये चतुर्गुणे॥ १४३॥
एतद्यथाबलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः। शोथानिलार्शोग्रहणीहृत्पार्श्वरुज एव च॥ १४४॥
इति तेजोवत्यादिघृतम्।

तेजोवत्यादि घृत—तेजबल, हर्रे का बक्कल, कूठ, पीपर, कुटकी, गन्धतृण, पोहकरमूल, पलाशबीज, चित्रकमूल, कचूर, सोंचरनमक, भुईआँवला, सेंधानमक, बेलगिरी, तालीसपत्र, जीवन्ती और मीठा बच, प्रत्येक १-१ कर्ष तथा हींग ½ कर्ष, इन सबका कल्क बनाकर १ प्रस्थ घृत का पाक करे तथा घी का चौगुना (१ आढक) जल डालकर मन्द आँच पर यथाविधि घृत तैयार करे। तैयार होने पर गरम-गरम छान ले और सुरक्षित रखें। अपने बल के अनुसार उचित मात्रा में इस घृत का सेवन कर मनुष्य हिक्का और श्वास को जीत लेता है। इसी प्रकार यह घृत शोथ, वातज अर्श, ग्रहणीविकार, हृदयरोग और पार्श्वशूल को भी नष्ट करता है॥ १४१-१४४॥

मनःशिलासर्जरसलाक्षारजनिपद्मकैः। मञ्जिष्ठालैश्च कर्षांशैः प्रस्थः सिद्धो घृताद्भितः॥ १४५॥
इति मनःशिलादिघृतम्।

मनःशिलादि घृत—मैनसिल, राल, लाही, हल्दी, पद्मकाष्ठ, मजीठ और हरताल, प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर कल्क बनाकर १ प्रस्थ घी में डालकर ४ प्रस्थ जल देकर घृतपाक कर ले। इस घृत के सेवन से हिक्का एवं श्वास रोग नष्ट होते हैं॥ १४५॥

जीवनीयोपसिद्धं वा सक्षौद्रं लेहयेद् घृतम्। त्र्यूषणं दाधिकं वाऽपि पिबेद्वासाघृतं तथा॥ १४६॥

घृत के विविध योग—हिक्का-श्वास के शमन के लिए जीवनीयगण की औषधों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत में मधु मिलाकर चटाना चाहिए अथवा त्र्यूषणादि घृत (कासरोग में पठित) अथवा दाधिक घृत (गुल्मरोग में पठित) या वासाघृत (गुल्मरोग में पठित) यथायोग्य मात्रा में पीना चाहिए॥ १४६॥

यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्। भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने॥ १४७॥

हिक्का तथा श्वास में औषध एवं अन्नपान—हिक्का-श्वास के रोगियों के लिए वही औषध, आहार या पेय पदार्थ हितकर होता है, जो कफ एवं वात का नाशक हो, उष्ण हो तथा वायु को अनुलोम करने वाला हो॥ १४७॥

वातकृद्धि कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम्। कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम्॥

वातनाशक चिकित्सा सर्वोत्तम—हिक्का-श्वास रोगों की चिकित्सा में जो औषध, आहार एवं पेय वातकारक तथा कफनाशक हो या कफकारक और वातनाशक हो, एकमात्र उन्हीं का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अपितु इन दोनों प्रकार के प्रयोगों की अपेक्षा वातनाशक चिकित्सा करना अधिक श्रेयस्कर है॥१४८॥

वक्तव्य—चक्रपाणि के अनुसार हिक्का-श्वास की चिकित्सा में तीन विधियाँ हैं; जिनमें—(१) सबसे प्रधान कफवातहर चिकित्सा है, जो अभी पूर्व में कही जा चुकी है। जो अवशिष्ट है उनमें दोष की विद्यमानता से अनैकान्त कारण जानना चाहिए अर्थात् दोनों ही तरह की चिकित्सा करनी चाहिए। (२) वातकारक कफहर तथा (३) कफकारक वातहर। इस प्रकार दो तरह की चिकित्सा में वातहर चिकित्सा की ही प्रधानता जाननी चाहिए; यथा—'अनैकान्तेन चिकित्साद्वयकरणे वातहरस्यैव प्राधान्यं ज्ञेयम्'।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि हिक्का-श्वास में वात-कफ का प्रकोप होता है, जिनमें एक आवरण-कर्ता होता है और एक आवृत होता है। इसलिए (१) कभी वातकारक एवं कफनाशक चिकित्सा करनी पड़ती है और इससे स्रोतों में लीन या भरा हुआ कफ नष्ट हो जाता है। वात अधिक बढ़कर अपने मार्ग

के अवरोधक कफ को वेग के साथ बाहर निकाल देता है। अतः मार्गस्थ कफ के छँट जाने से श्वासपथ स्वच्छ हो जाता है। (२) एवं कफकारक तथा वातनाशक चिकित्सा से यह लाभ होता है कि कफकारक औषधों के प्रयोग से कफ अधिक बढ़ जाता है और साथ ही वातनाशक औषधों से वायु नष्ट हो जाती है। बढ़े हुए कफ को वमन कराकर निकाल दिया जाता है और रोगी को आरोग्य लाभ हो जाता है।

ये जो दो प्रकार के उपचार हैं, इनके ही आधार पर एकदम से निर्भर रहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रक्रिया में एक की वृद्धि और दूसरे का ह्रास किया जाता है, जबकि दोनों ही वात और कफ, हिक्काश्वास-जनक हैं। अतः उक्त दोनों विधियों से तो अच्छा यही है कि वातनाशक उपचार ही किया जाय।

सिद्धान्ततः पूर्व में कहा जा चुका है कि हिक्काश्वास में कफवातघ्न चिकित्सा ही श्रेयस्कर है।

सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत्। नात्यर्थं शमनेऽपायो भूशोऽशक्यश्च कर्शने॥

हिक्का-श्वास में बृंहण एवं कर्षण उपचार—(इस सन्दर्भ में १. बृंहण, २. शमन और ३. कर्शन, इन तीन प्रकार के उपचारों की फलश्रुति बतलायी गयी है) (१) हिक्का-श्वास के रोगियों की बृंहण चिकित्सा करने में अल्प उपद्रव की सम्भावना होती है और यदि उपद्रव होता भी है, तो वह सुखसाध्य होता है। (२) हिक्का-श्वास की चिकित्सा में यदि शमन उपचार किया जाये, तो भी किसी हानि की अधिक सम्भावना नहीं होती। (३) हिक्का-श्वास की चिकित्सा में कर्शन या अपतर्पण का प्रयोग करने पर जो उपद्रव होते हैं, वे असाध्य होते हैं॥ १४९॥

वक्तव्य—यहाँ बृंहण चिकित्सा कहने का अभिप्राय यह है कि बृंहण से कफ की वृद्धि होगी और वह आसानी से वमन द्वारा बाहर निकाल दिया जायगा। दूसरी बात यह है कि बृंहण से वात का नाश होता है। इस तरह बृंहण से कफ-वात, इन दोषों का उपचार हो जाता है। शमन चिकित्सा करने से कफ-वात, इन दोनों दोषों का प्रकोप शान्त हो जाने से लाभ होता है। अतः बृंहण और शमन, ये दोनों उपचार मान्य कहे गये हैं।

तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि। हिक्काश्वासार्दिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत्॥ १५०॥

शमन एवं बृंहण का निर्देश—(यद्यपि संशोधन चिकित्सा करने से दोष स्थायी रूप से शान्त हो जाते हैं, किन्तु अधिक दुर्बल रोगी को संशोधन बर्दास्त नहीं होता। अतः) हिक्का-श्वास का रोगी संशोधित किया गया हो अथवा बिना संशोधन का हो, उसकी चिकित्सा में प्रायः बृंहण और शमन का प्रयोग करना चाहिए॥ १५०॥

तत्र श्लोकः—

दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम्। लिङ्गं पथ्यञ्च हिक्कानां श्वासानां चेह दर्शितम्॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने हिक्का-श्वासचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

उपसंहार—इस 'हिक्का-श्वास-चिकित्सित' नामक अध्याय में इन दोनों रोगों की दुर्जेयता, उनकी उत्पत्ति और इनकी एक ही प्रकार की चिकित्सा करने में कारण, इनका लक्षण और पथ्य, यह सब बतला दिया गया है॥ १५१॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'हिक्का-श्वासचिकित्सित' नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १७॥

हिक्का-श्वास-चिकित्साक्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
सामान्य चिकित्सा—हिक्का एवं श्वास रोग में बाह्य कारण, नाभि आदि स्थान और मूल दोष (वात-कफ) की समानता होने से इन दोनों की एक ही चिकित्सा होती है। **चिकित्सा सूत्र**—वक्षःस्थल पर सेंधानमक मिले तिलतैल की मालिश कर स्निग्ध द्रव्यों से युक्त नाड़ीस्वेद, प्रस्तरस्वेद या संकरस्वेद करना चाहिए। इससे वायु का अनुलोमन होता है और सूखा कफ पिघलकर निकल जाता है। **वमन**—स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् कफवर्धक स्निग्ध भोजन कराकर कफ के बढ़ जाने पर पिप्पली चूर्ण, सेंधा नमक और मधु पिलाकर वमन करायें। **धूम्रपान**—यदि स्रोतों में कफ जकड़ा हुआ प्रतीत हो, तो धूम्रपान कराकर उसे निकालना चाहिए। **नवज्वर एवं आमदोष ग्रस्त**—हिक्का-श्वास के रोगी के बल आदि का विचार कर रूक्षस्वेद और लंघन कराना चाहिए अथवा गरम जल में सेंधानमक मिलाकर, पिलाकर वमन करायें। कफाधिक बलवान् रोगी हो, तो पथ्यसेवनपूर्वक वमन-विरेचन का प्रयोग कर संशोधन करें, फिर हिक्का-श्वासनाशक धूम्र, अवलेह आदि का प्रयोग करें। **दुर्बल रोगी**—वातप्रधान रोगी दुर्बल हो या बालक अथवा वृद्ध रोगी हो, तो वातनाशक औषध प्रयोगपूर्वक यूष, मांसरस आदि से तर्पण करना चाहिए। ऐसा रोगी बृंहणीय होता है। **कास तथा स्वरभंगयुक्त श्वास में**—वमन कराना लाभकर है।	**स्वेदन द्रव्य**—काला तिल, तीसी उड़द और गेहूँ का आटा काञ्जी से सानकर तैल मिलाकर, मोटी रोटी बनाकर उससे स्वेदन करे। **अस्वेद्य**—स्वरभेद, अतिसार, रक्तपित्त, दाह, रक्तस्राव, क्षीणता एवं दुर्बलताग्रस्त तथा गर्भिणी का स्वेदन नहीं करना चाहिए। **वमनार्थ**—पिप्पली चूर्ण ४ ग्राम, सेंधानमक ६ ग्राम, मधु २५ ग्राम, इन्हें घोलकर पिलाना चाहिए। **धूम्रपानार्थ योग**—हल्दी, जौ, रेड़ की जड़, लाक्षा, मैनसिल, देवदारु, हरताल और जटामांसी पीसकर, बत्ती बनाकर घी चुपड़कर चीलम पर रखकर पीना चाहिए। इसी तरह जौ तथा घी को या मोम, राल, घी को या गाय की सींग अथवा बाल को चीलम पर रखकर पीना चाहिए। भोजनोत्तर दोनों समय पाठाद्यासव ½ पल समान जल के साथ पिलायें प्रातः सायं या मध्याह्न में भी-हिंग्वादि योग, सौवर्चलादि चूर्ण या भार्गीत-गरादि योग को रोगी के बलानुसार मात्रा में यथायोग्य अनुपान से दें। **पित्तानुबन्धी श्वास में**—गेहूँ की दलिया में वंशलोचन, सोंठ, पीपर, इनका चूर्ण मिलाकर रोटी बनाकर खिलायें। **वातानुबन्धी श्वास में**—बड़ी शाही के मांस, खरगोश के मांस, छोटी शाही के रक्त एवं पीपर के चूर्ण से सिद्ध किये हुए घी का प्रयोग करायें। **पित्तानुबन्धी श्वास में**—हुरहुर के स्वरस में दूध, घी एवं त्रिकटुचूर्ण उचित मात्रा में मिलाकर अगहनी का भात खाने के बाद देना चाहिए।	**कफवर्धक आहार**—मछली या सूअर का मांसरस और भात अथवा दही-भात खिलायें। **वमन के अतियोग** से यदि वायु प्रबल हो गयी हो, तो वातनाशक मांसरस आदि के साथ भोजन दे तथा सम-शीतोष्ण वातनाशक द्रव्यों से अभ्यंग कराकर वायु का अनुलोमन करे। पेय पदार्थों में दशमूल-क्वाथ या देवदारुक्वाथ या सुरा का पान हितकर है। **उदावर्त एवं आनाह में**—वातानुलोमक अन्न के साथ बिजौरा नीबू का रस, अम्लवेंत चूर्ण, घी में भुनी हींग, पीलुवृक्ष के फल का चूर्ण और विडनमक देना चाहिए। **बृंहणार्थ पथ्य**—मोर, तित्तिर, मुर्गा एवं जांगल पशु-पक्षियों के मांस को दशमूल के क्वाथ या कुल्थी के क्वाथ में सिद्ध कर खाने को दें। निदिग्धिकादि यूष, रास्नादि यूष, मातुलुङ्गादि यूष, मुद्गयूष, कासमर्द-यूष, सहिजनयूष, शुष्क-मूलकयूष एवं काण्टकारी यूष देना चाहिए और इन्हीं यूषों के साथ अगहनी या साठी चावल का भात और गेहूँ या जौ की रोटी खिलानी चाहिए।

उपचार	औषध	पथ्य
तमक श्वास में—वात-कफ-नाशक द्रव्यों को देकर विरेचन कराना चाहिए। **सत्त्वावजय एवं उपायाभिप्लुता चिकित्सा**—रोगी के शिर पर शीतल जलधारा गिरायें, अचानक उसे डरायें, आश्चर्यचकित कर दें, भय से उद्विग्न कर दें, क्रोधित करें, उसकी मनपसन्द वस्तुओं को दें तथा उसके चित्त को मोड़ने के लिए तात्कालिक प्रभावकारी उपाय करें। ऐसा करने से जब रोगी का मन किसी खास समस्या में उलझता है, तो उसकी हिचकी या श्वास के वेग कम हो जाते हैं। **त्रिविध चिकित्सा**—हिक्काश्वास में तीन तरह की चिकित्सा कही गयी है—१. बृंहण, २. शमन और ३. कर्शन। बृंहण से कफ की वृद्धि होती है और वह आसानी से अपना स्थान छोड़कर, द्रवित होकर निकल जाता है। बृंहण से वायु का भी विकार शान्त होता है। शमन से कफ तथा वात दोनों के विकार शान्त हो जाते हैं। इन दोनों से अल्प उपद्रव होते हैं, जो सुखसाध्य होते हैं। कर्शन चिकित्सा में गम्भीर और असाध्य उपद्रव होते हैं। इसलिए वह उत्तम नहीं है। अतः हिक्का-श्वास के रोगी का शोधन हुआ हो या न हुआ हो, तो भी उसकी बृंहण या शमन-चिकित्सा करनी चाहिए।	**कफपित्तानुबन्धी श्वास में**—शिरीषपुष्प स्वरस या सप्तपर्णपत्र स्वरस में पिप्पली चूर्ण और मधु मिला कर पिलाना चाहिए एवं मधुकादि योग का प्रयोग करें। **कफप्रधान हिक्का-श्वास में**—असगन्ध का क्षार घी-मधु से एवं मयूर पादनाल, मत्स्यशल्क, शाही के काँटे, नीलकण्ठ पंख, कुररपक्षी के पंख, एक खुर या दो खुर वाले पशुओं की हड्डी या खुर लेकर क्षार बनाकर मधु-घी से दें। इन क्षारलेहों के प्रयोग से कफ की जकड़न दूर हो जाती है और श्वास-मार्ग शुद्ध हो जाता है। **श्वास-पथ को नित्य शुद्ध रखने के लिए**—शटयादि चूर्ण, मुक्तादि चूर्ण एवं शटयादि योग का प्रयोग करना चाहिए। **नस्य**—लहसुन या प्याज या गाजर के स्वरस का नस्य दें अथवा स्त्री के दुग्ध में घिसे चन्दन द्रव का नस्य दें। सुखोष्ण घृत में सेंधानमक मिला कर या लाक्षारस में मक्षिकाविट घिसकर या मधुर वर्ग से सिद्ध घृत का नस्य देने से हिक्का-श्वास शान्त होते हैं। चीनी मिलाकर कभी गरम, कभी ठण्डा दूध दें। **घृत प्रयोग**—विरेचनकारक द्रव्यों से सिद्ध घृत के पीने से या आँवले के या कैथ के रस में पीपर चूर्ण और मधु मिलाकर चाटने से हिक्का-श्वास शान्त होते हैं। लाजा, लाक्षा, द्राक्षा एवं पीपर का चूर्ण या बेर, मधु, मुनक्का, पीपर तथा सोंठ के चूर्ण को घोड़े की लीद के रस और मधु से देने से लाभ होता है।	**घृतसेवन**—छाती, कण्ठ और तालु में शुष्कता तथा शरीर में रूक्षता होने पर औषध-सिद्ध घृतों को आहार के साथ प्रयोग कराना चाहिए। जैसे—दशमूलादि घृत, तेजोवत्यादि घृत, मनःशिलादि घृत, जीवनीय घृत, त्र्यूषण घृत, दाधिक घृत या वासाघृत का सेवन कराने से शरीर में स्निग्धता आने से हिक्का-श्वास के वेग शान्त हो जाते हैं। **निष्कर्ष**—हिक्का-श्वास की चिकित्सा में जो कोई भी द्रव्य कफ-वात-नाशक हो, उष्ण हो और वायु को अनुलोम करने वाला हो, वही खाने-पीने के लिए देना चाहिए।

अथाष्टादशोऽध्यायः

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'कासचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—हिक्का-श्वास और कास, इनके निदान की समानता होने से एवं चिकित्सा की समानता होने से हिक्का-श्वासवर्णन के बाद कास-चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

निरुक्ति—'कास' शब्द की निरुक्ति तीन प्रकार से है—१. 'कसनात् कासः', 'कस गतिशातनयोः' इस धातु से ऊर्ध्वगति अर्थ में कास शब्द सिद्ध होता है। २. 'कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरितिकासः' इस निरुक्ति में वायु कण्ठ से ऊपर शिर की ओर जाती है, अतः कास कहते हैं। ३. 'कसनं कासः' इस निरुक्ति में 'कु शब्दे' इस धातु से कास शब्द की सिद्धि होती है।

विशेष—'कास' स्वतन्त्र रोग होते हुए भी अनेक रोगों में पाया जाने वाला एक लक्षण है और यदि इसे शीघ्र शान्त नहीं किया जाता, तो इससे भयंकर रोगों के उत्पन्न होने की आशंका होती है; कहावत भी है—'रोगों की जड़ खाँसी और झगड़े की जड़ हाँसी'।

खाँसी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों तरह के कारणों से होती है, जैसे—धूल-धुआँ के नासिका, मुख या गले में प्रवेश करने से या भोजन के समय बोलने या हँसने से भोजन का कुछ अंश अन्नप्रणाली में न जाकर श्वासनलिका में चला जाता है। असात्म्य होने के कारण वहाँ की कला में क्षोभ उत्पन्न होने से वायु उत्तेजित होती है और केन्द्रीय प्रत्यार्वन-क्रिया द्वारा कास की उत्पत्ति होती है और विजातीय वस्तु बाहर निकल जाती है।

सुषुम्नाशीर्ष में कास का केन्द्र है। कासप्रवृत्ति में त्रिशाखा, जिह्वाग्रसनिका, प्राणदा तथा अनुकोष्ठिका नाड़ियाँ काम करती हैं। ये प्राण तथा उदानवायु के अधिष्ठान हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा क्षोभ आदि का ज्ञान एवं ऊर्ध्वक्षेपण का कार्य सम्पन्न होता है।

स्वप्रकोपक कारणों से कुपित प्राणवायु उदानवायु से मिलकर फूटे हुए काँसे के पात्र के समान शब्द करती हुई कफ-पित्त सहित मुख से सहसा निकलती है, इसे ही कास कहते हैं। इस रोग में प्राण और उदान वायुएँ प्रदुष्ट होती हैं। इसमें प्राण का प्रकोप पहले होता है, जो उदान को प्रदुष्ट कर इस रोग को उत्पन्न करती है।

तपसा यशसा धृत्या धिया च परयाऽन्वितः। आत्रेयः कासशान्त्यर्थं प्राह सिद्धं चिकित्सितम् ॥

कास-चिकित्सा वर्णन का उपक्रम—उत्कृष्ट तपस्वी, यशस्वी, धैर्यवान् और परम बुद्धिमान् महर्षि आत्रेय ने कास रोग को शान्त करने के लिए अनुभूत चिकित्सा का उपदेश किया ॥ ३ ॥

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा। पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ॥ ४ ॥

कास के भेद—वात, पित्त तथा कफ से होने वाले तीन तथा क्षतज और क्षयज—ये पाँच प्रकार के कास मनुष्यों को होते हैं। यदि इनकी उपेक्षा कर दी जाय, तो बढ़कर शरीर का नाश कर देते हैं ॥ ४ ॥

वक्तव्य—प्रकृत सन्दर्भ में 'क्षयज' शब्द से धातुक्षयज समझना चाहिए। इस प्रकार इस एक ही 'क्षयज' शब्द से १. राजयक्ष्मा वाले क्षीण धातु पुरुष का कास, २. जराकास तथा ३. धातुक्षयज कास, इन

तीनों प्रकार के कास का ग्रहण हो जाता है। 'क्षतज कास' से उरःक्षत पूर्वक राजयक्ष्मा का कास तथा क्षतक्षीण का कास भी समझना चाहिए। यहाँ 'क्षयप्रद' कहने का अभिप्राय मारक से है अथवा धातुक्षयप्रद है।

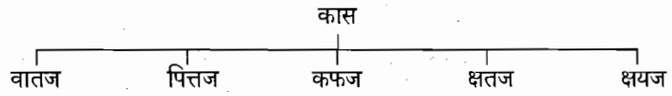

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता। कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते॥ ५॥

कास का पूर्वरूप—कास उत्पन्न होने के पूर्व गले और मुँह में शूक या टूड़ भरा होने जैसा काँटे चुभना, कण्ठ में खुजली होना, भोजन में अरुचि या निगलने में असमर्थता होना—ये सभी लक्षण कास रोग के पूर्वरूप में होते हैं॥ ५॥

अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतःसमाश्रितः। उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि॥ ६॥
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्। आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी॥ ७॥
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः। शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते॥ ८॥

कासरोग की सम्प्राप्ति और निर्वचन—जब वायु को नीचे की ओर गति में रुकावट होती है, तो वह ऊपर के स्रोतों में आ जाता है और वह उदान का रूप धारण कर लेता है। वह कण्ठ और वक्षःस्थल में आकर शिर में स्थित सभी स्रोतों को भर देता है। वह शरीर को तथा हनुप्रदेश, मन्या एवं नेत्रों को पीड़ित करता है और उनमें आक्षेप उत्पन्न करता है। नेत्र, पीठ, उरःस्थल एवं पार्श्वप्रदेश में खिंचाव और आक्षेप पैदा कर, उन्हें झुकाकर जकड़न उत्पन्न करता है। इस तरह के लक्षणों के साथ कफ के साथ अथवा सूखी खाँसी आती है। इस रोग में वायु ऊर्ध्वगति होती है और ऊर्ध्वाङ्ग में पीड़ा भी पहुँचाती है। इसलिए शातन (परेशान करना-सताना) और गति अर्थ की 'कस गतिशातनयोः' धातु से कास शब्द बनता है, जो अन्वर्थक है। अतएव 'कसनात् कासः' यह कहा गया है॥ ६-८॥

प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः। वेदनाशब्दवैशिष्ट्यं कासानामुपजायते॥ ९॥

कास में वेदना और ध्वनि—वेगवान् वायु जब बाहर निकलने को उद्यत होता है, तो जिन-जिन स्थानों से टकराता है, उसके अनुसार कासरोग में विशेष प्रकार का कष्ट होता है और खाँसने का विशेष शब्द निकलता है॥ ९॥

रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः। वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः॥ १०॥

वातज कास का निदान—रूक्ष, शीतल तथा कषाय रसयुक्त पदार्थों का अधिकांश सेवन करना, कम भोजन करना, किन्हीं एक-दो रसों का सेवन करना, अनशन करना, अधिक स्त्रीसंभोग करना, मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकना, थकानेवाला कार्य करना, ये सब वातज कास को उत्पन्न करने वाले कारण होते हैं॥ १०॥

हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम्। शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः॥ ११॥
निर्घोषदैन्यस्तननदौर्बल्यक्षोभमोहकृत्। शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत्॥
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति। ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत्॥

वातज कास का लक्षण—वातज कास से पीड़ित रोगी का उरःस्थल, कण्ठ और मुख सूखा होता है, उसे रोमाञ्च होता है। वह ग्लानि से कहरता रहता है। वायु उसके हृदय, पार्श्वप्रदेश, वक्ष तथा शिर में पीड़ा उत्पन्न करती है और भयङ्कर स्वरभेद उत्पन्न करती है। गला बैठ जाने से कभी खाँसने की आवाज नहीं निकलने से रोगी दीन हो जाता है। कदाचित् शब्द प्रतिध्वनित होता है। रोगी दुर्बल हो जाता है,

उसे क्षोभ और मोह हो जाता है। उसे सूखी खाँसी आती है और बड़ी कठिनाई से सूखे कफ को निकालने के बाद खाँसी थोड़ी कम हो जाती है।

जब रोगी स्निग्ध पदार्थ, अम्ल या लवणरसयुक्त पदार्थ एवं उष्ण आहार या पेय का सेवन करता है, तो खाँसी शान्त हो जाती है। जिन रोगियों में वायु की गति ऊर्ध्व की ओर हो गयी होती है, उनके भोजन के पच जाने पर वायु का वेग बलवान् हो जाता है॥ ११-१३॥

कटुकोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम्। पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः॥ १४॥

पित्तज कासनिदान—कटुरस पदार्थ, उष्ण, जलन पैदा करनेवाले, खट्टे और क्षार वाले पदार्थों का अधिक सेवन करना, क्रोध करना, आग अथवा सूर्य की धूप का ताप लगना, इन कारणों से प्रकुपित हुआ पित्त पित्तज कासरोग को उत्पन्न करता है॥ १४॥

पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः। उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः॥१५॥
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति। श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके॥ १६॥

पित्तज कास का लक्षण—थूकने में पीला कफ आना, आँखें पीली होना, मुख में तीतापन, स्वरभेद, छाती में धुआँ उठने जैसा प्रतीत होना, प्यास लगना, दाह होना, मूर्च्छा, भोजन में अरुचि होना, चक्कर आना, खाँसने में खाँसी का वेग लगातार कुछ देर तक बना रहना और आसमान में तारे दीखना तथा थूक में पित्तमिश्रित कफ का निकलना—ये पैत्तिक कास के लक्षण होते हैं॥ १५-१६॥

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नविचेष्टनैः। वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि॥

कफज कास का निदान—भारी पदार्थ, अभिष्यन्दी पदार्थ, मधुर एवं स्निग्ध पदार्थों के सेवन करने से, दिन के समय सोने से और किसी प्रकार का शारीरिक श्रम न करने से बढ़ा हुआ कफ वायु के मार्ग को रोककर कफज कास को उत्पन्न करता है॥ १७॥

मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः। लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम्॥ १८॥
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम्। कासमानो ह्युरुग्वक्षः सम्पूर्णमिव मन्यते॥ १९॥

कफज कास का लक्षण—कफज कास से पीड़ित रोगी मन्दाग्नि, भोजन में अरुचि, वमन, सर्दी-जुकाम, थुकथुकी, शरीर में भारीपन, रोमाञ्च, मुखमाधुर्य, क्लिन्नता (भींगापन) और थकावट का अनुभव करता है। वह अधिक मात्रा में मधुर, चिकने और गाढ़े कफ को थूकता रहता है। खाँसते समय उसे छाती में दर्द नहीं होता, किन्तु उसे यह अनुभव होता है कि उसकी छाती कफ से भरी हुई है॥ १८-१९॥

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः। रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत्॥ २०॥

क्षतज कास का निदान—अधिक स्त्रीप्रसङ्ग करने से, अधिक भार ढोने से, अधिक पैदल रास्ता चलने से, अपने से बलवान् पुरुष से लड़ने से, घोड़े या हाथी से लड़ने से रूक्ष शरीर वाले व्यक्ति के उरःप्रदेश (फुप्फुस) में क्षत हो जाता है। उस क्षत स्थान में प्रविष्ट होकर वायु कास रोग उत्पन्न कर देती है॥ २०॥

स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम्। कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा॥ २१॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना। दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना॥ २२॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः। पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात्॥ २३॥

क्षतज कास का लक्षण—रोगी पहले सूखी खाँसी से तंग रहता है, फिर खाँसी के साथ रक्तमिश्रित कफ आने लगता है। उसके कण्ठ में भयंकर पीड़ा होती है और छाती में विशेष दर्द होता है। तीखी सूइयों से चुभाने जैसी वेदना होती है। वेदना के स्थान में स्पर्श बर्दास्त नहीं होता और शरीर में टूटन तथा छाती में सन्ताप का अनुभव होता है। जोड़ों में टूटने जैसी पीड़ा, ज्वर, श्वास, तृष्णा और स्वरभेद हो जाता

है। क्षतज कास के वेग के आक्रमण से रोगी कबूतर की तरह अव्यक्त कूँ-कूँ की ध्वनि के साथ खाँसता रहता है॥ २१-२३॥

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात्। घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः॥
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्।

क्षयज कास का निदान—जो पुरुष भोज्य पदार्थों के प्रति घृणा (नफरत) का भाव रखते हैं और चिन्ता करने के स्वभाववाले होते हैं, वे जंब विषम और प्रतिकूल (असात्म्य) भोजन करते हैं, अधिक स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं और मल-मूत्र के वेगों को रोकते हैं, तो उनकी जठराग्नि विकृत हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप तीनों दोष प्रकुपित होकर शरीर को विनष्ट कर देने वाले क्षयज कास को उत्पन्न करते हैं॥ २४॥

दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम्॥ २५॥
स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम्। अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः॥ २६॥
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः। पाणिपादतलैःश्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी॥ २७॥
ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः। भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः॥

क्षयज कास का लक्षण—क्षयज कास का रोगी थूक के साथ जो कफ निकालता है वह दुर्गन्धित, हरे वर्ण का या लाल वर्ण का और पूय के समान होता है। खाँसते समय वह अपने हृदय को अपने स्थान से खिसका हुआ अनुभव करता है। अकारण ही उसे कभी गर्मी और कभी सर्दी से परेशानी होती है। वह अधिक मात्रा में भोजन करने के बावजूद निर्बल और दुबला-पतला रहता है। उसका मुख, उसके शरीर का वर्ण और त्वचा चिकने और स्वच्छ दीखते हैं। उसके नेत्र शोभायुक्त होते हैं। उसके हाथ-पैर के तलवे चिकने होते हैं। वह सदैव सभी वस्तुओं या पुरुषों में दोष देखता है और सभी पदार्थों से घृणा करता है। उसे द्विदोषज या शीत-उष्ण दोनों के साथ ज्वर होता है। उसकी पसलियों में पीड़ा होती है, सर्दी-जुकाम बना रहता है और भोजन में अरुचि होती है। उसे कभी पतला और कभी गाढ़ा मल आता है तथा अकारण स्वरभेद हो जाया करता है॥२५-२८॥

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः। साध्यो बलवतां वा स्याद् याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः॥
नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ। स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः॥

क्षयज कास की साध्यासाध्यता—उक्त लक्षणों वाला क्षयज कास दुबले-पतले व्यक्तियों के शरीर को नष्ट करनेवाला होता है और यदि बलवान् व्यक्तियों को हो, तो साध्य होता है। इसी प्रकार क्षीण व्यक्तियों को होनेवाला क्षतज कास असाध्य होता है और बलवान् व्यक्तियों को होनेवाला याप्य होता है। नवीन उत्पन्न क्षयज तथा क्षतज कास चिकित्सा के चतुष्पादों (भिषक्-द्रव्य-परिचारक-रोगी) के अपने-अपने गुणों से युक्त होने पर कदाचित साध्य हो जाते हैं। वृद्धावस्थावस्थाजन्य सभी प्रकार का कास याप्य होता है॥ २९-३०॥

त्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान् पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत्। चिकित्सामत ऊर्ध्वं तु शृणु कासनिबर्हिणीम्॥

चिकित्सा का उपक्रम—पहले कहे गये वातज, पित्तज एवं कफज, इन तीन साध्य कासों की चिकित्सा करनी चाहिए और याप्य (क्षयज तथा क्षतज) कासों को पथ्य औषध, अन्न, विहार से यापन करना चाहिए।

अब आगे आप कासरोग को दूर करनेवाली चिकित्सा को सुनिये॥ ३१॥

वातज कास-चिकित्सा

रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत्। सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेययूषक्षीररसादिभिः॥ ३२॥

वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः। अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान्॥
वस्तिभिर्बद्धविड्वातं, शुष्कोर्ध्वं चोर्ध्वभक्तिकैः। घृतैः सपित्तं सकफं जयेत् स्नेहविरेचनैः॥

चिकित्सासूत्र—रूक्ष प्रकृति के रोगी के वातज कास का उपचार पहले स्नेहों का प्रयोग करके करना चाहिए। शरीर के स्नेहन के लिए घृत का सेवन, वस्ति का प्रयोग, पेया, यूष, मांसरस, वातघ्न औषधों से सिद्ध घृत-तैल का सेवन, धूम्रपान, अवलेहसेवन, अभ्यङ्ग और परिषेक युक्तिपूर्वक करना चाहिए। स्निग्ध पदार्थों से स्वेदन भी करना चाहिए। बुद्धिमान वैद्य को चाहिए कि यदि स्नेह आदि के प्रयोग से मल तथा अपान वायु का अवरोध हो गया हो, तो वस्ति का प्रयोग कर अवरोध को दूर करे। यदि पित्तानुबन्ध हो और कण्ठ, मुख आदि में शुष्कता हो, तो भोजन के बाद सेवनीय घृतों के प्रयोग से उपचार करना चाहिए। इसी प्रकार वातज कास में कफ का अनुबन्ध हो, तो स्नेहयुक्त विरेचनों के प्रयोग से उपचार करना चाहिए॥ ३२-३४॥

कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक् त्रिंशत्पलाद्रसे। प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः॥ ३५॥
इति कण्टकारीघृतम्।

कण्टकारी घृत—कण्टकारी (छोटी कटेरी) और गुरुच, इन दोनों का अलग-अलग ३०-३० पल क्वाथ डालकर १ प्रस्थ घृत पकायें। यह घृत वातज कास को नष्ट करता है और अग्नि को प्रदीप्त करता है॥ ३५॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। धान्यपाठावचारास्नायष्ट्याह्वक्षारहिङ्गुभिः॥ ३६॥
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद्दशमूलीरसाढके। सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयामण्डं पिबेदनु॥ ३७॥
तच्छ्वासकासहृत्पार्श्वग्रहणीदोषगुल्मनुत्। पिप्पल्याद्यं घृतं चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम्॥ ३८॥
इति पिप्पल्यादिघृतम्।

पिप्पल्यादि घृत—पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ, धनिया, पाठा, मीठा बच, रास्ना, मुलहठी, यवाखार और हींग, प्रत्येक द्रव्य १-१ कोल (½ कर्ष) लेकर कल्क बना ले। फिर १ आढक दशमूल के क्वाथ में १ प्रस्थ घृत तथा पूर्वोक्त कल्क डालकर विधिवत् घृतपाक करे। इस घृत में से १ चतुर्थिका (१ पल) प्रमाण घृत का पान कर बाद में पेया का मण्ड भाग पीना चाहिए। यह घृत श्वास, कास, हृद्रोग, पार्श्वशूल, ग्रहणीविकार और गुल्मरोग को नष्ट करता है। इस घृत का उपदेश महर्षि आत्रेय ने किया है॥ ३६-३८॥

वक्तव्य—वर्तमान में इस घृत की मात्रा ½ से ½ पल तक लेनी चाहिए।

त्र्यूषणं त्रिफलां द्राक्षां काश्मर्याणि परूषकम्। द्वे पाठे देवदार्वृद्धिं स्वगुप्तां चित्रकं शटीम्॥ ३९॥
व्याघ्रीं तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम्। त्रिकण्टकं विदारीं च पिष्ट्वा कर्षसमं घृतात्॥
प्रस्थं चतुर्गुणे क्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत्। ज्वरगुल्मारुचिप्लीहशिरोहृत्पार्श्वशूलनुत्॥ ४१॥
कामलार्शोऽनिलाष्ठीलाक्षतशोषक्षयापहम्। त्र्यूषणं नाम विख्यातमेतद् घृतमनुत्तमम्॥ ४२॥
इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

त्र्यूषणाद्यघृत—सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, मुनक्का, गम्भारी, फालसे का फल, छोटी और बड़ी पाठा, देवदारु, ऋद्धि, केवाँच का बीज, चित्रकमूल, कचूर, छोटी कटेरी, भुईंआँवला, मेदा, कौआठोठी, शतावर, गोखरू और विदारीकन्द—इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष लेकर, पीसकर कल्क बनायें। १ प्रस्थ घी और ४ प्रस्थ गोदुग्ध में उक्त कल्क को डालकर विधिवत् घृतपाक करे। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले। कास को नष्ट करने वाले इस घृत का सेवन ज्वर, गुल्म, अरुचि, प्लीहरोग, शिरोरोग, हृदयरोग और पार्श्वशूल को नष्ट करता है। इसी प्रकार कामला, अर्श, वाताष्ठीला (वातज

गुल्म सदृश रोग), क्षत, शोष तथा क्षय को यह घृत नष्ट करता है। इसका नाम व्यूषण घृत है, जो सर्वोत्तम घृत के रूप में विख्यात है॥ ३९-४२॥

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नां दशमूलीं शतावरीम्। पलिकां माणिकांशांस्तु कुलत्थान्बदरान्यवान्॥
तुलार्धं चाजमांसस्य पादशेषेण तेन च। घृताढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः॥ ४४॥
सिद्धं तद्दशभिः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः। समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत्॥ ४५॥
पञ्चकासान् शिरःकम्पं शूलं वंक्षणयोनिजम्। सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत्॥
इति रास्नाघृतम्।

रास्नाघृत—रास्ना, बेलगिरी, गनियार, गम्भार, पाढल, सोनापाठा, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू और शतावर, प्रत्येक द्रव्य १-१ पल; कुलथी, बेर और जौ १-१ मानिका (८-८ पल), बकरे का मांस आधी तुला (५० पल), इन सबको छोटे टुकड़े कर १ द्रोण जल में पादावशिष्ट (चतुर्थांश) क्वाथ बनायें। क्वाथ को छानकर उसमें १ आढक गोघृत, १ आढक गोदुग्ध तथा जीवनीय गण (सूत्र०अ० ४ में कथित) की दश औषधियों का पृथक्-पृथक् १-१ पल कल्क डालकर विधिवत् घृत को सिद्ध करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले।

इस घृत का प्रयोग करते समय रोगी के बलाबल आदि का विचार कर वात रोगों में नस्य, पान एवं अनुवासन वस्ति के रूप में प्रयोग करना चाहिए। यह घृत पाँच प्रकार के कास, शिरःकम्प, शिरःशूल, वंक्षण और योनि के शूल, सर्वाङ्गवात या एकाङ्गवात, प्लीहवृद्धि और ऊर्ध्ववात, इन रोगों को नष्ट करता है॥४३-४६॥

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम्। भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया॥ ४७॥
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिक्काहताग्निषु।

विडंगादिचूर्ण—वायविडंग, सोंठ, रास्ना, पीपर, हींग (भुनी), सेंधानमक, भारंगी और जवाखार, इन सब द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर, बारीक चूर्ण बनाकर रख ले। उचित मात्रा में (१-२ ग्राम) घी के साथ इस घृत का प्रयोग करने से कफानुबन्धी वातज कास, श्वास, हिक्का और अग्निमान्द्य रोग नष्ट होते हैं॥ ४७॥

द्वौ क्षारौ पञ्चकोलानि पञ्चैव लवणानि च॥ ४८॥

द्विक्षारादि चूर्ण—जवाखार, सज्जीखार, पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ, सेंधानमक, सोंचरनमक, विडनमक, साँभरनमक और पांगानमक, इन सबको समान भाग लेकर बारीक चूर्ण बनाकर सुरक्षित रख ले। गोघृत मिलाकर (१ ग्राम) सेवन करने से यह वातज कास को दूर करता है॥ ४८॥

शटीनागरकोदीच्यकल्कं वा वस्त्रगालितम्। पाययेत घृतोन्मिश्रं वातकासनिबर्हणम्॥ ४९॥

शटयादि चूर्ण—कचूर, सोंठ और सुगन्धबाला, इन्हें समान भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण बना ले। १ ग्राम की मात्रा में घी मिलाकर खाने से यह चूर्ण वातज कास को दूर करता है॥ ४९॥

दुरालभां शटीं द्राक्षां शृङ्गवेरं सितोपलाम्। लिह्यात् कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे॥ ५०॥

दुरालभादि लेह—यवासा, कचूर, मुनक्का, अदरक, काकड़ासींगी और मिश्री, इन सबको समान भाग लेकर, पीसकर तिल का तैल मिलाकर वातज कास में चटाना चाहिए॥ ५०॥

दुःस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तं भार्गीं कर्कटकीं शटीम्। पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं वाऽपि लेहयेत्॥ ५१॥

दुःस्पर्शादि लेह—दुःस्पर्शा (यवासा), पीपर, नागरमोथा, भारंगी, काकड़ासींगी और कचूर, इनके समभाग चूर्ण को (१-२ ग्राम की मात्रा में) पुराने गुड़ और तिल के तैल में मिलाकर वातज कास के रोगी को चटाना चाहिए॥ ५१॥

विडङ्गं सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिङ्गु मनःशिलाम्। मधुसर्पिर्युतं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन्॥

विडङ्गादि लेह—वायविडङ्ग, सेंधानमक, कूठ, सोंठ, मरिच, पीपर, भुनी हींग और शुद्ध मनःशिला, इनके चूर्ण को मधु-घी (विषम मात्रा में) मिलाकर चाटने से हिक्का और श्वास रोग नष्ट होते हैं॥ ५२॥

वक्तव्य—मनःशिला में आर्सेनिक होता है, इसलिए इसे शुद्ध करके अलग रखना चाहिए। अन्य द्रव्यों का चूर्ण एक में मिलाकर रखना चाहिए और प्रयोग के समय उसमें से १-१½ ग्राम लेकर ½ रत्ती मनःशिला मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं हिङ्गु दुरालभाम्। शटीं पुष्करमूलं च श्रेयसीं सुरसां वचाम्॥ ५३॥
भार्गीं छिन्नरुहां रास्नां शृङ्गीं द्राक्षां च कार्षिकान्।
कल्कानर्धतुलाक्वाथे निदिग्ध्याः पलविंशतिम्॥ ५४॥
दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च घृताच्च कुडवं पचेत्। सिद्धं शीतं पृथक् क्षौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम्॥
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत्। लेहयेत् कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम्॥ ५६॥
इति चित्रकादिलेहः।

चित्रकादि लेह—चित्रक का मूल, पिपरामूल, सोंठ, मरिच, पीपर, हींग, यवासा, कचूर, पोहकरमूल, गजपीपर, तुलसी, मीठाबच, भारंगी, गुरुच, रास्ना, काकड़ासींगी और मुनक्का, इन्हें १-१ कर्ष की मात्रा में लेकर कल्क बनायें। छोटी कटेरी को आधी तुला (५० पल) लेकर १ द्रोण (२५६ पल) जल में चतुर्थांशावशिष्ट (६४ पल शेष) क्वाथ बना ले। फिर उस क्वाथ में २० पल मिश्री की चासनी बनायें। चित्रक आदि के कल्क को १ कुडव घी में अच्छी प्रकार भून ले और चासनी में डालकर मन्द आँच पर पकाकर अवलेह जैसा बना ले। तैयार होने पर उतार कर ठण्डा कर लें। पुनः उसमें १ कुडव मधु, १ कुडव पिप्पली चूर्ण तथा ४ पल वंशलोचन मिलाकर सुरक्षित रख ले। इस अवलेह का कास हृदय रोग, श्वास और गुल्म रोग को दूर करने के लिए प्रयोग करना चाहिए॥ ५३-५६॥

दशमूलीं स्वयङ्गुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम्। हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान्॥ ५७॥
भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम्। हरीतकीशतं चैकं जले पञ्चाढके पचेत्॥ ५८॥
यवैः स्विन्नैः कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम्। पचेद् गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग्घृतात्॥
तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीते च माक्षिकात्। लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात्॥
तद्वलीपलितं हन्ति वर्णायुर्बलवर्धनम्। पञ्चकासान् क्षयं श्वासं हिक्कां च विषमज्वरम्॥ ६१॥
हन्यात्तथाऽर्शोग्रहणीहृद्रोगारुचिपीनसान्। अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम्॥ ६२॥
इत्यगस्त्यहरीतकी।

अगस्त्य हरीतकी—दशमूल (बेलसोंठ, गम्भार की छाल, गनियार की छाल, पाढल की छाल, सोनापाठा की छाल, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), केवाँच के बीज, शंखपुष्पी, कचूर, बरियार, गजपीपर, चिचिड़ा, पिपरामूल, चित्रकमूल, भारंगी और पोहकरमूल— इनको दो-दो पल की मात्रा में लेकर जौकुट कर ले, फिर १ आढक (४ प्रस्थ = ६४ पल) जौ तथा १०० की संख्या में मझोले आकार की हर्रे का फल लेकर ५ आढक पानी में पकायें। जब जौ पक जाय, तो क्वाथ उतारकर, मसलकर छान ले और हर्रे को भी अलग कर ले। (हर्रे को एक कपड़े के झोले में डालकर पकाने से निकालने में सुविधा होती है)। अलग की हुई हर्रे को १ कुडव (४ पल) घी और १ कुडव (४ पल) तिल का तैल कड़ाही में डालकर भून ले तथा उक्त क्वाथ में १ तुला (१०० पल) गुड़ डालकर चासनी बना ले। उस चासनी में भुनी हर्रे को डालकर पकायें। जब चासनी अवलेह जैसी गाढ़ी हो जाय, तो कड़ाही को नीचे उतारकर उसमें ठण्डा होने पर ४ पल पीपर का चूर्ण और ४ पल मधु मिलाकर सुरक्षित रख दे।

इस रसायन योग में से २ हर्रे (साथ में लगे अवलेह के साथ) का नित्य सेवन करना चाहिए। यह योग वली (शरीर में झुर्री पड़ना) और पलित (बालों का पकना) को नष्ट करता है, शरीर के वर्ण में निखार लाता है, आयु तथा बल को बढ़ाता है। पाँच प्रकार के कासरोग, क्षय, श्वास, हिक्का, विषमज्वर, अर्श, ग्रहणी, हृदयरोग, अरुचि और पीनस, इन रोगों को नष्ट करता है। इस श्रेष्ठ कल्याणकारी रसायन औषध का आविष्कार अगस्त्य ऋषि ने किया है। इस योग का नाम 'अगस्त्य हरीतकी' है॥ ५७-६२॥

वक्तव्य—जौ के पक जाने पर क्वाथ उतारकर, हर्रे को अलग कर, घी-तैल में भून लेना चाहिए और उसके पहले उसकी गुठली निकाल ले। क्वाथ में चासनी बनाकर उसमें भुनी हर्रे को डालकर चासनी को अवलेह की तरह गाढ़ा बना ले। कास-हिक्का-श्वास की यह बहुप्रचलित औषध है।

सैन्धवं पिप्पलीं भार्गीं शृङ्गवेरं दुरालभाम्। दाडिमाम्लेन कोष्णेन भार्गीनागरमम्बुना॥ ६३॥

सैन्धवादि योग—सेंधानमक, पीपर, भारंगी, सोंठ और यवासा, इनके समभाग का चूर्ण बनाकर खट्टे अनार के किञ्चित् उष्ण रस के साथ सेवन करना चाहिए अथवा भारंगी और सोंठ समभाग का चूर्ण (१-२ ग्राम) गरम जल से कासरोग के नाश के लिए प्रयोग करे॥ ६३॥

पिबेत् खदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः। अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम्॥ ६४॥

कास में खदिरसार का प्रयोग—खैर (कत्था) के चूर्ण (१ ग्राम) को मदिरा, दही या दही के पानी के साथ प्रयोग करे अथवा घृत में भुने हुए पीपर के चूर्ण को सेंधानमक मिलाकर मदिरा, दही या दही के पानी के साथ सेवन करे॥ ६४॥

शिरसः पीडने स्रावे नासाया हृदि ताम्यति। कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत्॥ ६५॥

कास में धूम्रपान—कास अथवा प्रतिश्याय के रोगी के शिर में पीड़ा हो, नासिका से जलस्राव हो रहा हो और हृदय में ग्लानि और घबड़ाहट हो, तो वैद्य रोगी को धूमपान करायें। ६५॥

दशाङ्गुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टाङ्गुलोन्मिताम्। शरावसम्पुटच्छिद्रे कृत्वा जिह्मां विचक्षणः॥
वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत्। तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद्वमेत् पुनः॥ ६७॥
स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद्विच्छिद्य श्लेष्माणमुरसि स्थितम्। निष्कृष्य शमयेत्कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम्॥

धूमपान विधान—कासरोग से पीड़ित व्यक्ति दश अंगुल या आठ अंगुल लम्बी मध्य में टेढ़ी (घुमावदार) नली को चिलमरूपी शरावसम्पुट में लगाकर, वैरेचनिक (वमनरूपी विरेचन करानेवाला) धूम को मुख से ही पान करे। जब धूम वक्षःस्थल (छाती) तक पहुँचे, तभी उस धूम को मुख से बाहर निकाल दे (क्योंकि मुख से पिया हुआ धूम यदि नाक से निकाला जाता है, तो वह नेत्र के लिए हानिकर होता है)। वह धूम अपनी तीक्ष्णता से उरःस्थल में विद्यमान कफ को ढीला करके, बाहर निकालकर वात तथा कफ से होने वाले कास को शान्त कर देता है॥ ६६-६८॥

मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेङ्गुदैः पिबेत्। धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत्॥ ६९॥
एष कासान् पृथग्दोषसन्निपातसमुद्भवान्। धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यैर्योगशतैरपि॥ ७०॥

मनःशिलादि धूम—मैनसिल, हरताल, मुलहठी, जटामांसी, नागरमोथा और हिंगोट के फल को पीसकर, वर्ती बनाकर, चिलम पर रखकर धूमपान करना चाहिए। उसके बाद किञ्चित् उष्ण गुड़ मिला हुआ दूध पीना चाहिए। यह धूम अन्य सैकड़ों औषधयोगों से न अच्छे हुए वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज कास रोगों को नष्ट करता है॥ ६९-७०॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं शार्ङ्गेष्टां समनःशिलाम्। मरिचं पिप्पलीं द्राक्षामेलां सुरसमञ्जरीम्॥ ७१॥
कृत्वा वर्तिं पिबेद् धूमं क्षौद्रचेलानुवर्तिताम्। घृताक्तामनु च क्षीरं गुडोदकमथापि वा॥ ७२॥

प्रपौण्डरीकादि धूमपान—पुण्डरिया काठ, मुलहठी, गुञ्जा, मैनसिल, मरिच, पीपर, मुनक्का, छोटी इलायची और तुलसी की मञ्जरी, इन सभी द्रव्यों को पीसकर, रेशमी वस्त्र के टुकड़े पर फैलाकर वर्ती बना ले और उसे घी में तर करके, चिलम पर रखकर धूमपान करे। धूमपान के पश्चात् दूध या गुड़ का शर्बत पीना चाहिए॥ ७१-७२॥

वक्तव्य—यह तीक्ष्ण वैरेचनिक धूम है, अतः मुख से पीकर मुख से ही धुआँ बाहर निकाले।

मनःशिलैलामरिचक्षाराञ्जनकुटन्नटैः। वंशलेखनसेव्यालक्षौमलक्तकरोहिषैः॥ ७३॥
पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते। मनःशिलाले तद्वच्च पिप्पलीनागरैः सह॥ ७४॥
त्वगैङ्गुदी बृहत्यौ द्वे तालमूली मनःशिला। कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः॥

धूमपान के कतिपय योग—(१) मैनसिल, छोटी इलायची, मरिच, जवाखार, कृष्णाञ्जन, सोनापाठा, वंशलोचन, खश, हरताल, तीसी, लाख और रोहिष घास—इन सभी द्रव्यों को महीन पीसकर, कपड़े पर फैलाकर वर्ती बनायें तथा उसे घी में डुबोकर चिलम पर रखकर पीना चाहिए। बाद में अनुपान के रूप में दूध अथवा गुड़ का शर्बत पीना चाहिए। (२) मैनसिल, हरताल, पीपर और सोंठ—इन्हें पीसकर, कपड़े में वर्ती बनाकर, घी में डुबाकर, चिलम पर रखकर पीने के बाद दूध या गुड़ का शर्बत पीना चाहिए। (३) इंगुदी की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, मुसली, मैनसिल, कपास का बीज और असगन्ध—इन्हें पीसकर कपड़े पर रख वर्ती बनाकर, घी में डुबाकर चिलम पर रख धूमपान करे और अनुपान के रूप में दूध या गुड़ का शर्बत पीना चाहिए॥ ७३-७५॥

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्। रसैर्मांषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान्॥ ७६॥

वातज कास में पथ्य—अगहनी चावल या साठी चावल या जौ या गेहूँ के भात और रोटी को ग्रामीण, आनूप अथवा जलेचर पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ या उड़द अथवा केवाँच के बीज के यूष के साथ खाने को देना चाहिए॥ ७६॥

यवानीपिप्पलीबिल्वमध्यनागरचित्रकैः। रास्नाजाजीपृथक्पर्णीपलाशशटिपौष्करैः॥ ७७॥
स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां पेयामनिलजे पिबेत्।
कटीहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिक्काप्रणाशिनीम् ॥ ७८॥

वातज कास में पेया—जवायन, पीपर, बेलगिरी, सोंठ, चित्रकमूल, रास्ना, जीरा, पिठवन, पलाशबीज, कचूर और पोहकरमूल—इन सब द्रव्यों को समान भाग में लेकर, कूटकर 'षडंग परिभाषा' के अनुसार इन्हें पकाकर जल सिद्ध कर ले तथा उस जल में पेया पकाकर उसमें घी-तैल, खट्टे अनार का रस और सेंधानमक मिलाकर वातज कास के रोगियों को पथ्य दे। इस तरह निर्मित पेया कटिशूल, हृदयशूल, पार्श्वशूल, कोष्ठशूल, श्वासरोग और हिक्का को नष्ट करती है॥ ७७-७८॥

दशमूलरसे तद्वत्पञ्चकोलगुडान्वितम्। सिद्धां समतिलां दद्यात्क्षीरे वाऽपि ससैन्धवाम्॥ ७९॥

दशमूल पेया—दशमूल के प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर उससे षडंगपरिभाषा के अनुसार सिद्ध जल में पेया पकाकर, उसमें पञ्चकोल (पीपर-पिपरामूल-चाभ-चीता-सोंठ) का चूर्ण तथा गुड़ मिलाकर पीने को दें। इसी तरह अगहनी चावल और काला तिल बराबर-बराबर लेकर, दूध में पकाकर खाने को दे अथवा इसी पेया में सेंधानमक मिलाकर पिलायें॥ ७९॥

मात्स्यकौक्कुटवाराहैरामिषैर्वा घृतान्विताम्। सिद्धां ससैन्धवां पेयां वातकासी पिबेन्नरः॥ ८०॥

वातज कास में मांसपेया—मछली, मुर्गा या सूअर के मांस को षडंगपरिभाषा के अनुसार पकाकर उस जल में पकायी हुई पेया में सेंधा नमक और घृत मिलाकर वातज कास के रोगी को पीना चाहिए॥ ८०॥

वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम्। स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः॥ ८१॥

दध्यारनालाम्लफलप्रसन्नापानमेव च। शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ललवणानि च॥ ८२॥
इति वातजकासचिकित्सा।

वातज कास में शाक आदि—वातज कास वाले रोगियों के लिए बथुआ का शाक, मकोय का शाक, मूली का शाक और चौपतिया का शाक, तिलतैल आदि चारों स्नेह, दूध, गन्ने का रस, गुड़ से बने पदार्थ, दही, काञ्जी, अनार आदि खट्टे फल, मदिरा का ऊपरी स्वच्छ भाग (प्रसन्ना) और अन्य मधुर, अम्ल एवं लवणरसयुक्त पदार्थों का सेवन करना लाभकारक होता है॥ ८१-८२॥

पित्तज कास-चिकित्सा

पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम्। तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः॥ ८३॥
यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा विदारीक्षुरसायुतैः। हृतदोषस्ततः शीतं मधुरं च क्रमं भजेत्॥ ८४॥
पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम्। दद्यात् घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थे युतां भिषक्॥ ८५॥
स्निग्धशीतस्तनुकफे रूक्षशीतः कफे घने। क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते॥ ८६॥

वमन—(१) कफयुक्त पित्तज कास में वमनकारक औषधों से सिद्धघृत का पान कराकर वमन कराना चाहिए एवं (२) मदनफल, गम्भार और मुलहठी का क्वाथ पिलाकर वमन कराना चाहिए अथवा (३) मदनफल और मुलहठी के समभाग चूर्ण को विदारीकन्द और गन्ने के रस में घोंटकर, पिलाकर वमन कराना चाहिए। जब वमन कराने से दोष दूर हो जायें, तो शीतल और मधुर पदार्थ (पेया-विलेपी आदि) खाने को देना चाहिए। (४) जब पित्तज कास में कफ दोष पतला और अल्प हो, तो निशोथ चूर्ण में चीनी मिलाकर खिलाना चाहिए एवं जब पित्तज कास में कफ गाढ़ा और अधिक हो, तो तिक्तरस वाले पदार्थों के साथ निशोथ चूर्ण मिलाकर विरेचन कराने के लिए प्रयोग कराना चाहिए। पतला कफ आने पर पेया आदि को स्निग्ध और शीत बनाकर प्रयोग करे और गाढ़ा कफ आने पर रूक्ष तथा शीतल पथ्य देना चाहिए एवं आहार स्नेहयुक्त और अवलेह्य होना चाहिए॥ ८३-८६॥

शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीलीसाराणि पिप्पली। पिप्पलीमुस्तयष्ट्याह्वद्राक्षामूर्वामहौषधम्॥ ८७॥
लाजाऽमृतफला द्राक्षा त्वक्क्षीरी पिप्पली सिता। पिप्पलीपद्मकं द्राक्षा बृहत्याश्च फलाद्रसः॥
खर्जूरं पिप्पली वांशी श्वदंष्ट्रा चेति पञ्च ते। घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकार्धैः पित्तकासिनाम्॥

पित्तकासनाशक अवलेह—(१) सिंघाड़ा, कमलगट्टा, नील का रंग और पीपर। (२) पीपर, नागरमोथा, मुलहठी, मुनक्का, मूर्वा और सोंठ। (३) धान का लावा, आँवला, मुनक्का, वंशलोचन, पीपर और मिश्री। (४) पीपर, पद्मकाठ, मुनक्का और बड़ी कटेरी के फल का रस। (५) खजूर, पीपर, वंशलोचन और गोखरू—पित्तज कास से पीड़ित रोगियों को आधे-आधे श्लोकों में कहे गये इन पाँच योगों का चूर्ण घृत और मधु मिलाकर अवलेह बनाकर सेवन करना चाहिए॥ ८७-८९॥

शर्कराचन्दनद्राक्षामधुधात्रीफलोत्पलैः। पैत्ते, समुस्तमरिचः सकफे, सघृतोऽनिले॥ ९०॥
मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत् पिप्पलीः शर्करापलम्। लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम्॥ ९१॥

शर्करादि एवं मृद्वीकादि अवलेह—(६) पित्तजकास में चीनी, चन्दन, मुनक्का, मधु, आँवला और कमल चूर्ण को समभाग लेकर चूर्ण कर अवलेह बनाकर प्रयोग करे। (७) पित्तज कास में कफ का अनुबन्ध हो, तो पहले वाले योग में मरिच और नागरमोथा का चूर्ण बनाकर, मिलाकर प्रयोग करे। (८) यदि पित्तज कास में वायु का अनुबन्ध हो, तो पूर्वोक्त योग में (चीनी आदि) घृत मिलाकर अवलेह बनाकर प्रयोग करे। (९) मुनक्का निर्बीज ५०, पीपर ३० और चीनी १ पल, इन्हें एक साथ पीसकर मधु मिलाकर सेवन करना चाहिए। (१०) अथवा मुनक्का वाले योग को दूध पीनेवाले बछड़े के ताजे गोबर के रस में मधु मिलाकर पिलाना या चटाना चाहिए॥ ९०-९१॥

त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः। लाजमुस्तशटीरास्नाधात्रीफलबिभीतकैः॥ ९२॥
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहः कासविनाशनः। श्वासं हिक्कां क्षयं चैव हृद्रोगं च प्रणाशयेत्॥ ९३॥

त्वगादि लेह—(११) दालचीनी, छोटी इलायची, सोंठ, मरिच, पीपर, मुनक्का, पिपरामूल, पोहकरमूल, धान का लावा, नागरमोथा, कचूर, रास्ना, आँवला, इन सबको समान भाग लेकर, चूर्ण बनाकर चीनी, मधु तथा घी मिलाकर अवलेह जैसा बनाकर सेवन करने से कासरोग नष्ट होता है। यह अवलेह श्वास, हिक्का, क्षय तथा हृद्रोग को भी नष्ट करता है॥ ९२-९३॥

पिप्पल्यामलकं द्राक्षां लाक्षां लाजां सितोपलाम्।
क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात् क्षौद्राष्टभागिकम्॥ ९४॥

पिप्पल्यादि लेह—(१२) पीपर, आँवला, मुनक्का, लाही, धान का लावा और मिश्री, इन सबका चूर्ण कर दूध में खीर की तरह पका ले और ठण्डा होने पर कुल के वजन से आठवाँ भाग मधु मिलाकर पित्तज कास को दूर करने के लिए सेवन करे॥ ९४॥

विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम्। पिबेद्वा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम्॥ ९५॥

विदार्यादि योग—(१३) विदारीकन्द का स्वरस, गन्ने का रस, कमल के नाल का स्वरस, दूध, मिश्री और मधु, सब बराबर-बराबर लेकर पान करे। यह योग पित्तज कास को दूर करने की उत्तम औषध है॥ ९५॥

मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः। मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः॥ ९६॥
घनश्लेष्मणि लेहास्तु तिक्तका मधुसंयुताः। शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः॥ ९७॥
शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसाः पयः। सर्वं च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते॥ ९८॥

पित्तज कास में पथ्य—पित्तज कास के रोगी को पथ्य में सावाँ, जौ और कोदो का भात-रोटी, जांगल पशु-पक्षियों के मधुर मांस रस के साथ या मूँग आदि के यूषों और तिक्तरस वाले शाकों के साथ खाने को देना चाहिए। इन द्रव्यों का प्रयोग यथोचित मात्रापूर्वक करना चाहिए। यदि पित्तज कास में कफ गाढ़ा निकलता हो, तो तिक्तरसयुक्त पदार्थों से बनाये गये अवलेहों को मधु मिलाकर खिलाना चाहिए तथा शालि चावल का भात देना चाहिए। यदि कफ पतला आ रहा हो, तो जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ साठी चावल का भात खाने को देना चाहिए।

अनुपान—चीनी का शर्बत, मुनक्के का (अंगूर का) रस, गन्ने का रस, दूध तथा अन्य मधुर एवं शीतल और विदाह न उत्पन्न करने वाले पदार्थ अनुपान के लिए उत्तम होते हैं॥ ९६-९८॥

काकोलीबृहतीमेदायुग्मैः सवृषनागरैः। पित्तकासे रसान् क्षीरं यूषांश्चाप्युपकल्पयेत्॥ ९९॥

मांसरस और यूष—काकोली, क्षीरकाकोली, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, मेदा, महामेदा, अरूस और सोंठ, इनके क्वाथ में पकाये गये मांसरस, दूध और यूषों का प्रयोग पित्तज कास में करना चाहिए॥ ९९॥

शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा। कषायेण श्रृतं क्षीरं पिबेत् समधुशर्करम्॥ १००॥

शरादि क्षीरपाक—शर, कुश, कास, दर्भ और गन्ने की जड़, पीपर और मुनक्का, इनके क्वाथ से पकाये हुए दूध में मधु और चीनी डालकर पित्तज कास के रोगी को देना चाहिए॥ १००॥

स्थिरासितापृश्निपर्णीश्रावणीबृहतीयुगैः। जीवकर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः॥ १०१॥
श्रृतं पयः पिबेत् कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी।

स्थिरादि क्षीरपाक—सरिवन, मिश्री, पिठवन, गोरखमुण्डी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, जीवक, ऋषभक, काकोली, भुईआँवला, ऋद्धि और जीवक, इनके क्वाथ से पकाये गये दूध को शीतल करके पित्तज कास, ज्वर, दाह और क्षतक्षय के रोगियों को पीना चाहिए॥ १०१॥

वक्तव्य—यहाँ जीवक का पाठ दो बार आया है, इसलिए उसकी दूनी मात्रा लेनी चाहिए।

तज्जं वा साधयेत् सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक्। १०२॥

जीवकाद्यैर्मधुरकैः फलैश्चाभिषुकादिभिः। कल्कैस्त्रिकार्षिकैः सिद्धे पूतशीते प्रदापयेत्॥१०३॥

शर्करापिप्पलीचूर्णं त्वक्क्षीर्या मरिचस्य च। शृङ्गाटकस्य चावाप्य क्षौद्रगर्भान्पलोन्मितान्॥

गुडान् गोधूमचूर्णेन कृत्वा खादेद्धिताशनः। शुक्रासृग्दोषशोषेषु कासे क्षीणक्षतेषु च॥ १०५॥

कासहर गुटिका—पूर्व में कहे गये 'स्थिरादि क्षीरपाक' की प्रक्रिया से जो दूध तैयार किया जाय, उसे जमाकर दही बनाकर घी निकाल ले और उस घी को समान भाग दूध, चतुर्गुण गन्ने के रस और जीवकादि मधुरगण की औषध तथा पिस्ता, अखरोट, बादाम, इनके ३-३ कर्ष का कल्क डालकर घी पकायें। तैयार हो जाने पर घी को छानकर ठण्डा कर ले और उसमें चीनी, पीपर, वंशलोचन, मरिच और सिंघाड़ा १-१ पल की मात्रा में तथा १ पल मधु और गेहूँ का (घी में भुना) आटा मिलाकर छोटे-छोटे लड्डू बना ले। हितकर आहार-विहार का सेवन करते हुए शुक्रदोष, रजोविकार, शोष, कास और क्षतक्षीण, इन रोगों में इसे खाना चाहिए॥ १०२-१०५॥

वक्तव्य—इस योग के निर्माण में घी की मात्रा नहीं दी गयी है, जब कि कल्कद्रव्यों का उल्लेख मात्रा के साथ किया गया है और बाद में घृतपाक हो जाने पर जिन द्रव्यों का प्रक्षेप बतलाया गया है, उनकी भी मात्रा दी गयी है। गेहूँ के आटे की मात्रा नहीं बतलायी गयी है। अतः स्वविवेक के अनुसार कल्कद्रव्यों की मात्रा से चौगुना घी तथा समान प्रमाण में दुग्ध एवं चतुर्गुण गन्ने का रस डालकर विधिवत् घृतपाक करना चाहिए। उस घृत में लड्डू बनाते समय भी प्रक्षेप द्रव्यों की मात्रा और आटे की मात्रा का निर्धारण घृत की मात्रा के अनुसार ही स्वविवेकानुसार निश्चित करना चाहिए।

शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारीं शटीं समम्। पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम्॥ १०६॥

शर्करादि योग—चीनी, सोंठ, सुगन्धबाला, रेंगनी, कचूर, इन सभी द्रव्यों को समान भाग में ले। चीनी को अलग कर अन्य द्रव्यों को पानी डालकर, पीसकर, कपड़े में रखकर रस निचोड़ ले और फिर चीनी तथा घृत मिलाकर पित्तज कास के रोगी को पीने को दें॥ १०६॥

महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समैः। सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम्॥ १०७॥

इति पित्तजकासचिकित्सा।

घृत प्रयोग—भैंस, बकरी, भेड़ और गाय का दूध समभाग, आँवले का रस और घी भी समभाग मिलाकर विधिवत् घृतपाक करे। उचित मात्रा में, उचित अनुपान के साथ युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से यह पित्तज कास को मिटाता है॥ १०७॥

कफज कास-चिकित्सा

बलिनं वमनैरादौ शोधितं कफकासिनम्। यवान्नैः कटुरूक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत्॥ १०८॥

चिकित्सासूत्र—कफज कास का रोगी यदि बलवान् हो, तो सबसे पहले उसे वमन कराकर संशोधन कराना चाहिए। फिर यव और कटु-रूक्ष तथा उष्ण एवं कफघ्न आहार-विहारों का सेवन कराकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ १०८॥

पिप्पलीक्षारिकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च। लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः॥ १०९॥

धान्वबैलरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपबिल्वजैः। मध्वम्लोष्णाम्बुतक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत्॥११०॥

कफज कास में अन्नपान—पीपर के चूर्ण तथा जवाखार मिश्रित कुलथी के यूष अथवा सूखी मूली के यूष के साथ या जाङ्गल एवं विलेशय पशु-पक्षियों के कटुरसयुक्त मांसरस के साथ अथवा तिल, सरसों तथा बेलगिरि का कल्क डालकर पकाये गये तैल-घी के साथ हल्के अन्नों (जौ-तीना आदि) को खाना

चाहिए। आहार या औषध के अनुपान के रूप में मधु, अनार का रस या नीबू का शर्बत, गरम जल, मट्ठा या निर्दुष्ट मद्य का सेवन करना चाहिए॥ १०९-११०॥

पौष्करारग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम्। जलं मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु॥ १११॥

पौष्करादि शीतकषाय—पोहकरमूल, अमलतास की छाल और परवर की जड़—इन्हें धोकर, साफकर, रातभर किसी पात्र में पानी डालकर उसमें भिगो दे और प्रातःकाल मसलकर पानी छान ले तथा उसमें मधु मिलाकर भोजन के तीनों काल में (प्रातः-सायं-मध्याह्न या भोजन के आदि, मध्य, अन्त में) पीना चाहिए॥ १११॥

कट्फलं कत्तृणं भार्गीं मुस्तं धान्यं वचाभये। शुण्ठीं पर्पटकं शृङ्गीं सुराह्वं च शृतं जले॥ ११२॥

मधुहिङ्गुयुतं पेयं कासे वातकफात्मके। कण्ठरोगे मुखे शूने श्वासहिक्काज्वरेषु च॥ ११३॥

कट्फलादि क्वाथ—कायफल, सुगन्धतृण, भारंगी, नागरमोथा, धनिया, मीठा बच, हर्रे, सोंठ, पित्तपापड़ा, काकड़ासींगी और देवदारु—इन्हें समभाग लेकर, कूटकर विधिवत् क्वाथ बनायें; तैयार होने पर इसमें मधु और शुद्ध हींग (उचित मात्रा में) मिला ले। इस क्वाथ को वातकफज कास, कण्ठरोग, मुखरोग, शोथरोग, श्वास, हिक्का तथा ज्वर में पीना चाहिए॥ ११२-११३॥

पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वां गवाक्षीं मुस्तपिप्पलीम्। पिष्ट्वा घर्माम्बुना हिङ्गुसैन्धवाभ्यां युतां पिबेत्॥

पाठादि पेय—पाठा, सोंठ, कचूर, मूर्वा, इन्द्रायन, नागरमोथा और पीपर—इन्हें समभाग लेकर सील पर पीसकर, गरम जल में घोलकर भुनी हींग और सेंधानमक मिलाकर वातकफज कास में पीना चाहिए॥ ११४॥

नागरातिविषे मुस्तं शृङ्गीं कर्कटकस्य च। हरीतकीं शटीं चैव तेनैव विधिना पिबेत्॥ ११५॥

नागरादि पेय—सोंठ, अतीज, नागरमोथा, काकड़ासींगी, हर्रे और कचूर—इन सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर लेकर पीसकर, गरम पानी में घोलकर शुद्ध भुनी हींग और सेंधानमक मिलाकर पूर्व योग की तरह पीना चाहिए॥ ११५॥

तैलभृष्टं च पिप्पल्याः कल्काक्षं ससितोपलम्। पिबेद्वा श्लेष्मकासघ्नं कुलत्थरससंयुतम्॥ ११६॥

कफज कासहर पिप्पली—पीपर के १ कर्ष चूर्ण को तैल में भूनकर, उसमें १ कर्ष मिश्री मिलाकर, कुलथी के क्वाथ में घोलकर पीना चाहिए। यह प्रयोग कफज कास को दूर करता है॥ ११६॥

कासमर्दाश्ववित्भृङ्गराजवार्ताकजो रसः। सक्षौद्रः कफकासघ्नः सुरसस्यासितस्य च॥ ११७॥

कासमर्दादि योग—कसौंदी, घोड़े का विट्, भृङ्गराज, बड़ी कटेरी और काली तुलसी—इन सबका रस निकालकर, उसमें मधु मिलाकर पीने से कफज कास नष्ट होता है॥ ११७॥

देवदारु शटी रास्ना कर्कटाख्या दुरालभा। पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः॥ ११८॥

मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे।

दो लेह योग—१. देवदारु, कचूर, रास्ना, काकड़ासींगी और यवासा एवं २. पीपर, सोंठ, नागरमोथा, हर्रे, आँवला तथा मिश्री, इन दोनों योगों को समभाग लेकर, चूर्ण कर मधु और तिल तैल मिलाकर वातानुबन्धी कफज कास में सेवन करना चाहिए॥ ११८॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली॥ ११९॥

पथ्या तामलकी धात्री भद्रमुस्ता च पिप्पली। देवदार्वभया मुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम्॥ १२०॥

विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत्। चतुरो मधुना लेहान् कफकासहरान् भिषक्॥ १२१॥

कफज कासनाशक चार योग—१. पीपर, पिपरामूल, चित्रकमूल और गजपीपर। २. हर्रे, भुईंआँवला, आँवला, नागरमोथा और पीपर। ३. देवदारु, हर्रे, नागरमोथा, पीपर और सोंठ। ४. इन्द्रवारुणी का मूल,

पीपर, नागरमोथा और निशोथ—इन चार प्रकार के योगों का चूर्ण बनाकर मधु मिलाकर अवलेह के रूप में चाटना चाहिए। ये कफज कास को दूर करते हैं॥ ११९-१२१॥

वक्तव्य—ये अलग-अलग चार योग बनते हैं। इन्हें १-२ ग्राम की मात्रा में लेकर मधु मिलाकर सेवन करे।

सौवर्चलाभयाधात्रीपिप्पलीक्षारनागरम्। चूर्णितं सर्पिषा वातकफकासहरं पिबेत्॥ १२२॥

सौवर्चलादि चूर्ण—सोंचर नमक, हर्रे, आँवला, पीपर, जवाखार और सोंठ—इन सबको समान भाग लेकर बारीक चूर्ण कर ले और १-२ ग्राम की मात्रा में घी के साथ सेवन करे। यह वातज एवं कफज कास को दूर करता है॥ १२२॥

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत्। पुष्कराह्वशटीबिल्वसुरसव्योषहिङ्गुभिः॥ १२३॥
पेयानुपानं तत् पेयं कासे वातकफात्मके। श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च॥ १२४॥
इति दशमूलादिघृतम्।

दशमूलादि घृत—पोहकरमूल, कचूर, बेलगिरी, तुलसी की पत्ती, सोंठ, मरिच, पीपर और भुनी हींग—प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर कल्क बना ले और १ आढक दशमूल के क्वाथ में १ प्रस्थ घी के साथ डालकर विधिवत् घृत का पाक करे तथा तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले। वातकफात्मक कास और वातकफात्मक सभी श्वास रोगों में पेया के साथ इस घृत का सेवन करना चाहिए॥ १२३-१२४॥

समूलफलपत्रायाः कण्टकार्या रसाढके। घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशटिचित्रकैः॥ १२५॥
सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपौष्करैः। वृश्चीरबृहतीपथ्यायवानीदाडिमर्धिभिः॥ १२६॥
द्राक्षापुनर्नवाचव्यदुरालम्भाम्लवेतसैः। शृङ्गीतामलकीभार्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत्॥ १२७॥
कल्कैस्तत् सर्वकासेषु हिक्काश्वासेषु शस्यते। कण्टकारीघृतं ह्येतत् कफव्याधिनिसूदनम्॥
इति कण्टकारीघृतम्।

कण्टकारी घृत—मूल, फल और पत्ते समेत कण्टकारी का क्वाथ १ आढक लेकर उसमें १ प्रस्थ घी तथा बरियार का मूल, सोंठ, मरिच, पीपर, कचूर, चित्रकमूल, सोंचरनमक, जवाखार, पिपरामूल, पोहकरमूल, लाल पुनर्नवा, बड़ी कटेरी, हर्रे, जवायन, खट्टा अनार, ऋद्धि, मुनक्का, गदहपुर्ना श्वेत, चाभ, यवासा, अम्लबेंत, काकड़ासींगी, भूमि आँवला, भारंगी, रास्ना और गोखरू, इनका १-१ कर्ष कल्क डालकर विधिवत् घृत पकायें। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत सभी प्रकार के कास और हिक्का-श्वास में बहुत ही श्रेष्ठ लाभप्रद है। यह कण्टकारी घृत सभी प्रकार के कफज रोगों को नष्ट करता है॥ १२५-१२८॥

कुलत्थरसयुक्तं वा पञ्चकोलभृतं घृतम्। पाययेत् कफजे कासे हिक्काश्वासे च शस्यते॥ १२९॥
इति कुलत्थादिघृतम्।

कुलत्थादि घृत—पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता और सोंठ के क्वाथ एवं कल्क से पकाये गये घृत को कुलथी के क्वाथ के साथ पिलाना चाहिए। यह घृत कफज कास तथा हिक्का एवं श्वास रोग को दूर करने में श्रेष्ठ है॥ १२९॥

धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम्। कोशातकीफलान्मध्यं पिबेद्वा समनःशिलम्॥

कफज कास में धूमपान—वातज कास में जिन धूमों का प्रयोग बतलाया गया है कफज कास में भी उनका प्रयोग करना चाहिए। कड़वी तरोई के फल के मध्यभाग में थोड़ा-सा मैनसिल मिलाकर, उसे लगदी बनाकर, चिलम पर रखकर पीना चाहिए॥ १३०॥

वक्तव्य—मैनसिल के योग के कारण कोशातकी का धूम अतीव तीक्ष्ण होगा; इसलिए इस धूम को पिलाने के बाद दूध और गुड़ पिलाना चाहिए।

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत् पित्तानुबन्धजः। पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत्॥ १३१॥
वाते कफानुबन्धे तु कुर्यात्कफहरीं क्रियाम्। पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम्॥
आर्द्रे विरूक्षणं शुष्के स्निग्धं वातकफात्मके। कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम्॥ १३३॥
इति कफजकासचिकित्सा।

कास के अनुबन्धों में उपचार—यदि कफज कासरोग में पित्त का अनुबन्ध हो जाने के कारण तमक श्वास उत्पन्न हो जाये, तो अवस्थानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। वातज कास में यदि कफ का अनुबन्ध हो, तो कफनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि वातकफज कास में पित्त का अनुबन्ध हो, तो पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। यदि वातकफज कास में आर्द्रता हो और कफ अधिक आता हो, तो रूक्ष औषध एवं आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए एवं यदि शुष्कता हो और कफ न निकल रहा हो, तो स्निग्ध औषध, आहार आदि का प्रयोग करना चाहिए। यदि कफज कास में पित्त का अनुबन्ध हो, तो तिक्तरसयुक्त औषध एवं अन्नपान का प्रयोग करना चाहिए॥ १३१-१३३॥

क्षतज कास-चिकित्सा

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत्। मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्धनैः॥ १३४॥

चिकित्सासूत्र—क्षतज कास शीघ्र विनाशकारी होता है, यह मानकर शीघ्रतापूर्वक मधुर एवं जीवनीय वर्ग तथा बल-मांसवर्धक औषध, आहार-विहारों से उसकी चिकित्सा करे॥ १३४॥

वक्तव्य—यह महाभयंकर व्याधि है, जिसका सुश्रुत ने निम्न लक्षण दिया है—'वक्षोऽतिमात्रं विहतन्तु यस्य व्यायामभाराध्ययनाभिघातैः। विश्लिष्टवक्षाः स नरः सरक्तं ष्ठीवत्यभीक्ष्णं क्षतजं तमाहुः॥' इसका शीघ्र उपचार नहीं होने पर यह प्राणघातक हो जाता है या राजयक्ष्मा का रूप धारण कर लेता है।

पिप्पली मधुकं पिष्टं कार्षिकं ससितोपलम्। प्रास्थिकं गव्यमाजं च क्षीरमिक्षुरसस्तथा॥ १३५॥
यवगोधूममृद्वीकाचूर्णमामलकाद्रसः। तैलं च प्रसृतांशानि तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना॥ १३६॥
पचेल्लेहं घृतक्षौद्रयुक्तः स क्षतकासहा। श्वासहृद्रोगकार्श्येषु हितो वृद्धेऽल्परेतसि॥ १३७॥

पिप्पल्यादि लेह—पीपर, मुलहठी और मिश्री को १-१ कर्ष लेकर चूर्ण कर ले; गाय और बकरी का दूध तथा गन्ने का रस १-१ प्रस्थ ले; जौ का आटा, गेहूँ का आटा, मुनक्का पिसा हुआ, आँवले का रस और तिल का तैल १-१ प्रसृत (२-२ पल) लेकर सबको एक में मिलाकर कलईदार कड़ाही या स्टेनलेस स्टील के पात्र में मन्द-मन्द आँच पर पकायें और अवलेह जैसा गाढ़ा हो जाने पर उतार ले। ठण्डा हो जाने पर उसमें घी और मधु मिलाकर प्रयोग करे। यह क्षतज कास को नष्ट करता है तथा श्वास, हृदयरोग, कृशता, बार्धक्य एवं वीर्य की अल्पता को दूर करने में हितकारक है॥ १३५-१३७॥

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात् पित्तकासिकी। क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम्॥
वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गे गात्रभेदे घृतैर्हितः। तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना॥ १३९॥
हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः। सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबलेऽनले॥
मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिताः। तृष्णार्तानां पयश्छागं शरमूलादिभिः श्रुतम्॥

आवस्थिक चिकित्सा—क्षतज कास में पित्तज कासवत् चिकित्सा—(१) क्षतज कास से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा पित्तज कास में कही गयी चिकित्सा के अनुसार करनी चाहिए। इसमें दूध, घी और मधु का अधिकांशतः प्रयोग करना चाहिए। (२) जब दो दोषों का संसर्ग हो, तो अन्य द्रव्यों का भी

सेवन कराना चाहिए, जैसे—यदि रोगी वात-पित्तज विकार से पीड़ित हो, और उसके अंगों में टुटन या भेदनवत् पीड़ा हो, तो मालिश करनी चाहिए। (३) यदि रोगी को वातजन्य वेदना हो, तो वातनाशक तैलों का अभ्यंग कराना चाहिए। (४) जब क्षतज कास के रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त हो और वह दाह के साथ रक्त थूकता हो एवं हृदय तथा पसलियों में वेदना का अनुभव करे, तो उसे जीवनीयगण की औषधों से सिद्ध घृत का सेवन करायें। (५) यदि रोगी मांसभक्षण का अभ्यासी हो और वह शरीर से दुबला-पतला हो, तो उसे लावा (बटेर) आदि पक्षियों का मांसरस खाने को दे। (६) जो रोगी प्यास का अनुभव करें, उन्हें शरमूलादि (तृणपंचमूल) से सिद्ध किया हुआ बकरी का दूध पिलाना चाहिए॥ १३८-१४१॥

रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद्वाऽप्यागते क्षीरजं घृतम्। नस्यं पानं यवागूनां श्रान्ते क्षामे हतानले॥ १४२॥
स्तम्भायामेषु महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत्। कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत्॥

घृतपान—(७) यदि रोगी के किन्हीं स्रोतों से या मुख से रक्त निकल रहा हो, तो दूध से निकाले गये घृत का नस्य और पान कराना चाहिए। (८) यदि रोगी थका हुआ हो, कृश हो और उसकी जठराग्नि मन्द हो, तो उसे यवागू का प्रयोग कराना चाहिए। (९) जब क्षतज कास के रोगी के अंगों में जकड़ाहट हो, उसे अन्तरायाम या बहिरायाम हो, तो उसे घृत की उत्तम मात्रा (८ पल घी जो एक अहोरात्र में पचे, उसे उत्तम मात्रा कहते हैं, किन्तु वर्तमान में ५०-१०० ग्राम ले) पिलानी चाहिए; अथवा ऐसा उपचार करे, जो वातरोग को दूर करनेवाला हो और पित्त एवं रक्त सम्बन्धी विकारों को भी शान्त करे॥ १४२-१४३॥

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्ध उरःक्षते। दाह्यते कासिनो यस्य स धूमान्ना पिबेदिमान्॥ १४४॥

धूमपान—जब क्षतज कास में क्षतजन्य दोष दूर हो जायें, किन्तु उरःक्षत में कफ बढ़ा हुआ हो और छाती में फटने जैसी पीड़ा हो रही हो, तो रोगी इन आगे कहे जाने वाले धूमों का प्रयोग करे॥ १४४॥

द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्तकैः। वर्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत्॥ १४५॥
मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरिनागरैः। भावयित्वा पिबेत् क्षौममनु चेक्षुगुडोदकम्॥
पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया। ससर्पिष्कं पिबेद् धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम्॥
भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतैः। क्षौमं धूमं पिबेत् क्षीरं शृतं चायोगुडैरनु॥ १४८॥
इति क्षतजकासचिकित्सा।

धूमपान के योग—(१०) मेदादि धूम—मेदा, महामेदा, मुलहठी, बरियार और गंगेरन, इन सभी को पीसकर क्षौमवस्त्र पर रखकर, लपेटकर, वर्ती बनाकर, उसे सुखाकर, घी में डुबाकर, चिलम पर रखकर धूमपान करे और बाद में जीवनीय घृत का पान करे। (११) मनःशिलादि धूम—मैनसिल, पलासबीज, जवायन (अजमोदा), वंशलोचन और सोंठ, इनके चूर्ण को वस्त्र पर फैलाकर, फिर लपेटकर, वर्ती बनाकर, घी में डुबोकर, चिलम पर रखकर धूमपान करना चाहिए और उसके बाद गन्ने का रस या गुड़ का शर्बत पीना चाहिए। (१२) मैनसिल और गीली बर की वरोह को समान मात्रा में लेकर, पीसकर, टिकिया बनाकर सुखा ले (और उसे घी में डुबोकर), फिर चिलम पर रखकर धूमपान करे। धूमपान के बाद पथ्य के साथ तीतर पक्षी का मांस रखकर खाने को देना चाहिए। (१३) जीवनीयादि धूम—कुलिङ्ग (गौरैया) के अण्डों के रस के साथ जीवनीय औषधों को पीसकर, कपड़े पर रखकर, बत्ती बनाकर, सुखाकर, घी में डुबाकर, चिलम पर रखकर पीना चाहिए। उसके बाद दूध को गरम लोहे के गोले या टुकड़े से छौंककर पीना चाहिए॥ १४५-१४८॥

क्षयज कास-चिकित्सा

सम्पूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत्। नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्। १४९॥
तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दीपनम्। बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम्॥ १५०॥

चिकित्सा-निषेध—यदि रोगी दुर्बल हो और उसमें क्षयज कास के सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान हों, तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। यदि रोगी सबल हो और उसका क्षयज कास नया ही उत्पन्न हुआ हो, तो उसकी चिकित्सा करने से इनकार कर देना चाहिए, किन्तु रोगी या उसके अभिभावक चिकित्सा करने के लिए आग्रह करें, तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ १४९॥

क्षयज कास में बृंहण प्रयोग—नये क्षयज कास के रोगी की सबसे पहले बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए और उसकी जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए दीपन औषधों का प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी में बहुदोष के लक्षण (च. सू. १६ देखें) दीख पड़ रहे हों, तो उसे स्नेह के साथ मृदु विरेचन औषध देनी चाहिए॥ १५०॥

शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया। तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च॥ १५१॥
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम्। हितं तद्देहबलयोरस्य संरक्षणं मतम्॥ १५२॥

मृदुशोधन योग—नये क्षयज कास से ग्रस्त रोगी यदि क्षीण शरीर का हो, तो उसे १. अमलतास के फल की मज्जा का क्वाथ या शीतकषाय पिलाकर विरेचन करायें या २. मुनक्के के काढ़े के साथ निशोथ का चूर्ण खिलाकर विरेचन करायें अथवा ३. तिल्वक क्वाथ और विदारीकन्द के स्वरस से सिद्ध किये हुए घृत का पान कराकर विरेचन कराना चाहिए। इनमें से कोई भी योग मृदुविरेचनकारक होने के कारण हितकारक तथा शरीर एवं बल का रक्षक होता है॥ १५१-१५२॥

पित्ते कफे च संक्षीणे परिक्षीणेषु धातुषु। घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत्॥ १५३॥
विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसर्ज्जैस्तथा शृतम्। घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे॥ १५४॥
शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवंक्षणे। घृतमण्डेन मधुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा॥ १५५॥

आवस्थिक चिकित्सा : पित्त एवं कफ की क्षीणता—यदि क्षयज कास के रोगी के शरीर में पित्त एवं कफ क्षीण हों (अर्थात् वायु की प्रधानता हो) और रस-रक्तादि धातुएँ भी क्षीण हों, तो काकड़ासींगी, बरियार और गंगेरन के चतुर्थांश कल्क तथा चतुर्गुण दूध डालकर सिद्ध किये गये घृत का पान कराना चाहिए।

मूत्रकृच्छ्र—यदि क्षयज कास के रोगी के मूत्र में विवर्णता (लालिमा, पीतिमा आदि) हो और मूत्रकृच्छ्रता हो, तो उसे विदारीकन्द, कदम्बपुष्प और ताल (ताड़) के फूल के कल्क तथा चतुर्गुण जल डालकर सिद्ध किये गये घी का प्रयोग करायें या इन्हीं द्रव्यों से क्षीरपाक विधि से सिद्ध किया हुआ दूध पीने को दे।

शोथ और वेदना—यदि क्षयज कास के रोगी के मूत्रेन्द्रिय में, गुदा में, श्रोणिमण्डल तथा वंक्षण में सूजन और वेदना हो, तो पतले घी में मधु मिलाकर अथवा घी और तैल मिलाकर अनुवासनवस्ति देनी चाहिए॥ १५३-१५५॥

जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः। क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः॥
औष्ण्यात् प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते।
कफं, शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग्वहन् रसः॥ १५७॥

कफशोधनार्थ मांसप्रयोग—जो रोगी मांसभक्षी हो, उसे अनुवासन वस्ति देने के बाद जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ पथ्य आहार देना चाहिए। तत्पश्चात् क्रमशः बटेर आदि, फिर विलेशय, फिर प्रसह (चील-बाज आदि) जीवों के मांसरस के साथ भोजन दे।

ये मांसरस अपने उष्णवीर्य से और प्रमाथी गुण से स्रोतों में लीन कफ को हठात् बाहर निकाल देते हैं। इस प्रकार जब शरीर के स्रोत शुद्ध हो जाते हैं, तो शरीर में रससंवहन अच्छी प्रकार से होने लगता है, तो मांस रस के प्रयोग से शरीर पुष्ट होता है॥ १५६-१५७॥

द्विपञ्चमूलीत्रिफलाचविकाभार्गिचित्रकैः। कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले॥ १५८॥
शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः। कल्कैः कर्कटशृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत्॥
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च। दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः॥

इति द्विपञ्चमूलादिघृतम्॥

द्विपञ्चमूलादि घृत—दोनों पञ्चमूल (बेल, गनियार, गम्भार, पाढल, सोनापाठा तथा सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), आँवला, हर्रा, बहेड़ा (सभी निर्बीज), चाभ, भारंगी, चित्रकमूल, कुलथी, पिपरामूल, पाठा, खट्टे बेर और जौ—इन सबको बराबर-बराबर लेकर क्वाथ बनायें। सोंठ, यवासा, पीपर, कचूर, पोहकरमूल और काकड़ासींगी, इन सबको समभाग लेकर कल्क बना ले। फिर इन क्वाथ तथा कल्कों के साथ विधिपूर्वक (चौगुने क्वाथ और चतुर्थांश कल्क में) घृत सिद्ध कर लें और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इस तैयार घृत में जवाखार, सज्जीखार और पाँचो नमक (सेंधानमक, सोंचरनमक, विडनमक, समुद्रनमक, औद्भिदनमक) इतना डाले कि घृत नमकीन हो जाये। क्षयज कास के रोगी के बल आदि का विचार कर युक्तिपूर्वक उचित मात्रा में इस घृत का प्रयोग करना चाहिए॥ १५८-१६०॥

गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वां हरिद्रां श्रेयसीं वचाम्। निदिग्धिकां कासमर्दं पाठां चित्रकनागरम्॥ १६१॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम्। सिद्धं सर्पिः पिबेद् गुल्मश्वासार्तिक्षयकासनुत्॥ १६२॥

इति गुडूच्यादिघृतम्।

गुडूच्यादि घृत—गुरुच, पीपर, मूर्वा, हल्दी, रास्ना, मीठा बच, रेंगनी, कसौंदी, पाठा, चित्रकमूल और सोंठ—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर चौगुने जल में क्वाथ करे तथा चतुर्थांश शेष बचे, तो छान ले और क्वाथ का चौथाई घृत डालकर विधिवत् पाक करे। यह घृत गुल्म, श्वास और क्षयज कास को दूर करता है॥ १६१-१६२॥

कासमर्दाभयामुस्तपाठाकट्फलनागरैः। पिप्पलीकटुकाद्राक्षाकाश्मर्यसुरसैस्तथा॥ १६३॥
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके। पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम्॥ १६४॥

कासमर्दादि घृत—कसौंदी, हर्रे, नागरमोथ, पाठा, कायफल, सोंठ, पीपर, कुटकी, मुनक्का, गम्भार की छाल और तुलसी—इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष लेकर कल्क बना ले। १ प्रस्थ घी में उक्त कल्क तथा १-१ आढक दूध तथा मुनक्के का काढ़ा डालकर विधिवत् घृतपाक करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत बड़ा लाभप्रद है और शोष, ज्वर, प्लीह रोग तथा सभी प्रकार के कास का नाश करता है॥ १६३-१६४॥

धात्रीफलैः क्षीरसिद्धैः सर्पिर्वाऽप्यवचूर्णितम्। द्विगुणे दाडिमरसे विपक्वं व्योषसंयुतम्॥ १६५॥
पिबेदुपरि भक्तस्य यवक्षारघृतं नरः। पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम्॥ १६६॥
एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम्। स्युर्दोषबद्धकोष्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये॥ १६७॥

विविध घृत योग—(१) क्षयज कास के रोगी को दूध में पकाये हुए आँवलों का चूर्ण डालकर घी पिलाना चाहिए; अथवा (२) घी को दुगुने खट्टे अनार के रस में पकाकर, फिर छानकर उसे सोंठ, मरिच तथा पीपर के चूर्ण के साथ भोजन के बाद सेवन करना चाहिए; अथवा (३) पीपर का चूर्ण और गुड़ महीन कर, कल्क के रूप में घी में डालकर बकरी के दूध (घी से चौगुने) के साथ पकाया हुआ घी प्रयोग करे।

उक्त घृतों का प्रयोग क्षयज कास के रोगियों की जठराग्नि को बढ़ाता है और दोषों के कारण जिनके कोष्ठ तथा वक्ष के स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं, उनका विशोधन करते हैं॥ १६५-१६७॥

हरीतकीर्यवक्वाथद्व्याढके विंशतिं पचेत्। स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणं गुडषट्पलम्॥
दद्यान्मनःशिलाकर्षं कर्षार्धं च रसाञ्जनात्। कुडवार्धं च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत्॥

इति हरीतकीलेहः।

हरीतकी लेह—बीस हर्रे के फलों को २ आढक जौ के क्वाथ में उबालें, जब हर्रे उबल जाय, तो उसे निकालकर उसकी गुठली और उसके रेशे को अलग कर हर्रे को पीस ले और पुनः उस क्वाथ में हर्रे के कल्क को पकायें। जब अवलेह के समान वह क्वाथ गाढ़ा हो जाय, तब उस क्वाथ में छः पल गुड़, शुद्ध मैनसिल १ कर्ष, रसाञ्जन (रसौत) आधा कर्ष और पीपर का चूर्ण आधा कुडव डालकर सब एकरस मिला लें। यह अवलेह श्वास और कास को नष्ट करता है॥ १६८-१६९॥

श्वाविधः सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः। श्वासकासहरा बर्हिपादौ वा क्षौद्रसर्पिषा॥ १७०॥
एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम्। लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम्॥ १७१॥

क्षयज कासनाशक लेह—(१) बड़ी जाति की शाही के काँटों को शरावसम्पुट में सन्धिबन्द कर अन्तर्धूम जलाकर काली भस्म तैयार करे और २-३ रत्ती की मात्रा में मधु और घी (विषम मात्रा में) मिलाकर चाटने से श्वास और कास रोग दूर होते हैं। (२) मोर के पैरों को शरावसम्पुट में रखकर, जलाकर उसकी भस्म मधु, घी, चीनी मिलाकर चाटने से श्वास-कास नष्ट होते हैं। (३) एरण्ड के पत्तों को जलाकर उसकी भस्म को सोंठ-मरिच-पीपर का १ ग्राम चूर्ण मिलाकर तिल के तैल तथा गुड़ के साथ चाटना चाहिए। (४) इसी प्रकार तुलसी के पत्ते और एरण्ड के पत्ते जलाकर उनकी राख को सोंठ, मरिच, पीपर के चूर्ण तथा तिल के तैल एवं गुड़ के साथ क्षयज कास के रोगी को चटाना चाहिए॥ १७०-१७१॥

द्राक्षापद्मकवार्ताकपिप्पलीः क्षौद्रसर्पिषा। लिह्यात् त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा॥ १७२॥

द्राक्षादि लेह तथा त्रिकटुलेह—(१) मुनक्का, पद्मकाठ, बड़ी कटेरी और पीपर, इनके समान भाग के चूर्ण को मधु और घी (विषम मात्रा में) मिलाकर चाटना चाहिए; अथवा (२) सोंठ, मरिच और पीपर, इनके १-२ ग्राम चूर्ण को पुराना गुड़ और घी मिलाकर चाटना चाहिए॥ १७२॥

चित्रकं त्रिफलाजाजी कर्कटाख्या कटुत्रिकम्। द्राक्षां च क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लिह्यादद्याद्गुडेन वा॥

चित्रकादि लेह—चित्रक, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, जीरा, काकड़ासींगी, सोंठ, मरिच, पीपर और मनुक्का को पीसकर विषम मात्रा में मधु-घी मिलाकर सेवन करे या गुड़ मिलाकर खायें॥ १७३॥

पद्मकं त्रिफलां व्योषं विडङ्गं सुरदारु च। बलां रास्नां च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्॥१७४॥
सर्वैरेभिः समं चूर्णैः पृथक् क्षौद्रं घृतं सिताम्। विमथ्य लेहयेल्लेहं सर्वकासहरं शिवम्॥ १७५॥

इति पद्मकादिलेहः।

पद्मकादि लेह—पद्मकाठ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग, देवदारु, बरियार की जड़ और रास्ना—इन सबको समभाग लेकर सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण तैयार करायें और चूर्ण के वजन के बराबर अलग-अलग मधु, घी और चीनी मिलाकर, मथकर सुरक्षित रख दे। यह अवलेह सभी तरह के कास को दूर करता है तथा कल्याणकारक है॥ १७४-१७५॥

जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम्। मुस्तैले पद्मकं द्राक्षां द्वे बृहत्यौ वितुन्नकम्॥
सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटाख्यां रसाञ्जनम्। पुनर्नवां लोहरजस्त्रायमाणां यवानिकाम्॥ १७७॥
भार्गीं तामलकीमृद्वीं विडङ्गं धन्वयासकम्। क्षारचित्रकचव्याम्लवेतसव्योषदारु च॥ १७८॥
चूर्णीकृत्य समांशानि लेहयेत् क्षौद्रसर्पिषा। चूर्णात् पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति॥

जीवन्त्यादि लेह—जीवन्ती, मुलहठी, पाठा, वंशलोचन, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, कचूर, नागरमोथा, छोटी इलायची, पद्मकाठ, मुनक्का, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, धनिया, अनन्तमूल, पोहकरमूल, काकड़ासींगी,

रसौंत, गदहपुर्ना, लौहभस्म, त्रायमाणा, जवायन, भारंगी, भुईआँवला, ऋद्धि, वायविडंग, धमासा, जवाखार, चित्रकमूल, चव्य, अम्लबेंत, सोंठ, मरिच, पीपर और देवदारु—इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण करे। इसमें से १ कर्ष की मात्रा लेकर मधु तथा घी मिलाकर सेवन करने से पाँचो प्रकार के कास रोग नष्ट हो जाते हैं॥ १७६-१७९॥

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्। बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्॥ १८०॥
स्वरभेदे च कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत्।

क्षयज कासनाशक लेह—(१) काली मरिच के चूर्ण में घृत, मधु और चीनी मिलाकर सेवन करना चाहिए; अथवा (२) बेर की पत्ती के कल्क को घी में भूनकर सेंधानमक मिलाकर सेवन करे। इन दोनों लेहों को स्वरभेद और कास में प्रयोग करना चाहिए॥ १८०॥

पत्रकल्कं घृतैर्भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम्। पेया चोत्कारिका छर्दितृट्कासामातिसारनुत्॥ १८१॥

पेया—तिल्वक के ताजे पत्ते को पीसकर उसे घी में भून ले। उसमें चीनी मिलाकर पेया बनाकर प्रयोग करे अथवा उत्कारिका (रोटी) बनाकर उसका प्रयोग करे। यह वमन, प्यास, कास और आमातिसार-नाशक है॥ १८१॥

गौरसर्षपगण्डीरविडङ्गव्योषचित्रकान्। साभयान् साधयेत्तोये यवागूं तेन चाम्भसा॥ १८२॥
ससर्पिर्लवणां कासे हिक्काश्वासे सपीनसे। पाण्ड्वामये क्षये शोथे कर्णशूले च दापयेत्॥ १८३॥
कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः। सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम्॥
वातघ्नौषधनिष्क्वाथं क्षीरं यूषान् रसानपि। वैष्किरप्रतुदान् बैलान् दापयेत् क्षयकासिने॥

यवागू—सफेद सरसों, गड़ेर (घास), वायविडंग, सोंठ, मरिच, पीपर, चित्रकमूल एवं हर्रे—इन सबको समान भाग लेकर षडंग परिभाषा के अनुसार इनसे जल सिद्ध करे। उस जल से यवागू का निर्माण कर, उसमें घी और सेंधानमक डालकर उसे हिक्का, श्वास, पीनस, पाण्डुरोग, क्षय, शोथ और कर्णशूल में सेवन कराना चाहिए।

यूष—रेंगनी के क्वाथ में मूँग का यूष बनाकर उसे जीरा-घी से छौंक दे, फिर उसमें सफेद सरसों तथा आँवले का कल्क मिलाकर और खट्टे अनार के रस से खट्टा बनाकर सेवन करे, तो यह सभी कासों को दूर करता है।

मांसरस—वातनाशक औषधों से सिद्ध क्वाथ, दुग्ध, यूष और विष्किर, प्रतुद या विलेशय पशु-पक्षियों का मांसरस—यह सब क्षयज कास के रोगियों को सेवन कराना चाहिए॥ १८२-१८५॥

क्षतकासे च ये धूमाः सानुपाना निदर्शिताः। क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत्॥ १८६॥

धूमपान—पहले क्षतज कास में जो धूम और उनके अनुपान बतलाये गये हैं, क्षयज कास में भी अवस्थानुसार उनका प्रयोग करना चाहिए॥ १८६॥

दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसां च विशोधनम्। व्यत्यासात् क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत्॥
सन्निपातभवोऽप्येष क्षयकासः सुदारुणः। सन्निपातहितं तस्मात् सदा कार्यं भिषग्जितम्॥
दोषानुबलयोगाच्च हरेद् रोगबलाबलम्। कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम्॥ १८९॥

क्षयज कास में चिकित्सा-सिद्धान्त—(१) क्षयज कास के रोगियों की चिकित्सा में बल को बढ़ाने वाले सभी उपचार हितकर होते हैं। (२) क्षयज कास की चिकित्सा में कभी बृंहण प्रयोग, फिर कुछ समय दीपन औषध और कभी स्रोतोविशोधन औषध लेनी चाहिए। लगातार एक ही प्रयोग न कर, हेरफेर कर दीपन, बृंहण तथा स्रोतस् शोधन औषध लेनी चाहिए। (३) क्षयज कास सन्निपातज और बड़ा ही कष्टप्रद एवं दुःसाध्य रोग होता है। इसलिए इसकी चिकित्सा में सभी त्रिदोषनाशक प्रयोग करना चाहिए। (४) क्षयज

कास में दोषों की सबलता और निर्बलता के आधार पर चिकित्सा करनी चाहिए। इन पाँच प्रकार के कासों में वातज से पित्तज, पित्तज से कफज, कफज से क्षतज और क्षतज से क्षयज कास उत्तरोत्तर अधिक बलवान् होता है॥ १८७-१८९॥

भोज्यं पानानि सर्पींषि लेहाश्च सह पानकैः। क्षीरं सर्पिर्गुडा धूमाः कासभैषज्यसङ्ग्रहः॥१९०॥

कासरोग में प्रयोज्य औषधें—कास रोग की चिकित्सा में इसे दूर करने के लिए अनेक प्रकार के आहारद्रव्य, पेयपदार्थ, घृतयोग, अवलेह, पानक, दूध, सर्पिर्गुड तथा धूमपान का विधान किया गया है। संक्षेपतः यह सब मिलकर कास रोग की औषधों का संग्रह है॥ १९०॥

तत्र श्लोकाः—

संख्या निमित्तं रूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च। कासानां भेषजं प्रोक्तं गरीयस्त्वं च कासिनः॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
कासचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'कासचिकित्सित' नामक अध्याय में कासों की संख्या, उनका कारण, लक्षण, साध्यता तथा असाध्यता, सभी कासों की चिकित्सा एवं उनकी सापेक्ष प्रबलता, इन सब विषयों का वर्णन किया गया है॥ १९१॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'कासचिकित्सित' नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १८॥

कासचिकित्साक्रम बोधक सारणी

वातज कास

उपचार	औषध	पथ्य
१. स्नेहन—वातहर औषधों से सिद्ध स्नेह का बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग, अभ्यंग, परिषेक, स्निग्ध स्वेद, धूम, अवलेह आदि का प्रयोग करना चाहिए। **२. संशोधन**—मलबन्ध से पीड़ित वातज कास के रोगियों को अनुवासनवस्ति द्वारा स्नेह का प्रयोग करायें। अपानवायु की गति ऊर्ध्व हो गयी हो तथा मल सूख गया हो, तो उन्हें भोजनोत्तर घृत का पान करायें। ३. पित्त या कफ के साथ यदि वातज कास हो, तो स्नेहों से युक्त विरेचन औषध का प्रयोग करना चाहिए।	**१. घृत**—कण्टकारी घृत, पिप्पल्यादि घृत, त्र्यूषणाद्य घृत और रास्नाघृत का युक्तिपूर्वक प्रयोग करे। २. विडङ्गादि चूर्ण, द्विक्षारादि चूर्ण, शटचादि चूर्ण। ३. दुरालभादि लेह, कर्कट-शृंग्यादि प्रयोग, दुःस्पर्शादि लेह, विडंगादि लेह, चित्रकादि लेह, अगस्त्यहरीतकी अवलेह। ४. सैन्धवादि योग, भारंग्यादि योग, खदिरसार योग एवं पिप्पल्यादि योग। ५. मनःशिलादि धूम, प्रपौण्डरीकादि धूम, मनःशिलादि धूमवर्ति, मनःशिला-हरितालादि धूमवर्ती, इंगुदीत्वगादि धूमवर्ति। इनका अवस्थानुसार प्रयोग करें।	वातज कास में रोगी के स्नेहन के लिए वातहर द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान, यूष, पेया, क्षीर, मांसरस के साथ आहार देना चाहिए। **पथ्य**—ग्राम्य, आनूप या जलेचर जीवों के मांसरस या उड़द या केवाँच के यूष के साथ शालि या साठी का भात और जौ, गेहूँ की रोटी। **पेया**—दशमूलादिपेया, यवान्यादि पेया या मत्स्य, कुक्कुट एवं सूकर मांसरस सिद्ध पेया दें। **शाक**—बथुआ, मकोय, मूली आदि। तिलतैल आदि स्नेह, दूध, गन्ने का रस, दही, काञ्जी, खट्टे फलों के रस, प्रसन्ना तथा अन्य मधुर, अम्ल तथा लवणरसयुक्त पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

पित्तज कास

उपचार	औषध	पथ्य
१. वमन—कफयुक्त पित्तज कास में वामक द्रव्यसिद्ध घृत का पान कराकर वमन करायें। **२. विरेचन**—यदि पित्तज कास में कफ का थोड़ा लगाव हो, तो मधुर चीनी आदि का योग कर निशोथ का चूर्ण दे और कफ गाढ़ा हो, तो तिक्त द्रव्यों से युक्त निशोथ का चूर्ण देना चाहिए।	**वामक योग**—मदनफल, गम्भार का फल और मुलहठी का क्वाथ या मुलहठी एवं मदनफल के कल्क को गन्ने के रस में घोलकर पिलायें। १. शृङ्गाटकादि लेह, पिप्पल्यादि लेह लाजादि लेह, पिप्पली-पद्मकाष्ठादि लेह, खर्जूरादि लेह, शर्करादि लेह, मृद्वीकादि लेह, त्वगेलादि लेह, पिप्पल्यामलकादि लेह।	**पथ्य**—जांगल पशु-पक्षियों के मधुर मांस रस के साथ या मुद्ग आदि के यूष अथवा तिक्तरसयुक्त शाकों के साथ सावाँ, जौ और कोदो अन्न खायें। २. यदि कफ गाढ़ा निकले, तो तिक्तरस सिद्ध स्नेह में मधु मिलाकर तथा शालि चावल का भात खायें। पतला कफ निकलता हो तो जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ साठी चावल का भात खायें।

उपचार	औषध	पथ्य
३. संसर्जन क्रम—वमन से संशोधन हो जाने के बाद पतला कफ निकलता हो, तो स्निग्ध और शीतल आहार दे। विरेचन हो जाने के बाद यदि गाढ़ा कफ निकलता हो, तो रूक्ष और शीतल आहार तथा स्नेह एवं अवलेह आदि दें।	२. विदार्यादि योग, शरादि क्षीरपाक, स्थिरादि क्षीरपाक। ३. स्थिरादि घृतसिद्ध गुटिका। ४. शर्करादि योग, काकोल्यादि क्वाथ से सिद्ध जल में पका मांसरस, दूध या यूष का प्रयोग पित्तज कास में हितकर है।	३. **अनुपान**—चीनी का शर्बत, मुनक्के का रस या क्वाथ, गन्ने का रस, गोदुग्ध तथा मधुर, शीतल अविदाही पेय पदार्थ पीना चाहिए। ४. **घृतपान**—भैंस-गाय-भेड़-बकरी, इनका दूध, आँवले का स्वरस और गोघृत से सिद्ध घृत का सेवन पित्तज कासनाशक है।

कफज कास

उपचार	औषध	पथ्य
१. संशोधन—कफज कास का रोगी यदि बलवान् हो, तो उसे वमन द्वारा संशोधन कराना चाहिए। तत्पश्चात् जौ की रोटी के साथ कटु, रूक्ष एवं उष्ण पदार्थों का यूष दे। **२. शमन**—यदि कफज कास का रोगी दुर्बल हो, तो उसका संशोधन न कर शमन उपचार करना चाहिए। **३. धूमपान**—वातज कास में जिन धूमों का प्रयोग होता है, कफज कास में भी उन्हीं धूमों का प्रयोग करना चाहिए। ४. यदि कफज कास में पित्तानुबन्ध रहने पर तमक श्वास हो जाय, तो पित्तज कास की चिकित्सा करनी चाहिए।	१. कट्फलादि क्वाथ, पाठादि कल्क, नागरादि योग, पिप्पलीयोग, कासमर्दादि योग। २. वातानुबन्धी कफज कास में देवदार्वादि लेह तथा पिप्पल्यादि लेह एवं सौवर्चलादि योग। ३. कफज कासनाशक लेह-पिप्पल्यादि, पथ्यादि, देवदार्वादि और विशालादि। ४. दशमूलादि घृत, कण्टकारी घृत, कुलत्थादि घृत। ५. वातकफज कास में अधिक कफ आने पर रूक्ष औषध एवं अन्न का प्रयोग करे। शुष्क कास हो और कफ नहीं निकलता हो, तो स्निग्ध औषध एवं अन्नपान का प्रयोग करे। कफज कास में पित्त का अनुबन्ध हो, तो तिक्तरसयुक्त अन्नपान का प्रयोग करना चाहिए।	**१. पथ्य**—पीपर और जवाखार से संस्कृत कुलथी या सूखी मूली के यूष के साथ या कटुरसयुक्त जांगल या विलेशय जीवों के स्निग्ध मांसरस के साथ लघु अन्न खाना चाहिए। २. आहार या औषध के अनुपान के रूप में मधु, काञ्जी, खट्टे अनार का रस, गरम जल, मट्ठा या स्वच्छ मदिरा का पान करना चाहिए। ३. भोजन के तीनों समय प्रातः-सायं-मध्याह्न एवं आदि-मध्य एवं अन्त में पौष्करादि हिम पीने को देना चाहिए।

क्षतज कास

उपचार	औषध	पथ्य
१. सन्तर्पण—क्षतज कास शीघ्र प्राणहर होता है, अतः बल-मांसवर्धक मधुर तथा जीवनीय औषधों के प्रयोग से रोगी को सबल बनाने का प्रयास करना चाहिए। २. इसमें पित्तज कास के समान दूध, घी और मधु का विशेष प्रयोग करना चाहिए। ३. वात-पितज कास में यदि रोगी के शरीर में वेदना हो, तो घृत का अभ्यंग करना चाहिए और केवल वायु से पीड़ा हो, तो वात-नाशक तैलों का मर्दन करना चाहिए।	**घृत-मांस**—१. प्रबल जठराग्नि वाले, सदाह रक्तष्ठीवन करने वाले, हृदय-पार्श्वशूलयुक्त रोगी को जीवनीय घृत (वातरक्त में पठित) दे। मांस खानेवाला रोगी यदि कृश हो, तो उसे बटेर आदि का मांस खिलायें। यदि क्षतज कास में प्यास हो, तो तृणपञ्चमूल से सिद्ध बकरी का दूध दे। यदि मुख से या अन्य किसी स्रोत से रक्त आता हो तो दूध से निकाला गया घी नस्य तथा पान में प्रयोग करे। मन्दाग्नियुक्त एवं थके हुए रोगी को यवागू सेवन करायें। शरीर में स्तब्धता और तनाव हो, तो घी की उत्तममात्रा (८ पल, किन्तु वर्तमान में ५० ग्राम) पिलानी चाहिए एवं पित्तरक्त की अविरोधी तथा वातरोगघ्न चिकित्सा करनी चाहिए। धूमपान—यदि क्षतज कास में क्षतदोष ठीक हो जाय, किन्तु कफ के बढ़ने से छाती में भेदनवत् पीड़ा हो, तो धूमपान कराना चाहिए, जैसे—द्विमेदादि धूमवर्ती, मनःशिलादि धूम का पान तत्पश्चात् गन्ने का रस पीने को दे। द्वितीय मनःशिलाधूमपान के बाद तित्तिर के मांसरस के साथ भोजन दे। इसी प्रकार कुलिङ्गाण्ड धूमवर्ति पीने के बाद गरम लोहे को दूध में बुझाकर वह दूध पिलायें।	**पथ्य**—इसमें पित्तकास की तरह शीतल, मधुर तथा सौम्य पथ्य देना चाहिए।

क्षयज कास

उपचार	औषध	पथ्य
१. सभी लक्षणों से युक्त क्षयज कास का रोगी त्याज्य होता है। रोगी बलवान् हो और उसका रोग नया हो, तो भी प्रत्याख्यानपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए।	**शोधन योग**—घृत प्रयोग में निशोथ चूर्ण ३ ग्राम मुनक्का के क्वाथ से या विदारीकन्द स्वरस सिद्ध घी पिलाकर शोधन करे। धातुओं की क्षीणता एवं वातवृद्धि में—काकड़ासींगी आदि से सिद्ध घृत	**यवागू पथ्य**—सरसों, गण्डीर घास, वायविडंग, सोंठ, मरिच, पीपर, चित्रकमूल और हर्रे—इन द्रव्यों को समान भाग लेकर इनसे षडङ्गपरिभाषा के

उपचार	औषध	पथ्य
२. बृंहण और दीपन उपचार करे। बहुदोष रोगी को मृदुस्निग्ध विरेचन दे। ३. क्षतजकास में बतलाये गये धूमों और अनुपानों का उसी तरह प्रयोग करे। **चिकित्सासूत्र**— ४. क्षयज कास में दीपन, बृंहण और स्रोतोविशोधन औषधों का प्रयोग बदल-बदल कर करना चाहिए। इसमें सभी तरह के बल-वर्धक आहार और औषध लाभप्रद होते हैं। ५. क्षयज कास सन्निपात से उत्पन्न होता है, अतः इसमें सन्निपात में हितकर चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिए।	पिलायें। मूत्रविवर्णता एवं मूत्रकृच्छ्रता में—विदारीकन्द या कदम्ब या तरकुल की बाल के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत या दुग्ध पिलायें। मूत्रेन्द्रिय एवं गुदा आदि में शोथ तथा दर्द हो तो घृत से या घी-तैल से अनुवासन वस्ति दे। **अन्य घृत प्रयोग**—द्विपञ्चमूलादि घृत, गुडूच्यादि घृत, कासमर्दादि घृत। एवं आँवला, अनार, त्रिकटु या पीपर तथा गुड़ के कल्क से सिद्ध घृतों का प्रयोग करे। **अवलेह**—हरीतकीलेह, शाही के काँटे की या मोर के पंख की भस्म मधु-घी से दे। द्राक्षादि लेह, चित्रकादि लेह, पद्मकादि लेह, जीवन्त्यादि लेह, मरिचावलेह या बदरी-पत्रावलेह का सेवन करे।	अनुसार जल पकायें और उस जल से यवागू बनाकर घृत तथा सेंधानमक डालकर खिलायें। **यूष**—रेंगनी के क्वाथ में बने मूँग के यूष में सरसों, आँवला का चूर्ण एवं अनार का रस मिलाकर दे। **दूध और मांसरस**—वातघ्न औषध सिद्ध दूध एवं विष्किर, प्रतुद तथा विलेशय जीवों का मांसरस दे।

अथैकोनविंशोऽध्यायः

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'अतीसारचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—सामान्यतः ग्रहणी रोग के वर्णन के अनन्तर अतिसार का वर्णन क्रमप्राप्त था, किन्तु ग्रहणीचिकित्सा में पित्ताधिक्यजन्य भस्मक रोग का वर्णन है। उसके बाद पित्तविकारजन्य पाण्डुरोग का वर्णन तथा पाण्डु से होनवाले हिक्का-श्वास का वर्णन तथा तत्सदृश कास का वर्णन करने के बाद अजीर्ण से होनेवाले अतिसार रोग का वर्णन किया जा रहा है।

निरुक्ति—'अतिशयेन सार्यति नानाविधद्रवधातून् मलान् वा इति अतिसारः'। अधिक मात्रा में जलीयांशबहुल द्रवमल का निकलना अतिसार कहलाता है।

भगवन्तं खल्वात्रेयं कृताह्निकं हुताग्निहोत्रमासीनमृषिगणपरिवृतमुत्तरे हिमवतः पार्श्वे विनयादुपेत्याभिवाद्य चाग्निवेश उवाच—भगवन्! अतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्तलक्षणोपशमनानि प्रजानुग्रहार्थमाख्यातुमर्हसीति ॥ ३ ॥

अतिसार सम्बन्धी अग्निवेश का प्रश्न—हिमालय के उत्तरी भूभाग में एक दिन भगवान् आत्रेय दैनिक कार्यों से निवृत्ति होकर अग्निहोत्र करने के बाद ऋषिगणों से घिरे हुए बैठे थे, तब विनयपूर्वक समीप जाकर अभिवादन कर आचार्य अग्निवेश ने पूछा—भगवन्! प्रजाजनों के कल्याण के लिए आप अतिसार रोग की पूर्व उत्पत्ति, उसके कारण, लक्षण तथा उसकी चिकित्सा का उपदेश कीजिये ॥ ३ ॥

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच—श्रूयतामग्निवेश! सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम्। आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रवर्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतचेतसां चातिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ॥ ४ ॥

पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर—अग्निवेश की बातें सुनकर भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश! आपने जो कुछ पूछा है, मैं उन सबका उत्तर दे रहा हूँ, आप सुनें—आदिकाल (सतयुग) में यज्ञों में पशुओं को आमन्त्रित कर उनकी पूजा कर उन्हें छोड़ दिया जाता था, उन्हें मारा नहीं जाता था। उसके बाद दक्षयज्ञ में भी ऐसा ही किया जाता था। उसके बहुत दिनों बाद मनु के पुत्रों—नरिष्यन्-नाभाग-इक्ष्वाकु-नृग-शर्याति आदि के यज्ञों में पशुओं की ही प्रेरणा से उन्हें मारा जाने लगा (क्योंकि शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि यज्ञ के निमित्त जो हिंसा की जाती है, उससे मारे जाने वाले तथा मारनेवाले इन दोनों को बड़ा पुण्य मिलता है—'क्रत्वर्थहिंसायां वध्यवधकयोरुभयोरपि महत्पुण्यमुत्पद्यते'—चक्रपाणि-वचन)।

उसके कुछ दिनों बाद राजा पृषध्र ने बहुत दिनों तक चलने वाले यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमें पशुओं का वध किया जाता था। जब अन्य पशु नहीं मिलने लगे तो उस यज्ञ में गौवों को मारा जाने

लगा, जिसे देखकर प्राणिमात्र मर्मान्तिक पीड़ा का अनुभव करने लगे। उन गौवों का मांस भारी, उष्ण, प्रकृतिविरुद्ध और अप्रशस्त था, जिसके उपयोग से मनुष्यों को मन्दाग्नि हो गयी और उनका मन ग्लानि से भर गया, जिसके परिणामस्वरूप पृषध्र के उस यज्ञ में लोगों को अतिसार रोग उत्पन्न हो गया ॥ ४ ॥

वक्तव्य—यहाँ गोमांस की गुरुता, उष्णता, असात्म्यता आदि के कारण तथा मानसिक सन्ताप के कारण अतिसार रोग की उत्पत्ति की कथा के ब्याज से अतिसार रोग की उत्पत्ति के मूल कारण को इंगित किया गया है।

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते, पक्ता चोपहन्यते, वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्रस्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य, ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य, अतीसाराय प्रकल्पते।

वातज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति—पृषध्र के यज्ञ के बाद से जब वात प्रकृति के व्यक्ति अधिक वायु, अधिक धूप या अधिक व्यायाम का सेवन करने लगे, रूक्ष आहार-विहार, अल्प भोजन, समय बिताकर भोजन, तीक्ष्ण मद्यपान और नित्य मैथुन करने लगे और वे मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने लगे, तो उनका वायु प्रकुपित होकर जठराग्नि को मन्द कर दिया और मूत्र तथा स्वेद को पुरीषाशय में ले जाकर उनसे मल को पतला कर अतिसार रोग उत्पन्न करने लगा।

वक्तव्य—

निदान—वायु, आतप, व्यायाम आदि का अतिसेवन, रूक्ष, अल्प, अतीतकालीन आहार, तीक्ष्ण मद्य का पान, नित्य व्यवाय तथा वेगावरोध आदि।

सम्प्राप्ति—

उपर्युक्त कारण → वात प्रकोप → अग्निमान्द्य

अतिसार ← [वृद्ध जलीय धातु + द्रवमल का गुदमार्ग से निःसरण ('गुदेन बहुद्रवसरणमतीसारः')]

दोष—वायु।

दूष्य—जलीय धातु, मल।

अधिष्ठान—पक्वाशय, गुदमार्ग।

वातप्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु जठराग्नि को मन्द कर देती है। वस्तुतः अतिसार-प्रवृत्तिकाल में मूत्र एवं स्वेद की प्रवृत्ति अल्प या क्षीण हो जाती है। आन्त्रस्थ श्लैष्मिक कला की कोशिकाओं का विस्तार हो जाता है और उनसे जलीय धातु का अत्यधिक मात्रा में स्राव होने लगता है। परिणामस्वरूप रक्त में जल की कमी होने से वृक्क एवं स्वेदग्रन्थियों को कार्य करने का अवसर नहीं मिलता। इसी कारण से अतिसारावस्था में गर्मी होने पर भी स्वेद एवं शीत की अधिकता में भी मूत्रप्रवृत्ति अल्प होती है। इस अवस्था में गुदमार्ग से जलीय धातु के अत्यधिक मात्रा में निकलने के कारण वृक्कों का कार्य प्रायः अवरुद्ध-सा रहता है और मूत्रत्याग नहीं होता।

तस्य रूपाणि—विज्जलमामं विप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धमीषच्छब्दमशब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं, वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो वातात्।

वातज अतिसार का लक्षण—वातज अतिसार में ये लक्षण होते हैं—इसमें मल जल में मिला होता है, अपरिपक्व आम मल होता है, मल ढीला रहता है जो पानी में डूब जाता है। रूक्ष (स्निग्धतारहित),

द्रव, शूलसहित, कच्चेपन की गन्धवाला मल अधिक शब्द के साथ या अल्प शब्द के साथ और मूत्र तथा अपानवायु को रोकता हुआ गुदमार्ग से बाहर निकलता है। अवरुद्ध वायु पक्वाशय में शब्द और शूल उत्पन्न करता हुआ इधर-उधर संचरण करता रहता है। यह वात से उत्पन्न आमातिसार का लक्षण है।

वक्तव्य—सुश्रुताचार्य ने स्वतन्त्र आमातिसार का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि अन्न के न पचने के कारण प्रकुपित हुए दोष कोष्ठ, रक्तादि धातु और मलों को दूषित करके अनेक वर्णों से युक्त शूलसहित मल को बार-बार बाहर निकालते हैं। मल के आम और पक्व निकलने से अतिसार भी आमातिसार एवं पक्वातिसार कहा जाता है। विभिन्न आचार्यों ने आम की परिभाषाएँ बतलायी हैं; यथा—

(क) 'जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः। स आमसंज्ञको देहे सर्वरोग(दोष)प्रकोपकः'॥
(ख) 'आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स हेतुः सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते'॥
(ग) 'अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम्। सादनं सर्वगात्राणाममित्यभिधीयते'॥

आम से युक्त दोष या दूष्य साम कहे जाते हैं; यथा—

'आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः। सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः'॥

इस प्रकार वायु जब साम होता है, तो उससे उत्पन्न अतिसार आमातिसार कहा जाता है।

पक्वं वा विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिःश्वसञ् शुष्कमुखः कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्, तमाहुरनुग्रथितमित्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात्॥ ५॥

वातज पक्वातिसार का लक्षण—वातज पक्वातिसार में मल बँधा हुआ निकलता है, जिसमें थोड़ा-थोड़ा शब्द होता है, शूल होता है, फेन और झाग होते हैं एवं गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा होती है। रोगी को उस समय रोमाञ्च होता है, दम फूलने लगता है, मुँह सूखता है। कटिप्रदेश, ऊरुप्रदेश, त्रिकप्रदेश तथा जानु, पीठ और पसलियों में शूल होता है। गुदा फट जाती है या बाहर निकल आती है, बार-बार गाँठदार मल निकलता है। कुछ लोग मल के वायु द्वारा शुष्क हो जाने से उसे अनुग्रथित कहते हैं॥ ५॥

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते। तत् प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषाशयविसृतमौष्ण्याद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय प्रकल्पते।

पित्तज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति—पित्तप्रकृति का व्यक्ति जब अम्ल, लवण, कटु, क्षार, उष्ण तथा तीक्ष्ण पदार्थों का अधिकांश सेवन करता है और वह लगातार अग्नि के ताप, सूर्य के सन्ताप और गरम हवा के झोंके से प्रताड़ित होता रहता है एवं क्रोधी तथा ईर्ष्यालु स्वभाव का होता है, तो उसका पित्त प्रकुपित हो जाता है। वह प्रकुपित हुआ पित्त द्रव होने के कारण जठराग्नि को नष्ट कर देता है और मलाशय में जाकर अपने उष्ण, द्रव तथा सर गुणों से मल को छिन्न-भिन्न कर अतिसार रोग उत्पन्न करता है।

तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपहितमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं, तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीत इति पित्तातिसारः॥ ६॥

पित्तज अतिसार का लक्षण—पित्तज अतिसार के ये लक्षण होते हैं—रोगी जिस मल का त्याग करता है, वह हल्दी के वर्ण का पीला या हरा या नीला या काला, रक्त तथा पित्तमिश्रित और अति दुर्गन्धयुक्त होता है। रोगी को तृष्णा, दाह, पसीना होना, मूर्च्छा, उदरशूल, गुदा में जलन या पाक होना, इन लक्षणों से कष्ट होता है। उक्त लक्षण पित्तातिसार के हैं॥ ६॥

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। स स्वभावाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धः ग्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् [1]पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसाराय कल्पते।

कफज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति—कफप्रकृति वाला व्यक्ति जब भारी, मधुर, शीत और स्निग्ध पदार्थों का अधिकतर सेवन करता है, ठूँस-ठूँस कर पेट को हमेशा भरता रहता है, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता, दिन में सोता है और आलसी होता है, तब उसके शरीर में कफ प्रकुपित हो जाता है। वह कफ स्वभाव से भारी, मधुर, शीत और स्निग्ध होता है, एवं अधोभाग में जाकर जठराग्नि को नष्ट कर देता है तथा अपने सौम्य (जलीय) स्वभाव से मलाशय में जाकर मल को जल से द्रव बनाकर अतिसार रोग को उत्पन्न करता है।

तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं, गुरूदरगुदवस्तिवङ्क्षणदेशः कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः[2]॥ ७॥

कफज अतिसार का लक्षण—इसमें रोगी स्निग्ध (चिकने), श्वेत, लसदार, सूतवाले, कच्चे, भारी, दुर्गन्धित कफमिश्रित मल को उदरशूल और प्रवाहण के साथ बार-बार त्यागता है। उसके उदरप्रदेश, गुदा, वस्ति तथा वंक्षण प्रदेश में भारीपन होता है। शौच कर लेने के बाद भी उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अभी शौच नहीं किया है। उसे रोमाञ्च होता है, मुँह में पानी आता रहता है। उसे नींद और आलस्य सताते रहते हैं और शरीर में थकावट होती है तथा भोजन से द्वेष होता है। इस प्रकार के लक्षण श्लेष्मातिसार में होते हैं॥ ७॥

अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात् कालातीतभोजनाद् यत् किञ्चिदभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानादसंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्यपवनसलिलातिसेवनादस्वप्नादतिस्वप्नाद् वेगविधारणाद् ऋतुविपर्ययादयथाबलमारम्भाद् भयशोकचित्तोद्वेगातियोगात् कृमिशोषज्वरार्शोविकारातिकर्षणाद्वा व्यापन्नाग्नेस्त्रयो दोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्वाशयमनुप्रविश्यातीसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति॥ ८॥

सन्निपातज अतिसार का निदान और सम्प्राप्ति—अतिशीत, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अतिउष्ण, अतिगुरु, अतिखर, अतिकठिन, विषम भोजन, विरुद्ध भोजन, असात्म्य भोजन, उपवास, भोजनकाल के बीत जाने पर भोजन, उचित-अनुचित का बिना विचार किये कुछ भी खा लेने से, दूषित मद्य एवं दूषित जलपान, अतिमद्यपान, उचित काल में वमन-विरेचन आदि संशोधनों का अभाव, चिकित्सा का विपरीत प्रयोग, पञ्चकर्मों का असमुचित प्रयोग, अग्नि, सूर्य, वायु और जल के सम्पर्क में अधिक निवास, अधिक

---

१. पुरीषाशयमुपहत्येति पुरीषाशयं गत्वा, हन्तेर्गतिहिंसात्मकत्वादत्र गत्यर्थता, किंवा पुरीषाशयशब्देन स्थानेन स्थानिन उपचारात् पुरीषमेवोच्यते, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत्, ततश्च पुरीषमुपहत्येति सम्बन्धः। (चक्रपाणिटीका)

२. अत्र च पित्तातिसारे श्लेष्मातिसारे च सामतालक्षणं यद्यपि नोक्तं, तथापि सामवातातिसारसम्बन्धकृतविज्जलत्वामगन्धित्वप्रकारैर्लक्षणैस्तयोरप्यामातिसाररूपाऽवस्था ज्ञेयैव। तथाहि चिकित्सावसरे 'पित्तातिसारे पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयं विदित्वा' इत्यादिनाऽऽमातिसारे पृथक् चिकित्सां वक्ष्यति, श्लेष्मातिसारे तु सामे निरामे च रूक्षोष्णादिरूपा चिकित्सा समानैवेति कृत्वा पृथगामश्लेष्मातिसारचिकित्सा नोक्ताः, 'क्षारपाणिना' सर्वातिसाराणामेव सामता पृथगुक्ता, वचनं हि—'वातातिसारः सामश्च सशूलः फेनिलस्तनुः। श्यावः सशब्दो दुर्गन्धो विबद्धोऽल्पाल्प एव च॥ एवं पित्तकफे साममतीसारं विनिर्दिशेत्।' इति। अत्रापि प्रासृतयौगिकायां सिद्धौ सर्वदोषाणामेवामसम्बन्धात् पृथग्भेदा उक्ताः। (चक्रपाणिटीका)

जागरण, अधिक शयन, मल-मूत्रादि वेगधारण, ऋतुओं का विपरीत स्वभाव, शक्ति से अधिक श्रमजनक व्यायाम आदि कर्म, भय, शोक एवं मन की उद्विग्नता की वृद्धि, कृमि, शोष, ज्वर या अर्श होने से शरीर की कृशता के कारण जठराग्नि जब विनष्ट हो जाती है तो वात-पित्त-कफ प्रकुपित होकर जठराग्नि को पुनः विनष्ट कर देते हैं और पक्वाशय में प्रवेश कर सभी दोषों के लक्षणों से युक्त अतिसार रोग उत्पन्न करते हैं॥ ८॥

अपि च शोणितादीन् धातूनतिप्रकृष्टं दूषयन्तो धातुदोषस्वभावकृतानतीसारवर्णानुपदर्शयन्ति। तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्रहरितनीलमाञ्जिष्ठमांसधावनसन्निकाशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वराहभेदःसदृशमनुबद्धवेदनमवेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद् ग्रथितमामं सकृत्, सकृदपि पक्वम्।

दूषित धातुवाले अतिसारों के लक्षण—वातादि तीनों दोष जब रक्त आदि धातुओं को बहुत अधिक अंश में दूषित कर देते हैं, तब वे धातु और दोषों के स्वाभाविक वर्णों से युक्त अतिसार को उत्पन्न करते हैं। रक्तादि धातुओं के अधिक दुष्ट हो जाने पर त्रिदोषज अतिसार में हल्दी के समान पीला, हरा, नीला, मजीठ के क्वाथ और मांस के धोवन के समान लाल, काला, सफेद, सूअर की चर्बी के समान, लगातार वेदनायुक्त अथवा वेदनाविहीन मल निकलता है। ये सभी लक्षण साथ-साथ या अलग-अलग कभी कोई कभी कोई हो सकते हैं। कभी गाँठदार कच्चा मल आता है और कभी पक्व मल आता है।

अनतिक्षीणमांसशोणितबलो मन्दाग्निर्विहतमुखरसश्च, तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात्।

कृच्छ्रसाध्य अतिसार—यदि पूर्वकथित लक्षणों के होने पर भी रोगी का मांस, रक्त और शरीर का बल अधिक क्षीण न हो, रोगी की जठराग्नि मन्द हो और उसके मुख में किसी पदार्थ का स्वादानुभव न हो रहा हो, तो उसे कृच्छ्रसाध्य जानना चाहिए।

एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत। तद्यथा—पक्वशोणिताभं यकृत्खण्डोपमं मेदोमांसोदकसन्निकाशं दधिघृतमज्जतैलवसाक्षीरवेसवाराभमतिनीलमतिरक्तमति-कृष्णमुदकमिवाच्छं पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरितनीलकषायवर्णं कर्बुरमाविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतमतिकुणपपूतिपूयगन्ध्यामाममत्स्यगन्धि मक्षिकाक्रान्तं कुथितबहुधातुस्रावमल्पपुरीषम-पुरीषं वाऽतिसार्यमाणं तृष्णादाहज्वरभ्रमतमकहिक्काश्वासानुबन्धमतिवेदनमवेदनं वा ग्रस्तपक्वगुदं पतितगुदिवलिं मुक्तनालमतिक्षीणबलमांसशोणितं सर्वपर्वास्थिशूलिनमरोचकारतिप्रलापसम्मोहपरीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यात्, इति सन्निपातातिसारः॥ ९॥

असाध्य (प्रत्याख्येय) अतिसार का लक्षण—अग्रिम पंक्तियों में कथनीय वर्णोंवाला और उपद्रवयुक्त अतिसार के रोगी को असाध्य जानकर उसकी चिकित्सा करने से इनकार कर देना चाहिए। जैसे—सन्निपातज अतिसार से ग्रस्त रोगी का मल जब पक्व रक्त के समान, यकृत् खण्ड जैसे रंगवाला, मेद और मांस के जल जैसा, दही, घी, मज्जा, तैल, चर्बी, दूध और वेसवार जैसा (पिसे हुए मांस के समान) अतिनीलवर्ण, अतिरक्तवर्ण, अतिकृष्णवर्ण या जल की तरह स्वच्छ, मेचक (मोर के पंख की तरह रंग-विरंग), बहुत चिकना, हरा, नीला या कषाय (गैरिक) वर्ण का, चितकबरा, मटमैला, लसदार, तन्तुयुक्त, कच्चा (अनपचा), चन्द्रिका जैसी चकमकाहटवाला, सड़े हुए मुर्दे की गन्ध के समान दुर्गन्धियुक्त, पूय जैसी गन्धवाला, कच्ची मछली जैसी गन्धवाला, जिस पर मक्खियाँ बहुत बैठती हों, जो सड़ा हुआ हो, जिसमें बहुत-सी धातुएँ स्राव के रूप में मिली हों, मल कम मात्रा में हो या बिना मल के ही जल का अतिसार के रूप में निःसारण होता हो, ऐसे अतिसार को अचिकित्स्य जानना चाहिए।

अतिसार रोगी को प्यास, जलन, ज्वर, भ्रम, तमकश्वास, हिक्का और श्वास रोग हो, उदरशूल कभी अधिक हो और कभी कम हो, गुदा पक गयी हो और गुदभ्रंश हो गया हो, गुदवलियाँ नीचे आ

गयी हों, गुदा खुली ही रह जाती हो, शरीर के बल, मांस और रक्त बहुत ही क्षीण हो गये हों, सभी सन्धियों और अस्थियों में दर्द होता हो, भोजन में अरुचि, चित्त में बेचैनी, प्रलाप और मूर्च्छा हो और जिसका रोग अचानक सहसा ठीक हो जाये, तो ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। यह सन्निपातज अतिसार रोग है॥ ९॥

तमसाध्यतामसम्प्राप्तं चिकित्सेद् यथाप्रधानोपक्रमेण हेतूपशयदोषविशेषपरीक्षया चेति॥ १०॥

साध्य रोगी की ही चिकित्सा—जो रोगी अभी असाध्य कोटि में न पहुँचा हो, उसी अतिसार रोगी की चिकित्सा पहले करनी चाहिए और दोषों में जिस दोष की प्रधानता हो उसकी चिकित्सा पहले करनी चाहिए। चिकित्सा करने के पूर्व रोग के कारण, उपशय और दोषविशेष की परीक्षा कर लेनी चाहिए॥ १०॥

आगन्तुर्द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ[1]। तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम्॥ ११॥

आगन्तुक अतिसार—मानस दोष से दो प्रकार के आगन्तुक अतिसार होते हैं—१. भयज और २. शोकज। पूर्ववर्णित वातज अतिसार के जो लक्षण कहे गये हैं, इनके भी वे ही लक्षण होते हैं (क्योंकि 'कामशोकभयाद्वायुः' के अनुसार शोक तथा भय से वायु का प्रकोप होता है, इसलिए भयज तथा शोकज अतिसार वातज अतिसार के समान लक्षणोंवाले होते हैं) ॥ ११॥

वक्तव्य—

(१) अतिसार

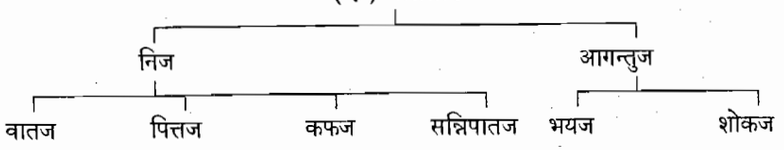

(२) संहिताओं में अतिसार के भेद

चरकसंहिता	सुश्रुतसंहिता	अष्टाङ्गहृदय	माधवनिदान
१. वातज	१. वातज	१. वातज	१. वातज
२. पित्तज	२. पित्तज	२. पित्तज	२. पित्तज
३. कफज	३. कफज	३. कफज	३. कफज
४. सन्निपातज	४. सन्निपातज	४. सन्निपातज	४. सन्निपातज
५. भयज	५. शोकज	५. शोकज	५. शोकज
६. शोकज	६. आमज	६. आमज	६. आमज
			७. रक्तज

१. तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य वाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम्॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड् वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एव प्रदिष्टः॥ (सु. उ. ४०)
यहाँ शोकज से भयज अतिसार का भी ग्रहण किया जाना चाहिए, क्योंकि दोनों ही मानसिक विकारजन्य हैं।

(३) शोकातिसार, रक्तातिसार एवं रक्तपित्त में भेद

शोकातिसार	रक्तातिसार	रक्तपित्त
१. इसका निदान शोक है।	१. इसका निदान पित्तवर्धक पदार्थों का अतिसेवन है।	१. इसका निदान भी पित्तवर्धक पदार्थों का अतिसेवन है।
२. रक्त मलयुक्त होता है, किन्तु अल्प मात्रा में।	२. रक्त मलयुक्त होता है और अधिक मात्रा में आ सकता है।	२. रक्त का मलयुक्त होना अनिवार्य नहीं। रक्त अधिक मात्रा में आ सकता है।
३. इसमें जीवरक्त के लक्षण भी मिल सकते हैं।	३. इसमें जीवरक्त के लक्षण मिलते हैं।	३. इसमें जीवरक्त के लक्षण नहीं होते।
४. रक्त की प्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है।	४. रक्त की प्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है।	४. गुदा, उपस्थ, मुख, नाक आदि से भी रक्त आ सकता है।
५. इसमें रक्तस्तम्भन के अतिरिक्त मानसिक उपचार से भी लाभ होता है।	५. रक्तस्तम्भन एवं पित्त-शामक चिकित्सा से लाभ होता है।	५. पित्तनाशक एवं रक्त-स्तम्भक औषधोपचार से शान्त होती है।

(४) आमातिसार और प्रवाहिका का सापेक्ष निदान

आमातिसार	प्रवाहिका
१. इसमें अनेक द्रवधातुओं का क्षरण होता है।	१. इसमें मल के साथ केवल कफ का क्षरण होता है।
२. इसमें मलत्याग के समय शूल होता है।	२. इसमें मलत्याग के पूर्व ऐंठन होती है।
३. मात्रा और संख्या दोनों ही दृष्टि से मल अधिक स्रवित होता है।	३. इसमें मल की मात्रा कम किन्तु शौच की संख्या अधिक होती है।
४. इसमें अपक्व अन्न भी मिलता है।	४. इसमें अपक्व अन्न नहीं मिलता।
५. प्रवाहण (कूँथना) आवश्यक नहीं है।	५. प्रवाहण आवश्यक है।

मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति। तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च॥ १२॥

इत्युक्ताः षडतीसाराः—

आगन्तुज अतिसार का चिकित्सासूत्र—वायु भय और शोक से शीघ्र ही कुपित हो जाता है, इसलिए भयजन्य तथा शोकजन्य अतिसारों को नष्ट करने के लिए वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। ये दोनों रोग मानसविकारजन्य हैं, अतः मानसिक दृष्टि से भी इनका उपचार करना चाहिए; जैसे—भयज अतिसार में आश्वासन और शोकज अतिसार में मन को प्रसन्न बनाये रखना आवश्यक है॥ १२॥

—साध्यानां साधनं त्वतः। प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण यथावत्तन्निबोधत॥ १३॥

अतिसार चिकित्सा का उपक्रम—अब यहाँ से (मैं) अतिसार के साध्य प्रकारों की क्रम से चिकित्सा कहने जा रहा हूँ, उसे अच्छी प्रकार हृदयङ्गम कीजिये॥ १३॥

दोषाः सन्चिचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः। अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्तयेत्[1]॥

अतिसार में शोधन—जिस रोगी के वात-पित्त-कफ दोष विदग्ध (अर्धपक्व-अम्ल) आहार से मिल जाते हैं एवं संचित हो जाते हैं, वे अतिसार रोग को उत्पन्न करते हैं। इसलिए सर्वप्रथम संचित हुए दोषों को बाहर निकालना चाहिए॥ १४॥

न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे। विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून्॥ १५॥
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा। शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान्॥ १६॥
तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्।

आमातिसार में ग्राही औषध का निषेध—आमातिसार के रोगी को पहले संग्राहक औषध नहीं देनी चाहिए, क्योंकि यदि दोषों की प्रवृत्त गति को पहले ही रोक दिया जाये, तो वे बहुत से रोगों को उत्पन्न करते हैं; यथा—दण्डालसक, आध्मान, ग्रहणी, अर्श, शोथ, पाण्डु, प्लीहारोग, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग और ज्वर। इसलिए बहिर्गमनोन्मुख स्वयमेव बाहर निकल रहे मल-दोषों की उपेक्षा करनी चाहिए अर्थात् उन्हें रोकने का उपाय नहीं करना चाहिए॥ १५-१६॥

कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां सम्प्रवर्तिनीम्॥ १७॥
तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः। जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते॥ १८॥

मलशोधनार्थ हरीतकी-प्रयोग—यदि अतिसार के रोगी का मल कठिनाई के साथ बाहर निकल रहा हो, तो रोगी को हरीतकी चूर्ण (बल के अनुसार ४ से ८ ग्राम तक) का सेवन कराना चाहिए। इसके प्रयोग से जब मल आसानी से बाहर निकल जाता है, तो उदररोग (अतिसार) शान्त हो जाता है, शरीर में हल्कापन हो जाता है और जठराग्नि बढ़ जाती है॥ १७-१८॥

वक्तव्य—इस आमातिसार की चिकित्सा के सिद्धान्त को सभी अतिसारों में लागू समझना चाहिए। 'संग्राही औषध को रोग के प्रारम्भ में नहीं देना चाहिए' इस कथन का अभिप्राय यह है कि रोग के बढ़ जाने पर दिया जाना चाहिए। जब रोगी बलवान् हो और आमदोष की प्रबलता हो, तो मल प्रवर्तन कराना चाहिए। जब रोगी दुर्बल हो और आमदोष अल्प हो, तो पहले उपेक्षा कर बाद में संग्राही औषध देनी चाहिए, क्योंकि यदि संग्राही औषध नहीं दी जायेगी तो रोगी कमजोर होकर मृत्यु का ग्रास बन जायेगा।

प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्याद्दीपनपाचनीम्। लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम्॥ १९॥

मध्यदोष एवं अल्पदोष आमातिसार में व्यवस्था—जो रोगी मध्यदोष वाले हों, उन्हें दीपन और पाचन करनेवाली 'प्रमथ्या' देनी चाहिए और अल्पदोष वाले आमातिसार के रोगी को लंघन कराना चाहिए॥ १९॥

---

१. विदग्धशब्देनात्रापक्वाहारवाचिना चतुर्विधमप्यामं विदग्धं (विष्टब्धं) रसशेषं चाजीर्णं गृह्यते। सम्प्रवर्तयेदित्यनेन प्रवर्तमानस्योपेक्षया प्रवर्तनं, तथा स्तोकं वहतां विरेचनयोगात् प्रवर्तनम्। (चक्रपाणिटीका)

वक्तव्य—'प्रमथ्या' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ दीपन एवं पाचन कषाय है, जैसा कि चक्रपाणि ने कहा है—'प्रमथ्यामिति पाचनदीपनीयं कषायं, प्रमथ्याशब्दो हि वृद्धपरम्परया पाचनदीपनीये कषाये वैद्यकशास्त्रे परिभाषितः श्रूयते, यथा विडङ्गकषायः शैखरिककषायशब्देन वैद्यैरुच्यते।'

साम अतिसार में सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त है कि बहुदोष में दोषप्रवर्तन, मध्यदोष में प्रमथ्या देना और अल्पदोष में लंघन कराना चाहिए।

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा। ह्रीबेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम्॥ २०॥
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका। तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकार्धैरतिसारिणाम्॥

कफ-पित्त-वात के अनुबन्ध में क्रमशः तीन प्रमथ्याएँ—(१) पीपर, सोंठ, धनिया, गन्धतृण, हर्रे और बच; (२) हाऊबेर (सुगन्धबाला), नागरमोथा, बेलगिरि, सोंठ और धनिया तथा (३) पिठवन, गोखरू, मजीठ और कटेरी (रेंगनी)—इनसे षडङ्ग परिभाषा के अनुसार जल पकाकर मध्यदोष अतिसार के रोगियों को पीने को दें। आधे-आधे श्लोक से ये तीन प्रमथ्या योग बतलाये गये हैं, जो क्रमशः कफज, पित्तज एवं वातज अतिसारों में प्रयोग-योग्य हैं॥ २०-२१॥

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा। ह्रीबेरभृङ्गवेराभ्यां पक्वं वा पाययेज्जलम्॥ २२॥

पेय जल—अतिसार रोग में आम के पाचन के लिए क्रमशः कफ, पित्त और वात का अनुबन्ध होने पर इन तीन योगों से षडङ्ग परिभाषा के अनुसार जल पकाकर पिलाना चाहिए। योग इस प्रकार हैं—१. बच और अतीस, २. नागरमोथा और पित्तपापड़ा, ३. सुगन्धबाला और सोंठ॥ २२॥

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत्। तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम्॥ २३॥
तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा। सुरया मधुना चादौ यथासात्म्यमुपाचरेत्॥ २४॥
यवागूभिर्विलेपीभिः खडैर्यूषै रसौदनैः[1]। दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्यादतः परम्॥ २५॥

आमातिसार में पथ्य—रोगी को जब खुलकर भूख लगे और वह क्षुधा से व्याकुल हो, तो उचित अन्नकाल समझकर उसे लघु आहार खिलाना चाहिए। ऐसा करने से रोगी भोजन में रुचि लेने लगता है, उसकी जठराग्नि सबल हो जाती है और शरीर में भी बल आने लगता है। रोगी की अनुकूलता का ध्यान रखते हुए उसे तक्र के साथ, काञ्जी के साथ, यवागू के साथ, तर्पण के साथ, मदिरा के साथ अथवा मधु के साथ हल्का पथ्य खिलाना चाहिए। इसके बाद दीपन और ग्राही औषधों के योग से अथवा उनसे सिद्ध जल में पकाकर क्रमशः यवागू, विलेपी, खड, यूष, मांसरस और भात का पथ्य देना चाहिए॥ २३-२५॥

शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम्। बलां श्वदंष्ट्रां बिल्वानि पाठां नागरधान्यकम्॥
शटीं पलाशं हपुषां वचां जीरकपिप्पलीम्। यवानीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्॥ २७॥
वृक्षाम्लं दाडिमाम्लं च सहिङ्गु बिडसैन्धवम्। प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम्॥ २८॥
वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः। ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम्॥

दीपन-पाचन-ग्राही एवं वातकफघ्न गण—सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, बरियार, गोखरू, बेलगिरी, पाठा, सोंठ, धनिया, कचूर, पलाशबीज, हाऊबेर, बच, जीरा, पीपर, जवायन, पिपरामूल, चित्रक, गजपीपर, वृक्षाम्ल (कोकम), अनार के बीज, घी में भुनी हींग, विडनमक और सेंधानमक—इन द्रव्यों को अलग-अलग अथवा यथावश्यक योग बनाकर खाने-पीने के पदार्थों में उचित मात्रा में मिलाकर

१. यवागूः षड्गुणेऽम्भसि। विलेपी तु चतुर्गुणे। तक्रं कपित्थचाङ्गेरी मारिचाजाजिचित्रकैः।
सुपक्वः खडयूषोऽयम्। द्रवेणालोडितास्ते स्युस्तर्पणं लाजसक्तवः।
जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुःपलम्। विपचेत् स्रावयेन्मण्डः स भक्तो मधुरो लघुः॥
द्रव्यतो द्विगुणं मांसं सर्वतोऽष्टगुणं पयः। पादस्थं संस्कृतं चाज्ये षडङ्गो यूष उच्यते॥ (परिभाषाप्रदीप)

कल्पना करके प्रयोग करे। यह गण वात-कफनाशक, दीपन, पाचन, संग्राही, बलदायक और रोचक होने से अतिसार के रोगियों के लिए लाभप्रद है॥ २६-२९॥

आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते। सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम्॥ ३०॥
यूषेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा। उपोदिकायाः क्षीरिण्या यवान्या वास्तुकस्य वा॥ ३१॥
सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा। शटच्याः कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य वा॥
लोणिकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः। दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत्॥ ३३॥

अतिसार में शाक—आमातिसार का जो रोगी आमदोष के परिपाक हो जाने पर शूल और पिच्छिलता के साथ, प्रवाहण (कुँथन) पूर्वक अल्पमात्रा में अनेकशः बँधे हुए मल का त्याग करता है, तो उसे मूली के यूष के साथ खिचड़ी या भात खिलाना चाहिए। इसी प्रकार बेर, पोई, दुग्धिका, यवायन, बथुआ, हुरहुर, चंचु (नाड़ीशाक), बाकुची, कचूर, कच्चा तरबूज, जीवन्ती, चिर्मिट (फूट), लोनी, पाठा अथवा अन्य सूखे साग को दही के पानी और अनार के रस के साथ सिद्ध कर अधिक मात्रा में घी डालकर लघु अन्न शालिचावल के भात के साथ खाने को देना चाहिए॥ ३०-३३॥

कल्कः स्याद् बालबिल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः।
दध्नः सरोऽम्लस्नेहाद्यः खडो हन्यात् प्रवाहिकाम्॥ ३४॥

खड्यूष का प्रयोग—कच्चे बेल के फल की गुद्दी में से बीज निकालकर उसे पीसकर कल्क करे और उसके समान वजन में काले तिल लेकर उसे भी पीस ले, फिर दोनों को मिलाकर खट्टी दही की साढ़ी और घी मिलाकर खड तैयार करे। यह खड प्रवाहिका रोग को दूर करता है॥ ३४॥

यवानां मुद्गमाषाणां शालीनां च तिलस्य च। कोलानां बालबिल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत्॥ ३५॥
ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसारिकम्। वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत्॥ ३६॥
दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम्। सुरां वा यमके भृष्टं व्यञ्जनार्थे प्रदापयेत्॥ ३७॥
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा।

वर्चःक्षय में उपचार : धान्ययूष—(१) जौ, मूँग, उड़द, शालि (अगहनी) चावल, तिल, बेर और कच्चे बेल का गूदा समान भाग लेकर 'धान्ययूष' तैयार करे। फिर बराबर-बराबर घी-तैल कड़ाही में डालकर उसमें उस यूष को छौंक दे और उसमें खट्टी दही और खट्टे अनार का रस डालकर शालि चावल के भात के साथ उन अतिसार रोगियों को खाने को दें, जिन्हें अधिक मल निकलने से पुरीषक्षय हो गया हो और मुँह सूख रहा हो।

व्यञ्जनार्थ दधिसर—(२) दही की साढ़ी को समान भाग घी-तैल में छौंककर उसमें गुड़ और सोंठ का चूर्ण मिलाकर शालि के भात के साथ खिलायें। अथवा (३) सुरा को घी-तैल में छौंकर गुड़ तथा सोंठ चूर्ण मिलाकर शालि चावल के भात के साथ खाने को दे। अथवा (४) खट्टे अनार के रस को घी-तैल में छौंककर उसके साथ शालि तण्डुल का भात दे। अथवा (५) गाजर के रस को घी-तेल में छौंककर उसके रस के साथ शालि चावल का भात खाने को दे॥ ३५-३७॥

लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा॥ ३८॥
बर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां तथा रसाः। स्निग्धाम्लाः शालयश्चाऽऽर्या वर्चःक्षयरुजापहाः॥
अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम्। पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यस्नेहनागरम्॥ ४०॥
ओदनं रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तत्। तथा वर्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते॥ ४१॥

मांसरस प्रयोग—(१) लोमड़ी के मांसरस को घी-तैल में छौंककर अनार का रस डालकर उसके साथ भात खाने को दे। (२) इसी प्रकार कछुए के मांसरस को घी-तैल में छौंककर खट्टे अनार के रस

से खट्टा बनाकर भात के साथ खिलायें। (३) पूर्व की तरह मुर्गा, मोर, तीतर और बटेर के मांस रस को घृत डालकर स्निग्ध बनाकर तथा अनार का खट्टा रस डालकर अम्ल बनाकर शालि चावल के भात के साथ खाने को दे। इन उपर्युक्त योगों के सेवन से पुरीषक्षय से होने वाले कार्श्य, दौर्बल्य आदि कष्ट दूर होते हैं।

मेष-मांस-रक्त प्रयोग—भेंड़ के मध्यदेह का मांस लेकर उसे विधिवत् पकाकर मांसरस तैयार करे और उसे छान ले, फिर उसमें मेष का रक्त मिला ले और अनार का रस, घृत, धनिया तथा सोंठ का चूर्ण (उचित मात्रा) में डालकर पाक कर मांसरस तैयार कर ले। इसके साथ लाल अगहनी चावल का भात खाने को दे और इसका पान भी करना चाहिए। इसके प्रयोग से अतिसार का रोगी पुरीषक्षयजन्य सभी विकारों से मुक्त हो जाता है॥ ३८-४१॥

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः। प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम्॥ ४२॥

गुदभ्रंश में अम्लघृत एवं अनुवासन—जब अतिसार के रोगी की गुदा बाहर निकल जाती हो और उसमें शूल रहता हो तथा उसका मल पका हुआ निकलता हो, तो उसे अनार के खट्टे रस से युक्त घी का पान कराना चाहिए अथवा उसी अम्लरसयुक्त घृत की अनुवासन वस्ति देनी चाहिए॥ ४२॥

चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम्। घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम्॥ ४३॥
इति चाङ्गेरीघृतम्।

चाङ्गेरी घृत—घृत (१ प्रस्थ), चाङ्गेरी स्वरस (४ प्रस्थ), बेर का क्वाथ (४ प्रस्थ), दही का पानी (४ प्रस्थ) और सोंठ (१ कुडव), यवक्षार (१ कुडव) का कल्क डालकर विधिवत् घृत का पाक करे। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख ले। यह घृत गुदभ्रंश की पीड़ा को दूर करता है॥ ४३॥

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषविडदाडिमम्। पेयमम्लं घृतं युक्त्या सधान्याजाजिचित्रकम्॥ ४४॥
इति गुदभ्रंशे चव्यादिघृतम्।

चव्यादि घृत—चांगेरीघृत में चाभ, पिपरामूल, सोंठ, मरिच, पीपर, विडनमक, खट्टा अनारदाना, धनिया, जीरा और चित्रकमूल—इन दश द्रव्यों का कल्क और चतुर्गुण जल डालकर सिद्ध किये हुए अम्लघृत का युक्तिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। यह गुदभ्रंश की वेदना को शान्त कर लाभ पहुँचाता है॥ ४४॥

दशमूलोपसिद्धं वा सबिल्वमनुवासनम्। शटीशताह्वाबिल्वैर्वा वचया चित्रकेण वा॥ ४५॥
इति गुदभ्रंशेऽनुवासनम्।

अनुवासनयोग—(१) दशमूल के द्रव्यों के क्वाथ और बेल के गूदे के कल्क से सिद्ध घृत या तैल की अनुवासनवस्ति दे अथवा (२) कचूर, सौंफ और बेलगिरी के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध अथवा (३) बच के कल्क से सिद्ध अथवा (४) केवल चिरचिटा की जड़ के कल्क से सिद्ध घृत या तैल की अनुवासन वस्ति दे॥ ४५॥

स्तब्धभ्रष्टगुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्। सुस्विन्नं तं मृदूभूतं पिचुना सम्प्रवेशयेत्॥ ४६॥

गुदभ्रंश में पिचु-प्रयोग—यदि गुदा में संकोच-प्रसारण की क्रिया न हो रही हो, उसमें निष्क्रियता और गुदा का बाहर निःसरण हो गया हो, तो पहले गुदा का स्नेहन करके मृदु स्वेदन करना चाहिए। जब गुदा का अच्छी प्रकार स्वेदन करने से मृदुता आ जाय, तो मोटे रूई के फाहे से गुदा को यथास्थान प्रविष्ट कराना चाहिए॥ ४६॥

विबद्धवात्तवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः। सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति॥ ४७॥
यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः। शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पयः॥ ४८॥
एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति। शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति॥ ४९॥

विबन्ध में क्षीर-प्रयोग—(१) जब अतिसार के रोगी का अपानवायु और मल ये दानों ही ठीक से न प्रवृत्त हो रहे हों, उसे उदर में तीव्र शूल हो तथा कूथ-कूथ कर मल आता हो, मल के साथ रक्त और पिच्छा (झागदार मण्ड जैसा चिपचिपा पदार्थ) आती हो एवं रोगी प्यास से तड़फड़ा रहा हो, तो उसे तृप्तिपर्यन्त दूध पिलाना चाहिए। अथवा (२) रोगी के बल के अनुसार घी-तैल का मिश्रण पिलाकर उसे धारोष्ण दूध पिलाना चाहिए। अथवा (३) एरण्डमूल की छाल डालकर क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए। या (४) कच्चे बेल के गूदे के कल्क से क्षीरपाक विधि से सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना चाहिए। इस प्रकार दूध का प्रयोग करने से रक्त और पिच्छा का आना बन्द हो जाता है तथा उदरशूल, प्रवाहिका और विबन्ध का शमन हो जाता है॥ ४७-४९॥

पित्तातिसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयमुपलभ्य यथाबलं लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत्। तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोशीरसारिवाचन्दनकिराततिक्तकोदीच्यवारिभिरुपचारः। लङ्घितस्य चाहारकाले बलातिबला-सूर्पपर्णी-शालिपर्णी-पृश्निपर्णी-बृहती-कण्टकारिका-शतावरी-श्वदंष्ट्रानिर्यूहसंयुक्तेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः।

पित्तातिसार का चिकित्सासूत्र—आम—रोगी के पित्तातिसार में आमदोष के सम्बन्ध को निदान, उपशय और लक्षणों से जानकर रोगी के बल के अनुसार लंघन और पाचन औषधों के प्रयोग से चिकित्सा करे।

तृष्णा—रोगी को प्यास अधिक लगे, तो उसे नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खश, सारिवा (अनन्तमूल), रक्तचन्दन, चिरायता और सुगन्धबाला डालकर षडङ्गपानीय विधि से सिद्ध जल पिलाना चाहिए।

लंघन (उपवास) करा लेने के बाद रोगी की अनुकूलता का विचार कर उसे बरियार, गंगेरन, मुद्गपर्णी, सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, शतावर और गोखरू, इन्हें डालकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार सिद्ध जल में पकायी हुई यवागू, मण्ड या तर्पण प्रयोग कराकर पथ्य देना चाहिए।

मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठकाढकीयूषैर्वा लावकपिञ्जलशशहरिणैणकालपुच्छकरसैरीषदम्लैरनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत्। अनुबन्धे त्वस्य दीपनीयपाचनीयोपशमनीयसंग्रहणीयान् योगान् सम्प्रयोजयेदिति॥ ५०॥

पित्तातिसार में अग्निसन्धुक्षण—मूँग, मसूर, मटर, मोठ, इनका यूष बनाकर उसमें अनार का खट्टा रस या नीबू का रस डालकर या यों ही पिलाकर अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। जो व्यक्ति मांसाहारी हों, उन्हें बटेर, गौरैया, खरहा, हरिण, कालमृग एवं कालपुच्छक के मांसरस में खट्टे अनार का रस डालकर या ऐसे ही पिलाकर अग्नि को तीव्र करे। यदि उक्त उपायों के करने पर पित्तातिसार का सिलसिला चलता ही रहे, तो दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय तथा संग्रहणीय योगों का प्रयोग करना चाहिए॥ ५०॥

सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम्। पिबेत् पित्तातिसारघ्नं तण्डुलोदकसंयुतम्॥ ५१॥

अतिविषादि योग—कोरया की छाल, इन्द्रजौ और अतीस के समभाग चूर्ण में मधु मिलाकर चाटे और उसके बाद चावल का धोवन पीने से पित्तातिसार रोग शान्त हो जाता है॥ ५१॥

किराततिक्तको मुस्तं वत्सकः सरसाञ्जनः। बिल्वं दारुहरिद्रात्वक् ह्रीबेरं सदुरालभम्॥ ५२॥
चन्दनं च मृणालं च नागरं लोध्रमुत्पलम्। तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम्॥ ५३॥
उत्पलं धातकीपुष्पं दाडिमत्वङ्महौषधम्। कट्फलं नागरं पाठा जम्ब्वाम्रास्थिदुरालभाः॥ ५४॥
योगाः षडेते सक्षौद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः। पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकार्धेन निदर्शिताः॥ ५५॥

पित्तातिसारनाशक छः योग—(१) चिरायता, नागरमोथा, इन्द्रजौ और रसौंत; (२) बेलगिरी, दारुहल्दी, दालचीनी, सुगन्धबाला और दुरालभा; (३) लालचन्दन, खश या कमलदण्ड, सोंठ, पठानी लोध

और नीलकमल; (४) काला तिल, मोचरस, लोध, मजीठ अथवा लजैनी, श्वेत और नीलकमल; (५) नीलकमल, धाय का फूल, अनार का छिलका और सोंठ तथा (६) कट्फल, सोंठ, पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली और यवासा—इन छः योगों का अलग-अलग प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक योग की औषधों को समान भाग लेकर चूर्ण कर ३ ग्राम की मात्रा में मधु मिलाकर सेवन करे और बाद में चावल का धोवन पीना चाहिए (२०-२५ ग्राम चावल को १ कप पानी में मसलकर धोकर पानी निकालना चाहिए, यही तण्डुलोदक कहलाता है)। आधे-आधे श्लोकों में बताये गये ये छः योग पीने से पित्तातिसार को समाप्त कर देते हैं।५२-५५॥

जीर्णौषधानां शस्यन्ते यथायोगं प्रकल्पितैः। रसैः सांग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः॥५६॥

पथ्य व्यवस्था—ऊपर के योगों का सेवन करने पर जब औषध पच जाये तो समुचित सांग्राहिक औषधों के जल से सिद्ध मांसरसों के साथ पुराने लाल शालि चावल का भात खाने को देना चाहिए॥५६॥

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति। अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते॥५७॥

बकरी के दूध का प्रयोग—जिस पित्तातिसार के रोगी की जठराग्नि प्रदीप्त होती है, बकरी का दूध लगातार सेवन करने से उसका रोग शान्त हो जाता है तथा उसका बल और वर्ण बढ़ जाता है अर्थात् वह कान्तिमान् हो जाता है॥५७॥

बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति। पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत्॥५८॥
पलाशफलनिर्यूहं पयसा सह पाययेत्। ततोऽनुपाययेत् कोष्णं क्षीरमेव यथाबलम्॥५९॥
प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः। पलाशवत् प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधिनी॥६०॥

पित्तातिसार में क्षीरविरेचन—(१) जब पित्तज अतिसार के रोगी की अग्नि तीव्र हो, रोगी बलवान् हो और पित्तदोष की अधिकता हो तथा अतिसार शान्त न हो रहा हो, तो उसे गाय का दूध (अधिक मात्रा में) पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। (२) पलाशफल का क्वाथ या चूर्ण (३ ग्राम) दूध के साथ दे और उसके बाद रोगी की शक्ति के अनुसार उसे यथेच्छ गरम दूध पिलायें। इस प्रयोग से उदर का सब मल बाहर निकल जाता है और अतिसार शान्त हो जाता है। अथवा (३) पलाशबीज के चूर्ण की तरह ही त्रायमाणा का चूर्ण गोदुग्ध से खिलाकर जितना पी सके उतना दूध पिलाने से उदर का शोधन होकर अतिसार रुक जाता है॥५८-६०॥

सांसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते। स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत्॥६१॥

अनुवासन-प्रयोग—यदि पूर्वोक्त प्रकार से विरेचन करने के बाद रोगी को जब संसर्जनक्रम से पथ्य दिया जा रहा हो, उस समय उसके उदर में शूल उठ रहा हो, तो शीघ्र ही दोषानुसार अनुवासनवस्ति देनी चाहिए॥६१॥

शतपुष्पावरीभ्यां च पयसा मधुकेन च। तैलपादं घृतं सिद्धं सबिल्वमनुवासनम्॥६२॥

शतपुष्पादि अनुवासन बस्ति—घृत का चौथाई तिल का तैल और दोनों के मिलित वजन से चौथाई सौंफ तथा शतावर का चूर्ण एवं चौगुने वजन में दूध डालकर घृत का पाक करे। तैयार होने पर उसमें बेलगिरि का पिसा कल्क उचित मात्रा में मिलाकर अनुवासनवस्ति दे॥६२॥

कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च। वर्तते यद्यतीसारः पिच्छाबस्तिरतः परम्॥६३॥

पिच्छाबस्ति का काल—यदि पित्तातिसार के रोगी को अनुवासन देने के बाद और संसर्जन क्रम (पेया-विलेपी-अकृतकृत यूष एवं मांसरस) से पथ्य देने के पश्चात् भी अतिसार बना ही रहे, तो उसे पिच्छावस्ति देनी चाहिए॥६३॥

परिवेष्टय कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः। कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद् गोमयाग्निना॥६४॥
सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः। श्रृते पयसि मृद्नीयादापोथ्योलूखले च तत्॥
पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः। स्नेहितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च॥६६॥
बस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात् प्रत्यागते ततः। स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा॥६७॥
पित्तातिसारज्वरशोथगुल्मजीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान्।
जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान् विरेचनास्थापनयोश्च बस्तिः॥६८॥

पिच्छाबस्ति—सेमर के गीले पुष्प या पत्र के गुच्छे लेकर उन्हें हरे कुशों के बीच रखकर फिर काली मिट्टी का लेप चढ़ाकर उस गोले को गोइठे की आग में बीच में रखकर पका ले। जब मिट्टी का लेप ठीक से सूख जाये, तो मिट्टी को हटाकर कुशों के बीच में रखे हुए सेमर के वृन्तों को निकाल ले और उन्हें खरल या ओखली में कूटकर उसमें से ९ मुष्टि (१ पल) लेकर १ प्रस्थ गरम दूध में डालकर मसल दे और फिर उस दूध को छान ले। पुनः उस दूध में रोगी के बल के अनुसार उचित मात्रा में तैल और घी एवं मुलहठी का कल्क मिलाकर रोगी का स्नेहन करने के पश्चात् उसकी गुदा में उक्त वस्ति को चढ़ाये। जब दी हुई वस्ति और मल बाहर निकल जाये, तो रोगी स्नान करके दूध-भात खा ले अथवा जंगली पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भात खा ले।

यह पिच्छाबस्ति प्रवृद्ध पित्तातिसार, ज्वर, शोथ, गुल्म, पुराना अतिसार, पुराना ग्रहणी रोग तथा विरेचन और आस्थापन के अतियोग से होनेवाले उपद्रवों को भी शान्त करती है॥६४-६८॥

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते। पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम्॥६९॥
कुर्याद्रक्तातिसारं तु रक्तमाशु प्रदूषयेत्। तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम्॥७०॥

रक्तातिसार का निदान और लक्षण—जो पित्तातिसार का रोगी उपर्युक्त चिकित्सा न करके उल्टे पित्तवर्धक अन्न-पान का सेवन करता है, उसका पित्त अधिक (विकृत) प्रबल होकर रक्त को दूषित कर रक्तातिसार रोग को उत्पन्न करता है।

लक्षण—पित्त रक्तातिसार के साथ प्यास, उदरशूल, जलन और कष्टप्रद गुदा का पाक कर देता है॥६९-७०॥

तत्र छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्। पानार्थं व्यञ्जनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा॥७१॥
ओदनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत्।

अजादुग्ध प्रयोग—रक्तातिसार के लक्षणों के प्रकट हो जाने के बाद पीने के लिए पेय पदार्थ के रूप में भोजन (भात आदि) के साथ व्यञ्जन के रूप में और शौच होने के बाद गुदा के धोने (आबदस्त) के लिए मधु और चीनी मिला हुआ ठण्डा बकरी का दूध प्रयोग में लाने का सर्वोत्तम पदार्थ है। भोजन में लाल अगहनी चावल का भात और मधु चीनी मिला कर ठण्डा किया हुआ बकरी का दूध पिलाना चाहिए॥७१॥

रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करैः॥७२॥
शशपक्षिमृगाणां च शीतानां धन्वचारिणाम्। रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत्तं सशर्करैः॥७३॥
रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते।

मांसरस प्रयोग—(१) रक्तातिसार के रोगी को कबूतर आदि पक्षियों के मांसरस को घी में छौंककर और उसमें चीनी मिलाकर उसके साथ लाल अगहनी चावल का भात खाने के लिए देना चाहिए। (२) जांगल प्रदेश में उत्पन्न शीतवीर्य खरहा तथा अन्य पशु-पक्षियों के मांसरस में घी-चीनी मिलाकर बिना कोई खटाई डाले, उसके साथ रक्तशालि चावल का भात खिलायें। अथवा (३) हरिण या बकरे के ताजे रक्त को घी में छौंककर सेवन कराना चाहिए॥७२-७३॥

काश्मर्यफलयूषो वा किञ्चिदम्लः सशर्करः ॥ ७४ ॥

फलयूष—रक्तातिसार के रोगी को गम्भार के फल के यूष में अनार का खट्टा रस मिलाकर चीनी के साथ पिलाना चाहिए॥ ७४॥

नीलोत्पलं मोचरसं समङ्गा पद्मकेशरम्। अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णे च पयसौदनम्॥ ७५॥
दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत्। प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम्॥ ७६॥

नीलोत्पलादि योग—नीलकमल, मोचरस, लज्जावन्ती और कमल की केशर को समान भाग लेकर चूर्ण करे। इसमें से ३ ग्राम की मात्रा लेकर बकरी के दूध के साथ रक्तातिसार वाले को खिलायें और औषध के पच जाने पर बकरी के दूध के साथ भात खिलायें। यदि रोगी दुर्बल हो, तो उसे औषध खिलाने के बाद ही बकरी के दूध से भात खिलाना चाहिए अथवा भोजन के पहले मधु-चीनी मिलाकर मक्खन खिलायें॥ ७५-७६॥

प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः। त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभुक् तथा॥ ७७॥

सद्यः फलपद्म मांसरस—(१) रक्तातिसार का जो रोगी गौरैया के मांसरस का ही आहार करता हुआ दूध से निकले हुए घी का दूध के साथ प्रयोग करता है, वह तीन दिन में आरोग्य प्राप्त कर लेता है। (२) इसी प्रकार केवल दुग्धाहार पर निर्भर रहनेवाला रक्तातिसार का जो रोगी दूध से निकले हुए घी को दूध के साथ पीता है, वह तीन दिन में रोगमुक्त हो जाता है॥ ७७॥

पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुग्जयेत्। रक्तातिसारः पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः॥ ७८॥

शतावरी-प्रयोग—(१) केवल दुग्धाहार करनेवाला रोगी शतावरी के (३ ग्राम) चूर्ण को दूध के साथ पीकर शीघ्र ही रोगमुक्त हो जाता है। अथवा (२) केवल दुग्धाहार करनेवाला रक्तातिसार का रोगी शतावरी के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किये गये घृत का सेवन कर रक्तातिसार रोग पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ ७८॥

घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः शृतम्। पेयं तस्यानुपातव्या पेया रक्तोपशान्तये॥ ७९॥

इन्द्रजौ का प्रयोग—इन्द्रजौ के कल्क से सिद्ध घृत को यवागू के मण्ड के साथ पीना चाहिए और उसके बाद रक्तातिसार को शान्त करने के लिए पेया का पान करना चाहिए॥ ७९॥

त्वक् च दारुहरिद्रायाः कुटजस्य फलानि च। पिप्पली शृङ्गबेरं च द्राक्षा कटुकरोहिणी॥ ८०॥
षड्भिरेतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम्। अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम्॥ ८१॥

दार्व्यादि घृत—दारुहल्दी की छाल, इन्द्रजौ, पीपर, सोंठ, मुनक्का और कुटकी—इन छः द्रव्यों के कल्क से विधिवत् घृतपाक करे। इस घृत का पेया-मण्ड आदि आहार पदार्थों के साथ सेवन करने से यह त्रिदोषज भयंकर अतिसार को भी शीघ्र ही शान्त कर देता है॥ ८०-८१॥

कृष्णमृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम्। पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसंग्रहणं परम्॥ ८२॥

रक्तसंग्राही योग—काली मिट्टी, मुलहठी, शङ्खभस्म, नागकेशर, इन सबको समान मात्रा में लेकर चूर्ण कर ले। २-३ ग्राम की मात्रा में चूर्ण लेकर मधु मिलाकर सेवन करे और अनुपान के रूप में चावल का धोवन सेवन करे या चूर्ण, मधु तथा तण्डुलोदक को मिलाकर पान करे। यह योग उत्तम रक्तसंग्राही होता है॥ ८२॥

पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः सक्षौद्रस्तण्डुलाम्भसा। रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः॥ ८३॥
कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः। आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति॥ ८४॥
पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्। यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम्॥ ८५॥
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्भसा। दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते॥ ८६॥

प्रियंगुकादि रक्तसंग्राहक योग—(१) जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ लाल अगहनी चावल का भात खानेवाला व्यक्ति प्रियंगु चूर्ण (३ ग्राम) को मधु और चावल के धोवन के साथ सेवन कर अपने रक्तातिसार रोग को जीत लेता है अर्थात् उससे छुटकारा पा जाता है। (२) काले तिल के चूर्ण (१० ग्राम) में पंचम भाग (२ ग्राम) चीनी मिलाकर बकरी के दूध के साथ सेवन करने से रक्तस्राव शीघ्र ही बन्द हो जाता है। (३) मांसरस के साथ भात का पथ्य लेनेवाला जो रोगी १ पल इन्द्रजौ का क्वाथ बनाकर पीता है, वह पैत्तिक अतिसार रोग से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। (४) श्वेत चन्दन को पत्थर पर घिसकर चीनी, मधु और चावल का धोवन मिलाकर पीने से रक्तातिसार का रोगी दाह, प्यास और प्रमेह तथा रक्तस्राव से मुक्त हो जाता है॥ ८३-८६॥

गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते। सेचयेत्तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना॥ ८७॥
पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैर्घृतैः। छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः॥ ८८॥

गुदाप्रक्षालन योग—(१) अनेक बार शौच जाने के कारण जिस रोगी की गुदा पित्त की उष्णता के कारण पक गयी हो, उसे परवर की पत्ती और मुलहठी के क्वाथ से गुदा का प्रक्षालन करना चाहिए। अथवा (२) पंचवल्कल (बर, पीपर, पाकड़, गूलर, बेंत) की छाल और महुए की छाल के क्वाथ से या गन्ने के रस से या गाय या बकरी के घी या दूध में मधु और चीनी मिलाकर गुदा का प्रक्षालन करना चाहिए॥ ८७-८८॥

प्रक्षालनानां कल्कैर्वा ससर्पिष्कैः प्रलेपयेत्। एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत्॥ ८९॥
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा समांशैः प्रतिसारयेत्। तथा स्रवति नो रक्तं गुदं तैः प्रतिसारितम्॥ ९०॥
पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति।

गुदा का प्रतिसारण एवं प्रलेप—(१) पूर्व के श्लोकों में गुदा के प्रक्षालनार्थ जो द्रव्य (परवर की पत्ती, मुलहठी, पंचवल्कल आदि) बतलाये गये हैं, उन्हीं द्रव्यों का कल्क बनाकर तथा उसमें घृत मिलाकर गुदा पर प्रलेप लगाना चाहिए अथवा उन्हीं द्रव्यों के सूखे चूर्ण को गुदा पर प्रतिसारण करना चाहिए (बुरकना चाहिए)। अथवा (२) धाय का फूल और पठानीलोध बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर गुदा के ऊपर बुरकना चाहिए। ऐसा करने से गुदा से रक्त का स्राव नहीं होता और गुदपाक अच्छा हो जाता है तथा वेदना भी शान्त हो जाती है॥ ८९-९०॥

यथोक्तैः सेचनैः शीतैः शोणितेऽतिस्रवत्यपि॥ ९१॥
गुदवङ्क्षणकट्यूरु सिञ्चयेद् घृतभावितम्। चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा॥ ९२॥
कार्पाससंगृहीतेन सेचयेद् गुदवङ्क्षणम्।

अतिरक्तस्राव में उपचार—यदि रक्तस्राव बहुत अधिक हो रहा हो, तो गुदा, वंक्षण, कटि और ऊरुप्रदेश पर घृत का आलेपन कर पहले बतलाये गये शीतल प्रक्षालन औषधों के जल से सींचना चाहिए अथवा (ज्वराधिकार में कथित) चन्दनादि तैल या शतधौत घृत को रूई के फाहे से गुदा आदि पर लगाना चाहिए॥ ९१-९२॥

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते॥ ९३॥
यदा वायुर्विबद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा। पिच्छाबस्तिं तदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत्॥ ९४॥
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिणा चानुवासयेत्।

पिच्छाबस्ति का प्रयोग—जब रक्तातिसार का रोगी शूल के साथ थोड़ी मात्रा में बार-बार रक्तमिश्रित शौच करता है और उसके पक्वाशय में अपानवायु अवरुद्ध हो या कठिनाई से कभी गतिमान् हो, कभी रुक जाये, तो उसे पहले (श्लोक ६४-६८ में) कही गई पिच्छावस्ति देनी चाहिए और पुण्डरिया काठ के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए॥ ९३-९४॥

प्राशयो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः। तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत्॥ ९५॥

गुदा में स्नेह एवं बस्ति-प्रयोग—अधिक दिनों तक अतिसार से पीड़ित रहनेवाले रोगियों की गुदा प्रायशः दुर्बल हो जाती है, इसलिए उनकी गुदा में निरन्तर घी या चन्दनादि तैल को फाहे से लगाना चाहिए॥ ९५॥

पवनोऽतिप्रवृत्तो हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम्। बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थे बस्तिरुत्तमः॥ ९६॥

बस्ति-प्रयोग से वातशमन—जब अतिसार में बार-बार शौच जाना पड़ता है, तो वायु अपने स्थान मलाशय में बहुत प्रबल हो जाती है, इसलिए पित्तसहित वायु के शमन के लिए अनुवासनबस्ति देना ही उत्तम चिकित्सा है॥ ९६॥

वक्तव्य—चक्रपाणि ने यहाँ बस्ति के किसी प्रकार का उल्लेख न होने से अनुवासन और निरुद्ध दोनों का ही ग्रहण किया है। युक्तिपूर्वक विचार करने पर यहाँ वायु तथा पित्त दोनों को शान्त करने के लिए घृतमिश्रित अनुवासनबस्ति का प्रयोग ही उत्तम उपचार मालूम होता है।

रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते। शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत्॥ ९७॥

शतावरीघृत-प्रयोग—रक्तातिसार के जिस रोगी को मल के साथ रक्त आता हो अथवा मलत्याग के पहले या बाद में रक्त आता हो, उसे अवलेह की तरह चाटने के लिए शतावरीघृत (चि. अ. ३०) का प्रयोग करना चाहिए॥ ९७॥

शर्कराधांशिकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम्। क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः॥ ९८॥

नवनीत प्रयोग—रक्तातिसार के रोगी को यदि मल के साथ या मलत्याग के आगे-पीछे रक्त आता हो, तो उसे हितकर आहार करते हुए ताजे निकाले हुए मक्खन में उसके आधे वजन में चीनी और चौथाई वजन में मधु मिलाकर खाना चाहिए। इससे शीघ्र ही रक्त का आना रुक जाता है॥ ९८॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत्। अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत्॥ ९९॥
तदर्धशर्करायुक्तं लिह्यात् सक्षौद्रपादिकम्। अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते॥ १००॥

रक्तस्राव में घृतप्रयोग—बर, गूलर और पीपर के नये पत्रांकुरों (ठूँसा) को लेकर कुचलकर गरम पानी में चौबीस घण्टे भिगो दें। फिर मसल कर पानी छान लें और उस जल से चतुर्थांश वजन में घी लेकर घृतपाक करे एवं तैयार होने पर सुरक्षित रख ले। उस घृत में से १ मात्रा (२० ग्राम) घी ले तथा उसकी आधी मात्रा में पानी और चौथाई मात्रा में मधु मिलाकर सेवन करे। इससे मलत्याग के पहले या बाद में होनेवाला रक्तस्राव ठीक हो जाता है॥ ९९-१००॥

यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात् पित्तलान्येव सेवते। दारुणं स वलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते॥ १०१॥

गुदवली का पाक—रक्तातिसार का जो रोगी दुर्बल होते हुए भी अज्ञानतावश पित्तवर्धक आहारों का ही सेवन करता है, वह भयंकर गुदवली पाक से पीड़ित होकर मृत्यु का ग्रास बन जाता है॥१०१॥

श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम्। योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः॥१०२॥
लङ्घितस्यानुपूर्व्या च कृतायां न निवर्तते। कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत्॥ १०३॥

कफज अतिसार का चिकित्सासूत्र—कफज अतिसार की चिकित्सा में सबसे पहले लंघन कराना चाहिए और पाचन औषधों का प्रयोग करना चाहिए। आमातिसारनाशक पूर्व (श्लोक ३०-३३ में) कथित दीपनीय गुण की औषधों का प्रयोग करना चाहिए। लंघन कराने के बाद क्रमशः पाचन एवं आमातिसारनाशक दीपन औषध का प्रयोग करने पर भी यदि कफज अतिसार निवृत्त न हो रहा हो, तो कफनाशक औषधों के प्रयोग से चिकित्सा करनी चाहिए॥ १०२-१०३॥

बिल्वं कर्कटिका मुस्तमभया विश्वभेषजम्। वचा विडङ्गं भूतीकं धान्यकं देवदारु च॥ १०४॥
कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी। पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली॥ १०५॥
योगाञ्छ्लोकार्धविहितांश्चतुरस्तान् प्रयोजयेत्। शृताञ्छ्लेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्धनान्॥

चार क्वाथयोग—आधे-आधे श्लोकों में जो चार योग बतलाये गये हैं, इन जठराग्नि के बल को बढ़ानेवाले क्वाथों का कफज अतिसाररोग में प्रयोग करना चाहिए। चार योग ये हैं—(१) बेलगिरि, काकड़ासींगी, नागरमोथा, हर्रे और सोंठ, (२) मीठा बच, वायविडंग, जवायन, धनिया और देवदारु, (३) कूठ, अतीस, पाठा, चाभ और कुटकी तथा (४) पीपर, पिपरामूल, चित्रकमूल और गजपीपर॥ १०४-१०६॥

अजाजीमसितां पाठां नागरं मरिचानि च। धातकीद्विगुणं दद्यान्मातुलुङ्गरसाप्लुतम्॥ १०७॥

अजाज्यादिचूर्ण—मंगरैला, पाठा, सोंठ, मरिच एक-एक भाग और धाय का फूल २ भाग लेकर चूर्ण बनाकर रख ले। २ ग्राम की मात्रा लेकर बिजौरा नीबू के रस में घोलकर पीना चाहिए॥ १०७॥

रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च। धातकीद्विगुणं दद्यात् पातुं सक्षौद्रनागरम्॥ १०८॥

रसाञ्जनादि चूर्ण—रसौंत, अतीस और इन्द्रजौ एक-एक भाग तथा धाय का फूल २ भाग लेकर चूर्ण बनायें। इसमें से २-२ ग्राम की मात्रा मधु और सोंठ का चूर्ण (१ ग्राम) मिलाकर घोलकर पीने को दे॥ १०८॥

धातकी नागरं बिल्वं लोध्रं पद्मस्य केशरम्। जम्बूत्वङ्नागरं धान्यं पाठा मोचरसो बला॥
समङ्गा धातकी बिल्वमध्यं जम्ब्वाम्रयोस्त्वचः। कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च॥
चाङ्गेरीकोलतक्राम्लांश्चतुरस्तान् कफोत्तरे। श्लोकार्धविहितान् दद्यात् सस्नेहलवणान् खडान्॥

चार खडयोग—(१) धाय का फूल, सोंठ, बेलगिरी, लोध और कमल की केशर, (२) जामुन की छाल, सोंठ, धनिया, पाठा, मोचरस और बरियार, (३) लज्जावन्ती, धाय का फूल, बेलगिरी, जामुन और आम की छाल तथा (४) कैथ, वायविडंग, सोंठ और मरिच—इन चारों योगों से निर्मित खड्यूषों को तिनपतिया, खट्टे बेर के क्वाथ और खट्टे मट्ठे से अम्ल बनाकर तथा उनमें घी एवं सेंधानमक मिलाकर कफज अतिसार में देना चाहिए॥ १०९-१११॥

कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषक्षौद्रशर्करम्। कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात्॥ ११२॥

कपित्थादि चूर्ण—(१) कैथ के फल का गूदा, सोंठ, मरिच और पीपर इन सबका समानभाग लेकर चूर्ण कर ले। इसकी २ ग्राम मात्रा लेकर घी और मधु मिलाकर सेवन करने से अतिसार रोग से छुटकारा हो जाता है। अथवा (२) कट्फल का चूर्ण (१ ग्राम) मधु मिलाकर खाने से अतिसार रोग से मुक्ति मिल जाती है॥ ११२॥

कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम्। जग्ध्वा वा बालबिल्वानि मुच्यते जठरामयात्॥
बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम्। लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः॥ ११४॥
भोज्यं मूलकषायेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः। वातातिसारविहितैर्यूषैर्मांसरसैः खडैः॥ ११५॥

पिप्पल्यादि योग एवं बिल्वप्रयोग—(१) पीपर के चूर्ण को मधु मिलाकर खाने से या (२) चित्रक के चूर्ण को मट्ठे में मिलाकर पीने से या (३) कच्चे बेलगिरी का चूर्ण खाने से उदररोग (अतिसार) अच्छा हो जाता है और उससे मुक्ति मिल जाती है।

(४) कफज अतिसार में जब अपानवायु अवरुद्ध हो, उदर में शूल हो और प्रवाहिका के लक्षण हों, तो कच्चे बेल की गिरी, गुड़, तिल का तैल, पीपर और सोंठ, इनका समभाग चूर्ण (मधु से) चाटना चाहिए। पथ्य में मूली के क्वाथ के साथ (यूष के साथ) वातनाशक व्यञ्जनों के साथ एवं वातातिसार में बतलाये गये यूष, मांसरस अथवा खडों के साथ लघु आहार देना चाहिए॥ ११३-११५॥

पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम्। पुराणं वा घृतं दद्याद् यवागूमण्डमिश्रितम्॥ ११६॥

घृतयोग—अथवा कफज अतिसार में वायु की रुकावट, शूल और प्रवाहिका होने पर पूर्वकथित अम्लघृत (चांगेरीघृत) अथवा षट्पलघृत (उदररोगचिकित्सा श्लोक ११२-११४ में पञ्चकोल नाम से वर्णित) अथवा दश वर्ष का पुराना घी रोगी के बल के अनुसार उचित मात्रा में यवागू के मण्ड में मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए॥ ११६॥

वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि। शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छाबस्तिं प्रयोजयेत्॥
पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि। कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत्॥ ११८॥
प्रत्यागते सुखं स्नातं कृताहारं दिनात्यये। बिल्वेतैलेन मतिमान्सुखोष्णेनानुवासयेत्॥ ११९॥
वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत्। बहुशः कफवातार्तस्तथा स लभते सुखम्॥ १२०॥

पिच्छावस्ति—(१) कफज अतिसार में जब वायु और कफ दोनों रुके हुए हों अथवा मल के साथ कफ अधिक मात्रा में निकल रहा हो, उदर में शूल हो या प्रवाहिका हो, तो पूर्व (श्लोक ६४-६७ में) कथित पिच्छावस्ति का प्रयोग करना चाहिए। (२) कफज अतिसार में वात-कफ के विबन्ध, उदरशूल, अधिक कफस्राव या प्रवाहिका होने पर पीपर, बेलगिरी, कूठ, सौंफ और मीठे वच का चूर्ण तथा सेंधानमक मिलाकर पिच्छावस्ति देनी चाहिए।

अनुवासनवस्ति—(३) पूर्व में दिये गये निर्देश के अनुसार पिच्छावस्ति का प्रयोग करने के बाद जब दी हुई वस्ति बिना उपद्रव के बाहर निकल जाय, तो रोगी को स्नान कराकर भोजन करायें और सायंकाल बिल्वतैल (सिद्धि० अ० ४।४-७) को हल्का गरम करके उसकी अनुवासनवस्ति दे। अथवा (४) जब अतिसार का रोगी कफ और वात से अधिक कष्ट का अनुभव कर रहा हो, तो उसे पूर्व कथित वचान्त (पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि) औषधों के कल्क से पकाये हुए तिल-तैल की बार-बार अनुवासनवस्ति देनी चाहिए॥ ११७-१२०॥

स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसंक्षये। स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत्॥ १२१॥

प्रवृद्ध वायु त्वरित चिकित्स्य—कफनाशक चिकित्सा करने से कफ का क्षय हो जाता है, जिससे रूक्षता बढ़ जाती है और अपने स्थान (पक्वाशय) में वायु अवश्यमेव बढ़ जाता है। बढ़ा हुआ वायु अचानक मारक हो सकता है, इसलिए शीघ्रतापूर्वक वात पर विजय प्राप्त करनी चाहिए॥ १२१॥

वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफम्। त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः॥ १२२॥

सन्निपातज अतिसार का चिकित्सासूत्र—सम त्रिदोषज अतिसार में सबसे पहले वायु की चिकित्सा करनी चाहिए। उसके बाद पित्त की चिकित्सा करनी चाहिए और पित्त के बाद कफ की चिकित्सा करनी चाहिए। विषम त्रिदोषज अतिसार में वात-पित्त-कफ में जो सबसे अधिक प्रकुपित एवं बलवान् हो, उसकी चिकित्सा सबसे पहले करनी चाहिए॥ १२२॥

वक्तव्य—पहले चिकित्सास्थान अध्याय तीन में सन्निपात ज्वर की चिकित्सा में 'कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्' यह कहा गया है और कफ-पित्त-वात के क्रम से चिकित्सा करने का विधान किया गया है; इसलिए यहाँ यह आशंका होती है कि क्या अतिसार में भी वही क्रम लागू होगा? जिसके समाधान के लिए इस सूत्र का सूत्रपात हुआ है। अतः समानरूपेण तीनों दोष प्रकुपित हों, तो वात-पित्त-कफ के क्रम से चिकित्सा करनी चाहिए। यदि विषम रूप से वृद्ध, वृद्धतर और वृद्धतम रूप से दोषों का प्रकोप हो तो जो दोष वृद्धतम हो सर्वप्रथम उसकी चिकित्सा करे, फिर वृद्धतर की, तब वृद्ध दोष की चिकित्सा करे। यह क्रम निराम सन्निपात अतिसार के लिए कहा गया समझना चाहिए। यदि साम सन्निपातातिसार रोग हो, तो सबसे पहले आम की ही चिकित्सा करनी चाहिए।

तत्र श्लोक—

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि लक्षणं साध्यता न च। क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निर्दिष्टा ह्यतिसारिणाम्॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थानेऽतीसार चिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'अतिसारचिकित्सित' नामक अध्याय में अतिसार रोग की पहली उत्पत्ति के कारण, अतिसार के लक्षण, उसकी साध्यासाध्यता और आवस्थिकी चिकित्सा के सफल प्रयोगों का निर्देश किया गया है॥ १२३॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'अतिसार-चिकित्सित' नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १९॥

अतिसार चिकित्साक्रम बोधक-सारणी

आगन्तुज अतिसार चिकित्सा		
उपचार	**औषध**	**पथ्य**
चिकित्सासूत्र—भयज और शोकज ये दो आगन्तुज अतिसार हैं। इनमें वायु का प्रकोप होता है। अतः वात-नाशक उपचार करना चाहिए। भयज में आश्वासन और शोकज में हर्षण उपाय करें। विस्मापन एवं विस्मारण करें। **सामान्य चिकित्सा**—विदग्ध आहार से कुपित दोष संचित होकर अतिसार उत्पन्न करते हैं। अतः संशोधन से दोषों को निकालें।	दीपन, पाचन, मधुर, अम्ल, लवणरस-प्रधान औषध एवं आहार। आसव, सुरापान। स्नेहन-स्वेदन, मृदु संशोधन।	रुचिकर एवं वातनाशक मधुर-अम्ल-लवणरसप्रधान भोजन दें। मूँग और पुराने चावल की खिचड़ी, घी-नीबू डालकर खिलायें।

आमातिसार चिकित्सा		
उपचार	**औषध**	**पथ्य**
आमातिसार—आम एवं पक्व का विचार करें। आमावस्था में संग्राही औषध नहीं देनी चाहिए। **प्रवाहिका में**—कच्चे बेल की गिरी के बराबर काला तिल का कल्क लेकर खट्टी दही की मलाई मिलाकर खडयूष बनाकर सेवन करें। अथवा जौ, मूँग, उड़द, अगहनी चावल, तिल, खट्टी बेर और कच्चा बेल लेकर धान्ययूष बनाकर उसे घी-तैल से छौंक कर दही एवं अनार का रस मिलाकर प्रयोग करें।	**हरीतकी प्रयोग**—अल्प मल कठिनाई से निकले तो हरीतकी चूर्ण देना चाहिए। **दीपन-पाचनगण**—शालिपर्णी आदि लघु पंचमूल, पाठा, सोंठ, धनिया, कचूर, पलाश आदि, घी में भुनी हींग, विडनमक और सेंधानमक आदि द्रव्यों को अलग-अलग या एकत्र कर स्वतन्त्र या भोजन आदि में मिलाकर सेवन करें। यह दीपन-पाचनगण वातकफनाशक, ग्राही, बलप्रद और रुचिकारक होता है। दही की मलाई को घी-तैल में भूनकर गुड़ और सोंठ मिलाकर	दीपन-पाचन औषध सिद्ध जल में पकाई गयी प्रमथ्या दें। इसके लिए पिप्पल्यादि, ह्रीबेरादि एवं पृश्निपर्ण्यादि योगों से सिद्ध जल में प्रमथ्या बनायें। बच, अतीस, मोथा, पित्तपापड़ा, सुगन्धबाला और सोंठ डालकर षडंग परिभाषा के अनुसार पकाया हुआ जल दें। लघु अन्न दें। तक्र, काँजी, यवागू, सत्तू के घोल, सुरा और मधु के साथ हल्का अन्न खिलायें।

आमातिसार चिकित्सा		
उपचार	**औषध**	**पथ्य**
अतिसार के शमनार्थ—खडयूष, धान्ययूष, दही की मलाई और सुरा का प्रयोग करना चाहिए। फलाम्ल दें। मांसरस को स्निग्ध बनाकर अनार का रस डालकर दें। पुरीष के क्षय में भेंड़ के मांस एवं रक्त का प्रयोग करें। **गुदभ्रंश में**—अम्लसर्पिका पान करायें और उसी से अनुवासनवस्ति दें। 'दशमूलादि-वस्ति' का अनुवासन दें। गुद को स्नेहन-स्वेदन करके यथास्थान स्थापित करें। **विबन्ध में**—भरपेट दूध पीने को दें। घी-तैल समभाग पीकर धारोष्ण दूध पीना चाहिए।	खिलायें। या सुरा में घी-तैल की छौंक लगाकर, गुड़-सोंठ का चूर्ण मिलाकर दें। अथवा अनार आदि खट्टे फलों के रस को घी में छौंककर या गाजर के रस को घी में भूनकर दें। मांस खाने वाले को लोमड़ी के मांसरस में अनार का खट्टा रस मिलाकर या कछुए के मांसरस को घी में भूनकर अनाररस से खट्टा कर सेवन करायें। तीतर, मुर्गा या बटेर के मांसरस में घी एवं अनार का रस डालकर दें। **पुरीष क्षय में**—भेंड़ के मध्य शरीर के मांसरस को कपड़े से छानकर उसमें भेंड़ का रक्त मिलाकर खट्टे अनार के रस, धनिया, सोंठ और घी के साथ पका लें, उसी के साथ भात खिलायें। **घृत**—चांगेरी घृत के पीने से गुदभ्रंश की पीड़ा शान्त होती है। इसी तरह चव्यादिघृत भी पीना चाहिए।	दीपन और ग्राहक द्रव्यों से युक्त यवागू-विलेपी खडयूष और मांसरस के साथ भात दे।

पित्तातिसार चिकित्सा		
उपचार	**औषध**	**पथ्य**
पित्तातिसार में आमदोष का सम्बन्ध हो तो रोगी के बल के अनुसार लंघन करायें और पाचन औषधों का प्रयोग करें। प्यास की अधिकता में मुस्तादि योग सिद्ध जल पिलायें।	**तृषा में**—नागरमोथा, पित्त-पापड़ा, खस, सारिवा, चन्दन, चिरैता और सुगन्धबाला से सिद्ध जल पीने को दें। भोजन पकाने के लिए बरियार गंगेरन, सूर्पपर्णी, सरिवन, पिठवन,	रोगी की रुचि एवं उसके सात्म्य के अनुसार यवागू, मण्ड एवं तर्पण आदि पथ्य दें। अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए—मूँग, मसूर, मटर,

पित्तातिसार चिकित्सा		
उपचार	औषध	पथ्य
यदि पित्तातिसार अधिक दिनों तक रह जाये तो दीपन, पाचन, उपशमन तथा संग्राही औषधों का प्रयोग करना चाहिए। अतिसारघ्न योगों का प्रयोग करें और औषध के पच जाने पर संग्राहक योगों से सिद्ध मांसरस के साथ भात खिलायें। **बुध्न**—प्रदीप्त जठराग्निवाले रोगी को बकरी का दूध पीने को दे। **दीप्ताग्नि, बलवान् एवं बहुदोष** अतिसारवाले को गोदुग्ध पिलाकर विरेचन करायें। **अनुवासन**—अनुवासनवस्ति दे। फिर संसर्जन क्रम से पथ्य दे। **पिच्छावस्ति**—यदि अनुवासन एवं संसर्जन के बाद रोग न ठीक हो तो पिच्छावस्ति दे।	छोटी-बड़ी कटेरी, शतावर और गोखरू के क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए। अतिविषादि योग का प्रयोग पित्तातिसार का शामक है। अतीस, इन्द्रजौ और कोरया की छाल का चूर्ण मधु से देकर तण्डुलोदक पिलाना चाहिए। अतिसारनाशक योगों का चूर्ण मधु एवं तण्डुलोदक से दें। जैसे–१. किराततिक्तादि, २. बिल्वादि, ३. चन्दनादि, ४. तिलादि, ५. उत्पलादि और ६. कट्फलादि। पलाश बीज के क्वाथ में या त्रायमाणा के क्वाथ में गोदुग्ध पिलाकर विरेचन करायें। **शतपुष्पादि अनुवासनवस्ति**—सौंफ, शतावर, मुलहठी एवं बेलगिरी का कल्क तैल-घी दूध के साथ पकाकर वस्ति दे। **पिच्छावस्ति**–सेमर के नये पत्रांकुरों को कूटकर लुगदी बना, कुशों में बाँधकर पुटपाकविधि से पकाकर, फिर कूटकर-मसलकर रस निकालकर, रोगी के बल के अनुसार घी-तैल, मुलहठी का कल्क मिलाकर स्नेहन कराकर वस्ति दे।	मोठ और अरहर का यूष दें। मांसार्थी रोगी को बटेर, गौरैया, खरहा, हरिण कृष्णमृग अथवा काली पूँछ वाले मृग का मांस अनार के रस से खट्टाकर खिलायें। विरेचन के बाद या अनुवासन वस्ति देने के बाद संसर्जन क्रम से पथ्य दें–पहले पेया, फिर विलेपी, अकृत यूष, कृतयूष, अकृत मांसरस, कृत मांसरस दें। पिच्छावस्ति देने के बाद रोगी को दी गयी वस्ति जब लौट आये, तब स्नान कराकर दूध-भात खिलायें अथवा जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भात खिलायें।

रक्तातिसार चिकित्सा		
उपचार	औषध	पथ्य
अजाक्षीर–रोगी को पीने, खाने और गुदप्रक्षालन में मधु-चीनीयुक्त शीतल बकरी के दूध का प्रयोग करायें। **मांसरस**–कबूतर, खरहा तथा अन्य जांगल शीतवीर्य पशु-पक्षियों का मांसरस घी-चीनी मिलाकर भात के साथ दे। भोजन के पूर्व मक्खन में मधु-चीनी मिलाकर दें। नित्य गौरैया का मांस खाने वाला या नित्य बकरी का दूध पीने वाला व्यक्ति दूध से निकले घी को दूध के साथ पीकर ३ दिन में रक्तातिसार से मुक्त हो जाता है। इन्द्रजौ का क्वाथ पीने और जांगल पशु-पक्षियों के मांस का आहार लेने से अतिसार शीघ्र शान्त हो जाता है। श्वेत चन्दन को घिसकर मधु-चीनी मिलाकर तण्डुलोदक से सेवन करे। **गुदपाक होने पर**–पटोलपत्र और मुलहठी के ठण्डे क्वाथ से गुद-प्रक्षालन करें। पञ्चवल्कलादि क्वाथ, गन्ने के रस या बकरी या गाय के दूध में मधु-चीनी मिलाकर गुदा का प्रक्षालन करें। **प्रलेप**–प्रक्षालन द्रव्यों के कल्क में घी मिलाकर प्रलेप करें। प्रतिसारणार्थ-धाय के फूल और लोध के चूर्ण का प्रयोग करें। परिसेचन–चन्दनादि तैल या शतधौत घृत का सेचन करे। शूल के साथ अल्प मल निकलने पर पिच्छावस्ति दे। गुदा में घी-तैल प्रतिदिन लगायें। वातशमनार्थ अनुवासनवस्ति दें।	**रक्त प्रयोग**–हरिण या बकरे के ताजे रक्त को घी में भूनकर खिलायें। अथवा गम्भार के फल के यूष में खट्टे अनार का रस और चीनी मिलाकर खिलाना चाहिए। **नीलोत्पलादि योग** का कल्क बकरी के दूध से दे और औषध पच जाने पर बकरी के दूध से भात खिलायें। दुर्बल रोगी हो तो उक्त कल्क को बकरी के दूध के साथ पिलाकर शीघ्र ही बकरी के दूध से भात खिलावें। **शतावर** के कल्क को दूध से या शतावरी क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध घृत को पीकर केवल दूध के आहार पर निर्भर रोगी शीघ्र ही नीरोग हो जाता है। **दार्व्यादि घृत**–इसे पेया, मण्ड आदि के साथ पीने से त्रिदोषज अतिसार शान्त होता है। **कृष्णमृत्तिकादि योग**–यह उत्तम रक्तसंग्राही है। प्रियंगु चूर्ण मधु एवं तण्डुलोदक से दें। काले तिल का कल्क चीनी मिलाकर बकरी के दूध से पीने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। मल के साथ या आगे-पीछे रक्त आने पर शतावरी घृत का सेवन करे। **न्यग्रोधादि घृत**–इसके सेवन से शौच के पूर्व या बाद का रक्तस्राव बन्द हो जाता है।	तृष्णा अदि से पीड़ित रक्तातिसार रोगी को पानार्थ मधु-चीनी मिलाकर ठण्डा बकरी का दूध दे और उसी के साथ भात दे या कबूतर आदि का मांसरस घी से छौंककर चीनी मिलाकर भात के साथ खिलायें। खरहा या शीतवीर्य जांगल जीवों का मांसरस घी-चीनी-अनार का रस अल्प मात्रा में मिलाकर भात से खिलायें। पेया—इन्द्रजौ के कल्क से सिद्ध गोघृत को यवागू मण्ड के साथ पीने के बाद पेया का पान करना चाहिए।

कफज अतिसार चिकित्सा		
उपचार	**औषध**	**पथ्य**
कफज अतिसार में—लंघन और पाचन श्रेष्ठ उपचार हैं। कफज अतिसार में वायु का मार्ग रुक जाने पर शूल और प्रवाहिका रोग हो तो कच्चा बेल, गुड़, तैल और सोंठ समभाग मिलाकर दे एवं वातहर औषध सिद्ध मूली का यूष दे तथा वातहर मांसरस खड आदि देना चाहिए। यदि वात और कफ का विबन्ध हो या शूल तथा प्रवाहिका हो तो पिच्छावस्ति में पीपर, बेल की गुद्दी, कूठ, सौंफ, मीठाबच और सेंधानमक मिलाकर दे, उसके बाद अनुवासनवस्ति दे। यदि वायु बढ़ा हो तो शीघ्रता से उसका उपचार करे।	कफज अतिसार नाशक ४ क्वाथ—१. बेल, काकड़ासींगी, नागरमोथा, हर्रे, सोंठ। २. वच, विडंग, जवायन, धनिया, देवदारु। ३. कूठ, अतीस, पाठा, चव्य, कुटकी। ४. पीपर, पिपरामूल, चित्रक, गजपीपर। अजाज्यादि चूर्ण विजौरा नीबू के रस से एवं रसाञ्जन चूर्ण मधु-सोंठ के साथ ३-३ ग्राम दे। चांगेरी रस, खट्टे बेर एवं खट्टी दही में भावना देकर अतिसारनाशक चूर्णों को दे। जैसे–१. धातक्यादि, २. जम्बूत्वगादि, ३. समङ्गादि एवं ४. कपित्थादि योग। कपित्थादि चूर्ण, पिप्पल्यादि योग मधु से ३-३ ग्राम दे।	वात-कफ-नाशक आहार-विहार एवं अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिए।

सन्निपातातिसार

सम सन्निपातज अतिसार में सबसे पहले वात की चिकित्सा करें, फिर पित्त की, फिर कफ की। विषम सन्निपातज अतिसार में वृद्धतम, वृद्धतर एवं वृद्ध दोष की क्रमशः चिकित्सा करें।

अथ विंशोऽध्यायः

अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'छर्दिचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—अतिसार रोग का वर्णन करने के बाद छर्दिरोग का वर्णन करने का सम्बन्ध (तारतम्य) यह है कि देह में दो मुख्य मार्ग हैं—ऊपर में मुख और नीचे में गुद। पहले अधोमार्ग के रोग का वर्णन किया गया है, अतः उसके पश्चात् ऊर्ध्वमार्ग के रोग 'छर्दि' का वर्णन करना उचित है।

निरुक्ति—''छादयति मुखम्, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दिः, 'छद अपवारणे', 'अर्दीहिंसायाम्' अनयोः पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः'' (मधुकोष टीका)।

सुश्रुताचार्य ने छर्दि की निरुक्ति बहुत स्पष्ट कही है—'स्वप्रकोपक कारणों से उत्क्लेशित होकर अपने वेग से मुख को आच्छादित करता हुआ, अंग-प्रत्यङ्ग को पीड़ित करता हुआ मुखमार्ग से बाहर निकलने वाला दोष छर्दि कहलाता है[१]।'

यशस्विनं ब्रह्मतपोद्युतिभ्यां ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम्।
पुनर्वसुं भूतहिते निविष्टं पप्रच्छ शिष्योऽत्रिजमग्निवेशः ॥ ३ ॥
याश्छर्दयः पञ्च पुरा त्वयोक्ता रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठ!
तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां यथावदाचक्ष्व नृणां हितार्थम् ॥ ४ ॥

अग्निवेश के प्रश्न—शिष्य अग्निवेश ने यशस्वी, ब्रह्मज्ञान तथा तपश्चरण के प्रभाव से (तेज से) अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी एवं प्राणियों के हित में संलग्न रहने वाले आत्रेय पुनर्वसु से यह प्रश्न किया—हे वैद्यप्रवर! आपने पहले (सूत्रस्थान अध्याय १९, अष्टोदरीय) जिन पाँच प्रकार की छर्दियों को कहा है, मनुष्यों के कल्याण के लिए, उनको निदान, लक्षण और चिकित्सासहित यथावत् बतलाइये ॥ ३-४ ॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य प्रीतो भिषक् श्रेष्ठ इदं जगाद।
याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्तास्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध ॥ ५ ॥
दोषैः पृथक्त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्।

पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर—अग्निवेश के प्रश्न को सुनकर श्रेष्ठतम वैद्य आत्रे पुनर्वसु प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि जिन पाँच छर्दियों को मैंने पहले कहा है, अब मैं उन्हें विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, उसे हृदयङ्गम कीजिये।

१. 'छादयन्माननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः। निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ (सु. उ. ४९।६)

छर्दि के भेद—तीनों दोषों से अलग-अलग छर्दि के तीन भेद और तीनों दोषों से मिलकर एक तथा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के अप्रिय संयोग से पाँचवीं प्रकार की छर्दि होती है[1] ॥ ५ ॥

वक्तव्य—

छर्दि के भेद

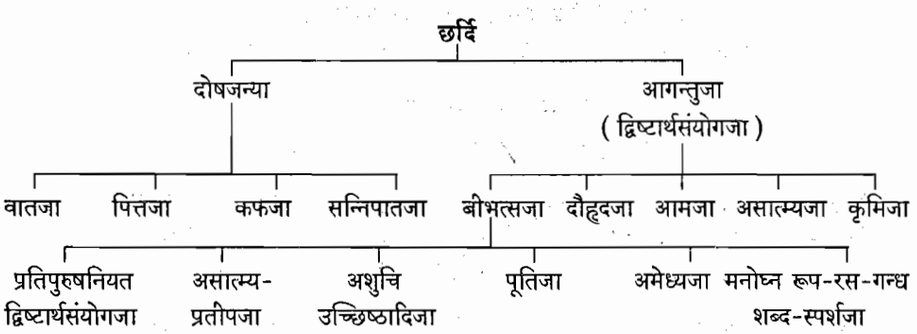

विकृत उदानवायु से प्रेरित विदग्ध कफ और पित्त तथा दुष्ट आमाशयिक पदार्थ का मुखमार्ग से बाहर निकलना 'छर्दि' कहलाता है। 'छर्दि' शब्द छद् और अर्द के संयोग से बना है—छद् का अर्थ ढकना है (छद् अपवारणे) और अर्द का अर्थ पीड़ित करना है (अर्द हिंसायाम्)। आमाशय से निकलने वाला पदार्थ मुख को भर देता है एवं आमाशय आदि अवयवों के साथ समस्त शरीर में वेदना उत्पन्न करता है, इसीलिए इसे 'छर्दि' कहते हैं।

छर्दि की नव्य चिकित्साविज्ञान की परिभाषा भी इससे मेल खाती है—"Vomiting is forcible expulsion of the gastric content through the oesophagus and mouth."

अर्थात् अन्ननलिका एवं मुख द्वारा आमाशयिक पदार्थों के वेगपूर्वक निकलने की क्रिया को छर्दि कहते हैं।

पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान में छर्दि को मूलतः तीन भेदों में विभाजित किया गया है—१. केन्द्रज वमन (Central Vomiting), २. प्रतिवर्तज वमन (Reflex Vomiting), ३. विषज वमन (Toxic Vomiting)।

---

1. By vomiting is meant a forceful expulsion of stomach contents through the mouth, as the result of increased intra-abdominal pressure, produced by abdominal and diaphragmatic contractions. The act of vomiting is frequently preceded or accompanied by nausea or a peculiar feeling of impending vomiting, usually experienced in the throat or epigastrium.

Due to a sudden rise of intra-abdominal pressure, secondary to simultaneous, vigorous and rhythmic contraction of the diaphragm and abdominal muscles, the gastrointestinal contents are forcefully expelled through the mouth, in vomiting. The act of vomiting is highly complex and involves descent and the contraction of the diaphragm, spasm of abdominal muscles, pyloric spasm, with relaxation of the cardia, forward and upward movement of the larynx and hyoid bone, elevation of the soft palate, closure of glottis and rise of intra-abdominal and intrapulmonary pressures. —Clinical Diagnosis Reprinted 1977 Page. 58

१. केन्द्रज वमन (Central Vomiting)—१. यह मस्तिष्कगत वामक केन्द्र की उत्तेजना होने से होती है। जब असहिष्णु व्यक्ति भय, घृणा, उद्वेग आदि से प्रभावित होता है तब वामक केन्द्र के उत्तेजित होने से केन्द्रीय छर्दि होती है। मस्तिष्क में ट्यूमर (Cerebral tumour) एवं मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) जैसे रोगों में शीर्षान्तरीय निपीड (Intra-cranial pressure) के बढ़ने से वामक केन्द्र की उत्तेजना होने से केन्द्रीय छर्दि हो सकती है। इसमें शिरोवेदना होती है, किन्तु अन्य छर्दियों के समान छर्दि के पहले मिचली और उदरशूल इसमें नहीं होते।

२. प्रतिवर्तज वमन (Reflex Vomiting)—यह भोजन में अतिद्रव, अतिस्निग्ध, अहृद्य और असात्म्य पदार्थों के आमाशय में जाकर क्षोभ उत्पन्न करने से तथा आमाशय के तनाव से एवं विकृत खाद्य पदार्थ और विभिन्न विषयुक्त पदार्थों के सेवन से प्रत्यावर्तन क्रियाजन्य छर्दि है।

३. विषज वमन (Toxic Vomiting)—नमक-जल, तूतिया, कसीस, ताम्र आदि प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वामक केन्द्र को उत्तेजित करते हैं तथा इनका वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव भी होता है।

छर्दि रोग में वायु ऊर्ध्वगति हो जाता है और उसका अनुलोमन नहीं होता है। इसमें उदानवायु का विकार प्रमुख है।

कतिपय प्रकार के वमन जैसे—समुद्रयात्रा करने, हवाई यात्रा करने तथा अनभ्यस्त रेल, बस आदि से यात्रा करने से होने वाले वमन को आगन्तुज वमन के भेद में समाहित समझना चाहिए।

पाश्चात्य मतानुसार कारण समीक्षा

Causes : Vomiting may be toxic, reflex, central or of structive in origin. The important causes of vomiting and nausea are :

1. Gastrointestinal Causes—Gastritis, cholecystitis, cirrhosis of liver, carcinoma of stomach, intestinal obstruction, virus hepatitis, hyloric stenosis, pancreatitis.

2. Poisons—Food poisoning, alcoholism, uraemia.

3. Drugs—Digitalis, opium or morphia, anaesthetics, emetics, oestrogen, xanthines, antibiotics.

4. Reflex Causes—Migraine, ear disease, severe pain, Meniere's disease, sea or air sickness, colicky pains, labyrinthitis.

5. Systemic Disorder—Fevers, uraemia, pregnancy, congestive heart failure.

6. Psychic Causes—Unpleasant smells, tastes, fear, disgust or tragic sights, hysteria, neurasthenia.

7. Neurological Causes—Cerebral tumour, meningitis, migraine, tabetic crisis.

8. Endocrine Causes—Addison's disease, hyperparathyroidism, thyrotoxicosis.

(Clinical Diagnosis, Reprinted 1977, Page 58-59)

तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ॥ ६ ॥

छर्दि का पूर्वरूप—मिचली आना (हृदय में उत्क्लेश), मुख से पानी आते रहना और भोजन को देखकर उससे द्वेष या घृणा होना—ये लक्षण छर्दि के पूर्वरूप के होते हैं ॥ ६ ॥

व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्शितस्य ।
वायुर्महास्रोतसि सम्प्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन्॥ ७॥
आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत्तु।

वातज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति—व्यायाम (श्रमजनक कार्य), तीक्ष्ण औषध (कासीस आदि), शोक, रोग, भय और उपवास आदि के कारण अतिकृश हुए व्यक्ति का वायु प्रकुपित हो जाता है तथा वह महास्रोत में स्थानसंश्रय करके वहाँ से दोषों को उभाड़कर ऊपर की ओर फेंकता हुआ, आमाशय में मिचली उत्पन्न कर हृदय आदि मर्म स्थानों को अपने वेग से पीड़ित करता हुआ छर्दि रोग को उत्पन्न करता है॥ ७॥

सम्प्राप्ति—

व्यायाम आदि कारण → महास्रोत के वायु की विकृति → आमाशयस्थ दोषों का उत्क्लेश
छर्दि रोग ← अंगों में उत्पीड़न तथा मुख का आच्छादन ←

दोष : वायु।
दूष्य : अन्न, रस।
अधिष्ठान : (१) अन्नवह स्रोत (२) मनोवह स्रोत।

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्धनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ॥ ८॥
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम्।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम्॥ ९॥

वातज छर्दि का लक्षण—वात के प्रकोप से उत्पन्न छर्दि रोग में रोगी बहुत कष्ट के साथ प्रबल वेगयुक्त होकर बड़ी कठिनाई से अल्पमात्रा में वमन कर पाता है, जो झागदार, टुकड़ा-टुकड़ा, काले वर्ण का, पतला और कसैला होता है। रोगी के हृदय एवं पसली में पीड़ा होती है, उसका मुँह सूखता है, शिर और नाभि में वेदना होती है, खाँसी आती है, गला बैठ जाता है, शरीर के अंगों में सूई चुभाने जैसी पीड़ा होती है और वमन के साथ ऊँचे शब्द के साथ डकारें आती हैं॥ ८-९॥

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्।
रसायनीभिर्विसृतं प्रपीड्य मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति॥ १०॥

पित्तज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति—अजीर्ण रहने पर भोजन करने से और कटु-अम्ल-विदाही एवं उष्ण पदार्थों का अधिक सेवन करने से आमाशय में पित्त की अधिकता हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप वह प्रबल वेग के साथ रसायनियों में फैल जाता है और ऊपर आकर मर्म (हृदय) को पीड़ित करता हुआ वमन रोग को उत्पन्न करता है॥ १०॥

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः ।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत् सदाहम्॥ ११॥

पित्तज छर्दि का लक्षण—रोगी पित्त के प्रकोप से उत्पन्न वमन में पीला, अति उष्ण या हरा, तिक्तरसयुक्त, धूमिल वर्ण का वमन करता है, जिसमें जलन होने से रोगी को मूर्च्छा होती है, प्यास लगती है, मुँह सूखता है, शिर-तालु और आँखों में जलन होती है, आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और चक्कर आने से रोगी कष्ट का अनुभव करता है॥ ११॥

स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः।
उरः शिरो मर्म रसायनीश्च सर्वाः समावृत्य वमिं करोति॥ १२॥

कफज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति—स्निग्ध, बहुत भारी, कच्चा और जलन पैदा करने वाले आहारों के सेवन से, दिन में सोने से तथा अन्य कफवर्धक कारणों के सेवन से कफ की अतिवृद्धि हो जाती है, जिससे वह प्रवृद्ध कफ उरःस्थल, शिर, मर्म (हृदय) और रसायनियों में व्याप्त होकर वमन रोग को उत्पन्न करता है॥ १२॥

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्तः ।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद् विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु॥ १३॥

कफज छर्दि का लक्षण—कफज छर्दि रोग में रोगी रोमाञ्चित होकर चिकना, घना, मधुर रसयुक्त, विशुद्ध कफ का वमन करता है, जिसमें उसे कम पीड़ा होती हैं। रोगी को तन्द्रा घेरे रहती है, मुख मीठा बना रहता है, कफ थूकता रहता है, बिना खाये सन्तोष (पेट भरा होने का एहसास) मालूम होता है, निद्रा अधिक आती है, भोजन में रुचि नहीं होती और देह में भारीपन होने से कष्ट होता है॥ १३॥

समश्नतः सर्वरसान् प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च।
सर्वे प्रकोपं युगपत् प्रपन्नाश्छर्दिं त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः॥ १४॥

सन्निपातज छर्दि का निदान और सम्प्राप्ति—जो व्यक्ति पथ्य-अपथ्य का विचार न कर सभी रसों का निरन्तर सेवन करते हैं, उनके आमदोष से और ऋतुओं की विपरीतता से सभी दोष (वात-पित्त-कफ) एक साथ ही प्रकुपित होकर त्रिदोषज वमन रोग को उत्पन्न करते हैं॥ १४॥

शूलविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात्॥ १५॥

सन्निपातज छर्दि का लक्षण—तीनों दोषों के प्रकोप से पीड़ित जो रोगी वमन करते हैं उनके वमन से नमकीन, खट्टा, नीला, गाढ़ा और रक्तमिश्रित पदार्थ निकलता है। रोगी के उदर में शूल, भोजन का न पचना, अरुचि, दाह, तृष्णा, श्वासाधिक्य और प्रबल मूर्च्छा होना, ये सब लक्षण होते हैं॥ १५॥

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात्॥ १६॥
विण्मूत्रयोस्तत् समवर्णगन्धं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात् तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति॥ १७॥

घातक छर्दि का लक्षण—प्रकुपित वायु मल, स्वेद, मूत्र और जल को वहन करने वाले स्रोतों को रोककर ऊपर को उठती है, तब जिन व्यक्तियों की देह में दोष उभड़े हुए होते हैं, उनके बढ़े हुए दोष को कोष्ठ से बाहर निकालकर बड़े वेग के साथ इस प्रकार के छर्दि रोग को उत्पन्न करती है, जिस छर्दि में निकला पदार्थ मल-मूत्र के समान वर्ण तथा गन्ध वाला होता है। रोगी प्यास, श्वासरोग और हिचकी से लगातार पीड़ित रहता है। इस तरह की छर्दि से पीड़ित रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है॥ १६-१७॥

द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च ।
यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा॥ १८॥

द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि—द्विष्ट (जिससे घृणा हो, ऐसे अप्रिय पदार्थ), विपरीत (वमनकारक बच आदि जो वमन के वेग लाते हैं), अपवित्र (जूठन), मलिन, वीभत्स (घृणा और उद्वेगजनक) और मन को अप्रसन्न करने वाली, गन्धों के सूँघने से या आहार के खाने से एवं वस्तुओं के देखने मात्र से मन के सन्तप्त या उद्विग्न होने पर जो वमन होता है, उसको द्विष्ट अर्थ के संयोग से उत्पन्न छर्दि मानते हैं॥ १८॥

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता।
सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेल्लिरुपद्रवां च॥ १९॥

असाध्य छर्दि का लक्षण—जो वमन रोग किसी कृश या क्षीण रोगी को हो, जो लगातार ही हो रहा हो, जो उपद्रव (कास-श्वास-ज्वर-हिक्का-तृष्णा-वैचित्य-हृद्रोग और तमक) युक्त हो, जिसमें रक्त या पूय आता हो और जिसमें निकला पदार्थ मोर की पंख जैसे वर्ण की चकमकाहट लिए हो, ऐसा वमन रोग असाध्य होता है। जो वमन रोग साध्य तथा उपद्रव-रहित हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ १९॥

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्।
प्राक्कारयेन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि॥ २०॥

छर्दि का चिकित्सासूत्र—सभी छर्दि रोग आमाशय में उत्क्लेश या क्षोभ होने से ही उत्पन्न होते हैं और आमाशयोत्थ रोग में कफहर लंघन आदि उपचार करना ही उचित होता है। इसलिए सभी छर्दि रोगों में लंघन कराना चाहिए अथवा कफ-पित्त शामक वमन-विरेचन कराना चाहिए। यदि वातज छर्दि रोग हो, तो उसमें लंघन या संशोधन नहीं कराना चाहिए, क्योंकि ये दोनों ही वात को शान्त करने में समर्थ नहीं हैं॥ २०॥

वक्तव्य—यद्यपि सामान्यतः छर्दि रोग के आमाशयोत्थ विकार होने से वायु को छोड़कर अन्य छर्दि रोगों में लंघन कराने का उपदेश किया गया है, किन्तु उसका अभिप्राय यह है, जहाँ दोष अल्प हो और रोगी निर्बल हो, तो वहाँ लंघन करायें। यदि दोष अधिक हो और रोगी बलवान् हो, तो संशोधन कराना चाहिए। कफ की अधिकता में वमन और पित्त की अधिकता में विरेचन कराना चाहिए। मूलपाठ में आये 'संशोधन' शब्द से वमन-विरेचन दोनों का ग्रहण करना चाहिए। बलवान् रोगी में अल्पमात्रा में दोष हो तो लंघन ही कराना उचित है।

चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि।
मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम्॥ २१॥

अनुलोमन प्रयोग—छर्दि रोग में विरेचनार्थ हरीतकी के चूर्ण को (५-६ ग्राम) मधु से चाटना चाहिए अथवा अन्य रुचिकर विरेचन द्रव्यों को विविध प्रकार के यथारुचि मद्यों के साथ अथवा दूध के साथ युक्तिपूर्वक सेवन करना चाहिए। ये विरेचन योग ही छर्दिरोग में ऊर्ध्वगति हुए दोष को अधोगामी बनाते हैं॥ २१॥

वल्लीफलाद्यैर्वमनं पिबेद्वा यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत्।
रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैः सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः॥ २२॥

छर्दि रोग में वमन और शमन—छर्दि से पीड़ित व्यक्ति को वमन कराने के लिए वल्लीफल (तितलौकी, तीता नेनुआ, कड़वी तरोई आदि) के बीज पीसकर पिलाना चाहिए। जो रोगी दुर्बल हो, उसे मनपसन्द मधुरादि रसवाले हलके सूखे भक्ष्य पदार्थ, आहार द्रव्य तथा पेय द्रव्य पिलाकर शमन उपचार द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए॥ २२॥

सुसंस्कृतास्तित्तिरिबर्हिलावरसा व्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम्।
छर्दिं तथा कोलकुलत्थधान्यबिल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः॥ २३॥

वातज छर्दि चिकित्सा—तीतर, मोर और बटेर, इनके मांसरस को दीपन-पाचन औषध योगों से सुसंस्कृत करके सेवन कराने से ये वातज छर्दि रोग को नष्ट करते हैं। इसी प्रकार खट्टे बेर, धनिया, बिल्वादि पञ्चमूल (बेलगिरी, गम्भार की छाल, गनियार की छाल, पाढल की छाल और सोनापाठा की छाल) को डालकर षडंगपरिभाषा से पकाये गये जल में बनाये गये कुलथी के यूष या जौ के यूष में खट्टे अनार का रस डालकर पिलाने से वातज छर्दिरोग नष्ट हो जाता है॥ २३॥

वक्तव्य—यद्यपि इस श्लोक के मूलपाठ से मांसरस और यूष, इन योगों का ही बोध होता है, किन्तु कुछ विद्वान् इस श्लोक से ५ योग बनाने की बात करते हैं, जैसे—मांसरस के तीतर-मोर-बटेर के अलग-अलग ३ योग बनते हैं और कुलथी तथा यव, इन दो अन्नों से २ यूष के योग बनते हैं। इस प्रकार कुल ५ योग बतलाये जाते हैं।

वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो नरः पिबेत् सैन्धववद् घृतं तु।
सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य॥ २४॥
व्योषेण युक्तं लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्य मात्रामथवा विदध्यात्।

वातज छर्दि में घृतपान—(१) वातज वमन रोग में यदि रोगी को हृदय की गति अधिक होने से (हृदयक्षोभ या धुक्-धुक् जैसी तेज गति हो, जैसा कि परिश्रम के बाद थकावट होने पर होता है) कष्ट हो, तो उसे अपने शारीरिक तथा अग्निबल के अनुसार समुचित मात्रा में सेंधानमक मिला हुआ घी पीना चाहिए; अथवा (२) धनिया और सोंठ का कल्क (घी का चतुर्थांश) और दही तथा अनार का रस (घी से चौगुना) डालकर विधिवत् पकाया हुआ घी प्रयोग में लाना चाहिए; या (३) जितनी मात्रा में घी पिलाना हो उतनी मात्रा में घी लेकर उसमें उचित मात्रा में सोंठ-मरिच-पीपर का चूर्ण और सेंधानमक, सोंचरनमक एवं विडनमक डालकर पिलाना चाहिए॥ २४॥

स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैर्दधिदाडिमाम्लैः॥ २५॥

वातज छर्दि में पथ्य—वातज छर्दि के रोगी को भोजन में खट्टी दही और खट्टे अनार के रस से खट्टा बनाकर स्निग्ध तथा मनपसन्द एवं हृदय के लिए हितकर मांसरस या यूष तथा अन्य वातनाशक आहार इन मांसरस एवं यूष के साथ देना चाहिए॥ २५॥

पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत् स्यात्।
कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत् स्वादुभिरूर्ध्वमेव॥ २६॥

पित्तज छर्दि चिकित्सा : अनुलोमन एवं वमन प्रयोग—पित्तज छर्दि रोग में दोष के अनुलोमन के लिए मुनक्के के क्वाथ, विदारीकन्द के स्वरस अथवा गन्ने के रस के साथ त्रिवृत् चूर्ण (३ ग्राम) खिलाना चाहिए। यदि पित्त बहुत बढ़ गया हो और कफाशय (आमाशय का ऊर्ध्वभाग) में संचित हो, तो मधुर द्रव्यों के साथ वमनकारक योग का सेवन कराकर वमन कराना चाहिए॥ २६॥

शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम्।
प्रदापयेन्मुद्गरसेन वाऽपि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा॥ २७॥

संशोधन के बाद पथ्य—(१) पित्तज छर्दि रोग में रोगी का संशोधन हो जाने के बाद उसे खाने की वेला में मधु और चीनी मिलाकर धान के लावा का सत्तू खिलायें या मधु-चीनी मिलाकर पेया पिलायें। अथवा (२) मूँग के यूष के साथ अगहनी चावल का भात खिलायें; अथवा (३) जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शालि चावल का भात खाने को दे॥ २७॥

सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः कुल्माषलाजायवसक्तुगृञ्जान्।
खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात्[1]॥ २८॥
स्रोतोजलाजोत्पलकोलमज्जचूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयां वा।
कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड् लाजासितामागधिकाकणान् वा॥ २९॥

---

१. कुल्माषा उत्स्विन्नयवपिष्टकृता भक्ष्याः, पारियात्रास्तु मुद्गान्मसूरान् उत्स्विन्नमृदितान् कुल्माषानाहुः। गृञ्जः समण्डो यवौदनः। खर्जूरमांसानीति खर्जूरफलसस्यानि। खर्जूरित्यादौ लिह्यादित्यत्र सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिरित्यनुवर्तनीयम्। (चक्रपाणिटीका)

अवलेह—पित्तज छर्दिरोग में निम्न आठ योगों के चूर्ण यथा—१. मूँग, मसूर या चने को उबाल कर बनायी गयी घुघनी को, २. धान को भूनकर लावा बनाकर फिर पीसकर, ३. जौ को भूनकर तथा पीसकर, ४. जौ की भूसी निकालकर, भात बनाकर उसके माँड़-सहित, ५. खजूर का बीज निकालकर, उसके गूदे को पीसकर, ६. नारियल के गूदे को पीसकर, ७. मुनक्का के गूदे को पीसकर तथा ८. खट्टी बेर के गूदे को पीसकर—इनमें से किसी एक को मिश्री, मधु एवं पीपर के चूर्ण के साथ चाटें। इसी प्रकार ९. शुद्ध स्रोतोञ्जन, धान का लावा, नीलकमल और खट्टे बेर का गूदा उचित प्रमाण में लेकर, चूर्ण कर मधु से चाटें। १०. बड़ी हर्रे के कपड़छन चूर्ण को (३ ग्राम) मधु से चाटें अथवा ११. खट्टी बेर की गुठली और गूदा, शुद्ध अंजन, मक्षिका विट् (जो रस्सी पर मिलेगा, जिस पर मक्खियाँ बैठती हों), धान का लावा, मिश्री और पीपर, इनका चूर्ण मधु के साथ चाटना चाहिए॥ २८-२९॥

द्राक्षारसं वाऽपि पिबेत् सुशीतं मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं जलं वा।
जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं पिबेत् सुशीतं मधुसंयुतं वा॥ ३०॥
निशि स्थितं वारि समुद्गकृष्णं सोशीरधान्यं चणकोदकं वा।
गवेधुकामूलजलं गुडूच्या जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा॥ ३१॥

पेय औषध योग—पित्तज छर्दि में निम्न औषधसिद्ध जल पीना चाहिए, यथा—(१) मुनक्के का रस या षडंग परिभाषा के अनुसार पकाया हुआ जल बरफ डालकर, शीतल करके पीना चाहिए अथवा (२) मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर जल में बुझायें और उस जल को छानकर, ठण्डा करके पीना चाहिए अथवा (३) जामुन और आम के कोमल पत्तों का क्वाथ बनाकर उसे ठण्डाकर मधु मिलाकर पीना चाहिए।

शीतकषाय[1] योग—(१) मूँग और पीपर के (१ पल) चूर्ण को (६ पल) पानी में रातभर भिगोकर सबेरे मसलकर, छानकर पीना चाहिए। (२) खश और धनिया के चूर्ण को ६ गुने जल में रातभर भिगोकर, सबेरे मसलकर, छानकर उस जल को पीना चाहिए। (३) चना की दाल को रातभर पानी में भिगोकर सबेरे छानकर पान करे। (४) गवेधुका (मकई या गड़हेरुआ) के चूर्ण को रातभर पानी में भिगोकर, सबेरे मसलकर, छानकर पीना चाहिए। (५) गुरुच को कुचलकर रातभर पानी में भिगोकर, सबेरे मसलकर, छानकर वह पानी पीना चाहिए। (६) गन्ने के रस को सुरक्षित चाँदनी में रातभर रखकर सबेरे पान करे अथवा (७) गोदुग्ध को चाँदनी में रातभर सुरक्षित रखकर सबेरे पान करे॥ ३०-३१॥

सेव्यं पिबेत् काञ्चनगैरिकं वा सबालकं तण्डुलधावनेन।
धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि॥ ३२॥
कल्कं तथा चन्दनसेव्यमांसीद्राक्षोत्तमाबालकगैरिकाणाम्।
शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं मूर्वा तथा तण्डुलधावनेन॥ ३३॥

चूर्ण योग—(१) सुगन्धबाला के चूर्ण के साथ खश के चूर्ण को चावल के धोवन एवं मधु के साथ पीना चाहिए या (२) शुद्ध स्वर्णगैरिक को सुगन्धबाला के चूर्ण के साथ चावल के धोवन एवं मधु से पीना चाहिए अथवा (३) श्वेत मलयागिर चन्दन को घिसकर आँवले के ताजे रस और मधु के साथ पीना चाहिए। ये सभी योग प्यास एवं वमन को शान्त करते हैं। (४) श्वेतचन्दन, खश, जटामांसी, अच्छे किस्म का मुनक्का, सुगन्धबाला और शुद्ध स्वर्णगैरिक इनके समभाग चूर्ण को ठण्डे जल से सेवन करे। (५) शुद्ध

१. क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम्। शर्वरीमुषितं सम्यक् ज्ञेयः शीतकषायकः॥
(परिभाषा-प्रदीप २।२३)

स्वर्णगैरिक और अगहनी चावल के चूर्ण को शीतल जल से लेना चाहिए। इसी प्रकार (६) मूर्वा के चूर्ण को ठण्डे जल से उचित मात्रा में लें। ये सभी योग पित्तज तृष्णा एवं वमन के नाशक हैं॥ ३२-३३॥

कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः।
पिण्डीतकैः सैन्धवसम्प्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम्॥ ३४॥

कफज छर्दि चिकित्सासूत्र—कफज छर्दि में वमन कराना उत्तम चिकित्सा है। कफ के स्थान और आमाशय के शोधन के लिए पीपर, सरसों तथा नीम की छाल के क्वाथ में मदनफल का चूर्ण (यथायोग्य मात्रा में) तथा सेंधानमक मिलाकर पिलाना चाहिए॥ ३४॥

गोधूमशालीन् सयवान् पुराणान् यूषैः पटोलामृतचित्रकाणाम्।
व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्यूषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात्॥ ३५॥

कफज छर्दि में पथ्य—कफज छर्दि रोग में पुराना गेहूँ, अगहनी का चावल, पुराना जौ प्रयोग करना चाहिए। इनके द्वारा बने आहार को निम्नलिखित यूषों के साथ प्रयोग करना चाहिए, यथा—(१) परवर, गुरुच और चित्रक डालकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार पकाये गये जल में सिद्ध यूषों के साथ अथवा (२) सोंठ, मरिच और पीपर डालकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार पकाये गये जल में सिद्ध यूषों के साथ अथवा (३) निम्बपत्र सिद्ध जल में निर्मित यूषों के साथ अथवा (४) मट्ठे में बने यूषों के साथ अथवा (५) कटुरस (मरिच आदि) वाले द्रव्यों से बने और अनार के रस से खट्टे किये यूषों के साथ आहार का सेवन करे॥ ३५॥

मृगांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां मांसानि जीर्णान्मधुसीध्वरिष्टान्।
रागांस्तथा षाडवपानकानि द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च॥ ३६॥

मांसरस, अरिष्ट और रागषाडव—जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस या उनके मांस को काटकर लोहे की छड़ पर रखकर, आग पर भूनकर खायें। पुराने मधु का, पुराने सीधु का और पुराने अरिष्टों का सेवन करे। मुनक्का, कैथ और बिजौरा नीबू के रस से तैयार राग, षाडव एवं पानक का प्रयोग करे॥ ३६॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कलायान् भृष्टान् युतान्नागरमाक्षिकाभ्याम्।
लिह्यात्—

कफज छर्दि में सत्तू का प्रयोग—कफज छर्दि से पीड़ित रोगी को मूँग-मसूर-चना या मटर भूनकर, सत्तू बनाकर, उसमें थोड़ी मात्रा में सोंठ का चूर्ण और मधु मिलाकर चाटना चाहिए।

—तथैव त्रिफलाविडङ्गचूर्णं विडङ्गप्लवयोरथो वा॥ ३७॥
सजाम्बवं वा बदराम्लचूर्णं मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम्।
दुरालभां वा मधुसम्प्रयुक्तां लिह्यात् कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम्॥ ३८॥

छर्दिनाशक चूर्ण-अवलेह—(१) कफज छर्दि रोग में आँवला, हर्रा, बहेड़ा और वायविडंग का समभाग चूर्ण सोंठ के चूर्ण और मधु के साथ चाटना चाहिए; अथवा (२) वायविडंग और केवटीमोथा के चूर्ण के साथ सोंठ का चूर्ण और मधु मिलाकर चाटना चाहिए; अथवा (३) कफज छर्दि को रोकने के लिए खट्टे बेर के चूर्ण को जामुन के रस या उसकी गुठली के चूर्ण के साथ मधु मिलाकर चाटना चाहिए; अथवा (४) काकड़ासींगी और नागरमोथा के चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिए; अथवा (५) धमासा के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटना चाहिए॥ ३७-३८॥

मनःशिलायाः फलपूरकस्य रसैः कपित्थस्य च पिप्पलीनाम्।
क्षौद्रेण युक्तं मरिचैश्च चूर्णं लिहञ्जयेच्छर्दिमुदीर्णवेगाम्॥ ३९॥

तीव्रवेग वाले वमन में मनःशिला प्रयोग—(१) शुद्ध मैनसिल (१ रत्ती) को बिजौरा नीबू के रस और मधु में मिलाकर चाटनेवाला रोगी प्रबल वेगयुक्त छर्दि रोग पर काबू पा लेता है। इसी प्रकार (२) पीपर और मरिच के चूर्ण को (२ ग्राम) कैथ के रस और मधु के साथ चाटने से बहुत तीव्र वमन का वेग भी शान्त हो जाता है॥ ३९॥

वक्तव्य—इस श्लोक में चक्रपाणि ने दो योग माना है, जैसा कि ऊपर की व्याख्या में स्पष्ट है; किन्तु कुछ अन्य लोग सम्पूर्ण श्लोक से एक ही योग लेते हैं अर्थात् शुद्ध मैनसिल, पीपर और मरिच का चूर्ण लेकर इन्हें बिजौरा नीबू के रस, कैथ के रस और मधु मिलाकर चाटना चाहिए।

यैषा पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता तां सन्निपातेऽपि समस्य बुद्ध्या।
दोषार्तुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रविदप्रमत्तः॥ ४०॥

सन्निपातज छर्दि रोग चिकित्सा—चिकित्साशास्त्र का सम्यग् ज्ञाता वैद्य सजग (सावधान) होकर, सन्निपातज छर्दिरोग की चिकित्सा में भी दोष-ऋतु-रोग और रोगी के जठराग्नि के बल का विचार कर स्वविवेक से उसी चिकित्सा का प्रयोग करे, जो चिकित्सा अलग-अलग दोषों की मैंने बतलायी है। (तात्पर्य यह है कि सन्निपातज वमन रोग प्रकृतिसमसमवेत होता है। इसलिए दोषानुसार पृथक्-पृथक् जो चिकित्सा कही गयी है, उन सबको एकीकृत करके प्रधान दोष को लक्ष्यकर तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए)॥ ४०॥

मनोऽभिघाते तु मनोऽनुकूला वाचः समाश्वासनहर्षणानि।
लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः शृङ्गारिकाश्चैव हिता विहाराः॥ ४१॥
गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला मृत्पुष्पशुक्ताम्लफलादिकानाम्।
शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंस्कृताः षाडवरागलेहाः॥ ४२॥
यूषा रसाः काम्बलिकाः खडाश्च मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः।
फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति॥ ४३॥
गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपं च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम्।
तदेव दद्यात् प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम्॥ ४४॥

द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि चिकित्सा : मनःप्रसादकर आहार-विहार—अप्रिय विषयों के संयोग से मन के उद्विग्न या आघातित होने पर जो वमन रोग उत्पन्न होता है, उसमें रोगी के मन को आह्लादित करने वाली वाणी बोलनी चाहिए। रोगी की समस्याओं को सुनकर उनके समाधान का आश्वासन देना चाहिए और उनके मन को प्रसन्न रखना चाहिए। रोगी के समान वय वाले (हमउम्र) मित्र, लोक में प्रसिद्ध कथा-कहानी-चुटकुले सुनाते रहें और प्रेम-प्रणय से आप्लावित शृङ्गाररस के उद्दीपक कुसुमित वन-श्रेणियों में उसे घूमने-टहलने के लिए ले जायें। उसे मन को लुभानेवाले विलक्षण भीनी सुगन्ध वाले पुष्पों की गन्ध सुँघायें और उसके मनपसन्द मिट्टी-फूल-शुक्त (सिरका) और खट्टे फलों की गन्ध सुँघायें।

मन के अनुकूल शाक, भोज्य पदार्थ, पानक (शर्बत), अच्छी प्रकार छौंकें-बघारे हुए राग, षाडव, अवलेह (मुरब्बे), यूष, मांसरस, काम्बलिक (काँजी जैसे खट्टे-मीठे द्रव पदार्थ), खडयूष, मांस, धाना (भुने हुए अन्न), विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थ तथा उत्तम गन्ध-वर्ण तथा रस से सम्पन्न फल-मूल, अप्रिय विषयों के संयोग से उत्पन्न छर्दिरोग को शान्त कर देते हैं।

रोगी के मन को भाने वाले जो भी गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और रूप हों, उन्हें वमन के शमन के लिए देना चाहिए। भले ही वह असात्म्य हो, क्योंकि महान् अनर्थकारी मूल रोग के शान्त हो जाने के बाद असात्म्य सेवन से उत्पन्न हुआ रोग सुखपूर्वक जीता जा सकता है॥ ४१-४४॥

छर्द्युत्थितानां च चिकित्सितात् स्वाच्चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम्।
अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य कर्मातियोगे विहितं विधेयम्॥ ४५॥

छर्दि के उपद्रव की चिकित्सा—छर्दि रोग के कारण उत्पन्न हुए उपद्रवों की चिकित्सा उन उपद्रवों के अधिकार में कही गयी चिकित्सा के अनुसार करनी चाहिए। यदि छर्दि बहुत अधिक होने लगे, तो विरेचन (वमन) के अतियोग में विहित विधान के अनुसार उपचार करना चाहिए[1]॥ ४५॥

वमिप्रसङ्गात् पवनोऽप्यवश्यं धातुक्षयाद् वृद्धिमुपैति तस्मात्।
चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि कार्याण्युपस्तम्भनबृंहणानि॥ ४६॥

चिरकालीन छर्दि में वातनाशक उपचार—वमन के लगातार अधिक दिनों तक बने रहने से धातुओं का क्षय हो जाता है और धातुक्षय होने पर वायु भी अवश्य बढ़ जाता है (वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च)। इसलिए चिरकाल से होने वाले वमन में वातनाशक स्तम्भन और बृंहण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए॥ ४६॥

सर्पिर्गुडाः क्षीरविधिर्घृतानि कल्याणकव्यूषणजीवनानि।
वृष्यास्तथा मांसरसाः सलेहाश्चिरप्रसक्तां च वमिं जयन्ति॥ ४७॥

पुराने वमन में औषध और आहार—(क्षतक्षीण चिकित्सा में कथित) सर्पिर्गुड, क्षीरपाक-विधि से औषधसिद्ध दुग्ध का प्रयोग, कल्याणघृत (उन्मादाधिकार), त्र्यूषणघृत (कासाधिकार), जीवनीय घृत (वातरक्ताधिकार), वृष्ययोग, मांसरस और अवलेहों के प्रयोग से चिरकाल से होनेवाला वमन रोग शान्त हो जाता है॥ ४७॥

तत्र श्लोकः—

हेतुं संख्यां लक्षणमुपद्रवान् साध्यतां न योगांश्च।
छर्दीनां प्रशमार्थं प्राह चिकित्सितं मुनिवर्यः॥ ४८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने छर्दिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः॥ २०॥

अध्याय का उपसंहार—मुनिप्रवर भगवान् आत्रेय पुनर्वसु ने इस 'छर्दिरोगचिकित्सित' नामक अध्याय में छर्दिरोग के कारण, संख्या, लक्षण, उपद्रव, साध्यासाध्यता और छर्दिनाशक योगों का उपदेश किया है॥ ४८॥

वक्तव्य—(१) सभी प्रकार के छर्दिरोग आमाशय के उत्क्लेश से होते हैं, इसलिए सबसे पहले वमन रोग में लंघन ही करना चाहिए अथवा कफ-पित्तनाशक संशोधन (वमन-विरेचन) करना चाहिए। किन्तु वातज छर्दि रोग में लंघन तथा वमन-विरेचन नहीं करना चाहिए।

(२) द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि में हर्षण, आश्वासन, मनोऽनुकूल आहार, विहार और मनोरम दृश्यों का अवलोकन आदि लाभकर उपचार हैं।

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'छर्दिचिकित्सित' नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २०॥

---

१. वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः। पिबेत्कफहरैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम्॥
सोद्गारायां भृशं वम्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोः। समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम्॥
वमतोऽन्तःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः। स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषक्षीररसैर्हिताः॥
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः। निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत्॥
वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम्। यवागूं तनुकां दद्यात् स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान्॥
(च.सि. ६।५२-५६)

छर्दिरोग चिकित्साक्रम बोधक सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
सामान्यतः वमन रोग में दोषों की गति ऊर्ध्वगामी होती है, इसलिए उन्हें अधोगामी बनाने के लिए विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। आवश्यक होने पर वामक द्रव्य पिलाकर, वमन कराना चाहिए	हरीतकी विरेचन—हर्रे का ४ ग्राम चूर्ण गरम जल से देना चाहिए। रुचिकर तथा अनुलोमन द्रव्यों को मद्य के साथ या दूध के साथ विरेचनार्थ देना चाहिए। **वमन**—तितलौकी या कड़वी तरोई का बीज पीसकर उसे पिलाकर वमन कराना चाहिए।	शमन चिकित्सा की दृष्टि से रोगी को मनपसन्द लघु एवं शुष्क भक्ष्य, भोज्य आदि खाने के लिए देना चाहिए।

वातज छर्दि चिकित्सा

उपचार	औषध	पथ्य
वातज छर्दि में मांसरस और यूष के साथ आहार दें। हृदय में क्षोभ या तीव्र गति होने पर घृत का प्रयोग करे।	वातज वमन में सेंधानमक मिलाकर घी पिलाना चाहिए। अथवा धनिया, सोंठ, दही और अनार का रस डालकर विधिवत् पकाये गये घृत का पान करायें। रोगी के अनुसार उचित मात्रा में घी लेकर उसमें सोंठ-मरिच-पीपर का चूर्ण तथा सेंधानमक, सोंचर नमक और विडनमक का चूर्ण मिलाकर पिलायें।	वातज छर्दि में तीतर, मोर और लवा पक्षी के विधिवत् बनाये हुए सुसंस्कृत मांसरस के साथ या बेर, धनिया और बृहत्पंचमूल से सिद्ध जल में सिद्ध कुलथी के संस्कृत यूष या जौ की दलिया के साथ आहार दे। भोजन, खट्टी दही एवं खट्टे अनार के रस से खट्टा कर मनपसन्द मांसरस और यूष के साथ दे। आहार स्निग्ध और रुचिकर हो।

पित्तज छर्दि चिकित्सा

उपचार	औषध	पथ्य
पित्तज छर्दि में दोषों के अनुलोमन का यत्न करे अथवा आमाशय में पित्त हो, तो वमन करायें। अवलेह को मधुर बनाकर सेवन करायें। शीतल जल पिलायें या कषाय द्रव्य सिद्ध जल पिलायें। मधुर पानक पीने को दें। **तृष्णा के साथ यदि वमन हो** तो खश और सुगन्धबाला या सोनागेरू, सुगन्धबाला या श्वेतचन्दन के चूर्ण को आँवले के रस या मधु से दें। चन्दन, खश, जटामांसी, मुनक्का, सुगन्धबाला और सोनागेरू को ठण्डे जल से दें या सोनागेरू और शालि चावल का चूर्ण या मूर्वा का चूर्ण तण्डुलोदक से दें।	**अनुलोमनार्थ**—मुनक्का, विदारीकन्द या गन्ने के रस के साथ निशोथ का चूर्ण दें। **अवलेह के योग**—(१) धान के लावा, यव के सत्तू, जौ के मण्डसहित भात, खजूर, नारियल, मुनक्का या खट्टी बेर के चूर्ण में मिश्री, मधु तथा पीपर मिलाकर चाटने को दे। (२) शुद्ध स्रोतोञ्जन चूर्ण, धान का लावा, नीलकमल, खट्टे बेर का गूदा मधु से। (३) हरीतकी चूर्ण मधु से चटायें। (४) खट्टे बेर सर्वाङ्ग, शुद्ध अंजन, मक्षिकाविट् धान का लावा मिश्री और पीपर चटायें। **शीतकषाय**—मूँग, खश, धनिया अथवा चना या मकई या गुरुच को ६ गुने जल में रातभर भिगोकर, वह जल पीने को दें एवं गन्ने का रस या दूध चाँदनी में रखकर प्रातः पिलायें।	पित्तज वमन में संशोधन के बाद धान के लावा के सत्तू में अथवा पेया में मधु, चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए या मूँग के यूष से या जांगल जानवरों के मांसरस से अगहनी चावल का भात दें। पेय पदार्थ—मुनक्के का क्वाथ या मिट्टी का ढेला बुझाया हुआ जलद या आम तथा जामुन की पत्ती के क्वाथ में मधु मिलाकर पिलायें।

कफज छर्दि चिकित्सा

उपचार	औषध	पथ्य
कफज छर्दि में कफ के स्थानों तथा आमाशय के शोधन के लिए वमन करायें। तत्पश्चात् कफघ्न औषध एवं पथ्य का प्रयोग करे। अतितीव्र छर्दि में शुद्ध मैनसिल १ रत्ती नीबू के रस और मधु से या पीपर और मरिच का चूर्ण कैथ के रस तथा मधु से चटायें।	वमन योग—पीपर, सरसों और नीम के क्वाथ में मदनफल का चूर्ण और सेंधानमक मिलाकर पिलायें। रोगी की अनुकूलता के अनुसार पुराना मधु, पुराना सीधु, अरिष्ट, राग, षाडव और पानक दें। मुनक्का, कैथ और बिजौरा नीबू से पानक बनाकर दें। आँवला, हर्रा, बहेड़ा और विडंग को समान भाग लेकर चूर्ण कर सोंठ के चूर्ण एवं मधु से दें। जामुन और खट्टे बेर, नागरमोथा और काकड़ासींगी या धमासा को मधु से दें।	पथ्य में पुराना गेहूँ, पुराना जौ और पुराना अगहनी चावल, परवर, गुरुच एवं चित्रक से सिद्ध जल में बने यूष के साथ या त्रिकटुसिद्ध जल या निम्बजल सिद्ध जल में बने यूष में खट्टे अनार का रस और मरिच का चूर्ण मिलाकर सेवन करे। जांगल मांसरस एवं शूल्य मांस दें। मूँग, मसूर, चना और मटर का सत्तू, सोंठचूर्ण और मधु से दें।

सन्निपातज छर्दि चिकित्सा—सन्निपातज छर्दि रोग में वही सब चिकित्सा करनी चाहिए, जो अलग-अलग वात-पित्त-कफ की चिकित्सा में बतलायी गयी है, किन्तु चिकित्सा शुरू करने के पहले वमनरोग के दोष का, रोग की स्थिति का, ऋतु का और रोगी के अग्निबल का विचार कर लेना चाहिए।

द्विष्टार्थसंयोगज छर्दिरोग की चिकित्सा—मन के अनुकूल प्रियवचन, आश्वासन और रोगी को प्रसन्न रखने का यत्न करना चाहिए। मनपसन्द गन्ध सुँघाना, सुन्दर दृश्य दिखाना, शृंगार रस की कथावार्ता करना, मनोनुकूल व्यञ्जन अवलेह, यूष, पानक, मांसरस आदि का तथा उत्तम वर्ण-गन्ध-रसयुक्त पदार्थों का आहार कराना चाहिए।

गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और रूप जो-जो रोगी को प्रिय हो, उसको-उसको उसे सुलभ कराना चाहिए। भले ही वह असात्म्य हो, क्योंकि असात्म्य होने पर भी जो प्रिय हो, वह हानिप्रद नहीं होता है।

छर्दि के उपद्रवों की चिकित्सा—वमन रोग में यदि कोई अन्य रोग उपद्रव-स्वरूप उत्पन्न हो जाय, तो उसकी चिकित्सा उस रोगाधिकार में कही गयी औषधों से ही करनी चाहिए और वमन के अतियोग में शीताम्बुपरिषेक एवं कफहर उपचार जो चरक-सिद्धिस्थान अ० ६ में कहे गये हैं, उनका प्रयोग करना चाहिए।

अथैकविंशोऽध्यायः

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'विसर्पचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—छर्दि के वेग को रोकने से रक्तदुष्टि होती है—'छर्दिवेगप्रतीघातात्'''शोणितं सम्प्रदूष्यति' (च. सू. २८)। इसलिए छर्दिरोग के वर्णन के बाद विसर्प का वर्णन आवश्यक समझा गया; क्योंकि विसर्प एक रक्त-प्रदोषज रोग है।

निरुक्ति—'विविधं सर्पणात् विसर्पः' (सर्वतः परिसर्पणात् परिसर्पः) अर्थात् अनेकशः सर्वाङ्ग में फैलने वाले रोग को विसर्प कहते हैं। यह रोग त्वचा के अतिरिक्त श्लेष्मलकला, हृदयावरण, फुप्फुसावरण, मस्तिष्कावरण एवं मस्तिष्क जैसे शरीर के आन्तरिक अङ्गों और रक्त में भी प्रविष्ट हो जाता है। 'वि' उपसर्ग, 'सृप्' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर विसर्प शब्द बनता है। 'विविधं सर्पतीति अध ऊर्ध्वं तिर्यक् तथा स्फोटशोथादिभिः प्रसरतीति विसर्पः' (चक्रपाणि)।

कैलाशे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे। पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसम्पदा ॥ ३ ॥
वमद्भिर्मधुरान् गन्धान् सर्वतः स्वभ्यलङ्कृते। विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥ ४ ॥
महर्षिभिः परिवृतं सर्वभूतहिते रतम्। अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्तवान् ॥ ५ ॥
भगवन्! दारुणं रोगमाशीविषविषोपमम्। विसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्षये ॥ ६ ॥
सहसैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा। विनश्यन्त्यनुपक्रान्तास्तत्र नः संशयो महान् ॥ ७ ॥
स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना। कतिभेदः कियद्धातुः किं निदानः किमाश्रयः ॥ ८ ॥
सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः। कथं कैर्लक्षणैः किं च भगवन्! तस्य भेषजम् ॥
तदग्निवेशस्य वचः श्रुत्वाऽऽत्रेयः पुनर्वसुः। यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ॥ १० ॥

अग्निवेश के विसर्प-विषयक प्रश्न—अग्निवेश ने उचित अवसर पर विनम्रतापूर्वक जितेन्द्रिय, ऋषियों द्वारा पूजित, महर्षियों से घिरे हुए, सर्वप्राणिकल्याण के कार्य में संलग्न भगवान् आत्रेय पुनर्वसु से पूछा। जब वे किन्नरों से व्याप्त, बहुत से जलस्रोतों से निनादित, औषधीय द्रुमलता कुञ्जों से घिरे, नाना प्रकार के मनोहर तरुवरों की कुसुमसम्पदा से सुगन्धित और सुशोभित कैलाशपर्वत के गिरिशृङ्गों पर विहार कर रहे थे।

भगवन्! मैं एक ऐसे रोग को देख रहा हूँ, जो बड़ा ही कठिन और त्रास देने वाला एवं साँप के विष के समान देहधारियों के शरीर में फैलने वाला होता है। शीघ्र ही फैल जाने वाले उस रोग से आक्रान्त व्यक्ति चिकित्सा के अभाव में अचानक ही अपने प्राण गँवा बैठते हैं। उस रोग के विषय में हमारे मन में निम्न सन्देह है; यथा—१. उस रोग को किस नाम से जाना जाय?, २. किस आधार पर उसका नाम पड़ा?, ३. उसके कितने भेद होते हैं?, ४. उसमें कितनी धातुएँ दूषित होती हैं?, ५. उस रोग का मूल कारण क्या है?, ६. उस रोग का आश्रय या अधिष्ठान क्या है?, ७. किन लक्षणों से उसे सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य या प्रत्याख्येय जाना जाय और उसकी चिकित्सा क्या है?

अग्निवेश के इन प्रश्नों को सुनकर मुनिश्रेष्ठ आत्रेय पुनर्वसु ने प्रश्नों के अनुरूप उत्तर दिया ॥ ३-१० ॥

वातादया त्रया दुष्टाः त्वक् रक्तमांस मम्बु च ।
दूषयन्ति स दोषज कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ॥

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः। परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात्॥ ११॥

विसर्प नाम में हेतु (प्रश्न १ व २ का उत्तर)—यह रोग अनेक तरह से शरीर में फैलता है, इसलिए इसे 'विसर्प' कहा जाता है अथवा शरीर के सर्वाङ्ग में सब ओर फैलने के कारण इसे 'परिसर्प' कहते हैं॥ ११॥

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः। पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः॥ १२॥
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः। चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः॥ १३॥
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः। यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसम्भवः॥ १४॥

विसर्प के भेद (प्रश्न ३ का उत्तर)—वह विसर्प सात धातुओं को दूषित कर तीनों दोषों से उत्पन्न होकर सात प्रकार का होता है। तीनों दोषों से पृथक्-पृथक् तीन, मिलित दोषों से एक और द्वन्द्वज तीन प्रकार के विसर्प होते हैं, जैसे—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ये चार प्रकार के और द्वन्द्वज तीन होते हैं—५. वातपित्तज आग्नेय विसर्प, ६. वातकफज ग्रन्थिविसर्प और ७. पित्तकफज कर्दमक विसर्प कहलाता है, जो बड़ा ही कष्टकर होता है॥ १२-१४॥

वक्तव्य—

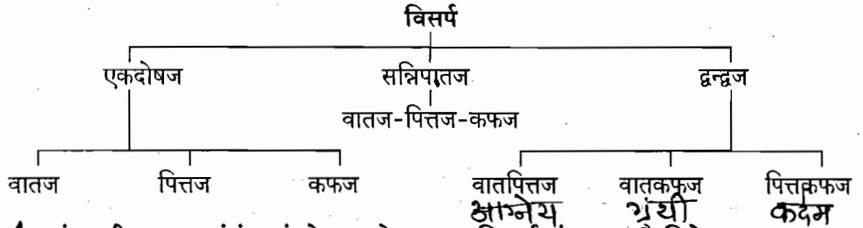

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः॥

विसर्प के ७ दूष्य (प्रश्न ४ का उत्तर)—रक्त, लसीका, त्वचा और मांस, ये चार दूष्य तथा वात, पित्त और कफ ये तीन दोष या मल, ये सात धातुएँ विसर्प रोग की उत्पत्ति में कारण हैं॥ १५॥

वक्तव्य—वात, पित्त और कफ—ये शरीर को धारण करने के कारण धातु, दूषित करने के कारण दोष और मलिन करने के कारण मल कहे जाते हैं। यहाँ इनके तीनों ही नाम आये हैं; एवं ४ धातुएँ और तीन दोष मिलकर विसर्प रोग उत्पन्न करते हैं। अतएव विसर्प में ये सात मूल कारण कहे गये हैं।

विसर्पजनक सप्त धातु

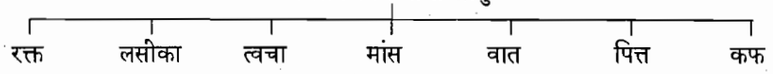

सापेक्ष निदान

कुष्ठ	विसर्प
१. अविसर्पणशील होता है।	१. विसर्पणशील होता है।
२. चिरकारी होता है।	२. अचिरकारी होता है।
३. रक्तप्रधान दूष्य नहीं।	३. रक्तप्रधान दूष्य।
४. त्रिदोषज होता है।	४. एक दोषज भी होता है।
५. गुरु का तिरस्कार भी कारण है।	५. इसमें ऐसा नहीं है।
६. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक।	६. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक नहीं।

विसर्प की विशेषताएँ—१. त्वचा या श्लेष्मकला से शोथ का आरम्भ, २. समस्त शरीर में व्याप्त होने की प्रवृत्ति, ३. इसमें ग्रन्थि या अर्बुद की तरह ऊँचा शोथ नहीं होता।

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात्। दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च॥ १६॥
व्यापन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात्। शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम्॥ १७॥
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च। दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात्॥
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च। ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च॥ १९॥
प्रक्लिन्नानामसात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात्। अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात्॥
क्षतबन्धप्रपतनाद् घर्मकर्मातिसेवनात्। विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः॥ २१॥
एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः। दूष्यान् सन्दूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम्॥

विसर्परोग के सामान्य कारण (प्रश्न ५ का उत्तर)—लवण, अम्ल, कटुरस और उष्ण रसों के अधिक सेवन से; दही, अम्ल पदार्थ, दही के पानी, सिरका, सुरा, सौवीरक, विकृत मद्य, उष्ण पदार्थ, राग और षाडव के अतिसेवन से; हरे शाक एवं विदाही वस्तुओं के अतिसेवन से; कूर्चिका, किलाट और अधजमी दही खाने से; शण्डाकी आदि सन्धान करके निर्मित आसवों के अतिसेवन से; तिल, उड़द, कुलथी, तैल, चावल के आटे से बने पदार्थ, ग्राम्य मांस, आनूपमांस, लहसुन, सड़े-गले पदार्थ, असात्म्य पदार्थ, मछली-दूध आदि एवं परस्पर विरुद्ध पदार्थों के सेवन से; अधिक मात्रा में भोजन करने से, दिन में सोने से, अजीर्ण होने से, अध्यशन करने से, किसी अंग के कट जाने से, चोट लगने से, रस्सी आदि से किसी अंग के जोर से बाँधने से, ऊँचे स्थान से गिर जाने से, धूप में रहने से, अधिक श्रम का काम करने से, विषयुक्त वायु लगने से और आग से जल जाने से विसर्पों की उत्पत्ति होती है।

इन उपर्युक्त अनेक कारणों के योग से वात, पित्त और कफदोष एक बारगी प्रकुपित हो जाते हैं और वे रक्त, लसीका, त्वचा और मांस इन दूष्यों को दूषित कर अहितकर आहार करने वाले व्यक्तियों के शरीर में फैलकर उत्पन्न हो जाते हैं॥ १६-२२॥

बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः। विसर्पो बलमेतेषां ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम्॥ २३॥

विसर्प के अधिष्ठान (प्रश्न ६ का उत्तर)—अधिष्ठान-भेद से विसर्प तीन प्रकार का होता है—१. बाह्य धातुओं में आश्रित, २. भीतरी धातुओं में आश्रित और ३. बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों धातुओं में आश्रित। ये उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं और उनकी चिकित्सा क्रमशः कठिन होती है॥ २३॥

बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्। विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम्॥ २४॥

विसर्प की साध्यासाध्यता (प्रश्न ७ का उत्तर)—बाह्य (त्वचा-मांस) मार्ग में होने वाला विसर्प साध्य होता है और जो विसर्प बाह्य तथा आभ्यन्तर उभयाश्रित होता है, वह असाध्य होता है। जो विसर्प भीतरी धातुओं में आश्रित होता है, वह बड़ा कष्टकर एवं कृच्छ्रसाध्य होता है॥ २४॥

विसर्प के अन्य प्रकार

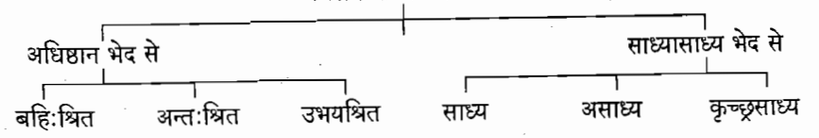

अन्तःप्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये। बहिर्बहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः॥ २५॥

विसर्प की सम्प्राप्ति—शरीर के भीतर के मार्ग में जब दोष प्रकुपित होते हैं तब वे भीतर के मार्गों में फैलते हैं, जब बाहर के मार्गों में कुपित होंगे, तो बाह्य मार्गों में फैलते हैं तथा जब भीतर-बाहर दोनों ही मार्ग के आश्रित होंगे, तो वे भीतर-बाहर दोनों ही मार्गों में फैलते हैं॥ २५॥

मर्मोपघातात् सम्मोहादयनानां विघट्टनात्। तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात्॥ २६॥
विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात्। अतो विपर्ययाद् बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वलक्षणैः॥

आभ्यन्तर मार्गी विसर्प का लक्षण—जब (हृदय आदि) मर्म स्थानों में आघात या पीड़ा का अनुभव हो, मूर्च्छा हो, भीतरी अवयवों में परस्पर घर्षण हो, प्यास अधिक लगे और मल-मूत्र-अपानवायु के वेग कभी तीव्र हों, कभी सम हों और कभी अवरुद्ध हों तथा जठराग्नि का बल क्षीण हो जाये, तो आभ्यन्तर मार्गाश्रित विसर्प जानना चाहिए। यदि उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण हों, तो बाह्यमार्गस्थ विसर्प जानना चाहिए॥ २६-२७॥

यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम्। यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः॥ २८॥

विसर्प के अरिष्ट लक्षण—जिस विसर्प के सभी लक्षण प्रकट हों, जिसको उत्पन्न करने वाले कारण भी बलवान् हों, जिसमें कष्टप्रद उपद्रव हो गये हों और जो मर्म (हृदय-शिर-वस्ति) स्थानों में फैल गया हो, वह विसर्प मारक होता है॥ २८॥

वक्तव्य—विसर्प के उपद्रव इस प्रकार हैं—'ज्वरातिसारो वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः। अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः' (सु. नि.)।

रूक्षोष्णैः केवलो वायुः पूरणैर्वा समावृतः। प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम्॥ २९॥

वातज विसर्प का कारण और सम्प्राप्ति—रूक्ष और उष्ण भोजन करने से स्वतन्त्र रूप से कुपित अथवा अधिक भोजन कर लेने से परतन्त्र रूप से आवृत दुष्ट वायु रक्त आदि दूष्यों को दूषित करके अपनी शक्ति के अनुसार शरीर में फैलकर विसर्प रोग को उत्पन्न करता है॥ २९॥

तस्य रूपाणि—भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टनकम्पज्वरतमककासास्थिसन्धिभेद-विवर्णवमनारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमभ्यागमनं पिपीलिकासञ्चार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणाभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूला-यामसङ्कोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्रभेदैः स्फोटकैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविशदारुणाल्पास्रावैः, विबद्धवातमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः॥ ३०॥

वातज विसर्प का लक्षण—वातज विसर्प के लक्षण ये हैं—शिर में चक्कर आना, जलन होना, प्यास लगना, शरीर में सुई चुभाने जैसी वेदना, उदर में शूल, अंगों में पीड़ा और ऐंठन, कम्पन, ज्वर, तमकश्वास, कास, अस्थि-सन्धियों में भेदनवत् पीड़ा, विवर्ण, वमन, अरोचक, भोजन का न पचना, आँखों में व्याकुलता, आँसू आना, अंगों में चींटी रेंगने जैसा प्रतीत होना—ये सब लक्षण वातज विसर्प में होते हैं। जिस स्थान में विसर्प होता है, वह श्याम या अरुणवर्ण का हो जाता है, वहाँ सूजन होती है, सुई चुभाने जैसी पीड़ा होती है, टुटन, शूल, तनाव, संकोच, रोमाञ्च और फड़कन के अधिक होने से पीड़ा होती है। यदि समुचित चिकित्सा नहीं की जाती, तो उस स्थान में शीघ्र फूटने वाली पतली, लाल या श्याम वर्ण की बहुत सी पिडकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन पिडकाओं से पतला, विशद एवं अरुण वर्ण का थोड़ा-थोड़ा स्राव निकलता है। रोगी मल-मूत्र एवं अपान वायु के निःसरण में अवरोध का अनुभव करता है। इस रोग के जनक कारणों का सेवन करना अनुकूल नहीं पड़ता, अपितु उन कारणों के विपरीत आहार-विहार का सेवन अनुकूल पड़ता है। ये लक्षण वातज विसर्प के हैं॥ ३०॥

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लाशनैश्चितम्। दूष्यान् संदूष्य धमनीः पूरयन् वै विसर्पति॥ ३१॥

पित्तज विसर्प का निदान और सम्प्राप्ति—उष्ण आहार-विहार के सेवन से, विदाही पदार्थ तथा खट्टे पदार्थों के सेवन से शरीर में संचित हुआ पित्त रक्तादि दूष्यों को दूषित कर धमनियों में दूषित रक्त भरकर विसर्प रोग को उत्पन्न करता है॥ ३१॥

तस्य रूपाणि—ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्रनेत्रमूत्र-वर्चस्त्वं हरितहारिद्ररूपदर्शनं च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्रहरित-हारिद्रनीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमं पुष्यति, सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाहसम्भेदनपरीतैः स्फोटकै-रुपचीयते तुल्यवर्णास्रावैरश्थिरपाकैश्च, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्पः॥ ३२॥

पित्तज विसर्प का लक्षण—पित्तज विसर्प के लक्षण ये हैं—ज्वर, प्यास, मूर्च्छा, मोह (चेतना का ह्रास) वमन, अरोचक, अंगों में दर्द, पसीना होना, बहुत जलन होना, प्रलाप, शिरःशूल, नेत्रों में व्याकुलता, अनिद्रा, बेचैनी, शिर में चक्कर, शीतल वायु तथा शीतल जल की अति अभिलाषा, नेत्र, मूत्र और शौच का वर्ण हरा या पीला होना, आँखों से प्रत्येक वस्तु को हरे या पीले वर्ण का देखना और जिस-जिस स्थान में विसर्प फैलता है, वह-वह स्थान ताम्र वर्ण का, हरित वर्ण का, हल्दी के वर्ण का, नीले वर्ण का, काले वर्ण का अथवा रक्तवर्ण का हो जाता है। वह स्थान उठी हुई, बहुत जलनयुक्त, भेदन करने जैसी पीड़ायुक्त, शीघ्र पकने वाली एवं उस स्थान जैसे वर्ण वाली पिडकाओं से भर जाता है, उनसे उस स्थान के वर्ण के समान वर्ण का स्राव होता है। निदान में कही हुई वस्तुएँ अनुकूल नहीं पड़तीं और इनके विपरीत वस्तुएँ अनुकूल पड़ती हैं॥ ३२॥

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसञ्चितः। कफः सन्दूषयन् दूष्यान् कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति॥ ३३॥

कफज विसर्प का निदान और सम्प्राप्ति—मधुर, अम्ल और लवण रस वाले पदार्थों के अधिक प्रयोग से एवं स्निग्ध एवं भारी पदार्थों के प्रयोग से तथा दिन में शयन करने से शरीर में संचित हुआ कफ, रक्त, लसीका, त्वचा और मांस को दूषित कर शरीर के अङ्गों में कठिनाई के साथ विसर्प को उत्पन्न करता है॥ ३३॥

तस्य रूपाणि—शीतकः शीतज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं च यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान् पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकैश्चिरकारिभिर्बहुल-त्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुबध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्घनमनुबद्धं स्निग्धमास्रावं स्रवति, ऊर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहुलत्वगुपलेपैर्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, श्वेतनखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चस्त्वं, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मविसर्पः॥ ३४॥

कफज विसर्प का लक्षण—कफज विसर्प के लक्षण ये हैं—शरीर में ठण्डक लगना, ठण्ड लगकर ज्वर होना, भारीपन, निद्रा, तन्द्रा, अरोचक, मुँह मीठा बना रहना, मुँह कफ से लिप्त जैसा होना, बार-बार थूकना, वमन, आलस्य, शरीर पर भीगा वस्त्र ओढ़ाने जैसा अनुभव होना, जठराग्नि का नाश और दुर्बलता होती है। शरीर के जिस भाग में विसर्प फैलता है, वह स्थान फूल जाता है तथा पाण्डुवर्ण, हल्का लाल, स्निग्ध, सूना-सा, जकड़ा-सा, भारी और कुछ वेदनायुक्त होता है। वहाँ कठिनाई से पकने वाले, दीर्घकाल तक रहने वाले, मोटी त्वचा नाले, श्वेत या श्वेतपीताभ, स्फोट (फफोले या व्रण या पिडकाएँ) हो जाते हैं। स्फोट के फूटने पर सफेद, चिपचिपा, तन्तुमय, गाढ़ा, बँधा हुआ, चिकना स्राव निकलता है। पिडकाओं के ऊपर भारी, स्थिर, जाल के समान फैले, चिकने, मोटी त्वचा वाले अनेक व्रण हो जाते हैं। कफज विसर्प अधिक काल तक बना रहता है और रुग्ण व्यक्ति के नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र और मल में सफेदी होती है। निदान में कहे गये आहार-विहार अनुकूल नहीं पड़ते और उसके विपरीत आहार-विहार लाभकर होते हैं। इस तरह कफज विसर्प के लक्षण का कथन कह दिया गया॥ ३४॥

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः। परस्परं लब्धबलं दहद्गात्रं विसर्पति॥ ३५॥

वात-पित्तज विसर्प की सम्प्राप्ति—वात और पित्त, ये दोनों जब अपने-अपने प्रकोपक कारणों से कुपित होकर एक दूसरे से बल प्राप्त करते हैं, तब शरीर के अङ्गों में जलन उत्पन्न करते हुए विसर्प रोग उत्पन्न करते हैं॥ ३५॥

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्द्यतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थिसन्धिभेदतृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते, यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवति, अग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाश्वेव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोपतप्ते पवनोऽतिबलो भिनत्त्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां, हिक्काश्वासौ जनयति, नाशयति निद्रां, स नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचन सुखमुपलभते, अरतिपरीतः स्थानादासनाच्छय्यां क्रान्तुमिच्छति, क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां भजति, दुर्बलो दुःखप्रबोधश्च भवति; तमेवंविधमग्निविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात्॥ ३६॥

वात-पित्तज विसर्प का लक्षण—वात-पित्तज विसर्प के लक्षण के कारण रोगी उसके संताप से ऐसा अनुभव करता है जैसे वह अपने चारों ओर जलते अंगारों के बीच खड़ा है। वह वमन, अतिसार, मूर्च्छा, दाह, बेहोशी, ज्वर, तमकश्वास, अरोचक, अस्थिसन्धियों में टूटने जैसी पीड़ा, तृष्णा, अपच, अङ्गों में टूटन आदि उपद्रवों से पीड़ित रहता है। जिस-जिस स्थान में विसर्प फैलता है, वह-वह स्थान निरग्नि कोयले जैसा काला या अधिक लाल रंग वाला हो जाता है, आग से जलने जैसे फफोले उठ जाते हैं। वह शीघ्रता से फैलने वाला होता है, इसलिए शीघ्र ही मर्मस्थानों को आक्रान्त कर देता है और मर्मस्थान के आक्रान्त हो जाने पर वायु बलवान् होकर अंगों में भेदन जैसी पीड़ा उत्पन्न करता है, बेहोश बना देता है, हिक्का तथा श्वास रोग उत्पन्न करता है, निद्रा को नष्ट कर देता है और नींद न आने से वह चेष्टा-संज्ञाशून्य जैसा हो जाता है, उसकी मानसिक पीड़ा उसे बेचैन बना देती है और उसे कहीं भी सुख नहीं मिलता। बेचैनी और व्यग्रता से परेशान होकर वह अपने स्थान या आसन से शय्या पर कूदकर चला जाना चाहता है। अत्यधिक क्लेश से त्रस्त होने के कारण उसे शीघ्र ही नींद आ जाती है। वह दुर्बल हो जाता है और जगाने पर जल्दी जग नहीं पाता है। इस प्रकार के लक्षणों से व्याप्त अग्निविसर्प अचिकित्स्य या प्रत्याख्येय होता है॥ ३६॥

कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना। विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति देहिनम्॥ ३७॥

कफ-पित्तज विसर्प की सम्प्राप्ति—कफ तथा पित्त जब अपने-अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हो जाते हैं, तब वे शरीर के एक देश में विसर्प उत्पन्न करते हैं और वह अंग गीला जलार्द्र हो जाता है॥ ३७॥

तद्विकाराः—शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा मोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणां प्रायोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायश्चामाशये विसर्पत्यलसक एकदेशग्राही च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभः कालो मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवावपीडितोऽन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसंदर्शी कृणपगन्धी च भवति संज्ञास्मृतिहन्ता च; कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात्॥ ३८॥

कफ-पित्तज विसर्प का लक्षण—कफ-पित्तज विसर्प से होने वाले विकारों में ठण्डक के साथ ज्वर होता है, शिर भारी होता है, जलन होती है, शरीर गीले कपड़े से ढका हुआ जैसा मालूम पड़ता है, अंगों में थकावट होती है, नींद-तन्द्रा-बेहोशी, भोजन से द्वेष, प्रलाप, अग्निमान्द्य, दुर्बलता, अस्थिभेद, मूर्च्छा, पिपासा, स्रोतों में कफलिप्तता, इन्द्रियों में क्रियाहीनता, शौच होते रहना, अंगों को इधर-उधर पटकते रहना, अंगों में पीड़ा होना, बेचैनी होना और किन्हीं वस्तुओं को पाने के लिए लालसा होना—ये सभी लक्षण होते हैं। प्रायः यह आमाशय में उत्पन्न होता है और आलसी की तरह एक स्थान पर ही रहता है। जिस स्थान पर यह होता है, वह स्थान लाल-पीत या पाण्डुवर्ण की पिडकाओं से व्याप्त होता है। उसमें मयूर पक्ष की तरह चमक होती है, कालिमा होती है, मलिनता होती है, चिकनाहट, अधिक उष्णता, भारीपन, मन्दवेदना, शोथ, गम्भीर पाक और स्रावहीनता होती है। उस स्थान में शीघ्र ही गीलापन हो जाता है और मांस तथा त्वचा में पसीना होने लगता है, क्लेद होता है और सड़न होने लगती है। क्रमशः दर्द कम हो जाता है। विसर्प को छूने पर वह फट जाता है तथा दबाने पर गड्ढा बन जाता है। विसर्प से गीला सड़ा मांस गिरने लगता है और वहाँ से सिरा और स्नायु दिखलायी पड़ने लगती है। विसर्प से सड़े हुए शव जैसी गन्ध निकलती है तथा रोगी की संज्ञा और स्मृति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के कर्दम विसर्प को अचिकित्स्य जानना चाहिए॥ ३८॥

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामादिसेविनामप्रतिकर्मशीलानां श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते; तत्र वायुः श्लेष्मणा विबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कुच्छ्रपाकसाध्यां कफाशये सञ्जनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितं ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां वा दीर्घवृत्तरक्तानां, तदुपतापाज्ज्वरातिसारकासहिक्काश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाकप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनाद्याः प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः, स एतैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः॥ ३९॥

कफ-वातज विसर्प का निदान सम्प्राप्ति और लक्षण—जो व्यक्ति स्थिर, गुरु, कठिन, मधुर, शीतल, स्निग्ध पदार्थ खाते-पीते हैं, अभिष्यन्दी (दही आदि) पदार्थ का अधिक सेवन करते हैं, व्यायाम नहीं करते हैं और ऋतुसन्धियों में दोषों का निर्हरण नहीं करते या रोग होने पर उसका समुचित उपचार नहीं करते हैं, उनके कफ और वायु ये दोनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं। वे दोनों अधिक दुष्ट होने से बहुत बलवान् हो जाते हैं और रक्त, लसीका, त्वचा एवं मांस, इन दूष्यों को दूषित कर विसर्प रोग उत्पन्न करते हैं। जब कफ द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तब वायु उस कफ को अनेक प्रकार से छिन्न-भिन्न करता हुआ क्रमशः कफाशय (उरोभाग) में ऐसी ग्रन्थियों की माला उत्पन्न करता है, जो कठिनता से पकती हैं और कठिनाई से अच्छी होती हैं। जिस रोगी में रक्त की अधिकता होती है, उनके शरीर में वायु रक्त को दूषित कर सिरा, स्नायु, मांस और त्वचा में आश्रित ग्रन्थियों की माला उत्पन्न करता है। उन ग्रन्थियों में वेदना की अधिकता होती है। ये ग्रन्थियाँ कुछ छोटी होती हैं, कुछ मोटी होती हैं, कुछ लम्बी और कुछ गोल होती हैं और कुछ रक्तवर्ण की होती हैं। उन ग्रन्थियों के कष्ट से रोगी को ज्वर, अतिसार, कास, हिक्का, श्वास, शोष, बेहोशी, विवर्णता, अरोचक, अपचन, मुख से पानी छूटना, वमन, मूर्च्छा, अङ्गभङ्ग, निद्रा की अधिकता, बेचैनी और शरीर में थकावट आदि उपद्रव होते हैं। इन उपद्रवों से पीड़ित रोगी सभी प्रकार की चिकित्साओं की सीमा को लाँघ जाता है। इस प्रकार ग्रन्थिविसर्प का रोगी प्रत्याख्येय होता है। यह ग्रन्थिविसर्प का वर्णन कर दिया गया॥ ३९॥

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा, रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः। तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणभूत उपद्रवः, तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति।

स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्; तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत[1] ॥ ४० ॥

उपद्रव का लक्षण—उपद्रव उसे कहते हैं, जो रोग उत्पन्न होने के बाद होता है और रोगजनक कारणों से उत्पन्न होने के कारण रोग पर ही निर्भर होता है। वह बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी हो सकता है। वह रोगोत्पत्ति के बाद उत्पन्न होता है, इसलिए उसे उपद्रव कहा जाता है। रोग प्रधान होता है और रोग का गुणभूत (लक्षण के रूप में अप्रधान) उपद्रव होता है। प्रायः प्रधान रोग के शान्त हो जाने पर अप्रधान उपद्रव स्वयमेव शान्त हो जाता है। जब रोग के कारण शरीर सताये जाने से दुर्बल हो जाता है तब बाद में उपद्रव की उत्पत्ति होती है, जिससे वह रोग की अपेक्षा अधिक कष्टप्रद होता है। इसलिए शीघ्रतापूर्वक उपद्रव की चिकित्सा करनी चाहिए॥ ४० ॥

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात्॥ ४१ ॥

सन्निपातज विसर्प अचिकित्स्य—सन्निपातज विसर्प तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाले कारणों से होता है, उसमें तीनों दोषों से होने वाले सभी लक्षण होते हैं जो सर्वशरीर व्यापी होते हैं। वह सभी धातुओं में व्याप्त होता है, वह शीघ्रप्राणहर होता है और महान् विनाशकारी होता है, इसलिए सन्निपातज विसर्प को अचिकित्स्य (प्रत्याख्येय) जानना चाहिए॥ ४१ ॥

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्या भवन्ति; अग्निकर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टे मर्मणि अनुपगते वा सिरास्नायुमांसक्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्, अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो हन्याद्देहमाश्वेवाशीविषवत्; तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुम्, उपद्रवोपद्रुतं त्वेनं परिहरेत्, सन्निपातजं तु सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात्॥ ४२ ॥

विसर्प की साध्यासाध्यता—इन विसर्पों में वात, पित्त तथा कफ से होने वाले पृथक्-पृथक् वातज, पित्तज और कफज विसर्प **साध्य** होते हैं। अग्निविसर्प और कर्दमविसर्प भी **साध्य** होते हैं, जब कि इनमें कोई उपद्रव न हुआ हो, हृदय आदि मर्मस्थान आक्रान्त न हों, सिरा, स्नायु और मांस में क्लेद न हुआ हो और विसर्प की सामान्य चिकित्सा से इनका लगातार उपचार किया जा रहा हो। यदि इनकी (अग्नि तथा कर्दम विसर्प की) चिकित्सा असावधानी या उपेक्षा से की जायेगी, तो इन दोनों में से कोई एक विषैले साँप की तरह मारक हो जाता है।

---

१. उपद्रवस्त्वित्यादि। तुशब्दः मूलव्याधिव्यवच्छेदे अथवा तुशब्दः प्रकाशने। रोगोत्तरकालज इति रोगमध्यकालजः एतेन रोगसहोत्पन्नस्य लिङ्गस्य व्यवच्छेदः। ····रोगाश्रय इति रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्यतया रोगेण समं तुल्यकारणः। एतेन गलगण्डे जाते स्वहेतूत्पन्नानां ज्वरादीनां रोगोत्तरकालजानामप्युपद्रवत्वं निषेधयति। रोग एवेत्यनेन मूलव्याधेः पृथग् रोगशब्देन व्यवह्रियमाणमुपद्रवं ग्राहयति; तेन व्याध्यवस्थाया रोगोत्तरकालजाया व्यवच्छेदं करोति। ततश्च शोथस्य या व्रणरूपाऽवस्था तस्या व्युदासः, तथा सर्वासामपि व्याध्यवस्थानामवस्थालक्षणयुक्तानां व्युदासः कृतो भवति; अवस्था व्याधेरवश्यंभावितया मूलव्याधिस्वरूपा एव, उपद्रवस्तु नावश्यं भवति। यद्यपि केचिन्महाबलदोषारब्धा व्याधय उपद्रवयुक्ता एवोत्पद्यन्ते, सहोत्पन्ने चोपद्रवार्थो नास्ति, तथापि ये गदा उपद्रवरूपा जायन्ते, ते तत्र सहोत्पन्ना अपि योग्यतया उपद्रवा भण्यन्ते। परमार्थतस्तु सहभाविनो नोपद्रवलक्षणयुक्ताः, किन्तु रोगसंकरत्वेन तत्र जायन्त इति। ···निरुक्तिमाह—पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः। एतेनोपद्रवति व्याध्युत्पादसमीपे उपैतीति उपद्रवः; इति निरुक्तिः कृता भवति। व्याधेर्गुणभूत इति मूलव्याध्यपेक्षयाऽप्रधानमित्यर्थः। ····प्रायः शब्देन व्यार्मचारवाचिना क्वचिदुपद्रवस्य स्वतन्त्रा चिकित्साऽप्युक्ता। ····अभिबाधेतेति त्वरया चिकित्सेत्; सा च चिकित्सा मूलव्याधिप्रशमनेन तथा स्वतन्त्रापि भवतीत्युक्तमेव। (चक्रपाणि टीका)

ग्रन्थिविसर्प में जब तक कोई उपद्रव न हुआ हो, तभी तक उसकी चिकित्सा करनी चाहिए और उपद्रव उत्पन्न हो जाने पर उसे छोड़ देना चाहिए। उसकी चिकित्सा न करें।

सन्निपातज विसर्प सभी धातुओं में व्याप्त हो जाता है, शीघ्र प्राणहारक होता है और त्रिदोषज होने से परस्पर विरुद्ध चिकित्सा वाला होता है, इसलिए उसे असाध्य जानना चाहिए॥ ४२ ॥

तत्र साध्यानां साधनमनुव्याख्यास्यामः ॥ ४३ ॥

विसर्प चिकित्सा का उपक्रम—अब (हम) साध्य विसर्पों की चिकित्सा का वर्णन करेंगे॥ ४३ ॥

लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां च सेवनम्। कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैः प्रलेपयेत्॥ ४४ ॥

कफस्थानगत सामदोष चिकित्सा—यदि विसर्प में सामदोष कफ स्थान (उरःस्थल, शिर, ग्रीवा, पर्व, आमाशय के ऊर्ध्वभाग और मेद) में स्थित हो, तो उपवास और वमन कराना कल्याणकारक होता है, तिक्तरस वाले पदार्थों का सेवन लाभकर होता है तथा रूक्ष एवं शीतवीर्य द्रव्यों का प्रलेप लगाना हितकर होता है॥ ४४ ॥

पित्तस्थानगतेऽप्येतत् सामे कुर्याच्चिकित्सितम्। शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥

पित्तस्थानगत सामदोष चिकित्सा—यदि विसर्प में सामदोष पित्त स्थान (स्वेद, रस, लसीका, रक्त, आमाशय का अधोभाग) में हो, तो उसमें भी यही चिकित्सा (उपवास, वमन तथा तिक्त रस का सेवन) करनी चाहिए तथा विशेषकर पित्तशमनार्थ रक्तमोक्षण और विरेचन का प्रयोग करना चाहिए॥ ४५ ॥

मारुताशयसम्भूतेऽप्यादितः स्याद्विरूक्षणम्। रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम्॥ ४६ ॥

वातस्थानगत दोषचिकित्सा—यदि विसर्परोग वातस्थान (वस्ति, मलाशय, कटि, सक्थि, पैर, अस्थि और पक्वाशय) में उत्पन्न हुआ हो, तो सबसे पूर्व रूक्षताजनक उपचार करना चाहिए। यदि रक्त या पित्तविकार भी साथ-साथ हों, तो भी पहले स्नेहन करना हितकर नहीं माना जाता है॥ ४६ ॥

वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते। लघुदोषे, महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम्॥ ४७ ॥

घृतपान तथा विरेचन प्रयोग—जब विसर्प रोग में वात की प्रधानता हो तब और पैत्तिक विसर्प में अल्पांश में दोषदुष्टि हो, तब भी तिक्तघृत (कुष्ठाधिकार-कथित) का पान कराना चाहिए। जब पैत्तिक विसर्प में दोष बढ़ा हुआ हो, तो विरेचन का प्रयोग करना चाहिए॥ ४७ ॥

न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचयेत्। तेन दोषो ह्युपष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत्॥ ४८ ॥
तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं विद्याद्विसर्पिणः। रुधिरस्यावसेकं च तद्ध्यस्याश्रयसंज्ञितम्॥ ४९ ॥

विरेचनघृत और रक्तमोक्षण—विसर्प के जिस रोगी में पित्त दोष अधिक बढ़ गया हो, उसे ऐसे घृत का सेवन नहीं कराना चाहिए जो विरेचन कार्य न करे, क्योंकि अविरेचनकारक घृत के सेवन से दोष रुक जाता है और वह त्वचा, रक्त तथा मांस में पाक उत्पन्न करता है। इसलिए विसर्प के रोगी को प्रारम्भ में विरेचन औषध का सेवन कराना ही अच्छा है, इसके अतिरिक्त रक्तमोक्षण भी कराना चाहिए; क्योंकि रक्त को विसर्प का आश्रय कहा जाता है॥ ४८-४९ ॥

इति वीसर्पनुत् प्रोक्तं समासेन चिकित्सितम्। एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः सम्प्रवक्ष्यते॥ ५० ॥

चिकित्सा के विस्तार-कथन का उपक्रम—इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से संक्षेप में, विसर्पनाशक चिकित्सा कही गयी, उसे ही पुनः विस्तारपूर्वक कहा जायगा॥ ५० ॥

मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च। वमनं सम्प्रदातव्यं विसर्पे कफपित्तजे॥ ५१ ॥
पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च। विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह॥ ५२ ॥
यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम्। विसर्पिणां प्रयोज्यास्ते दोषनिर्हरणाः शिवाः ॥

कफ-पित्तज विसर्प में वमन—मदनादि योग—मदनफल, मुलहठी, निम्बपत्र और इन्द्रजौ को पीसकर कफ-पित्तज विसर्प रोग में वमन कराने के लिए पिलाना चाहिए। पटोलादि योग—परवर की पत्ती या मूल, नीम की पत्ती या छाल, पीपर, मदनफल और इन्द्रजौ को पीसकर विसर्प रोग में वमनार्थ पिलाना चाहिए। विसर्प के रोगियों के दोष को दूर करने वाले लाभप्रद जिन कफ-पित्तनाशक योगों का वर्णन आगे कल्पस्थान में किया जायगा, उनका भी प्रयोग करना चाहिए॥ ५१-५३॥

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि। सारिवामलकोशीरमुस्तानां वा विचक्षणः॥ ५४॥
कषायान् पाययेद् वैद्यः सिद्धान् वीसर्पनाशनान्।

तीन कषाय योग—(१) नागरमोथा, नीम की छाल और परवर की पत्ती, (२) लालचन्दन और नीलकमल और (३) अनन्तमूल, आँवला, खश और नागरमोथा, इनको अलग-अलग प्रयोग करें। इन्हें कूटकर क्वाथ बनाकर पिलाना चाहिए। ये विसर्प को नष्ट करने में अनुभूत सफल योग हैं॥ ५४॥

किराततिक्तकं लोध्रं चन्दनं सदुरालभम्॥ ५५॥
नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सबिभीतकम्। मधुकं नागपुष्पं च दद्याद्वीसर्पशान्तये॥ ५६॥

किराततिक्तादि क्वाथ—चिरायता, पठानी लोध, लालचन्दन, धमासा, सोंठ, कमल की केशर, नीलकमल, बहेड़े का छिलका, मुलहठी और नागकेशर, इन्हें कूटकर, क्वाथ बनाकर विसर्प के शमनार्थ पिलाना चाहिए॥ ५५-५६॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम्। नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत्॥ ५७॥

प्रपौण्डरीकादि क्वाथ—पुण्डरिया काठ, मुलहठी, कमल की केशर, नीलकमल, नागकेशर और पठानी लोध, इनको कूटकर, क्वाथ बनाकर विसर्प-शमनार्थ पान करें॥ ५७॥

द्राक्षां पर्पटकं शुण्ठीं गुडूचीं धन्वयासकम्। निशापर्युषितं दद्यात् तृष्णावीसर्पशान्तये॥ ५८॥

द्राक्षादि शीतकषाय—मुनक्का, पित्तपापड़ा, सोंठ, गुरुच और धमासा, इनके चूर्ण को रात भर पानी में भिगोकर प्रातःकाल मसलकर छानकर विसर्प-रोगशमनार्थ पिलाना चाहिए॥ ५८॥

पटोलं पिचुमर्दं च दार्वीं कटुकरोहिणीम्। यष्ट्याह्वां त्रायमाणां च दद्याद्वीसर्पशान्तये॥ ५९॥

पटोलादि शीतकषाय—परवर की पत्ती, नीम की छाल, दारुहल्दी, कुटकी, मुलहठी और त्रायमाणा, इनका शीतकषाय बनाकर विसर्प-शमनार्थ पान करायें॥ ५९॥

पटोलादिकषायं वा पिबेत् त्रिफलया सह। मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत्॥ ६०॥

मसूरविदल क्वाथ—ऊपर कहे गये पटोलादि शीतकषाय के द्रव्यों के साथ आँवला, हर्रा, बहेड़ा और मसूर की दाल मिलाकर, क्वाथ कर, फिर घी मिलाकर विसर्प के शमन के लिए पिलाना चाहिए॥ ६०॥

पटोलपत्रमुद्गानां रसमामलकस्य च। पाययेत घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम्॥ ६१॥

पटोलादि क्वाथ—परवर की पत्ती, मूँग और आँवले का क्वाथ कर, घी मिलाकर विसर्प से पीड़ित व्यक्ति को पिलाना चाहिए॥ ६१॥

यच्च सर्पिर्महातिक्तं पित्तकुष्ठनिबर्हणम्। निर्दिष्टं तदपि प्राज्ञो दद्याद् वीसर्पशान्तये॥ ६२॥
त्रायमाणाघृतं सिद्धं गौल्मिके यदुदाहृतम्। विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात्तदपि बुद्धिमान्॥ ६३॥

विसर्पशामक घृत—विशेषज्ञ वैद्य को विसर्प के शमन के लिए पित्तज कुष्ठनाशक जो 'महातिक्त घृत' कहा गया है, उसका प्रयोग कराना चाहिए। इसी प्रकार बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि विसर्प रोग को शान्त करने के लिए गुल्म रोग चिकित्सा में कथित 'त्रायमाणा घृत' का सेवन करायें॥ ६२-६३॥

त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य सर्पिषा पयसाऽपि वा। घर्माम्बुना वा संयोज्य मृद्वीकानां रसेन वा॥ ६४॥
विरेकार्थं प्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम्। त्रायमाणाभृतं वाऽपि पयो दद्याद्विरेचनम्॥ ६५॥
त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह। प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरनाशनम्॥ ६६॥
रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत्। स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः॥ ६७॥
दोषे कोष्ठगते भूय एतत् कुर्याच्चिकित्सितम्।

कोष्ठगत विसर्परोग चिकित्सा—विरेचनकारक चार योग—(१) निशोथचूर्ण घी के साथ मिलाकर या दूध के साथ या गरम जल अथवा मुनक्के के क्वाथ में विरेचन कराने के लिए देना चाहिए। यह विसर्प को नष्ट करने में सिद्ध प्रयोग है अथवा (२) त्रायमाणा का चूर्ण डालकर क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। (३) त्रिफला के क्वाथ में निशोथ का चूर्ण और घी मिलाकर विरेचनार्थ पिलाना चाहिए। यह प्रयोग विसर्पजन्य ज्वर को नष्ट करता है। (४) आँवले के रस या क्वाथ में घी मिलाकर विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी कड़े कोष्ठ वाला हो, तो उसे इसी योग में निशोथ का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए। जब दोष (विसर्प रोग) का प्रभाव कोष्ठगत हो, तो फिर इन उपर्युक्त योगों का प्रयोग करना चाहिए॥ ६४-६७॥

शाखादृष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्॥ ६८॥
भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्। पित्तान्वितं जलौकोभिः, कफान्वितमलाबुभिः॥
यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम्। त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते॥ ७०॥

शाखागत विसर्परोग चिकित्सा—शाखा शब्द से रक्तादि धातु तथा त्वचा का ग्रहण होता है। यदि शाखागत रक्त दोष से दूषित हो गया हो, तो सबसे पहले रक्त को ही निकालना चाहिए। वातदोष से रक्त दूषित हो गया हो, तो सींग से रक्त निकालना चाहिए। यदि पित्त से रक्त दूषित हो, तो जोंक से रक्त निकाले और यदि कफदोष से रक्त दूषित हुआ हो, तो अलाबू (तुम्बी) लगाकर रक्त को निकालना चाहिए। अथवा जिस स्थान में विसर्प हुआ हो, उसके समीप में ही सिरा का वेधकर रक्त निकालना चाहिए, क्योंकि रक्त जब अशुद्ध हो और उसे न निकाला जाय, तो रक्त में क्लिन्नता (सड़न) होती है, जिसके परिणामस्वरूप त्वचा, मांस और स्नायुओं में भी सड़न होने लगती है॥ ६८-७०॥

वक्तव्य—आचार्य चरक ने संशोधन चिकित्सा को प्रायः सर्वत्र प्रथम स्थान में रखा है। 'विसर्प' रक्तप्रदोषज रोग है और इसमें प्रधान दोष पित्त होता है, इसलिए दोषाधिक्य होने पर आभ्यन्तर संशोधन ही श्रेष्ठ उपचार है। अतएव विसर्प की चिकित्सा में वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण का उपदेश किया गया है। जब तक भीतर से रक्तशोधन नहीं होगा तब तक केवल बाहर के लेप, अभ्यंग आदि कर्म कार्यकर नहीं होते हैं। आगे बाह्य लेपन आदि बतलाये गये हैं। यदि अल्पांश में दोष दुष्टि हो, तो केवल बाहरी लेपन आदि से भी लाभ हो जाता है।

अन्तःशरीरे संशुद्धे दोषे त्वङ्मांससंश्रिते। आदितो वाऽल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते॥

विसर्प में बाह्य उपचार का उपक्रम—पूर्वोक्त प्रकार के प्रयोगों से जब शरीर के भीतरी भाग का वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण के द्वारा संशोधन कर दिये जाने पर दोष केवल त्वचा और मांस में हो अथवा प्रारम्भ से ही जो अल्प दोष वाले हों, उनके लिए बाह्य चिकित्सा का उपदेश किया जायगा॥ ७१॥

उदुम्बरत्वङ्मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम्। नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च प्रदेहः सघृतो हितः॥ ७२॥

उदुम्बरादि प्रदेह—गूलर की छाल, मुलहठी, कमल की केशर, नीलकमल, नागकेशर और फूलप्रियंगु को बारीक पीसकर, घी मिलाकर प्रदेह लगाना विसर्प रोग को दूर करता है॥ ७२॥

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः। बिसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृताप्लुतः॥७३॥

न्यग्रोधपादादि लेप—बटजटा के नवीन अंकुर, केले के स्तम्भ का भीतरी कोमल भाग और कमलकन्द, इन सबको समभाग लेकर, महीन पीसकर शतधौत घृत मिलाकर लेप करना चाहिए॥७३॥

कालीयं मधुकं हेम वन्यं चन्दनपद्मकौ। एला मृणालं फलिनी प्रलेपः स्याद् घृताप्लुतः॥७४॥

कालीयादि प्रलेप—पीत चन्दन या दारुहल्दी, मुलहठी, नागकेशर, केवटीमोथा, लालचन्दन, पद्मकाठ, इलायची, खश और फूलप्रियंगु, इन सबको बारीक पीसकर घी मिलाकर प्रलेप लगाना चाहिए॥७४॥

शाद्वलं च मृणालं च शङ्खं चन्दनमुत्पलम्। वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्यात् सतण्डुलः॥७५॥

शाद्वलादि प्रदेह—हरी दूब, खश, शंख, लालचन्दन, नीलकमल और बेंत का मूल तथा चावल, इन सबको महीन पीसकर प्रदेह लगाना चाहिए॥७५॥

सारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम्। मञ्जिष्ठा चन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम्॥७६॥

सारिवादि प्रलेप—अनन्तमूल, कमल की केशर, खश, नीलकमल, मजीठ, चन्दन, पठानी लोध और हर्रे का छिलका, इन सबको एक में पीसकर प्रलेप करना चाहिए॥७६॥

नलदं च हरेणुश्च लोध्रं मधुकपद्मकौ। दूर्वा सर्जरसश्चैव सघृतं स्यात् प्रलेपनम्॥७७॥

नलदादि प्रलेप—खश, मेउड़ी का बीज, पठानी लोध, मुलहठी, नीलकमल, हरी दूब और राल, इन सबको बारीक पीसकर घी मिलाकर प्रलेप लगाना चाहिए॥७७॥

यावकाः सक्तवश्चैव सर्पिषा सह योजिताः। प्रदेहो मधुकं वीरा सघृता यवसक्तवः॥७८॥

यावक प्रदेह एवं मधुक प्रदेह—(१) जौ की पेया या जौ के सत्तू को घी में मिलाकर प्रदेह लगायें। (२) मुलहठी, शतावर और जौ का सत्तू पीसकर, घी मिलाकर प्रदेह लगायें॥७८॥

बलामुत्पलशालूकं वीरामगुरुचन्दनम्। कुर्यादालेपनं वैद्यो मृणालं च बिसान्वितम्॥७९॥

बलादि आलेपन एवं मृणाल लेप—(१) बरियार की पत्ती, नीलकमल का कन्द, शतावर, अगुरु और लालचन्दन को समभाग लेकर लेप करें अथवा (२) खश और कमलकन्द, समभाग पीसकर लेप करें॥७९॥

यवचूर्णं समधुकं सघृतं च प्रलेपनम्। हरेणवो मसूराश्च समुद्गाः श्वेतशालयः॥८०॥
पृथक् पृथक् प्रदेहाः स्युः सर्वे वा सर्पिषा सह। पद्मिनीकर्दमः शीतो मौक्तिकं पिष्टमेव वा॥८१॥
शङ्खः प्रवालः शुक्तिर्वा गैरिकं वा घृताप्लुतम्। प्रपौण्डरीकं मधुकं बला शालूकमुत्पलम्॥८२॥

(पृथगेते प्रदेहाश्च हिता ज्ञेया विसर्पिणाम्)

विविध प्रदेह—विसर्प पर बाह्यरूप से लगाने के लिए इन प्रदेहों को जानना चाहिए। जैसे—१. यव का आटा और मुलहठी का समभाग चूर्ण मिश्रित कर घी मिलाकर प्रलेप करना चाहिए। इसी प्रकार २. मेउड़ी के बीज का चूर्ण, ३. मसूर का चूर्ण, ४. मूँग का चूर्ण, ५. सफेद चावल का आटा, इनको अलग-अलग पीसकर, घी मिलाकर विसर्प पर लगाना चाहिए अथवा ६. सबको एक ही साथ पीसकर, घी मिलाकर लगाना चाहिए। ७. कमल के मूल का कीचड़, ८. मोती की पिष्टी, ९. शंख, १०. मूँगा, ११. सीप अथवा १२. गेरू को पीसकर, घी मिलाकर लगाना चाहिए या १३. पुण्डरियाकाठ, १४. मुलहठी, १५. बरियार, १६. कमल का कन्द या १७. नीलकमल, इन्हें अलग-अलग या एकत्र पीसकर घी मिलाकर प्रलेप करना चाहिए॥८०-८२॥

न्यग्रोधपत्रदुग्धीके सघृतं स्यात् प्रलेपनम्। बिसानि च मृणालं च सघृताश्च कशेरुकाः॥८३॥
शतावरीविदार्योश्च कन्दौ धौतघृताप्लुतौ। शैवालं नलमूलानि गोजिह्वा वृषकर्णिका॥८४॥
इन्द्राणिशाकं सघृतं शिरीषत्वग्बलाघृतम्। न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवेतसाश्वत्थपल्लवैः॥८५॥
त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिर्भिः शीतैरालेपनं हितम्। प्रदेहाः सर्व एवैते वातपित्तोल्बणे शुभाः॥८६॥

वातपित्तोल्बण विसर्प में न्यग्रोधपत्रादि प्रलेप आदि—(१) वट के कोमल पत्ते और दुद्धी घास सम भाग लेकर, पीसकर, घी मिलाकर प्रलेप करना चाहिए या (२) कमलकन्द, खश और कशेरु, इन सबको पीसकर घी मिलाकर प्रलेप करें। (३) शतावर और विदारीकन्द, इन दोनों को समभाग लेकर, पीसकर, शतधौत घी मिलाकर प्रलेप करना चाहिए। (४) सेवार, नरकल की जड़, गोजिह्वा, मूषाकर्णी, निर्गुण्डी शाक, इन्हें पीसकर, घृत मिलाकर प्रलेप करना चाहिए अथवा (५) शिरीष की छाल, बरियार के मूल की छाल, इनको पीसकर घी मिलाकर लेप लगाना चाहिए अथवा (६) वट, गूलर, पाकड़, बेंत और पीपर के पत्ते और छाल लेकर, बारीक पीसकर, अधिक घी मिलाकर ठण्डा-ठण्डा आलेपन लगाना हितकर होता है। ये सभी प्रदेह या लेप वातपित्तोल्बण विसर्प में लाभप्रद होते हैं॥८३-८६॥

सकफे तु प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान्। त्रिफलां पद्मकोशीरं समङ्गां करवीरकम्॥८७॥
नलमूलान्यनन्तां च प्रदेहमुपकल्पयेत्। खदिरं सप्तपर्णं च मुस्तमारग्वधं धवम्॥८८॥
कुरण्टकं देवदारु दद्यादालेपनं भिषक्। आरग्वधस्य पत्राणि त्वचं श्लेष्मातकस्य च॥८९॥
इन्द्राणिशाकं काकाह्वां शिरीषकुसुमानि च। शैवालं नलमूलानि वीरां गन्धप्रियङ्गुकाम्॥९०॥
त्रिफलां मधुकं वीरां शिरीषकुसुमानि च। प्रपौण्डरीकं ह्रीबेरं दार्वीत्वङ्मधुकं बलाम्॥९१॥
पृथगालेपनं कुर्याद् द्वन्द्वशः सर्वशोऽपि वा। प्रदेहाः सर्व एवैते देयाः स्वल्पघृताप्लुताः॥९२॥

वातपित्तोल्बणे ये तु प्रदेहास्ते घृताप्लुताः।

कफज विसर्पनाशक प्रदेह—अब मैं विसर्प के कफयुक्त होने में लाभकर प्रदेहों को कहूँगा—(१) त्रिफलादि प्रदेह—बीज निकाले हुए आँवला, हर्रे, बहेड़ा, पद्मकाठ, खश, लजैनी, कनइल की जड़, नरकल की जड़ और अनन्तमूल, इन सबको पीसकर प्रदेह लगाना चाहिए। (२) खदिरादि प्रलेप—कत्था, छितवन की छाल, नागरमोथा, अमलतास की पत्ती, धव की छाल, कटसरैया की पत्ती और देवदारु, इन सबको पीसकर कफज विसर्प में आलेप लगाना चाहिए। (३) अमलतास के पत्ते और लिसोड़ा की छाल को पीसकर लेप करें। (४) निर्गुण्डी शाक, मकोय, शिरीष के फूल, इन्हें पीसकर लेप करना चाहिए। (५) सेवार, नरकल की जड़, विदारीकन्द और फूलप्रियंगु को पीसकर लेप करें। (६) आँवला, हर्रे, बहेड़ा, मुलहठी, विदारीकन्द और शिरीष के फूल पीसकर लेप करें। अथवा (७) पुण्डरिया काठ, सुगन्धबाला, दारुहल्दी की छाल, मुलहठी और बरियार का मूल, इन सबको पीसकर लेप करना चाहिए।

इन उपर्युक्त औषधों को एक-एक, अलग-अलग या दो-दो अथवा सभी को एक साथ पीसकर लेप करना चाहिए। कफज विसर्पोपयोगी इन प्रदेहों में बहुत थोड़ा घी मिलाना चाहिए, किन्तु वातपित्त-प्रधान विसर्पों के प्रदेहों में अधिक घी मिलाना ठीक है॥८७-९२॥

घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात् केवलेन वा॥९३॥
घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना। पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा॥९४॥
वातासृक्पित्तबहुलं विसर्पं बहुशो भिषक्। सेचनास्ते प्रदेहा ये त एव घृतसाधनाः॥९५॥
ते चूर्णयोगा वीसर्पव्रणानामवचूर्णनाः।

वात, रक्त एवं पित्तप्रधान विसर्प में उपचार—(१) वात, रक्त या पित्त की अधिक विकृति से होने वाले विसर्प पर सौ बार का धोया हुआ घी लगाना चाहिए; अथवा (२) शीतल घी का ऊपरी भाग लेकर लेप करना चाहिए; अथवा (३) दूध के साथ मुलहठी का क्वाथ मिलाकर उसे धोना चाहिए; अथवा (४) पञ्चवल्क (बर-पीपर-पाकड़-गूलर-पारीष पीपर) की छाल से बनाये हुए क्वाथ को ठण्डा कर उससे विसर्प को धोना चाहिए।

ऊपर जो प्रदेह बतलाये गये हैं, उन्हीं औषधों के क्वाथ से विसर्प को धोना चाहिए, उन्हीं औषधों के क्वाथ तथा कल्क से पकाये गये घृत को लगाना चाहिए एवं उन्हीं के चूर्ण को विसर्प के व्रणों पर बुरकना-छिड़कना चाहिए॥९३-९५॥

दूर्वास्वरससिद्धं च घृतं स्याद् व्रणरोपणम्॥ ९६॥
दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रं केशरं चावचूर्णनम्। पटोलः पिचुमर्दश्च त्रिफला मधुकोत्पले॥ ९७॥
एतत् प्रक्षालनं सर्पिर्व्रणचूर्णं प्रलेपनम्।

दूर्वाघृत—(१) दूर्वा के स्वरस से विधिवत् पकाया हुआ घृत विसर्प के व्रणों का रोपण करता है। (२) दारुहल्दी की छाल, मुलहठी, पठानी लोध और नागकेशर, इनको समभाग लेकर खूब बारीक चूर्ण कर व्रणों पर बुरकने या अवचूर्णन करने से व्रणों का रोपण होता है। (३) परवर की पत्ती, नीम की छाल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, मुलहठी और नीलकमल को समभाग लेकर इनके क्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करना चाहिए अथवा इनके क्वाथ एवं कल्क से घृत पकाकर उसे लगायें या इनका चूर्ण बनाकर व्रणों का अवचूर्णन करें अथवा इन्हें पीसकर प्रलेप लगायें॥ ९६-९७॥

प्रदेहाः सर्व एवैते कर्तव्याः सम्प्रसादनाः॥ ९८॥
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम्। अधावनोद्धृते पूर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः॥ ९९॥
देयाः प्रदेहाः कफजे पर्यायानोद्धृते घनाः। त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः॥
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः। न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्॥ १०१॥
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत्। क्लेदवीसर्पशूलानि सोष्णभावात् प्रवर्तयेत्॥ १०२॥
लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम्। स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते॥ १०३॥
उपर्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचार्यते। तानेव दोषाञ्जनयेत् पट्टस्योपरि यान् कृतः॥ १०४॥

प्रदेह लगाने के नियम या विधान—(१) पूर्व में जो प्रदेह बतलाये गये हैं, ये सभी खूब बारीक और विधिपूर्वक बनाये जाने चाहिए, जिससे ये विसर्प के व्रणों को ठीक करने में तथा उस स्थान के सवर्णीकरण में समर्थ हों। (२) प्रदेह जब तक सूखे नहीं तभी तक उसे हटाकर पुनः दूसरा लगा देना चाहिए अर्थात् थोड़ी-थोड़ी देर पर पुनः पुनः प्रदेह लगायें। (३) वात, रक्त तथा पित्त प्रधान विसर्प पर पूर्व लगाये गये प्रदेह को बिना धोये (गीला रहने पर ही) हटाकर (बार-बार) पतला प्रदेह लगाना चाहिए। (४) कफज विसर्प में जब पूर्व का प्रदेह सूख जाये, तब उसे हटाकर फिर गाढ़ा प्रदेह लगाना चाहिए।

प्रलेप का प्रमाण—(५) औषध को पीसकर चटनी की तरह कल्क बना ले और उसे विसर्प के व्रण पर, अंगूठे की मोटाई की एक तिहाई जितनी मोटाई में लगाना चाहिए। प्रलेप का कल्क न बहुत चिकना हो न बहुत रूक्ष हो, न वह पिण्ड जैसा घना हो न पतला हो, अपितु लेप लगाने लायक सम हो।

(६) एक रात का बासी लेप पुनः नहीं लगाना चाहिए और एक बार का लगाया हुआ लेप उतार कर पुनः उसे ही नहीं लगाना चाहिए। (७) कपड़े की पट्टी पर लेप-कल्क को प्रलिप्त कर बाँधने से व्रण में स्वेदन होने लगता है और पसीना आने से पिडकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा खुजली होने लगती है। शरीर की गर्मी बाहर न निकलने से लेप बाँधने के स्थान में क्लिन्नता (गीलापन), विसर्प और शूल होने लगता है। (८) यदि पहले लगाये गये लेप को बिना हटाये पुनः उस पर ही लेप लगा दिया जाता है, तो वही दोष होते हैं, जो कपड़े की पट्टी पर लेप लगाकर बाँधने से होते हैं (जैसा कि सातवें सन्दर्भ में ऊपर कहा गया है)॥ ९८-१०४॥

अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचार्यते। त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ् न दोषं शमयत्यपि॥
तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यापुटायते। न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति॥
तन्वालिप्तेन ये दोषास्तानेव जनयेद् भृशम्। संशुष्कः पीडयेद् व्याधिं निःस्नेहो ह्यवचारितः॥

अतिस्निग्ध, अतिद्रव या अतितनु लेप निषिद्ध—(१) यदि लेप का कल्क अधिक चिकना या अधिक पतला लगाया जाता है, तो वह लेप त्वचा पर ठीक से सटता नहीं है और वह दोष को भी नहीं शान्त करता है। (२) अधिक पतला लेप नहीं लगाना चाहिए; क्योंकि वह सूखकर फट जाता है और औषध का रस रोग पर अपना प्रभाव नहीं पहुँचा पाता तथा पहले ही सूख जाता है। (३) पतला लेप लगाने से जो दोष होते हैं, वे ही दोष बिना स्नेह के प्रलेप लगाने से भी होते हैं। बिना स्नेह **वाला** प्रलेप लगाने से वह सूख जाता है और रोग में कष्ट पहुँचाता है॥ १०५-१०७॥

अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये। लङ्घितेभ्यो हितो मन्थो रूक्षः सक्षौद्रशर्करः॥ १०८॥
मधुरः किञ्चिदम्लो वा दाडिमामलकान्वितः। सपरूषकमृद्वीकः सखर्जूरः शृताम्बुना॥ १०९॥
तर्पणैर्यवशालीनां सस्नेहा चावलेहिका। जीर्णे पुराणशालीनां यूषैर्भुञ्जीत भोजनम्॥ ११०॥
मुद्गान्मसूरांश्चणकान् यूषार्थमुपकल्पयेत्। अनम्लान् दाडिमाम्लान् वा पटोलामलकैः सह॥
जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत्। रूक्षान् परूषकद्राक्षादाडिमामलकान्वितान्॥
रक्ताः श्वेता महाह्राश्च शालयः षष्टिकैः सह। भोजनार्थे प्रशस्यन्ते पुराणाः सुपरिस्रुताः॥
यवगोधूमशालीनां सात्म्यान्येव प्रदापयेत्। येषां नात्युचितः शालिर्नरा ये च कफाधिकाः॥

विसर्प में पथ्य—अब विसर्पों को दूर करने के लिए हितकर अन्नपान और पथ्य का वर्णन किया जायगा। (१) **मन्थ**—जो विसर्प के रोगी लंघन कर चुके हों, उनके लिए मधु और चीनी मिला हुआ बिना घी के जौ का सत्तू (मन्थ) देना हितकर होता है। इसे मधुर बनाकर अथवा खट्टे अनार के रस या आँवले के रस से खट्टा बनाकर सेवन कराना चाहिए। (२) अथवा फालसा, मुनक्का और खजूर के क्वाथ में यव या शालिचावल के सत्तू को घोलकर, घी मिलाकर चाटने के लिए अवलेहिका बनाकर देना चाहिए। (३) जब उक्त अवलेहिका पच जाये, तो पुराने अगहनी चावल का भात और मूँग आदि का यूष खाने को देना चाहिए। (४) **यूष**—यूष बनाने के लिए मूँग, मसूर और चना लेना चाहिए और परवर तथा आँवला डालकर, यूष तैयार कर रोगी की इच्छा के अनुसार बिना अम्ल या खट्टे अनार के रस से अम्ल बनाकर खिलायें। (५) **मांस रस**—यदि रोगी को मांस खाने का अभ्यास हो, तो उसे फालसा, मुनक्का, अनार और आँवले के क्वाथ में जांगल पशु-पक्षियों का विधिवत् निर्मित मांसरस का सेवन करायें, जिसमें घी-तैल नाममात्र का डाला गया हो और वह रूक्ष ही रहे। (६) **पुराना चावल**—लालशालि, श्वेतशालि, महाशालि या साठी का पुराना चावल लेकर, उसका भात बनाकर, मण्ड निकालकर विसर्प वाले को खाने के लिए देना चाहिए। (७) **सात्म्य आहार**—जिन विसर्प के रोगियों को शालि का भात अनुकूल न हो या जो कफप्रधान हों, उन्हें जौ, गेहूँ और शालि चावल, इनमें जो अनुकूल जान पड़े, वही देना चाहिए॥ १०८-११४॥

विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वपनं दिवा। क्रोधव्यायामसूर्याग्निप्रवातांश्च विवर्जयेत्॥ ११५॥

विसर्प रोग में अपथ्य—विसर्प के रोगी को जलन उत्पन्न करने वाले अन्न और पेय पदार्थ एवं विरुद्ध आहार का सेवन नहीं करना चाहिए तथा दिन में सोना, क्रोध करना, व्यायाम करना, धूप में रहना, आग तापना और तेज हवा या आँधी में रहना छोड़ देना चाहिए॥ ११५॥

कुर्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके। रूक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके॥
वातपित्तप्रशमनमग्निर्बीसर्पणे हितम्। कफपित्तप्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञिते॥ ११७॥

विसर्प में दोषानुसार चिकित्सासूत्र : पित्तज विसर्प—पूर्व में विसर्प रोग की जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उसमें जो चिकित्सा शीत पदार्थों के प्रयोग वाली तथा शीतलता प्रदान करने वाली हो, उसे पित्तज विसर्प में प्रयोग करना चाहिए। **कफज विसर्प**—पहले वर्णित चिकित्सा प्रकारों में जो रूक्ष पदार्थों द्वारा रूक्षता लाने वाली हो, उसे कफज विसर्प में प्रयोग करें। **वातज विसर्प**—जो चिकित्सा स्निग्ध द्रव्यों के प्रयोग से तथा स्निग्धताजनक बतलायी गयी है, उसका प्रयोग वातज विसर्प को शान्त करने के लिए करना चाहिए। **अग्नि विसर्प**—जो द्रव्य शीतवीर्य और स्निग्ध गुणवाले होते हैं, वे वात-पित्तशामक होने से अग्नि विसर्प में हितकर होते हैं। **कर्दम विसर्प**—जो द्रव्य शीतवीर्य तथा रूक्ष गुण वाले होते हैं, वे कफ-पित्तशामक होने से कर्दम विसर्प में लाभप्रद होते हैं॥ ११६-११७॥

वक्तव्य—यहाँ द्वन्द्वज विसर्पों के चिकित्सासूत्र के कथन में ग्रन्थिविसर्प का उल्लेख नहीं किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पूर्व में उसे 'सभी चिकित्सा-विधियों की सीमा से परे बतलाकर विवर्जनीय (प्रत्याख्येय) कहा गया है' जिससे इसकी भयंकरता प्रकट होती है, इसलिए इसकी चिकित्सा का अति संक्षिप्त सूत्ररूप में कहना कोई फलप्रद नहीं होता। अतएव यहाँ उसका चिकित्सासूत्र न कहकर अग्रिम सन्दर्भों में उसकी विशेष चिकित्सा का वर्णन किया जायगा।

रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा ग्रन्थिवीसर्पमादितः। रूक्षणैर्लङ्घनैः सेकैः प्रदेहैः पाञ्चवल्कलैः॥ ११८॥
सिरामोक्षैर्जलौकोभिर्वमनैः सविरेचनैः। घृतैः कषायतिक्तैश्च कालज्ञः समुपाचरेत्॥ ११९॥

ग्रन्थिविसर्प का चिकित्सासूत्र—ग्रन्थिविसर्प को रक्त तथा पित्त-विकारजन्य रोग जानकर रूक्षण तथा लंघन कराना चाहिए। पञ्चक्षीरी वृक्षों की छाल से बने क्वाथ से परिषेचन तथा उनके ही छाल के बने कल्क का प्रदेह लगाना चाहिए। सिरावेध करके या जोंक लगाकर रक्तमोक्षण करना चाहिए। वमन और विरेचन कराकर अन्तःशोधन करना चाहिए। विसर्पशमनार्थ घृतों के प्रयोग से तथा कषाय एवं तिक्त रस वाले द्रव्यों से उपचार करना चाहिए। समय और परिस्थिति को जानने वाला चिकित्सक आवश्यकता के अनुसार इन उपचारों के प्रयोग से ग्रन्थिविसर्प की चिकित्सा करे॥ ११८-११९॥

ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते। वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम्॥ १२०॥

ग्रन्थिविसर्प में वात-कफघ्न चिकित्सा—जब ग्रन्थिविसर्प के रोगी का वमन-विरेचन द्वारा शोधन कर रक्तमोक्षण कर लिया गया हो, तो उसका वात-कफनाशक उपचार करना चाहिए॥ १२०॥

उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाहः प्रशस्यते। स्निग्धाभिर्वेशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्पशूलिनाम्॥ १२१॥

उपनाह—ग्रन्थिविसर्प में शूल हो रहा हो, तो गरम-गरम उत्कारिका (आटे की मोटी रोटी जो एक तरफ सेंकी गयी हो) को बाँधकर उपनाह स्वेद करे अथवा अस्थिरहित मांस को पीसकर घी मिलाकर, गरम कर पुल्टिस बाँधनी चाहिए॥ १२१॥

दशमूलोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन सेचयेत्। कुष्ठतैलेन चोष्णेन पाक्यक्षारयुतेन च॥ १२२॥
गोमूत्रैः पत्रनिर्यूहैरुष्णैर्वा परिषेचयेत्।

परिषेचन—(१) दशमूल की औषधों के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध तैल को गरम कर उससे ग्रन्थिविसर्प का सेचन करना चाहिए। इसी प्रकार (२) पूतिकरञ्ज के क्षार से युक्त एवं कूठ के क्वाथ तथा कल्क से निर्मित कुष्ठतैल को गरम कर उससे सेचन करे; अथवा (३) गरम गोमूत्र से सेचन करे या (४) वात-श्लेष्मनाशक पत्तों के क्वाथ से सेचन करना चाहिए॥ १२२॥

सुखोष्णया प्रदिह्याद् वा पिष्टया चाश्वगन्धया॥ १२३॥
शुष्कमूलककल्केन नक्तमालत्वचाऽपि वा। बिभीतकत्वचां वाऽपि कल्केनोष्णेन लेपयेत्॥

प्रदेह—(१) असगन्ध को पानी डालकर, बारीक पीसकर, हल्का गरम करके ग्रन्थिविसर्प पर प्रदेह लगाना चाहिए अथवा (२) सूखी मूली के कल्क को गरम कर लगायें या (३) करञ्ज की छाल पीसकर, गरम करके अथवा (४) बहेड़े के निर्बीज फल को पीसकर, गरम कर ग्रन्थिविसर्प पर लेप करना चाहिए॥ १२३-१२४॥

बलां नागबलां पथ्यां भूर्जग्रन्थिं बिभीतकम्। वंशपत्राण्यग्निमन्थं कुर्याद् ग्रन्थिप्रलेपनम्॥ १२५॥

बलादि लेप—बरियार का मूल, गंगेरन का मूल, हर्रे (निर्बीज) फल, भोजपत्र की गाँठ, बहेड़ा, बाँस की पत्ती और गनियार की छाल, इन सबको समान भाग लेकर, पीसकर, हल्का गरम कर ग्रन्थिविसर्प पर लेप करना चाहिए॥ १२५॥

दन्ती चित्रकमूलत्वक् सुधार्कपयसी गुडः। भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि॥
बहिर्मार्गस्थितं ग्रन्थिं किं पुनः कफसम्भवम्।

दन्त्यादि लेप—दन्ती के मूल की त्वचा, चित्रकमूल की त्वचा, सेहुँड़ और मदार का दूध, गुड़, भिलावा की गुठली और कासीस, इन्हें समभाग लेकर, पीसकर लेप तैयार करें। यह लेप लगाने से पत्थर को भी तोड़ देता है, तो फिर कफ से उत्पन्न त्वचा-मांस में निकली ग्रन्थि तो निश्चय फूट जायगी॥ १२६॥

दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद्वा भेषजैरिमैः। मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः॥ १२७॥

मूलकादि लेप—सूखी मूली और कुलथी के यूष में यवक्षार और खट्टे अनार का रस मिलाकर पुरानी ग्रन्थि पर प्रतिसारण कर उसे फोड़ना चाहिए॥ १२७॥

गोधूमान्नैर्यवान्नैर्वा ससीधुमधुशर्करैः। सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः॥ १२८॥

ग्रन्थिविसर्प में अन्नपान—ग्रन्थिविसर्प के रोगी को खाने के लिए गेहूँ या जौ के आटे से बने पदार्थ देने चाहिए और उसके सहपान या अनुपान के रूप में सीधु, मधु तथा चीनी देना चाहिए। पीने के लिए बिजौरा नीबू के रस और मधु के साथ वारुणी[1] नामक मदिरा का मण्ड देना चाहिए॥ १२८॥

त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पलीक्षौद्रसंयुतैः॥ १२९॥
मुस्तभल्लातसक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च। देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च॥ १३०॥
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः। अयोलवणपाषाणहेमताम्रप्रपीडनैः॥ १३१॥

ग्रन्थिविसर्प में खाने-पीने के विविध योग—१. आँवला, हर्रा, बहेड़ा और पीपर के समभाग चूर्ण को मधु के साथ खाना चाहिए, २. मुस्ताद्य सक्तू (कुष्ठाधिकार), ३. भल्लातक सक्तू (रसायनाध्याय), ४. स्वर्णमाक्षीक भस्म, ५. देवदारु और गुरुच के क्वाथ, ६. शुद्ध शिलाजीत, ७. धूम्रपान, ८. शिरोविरेचन अथवा ९. गुल्म का भेदन करने वाली (गुल्म चिकित्सा में कथित) औषधों का प्रयोग करना चाहिए। इन अन्तः प्रयोग-योग्य औषधों से ग्रन्थिविसर्प का भेदन हो जाता है।

बाह्य उपचार—लोहे का गोला, नमक का ढेला, पत्थर का टुकड़ा, सोने की गुल्ली या ताँबे की गुल्ली को आग में तपाकर ग्रन्थिविसर्प पर कपड़ा रखकर दबाने से ग्रन्थिविसर्प विलीन या नष्ट हो जाता है॥ १२९-१३१॥

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बली स्थिरः। ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति॥
अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्हेम्नाऽथ वा हितः।

ग्रन्थिविसर्प में दाहकर्म—जब इन अनुभूत उपर्युक्त क्रियाओं के प्रयोग से भी बलवान् स्थिर और पत्थर के समान कठिन ग्रन्थि न शान्त हो, तो उसे क्षार से, बाण से या सोने के टुकड़े से दाग देना चाहिए॥ १३२॥

पाकिभिः पाचयित्वा च पाटयित्वा समुद्धरेत्॥ १३३॥
मोक्षयेद् बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम्। पुनश्चापहृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम्॥ १३४॥
धूमो विरेकः शिरसः स्वेदनं परिमर्दनम्।

ग्रन्थि का पाटन (चीरा लगाना), रक्तमोक्षण तथा वातकफनाशक उपचार—यदि पूर्वोक्त उपचारों से ग्रन्थि का शमन न हो, तो ग्रन्थि को पकाने वाले लेप लगाकर, स्वेदन करके, ग्रन्थि को पकाकर, चीरकर गाँठ को निकाल देना चाहिए। ग्रन्थि के उत्पाटन के बाद दूषित जमा हुए उत्क्लेशयुक्त रक्त को बार-बार दबाकर निकाल देना चाहिए। तत्पश्चात् वात-कफनाशक औषध का प्रयोग करना चाहिए और धूमपान, शिरोविरेचन एवं ग्रन्थि के स्थान में स्वेदन तथा मर्दन करना चाहिए॥ १३३-१३४॥

अप्रशाम्यति दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते॥ १३५॥
प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणैः। बाह्यैश्चाभ्यन्तरैश्चैव व्रणवत् समुपाचरेत्॥

---

१. यत्तालखर्जूररसैः सन्धिता सैव वारुणी। (परिभाषा-प्रदीप)

दाह-पाक से दूषित ग्रन्थि का शोधन-रोपण—जब पूर्व में कथित उपचारों से दोष का शमन न हो रहा हो, तो ग्रन्थि को पकाना चाहिए। दाह-पाक से सड़े हुए ग्रन्थिव्रण को बाह्य एवं आभ्यन्तर, दोनों ही प्रकारों से शोधन तथा रोपण औषध प्रयोगों द्वारा व्रण की तरह उपचार करना चाहिए॥ १३५-१३६॥

कम्पिल्लकं विडङ्गानि दार्वी कारञ्जकं फलम्। पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिव्रणचिकित्सितम्॥
द्विव्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा चाप्युपाचरेत्। देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुधः॥ १३८॥
इति ग्रन्थिविसर्पचिकित्सा।

कम्पिल्लकादि तैल एवं व्रणोपचार—कबीला, वायविडंग, दारुहल्दी और करञ्ज का फल (निर्बीज) लेकर कल्क करे और उससे विधिपूर्वक तैलपाक करे। यह तैल ग्रन्थिव्रण को ठीक करता है। देश-काल की परिस्थितियों का ज्ञाता वैद्य विसर्पजन्य व्रणों का उपचार वैसे ही करे जैसा कि आगे द्विव्रणीय चिकित्साध्याय (च. चि. २५) में उपदेश किया गया है॥ १३७-१३८॥

य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां विनिवृत्तये। स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये॥ १३९॥
गलगण्डास्तु वातोत्था ये कफानुगता नृणाम्। घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते॥

कफज गलगण्ड चिकित्सासूत्र—जो यह सब विधि-विधान ग्रन्थियों को नष्ट करने के लिए बतलाया गया है, वही सब कुछ कफज गलगण्ड रोग को दूर करने के लिए करना चाहिए।

वातज गलगण्ड चिकित्सासूत्र—जिस वातज गलगण्ड में कफ का अनुबन्ध हो, उसमें लगातार घी, दूध एवं वात-कफनाशक क्वाथों का प्रयोग करना चाहिए, जिससे वे नष्ट हो जाते हैं॥ १३९-१४०॥

यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये। एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः॥ १४१॥

विसर्प में रक्तमोक्षण सर्वोत्कृष्ट उपचार—यहाँ विसर्प रोग को दूर करने के लिए जितने भी उपचार कहे गये हैं, एक ओर वे सब-के-सब और एक ओर अकेले रक्तमोक्षण सबके बराबर होता है॥ १४१॥

विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते। तस्मात् साधारणं सर्वमुक्तमेतच्चिकित्सितम्॥ १४२॥
विशेषो दोषवैषम्यान्न च नोक्तः समासतः। समासव्यासनिर्दिष्टां क्रियां विद्वानुपाचरेत्॥

संक्षिप्त तथा विस्तृत चिकित्सा का कथन—विसर्प रोग तब तक नहीं होता, जब तक रक्त तथा पित्त, ये दोनों दूषित न हों; इसीलिए यहाँ रक्तमोक्षण को अन्य समग्र चिकित्साओं के बराबर कहा गया है। इस प्रकार साधारणतः विसर्प की चिकित्सा कह दी गयी है। ऐसा भी नहीं है कि पृथक्-पृथक् दोषविशेषजन्य विसर्प की चिकित्सा न कही गयी हो अर्थात् दोषों के अनुसार भी विशिष्ट चिकित्सा का उपदेश कर दिया गया है। इस प्रकार संक्षेप तथा विस्तारपूर्वक जो चिकित्सा बतलायी गयी है, विद्वान् वैद्य को अपने विवेक के अनुसार यथावश्यक उनका प्रयोग करना चाहिए॥ १४२-१४३॥

तत्र श्लोकाः—

निरुक्तं नामभेदाश्च दोषा दूष्याणि हेतवः। आश्रयो मार्गतश्चैव विसर्पगुरुलाघवम्॥ १४४॥
लिङ्गान्युपद्रवा ये च यल्लक्षण उपद्रवः। साध्यत्वं, न च, साध्यानां साधनं च यथाक्रमम्॥
इति पिप्रक्षवे सिद्धिमग्निवेशाय धीमते। पुनर्वसुरुवाचेदं विसर्पाणां चिकित्सितम्॥ १४६॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
विसर्पचिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

अध्याय का उपसंहार—इस विसर्प-चिकित्साध्याय में बुद्धिमान् प्रश्नकर्ता अग्निवेश को आत्रेय पुनर्वसु ने विसर्प शब्द की निरुक्ति, नामों के भेद, दोष, दूष्य, निदान, मार्ग के अनुसार आश्रय, विसर्पों की गुरुता और लघुता, लक्षण, उपद्रव का लक्षण, साध्यता, असाध्यता और क्रमानुसार उनकी चिकित्सा—इन विषयों का उपदेश किया है॥ १४४-१४६॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'विसर्पचिकित्सित' नामक इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २१॥

विसर्पचिकित्साक्रम बोधक सारणी

संक्षिप्त उपचार—(१) यदि सामदोष कफस्थान में हो, तो लंघन, वमन, तिक्तरसयुक्त औषध एवं आहार तथा रूक्ष एवं शीत प्रलेप करें।

(२) सामदोष पित्तस्थान में हो, तो लंघन, वमन, तिक्तरस-सेवन के साथ रक्तमोक्षण और विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

(३) यदि दोष वायु के स्थान में कुपित हो, तो विरूक्षण उपचार करे और रक्त अथवा पित्त का अनुबन्ध हो, तो भी पहले स्नेहन नहीं करना चाहिए।

(४) वातप्रधान तथा अल्पदोषयुक्त पित्तज विसर्प में तिक्तघृत पिलायें और पित्त अधिक विकृत हो, तो विरेचन का प्रयोग करें।

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
वमन कराना सर्वप्रथम आवश्यक है। **क्वाथ**—पित्तशामक तथा रक्तशोधक क्वाथों को पिलाना चाहिए या शीतक्वाथों का प्रयोग करना चाहिए। **घृत**—विसर्पशमनार्थ घृतों को पिलाना चाहिए। कोष्ठगत दोषों में विरेचन का प्रयोग करें। **रक्तमोक्षण**—शाखागत दुष्ट रक्त का निर्हरण करना चाहिए। वातज दुष्टि में–सींग से, पित्तज में–जोंक लगा कर, कफज में–तुम्बी लगाकर, विसर्प के समीप के स्थान से रक्त निकाले। त्वचा एवं मांस दोष शमनार्थ बहिःपरिमार्जन करें। कफज विसर्प में लगाये जाने वाले प्रदेहों में घी थोड़ा मिलाना चाहिए और वातपित्तप्रधान विसर्प में अधिक घी मिलाना चाहिए। वात, रक्त एवं पित्त-प्रधान विसर्पों पर घृत का लेप, शीतल क्वाथ से सेचन, रोपण चूर्ण का अवचूर्णन और शोधन औषधों के क्वाथ से प्रक्षालन आदि करना लाभकर है। प्रदेहों को बार-बार लगाना चाहिए।	**वमन द्रव्य**—(१) मदनफल, मुलहठी, नीम और इन्द्रजौ अथवा (२) परवर का पंचाङ्ग, नीम की छाल, पीपर, मदनफल एवं इन्द्रजौ पीसकर पिलाकर वमन करायें। **क्वाथ**—मुस्तादि, चन्दनादि, सारिवादि, किरातादि, प्रपौण्डरीकादि अथवा द्राक्षादि शीतकषाय, पटोलादि शीतकषाय या इन्हीं में सिद्ध यूषों का प्रयोग करें। **घृत**—महातिक्त घृत, त्रायमाणा घृत का प्रयोग कराना चाहिए। विरेचन योग—(१) निशोथ चूर्ण ३ ग्राम गरम दूध या जल से। (२) त्रायमाणासिद्ध दुग्ध, (३) त्रिफला के क्वाथ में घी और निशोथ का चूर्ण मिलाकर दें या (४) आँवले के रस में घी मिलाकर दें अथवा गुरुकोष्ठ रोगी को निशोथ चूर्ण मिलाकर दें। **बाह्य शोधन**—जब आभ्यन्तर शोधन हो जायें और दोष त्वचा एवं मांसगत हो अथवा आरम्भ से ही अल्पदोष हो, तो बाह्य शोधनार्थ प्रदेह आदि लगायें। जैसे—१. उदुम्बरादि, २. न्यग्रोधपादादि, ३. कालीयादि, ४. शाद्वलादि, ५. सारिवादि प्रलेप, ६. नलदादि प्रलेप, ७. यावक प्रदेह, ८. बलादि आलेप, ९. मधुकादि लेप तथा जौ का आटा, मुलहठी, निर्गुण्डीबीज, मसूर, मूँग, चावल, इनका आटा घी मिलाकर लगाना चाहिए। इसी प्रकार शंख, प्रवाल, मोती की सीप और गेरू पीसकर घी में लेप करना चाहिए एवं न्यग्रोधादि, कमलमूलादि, शतावर, शैवाल, शिरीषत्वक्, पंचवल्कल आदि का प्रदेह-प्रलेप लगाना हितकर है।	**पथ्य**—लंघन कराने के बाद रूखा, मधु और चीनी मिला जौ का सत्तू पानी में घोलकर पिलाना चाहिए, इसमें खट्टे अनार या आँवले का रस मिलाकर पिलायें। ● क्रमशः फालसा, मुनक्का और खजूर को जल में पकाकर उस जल में जौ या चावल का सत्तू और घी मिलाकर सेवन करायें। ● पुराना अगहनी का चावल पकाकर, मूँग-मसूर या चना के यूष के साथ खाने को दें। परवर तथा आँवले के साथ यूष बनायें और उसे रुचि के अनुसार अनार के रस से खट्टा बना लें। ● जांगल जीवों का मांसरस जो मुनक्का, अनार, आँवला के क्वाथ में पका हो, उसे बिना घी डाले खिलायें।

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
विसर्प में दोषानुसार चिकित्सा-सूत्र—पित्तज विसर्प में शीतप्रधान, कफज में रूक्ष-प्रधान, वातज में स्नेहप्रधान, अग्निविसर्प में वात-पित्तशामक तथा कर्दम में कफ-पित्तशामक चिकित्सा करनी चाहिए। **ग्रन्थि विसर्प चिकित्सा सूत्र**—रक्त-पित्तप्रधान ग्रन्थि-विसर्प में प्रारम्भ से ही रूक्षण, लंघन, पंचक्षीरी वृक्ष के क्वाथ से सेचन एवं उनकी त्वचा से प्रदेह करें। सिरामोक्ष या जोंक लगायें। वमन-विरेचन एवं तिक्त तथा कषायरस-सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए। **दाहकर्म**—यदि पाषाणवत् कठिन, बलवान् एवं स्थिर विसर्प हो, तो क्षार, वाण या सोने से उसका दाह करना चाहिए, फिर भी ठीक न होने पर शस्त्रकर्म करके व्रण का उपचार करें। वात-कफनाशक औषधों का लेप तथा धूमपान, नस्य तथा ग्रन्थि का स्वेदन एवं मर्दन करना चाहिए।	और भी कुछ प्रदेह योग विशेष उपयोगी हैं। जैसे—त्रिफलादि प्रदेह, खदिरादि आलेप, अमलतास और लिसोड़ा, निर्गुण्डी, मकोय और शिरीष, सेवार, नरकट, विदारीकन्द और फूलप्रियंगु, त्रिफला, मुलहठी, विदारीकन्द और शिरीष की छाल, दारुहरिद्रा, सुगन्धबाला और बरियार की जड़ आदि का प्रलेप प्रदेह लाभकर है। **वात, रक्त एवं पित्तप्रधान विसर्प**—● केवल सौ बार धोया हुआ घी लगाने से लाभ होता है। ● घी का ऊपरी भाग (घृतमण्ड) लगाना लाभकर होता है। ● गोदुग्ध और मुलहठी के क्वाथ का अवसेचन करना चाहिए। ● दूर्वास्वरस सिद्ध घी का प्रदेह करें। ● दारुहल्दी की छाल, त्रिफला, मुलहठी, नीलकमल, इनके क्वाथ से विसर्प व्रणों का प्रक्षालन करना चाहिए। **ग्रन्थिविसर्प में**—● ऊर्ध्व-अधःशोधन के बाद वात-कफनाशक चिकित्सा करें। ● उष्ण एवं स्निग्ध पुल्टिस बाँधें। ● दशमूल के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध तैल से या कूठ के क्वाथ-कल्क सिद्ध तैल में यवक्षार मिलाकर परिसेचन करें। गरम गोमूत्र या वात-कफहर क्वाथ से सेचन करें। ● **प्रदेह** में असगन्ध या सूखी मूली या बहेड़े को पीसकर लगायें। ● बलादि, दन्त्यादि या मूलकादि लेप लगायें। **आभ्यन्तर औषधें**—त्रिफला और पीपर का समभाग चूर्ण मधु से दे। कुष्ठाधिकारोक्त मुस्ताद्य सत्तू या रसायनोक्त भल्लातकाद्य सत्तू का प्रयोग करें। स्वर्णमाक्षिक भस्म, देवदारु और गुडूची क्वाथ और शुद्ध शिलाजीत खाने को देना चाहिए। **शस्त्र प्रयोग**—यदि पूर्व के उपचारों के प्रयोग सफल न हों, तो ग्रन्थि को लेप से पकाकर, चीरकर ग्रन्थि को निकाल दें और जमे हुए रक्त को दबाकर निकाल दें। दाह-पाक एवं सड़न होने पर व्रण-शोधन-रोपण के लिए व्रण की तरह बाहर-भीतर औषध प्रयोग करें। कम्पिल्लकादि तैल का प्रयोग ग्रन्थिव्रण की उत्तम औषध है।	● पुराना लाल-सफेद महाशालि चावल या साठी चावल खाने को दें। जो रोगी कफ-प्रधान हों, उन्हें जौ और गेहूँ खाने को दें। **ग्रन्थि विसर्प में**–जौ या गेहूँ की रोटी मधु-चीनी या सीधु से खिलायें। **अपथ्य**—विदाही अन्नपान, विरुद्ध भोजन, दिन में सोना, क्रोध, अधिक व्यायाम, अधिक धूप एवं अग्नि के समीप रहना और तीव्र वायु की आँधी में रहना हानिकर है।

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

अथातस्तृष्णाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'तृष्णाचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—पूर्व के अध्याय में विसर्प रोग का वर्णन किया गया है, उस विसर्प रोग के उपद्रवस्वरूप तृष्णा होती है, इसलिए विसर्प के साथ तृष्णा का उपसर्ग होने से विसर्प के बाद तृष्णा का वर्णन किया जा रहा है।

निरुक्ति—तृष्णा शब्द तृष् धातु से बना है जिसका अर्थ लोभ या तीव्र आकांक्षा है। 'तृष्णा' जब रोग के रूप में होती है तो पानी पीते रहने पर भी वह शान्त नहीं होती। अपितु प्यास बनी ही रहती है, जैसा कि आगे कहेंगे—'स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्' (सूत्र. ८)।

ज्ञानप्रशमतपोभिः ख्यातोऽत्रिसुतो जगद्धितेऽभिरतः।
तृष्णानां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह पञ्चानाम्॥ ३॥

तृष्णा-वर्णन का उपक्रम—जगत् के कल्याण में संलग्न, अपने ज्ञान, शान्तिपरायणता और तपश्चरण से प्रसिद्धि को प्राप्त भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने पाँचों प्रकार की तृष्णाओं के शमन के लिए उनकी चिकित्सा बतलायी॥ ३॥

क्षोभाद्भयाच्छ्रमादपि शोकात् क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात्।
क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः ॥ ४॥
धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसन्तापैः ।
पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः॥ ५॥
रसवाहिनीश्च नालीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः।
संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ॥ ६॥
पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतो न याति शमम्।
घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा॥ ७॥

तृष्णा का कारण और सम्प्राप्ति—शरीर की अधिक गतिशीलता या मन की उद्विग्नता से, भय से, थकावट होने से, शोक से, क्रोध से, उपवास से, मद्य पीने से, क्षार-अम्ल-लवण-कटुरस, गरम, रूक्ष और सूखे अन्नों के खाने से, धातुओं की क्षीणता से, रोग के कारण दुर्बलता होने से, वमन-विरेचन आदि के अतियोग से तथा सूर्य की किरणों के सन्ताप के कारण शरीर में पित्त और वायु अधिक कुपित एवं प्रवृद्ध होकर शरीर की जलीय धातुओं का शोषण कर देते हैं। ये दोनों दोष जब बहुत प्रबल हो जाते हैं, तो जिह्वामूल, गला, तालु और क्लोम में स्थित रसवाहिनी नालियों का शोषण कर 'तृष्णा' रोग उत्पन्न करते हैं। उक्त दोनों दोष इस रूप में बढ़ जाते हैं कि बार-बार पानी पीने पर भी उसे सुखा देते हैं और तृष्णा का शमन नहीं होता। किन्ही भयंकर रोगों से पीड़ित होने के कारण कृश हुए व्यक्तियों में उपसर्ग या उपद्रवस्वरूप भी तृष्णा हो जाया करती है॥ ४-७॥

वक्तव्य—

सम्प्राप्ति—

(क) क्षोभ, भय, श्रम, शोक, क्रोध आदि
एवं (ख) क्षार, अम्ल, कटु, उष्ण, मद्य आदि → दोषों का ऊर्ध्वगमन
से वात एवं पित्त का क्रमशः प्रकोप
तृष्णारोग ← जिह्वामूल, गल, तालु एवं सौम्य धातु शोषण ←

दोष : पित्त एवं वात।
दूष्य : सौम्य धातु।
अधिष्ठान : उदकवह स्रोत, गल, तालु, क्लोम।

प्राग्रूपं मुखशोषः, स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्।
तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः॥ ८॥

तृष्णा का पूर्वरूप—मुख का सूखते रहना और तृष्णा के सभी लक्षणों का अल्पमात्रा में होने या अव्यक्त रहना—ये तृष्णा के पूर्वरूप हैं।

तृष्णा का स्वरूप—सर्वदा प्यास का बना रहना ही तृष्णा की पहचान है॥ ८॥

वक्तव्य—चक्रपाणि ने पूर्व कथित अर्थ के अलावा मुखशोष और सदा जल की इच्छा का बना रहना, इन दोनों लक्षणों को पूर्वरूप और रूप दोनों गिना है। अन्तर यह बतलाया है कि ये लक्षण पूर्वरूप में दुर्बल होते हैं और रूप में प्रबल होते हैं। 'लाघवमपायः' का भी अन्य अर्थ किया है कि तृष्णा का अपाय या नाश या चले जाना, यह स्थिति तब जाननी चाहिए, जब तृष्णा के लक्षणों में लघुता या अल्पता हो जाये; क्योंकि तृष्णा के लक्षणों का सर्वथा अभाव नहीं होता है। सहज तृष्णाग्रस्त होने पर तृष्णा के लक्षण अल्पमात्रा में बने ही रहते हैं। जो लोग 'लाघव' का अर्थ शीघ्र उत्पत्ति मानकर 'अपाय' शब्द से असाध्यता अर्थ करते हैं, उनका यह अर्थ चक्रपाणि को अमान्य है।

मुखशोषस्वरभेदभ्रमसन्तापप्रलापसंस्तम्भान् ।
तालूवोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशं च॥ ९॥
जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदयनं सादम्।
तृष्णोद्भूता कुरुते, पञ्चविधां लिङ्गतः शृणु ताम्[1] ॥ १०॥

तृष्णा के उपद्रव—तृष्णा जब बढ़ जाती है, तब मुखशोष, स्वरभेद, भ्रम, सन्ताप, प्रलाप, अंगों में स्तब्धता, तालु-ओठ-कण्ठ और जिह्वा में कड़ापन, मन में ग्लानि, जीभ का बाहर निकलना, भोजन में रुचि न होना, बहरापन, हृदय-शिर-वस्ति में पीड़ा और शरीर की शक्ति का ह्रास होना—ये उपद्रव होते हैं। आगे पाँचों प्रकार की तृष्णाओं को लक्षण के अनुसार सुनें॥ ९-१०॥

वक्तव्य—कुछ लोगों ने इन दो श्लोकों में कहे गये उपद्रवों को लक्षण माना है, किन्तु यदि लक्षण मान लें, तो आगे कहीं उपद्रवों का वर्णन नहीं है, जब कि 'अध्यायसंग्रह' के प्रसङ्ग में उपद्रव भी गिना

१. सर्वतृष्णानामुपद्रवानाह—मुखशोषेत्यादि। उद्भूतेति वृद्धा। ये तु मुखशोषादीनि लक्षणान्याहुस्तन्मतं तृष्णोपद्रवाणामभिधानं न स्यात्, उपद्रवाश्चाध्यायसंग्रहे संगृहीताः। तेनातिशयवृद्धा मुखशोषादय उपद्रवाः, वृद्धास्तु लिङ्गमिति व्यवस्था। (चक्रपाणि टीका)

गया है। एवञ्च उक्त श्लोक में कहा गया है कि 'पञ्चविधां लिङ्गतः शृणु ताम्' इससे भी यह प्रकट होता है कि ये तो उपद्रव ही हैं। इनके लक्षण आगे कहेंगे।

अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति।
तस्मिञ्शुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन्॥ ११॥
निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च।
स्रोतोऽवरोध इति च स्यात्लिङ्गं वाततृष्णायाः॥ १२॥

वातज तृष्णा की सम्प्राप्ति—जब प्रकुपित वायु शरीर के जलीय धातुओं (रस-रक्त-वसा-कफ-पित्त-मूत्र-स्वेदादि) को सुखा देता है, तब उनके सूखने पर दुर्बल व्यक्ति सूखने लगता है और वह सूखता हुआ तृष्णा से ग्रस्त हो जाता है। उसे प्यास सताने लगती है।

लक्षण—निद्रा का न आना, सिर में चक्कर आना, मुख का सूखना और स्वाद का फीका होना और शरीर के स्रोतों में रुकावट होना—ये वातज तृष्णा के लक्षण होते हैं॥ ११-१२॥

पित्तं मतमाग्नेयं कुपितं चेत्तापयत्यपां धातुम्।
सन्तप्तः स हि जनयेत्तृष्णां दाहोल्बणा नृणाम्॥ १३॥
तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा।
पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः॥ १४॥

पित्तज तृष्णा की सम्प्राप्ति—पित्त को आग्नेयांशप्रधान होने से आग्नेय माना गया है। जब वह प्रकुपित होकर शारीर जलीय धातु को सन्तप्त करता है तब पित्त की ऊष्मा से सन्तप्त जलीय धातु शरीर में तीव्र दाह के साथ तृष्णा रोग को उत्पन्न करती है।

लक्षण—मुख का स्वाद तीता होना, शिर में दाह होना, शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा होना, मूर्च्छा होना, नेत्र-मूत्र तथा पुरीष का पीला होना—ये सब पित्तज तृष्णा के लक्षण हैं॥ १३-१४॥

वक्तव्य—चरकसंहिता-शारीरस्थान अध्याय ७ (संख्याशारीर में) पित्त को आप्य कहा गया[1] है। वहाँ पर ही पुनः यह कहा गया है कि 'शरीर में जो पित्त है, जो ऊष्मा है, जो ज्योति है, वह सब आग्नेय है[2]'। इस प्रकार पित्त को 'आप्य' और 'आग्नेय' दोनों ही कहा गया है, फिर भी (तथापि) पित्त के आग्नेय स्वरूप के अधिक स्पष्ट होने से उसे 'आग्नेय' ही माना जाता है। इसी अभिप्राय से यहाँ भी 'पित्तं मतमाग्नेयम्' यह कहा गया है।

तृष्णा याऽऽमप्रभवा साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात्।
लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च॥ १५॥

आमजा तृष्णा—जो तृष्णा आम से उत्पन्न होती है, वह भी आग्नेय होती है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति आम से अवरोध के कारण बढ़े हुए पित्त से होती है।

लक्षण—भोजन में अरुचि, उदर में वायु भरना और मुख से लार टपकते रहना, ये आमजा तृष्णा के लक्षण होते हैं॥ १५॥

वक्तव्य—यहाँ पर 'आम' शब्द से 'लक्षणावृत्ति' से आम के समान लक्षण एवं चिकित्सा वाला कफ भी गृहीत होता है, इसलिए 'आमजा तृष्णा' से सुश्रुत में कथित कफजा का भी ग्रहण होता है। यहाँ

१. 'यद्द्रव-सर-स्निग्ध-मन्द-मृदु-पिच्छिलं रस-रुधिर-वसा-कफ-पित्त-मूत्र-स्वेदादि तदाप्यं रसो रसनं च'।
२. 'यत् पित्तमूष्मा यो, या च शरीरे भाः, तत्सर्वमाग्नेयम्'। (च. शा. ७)

भी 'आग्नेया' कहने से पहले जो सभी तृष्णाओं को वातपित्तजन्य कहा गया है, उसे स्मरण कराया गया है। यहाँ वात का कथन न होने से, वह अप्रधान और पित्तप्रधान बतलाया गया है[1]।

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयात्तु तृष्येत्तु।
दीनस्वरः प्रताम्यन् संशुष्कहृदयगलतालुः। १६॥

रसक्षयजा तृष्णा—(आहाररस से सर्वधातुपोषक धातुरस उत्पन्न होता है और) देहपोषक रस अम्बुभव (जल से उत्पन्न आप्य) होता है तथा उस रस के क्षय से (जलक्षय होता है एवं जलक्षय होने से जल की आकाङ्क्षा बलवती होती है, जिससे) मनुष्य को तृष्णा रोग हो जाता है॥ १६॥

भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा।
ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥ १७॥

उपसर्गजा[2] तृष्णा—जो तृष्णा ज्वर-प्रमेह-क्षय-शोष तथा श्वास आदि से पीड़ित मनुष्यों को उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होती है, वह तृष्णा रोगी के शरीर के मांस-रक्त आदि का शोषण करती है और बहुत कष्टसाध्य होती है॥ १७॥

वक्तव्य—चरक ने वात-पित्त-आम-रसक्षय और उपद्रवात्मक पाँच प्रकार की तृष्णा कही है। इन्हीं में सुश्रुतोक्त कफजा का आमजा में, क्षतजा का उपसर्गात्मिकता में और अन्नजा का आमजा में अन्तर्भाव करना चाहिए।

तृष्णा के भेद

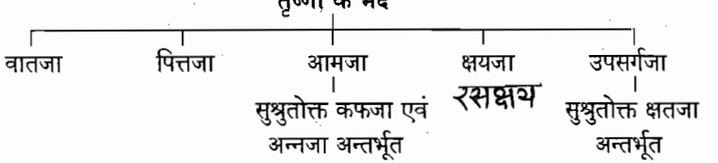

१. 'आमशब्देन चेह लक्षणया आमसमानचिकित्सित आमसमानलक्षणश्च कफोऽपि गृह्यते। तेनामभवाया व्युत्पादनेन कफजाऽपि सुश्रुतोक्ता गृहीतैवेह। साऽप्याग्नेयेत्यनेन पूर्वपरिज्ञातं सर्वासां वातपित्तजन्यत्वं समुन्नयति। वातश्च तृष्णाकारणत्वेनोक्तोऽप्यत्राप्रधानं, पित्तमेव तु प्रधानमितीह वाताकथनादुन्नीयते'। (चक्रपाणि टीका)

2. Excessive craving for water or fluids is referred to as thirst. A proper water or fluid-balance within the body is an essential physiological requirment, dependent on (1) an adequate supply of fluids for all bodily requirements, and (2) a proper distribution of fluids within the tissues of the body and blood. One of the major manifastations of water-imbalance within the body is thirst.

Mechanism : The sensation of 'thirst' has been ascribed to (1) drying of the oral and pharyngeal mucous membranes with reduced secretion of saliva, because of inadequate bodily water content and (2) altered composition of the blood.

Causes : (1) Physiological : Hot or warm weather (with excessive sweating) occupation, physical exercise, foods rich in salt. (2) Excessive loss of fluids, vomiting, diarrhoea, cholera, polyuria, haemorrhage, shock, anasarca. (3) Drugs : Belladonna, Atropine. (4) Gastrointestinal : pyloric-obstruction, carcinoma, gastric stasis. (5) Local causes: Mouth breathing, adenoids, parotitis, mumps, salivary gland disorders.

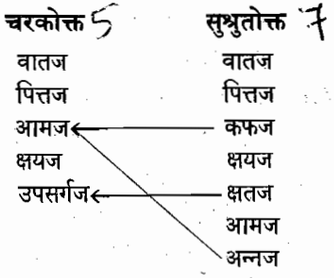

तृष्णा के कारण

शारीरिक	मानसिक	आगन्तुज	विविध
शरीर में जलांश की कमी एवं वायव्य तथा पैत्तिक गुणों की वृद्धि; कटु, अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, क्षार, लवण एवं मद्य आदि का सेवन	क्षोभ, भय, क्रोध, शोक आदि	सूर्यसन्ताप, अग्नि-ताप, श्रम, भारवहन आदि	धातुक्षय, रोगजन्य कृशता, वमन-विरेचन विसूचिका आदि, मधुमेह रक्तस्राव, ग्रीष्मऋतु, मधुमेह, स्वेदाधिक्य, तीव्रज्वर आदि

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः॥ १८॥

तृष्णा का असाध्य लक्षण—किन्ही जीर्ण रोगों के कारण जो रोगी बहुत दुर्बल हो गये हों, जिन्हें लगातार वमन हो रहा हो, उनकी तृष्णा और जो तृष्णा बड़ी प्रबलता से आक्रमणकारी हों एवं जो भयंकर उपद्रवों से युक्त हों, ऐसी तृष्णाओं को प्राणहर जानना चाहिए॥ १८॥

नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू।
अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि॥ १९॥

तृष्णा में पित्त एवं वात की प्रधानता—बिना अग्नि अथवा बिना वायु के तृष्णा नहीं उत्पन्न होती। अतिशय बढ़े हुए पित्त और वायु, ये ही दोनों जलीय धातु के शोषण में कारण होते हैं। जलीय धातु का जब क्षय हो जाता है, तब प्यास लगती है॥ १९॥

गुर्वन्नपयःस्नेहैः सम्मूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च।
यस्तृष्येद् वृतमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू॥ २०॥
तीक्ष्णोष्णरूक्षभावान्मद्यं पित्तानिलौ प्रकोपयति।
शोषयतोऽपां धातुं तावेव हि मद्यशीलानाम्॥ २१॥

अन्य तृष्णाएँ भी वात-पित्तजन्य—गुरुपदार्थ, दूध तथा घी-तैल आदि का सेवन करने पर जब ये सब एक में मिलते हैं और इनका पाचन होने लगता है एवं जब ये परिपक्व होते हैं, तो स्रोतों के मुख के बन्द होने से मनुष्य को (अन्नजा) तृष्णा उत्पन्न होती है; उसमें भी वायु और अग्नि (पित्त) ही कारण हैं (सम्मूर्च्छनकाल में वायु बढ़कर तृष्णा उत्पन्न करती है और विदाहकाल में बढ़ा हुआ पित्त तृष्णा उत्पन्न करता है)।

जो मनुष्य मद्यपान के अभ्यासी होते हैं, उनके शरीर में पहुँचा हुआ मद्य अपने तीक्ष्ण, उष्ण और रूक्ष गुणों से पित्त तथा वायु को प्रकुपित कर देता है तथा ये दोनों शरीर की जलीय धातुओं का शोषण कर तृष्णा उत्पन्न करते हैं॥ २०-२१॥

तप्तास्विव सिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्तम्।
तेषां सन्तप्तानां हिमजलपानाद् भवति शर्म॥ २२॥

मद्यपानजन्य तृष्णा में शीतल जल—जिस प्रकार गरम-गरम बालू की ढ़ेर पर थोड़ा-सा जल फेंका जाय, तो वह शीघ्र ही सूख जाता है (उसी प्रकार मद्यपान से उपजी प्यास थोड़े से जल के पीने से शान्त नहीं होती, अपितु प्रचुर शीतल जलपान से ही उसका शमन होता है), उन तपते हुए बालुओं की गरमी मिटाने के लिए जैसे ठण्डा पानी डाला जाता है, उसी तरह तृष्णाजनित सन्ताप भी शीतल जल पीने से मिटता है॥ २२॥

शिशिरस्नातस्योष्मा रुद्धः कोष्ठं प्रपद्य तर्षयति।
तस्मान्नोष्णक्लान्तो भजेत सहसा जलं शीतम्॥ २३॥

शीतल जल स्नानजा तृष्णा भी पित्तजा—जब कोई उष्णतापीड़ित व्यक्ति शीतल जल से स्नान करता है, तो उसके शरीर की ऊष्मा (पित्त) अवरुद्ध होकर कोष्ठ में जाकर तृष्णा उत्पन्न करती है। इसलिए गरमी से ग्रस्त व्यक्ति गरम-गरम हालत में शीतल जल से न स्नान करे, न उसका पान करे॥ २३॥

लिङ्गं सर्वास्वेतास्वनिलक्षयपित्तजं भवत्यथ तु।
पृथगागमाच्चिकित्सितमतः प्रवक्ष्यामि तृष्णानाम्॥ २४॥

तृष्णा-चिकित्सा का उपक्रम—जैसा कि पहले बतलाया गया है कि सभी तरह की तृष्णाओं में वात, रसक्षय एवं पित्त के ही लक्षण होते हैं। (इस प्रकार तृष्णा भेदों में समानता होने पर भी) उनके कारणों की भिन्नता है और आयुर्वेदशास्त्र अलग-अलग चिकित्सा विधान बतलाता है। इसलिए तदनुसार ही मैं (अब) यहाँ से तृष्णाओं की चिकित्सा का वर्णन करूँगा॥ २४॥

अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु।
तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत् तद्गुणं वाऽन्यत्॥ २५॥
किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसं च।
अनभिष्यन्दि च यत्तत् क्षितिगतमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम्॥ २६॥

तृष्णाशामक ऐन्द्रजल—तृष्णा शरीर में जलीय धातुओं का क्षय हो जाने पर शीघ्र ही मनुष्य का शोषण कर उसे मार डालती है। इसलिए तृष्णा के शमन तथा जलांश की पूर्ति के लिए मधु मिलाकर वर्षाजल को पीना चाहिए अथवा उसके ही जैसा गुणवाला अन्य जल पीना चाहिए।

ऐन्द्रजल के समान जल के गुण—जो जल कुछ कसैला हो (किन्तु उसका कसैलापन व्यक्त न हो), पतला हो, हल्का हो, शीतल हो, सुगन्धयुक्त हो, जो जिह्वा के अनुकूल हो (सुरस हो) और स्रोतों में कफ को बढ़ाकर रुकावट न डाले, उसे ऐन्द्र (आन्तरिक्ष वर्षाजल) जल के समान जानना चाहिए। भले वह जल पृथ्वीतल पर स्थित हो॥ २५-२६॥

शृतशीतं ससितोपलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलेन।
लाजासक्तुसिताह्वामधुयुतमैन्द्रेण वा मन्थम्॥ २७॥

तृष्णा में पेय पदार्थ—तृणपञ्चमूल (शर-इक्षु-दर्भ-काश-शालिमूल) डालकर षडंग परिभाषा के अनुसार सिद्ध जल में चीनी मिलाकर रोगी को पिलायें अथवा धान के लावा के सत्तू में चीनी और मधु मिलाकर वर्षा के शीतल जल से द्रवमन्थ बनाकर तृष्णा के रोगी को पिलायें॥ २७॥

वाट्यं वाऽऽमयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात्।
पेयां वा शालीनां दद्याद्वा कोरदूषाणाम्॥ २८॥
पयसा शृतेन भोजनमथवा मधुशर्करायुतं योज्यम्।

भोजन या पथ्य-मन्थ एवं पेया—कच्चे जौ का मण्ड बनाकर, शीतल कर मधु और चीनी मिलाकर रोगी को सेवन करायें अथवा अगहनी के चावल या कोदों के चावल से पेया बनाकर ठण्डा कर मधु, चीनी डालकर पिलायें अथवा मधु और चीनी मिलाकर गरम करके ठण्डा किये हुए दूध के साथ भोजन करायें॥ २८॥

पारावतादिकरसैर्घृतभृष्टैर्वाऽप्यलवणाम्लैः ॥ २९॥
तृणपञ्चमूलमुञ्जातकैः प्रियालैश्च जाङ्गलाः सुकृताः।
शस्ता रसाः पयो वा तैः सिद्धं शर्करामधुमत्॥ ३०॥

मांसरस का प्रयोग—(१) घी में भुने कबूतर आदि के मांसरस में नमक और खटाई डाले बिना ही खाने को दें। (२) तृणपञ्चमूल, मुञ्जातक और चिरौंजी डालकर पकाये हुए जल में पकाये गये जंगली पशु-पक्षियों के मांसरस को सुसंस्कृत करके खाने को दे अथवा इन्हीं तृणपञ्चमूल आदि से क्षीरपाकविधि से सिद्ध दूध में मधु और चीनी मिलाकर दें॥ ३०॥

शतधौतघृतेनाक्तः पयः पिबेच्छीततोयमवगाह्य।
मुद्गमसूरचणकजा रसास्तु भृष्टा घृते देयाः॥ ३१॥
मधुरैः सजीवनीयैः शीतैश्च सतिक्तकैः शृतं क्षीरम्।
पानाभ्यञ्जनसेकेष्विष्टं मधुशर्करायुक्तम्॥ ३२॥

घृताभ्यंग, यूषपान एवं दुग्ध का पान, अभ्यंग तथा परिसेचन—(१) तृष्णा के रोगी को शतधौत घृत से शरीर की मालिश करके तब शीत जलावगाहन-पूर्वक (पानी में डुबकी लगाकर) स्नान करना चाहिए, फिर शीतल किया हुआ दूध पीना चाहिए। (२) मूँग, मसूर और चने की दाल के यूष को घी से छौंककर पीने को या भोजन के साथ खाने को देना चाहिए। (३) मधुररसयुक्त, तिक्तरसयुक्त शीतवीर्य औषधों एवं जीवनीय गण की औषधों से यथाविधि सिद्ध किये हुए दूध का पीने में, मालिश करने में और परिसेचन में मधु और चीनी मिलाकर प्रयोग करना चाहिए॥ ३१-३२॥

तज्जं वा घृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात्।
नारीपयः सशर्करमुष्ट्रया अपि तस्यमिक्षुरसः॥ ३३॥
क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाक्षौद्रसीधुमार्द्वीकैः ।
वृक्षाम्लमातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्नाः ॥ ३४॥

नस्य प्रयोग एवं गण्डूष—(१) पूर्वोक्त मधुर-जीवनीय-शीतवीर्य एवं तिक्तरसवाले द्रव्यों से सिद्ध किये गये दूध से निकाले गये घृत का पीने, मालिश करने तथा नस्य देने में प्रयोग करना चाहिए। (२) स्त्री के दूध में चीनी मिलाकर नस्य देना चाहिए या (३) ऊँटनी के दूध में चीनी मिलाकर नस्य दें। इसी प्रकार (४) गन्ने के रस का नस्य देने से तृष्णा का शमन होता है। (५) गाय का दूध, गन्ने का रस, गुड़ का शर्बत, मिश्री का टुकड़ा, मधु, सीधु (सिरका), मुनक्के का काढ़ा, वृक्षाम्ल (कोकम) और बिजौरा नीबू का रस, इनमें से जो भी उपलब्ध हो, उसका गण्डूष (मुख में) धारण करने से तालु का सूखना मिट जाता है॥ ३३-३४॥

जम्ब्वाम्रातकबदरीवेतसपञ्चवल्कपञ्चाम्लैः ।
हृन्मुखशिरःप्रदेहाः सघृता मूर्च्छाभ्रमतृष्णाघ्नाः स्युः॥ ३५॥

दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारीबीजपूरकैः शिरसः।
लेपो गौरामलकैर्घृतारनालायुतैश्च हितः॥ ३६॥
शैवालपङ्कताम्बुरुहैः साम्लैः, सघृतैश्च सक्तुभिर्लेपः।

तृष्णानाशक प्रदेह-प्रलेप—(१) जामुन, आमड़ा, बेर, बेंत, वट, पीपल, पाकड़, पारीष पीपल और गूलर की छाल, खट्टीबेर, खट्टा अनार, इमली, चांगेरी तथा चूक—इन सबको समान भाग लेकर, बारीक पीसकर, घी मिलाकर हृदयप्रदेश, मुखमण्डल और शिर पर प्रदेह लगाने से मूर्च्छा, शिर में चक्कर आना और बार-बार प्यास लगना, ये सब विकार नष्ट होते हैं। (२) खट्टा अनार, कैथ का गूदा, लोध, विदारीकन्द और बिजौरा नीबू का रस, इन्हें पीसकर तृष्णाशमनार्थ शिर पर लेप करना चाहिए। (३) नये आँवले को पीसकर, काञ्जी मिलाकर शिर पर लेप लगाने से तृष्णा रोग का शमन हो जाता है। (४) सेवार, कीचड़ और कमल को काञ्जी से पीसकर शिर पर लेप करना चाहिए। (५) घी मिलाकर सत्तू के घोल का शिर पर लेप करना तृष्णारोग को शान्त करता है॥ ३५-३६॥

मस्त्वारनालार्द्रवसनकमलमणिहारसंस्पर्शाः ॥ ३७॥
शिशिराम्बुचन्दनार्द्रस्तनतटपाणितलगात्रसंस्पर्शाः ।
क्षौमार्द्रसुवसनानां वराङ्गनानां प्रियाणां च॥ ३८॥
हिमवद्गिरीवनसरित्सरोऽम्बुजपवनेन्दुपादशिशिराणाम् ।
रम्यशिशिरोदकानां स्मरणं कथाश्च तृष्णाघ्नाः॥ ३९॥

तृष्णा में शीतल, सुन्दर और सुखद वस्तुओं का स्पर्श, स्मरण तथा कथन—दही के पानी और काञ्जी में भींगे वस्त्र का हृदयप्रदेश, मुख और मस्तक पर रखना; कमल के पुष्पों का, मणियों का और बेला या मोतिया या गुलाब के फूलों का हार गले में धारण करना; शीतल जल में घिसे श्वेत चन्दन के आलेपन से जिनके स्तनतट, पाणितल और शरीराङ्ग आर्द्र हों अथवा जो मनोरमा सुन्दरी ललनाएँ भींगे रेशमी वस्त्र से आवृत कमनीय काया वाली हों, उनके शरीर का स्पर्श सभी तृष्णाओं का शमन करता है। इसी प्रकार हिमगिरि की कन्दराओं, वनराजियों, सरिताओं, सरोवरों और कमलवनों का, मलयसमीर का, चन्द्रमा की शीतल किरणों का और रमणीय ठण्डे जल भरे जलाशयों का स्मरण और उनकी चर्चाएँ तथा गुणानुवाद, ये सभी तृष्णा को शान्त करने वाले होते हैं॥ ३७-३९॥

विशिष्ट चिकित्सा

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतं च वाततृष्णायाम्।
क्षयकासनुच्छृतं क्षीरघृतमूर्ध्ववाततृष्णाघ्नम्॥ ४०॥

वातज तृष्णा चिकित्सा—वातज तृष्णा रोग में कोमल, पचने में हल्का और शीत अन्नपान का सेवन करना चाहिए। क्षयकास को नष्ट करने वाले जो दूध और घी के प्रयोग बतलाये गये हैं, उनका शृतशीत (गरम करके ठण्डा किया हुआ) प्रयोग करना ऊर्ध्ववात तथा तृष्णा को नष्ट करने वाला होता है॥ ४०॥

स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीरघृतं वातपित्तजे तर्षे।
पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम्॥ ४१॥

वात-पित्तज तृष्णा में दुग्ध-घृत प्रयोग—**वात-पित्तज** तृष्णा रोग में जीवनीयगण की औषधों से क्षीरपाक विधि से सिद्ध दुग्ध तथा क्वाथ एवं कल्क डालकर पकाये गये घी का सेवन कराना चाहिए। **पैत्तिक** तृष्णा में मुनक्का, चन्दन, खजूर और खश डालकर पकाये हुए जल को शीतल करके मधु मिलाकर पिलाना चाहिए॥ ४१॥

लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः ।
मधु पक्वलोष्टमेव च जले स्थितं शीतलं पेयम्॥ ४२॥
लोहितशालिप्रस्थः सलोध्रमधुकाञ्जनोत्पलः क्षुण्णः।
पक्वामलोष्टजलमधुसमायुतो मृन्मये पेयः॥ ४३॥
वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयष्ट्याह्वैः ।
सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभां कृष्णमृदं कृष्णसिकतां वा॥ ४४॥
तप्तानि नवकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम्।
आपाकशर्करं वाऽमृतवल्ल्युदकं तृषां हन्ति॥ ४५॥
क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करामधुविमिश्राः।
शीतकषाया मृद्भृष्टसंयुताः पित्ततृष्णाघ्नाः॥ ४६॥

तृष्णाशामक विविध योग—(१) लाल अगहनी चावल, खजूर, फालसा, नीलकमल, मुनक्का और पके हुए मिट्टी के ढेला को डालकर पकाये गये जल को ठण्डा कर, मधु मिलाकर तृष्णा को शान्त करने के लिए पीना चाहिए। (२) लाल अगहनी का चावल १ प्रस्थ लेकर कूट ले और (८ गुने) जल में भिंगो दें, उसमें कुटा हुआ लोध, मुलहठी, रसाञ्जन और नीलकमल, प्रत्येक १-१ पल डालकर रात भर भिंगो दें। प्रातः कच्चे मिट्टी के ढेले को आग में तपा-तपा कर उस जल में बुझायें। फिर कुछ देर छोड़ दें और पानी स्थिर होने पर ऊपर से निथार लें तथा ठण्डाकर, मधु मिलाकर मिट्टी के पात्र में पान करें। (३) वट के पत्ते, बिजौरा नीबू के पत्ते, बेंत के पत्ते, कुश और काश के मूल और मुलहठी डालकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार पकाये हुए जल में काली मिट्टी या काली बालू आग में तपाकर बुझायें अथवा नये मिट्टी के घड़े के खपड़े को आग में तपाकर उस जल में बुझायें और जल को निथार कर स्वच्छ हो जाने पर तृष्णा के रोगी को पिलायें। (४) अथवा छोटे-छोटे कंकड़ और गुरुच डालकर पकाये हुए जल का सेवन कराना चाहिए। (५) क्षीरी वृक्ष, मधुर और शीतवीर्य औषधों से बनाये गये शीतकषाय में मिट्टी के ढेले को आग में गरम कर बुझाकर मधु और चीनी मिलाकर पीने से पित्तज तृष्णा शान्त होती है॥ ४२-४६॥

व्योषवचाभल्लातकतिक्तकषायास्तथाऽऽमतृष्णाघ्नाः।
यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात्॥ ४७॥

आमज तृष्णा चिकित्सा—सोंठ, मरिच, पीपर, बच, भिलावा तथा तिक्त द्रव्यों से बनाये गये क्वाथ के सेवन से आमज तृष्णा का नाश होता है। इसके अलावे कफज वमन रोग में जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उसे भी करना चाहिए॥ ४७॥

स्तम्भारुच्यविपाकालस्यच्छर्दिषु कफानुगां तृष्णाम्।
ज्ञात्वा दधिमधुतर्पणलवणोष्णजलैर्वमनमिष्टम्॥ ४८॥
दाडिममम्लफलं वाऽप्यन्यत् सकषायमथ लेहम्।
पेयमथवा हरिद्राम्बुशर्कराक्षौद्रसंयुक्तम्॥ ४९॥

कफज उपद्रवयुक्त तृष्णा चिकित्सा—जब तृष्णा रोग में रोगी के शरीर में स्तब्धता हो, भोजन में रुचि न रहती हो, अपचन हो, आलस्य हो और वमन हो रहा हो, तो कफ का अनुबन्ध जानकर दही-मधु-तर्पण (सत्तू का घोल) और गरम जल पिलाकर वमन कराना चाहिए। **आमज तृष्णा** में अनार या

अन्य अम्ल फल (बिजौरा नीबू आदि) या कषाय या अवलेह अथवा हल्दी डालकर पकाये हुए पानी में मधु और चीनी मिलाकर पीने को दें॥ ४८-४९॥

क्षयकासेन तु तुल्या क्षयतृष्णा सा गरीयसी नृणाम्।
क्षीणक्षतशोषहितैस्तस्मात्तां भेषजैः शमयेत्॥ ५०॥

क्षयज तृष्णा चिकित्सा—क्षयज कास के समान ही क्षयज तृष्णा भी बहुत गम्भीर रोग है। इसलिए इसकी चिकित्सा में उन्हीं औषधों का प्रयोग करना चाहिए, जो क्षतक्षीण राजयक्ष्मा एवं शोष रोग में लाभकर होती हैं॥ ५०॥

पानतृषार्तः पानं त्वर्धोदकमम्ललवणगन्धाढ्यम्।
शिशिरस्नातः पानं मद्याम्बु गुडाम्बु वा तृषितः॥ ५१॥

मद्यज तृष्णा में मद्यपान—(१) मद्यपानजन्य तृष्णा रोग से पीड़ित व्यक्ति को अनार या नीबू का रस, सेंधानमक और जायफल-जावित्री आदि सुगन्धित द्रव्य मिलाकर आधा पानी और आधा मद्य मिलाकर पीने को देना चाहिए। (२) जो व्यक्ति ठण्डे जल से स्नान करने के बाद तृष्णा से ग्रस्त हो, उसे आधा पानी और आधी शराब मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा गुड़ का शर्बत पिलाना चाहिए॥ ५१॥

भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृषार्तोऽथवा तनुयवागूम्।
प्रपिबेद् गुरुणा तृषितो भुक्तेन तदुद्धरेद् भुक्तम्॥ ५२॥
मद्याम्बु वाऽम्बु कोष्णं बलवांस्तृषितः समुल्लिखेत् पीत्वा।
मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेन्मन्थम्॥ ५३॥

उपवास, स्निग्धाहार एवं गुरु भोजनजनित तृष्णा चिकित्सा—(१) भोजन न करने से अथवा अधिक स्निग्ध पदार्थ खा लेने से जो तृष्णा उत्पन्न होती है, इन दोनों स्थितियों में पतली पेया का सेवन करना तृषाशामक होता है। (२) यदि गुरु आहार के खाने से तृष्णा उत्पन्न हुई हो, तो रोगी को वमन कराकर उस आहार को बाहर निकाल देना चाहिए। यदि गुरु आहारज तृष्णाग्रस्त रोगी बलवान हो, तो उसे जल मिला हुआ मद्य पीकर या रम जल पीकर वमन करना चाहिए। अथवा (३) पीपर के टुकड़े चबाना चाहिए और इससे जब मुख स्वच्छ हो जाय तब जौ का सत्तू चीनी के शर्बत में घोलकर पीना चाहिए॥ ५२-५३॥

बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद् घृतं तृष्यमनुमद्यम्।
सर्पिर्भृष्टं क्षीरं मांसरसांश्चाबलः स्निग्धान्॥ ५४॥
अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेन्नृणामिहाशु पयः।
छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः॥ ५५॥

तृष्णाजन्य तालुशोष में उपचार—(१) तृष्णा से पीड़ित रोगी बलवान् हो और उसका तालु सूख रहा हो, तो तृषाशामक घृत का पान कर उसके बाद मद्य पीना चाहिए। (२) यदि तृष्णा-पीड़ित किसी दुर्बल रोगी का तालु सूख रहा हो, तो उसे घी के फोड़न में छौंका गोदुग्ध पीना चाहिए और घी आदि स्नेहों से युक्त मांसरसों का सेवन करना चाहिए। (३) तृष्णा के जो रोगी बहुत ही रूक्ष शरीर वाले हों अथवा दुर्बल हों, उनकी तृष्णा को दुग्ध पान करना शीघ्र ही बुझा देता है अथवा घी में भुना हुआ बकरे का मांस जो मधुर, शीतल और रुचिकर हो, उसका सेवन तृष्णा को शान्त करता है॥ ५४-५५॥

स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत्।

अन्नजा तृष्णा में उपचार—घी-तैल में छने या बने (हलवा-मालपूआ-पूड़ी-पराठा आदि) आहार खाने से जो तृष्णा उत्पन्न होती है, उस तृष्णा को गुड़ का शर्बत पिलाकर शान्त करना चाहिए।

तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहैर्हन्यात्॥ ५६॥

मूर्च्छा के रोगी की तृष्णा की चिकित्सा—मूर्च्छा रोग से पीड़ित रोगी की तृष्णा को 'रक्तपित्त' नाशक औषध योगों के प्रयोग से शान्त करें॥ ५६॥

तृड्दाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययाम्रविषपित्ते ।
शस्तं स्वभावशीतं, श्रृतशीतं सन्निपातेऽम्भः॥ ५७॥

शीतल जल का प्रयोगस्थल—यदि तृष्णा रोग, दाहरोग, मूर्च्छारोग, इन्द्रियों के अपने विषय के ग्रहण में असमर्थता, मदात्यय, रक्तविकार, विषविकार और पित्तविकार की स्थिति हो, तो स्वभावतः शीतल रहने वाला जल पिलाना चाहिए। यदि सन्निपातज व्याधि हो, तो गरम करके ठण्डा किया हुआ जल पिलाना हितकर होता है॥ ५७॥

हिक्काश्वासनवज्वरपीनसघृतपीतपार्श्वगलरोगे ।
कफवातकृते स्त्याने सद्यःशुद्धे च हितमुष्णम्॥ ५८॥

उष्णजल का प्रयोग—हिचकी, दम फूलना, नया ज्वर, पीनस, जिसने घृत का पान किया हो उसके लिए, पार्श्व के रोग, गले के रोग, कफ एवं वात दोषों के कारण किसी प्रकार की जकड़न होने में और वमन-विरेचन आदि से जिसके शरीर का तुरत शोधन किया गया हो, इन परिस्थितियों में गरम जल का प्रयोग करना हितकर होता है॥ ५८॥

पाण्डूदरपीनसमेहगुल्ममन्दानलातिसारेषु ।
प्लीह्नि च तोयं न हितं काममसह्ये पिबेदल्पम्॥ ५९॥

जल पीने का निषेध—पाण्डुरोग, उदर रोग, पीनस रोग, प्रमेह, गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार और प्लीहा रोग में जल पीना लाभकर नहीं होता। यदि असह्य प्यास हो, तो थोड़ी मात्रा में जल पीना चाहिए॥ ५९॥

पूर्वामयातुरः सन् दीनस्तृष्णार्दितो जलं काङ्क्षन्।
न लभेत स चेन्मरणमाश्वेवाप्नुयाद्दीर्घरोगं वा॥ ६०॥
तस्माद् धान्याम्बु पिबेत्, तृष्यन् रोगी सशर्कराक्षौद्रम्।
यद्वा तस्यान्यत् स्यात् सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम्॥ ६१॥

प्यासे को शीघ्र जल पिलाना—यदि पहले बतलाये हुए (दाह-मूर्च्छा आदि) रोगों से ग्रस्त होने से पीड़ित एवं दीन रोगी प्यास से त्रस्त होकर जल पीना चाहता है और उसे जल न मिल पाये, तो वह शीघ्र ही मृत्यु की गोद में सो जाता है या दीर्घकाल-स्थायी रोग से आक्रान्त हो जाता है। इसलिए ऐसे प्यासे रोगी को षडङ्गपरिभाषानुसार बनाये गये धान्याम्बु में चीनी और मधु मिलाकर पीना चाहिए। अथवा रोगी को अन्य प्रकार का उसके अनुकूल जल पीना चाहिए॥ ६०-६१॥

तस्यां विनिवृत्तायां तज्जन्य उपद्रवः सुखं जेतुम्।
तस्मात्तृष्णां पूर्वं जयेद् बहुभ्योऽपि रोगेभ्यः॥ ६२॥

तृष्णा चिकित्सा की प्राथमिकता—उस प्रकार की तृष्णा के मिट जाने पर तृष्णाजन्य उपद्रव आसानी से शान्त किये जा सकते हैं। इसलिए बहुतेरे अन्य रोगों के रहते हुए भी सबसे पहले तृष्णा को शान्त करना चाहिए॥ ६२॥

तत्र श्लोकः—

हेतू यथाऽग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवां च पञ्चानाम्।
तृष्णानां पृथगाकृतिरसाध्यता साधनं चोक्तम्॥ ६३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने तृष्णारोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'तृष्णारोगचिकित्सित' नामक अध्याय में जिस प्रकार अग्नि और वायु तृष्णा रोग को उत्पन्न करते हैं और कारण हैं, पाँच प्रकार की तृष्णाओं का अलग-अलग लक्षण उनकी असाध्यता, उनके उपद्रव और उनकी चिकित्सा, इन सब विषयों का वर्णन किया गया है॥ ६३॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशतन्त्र के चिकित्सास्थान में 'तृष्णारोगचिकित्सित' नामक बाइसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २२॥

तृष्णारोगचिकित्साक्रमबोधक-सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
सामान्य चिकित्सा—शरीर की जलीय धातुओं का शोषण कर तृष्णा मारक हो जाती है, अतः उसके शमन के लिए— **ऐन्द्रजल** या तत्सम अन्य जल मधु मिलाकर पिलायें। **तृणपंचमूल सिद्ध** जल दें। तृण-पंचमूल एवं चिरौंजी डालकर पकाये जल में तैयार मांसरस दें या इनसे सिद्ध दूध में मधु-चीनी मिलाकर पिलायें। शतधौत घृत का अभ्यंग करना, शीतल जल में स्नान करना और घी से छौंक कर **यूष** पीना तृष्णा-शामक है। मधुर, शीतवीर्य, जीवनीय एवं तिक्तरस वाले द्रव्यों से पकाये हुए दूध को मधु और चीनी मिलाकर **पीना, मालिश** करना और **परिसेचन** करना हितकर है। **नस्य** प्रयोग से तृष्णा मिटती है। **गण्डूष** धारण करना, तृष्णाजन्य तालुशोषक का नाशक है। विविध प्रलेप और लेप तथा शीतल स्पर्शों का प्रयोग करना चाहिए। **पित्तज तृष्णा में**—मुनक्का, सफेद चन्दन, खजूर और खश से पकाये गये जल को शीतल कर मधु मिलाकर दें। लोहित शालि पक्व जल में गरम मिट्टी का ढेला बुझाकर उसे पिलायें या वट, बिजौरा नीबू, बेंत की पत्ती, कुश, काश का मूल और मुलहठी डालकर पकाये जल को	**पेय जल**–वर्षा का जल पिलायें या उसके अभाव में–कषाय अनुरस-वाला, पतला, शीतल, सुस्वादु, सुगन्धित जल पिलायें। कुश, कास, शर, दर्भ, इक्षुमूल, इनसे षडङ्ग परिभाषानुसार सिद्ध जल में मिश्री मिलाकर पिलायें। **नस्यार्थ दुग्ध**–मधुर, जीवनीय, शीतवीर्य एवं तिक्तरसयुक्त द्रव्यों से विधिवत् पकाये गये दूध को जमा कर दही बनाकर घी निकालें और उसका नस्य दें। स्त्री के दूध या ऊँटनी के दूध में चीनी मिलाकर नस्य दें या ईख के रस का नस्य दें। **तृष्णानाशक प्रलेप**—जामुन, आम्रातक, बेर, बेंत, पंचक्षीरीवृक्ष, पंचाम्ल—इनका कल्क उरःस्थल, शिर और मुख पर लेप करना चाहिए। **स्पर्श**–दही के जल या काञ्जी में वस्त्र भिगोकर मस्तक, हृदय और मुख पर रखें। दाडिमादि लेप या आमलक लेप या शैवालादि लेप लगायें। प्रिया, पीनपयोधरा, चन्दनलिप्त स्तनतटा वराङ्गनाओं का संस्पर्श करायें। हिमगिरि कन्दरा, वन, नदी, नद, कमलपुष्प, शीत पवन एवं चन्द्रकिरणें तथा शीतल जल तृष्णा-शामक हैं। **पेय जल**—क्षीरीवृक्ष, मधुर तथा शीतवीर्य औषधों से बनाये गये शीत कषाय में चीनी और मधु	धान के लावा के सत्तू में चीनी एवं मधु मिला कर वर्षाजल या तत्सदृश जल में घोलकर पिलायें। जौ का मण्ड मधु एवं चीनी मिलाकर अथवा शालि अथवा कोदो के चावल की पेया मीठी बनाकर पिलायें। **वातज तृष्णा में**—मृदु, लघु, शीतल एवं वातघ्न अन्नपान का सेवन करना चाहिए। क्षयज कास में कहे गये घृतों एवं दुग्धों का प्रयोग ऊर्ध्ववात तथा तृष्णा को शान्त करता है। **वातपित्तज तृष्णा में**—जीवनीय गण की औषधों से पकाये गये घृत तथा दुग्ध का प्रयोग करना चाहिए। **उपद्रव में पथ्यो-पचार**—तृष्णा रोग में शरीर में जकड़न, अरुचि, अपचन, आलस्य एवं वमन हों, तो कफ का अनुबन्ध जानकर जल में सत्तू घोलकर उसमें दही, मधु और नमक मिला पिलाकर वमन कराना उत्तम है। **पेय**—अनार या बिजौरा नीबू या अन्य कषाय लेह, पेय, हल्दी

उपचार	औषध	पथ्य
काली मिट्टी या बालू गरम करके उसमें बुझाकर, फिर मधु मिलाकर पिलायें या मधु-चीनी मिलाकर गुरुच का स्वरस पीने को दें। **आमज तृष्णा में**—कषाय का प्रयोग करे और कफज वमन की चिकित्सा में प्रयोज्य औषधों का प्रयोग करे। **क्षयज तृष्णा में**—क्षयज कास की चिकित्सा करे एवं क्षतक्षीण तथा शोष की औषधें देनी चाहिए। **मद्यज तृष्णा में**—अर्धजलयुक्त मद्य में सेंधानमक, जावित्री, जायफल आदि डालकर पिलायें। **शीतल जल का प्रयोग**—तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, भ्रम क्लम, मदात्यय, रक्तदोष एवं विष के कारण पित्तवृद्धि में स्वभावतः शीतल जलपीने को दें और सन्निपातज तृष्णा में शृतशीत जल पिलायें।	मिलाकर, मिट्टी के ढेले को गरमकर उसमें बुझाकर पीने से पित्तज तृष्णा शान्त होती है। **शीतल जल-स्नान से उत्पन्न तृष्णा में**—आधे जल के साथ मद्य या गुड़ का शर्बत पीने को दें। **उपवासजन्य तृष्णा में** तथा **स्नेहपानज तृष्णा में**— पतली पेया, मण्ड या यवागू पिलायें। भारी भोजन के कारण तृष्णा हो तो वमन करायें या पीपर के कण चबाने को दें और बाद में जब मुख विशद हो जाय, तो सत्तू को घोलकर, चीनी मिलाकर पिलायें। तृष्णा के साथ अन्य रोग भी हों तो, तृष्णा को पहले शान्त करें।	एवं चीनी मिलाकर पीने को दें। **घृत एवं दुग्ध प्रयोग**—रोगी बलवान हो और तृष्णा से उसका तालु सूख रहा हो, तो घृतपान करायें। यदि रोगी दुर्बल हो, तो घी से छौंका हुआ गोदुग्ध पिलायें। अति रूक्ष रोगी को या दुर्बल को गोदुग्ध दें या मांसार्थी को घी में भुना बकरे का मांस शीतल कर, रुचिकर बनाकर दें। स्निग्ध आहारजन्य तृष्णा में—गुड़ का शर्बत पीने को दें।

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

अथातो विषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'विषचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—विष को शान्त करने के लिए शीत का उपचार किया जाता है और तृष्णारोग के शमनार्थ भी शीतल उपचार किया जाता है। इस प्रकार इन दोनों रोगों में शीत द्वारा उपशमन होने का एक सामान्य धर्म है। अतः तृष्णा के बाद विषचिकित्सा का कथन किया जा रहा है। यद्यपि रोगाधिकार में विषरोग का वर्णन नहीं किया है, तथापि विषज मद के कथन से उसे सूत्र रूप में कथित सममझना चाहिए।

निरुक्ति—'विषॢ व्याप्तौ' धातु से विष शब्द बना है, जिसका अर्थ है—शीघ्र फैलना। विष शरीर की सभी धातुओं में शीघ्रता से फैल जाता है। इसे देखकर ही विषाद होता है—'विषादनात् विषमुच्यते'।

प्रागुत्पत्तिं गुणान् योनिं वेगाँल्लिङ्गान्युपक्रमान्। विषस्य ब्रुवतः सम्यगग्निवेश निबोध मे॥ ३॥

विषवर्णन का उपक्रम—हे अग्निवेश! मैं विष की प्रथम उत्पत्ति, विष के गुण, विष का उत्पत्ति-स्थान, विष के वेग और लक्षण तथा चिकित्सा—इन सब विषयों को बतला रहा हूँ। इसे आप अच्छी प्रकार से समझें॥ ३॥

वक्तव्य—यहाँ शिष्य द्वारा विष-सम्बन्धी प्रश्न किये जाने की कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि बिना पूछे गुरुजन उपदेश नहीं करते हैं।

अमृतार्थं समुद्रे तु मथ्यमाने सुरासुरैः। जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः॥ ४॥
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरिकेशोऽनलेक्षणः। जगद् विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः॥ ५॥

विष की प्रथम उत्पत्ति—जब देव और दानव अमृत की प्राप्ति के लिए समुद्र का मन्थन कर रहे थे, तब अमृत की उत्पत्ति के पहले भयावने आकार का, देदीप्यमान, चार बड़े-बड़े दाँतोंवाला, पिङ्गलवर्ण के केशोंवाला और अग्नि के समान चमकीली आँखोंवाला एक पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसे देखकर वहाँ के सभी लोग विषादग्रस्त और खिन्न हो गये, इस कारण उसे 'विष' कहा जाने लगा॥ ४-५॥

जङ्गमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत्। तदम्बुसम्भवं तस्माद् द्विविधं पावकोपमम्॥ ६॥
अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमम्।

विष-योनि, वेग-गुण तथा उपक्रम—समुद्रजल से उत्पन्न उस विष को ब्रह्मा ने स्थावर और जङ्गम योनियों में नियोजित कर दिया। इस प्रकार विष के स्थावर और जङ्गम, ये दो प्रकार हो गये, जो अग्नि के समान तीक्ष्ण होते हैं। विष के ८ वेग, १० गुण और २४ उपक्रम (चिकित्सा) हैं॥ ६॥

वक्तव्य—श्रीमद्भागवत (अष्टम स्कन्ध, अध्याय ७) में यह कथा आती है कि समुद्रमन्थन से विष के उत्पन्न होने पर सभी देवता और राक्षस सन्तप्त होने लगे एवं उन्होंने भगवान् शंकर की प्रार्थना कर उन्हें प्रसन्न किया। उनकी अभय याचना को स्वीकार कर स्वयं ही उसी हलाहल विष का पान किया। विषपान करते समय कुछ बूँदे पृथ्वी पर गिर पड़ीं और उसे ग्रहण कर वृश्चिक, सर्प, विषौषधियाँ और

दन्दशूक विषयुक्त हो गये। महर्षि चरक ने एक घोर दर्शन पुरुष के रूप में समुद्र से विष की उत्पत्ति बतलायी है, जिसका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि उस पुरुष के शरीर से गिरे हुए स्वेद-बिन्दु ही उन स्थावर तथा जंगमों में प्रविष्ट होकर उन्हें विषाक्त बना दिया। इस सूत्र के वर्णन से विष के सम्बन्ध की निम्न विशेषताएँ प्रकट होती हैं; यथा—(१) **अम्बुसंभव**—समुद्र से उत्पन्न होने से विष अम्बुसंभव कहा जाता है, अत एव समानता के कारण वर्षाऋतु में विष का अधिक प्रकोप होता है, फिर जल के प्रभाव से इसका शमन होता है। (२) **पावकोपम**—अग्नि के समान तीक्ष्ण होता है और पैत्तिक लक्षणों को उत्पन्न करता है एवं जल से प्रशान्त होता है। (३) **द्विविध**—स्थावर एवं जंगम भेद से दो प्रकार का होता है और इन दोनों की चिकित्सा भी इन्हीं दोनों के प्रयोग से की जाती है अर्थात् स्थावर विष में जंगम एवं जंगम विष में स्थावर विष का प्रयोग किया जाता है। (४) **अमृत की समानता**—अमृत और विष दोनों ही समुद्रजल से उत्पन्न होते हैं। विष भी अमृत कहा जाता है और शोधन करके अल्पमात्रा में प्रयुक्त होने पर वह अमृत का कार्य करता है।

तद्वर्षास्वम्बुयोनित्वात् संक्लेदं गुडवद् गतम्॥ ७॥
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च। प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद्धनात्यये॥ ८॥

वर्षा एवं शरद ऋतु का विष पर प्रभाव—विष की उत्पत्ति जल से होती है, इसलिए वर्षा ऋतु में (अपने अनुरूप समय पाकर) वह गुड़ की तरह गीला हो जाता है तथा सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। वर्षाऋतु के बीत जाने पर अगस्त्य का उदय विष को मन्दवीर्य बना देता है॥ ७-८॥

सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः। जलौकामत्स्यमण्डूकाः शलभाः सकृकण्टकाः॥
श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षुनकुलादयः। दंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जङ्गमं मतम्॥ १०॥

जंगम विष—साँप, कीड़े, चूहे, मकड़ी, बिच्छू, छिपकलियाँ, जोंक, मछलियाँ, मेंढक, टिड्डियाँ, गिरगिट और कुत्ते, शेर, बाघ, गीदड़, लकड़बग्घा और नेवला आदि दँतैले जीवों के दाँत से उत्पन्न विष को जंगम विष कहा जाता है॥ ९-१०॥

वक्तव्य—यद्यपि उक्त गणना में ऐसे भी जीव हैं जो दंष्ट्रा-विष नहीं हैं, फिर भी सर्प को ही प्रमुख मानकर गणना करने से वे भी उनके ही साथ गिन लिये गये हैं। उक्त जीवों में से किसी की दृष्टि में, किसी के निःश्वास में, किसी-किसी के मल-मूत्रादि में विष होते हैं। सुश्रुताचार्य ने दृष्टि, निःश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र, लाला, आर्तव, मुख, संदंश, विशर्द्धित, तुण्ड, अस्थि, पित्त और शूक—इन षोडश अधिष्ठानों को विष का स्थान माना है।

मुस्तकं पौष्करं क्रौञ्चं वत्सनाभं बलाहकम्। कर्कटं कालकूटं च करवीरकसंज्ञकम्॥ ११॥
पालकेन्द्रायुधं तैलं मेचकं कुशपुष्पकम्। रोहिषं पुण्डरीकं च लाङ्गलक्यञ्जनाभकम्॥ १२॥
सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गीविषं हालाहलं तथा। एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च॥ १३॥

स्थावर विष—मुस्तक, पौष्कर, क्रौञ्च, वत्सनाभ, बलाहक, कर्कट, कालकूट, करवीर, पालक, इन्द्रायुध, तैल, मेचक, कुशपुष्पक, रोहिस, पुण्डरीक, लांगली (कलिहारी), अञ्जनाभ, संकोच, मर्कट, शृङ्गीविष (सींगिया) और हालाहल आदि तथा इसी तरह के अन्य विष जो मूल में विषयुक्त होते हैं, उन्हें स्थावर विष कहा जाता है॥ ११-१३॥

वक्तव्य—यद्यपि उक्त गणना में पत्रविष-पुष्पविष आदि भी सम्मिलित हैं, फिर भी स्थावर विषों में मूलज विषों की बहुलता तथा प्रधानता होने से सबको ही मूलज कहा जाता है। सुश्रुताचार्य ने विष के १० अधिष्ठान बतलाये हैं—'मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक्क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः' (सु.क. २) और विषों के अतिरिक्त उपविषों तथा धातुविषों का भी वर्णन किया है। ऊपर

के श्लोक में जिन विषों का वर्णन किया गया है उनमें विष के नाम से 'वत्सनाभ' ही उपलब्ध होता है, जिसका प्रचलित नाम 'वच्छनाग' है। इसके अतिक्ति करवीर, लाङ्गली और शृङ्गी विष का यत्र-तत्र प्रयोग होता है।

गरसंयोगजं चान्यद् गरसंज्ञं गदप्रदम्। कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून्[1] ॥ १४॥

गरविष—स्थावर और जंगम विषों के अलावे एक अन्य विष भी होता है, जो सविष या निर्विष द्रव्यों के संयोग से होता है; उसे 'गर' कहा जाता है। वह रोगों को भी उत्पन्न करता है। उसका पाचन विलम्ब से होता है, इसलिए वह शीघ्र मारक नहीं होता है॥ १४॥

वक्तव्य—मूलरूप से विषों के दो ही प्रकार होते हैं— १. स्थावर और २. जंगम। इनके ही दो उपभेद और हो जाते हैं—१. कृत्रिम या गरविष और २. दूषीविष। वस्तुतः १. स्थावर २. जंगम और ३. गर, ये तीन ही विष के भेद हैं। **दूषीविष**—इनमें से कोई भी विष जो शरीर में ही पड़ा रह गया हो या जिसका प्रभाव विषघ्न औषधों के प्रयोग से कम कर दिया गया हो अथवा दावाग्नि (वनाग्नि), वायु और धूप से जो शुष्क हो गया हो या स्वभाव से ही जो हीनवीर्य हो, ऐसे हीनवीर्य विष को 'दूषीविष'[2] कहा जाता है।

गर और दूषीविष

गर विष	दूषीविष
१. गरविष मन्द विष होता है।	१. दूषीविष मन्द विष होता है।
२. संयोग की तीक्ष्णता के अनुसार गरविष उग्र प्रभावशाली भी हो सकता है।	२. दूषीविष सदैव मन्द या चिरकालीन स्वरूप का होता है।
३. गर कालान्तर में विपाक होने के कारण शीघ्रता से प्राणहारक नहीं होता।	३. दूषीविष वीर्य में हीन होने के कारण सद्यः प्राणघातक नहीं होता और कफावृत होने के कारण वर्षों तक कष्ट देता रहता है।

१. स्थावरजङ्गमारब्धमेव तृतीयं विषमाह—गरसंयोगजमित्यादि। गरार्थः संयोगो येषां ते गरसंयोगा द्रव्यभेदाः, तेभ्यो जातं गरसंयोगजम्। गर इति तन्त्रे संज्ञा यस्य तद् गरसंज्ञम्। तच्च चिरकारिरोगजनक-प्राणहरम्। एतदेवाह—कालान्तरेत्यादि। सुश्रुतेऽपि त्रिविधमेव विषमुक्तम्—'स्थावरं जङ्गमं चैव कृत्रिमं चापि यद्विषम्' (सु.क.२) इत्यनेन। यत्तु दूषीविषमग्रे वक्ष्यति तत् त्रिविधान्तर्गतं दर्शयिष्यामः। गरं तु द्विविधं—निर्विषद्रव्यसंयोगकृतं तथा सविषद्रव्यसंयोगकृतं च; तत्राद्यं गरसंज्ञम्, उत्तरं तु कृत्रिममिति व्यवस्था। तेनेमामेव व्यवस्थां गृहीत्वोक्तं रसायने—'दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे' (चि. १) इति। तथा वृद्धकाश्यपेऽप्युक्तं—'संयोगजं च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते। गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्' इति। (चक्रपाणि टीका)

२. (क) दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः। यस्माद् दूषयते धातूंस्तस्माद् दूषीविषं स्मृतम्॥

(ख) यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं वा।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति। (सु.क. २)

विषों का वर्गीकरण

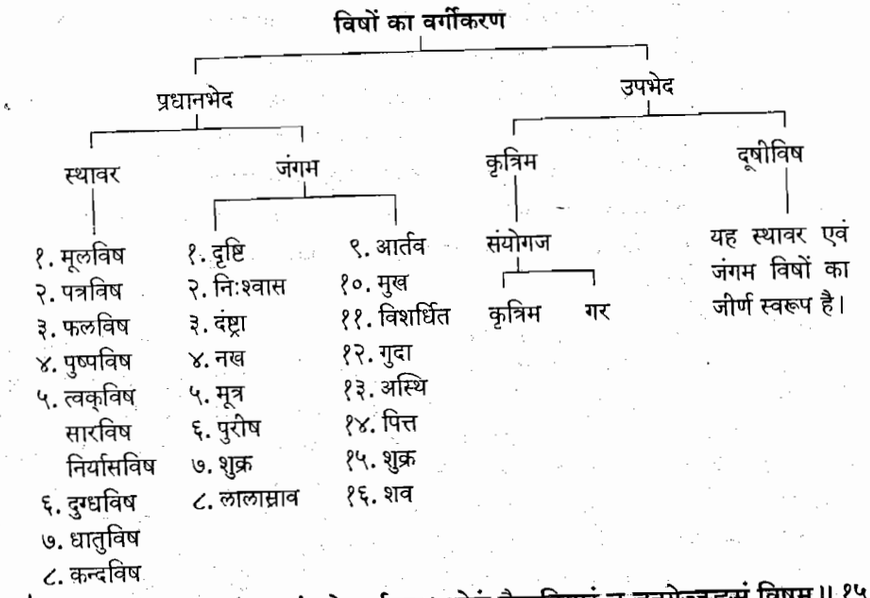

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहं सपाकं लोमहर्षणम्। शोफं चैवातिसारं च जनयेज्जङ्गमं विषम्॥ १५॥

जंगम विष का सामान्य प्रभाव—जंगम विष के प्रभाव से निन्द्रा, तन्द्रा, क्लम, दाह, पाक, रोमाञ्च, सूजन और अतिसार होना—ये लक्षण होते हैं॥ १५॥

स्थावरं तु ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्। फेनवम्यरुचिश्वासमूर्च्छाश्च जनयेद्विषम्॥ १६॥

स्थावर विष का सामान्य प्रभाव—स्थावर विष के सेवन से ज्वर, हिचकी, दाँत कोट होना (दन्तहर्ष), गले में जकड़न, मुख से गाज का वमन होना, अरुचि, दम फूलना और मूर्च्छा होना—ये सब लक्षण होते हैं॥ १६॥

जङ्गमं स्यादधोभागमूर्ध्वभागं तु मूलजम्। तस्माद् दंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मौलं च दंष्ट्रजम्॥ १७॥

विषों की गति—शरीर में जाने पर जंगम विष नीचे के भाग में फैलता है और स्थावर विष ऊपर के भाग में फैलता है; इसलिए परस्पर एक-दूसरे के विपरीत मार्ग में गतिशील होने से जंगम विष स्थावर विष को तथा स्थावर विष जंगम विष को नष्ट करता है॥ १७॥

वक्तव्य—ये दोनों विष एक-दूसरे के मारक होते हैं, अतएव अग्रिम पचासवें श्लोक में यह कहा गया है कि जंगम विष के काटने पर स्थावर विष पिलाना चाहिए और स्थावर विष पीने पर जंगम विष (सर्प आदि) से कटवाना चाहिए—'विषपानं दष्टानां विषपीते दंशनं चान्ते'।

यहाँ पर शंका होती है कि जब ऊक्त दोनों विष अपनी-अपनी गतियों के मार्ग की भिन्नता के कारण परस्पर मारक होते हैं, तब तो 'आत्रेयभद्रकाप्यीय' अध्याय (च.सू.२६) में 'विषं विषघ्नमुक्तं यत्प्रभावस्तत्रकारणम्' अर्थात् प्रभाव द्वारा विष के प्रभाव को विष नष्ट करता है—यह कथन इसके विरुद्ध हो जायेगा। इसके समाधान में यह कहा जाता है कि नहीं, विरुद्ध कथन नहीं है; क्योंकि यदि गतिभिन्नता को कारण माना जाय, तब तो ऊर्ध्वमार्गगामी मदनफल आदि को जंगम विष का नाशक एवं अधोमार्गगामी त्रिवृत आदि को स्थावर विषनाशक होना चाहिए था। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए स्थावर और जंगम विष की परस्पर मारकता में प्रभाव ही कारण है। इसलिए आचार्य के कथन में किसी प्रकार के विरोध होने की आशंका निर्मूल है।

तृष्मोहदन्तहर्षप्रसेकवमथुक्लमा भवन्त्याद्ये।
वेगे रसप्रदोषादसृक्प्रदोषाद् द्वितीये तु॥ १८॥
वैवर्ण्यभ्रमवेपथुमूर्च्छाजृम्भाङ्गचिमिचिमातमकाः।
दुष्टपिशितात्तृतीये मण्डलकण्डूश्वयथुकोठाः॥ १९॥
वातादिजाश्चतुर्थे दाहच्छर्द्यङ्गशूलमूर्च्छाद्याः।
नीलादीनां तमसश्च दर्शनं पञ्चमे वेगे॥ २०॥
षष्ठे हिक्का, भङ्गः स्कन्धस्य तु सप्तमेऽष्टमे[1] मरणम्।
नृणां—

मनुष्यों में विष के वेग—(१) **प्रथम वेग**—विष सेवन करने पर प्रथम वेग में प्यास लगना, मोह (मूर्च्छा), दन्तहर्ष, मुख से पानी आना, वमन होना और थकावट होना, ये लक्षण होते हैं; क्योंकि प्रथम विष वेग रस को ही दूषित कर इन लक्षणों को उत्पन्न करता है। (२) **द्वितीय वेग**—दूसरे वेग में विष रक्त में प्रवेश कर उसे दूषित करके शरीर में विकृत वर्ण की उत्पत्ति, भ्रम, कम्पन्न, मूर्च्छा, जम्भाई आना, शरीर में चुनचुनाहट और दम फूलना, इन लक्षणों को उत्पन्न करता है। (३) **तृतीय वेग**—तीसरे वेग में मांस के दूषित होने से चकत्ते, कण्डू और कोठ उत्पन्न होते हैं। (४) **चतुर्थ वेग**—चौथे वेग में वात आदि प्रकुपित होकर दाह, वमन, अंगों में शूल और मूर्च्छा आदि उत्पन्न करते हैं। (५) **पञ्चम वेग**—पाँचवें वेग में मनुष्य की आँखों के सामने नीले-पीले आदि वर्ण दीखते हैं तथा अँधेरा छा जाता है। (६) **षष्ठ वेग**—छठे वेग में हिचकी आने लगती है। (७) **सप्तम वेग**—सातवें वेग में कन्धे टूटने लगते हैं। (८) **अष्टम वेग**—आठवें वेग में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है॥ १८-२०॥

—चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः, पक्षिणां त्रिविधः॥ २१॥

पशु-पक्षियों में विष के वेग—चतुष्पाद जीवों (चार पैरवाले पशु) के स्थावर या जंगम विष के चार वेग होते हैं और पक्षियों के तीन वेग होते हैं॥ २१॥

सीदत्याद्ये भ्रमति च, चतुष्पदो वेपते, ततः शून्यः।
मन्दाहारो म्रियते श्वासेन हि चतुर्थवेगे तु॥ २२॥

पशुओं के वेगों के लक्षण—यदि पशुओं के शरीर में कोई स्थावर या जंगम विष प्रवेश कर जाता है, तो वह पशु प्रथम वेग में थकान या अवसादग्रस्त होता है और घूमता है। द्वितीय वेग में वह पशु काँपने लगता है, तीसरे वेग में वह पशु यों ही पड़ा रहता है, सूना-सूना सा और बहुत कम खाने लगता है। चतुर्थ वेग में पशु का श्वास तीव्र हो जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है॥ २२॥

ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे, प्रभ्राम्यति द्वितीये तु।
ग्रस्ताङ्गश्च तृतीये विषवेगे याति पञ्चत्वम्॥ २३॥

पक्षियों के वेगों के लक्षण—प्रथम वेग में पक्षी चिन्ता करने लगता है, द्वितीय वेग में (व्याकुल होकर) चक्कर काटने लगता है और तृतीय वेग में उसके सभी अंग शिथिल पड़ जाते हैं और वह मर जाता है॥ २३॥

---

१. तृष्मोहेत्यादिना क्रमेणाष्टविषवेगलक्षणमाह—सुश्रुते एकैककलातिक्रमेण सप्तवेगा उदीरिताः, इह कलालङ्घनेनैव सप्तवेगाः, अष्टमे तु सप्तकलालङ्घनोत्तरकालं मारको वेगो दष्टस्य दंशदेशगमनाय पीतविषस्य हृदयगमनाय भवतीति सुश्रुतेन सममविरोधः। (चक्रपाणि टीका)

मनुष्यों में होने वाले स्थावर तथा जंगम विषों के वेग की सारणी

प्रथम वेग	तृष्णा, मूर्च्छा, दन्तहर्ष, प्रसेक, वमथु, क्लम एवं रसधातु की विकृति
द्वितीय वेग	रक्तधातु की विकृति, वैवर्ण्य, भ्रम, वेपथु, मूर्च्छा, जृम्भा, देह में चुनचुनाहट, तमक श्वास
तृतीय वेग	मांसधातु की विकृति, मण्डल, कण्डू, शोथ और कोठ
चतुर्थ वेग	वात आदि का प्रकोप, दाह, वमन, अङ्गों में पीड़ा, मूर्च्छा आदि
पंचम वेग	आँखों के सामने नीला, पीला, लाल रंग दीखना और अँधेरा छा जाना
षष्ठ वेग	हिचकी आना
सप्तम वेग	कन्धे का झुक जाना, शिथिल होना
अष्टम वेग	मरण होना

पशुओं के वेग

प्रथम वेग	द्वितीय वेग	तृतीय वेग	चतुर्थ वेग
थकावट, चक्कर काटना	कम्पन होना	सूना-सूना रहना एवं अल्पाहार	श्वास वृद्धि होने से मृत्यु

पक्षियों के वेग

प्रथम वेग	द्वितीय वेग	तृतीय वेग
चिन्तित होना	चक्कर-काटना	शरीर में शिथिलता, मृत्यु

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ २४॥

विष के दश गुण—विषविद्या के विद्वानों ने विष को दश गुणों से युक्त बतलाया है; यथा—१. लघु, २. रूक्ष, ३. शीघ्र क्रियाशील, ४. विशद, ५. व्यवायी (पहले शरीर में फैले तब उसका पाचन होता है) ६. तीक्ष्ण, ७. विकासी (हिंसक) ८. सूक्ष्म, ९. उष्ण और १०. अव्यक्त रस। ये विष के १० गुण कहे गये हैं॥ २४॥

विष के १० गुण

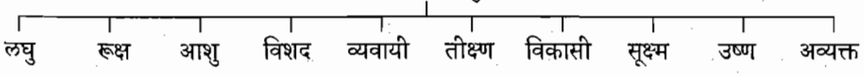

रौक्ष्याद् वातमशैत्यात् पित्तं सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति।
कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम्॥ २५॥
शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्।
तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात्॥ २६॥
दुरुपक्रमं लघुत्वाद् वैशद्यात् स्यादसक्तगतिदोषम्।
दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयति[1]॥ २७॥

शरीर पर विष के गुणों का प्रभाव—(१) रूक्ष होने से विष वायु को प्रकुपित करता है। (२) उष्ण होने से विष पित्त को प्रकुपित करता है। (३) सूक्ष्म होने से विष रक्त को प्रकुपित करता है। (४) अव्यक्तरस होने से विष कफ को प्रकुपित करता है और अन्नरसों में घुल-मिलकर तद्रूप रस वाला हो जाता है। (५) पानी में पड़े तैल-बिन्दु की तरह प्रसरणशील (व्यवायी) होने से शीघ्र ही सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। (६) तीक्ष्ण होने से मृदु एवं सौम्य मर्म स्थानों को नष्ट कर देता है, जिससे विष मारक हो जाता है। (७) विकासी (हिंसनशील-'विपूर्वश्च हि कसतिर्हिंसार्थः' चक्र०) होने से प्राणनाशक होता है। (८) लघु होने से (यह चञ्चल होता है और औषध से सम्बन्ध नहीं स्थापित होने से) इसकी चिकित्सा कठिन होती है। (९) विशद (पिच्छाभागरहित) होने से कहीं चिपकता नहीं है और दोषों में इसकी गति निरन्तर बनी रहती है ('असक्तगतिदोषम्—असक्ता अविश्रान्ता दोषेषु गतिर्यस्य तत्' चक्र०)।

जब विष दोषों के स्थानों में पहुँचता है अथवा वातादि प्रकृति वाले पुरुषों में पहुँचता है, तो वह तीनों दोषों को प्रकुपित करता है, फिर भी किसी एक दोष को अधिक प्रकुपित करता है॥ २५-२७॥

वक्तव्य—इस प्रकार अपने इन उक्त गुणों के प्रभाव से विष प्राणियों के शरीर को विषाक्त और विकृत करता हुआ शरीर धातुओं को नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ प्राणसंहारक हो जाता है। गुणों की न्यूनाधिकता के अनुसार विषों का प्रभाव भी न्यूनाधिक होता है एवं कम गुणों वाला विष अल्प हानिकर तथा अधिक गुणों वाला विष सद्यः मारक होता है।

ओज से विपरीत—विषों को ओज से विपरीत गुणों वाला माना गया है। ओज वह पदार्थ है जिससे संरक्षण और जीवन तथा क्रियाशीलता प्राप्त होती है। इसके बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता। मद्य भी एक प्रकार का विष ही है, क्योंकि मद्यों में भी वे ही गुण रहते हैं, जो विष में होते हैं। इसलिए मद्य भी ओज के विपरीत होता है।

स्याद् वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत्तु।
तृण्मोहारतिमूर्च्छागलग्रहच्छर्दिफेनादि ॥ २८॥

वातप्रकृति के अनुसार दोषप्रकोप—जब वातप्रकृति वाले मनुष्य के वातस्थान (पक्वाशय) में विष पहुँचता है तब कफ तथा पित्त के लक्षण अल्प हो जाते हैं और विषग्रस्त व्यक्ति प्यास की अधिकता, मोह, बेचैनी, मूर्च्छा, गलग्रह, वमन तथा मुख से फेन निकलना आदि लक्षणों से युक्त होता है॥ २८॥

पित्ताशयस्थितं पैत्तिकस्य कफवातयोर्विषं तद्वत्।
तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोऽतिसारादि ॥ २९॥

१. अत्र च गुणानां प्रति नियमेन विरुद्धकर्मकरणे विषस्याशिवत्वमेव नियामकं ज्ञेयम्, तेन रौक्ष्यादिभिः श्लेष्मक्षयादि नाशङ्कनीयम्। सुश्रुते च विषगुणे यत् अपाकित्वमुक्तं तदाशुकारिविषे निष्प्रयोजनमिति नेहोक्तं, तथाहि विषं नैतावन्तं कालमपेक्षते ये यावत्तस्य पाको भवतीत्यविचार्यः (पाको विषस्य) सुश्रुते च कालान्तरप्रकोपित्वमपि दूषीविषगोचरतयोक्तं, तदिहापि दूषीविषे चिन्तनीयमिति।

विष-मद्य तथा ओज गुण दर्शक सारणी

विष	मद्य	ओज
लघु	लघु	गुरु
रूक्ष	रूक्ष	स्निग्ध
उष्ण	उष्ण	शीत
—	तीक्ष्ण	मृदु
सूक्ष्म	सूक्ष्म	वहल
आशुकारी	आशुगामी	प्रसाद
व्यवायी	व्यवायी	स्थिर
अनिर्देश्य रस	अम्ल	मधुर
विकासी	विकासी	श्लक्ष्ण
विशद	विशद	पिच्छिल

पित्तप्रकृति के अनुसार दोषप्रकोप—जब पित्तप्रकृति वाले पुरुष के पित्ताशय में विष पहुँचता है तब वह कफ एवं वात के लक्षणों को कम कर देता है और प्यास की अधिकता, खाँसी, ज्वर, वमन की प्रवृत्ति, क्लम (इन्द्रियों में असामर्थ्य), जलन, आँखों के सामने अँधेरा दीखना तथा अतिसार आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है॥ २९॥

कफदेशगं कफस्य च दर्शयेद् वातपित्तयोश्चेषत्।
लिङ्गं श्वासगलग्रहकण्डूलालावमथ्वादि॥ ३०॥

कफप्रकृति के अनुसार दोषप्रकोप—जब कफप्रकृति पुरुष के कफ-स्थान में विष पहुँचता है तब वह वात और पित्त के लक्षणों को कम करता है तथा दम फूलना, गलग्रह, कण्डू, मुख से लालास्राव एवं वमन आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है॥ ३०॥

दूषीविषं तु शोणितदुष्ट्यारुःकिटिभकोठलिङ्गं च।
विषमेकैकं दोषं सन्दूष्य हरत्यसूनेवम्॥ ३१॥

दूषीविष के लक्षण—दूषीविष रक्त को दूषित करता है, अत एव वह शरीर में छोटी फुंसियाँ किटिभ और कोठ (लाल-नीले उभार वाले चकत्ते) उत्पन्न करता है। इस प्रकार विष एक-एक दोष को भी दूषित कर प्राणहरण कर लेता है॥ ३१॥

वक्तव्य—सुश्रुत-कल्पस्थान अध्याय २ के अनुसार 'स्थावर, जंगम तथा कृत्रिम, इन तीनों में से शरीर में प्रविष्ट हुआ कोई भी विष जो चिकित्सा द्वारा पूर्णतया बाहर न निकल सका हो, उसका शरीर के भीतर रहा हुआ अवशिष्ट भाग जीर्ण होने पर अथवा ऐसा विष, जिसका विषप्रभाव विषनाशक औषधियों से कम कर दिया गया हो, फलतः उसके विषप्रभाव के कम होने पर अथवा दावाग्नि वायु और धूप से अत्यन्त शुष्क हो जाने पर अथवा स्वभाव से उसकी विषाक्तता कम हो जाने पर उसमें 'दूषी विषत्व' आ जाता है। ऐसे हीनवीर्य वाले विषों को 'दूषीविष'[1] कहते हैं।

१. यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं वा।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हृतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषी विषतामुपैति। (सु.क. २)

क्षरति विषतेजसाऽसृक् तत् खानि निरुध्य मारयति जन्तुम्।
पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति दष्टविद्धयोर्दंशदेशे स्यात्॥ ३२॥

विष का प्रभाव—विष अपनी तीक्ष्णता से रक्तवाहिनियों को क्षत करके रक्त बहाने लगता है और वह स्रोतों को रोककर प्राणी को मार डालता है। विष पीकर मरे हुए व्यक्ति के हृदय (अर्थात् आमाशय) में और विषजन्तु के काटने से या विषैले बाण आदि से बिंध जाने पर विष दंश या विद्ध स्थान पर रहता है॥ ३२॥

नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः ।
शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी स्यात्॥ ३३॥
क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि।
एभ्योऽन्यथा चिकित्यास्तेषां चोपक्रमाञ्छृणु मे॥ ३४॥

विष से मृत्यु होने के निश्चित लक्षण—विष से मरने वाले व्यक्ति के ओठ नीले पड़ जाते हैं, दाँत हिलने लगते हैं तथा बाल गिरने लगते हैं। अंगों का स्थानच्युत होना या अनुचित रूप से फेंका जाना, ठण्डे जल का स्पर्श कराने पर भी रोमाञ्च न होना, दण्डे से किसी अंग पर प्रहार करने पर उसका कोई चिह्न शरीर में न बनना और चाकू आदि से कहीं काटने पर रक्त का न बहना—ये सब लक्षण विष से होने वाली मृत्यु के सूचक हैं। इन लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाले मनुष्यों की चिकित्सा करनी चाहिए। जिस चिकित्सा को आगे कहा जा रहा है, आप सुनिये॥ ३३-३४॥

मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः ।
अवगाहरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि ॥ ३५॥
हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रशमनानि ।
प्रतिसारण प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः॥ ३६॥
मृतसञ्जीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः।
स्युरुपक्रमा यथा ये यत्र च योज्याः शृणु तथा तान्॥ ३७॥

विष चिकित्सा के २४ उपक्रम—१. मन्त्र,[1] २. अरिष्टाबन्धन (मन्त्र या रस्सी आदि से दंश के ऊपर बाँधना), ३. उत्कर्तन (काट देना), ४. निष्पीडन (दबा-दबाकर विष निकालना), ५. चूषण (चूसना), ६. आग से दागना, ७. परिषेक (जल की धार गिराना), ८. अवगाह (पानी में बैठाना), ९. रक्तमोक्षण (काटकर रक्त बहाना), १०. वमन, ११. विरेचन, १२. उपधान (मस्तक की त्वचा गोद कर उसमें प्रतिविष भरना), १३. हृदयावरण (हृदयरक्षाकारक औषध का प्रयोग), १४. अञ्जन, १५. नस्य, १६. धूम, १७. अवलेह, १८. औषध-प्रयोग, १९. प्रशमन, २०. प्रतिसारण, २१. प्रतिविष (अन्य किसी विपरीत विष का प्रयोग), २२. संज्ञास्थापन, २३. लेप और २४. मृतसंजीवन (विष से मरे हुए के लिए अमृत के समान औषध)—ये २४ प्रकार के उपक्रम विष की चिकित्सा में किये जाते हैं। इनमें से जो जहाँ पर प्रयोग के योग्य होते हैं, अब आप उनका वर्णन सुनिये॥ ३५-३७॥

दंशात्तु विषं दष्टस्याविसृतं वेणिकां भिषग्बद्ध्वा।
निष्पीडयेद् भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा॥ ३८॥
तं दंशं वा चूषेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन।

१. मन्त्रस्य विषहरेषु श्रेष्ठत्वादग्रेऽभिधानं, यदुक्तं—
'विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः। यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः'॥
(सुश्रुत. कल्प. ५ पर चक्रपाणि टीका)

अरिष्टा बन्धन-निष्पीडन-उत्कर्तन और चूषण—जिस व्यक्ति को सर्प या वृश्चिक आदि ने काटा हो, उसका विष अभी समस्त शरीर में फैला न हो, उसके पहले ही दंश के ऊपर रस्सी आदि से बाँधकर दबा-दबाकर विष को बाहर निकालने का प्रयत्न करे। यदि मर्मस्थान में दंश न हो, तो उसे काटकर विष को बाहर निकाले अथवा मुख में जौ का आटा या धूल भर कर मुख से ही विष दंश स्थान को चूसकर विष को बाहर निकाले॥ ३८॥

प्रच्छनशृङ्गजलौकाव्यधनैः स्राव्यं ततो रक्तम्॥ ३९॥
रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत् प्रकृतिस्तत्स्यजेत् प्राणान्।
तस्मात् प्रघर्षणैरसृगवर्तमानं प्रवर्त्य स्यात्॥ ४०॥

रक्तमोक्षण और प्रतिसारण—पूर्वोक्त प्रकार से चूषण करने के बाद दंशस्थान को १. पाछकर, २. सींग लगाकर, ३. जोंक लगाकर और सिरावेधन करके विषदूषित रक्त को बाहर निकाल देना चाहिए। क्योंकि जब रक्त विष से दूषित हो जाता है, तो मनुष्य अस्वस्थ होकर अपना जीवन गँवा बैठता है, इसलिए यदि रक्त न निकल रहा हो, तो रगड़-रगड़ कर रक्त को बाहर निकाल देना चाहिए॥ ३९-४०॥

त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणरोचनाः सवार्ताकाः।
घर्षणमतिप्रवृत्ते वटादिभिः शीतलैर्लेपः॥ ४१॥

घर्षण चूर्ण—दंशस्थान से रक्त को निकालने के लिए सोंठ, मरिच, पीपर, घर में का धुआँ, हल्दी, पाँचों नमक (सेंधानमक, सोंचरनमक, विडनमक, पांगा और औद्भिद नमक), गोरोचन और कण्टकारी के फलों के बारीक चूर्ण का घर्षण करना चाहिए। यदि रक्त अधिक निकलने लगे तो वट आदि क्षीरी वृक्षों के शीतल कल्क का लेप लगाना चाहिए॥ ४१॥

रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत्।
शीतैः स्कन्दति तस्मिन् स्कन्ने व्यपयाति विषवेगः॥ ४२॥

रक्त के प्रसार में विष का सहयोग—जिस प्रकार वायु अग्नि को फैलाने वाला होता है, उसी तरह रक्त विष को समस्त शरीर में फैला देता है। शीतल प्रदेह और परिसेचन से रक्त कुछ जम जाता है और जमने पर विष का वेग शान्त हो जाता है॥ ४२॥

विषवेगान्मदमूर्च्छाविषादहृदयद्रवाः प्रवर्तन्ते।
शीतैर्निवर्तयेत्तान् वीज्यश्चालोमहर्षात् स्यात्॥ ४३॥

विषजन्य उपद्रव चिकित्सा—विष के वेग के कारण मद, मूर्च्छा, विषाद और हृत्कम्प, ये उपद्रव हो जाते हैं। इन उपद्रवों को शीतल उपचारों से शान्त करना चाहिए और शीतल पंखे की हवा देते रहें, जब तक कि विष के रोगी को रोमाञ्च न हो जाय॥ ४३॥

तरुरिव मूलच्छेदाद् दंशच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम्।
आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टाः॥ ४४॥

दंश के छेदन, चूषण और अरिष्टाबन्धन के लाभ—जिस प्रकार किसी के मूल को काट देने से फिर वह आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार दंश के स्थान में चीरा लगा देने से विष आगे नहीं फैलता है। आचूषण से विष जो फैला हुआ होता है, वह बटुरकर दंश के स्थान में चला आता है (और फिर वह बाहर निकल जाता है)। इसी प्रकार जैसे जल के प्रवाह को रोकने के लिए बाँध बाँधा जाता है, उसी तरह विष के वेग को आगे बढ़ने से रोकने के लिए अरिष्टाबन्धन किया जाता है॥ ४४॥

त्वङ्मांसगतं दाहो दहति विषं स्रावणं हरति रक्तात्।
पीतं वमनैः सद्यो हरेत्—

विषवेग में दाह, रक्तस्रावण तथा वमन—त्वचा तथा मांसगत विष को उस स्थान पर किया गया दाहकर्म जला देता है। जब विष का वेग रक्त में पहुँच गया हो, तो रक्त का स्राव कराने से विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है। तुरन्त के किये गये विषपान को (जब तक विष आमाशय में हो) तुरन्त वमन कराकर निकाल देना चाहिए।

—विरेकैर्द्वितीये तु॥ ४५॥
आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद् यथालाभम्।
मधुसर्पिर्मज्जपयोगैरिकमथ गोमयरसं वा॥ ४६॥
इक्षुं सुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं वरणम्।
छागादीनां वाऽसृग्भस्म मृदं वा पिबेदाशु॥ ४७॥

विष के द्वितीय वेग में चिकित्सा—द्वितीय वेग में विरेचन कराकर विष को निकालना चाहिए। ज्योंही यह पता चले कि किसी ने विष खाया है या उसे किसी विषजन्तु ने काट खाया है त्योंही सबसे पहले उसके हृदय की रक्षा करनी चाहिए और हृदयरक्षक औषधों में से जो भी औषध सुलभ हो, उसका प्रयोग करना चाहिए। जैसे—१. मधु, २. गाय का घी, ३. मज्जा, ४. गाय का दूध, ५. शुद्ध सोनागेरू, ६. गाय के गोबर का रस, ७. गन्ने का पका हुआ रस, ८. कौए को पकाकर उसका रस निचोड़कर, ९. बकरे आदि का ताजा रक्त, १०. गोबर की राख अथवा ११. काली कचैटी मिट्टी को घोलकर शीघ्र पिलाना चाहिए॥ ४५-४७॥

क्षारागदस्तृतीये शोफहरैर्लेखनं समध्वम्बु।
गोमयरसश्चतुर्थे वेगे सकपित्थमधुसर्पिः॥ ४८॥
काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेनाश्च्योतनाञ्जने नस्यम्।
स्यात् पञ्चमेऽथ षष्ठे संज्ञायाः स्थापनं कार्यम्॥ ४९॥
गोपित्तयुता रजनी मञ्जिष्ठामरिचपिप्पलीपानम्।
विषपानं दष्टानां विषपीते दंशनं चान्ते॥ ५०॥

विष के तृतीय से सप्तम वेगपर्यन्त उपचार—**तृतीय वेग में**—शोथनाशक एवं लेखन गुणयुक्त क्षार-प्रधान विषनाशक औषधों को मधु के शर्बत में पिलायें। **चतुर्थ वेग में**—गोबर का रस और कैथ का रस घी-मधु मिलाकर पिलायें। **पंचम वेग में**—केवाँच और शिरीष की पत्ती के स्वरस का आश्च्योचन और अंजन तथा नाक में नस्य देना चाहिए। **छठे वेग में**—संज्ञास्थापनकारक औषधों का प्रयोग करना चाहिए, जैसे—गोपित्त के साथ हल्दी, मजीठ, मरिच और पीपर का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिए। **सातवें वेग में**—यदि सर्प आदि द्वारा काटे हुए व्यक्ति को विष का सातवाँ वेग हो, तो उसे स्थावर विष पिलाना चाहिए। इसी प्रकार विषपानजन्य सातवाँ वेग हो, तो सर्प से कटवाना चाहिए॥ ४८-५०॥

शिखिपित्तार्धयुतं स्यात् पलाशबीजमगदो मृतेषु वरः।
वार्ताकुफाणितागारधूमगोपित्तनिम्बं वा॥ ५१॥

विष के अष्टम वेग की चिकित्सा—जो मनुष्य जंगम अथवा स्थावर विष से प्रभावित होने के कारण एकदम मरणासन्न स्थिति में हो, उसे—(१) १ भाग मोर का पित्त और २ भाग पलाश का बीज पीसकर पिलाना चाहिए अथवा (२) बड़ी कटेरी का बीज या पंचाङ्ग, राब, गृहधूम, गोरोचन और नीम की पत्ती पीसकर पिलाना चाहिए॥ ५१॥

गोपित्तयुतैर्गुटिकाः सुरसाग्रन्थिद्विरजनीमधुककुष्ठैः।
शस्ताऽमृतेन तुल्या शिरीषपुष्पकाकाण्डकरसैर्वा॥ ५२॥

अष्टम वेगनाशक सुरसादि योग—(३) तुलसी की पत्ती, पिपरामूल, हल्दी, दारुहल्दी और कूठ, सबको समान भाग लेकर गोरोचन मिलाकर पीसकर गोलियाँ बना लें अथवा (४) तुलसी की पत्ती आदि को शिरीष के फूल के रस और केवाँच की पत्ती के रस में पीसकर, गोली बनाकर प्रयोग करने से अमृत के सामन लाभ होता है॥ ५२॥

काकाण्डसुरसगवाक्षीपुनर्नवावायसीशिरीषफलैः।
उद्बन्धविषजलमृते लेपौपधिनस्यपानानि॥ ५३॥

काकाण्डादि योग—(५) केवाँच के बीज, तुलसी की पत्ती, इन्द्रायन के बीज, गदहपुर्ना की जड़, मकोय की पत्ती और शिरीष के फल को पीसकर लेप लगाने, खिलाने-पिलाने और नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए। यह योग गले में फन्दा लगाने, विषपान करने या विषजन्तु से काटने पर अथवा जल में डूबने से जो व्यक्ति मरणासन्न हो, उनके लिए प्रयोग करना चाहिए॥ ५३॥

स्पृक्काप्लवस्थौणेयककाङ्क्षीशैलेयरोचनातगरम्।
ध्यामककुङ्कुममांसीसुरसाग्रैलालकुष्ठघ्नम्॥ ५४॥
बृहती शिरीषपुष्पं श्रीवेष्टकपद्मचारटिविशालाः।
सुरदारुपद्मकेशरसावरकमनःशिलाकौन्त्यः॥ ५५॥
जात्यर्कपुष्परसरजनीद्वयहिङ्गुपिप्पलीलाक्षाः।
जलमुद्गपर्णिचन्दनमधुकमदनसिन्धुवाराश्च॥ ५६॥
शम्पाकलोध्रमयूरकगन्धफलानाकुलीविडङ्गाश्च।
पुष्ये संहृत्य समं पिष्ट्वा गुटिका विधेयाः स्युः॥ ५७॥
सर्वविषघ्नो जयकृद् विषमृतसञ्जीवनो ज्वरनिहन्ता।
घ्रेयविलेपनधारणधूमग्रहणैर्गृहस्थश्च॥ ५८॥
भूतविषजन्त्वलक्ष्मीकार्मणमन्त्राग्न्यशन्यरीन् हन्यात्।
दुःस्वप्नस्त्रीदोषानकालमरणाम्बुचौरभयम्॥ ५९॥
धनधान्यकार्यसिद्धिः श्रीपुष्ट्यायुर्विवर्धनो धन्यः।
मृतसञ्जीवन एष प्रागमृताद् ब्रह्मणा विहितः॥ ६०॥
इति मृतसञ्जीवनोऽगदः।

मृतसञ्जीवन अगद—स्पृक्का, केवटीमोथा, गठिवन, फिटकरी, छरीला, गोरोचन, तगर, खश, केशर, जटामांसी, तुलसी की मंजरी, छोटी इलायची, हरताल, खैर, बड़ी कटेरी का फल, शिरीष का फूल, गन्धबिरोजा, पद्मचारटि, इन्द्रायन का बीज, देवदारु, कमल की केसर, साबरलोध, मैनसिल, रेणुका, चमेली और मदार के फूल, सर्जरस, हल्दी, दारुहल्दी, हींग, पीपर, लाक्षा, सुगन्धबाला, मुद्गपर्णी, लालचन्दन, मुलहठी, मदनफल, मेउड़ी की पत्ती, अमलतास, लोध, चिचिड़ा, फूलप्रियंगु, रास्ना और वायविडंग—इन सब द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में पुष्य नक्षत्र में संग्रह कर बटी बना लेनी चाहिए।

फलश्रुति—विष के प्रभाव से मृततुल्य व्यक्तियों को भी जीवित कर देने वाला यह 'मृतसंजीवन अगद' सभी प्रकार के विषों का नाशक है, सभी संकटों पर विजय दिलाता है तथा ज्वरों का नाश करता है। इसको सूँघने से, लेप लगाने से, धारण करने से, धुआँ देने से, हाथ में बाँधने से और घर में रखने से, यह भूत-प्रेत की बाधा या रोगाणु, विषैले जन्तु, अलक्ष्मी (अभाग्य), द्रोहवश किये गये मन्त्र-प्रयोग

या मारक मन्त्र-प्रयोग, अग्निप्रकोप, विद्युत् आघात या वज्रपात की बाधा तथा शत्रुओं को नष्ट करता है। अनिष्टकर स्वप्न, स्त्रियों द्वारा दुष्ट भावना से भोजनादि में किये गये विषप्रयोग के प्रभाव, अकालमृत्यु, जल में डूबने के भय को और चोर के उत्पात के भय को विनष्ट करता है। इस अगद को पास में रखने और प्रयोग करने से धन-धान्य की वृद्धि होती है, कार्य-व्यापार में सफलता मिलती है, लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, शरीर में पुष्टि और बल की वृद्धि होती है, आयु बढ़ती है और सौभाग्य का उदय होकर यशोलाभ एवं प्रशंसा मिलती है। इस मृतसंजीवन नामक अगद को अमृत की उत्पत्ति के पहले ही ब्रह्मा ने बनाया॥ ५४-६०॥

मन्त्रैर्धमनीबन्धोऽवमार्जनं कार्यमात्मरक्षा च।
दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात्तं जयेत्पूर्वम्॥ ६१॥

स्थानिक दोष का प्रथम उपचार—विषैले जन्तु द्वारा काटे जाने पर (यदि हाथ-पैर आदि शाखाओं में दंश का स्थान हो, तो उसके चार अंगुल ऊपर रस्सी से कसकर बाँध देना चाहिए। बाँधते समय रस्सी और दंश के बीच में रुई का पैड या तह किया वस्त्र खण्ड रख देना चाहिए और मन्त्रसिद्ध सात्त्विक व्यक्ति द्वारा) मन्त्रपाठ के साथ अरिष्टाबन्धन किया जाना चाहिए। मन्त्रों को पढ़कर विष का प्रतिलोम गति से अवमार्जन (मालिश) करना चाहिए। मन्त्रों के प्रयोग से अपनी रक्षा भी करनी चाहिए। जिस दोष के स्थान में विष हो, उस दोष के प्रकोप को पहले ही शान्त करना चाहिए॥ ६१॥

वातस्थाने स्वेदो दध्ना नतकुष्ठकल्कपानं च।
घृतमधुपयोऽम्बुपानावगाहसेकाश्च पित्तस्थे॥ ६२॥
क्षारागदः कफस्थानगते स्वेदस्तथा सिराव्यधनम्।

दोषस्थानानुसार विष का उपचार—(१) **वातस्थान में** यदि जंगम या स्थावर विष का प्रकोप हो (तो सर्वप्रथम स्थानिक दोष की चिकित्सा के अनुसार) स्वेदन करना चाहिए और रोगी को तगर तथा कूठ का चूर्ण या कल्क दही में मिलाकर पिलाना चाहिए। (२) **पित्तस्थान में** विषप्रकोप हो, तो पित्त को शान्त करने के लिए घी-मधु-दूध और जल का घोल बनाकर पीने, अवगाहन (स्नान) करने और परिसेचन में प्रयोग करना चाहिए। (३) **कफस्थान में** यदि विष व्याप्त हो, तो पहले स्वेदन करके सिरावेध करना चाहिए। फिर क्षारागद (इसी अध्याय में श्लोक १०१-१०४ में पठित) का प्रयोग करना चाहिए॥ ६२॥

दूषीविषेऽथ रक्तस्थिते सिराकर्म पञ्चविधम्॥ ६३॥
भेषजमेवं कल्प्यं भिषग्विदाऽऽलक्ष्य सर्वदा सर्वम्।
स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च॥ ६४॥

दूषीविष में सिरावेध और पंचकर्म—यदि दूषीविष रक्त में प्रविष्ट हो गया हो, तो (स्वेदन करके) सिरावेध करना चाहिए और वमनादि पञ्चकर्म का प्रयोग करना चाहिए। इस तरह रुग्ण व्यक्ति की प्रकृति-देश-काल आदि सभी बातों को अच्छी तरह जान-समझकर औषध की योजना या कल्पना करनी चाहिए। सबसे पहले स्थान की (जिसमें विष व्याप्त हो, उसकी) चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् जिस स्थान में विष का संक्रमण हुआ हो, उस स्थान में रहने वाले दोष के प्रकोप को शान्त करना चाहिए। किन्तु इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उस स्थान में स्थित विष का विकार अधिक उग्र न हो जाये॥ ६३-६४॥

विषदूषितकफमार्गः स्रोतःसंरोधरुद्धवायुस्तु।
मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च॥ ६५॥

चर्मकषायाः कल्कं बिल्वसमं मूर्ध्नि काकपदमस्य।
कृत्वा दद्यात् कटभीकटुकट्फलप्रधमनं च॥ ६६॥

श्वासावरोध में काकपद (उपधान) और प्रधमन—जब विष के प्रभाव से कफ का मार्ग दूषित हो जाता है, तो स्रोतस् के अवरुद्ध होने से वायु का संचरण बाधित हो जाता है, तब विषपीड़ित मनुष्य मरने वाले मनुष्य की तरह श्वास लेने लगता है। यदि ऐसी स्थिति में पड़े हुए व्यक्ति में असाध्य लक्षण (इसी अध्याय में श्लोक ३३-३४) न हों, तो उसके मस्तक पर बाल छिलवाकर काकपद (कौए के पैर की तरह तीन रेखा बनाना, जिससे रक्त निकलने लगे) बनाकर उस पर बिल्व के समान सातला के कल्क का लेप कर दें। तत्पश्चात् मालकाँगनी, सोंठ, मरिच, पीपर और कायफल, इनका महीन चूर्ण बनाकर कागज की सिगरेट बनाकर उसमें औषध रखकर नाक में फूँक दें॥ ६५-६६॥

वक्तव्य—कफ से श्वासपथ में रुकावट पैदा होने से, जब श्वास लेने में कठिनाई होती है और रोगी की मृत्यु-पूर्व की स्थिति होती है, तो मुख के द्वारा औषध खिलाना सम्भव नहीं होता, इसलिए सीधे रक्त में औषध पहुँचाने के लिए 'काकपद' का तथा होश लाने के लिए नस्य का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है।

छागं गव्यं माहिषं वा मांसं कौक्कुटमेव वा।
दद्यात् काकपदे तस्मिंस्ततः संक्रमते विषम्॥ ६७॥

काकपद में मांस का प्रयोग—(यदि विषाक्रान्त व्यक्ति मुख द्वारा औषध लेने में समर्थ न हो, तो) रोगी के मस्तक पर काकपद का निशान बनाकर उस पर बकरे का, गाय का, भैंस का अथवा मुर्गे का मांस रखना चाहिए। इससे रोगी के रक्त का विष मांस में चला आता है॥६७॥

नासाक्षिकर्णजिह्वाकण्ठनिरोधेषु कर्म नस्तः स्यात्।
वार्ताकुबीजपूरज्योतिष्मत्यादिभिः पिष्टैः॥ ६८॥
अञ्जनमक्ष्युपरोधे कर्तव्यं बस्तमूत्रपिष्टैस्तु।
दारुव्योषहरिद्राकरवीरकरञ्जनिम्बसुरसैस्तु ॥ ६९॥

नस्य और अञ्जन—जब विषग्रस्त व्यक्ति के नाक, नेत्र, कान, जीभ और कण्ठ में रुकावट हो और इनके कार्य सम्पन्न नहीं होते हों, तो नस्य का प्रयोग करना चाहिए। नस्य के लिए बड़ी कटेरी, बिजौरा नीबू के मूल की छालें और मालकाङ्गनी आदि औषधों को पीसकर महीन चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिए। जब विष के दुष्प्रभाव से नेत्र की क्रिया में अवरोध हो, तो देवदारु, सोंठ, मरिच, पीपर, कनेर की पत्ती, करंज की गुद्दी, नीम का फूल और तुलसी की मंजरी को बकरे के मूत्र में अच्छी तरह घिसकर अंजन लगाना चाहिए॥ ६८-६९॥

श्वेता वचाऽश्वगन्धा हिङ्ग्वमृता कुष्ठसैन्धवे लशुनम्।
सर्षपकपित्थमध्यं टुण्टुकमूलं करञ्जबीजानि॥ ७०॥
व्योषं शिरीषपुष्पं द्विरजन्यौ वंशलोचनं च समम्।
पिष्ट्वाऽजस्य मूत्रेण गोश्वपित्तेन सप्ताहम्॥ ७१॥
व्यत्यासभावितोऽयं निहन्ति शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रम्।
सर्वज्वरभूतग्रहविसूचिकाजीर्णमूर्च्छार्तीः ॥ ७२॥
उन्मादापस्मारौ काचपटलनीलिकाशिरोदोषान्।
शुष्काक्षिपाकपिल्लार्बुदार्मकण्डूतमोदोषान् ॥ ७३॥

क्षयदौर्बल्यमदात्ययपाण्डुगदांश्चाञ्जनात्तथा मोहान्।
लेपाद् विषदिग्धक्षतलीढदष्टपीतविषघाती॥ ७४॥
अर्शःस्वानद्धेषु च गुदलेपो योनिलेपनं स्त्रीणाम्।
मूढे गर्भे दुष्टे ललाटलेपः प्रतिश्याये॥ ७५॥
वृद्धौ किटिभे कुष्ठे श्वित्रविचर्चिकादिषु लेपः।
गज इव तरून् विषगदान्निहन्त्यगदगन्धहस्त्येषः॥ ७६॥

इति गन्धहस्तीनामाऽगदः।

गन्धहस्ती अगद—मालकाँगनी, बच, असगन्ध, हींग, गुरुच, कूठ, सेंधानमक, लहसुन, पीली सरसों, कैथ की गुद्दी, सोनापाठा का मूल, करंज का बीज, सोंठ, मरिच, पीपर, शिरीष का फूल, हल्दी, दारुहल्दी और वंशलोचन—इन सब द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर महीन चूर्ण बनाकर छान लें फिर बकरे के मूत्र से पीस लें। तत्पश्चात् एक सप्ताह तक गाय के और घोड़े के पित्त से बारी-बारी से भावना दे (अर्थात् एक दिन गाय के पित्त से, तो दूसरे दिन घोड़े के पित्त से भावना दे)। उसके बाद सुखाकर किसी सुरक्षित पात्र में रख दें।

फलश्रुति—यह अगद शिरःप्रदेश में व्याप्त विष को शीघ्र ही नष्ट कर देता है। यह सभी प्रकार के ज्वरों को, भूतग्रह (देव-राक्षसादि के प्रकोप या रोगजन्य कीटाणु), विसूचिका, अजीर्ण तथा मूर्च्छारोग को दूर करता है। इसके सेवन से उन्माद, अपस्मार, नेत्र के रोग—काच, पटल, नीलिका, शिरोरोग, शुष्काक्षिपाक, पिल्ल, अर्बुद, अर्म, कण्डू, आँखों के सामने अँधेरा दिखायी पड़ना, धातुक्षय, दुर्बलता, मदात्यय तथा पाण्डुरोग नष्ट हो जाते हैं। इसके अञ्जन से मोह (बेहोशी) दूर होता है। इस अगद का लेप करने से विष में बुझे बाण या शस्त्र के आघात से उत्पन्न सविष व्रण, किसी विषजन्तु के चाटने से या काटने से उत्पन्न विष या विषपान करने से व्याप्त विष, ये सभी नष्ट हो जाते हैं। अर्श के मस्से हों या उदर में आनाह हो, तो इस अगद का गुदा पर लेप करना चाहिए। मूढ़गर्भ में स्त्रियों की योनि में लेप करना चाहिए। दुष्ट प्रतिश्याय रोग में ललाट पर लेप करना चाहिए। इस अगद को अण्डवृद्धि में, किटिभ कुष्ठ में, श्वित्र और विचर्चिका आदि त्वचा या रक्तज रोगों में लेप के रूप में लगाया जाता है। यह गन्धहस्ती नामक अगद औषध सभी तरह के विषज रोगों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे महाबलशाली गजराज बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकता है॥ ७०-७६॥

पत्रागुरुमुस्तैला निर्यासाः पञ्च चन्दनं स्पृक्का।
त्वङ्नलदोत्पलबालकहरेणुकोशीरवन्यनखाः ॥ ७७॥
सुरदारुकनककुङ्कुमध्यामककुष्ठप्रियङ्गवस्तगरम् ।
पञ्चाङ्गानि शिरीषाद् व्योषालमनःशिलाजाज्यः॥ ७८॥
श्वेता कटभी करञ्जो रक्षोघ्नी सिन्धुवारिका रजनी।
सुरसरसाञ्जनगैरिकमञ्जिष्ठानिम्बनिर्यासाः ॥ ७९॥
वंशत्वगश्वगन्धाहिङ्गुदधित्थाम्लवेतसं लाक्षा।
मधुमधुकसोमराजीवचारुहारोचनातगरम् ॥ ८०॥
अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेण षष्टयङ्गः।
अप्रतिहतप्रभावः ख्यातो महागन्धहस्तीति॥ ८१॥
पित्तेन गवां पेष्यो गुटिकाः कार्यास्तु पुष्ययोगेन।
पानाञ्जनप्रलेपैः प्रसाधयेत् सर्वकर्माणि॥ ८२॥

पिल्लं कण्डूं तिमिरं रात्र्यान्ध्यं काचमर्बुदं पटलम्।
हन्ति सततप्रयोगाद्धितमितपथ्याशिनां पुंसाम्॥ ८३॥
विषमज्वरानजीर्णान् दद्रुं कण्डूं विसूचिकां पामाम्।
विषमूषिकलूतानां सर्वेषां पन्नगानां च।
आशु विषं नाशयति समूलजमथ कन्दजं सर्वम्॥ ८४॥
एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम्।
कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्कः॥ ८५॥
आनद्धे गुदलेपो योनौ लेपश्च मूढगर्भाणाम्।
मूर्च्छार्तिषु च ललाटे प्रलेपनमाहुः प्रधानतमम् ॥ ८६॥
भेरीमृदङ्गपटहाञ्छत्राण्यमुना तथा ध्वजपताकाः।
लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यै प्रध्वनयेद् दर्शयेन्मतिमान्॥ ८७॥
यत्र च सन्निहितोऽयं न तत्र बालग्रहा न रक्षांसि।
न च कार्मणवेताला वहन्ति नाथर्वणा मन्त्राः॥ ८८॥
सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति न चाग्निशस्त्रनृपचौराः।
लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति॥ ८९॥
पिष्यमाण इमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत्।
'मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता॥ ९०॥
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च।
नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे॥ ९१॥
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च।
तेजो वृषाकपेः साक्षात् तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे॥ ९२॥
यथाऽहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम्।
मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम्॥ ९३॥
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्ययम्।
हिलिमिलिसंस्पृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा'॥ ९४॥

इति महागन्धहस्तीनामाऽगदः।

महागन्धहस्ती अगद—१. तेजपात, २. अगर, ३. नागरमोथा, ४. छोटी इलायची, पाँचों निर्यास (५. राल, ६. गुग्गुलु, ७. अफीम, ८. शिलाजीत और ९. लोहबान); १०. श्वेत चन्दन, ११. स्पृक्का, १२. दालचीनी, १३. जटामांसी, १४. नीलकमल, १५. सुगन्धबाला, १६. रेणुका बीज, १७. खश, १८. केवटीमोथा, १९. नख, २०. देवदारु, २१. नागकेशर, २२. सुगन्धतृण, २३. कूठ, २४. प्रियंगु, २५. तगर, शिरीष का पञ्चाङ्ग (२६. मूल, २७. छाल, २८. पत्ती, २९. फूल, ३०. फल); ३१. सोंठ, ३२. मरिच, ३३. पीपर, ३४. हरताल, ३५. मैनसिल, ३६. जीरा, ३७. अपराजिता, ३८. मालकाँगनी, ३९. करंज, ४०. पीली सरसों, ४१. सिन्धुवार, ४२. हल्दी, ४३. तुलसी, ४४. रसौंत, ४५. गेरू, ४६. मजीठ, ४७. नीम की गोंद, ४८. बाँस का छिलका, ४९. असगन्ध, ५०. हींग, ५१. कैथ की गुद्दी, ५२. अम्लबेंत, ५३. लाख, ५४. मधु, ५५. मुलहठी, ५६. बाकुची का बीज, ५७. बच, ५८. दूब, ५९. गोरोचन और ६०. तगर—इस अगद में ६० द्रव्य हैं, इसलिए इसे साठ अंगों वाला षष्टयंग कहा गया है। भगवान् शंकर ने कुबेर (यक्षाधिपति) के लिए इसका उपदेश किया है। यह 'महागन्धहस्ती' नामक अगद अव्यर्थ प्रभावशाली है। इन सभी औषधों को पुष्य नक्षत्र में गाय के पित्त में पीसकर बटी बना लें।

प्रयोग—इसके पीने से, अंजन करने से और लेप करने से सभी कार्यों में सफलता मिलती है। जो व्यक्ति हितकर, परिमित और पथ्य भोजन करते हुए इस अगद का लगातार अंजन लगाते हैं, यह अगद उनके पिल्ल, कण्डू, तिमिर, रतौंधी, काच (मोतियाबिन्द), अर्बुद और पटल, इन नेत्र-रोगों को दूर करता है। यह अगद सभी प्रकार के विषमज्वर, अजीर्ण, दद्रु, कण्डू, विसूचिका, पामा आदि रोगों को नष्ट करता है। इसके सेवन से मूषिक विष, लूताविष, सभी तरह के सर्पों के विष, सभी मूलविष एवं कन्द विष नष्ट हो जाते हैं।

इस अंगद को पीसकर अपने शरीर में लेप करने वाला व्यक्ति जीवित सर्पों को भी हाथ से पकड़ सकता है और विष भी खा सकता है। जिस व्यक्ति के शिर पर मृत्यु नाच रही हो, वह भी नीरोग होकर जीवित रहता है। यदि उदर में आनाह हो, तो इस अगद का गुदा में प्रलेप करे; मूढगर्भ की स्थिति हो तो योनि में और मूर्च्छा रोग में ललाट पर मुख्यरूप से लेप करना चाहिए।

बुद्धिमान् वैद्य को सर्पविष को दूर करने के लिए इस अगद को नगाड़ा (भेरी), मृदङ्ग और ढोल पर लेप कर बजाना चाहिए तथा झण्डा एवं पताका पर लेप चढ़ाकर रोगी को दिखाना चाहिए। यह अगद जिस जगह रखा जाता है, वहाँ न बालग्रह जाते हैं न राक्षस या कीटाणु जाते हैं, न वहाँ अनिष्टकारक मारण-मोहन का प्रभाव होता है, न वहाँ भूत-प्रेत-वैताल जाते हैं, न वहाँ अथर्ववेद के अशुभकर मन्त्रों का दुष्प्रभाव होता है। जिस गृह में यह महागन्धहस्ती अगद रहता है, वहाँ सूर्य आदि नवग्रहों के प्रकोप से कोई अनर्थ नहीं होता। वहाँ पर अग्नि का, शस्त्र का, चोर का और राजा का भय नहीं होता एवं उस घर में लक्ष्मी का निवास होता है।

जब यह अगद पीसा जा रहा हो, तो "मम माता जया नाम" आदि मन्त्र का पाठ करना चाहिए। **मन्त्रार्थ**—मेरी माता का नाम 'जया' और पिता का नाम 'जय' है और इनका पुत्र मैं 'विजय' हूँ; इसीलिए मैंने विषज तथा अन्य विकारों पर विजय पा ली है। विश्व के रचयिता पुरुषसिंह भगवान् विष्णु को नमस्कार है, जो सनातन हैं, कृष्ण हैं, भव हैं, विभव हैं, जो वृषाकपि ब्रह्मा इन्द्र और यम के तेजःस्वरूप हैं। मैं यह नहीं जानता कि वासुदेव का पराजय होता है, माता का पाणिग्रहण होता है और समुद्र सूखता है। अर्थात् जिस तरह ये सब अपना प्रभाव संरक्षित रखते हैं, उसी तरह इस अगद का भी प्रभाव सदा ही स्थापित रहता है, उसका ह्रास नहीं होता। इस सत्यवचन से यह अगद सफल हो। इस प्रकार 'मम माता से लेकर स्वाहा' तक के मन्त्र को पढ़ते हुए इस अगद की बटी बनानी चाहिए॥ ७७-९४॥

ऋषभकजीवकभार्गीमधुकोत्पलधान्यकेशराजाज्यः ।
ससितगिरिकोलमध्याः पेयाः श्वासज्वरादिहराः॥ ९५॥

ऋषभकादि अगद—ऋषभक, जीवक, भारंगी, मुलहठी, नीलकमल, धनिया, नागकेसर, जीरा, अपराजिता और बेर की गुठली की मींगी—इन सबको समभाग लेकर (१० ग्राम की मात्रा में) पीसकर पीना चाहिए। इससे विषजनित श्वास एवं ज्वर आदि दूर होते हैं॥ ९५॥

हिङ्गु च कृष्णायुक्तं कपित्थरसयुक्तमथ्यलवणं च।
समधुसितौ पातव्यौ ज्वरहिक्काश्वासकासघ्नौ॥ ९६॥

हिंग्वादि एवं कपित्थादि योग—(१) शुद्ध हींग और पीपर के महीन चूर्ण में मधु और चीनी मिलाकर पीना चाहिए या (२) कैथरस में सेंधानमक डालकर, मधु और चीनी मिलाकर पीना चाहिए। ये दोनों प्रयोग विषजन्य ज्वर, हिक्का, श्वास और कास को दूर करते हैं॥ ९६॥

लेहः कोलास्थ्यञ्जनलाजोत्पलमधुघृतैर्वम्याम्।
बृहतीद्वयाढकीपत्रधूमवर्तिस्तु हिक्काघ्नी॥ ९७॥

वमन तथा हिक्कानाशक योग—(१) विषपीड़ित व्यक्ति को वमन हो रहा हो, तो उसे बेर की गुठली की मींगी, रसौंत, धान का लावा और नीलकमल, इन्हें समभाग लेकर चूर्ण कर उचित मात्रा में मधु और घी के साथ दें। (२) यदि विषग्रस्त व्यक्ति को हिचकी आ रही हो, तो बड़ी और छोटी कण्टकारी तथा अरहर की पत्ती पीसकर बत्ती बनाकर धूमपान कराना चाहिए॥ ९७॥

शिखिबर्हिबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम्।
धूमो गृहशयनादिषु वस्त्रे च शस्यते विषनुत्॥ ९८॥
घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषपुष्पं च।
धूमागदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नं श्वयथुहृच्च॥ ९९॥
जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातककुभपुष्पसर्जरसाः ।
श्वेता च धूम उरगाखुकीटवस्त्रकृमिनुदयः॥ १००॥

धूमागद योग—(१) मयूर का पंख, बकुले की हड्डियाँ, पीली सरसों और श्वेतचन्दन के चूर्ण में घी मिलाकर, आग पर डालकर धुआँ करने से घर, चौकी-चारपाई आदि तथा वस्त्र में व्याप्त विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है। (२) तगर, कूठ, साँप का शिर और शिरीष का फूल, इन सबको एक में कूटकर आग में डालकर धुआँ करने से सभी तरह के विष नष्ट होते हैं और शोथ मिट जाता है। इसे धूमागद कहा जाता है। (३) लाख, खश, तेजपात, गुग्गुलु, भिलावा, अर्जुन का फूल, राल और श्वेत अपराजिता, इनको समान भाग में लेकर कूट लें। इसका धुआँ साँप, चूहा, कृमि तथा कपड़े में रहने वाले छोटे कृमियों को नष्ट करने में श्रेष्ठ है॥ ९८-१००॥

तरुणपलाशक्षारं स्रुतं पचेच्चूर्णितैः सह समांशैः।
लोहितमृद्रजनीद्वयशुक्लसुरसमञ्जरीमधुकैः ॥ १०१॥
लाक्षासैन्धवमांसीहरेणुहिङ्गुद्विसारिकाकुष्ठैः ।
सव्योषैर्बाह्लीकैर्दर्वीप्रलेपनं घट्टयेद् यावत्॥ १०२॥
सर्वविषशोथगुल्मत्वग्दोषार्शोभगन्दरप्लीहः ।
शोथापस्मारक्रिमिभूतस्वरभेदपाण्डुगदान् ॥ १०३॥
मन्दाग्नित्वं कासं सोन्मादं नाशयेयुरथ पुंसाम्।
गुटिकाश्छायाशुष्काः कोलसमास्ताः समुपयुक्ताः॥ १०४॥
इति क्षारागदः।

क्षारागद—पलाश के छोटे-छोटे पौधों को काटकर, सुखाकर, जलाकर राख करे, फिर उस राख को पानी में घोलकर निथार ले और उसे कड़ाहे में रखकर आग पर चढ़ायें। उसके साथ निम्न औषधों के बारीक छने हुए चूर्ण को भी डालकर पकायें; यथा—गेरू, हल्दी, दारुहल्दी, सफेद तुलसी की मंजरी, मुलहठी, लाख, सेंधानमक, जटामांसी, रेणुकाबीज, शुद्ध हींग, काली और श्वेत सारिवा, कूठ, सोंठ, मरिच, पीपर और शुद्ध हींग, इन सबको डालकर चलाते रहें, जब करछुल में लगने लगे तो ठीक से चलाकर गाढ़ा पका लें, जिससे ठंडा होने पर गोली बन जाये। फिर छोटे बेर के आकार की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखाकर रख लें।

ये गोलियाँ सेवन करने पर सभी प्रकार के विष-विकार, शोथ, गुल्म, चर्मविकार, अर्श, भगन्दर, प्लीहारोग, अपस्मार, कृमि, भूत-प्रेत, स्वरभेद, पाण्डुरोग, मन्दाग्नि, कास और उन्माद, इन सबको नष्ट करती हैं॥ १०१-१०४॥

वक्तव्य—इस योग में हींग दो बार पढ़ा गया है, इसलिए उसे दो भाग लेना चाहिए और घी में भूनकर शोधन करके डालना चाहिए।

विषपीतदष्टविद्धेष्वेतद्दिग्धे च वाच्यमुद्दिष्टम्।
सामान्यतः, पृथक्त्वान्निर्देशमतः शृणु यथावत्॥ १०५॥

विशिष्ट चिकित्सा का उपक्रम—अब तक विषपान किये हुए, जंगम विष से काटे हुए, बाण आदि से बिद्ध हुए और विष में बुझाये बाण आदि से प्रहार किये हुए की चिकित्सा सामान्यतः बतलायी गयी है। इससे आगे विषों की अलग-अलग चिकित्सा कही जायगी, उसे सावधान होकर सुनिये॥ १०५॥

रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्वेभ्यः स्त्रीभ्योऽथवा भयं नृपतेः।
आहारविहारगतं तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत॥ १०६॥

नियुक्ति के पूर्व भृत्य की परीक्षा—राजा को अपने शत्रुओं द्वारा गुप्तरूप से अपनी ही सेवा-टहल में नियुक्त भृत्य जनों से अथवा सेविकाओं या अन्तःपुर की स्त्रियों से आहार, शय्या, आसन, जल, अभ्यंग, पेय आदि में विष प्रयोग करने (हत्या कर देने का या असमर्थ बना देने) का भय रहता है। इसलिए घरेलू कामकाज तथा निजी परिचर्या में संलग्न रहने वाले भृत्यों की परीक्षा करनी चाहिए॥ १०६॥

अत्यर्थशङ्कितः स्याद् बहुवागथवाऽल्पवाग्विगतलक्ष्मीः।
प्राप्तः प्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः॥ १०७॥

विष देने वाले की पहचान—विष देने वाला व्यक्ति बहुत डरा-डरा-सा शंकित रहता है कि कहीं मैं फँस न जाऊँ और राज न खुल जाय। या तो वह बहुत बढ़-चढ़कर बातें करता है या चुप ही रहता है। उसके चेहरे पर उदासीनता छा जाती है और उसके स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है। इन लक्षणों को देखकर विषदाता को पहचानना चाहिए॥ १०७॥

दृष्ट्वैवं न तु सहसा भोज्यं कुर्यात्तदन्नमग्नौ तु।
सविषं हि प्राप्यान्नं बहून् विकारान् भजत्यग्निः॥ १०८॥
शिखिबर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णाक्षमरूक्षकुणपधूमश्च।
स्फुटित च सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि च स्यात्॥ १०९॥
पात्रस्थं च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकांश्च मारयति।
क्षामस्वरांश्च काकान् कुर्याद् विरजयेच्चकोराक्षि॥ ११०॥
पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वां च नेक्षते छायाम्।
पश्यति विकृतामथवा लवणाक्ते फेनमाला स्यात्॥ १११॥
पानान्नयोः सविषयोर्गन्धेन शिरोरुजा हृदि च मूर्च्छा।
स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यङ्गुलिदाहतोदनखभेदाः॥ ११२॥

विषयुक्त अन्न की विविध परीक्षाएँ—पूर्वोक्त प्रकार के छल-कपटपूर्ण व्यवहार को देखकर राजा को या अन्य लोगों को बिना परीक्षा किये हुए आहार को सहसा नहीं खाना चाहिए। अपितु पहले उस आहार की परीक्षा अग्नि में आहुति देकर कर लेनी चाहिए। विषयुक्त अन्न जब अग्नि में डाला जाता है, तो अग्नि में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं; यथा—(१) आग की लपट या ज्वाला में मोर के पंख की चमक होती है। (२) आग से उठने वाला धुआँ तीखा, असह्य, रूक्ष और शव की सड़न जैसी गन्ध से युक्त होता है। (३) पटाखे की आवाज जैसी तेज चटचटाहट होती है और (४) आग की लपट तूफानी आँधी की तरह एक चक्कर काटकर शान्त हो जाती है।

यदि भोजन विष मिला हुआ होता है, तो पात्र में रखने पर वह विकृत रूप-रंग का हो जाता है। उस भोजन पर बैठने वाली मक्खियाँ मर जाती हैं। सविष अन्न को देखकर या खाकर कौआ मन्द स्वर का और चकोर लाल आँखों वाला हो जाता है।

पेय पदार्थ (दूध-जल-शर्बत आदि) में यदि विष मिला हो, तो उसमें नीली रेखा दीखती है और उसका रंग बदरंग हो जाता है। उसमें परछाहीं नहीं दिखायी देती है या विकृत दीखती है। यदि उस पेय में नमक मिलाया जाय, तो उसमें बहुत-सा गाज या फेन उठता है।

यदि पेय या खाद्य पदार्थ में विष मिला हो, तो उसकी गन्ध से शिर में और हृदय में पीड़ा और मूर्च्छा होती है। उसके स्पर्श से हाथों में सूजन होती है, सूनापन होता है, अंगुलियों में जलन होती है और सुई चुभाने जैसी पीड़ा होती है तथा नख गिरने लगते हैं॥ १०८-११२॥

वक्तव्य—अग्नि हमारी संस्कृति का आदिदेव है और उसे देवताओं का मुख और प्रमुख दोनों ही माना गया है—'अग्निमुखा हि देवाः' 'अग्निर्देवानां प्रथमो बभूव', 'अग्निमीळे पुरोहितं देवस्य यज्ञमृत्विजम्' आदि मन्त्र अग्नि की प्रशंसा के अभिव्यञ्जक हैं। आयुर्वेदशास्त्र में भी 'आहिताग्नि' (अग्निहोत्री) बनने का अनेकशः निर्देश किया गया है। चरकसंहिता-सूत्रस्थान (८।२०) में भोजन सम्बन्धी सद्वृत्त के वर्णन में यह कहा गया है कि बिना अग्नि में हवन किये ('नादत्वाऽग्रमग्नये') भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन के पहले अग्नि में हवन करने की धार्मिक प्रथा के प्रचलन के मूल में जीवन-रक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है। वलिवैश्वदेव विधि में कुत्ते, बिल्ली आदि को ग्रास देकर भोजन करने के विधान का भी यही अभिप्राय है कि यदि आहार में विष मिला होगा, तो उसकी जानकारी इस प्रक्रिया से हो जायेगी। इसलिए इन मान्यताओं को रूढ़ि न समझकर सावधानी से इनका पालन करना चाहिए।

मुखगे त्वोष्ठचिमिचिमा जिह्वा शूना जडा विवर्णा च।
द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः॥ ११३॥

मुखगत विषयुक्त अन्न के लक्षण—जब विषयुक्त अन्न खा लेने पर वह मुख में पहुँच जाता है, तो जिस-जिस मुखावयव से सम्पर्क होता है, उसके-उसके लक्षण होते हैं; यथा—ओठों में चुनचुनाहट, जीभ में सूजन, सूनापन एवं रंग-परिवर्तन, दाँतों में हर्ष (दाँत कोट होना), जबड़े का जकड़ना, मुख के भीतर जलन, मुख से पानी छूटना और गले के रोगों का होना—ये सब लक्षण होते हैं॥ ११३॥

आमाशयं प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः।
दृष्टिहृदयोपरोधो विन्दशतैश्चीयते चाङ्गम्॥ ११४॥

आमाशयगत विष के लक्षण—जब सविष अन्नपान आमाशय में पहुँच जाता है, तो शरीर का रंग उदासीन हो जाता है, रौनक चली जाती है, पसीना आता है, थकावट होती है, जी मचलाता है, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है और हृदय की गति मन्द पड़ने लगती है एवं अंग-अंग में बूँद जैसी सैकड़ों फुन्सियाँ निकल आती हैं॥ ११४॥

पक्वाशयं तु याते मूर्च्छामदमोहदाहबलनाशाः।
तन्द्रा कार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात्॥ ११५॥

पक्वाशयगत विषलक्षण—सविष अन्नपान जब पक्वाशय में पहुँच जाता है, तो मूर्च्छा, मद, मोह, दाह और निर्बलता ये लक्षण होते हैं। जब विषयुक्त अन्न उदर में चला जाता है, तो तन्द्रा, शरीर का दुबलापन और पाण्डुरोग होता है॥ ११५॥

दन्तपवनस्य कूर्चो विशीर्यते दन्तौष्ठमांसशोफश्च।
केशच्युतिः शिरोरुग् ग्रन्थयश्च सविषेऽथ शिरोऽभ्यङ्गे॥ ११६॥

दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहस्रावात्युपदेहशोथरागाश्च ।
खाद्यैरादौ कोष्ठः स्पृश्यैस्त्वग् दूष्यते दुष्टैः ॥ ११७ ॥
स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कारवर्णकैर्दुष्टैः ।
कण्ड्वर्तिकोठपिडकारोमोद्गमचिमिचिमा शोथाः ॥ ११८ ॥

विषयुक्त दन्तधावन, शिरोऽभ्यङ्ग और अञ्जन आदि : (१) **विषयुक्त दन्त धावन**—जब दातौन में विष का संसर्ग होता है, तो उसकी कूँची के रेशे टूटकर गिरने लगते हैं और दाँत के मसूड़े तथा ओठ के मांस में सूजन होती है।

(२) **विषयुक्त शिरस्तैल**—जब शिर में लगाने वाले तैल में विष मिला होता है, तो उसके लगाने से सिर के बाल गिरने लगते हैं, शिर में पीड़ा होती है और शिर में गाँठें उभर आती हैं।

(३) **विषयुक्त अञ्जन**—विषमिश्रित अञ्जन के नेत्र में लगाने से नेत्र में जलन, आँसू गिरना, कीचड़ आना, सूजन और लाली होना, ये सब लक्षण होते हैं।

(४) **विषयुक्त आहार**—भोजन जब विषाक्त होता है, तो उसके खाने से कोष्ठ में विकार होता है।

(५) **विष का स्पर्श**—दुष्ट विष का स्पर्श हो जाने से त्वचा सम्बन्धी विकार होते हैं।

(६) **विषयुक्त स्नानजल, अभ्यंग, उबटन आदि**—जब नहाने के जल में, मालिश के तैल में, उबटन में, पहनने के कपड़े में, आभूषण तथा चन्दन आदि के लेप या चूर्ण (पाउडर) में विष मिला होता है, तो उनके प्रयोग से खुजली, पीड़ा, चकत्ते, पिडकाएँ, रोमाञ्च, चुनचुनाहट और सूजन, ये सब लक्षण होते हैं॥ ११६-११८॥

एते च करचरणदाहतोदक्लमाविपाकाश्च।
भूपादुकाश्वगजवर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः ॥ ११९ ॥
माल्यमगन्धं म्लायति शिरोरुजालोमहर्षकरम्।
स्तम्भयति खानि नासामुपहन्ति दर्शनं च धूमः ॥ १२० ॥
कूपतडागादिजलं दुर्गन्धं सकलुषं विवर्णं च।
पीतं श्वयथुं कोठान् पिडकाश्च करोति मरणं च ॥ १२१ ॥

विषयुक्त भूमि आदि, माला तथा जलाशय : (१) **विषयुक्त भूमि आदि**—उठने-बैठने की भूमि, पहनने के खड़ाऊँ (जूते), घोड़े-हाथी की पीठ, कवच (बख्तरबन्द), पताका, शय्या और आसन आदि में जब विष का संसर्ग हो, तो उनके प्रयोग से हाथ-पैर में जलन, सुई चुभाने जैसी वेदना, थकावट तथा अपचन होना, ये लक्षण होते हैं।

(२) **विषयुक्त माला**—जब माला में विष का प्रयोग किया गया होता है, तो उस माला में गन्ध नहीं होती। माला मुरझायी हुई होती है, उसके सूँघने से शिर में पीड़ा और रोमाञ्च होता है।

(३) **विषयुक्त धूम**—विषयुक्त धुआँ मुख, नाक आदि के छिद्रों को जकड़ देता है, घ्राणशक्ति को नष्ट कर देता है और दृष्टिशक्ति को भी हानि पहुँचाता है।

(४) **विषयुक्त कूप आदि**—यदि कुएँ या तालाब आदि के जल में विष मिला होता है, तो उनका जल दुर्गन्धिपूर्ण, गन्दला और रंगीन होता है। ऐसे जल के पीने से शरीर में सूजन होती है, चकत्ते और फुंसियाँ निकलती हैं और कदाचित् मृत्यु भी हो जाती है॥ ११९-१२१॥

आदावामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहमेवादि।
कुर्याद् भिषक् चिकित्सां दोषबलं चैव हि समीक्ष्य ॥ १२२ ॥
इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः—

स्थावर विष का चिकित्सासूत्र और उपसंहार—जब स्थावर विष आमाशय में पहुँच गया हो, तो सर्वप्रथम वमन कराना चाहिए। यदि विष का प्रभाव त्वचा तक ही हो, तो प्रदेह और परिसेचन आदि करना चाहिए तथा दोषों के बल आदि का विचार कर समुचित चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिए। यहाँ तक स्थावर विषों से सम्बद्ध बातें बतलायी गयीं॥ १२२॥

—शृणु जङ्गमस्यातः।
सविशेषचिकित्सितमेवादौ तत्रोच्यते तु सर्पाणाम्॥ १२३ ॥

जङ्गम विष का उपक्रम—अब यहाँ से (हम) जंगमविष की चिकित्सा का वर्णन कर रहे हैं, जिसे आप सुनिये। उनमें भी पहले सर्पों के भेद एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया जायगा॥ १२३॥

इह दर्वीकरः सर्पो मण्डली राजिमानिति। त्रयो यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः ॥ १२४ ॥

सर्पों का वर्गीकरण—इस चिकित्साशास्त्र में (चरकसंहिता में) (१) दर्वीकर (२) मण्डली और (३) राजिमान, ये तीन प्रकार के सर्प कहे गये हैं। ये तीनों क्रमशः दर्वीकार वात को, मण्डली पित्त को और राजिमान् कफ को प्रकुपित करते हैं॥ १२४॥

दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः। बिन्दुलेखविचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान् ॥

सर्पों की पहचान—फणवाले सर्पों को फणी या दर्वीकार कहते हैं (ये जब फण को फैलाते हैं, तो उसका आकार कुछ करछुल जैसा हो जाता है, इसी कारण इसे दर्वीकार कहते हैं)। जिन सर्पों का फण मण्डलाकार (गोलनिशान वाला) होता है, उन्हें मण्डली और जो सर्प बिन्दु-बिन्दु चिह्न वाले अथवा जिनके शरीर पर विचित्र रेखाएँ उभरी होती हैं, वे राजिमान कहे जाते हैं॥ १२५॥

विशेषाद् रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादु शीतलम्। विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद् वातादिकोपनम्॥

विषों के गुण और उनसे वातादि का प्रकोप—इन तीन प्रकार के सर्पों में, **दर्वीकार** का विष विशेषरूप से रूक्ष तथा कटु होने से वातप्रकोपक, **मण्डली** का विष विशेषतः अम्ल और उष्ण होने से पित्तप्रकोपक और **राजिमान** का विष मधुर एवं शीतल होने से कफप्रकोपक होता है॥ १२६॥

दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः। निरुद्धरक्तः कूर्माभो वातव्याधिकरो मतः॥ १२७॥

दर्वीकर के दंश का लक्षण—दर्वीकर (अर्थात् फणवाले सर्प) के काटे हुए निशान (दाँत लगने का चिह्न) बड़ा सूक्ष्म और काला होता है, उससे रक्त नहीं निकलता है और दंश स्थान कछुए की पीठ जैसा उठा हुआ होता है। इसका विष वातरोगों को उत्पन्न करता है॥ १२७॥

पृथ्वर्पितः सशोथश्च दंशो मण्डलिभिः कृतः। पीताभः पीतरक्तश्च सर्वपित्तविकारकृत्॥ १२८॥

मण्डली सर्प के दंश का लक्षण—मण्डली सर्प का दंश मोटा-स्थूल और शोथयुक्त होता है, उसका वर्ण पीला और पीतरक्त होता है। यह सभी पित्त रोगों को उत्पन्न करता है॥ १२८॥

कृतो राजिमता दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकृत्।
स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक् श्लेष्मव्याधिसमीरणः॥ १२९॥

राजिमान सर्प के दंश का लक्षण—राजिमान सर्प का दंशस्थान पिच्छिल (चिपचिपा) होता है, वहाँ पर स्थिर सूजन होती है, चिकनापन होता है और पीलापन होता है। दंशस्थान में रक्त गाढ़ा होता है। यह दंश कफज रोगों को उत्पन्न करता है॥ १२९॥

वृत्तभोगो महाकायः श्वसन्नूर्ध्वेक्षणः पुमान। स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वतः स्याद्विपर्ययात्॥
क्लीबस्त्रसति—

पुरुष, स्त्री और नपुंसक सर्प के लक्षण—गोल फणवाला, विशाल शरीर वाला, फुफकारते रहने वाला, ऊपर की ओर देखने वाला, मोटे शिरवाला तथा समस्त शरीर एक समान स्थूल दीखने वाला पुरुष सर्प होता है। पुरुष सर्प के लक्षणों से विपरीत लक्षण हों, तो स्त्री सर्प समझना चाहिए। जो सर्प डरा-डरा-सा रहता है, उसे नपुंसक सर्प जानना चाहिए॥ १३०॥

—अधोदृष्टिः स्वरहीनः प्रकम्पते। स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तैरेतैः पुंसा नरो मतः॥ १३१॥
व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु क्लीबदष्टं नरं वदेत्। इत्येतदुक्तं सर्पाणां स्त्रीपुंक्लीबनिदर्शनम्॥ १३२॥

स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक सर्पों के दंश का लक्षण—(१) सर्पिणी द्वारा काटा गया व्यक्ति नीचे की ओर देखता रहता है, उसका गला बैठ जाता है और बोल नहीं पाता है एवं काँपता रहता है। (२) पुरुष सर्प द्वारा काटा गया व्यक्ति ऊपर की ओर देखता है, वह खूब हल्ला करता है और उसके शरीर में कम्पन नहीं होता। (३) नपुंसक सर्प के दंश में स्त्री-पुरुष दोनों के दंश-लक्षण मिलते हैं। इस प्रकार स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक सर्पों के दंश के लक्षण बतला दिये गये हैं॥ १३१-१३२॥

पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः। जृम्भाक्रोधोपजिह्वार्तः सूतया रक्तमूत्रवान्॥

गर्भिणी एवं प्रसूता सर्पिणी के दंशलक्षण—(१) गर्भिणी सर्पिणी के काटे हुए व्यक्ति का चेहरा पीला पड़ जाता है, ओठ सूज जाते हैं और आँखें काली पड़ जाती हैं। (२) प्रसूता सर्पिणी द्वारा काटा हुआ व्यक्ति जम्भाई लेने लगता है, उसे क्रोध आता है, उपजिह्विका रोग हो जाता है और उसे मूत्र के साथ रक्त आने लगता है॥ १३३॥

सर्पो गौधेरको नाम गोधायां स्याच्चतुष्पदः। कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातयः॥

गौधेरक सर्प—(जब काले सर्प का गोधा = गोह के साथ सम्भोग होता है, तब) गोह से चार पैरवाला गौधेरक नामक सर्प उत्पन्न होता है, जिसके काटने पर कृष्णसर्प जैसा (दर्वीकार के तुल्य) विष चढ़ता है। अनेक अन्य भी मिश्र जाति के सर्प होते हैं॥ १३४॥

गूढसम्पादितं वृत्तं पीडितं लम्बितार्पितम्। सर्पितं च भृशाबाधं, दंशा येऽन्ये न ते भृशाः॥१३५॥

दंश के भेद—(१) दंश का स्थान गहरा हो गया हो, (२) गोल हो गया हो, (३) दर्द अधिक हो, (४) दंश लम्बाई में हो और (५) दाँत गहराई में न धँसे हों, इतने प्रकार के दंश बहुत कष्टप्रद होते हैं। इनके अतिरिक्त जो दंश होते हैं, वे अधिक कष्ट नहीं देते॥ १३५॥

तरुणाः कृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा। राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः॥

सर्पविष की उग्रता आयु से प्रभावित—काले सर्प युवावस्था में, गोनस या मण्डली सर्प वृद्धावस्था में और राजिमान् सर्प अपनी आयु की मध्यावस्था में अधिक विषैले हो जाते हैं और उनकी दृष्टि और फुफकार से ही विष का प्रभाव होने लगता है॥ १३६॥

वक्तव्य—'आशीविष' का अर्थ चक्रपाणि ने उन सर्पों के अर्थ में किया है, जिनकी दृष्टि में और श्वास छोड़ने में विष का प्रभाव होता है। दूसरे आचार्यों ने तालुगत दाँत को 'आशीः' कहा है और वहाँ जिनके विष हों, उन्हें 'आशीविष' की संज्ञा दी है। 'आशीः तालुगता दंष्ट्रा, तत्र विषं येषां ते आशीविषाः'। चक्रपाणि ने 'आशीविषा दृष्टिनिःश्वासविषाः' कहा है।

सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधराऽसिता। पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाऽधरोत्तरा॥

सर्प के दाँत—साँप के डसने वाले चार प्रकार के दाँत होते हैं, उनमें से बायीं ओर नीचे का दाँत काला और उसी ओर ऊपर का दाँत पीला एवं दायीं ओर नीचे का दाँत लाल और उसी ओर ऊपर का दाँत श्याव (स्याहीमायल) वर्ण का होता है॥ १३७॥

यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात् सलिलोद्धृतात्। वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्यादहेर्विषम्॥
एकद्वित्रिचतुर्वृद्धविषभागोत्तरोत्तराः। सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषा भृशाः॥ १३९॥

सर्प विष की मात्रा—गाय की पूँछ को पानी में डुबोकर बाहर निकालने पर उसकी पूँछ के बालों से जितना जल गिरता है, साँप के मुख के वामभाग के निचले दाँत में उतना ही विष होता है (इसका प्रमाण मूँग के बराबर कहा गया है, जो १ बिन्दु होता है—'मुद्गमात्रोऽत्र विन्दुः'–अ.सं.उ.त.)। इस प्रकार वह विष १ बूँद होता है, उसी ओर ऊपर के दाँत में २ बूँद, दायीं ओर नीचे के दाँत में ३ बूँद और उसी ओर ऊपर के दाँत में ४ बूँद विष होता है। दंश जिस दाँत द्वारा किया गया होता है, उस दंश का वर्ण वैसा ही होता है। यदि बायीं ओर के नीचे के दाँत का दंश होगा, तो उसका रंग काला होता है। दायीं ओर के नीचे के दाँत का दंश लाल और उसी ओर ऊपर के दाँत का दंश श्याव वर्ण का होता है। उत्तरोत्तर उन दाँतों से डसने पर विष की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है, अतः उत्तरोत्तर विष अति कष्टप्रद तथा कष्टसाध्य होते हैं॥ १३८-१३९॥

सर्पाणामेव विण्मूत्रात् कीटाः स्युः कीटसम्मताः। दूषीविषाः प्राणहरा इति संक्षेपतो मताः॥

कीटों की उत्पत्ति—साँपों के ही मल-मूत्र से जो कीट उत्पन्न होते हैं, उन्हें ही 'कीट' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। ये कीट संक्षेपतः दो प्रकार के होते हैं—१. दूषीविष कीट और २. प्राणहर कीट।

वक्तव्य—सुश्रुताचार्य ने (सुश्रुत-कल्प. ८ में) कीटों का विस्तृत वर्णन किया है—

१. वातरोगजनक	वायव्य प्रकृति	१८
२. पित्तरोगजनक	आग्नेय प्रकृति	२४
३. कफरोगजनक	सौम्य प्रकृति	१३
४. त्रिदोषजरोगजनक	त्रिदोष प्रकृति	१२
		६७

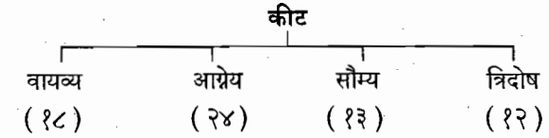

गात्रं रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिडकान्वितम्। सकण्डूदाहवीसर्पपाकि स्यात् कुथितं तथा॥
कीटैर्दूषीविषैर्दष्टं—

दूषीविष कीट के दंश के लक्षण—दूषीविष कीटों के डसने का स्थान लाल, श्वेत, काला, श्याववर्ण या फुंसियों से युक्त हो जाता है। उस स्थान में खुजली, जलन, फैलने वाला व्रण तथा सड़न होने लगती है।

—लिङ्गं प्राणहरं शृणु। सर्पदष्टे यथा शोथो वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक्॥ १४२॥
दंशोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा स रुगार्तः श्वसित्यपि। तृष्णारुचिपरीतश्च भवेद्दूषीविषार्दितः॥ १४३॥

प्राणहर कीट के दंश के लक्षण—प्राणहर कीटों के दंश के लक्षण सुनिये। साँप के काटने जैसी सूजन बढ़ती है, दंशस्थान से तीक्ष्ण गन्ध वाला रक्त निकलता है, आँखें भारी हो जाती हैं, मूर्च्छा होती है, शरीर में पीड़ा होती है, श्वास तेज हो जाती है, प्यास अधिक लगती है, भोजन में अरुचि होती है, और दूषीविष कीट के दंश से होने वाले लक्षण होते हैं॥ १४२-१४३॥

दंशस्य मध्ये यत् कृष्णं श्यावं वा जालकावृतम्। दग्धाकृति भृशं पाकि क्लेदशोथज्वरान्वितम्॥
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टमिति निर्दिशेत्।

दूषीविष लूतादंश के लक्षण—जिस दंश के स्थान में दंश के मध्य में कालापन, श्यावर्ण या सिराओं का जाल बन जाता है, आग से जलने जैसी आकृति का, बहुत पकने वाला, जलस्रावयुक्त, सूजन के साथ और ज्वरयुक्त हो, तो उसे दूषीविष लूताओं द्वारा डसा हुआ जानना चाहिए॥ १४४॥

सर्वासामेव तासां च दंशे लक्षणमुच्यते॥ १४५॥
शोफः श्वेतासिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः।
प्राणान्तिको भवेच्छ्वासो दाहहिक्काशिरोग्रहाः॥ १४६॥

प्राणहर लूतादंश के लक्षण—प्राणहर सभी प्रकार की लूताओं के डसने का लक्षण कहा जा रहा है—प्राणहर लूता के डसने के स्थान में सूजन होती है। वहाँ पर श्वेत, कृष्ण, लाल या पीली पिडकाएँ हो जाती हैं। काटे हुए व्यक्ति को ज्वर होता है। श्वास इतना तीव्र होता है कि लगता है कि जान निकल जायगी। जलन होती है, हिचकी आती है और शिर में जकड़न होती है॥ १४५-१४६॥

आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः। लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते॥

दूषीविष चूहे के काटने का लक्षण—चूहे के दूषीविष से पीड़ित व्यक्ति के दंश स्थान से पाण्डुवर्ण का रक्त निकलता है, वहाँ चकत्ते निकल जाते हैं, ज्वर होता है और भोजन में अरुचि होती है॥ १४७॥

मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः। शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः॥

चूहे के दंश का असाध्य लक्षण—जब असाध्य (प्राणहर) चूहा किसी व्यक्ति को काटता है तब उसे मूर्च्छा, दंश में शोथ, विवर्णता, गीलापन, बहरापन, ज्वर, शिर में भारीपन, लालास्राव और रक्तवमन होना, ये सब लक्षण होते हैं॥ १४८॥

श्यावत्वमथ काष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा। मोहः पुरीषभेदश्च दष्टे स्यात् कृकलासकैः॥

गिरगिट के काटने के लक्षण—गिरगिट के काटने से शरीर का रंग श्यावर्ण या काले वर्ण अथवा अनेक वर्णों वाला हो जाता है। रोगी को मूर्च्छा आती है और उसे पतला शौच आने लगता है॥ १४९॥

वक्तव्य—उक्त गिरगिट के दंश का लक्षण दूषी विष वाले का है, क्योंकि बड़ी जाति का गिरगिट बड़ा ही विषैला होता है और वह प्राणहर होता है। उसके दंश का उपचार अप्रभावी होता है।

दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च। वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति॥१५०॥

बिच्छू का दंश—बिच्छू का विष दंश के स्थान को शुरू में आग की तरह जलाता है, उसके बाद वह फाड़ने-चीरने जैसी पीड़ा उत्पन्न करता है। यह विष बड़े वेग से ऊपर की ओर फैलता है और बाद में दंश के स्थान में ठहर जाता है॥ १५०॥

दष्टोऽसाध्यस्तु दृग्घ्राणरसनोपहतो नरः। मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून्॥ १५१॥

असाध्य वृश्चिक दंश—जब असाध्य (प्राणहर) बिच्छू काटता है, तब मनुष्य के नेत्र, उसकी नासिका और जिह्वा, ये निष्क्रिय हो जाते हैं। दंश स्थान का मांस कट-कटकर गिरने लगता है, जिसकी पीड़ा से व्याकुल होकर दष्ट व्यक्ति अपने प्राण छोड़ देता है॥ १५१॥

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च। लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशीर्यते॥ १५२॥

काले भौंरे का दंश—भौंरों के काटने से मनुष्य को विसर्प, शोथ, शूल, ज्वर और वमन होने लगता है तथा दंश के स्थान का मांस गिरने लगता है॥ १५२॥

हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान्। दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते॥

झींगुर का दंश—झींगुर के काटने से रोमाञ्च होना, मूत्रेन्द्रिय में अकड़न, शरीर में अत्यन्त वेदना होना और अंगों पर शीतल जल का अभिषेक किया गया प्रतीत होना, ये लक्षण होते हैं॥ १५३॥

एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुक् स्यात्पीतकः सतृट्। छर्दिर्निद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम्॥ १५४॥

विषैले मेंढक का दंश—विषैले मेंढक के काटने से दंश के स्थान में एक ही दाँत के धँसने का निशान होता है। दंशस्थान में पीड़ा, सूजन और पीलापन होता है, प्यास लगती है, वमन होता है और नींद आती है॥ १५४॥

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहशोफरुजस्तथा।

विषैली मछली का दंश—विषैली मछलियों के काटने से दंश के स्थान में जलन, सूजन और पीड़ा होती है।

कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः॥ १५५॥

विषैली जोंक का दंश—विषैली जोंकों के काटने से दंशस्थान में खुजली और शोथ होता है। दष्ट व्यक्ति को ज्वर और मूर्च्छा होती है॥ १५५॥

दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गृहगोधिका।

छिपकली का दंश—छिपकली के काटने से जलन, चुभन, पसीना और सूजन होती है।

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम्॥ १५६॥

शतपदी (गोजर) का दंश—गोजर के काटने से पसीना आता है, वेदना और जलन होती है॥ १५६॥

कण्डूमान् मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः। असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम्॥ १५७॥

मच्छरों के दंश—मच्छरों के काटने से खुजली होती है, थोड़ी सूजन और थोड़ी पीड़ा होती है। जो लक्षण असाध्य (प्राणहर) कीटों के काटने से होते हैं, वे ही लक्षण असाध्य मच्छरों के काटने से होते हैं। (श्लोक १४२-१४३ देखें)॥ १५७॥

सद्यःप्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता। पीडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत्॥

विषैली मक्खियों के दंश—मक्खी के काटने से तुरन्त स्राव करने वाली श्याव रंग की पिडकाएँ होती हैं। रोगी को जलन, मूर्च्छा और ज्वर होता है। स्थगिका नामक मक्खी के काटने से मृत्यु हो जाती है॥१५८॥

श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रमसुरालये। पक्षसन्धिषु मध्याह्ने सार्धरात्रेऽष्टमीषु च॥ १५९॥
न सिध्यन्ति नरा दष्टाः पाषण्डायतनेषु च। दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैराशीविषैस्तथा॥ १६०॥
विनश्यन्त्याशु सम्प्राप्ता दष्टाः सर्वेषु मर्मसु। येन केनापि सर्पेण सम्भवः सर्व एव तु॥ १६१॥

स्थान एवं काल के अनुसार असाध्य दंश—(१) जब विषैले सर्प आदि जन्तु श्मशान भूमि में, समाधिस्थल में स्थित या ग्राम देवता के आश्रयभूत महावृक्ष के नीचे, बेमुअट की मिट्टी के स्थान में, यज्ञशाला में और देवमन्दिर में काट लें, तो उसे असाध्य जानना चाहिए। (२) पक्षसन्धियों में अर्थात् अमावास्या या पूर्णिमा तिथि को दोपहर में, आधी रात में, अष्टमी तिथि को और छल-कपटपूर्ण व्यवहार करने वाले पाखण्डियों के निवासस्थान में विषैले सर्पादि जन्तुओं से काटा गया दंश असाध्य होता है। (३) जिन सर्पों की दृष्टि में, निःश्वास में, मल में और स्पर्शन में विष होता है, उनके द्वारा डसा जाना या सम्पर्क होना असाध्य होता है। (४) जिस किसी व्यक्ति के मर्मस्थानों में साँप द्वारा काटना या अन्य विषैले जीवों द्वारा मर्मस्थान में काटना मृत्युकारक होता है॥ १५९-१६१॥

भीतमत्ताबलोष्णक्षुत्तृषार्ते वर्धते विषम्। विषं प्रकृतिकालौ च तुल्यौ प्राप्याल्पमन्यथा॥ १६२॥

विषवेग की वृद्धि की दशाएँ—उन व्यक्तियों में सर्पविष का वेग बढ़ जाता है, जो डरे होते हैं, पागल होते है, निर्बल होते हैं, गर्मी से परेशान रहते हैं और भूखे-प्यासे होते हैं। इसी प्रकार जब विष

के समान ही मनुष्य की प्रकृति हो और काल भी विषप्रभाव के तुल्य हो, तो भी विष का वेग बढ़ता है। जैसे—वातप्रकृति के मनुष्य को निशान्त अथवा दिवसान्त में, वातप्रकृति वाला दर्वीकर सर्प काटे तो समान प्रकृति एवं काल के संयोग से विष का वेग शीघ्र ही बढ़ जायेगा। एवं पित्तप्रकृति मनुष्य को मध्यदिन या मध्यरात्रि में मण्डली सर्प काटे तथा कफप्रकृति मनुष्य को दिवस या रात्रि के आदि में राजिमान् सर्प काटे, तो विष का वेग बढ़ता है। इसी प्रकार वर्षाऋतु में दर्वीकर का, शरद ऋतु में मण्डली का और वसन्तऋतु में राजिमान सर्प का विष वेग से बढ़ता है। जब विष की प्रकृति से भिन्न प्रकृति का मनुष्य दंश का शिकार होता है और काल एवं ऋतु भी भिन्न प्रकृति के होते हैं, तो विष का वेग घटता है तथा विष अधिक प्रभावी नहीं होता है॥ १६२॥

वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः। वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृताः॥

मन्दविष सर्प के लक्षण—जो सर्प जल में रहने वाले होते हैं, जो दुर्बल और कृश होते हैं, जो डरे हुए होते हैं, जो युद्ध में नेवले से पराजित हुए होते हैं, जो वृद्ध होते हैं और जो अपनी केचुल छोड़ चुके होते हैं, वे मन्द विष वाले कहे गये हैं॥ १६३॥

वक्तव्य—वृद्धावस्था में सभी सर्प मन्दविष होते हैं, यह सामान्य बात है। किन्तु 'गोनस' इसका अपवाद है, क्योंकि वृद्ध होने पर ही उसका विष बढ़ता है। वाग्भट (वृद्ध) ने विष के मन्द होने की कुछ अन्य परिस्थितियाँ भी बतलायी हैं, जैसे—शीत, वायु, धूप, रोग, क्षुधा, तृष्णा और श्रम से थके हुए, देशान्तर में आये हुए, कुश-औषध तथा कण्टकपूर्ण वन में जो नहीं विचरण करते, वे मन्द विष सर्प होते हैं।

सर्वदेहाश्रितं क्रोधाद्विषं सर्पो विमुञ्चति। तदेवाहारहेतोर्वा भयाद्वा न प्रमुञ्चति॥ १६४॥

सर्प के विष को छोड़ने एवं न छोड़ने में हेतु—सर्प के समस्त शरीर में विष रहता है। जब वह क्रोध में आता है, तब वह दाँतों द्वारा दष्ट व्यक्ति के शरीर में विष छोड़ता है। भूखा होने की स्थिति में या भयभीत होने पर सर्प अपने विष को बाहर नहीं निकलता है॥ १६४॥

वातोल्बणविषाः प्राय उच्चिटिङ्गाः सवृश्चिकाः।
वातपित्तोल्बणाः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभादयः॥ १६५॥

विषैले जन्तुओं के विषों का दोषों से सम्बन्ध—प्रायः विषैले झींगुरों और बिच्छुओं के विष वात दोष को प्रकुपित करते हैं। कीटों के विष वात और पित्त को प्रकुपित करते हैं और काले भौंरों के विष कफ दोष को प्रकुपित करते हैं॥ १६५॥

यस्य यस्य हि दोषस्य लिङ्गाधिक्यानि लक्षयेत्। तस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः क्रियाम्॥

जंगम विष की चिकित्सा का उपक्रम—विषयुक्त जन्तुओं के डसने से जिस-जिस दोष के लक्षण अधिक दीख पड़ें, उस-उस दोष के विपरीत गुणवाले औषधों से चिकित्सा करनी चाहिए॥ १६६॥

हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्वरुक्। घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे॥

वातप्रकोपक विष के लक्षण—जब शरीर में वातगुण प्रधान विष का प्रवेश होता है तब हृदय में पीड़ा, वायु का वेग ऊपर की ओर बढ़ना, डकार आना, शरीर में जकड़ाहट, सिराओं में तनाव, अस्थियों के पोरों में वेदना, चक्कर आना, अंगों में ऐंठन होना और शरीर का वर्ण नीला पड़ जाना, ये लक्षण होते हैं॥ १६७॥

संज्ञानाशोष्णनिःश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता। दंशावदरणं शोथो रक्तपीतश्च पैत्तिके॥ १६८॥

पित्तप्रकोपक विष के लक्षण—पित्तप्रकोपक विष के प्रभाव से बेहोशी होना, गरम-गरम श्वास निकलना, हृदयप्रदेश में जलन होना, मुख का स्वाद कड़वा होना, डसने के स्थान में फट जाना, शोथ होना और मुख, नासिका आदि से रक्त का गिरना ये सब लक्षण होते हैं॥ १६८॥

वम्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशगौरवैः। सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकं विषम्॥ १६९॥

कफप्रकोपक विष के लक्षण—जब कफप्रकोपक विष का शरीर में प्रवेश होता है तब विष से आक्रान्त व्यक्ति को वमन, अरुचि, मिचली, लार टपकना, उबकाई की सम्भावना होना, शरीर में भारीपन और शीत लगना तथा मुख का मीठा बना रहना, ये सब लक्षण होते हैं॥ १६९॥

खण्डेन च व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके। स्वेदो नाडीपुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः॥१७०॥
सुशीतैः स्तम्भयेत् सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम्। लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत्॥

वातादि दोषानुसार विष की चिकित्सा—(१) वातप्रधान विष में काटे हुए स्थान के व्रण पर शर्कराखण्ड का लेप लगाना चाहिए। वातहर तैल का अभ्यंग एवं नाड़ीसेक या पुआल या क्षुद्रधान्य की पोटली बनाकर सेकना चाहिए तथा बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। (२) पित्तप्रधान विष में एकदम बरफ जैसे ठण्डे जल से परिषेक तथा शीत द्रव्यों का लेप लगाना चाहिए। (३) कफप्रधान विष में धातुओं में लीन कफदोष को बाहर निकालने के लिए लेखन, छेदन, स्वेदन तथा वमन करायें॥ १७०-१७१॥

विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च। अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः॥१७२॥

प्रसरणशील विषों में प्रायः शीतोपचार—समस्त शरीर में प्रसरणशील जितने भी विष होते हैं, प्रायः उन सबमें शीतल उपचार करना श्रेयस्कर होता है (क्योंकि सभी विष उष्ण होते हैं) किन्तु बिच्छू और झींगुर के विष में शीतल उपचार हितकर नहीं होता॥ १७२॥

वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च। सेकांश्चोष्णान् प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिषः॥

बिच्छू के विष की चिकित्सा—बिच्छू के काटने के स्थान में स्वेदन और घी-नमक की मालिश तथा गरम-गरम औषधसिद्ध जल की धारा गिरानी चाहिए एवं खाने-पीने में घी का प्रयोग करना चाहिए॥ १७३॥

एतदेवोच्चिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमं च पांशुभिः। उद्वर्तनं सुखाम्बूष्णैस्तथाऽवच्छादनं घनैः॥ १७४॥

झींगुर के विष की चिकित्सा—जो चिकित्सा बिच्छू की कही गयी है, वही चिकित्सा झींगुर के विष में भी करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सुहाते पानी से धूल को सानकर उसका प्रतिलोम उबटन लगाना चाहिए और उसका लेप लगाकर कपड़ा रखकर बाँध देना चाहिए॥ १७४॥

श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्। शिरोऽभितापी लालाम्बुव्याधोवक्त्रस्तथा भवेत्॥

पागल कुत्ते का लक्षण—जब कुत्ते के तीनों दोष (वात-पित्त-कफ) प्रकुपित हो जाते हैं, तो उसकी रसादि धातुओं में भी विकार उत्पन्न हो जाता है, जिससे वह शिर की पीड़ा से व्याकुल हो उठता है, उसके मुख से लालास्राव होता रहता है और वह अपने मुख को नीचे लटकाये रखता है॥ १७५॥

वक्तव्य—आचार्य वाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह-उत्तरतन्त्र अध्याय ४६ में विस्तार से कुत्ते के विषप्रभाव का वर्णन किया है; यथा—कुत्ते के पागलपन में उसके तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं, जिनमें कफ अधिक बढ़ जाता है। वे दोष उसके संज्ञावाही स्रोतों में अधिष्ठित होकर उसकी चेतना लुप्त कर देते हैं और धातुओं में बहुत भयंकर क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, जिससे उसके मुख से लार टपकती रहती है, वह अन्धा हो जाता है, बहरा हो जाता है, चारों ओर दौड़ता-फिरता है, उसकी पूँछ झड़ जाती है, उसकी गरदन और कन्धे झुक जाते हैं, शिर की पीड़ा के कारण मुँह नीचे लटकाये रहता है। ऐसे पागल कुत्ते के काटने से उस काटे गये स्थान में सूनापन होता है और दंश से काला रक्त निकलता है। दष्ट व्यक्ति को हृदयशूल, शिरःशूल, ज्वर, अंगों में जकड़ाहट, प्यास और मूर्च्छा होती है। इसी के समान अन्य दाँत से काटने वाले हिंसक जीवों के विष के प्रभाव को जानना चाहिए; जैसे—सियार, अश्वतर (गदहा-खच्चर), घोड़ा, ऋक्ष, बाघ, भेड़िया आदि।

अन्येऽप्येवंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः। हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः॥

पागल-हिंसक जन्तुओं के विष का लक्षण—कुत्ते के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे जन्तु होते हैं, जिनके शरीरगत कफ और वात प्रकुपित हो जाते हैं तथा वे पागल हो जाते हैं। जब वे पागल होकर किसी मनुष्य को काटते हैं, तो दष्ट व्यक्ति को हृदयशूल, शिरःशूल, ज्वर, स्तब्धता, प्यास और मूर्च्छा होती है॥ १७६॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान (अध्याय ७) में उन जीवों के नाम बतलाये गये हैं। यहाँ व्याल शब्द से जिनका संकेत किया गया है, उनके दंश का लक्षण भी दिया हुआ है[1]।

कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्। विदाहरागरुक्पाकाः शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम्॥
दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च। ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे॥१७८॥

विषैले जन्तुओं के काटने के लक्षण—विषैले जन्तुओं के काटने से दंश स्थान में खुजली, सुई चुभाने जैसी पीड़ा, विवर्णता, सूनापन, गीलापन या व्रण का सूख जाना, व्रण का पकना, लालिमा, दर्द होना और पक जाना, ये लक्षण होते हैं। सूजन, गाँठ पड़ जाना, खिंचाव मालूम होना, दंश स्थान का फट जाना, फफोले पड़ना, अंकुर निकलना, चकत्ते होना और ज्वर होना, ये सब लक्षण सविष जन्तुओं के काटने से होते हैं। विषहीन जन्तुओं के काटने पर ये सब लक्षण नहीं होते॥ १७७-१७८॥

तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः। पूर्वोक्ता विधिमन्यं च यथावद् ब्रुवतः शृणु॥ १७९॥

आवस्थिक चिकित्सा—उक्त विषैले जीवों के काटने पर दष्ट व्यक्ति की अवस्था और लक्षणों के अनुसार यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। आगे भी चिकित्सा बतलायी जा रही है, आप उसे सुनिये॥ १७९॥

हृद्विदाहे प्रसेके वा विरेकवमनं भृशम्। यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः॥ १८०॥

विषप्रभाव में वमन-विरेचन—यदि विष के प्रभाव से हृदय प्रदेश में जलन हो रही हो (तो जलन को पित्तज विकार जानकर उसके शमन के लिए) विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। जब मुख से बहुत लार गिर रही हो, तो (इसे कफज विकार जानकर कफदोष-दूरीकरणार्थ) वमन कराना चाहिए। रोगी की प्रकृति आदि का, विकार का तथा अन्य परिस्थितियों का विचार कर अवस्थानुसार विरेचन या वमन तीक्ष्ण, मध्य या मृदु देना चाहिए। जब इन शोधनों के प्रयोग से सम्यक् शोधन हो जाये तब संसर्जनक्रम (च.सू. १५) से पेया, विलेपी, अकृतकृत यूष, अकृतकृत मांसरस का पथ्य देना चाहिए॥ १८०॥

शिरोगते विषे नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान्। बन्धुजीवस्य भार्ग्याश्च सुरसस्यासितस्य च॥

शिरोगत विष में नस्य प्रयोग—यदि विष का संसर्ग शिर तक पहुँच जाये, तो बुद्धिमान् वैद्य को दुपहरिया फूल का मूल, भारंगी मूल और काली तुलसी का मूल सुखाकर बारीक चूर्ण बनाकर उसके नस्य का प्रयोग करना चाहिए॥ १८१॥

दक्षकाकमयूराणां मांसासृङ्मस्तके क्षते। मूर्ध्नि देयमधोदष्टस्योर्ध्वदष्टस्य पादयोः॥ १८२॥

काकपद बनाकर मांस का बाह्य प्रयोग—जब शरीर के निचले भाग में सर्प आदि विषैले जन्तु ने काटा हो, तो मस्तक के मध्य में बाल छिलवाकर पैर के आकार की रेखा चाकू आदि से बनायें, जिससे रक्त निकलने लगे, तो उस चिह्न पर मुर्गा, कौआ और मोर का सरक्त मांस रखकर पट्टी बाँध दें। यदि दंश शरीर के ऊपरी भाग में हो, तो उसी तरह का चिह्न (काकपद) बनाकर पैरों पर उक्त मांस को रखना चाहिए॥ १८२॥

---

१. श्वशृगालतरक्षुवृक्षव्याघ्रादीनां यदानिलः। श्लेष्मा प्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहार्दितः॥
तथा प्रम्लस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्। अत्यन्तबधिरोऽन्धश्च सोऽन्योऽन्यमभिधावति॥
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु। सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक्॥
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः॥

पिप्पलीमरिचक्षारवचासैन्धवशिग्रुकाः। पिष्टा रोहितपित्तेन घ्नन्त्यक्षिगतमञ्जनात्॥ १८३॥

विष-प्रभावित नेत्र में पिप्पल्यादि अंजन—यदि विष का प्रभाव नेत्र में हो जाने से किसी प्रकार का विकार हो जाये, तो पीपर, मरिच, जवाखार, बच, सेंधानमक और सहिजन के बीज, इन्हें बराबर-बराबर लेकर खूब बारीक चूर्ण कर रोहित मछली के पित्त से पीसकर इसका अञ्जन करना चाहिए॥ १८३॥

कपित्थमामं ससिताक्षौद्रं कण्ठगते विषे। लिह्यादामाशयगते ताभ्यां चूर्णपलं नतात्॥ १८४॥
विषे पक्वाशयगते पिप्पलीं रजनीद्वयम्। मञ्जिष्ठां च समं पिष्ट्वा गोपित्तेन नरः पिबेत्॥ १८५॥
रक्तं मांसं च गोधायाः शुष्कं चूर्णीकृतं हितम्। विषे रसगते पानं कपित्थरससंयुतम्॥ १८६॥
शेलोर्मूलत्वगग्राणि बादरौदुम्बराणि च। कटभ्याश्च पिबेद् रक्तगते, मांसगते पिबेत्॥ १८७॥
सक्षौद्रं खदिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा। सर्वेषु च बले द्वे तु मधूकं मधुकं नतम्॥ १८८॥

विभिन्न स्थानगत विषप्रभाव की चिकित्सा—(१) कण्ठगत विष में—कच्चे कैथ को चटनी की तरह पीसकर चीनी और मधु मिलाकर चाटना चाहिए। (२) आमाशयगत विष में—तगर का १ पल (३-३ ग्राम की मात्रा इस युग में १-१ घण्टे पर) चूर्ण चीनी और मधु मिलाकर चाटने को दें। (३) पक्वाशयगत विष में—पीपर, हल्दी, दारुहल्दी और मजीठ, इन सबका समभाग चूर्ण (२-३ ग्राम) गाय के पित्त से पीसकर पीने के लिए देना चाहिए। (४) रसधातुगत विष में—गोहटी के रक्त और मांस को सुखाकर, चूर्ण कर कैथ के रस के साथ पिलाना चाहिए। (५) रक्तधातुगत विष में—लिसोड़ा के मूल, छाल एवं उसके नव पत्रांकुरों को कैथ के रस में पीसकर पिलाना चाहिए। अथवा बेर के मूल, छाल तथा पत्रांकुरों को या गूलर के मूल, छाल और पत्रांकुरों को किंवा मालकाँगनी के मूल, छाल एवं पत्रांकुरों को कैथ के रस में पीसकर पीना चाहिए। (६) मांसधातुगत विष में—मधु मिलाकर खदिरारिष्ट पिलाना चाहिए या कोरया की जड़ को पानी में पीसकर पिलाना चाहिए। (७) सर्वधातुगत विष में—बरियार, गंगेरन, महुआ, मुलहठी और तगर इनके समान भाग चूर्ण को पानी में पीसकर पिलाना चाहिए॥ १८४-१८८॥

पिप्पलीं नागरं क्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम्। कफे भिषगुदीर्णे तु विदध्यात्प्रतिसारणम्॥ १८९॥

पिप्पल्यादि प्रतिसारण—पीपर, सोंठ और जवाखार, इन तीनों का समभाग चूर्ण मक्खन में मिलाकर विषजन्य कफवृद्धि होने पर दंश स्थान पर मलना चाहिए॥ १८९॥

वक्तव्य—चक्रपाणि ने दंश के स्थान में प्रतिसारण करने को (रगड़ने को) कहा है—'प्रतिसारणं दंश एव' किन्तु 'अष्टाङ्गसंग्रह' में कण्ठगत विषविकार में कफवृद्धि होने पर इसका कण्ठ में प्रतिसारण करने के लिए कहा गया है।

मांसीकुङ्कुमपत्रत्वग्रजनीनतचन्दनैः। मनःशिलाव्याघ्रनखसुरसैरम्बुपेषितैः॥ १९०॥
पाननस्याञ्जनालेपाः सर्वशोथविषापहाः।

मांस्यादि योग—जटामांसी, केशर, तेजपात, दालचीनी, हल्दी, तगर, लालचन्दन, मैनसिल, नखी और तुलसी की मंजरी, इन सबको समान भाग लेकर जल से पीसकर पीने, नस्य लेने, अञ्जन करने और लेप करने में प्रयोग करने से सभी प्रकार के शोथ और विषविकार नष्ट हो जाते हैं॥ १९०॥

चन्दनं तगरं कुष्ठं हरिद्रे द्वे त्वगेव च॥ १९१॥
मनःशिला तमालश्च रसः कैशर एव च। शार्दूलस्य नखश्चैव सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना॥ १९२॥
हन्ति सर्वविषाण्येव वज्रिवज्रमिवासुरान्।

सर्वविषनाशक चन्दनादि योग—लालचन्दन, तगर, कूठ, हल्दी, दारुहल्दी, दालचीनी, मैनसिल, तमाखू की पत्ती, पारद, नागकेशर और बघनखा, इन सबको चावल के धोवन से पीसकर पान, नस्य,

अञ्जन और लेप करने से यह योग सभी प्रकार के विषविकारों को उसी प्रकार नष्ट करता है, जैसे इन्द्र का वज्र असुरों को॥ १९१-१९२॥

रसे शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं सितम्॥ १९३॥
भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जने हितम्। द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम्॥ १९४॥
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत् सुखप्रदम्। सिन्धुवारस्य मूलं च श्वेता च गिरिकर्णिका॥ १९५॥
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं समधु पाकलम्। मञ्जिष्ठा मधुयष्टी च जीवकर्षभकौ सिता। १९६॥
काश्मर्यं वटशुङ्गानि पानं मण्डलिनां विषे। व्योषं सातिविषं कुष्ठं गृहधूमो हरेणुका॥ १९७॥
तगरं कटुका क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम्। गृहधूमं हरिद्रे द्वे समूलं तण्डुलीयकम्॥ १९८॥
अपि वासुकिना दष्टः पिबेन्मधुघृताप्लुतम्।

सर्पविषघ्न शिरीषपुष्पादि योग—(१) शिरीषपुष्प योग—शिरीष के फूल के रस में सफेद मिर्च को सात दिन तक भावना देकर सुखाकर रख ले। इसके नस्य, पान और अञ्जन से सर्प के काटने का विष नष्ट हो जाता है। (२) तक्षक विषघ्न योग—तगर और कूठ १-१ पल लेकर, चूर्ण कर ४ पल मधु और घी (३ पल घी, १ पल मधु) मिलाकर पिलाने से तक्षक सर्प का भी विष नष्ट हो जाता है। (वर्तमान में इन सबकी मात्रा चतुर्थांश ही प्रयोग करनी चाहिए)। (३) दर्वीकर विषघ्न योग—सिन्दुवार के मूल तथा श्वेत अपराजिता के मूल को पीसकर दर्वीकार सर्प के डसने पर पिलाना चाहिए और मधु तथा कूठ का नस्य देना चाहिए। (४) मण्डली सर्प विषघ्न योग—मण्डली सर्प के विष में मजीठ, मुलहठी, जीवक, ऋषभक, चीनी, गम्भार की छाल और बर की बरोह, इन्हें समभाग लेकर, पीसकर पिलाना चाहिए। (५) सर्वोत्तम सर्पविषनाशक योग—घर का धुआँ, हल्दी, दारुहल्दी, चौलाई की शाखा और मूल, इन्हें समान भाग में लेकर, पीसकर पर्याप्त मात्रा में मधु-घी मिलाकर पीने से वासुकी सर्प के काटने का भी विष उतर जाता है॥ १९३-१९८॥

क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः॥ १९९॥
मुक्तालेपो वरः शोथदाहतोदज्वरापहः।

कीटविष-चिकित्सा—(१) जिस व्यक्ति को किसी विषैले कीट ने काटा हो, उसका यथावश्यक संशोधन करने के बाद क्षीरीवृक्षों (वट-पीपल-गूलर-पाकड़ और पारस पीपल) की छाल को बारीक पीसकर लेप लगाने से विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है। (२) मोती की पिष्टी का लेप लगाने से कीटविष के प्रभाव से उत्पन्न शोथ, जलन, सुई चुभाने जैसी वेदना और ज्वर, ये सब शान्त हो जाते हैं॥ १९९॥

चन्दनं पद्मकोशीरं शिरीषः सिन्धुवारिका॥ २००॥
क्षीरशुक्ला नतं कुष्ठं पाटलोदीच्यसारिवाः। शेलुस्वरसपिष्टोऽयं लूतानां सार्वकार्मिकः॥ २०१॥
(यथायोगं प्रयोक्तव्यः समीक्ष्यालेपनादिषु)

लूताविष-चिकित्सा—लालचन्दन, पद्मकाठ, खश, शिरीष के बीज, सिन्धुवारिका (मेउड़ी) की पत्ती, क्षीरविदारी, तगर, कूठ, पाटला (पाढल), सुगन्धबाला और अनन्तमूल की छाल—इन सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर लिसोड़ा की पत्ती के स्वरस के साथ पीसकर लूताविष में (पान, नस्य, अंजन के रूप में) इसका प्रयोग करना चाहिए। (वैद्य को चाहिए कि परिस्थिति के अनुसार इसका लेपादि के रूप में यथायोग्य प्रयोग करे)॥ २००-२०१॥

मधूकं मधुकं कुष्ठं शिरीषोदीच्यपाटलाः। सनिम्बसारिवाक्षौद्राः पानं लूताविषापहम्॥ २०२॥

लूताविषघ्न मधूकादि योग—महुआ, मुलहठी, कूठ, शिरीष, सुगन्धबाला, पाढल की छाल, नीम की छाल और अनन्तमूल, इन्हें समभाग लेकर, पीसकर (उचित मात्रा में) मधु मिलाकर पीने से लूताविष का प्रभाव नष्ट हो जाता है॥ २०२॥

कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट्। दन्ती त्रिवृत् सैन्धवं च कर्णिकापातनं तयोः॥ २०३॥

कर्णिकानाशक योग—बर्रे का फूल, गाय का दाँत, भड़भाँड़ की जड़, कबूतर का पुरीष, दन्ती का मूल, निशोथ और सेंधानमक, इन सबको समभाग में लेकर, पीसकर लेप करने से लूता और कीट विष के प्रभाव से उत्पन्न हुए मांसांकुरों (कर्णिकाओं) का पतन हो जाता है॥ २०३॥

कटभ्यर्जुनशैरीषशेलुक्षीरिद्रुमत्वचः। कषायकल्कचूर्णाः स्युः कीटलूताव्रणापहाः॥ २०४॥

कीटलूता व्रणनाशक योग—मालकाँगनी, अर्जुन की छाल, शिरीष की छाल, लिसोड़े की छाल और क्षीरी वृक्षों (वट-पीपल-पाकड़-गूलर-पारसपीपल) की छाल का क्वाथ पीने से, कल्क (चूर्ण) खाने से तथा पीसकर लेप लगाने से कीट तथा लूता के द्वारा काटे गये स्थान पर उत्पन्न व्रण नष्ट हो जाते हैं॥ २०४॥

त्वचं च नागरं चैव समांशं श्लक्ष्णपेषितम्। पेयमुष्णाम्बुना सर्वं मूषिकाणां विषापहम्॥ २०५॥

मूषिक विष चिकित्सा—दालचीनी और सोंठ, दोनों को बराबर-बराबर (२-२ ग्राम) लेकर, बारीक पीसकर गरम जल से पीने से सभी प्रकार के चूहों का विष नष्ट हो जाता है॥ २०५॥

कुटजस्य फलं पिष्टं तगरं जालमालिनी। तिक्तेक्ष्वाकुश्च योगोऽयं पानप्रधमनादिभिः॥ २०६॥
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां सर्पाणां च विषं हरेत्। समानो ह्यमृतेनायं गराजीर्णं च नाशयेत्॥ २०७॥

कुटजादि पान एवं प्रधमन—इन्द्रजौ, तगर, देवदाली और तितलौकी के समभाग चूर्ण को पीसकर पीने से अथवा खूब बारीक कर नाक में प्रधमन नस्य के रूप में प्रयोग करने से बिच्छू, चूहा, लूता और सर्प का विष नष्ट हो जाता है। यह योग अमृत के समान लाभप्रद है और कृत्रिम (गर) विष तथा अजीर्ण को नष्ट करता है॥ २०६-२०७॥

सर्वेऽगदा यथादोषं प्रयोज्याः स्युः कृकण्टके।

कृकण्टकविष-प्रतिकार—(कृकण्टक शब्द से भौंरा, झींगुर, मछली आदि का ग्रहण होता है), कृकण्टकजनित विषविकार में, जिस प्रकार के दोष दीख पड़ें, तदनुसार पूर्व में बतलाये गये अगद योगों का प्रयोग करना चाहिए।

कपोतविण्मातुलुङ्गं शिरीषकुसुमाद्रसः॥ २०८॥
शङ्खिन्यार्कं पयः शुण्ठी करञ्जो मधु वार्श्चिके। शिरीषस्य फलं पिष्टं स्नुहीक्षीरेण दार्दुरे॥२०९॥
मूलानि श्वेतभण्डीनां व्योषं सर्पिश्च मत्स्यजे।

बिच्छू-मेंढक और मछली-विष में उपचार—(१) बिच्छू के काटने पर कबूतर का विट्, बिजौरा नीबू का रस, शिरीष के फूल का रस, यवतिक्ता, मदार का दूध, सोंठ और करंज का गुद्दा, इन सबको बराबर-बराबर लेकर, पीसकर, मधु मिलाकर लेप करने से बिच्छू का विष उतर जाता है। (२) मेंढक के काटने पर शिरीष के बीज को सेहुँड़ के दूध में पीसकर लेप करने से विष नष्ट हो जाता है। (३) मछली के दंश के विष में सफेद अपराजिता का मूल, सोंठ, मरिच, पीपर, इन सबको पीसकर, घी मिलाकर काटे हुए स्थान पर लेप करने से विष नष्ट हो जाता है॥ २०८-२०९॥

कीटदष्टक्रियाः सर्वाः समानाः स्युर्जलौकसाम्॥ २१०॥
वातपित्तहरी चापि क्रिया प्रायः प्रशस्यते। वार्श्चिको ह्युच्चिटिङ्गस्य कणभस्यौन्दुरोऽगदः॥

जोंक आदि के विष की चिकित्सा—विषैले जोंकों के काटने पर वही चिकित्सा करनी चाहिए, जो चिकित्सा कीटों के काटने पर की जाती है। जोंकों के काटने पर विशेषकर वात-पित्तनाशक चिकित्सा करना उत्तम है। झींगुर के काटने की वही चिकित्सा है, जो बिच्छू के काटने की की जाती है और भौंरों के काटने पर चूहों के काटने जैसी चिकित्सा करनी चाहिए॥ २१०-२११॥

वचां वंशत्वचं पाठां नतं सुरसमञ्जरीम्। द्वे बले नाकुलीं कुष्ठं शिरीषं रजनीद्वयम्॥ २१२॥
गुहामतिगुहां श्वेतामजगन्धां शिलाजतु। कतृणं कटभीं क्षारं गृहधूमं मनःशिलाम्॥ २१३॥
रोहीतकस्य पित्तेन पिष्ट्वा तु परमोऽगदः। नस्याञ्जनादिलेपेषु हितो विश्वम्भरादिषु॥ २१४॥

परम अगद-बचादि योग—बच, बाँस की छाल, पाठा, तगर, तुलसी की मंजरी, बरियार और नागबला (ककहिया) का मूल, रास्ना, कूठ, शिरीष की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, पिठवन, सरिवन, श्वेत अपराजिता, अजमोदा, शिलाजीत, गन्धतृण, मालकाँगनी, जवाखार, गृहधूम और मैनसिल, इन सबको रोहू मछली के पित्त से पीसकर बारीक कल्क बना लें। यह बहुत उच्चकोटि का विषनाशक योग है। 'विश्वम्भरा' आदि के विषप्रभाव को दूर करने के लिए नस्य, अञ्जन और लेप के रूप में इसका प्रयोग करना हितकर है॥ २१२-२१४॥

वक्तव्य—यहाँ 'रोहीतकस्य पित्तेन' यह पाठ गंगाधर जी को मान्य है, किन्तु चक्रपाणि ने 'पित्तेनेति गोपित्तेन' यह व्याख्या की है और मूल में 'रोहीतकं च पित्तेन' पाठ मानकर रोहीतक की छाल का ग्रहण किया है। विश्वम्भरा आदि से सुश्रुतोक्त कफप्रकोपक कीटों का ग्रहण करना चाहिए।

स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षारः सुरसाऽथाक्षिपीडकः। मदिरामण्डसंयुक्तो हितः शतपदीविषे॥ २१५॥

शतपदी (गोंजर) के विष में स्वर्जिकाद्य योग—सज्जीखार, बकरी की मेंगनी की राख, तुलसी की पत्ती और अक्षिपीडक (यवतिक्ता), इन सबको मदिरा के ऊपरी मण्ड से पीसकर पान, नस्य, अंजन तथा लेप के रूप में प्रयोग करने से शतपदी का विष नष्ट हो जाता है॥ २१५॥

कपित्थमक्षिपीडोऽर्कबीजं त्रिकटुकं तथा। करञ्जो द्वे हरिद्रे च गृहगोधाविषं जयेत्॥ २१६॥

छिपकली-विष-चिकित्सा—कैथ के फल का गूदा, यवतिक्ता, मदार का बीज, सोंठ, मरिच, पीपर, करञ्ज, हल्दी और दारुहल्दी, इन सबको समान भाग लेकर लेप करने से छिपकली का विष नष्ट हो जाता है॥ २१६॥

काकाण्डरससंयुक्तो विषाणां तण्डुलीयकः। प्रधानो बर्हिपित्तेन तद्वद्वायसपीलुकः[1]॥ २१७॥

सर्वविषनाशक अगद—काले केवाँच के मूल के रस में पीसी हुई चौलाई की जड़ को पीने या लेप करने से सभी प्रकार के विष नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार काकमाची के मूल को मोर के पित्त से पीसकर पीने और लेप करने से सभी विष नष्ट हो जाते हैं॥ २१७॥

शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रैः समैर्धृतैः। श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो वधे॥ २१८॥
इति पञ्चशिरीषोऽगदः।

पञ्चशिरीष अगद—शिरीष के फल, मूल, छाल, फूल और पत्ते समान भाग लेकर, पीसकर लेप करने से और पीने ने सभी प्रकार के विषों का प्रभाव नष्ट हो जाता है। यह पञ्चशिरीष अगद सभी विषों को नष्ट करने में श्रेष्ठतम औषध माना गया है॥ २१८॥

चतुष्पद्विर्द्विपद्विर्वा नखदन्तक्षतं तु यत्। शुयते पच्यते चापि स्रवति ज्वरयत्यपि॥ २१९॥
सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपद्यपि। रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः॥ २२०॥

नख-दन्तक्षत विष के लक्षण और चिकित्सा—(१) चौपायों तथा द्विपदों (मनुष्यों) के नख एवं दाँत से घाव हो जाने पर उस स्थान पर शोथ हो जाता है, उससे पानी का स्राव होने लगता है और वह पक जाता है तथा ज्वर उत्पन्न करता है। (२) श्वेत खैर, साखू की छाल, गोजिह्वा, हंसपदी (हंसराज), हल्दी, दारुहल्दी और गेरू, इन सबको समभाग लेकर, पीसकर लेप करने से नख तथा दन्त के क्षत से उत्पन्न विष नष्ट हो जाता है॥ २१९-२२०॥

१. इस श्लोक में पठित काकाण्ड और वायसपीलुक के अर्थों में मतभेद है।

दुरन्धकारे विद्धस्य केनचिद्विषशङ्कया। विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत्॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वाऽप्येतच्छङ्काविषं मतम्।

शंका विष के लक्षण—घोर अन्धकार में किसी काँटे आदि के चुभ जाने से या चोट लग जाने से जब किसी मनुष्य को विषैले जन्तु द्वारा काटे जाने का सन्देह हो जाता है, तो भी मानसिक विष के प्रभाव की आशंका से जो उद्विग्नता होती है, उससे ज्वर, वमन, मूर्च्छा, जलन, ग्लानि, मोह और अतिसार, ये लक्षण हो जाते हैं। इसे 'शंकाविष' माना जाता है॥ २२१॥

चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासयन् बुधः॥ २२२॥
सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु। पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम्॥ २२३॥

शंका-विष की चिकित्सा—रोगी को यह आश्वासन देते हुए कि किसी काँटे आदि से खरोंच लग गयी है, किसी जन्तु ने नहीं काटा है, चिन्ता की कोई बात नहीं, सब ठीक है, डरने की बात नहीं है; उसकी चिकित्सा इस प्रकार करे—रोगी को चीनी, शुद्ध गन्धक, मुनक्का, क्षीरकाकोली और मुलहठी का चूर्ण उचित मात्रा में लेकर, मधु मिलाकर पान करायें। मन्त्रों से अभिमन्त्रित किया हुआ जल लेकर शरीर पर छिड़के तथा रोगी को प्रसन्न रखें एवं सान्त्वना दें॥ २२२-२२३॥

शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः। भोजनार्थे प्रशस्यन्ते लवणार्थे च सैन्धवम्॥ २२४॥
तण्डुलीयकजीवन्तीवार्ताकसुनिषण्णकाः। चुञ्चूर्मण्डूकपर्णी च शाकं च कुलकं हितम्॥ २२५॥
धात्री दाडिममम्लार्थे यूषा मुद्गहरेणुभिः। रसाश्चैणशिखिश्वाविल्लावतैत्तिरपार्षताः॥ २२६॥
विषघ्नौषधसंयुक्ता रसा यूषाश्च संस्कृताः। अविदाहीनि चान्नानि विषार्तानां भिषग्जितम्॥

विषविकार में पथ्य-अन्न-शाक-मांसरस-यूष—(१) जंगम या स्थावर विष से प्रभावित व्यक्तियों के भोजन के लिए अन्नों में—अगहनी का, साठी का, कोदो का और टाँगुन का चावल उत्तम पथ्य है। नमकों में सेंधानमक पथ्य है। (२) शाक—चौलाई, जीवन्ती, बैगन, चौपतिया, चुञ्चू (पत्रशाक), मण्डूकपर्णी और परवर हितकर होते हैं। (३) अम्ल या चटनी—आँवला और अनार अम्लों में श्रेष्ठ पथ्य हैं। (४) मूँग और अरहर की दाल का यूष उत्तम पथ्य है। (५) मांसरस—काले हरिण, मोर, साही, लावपक्षी (बटेर) तीतर और चीतल मृग का मांसरस उत्तम पथ्य होता है। (६) विषनाशक औषधयुक्त आहार—विष से पीड़ित व्यक्तियों के लिए विषघ्न औषधों को डालकर सुसंस्कृत मांसरस और यूष देना चाहिए तथा ऐसे अन्न खाने को दें, जो विदाही न हों॥ २२४-२२७॥

विरुद्धाध्यशनक्रोधक्षुद् भयायासमैथुनम्। वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्नं विशेषतः॥ २२८॥

विषविकार में अपथ्य और त्याज्य—विष का प्रभाव उपस्थित हो या समाप्त हो गया हो तब भी विरुद्ध भोजन, पूर्वकृत भोजन के बिना पचे पुनः भोजन करना, क्रोध करना, भूखे रहना, भयभीत रहना, परिश्रम का कार्य करना, मैथुन करना और दिन में सोना, यह सब त्याग देना चाहिए॥ २२८॥

मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः स्रस्तौष्ठकर्णता। ज्वरः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पोऽङ्गमर्दनम्॥
रोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमः। चतुष्पदां भवत्येतद् दष्टानामिह लक्षणम्॥ २३०॥

चौपायों में सर्प आदि विषजन्तु-दंश के लक्षण—जब गौ, भैंस, अश्व आदि पशुओं को साँप आदि काट लेते हैं, तो वे बार-बार अपना शिर झटकते और हिलाते हैं। उनके शरीर सूज जाते हैं, होंठ और कान नीचे लटक जाते हैं, ज्वर होता है, नेत्र तथा अंग जकड़ जाते हैं, निचला जबड़ा (हनुप्रदेश) काँपता है, अंगों में मरोड़ होती है, रोएँ झड़ने लगते हैं, ग्लानि, बेचैनी, कम्पन और चक्कर आता है। इन लक्षणों को देखकर उस पशु को किसी विषजन्तु द्वारा काटा हुआ समझना चाहिए॥ २२९-२३०॥

देवदारु हरिद्रे द्वे सरलं चन्दनागुरु। रास्ना गोरोचनाऽजाजी गुग्गुल्विक्षुरसो नतम्॥ २३१॥

चूर्णं ससैन्धवानन्तं गोपित्तमधुसंयुतम्। चतुष्पदानां दष्टानामगदः सार्वकर्मिकः॥ २३२॥

विषपीड़ित चौपायों की चिकित्सा—देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सरलकाष्ठ, लालचन्दन, काला अगर, रास्ना, गोरोचन, जीरा, गुग्गुलु, गन्ने का रस, तगर, सेंधानमक, अनन्तमूल, गाय के पित्त और मधु—इन सब द्रव्यों को पीसकर, मिलाकर, पीने, नस्य लेने, अञ्जन करने और लेप लगाने में चौपायों के विषविकार में प्रयोग करना चाहिए॥ २३१-२३२॥

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदरजोनानाङ्गजान् मलान्। शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान्॥

स्त्रियों द्वारा गरविष का प्रयोग—भोली-भाली या दुष्ट स्वभाव की स्त्रियाँ अपने पुरुष या परपुरुष को अपने वश में करने की लालसा से अपने पसीने से सनी देह की मैल को या रजोधर्म के रक्त आदि या अन्य मलों को या शत्रुदल द्वारा (बहका कर) दिये गये कृत्रिम विषों को अन्न में मिलाकर खिला देती हैं॥ २३३॥

(लोकाचार में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं के अनुसार पुरुषों को वश में करने के लिए स्त्रियाँ अपने अंगों से निकले मलों को एवं रजःस्राव के रक्त को उन्हें किसी व्याज से खिला देती हैं अथवा शत्रु-पक्ष के लोग स्त्रियों के माध्यम से किसी कृत्रिम विष को खिलवा देते हैं। इस प्रकार का विष धीरे-धीरे विष-लक्षणों को प्रकट करता है।)

तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते। मर्मप्रधमनाध्मानं श्वयथुं हस्तपादयोः॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः। एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत्॥ २३५॥
स्वप्ने मार्जारगोमायुव्यालान् सनकुलान् कपीन्। प्रायः पश्यति नद्यादीञ्छुष्कांश्च सवनस्पतीन्॥
कालश्च गौरमात्मानं स्वप्ने गौरश्च कालकम्। विकर्णनासिकं वाऽपि प्रपश्येद् विहतेन्द्रियः॥

गरविष के लक्षण—किसी भी तरह गरविष खा लेने से शरीर पीला पड़ जाता है, दुबला-पतला और मन्दाग्नि से पीड़ित हो जाता है तथा गरविष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। हृदय में धड़कन, आध्मान, हाथ-पैर में सूजन, उदररोग, ग्रहणीविकार, राजयक्ष्मा, गुल्म, क्षयरोग और ज्वर एवं ऐसे ही अन्य रोगों के भी लक्षण दीख पड़ते हैं। उसे स्वप्न में बिलार, सियार, बाघ आदि हिंसक जीव, नेवले और बानर दीखते हैं। स्वप्न में सूखी नदियाँ, सूखे तालाब और सूखे पेड़-पौधे दिखलायी देते हैं। काला व्यक्ति स्वप्न में अपने को गोरा देखता है और गोरा व्यक्ति अपने को काला देखता है एवं अपने को नाक-कान से रहित देखता है। उसकी इन्द्रियाँ अपने विषय सम्पन्न नहीं कर पाती हैं॥ २३४-२३७॥

तमवेक्ष्य भिषक् प्राज्ञः पृच्छेत् किं कैः कदा सह। जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद्वमनं भिषक्॥

गरविष में वमन—उपर्युक्त लक्षणों वाले व्यक्ति को देखकर दक्ष चिकित्सक को चाहिए कि वह उस व्यक्ति से यह पूछे कि कब, कहाँ, किसके साथ और क्या खाया है? फिर सही जानकारी कर ले कि इसने गर विष खाया है, तब उसे वमन कराना चाहिए॥ २३८॥

सूक्ष्मं ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्। शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्॥ २३९॥
हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति। न सज्जते हेमपात्रे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्॥ २४०॥

वमन योग—गरविषवाले रोगी को सूक्ष्म ताम्रचूर्ण (भस्म) उचित मात्रा में मधु मिलाकर दें, जिससे वमन होकर उसका हृदय शुद्ध हो जाय। तत्पश्चात् हृदय के शुद्ध हो जाने पर शुद्ध स्वर्णपत्र का चूर्ण एक शाण (वर्तमान में १२ रत्ती अधिकतम) मधु मिलाकर खिलायें। स्वर्ण का सेवन करना सभी प्रकार के विषों को तथा गरविषों को नष्ट करता है। जो व्यक्ति स्वर्ण का पत्रक-चूर्ण सेवन करते हैं, उनके शरीर में विष वैसे ही नहीं ठहरता, जैसे कमल के पत्ते पर पानी नहीं ठहरता॥ २३९-२४०॥

नागदन्तीत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीस्नुक्पयःफलैः। साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं हितम्॥ २४१॥

सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां च शान्तये।

विषघ्न नागदन्यादि घृत—नागदन्ती, निशोथ, दन्तीमूल, द्रवन्ती (बड़ी दन्ती) मूल, सेहुँड़ का दूध और मैनफल, इन सबको मिलाकर १ कुडव लें और बारीक पीसकर कल्क करें। उसे १ प्रस्थ घी तथा १ आढक गोमूत्र के साथ पकाकर घी तैयार करें। यह घृत सर्पविष, कीटविष तथा गरविष से प्रभावित व्यक्तियों के विष को शान्त करता है॥ २४१॥

शिरीषत्वक् त्रिकटुकं त्रिफलां चन्दनोत्पले॥ २४२॥
द्वे बले सारिवास्फोतासुरभीनिम्बपाटलाः। बन्धुजीवाढकीमूर्वावासासुरसवत्सकान्॥ २४३॥
पाठाङ्कोलाश्वगन्धार्कमूलयष्ट्याह्वपद्मकान्। विशालां बृहतीं लाक्षां कोविदारं शतावरीम्॥
कटभीदन्त्यपामार्गान् पृश्निपर्णीं रसाञ्जनम्। श्वेतभण्डाश्वखुरकौ कुष्ठदारुप्रियङ्गुकान्॥
विदारीं मधुकात् सारं करञ्जस्य फलत्वचौ। रजन्यौ लोध्रमक्षांशं पिष्ट्वा साध्यं घृताढकम्॥
तुल्याम्बुच्छागगोमूत्रव्याढके तद्विषापहम्। अपस्मारक्षयोन्मादभूतग्रहगरोदरम्॥ २४७॥
पाण्डुरोगक्रिमीगुल्मप्लीहोरुस्तम्भकामलाः। हनुस्कन्धग्रहार्दींश्च पानाभ्यञ्जननावनैः॥ २४८॥
हन्यात् सञ्जीवयेच्चापि विषोद्बन्धमृतान्नरान्। नाम्नेदममृतं सर्वविषाणां स्याद् घृतोत्तमम्॥
इत्यमृतघृतम्।

अमृत घृत—१. शिरीष की छाल, २. सोंठ, ३. मरिच, ४. पीपर, ५. हर्रा निबीर्ज, ६. बहेड़ा निबीर्ज, ७. आँवला निर्बीज, ८. लालचन्दन, ९. नीलकमल, १०. बरियार का मूल, ११. ककहिया का मूल, १२. अनन्तमूल, १३. अपराजिता, १४. शलई की छाल, १५. नीम की छाल, १६. पाढल की छाल, १७. दुपहरिया, १८. अरहर बीज, १९. मूर्वा, २०. अरूस का मूल, २१. तुलसी की मंजरी, २१. कोरया की छाल, २३. पाठा, २४. अङ्कोल, २५. असगन्ध, २६. मदार का मूल, २७. मुलहठी, २८. पद्मकाठ, २९. इन्द्रायन का मूल, ३०. बड़ी कटेरी, ३१. लाख, ३२. कचनार, ३३. शतावर, ३४. मालकाँगनी, ३५. दन्ती का मूल, ३६. चिचिड़ा का मूल, ३७. पिठवन, ३८. रसवत, ३९. श्वेत कटसरैया, ४०. स्यन्दन (तिनिश), ४१. कूठ, ४२. देवदारु, ४३. फूलप्रियंगु, ४४. विदारीकन्द, ४५. मुलहठी का सत्त्व, ४६. करञ्ज की छाल एवं फल, ४७. हल्दी, ४८. दारुहल्दी और ४९. लोध—उक्त प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष, गोघृत १ आढक, जल १ आढक और बकरी या गाय मूत्र ३ आढक लेकर एक में मिलाकर विधिवत् घृतपाक कर छानकर सुरक्षित रख लें।

फलश्रुति—यह घृत सभी प्रकार के विषों को दूर करता है। अपस्मार, क्षय, उन्माद, भूत-प्रेत-पिशाचों का या कीटाणुओं का आक्रमण, गरविष, उदररोग, पाण्डुरोग, क्रिमिरोग, गुल्म, प्लीहरोग, ऊरुस्तम्भ, कामला, हनुग्रह और स्कन्धग्रह आदि रोगों में पीने, मालिश करने और नस्य लेने से आराम मिलता है। विषभक्षण या विषदंश से पीड़ित या गले में फन्दा डालने से मृततुल्य मनुष्यों को नवजीवन प्रदान करता है। यह सर्वोत्तम घृत सभी प्रकार के विषों को दूर करने में अमृत के समान लाभकारी होने से 'अमृतघृत' कहा जाता है॥ २४३-२४९॥

भवन्ति चात्र—

छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद् रात्रौ तथा दिवा। तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्त्याशु पन्नगाः॥

छाता और छड़ी का प्रयोग—मनुष्य को दिन में छाता लगाकर और रात में बाँस का ऐसा डण्डा लेकर चलना चाहिए, जिससे जमीन पर अवलम्ब देने पर आवाज हो (या तो वह फटा हो या उसमें झुनझुना लगा हो), क्योंकि साँप छाते की छाया देखकर डरकर भाग जाते हैं और डण्डे की आवाज सुनकर भी भाग जाते हैं॥ २५०॥

(सर्प बहुत डरपोक होते हैं और वे भयग्रस्त होकर भागने की चेष्टा करते हैं, जब वे कुचल जाते हैं, तब क्रुद्ध होकर आक्रमण कर देते हैं, इसलिए उनसे बचने का सरल साधन यहाँ बतलाया गया है)

दष्टमात्रो दशेदाशु तं सर्प लोष्टमेव वा। उपर्यरिष्टां बध्नीयाद् दंशं छिन्द्याद् दहेत्तथा॥ २५१॥

सर्पदंश का तात्कालिक उपचार—जिस व्यक्ति को साँप ने काट लिया हो, वह तुरन्त उसी साँप को अथवा मिट्टी के ढेले को दाँतों से काटे और दंश के स्थान से चार अंगुल ऊपर रस्सी-मूँज या पटुआ से बाँध दें तथा दंश को चीरकर (रक्त बहाकर), अग्नि में लोहा गरम करके उससे दाग दें॥ २५१॥

वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमूषिका। कर्केतनः सर्पमणिर्वैदूर्यं गजमौक्तिकम्॥ २५२॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः। खगाश्च सारिकाक्रौञ्चशिखिहंसशुकादयः॥

विषघ्न मणियों का धारण और पक्षियों का पालन—हीरा, मरकत (पन्ना), पिचुक (मणिविशेष), विषमणि, पद्मराग, साँप की मणि, लहसुनिया, गजमुक्ता एवं विषघ्न अन्य मणियों को तथा विषनाशक उत्तम औषधों को धारण करना चाहिए। तोता, क्रौञ्च, मोर, हंस और सुग्गे को पालना चाहिए। (क्योंकि ये विष के प्रभाव के पारखी पक्षी विष को देखकर ही विभिन्न प्रकार की विकृत चेष्टाएँ करने लगते हैं, जिससे विषमिश्रित अन्न का ज्ञान हो जाता है)॥ २५२-२५३॥

तत्र श्लोकः—

इतीदमुक्तं द्विविधस्य विस्तरैर्बहुप्रकारं विषरोगभेषजम्।
अधीत्य विज्ञाय तथा प्रयोजयन् व्रजेद् विषाणामविषह्यतां बुधः॥ २५४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने विषचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'विषरोग चिकित्सित' नामक अध्याय में स्थावर और जंगम विषों से उत्पन्न होने वाले विकारों की अनेक प्रकार की चिकित्सा का उपदेश किया गया है। विद्वान् चिकित्सक इसका अध्ययन-मनन कर तदनुसार प्रयोग करता हुआ विषों के दुष्प्रभाव से प्रभावित नहीं होता॥ २५४॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'विषचिकित्सित' नामक तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २३॥

विषचिकित्साक्रम बोधक-सारणी

उपचार	औषध
वेगानुसार विष-चिकित्सा	
विष के प्रथम वेग में—दंशस्थान से ऊपर रस्सी से बाँधकर दंश को काटकर दबा-दबाकर विष को बाहर निकाले या मुँह में जौ का आटा रखकर दंश स्थान को चूसकर विष निकाले अथवा १. पाछकर, २. सींग लगाकर, ३. जोंक लगाकर या ४. सिरावेध द्वारा रक्त का स्राव करायें। त्रिकट्वादि चूर्ण का प्रघर्षण कर रक्तस्राव करायें। अधिक रक्तस्राव होने पर—बटादि क्षीरीवृक्ष, शीतद्रव्यों का लेप करना चाहिए। **द्वितीय वेग में**–विष त्वचा और मांस तक पहुँच गया हो, तो ऐसी दशा में दाह क्रिया से विषवेग नष्ट होता है। विष केवल रक्त में ही व्याप्त हो, तो रक्त-विस्रावण क्रिया से विषवेग शान्त हो जाता है। विषपान करने पर शीघ्र ही वमन द्वारा विष निर्हरण करना चाहिए। द्वितीय वेग में विरेचन द्वारा विष को निकालना चाहिए। **तृतीय वेग में**—शोथनाशक एवं लेखनगुणयुक्त क्षारागद को मधु एवं जल के साथ पिलायें। **चतुर्थ वेग में**—गोबर के रस और कैथ की पत्ती के रस में मधु और गोघृत मिलाकर पिलाना चाहिए। **पंचम वेग में**—केवाँच और शिरीष की पत्ती का स्वरस नेत्र में आश्च्योतन, अंजन और नस्य रूप में देना चाहिए। **छठे वेग में**—संज्ञास्थापन औषधों का प्रयोग करना चाहिए। **सप्तम वेग में**—विषैले जन्तु के काटने में विष-पान कराना चाहिए।	**द्वितीय वेग में**—विषाक्रान्त पुरुष के हृदय की रक्षा सर्वप्रथम करनी चाहिए। इसके लिए—मधु, गोघृत, मज्जा, दूध, शुद्ध स्वर्ण गेरू, गौ के गोबर का रस, ऊख का रस, कौए का मांसरस, बकरे आदि का ताजा रक्त, गोबर की राख या काली मिट्टी का यथाशीघ्र पान कराना चाहिए। **अष्टम वेग में—** १. पलाशबीज का चूर्ण ४ ग्राम और मोर का पित्त २ ग्राम पीसकर पिलायें। २. बड़ी कण्टकारी बीज, राब, घर का धुआँ, गोरोचन, इन्हें नीम की पत्ती के रस में पिलायें। ३. तुलसी पत्र, पिपरामूल, हल्दी, दारुहल्दी, मुलेठी और कूठ के समभाग चूर्ण को गोपित्त से पीसकर गोली बनाकर खिलायें। ४. ऊपर के योग में शिरीष फूल एवं केवाँच की पत्ती का स्वरस डालकर, गोली बनाकर खिलायें। ५. काकाण्डादि योग—केवाँच का बीज, तुलसी की पत्ती, इन्द्रायण का बीज, पुनर्नवा मूल, मकोय की पत्ती, शिरीष का फल, इन सबको पीसकर इनका लेप, नस्य और पान करने से विष प्रभाव नष्ट होता है। ६. मृतसंजीवन अगद का लेप, नस्य, धारण और धूम्रग्रहण के रूप में प्रयोग करें।
दोषस्थानानुसार विष-चिकित्सा	
१. वात में स्वेदन करें।	१. वातस्थान में दंश हो तो या स्थावरविष व्याप्त हो, तो स्वेदन करें और तगर एवं कूठ का कल्क दही में घोलकर पिलाना चाहिए।
२. पित्त में अवगाहन व परिषेचन करें।	२. पित्तस्थानगत विष में अवगाहन या परिसेचन करें तथा मधु-घृत-दुग्ध जल मिलाकर पिलायें।
३. कफ में स्वेदन एवं सिरावेध करें।	३. कफस्थानगत विष में स्वेदन एवं सिरावेध करें तथा क्षारागद का प्रयोग करें।

उपचार	औषध
दूषीविष चिकित्सा	
यदि दूषीविष का प्रभाव रक्तधातु में हो तो सिरा-वेध और वमन-विरेचन आदि पंचकर्म करना चाहिए। इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि जिस स्थान का उपचार किया जाय उस स्थान में स्थित दोष की वृद्धि या विकृति न हो जाय। मस्तक पर काकपद बनाकर मांस रखे। नस्य, अंजन और लेप लगायें। अगद औषधों का प्रयोग करें। पीने के लिए ऋषभकादि योग एवं हिंग्वादि योग दें। गृह, शयनागार, आसन, वस्त्र आदि को विष-प्रभाव से बचाने के लिए धूम का प्रयोग करें। क्षारागद का प्रयोग करना चाहिए। यदि कोई स्थावर विष आमाशय में चला गया हो, तो वमन कराना चाहिए। यदि केवल त्वचा विष-दूषित हो, तो विषघ्न प्रदेह-प्रसेक आदि करे। किसी भी विष की चिकित्सा करते समय दोषों के बल का विचार कर लेना चाहिए। जिन-जिन दोषों के लक्षणों की अधिकता दिखायी पड़े, उन-उन दोषों के विपरीत गुणवाले औषधों से चिकित्सा करनी चाहिए। **वातप्रकोपक विष में**—काटे हुए स्थान पर राब (दानेदार गुड़) का लेप, वातहर तैलाभ्यङ्ग, स्वेद एवं बृंहण उपचार करें। **पित्तप्रकोपक विष में**—शीत जलावसेचन एवं प्रदेह लगायें। **कफप्रकोपक विष में** लेखन, छेदन, स्वेदन एवं वमन का प्रयोग करें। **सर्वस्थानगत सर्वविषों में**—शीतल उपचार करना चाहिए, किन्तु बिच्छू और झींगुर के दंश को छोड़कर। **बिच्छूदंश में**—लवणयुक्त घी की मालिश एवं उष्ण परिसेक करें तथा भोजन और पान में घी का प्रयोग करें। **झींगुर दंश में**—उष्ण जल में सनी धूल का बालों की विपरीत दिशा में उबटन और गरम-गरम धूल का लेप करे।	जब दूषी विष के कारण कफ से श्वासपथ आदि मार्ग अवरुद्ध हो जाने से रोगी मरणासन्न हो एवं मुख से औषध न लेने लायक हो, तो उसके मस्तक पर काकपद (कौवे के पैर के समान रेखा) बनाकर जब रक्त निकलने लगे, तो उस पर सातला का कल्क बनाकर लेप करना चाहिए। इसी प्रकार बकरा, गौ, भैंस या मुर्गे का मांस काकपद पर रखने से रक्त में व्याप्त विष मांस में चला जाता है। नासिका, नेत्र, कर्ण, कण्ठ एवं जिह्वा आदि में विषप्रभाव के कारण अवरोध हो, तो बड़ी कण्टकारी, बिजौरा नीबू और मालकाँगनी आदि को पीसकर नस्य दें। यदि विषप्रभाव से नेत्र में अन्धता हो, तो देवदारु, सोंठ, मरिच, पीपर, हल्दी, कनेर की पत्ती, करंजबीज, निम्बबीज एवं तुलसी की मंजरी को बकरे के मूत्र में पीसकर अंजन लगाना चाहिए। गन्धहस्ती नामक अगद तथा महागन्धहस्ती अगद का लेप एवं अंजन आदि में प्रयोग करना चाहिए। ये सभी तरह के विष-विकारों को नष्ट करते हैं। विषजन्य ज्वर, हिक्का, श्वास-कास में ऋषभकादि योग तथा हिंग्वादि योग का सेवन कराना चाहिए। **धूम योग**—मोर पंख, बकुले की हड्डी, पीली सरसों और चन्दन के चूर्ण में घी मिलाकर धूपन करे या तगर, कूठ, सर्पशिर, शिरीषपुष्प का हवन करे या लाक्षा, खश, तेजपात, गुग्गुल, भिलावा, अर्जुन का फूल, राल, श्वेत अपराजिता का धूप दे। **शिरोगत** विष प्रभाव में दुपहरिया फूल की जड़, भारंगी की जड़ और काली तुलसी की जड़ का कपड़छन चूर्ण बनाकर नस्य दें। यदि पैर में साँप आदि ने काटा हो और विष का वेग शरीर में तीव्रता से फैल रहा हो, तो मस्तक का बाल बनवाकर कौए के पैर जैसी रेखा चाकू से बनायें और जब रक्त बहने लगे, तो उसके ऊपर मुर्गा, कौआ और मोर के रक्त मिश्रित मांस को रख दें।

उपचार	औषध
विषजन्तु-दंश में—विष के प्रभाव के अनुसार २४ प्रकार की चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिए। विषजन्य हृदय दाह में विरेचन और मुख में पानी आने में वमन करायें तथा पूर्ण शुद्धि हो जाने पर संसर्जन क्रम से पथ्य देना चाहिए। **कफप्रधान विष में**—पीपर, सोंठ एवं जवाखार के समभाग चूर्ण को मक्खन में मिलाकर काटे हुए स्थान पर प्रतिसारण करें। **सर्वविध विषविकार में**—पान, नस्य, अंजन और लेप प्रयोगार्थ मांस्यादि योग, चन्दनादि योग तथा शिरीषपुष्परस भावित श्वेत मरिचचूर्ण का योग उत्तम विषघ्न है। **तक्षक** सर्पविष में तगर और कूठ घी-मधु से पिलायें। **दर्वीकर** सर्पदष्ट में मेउड़ी और श्वेत अपराजिता का मूल पीसकर पिलायें, कूठ और मधु का नस्य दें। **मण्डली** सर्पदंश में मंजिष्ठादि योग पिलायें। **राजिमान** के दंश में त्रिकटु योग मधु से चटायें। **वासुकि** के दंश में गृहधूमादि योग मधु-घी से दें। **कीटविषों की चिकित्सा**—सभी तरह के कीट-विषों में शोधन के पश्चात् क्षीरी वृक्षों की त्वचा का लेप लगाना चाहिए। मोती पीसकर लेप करने से दाह, शोथ, तोद और ज्वर नष्ट होते हैं। **लूतादष्ट में** चन्दनादि योग का पान, नस्य, अंजन एवं लेप लगाना चाहिए तथा मधूकादि योग पिलायें। लूता या कीटविषजन्य मांसांकुर में कुसुम्भादि लेप करें। चूहे के काटने के विष को नष्ट करने के लिए दालचीनी और सोंठ २-२ ग्राम पीसकर पिलायें। सर्वविषघ्न कुटजादि नस्य—इन्द्रजौ, तगर, देवदाली एवं तितलौकी के पीने एवं नस्य लेने से चूहा, लूता, बिच्छू, सर्प तथा गरविष नष्ट होते हैं। **बिच्छू-विष चिकित्सा**—कपोटविट् योग का लेप करें। मेढकविष में शिरीष के बीज को सेहुँड़ के दूध में पीसकर दंश-स्थान में लगायें। जोंक के विष में कीटदष्टवत् उपचार एवं वात-पित्तनाशक औषध प्रयोग करें।	यदि शरीर के ऊपरी भाग में सर्प आदि ने काटा हो, तो पैर में काकपद बनाकर मुर्गा, कौआ या मोर का रक्तयुक्त मांस बाधें। **विषज नेत्रान्धता में**—पिप्पल्यादि अंजन लगायें। **कण्ठगत विषविकार में** कैथ का चूर्ण मधु-चीनी मिलाकर चटायें। **आमाशयगत विष में**—तगरचूर्ण १० ग्राम मधु-चीनी से दें। **पक्वाशय विष में**—पीपर, हल्दी, दारुहल्दी और मजीठ के सम भाग चूर्ण को गोरोचन के साथ पीसकर पिलायें। **रसधातुगत विष में**—गोह के सूखे रक्त और सूखे मांस का चूर्ण बनाकर कैथ के गुद्दे के रस के साथ पीने को दें। **रक्तगत विष में** लिसोड़ा की जड़, छाल और कोमल पत्ती या बेर या गूलर या मालकाँगनी की कोमल पत्ती जल में पीसकर पिलायें। मांसगत विष में मधु मिला खदिरारिष्ट या कुटजमूल को जल में पीसकर पिलायें। **सर्वधातुगत विष में** बला और नागबला का मूल, महुआ, मुलहठी और तगर के सम भाग चूर्ण को तगर में पीसकर पिलाना चाहिए। **लूताविषघ्न चन्दनादि योग**—लालचन्दन, पद्मकाष्ठ, खश, शिरीषबीज, मेउड़ी, क्षीरविदारी, तगर, कूठ, पाटला, सुगन्धबाला और अनन्तमूल समभाग लिसोड़ापत्रस्वरस में पीसकर पान-नस्य-लेप करें। **लूतानाशक मधूकादि योग**—महुआ का फूल, मुलहठी, शिरीषफूल, सुगन्धबाला, पाटला, नीम की छाल एवं अनन्तमूल समभाग पीसकर, मधु मिलाकर पिलायें। **कुसुम्भादि लेप**—कीट एवं लूता-विषजन्य मांसांकुर पर बेर्रे का फूल, गाय का दाँत, भड़भाड़ का मूल, कबूतर का बीट, दन्तीमूल, निशोथ और सेंधानमक समभाग लेकर, पीसकर लेप करें। **कपोतविट् योग**—बिच्छू के काटने पर कबूतर का बीट, बिजौरा नीबू, शिरीष का फूल, शंखिनी, मदार का दूध, सोंठ और करञ्ज की गुद्दी, इनके सम-भाग चूर्ण को मधु मिलाकर दंश के स्थान पर लेप करने से बिच्छू के विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

उपचार	औषध
गोजर के विष में सज्जीखार, बकरी की मींगी की राख, तुलसी की पत्ती और तगर को मदिरा में पीसकर पान-नस्य-अंजन व लेप करें। छिपकली के दंश में कैथ, तगर, मदारबीज, त्रिकटु, करंज, दोनों हल्दी समभाग लेकर, पीसकर लेप करें। **नख-दन्त-क्षत चिकित्सा**—श्वेत खदिर, साखू की छाल, गोजिह्वा, हंसपदी, हल्दी, दारुहल्दी और गेरू समान भाग लेकर, जल से पीसकर लेप करने से नख या दाँत से कट जाने पर होने वाला विष प्रभाव नष्ट हो जाता है। **शंका-विष-चिकित्सा**—सर्वप्रथम रोगी को आश्वासन देना चाहिए। फिर शुद्ध गन्धक, मुनक्का, क्षीरकाकोली और मुलहठी के समभाग चूर्ण को मधु से चाटना चाहिए। मांगलिक मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण करें और सान्त्वना दें। **गरविष में वमन**—गरविष से पीड़ित व्यक्तियों को सूक्ष्म ताम्रभस्म मधु मिलाकर, चटाकर, वमन कराना चाहिए। वमन से हृदय शुद्ध हो जाता है। उसके बाद सुवर्ण भस्म मधु से चटाना चाहिए। जिस प्रकार कमलपत्र पर जल नहीं ठहरता है, उसी प्रकार स्वर्णसेवी के शरीर में विष का प्रभाव नहीं होता है।	विश्वम्भरा आदि के विष में वचादि योग-परम अगद का नस्य, अञ्जन, लेप आदि में प्रयोग करना चाहिए। सभी प्रकार के विषों में काले केवाँच के मूल के रस से पिसा हुआ चौलाई का मूल लेप करें या मकोय के मूल को मोर के पित्त से पीसकर लेप करने या पान करने से सभी विष दूर होते हैं। इसी प्रकार पंचशिरीष (शिरीष का फल, मूल, छाल, फूल और पत्ती) पीसकर गोघृत मिलाकर लेप करने या पान करने से सभी विष नष्ट होते हैं। गरविष में घृत प्रयोग—नागदन्ती, निशोथ, दन्ती का मूल, द्रवन्ती मूल, सेहुण्ड दुग्ध और मैनफल कल्क समभाग $\frac{1}{4}$ प्रस्थ, १ प्रस्थ भैंसघृत और ४ आढक गोमूत्र डालकर घृत पकायें। यह घृत सभी विषों को नष्ट करता है। सभी प्रकार के विषों के शमन के लिए—अमृतघृत का प्रयोग करें **सर्पदंश में तात्कालिक उपचार**—जिसे साँप काटे उसे चाहिए कि उसी सर्प को या मिट्टी के ढेले को दाँत से काटे तथा दंश-स्थान से चार अंगुल ऊपर रस्सी आदि से अरिष्टाबन्धन करे और चाकू आदि से उस स्थान को चीरकर आग से जला दे। सर्पदंश से बचने और अन्य किसी विष के प्रभाव से बचने के लिए हीरा, पन्ना, पद्मराग, वैदूर्य, सर्पमणि और गजमुक्ता आदि को धारण करना चाहिए। विषघ्न औषध धारण करना चाहिए। भोजन के परीक्षणार्थ तोता, मोर, हंस, सुग्गा आदि को पालना चाहिए।

पथ्य—स्थावर एवं जंगम विषों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए—अगहनी एवं साठी का चावल, कोदों का चावल, टाँगुन का चावल दें। सेंधानमक दें। शाक में चौलाई, जीवन्ती, बैंगन, चौपतिया, चेंचू, मण्डूकपर्णी और परवर। अम्लों में आँवला और अनार दें। दाल में मूँग और अरहर की दाल का यूष दें। मांसरस—हरिण, मोर, साही, लवा पक्षी, तित्तिर और विन्दुवाला हरिण, इनका मांसरस उत्तम है। विषघ्न औषधों से सिद्ध मांसरस और यूष तथा अविदाही अन्न पथ्य है।

अपथ्य—विरुद्ध भोजन, अध्यशन, क्रोध करना, भूखा रहना, भय, श्रमजनक कार्य, मैथुन और दिन में सोना अहितकर है।

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'मदात्ययचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—विष और मद्य दोनों समान गुणवाले तथा मूर्च्छा आदि के जनक होते हैं। अविधि-सेवित मद्य भी विषवत् होता है। अतः विष की समानता होने के कारण विष-चिकित्सा के बाद मदात्यय का वर्णन करना प्रासङ्गिक है।

सुरैः सुरेशसहितैर्या पुरा परिपूजिता। सौत्रामण्यां हूयते या कर्मिभिर्या प्रतिष्ठिता॥ ३॥
यज्ञौही या यया शक्रः सोमातिपतितो भृशम्। निरोजस्तमसाऽऽविष्टस्तस्माद्दुर्गात्समुद्धृतः॥
विधिभिर्वेदविहितैर्वा यजद्भिर्महात्मभिः। दृश्या स्पृश्या प्रकल्प्या च यज्ञीया यज्ञसिद्धये॥ ५॥

मद्य की स्तुति—प्राचीनकाल में देवराज इन्द्रसहित देवगणों ने मदिरा का सम्मान के साथ सेवन किया। सौत्रामणि नामक यज्ञ में जिसकी आहुति दी गयी और याज्ञिकों ने जिसका प्रयोग किया, वह मदिरा यज्ञों में प्रयुक्त होने लगी। जब अधिक सोमरस पीने के कारण इन्द्र निर्बल, निर्वीर्य और संज्ञाहीन हो गये थे, तो मदिरा (के सेवन) से ही वे उस कठिन परिस्थिति को पार कर सके और पुनः शक्ति अर्जित की। वेदविहित विधियों से यज्ञ करने वाले महर्षियों ने यज्ञ की सफलताके लिए जिसका दर्शन करना, स्पर्शन करना और निर्माण करना श्रेयस्कर माना है (वह सुरों द्वारा सेवित समादृत और पूजित होने से सुरा नाम से कही जाती है)॥ ३-५॥

योनिसंस्कारनामाद्यैर्विशेषैर्बहुधा च या। भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात्॥ ६॥

मदिरा एकविधा—मदिरा अपने उपादान कारणों (धान्य-फल-मूल-सार-पुष्प-पत्र-काण्ड-त्वचा और शर्करा) की विशेषता से क्वाथन-आसवसन्धान-परिस्रवण आदि संस्कारों की विशेषता से और मैरेय, मधु, सुरा आदि नामों की विशेषता से अनेक प्रकार की होती है। फिर भी मद उत्पन्न करने के गुण के कारण सब में समानता होने से उसे एकविध कहा जाता है॥ ६॥

या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या। सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः॥

मदिरा के कल्याणकारी स्वरूप—मदिरा अमृत के रूप में देवताओं को, स्वधा के रूप में पितरों को और सोम के रूप में द्विजातियों को आरोग्य, तुष्टि और पुष्टि आदि गुणों से सम्पन्न बनाती है। इस प्रकार यह देवता, मनुष्य और पितर इन सबका पोषण करती है॥ ७॥

आश्विनं या महत्तेजो बलं सारस्वतं च या। वीर्यमैन्द्रं च या सिद्धा सोमः सौत्रामणौ च या॥ ८॥
शोकारतिभयोद्वेगनाशिनी या महाबला। या प्रीतिर्या रतिर्या वाग्या पुष्टिर्या च निर्वृतिः॥ ९॥
या सुरासुरगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः। रतिः सुरेत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिबेत्॥ १०॥

सुरा सेवन के लाभ—जो सुरा अश्विनीकुमारों का महान् तेजःस्वरूप है, जो सरस्वती का बल-स्वरूप है, जो इन्द्र का वीर्यस्वरूप है, जो सौत्रामणि यज्ञ में सिद्ध सोमरसरूप है; जो महाबलशालिनी और शोक, व्यग्रता, भय और उद्वेग को नष्ट करती है; जो स्नेह उपजाती है, आकांक्षाओं को जन्म देती है, वाणी

को ओजस्विनी बनाती है, जो शरीर में पौष्टिकता प्रदान करती है तथा अतिशय संतृप्ति देती है; देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और मनुष्य, जिसे रति या सुरा कहते हैं, उस सुरा का विधिपूर्वक पान करना चाहिए॥ ८-१०॥

शरीरकृतसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान्। प्रावृतो निर्मलैर्वस्त्रैर्यथर्तूद्दामगन्धिभिः॥ ११॥
विचित्रविविधस्रग्वी रत्नाभरणभूषितः। देवद्विजातीन् सम्पूज्य स्पृष्ट्वा मङ्गलमुत्तमम्॥ १२॥
देशे यथर्तुके शस्ते कुसुमप्रकरीकृते। संवाससम्मते मुख्ये धूपसम्मोदबोधिते॥१३॥
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने। उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः॥ १४॥
सौवर्णे राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि। भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत्सदा॥ १५॥
रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः। वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः॥ १६॥
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः। संवाह्यमान इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम्॥ १७॥
मद्यानुकूलैर्विविधैः फलैर्हरितकैः शुभैः। लवणैर्गन्धपिशुनैरवदंशैर्यथर्तुकैः॥॥१८॥
भृष्टैर्मांसैर्बहुविधैर्भूजलाम्बरचारिणाम्। पौरोगवर्गविहितैर्भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः॥ १९॥
पूजयित्वा सुरान् पूर्वमाशिषः प्राक् प्रयुज्य च। प्रदाय सजलं मद्यमर्थिभ्यो वसुधातले॥ २०॥

सुरापान की विधि और उसके प्रायोजक तत्त्व : मद्यपान का पूर्वकर्म—अभ्यङ्ग और स्नान करके शरीर को सुसंस्कृत और स्वच्छ कर पवित्र हो जाये तथा ललाट आदि पर मलयज चन्दन का अनुलेपन एवं इत्र आदि सुगन्ध धारण करे। ऋतु के अनुकूल उत्कृष्ट गन्ध द्रव्यों से सुवासित निर्मल वस्त्र पहने। अनेक वर्ण के पुष्पों से निर्मित मालाएँ पहने। रत्नमय हीरे-जवाहरात जड़े अलंकरणों को धारण करे। फिर देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा कर उन्हें संत्कृत कर मांगलिक द्रव्यों का स्पर्श करे। अपने बैठने या सोने का स्थान ऋतु के अनुकूल आरामदेह, निरापद, पुष्पोद्यान से सुसज्जित, निवास के लिए समुचित, धूप-कर्पूर-राल-जटामांसी-गुग्गुल आदि से धूपित एवं आमोदित तथा प्रत्येक दृष्टि से अनुकूल और प्रशस्त होना चाहिए। बैठने या लेटने के लिए विविध प्रकार के गद्दे-गद्दियों से सुसज्जित कुर्सियाँ आराम कुर्सियाँ, चारपाइयाँ, मसनद आदि विस्तार के साथ लगाये गये हों।

सुरा का पान—मनपसन्द आसन पर बैठे या लेट जाये जिससे शरीर आराम की मुद्रा में हो। तदनन्तर सोने-चाँदी या मणियों से बने सुन्दर चित्र-विचित्र पात्रों में सुरा का पान करना चाहिए। मनोहारिणी, रूपवती, युवावस्था के मद में मदहोश, प्रिया, शिक्षिता, सुन्दर युवतियाँ, ऋतु के अनुकूल वस्त्र-आभरण एवं मालाओं से आभूषित होकर, स्वच्छता और अनुराग से युक्त मन से पात्रों में सुरा दे रही हों एवं अपने कुसुम कोमल करों से शरीर का सुखद संवाहन कर रही हों।

सुरा के सहकारी अवदंश—सुरा के साथ अनुकूल पड़नेवाले नानाविधि फलों, अदरख-लहसुन-धनिया की पत्ती, हरी मिर्च, टमाटर और नीबू के सलाद, ऋतुजन्य शाक द्रव्यों, स्थलचारी-जलचारी या गगनचारी जीवों के भुने मांसों और पाकशास्त्र के विशेषज्ञों द्वारा निर्मित विविध भक्ष्य पदार्थों के साथ सुरा का पान करना चाहिए।

सुरापान के पूर्व देवताओं की पूजा एवं मंगल पाठ करके जलमिश्रित सुरा का कुछ अंश सुरायाचकों के नाम पृथ्वी पर गिरा देना चाहिए॥ ११-२०॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानवासोधूमानुलेपनैः। स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैर्वातिको मद्यमाचरेत्॥ २१॥

वातप्रकृति पुरुष के सुरापान का विधान—वातप्रकृति के पुरुष को चाहिए कि शरीर में खूब अच्छी तरह तैल की मालिश करके, उबटन लगवाकर स्नान करे। फिर उत्तम वस्त्र पहने, धूप सेवन करे और चन्दन आदि या केशर-कस्तूरी आदि का लेपन कर, घी आदि स्निग्ध द्रव्यों से संस्कृत उष्ण भोजन करने के पश्चात् सुरा का पान करे॥ २१॥

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः। पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबन्मद्यं न सीदति॥ २२॥

पित्तप्रकृति पुरुष के सुरापान का विधान—पित्तप्रकृति का व्यक्ति विविध प्रकार के शीतल स्नानानुलेपनादि से युक्त होकर, मधुर एवं स्निग्ध अन्नों का सेवन कर मद्यपान करे। ऐसा करने से उसे कोई विकार या उपद्रव नहीं होता॥ २२॥

उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत्। श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मारिचकैः सह॥ २३॥

कफप्रकृति पुरुष के सुरापान का विधान—कफ प्रकृति का व्यक्ति उष्ण अभ्यंग, उबटन, स्नान एवं अनुलेपन आदि उपचारों को करता हुआ यव और गेहूँ से बने पकवान का आहार करे एवं जांगल पशु-पक्षियों के मांस पकाकर मरिच डालकर खाने के पश्चात् सुरापान करे॥ २३॥

विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्विभवाश्च ये। यथोपपत्ति तैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम्॥ २४॥

आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार सुरापान—ऊपर में जो सुरापान का विधान बतलाया गया है, वह धनवान् पुरुषों के लिए है। जिन व्यक्तियों के पास वर्तमान में धन न हो, किन्तु भविष्य में धन हो जाने की आशा हो, ऐसे व्यक्तियों को अपनी स्थिति के अनुसार साधन-सामग्री जुटाकर मात्रापूर्वक सुरापान करना चाहिए। इसी में उनका हित और कल्याण है॥ २४॥

वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम्। कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मार्द्वीकं माधवं च यत्॥

दोष-प्रकृति के अनुसार मद्य के प्रकार सेवनीय—जो लोग वात प्रकृति के हों, उनके लिए प्रायशः गुड़ से बना या चावल की पिट्ठी से बना मद्य उपयुक्त होता है और जो कफ अथवा पित्त प्रकृति के हों, उनके लिए क्रमशः मुनक्के से बनी तथा महुए से बनी सुरा हितकर होती है॥ २५॥

बहुद्रव्यं बहुगुणं बहुकर्म मदात्मकम्। गुणैर्दोषैश्च तन्मद्यमुभयं चोपलक्ष्यते॥ २६॥
विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्। प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा॥ २७॥
यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद्येन पीयते। रूक्षव्यायामनित्येन विषवद्याति तस्य तत्॥ २८॥

सविधि सुरापान अमृत और अविधि सुरापान विषवत्—मदिरा अनेक प्रकार के द्रव्यों से एकल या संयुक्तरूप से बनायी जाती है। उसमें लघु-उष्ण-तीक्ष्ण आदि बहुत (१०) से गुण होते हैं और वह लेखन-दीपन आदि अनेक कर्म करती है। मद उत्पन्न करना उसका स्वभाव है। वह प्रथम मद में तथा विधिपूर्वक पान करने पर गुणकारक और द्वितीयादि मद एवं अविधिपूर्वक पान करने पर दोषकारक है।

जो व्यक्ति पीयमान मद्य के विपरीत गुणवाले काल में पूर्वोक्त विधि के अनुसार मात्रापूर्वक मद्य की दृष्टि से हितकर आहार के साथ अपने शरीरबल के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक मदिरा पीता है, उसके लिए वह मदिरा अमृत के समान जीवनदायिनी होती है।

जो व्यक्ति रूक्ष आहार-विहारवाला हो, नित्य व्यायाम करता हो, वह बिना विचारे जिस किसी तरह की मदिरा अधिक मात्रा में पी ले तो वह मदिरा उसके लिए विषपान के समान हानिकारक होती है॥ २६-२८॥

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्॥ २९॥
लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च। रूक्षं विकासि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ ३०॥
गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ ३१॥
गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः। माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात्प्रसादं चाशुभावनात्॥ ३२॥
रौक्ष्यात् स्नेहं व्यवायित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि।
विकासिभावात्पैच्छिल्यं वैशद्यात् सान्द्रतां तथा॥ ३३॥

सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान्।
सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम्॥ ३४॥

मदात्यय की सम्प्राप्ति : मद्य की मादकता—मद्य हृदय को अपने प्रभाव से आक्रान्त कर हृदयस्थ ओज के गुरु आदि दश गुणों को अपने लघु आदि दश गुणों से संक्षुब्ध कर मन को विकारग्रस्त बना देता है।

मद्य के १० गुण—मद्य को १. लघु, २. उष्ण, ३. तीक्ष्ण, ४. सूक्ष्म, ५. अम्ल, ६. व्यवायी, ७. आशुग, ८. रूक्ष, ९. विकासी और १०. विशद गुणयुक्त कहा गया है।

ओज के १० गुण—ओज के १. गुरु, २. शीत, ३. मृदु, ४. श्लक्ष्ण, ५. बहल, ६. मधुर, ७. स्थिर, ८. प्रसन्न, ९. पिच्छिल और १०. स्निग्ध गुणयुक्त कहा गया है।

मद्य के १० गुणों से ओज के १० गुणों का क्षोभ—मद्य १. अपने लघुगुण से ओज के गुरुगुण को नष्ट करता है, २. अपने उष्णगुण से ओज के शीतगुण को, ३. अपने अम्लगुण से ओज के मधुर गुण को, ४. तीक्ष्णगुण से ओज के मृदुगुण को, ५. आशुगगुण से ओज के प्रसाद (प्रसन्न) गुण को, ६. रूक्षगुण से ओजके स्निग्धगुण को, ७. व्यवायीगुण से ओजके स्थिरगुण को, ८. विकासीगुण से ओज के श्लक्ष्णगुण को, ९. विशदगुण से ओज के श्लक्ष्णगुण को और १०. सूक्ष्मगुण से ओज के बहल (सान्द्र-गाढ़ापन) गुण को नष्ट करता है। इस प्रकार मद्य अपने दश गुणों से ओज के दश गुणों को नष्ट कर ओज के आश्रित मन को शीघ्र विचलित कर देता है और मद उत्पन्न करना है॥ २९-३४॥

वक्तव्य—आशुग और व्यवायी, ये दोनों गुण शीघ्रगामी होने से समान प्रतीत होते हैं, किन्तु इन दोनों में अन्तर होता है, जैसे—आशुग शीघ्र गमनशील होता है और सर्वव्यापक नहीं होता। जबकि व्यवायी गुण सर्वव्यापी होता है और शीघ्र फैलता है। यद्यपि विकासी तथा आशुग आदि गुण बीस गुणों की गणना में नहीं गिने गये हैं, फिर भी असंख्येय गुण होते हैं। इसलिए ये भी गुण माने गये हैं। जिन्हें बीस गुणों में गिना गया है, वे बहु प्रचलित गुण हैं।

मद्य के १० गुण

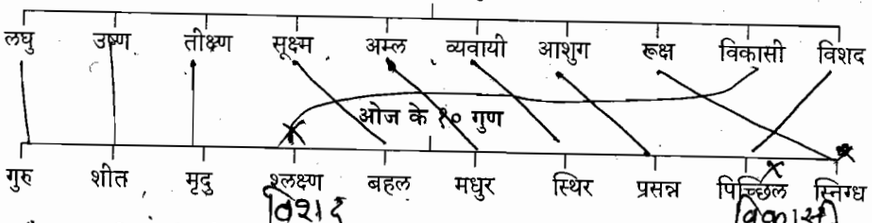

रसवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्। प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते॥ ३५॥

रसादि का स्थान हृदय—रस, वात आदि के मार्गों का, मन, बुद्धि, इन्द्रियों का, आत्मा का और पर ओज का स्थान हृदय कहा जाता है॥ ३५॥

अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत्। हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः॥ ३६॥

अति मद्यपान का दोष—जब अधिक मात्रा में मद्यपान किया जाता है, तो उससे ओज के गुण नष्ट हो जाते हैं, जिसके कारण हृदय तथा हृदयस्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि धातुएँ भी विकृत हो जाती हैं॥ ३६॥

वक्तव्य—मन आदि का स्थान हृदय कहा गया है—'…विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्—(च० सू० ३०-४)। आत्मा आदि को पहले भी धातु कहा गया है—'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'(च० शा० १)।

ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते। मध्यमो विहतेऽल्पे च विहते तूत्तमो मदः॥ ३७॥

मद्य की तीन अवस्थाएँ—(१) मदिरा का पान करने के पश्चात् जब तक ओज के गुणों का ह्रास या विनाश नहीं होता है और हृदय प्रसन्न होने से मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ पहले की अपेक्षा अधिक जागरूक हों, तो वह प्रथम मद है। (२) जब मद्यपानजनित ओज के गुणों का अंशतः ह्रास हो, तो वह द्वितीय मद है, जिसे मध्यम मद कहते हैं। (३) जब मदिरा के प्रभाव से ओज के गुण नष्ट हो जाते हैं, तो वह उत्तम मद या तृतीय मद की अवस्था है॥ ३७॥

नैवं विघातं जनयेन्मद्यं पैष्टिकमोजसः। विकासिरूक्षविशदा गुणास्तत्र हि नोल्बणाः॥ ३८॥

चावल के चूर्ण की मदिरा अति ओजोविघातक नहीं—ओजोविघातक विकासी, रूक्ष और विशद गुणों के अधिक उग्र रूप में चावल के आटे में न होने से उससे निर्मित मद्य अधिक अंश में ओज का ह्रास नहीं करता है॥ ३८॥

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम्। विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः॥ ३९॥
जायन्ते मोहनिद्रान्ता मद्यस्यातिनिषेवणात्। स मद्यविभ्रमो नाम्ना 'मद' इत्यभिधीयते॥ ४०॥

मद का लक्षण और भेद—जब मद्य के लघु, उष्ण आदि गुण हृदय (मन) को प्रभावित कर देते हैं, तो सत्त्वगुणप्रधान व्यक्ति को प्रसन्नता, विषयों की अभिलाषा, प्रेम और सुख का अनुभव होता है। रजोगुणप्रधान व्यक्ति को नाना प्रकार के दर्प, अभिमान आदि राजस भाव जाग्रत् होते हैं और तमोगुण-प्रधान व्यक्ति जब अधिक मात्रा में मद्यपान करता है, तो उसे सम्मोह, क्रोध तथा निद्रा आती है। इस मद्यज भ्रान्त धारणा को 'मद' नाम से कहा जाता है॥ ३९-४०॥

पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्यास्त्रयो मदाः। प्रथमो मध्यमोऽन्त्यश्च लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे॥

मद्य के तीन प्रकार—मद्यपान के परिणामस्वरूप तीन प्रकार के मदों (नशे की अवस्थाओं) को जानना चाहिए—१. प्रथम मद, २. मध्यम या द्वितीय मद और ३. उत्तम, अन्त्य या तृतीय मद। आगे इनके लक्षण कहेंगे॥ ४१॥

प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः। वाद्यगीतप्रहासानां कथानां च प्रवर्तकः॥ ४२॥
न च बुद्धिस्मृतिहरो विषयेषु न चाक्षमः। सुखनिद्राप्रबोधश्च प्रथमः सुखदो मदः॥ ४३॥

प्रथम मद के लक्षण—प्रथम मद (नशा का हल्का आसार या गुलाबी नशा) आनन्दवर्धन, प्रीतिवर्धन और खाने-पीने की वस्तुओं के गुणों की अनुभूति कराने वाला होता है। यह बाजा बनाने, गीत गाने और हास-परिहास तथा कथा-वार्ता में रुचि उत्पन्न करता है। न तो यह बुद्धि और स्मृति का अपहरण करता है, न ही इन्द्रियों को अपने विषयग्रहण की शक्ति से वंचित करता है। अच्छी नींद लाता है और जब नींद खुलती है, तो सुख का अनुभव कराता है। इस प्रकार का यह प्रथम मद सुखप्रद होता है॥ ४२-४३॥

मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहो व्यक्ताऽव्यक्ता च वाङ्मुहुः। युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रचलायनमेव च॥ ४४॥
स्थानपानान्नसांकथ्ययोजना सविपर्यया। लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे॥ ४५॥

मध्यम मद के लक्षण—मद्यपान करने पर जब मध्यम कोटि का मद मन को प्रभावित करता है, तब रह-रहकर याद आती है, फिर विस्मृति हो जाती है। कभी तो साफ बोली निकलती है और कभी अस्पष्ट निकलती है। वह व्यक्ति कभी ठीक-ठीक बात करता है और कभी असम्बद्ध बात या प्रलाप करने लगता है। वह इधर-उधर भाग-दौड़ करता रहता है। उसके बैठने के स्थान में, खाने-पीने में और वार्तालाप के प्रसङ्ग में अनिश्चितता होती है और उलट-फेर होता रहता है। इन लक्षणों को देखकर 'मध्यम मद' जानना चाहिए॥ ४४-४५॥

मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम्। न किंचिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः॥ ४६॥
को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम्। गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः॥ ४७॥

मध्यम और उत्तम मद का सन्धिकाल—राजस और तामस प्रकृति के मद्यप व्यक्ति जब मध्यम मदावस्था का अन्तिम छोर पार कर उत्तम मदावस्था के दरवाजे पर दस्तक दे रहे होते हैं, तो मध्यम और उत्तम मद के इस सन्धिकाल में वे किसी भी प्रकार का अशुभ हानिप्रद कार्य कर सकते हैं। महाभयंकर उन्माद जैसी इस स्थिति में कौन विद्वान् अपने को फँसाना चाहेगा? जैसे अनेक हिंसक जीवों के आश्रयभूत कण्टकाकीर्ण प्राणघातक पथ पर कौन पथिक चलने को उद्यत होगा?॥ ४६-४७॥

वक्तव्य—यह मदावस्था उक्त तीन मदावस्थाओं में ही अन्तर्भूत है। इसे विशेष निन्द्य कहना अभीष्ट है, इसलिए इसका अलग से वर्णन किया गया है। यह द्वितीय मदावस्था का अन्तकाल और तृतीय मदावस्था का आदिकाल है। इसका विशेष अभिप्राय तृतीय मदावस्था के पूर्वरूप में होनेवाले उत्पाती स्वभाव की निन्दा करना है।

तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः। मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः॥ ४८॥
रमणीयान् स विषयान्न वेत्ति न सुहृज्जनम्। यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति॥ ४९॥
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम्। यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद्बुधः॥
स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चाग्राह्य एव च। व्यसनित्वादुदर्के च स दुःखं व्याधिमश्नुते॥ ५१॥

तृतीय मद के लक्षण—मद्यपान करने वाला व्यक्ति जब मद की तृतीयावस्था (नशे की चरमसीमा) में पहुँचता है, तो वह छिन्नमूल वृक्ष की तरह अचानक मूर्छित होकर धराशायी हो जाता है। वह निश्चेष्ट हो जाता है मद और बेहोशी के आवरण से उसका मन आवृत हो जाता है। जीवित होते हुए भी वह मरे हुए जैसा होता है। उसे मनोरम सुखद प्रसङ्ग का भी ज्ञान नहीं होता। वह अपने शुभचिन्तक जनों को नहीं जानता-पहचानता है। जिस आनन्द को पाने की लालसा से वह मद्य पीता है, उसे उसकी कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। उसे कर्तव्य-अकर्तव्य, सुख-दुःख, हित-अहित का ज्ञान नहीं होता। कौन बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी दुरवस्था में पहुँचना पसन्द करेगा? मद की यह तृतीयावस्था प्राणिमात्र के लिए दोषपूर्ण है, निन्दनीय है और त्याज्य है। मद्यप व्यक्ति जब इस व्यसन (बुरी लत) का शिकार हो जाता है, तो अन्ततोगत्वा वह कष्टप्रद व्याधि (मदात्यय) को भोगने के लिए विवश हो जाता है॥ ४८-५१॥

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत्परम्। मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥ ५२॥

मन की एकाग्रता कल्याणप्रद—इस लोक में या मृत्यु के बाद शरीरधारियों को जो कल्याण प्राप्त होता है अथवा मोक्ष प्राप्त होने पर जो परम कल्याण उपलब्ध होता है, वह सब कुछ मन की एकाग्रता और चित्तवृत्तियों के निरोध पर निर्भर है॥ ५२॥

मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान्। महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः॥ ५३॥
मद्यप्रसङ्गं तं चाज्ञा महादोषं महागदम्। सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः॥ ५४॥
मद्योपहतविज्ञाना वियुक्ताः सात्विकैर्गुणैः। श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मदलालसाः॥ ५५॥
मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः। सोन्मादमदमूर्च्छाद्याः सापस्मारापतानकाः॥
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधुवत्। इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं गर्हन्ति यत्नतः॥ ५७॥

मद्यनिन्दक एकीय मत : मद्य से मन का क्षोभ—जिस प्रकार नदी के तटप्रदेश (अड़ार) में स्थित वृक्ष को वायु का प्रबल वेग जोरों से झकझोर देता है, उसी तरह मद्य भी अपने प्रभाव से मन को क्षुब्ध कर झकझोर देता है।

मद्य दोषों की खान और रोगों का जनक—रजोगुण और मोह से ग्रस्त मूर्खजन दोषों की खान और भयंकर रोगों के उत्पादक मद्यपान को भी सुखजनक समझते हैं।

मद्य के दोष—मदिरापान की प्रबल लालसा वाले मदान्ध लोग अपना विवेक और ज्ञान खो बैठते हैं, तथा सात्त्विक गुणों से भी हीन हो जाते हैं एवं उनका कल्याण नहीं होता।

मद्यपानजन्य विकार—मद्य में मोह, भय, शोक, क्रोध और मृत्यु का निवास है और उन्माद, मद, मूर्च्छा, अपस्मार और अपतानक आदि रोगों का भी वह आश्रयस्थल है।

मद्य से स्मरणशक्ति का नाश—जिस मद्य के सेवन से स्मरणशक्ति का नाश हो जाता है, उस मद्य में सब कुछ दुष्टतापूर्ण है। इस प्रकार मद्य के दोषों को जाननेवाले लोग प्रयत्नपूर्वक मद्य की निन्दा करते हैं (और उसके पीने का निषेध करते हैं)॥ ५३-५७॥

सत्यमेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः। अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम्॥ ५८॥
किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्। अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्॥ ५९॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥ ६०॥

मद्यपान विषयक स्वमत—मद्य के जो महादोष कहे गये हैं, वे सही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है; जबकि विधिरहित, अहितकर मद्य का अधिक मात्रा में पान किया जाये। किन्तु स्वभावतः मद्य जैसा अन्न है वैसा ही है। जब मद्य का सेवन विधि-विधान की उपेक्षा करके किया जाता है, तब वह रोग को उत्पन्न करता है और विधिपूर्वक सेवन करने पर मद्य अमृत के समान गुणकारी होता है।

युक्ति का महत्त्व—प्राणियों के जीवन का आधार अन्न है, किन्तु जब उसका विधिरहित ढंग से उपयोग किया जाता है, तो वह जीवननाशक हो जाता है। विष प्राणहर होता है, किन्तु शोधन करके अल्पमात्रा में युक्तिपूर्वक प्रयोग किये जाने पर वह रसायन हो जाता है। इसी प्रकार युक्तियुक्त मद्य भी जीवन को सानन्द रखता है॥ ५८-६०॥

हर्षमूर्जं मुदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम्। युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं सुखमदप्रदम्॥ ६१॥

युक्तिपूर्वक मद्यपान के गुण—विधिपूर्वक पान किया गया मद्य शीघ्र ही प्रसन्नता, बल, मनस्तुष्टि, पुष्टि, आरोग्य, शुक्रवृद्धि और सुखदायक नशा लानेवाला होता है॥ ६१॥

रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम्। प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम्॥ ६२॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विबोधनम्। बोधनं चातिनिद्राणां विबद्धानां विबन्धनुत्॥
वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम्। मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम्॥ ६४॥
रतिर्विषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्धनम्। अपि प्रवयसां मद्यमुत्सवामोदकारकम्॥ ६५॥

मद्य के गुण—मद्यपान भोजन में रुचि उत्पन्न करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है, हृदय के लिए हितकर है, स्वर तथा वर्ण में निखार लाता है, प्रसन्नताजनक है, शरीर को स्थूल बनाता है, बल को बढ़ाता है, भय-शोक-थकावट को मिटाता है, जिन्हें नींद नहीं आती है, उन्हें निद्रा देता है, जिनकी वाणी नष्ट हो गयी हो, उनको मुखर और वक्ता बनाता है, जिन्हें अधिक नींद आती है, उनको जगाये रखता है, जिनको मलावरोध रहता है उनके विबन्ध को दूर करता है, प्रहार-बन्धन और क्लेशजन्य दुःखों का विस्मरण कराता है। अविधिपूर्वक मद्यपान से होनेवाले रोगों को विधिपूर्वक किया गया मद्यपान दूर करता है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध के प्रति विशेष अनुराग उत्पन्न करता है। प्रेमपूर्वक स्त्रीविषयक संयोग की कामना को बढ़ाता है। वृद्ध व्यक्तियों में भी विषयों के उपभोग की उत्सुकता और हर्ष-प्रहर्ष उत्पन्न करता है॥ ६२-६५॥

पञ्चस्वर्थेषु कान्तेषु या रतिः प्रथमे मदे। यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि॥ ६६॥

प्रथम मद निरुपम आनन्दप्रद—चाहे युवा हों या वृद्ध, उन्हें मद्यपानजनित प्रथम मद की स्थिति में पहुँचने पर शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध, इन पाँचों इन्द्रियार्थों के प्रति जो अतिशय स्नेहसुखानुभूति होती है, इस धरातल पर उस आनन्द की कोई उपमा नहीं है॥ ६६॥

बहुदुःखहतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च। विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम्॥ ६७॥

युक्तियुक्त मद्यपान से विश्रान्ति—अनेकानेक दुःखों से पीड़ित और शोक से सन्तप्त प्राणिमात्र जब युक्तिपूर्वक मद्यपान करते हैं, तो वह उनके लिए शान्तिप्रद होता है॥ ६७॥

अन्नपानवयोव्याधिबलकालत्रिकाणि षट्। त्रीन्दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत्सदा॥ ६८॥
तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते। यया युक्त्या पिबन्मद्यं मद्यदोषैर्न युज्यते॥ ६९॥

आठ त्रिकों की योजना ही मद्यपान की युक्ति—१. अन्नत्रिक (वातकर, पित्तकर, कफकर), २. पान या पेयत्रिक (वातकर, पित्तकर, कफकर), ३. वयस्त्रिक (बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था), ४. व्याधित्रिक (मृदु, मध्य, दारुण), ५. बलत्रिक (प्रवर, मध्यम, अवर), ६. कालत्रिक (शीत, उष्ण, वर्षा), ७. दोषत्रिक (वात, पित्त, कफ) और ८. सत्त्वत्रिक (सात्त्विक, राजस, तामस), इन आठ त्रिकों का विचार करके ही सदैव मदिरापान करना चाहिए।

इन आठ त्रिकों की योजना समुचित रूप से करना ही युक्ति है, यथा—वातकारक अन्न खाकर वातहर मद्य पीना, पित्तकारक अन्न खाकर पित्तहर मद्य पीना और कफकारक अन्न खाकर कफहर मद्य पीना चाहिए। इसी प्रकार पान की सम्यक् योजना करनी चाहिए। वय की वृद्धि से वृद्धावस्था और बाल्यावस्थामें तीक्ष्ण मद्य नहीं पीना चाहिए, युवावस्था में तीक्ष्ण मद्य भी पेय है। व्याधि की अपेक्षा, जैसे मृदुव्याधि में तीक्ष्ण-उष्ण मद्य पेय है। काल की दृष्टि से उष्णकाल में शीत और मधुर तथा वर्षाकाल में स्निग्ध और दीपन मद्य पीना चाहिए। दोष की दृष्टि से वातविकार में स्निग्ध और उष्ण गौड आदि मद्य, पित्तविकार में शीत और मधु, शार्कर आदि तथा कफविकार में रूक्ष और तीक्ष्ण मधुनिर्मित मद्य का पान करना चाहिए। सत्त्वभेद से, सात्त्विक व्यक्ति हो, वह अधिक मद्य पी सकता है, किन्तु राजस और तामस मन वालों को स्वल्प मद्य पीना चाहिए। यही वह युक्ति है, जिसके अनुसार योजना करके मद्यपान करने से कोई मद्यजन्य विकार नहीं होता है॥ ६८-६९॥

आठ त्रिक

अन्नत्रिक	पानत्रिक	वयस्त्रिक	व्याधित्रिक	बलत्रिक	कालत्रिक	दोषत्रिक	सत्त्वत्रिक
↓	↓	↓	↓	↓	↓	↓	↓
वातकर	वातकर	बाल्य	मृदु	उत्तम	शीत	वात	सात्त्विक
कफकर	कफकर	युवा	मध्य	मध्यम	उष्ण	पित्त	राजस
पित्तकर	पित्तकर	वार्धक्य	दारुण	अवर	वर्षा	कफ	तामस

मद्यस्य च गुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते। धर्मार्थयोरपीडायै नरः सत्त्वगुणोच्छ्रितः॥ ७०॥

सम्यग्योजना कर मद्य पीने से लाभ—जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ त्रिकों का विचार कर उनके अनुसार योजना बनाकर मद्यपान करता है, उसका मद्यपान उस मद्यपायी व्यक्ति को धार्मिक या आर्थिक क्रियाकलाप में बाधा नहीं पहुँचाता है, अपितु वह पुरुष सत्त्वगुणाधिक हो जाता है॥ ७०॥

सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे। द्वितीयेऽव्यक्ततां यान्ति मध्ये चोत्तममध्ययोः॥ ७१॥
सस्यप्रबोधकं वर्षं, हेमप्रकृतिदर्शकः। हुताशः, सर्वसत्त्वानां मद्यं तूभयकारकम्॥ ७२॥

प्रधानावरमध्यानां रूपाणां व्यक्तिदर्शकः। यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम्॥ ७३॥

मद्य मनःप्रबोधक और मनोगुणदर्शक—प्रायः मद्यपानजनित प्रथम मद की स्थिति में सात्त्विक, राजस या तामस मन जाग्रत् हो जाते हैं। द्वितीय मद में वे व्यक्त हो जाते हैं और द्वितीय के अन्त तथा तृतीय की आदि मदावस्था में तीनों प्रकार के मन अधिक व्यक्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार वर्षा का जल पाकर खेती लहलहाने लगती है और आग में तपाये गये सोने में निखार और चमक-दमक आ जाती है, उसी तरह मद्य के चषक का पान कर आदमी की आदमियत चहचहाने लगती है और उसका स्वभाव प्रकट हो जाता है, क्योंकि मद्य मद के पटलों को अनावृत कर उसे जाग्रत् एवं प्रबुद्ध बना देता है और मन के गुणों को प्रदर्शित कर देता है।

अग्नि जिस प्रकार सुवर्ण के तपाये जाने पर उसके उत्तम, मध्य और हीन स्वरूपों को प्रदर्शित कर देती है, उसी तरह मद्य मनुष्यों के सात्त्विक, राजस और तामस मन को उभाड़कर सामने ला देता है॥ ७१-७३॥

सुगन्धिमाल्यगन्धर्वं सुप्रणीतमनाकुलम्। मिष्टान्नपानविशदं सदा मधुरसङ्कथम्॥ ७४॥
सुखप्रपानं सुमदं हर्षप्रीतिविवर्धनम्। स्वन्तं सात्त्विकमापानं न चोत्तममदप्रदम्॥ ७५॥

सात्त्विक आपान का पर्यावरण—जिस आपानगोष्ठी के सदस्य मधुर भीनी सुगन्धित इत्र और पुष्पमालाओं से सुगन्ध बिखेर रहे हों, सङ्गीत और वाद्य की मधुरिम ध्वनि से वातावरण गुञ्जित हो रहा हो, जिसकी साजसज्जा सुन्दर ढंग से की गयी हो, जहाँ जनसम्मर्द और भीड़-भाड़ या व्याकुलता न हो, जहाँ बड़ी स्वच्छता के साथ मिठाइयाँ और खाने-पीने की वस्तुएँ सुसज्जित करके रखी गयी हों, जहाँ हमेशा मधुर कथावार्ता हास-परिहास का प्रसङ्ग हो, जिसकी कड़ी टूटती न हो, जो हर दृष्टि से आनन्दप्रद हो, जहाँ हर्ष और प्रीति को बढ़ाने वाली तथा हल्की नशा लाने वाली उत्तम मद्य सुलभ हो, जहाँ का मद्यपान उत्तम परिणामकारक हो और उत्तम मद की स्थिति लानेवाला न हो उसे सात्त्विक आयान कहते हैं॥ ७४-७५॥

वैगुण्यं सहसा यान्ति मद्यदोषैर्न सात्त्विकाः। मद्यं हि बलवत्सत्त्वं गृह्णाति सहसा न तु॥ ७६॥

सात्त्विक एवं प्रवर मन पर मद्य का प्रभाव—जो सात्त्विक मन के पुरुष होते हैं, वे मद्य के प्रभाव से विलम्ब से प्रभावित होते हैं। उन पर मद्य का शीघ्र प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार जिनका मनोबल प्रबल होता है, उन पर भी सहसा मद्य का प्रभाव नहीं पड़ता॥ ७६॥

सौम्यासौम्यकथाप्रायं विशदाविशदं क्षणात्। चित्रं राजसमापन्नं प्रायेणास्वन्तमाकुलम्॥ ७७॥

राजस आपान—जिस आपानगोष्ठी में थोड़ी देर के लिए सुन्दर, शान्त, सुखद वातावरण रहता हो और शीघ्र ही इसके एकदम विपरीत अप्रिय प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता हो, कुछ देर सभ्यतापूर्ण, फिर असभ्य वातावरण हो जाता हो; कभी सुसम्बद्ध बात-चीत चले और फिर असम्बद्ध अप्रासङ्गिक बातें होने लग जायँ; जहाँ भीड़भाड़ और व्याकुलता हो और जिसका परिणाम सुखद न हो, ऐसे आपानक को राजस कहते हैं॥ ७७॥

हर्षप्रीतिकथापेतमतुष्टं पानभोजने। सम्मोहक्रोधनिद्रान्तमापानं तामसं स्मृतम्॥ ७८॥

तामस आपान गोष्ठी—जिस आपान में आनन्द और प्रेमभरी कथावार्ता का अभाव हो, खाने-पीने की वस्तुएँ भी सन्तोषप्रद न हों, जहाँ के लोग प्रायः बेहोशी, क्रोध और निद्रा के शिकार हो जाते हों, ऐसे आपान को तामस कहा गया है॥ ७८॥

आपाने सात्त्विकान् बुद्ध्वा तथा राजसतामसान्।
जह्यात्सहायान् यैः पीत्वा मद्यदोषानुपाश्नुते॥ ७९॥

आपान गोष्ठी में वर्जनीय जन—आपान में सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि साथियों में कौन सात्त्विक, राजस या तामस हैं। उनमें से राजस और तामस या जिनके साथ मद्य पीने से अधिक नशा या अन्य मद्य दोष होने की सम्भावना हो, तो उन्हें छोड़ देना चाहिए॥ ७९॥

सुखशीलाः सुसम्भाषाः सुमुखाः सम्मताः सताम्। कलास्वबाह्या विशदा विषयप्रवणाश्च ये॥
परस्परविधेया ये येषामैक्यं सुहृत्तया। प्रहर्षप्रीतिमाधुर्यैरापानं वर्धयन्ति ये॥८१॥
उत्सवादुत्सवतरं येषामन्योन्यदर्शनम्। ते सहायाः सुखाः पाने तैः पिबन् सह मोदते॥८२॥
रूपगन्धरसस्पर्शैः शब्दैश्चापि मनोरमैः। पिबन्ति सुसहाया ये ते वै सुकृतिभिः समाः॥८३॥
पञ्चभिर्विषयैरिष्टैरुपेतैर्मनसः प्रियैः। देशे काले पिबेन्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥८४॥

आपानगोष्ठी के सुखद सहायक—जो व्यक्ति स्वभाव से ही सदैव सुखी और प्रसन्न रहते हों, जो मधुर और प्रियवाणी बोलते हों, जो दर्शनीय सुन्दर आकृति के हों, जो सज्जनों द्वारा समादृत हों, जो साहित्य-संगीत-वाद्य आदि कलाओं में दक्ष हों, जो साफ-सुथरे स्वभाव के हों, जो रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श, इन विषयों की ओर उत्सुकता के साथ प्रवृत्त होते हों, जो हमदर्द और सुख-दुःख में साथ रहते हों, जो मित्रतावश परस्पर एकता बनाये रखें, ऐसे लोग आनन्द, प्रेम और व्यवहार की मधुरता से आपान को अधिक रमणीय तथा समृद्ध बना देते हैं। जिनका परस्पर संदर्शन और मिलन बड़ा ही आनन्दप्रद होता है, ऐसे व्यक्ति मद्यपान की गोष्ठी में सुख उत्पन्न करते हैं और उनके साथ मद्यपान करने वाला व्यक्ति आनन्द और हर्ष का अनुभव करता है।

जो व्यक्ति मनोहर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श तथा शब्दों के सुखद वातावरण में अपने हितैषी और उत्तम शील-स्वभाववाले साथियों के साथ मद्यपान करते हैं, वे पुण्यशाली महापुरुषों के समान भाग्यशाली होते हैं।

इसलिए मनपसन्द, मनोरम पाँचों इन्द्रियार्थों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) का उपभोग करते हुए, उत्तम स्थान में, उचित समय में, प्रसन्नचित्त होकर मद्यपान करना चाहिए॥८०-८४॥

स्थिरसत्त्वशरीरा ये पूर्वान्ना मद्यपान्वयाः। बहुमद्योचिता ये च माद्यन्ति सहसा न ते॥८५॥
क्षुत्पिपासापरीताश्च दुर्बला वातपैत्तिकाः। रूक्षाल्पप्रमिताहारा विष्टब्धाः सत्त्वदुर्बलाः॥
क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणाः परिश्रान्ता मदक्षताः। स्वल्पेनापि मदं शीघ्रं यान्ति मद्येन मानवाः॥

मादकता के अपात्र—जो व्यक्ति मन और शरीर से स्थिर और दृढ़ होते हैं, जो भोजन करने के पश्चात् मद्यपान करते हैं, जो खानदानी तौर पर मद्यपायी-कुल में जन्म लिये हों और जिन्हें अधिक मात्रा में मद्यपान करने का अभ्यास होता है, उन्हें शीघ्र नशा नहीं चढ़ता है।

नशे के पात्र—जो लोग भूख और प्यास के सताये हों, जो शरीर और मन से दुर्बल हों, जो वात तथा पित्त प्रकृति के हों, जो रूक्ष आहार करते हों, कम भोजन करते हों, किन्हीं दो-एक रसों का ही सेवन करते हों, जो विष्टब्धाजीर्ण के रोगी हों, जो हीन मनोबल के हों, जो क्रोधी हों, जिन्हें मद्यपान की आदत न हो, जो क्षीण हों, जो परिश्रम करने से थके हुए हों या जो मद्य के नशे में पहले ही से सुध-बुध खो चुके हों, ऐसे लोग थोड़ी मात्रा में भी मद्य पीने से शीघ्र ही नशे के शिकार हो जाते हैं॥८५-८७॥

मदात्यय रोग

ऊर्ध्वं मदात्ययस्यातः सम्भवं स्वस्वलक्षणम्। अग्निवेश! चिकित्सां च प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्॥

मदात्यय वर्णन का उपक्रम—हे अग्निवेश! अब यहाँ से (मैं) मदात्यय रोग के कारण और वातादि भेद से उसके लक्षण तथा चिकित्सा का क्रमशः वर्णन करूँगा॥८८॥

स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्शितः। रूक्षाल्पप्रमिताशी च यः पिबत्यतिमात्रया॥८९॥
रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य च। करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम्॥९०॥

वातज मदात्यय का निदान और सम्प्राप्ति—जो व्यक्ति अधिक स्त्री-प्रसङ्ग, शोक, भय, भारवहन या रास्ता चलने से अधिक कृश हो गया हो; रूक्ष, अल्प और किन्हीं एक-दो रसों से युक्त आहार करता हो, जो अधिक मात्रा में मद्य पीता हो और रात में जागरण कर रूक्ष एवं पुराने मद्य का पान करता हो, वह मद्यपान उसे वातज मदात्यय रोग से ग्रस्त बना देता है॥८९-९०॥

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः। विद्याद् बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम्॥९१॥

वातज मदात्यय का लक्षण—जो व्यक्ति हिचकी, श्वास, शिरःकम्प, पार्श्वशूल और अनिद्रा से पीड़ित हो एवं असम्बद्ध प्रलाप कर रहा हो, तो उसे वातज मदात्यय रोग से ग्रस्त समझना चाहिए॥९१॥

तीक्ष्णोष्णं मद्यमम्लं च योऽतिमात्रं निषेवते। अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्न्यातपप्रियः॥
तस्योपजायते पित्ताद् विशेषेण मदात्ययः।

पित्तज मदात्यय का निदान—जो व्यक्ति तीक्ष्ण, उष्ण और अम्ल मद्य का अधिक सेवन करता है और भोजन में भी खट्टे, गरम, तीखे आहार का अधिकांश प्रयोग करता है तथा क्रोधी स्वभाव का होता है एवं धूप और आग के सम्पर्क में रहना जिसे अच्छा लगता है, विशेषकर उसे पित्तज मदात्यय रोग हो जाता है॥९२॥

स तु वातोल्बणस्याशु प्रशमं याति हन्ति वा॥९३॥

तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः। विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम्॥९४॥

पित्तज मदात्यज का लक्षण—यदि पित्तज मदात्यय रोग किसी वातप्रकृति वाले पुरुष को हो जाये, तो (जैसे बाहरी अग्नि हवा का प्रवाह पाकर विनाशकारी हो जाती है, वैसे ही वह सद्यः फलप्रद चिकित्सा के अभाव में) रोगी को मार डालता है अथवा शीघ्र ही उचित उपचार पाकर शान्त हो जाता है। जब शरीर का वर्ण हरित (पीत) हो गया हो और रोगी को प्यास, जलन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार और शिर में चक्कर आ रहा हो, तो उसे पित्तज मदात्यय रोग से ग्रस्त समझना चाहिए॥९३-९४॥

तरुणं मधुरप्रायं गौडं पैष्टिकमेव वा। मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया॥९५॥
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः। मदात्ययं कफप्रायं स शीघ्रमधिगच्छति॥९६॥

कफज मदात्यय का निदान—जो पुरुष मधुररसप्रधान स्निग्ध और भारी आहार करता है और मधुररसप्रधान ताजा मद्य या गुड़ डालकर बनाया हुआ मद्य या चावल के आटे से बना हुआ मद्य अधिक मात्रा में पीता है तथा किसी प्रकार का व्यायाम नहीं करता है, दिन में सोता है, लेटा रहता है या बैठा रहता है, वह शीघ्र ही कफज मदात्यय रोग से आक्रान्त हो जाता है॥९५-९६॥

छर्दिरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः। विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम्॥९७॥

कफज मदात्यय का लक्षण—जो पुरुष शीत लगने से पीड़ित हो और वमन, अरुचि, मुख से पानी छूटते रहना, तन्द्रा, शरीर में गीलापन अनुभव होना तथा भारीपन, इन लक्षणों से युक्त हो, तो उसे कफज मदात्यय से ग्रस्त जानना चाहिए॥९७॥

विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥९८॥
हन्त्याशु हि विषं किञ्चिद् किञ्चिद्रोगाय कल्पते। यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः॥

विष और मद्य में समानता—वात-पित्त-कफ, इन तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाले जो गुण विष में देखे जाते हैं, वे ही गुण मद्य में भी देखे जाते हैं। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि विष में वे गुण अधिक बलवान होते हैं। कोई-कोई विष मारक होता है और कोई रोगजनक होता है, उसी तरह मद्यजनित मद की उत्तमावस्था भी है, जिससे या तो मृत्यु हो जाती है अथवा रोगों की उत्पत्ति होती है॥९८-९९॥

तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये। दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वं चास्य लक्ष्यते॥१००॥

सभी मदात्यय त्रिदोषज—मद्य त्रिदोषप्रकोपक होता है, इसलिए सभी मदात्ययों में तीनों दोषों से होने वाले लक्षण देखे जाते हैं। जब अलग-अलग प्रकार के लक्षण (बिजली की क्षणिक चमक की तरह) दीखते हैं, तो वातज, पित्तज और कफज मदात्यय कहा जाता है॥१००॥

शरीरदुःखं बलवत् संमोहो हृदयव्यथा। अरुचिः प्रतता तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः॥ १०१॥
शिरःपार्श्वास्थिसन्धीनां विद्युत्तुल्या च वेदना। जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः॥
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः। शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः॥
छर्द्यतीसारहृल्लासा वातपित्तकफात्मकाः। भ्रमः प्रलापो रूपाणामसतां चैव दर्शनम्॥ १०४॥
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम्। प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते॥ १०५॥
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च। मदात्ययस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत्॥
सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषम्—

मदात्यय का सामान्य लक्षण—शरीर में अत्यधिक पीड़ा होना, बेहोशी छा जाना, हृदय में वेदना होना, भोजन में अरुचि होना, लगातार प्यास लगना, कभी ठण्डा लगकर तथा कभी गर्मी के साथ ज्वर होना, शिर-पसली-अस्थि तथा सन्धियों में बिजली की चोट जैसी पीड़ा, वेग के साथ जम्भाई आना, अंगों का फड़कना, कम्पन होना, थकावट होना, छाती में जकड़न, खाँसी, हिचकी, श्वास फूलना, अनिद्रा, शरीर काँपना, कान-आँख और मुख के रोगों का होना, त्रिकप्रदेश में जकड़न होना, वमन, अतिसार, मिचली आना, वात-पित्त एवं कफ से होने वाले अन्य रोगों का होना, शिर में चक्कर होना, प्रलाप करना, जो वस्तु सामने न हो उसका भी दिखायी देना, घास-फूस-लता-पत्र और धूल से अपने शरीर को ढकना, मन के विभ्रम से उसे ऐसा आभास होता है कि पक्षी उसके ऊपर आक्रमण कर रहे हैं, मन को बेचैन कर देने वाले खराब-खराब स्वप्नों का दिखायी देना, ये सब मदात्यय रोग में होनेवाले लक्षण जानने चाहिए। सभी प्रकार के मदात्ययरोग को त्रिदोषज जानना चाहिए॥ १०१-१०६॥

—अधिकं तु यम्। दोषं मदात्यये पश्येत् तमादौ प्रतिकारयेत्॥ १०७॥
कफस्थानानुपूर्व्या वा क्रिया कार्या मदात्यये। पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः॥ १०८॥

मदात्यय का चिकित्सासूत्र—मदात्यय रोग में जिस दोष की अधिकता देखें, पहले उसी दोष की चिकित्सा करें अथवा कफस्थान (आमाशय के ऊर्ध्वभाग तथा स्वयं कफ की दृष्टि से लंघन-वमन आदि के द्वारा) आनुपूर्वी पूर्वक मदात्यय की चिकित्सा करनी चाहिए और फिर पित्त, फिर वात की चिकित्सा करनी चाहिए। क्योंकि मदात्यय की अन्तिम अवस्था में पित्त और वायु प्रधान होते हैं तथा जब तक इन दोनों दोषों का शमन नहीं होता, तब तक मदात्यय रोग शान्त नहीं होता॥ १०७-१०८॥

मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते। समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति॥ १०९॥
जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत्। प्रकाङ्क्षालाघवे जाते यद्यदस्मै हितं भवेत्॥ ११०॥
सौवर्चलानुसंविद्धं शीतं सबिडसैन्धवम्। मातुलुङ्गार्द्रकोपेतं जलयुक्तं प्रमाणवित्॥ १११॥

अविधि मद्यपानजन्य रोग में सविधि मद्यपान का विधान—मद्य के मिथ्यायोग से, अतियोग से अथवा हीनयोग से जो कोई रोग उत्पन्न होता है, वह रोग उसी जाति के मद्य के विधिपूर्वक सममात्रा में पान करने से शान्त हो जाता है अर्थात् पैष्टिक, माध्वीक या गौड़ जाति की मदिरा का मिथ्या, अति या हीन योग के सेवन से उत्पन्न रोग उसी जाति की मदिरा के विधिपूर्वक उचित प्रमाण में पीने से शान्त होता है।

आममद्य (अनपचे मद्य) के दोष के पच जाने पर जब उसे तीव्र अभिलाषा हो और शरीर में भारीपन न हो, तब उसके लिए जो मद्य हितकर हो, वही मद्य दिलवाना चाहिए।

मद्य तथा उसके सहयोगी द्रव्यों के अनुपात और प्रमाण को जाननेवाला व्यक्ति सोंचर नमक, विडनमक, सेंधानमक, बिजौरा नीबू का रस और आदी के रस तथा जल मिलाकर मद्य को ठंडा करके पीने के लिए दें॥ १०९-१११॥

तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना। मद्येनान्नरसोत्क्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः॥ ११२॥
अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम्। जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रदापयेत्॥ ११३॥
क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः।

तीक्ष्ण मद्यपानजन्य अन्नरस की क्षारता और मद्य द्वारा उसका मधुरीकरण—अम्लविपाकी और विदाहजनक (अम्ल) तीक्ष्ण तथा उष्ण मदिरा का जब अधिक मात्रा में पान किया जाता है तब उस मद्य पान के फलस्वरूप अर्धपक्व, क्लिन्न (गीला) अन्नरस क्षारीय बन जाता है, जो शरीर के आभ्यन्तर भाग में जलन, ज्वर, प्यास, मूर्च्छा, शिर में चक्कर और नशा उत्पन्न करता है, उसको शान्त करने के लिए मद्य ही पिलाना चाहिए। क्योंकि अम्लरस के संयोग से क्षार शीघ्र ही मधुर बन जाता है अर्थात् अम्लरस के योग से क्षार में उदासीनीकरण हो जाता है॥ ११२-११३॥

श्रेष्ठमम्लेषु मद्यं च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु॥ ११४॥
मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृता। मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च॥
गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः। सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति॥ ११६॥

अम्ल द्रव्यों में मद्य श्रेष्ठ—अपने जिन गुणों के होने से मद्य अम्लद्रव्यों में श्रेष्ठ गिना जाता है, उनको आप सुनें। अम्लस्वभाववाले मद्य के चार अनुरस कहे गये हैं—१. मधुर, २. कषाय, ३. तिक्त और ४. कटु। पूर्व में (इसी अध्याय के श्लोक ३० में) मद्य के लघु आदि दश गुण बतलाये गये हैं। इस प्रकार इन चौदह गुणों के होने से मद्य सभी अम्ल पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है॥ ११४-११६॥

मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण रुद्धः स्रोतःसु मारुतः। करोति वेदनां तीव्रां शिरस्यस्थिषु सन्धिषु॥ ११७॥
दोषविष्यन्दनार्थं हि तस्मै मद्यं विशेषतः। व्यवायितीक्ष्णोष्णतया देयमम्लेषु सत्स्वपि॥ ११८॥
स्रोतोविबन्धनुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम्। रोचनं दीपनं चाग्नेरभ्यासात् सात्म्यमेव च॥ ११९॥
रुजः स्रोतःस्वरुद्धेषु मारुते चानुलोमिते। निवर्तन्ते विकाराश्च शाम्यन्त्यस्य मदोदयाः॥ १२०॥

मदात्यय में मद्य प्रयोग का औचित्य—मद्यपान करने से जब कफ आदि दोष क्षुब्ध होकर चलायमान होते हैं, तब स्रोतों में वायु की गति अवरुद्ध हो जाती है, फिर वह शिर में, हड्डियों और सन्धियों में तीव्र वेदना उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में दोष को द्रवित करने (एवं स्रोतोऽवरोध को दूर करने) के लिए उस व्यक्ति को अन्य अम्लों के होते हुए भी विशेषरूप से मद्य ही देना चाहिए, क्योंकि मद्य में व्यवायी, तीक्ष्ण और उष्ण गुण विशिष्ट हैं। मद्य स्रोतों के विबन्ध को दूर करता है, वायु का अनुलोमन करता है, भोजन में रुचि उत्पन्न करता है, अग्नि को प्रदीप्त करता है और निरन्तर सेवन करते-करते अनुकूल पड़ जाता है। जब स्रोतों का अवरोध दूर हो जाता है और वायु अनुलोम हो जाती है, तो सभी विकार शिरःशूल आदि मिट जाते हैं तथा नशे के कारण होनेवाले उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं॥ ११७-१२०॥

बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमसंयुतम्। यवानीहपुषाजाजीशृङ्गवेरावचूर्णितम्॥ १२१॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तमवदंशैर्विरोचितम्। दद्यात् सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये॥ १२२॥

वातशामक बीजपूरकादि युक्त मद्य—वातज मदात्यय रोग को शान्त करने के लिए घी से आर्द्र किया हुआ जौ का सत्तू खाने को दें और चावल के आटे से बनी हुई मदिरा में बिजौरा नीबू का रस, इमली का रस या कोकम चूर्ण, खट्टे बेर का चूर्ण, खट्टे अनार का रस, जवायन, हाऊबेर, जीरा एवं सोंठ का चूर्ण तथा सेंधानमक का चूर्ण मिलाकर रुचि को बढ़ानेवाला चटपटे व्यञ्जनों के साथ पीने के लिए देना चाहिए॥ १२१-१२२॥

दृष्ट्वा वातोल्बणं लिङ्गं रसैश्चैनमुपाचरेत्। लावतित्तिरदक्षाणां स्निग्धाम्लैः शिखिनामपि॥
पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानां च संस्कृतैः। भूशयप्रसहानां च रसैः शाल्योदनेन च॥ १२४॥

वातिक मदात्यय में मांस का प्रयोग—मदात्यय रोग में जब वात के लक्षणों की प्रबलता दिखायी दे, तो उसका उपचार मांसरसों का सेवन कराकर करना चाहिए। लवा (बटेर), तीतर, मुर्गा और मोर आदि पक्षियों के तथा मृग, मछली, आनूप जीवों, भूमिशय तथा प्रसह वर्ग के जीवों के सुसंस्कृत मांसरस के साथ अगहनी का भात खाने को देना चाहिए॥ १२३-१२४॥

स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेशवारैर्मुखप्रियैः। चित्रैगौर्धूमिकैश्चान्नैर्वारुणीमण्डसंयुतैः॥ १२५॥
पिशितार्द्रकगर्भाभिः स्निग्धाभिः पूपवर्तिभिः। माषपूपलिकाभिश्च वातिकं समुपाचरेत्॥
नातिस्निग्धं न चाम्लेन युक्तं समरिचार्द्रकम्। मेद्यं प्रागुदितं मांसं दाडिमस्वरसेन वा॥ १२७॥
पृथक्त्रिजातकोपेतं सधान्यमरिचार्द्रकम्। रसप्रलेपि सम्पूपैः सुखोष्णैः सम्प्रदापयेत्॥ १२८॥

वातिक मदात्यय में पथ्य—(१) वातप्रधान मदात्यय के रोगी को स्निग्ध, उष्ण, लवणयुक्त अम्लरस-मिश्रित तथा मुख को प्रिय लगने वाले द्रव्यों से युक्त सिद्ध 'वेशवार', (२) गेहूँ के आटे से बने विविध खाद्य पदार्थ, (३) पिसे हुए मांस और आदी भरकर घी-तैल में तली कचौड़ियाँ और (४) उड़द की बनी कचौड़ियाँ खिलानी चाहिए। इन खाद्य पदार्थों के खिलाने के बाद मद्य के पात्र में ऊपर का निथरा हुआ मण्ड उचित मात्रा में पिलाना चाहिए। उक्त गरम-गरम कचौड़ियों के साथ रसदार मांसरस का घना द्रव देना चाहिए, (५) पहले बतलाये गये मेदस्वी जीवों के मांस को अधिक स्निग्ध या अधिक अम्ल पदार्थ न डालकर मरिच तथा आदी के साथ, (६) अनार का रस डालकर, (७) दालचीनी की चूर्ण डालकर, (८) छोटी इलायची का चूर्ण डालकर, (९) तेजपात का चूर्ण डालकर या (१०) धनिया, मरिच और आदी का या सोंठ का चूर्ण डालकर, पकाकर, उसे तैयार कर खाने को दें॥ १२५-१२८॥

भुक्ते तु वारुणीमद्यं दद्यात् पातुं पिपासवे। दाडिमस्य रसं वाऽपि जलं वा पञ्चमूलिकम्॥
धान्यनागरतोयं वा दधिमण्डमथापि वा। अम्लकाञ्जिकमण्डं वा शुक्तोदकमथापि वा॥ १३०॥

वातिक मदात्यय में पेय पदार्थ—वातिक मदात्यय के रोगी को भोजन के साथ प्यास लगे तो वारुणी नामक मदिरा का मण्ड पिलाना चाहिए या खट्टे अनार का रस या वृहत् पञ्चमूल का (षडङ्ग परिभाषा के अनुसार सिद्ध) जल अथवा धनिया एवं सोंठ डालकर (षडङ्ग पानीय परिभाषा के अनुसार) सिद्ध जल या दही का पानी या खट्टी काञ्जी का मण्ड या सिरके में जल मिलाकर पिलाना चाहिए॥ १२९-१३०॥

कर्मणाऽनेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति। मात्राकालप्रयुक्तेन बलं वर्णश्च वर्धते॥ १३१॥

मात्रा-कालानुसार चिकित्सा का फल—पूर्व में मदात्यय रोग की जो सफल चिकित्सा बतलायी गयी है, उसका उचित मात्रा में तथा उचित काल में प्रयोग करने पर मदात्यय रोग शान्त हो जाता है और रोगी का बल एवं शरीर की कान्ति भी बढ़ती है॥ १३१॥

रागषाडवसंयोगैर्विविधैर्भक्तरोचनैः। पिशितैः शाकपिष्टान्नैर्यवगोधूमशालिभिः॥ १३२॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरुष्णैः प्रावरणैर्घनैः। घनैरगुरुपङ्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्घनैः॥ १३३॥
नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः। श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखावहैः॥ १३४॥
शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्णैश्चान्तर्गृहैः सुखैः। मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः॥ १३५॥

वातिक मदात्यय में सद्यः फलप्रद आहार-विहार—भोजन को अधिक रोचक बनाने वाले राग-षाडवों (रायता, चटनी, अचार आदि) के प्रयोग से, मांसरसों के प्रयोग से, शाकों के प्रयोग से, चावल के आटे से बने पदार्थों के प्रयोग से, जौ-गेहूँ और अगहनी चावल के प्रयोग से वातज मदात्यय शान्त हो जाता है।

विहार—उष्ण अभ्यंग, उष्ण उबटन एवं उष्ण स्नान करने से, गरम मोटे कम्बलों के ओढ़ने से, अगर के गाढ़े द्रव का लेप लगाने से, अगर के घने धूपन से, यौवन की ऊष्मा से उष्णमात्रा कामिनियों के निर्दय प्रगाढ़ आलिङ्गन से, उनके श्रोणिमण्डल, ऊरुप्रदेश तथा कुच का भार शरीर पर पड़ने से, आवृत

होने से गरम और सुखकर गरम शय्या, विस्तर तथा सुखद अन्तर्गृह में निवास करने से वातज मदात्यय रोग शान्त हो जाता है॥ १३२-१३५॥

मद्यं खर्जूरमृद्वीकापरूषकरसैर्युतम्। सदाडिमरसं शीतं सक्तुभिश्चावचूर्णितम्॥ १३६॥
सशर्करं शार्करं वा माद्वीकमथवाऽपरम्। दद्याद्वहूदके काले पातुं पित्तमदात्यये॥ १३७॥

पैत्तिक मदात्यय की चिकित्सा—पित्तज मदात्यय के रोगी को खजूर, मुनक्का और फालसा के रस तथा अनार के रस से युक्त एवं जौ का सत्तू और चीनी घोलकर ठण्डा मद्य पिलाना चाहिए अथवा चीनी से बना या मुनक्के से बना या अन्य द्रव्यों से बना हुआ मद्य बहुत अधिक मात्रा में जल मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए॥ १३६-१३७॥

शशान् कपिञ्जलानेणाँल्लावानसितपुच्छकान्। मधुराम्लान् प्रयुञ्जीत भोजने शालिषष्टिकान्॥
पटोलयूषमिश्रं वा छागलं कल्पयेद् रसम्। सतीनमुद्गमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम्॥ १३९॥
द्राक्षामलकखर्जूरपरूषकरसेन वा। कल्पयेत्तर्पणान् यूषान् रसाँश्च विविधात्मकान्॥ १४०॥

पैत्तिक मदात्यय में तर्पण, यूष और मांसरस—पित्तज मदात्यय रोग में खरहे का, गौरैया पक्षी का, हरिण का, लावा पक्षी का और काली पूँछवाले मृग का मांस पकाकर चीनी एवं अनार का रस डालकर अगहनी या साठी के भात के साथ खिलायें अथवा परवर का यूष मिलाकर बकरे का मांसरस और भात खिलायें या मटर और मूँग के यूष में अनार तथा आँवले का रस डालकर भात के साथ खाने को दें। इसी प्रकार मुनक्का, आँवला, खजूर और फालसे के रस से निर्मित नाना प्रकार के मन्थ, तर्पण या यूष तथा मांसरस के साथ अगहनी या साठी के चावल का भात खाने के लिए देना चाहिए॥ १३८-१४०॥

आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं कफपित्तं मदात्यये। विज्ञाय बहुदोषस्य दह्यमानस्य तृष्यतः॥ १४१॥
मद्यं द्राक्षारसं तोयं दत्त्वा तर्पणमेव वा। निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगाद्विमुच्यते॥ १४२॥
काले पुनस्तर्पणाद्यं क्रमं कुर्यात् प्रकाङ्क्षिते। तेनाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः॥ १४३॥

कफानुबन्धी पित्तज मदात्यय में वमन—जिस मदात्यय के रोगी के आमाशय में स्थित कफ और पित्त, ये दोनों ही बढ़े हुए तथा बाहर निकलने के लिए उतावले हों, रोगी में (च० सू० १६ में कथित) बहुदोष के लक्षण हों, उसे जलन और प्यास मालूम हो रही हो, तो रोगी को मद्य, मुनक्के का क्वाथ और जल एक में मिलाकर पर्याप्त मात्रा में पिलाकर अथवा जव का सत्तू पानी में घोलकर, पिलाकर वमन करायें, जिससे पूरी तरह से वमन हो जाये। ऐसा करने से रोगी मदात्यय रोग से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। वमन हो जाने के बाद जब रोगी को भूख लगे तब उसे जौ का सत्तू घोलकर पिलाना चाहिए अर्थात् पेया के स्थान पर तर्पण ही देना चाहिए। इसके बाद विलेपीकृताकृत यूष तथा मांसरस देना चाहिए। इस प्रकार उसकी जठराग्नि तीव्र होकर शेष दोष तथा अन्न का सम्यक् पाचन करने में समर्थ हो जाती है॥ १४१-१४३॥

कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च। तृष्यते सविदाहे च सोत्क्लेशे हृदयोरसि॥ १४४॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा भिषक्। रसं सनागरं दद्यात् तित्तिरिप्रतिभोजनम्॥ १४५॥
तृष्यते चातिबलवद् वातपित्ते समुद्धते। दद्याद् द्राक्षारसं पातुं शीतं दोषानुलोमनम्॥ १४६॥
जीर्णे समधुराम्लेन छागमांसरसेन तम्। भोजनं भोजयेन्मद्यमनुतर्षं च पाययेत्॥ १४७॥

पित्तज मदात्यय में लाक्षणिक चिकित्सा—पित्तज मदात्यय में जब खाँसी के साथ थूक में रक्त आ रहा हो, पसली व स्तन में पीड़ा हो, प्यास अधिक हो, जलन हो, हृदय एवं छाती में बेचैनी हो, तो गुरुच और नागरमोथा के रस में या परवर के रस में सोंठ का चूर्ण मिलाकर पीने को दें तथा औषध के पच जाने पर तीतर पक्षी के मांसरस के साथ अगहनी या साठी के चावल का भात खाने को दें। वात पित्तप्रकोप बढ़ा हो और प्यास अधिक हो, तो शीतल किया हुआ मुनक्का का क्वाथ पिलाना चाहिए।

इससे दोषों का अनुलोमन होता है। औषध के पच जाने पर मधुर तथा अम्ल पदार्थों से सुसंस्कृत विधिवत् बनाये गये बकरे के मांसरस के साथ शालि या साठी का भात खिलाना चाहिए एवं प्यास लगने पर मद्य पीने के लिए देना चाहिए॥ १४४-१४७॥

अनुतर्षस्य मात्रा सा यया नो दूष्यते मनः। तृष्यते मद्यमल्पाल्पं प्रदेयं स्याद्बहूदकम्॥ १४८॥
तृष्णा येनोपशाम्येत मदं येन च नाप्नुयात्।

अनुतर्ष की मात्रा—भोजन के पश्चात् अनुपान के रूप में तृष्णा शमनार्थ जो मद्य (अनुतर्ष) दिया जाये, उसकी मात्रा इतनी ही होनी चाहिए, जिससे नशा न हो। प्यास लगने पर अधिक जल (चौगुना-छगुना) मिला हुआ मद्य भी थोड़ा-थोड़ा ही देना चाहिए जिससे प्यास शान्त हो जाये और मद या नशा न हो॥ १४८॥

('अनुतर्ष' संज्ञा उस मद्यपान की है, जो प्यास लगने पर मानसिक तनाव या ग्लानि को दूर करने के लिए प्रयुक्त होता है या जिस भोजनोत्तर अनुपान के रूप में दिया जाता है)।

परूषकाणां पीलूनां रसं शीतमथापि वा॥ १४९॥
पर्णिनीनां चतसृणां पिबेद्वा शिशिरं जलम्। मुस्तदाडिमलाजानां तृष्णाघ्नं वा पिबेद् रसम्॥

तृष्णानाशक योग—(१) फालसे का या पीलु का स्वरस या (२) स्वभावशीत जल या (३) चार पर्णिनियों (शालिपर्णी-पृश्निपर्णी-मुद्गपर्णी-माषपर्णी) का षडङ्ग-परिभाषानुसार निर्मित शीतल जल या (४) नागरमोथा, अनार और धान के लावा का षडङ्गपरिभाषानुसार बनाया हुआ शीतल जल तृष्णाशमनार्थ प्रयोग करें॥ १४९-१५०॥

कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः। पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति॥

तृष्णानाशक पञ्चाम्लक—१. खट्टे बेर, २. खट्टा अनार, ३. इमली या कोकम, ४. चौपतिया और ५. चूका (खट्टी पालक या नोनी का साग), इनको चूसने से या इनके रस का कवल या गण्डूष धारण करने से तृष्णा मिट जाती है॥ १५१॥

शीतलान्यन्नपानानि शीतशय्यासनानि च। शीतवातजलस्पर्शाः शीतान्युपवनानि च॥ १५२॥
क्षौमपद्मोत्पलानां च मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां स्पर्शश्चन्द्रांशुशीतलाः॥
हेमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः। पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहताः॥ १५४॥
संस्पर्शाश्चन्दनार्द्राणां नारीणां च समारुताः। चन्दनानां च मुख्यानां शस्ताः पित्तमदात्यये॥
शीतवीर्यं यदन्यच्च तत् सर्वं विनियोजयेत्।

पित्तज मदात्यय में विहार—पित्तज मदात्यय रोग में खाने-पीने की सब सामग्री शीतल कर प्रयोग करे। सोने-बैठने का स्थान शीतल होना चाहिए। ठण्डी हवा का सेवन करे और शीतल जल से स्नान आदि करे। शीतल उद्यानों में विचरण करे। श्वेत मलयचन्दन घिसकर मिलाये हुए शीतल जल से अभिसिञ्चित रेशमी वस्त्र धारण करे। श्वेत एवं नील कमल का, मणियों का तथा मुक्तामयी माला का शीतल स्पर्श करे। रात में चन्द्रमा की शीतल किरणों का सेवन करे। शीतल जल से पूर्ण सुवर्णमय, रजतमय अथवा काँसे के जलपात्रों का स्पर्श और बरफ से भरे हुए मसक का स्पर्श तथा ठण्डी हवा का संस्पर्श करना चाहिए। जिन कामिनियों के कुच आदि गात्र शीतल, आर्द्र, चन्दनानुलेप से लिप्त हों, उनका स्पर्श शीतल मन्द पवन प्रवाहित प्रदेश में करना चाहिए। मलयगिरि के श्वेत चन्दन का पङ्क भी शरीर में लगाना चाहिए। अन्य भी जो उपचार शीतवीर्य हों, उनका प्रयोग करना चाहिए॥ १५२-१५५॥

कुमुदोत्पलपत्राणां सिक्तानां चन्दनाम्बुना॥ १५६॥
हिताः स्पर्शाः मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते।
कथाश्च विविधाः शस्ताः शब्दाश्च शिखिनां शिवाः॥ १५७॥

तोयदानां च शब्दा हि शमयन्ति मदात्ययम्। जलयन्त्राभिवर्षीणि वातयन्त्रवहानि च॥ १५८॥
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च।

दाहशामक अन्य उपचार—मद्यपानजन्य दाह में मलयागिरि चन्दन के पङ्क से सिञ्चित, सुहावने कुमुदों तथा नीलकमलों के पत्रों का स्पर्श हितकारक होता है। उत्तम मनोरञ्जनपूर्ण कथाएँ, मयूरों की कल्याणमयी वाणी और जलदों के गर्जन की ध्वनि मदात्यय को शान्त करती है। वैद्य को चाहिए कि मद्यज दाहशमनार्थ रोगियों को रहने के लिए ऐसे भवनों की व्यवस्था करें, जिनमें पानी के फब्बारे लगे हों, पंखे और कूलर लगे हों या खिड़कियों पर खश की टट्टियाँ लगी हों तथा वायु के प्रवेश के लिए पर्याप्त जँगले आदि लगे हों एवं पानी की धारा प्रवाहित करने वाले जलयन्त्र लगे हों॥ १५६-१५८॥

फलिनीसेव्यलोध्राम्बुहेमपत्रं कुटन्नटम्॥ १५९॥
कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम्। बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवः॥ १६०॥
फेनिलायाश्च यः फेनस्तैर्दाहे लेपनं शुभम्।

प्रियंग्वादि लेप एवं बदरीपल्लवादि लेप—(१) फूलप्रियंगु, खश, लोध, सुगन्धबाला, नागकेशर, तेजपात और सोनापाठा, इनको समभाग लेकर कालीयक (चन्दन-भेद) के पत्ते के रस में पीसकर लेप करना दाहशामक होता है। (२) बेर की पत्ती या नीम की पत्ती अथवा रीठा, इनको पीसकर हाथों से मसलने पर जो फेन उत्पन्न होता है, उसका लेप दाह को शान्त करनेवाला होता है॥ १५९-१६०॥

सुरा समण्डा दध्यम्लं मातुलुङ्गरसो मधु॥ १६१॥
सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्नाः साम्लकाञ्जिकाः। परिषेकावगाहेषु व्यजनानां च सेवने॥ १६२॥
शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णाप्रशान्तये। मात्राकालप्रयुक्तेन कर्मणाऽनेन शाम्यति॥ १६३॥
धीमतो वैद्यवश्यस्य शीघ्रं पित्तमदात्ययः।

परिषेक, प्रलेप, अवगाहन आदि—मद्य, मद्य का ऊपरी निथरा हुआ मण्ड, खट्टी दही, बिजौरा नीबू का रस, मधु और खट्टी काञ्जी, इनके परिषेक तथा प्रलेप करने से दाह शान्त हो जाता है। दाह तथा तृष्णा के शमन के लिए परिषेक, अवगाहन एवं पंखे पर छिड़कने के लिए शीतल जल का प्रयोग करना उत्तम है। जो रोगी बुद्धिमान् हो और वैद्य के आदेश का पालन करनेवाला हो, उसका पित्तज मदात्यय रोग इन उपर्युक्त औषधों के समुचित मात्रा में ठीक समय से प्रयोग करने से शान्त हो जाता है॥ १६१-१६३॥

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् कफमदात्ययम्॥ १६४॥

कफज मदात्यय रोग का चिकित्सासूत्र—कफज मदात्यय रोग को वमन कराकर और उपवास कराकर शान्त करना चाहिए॥ १६४॥

तृष्यते सलिलं चास्मै दद्याद्वीबेरसाधितम्। बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्याऽथवा शृतम्॥
सनागराभिः सर्वाभिर्जलं वा शृतशीतलम्। दुःस्पर्शेन समुस्तेन मुस्तपर्पटकेन वा॥ १६६॥
जलं मुस्तैःशृतं वाऽपि दद्याद्दोषविपाचनम्। एतदेव च पानीयं सर्वत्रापि मदात्यये॥ १६७॥
निरत्ययं पीयमानं पिपासाज्वरनाशनम्।

कफज मदात्यय में पेय जल—(१) कफज मदात्यय के रोगी को प्यास लगने पर हाऊबेर डालकर षडङ्गपरिभाषा से सिद्ध किया हुआ जल पिलाना चाहिए अथवा (२) बरियार के मूल और पिठवन से सिद्ध जल या (३) कण्टकारी से सिद्ध जल या (४) इन सभी (सुगन्धबाला, बरियार, पिठवन और कण्टकारी) द्रव्यों के साथ सोंठ मिलाकर पकाये हुए जल को शीतल करके पिलाना चाहिए अथवा (५) दुरालभा और नागर मोथा या (६) नागर मोथा और पित्तपापड़ा अथवा (७) नागरमोथा से विधिवत् सिद्ध किया

हुआ जल पिलाना चाहिए। इस प्रकार के ये जल दोषों का पाचन करते हैं। इन्हीं जलों को सभी मदात्ययों में पिलाना चाहिए। क्योंकि ये निरापद हैं और प्यास तथा ज्वर को दूर करते हैं॥ १६५-१६७॥

निरामं काङ्क्षितं काले सक्षौद्रं पाययेत्तु तम्॥ १६८॥

शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा। रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम्॥ १६९॥

निराम कफज मदात्यय में पथ्य—कफज मदात्यय रोग में जब रोगी को आमदोष न हो और वह भोजन करना चाहता हो, तो उसे भोजन के समय शर्करा से बने अरिष्ट या मधु या सीधु में धान के लावा का सत्तू घोलकर तथा उचित मात्रा में जवायन का चूर्ण एवं सोंठ का चूर्ण मिलाकर और मधु मिलाकर पिलाना चाहिए (सत्तू इतना ही डालें कि वह सत्तू डालने पर भी पीने लायक रहे, एकदम गाढ़ा न बन जाय)॥ १६८-१६९॥

यावगौधूमिकं चान्नं रूक्षयूषेण भोजयेत्। कुलत्थानां सुशुष्काणां मूलकानां रसेन वा॥ १७०॥

तनुनाऽल्पेन लघुना कट्वम्लेनाल्पसर्पिषा।

कफज मदात्यय में आहार—कफज मदात्यय रोग में जौ या गेहूँ के आटे की रोटी को रूक्ष यूष के साथ खिलाना चाहिए। वह यूष कुलथी का या सूखी मूली का हो और पतला अल्प मात्रा में, हल्का, कटु एवं अम्लरसयुक्त तथा थोड़ी मात्रा में घी मिला हुआ होना चाहिए॥ १७०॥

पटोलयूषमम्लं वा यूषमामलकास्य वा॥ १७१॥

प्रभूतकटुसंयुक्तं सयवान्नं प्रदापयेत्। व्योषयूषमथाम्लं वा यूषं वा साम्लवेतसम्॥ १७२॥
छागमांसरसं रूक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम्। स्थाल्यां वाऽथ कपाले वा भृष्टं निर्द्रववर्तितम्॥
कट्वम्ललवणं मांसं भक्षयन् वृणुयान्मधु। व्यक्तमारीचकं मांसं मातुलुङ्गरसान्वितम्॥ १७४॥
प्रभूतकटुसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम्। भृष्टं दाडिमसाराम्लमुष्णपूपोपवेष्टितम्॥ १७५॥
यथाग्नि भक्षयेत् काले प्रभूतार्द्रकपेशिकम्। पिबेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये॥ १७६॥

आहारार्थ यूष एवं मांस का प्रयोग—(१) अनार के खट्टे रस से खट्टा बनाया हुआ परवर का यूष और जौ की रोटी खाने को देना चाहिए या (२) आँवले के यूष में पर्याप्त मरिचचूर्ण डालकर रोटी के साथ दें अथवा (३) सोंठ, मरिच, पीपर के यूष को खट्टे अनार के रस से खट्टा करके रोटी के साथ खिलायें या (४) अम्लबेंत के साथ बिना घी-तैल के पकाया हुआ रूक्ष बकरे का मांसरस खाने को दें या (५) जाङ्गल पशुपक्षियों के सिद्ध मांसरस में खट्टे अनार का रस डालकर उसके साथ जौ की रोटी खिलायें अथवा (६) बटलोई या मिट्टी की हंडी या कड़ाही में मांस को भूनकर उसे सुखाकर द्रवरहित कर उसमें मरिच का चूर्ण, सेंधानमक और अनार का रस मिलाकर खाने को तथा प्यास लगने पर मधु या मद्य का पान करायें। (७) इसी प्रकार बकरे का या जांगल जीवों का मांस लेकर, उसे ठीक से भूनकर, पीसकर, फिर उसमें मरिच का चूर्ण, बिजौरा नीबू का रस, यवायन चूर्ण, सोंठ चूर्ण, आदी पिसी हुई और खट्टे अनार का रस डालकर पूआ या कचौड़ी में भरकर छान लें तथा भोजन के समय रोगी अपनी जठराग्नि के बल के अनुसार इसे खाये एवं बाद में स्वच्छ मद्य का पान करे॥ १७१-१७६॥

सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम्। त्वगेलामरिचार्धांशं शर्कराभागयोजितम्॥ १७७॥
एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसन्दीपनं परम्। मदात्यये कफप्राये दद्यात् स्रोतोविशोधनम्॥ १७८॥
एतदेव पुनर्युक्त्या मधुराम्लैर्द्रवीकृतम्। गोधूमान्नयवान्नानां मांसानां चातिरोचनम्॥ १७९॥

अष्टाङ्ग लवण—सोंचरनमक, जीरा, इमली या कोकम और अम्लबेंत १-१ भाग; चीनी १ भाग; दालचीनी, छोटी इलायची और मरिच, प्रत्येक आधा-आधा भाग लेकर इनका महीन चूर्ण बनाकर मिलाकर रख लें। यह 'अष्टाङ्गलवण' कहलाता है। यह अग्नि को प्रदीप्त करता है और स्रोतों को शुद्ध करता है। इसका कफज मदात्यय में प्रयोग करना चाहिए।

इसी अष्टाङ्गलवण को उचित मात्रा में मधुर तथा अम्लद्रव्य मिलाकर द्रवरूप (चटनी) बना लिया जाता है, तो यह जौ-गेहूँ के पकवान को या मांसरस को और अधिक रुचिकर बना देता है॥ १७७-१७९॥

पेषयेत् कटुकैर्युक्तां श्वेतां बीजविवर्जिताम्। मृद्वीकां मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा॥ १८०॥
सौवर्चलैलामरिचैरजाजीभृङ्गदीप्यकैः। स रागः क्षौद्रसंयुक्तः श्रेष्ठो रोचनदीपनः॥ १८१॥

मृद्वीका राग—श्वेत मुनक्का को लेकर, धोकर, बीज निकाल कर पीस लें, अलग से सोंठ-मरिच-पीपर, सोंचरनमक, छोटी इलायची, जीरा, दालचीनी और जवायन का चूर्ण बनाकर पुनः इस चूर्ण के साथ मुनक्के को बिजौरा नीबू का रस और खट्टे अनार का रस डालकर, पीसकर उसमें मधु मिलाकर चटनी जैसा द्रव बनाकर सुरक्षित रख लें। यह रुचि को बढ़ाने और जठराग्नि को प्रदीप्त करने में श्रेष्ठ है॥ १८०-१८१॥

मृद्वीकाया विधानेन कारयेत् कारवीमपि। शुक्तमत्स्यण्डिकोपेतं रागं दीपनपाचनम्॥ १८२॥

कारवी (मंगरैला) राग—पूर्वकथित मृद्वीका राग की तरह 'कारवी' का भी राग बनाना चाहिए। सिरका और राब मिला हुआ यह राग अग्निप्रदीपक और पाचक होता है॥ १८२॥

आम्रामलकपेशीनां रागान् कुर्यात् पृथक् पृथक्। धान्यसौवर्चलाजाजीकारवीमरिचान्वितान्॥
गुडेन मधुयुक्तेन व्यक्ताम्ललवणीकृतान्। तैरन्नं रोचते दिग्धं सम्यग्मुक्तं च जीर्यति॥ १८४॥

आम और आँवले का राग—आम और आँवले की कतरनों का अलग-अलग राग बनाना चाहिए। आम के फलों को चीरकर बीच की गुठली निकाल कर फाँक बना लें और धनिया, सोंचर नमक, जीरा, मँगरैला और मरिच का चूर्ण उन फाँकों पर लपेटकर गुड़ की चासनी में रख दें, थोड़ा मधु भी डाल दें। उसमें थोड़ा-थोड़ा मधुर, अम्ल और लवण प्रतीत होता रहे, ऐसा बनायें। इसी तरह आँवले का भी राग बनायें। भोजन में मिलाकर इन्हें खाने से अन्न रुचिकर हो जाता है और भोजन ठीक पच जाता है॥ १८३-१८४॥

रूक्षोष्णेनान्नपानेन स्नानेनाशिशिरेण च। व्यायामलङ्घनाभ्यां च युक्त्या जागरणेन च॥ १८५॥
कालयुक्तेन रूक्षेण स्नानेनोद्वर्तनेन च। प्राणवर्णकराणां च प्रघर्षाणां च सेवया॥ १८६॥
सेवया वसनानां च गुरूणामगुरोरपि। सङ्कोचोष्णसुखाङ्गीनामङ्गनानां च सेवया॥ १८७॥
सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च। मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रमेवोपशाम्यति॥ १८८॥

कफज मदात्यय में विहार—रूक्ष और गरम पदार्थों के खाने-पीने से, गरम जल से नहाने से, अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार व्यायाम करने से तथा उपवास करने से एवं जागरण करने से, समय-समय पर बिना तैल मालिश किये स्नान करने से और रूक्ष (जौ आदि के आटे से) उबटन लगाने से, शरीर में बल और कान्ति उत्पन्न करने वाले द्रव्यों के चूर्णों के मलने से, मोटे वजनदार वस्त्रों के ओढ़ने-पहनने से, अगुरु का लेप लगाने से, कुंकुम के अनुलेपन से, उष्णांगी तथा सुखस्पर्शा, कमनीय-मृदुल-मनोरम गात्रा कमिनियों के आश्लेष से एवं आनन्दवर्धन अभ्यस्त हस्तवाली रमणियों की कमलकोमल अंगुलियों के द्वारा किये जाने वाले संवाहनकर्म या चम्पी करवाने से कफ प्रधान मदात्यय रोग शीघ्र ही शान्त हो जाता है॥ १८५-१८८॥

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति। सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा॥ १८९॥

सान्निपातिक मदात्यय चिकित्सा—अलग-अलग वात आदि दोषों की प्रबलता के अनुसार जो यह पूर्व में चिकित्साक्रम बतलाया गया है, वैद्य को चाहिए कि वह (एकोल्बण, ३ सन्निपातों के अतिरिक्त) दश प्रकार के (द्व्युल्बणहीनमध्याधिकसम) सन्निपातों में भी हीनमध्याधिक द्व्युल्बण एवं समत्रिदोष के अनुसार दोषों की कल्पना करके चिकित्सा का विधान करे॥ १८९॥

वक्तव्य—यद्यपि सन्निपात तेरह प्रकार के कहे गये हैं। तो फिर यहाँ क्यों दश ही प्रकार के सन्निपात चिकित्सा की बात कही गयी है? यह प्रश्न उठता है। इसका समाधान करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने कहा है कि सभी मदात्यय रोग त्रिदोषज होते हैं और जो वातज, पित्तज या कफज मदात्यय रोग की चिकित्सा

कही गयी है, उससे ही एकोल्बण सन्निपातज मदात्यय (के तीन भेदों की) चिकित्सा का कथन कर दिया गया है। बाकी शेष द्वयुल्बणहीन-मध्याधिकभेदसमसन्निपात के जो दस प्रकार हैं, उन्हीं को दृष्टिगत करके 'सन्निपाते दशविधे' यह कहा गया है। इसलिए कोई असंगति नहीं है। इस प्रकार हीन-मध्याधिक एवं दोषत्रयोद्भूत मदात्ययों की चिकित्सा करते समय हीनमध्याधिक दोषभेद से कल्पना करके चिकित्सा करनी चाहिए। समसन्निपात में तो तीनों दोषों की जो चिकित्सा कही गयी है, उन सबकी योजना करनी चाहिए।

यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित्।
स साध्यान्साधयेद्व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित्॥ १९०॥

दोषानुसार औषध कल्पना का महत्त्व—जो वैद्य साध्य तथा असाध्य रोगों के विभाग का ज्ञाता तथा दोषों के ६२ विकल्पों के अनुसार औषधों की कल्पना का ज्ञाता होता है, वही चिकित्सक यदि रोग साध्य है, तो उन्हें ठीक कर पाता है॥ १९०॥

वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः। विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः॥ १९१॥
माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च। गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठ्यश्च हृदयप्रियाः॥
सङ्कथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः। प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम्॥

मदात्यय में हर्षणी क्रिया एवं विहार—रंग-बिरंगे मनोरम पुष्पों एवं लताकुञ्जों से हरे-भरे वन-उपवन कमल-कुसुमराशि से सुशोभित जलाशय, लुभावने, रोचक, सरस स्वादिष्ट आहार और पेय पदार्थ, मनोरञ्जन कुशल सहचर और अनुचर, बेला-जूही या गुलाब आदि मधुर गन्धवाले फूलों की मालाएँ, विविध सुगन्धित इत्र, स्वच्छ वस्त्र, मनोहर गाने-बजाने, हृदयाकर्षक प्रिय गोष्ठियाँ, रोचक कथानक, प्रहसन और संगीत की योजनाएँ और अभिप्रायज्ञ आज्ञाकारिणी प्रिय कामिनियों का साहचर्य—ये सब मदात्यय रोग को नष्ट करने वाले होते हैं॥ १९१-१९३॥

नाक्षोभ्य हि मनो मद्यं शरीरमविहत्य च। कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया॥ १९४॥

हर्षणी क्रिया की उपादेयता—मद्य जब तक मन को क्षुब्ध और शरीर को शिथिल नहीं बना देता, तब तक मदात्यय रोग को नहीं उत्पन्न करता है। अर्थात् मदिरा के पीने से पहले मन में उथल-पुथल और व्यग्रता तथा शरीर में शैथिल्य उत्पन्न होता है, फिर मदात्यय का जन्म होता है। इसलिए मदात्यय रोग को दूर करने के लिए मन को प्रसन्न और स्वच्छ बनाना आवश्यक है, जिसके लिए मन को प्रसन्न करने का उपाय करना उपयोगी है॥ १९४॥

वक्तव्य—मदात्यय रोग में पचहत्तर प्रतिशत मनोविकार होते हैं और जब मन पर से नियन्त्रण उठ जाता है, तो वह मद्यप व्यक्ति अपने सुख-दुःख, हानि-लाभ, उचित-अनुचित के विचार खो बैठता है और उसके लिए कुछ भी अकर्तव्य नहीं होता। अतएव प्राचीन आचार्यों ने मनोविग्रह-कारक साधन-सामग्रियों की आयोजना के लिए आतुरालयीय सन्दर्भों में संकेत किया है। जैसा कि चरक-सूत्रस्थान (१५।७) में, 'गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलानभिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविदः परिषद्यांश्च'[1] आदि सूत्रों में उल्लेख किया गया है। शरीर और मन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। किसी भी विकार का आक्रमण जब किसी एक (शरीर या मन) पर होता है, तो दूसरा भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसलिए इनमें से किसी एक के बीमार होने पर दोनों की ही चिकित्सा करनी चाहिए।

१. 'सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः।'
धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥ (च.शा. २।४०-४१,४७)

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः। न चेन्मद्यविधिं मुक्त्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत्॥

मदात्यय में दुग्ध प्रयोग—इन पूर्वकथित चिकित्सा-विधियों के अनुभूत प्रयोगों से मदात्यय रोग शान्त हो जाता है। यदि इनके प्रयोग से शान्त न हो रहा हो, तो मद्य का सेवन छोड़कर दूध का प्रयोग करना चाहिए॥ १९५॥

लङ्घनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि। विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे॥ १९६॥
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च। ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः॥ १९७॥

दुग्ध-प्रयोग का फल—मद्य छुड़ाकर लंघन, पाचन, दोषों के शोधन तथा शमन चिकित्साओं के द्वारा कफ के क्षीण हो जाने पर और शरीर में दुर्बलता एवं हलकापन आ जाने पर उस मद्य के आक्रमण से जले हुए वातपित्तप्रधान व्यक्ति के लिए दुग्ध का प्रयोग वैसा ही लाभदायक होता है, जैसे ग्रीष्मऋतु के प्रचण्ड ताप से जले हुए वृक्ष के लिए वर्षा का जल लाभदायक एवं नवजीवन देने वाला होता है॥ १९६-१९७॥

पयसाऽभिहृते रोगे बले जाते निवर्तयेत्। क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत्॥ १९८॥

मद्य के पुनः अभ्यास का क्रम—दुग्ध के सेवन से जब मदात्यय रोग दूर हो जाये और रोगी के शरीर में बल उत्पन्न हो जाये, तब क्रमशः दुग्ध का प्रयोग कम करके अल्पमात्रा में मद्य का प्रयोग करें। (क्योंकि सहसा मद्य के परित्याग से असात्म्यज रोगों के होने की सम्भावना होती है)॥१९८॥

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते। ध्वंसको विक्षयश्चैव रोगस्तस्योपजायते॥ १९९॥
व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि तौ।

सहसा अतिमद्यसेवनजन्य रोग—जो व्यक्ति मद्यपान को छोड़ चुका हो और सहसा अधिक मद्य पीने लगता है, उसे ध्वंसक और विक्षय नामक रोग हो जाते हैं। यदि रोगी का शरीर रोगाक्रान्त होने के कारण अतिशय क्षीण हो गया हो, तो ये दोनों रोग अत्यन्त ही दुश्चिकित्स्य हो जाते हैं॥ १९९॥

तयोर्लिङ्गं चिकित्सा च यथावदुपदेक्ष्यते॥ २००॥

श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता। तन्द्रानिद्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम्॥

ध्वंसक रोग का लक्षण—ध्वंसक और विक्षेप की चिकित्सा का विधिवत् उपदेश करेंगे। ध्वंसक का लक्षण—कफ का लगातार गिरते रहना, कण्ठ और ओठ का सूखना, शब्द का सहन न होना, तन्द्रा और निद्रा का अधिक आना, ये ध्वंसक रोग के लक्षण होते हैं॥ २००-२०१॥

हृत्कण्ठरोगः सम्मोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः। तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षयलक्षणम्॥ २०२॥

विक्षय का लक्षण—हृदयरोग, कण्ठरोग, मूर्च्छा, वमन, अंगों में पीड़ा, ज्वर, प्यास, कास और शिरःशूल होना—ये सब विक्षय के लक्षण हैं॥ २०२॥

तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये। तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायेते दुर्बलस्य वै॥ २०३॥
बस्तयः सर्पिषः पानं प्रयोगः क्षीरसर्पिषोः। अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानान्यन्नपानं च वातनुत्॥ २०४॥

ध्वंसक और विक्षय की चिकित्सा—ध्वंसक और विक्षय, ये दोनों रोग क्षीण शरीर वाले दुर्बल व्यक्तियों को ही होते हैं, इसलिए इन दोनों की वही चिकित्सा करनी उचित है, जो वातज मदात्यय रोग में कही गयी है। जैसे—वातहर वस्तियों का प्रयोग, वातनाशक घृत का पान, दूध और घी का सेवन, मालिश, उबटन, उष्ण जल या वातहर क्वाथ से स्नान एवं वातनाशक अन्न पान का प्रयोग करना॥ २०३-२०४॥

ध्वंसको विक्षयश्चैव कर्मणाऽनेन शाम्यति। युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते॥ २०५॥

वातहर चिकित्सा का लाभ—ऊपर बतलाये गये वातहर उपचारों के प्रयोग से ध्वंसक एवं विक्षय रोग शान्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति युक्तिपूर्वक मद्यपान के विधान के अनुसार मद्य का सेवन करता है, उसे मद्यजनित रोग नहीं होता॥ २०५॥

निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यश्च जितेन्द्रियः। शारीरमानसैर्दोषैर्मान् विकारैर्न स युज्यते॥ २०६॥

मद्य के परित्याग का फल—जो बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को जीतकर सभी प्रकार के मद्यों का पान छोड़ देता है, वह मद्यपानजन्य समस्त शारीरिक तथा मानसिक रोगों से मुक्त रहता है। २०६॥

तत्र श्लोकाः—

यत्प्रभावा भगवती सुरा पेया यथा च सा। यद्द्रव्या यस्य या चेष्टा योगं चापेक्षते यथा॥ २०७॥
यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा। यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः॥ २०८॥
ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः। यच्च त्रिविधमापानं यथासत्त्वं च लक्षणम्॥ २०९॥
ये सहायाः सुखाः पाने चिरक्षिप्रमदा नराः। मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणं यद् यथा च यत्॥ २१०॥
मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रियाक्रमः। सर्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सिते॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
मदात्ययचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'मदात्ययचिकित्सित' नामक अध्याय में भगवती ऐश्वर्यशालिनी सुरा का प्रभाव, सुरा के पान का विधान, सुरा के उपादान द्रव्य, अलग-अलग व्यक्तियों के लिए सुरा के प्रकार और उसके साथ के योग, सुरा की मादकता, जिन गुणों के होने से वह महागुणा है। तीन प्रकार के आपान (मद्यगोष्ठी), मन के अनुसार उनके लक्षण, आपान में हितकर सहायक मित्र, देर से या शीघ्र मद प्रभावित व्यक्ति, मदात्यय का निदान और लक्षण, मद्यजन्य रोगों का मद्यपान द्वारा उपचार और मदात्यय रोग का चिकित्साक्रम—ये सभी विषय पूर्णरूप से कहे गये हैं॥ २०७-२११॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'मदात्ययचिकित्सित' नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २४॥

मदात्यय चिकित्साक्रमबोधक-सारणी

उपचार	चिकित्सा	आहार-विहार
सामान्यचिकित्सा— ● सभी मदात्यय त्रिदोषज होते हैं, इसलिए जिस दोष की अधिकता देखें, उसका पहले उपचार करें। ● यदि समत्रिदोषसन्निपातज मदात्यय हो, तो पहले कफ, फिर पित्त, फिर वात की चिकित्सा करें। मद्य के मिथ्या, अति या हीन योग से जनित रोग सम मात्रा में विधि-विधान के अनुसार मद्य पीने से ठीक हो जाते हैं। आम मद्यज दोषों के पच जाने पर शरीर में हलकापन आ जाने पर मद्य ही पिलाना चाहिए। **वातिक मदात्यय में—** जलेचर, आनूप, भूशय एवं प्रसह जीवों का स्निग्ध तथा अम्लरसयुक्त मांस खिलायें। वेशवार बनाकर प्रयोग करायें। मांस तथा आदी आदि भरकर पकौड़ी या उड़द का पूआ खाने को दें। मांस के बड़े के साथ चटनी की तरह स्निग्ध एवं अम्ल 'रसप्रलेप' बनाकर खिलायें। **पैत्तिक मदात्यय में—** **दाह और तृष्णा** हो, तो उत्क्लिष्ट कफ एवं पित्त को वमन कराकर बाहर निकालें। वमनार्थ—मद्य में द्राक्षा-क्वाथ और जल मिलाकर आकण्ठ पीने को दें।	मदात्यय में संस्कृत मद्य—सोंचरनमक, विडनमक, सेंधानमक, बिजौरानीबू का रस, आदी का रस और जल मिलाकर मद्य पिलाना चाहिए। इसी तरह बीजपूरकादि संस्कृत मद्य पिलायें। **मदात्यय रोगनाशक सर्वश्रेष्ठ द्रव्य मद्य है** क्योंकि व्यवायी, तीक्ष्ण एवं उष्ण गुणयुक्त होने से मद्य दोषों को उत्क्लिष्ट कर बाहर निकालता है और स्रोतों को शुद्ध करता है। **वातिक मदात्यय में रस प्रलेप—** मेदस्वी जीवों का मांस लेकर मरिचचूर्ण, आदी की कतरन या दालचीनी, छोटी लाची, तेजपात अथवा धनिया, मरिच और आदी के साथ पीसकर, पकाकर द्रव बना ले। इसे मांस के बड़े के साथ खाने को दें। **पेय द्रव्य**—वारुणी मण्ड या अम्ल अनाररस या वृहत् पंचमूल सिद्धजल पीने को दें या धनिया और सोंठ डालकर षडंगपानीय विधि से पकाया हुआ जल पीने के लिए देना चाहिए। **पैत्तिक मदात्यय में—** **सरक्तष्ठीवन एवं पार्श्वस्तन आदि में शूल हो या दाह एवं तृष्णा हो,** तो गुरुच एवं नागरमोथा के क्वाथ में या परवर की पत्ती के रस में सोंठ का चूर्ण मिलाकर दे और तीतर के मांसरस के साथ शालि या साठी के चावल का भात खिलायें। **वातपित्ताधिक्य एवं तृष्णा में—** मुनक्के का काढ़ा पिलायें और काढ़ा पच जाने पर मधुर एवं अम्ल-रसयुक्त बकरे के मांसरस के साथ भोजन दें तथा प्यास लगने पर मद्य पिलायें।	**वातिक मदात्यय** में गेहूँ के आटे की भरी हुई पकौड़ा खिलायें या जौ या चावल के आटे के बने पकवान खिलायें। आहार द्रव्य को स्निग्ध, उष्ण, अम्ल, लवणयुक्त तथा रोचक बनाकर खाने को दें। रुचिकर चटनी वेशवार, वारुणीमण्ड, मांस या आदी की पकौड़ी या कचौड़ी एवं उड़द की पीठी से बने बड़े खाने को दें। राग, षाडव तथा रुचिकारक विविध आहार दें। **विहार**—अभ्यंग, उबटन, उष्णजल स्नान, भारी ओढ़ना, घना अगरु पंक लेप, यौवन की उष्मा से ओतप्रोत कामिनियों के कुच, उरःप्रदेश, श्रोणिमण्डल का दृढ़तम आलिङ्गन, उष्ण शय्या, उष्ण अन्तर्गृह आदि सुखकर उपचार वातिक मदात्यय को शान्त कर देते हैं। **पैत्तिक मदात्यय में आहार-विहार**—जौ, गेहूँ का आटा या अगहनी या साठी का चावल प्रयोग करें। भोजन तथा पेय सब कुछ शीतल होना चाहिए। शय्या और आसन शीतल हो। शीतल वायु का एवं शीतल जल का स्पर्श सुखकर होता है। शीतल उपवन में टहलना-घूमना, कमलपत्र-स्पर्श, मणियों का धारण, जलपूरित स्वर्ण-रजत या कांस्य पात्र का शीतल

उपचार	चिकित्सा	आहार-विहार
भूख लगने पर या प्यास लगने पर तर्पण का प्रयोग करे। एतदर्थ—कमरख, खजूर, मुनक्का, फालसा और खट्टे अनार का रस मद्य में मिलाकर, फिर उसमें चीनी, सत्तू और जल मिलाकर अवलेह जैसा बनाकर चटायें। **दाह में**—चन्दनोदकसिक्त कुमुद या कमलपत्र का स्पर्श करायें। मन को आकृष्ट करने वाली कथा एवं मोर की वाणी सुनायें। फुहारा लगे धारागृह-युक्त एवं कूलर लगे आवास में निवास बनायें। दाह एवं तृष्णा के शमनार्थ परिषेक, अवगाहन, शीत पवन और शीतल पेय पदार्थ का प्रयोग करना श्रेयष्कर है। **कफज मदात्यय में—** **चिकित्सा सूत्र**—सबसे पहले वमन करायें। आवश्यकतानुसार उपवास कराना चाहिए प्यास लगने पर सुगन्ध-बाला या बृहत् पंचमूल से सिद्ध जल पिलायें। रूक्ष आहार, रूक्ष यूष एवं रूक्ष मांसरस खाने के लिए देना चाहिए। भृष्ट मांस में पर्याप्त मरिचचूर्ण आदि डालकर खिलायें।	दाहशामक प्रियंग्वादि लेप—प्रियंगु, खश, लोध, सुगन्धबाला, नागकेशर, तेजपात और सोनापाठा पीसकर लेप लगाना दाहशामक है। तथा खट्टी काँजी के साथ सुरामण्ड, सुरा, खट्टी दही, बिजौरा नीबू का रस और मधु मिलाकर लेप करने से दाह शान्त हो जाता है। **कफज मदात्यय में**—प्यास लगने पर सुगन्धबाला या बरियार और पिठवन या छोटी कटेरी के पंचांग या दुरालभा और मोथा या मोथा तथा पित्तपापड़ा या केवल मोथा से सिद्ध जल पिलायें। **निराम मदात्यय में** —शर्करा या मधु से निर्मित पुराने अरिष्ट या सीधु में रूक्ष जौ का सत्तू या धान के लावा का सत्तू तथा जवायन एवं सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर पर्याप्त मधु मिलाकर खाने को दें। **स्रोतों के शोधनार्थ**—अष्टांगलवण का प्रयोग करें। उसे मधुर तथा अम्ल द्रव्यों के साथ द्रव बनाकर खाद्यान्न के साथ प्रयोग करना चाहिए। **अरुचि में**—सोंचरनमक, छोटी इलायची, मरिच, जीरा, दालचीनी और जवायन के साथ खट्टे अनार के रस से मुनक्के को पीसकर, चटनी बनाकर खिलायें। इसी तरह आम तथा आँवले की चटनी बनाकर खिलायें।	स्पर्श, बर्फ भरे मशक का स्पर्श, चन्दन का अनुलेप और मलयागिरिचन्दन के पङ्क से लिप्त अंगोवाली ललनाओं का स्पर्श तथा अन्य शीत उपचार पित्तज मदात्यय को शान्त करते हैं। **कफज मदात्यय में आहार-विहार**—जौ या गेहूँ की रोटी, मरिच चूर्ण, नीबू के रस से युक्त कुलथी का यूष, कटु-अम्लरस युक्त मूली का शाक खाने को दें या खट्टे अनार के रस से युक्त परवर का यूष या मरिच आदि कटुद्रव्ययुक्त आँवले की पतली चटनी और रोटी दें। (अथवा) खट्टे अनार के रस से अम्ल किया हुआ त्रिकटु सिद्ध यूष दें या अम्लबेंत के साथ बिना घी के पकाया हुआ बकरे का मांस और रोटी दें। इसी प्रकार अनाररसयुक्त जांगल जीवों का मांस या कटु-अम्ल-लवणयुक्त भृष्ट मांस खाने को दे या—मरिच, बिजौरा नीबू का रस, त्रिकटु, जवायन एवं सोंठ मिलाकर, मांस को ठीक से भूनकर, फिर खट्टे अनार का रस तथा आदी मिलाकर कचौड़ी में भरकर ग्ररम-गरम पकाकर खाने के लिए देना चाहिए।

सान्निपातिक मदात्यय में उपचार	सभी मदात्ययों में हर्षणी क्रिया-विहार
अलग-अलग वातोल्बण, पित्तोल्बण या कफोल्बण मदात्यय की जो चिकित्सा कही गयी है, वही चिकित्सा सन्निपातज मदात्यय में भी दोषों के अनुसार करनी चाहिए। **दुग्धप्रयोग**—यदि मदात्यय में उक्त सभी चिकित्साएँ असफल हो जायें, तो मद्यपान का परित्याग कर लंघन, पाचन, दोषशोधन और शमन उपचारों से कफ के क्षीण हो जाने पर, शरीर में दुर्बलता तथा लघुता होने पर यदि वात-पित्त की अधिकता हो, तो दूध का प्रयोग कराना चाहिए। **ध्वंसक तथा विक्षय**—इनमें वातनाशक वस्ति, दुग्ध एवं घृत का पान, अभ्यंग, उबटन, स्नान तथा वातहर अन्नपान लाभप्रद होता है।	सुरम्य उद्यान में भ्रमण, कमलों से भरे तालाब के किनारे आसन जमाना, स्वच्छ सात्त्विक भोजन, प्रसन्नचित्त मित्रों का साहचर्य, मालाधारण, इत्र लगाना, निर्मल परिधान, वाद्य-संगीत, मनोरञ्जक गोष्ठी, हास्यपूर्ण कथावार्ता, संगीत का सुरुचिपूर्ण आयोजन, मधुर-मनोहर-मृदुभाषिणी, कमनीय, कोमलाङ्गी ललनाओं का समाश्लेष और आलिङ्गन, ये सभी तत्त्व मदात्यय को दूर करने में परम उपयोगी होते हैं।

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'द्विव्रणीयचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—पूर्व के अध्याय में मदात्यय रोग का वर्णन किया गया है। मदात्यय का रोगी विवेकशून्य और प्रमादी हो जाता है। वह अनावश्यक उछल-कूद और व्यायाम अथवा युद्ध का स्वांग बनाता रहता है, जिससे चोट खाने, आघात लगने या टूट-फूट या व्रण होने की अधिक सम्भावना होती है, शोथ भी हो जाता है। इस प्रकार मदात्यय-जनित आघात-शोथ किंवा व्रण के उपचार की आवश्यकता पड़ती है। अतः मदात्यय के अनन्तर इस द्विव्रणीय अध्याय का वर्णन प्रसङ्गानुसार है।

निरुक्ति—व्रण के १. आगन्तुक तथा २. निज (दोषज), ये दो भेद होते हैं और इन दोनों का वर्णन होने से इस अध्याय का नाम द्विव्रणीयचिकित्सित रखा गया है—'द्वौ व्रणौ अधिकृत्य कृतोऽध्यायः द्विव्रणीयः, स चासौ चिकित्सिश्च, इति द्विव्रणीयचिकित्सितः'।

परावरज्ञमात्रेयं गतमानमदव्यथम्। अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
भगवन्! पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसंग्रहे। तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च वक्तुमर्हसि शर्मद! ॥ ४ ॥

अग्निवेश का व्रणविषयक प्रश्न—अग्निवेश ने मान-मद तथा वेदना से रहित, मोक्षप्रतिपादक तथा सांसारिक विषय वस्तुओं के प्रतिपादक अखिलशास्त्रों के ज्ञाता, गुरुवर्य आत्रेय से उनके अवकाश के क्षण में विनम्रतापूर्वक यह जिज्ञासा प्रकट की। हे भगवन्! आपने (च० सू० १८) रोगसंग्रहाध्याय में पहले दो व्रणों का कथन किया है ॥ हे कल्याणकारिन्! उन दोनों के लक्षण और चिकित्सा का कृपा कर उपदेश कीजिये ॥ ३-४ ॥

इत्यग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत्। यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ॥ ५ ॥
श्रूयतां विधिवत् सौम्य! तयोर्लिङ्गं च भेषजम्।

आत्रेय का अग्निवेश को उत्तर—अग्निवेश के व्रणसम्बन्धी प्रश्न को सुनकर महर्षि आत्रेय ने कहा—पहले रोग संग्रहाध्याय में जो निज तथा आगन्तुज दो प्रकार के व्रण कहे गये हैं; हे सौम्य! उन दोनों व्रणों के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा आप विधिवत् सुनें ॥ ५ ॥

निजः शारीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्यहेतुजः ॥ ६ ॥

निज और आगन्तुज व्रणों में पार्थक्य—जो व्रण शारीरिक दोष (वात-पित्त-कफ) से उत्पन्न होते हैं, वे 'निज' कहे जाते हैं और जो व्रण बाहरी आघात आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं, वे 'आगन्तुज' कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

वधबन्धप्रपतनाद् दंष्ट्रादन्तनखक्षतात्। आगन्तवो व्रणास्तद्वद् विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः ॥ ७ ॥
मन्त्रागदप्रलेपाद्यैर्भेषजैर्हेतुभिश्च ते। लिङ्गैकदेशैर्निर्दिष्टा विपरीता निजैर्व्रणैः ॥ ८ ॥

आगन्तुज व्रणों के कारण—मारपीट या चोट-आघात लगने से, रस्सी आदि से दृढ़तापूर्वक बाँधने से, ऊँचे स्थान से गिरने से, विषैले दाँत वाले जन्तुओं के काटने अथवा दाँत या नख से घाव हो जाने से, विष के स्पर्श से, आग से जलने से या शस्त्र से कट जाने से आगन्तुज व्रण उत्पन्न होते हैं। मन्त्र-प्रयोग,

अगद औषधों के प्रलेप आदि चिकित्सा के प्रकारों, उत्पादक कारणों और किसी एक शरीर देश में लक्षणों के उत्पन्न होने से, वे आगन्तुज व्रण निजव्रणों से विपरीत प्रकार के होते हैं ॥ ७-८ ॥

व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम्। कुर्याद्दोषबलापेक्षी निजानामौषधं यथा ॥ ९ ॥

आगन्तुज व्रणों की निज व्रणवत् चिकित्सा—जिन आगन्तुज व्रणों में ('आगन्तुर्व्यथापूर्वमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति'—च. सू. २०—इस सिद्धान्त के अनुसार) आगे चलकर निज वातादि दोषों का भी प्रकोप हो गया हो और वे आगन्तुज व्रणोपचार से शान्त नहीं हो रहे हों, तो दोष तथा शारीरिक बल का विचार रखनेवाला वैद्य उनकी चिकित्सा निजव्रणों की तरह (दोषानुसार) करे ॥ ९ ॥

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम्। बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान् ॥ १० ॥

निज व्रणों का निदान तथा सम्प्राप्ति—अपने-अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुए वात-पित्त-कफ शरीर के बाह्य मार्गों में आश्रित होकर निज व्रणों को उत्पन्न करते हैं ॥ १० ॥

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्। तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसम्भवः ॥ ११ ॥

वातज व्रण का लक्षण—वात से उत्पन्न होनेवाला व्रण जकड़ा हुआ होता है, छूने में कड़ा होता है, उससे थोड़ा-थोड़ा स्राव होता है, उसमें तीव्र दर्द होता है, सुई चुभने जैसी पीड़ा होती है और फड़कन होती है। उसका वर्ण झाईंदार होता है ॥ ११ ॥

वक्तव्य—चरकसंहिता कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है, इसलिए यहाँ शल्यतन्त्रीय विषयों का अतिसंक्षेप में वर्णन करना अभीष्ट है, अतएव वातज व्रण का भी संक्षिप्त वर्णन है। विशेष जिज्ञासा के लिए सुश्रुतसंहिता-सूत्रस्थान अध्याय २२ को देखना चाहिए।

सम्पूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः। प्रदेहैः परिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत् ॥ १२ ॥

वातज व्रण चिकित्सासूत्र—बृंहण आहार के सेवन से स्नेह पान कराकर, स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करके, पुल्टिस बाँधकर, प्रलेप लगाकर और परिषेक द्वारा वातज व्रण की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ १२ ॥

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः। व्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥ १३ ॥

पित्तज व्रण का लक्षण—प्यास की अधिकता, मूर्च्छा, ज्वर, व्रण में गीलापन, जलन, सड़न, फटन और दुर्गन्धपूर्ण स्राव होना देखकर पित्तज व्रण जानना चाहिए ॥ १३ ॥

शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः प्रदेहपरिषेचनैः। सर्पिष्पानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद् व्रणम् ॥ १४ ॥

पित्तज व्रण का चिकित्सासूत्र—शीतल, मधुर तथा तिक्त द्रव्यों को पीसकर बनाये गये कल्क के लेप तथा क्वाथ के परिसेचन से तथा घृतपान कराकर और विरेचन कराकर पित्तज व्रण को शान्त करे ॥ १४ ॥

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः ॥ १५ ॥

कफज व्रण का लक्षण—कफ से होनेवाला व्रण बहुत जलीय द्रवयुक्त, भारी, चिकना, निश्चल और मन्द-मन्द वेदना वाला होता है। उसका वर्ण पीत-श्वेत होता है। उसमें से थोड़ा-थोड़ा स्राव निकलता है और वह बहुत दिनों में ठीक होता है ॥ १५ ॥

कषायकटुरूक्षोष्णैः प्रदेहपरिषेचनैः। कफव्रणं प्रशमयेत् तथा लङ्घनपाचनैः ॥ १६ ॥

कफव्रण का चिकित्सासूत्र—कफ से होने वाले व्रण को कषाय-कटु-रूक्ष एवं उष्ण द्रव्यों के कल्क के लेप तथा उन्हीं के क्वाथ से परिसेचन करके तथा लंघन और पाचन प्रयोगों से शान्त करना चाहिए ॥ १६ ॥

तौ द्वौ नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः। तेषां परीक्षा त्रिविधा, प्रदुष्टा द्वादश स्मृताः ॥ १७ ॥
स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः परिस्रावाश्चतुर्दश। षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा ॥

तथा चोपक्रमाः सिद्धाः षट्त्रिंशत् समुदाहृताः। विभज्यमानाञ्छृणु मे सर्वानेतान् यथेरितान्॥

व्रणों के भेद—पूर्व कथित निज तथा आगन्तुज, ये दोनों व्रण अनेक भेदों में विभक्त होकर बीस प्रकार के हो जाते हैं और उनकी तीन प्रकार से परीक्षा होती है। दूषित हुए व्रण १२ प्रकार के होते हैं। व्रण के ८ स्थान होते हैं और ८ प्रकार की गन्ध होती है। व्रणों के स्राव १४ प्रकार के होते हैं। उनके १६ उपद्रव होते हैं। २४ प्रकार के दोष होते हैं और ३६ प्रकार के चिकित्सा के उपक्रम होते हैं। अब आगे इन भेदों को अलग-अलग बाँटकर कहा जायगा। उसे आप सुनें!॥ १७-१९॥

व्रणों के भेद

कारण	नानात्व	दुष्टि	स्थान	गन्ध	स्राव	उपद्रव	दोष	उपक्रम
भेद से	भेद से	भेद से	भेद से	भेद से	भेद से	भेद से	भेद से	भेद से
२	२०	१२	८	८	१४	१६	२४	३६

कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च। संवृतो दारुणः स्रावी सविषो विषमस्थितः॥
उत्सङ्ग्युत्सन्न एषां च व्रणान् विद्याद्विपर्ययात्। इति नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः[1]॥

व्रण के नानात्व भेद से २० प्रकार—१. कृत्य, २. उत्कृत्य, ३. दुष्ट, ४. अदुष्ट, ५. मर्माश्रित, ६. मर्म में अनाश्रित, ७. संवृत, ८. विवृत, ९. दारुण, १० मृदु, ११. स्रावी, १२. अस्रावी, १३. विषयुक्त, १४. विषरहित, १५. विषम, १६. सम, १७. उत्संगी, १८. अनुत्संगी, १९. उत्सन्न और २०. अनुत्सन्न—ये नानात्वभेद से २० प्रकार के व्रण कहे गये हैं॥ २०-२१॥

नानात्वभेद से व्रण के २० भेद

कृत्य	दुष्ट	मर्मस्थ	संवृत	दारुण	स्रावी	सविष	विषम	उत्सङ्गी	उत्सन्न
उत्कृत्य	अदुष्ट	अमर्मस्थ	विवृत	मृदु	अस्रावी	निर्विष	सम	अनुत्संगी	अनुत्सन्न

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता। वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात्॥ २२॥
हेत्वर्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः। स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये॥ २३॥

त्रिविध परीक्षा—व्रणों की परीक्षा तीन प्रकार की कही गयी है—१. दर्शन, २. प्रश्न और ३. संस्पर्श। इनमें (१) **दर्शन** से रोगी की आयु (बाल-युवा या वृद्ध), उसके शरीर का कृष्ण, पीत, गौर आदि वर्ण, शरीर का ढाँचा, कृशता या स्थूलता, अंगों का विन्यास, शोथ या अन्य विकृति और इन्द्रियों के अधिष्ठानों की परीक्षा करनी चाहिए। (२) **प्रश्न** से व्रण का कारण, व्रणगत पीड़ा का प्रकार, किन्हीं पदार्थों के प्रति रुचि या अनुकूलता और जठराग्नि के बल (सम, विषम या तीक्ष्ण) की परीक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार (३) **स्पर्श** से रोगी के पीड़ित शरीरावयव की मृदुता या कठोरता, शीतता या उष्णता आदि का परिज्ञान करना चाहिए॥ २२-२३॥

वक्तव्य—इन परीक्षाओं के विस्तृत अध्ययन के लिए टीका लेखक के 'आयुर्वेदीय विकृति विज्ञान' ग्रन्थ के अध्याय २६, २७, २८ देखना चाहिए। यहाँ सारांश उद्धृत किया गया है।

---

१. कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च, इत्यनेनोक्तानि षट् द्वन्द्वानि। शेषास्तु संवृतादयस्सप्तविपर्ययेण सह चतुर्दश। संवृतोऽसंवृतः दारुणोऽदारुणः उत्सन्नोऽवसन्नः सविषो निर्विषः विषमस्थितो न च विषमस्थितः स्रावी अस्रावी त्वक्सङ्ग्यनुत्सङ्गीति। (जज्जट टीका)

त्रिविध परीक्षा

दर्शन	प्रश्न	संस्पर्श

श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽतिस्थूलवर्त्माऽतिपिञ्जरः।
नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः॥ २४॥
रोप्यः कुम्भीमुखश्चैव प्रदुष्टा द्वादश व्रणाः। चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा दोषाः कल्पान्तरेण वै॥ २५॥

दुष्टव्रण के १२ प्रकार—१. श्वेत, २. अवसन्नवर्त्मा (जिसका प्रान्त प्रदेश भीतर धँसा हो), ३. अतिस्थूलवर्त्मा (जिसका प्रान्त भाग मोटा हो), ४. अतिपिञ्जर (जो अधिक पीला हो) ५. नील, ६. श्याव, ७. अतिपिडक, ८. रक्त, ९. कृष्ण, १०. अतिपूतिक (जिसमें बहुत दुर्गन्ध हो), ११. रोप्य (जो रोपण कर जाये) और १२. कुम्भीमुख (जिसमें पूय अधिक हो, किन्तु मुख छोटा होने से पूय न निकल सके)—ये १२ प्रकार के दुष्ट व्रण होते हैं तथा इन्हीं व्रण-भेदों की विशेष कल्पना के कारण व्रण के २४ दोष होते हैं (जिनका वर्णन अग्रिम श्लोकों में किया जायेगा)॥ २४-२५॥

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयाः। व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे॥

व्रण के आठ स्थान—१. त्वचा, २. सिरा, ३. मांस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. स्नायु, ७. मर्म और ८. अन्तराश्रय (कोष्ठ)—ये आठ व्रण के स्थान कहे गये हैं॥ २६॥

व्रण के ८ स्थान

त्वचा	सिरा	मांस	मेद	अस्थि	स्नायु	मर्म	अन्तराश्रय

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः। व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः॥ २७॥

व्रण की ८ गन्ध—व्रण की गन्ध को जाननेवाले विद्वानों ने १. घी, २. तैल, ३. वसा, ४. पूय, ५. रक्त, ६. श्याव (ताम्रपात्र में रखे गये खट्टे पदार्थ के कसा जाने पर जैसी गन्ध), ७. अम्ल और ८. पूतिक, ये व्रण की ८ गन्ध कही हैं॥ २७॥

व्रण की ८ गन्ध

घृत	तैल	वसा	पूय	रक्त	श्याव	अम्ल	पूतिक

लसीकाजलपूयासृग्धारिद्रारुणपिञ्जराः। कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः॥ २८॥
इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्रावाश्चतुर्दश।

व्रणों के १४ प्रकार के स्राव—१. लसीका, २. जल, ३. पूय, ४. रक्त, ५. हरिद्रा (हल्दी के रंग जैसा द्रव), ६. अरुण (लाल), ७. पिञ्जर (पीतरक्त), ८. कषाय (भूरा), ९. नीलवर्ण, १०. हरितवर्ण, ११. स्निग्ध, १२. रूक्ष, १३. श्वेतवर्ण और १४. कृष्णवर्ण—ये स्वरूप की दृष्टि से १४ प्रकार के व्रणों के स्राव कहे गये हैं॥ २८॥

व्रणों के १४ प्रकार के स्राव

लसीका	जल	पूय	रक्त	हरिद्रा	अरुण	पिञ्जर	हरित	नील	हरित	स्निग्ध	रूक्ष	श्वेत	कृष्ण

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः॥ २९॥
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः। कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः॥ ३०॥
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः।

व्रणों के १६ उपद्रव—व्रण के सम्बन्ध में सोचने-विचारने वाले चिकित्सकों ने व्रण के १६ प्रकार के उपद्रवों को बतलाया है, यथा—१. विसर्प, २. पक्षाघात, ३. सिरास्तम्भ, ४. अपतानक, ५. मोह, ६. उन्माद, ७. व्रणवेदना, ८. ज्वर, ९. तृष्णा, १०. हनुग्रह, ११. कास, १२. छर्दि, १३. अतिसार, १४. हिक्का, १५. श्वास और १६. कम्पन॥ २९-३०॥

व्रणों के १६ उपद्रव

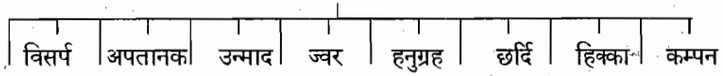

स्नायुक्लेदात् सिराक्लेदाद् गाम्भीर्यात् कृमिभक्षणात्॥ ३१॥
अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् सविषत्वाच्च सर्पणात्। नखकाष्ठप्रभेदाच्च चर्मलोमातिघट्टनात्॥
मिथ्याबन्धादतिस्नेहादतिभैषज्यकर्षणात्। अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात्॥३३॥
शोकात् क्रोधाद्दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात्तथा।
व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम्॥ ३४॥

व्रणों के २४ दोष—१. स्नायुओं के गलने से, २. सिराओं के सड़ने से, ३. व्रणों के अधिक गहरे होने से, ४. कृमियों द्वारा सिरा-स्नायु भक्षण से, ५. हड्डियों के टूटने से, ६. व्रण में किसी अवाञ्छनीय कष्टकर वस्तु के होने से, ७. व्रण में विषमयता हो जाने से, ८. व्रणों के फैलने से, ९. नख से या किसी काष्ठ के आघात से फट जाने से, १०. त्वचा पर घर्षण होने से, ११. बालों की रगड़ से, १२. बन्धन ठीक से न लगने से, १३. व्रण में स्निग्ध पदार्थों के अधिक प्रयोग से, १४. बहुत-सी औषधों के प्रयोग से शरीर के क्षीण हो जाने से, १५. अजीर्ण होने से, १६. अधिक मात्रा में भोजन करने से, १७. विरुद्ध आहार के सेवन से, १८. अहितकर एवं प्रतिकूल आहार के प्रयोग से, १९. शोक करने से, २०. क्रोध करने से, २१. दिन में सोने से, २२. व्यायाम करने से, २३. मैथुन करने से और २४. व्रण का उपचार न करने से शरीरधारियों के व्रण अच्छे नहीं होते हैं।॥ ३१-३४॥

व्रण के २४ दोष

१. स्नायुक्लेद	६. सशल्यता	११. लोमघर्षण	१६. अतिभुक्त	२१. दिवाशयन
२. सिराक्लेद	७. सविषता	१२. मिथ्याबन्धन	१७. विरोधीभुक्त	२२. व्यायाम
३. गाम्भीर्य	८. सर्पणता	१३. अतिस्नेह	१८. असात्म्यभुक्त	२३. मैथुन
४. कृमिभक्षण	९. नखाघात	१४. कर्षण	१९. शोक	२४. अनुपचार
५. अस्थिभेद	१०. चर्मघर्षण	१५. अजीर्ण	२०. क्रोध	

परिस्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह। व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वं चोपजायते॥ ३५॥

कृच्छ्रसाध्य व्रण—अधिक स्राव होने से, दुर्गन्धि होने से, दोषों तथा उपद्रवों की बहुलता या अधिकता से तथा अधिक दोषयुक्त व्रण कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं॥ ३५॥

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः। धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः॥ ३६॥

सुखसाध्य व्रण—जो व्रण त्वचा या मांस में उत्पन्न हुआ हो, आरोग्यमय स्थान में एवं उचित काल (शीतऋतु) में उत्पन्न हुआ हो, जिस व्रण में कोई उपद्रव न हो, व्रण नया-नया उत्पन्न हो तथा रोगी युवा और बुद्धिमान् हो तो उसका व्रण सुखसाध्य होता है॥ ३६॥

गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः। सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपक्रमः॥ ३७॥

व्रणों की कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता—पूर्व में सुखसाध्य व्रण के जो गुण बतलाये गये हैं, उनसे एक भी गुण से हीन व्रण कृच्छ्रसाध्य हो जाता है और यदि सभी गुणों से हीन व्रण हो, तो वह असाध्य तथा अचिकित्स्य हो जाता है॥ ३७॥

व्रणानामादितः कार्यं यथासन्नं विशोधनम्। ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्बस्तिभिरेव च॥ ३८॥

व्रणों में विशोधन प्रथम कर्तव्य—सभी प्रकार के व्रणों में सबसे पहले निकटतम मार्ग से वमन से, विरेचन से, वस्ति से और शस्त्रकर्म के द्वारा शरीर के दोषों का तथा व्रण के विकारों का शोधन करना चाहिए॥ ३८॥

सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः।

शोधन का फल—व्रण उत्पन्न होने पर तुरन्त ही संशोधन कर्म करके शरीर का तथा व्रण का शोधन कर देने से व्रण शान्त हो जाते हैं॥

यथाक्रममतश्चोर्ध्वं शृणु सर्वानुपक्रमान्॥ ३९॥
शोफघ्नं षड्विधं चैव शस्त्रकर्मावपीडनम्। निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणम्॥ ४०॥
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ। द्वे तैले तद्गुणे पत्रं छादने द्वे च बन्धने॥ ४१॥
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः। काठिन्यमार्दवकरे धूपनालेपने शुभे॥ ४२॥
व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं रोपणं लोमरोहणम्। इति षट्त्रिंशदिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः॥ ४३॥

व्रण के ३६ उपक्रम—अब यहाँ से आगे आप व्रणों के उपक्रमों को यथाक्रम सुनें; यथा—१. शोथनाशक कर्म, २. पाटन, ३. व्यधन, ४. छेदन, ५. लेखन, ६. प्रच्छन्न, ७. सीवन (ये छः प्रकार के शस्त्र कर्म), ८. अवपीडन (दबाने के लिए लेप आदि करना), ९. निर्वापण (दाहशामक लेप), १०. सन्धान (सीना या घाव भरने का उपचार करना), ११. स्वेदन, १२. शमन, १३. एषण, १४. शोधन कषाय, १५. रोपण कषाय, १६. शोधन प्रलेप, १७. रोपण प्रलेप, १८. शोधन तैल, १९. रोपण तैल, २०. (तैल के समान कार्य करने वाले-तद्गुणे-से), २१. शोधन घृत, २२. रोपण घृत, २३. पत्रछादन, २४. दो प्रकार के बन्धन, २५. पथ्य आहार, २६. उत्सादन (घाव को भरना), २७-२८. दो प्रकार के दाह, २९. अवसादन (उभड़े व्रण को नीचा करना), ३०. व्रण को कठिन बनाने वाले धूपन, ३१. व्रण को मृदु बनाने वाले धूपन, ३२. व्रण को कठिन बनाने वाले लेप, ३३. व्रण को मृदु बनाने वाले लेप, ३४. व्रणों के चिह्न को मिटाकर सामान्य वर्ण लाने वाला अवचूर्णन, ३५. रोपण और ३६. बालों को उगानेवाला अवचूर्णन—इस प्रकार व्रणों की चिकित्सा के लिए ये ३६ प्रकार के उपक्रम बतलाये गये हैं॥ ३९-४३॥

वक्तव्य—सुश्रुत में ६० प्रकार की व्रणों की चिकित्सा कही गयी है और यहाँ ३६ ही प्रकार की चिकित्सा बतलायी गयी है; किन्तु इस संख्याभेद का समाधान यह है कि सुश्रुत ने जो ६० प्रकार के उपक्रम कहे हैं, उन सबका समावेश इन्हीं ३६ में कर लिया गया है।

पूर्वरूपं भिषग् बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः। रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये॥ ४४॥

व्रण के पूर्वरूप में रक्तावसेचन—वैद्य को चाहिए कि वह व्रण की पूर्वरूपावस्था में उत्पन्न शोथ को पहचानकर व्रणोत्पत्ति के पूर्व ही शोथ स्थान से दुष्ट रक्त को निकाल दे, जिससे व्रण उत्पन्न न हो सके॥ ४४॥

शोधयेद् बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलङ्घयेत्। पूर्वं कषायसर्पिर्भिर्जयेद्वा मारुतोत्तरान्॥ ४५॥

व्रण में प्राथमिक उपचार—यदि रोगी में (चरक-सूत्रस्थान १६ में कथित) बहुदोष के लक्षण उपस्थित हों, तो उनका शोधन (आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन आदि) करना चाहिए। यदि दोष एकदम अल्प हों, तो उन्हें लंघन कराना चाहिए। यदि रोगी में वायु-दोष प्रबल हो, तो पहले वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध घृतों का प्रयोग कर वात का शमन करना चाहिए॥ ४५॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः। ससर्पिष्कैः प्रलेपः स्याच्छोफनिर्वापणः परम्॥ ४६॥

शोथनिर्वापण लेप—वर, गूलर, पीपर, पाकड़ और बेंत—इन सबकी छाल का बारीक कल्क बनाकर उचित मात्रा में घी मिलाकर लेप लगाने से शोफ का उत्तम रीति से शमन हो जाता है॥ ४६॥

विजया मधुकं वीरा बिसग्रन्थिः शतावरी। नीलोत्पलं नागपुष्पं प्रदेहः स्यात् सचन्दनः॥ ४७॥

विजयादि प्रदेह—विजया ('बला' चक्रपाणि), मुलहठी, क्षीरकाकोली, कमल की ग्रन्थि, शतावर, नीलकमल, नागकेशर और लाल चन्दन—इन सबको बारीक पीसकर व्रणशोथ पर लेप करना शोथनाशक होता है॥ ४७॥

सक्तवो मधुकं सर्पिः प्रदेहः स्यात् सशर्करः। अविदाहीनि चान्नानि शोफे भेषजमुत्तमम्॥ ४८॥

मधुकादि प्रदेह—जौ का सत्तू, मुलहठी चूर्ण, घी और चीनी एक में अच्छी तरह मिलाकर व्रणशोथ पर प्रदेह लगाना चाहिए तथा अविदाही अन्नों का भोजन करना चाहिए॥ ४८॥

स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत्। तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते॥ ४९॥

पाटन कर्म—यदि पूर्वोक्त उपचार के प्रयोग से भी शोथ न शान्त हो, तो उपनाहों के द्वारा शोथ को पकाकर उसका पाटन (Incision) करना चाहिए॥ ४९॥

तैलेन सर्पिषा वाऽपि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका। सुखोष्णा शोफपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते॥ ५०॥

सतिला सातसीबीजा दध्यम्ला सक्तुपिण्डिका। सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता स्यादुपनाहने॥ ५१॥

उपनाह कर्म—१. तिल का तैल अथवा घी या दोनों ही मिलाकर जौ के सत्तू का पिण्ड बनाकर, हल्का गरम कर शोथ को पकाने के लिए पुल्टिस की तरह उपनाह बाँधना चाहिए। २. तिल, तीसी का बीज, दही का खट्टा पानी, किण्व (सुरा की तलछट), कूठ तथा सेंधानमक के बारीक चूर्ण को जौ के सत्तू में कूटकर, मिलाकर, उसकी पुल्टिस बाँधना उत्तम व्रणपाचन है॥ ५०-५१॥

रुग्दाहरागतोदैश्च विदग्धं शोफमादिशेत्। जलबस्तिसमस्पर्शं सम्पक्वं पीडितोन्नतम्॥ ५२॥

पच्यमान तथा पक्व व्रणशोथ का लक्षण—जब शोथ में दर्द, जलन, लालिमा और सुई चुभाने जैसी वेदना हो, तो उसे विदग्ध या पच्यमान व्रणशोथ कहना चाहिए। इसी प्रकार जब छूने पर या दबाने पर दबकर अंगुली हटाने पर फिर उभर आये तथा स्पर्श करने पर पानी भरी थैली के समान प्रतीत हो तो उसे पका हुआ व्रणशोथ कहना चाहिए॥ ५२॥

उमाऽथो गुग्गुलुः सौधं पयो दक्षकपोतयोः। विट् पलाशभवः क्षारो हेमक्षीरी मुकूलकः॥ ५३॥

इत्युक्तो भेषजगणः पक्वशोथप्रभेदनः। सुकुमारस्य, कृच्छ्रस्य शस्त्रं तु परमुच्यते॥ ५४॥

पक्वशोथ-भेदन लेप—सुकुमार प्रकृति के व्यक्ति के पके हुए व्रणशोथ के भेदन के लिए तीसी, गुग्गुलु, सेहुँड़ का दूध, मुर्गा और कबूतर की बीट, पलाश का क्षार, भड़भाड़ का बीज और दन्ती बीज का कल्क बनाकर लेप करना चाहिए। यदि व्रणशोथ कृच्छ्रसाध्य हो तथा रोगी सुकुमार न हो, तो पक्व व्रणशोथ के भेदनार्थ शस्त्र का प्रयोग उत्तम कहा गया है॥ ५३-५४॥

पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा। प्रच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्॥ ५५॥

छः प्रकार के शस्त्रकर्म—१. पाटन (Incision), २. व्यधन (Puncturing), ३. छेदन (Excision), ४. लेखन (Scraping), ५. प्रच्छन्न (Tatooring), ६. सीवन (Suturing)—ये छः प्रकार के शस्त्रकर्म कहे गये हैं॥ ५५॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने पाटन को भेदन तथा प्रच्छन्न को विस्रावण नाम दिया है और एष्य एवं आहार्य, इन दो शस्त्रकर्मों को भी गिनाया है। इस प्रकार सुश्रुत के अनुसार १. छेद्य, २. भेद्य, ३. लेख्य, ४. वेध्य, ५. एष्य, ६. आहार्य, ७. विस्राव्य और ८. सीव्य—ये ८ शस्त्रकर्म कहे गये हैं।

चरक ने एष्य तथा आहार्य को यन्त्रों का कार्य माना है, अत एव इनकी गणना शस्त्रकर्म में नहीं की गयी है।

नाडीव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम्। अन्तःशल्याश्च ये शोफाः पाट्यास्ते तद्विधाश्च ये॥

पाटन योग्य रोग—नाडीव्रण, पके हुए व्रणशोथ, क्षतोदर, बद्धगुदोदर और जिस शोथ के भीतर कोई काँटा आदि शल्य हो, ऐसे शोथ—ये सब रोग पाटनकर्म के योग्य होते हैं॥ ५६॥

दकोदराणि सम्पक्वा गुल्मा ये ये च रक्तजाः। व्यध्याः शोणितरागाश्च विसर्पपिडकादयः॥ ५७॥

व्यधनकर्म के योग्य रोग—जलोदर, पके हुए गुल्म, पके हुए रक्तज गुल्म और रक्त के दूषित होने से उत्पन्न विसर्प एवं पिडका आदि रोग व्यधन के योग्य होते हैं॥ ५७॥

उद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिनान् व्रणान्। अर्शःप्रभृत्यधीमांसं छेदनेनोपपादयेत्॥ ५८॥

छेदनयोग्य रोग—जिन व्रणों में मांस बढ़कर मुड़ गया हो, जिनके किनारे मोटे हो गये हों, जो ऊपर की ओर उठे हुए हों, जो कड़े हों और अर्श आदि मांस में उत्पन्न रोग छेदन कर्म के योग्य होते हैं॥ ५८॥

किलासानि सकुष्ठानि लिखेल्लेख्यानि बुद्धिमान्।

लेखनीय रोग—बुद्धिमान शल्य-चिकित्सक को कुष्ठ रोग तथा किलास रोग में लेखनकर्म के द्वारा दूषित भाग खुरचकर निकाल देना चाहिए॥

वातासृग्ग्रन्थिपिडकाः सकोठा रक्तमण्डलम्॥ ५९॥

कुष्ठान्यभिहतं चाङ्गं शोथांश्च प्रच्छयेद्भिषक्। सीव्यं कुक्ष्युदराद्यं तु गम्भीरं यद्विपाटितम्॥ ६०॥

इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः।

प्रच्छन्न तथा सीवन योग्य रोग—(१) वातरक्त, ग्रन्थिरोग, पिडका, कोठ, रक्तमण्डल, कुष्ठरोग, तथा जिस स्थान में आघात लगा हो और शोथ—इन्हें प्रच्छन्न योग्य समझकर इनका प्रच्छन्नकर्म करना चाहिए। (२) कुक्षि या उदर आदि में गम्भीर व्रण हो गया हो अथवा जिन्हें गहराई तक चीरा लगाया गया हो, उनमें सीवन करना चाहिए। इस प्रकार शल्यविद् विद्वानों ने इन छः प्रकार के शस्त्रकर्मों का उपदेश किया है॥ ५९-६०॥

सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान् प्रपीडयेत्॥ ६१॥

प्रपीडन योग्य व्रण—जिन व्रणों का मुख छोटा हो, किन्तु भीतर में पूय संचित हो गया हो, ऐसे व्रणों का पीड़न (दबाना) करना चाहिए। इसके दो प्रकार हो सकते हैं—१. दबा-दबाकर पूय को निकाल देना या २. व्रण के ऊपर अवपीडक द्रव्यों का लेप लगाकर व्रण का मुख बड़ा कर पूय का निर्हरण करना॥ ६१॥

कलायाश्च मसूराश्च गोधूमाः सहरेणवः। कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निःस्नेहा व्रणपीडने॥ ६२॥

शाल्मलीत्वग्बलामूलं तथा न्यग्रोधपल्लवाः।

व्रणपीडन योग—मटर, मसूर, गेहूँ, मोटे दाने का चना या मटर, सेमर की छाल, बरियार का मूल और बर के पत्तों को पीसकर, बिना घी-तैल मिलाये व्रणपीडनार्थ (व्रण का मुख भाग छोड़कर सूखने पर्यन्त) लेप लगाना चाहिए॥ ६२॥

वक्तव्य—यह लेप जब सूख जाता है तब व्रण का पीडन करता है, जिससे दबाव पड़कर पूय बाहर निकल जाता है।

न्यग्रोधादिकमुद्दिष्टं बलादिकमथापि वा॥ ६३॥

आलेपनं निर्वपणं तद्विद्यात्तैश्च सेचनम्। सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना॥ ६४॥
निर्वापयेत् सुशीतेन रक्तपित्तोत्तरान् व्रणान्। लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा॥ ६५॥
सन्दधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत्।

निर्वापण (प्रक्षालन) और सेचन तथा सन्धान—(१) न्यग्रोधादि औषधों (पूर्व के श्लोक ४६ में कथित) अथवा बलादि औषधों (श्लोक ४७ में कथित) को पीसकर लगायें एवं उन्हीं के क्वाथ से प्रक्षालन तथा परिसेचन भी करें। (२) जो व्रण रक्त और पित्तदोष प्रधान हों, उनके निर्वापण के लिए शतधौत (सौ बार का धुला हुआ) घृत या अतिशीतल गोदुग्ध या मुलहठी का क्वाथ प्रयोग में लाना चाहिए। (३) व्रण के लटकते हुए मांसों को यथास्थान सन्निविष्ट कर मधु और घी का प्रलेप कर, ऊपर से पट्टी लगाकर ठीक से बाँध देना चाहिए॥ ६३-६५॥

तान्समान्सुस्थिताञ्ज्ञात्वा फलिनीलोध्रकट्फलैः॥ ६६॥
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत्। पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः॥६७॥
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति ते व्रणाः।

व्रणरोपणार्थ अवचूर्णन—व्रण के लटकनेवाले मांस को ठीक-ठीक व्यवस्थित हुआ जानकर (१) मजीठ, धाय का फूल, फूलप्रियंगु, लोध और कट्फल की छाल का बारीक चूर्ण बनाकर, उसे व्रण पर बुरकना चाहिए अथवा (२) सीप की भस्म मिलाकर, वट-पीपर-पाकड़-गूलर तथा पारीषपीपर की छाल के चूर्ण का अवचूर्णन करना चाहिए अथवा (३) सीप की भस्म मिलाकर धाय तथा लोध के चूर्ण का अवचूर्णन करना चाहिए। इन प्रयोगों से व्रण भर जाते हैं॥ ६६-६७॥

अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः॥ ६८॥
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः। स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम्॥
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं सुखम्।

अस्थिसन्धान का विधान—यदि किसी अङ्ग की हड्डी टूट गयी हो अथवा अपने स्थान से खिसककर स्थानच्युत हो गयी हो, तो शल्यविद् विद्वान् व्यक्ति उसे बराबर बैठाकर तथा समान अंग के साथ जोड़कर, सन्धि को बराबर कर व्यवस्थित कर दे। तत्पश्चात् उसके ऊपर स्थिर रूई की पट्टी (कवलिका/Cotton pad) देकर बाँध दे तथा उसके ऊपर कुशा (Splint) रखकर बन्धन को स्थिर कर दे। फिर पर्याप्त घृत में भींगे हुए कपड़े के बैण्डेज से सुखद बन्धन बाँधकर उसे अचल बना दे॥६८-६९॥

अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत्॥ ७०॥

आहार-योजना—अस्थिभग्न या अस्थिच्युत रोगी को जलन न उत्पन्न करनेवाले आटे से बने पदार्थ खाने को देना चाहिए॥ ७०॥

ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका। विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान्॥
उपाचरेद्यथाकालं कालज्ञः स्वाच्चिकित्सितात्।

उपद्रवों का त्वरित उपचार—रोगी के मन में किसी भी प्रकार की निराशा, ग्लानि या चिन्ता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि असन्तोष या ग्लानि होने से सन्धियाँ नहीं जुट पाती हैं। सन्धि-स्खलन या चोट से अंगों के घायल होने पर यदि विसर्प आदि उपद्रव उत्पन्न हो जायँ, तो ऋतुकाल को जाननेवाला चिकित्सक उपद्रवानुसार यथा शास्त्र चिकित्सा करे॥ ७१॥

शुष्का महारुजः स्तब्धा ये व्रणा मारुतोत्तराः। स्वेद्याः सङ्करकल्पेन ते स्युः कृशरपायसैः॥
ग्राम्यबैलाम्बुजानूपैर्वेशवारैश्च संस्कृतैः। उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिः सुखी स्याद् व्रणितस्तथा॥

व्रण में स्वेदन—जो व्रण सूख गये हों, जिनमें महती पीड़ा हो, जो जकड़े हुए हों, जिनमें वातदोष की प्रबलता हो, उन्हें खिचड़ी से, खीर से अथवा ग्रामीण, बिलवासी, जलेचर या आनूप पशुओं के मांस

से बने हुए तथा मरिच आदि डालकर छौंके हुए वेशवार (निरस्थि पिष्ट मांस)को गरम करके या गरम-गरम मोटी रोटियों से (चरक-सूत्रस्थान १४ में कथित) संकरस्वेद के विधान के अनुसार स्वेदन करना चाहिए। इस प्रकार स्वेद करने से व्रण के रोगी को आरोग्य और सुख प्राप्त होता है॥ ७२-७३॥

सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः। तेषामुमां तिलांश्चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान्॥ ७४॥
तेनैव पयसा पिष्ट्वा कुर्यादालेपनं भिषक्।

वातप्रबल व्रण में लेप—वैद्य को चाहिए कि वातप्रधान जिन व्रणों में जलन और पीड़ा हो, उन पर भुनी हुई तीसी और भुने हुए तिल को दूध में पकाकर, फिर दूध से ही पीसकर कल्क बनाकर लेप करे॥ ७४॥

बला गुडूची मधुकं पृश्निपर्णी शतावरी॥ ७५॥
जीवन्ती शर्करा क्षीरं तैलं मत्स्यवसा घृतम्। संसिद्धा समधूच्छिष्टा शूलघ्नी स्नेहशर्करा॥ ७६॥

स्नेहशर्करा—बरियार का मूल, गुरुच, मुलहठी, पिठवन, शतावर और जीवन्ती तथा चीनी, इनका कल्क बना लें; फिर दूध, तिल का तैल, मछली की चर्बी और घी एक में पकायें। जब दूध का जलीयांश जल जाय, तब कल्क और मोम डालकर उन्हें ठीक से मिलाकर सब एकरस कर लें। यह स्नेह (तैल) और शर्करा के योग से बनने से स्नेहशर्करा कही जाती है। इसके लगाने से व्रण में होनेवाले शूल का नाश होता है॥ ७५-७६॥

द्विपञ्चमूलक्वथितेनाम्भसा पयसाऽथवा। सर्पिषा वा सतैलेन कोष्णेन परिषेचयेत्॥ ७७॥

शूलघ्न परिसेचन—जिस व्रण में शूल हो, उस व्रण का दशमूल के सुखोष्ण क्वाथ से या सुखोष्ण दूध से या सुखोष्ण घी से अथवा सुखोष्ण तैल से परिसेचन करना चाहिए॥ ७७॥

यवचूर्णं समधुकं सतिलं सह सर्पिषा। दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये॥ ७८॥

दाह-शूलनाशक लेप—व्रण के दाह तथा शूल के शमन के लिए यव के आटे के साथ मुलहठी तथा तिल का चूर्ण और घी मिलाकर हल्का गरम करके लेप लगाना चाहिए॥ ७८॥

उपनाहश्च कर्तव्यः सतिलो मुद्गपायसः। रुग्दाहयोः प्रशमनो व्रणेष्वेष विधिर्हितः॥ ७९॥

दाह-शूलनाशक उपनाह—तिल और मूँग डालकर बनायी हुई खीर की पुल्टिस बाँधनी चाहिए। व्रणों में होनेवाली पीड़ा तथा जलन के शमन के लिए यही विधान हितकर होता है॥ ७९॥

सूक्ष्माणना बहुस्रावाः कोषवन्तश्च ये व्रणाः। न च मर्माश्रितास्तेषामेषणं हितमुच्यते॥ ८०॥

एषणयोग्य व्रण—जिन व्रणों का मुख बहुत छोटा हो, जिनसे पूय का अधिक स्राव हो रहा हो, जिनमें पूयसंचय का स्थान बन गया हो और जो व्रण मर्मस्थान में न उत्पन्न हों, उन्हें एषणी शलाका (Probe) डालकर व्रण के विस्तार तथा मार्ग का अन्वेषण कर लेना चाहिए॥ ८०॥

द्विविधामेषणीं विद्यान्मृद्वीं च कठिनामपि। औद्विदैर्मृदुभिर्नालैर्लोहानां वा शलाकया॥ ८१॥
गम्भीरे मांसले देशे पाट्यं लौहशलाकया। एष्यं विद्याद् व्रणं नालैर्विपरीतमतो भिषक्॥ ८२॥

एषणी के दो प्रकार और उनका प्रयोग—जो एषणी शलाका वृक्ष या लता आदि की कोमल शाखाओं से बनायी जाती है वह मृदु होती है और जो धातुओं से बनायी जाती है, वह कठिन होती है। जो व्रण गहराई तक मांसल प्रदेश में उत्पन्न हो उसमें नालीदार धातुनिर्मित शलाका (Probe director) डालकर व्रण के मार्ग के अनुसार भीतर से त्वचा को शलाका से ऊपर उठाकर, उस शलाका की नली में टेढ़ा चाकू (Curved knife) लगाकर चीरा लगाना चाहिए। जो व्रण मांसल प्रदेश में न हों, उनमें मृदु शलाका का प्रवेश कर व्रणमार्ग को जानना चाहिए। ॥८१-८२॥

(व्रण में डालकर व्रण की गति जानने के लिए जिस यन्त्र का प्रयोग किया जाता है, उसे एषणी कहते हैं)

पूतिगन्धान् विवर्णांश्च बहुस्रावान्महारुजः। व्रणानशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत्॥ ८३॥

अशुद्ध व्रण का लक्षण और उपचार—जिन व्रणों में सड़न की दुर्गन्धि निकलती हो, जिनका रंग विकृत हो, जिनसे स्राव अधिक निकलता हो और जिनमें पीड़ा अधिक हो रही हो, ऐसे व्रणों को अशुद्ध व्रण जानकर शोधन द्वारा उनका उपचार करें॥ ८३॥

त्रिफला खदिरो दार्वी न्यग्रोधादिर्बला कुशः। निम्बकोलकपत्राणि कषाया शोधना मताः॥ ८४॥

व्रणशोधक कषाय—आँवला, हर्रा, बहेड़ा, खैर (कत्था), दारुहल्दी, बर, पीपर, पाकड़, गूलर और बेंत की छाल, बरियार, कुश, निम्बपत्र तथा बेर के पत्ते का बनाया हुआ क्वाथ प्रक्षालनार्थ प्रयोग करने पर व्रणों का शोधन हो जाता है॥ ८४॥

तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद् घृतम्। मधुकं निम्बपत्राणि प्रलेपो व्रणशोधनः॥ ८५॥

व्रणशोधक प्रलेप—तिल का चूर्ण, सेंधानमक, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, मुलहठी और निम्बपत्र, इन सबको बारीक पीसकर, घी मिलाकर प्रलेप करने से व्रण शुद्ध हो जाते हैं॥ ८५॥

नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक्। न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः॥

शुद्ध तथा रोपण-योग्य व्रण—जिस व्रण में अधिक लालिमा न हो, अधिक पाण्डुवर्ण न हो, अधिक श्यामवर्ण न हो, अधिक पीड़ा न हो, अधिक ऊँचापन न हो और न ही अधिक गहरा हो, तो उस व्रण को रोपण करने के योग्य जानना चाहिए॥ ८६॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकदम्बप्लक्षवेतसाः। करवीरार्ककुटजाः कषाया व्रणरोपणाः॥ ८७॥
चन्दनं पद्मकिञ्जल्कं दार्वीत्वङ्नीलमुत्पलम्। मेदे मूर्वा समङ्गा च यष्ट्याह्वं व्रणरोपणम्॥ ८८॥
प्रपौण्डरीकं जीवन्ती गोजिह्वा धातकी बला। रोपणं सतिलं दद्यात् प्रलेपं सघृतं व्रणे॥ ८९॥

न्यग्रोधादि, चन्दनादि एवं प्रपौण्डरीकादि व्रणरोपण क्वाथ और लेप—(१) बड़, गूलर, पीपर, कदम्ब, पाकड़, बेंत, कनेर, मदार और कोरया की छाल का बनाया हुआ क्वाथ व्रणों का रोपण करता है। (२) लाल चन्दन, कमल की केशर, दारुहल्दी की छाल, नीलकमल, मेदा, महामेदा, लजैनी और मुलहठी, इनके क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन करने से या इनका लेप लगाने से व्रण का रोपण हो जाता है। (३) पुण्डरिया काठ, जीवन्ती, गोजिह्वा, धाय का फूल, बरियार और काले तिल के कल्क में घी मिलाकर लेप करने से व्रण का रोपण हो जाता है॥ ८७-८९॥

कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफलां बलाम्। पटोलं पिचुमर्दं च लोध्रं मुस्तं प्रियङ्गुकम्॥ ९०॥
खदिरं धातकीं सर्जमेलामगुरुचन्दने। पिष्ट्वा साध्यं भवेत्तैलं तत्परं व्रणरोपणम्॥ ९१॥

कम्पिल्लकादि तैल—कबीला, वायविडङ्ग, कोरया की छाल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, बरियार, परवर की पत्ती, नीम की छाल, लोध, नागरमोथा फूलप्रियंगु, खैर की छाल, धाय का फूल, राल, छोटी इलायची, काला अगर और लालचन्दन—इन सबको बराबर-बराबर लेकर, पीसकर, कल्क बनाकर, कल्क की मात्रा से चौगुना तैल तथा तैल से चौगुना पानी मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह लगाने से व्रणरोपण करता है॥ ९०-९१॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं काकोल्यौ द्वे च चन्दने। सिद्धमेतैः समैस्तैलं परं स्याद् व्रणरोपणम्॥ ९२॥

प्रपौण्डरीकादि तैल—पुण्डरिया काष्ठ, मुलहठी, काकोली, क्षीरकाकोली, श्वेत चन्दन और लालचन्दन, इन सबको समान भाग लेकर, इनके क्वाथ तथा कल्क से विधिवत् तैलपाक कर व्रण पर लगाने से व्रण का रोपण होता है॥ ९२॥

दूर्वास्वरससिद्धं वा तैलं कम्पिल्लकेन वा। दार्वीत्वचश्च कल्केन प्रधानं व्रणरोपणम्॥ ९३॥

दूर्वातैल और कम्पिल्लक तैल—तैल से दूर्वा स्वरस चतुर्गुण तथा दारुहल्दी की छाल का कल्क चतुर्थांश डालकर तैलपाक करें। इसी प्रकार तेल से चौगुना कबीले का क्वाथ और दारुहल्दी की छाल का कल्क चतुर्थांश डालकर तैलपाक करें। ये दोनों तैल प्रमुख व्रणरोपण कारक होते हैं॥ ९३॥

येनैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत्। रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा रोपणीयं व्रणं भिषक्॥ ९४॥

रक्तपित्त प्रधान व्रणरोपणार्थ घृत प्रयोग—वैद्य जिस व्रण में रक्त तथा पित्त की प्रधानता देखें, उस व्रण के रोपणार्थ जिन द्रव्यों से उपर्युक्त तैल बनाये गये हैं, उन्हीं द्रव्यों के क्वाथ या कल्क या दोनों डालकर उसी प्रकार घृत का पाक कर लें॥ ९४॥

कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च। व्रणप्रच्छादने विद्वान् पत्राण्यर्कस्य चादिशेत्॥

व्रण का आच्छादन—विद्वान् वैद्य को व्रण के आच्छादन के लिए कदम्बपत्र, अर्जुनपत्र, निम्बपत्र, पाढलपत्र, पीपर का पत्र और मदार के पत्र का निर्देश करना चाहिए॥ ९५॥

वार्क्षोऽथवाऽऽजिनः क्षौमः पट्टो व्रणहितः स्मृतः।

व्रणबन्धन या पट्टी बाँधना—व्रण को बाँधने के लिए (Bandaging) वृक्ष की छाल, मृगचर्म अथवा रेशमी वस्त्र की पट्टियाँ हितकर होती हैं।

बन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः॥ ९६॥

व्रणबन्धन के प्रकार—व्रणों का बाँधना दो प्रकार का होता है—१. दक्षिण (दायें) से लपेटकर बाँधना और २. बाम (बायें) से लपेटकर बाँधना। सुविधा के अनुसार दोनों का प्रयोग किया जाता है॥ ९६॥

वक्तव्य—जब किसी शरीराङ्ग में चोट, मोच, आघात, अस्थिभंग (Fracture), सन्धिविश्लेष (Dislocation) और रक्तस्राव आदि की स्थिति आती है, तो बन्धन लगाना (Bandaging) आवश्यक होता है। यह कार्य अभ्यास से उत्तम प्रकार के किया जा सकता है। स्थान, दोष तथा काल या ऋतु के अनुसार कहीं गाढ़ कहीं शिथिल और कहीं समबन्ध लगाया जाता है। जब बन्धन अनुकूल बाँधा जाता है, तो वेदना का शमन और व्रण की सुरक्षा होती है। आचार्य सुश्रुत ने (सुश्रुत-सूत्र० १८।१८) रचना और प्रकार के अनुसार १४ प्रकार के बन्ध बतलाये हैं—१. कोश बन्ध, २. दाम बन्ध, ३. स्वस्तिक बन्ध, ४. अनुवेल्लित बन्ध, ५. मुक्तोली बन्ध, ६. मण्डल बन्ध, ७. स्थगिका बन्ध, ८. यमक बन्ध, ९. खट्वा बन्ध, १०. चीन बन्ध, ११. विबन्ध बन्ध, १२. वितान बन्ध, १३. गोफणा बन्ध और १४. पञ्चाङ्गी बन्ध। वाग्भट ने उत्सङ्ग नामक एक अधिक बन्ध माना है।

बन्धों के नाम और उनके स्थान

बन्ध	: स्थान	बन्ध	: स्थान
१. कोष	: अंगुष्ठ, अंगुलिपर्व	९. खट्वा	: हनु, शंख, गण्ड
२. दाम	: सम्बाधाङ्ग, तंग स्थान	१०. चीन	: नेत्र, अपाङ्ग
३. स्वस्तिक	: सन्धि, कूर्चक, भ्रू, स्तन, कर्ण	११. विबन्ध	: पीठ, उदर, वक्ष
४. अनुवेल्लित	: हस्त, पाद, शाखा	१२. वितान	: शिर
५. मुक्तोली	: ग्रीवा, लिङ्ग	१३. गोफणा	: हनु, नासा, ओष्ठ, अंस, वस्ति
६. मण्डल	: उदर, ऊरु, बाहु	१४. पञ्चाङ्गी	: जत्रु के ऊपर
७. स्थगिका	: अंगुष्ठ, अंगुलि, शिश्नाग्र	१५. उत्सङ्ग	: बाहु
८. यमक	: संयुक्त व्रण		

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरूणि च। वर्जयेदन्नपानानि व्रणी मैथुनमेव च॥ ९७॥

व्रण में वर्जनीय आहार-विहार—व्रण वाले व्यक्ति को नमक, अम्ल, कटुरसयुक्त द्रव्य, उष्ण पदार्थ, दाहजनक पदार्थ और भारी अन्नपान का सेवन करना छोड़ देना चाहिए तथा मैथुन का भी परित्याग कर देना चाहिए॥ ९७॥

नातिशीतगुरुस्निग्धमविदाहि यथाव्रणम्। अन्नपानं व्रणहितं हितं चास्वपनं दिवा॥ ९८॥

व्रण में पथ्य—व्रण में दोष के अनुसार जो हितकर अन्नपान हो, उसका सेवन करना चाहिए। जो अन्नपान न अधिक शीतल, न अधिक भारी, न अधिक स्नेहयुक्त हो तथा विदाहजनक न हो, वह व्रण के लिए लाभप्रद होता है। दिन में न सोना भी लाभकारक होता है॥ ९८॥

स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानि च। उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत्॥

गहरे व्रणों का ऊपर उठाना (उत्सादन)—जो द्रव्य दूध बढ़ाने वाले, जीवनीय तथा बृंहण होते हैं, उनका प्रयोग गहरे व्रणों को ऊपर उठाने के लिए करना चाहिए॥ ९९॥

वक्तव्य—चरकसंहिता के सूत्रस्थान अ० ४ में स्तन्यजनन, जीवनीय और बृंहणीय औषधों को बतलाया गया है। उनके कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध घृत-तैलों का प्रयोग करना चाहिए।

भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीसमधोभागानि गुग्गुलुः। व्रणावसादनं तद्वत् कलविङ्ककपोतविट्॥ १००॥

व्रण का अवसादन—भोजपत्र की गाँठ, हीराकासीस, अधोभाग अर्थात् विरेचन करने वाले—निशोथ दन्तीमूल, अमलतास आदि द्रव्य और गुग्गुलु, इनके कल्क का प्रलेप उभरे हुए व्रणमांस को बैठा देता है। इसी प्रकार गौरैया और कबूतर के बीट का कल्क बनाकर लेप लगाना भी व्रण का अवसादन है॥ १००॥

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु छिन्ने छेद्येऽधिमांसके। कफग्रन्थिषु गण्डेषु वातस्तम्भानिलार्तिषु॥ १०१॥
गूढपूयलसीकेषु गम्भीरेषु स्थिरेषु च। क्लेशेषु चाङ्गदेशेषु कर्माग्निः सम्प्रशस्यते॥ १०२॥

अग्नि द्वारा दाहकर्म—जब रक्त अधिक बह रहा हो, कहीं कट गया हो, कहीं काटने योग्य मांसादि हो, कहीं पर मांस बढ़ गया हो, कफजन्य ग्रन्थि हो, गलगण्ड हो, वातव्याधि के कारण जकड़ाहट हो, वातजन्य पीड़ा हो, जब भीतर में पूय और लसीका छिपे हों, गम्भीर और स्थिर व्रणों में तथा जो अंग काटा गया हो, उनमें अग्नि के द्वारा दाहकर्म करना उत्तम है॥ १०१-१०२॥

मधूच्छिष्टेन तैलेन मज्जक्षौद्रवसाघृतैः। तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्देहेद्दाहविशेषवित्॥ १०३॥

दाहकर्म के उपकरण—दाहकर्म के विशेषज्ञ वैद्य को मोम, तैल, मज्जा, मधु, चर्बी या घृत को गरम करके अथवा तपाये हुए लौहशलाका आदि के द्वारा दाहकर्म करना चाहिए॥ १०३॥

रूक्षाणां सुकुमाराणां गम्भीरान्मारुतोत्तरान्। दहेत् स्नेहमधूच्छिष्टैर्लोहैः क्षौद्रैस्ततोऽन्यथा॥

दाहकर्म की पात्रता—(१) रूक्ष तथा सुकुमार रोगियों के गहरे तथा वायु की प्रधानता वाले व्रणों को स्नेह (घी-तैल-वसा-मज्जा) और मोम से दाहकर्म करना चाहिए और (२) जो लोग इससे विपरीत हों अर्थात् कष्टसहिष्णु और स्निग्ध हों तथा उनके व्रण अधिक गहरे न हों तथा कफप्रधान हों, उनमें लोहे के बने यन्त्रों से एवं मधु से दाहकर्म करना चाहिए॥ १०४॥

द्विविध अग्निकर्म के साधन

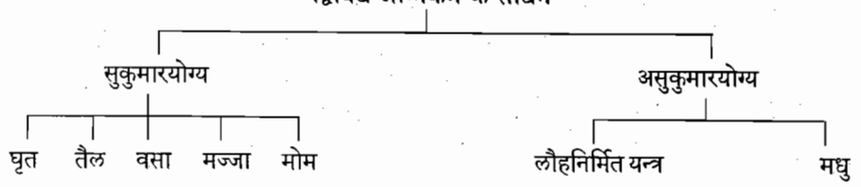

वक्तव्य—अग्निकर्म का वर्णन सुश्रुत में अधिक विस्तार के साथ किया गया है। विस्तृत जिज्ञासा शान्ति के लिए सु. सू. १२ देखना चाहिए।

बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्। तृष्णाज्वरपरीतानामबलानां विषादिनाम्॥ १०५॥
नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च। सविषेषु च शल्येषु नेत्रकुष्ठव्रणेषु च॥ १०६॥

अग्निकर्म या दाह के अयोग्य व्यक्ति—बालक, दुर्बल, वृद्ध, गर्भवती स्त्री, रक्तपित्त के रोगी, तृष्णा तथा ज्वर के रोगी, निर्बल स्त्री और विषाद से ग्रस्त व्यक्तियों का दाहकर्म नहीं करना चाहिए। यदि दाहयोग्य व्यक्तियों के स्नायु तथा मर्मस्थान में व्रण हो, जो व्रण विषयुक्त हो, जिन व्रणों के भीतर काँटा आदि शल्य हो, जो व्रण नेत्र में हो और जो व्रण कुष्ठ सम्बन्धी हों, ऐसे व्रणों में अग्निकर्म करना वर्जित किया गया है॥ १०५-१०६॥

रोगदोषबलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः। शस्त्रकर्माग्निकृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत्॥ १०७॥

क्षारकर्म—मात्रा, काल और अग्निकर्म का सम्यक् ज्ञान रखने वाला वैद्य रोग तथा दोष के बल के अनुसार शस्त्रकर्म या अग्निकर्म करने योग्य व्रणों में क्षार का भी प्रयोग करे॥ १०७॥

कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धैः सारैश्च धूपिताः। सर्पिर्मज्जवसाधूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः॥
रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च कृमयश्च व्रणाश्रिताः। शैथिल्यं मार्दवं चापि धूपनेनोपशाम्यति॥

धूपनकर्म—अगरु, राल, गुग्गुलु आदि गन्ध द्रव्य तथा गोंद वाले द्रव्यों के धूपन से व्रणों में कठिनता आ जाती है तथा घी, मज्जा और वसा के धूपन से व्रण मृदु या शिथिल हो जाते हैं। व्रणों के धूपन से पीड़ा, स्राव, दुर्गन्ध और व्रण में रहने वाले कृमि नष्ट हो जाते हैं तथा शिथिलता एवं मृदुता का शमन हो जाता है॥ १०८-१०९॥

लोध्रन्यग्रोधशुङ्गानि खदिरस्त्रिफला घृतम्। प्रलेपो व्रणशैथिल्यसौकुमार्यप्रसादनः॥ ११०॥

व्रण काठिन्यहर प्रलेप—लोध, बर की बरोह, बीजरहित आँवला, हर्रा, बहेड़ा, इन सबका बारीक कल्क बनाकर, घी मिलाकर मलहम जैसा बना लें। इसके प्रलेप से व्रण की शिथिलता और कोमलता में वृद्धि होती है॥ ११०॥

सरुजः कठिनाः स्तब्धा निरास्रावाश्च ये व्रणाः। यवचूर्णैः ससर्पिष्कैर्बहुशस्तान् प्रलेपयेत्॥

व्रणमार्दवकर लेप—जो व्रण पीड़ायुक्त हों, कठिन हों, जकड़े हुए हों और स्रावरहित हों, उन पर घृतमिश्रित जौ के आटे का बार-बार प्रलेप करना चाहिए॥ १११॥

मुद्गषष्टिकशालीनां पायसैर्वा यथाक्रमम्। सघृतैर्जीवनीयैर्वा तर्पयेत्तानभीक्ष्णशः॥ ११२॥

कठिन व्रणों का तर्पण—कठिन व्रणों पर मूँग की खीर, साठी की खीर और अगहनी चावल की खीर से क्रमशः लेपन करना चाहिए अथवा जीवनीयगण के द्रव्यों के कल्क में घी मिलाकर उससे तर्पण करना चाहिए॥ ११२॥

ककुभोदुम्बराश्वत्थलोध्रजाम्बवकट्फलैः। त्वचमाश्वेव गृह्णन्ति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः॥

त्वचाजनक योग—अर्जुन, गूलर, पीपर, लोध्र, जामुन और कट्फल की छाल के महीन चूर्ण के बुरकने से व्रणों पर चमड़ा शीघ्र ही दौड़ जाता है॥ ११३॥

मनःशिलैला मञ्जिष्ठा लाक्षा च रजनीद्वयम्। प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परः॥ ११४॥

त्वग्विशुद्धिकर प्रलेप—मैनसिल, छोटी इलायची, लाही, हल्दी और दारुहल्दी का महीन चूर्ण घी तथा मधु मिलाकर प्रलेप करने से त्वचा शुद्ध हो जाती है॥ ११४॥

अयोरजः सकाशीसं त्रिफलाकुसुमानि च। करोति लेपः कृष्णत्वं सद्य एव नवत्वचि॥ ११५॥

त्वचा कृष्णकर योग—लौह भस्म, कासीस भस्म, आँवला, हर्रा और बहेड़ा, इनके फूल एक साथ पीसकर व्रण पर आयी हुई नयी (सफेद) त्वचा को शीघ्र ही कृष्ण बनाने के लिए लेप करना चाहिए। (व्रण अच्छा होने पर वहाँ एक सफेद दाग जैसा हो जाता है, जिसे काला बनाने के लिए इस योग का प्रलेप किया जाता है)॥ ११५॥

कालीयकनताम्रास्थिहेमकान्तारसोत्तमैः। लेपः सगोमयरसः सवर्णीकरणः परः॥ ११६॥
ध्यामकाश्वत्थनिचुलमूलं लाक्षा सगैरिका। सहेमश्चामृतासङ्गः कासीसं चेति वर्णकृत्॥ ११७॥

सवर्णीकरण योग—(१) कालीयक काष्ठ (पीतचन्दन), अगर, आम की गुठली, नागकेसर, प्रियंगु और पारद, इन सबको खरल में घोंटकर, गोबर का रस मिलाकर लेप लगाने से व्रण का रंग त्वचा के समान हो जाता है। (२) सुगन्धतृण, पीपर की छाल, बेंत का मूल, लाही, गेरू, नागकेशर, तूतिया और कासीस, इन सबको पीसकर लेप करने से त्वचा का वर्ण शरीर के रंग के समान हो जाता है॥ ११६-११७॥

चतुष्पदानां त्वग्लोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना। तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमवती पुनः॥११८॥

लोमसंजनन योग—चार पैरवाले पशुओं की त्वचा, लोम, खुर, सींग और हड्डी की भस्म बना लें। व्रणस्थान में पुनः रोम उगाने के लिए उस स्थान पर तैल लगाकर उक्त भस्म को बुरक दें तो वह स्थान रोमयुक्त हो जाता है॥ ११८॥

षोडशोपद्रवा ये च व्रणानां परिकीर्तिताः। तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते॥

व्रणों के १६ उपद्रवों की चिकित्सा—इसी अध्याय के श्लोक २९-३० में व्रणों के जो १६ उपद्रव कहे गये हैं, उन उपद्रवों की चिकित्सा वही है, जो चिकित्सा उनके स्वतन्त्र रोग के रूप में बतलायी गयी है॥ ११९॥

तत्र श्लोकौ—

द्वौ व्रणौ व्रणभेदाश्च परीक्षा दुष्टिरेव च।
स्थानानि गन्धाः स्रावाश्च सोपसर्गाः क्रियाश्च याः॥ १२०॥
व्रणाधिकारे सप्रश्नमेतन्नवकमुक्तवान्। मुनिर्व्याससमासाभ्यामग्निवेशाय धीमते॥ १२१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'द्विव्रणीयचिकित्सित' नामक अध्याय में महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने बुद्धिमान् शिष्य अग्निवेश को बतलाने के लिए (१) दो प्रकार के व्रण, (२) व्रण के भेद, (३) व्रण की परीक्षा, (४) व्रण की दुष्टि, (५) व्रण के स्थान, (६) व्रण की गन्ध, (७) व्रण के स्राव, (८) व्रण के उपद्रव और (९) व्रण की चिकित्सा—इन ९ प्रश्नों का उत्तर संक्षेप तथा विस्तारपूर्वक कहा॥ १२०-१२१॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'द्विव्रणीयचिकित्सित' नामक पचीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २५॥

व्रणचिकित्साक्रमबोधक-सारिणी

उपचार	औषध
व्रण के ३६ उपक्रम होते हैं—	
१. शोथ को दूर करना—व्रण शोथ में रक्तनिर्हरण, बहुदोष लक्षणयुक्त रोगी का संशोधन तथा अल्पदोषयुक्त रोगी को लंघन एवं वात की प्रधानता में सिद्ध घृतपान कराना श्रेयष्कर है।	१. व्रणशोथ-नाशनार्थ—वटादि प्रलेप, विजयादि प्रदेह, मधुकादि प्रदेह, सक्तुपिण्ड की पुल्टिस, तिलादि प्रदेह, इनका प्रयोग करना चाहिए। पक्व व्रण भेदनार्थ—तीसी, गुग्गुलु, सेहुँड़ का दूध, मुर्गे की और कबूतर की बीट, पलाशक्षार, भड़भाड और दन्तीमूल पीसकर, गरमकर प्रलेप करें।
६ प्रकार के शस्त्रकर्म—	
२. पाटन (चीरा लगाना)	२. नाड़ीव्रण, पक्वशोथ, क्षतोदर, बद्धगुदोदर तथा जिसके भीतर कोई शल्य (काँटा आदि) हो, उस व्रण का पाटन करना चाहिए।
३. व्यधन	३. जलोदर, पक्वगुल्म, रक्तज गुल्म, विसर्प, पिडका आदि रक्तज रोगों में व्यधन करना चाहिए।
४. छेदन	४. उन्नत किनारीवाले व्रण, कठिन व्रण, अर्श तथा अधिमांस आदि में छेदन करना चाहिए।
५. लेखन	५. किलास और कुष्ठ में लेखन करना चाहिए।
६. प्रच्छन्न	६. वातरक्त, ग्रन्थि, पिडका, कोठ, रक्तमण्डल, कुष्ठ और अभिघात एवं शोथ में प्रच्छन्न करना चाहिए।
७. सीवन	७. कुक्षि, उदर आदि के व्रण और गहराई तक चीरे गये व्रण में सीवन करना चाहिए।
८. अवपीड़न	८. सूक्ष्म मुखवाले तथा पूयसंचययुक्त व्रणों में अवपीड़न करना चाहिए। इसके लिए—मटर, मसूर, गेहूँ, चना, सेमर की छाल, बलामूल और वटपत्र का कल्क लगाकर सूखने दें। सूखने पर दबाव पड़ने से फटकर पूय निकल जाता है।
९. निर्वापण	९. व्रण के दाह के शमनार्थ—गूलर, पीपल, पाकड़ और बेंत की छाल पीसकर लेप करें या शतधौत घृत लगायें।
१०. सन्धान	१०. मधु-घी लगाकर पट्टी लगायें या व्रणमांस को सम करके, मजीठ, धाय के फूल, प्रियंगु, लोध और कट्फल के चूर्ण को बुरक दें अथवा सीप भस्मयुक्त पंचवल्कल छाल चूर्ण या धाय के फूल और लोध के चूर्ण में सीपभस्म मिलाकर अवचूर्णन करें। इससे सन्धियाँ जुट जाती हैं। टूटी हुई हड्डी को यथास्थान रखकर उसके ऊपर कवलिका (काटन पैड) रखकर, फिर कुशा (स्प्लिण्ट) रखकर घृतलिप्त बैण्डेज से अचल और सुखकर बन्धन लगाना चाहिए। इससे हड्डी का सन्धान हो जाता है।

उपचार	औषध
११. स्वेदन	११. शुष्क, स्तब्ध, पीड़ा वाले वातप्रधान व्रणों में, खीर से या ग्रामीण-बिलवासी-जलेचर या आनूप पशु-पक्षियों के मांस का वेशवार बनाकर स्वेदन करें।
१२. शमन	१२. व्रणशूल के शमनार्थ—बला, गुडूची, मुलहठी, पिठवन, शतावर और जीवन्ती कल्क का लेप करें अथवा चीनी, दूध, तिल का तैल, मछली की चर्बी और घृत एक में पकाकर, मोम मिलाकर मलहम बनाकर लगायें। अथवा दशमूल क्वाथ से, सुखोष्ण दूध या तैल या घी से परिसेचन करें। अथवा जौ का आटा, मुलेठी और तिलकल्क में घी मिलाकर लेप करें या तिल एवं मूँग की खीर की पुल्टिस बाँधें।
१३. एषण	१३. सूक्ष्ममुख, बहुस्रावी, पूयकोषयुक्त एवं अमर्मस्थ व्रणों में शलाका प्रवेश कर एषण करें। यदि मांसल स्थल में व्रण हो, तो लौह शलाका से अन्यथा वृक्ष या लता से बनी शलाका से एषण करना चाहिए।
१४. शोधन कषाय	१४. त्रिफला, खैर, दारुहल्दी, न्यग्रोधादि गण, बला, कुश, निम्बपत्र, बेर के पत्ते और परवर के पत्ते से बने क्वाथ से प्रक्षालन करने से व्रण का शोधन हो जाता है।
१५. रोपण कषाय	१५. न्यग्रोधादि गण, बेंत, कनेर, मदार और कोरया के क्वाथ से सिंचन करने से व्रण का रोपण होता है।
१६. शोधन प्रलेप	१६. तिलकल्क, सेंधानमक, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी और निम्बपत्र के कल्क में घी मिलाकर लेप करने से व्रण का शोधन होता है।
१७. रोपण प्रलेप	१७. श्वेत चन्दन, कमलकेशर, दारुहल्दी की छाल, नीलकमल, मेदा, महामेदा, लज्जावन्ती और मुलहठी इनके समभाग के कल्क के लेप से व्रण भर जाते हैं।
१८. शोधन तैल	१८. कम्पिल्लकादि तैल या प्रपौण्डरीकादि तैल व्रणशोधक हैं।
१९. रोपण तैल	१९. दूर्वा तैल या कम्पिल्लक तैल व्रणरोपण हैं।
२०-२१. शोधन एवं रोपणघृत	२०-२१. कम्पिल्लकादि घृत, दूर्वाघृत या कम्पिल्लक घृत, ये व्रण के शोधन तथा रोपण हैं।
२२-२३. बाह्य एवं आभ्यन्तर पत्र आच्छादन	२२-२३. कदम्ब, निम्ब, अर्जुन, पाढल, पीपल और मदार के पत्तों से व्रण का आच्छादन करना चाहिए।
२४. बन्धन	२४. वृक्ष की छाल, मृगचर्म अथवा क्षौम (रेशमी) वस्त्र से व्रण की पट्टी बाँधनी चाहिए। वर्तमान में विसंक्रामित बैण्डेज काम में लेना चाहिए।
२५. पथ्य आहार	२५. व्रण में दोषों का विचार कर, जो अधिक शीतल, अधिक गुरु और अधिक स्निग्ध न हों, ऐसे अविदाही अन्न तथा पेय का सेवन करना चाहिए। **अपथ्य**—नमक, अम्ल, कटु, उष्ण, दाहजनक और भारी अन्नपान तथा दिन में सोना अपथ्य है।

उपचार	औषध
२६. उत्सादन (गहरे व्रणों को ऊँचा करना)	२६. व्रणों को ऊपर उठाने के लिए दुग्धवर्धक द्रव्य, जीवनीय द्रव्य एवं बृंहणीय द्रव्यों के कल्क का लेप करना चाहिए।
२७. अवसादन (ऊँचे उठे व्रणों को समतल बनाना)	२७. अवसादनार्थ—भोजपत्र की गाँठ, कासीस, निशोथ, अमलतास आदि विरेचन द्रव्य, गुग्गुलु, गौरैया और कबूतर की बीट, इन सबको पीसकर लेप लगाना चाहिए।
२८-२९. द्विविध अग्निकर्म	२८. रूक्ष एवं सुकुमार रोगी के वातप्रधान गम्भीर व्रणों में घृत, तैल, वसा, मज्जा और मोर से दाहकर्म करें। २९. असुकुमार एवं कफप्रधान रोगी के अगम्भीर व्रणों में लोहे के यन्त्र से या मधु से दाहकर्म करें।
३०-३१. मृदुव्रणों को कठिन बनाने वाले धूपन एवं आलेपन	३०. अगुरु आदि गन्धद्रव्य और विजयसार आदि से धूपन करने पर मृदु-व्रण कठिन हो जाते हैं। ३१. लोध, बर की बरोह, कत्था, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, इनके समभाग के कल्क के लेप से व्रण में कठिनता आ जाती है।
३२-३३. मृदु बनाने वाले धूपन और आलेपन	३२-३३. जौ के आटे में घी मिलाकर लेप करने से एवं मूँग, साठी, शालि की खीर के लेप तथा जीवनीय द्रव्यों के घी मिले कल्क के तर्पण से एवं धूपन से कठिन व्रणों में मृदुता आ जाती है।
३४. त्वक्सवर्णीकरण	३४. हीराकासीस, लौहभस्म, त्रिफला के फूल, इनके लेप से व्रण की सफेदी दूर होकर कृष्णता या सवर्णता होती है। सुगन्धित तृण, पीपल की लाही, गेरू, नागकेसर, तूतिया, कासीस, इनके कल्क के लेप से त्वचा का वर्ण स्वाभाविक हो जाता है।
३५. रोपण चूर्ण लगाना	३५. अर्जुन, गूलर, पीपल, लोध, जामुन, कायफल, इन सबकी छाल के चूर्ण का अवचूर्णन करने से त्वचा शीघ्र ही जुड़ जाती है और उसका रोपण हो जाता है।
३६. लोमरोहण	३६. चौपायों की त्वचा, लोम, खुर, सींग या हड्डी की राख बना लें और व्रणस्थान पर तिल का तेल लगाकर उस पर इस राख को बुरक दें, तो व्रणस्थान में बाल उग आते हैं।

अथ षड्विंशोऽध्यायः

अथातस्त्रिमर्मीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'त्रिमर्मीयचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—पूर्व के अध्याय में दो संख्या वाले रोग की चिकित्सा बतलाने के बाद, अब तीन संख्या वाले—शिर, वस्ति और हृदय मर्म के रोगों की चिकित्सा बतलाने के लिए 'त्रिमर्मीयचिकित्सित' अध्याय को कह रहे हैं। त्रिमर्म शब्द से तीनों मर्मों में होने वाले रोग और उनके उपचार का ग्रहण होता है। इसलिए 'त्रिमर्मीयरोगानधिकृत्य कृतं चिकित्सितं त्रिमर्मीयचिकित्सितम्' यह निर्वचन करना चाहिए।

मर्मस्थान के ऊपर आघात या चोट लगने से मृत्यु हो जाती है, क्योंकि मर्मस्थान में शारीर तथा मानस दोषों का तथा जीवात्मा का निवास होता है— 'सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च। मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते॥ मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः'। (सु० सू० ६।३५)

निरुक्ति—'मारयन्तीति मर्माणि' (डल्हण, सु० शा० ६।३), 'मरणकारित्वान्मर्म' (अ० हृ० ७), 'म्रियते अस्मिन् इति मर्म' अर्थात् जिस पर आघात लगने से मृत्यु हो जाती है। 'मृ' धातु से मनिन् प्रत्यय करने पर मर्म शब्द बनता है। सुश्रुत ने मर्म को शल्यशास्त्र का आधा भाग माना है, क्योंकि मर्म पर आघात लगना सद्यः प्राणहर होता है—'मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति, यस्मान्न मर्मसु हतास्तु भवन्ति सद्यः' (सु० शा० ६।३३)।

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेभ्यः।
मर्माणि बस्ति हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञाः॥ ३॥
प्राणाश्रयात्, तानि हि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति।
तत्संश्रितानामनुपालनार्थं महागदानां शृणु सौम्य! रक्षाम्॥ ४॥

तीन प्रधान मर्म और उनकी रक्षा का उपदेश—हे सौम्य! शारीरशास्त्र के विद्वानों ने शरीर संख्या के अधिकरण जो १०७ मर्म बतलाये हैं, उनमें से विशेषज्ञों ने वस्ति, हृदय और शिर, इन्हीं तीनों को प्रधान मर्म कहा है, क्योंकि ये प्राण के आश्रय होते हैं। जब वात आदि दोष इन्हें पीड़ित करते हैं, तो वे प्राणों को भी पीड़ित करते हैं (सुश्रुत ने अग्नि, सोम, वायु, पंच ज्ञानेन्द्रिय, सत्त्व, रज, तम और भूतात्मा को प्राण कहा है)। इसलिए इन हृदय आदि में रहने वाले प्राणों के पालन के लिए महामर्म वस्ति आदि में होने वाले उदावर्त आदि रोगों की चिकित्सा सुनिये या महान् गद (रोग) जिनमें होते हैं, उन वस्ति आदि मर्मों की रक्षा के लिए चिकित्सा विधान को सुनिये॥ ३-४॥

उदावर्त रोग

कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः सन्धारणाभोजनमैथुनैश्च।
पक्वाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा॥ ५॥
करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम्।

उदावर्त का निदान और सम्प्राप्ति—कसैले पदार्थ, तिक्त पदार्थ तथा कटु पदार्थों के अधिक सेवन से, रूक्ष पदार्थों के खाने से, वेगों को रोकने से, अनशन या उपवास करने से और मैथुन करने से यदि अपानवायु प्रकुपित हो जाती है, तो वह बलवान् होकर अधोगामी (मूत्रवह एवं पुरीषवह) स्रोतों को

रोककर अपानवायु, मूत्र तथा मल की प्रवृत्ति में रुकावट उत्पन्न कर अतिकष्टप्रद उदावर्त रोग को उत्पन्न करती है॥ ५॥

वक्तव्य—यहाँ यह सन्देह होता है कि प्रकुपित हुआ अपानवायु क्या स्वयं अपानवायु की रुकावट करती है? क्योंकि मूल श्लोक में 'करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं' अपान की रुकावट मारुतसङ्ग शब्द से स्पष्ट कथित है। इसका समाधान यह है कि जैसे मन अपना निग्रह स्वयं ही करता है—'इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः' (च० शा० १) उसी प्रकार अपानवायु स्वयं अप्रवृत होकर अपने को रोक लेती है।

महर्षि चरक ने अपानवायु के ऊपर की ओर गति को उदावर्त माना है—'उत् ऊर्ध्वं आवर्तः वायोः गमनमुदावर्तः'। सुश्रुत तथा वाग्भट ने मूत्र-पुरीष आदि तेरह वेगों को रोकने से होने वाले रोगों को उदावर्त माना है, अतः उनके मत से उदावर्त १३ प्रकार का होता है।

निदान-सम्प्राप्ति—

कषाय-तिक्त-कटु-रूक्ष आहार एवं
अधारणीय वेगविधारण → वातप्रकोप → स्रोतोऽवरोध एवं
वायु की विलोम गति
↓
उदावर्त रोग

दोष : वायु।
दूष्य : त्रयोदश भाव।
अधिष्ठान : त्रयोदश वेगमार्ग।

उदावर्तभेद बोधक सारिणी

क्रम	उदावर्त प्रकार	लक्षण	Clinical Identity
१.	अपान सन्धारण-जन्य उदावर्त	अपानवायु-मूत्र-पुरीष की अप्रवृत्ति आध्मान-क्लम-दारुण पीड़ा-तोद आदि।	Constipation
२.	पुरीषज उदावर्त	आटोप, शूल, परिकर्तिका, पुरीषसंग, ऊर्ध्ववात।	Intestinal obstruction
३.	मूत्रज उदावर्त	वस्ति, उपस्थ शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरःशूल, शरीर का झुकना, वंक्षण प्रदेश में तनाव आदि।	Retention of urine
४.	जृम्भानिरोधज उदावर्त	मन्यास्तम्भ, ग्रीवास्तम्भ, शिर-नेत्र एवं नासा के रोग तथा मुख या कर्ण के रोग।	Suppression of yawning
५.	अश्रुनिरोधज उदावर्त	शिरोगौरव, नेत्ररोग, पीनस, प्रतिश्याय।	Suppression of tears
६.	क्षिक्कानिरोधज उदावर्त	मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, अर्धावभेदक।	Suppression of hiccough
७.	उद्गारनिरोधज उदावर्त	कण्ठ एवं मुख का भरा लगना, तोद, कूजन, वायु न निकलना, अन्य वातज विकार।	Suppression of eructation

क्रम	उदावर्त प्रकार	लक्षण	Clinical Identity
८.	छर्दिनिग्रहज उदावर्त	कण्डू, कोठ, अरुचि, शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, विसर्प।	Suppression of vomiting
९.	शुक्रनिरोधज उदावर्त	मूत्राशय, गुद, मुष्कशोथ, पीड़ा, मूत्रविनिग्रह, शुक्राश्मरी, शुक्रस्रवण।	Suppression of ejaculation
१०.	क्षुधानिरोधज उदावर्त	अंगमर्द, तन्द्रा, अरुचि, श्रम, कार्श्य।	Suppression of appetite
११.	तृष्णानिरोधज उदावर्त	कण्ठ-मुखशोष, हृद्व्यथा, बाधिर्य।	Suppression of thirst
१२.	श्वासनिग्रहज उदावर्त	हृद्रोग, मूर्च्छा, गुल्म।	Breath holding
१३.	निद्रानिरोधज उदावर्त	जृम्भा, अंगमर्द, तन्द्रा, अक्षि एवं शिर की जड़ता।	Non sleeping

रुग्बस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात्॥ ६॥
आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सबस्तिशोथः।
वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्वश्च वायुर्विहतो गुदे स्यात्॥ ७॥
कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः स्याद्वा तनुः स्यात् खररूक्षशीता।

उदावर्त का लक्षण—उदावर्त रोग में हृदय, कुक्षि, उदर, पृष्ठ और पार्श्वों में रह-रहकर भयंकर वेदना होती है। उदर में वायु भरना, थुकथुकी होना, गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा होना, सुई चुभाने जैसी वेदना होना, भोजन का न पचना, मूत्राशय में शोथ होना, मल का न निकलना, उदर में मल की गाँठ बन जाना, गुदा में अपानवायु की रुकावट से वायु का ऊपर की ओर जाना, कठिनाई के साथ और देर से सूखे मल का निकलना तथा शरीर का खर, रूक्ष तथा शीतल हो जाना—ये लक्षण होते हैं॥ ६-७॥

ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्रप्रवाहिकाहृद्ग्रहणीप्रदोषाः॥ ८॥
वम्यान्ध्यबाधिर्यशिरोऽभितापवातोदराष्ठीलमनोविकाराः।
तृष्णाम्लपित्तारुचिगुल्मकासश्वासप्रतिश्यार्दितपार्श्वरोगाः॥ ९॥
अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः।

उदावर्त के उपद्रवभूत रोग—उदावर्त रोग के लक्षणों के प्रकट हो जाने के पश्चात् ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, हृदयरोग, ग्रहणीरोग, वमन, अन्धता, बहरापन, शिरःशूल, वातोदर रोग, अष्ठीलारोग, मानसिक रोग, तृष्णा रोग, रक्तपित्त, अरुचि, गुल्म, कास, श्वास, प्रतिश्याय, अर्दित, पार्श्वशूल आदि रोग तथा उदावर्त के कारण उत्पन्न होने वाले भयंकर कष्टदायक अन्य बहुत से रोग उत्पन्न हो जाते हैं॥ ८-९॥

चिकित्सितं चास्य यथावदूर्ध्वं प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश!॥ १०॥

उदावर्त चिकित्सा का उपक्रम—हे अग्निवेश! अब इसके आगे इस उदावर्त रोग की विधिवत् चिकित्सा कही जायेगी। उसे सुनिये!॥ १०॥

तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम्।
उपाचरेद् वर्तिनिरूहवस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनान्नैः॥ ११॥

उदावर्त का चिकित्सासूत्र—उदावर्त के रोगी की शीतज्वरनाशक अगुर्वादि तैल से ठीक से मालिश करे, फिर वातनाशक स्वेदनों से रोगी के दोषों को ढीला करे; तदनन्तर निरूहवस्ति, स्नेहवस्ति और विरेचन प्रयोगों से दोषों का निर्हरण करे तथा वायु को अनुलोम बनाने वाले अन्न खिलाकर उपचार करे॥ ११॥

श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां दशभागमाषाम्।
सनीलिकां द्विर्लवणां गुडेन वर्तिं कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात्॥ १२॥

श्यामादि वर्ति—काली निशोथ, सफेद निशोथ, पीपर, दन्तीमूल—प्रत्येक १-१ भाग; उड़द की दाल १० भाग, नील का बीज १ भाग और सेंधा नमक २ भाग तथा गुड़ १ भाग लेकर, सबको बारीक पीसकर हाथ के अंगूठे जितनी मोटी वर्ती बनायें। (इस वर्ती को गुदा में घी लगाकर लगा देने से वायु का अनुलोमन होकर उदावर्त दूर हो जाता है॥ १२॥

पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा सससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः।
क्रिमिघ्नकम्पिल्लकशङ्खिनीभिः सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः॥ १३॥
स्यात् पिप्पलीसर्षपराढवेश्मधूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः।

पिण्याकादि तथा क्रिमिघ्नादि वर्ति—(१) सरसों, सोंठ, मरिच, पीपर, जवाखार, तिल की खली, सोंचर नमक, हींग तथा गुड़—इन सबको पीसकर हाथ के अँगूठे के जैसी मोटी वर्ती बना लें। (२) वायविडंग, कबीला, यवतिक्ता, सेहुँड़ का दूध, मदार का दूध और गुड़—इन सबको पीसकर हाथ के अंगूठे जैसी मोटी वर्ती बनानी चाहिए। (३) इसी प्रकार पीपर, सरसों, मदनफल, घर का धुआँ और गुड़—इन सबको गोमूत्र मिलाकर, पीसकर हाथ के अंगूठे जितनी मोटी वर्ती बनायें॥ १३॥

वक्तव्य—जब उदावर्त में मलावरोध और अपानवायु की रुकावट हो जाती है, तो गुदा में घी लगाकर और वर्ती में भी घी लगाकर गुदा में प्रवेश कराने से मल बाहर निकल जाता है तथा अपानवायु का अवरोध दूर हो जाता है।

श्यामाफलालाबुकपिप्पलीनां नाड्याऽथवा तत् प्रधमेत्तु चूर्णम्॥ १४॥
रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णाचूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा।
स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसङ्गम्॥ १५॥

श्यामादि प्रधमन चूर्ण—(१) काली निशोथ, मदनफल, कड़वी तुम्बी बीज और पीपर, इन सबको समान भाग लेकर बारीक चूर्ण कर किसी नाड़ी यन्त्र से गुदा में फूँकना चाहिए अथवा (२) रक्षोघ्नादि प्रधमन चूर्ण—पीली सरसों, कड़वी तुम्बी बीज, मदनफल, पीपर, देवदाली और सेंधानमक, इनका बारीक चूर्ण बना लें। गुदा का स्नेहन करने के बाद पूर्वोक्त वर्तियों के लगाने और प्रधमन चूर्णों का प्रधमन करने से मल, मूत्र तथा अपानवायु की रुकावट दूर हो जाती है तथा वायु का अनुलोमन हो जाता है॥ १४-१५॥

तेषां विघाते तु भिषग् विदध्यात् स्वभ्यक्तसुस्विन्नतनोर्निरूहम्।
ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैलक्षाराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम्॥ १६॥
वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं, क्षीरेण पित्ते तु, कफे समूत्रम्।
स मूत्रवर्चोऽनिलसङ्गमाशु गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति॥ १७॥

दोषानुसार निरूहवस्ति—जब उदावर्त रोग में गुदवर्ति और प्रधमन चूर्ण के प्रयोग से मलत्याग तथा अपानवायु का अनुलोमन न हो, तो वैद्य को चाहिए कि रोगी का अच्छी प्रकार से अभ्यंग (स्नेहन)

एवं स्वेदन कराने के पश्चात् वमनकारक एवं विरेचनकारक औषध, गोमूत्र, तैल, क्षार और अम्ल आदि वातनाशक द्रव्यों से युक्त तीक्ष्ण निरूहवस्ति का प्रयोग करें।

जब उदावर्त रोग में वायुदोष की अधिकता हो, तो अम्ल, नमक तथा तैल की वस्ति देनी चाहिए; पित्त की प्रधानता में दूध मिलाकर और कफ की अधिकता होने पर गोमूत्र मिलाकर वस्ति देनी चाहिए। इस प्रकार निरूहवस्ति मूत्र, मल और अपानवायु की रुकावट को शीघ्र दूर करती है और सिराओं को सक्रिय बनाती है॥ १६-१७॥

त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाकग्राम्यौदकानूपरसैर्यवान्नम्।
अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भिरद्यात् प्रसन्ना गुडसीधुपायी॥ १८॥

उदावर्त में अन्नपान—जौ की रोटी को निशोथ, थूहर और तिल, इनके पत्तों के शाक से या ग्रामीण (बकरा आदि), जलेचर (मछली आदि) एवं आनूप (जल के समीप रहने वाले) जीवों के मांसरस के साथ खाना चाहिए। इसी प्रकार मल-मूत्र एवं अपानवायु को निकालने वाले पदार्थों के साथ जौ की रोटी खानी चाहिए। पेय पदार्थ के रूप में सुरामण्ड, सिरका या गुड़ का बना मद्य पीना चाहिए। इन पेय पदार्थों को भोजन के बाद पीना चाहिए॥ १८॥

भूयोऽनुबन्धे तु भवेद्विरेच्यो मूत्रप्रसन्नादधिमण्डशुक्तैः।
स्वस्थं तु पश्चादनुवासयेत्तं रौक्ष्याद्धि सङ्गोऽनिलवर्चसोश्चेत्॥ १९॥

विरेचन और अनुवासन—यदि निरूहवस्ति तथा उपर्युक्त पथ्याहार के प्रयोग के बावजूद भी उदावर्त रोग बना ही रह जाय, तो रोगी को (७ दिन बाद) गोमूत्र, प्रसन्ना, दही के पानी या सिरका के अनुपान से किसी विरेचन औषध का प्रयोग कर विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार रोगी के स्वस्थ हो जाने के बाद भी रूक्षता के कारण यदि अपानवायु और मल का विबन्ध हो, तो (७ दिन बाद) रोगी को अनुवासनवस्ति देनी चाहिए॥ १९॥

द्विरुत्तरं हिङ्गु वचाऽग्निकुष्ठं सुवर्चिका चैव विडङ्गचूर्णम्।
सुखाऽम्बुनाऽऽनाहविसूचिकार्तिहृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम्॥ २०॥

द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण—क्रमशः आगे की औषधें दूनी मात्रा में लें, जैसे—हींग १ भाग, बच २ भाग, चित्रक ४ भाग, कूठ ८ भाग, सज्जीखार १६ भाग और वायविडंग ३२ भाग लेकर कपड़छन चूर्ण बनाकर रख लें। यह चूर्ण सुखोष्ण जल से सेवन करने पर आनाह, विसूचिका, हृदयरोग, गुल्म और उदावर्त रोग को नष्ट करता है॥ २०॥

वचाभयाचित्रकयावशूकान् सपिप्पलीकातिविषान् सकुष्ठान्।
उष्णाम्बुनाऽऽनाहविमूढवातान् पीत्वा जयेदाशु रसौदनाशी॥ २१॥

बचादि चूर्ण—मीठा बच, हर्रे (निर्बीज), चित्रक, जवाखार, पीपर, अतीस और मीठा कूठ, इन सबको समान भाग लेकर, चूर्ण बनाकर गरम जल से सेवन करने से आनाह और अपानवायु की रुकावट (उदावर्त) दूर हो जाती है। इसके सेवन के साथ भात और मांसरस खाना चाहिए॥ २१॥

हिङ्गूग्रगन्धाबिडशुण्ठ्यजाजीहरीतकीपुष्करमूलकुष्ठम्।
यथोत्तरं भागविवृद्धमेतत् प्लीहोदराजीर्णविसूचिकासु॥ २२॥

हिङ्गूग्रगन्धादि चूर्ण—उत्तम हींग १ भाग, मीठा बच २ भाग, विडनमक ३ भाग, सोंठ ४ भाग, जीरा ५ भाग, निर्बीज हर्रे ६ भाग, पोहकरमूल ७ भाग और कूठ ८ भाग लेकर महीन चूर्ण बनाकर रख लें। यह चूर्ण प्लीहावृद्धि, उदररोग, अजीर्ण तथा विसूचिका रोग की श्रेष्ठ औषध है॥ २२॥

स्थिरादिवर्गस्य पुनर्नवायाः शम्पाकपूतीककरञ्जयोश्च।
सिद्धः कषाये द्विपलांशिकानां प्रस्थो घृतात् स्यात् प्रतिरुद्धवाते॥ २३॥

स्थिरादि घृत—सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, गदहपुर्ना, अमलतास और पूतिकरञ्ज—इन सबको २-२ पल लेकर मोटा कूटकर १६ प्रस्थ जल में चतुर्थांशावशिष्ट काढ़ा बनायें, फिर १ प्रस्थ गोघृत डालकर विधिवत् घृतपाक करें। जब अधोवायु की रुकावट हो, तो उसे दूर करने में यह श्रेष्ठ औषध है॥ २३॥

आनाह रोग

फलं च मूलं च विरेचनोक्तं हिङ्ग्वर्कमूलं दशमूलमग्र्यम्।
स्नुक् चित्रकश्चैव पुनर्नवा च तुल्यानि सर्वैर्लवणानि पञ्च॥ २४॥
स्नेहैः समूत्रैः सह जर्जराणि शरावसन्धौ विपचेत् सुलिप्ते।
पक्वं सुपिष्टं लवणं तदघ्नैः पानैस्तथाऽऽनाहरुजाघ्नमद्यात्॥ २५॥

फल-मूलादि लवण—(चरक-सूत्रस्थान अध्याय १ में कथित) विरेचन के सन्दर्भ में उक्त फलिनी और मूलिनी द्रव्य, हींग, मदार का मूल, उत्तम दशमूल (श्रीफल, गनियार, पाढल, गम्भार, सोनापाठा, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), सेहुँड़ का दण्ड, चित्रक और गदहपुर्ना—इन सबको बराबर तथा इनके सम्पूर्ण वजन के बराबर पाँचों नमक लेकर गोमूत्र एवं स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) द्रव्यों के साथ कूटकर एक में मिला दें, फिर मिट्टी की परई (बड़ा सकोरा) में भरकर दूसरी परई से ढककर, कपड़मिट्टी लगाकर, सुखाकर तत्पश्चात् गजपुट देकर पका लें और चूर्ण कर रख लें। भोजन के साथ एवं पेय पदार्थों के साथ इस चूर्ण का प्रयोग करने से यह आनाह के कारण होने वाली वेदना को शान्त करता है॥ २४-२५॥

हृत्स्तम्भमूर्धामयगौरवाभ्यामुद्गारसङ्गेन सपीनसेन।
आनाहमामप्रभवं जयेत्तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च॥ २६॥

आनाह का लक्षण—हृदय में जकड़ाहट, शिर के रोग एवं शूल आदि, भारीपन, डकार का रुक जाना और पीनस (बार-बार सर्दी-जुकाम होना), इन लक्षणों में युक्त आनाह रोग को आमदोषजन्य जानना चाहिए।

चिकित्सासूत्र—आमज आनाह रोग को वमन के द्वारा लंघन कराकर और पाचन द्रव्यों के प्रयोग से दूर करना चाहिए॥ २६॥

वक्तव्य—हेतु तथा लक्षणों की विशेषता के कारण उदावर्त का ही एक दूसरा स्वरूप 'आनाह' कहा जाता है। जब आमाशय में आमरस या पक्वाशय में पुरीष का संचय होता है और वायु के वैगुण्य से दोनों का मार्ग अवरुद्ध होता है तो यह 'आनाह'[1] रोग है। चरकाचार्य ने केवल आमदोषजन्य आनाह का वर्णन किया है।

निरुक्ति—आसमन्तात् नह्यते बाध्यते अवरुध्यते वा मलस्य वायोश्च मार्गं यस्मिन् रोगे स आनाहः।

भेद—दूष्य तथा आश्रय भेद से आनाह दो प्रकार का होता है—(१) आमाशयोत्थ[2] या आमरसजन्य तथा (२) पक्वाशयोत्थ[3] या पुरीषज।

---

१. आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण, भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं, विकारमानाहमुदाहरन्ति॥ (सु. उ. ५६।२०)
२. तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु, तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं, हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च॥ (सु. उ. ५६।२१)
३. स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे, शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति, तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि॥ (सु. उ. ५६।२२)

सम्प्राप्ति—

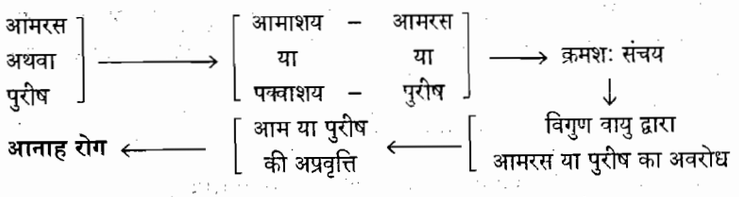

(१) आमाशयोत्थ आनाह—चरकोक्त लक्षणों के अतिरिक्त तृष्णा, प्रतिश्याय, शिरोविदाह, आमाशयशूल आदि। यह एक प्रकार का जठरान्तावरोध (Pyloric obstruction) है।

(२) पक्वाशयोत्थ आनाह—कटि एवं पृष्ठ तथा मल-मूत्र में स्तब्धता, कटि-पृष्ठशूल, मूर्च्छा, पुरीष का वमन, श्वास तथा अलसक रोग के लक्षणों का होना। यह आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) प्रकार का रोग है।

जब पक्वाशय में वायु तथा मल का अत्यन्त अवरोध होता है और वायु की गति ऊपर की ओर होती है। रोगी ग्लानि और मूर्च्छा से त्रस्त हो जाता है। कुक्षि में आनाह बढ़ जाता है एवं डकार तथा हिचकी आने लगती है, तो ये सब 'अलसक' के लक्षण प्रवृद्ध आनाह के सूचक हैं।

गुल्मोदरव्रध्नार्शःप्लीहोदावर्तयोनिशुक्रगदे। मेदःकफसंसृष्टे मारुतरक्तेऽवगाढे च॥ २७॥
गृध्रसिपक्षवधादिषु विरेचनार्हेषु वातरोगेषु। वाते विबद्धमार्गे मेदःकफपित्तरक्तेन॥ २८॥
पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूषमूत्रमदिराभिः। दोषानुबन्धयोगात् प्रशस्तमेरण्डजं तैलम्॥

एरण्ड तैल का प्रयोग—वात आदि दोषों की स्थिति या उनके प्रकोप को समझकर गुल्म रोग, उदर रोग, व्रध्न रोग, अर्श रोग, प्लीहवृद्धि, उदावर्त, योनिरोग, शुक्ररोग, मेदोविकार तथा कफदोषयुक्त गम्भीर वातरक्त, गृध्रसी, पक्षबध आदि एवं विरेचन देने के योग्य वातरोगों में तथा मेद-कफ-पित्त या रक्त से वायु के मार्ग के रुक जाने पर दूध या मांसरस या त्रिफलाक्वाथ या मूँग के यूष या गोमूत्र अथवा मदिरा के साथ एरण्ड तैल का पिलाना कल्याणकारक होता है॥ २७-२९॥

तद्वातनुत्स्वभावात्संयोगवशाद्विरेचनाच्च जयेत्। मेदोऽसृक्पित्तकफोन्मिश्रानिलरोगजित्तस्मात्॥
बलकोष्ठव्याधिवशादपश्चपला भवेन्मात्रा। मृदुकोष्ठाल्पबलानां सह भोज्यं तत्प्रयोज्यं स्यात्॥
इत्युदावर्तचिकित्सा।

एरण्ड तैल की कार्मुकता—(वायु रूक्ष होता है और एरण्ड तैल स्निग्ध होता है इसलिए) यह अपने स्वभाव से ही वातनाशक होता है और अन्य वातहर औषधों के साहचर्य से तथा विरेचनगुणयुक्त होने से मेद, रक्त, पित्त एवं कफ दोष से युक्त वातरोगों को भी नष्ट कर देता है। इसलिए रोगी तथा रोग के बल का, कोष्ठ का एवं रोग की अवस्था का विचार कर पाँच पल तक की मात्रा एरण्ड तैल की देनी चाहिए। जो रोगी मृदुकोष्ठ हों या जो रोगी दुर्बल हों, उन्हें भोजन के साथ एरण्ड तैल का सेवन कराना चाहिए॥ ३०-३१॥

वक्तव्य—गंगाधर जी तथा आचार्य चक्रपाणि ने इन श्लोकों की व्याख्या नहीं की है, इसलिए कुछ लोग इन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं।

मूत्रकृच्छ्र

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात्।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ॥ ३२॥

मूत्रकृच्छ्र का निदान—अधिक व्यायाम करने से, तीक्ष्ण औषध और रूक्ष मद्य के सेवन से, अधिक स्त्री-प्रसङ्ग से, तीव्र वेग से दौड़ने वाले घोड़े की पीठ पर लगातार सवारी करने से, आनूप जीवों के मांस तथा मछली खाने से, भोजन न पचने पर पुनः भोजन करने से और अजीर्ण होने से मनुष्यों को आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोग होते हैं॥ ३२॥

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात्॥ ३३॥

मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति—जब अलग-अलग वात, पित्त या कफ दोष स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर अथवा सभी दोष प्रकुपित होकर वस्ति प्रदेश में जाकर मूत्र के मार्ग में विकृति उत्पन्न कर पीड़ा पहुँचाते हैं, तब मनुष्य कठिनाई से मूत्रोत्सर्ग कर पाता है। इसे ही मूत्रकृच्छ्र रोग कहते हैं॥ ३३॥

सम्प्राप्ति—

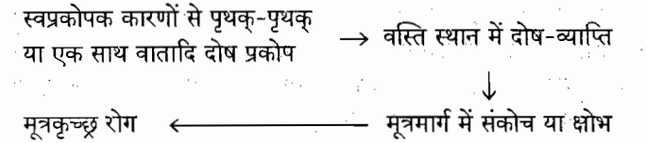

दोष : वातप्रधान त्रिदोष।
दूष्य : मूत्र, जल।
अधिष्ठान : वस्ति, मूत्रमार्ग।

वक्तव्य—मूत्र की कष्टप्रद प्रवृत्ति को मूत्रकृच्छ्र कहते हैं—'मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः'। यह वस्ति सम्बन्धी रोग है। वस्ति के मूत्रपूर्ण होने के बावजूद एवं मूत्रत्याग करने की इच्छा के होते हुए भी मूत्रमार्ग में किसी विकार के कारण या रुकावटजनक कारण के आ जाने से मूत्र कष्ट के साथ निकलता है। ये कारण प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—

१. मूत्राशयगत कारण—जैसे अश्मरी, अर्बुद, मूत्राशयकलाशोथ, योषापस्मार, मूत्र की अत्यम्लता एवं सूत्रकृमि।
२. मूत्रप्रणालीगत कारण—मूत्रप्रसेकशोथ, औपसर्गिक मेह, शिश्नगत मूत्रमार्ग में संकोच।
३. अन्य कारण—पौरुषग्रन्थि की वृद्धि तथा अर्श से भी मूत्रकृच्छ्र होता है।

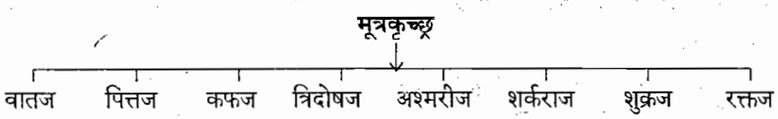

तीव्रा रुजो वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रान्मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्॥ ३४॥
बस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद् भवन्ति तत् कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम्॥ ३५॥

वातज आदि मूत्रकृच्छ्र के लक्षण—(१) वात के कारण वंक्षण प्रदेश में मूत्राशय और मूत्रेन्द्रिय में तीव्र पीड़ा होती है तथा बहुत अल्पमात्रा में मूत्रत्याग होता है। (२) पित्त के कारण पीला, रक्तमिश्रित, पीड़ा और जलन के साथ, कष्टपूर्वक बार-बार मूत्र त्याग होता है। (३) कफज मूत्रकृच्छ्र में वस्ति और लिंग में भारीपन और शोथ होता है तथा मूत्र में पिच्छा (मण्ड जैसा चिपचिपा पदार्थ) आती है। (४) सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में तीनों दोषों से होने वाले लक्षण होते हैं और वह मूत्रकृच्छ्र बड़ा ही कष्टप्रद एवं कष्टसाध्यतम होता है॥ ३४-३५॥

विशोषयेद् बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः॥ ३६॥

अश्मरी की सम्प्राप्ति—जब वायु मूत्राशय में आये हुए शुक्रसहित मूत्र को या पित्त सहित कफ को सुखा देती है, तब वस्ति में अश्मरी (पथरी) बन जाती है, जैसे कि गाय के पित्ताशय में गोरोचन बन जाता है॥ ३६॥

वक्तव्य—'वस्ति' शब्द से मूत्राशय एवं वृक्क तथा गविनी का भी बोध होता है। वस्ति शब्द उपलक्षण है, जिससे स्वयं अपना तथा मूत्र-संस्थान के अन्य अवयवों का भी बोध होता है। वस्ति शब्द से सम्पूर्ण मूत्र-प्रणाली को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि शारीरशास्त्र की दृष्टि से शुक्रमार्ग का वस्ति से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वह सीधा प्रास्टेट में जाकर खुलता है। इस प्रकार शुक्राश्मरी का अस्तित्व वस्ति में नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसलिए वस्तिगत शब्द से मूत्रप्रणालीगत अर्थ करना चाहिए। मूत्र में द्रवांश की कमी एवं घनत्व की वृद्धि होना ही अश्मरी रोग का प्रधान कारण है। समवर्त के विकार से मूत्र में यूरिक एसिड तथा फास्फेट जैसे पदार्थों की अधिकता होने पर उनके कण धीरे-धीरे एकत्र होने लगते हैं, जो आगे चलकर अश्मरी (Calculus) का रूप धारण कर लेते हैं। पित्त लवणों के कणों के एकत्रीभवन से पित्ताश्मरी (Gall stone) की उत्पत्ति होती है।

कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या श्लक्ष्णा त्रिपट्व्यथवाऽपि मृद्वी।
मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्ध्वा मूत्रं रुजं तस्य करोति बस्तौ॥ ३७॥
ससेवनीमेहनबस्तिशूलं विशीर्णधारं च करोति मूत्रम्।
मृद्नाति मेढ्रं स तु वेदनार्तो मुहुः शकृन्मुञ्चति मेहते च॥ ३८॥
क्षोभात् क्षते मूत्रयतीह सासृक् तस्याः सुखं मेहति च व्यपायात्।

अश्मरी का स्वरूप—वातदोष से कदम्ब के फूल के समान और त्रिपुटी (तिकोनी), पित्तदोष से पत्थर के समान कड़ी और चिकनी तथा कफ एवं शुक्र से कोमल होती है।

अश्मरी के लक्षण—जब अश्मरी मूत्र के मार्ग में आ जाती है, तो मार्ग को रोककर मूत्र-निर्गमन में रुकावट पैदा करती है तथा वस्ति में पीड़ा उत्पन्न करती है। फिर सेवनी (अण्डकोष के मूल से लेकर गुदा तक) लिङ्ग और मूत्राशय में वेदना उत्पन्न करती है तथा मूत्र की कई धार बना देती है। वेदना से व्याकुल रोगी अपने हाथों से अपने लिङ्ग को मसलने लगता है, बार-बार शौच करता है तथा बार-बार पेशाब करता है।

जब अश्मरी के क्षोभ (हिलने-डुलने) के कारण क्षत हो जाता है, तब मूत्र के साथ रक्त आने लगता है और जब (जोर लगाने से) अश्मरी बाहर निकल जाती है तब बिना कष्ट के मूत्र आने लगता है॥ ३७-३८॥

एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती॥ ३९॥

शर्करा का स्वरूप—जब यह अश्मरी वायु के प्रवाहण से टुकड़े-टुकड़े होकर मोटे बालू जैसी बन जाती है, तो यह मूत्रमार्ग से निकला करती है, जिसे शर्करा कहते हैं॥ ३९॥

वक्तव्य—अश्मरी की अपेक्षा शर्करा रोग में वेदना की अल्पता होती है। यद्यपि अश्मरी और शर्करा, ये दोनों एक ही कारण एवं लक्षण वाले रोग हैं, फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है—वायु के प्रतिलोम होने पर शर्करा मूत्रमार्ग में अटक जाती है, तो दुर्बलता, पीड़ा, कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डु, उष्णवात, तृष्णा, हृदय में पीड़ा और वमन, ये लक्षण होते हैं। वाग्भटाचार्य ने अश्मरी को वायु द्वारा भिन्न होने पर शर्करा कहा है और अश्मरी तथा शर्करा को एक ही माना है—'अश्मर्येव च शर्करा' (अ. हृ. नि. ८)।

सुश्रुताचार्य ने अश्मरी के भेद के रूप में भस्म, सिकता तथा शर्करा को माना है—'शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्' (सु. नि. ६)।

रेतोऽभिघाताभिहतस्य पुंसः प्रवर्तते यस्य तु मूत्रकृच्छ्रम्।
स्याद् वेदना वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते॥ ४०॥
शुक्रेण संरुद्धगतिप्रवाहो मूत्रं स कृच्छ्रेण विमुञ्चतीह।
तमण्डयोः स्तब्धमिति ब्रुवन्ति रेतोऽभिघातात् प्रवदन्ति कृच्छ्रम्॥ ४१॥

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का परिचय—बहिर्गमनोन्मुख शुक्र को रोकने से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र से पीड़ित व्यक्ति के वंक्षण प्रदेश में, वस्ति में और मूत्रेन्द्रिय में वेदना होती है। उसके अण्डकोश बढ़कर गोलाकार हो जाते हैं तथा उनमें बहुत अधिक पीड़ा होती है। वीर्य के द्वारा जब मूत्र की गति का प्रवाह रुक जाता है, तब रोगी कष्ट के साथ मूत्रत्याग करता है। इस स्थिति को अण्डकोशों में वीर्य का स्तब्ध होना कहा जाता है। इसे शुक्रज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं॥ ४०-४१॥

वक्तव्य—कुछ लोग इन दोनों श्लोकों को प्रक्षिप्त मानते हैं।

शुक्रं मलाश्चैव पृथक् पृथग्वा मूत्राशयस्थाः प्रतिवारयन्ति।
तद् व्याहतं मेहनवस्तिशूलं मूत्रं सशुक्रं कुरुते विबद्धम्॥ ४२॥
स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च तुद्येत बस्तिर्वृषणौ तु तस्य।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की सम्प्राप्ति—वात, पित्त, कफ, ये तीनों दोष प्रकुपित होकर अलग-अलग या एक साथ जब मूत्राशयगत होते हैं, तो ये शुक्र की गति को रोक देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मूत्रेन्द्रिय और वस्ति में शूल होता है तथा रुक-रुक कर शुक्रसहित मूत्र निकलता है। वस्ति में जकड़ाहट, सूजन एवं भयंकर दर्द होता है और सुई चुभाने जैसी वेदना होती है। इसी प्रकार दोनों अण्डकोशों में जकड़ाहट, सूजन, तीव्र वेदना और सुई चुभाने जैसी पीड़ा होती है॥ ४२॥

क्षताभिघातात् क्षतजं क्षयाद्वा प्रकोपितं बस्तिगतं विबद्धम्॥ ४३॥
तीव्रार्ति मूत्रेण सहाल्पमल्पमायाति तस्मिन्नतिसञ्चिते च।
आध्माततां विन्दति गौरवं च बस्तेर्लघुत्वं च विनिःसृतेऽस्मिन्॥ ४४॥

इति मूत्रकृच्छ्रनिदानम्।

रक्तज मूत्रकृच्छ्र—मूत्रनिर्हरणार्थं प्रयुक्त शलाका आदि द्वारा कटने से या चोट लगने से या अतिमैथुन आदि से शुक्रक्षय होने से प्रकुपित हुआ रक्त मूत्राशय में जाकर बँध जाता है, तब रोगी का मूत्र तीव्र वेदना के साथ थोड़ा-थोड़ा निकलता है। जब रक्त अधिक मात्रा में संचित होता है, तो वस्ति में वायु भरने जैसा आध्मान हो जाता है और भारीपन हो जाता है। फिर जब एकत्र हुआ रक्त बाहर निकल जाता है, तो वस्ति में हलकापन आ जाता है॥ ४३-४४॥

अभ्यञ्जनस्नेहनिरूहबस्तिस्नेहोपनाहोत्तरबस्तिसेकान्।
स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धान् दद्याद् रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे॥ ४५॥

वातज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सासूत्र—वातजन्य मूत्रकृच्छ्र में वातघ्न तैलों की मालिश करना, स्नेहपान करना या स्निग्धवस्ति देना, निरूहवस्ति देना, स्निग्ध द्रव्यों की पुल्टिस बाँधना, मूत्रमार्ग में स्निग्ध उत्तरवस्ति देना, स्निग्ध पदार्थों से बने क्वाथ से या स्नेह से परिषेचन करना और शालिपर्णी आदि लघुपंचमूल के क्वाथ में बनाये हुए मांसरस का प्रयोग करना उत्तम है॥ ४५॥

पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः पत्तूरवृश्चीरबलाश्मभिद्भिः।
द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोलयवैश्च तोयोत्क्वथिते कषाये॥४६॥
तैलं वराहर्क्षवसा घृतं च तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम्।
तन्मात्रयाऽऽशु प्रतिहन्ति पीतं शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम्॥४७॥
एतानि चान्यानि वरौषधानि पिष्टानि शस्तान्यपि चोपनाहे।
स्युर्लाभतस्तैलफलानि चैव स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति॥४८॥

पुनर्नवादि मिश्रक स्नेह—गदहपुर्ना, रेड़ की जड़, शतावर, पत्तूर (शालिंच शाक), काली गदहपुर्ना, बरियार की जड़, पाषाणभेद, दोनों पञ्चमूल, कुलथी, खट्टी बेर और जौ—इन सबको समभाग लेकर, मोटा कूटकर चौगुने जल में क्वाथ बनायें तथा चतुर्थांश जल बचे तो छान लें। पुनर्नवा आदि द्रव्यों को समभाग लेकर कल्क बनायें और पाँचों नमक का चूर्ण लें। फिर क्वाथ के चतुर्थांश तिल-तैल, सूअर की चर्बी और घी (सब समभाग) लें। कल्क इन स्नेहों का चतुर्थांश लें। फिर क्वाथ में सभी स्नेह और कल्क डालकर विधिवत् स्नेहपाक करें। इस मिश्रक स्नेह को रोगी तथा रोग के बल आदि का विचार कर उचित मात्रा में प्रयोग करने से यह शूल से युक्त वातज मूत्रकृच्छ्र रोग को नष्ट करता है।

उपनाह प्रयोग—पुनर्नवा आदि द्रव्य तथा अन्य वातहर औषधें तथा तिल, तीसी, सरसों आदि द्रव्य यथालाभ लेकर एवं तैल, घी और अम्ल द्रव्य सब एक साथ पीसकर, मिलाकर, सुखोष्ण कर पुल्टिस बाँधनी चाहिए॥४६-४८॥

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्बस्तिपयोविरेकाः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः॥४९॥

पित्तज मूत्रकृच्छ्र का चिकित्सासूत्र—पित्तज मूत्रकृच्छ्र रोग में शीतल जल से परिसेचन, शीतल जल में अवगाहन (स्नान), शीतल प्रदेह और ग्रीष्म ऋतुचर्या के बताये गये विधान के अनुसार आहार-विहार करना चाहिए, वस्ति लगानी चाहिए, दूध पिलाना चाहिए तथा विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार अंगूर का रस या मुनक्के का क्वाथ, विदारीकन्द का एवं गन्ने का रस पिलाना चाहिए तथा घृत का सेवन कराकर उपचार करना चाहिए॥४९॥

शतावरीकाशकुशश्वदंष्ट्राविदारिशालीक्षुकशेरुकाणाम् ।
क्वाथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां युक्तं पिबेत् पैत्तिकमूत्रकृच्छ्री॥५०॥

शतावर्यादि क्वाथ—शतावर, कास (राड़ी) की जड़, कुश की जड़, गोखरू, विदारीकन्द, शालि (अगहनी धान) की जड़, गन्ने की जड़ और कसेरु—इन सबको समान भाग लेकर, क्वाथ बनाकर, शीतल होने पर मधु और चीनी मिलाकर पित्तज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को पीना चाहिए॥५०॥

पिबेत् कषायं कमलोत्पलानां शृङ्गाटकानामथवा विदार्याः।
दण्डैरकाणामथवाऽपि मूलं पूर्वेण कल्पेन तथाऽम्बु शीतम्॥५१॥

क्वाथ के अन्य योग—(१) श्वेतकमल और नीलकमल के फूलों का क्वाथ या (२) सिंघाड़े का क्वाथ या (३) विदारीकन्द का क्वाथ या पटेरा का क्वाथ शीतल कर मधु तथा चीनी मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए॥५१॥

एर्वारुबीजं त्रपुषात् कुसुम्भात् सकुङ्कुमः स्याद् वृषकश्च पेयः।
द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु सर्वेषु कृच्छ्रेषु प्रशस्त एषः॥५२॥

एर्वारुबीजादि योग—ककड़ी का बीज, खीरे का बीज, बर्रे का बीज, अरूसे की पत्ती और केशर, इनका चूर्ण बनाकर मुनक्के के रस या क्वाथ से पिलाना चाहिए। यह योग अश्मरीरोग, शर्करारोग तथा सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोग में लाभप्रद होता है॥५२॥

एर्वारुबीजं मधुकं सदारु पैत्ते पिबेत्तण्डुलधावनेन।
दार्वी तथैवामलकीरसेन समाक्षिकां पित्तकृते तु कृच्छ्रे॥५३॥

अन्य एर्वारुबीजादि चूर्ण—(१) पित्तज मूत्रकृच्छ्र में ककड़ी के बीज, मुलहठी और देवदारु, इनके समभाग चूर्ण को चावल के धोवन के साथ पीना चाहिए। इसी प्रकार (२) दारुहल्दी के चूर्ण को मधु मिलाकर आँवले के स्वरस के साथ पित्तज मूत्रकृच्छ्र में पीना चाहिए॥५३॥

क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः।
तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे॥५४॥

कफज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सासूत्र—कफज मूत्रकृच्छ्र रोग में क्षारीय, उष्ण, तीक्ष्ण एवं कटुरसयुक्त खाने-पीने के पदार्थों का सेवन, स्वेदन, जौ का सेवन, वमन, निरूहवस्ति, मट्ठे का सेवन तथा तिक्त रस वाली औषधों से सिद्ध तेल की मालिश और उसे पीना हितकर होता है॥५४॥

व्योषं श्वदंष्ट्रात्रुटिसारसास्थि कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम्।
पिबेत् त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या रसेन कैडर्यरसेन वाऽपि॥५५॥

व्योषादि चूर्ण—(१) सोंठ, मरिच, पीपर, गोखरू, छोटी इलायची और सारस पक्षी की हड्डी, इन सबको समभाग लेकर, चूर्ण कर कोल प्रमाण (आधा कर्ष लगभग ६ ग्राम) मात्रा लेकर मधु में चाटकर ऊपर से गोमूत्र पीना चाहिए। अथवा (२) छोटी इलायची के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटकर केले का स्वरस या बकायन की पत्ती का स्वरस पीना चाहिए॥५५॥

तक्रेण युक्तं शितिवारकस्य बीजं पिबेत् कृच्छ्रविनाशहेतोः।
पिबेत्तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे॥५६॥

कफज मूत्रकृच्छ्रनाशक रोग—(१) कफज मूत्रकृच्छ्र में शितिवार (शालिञ्च-लिसोड़ा) के बीज के चूर्ण को मट्ठे में मिलाकर पीना चाहिए। इसी प्रकार (२) मूँगे की पिष्टी (२-३ गुञ्जा) चावल के धोवन के साथ पिलानी चाहिए॥५६॥

सप्तच्छदारग्वधकेबुकैलाधवं करञ्जं कुटजं गुडूचीम्।
पक्त्वा जले तेन पिबेद्यवागूं सिद्धं कषायं मधुसंयुतं वा॥५७॥

सप्तच्छदादि यवागू और क्वाथ—(१) छितवन, अमलतास, कलमीशाक, छोटी इलायची, धव की छाल, करञ्ज की छाल, कोरया की छाल और गुरुच—इन्हें समभाग लेकर षडङ्गपरिभाषा के अनुसार जल में पकाकर, फिर उस जल में यवागू बनाकर पिलानी चाहिए अथवा (२) इन्हीं द्रव्यों का क्वाथ मधु मिलाकर पिलाना चाहिए॥५७॥

सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्।
त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात् पित्ते विरेकः पवने तु बस्तिः॥५८॥

इति मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा।

त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सासूत्र—जब समत्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र हो, तो सबसे पहले वायु के स्थान के अनुसार चिकित्सा करें, तब पित्तस्थान, फिर कफस्थान के क्रम से चिकित्सा करें। यदि तीनों दोषों में कफ का अधिक प्रकोप हो, तो पहले वमन करायें, पित्त की अधिकता हो, तो विरेचन तथा वायु की अधिकता होने पर वस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥५८॥

क्रिया हिता साऽश्मरिशर्कराभ्यां कृच्छ्रे यथैवेह कफानिलाभ्याम्।
कार्या—

अश्मरी-शर्करा चिकित्सासूत्र—पूर्व के सन्दर्भों में कफज तथा वातज मूत्रकृच्छ्र रोग के शमनार्थ जो चिकित्सा बतलायी गयी है, वही चिकित्सा अश्मरी और शर्करा से होने वाले मूत्रकृच्छ्र में भी करनी चाहिए।

—अश्मरीभेदनपातनाय विशेषयुक्तं शृणु कर्म सिद्धम्॥ ५९॥

अश्मरी-भेदन-पातन का उपक्रम—अब आप अश्मरी को तोड़कर बाहर निकालने के लिए जो अनुभूत सफल प्रयोग हैं, उन्हें सुनिये॥ ५९॥

पाषाणभेदं वृषकं श्वदंष्ट्रापाठाभयाव्योषशटीनिकुम्भाः।
हिंस्राखराश्वाशितिवारकाणामेर्वारुकाणां त्रपुषस्य बीजम्॥ ६०॥
उत्कुञ्चिका हिङ्गु सवेतसाम्लं स्याद् द्वे बृहत्यौ हपुषा वचा च।
चूर्णं पिबेदश्मरिभेदपक्वं सर्पिश्च गोमूत्रचतुर्गुणं तैः॥ ६१॥

पाषाणभेदादि चूर्ण और पाषाणभेदादि घृत—(१) पाषाणभेद, अरूस की पत्ती, गोखरू, पाठा, हर्रे, सोंठ, मरिच, पीपर, कचूर, दन्तीमूल, हिंस्रा (हइस), जवायन, शितिवार (लिसोड़ा-शालिञ्च), ककड़ी के बीज, खीरे के बीज, मँगरैला, हींग, अम्लबेंत, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हाऊबेर और मीठा बच—इन सभी द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण बनायें। अश्मरी के भेदन तथा पातन के लिए रोगी के बलानुसार उचित मात्रा में इस चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। (२) ऊपर बतलाये गये चूर्ण को चटनी की तरह पीसकर कल्क बना लें, कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना गोमूत्र डालकर विधिवत् घृतपाक करें। इस घृत के सेवन से भी अश्मरी का भेदन तथा पातन होता है॥ ६०-६१॥

मूलं श्वदंष्ट्रेक्षुरकोरुबूकात् क्षीरेण पिष्टं बृहतीद्वयाच्च।
आलोडय दध्ना मधुरेण पेयं दिनानि सप्ताश्मरिभेदनाय॥ ६२॥

गोक्षुरादि योग—गोखरू, तालमखाना, एरण्ड, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, इन सबका समान भाग मूल लेकर दूध में पीसकर और मीठी दही के साथ फेंटकर सात दिन तक खाना चाहिए। इससे अश्मरी टूट जाती है॥ ६२॥

पुनर्नवायोरजनीश्वदंष्ट्राफल्गुप्रवालाश्च सदर्भपुष्पाः।
क्षीराम्बुमद्येक्षुरसैः सुपिष्टं पेयं भवेदश्मरिशर्करासु॥ ६३॥

पुनर्नवादि योग—गदहपुर्ना, लौहभस्म, हल्दी, गोखरू, बड़े वाले कुश (डाभ) के फूल और कठ, गूलर के पत्ते—इन सबको दूध या जल या मद्य या गन्ने के रस के साथ पीसकर अश्मरी तथा शर्करा रोग में पीना चाहिए॥ ६३॥

त्रुटिं सुराह्वं लवणानि पञ्च यवाग्रजं कुन्दुरुकाश्मभेदौ।
कम्पिल्लकं गोक्षुरकस्य बीजमेर्वारुबीजं त्रपुषस्य बीजम्॥ ६४॥
चूर्णीकृतं चित्रकहिङ्गुमांसीयवानितुल्यं त्रिफलाद्विभागम्।
अम्लैरशुक्ते रसमद्ययूषैः पेयं हि गुल्माश्मरिभेदनार्थम्॥ ६५॥

त्रुट्यादि चूर्ण—छोटी इलायची, देवदारु, पाँचों नमक, यवाखार, कुन्दुरू, पाषाणभेद, कबीला, गोखरू, ककड़ी का बीज, खीरा का बीज, चित्रकमूल, हींग, जटामसी और जवायन, प्रत्येक १-१ भाग तथा आँवला निर्बीज २ भाग, हर्रा निर्बीज २ भाग एवं बहेड़ा निर्बीज २ भाग लेकर महीन चूर्ण बना लें। गुल्म तथा

अश्मरी रोग को नष्ट करने के लिए इस चूर्ण में सिरका को छोड़कर अन्य अम्ल पदार्थों के साथ या मांसरस से अथवा मद्य से या यूष से पीना चाहिए॥ ६४-६५॥

बिल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टो यूषः कृतः शिग्रुकमूलकल्कात्।
शीतोऽश्मभित् स्याद्दधिमण्डयुक्तः पेयः प्रकामं लवणेन युक्तः॥ ६६॥

सहिजन का प्रयोग—सहिजन के मूल का कल्क लेकर उससे १ पल यूष तैयार करें और उसे घी-तैल से छौंक दें। फिर ठण्डा होने पर नमक (इच्छानुसार) तथा दही का पानी मिलाकर पीना चाहिए। यह अश्मरी को तोड़ देता है॥ ६६॥

जलेन शोभाञ्जनमूलकल्कः शीतो हितश्चाश्मरिशर्करासु।
सितोपला वा समयावशूका कृच्छ्रेषु सर्वेष्वपि भेषजं स्यात्॥ ६७॥

सहिजन का अन्य योग—(१) सहिजन के मूल का शीत चूर्ण ठण्डे जल से सेवन करने पर अश्मरी और शर्करा इन दोनों में लाभ होता है। (२) इसी प्रकार मिश्री और जवाखार बराबर-बराबर (४-४ रत्ती) लेकर ठण्डे जल से सेवन करना सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों में उत्तम औषध है॥ ६७॥

पीत्वाऽथ मद्यं निगदं रथेन हयेन वा शीघ्रजवेन यायात्।
तैः शर्करा प्रच्यवतेऽश्मरी तु शाम्येन्न चेच्छल्यविदुद्धरेत्ताम्॥ ६८॥

अश्मरी और शर्करा में विहार तथा शल्यकर्म—निगद (स्वच्छ) मद्य का यथेच्छ पान कर तेज चाल वाले घोड़े पर सवारी करें अथवा तेज चलने वाले रथ से यात्रा करें। इससे अश्मरी या शर्करा बाहर निकल जाती है और तज्जन्य वेदना शान्त हो जाती है। यदि इस प्रयोग से भी अश्मरी या शर्करा रोग दूर न हो, तो शल्यकर्म में दक्ष चिकित्सक को शस्त्रकर्म के द्वारा उसे बाहर निकाल देना चाहिए॥ ६८॥

रेतोऽभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात्।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का चिकित्सासूत्र—वीर्य के वेग को रोकने से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र रोग में दोषों का अनुबन्ध जानकर जिस दोष की प्रमुखता हो उसके अनुसार उपचार करें।

कार्पासमूलं वृषकाश्मभेदौ बला स्थिरादीनि गवेधुका च॥ ६९॥
वृश्चीर ऐन्द्री च पुनर्नवा च शतावरी मध्वसनाख्यपर्ण्यौ।
तत्क्वाथसिद्धः पवने रसः स्यात् पित्तेऽधिके क्षीरमथापि सर्पिः॥ ७०॥
कफे च यूषादिकमन्नपानं संसर्गजे सर्वहितः क्रमः स्यात्।

कार्पासमूलादि योग—कपास का मूल, अरूस, पाषाणभेद, बरिआर का मूल, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, गवेधुका (जोन्हरी), श्वेत पुनर्नवा, इन्द्रायन का मूल, रक्त पुनर्नवा, शतावर, मधुपर्णी (गुरुच) और असनपर्णी (अपराजिता), इन सभी द्रव्यों को समभाग लेकर क्वाथ करें।

वातप्रधान शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में उक्त क्वाथ में मांसरस बनाकर खिलायें। **पित्तप्रधान** शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में इन्हीं द्रव्यों से क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध पिलायें एवं इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घी पिलायें। **कफप्रधान** शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में इन्हीं द्रव्यों से षडङ्गपरिभाषा के अनुसार सिद्ध जल में पका यूष एवं भोजन तथा जल दें। **दो दोषों** से उत्पन्न शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में दो दोषों के अनुसार तथा **तीनों दोषों** से उत्पन्न शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में तीनों दोषों के अनुकूल चिकित्सा करनी चाहिए॥ ६९-७०॥

एवं न चेच्छाम्यति तस्य युञ्जात् सुरां पुराणां मधुकासवं वा॥ ७१॥
विहङ्गमांसानि च बृंहणाय बस्तींश्च शुक्राशयशोधनार्थम्।
शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगैः प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः॥ ७२॥

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में विशेष उपचार—यदि पूर्वोक्त चिकित्सा करने पर भी शुक्रज मूत्रकृच्छ्र रोग शान्त न हो, तो पुराना मद्य अथवा मधुकासव पिलाना चाहिए तथा वृंहण के लिए पक्षियों का मांस खिलाना चाहिए। शुक्राशय के शोधन के लिए उत्तरवस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार जब शुक्राशय का शोधन हो जाये, तो बाजीकरण औषधों के सेवन से बल-वीर्य सम्पन्न बनाने के पश्चात् प्रिय तथा अनुकूल आचरण करने वाली स्त्रियों का समागम कराना चाहिए॥ ७१-७२॥

रक्तोद्भवे तूत्पलनालतालकासेक्षुबालेक्षुकशेरुकाणि।
पिबेत् सिताक्षौद्रयुतानि खादेदिक्षुं विदारीं त्रपुषाणि चैव॥ ७३॥

रक्तज मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—रक्तज मूत्रकृच्छ्र रोग में नीलकमल का दण्ड, ताड़ का फल, कास का मूल, इक्षुबाला (पतली ईंख) का मूल, गन्ने का मूल और कसेरू—इन सबका क्वाथ बनाकर मिश्री तथा मधु मिलाकर पीना चाहिए। इसके अलावे गन्ना चूसना, विदारीकन्द और खीरा खाना चाहिए॥ ७३॥

घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन सिद्धं क्षीरेण चैवाष्टगुणेन पेयम्।
स्थिरादिकानां कनकादिकानामेकैकशो वा विधिनैव तेन॥ ७४॥

श्वदंष्ट्रादि घृत—(१) रक्तज मूत्रकृच्छ्र में गोखरू का क्वाथ और घी बराबर तथा घी से आठ गुना गोदुग्ध डालकर विधिपूर्वक घृतपाक करके सेवन करना चाहिए अथवा (२) स्थिरादि वर्ग (सरिवन-पिठवन-बड़ी कटेरी-छोटी कटेरी और गोखरू) का क्वाथ और घी समभाग एवं आठ भाग गोदुग्ध डालकर घृतपाक करें या कतकादि वर्ग (कतक = निर्मली, गम्भार, गुञ्जा, नीली कटसरैया, ताड़ एवं खजूर की ताड़ी, ईंख, छोटी ईंख, बड़ा कुश, छोटा कुश, काश = राड़ी, अगहनी धान का मूल, पटेरा घास, इत्कटक = नरई-लेड़ई, सरपत का मूल, नकछिकनी, पीले फूल का बरियार, सागौन, बनकपास, फूट, शतावर, हंसपदी, काकनासा, सफेद गुञ्जा, विदारीकन्द, कपोलवल्ली = बड़ीलाची, कपोतवल्ली = छोटी लाची, सोमलता, अनन्तमूल और मुलहठी) का क्वाथ और घी बराबर-बराबर लेकर आठ गुने दूध के साथ घृतपाक करना चाहिए या उक्त औषध वर्गों में पठित औषधों में से एक-एक औषध का घी के सम भाग क्वाथ डालकर आठ गुना दूध डालकर घृतपाक करना चाहिए॥ ७४॥

क्षीरेण बस्तिर्मधुरौषधैः स्यात् तैलेन वा स्वादुफलोत्थितेन।
यन्मूत्रकृच्छ्रे विहितं तु पैत्ते कार्यं तु तच्छोणितमूत्रकृच्छ्रे॥ ७५॥

वस्ति प्रयोग—मधुरगण की (चरक-विमान० ८ में कथित) औषधों के क्वाथ के साथ अथवा (बादाम, अखरोट, महुआ, तिल आदि) मधुर फलों से निकाले गये तेल के साथ दूध मिलाकर उत्तरवस्ति देनी चाहिए। पित्तज मूत्रकृच्छ्र में जिन औषधों का विधान किया गया है, रक्तज मूत्रकृच्छ्र में भी उन सबका प्रयोग उसी प्रकार करना चाहिए॥ ७५॥

व्यायामसन्धारणशुष्करूक्षपिष्टान्नवातार्ककरव्यवायान्।
खर्जूरशालूककपित्थजम्बूबिसं कषायं न रसं भजेत॥ ७६॥

इत्यश्मरीचिकित्सा।

मूत्रकृच्छ्र में अपथ्य—व्यायाम करना, वेगों का रोकना, सूखे पदार्थ और रूखे पदार्थों का खाना, आटे से बने पकवान खाना, वायु के प्रवाह में रहना, सूर्य की धूप में बैठना, मैथुन करना, खजूर, शालूक (भसीड़), कैथ, जामुन, कमलदण्ड और कषाय रस वाले पदार्थों का सेवन मूत्रकृच्छ्र रोग में अपथ्य है॥७६॥

हृद्रोग वर्णन

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकबस्तिचिन्ताभयत्रासगदातिचाराः।
छर्द्यामसन्धारणकर्शनानि हृद्रोगकर्तॄणि तथाऽभिघातः॥ ७७॥

हृद्रोग का निदान—अधिक व्यायाम करना, तीखे पदार्थों का सेवन करना, अधिक विरेचन होना, अधिक वस्ति का प्रयोग करना, चिन्ता करना, भय करना, उत्पीड़ित या त्रस्त होना, पूर्व में उत्पन्न रोग का उचित उपचार न होना, अधिक वमन होना, आमदोष होना, वेगों का रोकना, शरीर को कृश बनाने वाले आहार-विहार का सेवन करना और किसी तरह की चोट लगना—ये सब हृदयरोग को उत्पन्न करने वाले कारण होते हैं॥ ७७॥

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः।
छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये॥ ७८॥

हृदयरोग के सामान्य लक्षण—शरीर का वर्ण विकृत हो जाना, बेहोशी होना, ज्वर, खाँसी, हिचकी, दम फूलना, मुख का स्वाद विरस होना, प्यास लगना, गम्भीर बेहोशी होना, वमन होना, बार-बार कफ थूकना, वक्षःस्थल आदि में पीड़ा होना और भोजन में अरुचि होना तथा अन्य अनेक प्रकार के लक्षण हृदय रोग के कारण उत्पन्न होते हैं॥ ७८॥

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहाः पवनाद्विशेषः।

वातज हृद्रोग का लक्षण—वातज हृदय रोग में हृदय में सूनापन, हृदय की गति का बढ़ना, हृदय में शुष्कता मालूम होना, हृदय के फटने जैसा लगना, हृदय में स्तब्धता मालूम होना और बेहोशी होना—ये विशेष लक्षण होते हैं।

पित्तात् तमोदूयनदाहमोहाः सन्त्रासतापज्वरपीतभावाः॥ ७९॥

पित्तज हृद्रोग का लक्षण—पित्तजन्य हृदयरोग में आँखों के सामने अँधेरा होना, परिताप होना, हृदयप्रदेश में जलन होना, मोह होना, बहुत डर लगना, गर्मी मालूम होना, ज्वर होना और शरीर का पीला पड़ जाना—ये सब लक्षण होते हैं॥ ७९॥

स्तब्धं गुरु स्यात् स्तिमितं च मर्म कफात् प्रसेकज्वरकासतन्द्राः।
विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं कृमिजं सकण्डूम्॥ ८०॥

कफज तथा त्रिदोषज एवं कृमिज हृद्रोग का लक्षण—(१) कफ से उत्पन्न हृदयरोग में हृदय रुकने-रुकने जैसा आभास होना, भारीपन होना, हृदय जकड़ा-सा लगना, मुख से लार टपकना, ज्वर होना, खाँसी होना और तन्द्रा होना—ये सब लक्षण होते हैं। (२) जब हृदयरोग में तीनों दोषों के लक्षण उपस्थित हों, तो त्रिदोषज हृदयरोग जानना चाहिए। (३) जब हृदय में तीव्र पीड़ा, सुई चुभाने जैसा दर्द और खुजली मालूम हो, तो कृमिज हृदयरोग जानना चाहिए॥ ८०॥

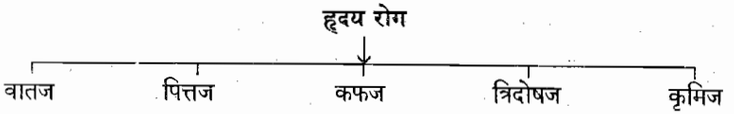

तैलं ससौवीरकमस्ततक्रं वाते प्रपेयं लवणं सुखोष्णम्।
मूत्राम्बुसिद्धं लवणैश्च तैलमानाहगुल्मार्तिहृदामयघ्नम्॥ ८१॥

वातज हृद्रोग चिकित्सासूत्र—(१) वातज हृदयरोग में सौवीर (भूसी से रहित जौ से बनी कांजी), दही का पानी, मट्ठा, तिल का तैल और काला नमक मिलाकर हल्का गरम कर पीना चाहिए। अथवा (२) तिल के तैल में गोमूत्र समभाग, चतुर्गुण जल और कालानमक (जितने से तेल नमकीन हो जाय) डालकर तैलावशिष्ट पाक कर लें और रोगी के बल एवं दोष का विचार कर सेवन करायें। ये दोनों प्रकार के योग आनाह, गुल्म तथा हृदयरोगनाशक हैं॥ ८१॥

पुनर्नवां दारु सपञ्चमूलं रास्नां यवान् बिल्वकुलत्थकोलम्।
पक्त्वा जले तेन विपाच्य तैलमभ्यङ्गपानेऽनिलहृद् गदघ्नम्॥ ८२॥

पुनर्नवादि तैल—पुनर्नवा, देवदारु, बृहत् पंचमूल (बेल, गनियार, गम्भार, पाढल और सोनापाठा) की छाल, रास्ना, जौ, बेलगिरी, कुलथी और खट्टी बेर—इन सबको समभाग लेकर जौकुट कर अष्टगुण जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बना लें। इस क्वाथ में चतुर्थांश तिल का तैल तथा तैल के चतुर्थांश उक्त बारह औषधों का समभाग कल्क बनाकर, डालकर विधिवत् तैल पकायें तथा तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह तैल मालिश करने और पीने से वातज हृद्रोग को नष्ट करता है॥ ८२॥

हरीतकीनागरपुष्करा ह्वैर्वयःकयस्थालवणैश्च कल्कैः।
सहिङ्गुभिः साधितमघ्यसर्पिर्गुल्मे सहृत्पार्श्वगदेऽनिलोत्थे॥ ८३॥

हरीतक्यादि घृत—हर्रे, सोंठ, पोहकरमूल, गुरुच, आँवला समभाग तथा उचित मात्रा में कालानमक और हींग का कल्क डालकर विधिवत् घृतपाक करें। यह श्रेष्ठ घृत हृदय तथा पसलियों के दर्द में और वातज गुल्मरोग में लाभकर होता है॥ ८३॥

सपुष्कराह्वं फलपूरमूलं महौषधं शटचभया च कल्काः।
क्षाराम्बुसर्पिर्लवणैर्विमिश्राः स्युर्वातहृद्रोगविकर्तिकाघ्नाः॥ ८४॥

पुष्करमूलादि चूर्ण—पोहकरमूल, बिजौरा नीबू का मूल, सोंठ, कचूर और बीजरहित हर्रे, इन सबको बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर, यवाखार के द्रव, गोघृत तथा सेंधानमक मिलाकर पिलाना चाहिए। इसके सेवन से वातज हृदयरोग और हृदय में कैंची से काटने के समान होने वाली पीड़ा समाप्त हो जाती है॥ ८४॥

क्वाथः कृतः पौष्करमातुलुङ्गपलाशभूतीकशटीसुराह्वैः।
सनागराजाजिवचायवानीक्षारः सुखोष्णो लवणश्च पेयः॥ ८५॥

पुष्करमूलादि क्वाथ—पोहकरमूल, बिजौरा नीबू का मूल, पलाश की छाल, गन्धतृण, कचूर और देवदारु—इनका क्वाथ बनाकर सोंठ, जीरा, मीठा बच, जवायन तथा सेंधानमक डालकर गरम-गरम पीना चाहिए॥ ८५॥

पथ्याशटीपौष्करपञ्चकोलात् समातुलुङ्गाद्यमकेन कल्कः।
गुडप्रसन्नालवणैश्च भृष्टो हृत्पार्श्वपृष्ठोदरयोनिशूले॥ ८६॥

पथ्यादि कल्क—निर्बीज हर्रे, कचूर, पोहकरमूल, पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ) और बिजौरा नीबू का मूल—इनका कल्क बनाकर बराबर-बराबर घी-तैल में भूनकर, फिर गुड़, सुरा का स्वच्छ ऊपरी भाग (प्रसन्ना) तथा नमक मिलाकर तैयार कर लें। यह कल्क हृदयशूल, पार्श्वशूल, पृष्ठशूल, उदरशूल और योनिशूल में प्रयोग करने योग्य है॥ ८६॥

स्यात् त्र्यूषणं द्वे त्रिफले सपाठे निदिग्धिकागोक्षुरकौ बले द्वे।
ऋद्धिस्त्रुटिस्तामलकी स्वगुप्ता मेदे मधूकं मधुकं स्थिरा च॥ ८७॥
शतावरी जीवकपृश्निपर्ण्यौ द्रव्यैरिमैरक्षसमैः सपिष्टैः।
प्रस्थं घृतस्येह पचेद्विधिज्ञः प्रस्थेन दध्ना त्वथ माहिषेण॥ ८८॥
मात्रां पलं चार्धपलं पिचुं वा प्रयोजयेन्माक्षिकसम्प्रयुक्ताम्।
श्वासे सकासे त्वथ पाण्डुरोगे हलीमके हृद् ग्रहणी प्रदोषे॥ ८९॥

त्र्यूषणादि घृत—सोंठ, मरिच, पीपर, दोनों त्रिफला (निर्बीज आँवला, हर्रा, बहेड़ा, गम्भार का फल, मुनक्का और फालसा का फल), पाठा, बड़ी कटेरी, गोखरू, बरिआर, नागबला, ऋद्धि, छोटी लाइची, भूमि आँवला, केवाँच का बीज, मेदा, महामेदा, महुआ का फूल, मुलहठी, सरिवन, शतावर, जीवक और पिठवन—इन सबको १-१ अक्ष की मात्रा में लेकर चटनी की तरह बारीक पीस लें, फिर १ प्रस्थ गाय का घी, १ प्रस्थ भैंस की दही (और ४ प्रस्थ पानी) तथा पिसा हुआ पूर्वोक्त द्रव्यों का कल्क डालकर विधिपूर्वक घृतपाक करें।

प्रयोग—रोगी के बल एवं दोषबल का विचार कर इस घृत को १ पल, ½ पल या १ अक्ष की मात्रा में लेकर आधी मात्रा में मधु मिलाकर कास, श्वास, पाण्डुरोग, हलीमक रोग, हृदय रोग और ग्रहणी रोग में प्रयोग करना चाहिए॥ ८७-८९॥

शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे।
द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्याच्छुद्धे तु पित्तापहमन्नपानम्॥ ९०॥

पित्तज हृद्रोग का चिकित्सासूत्र—पित्तज हृदय रोग में शीतस्पर्श वाले द्रव्यों का प्रलेप करना, शीतल द्रव्यों से निर्मित क्वाथ को शीतल करके उसका परिषेचन और मुनक्का, मिश्री, मधु तथा फालसे का फल पीसकर खिलाकर विरेचन कराना चाहिए। जब कोष्ठ का शोधन हो जाये तो पित्तनाशक पदार्थों को खाने-पीने में देना चाहिए॥ ९०॥

यष्ट्याह्विकातिक्तकरोहिणीभ्यां कल्कं पिबेच्चापि सिताजलेन।
क्षते च सर्पींषि हितानि सर्पिर्गुडाश्च ये तान् प्रसमीक्ष्य सम्यक्॥ ९१॥
दद्याद् भिषग् धन्वरसांश्च गव्यक्षीराशिनां पित्तहृदामयेषु।
तैरेव सर्वे प्रशमं प्रयान्ति पित्तामयाः शोणितसंश्रया ये॥ ९२॥

पित्तज हृद्रोगनाशक औषध योग—(१) मुलहठी और कुटकी, इन दोनों का मिश्रित चूर्ण (२ ग्राम) मिश्री के शर्बत के अनुपान से पीना चाहिए। (२) क्षतक्षीण (राजयक्ष्माचिकित्सा) में जो घृत तथा सर्पिर्गुड़ के योग बतलाये गये हैं, अच्छी तरह विचार करके पित्तज हृद्रोग में वैद्य को उनका प्रयोग करना चाहिए। (३) वैद्य को चाहिए कि रोगी को गाय का दूध सेवन कराते हुए धन्व (जांगल) पशु-पक्षियों का मांसरस सेवन करायें। ये प्रयोग पित्तज हृदयरोगों में लाभप्रद होते हैं और इन्हीं प्रयोगों से पित्त एवं रक्त से होने वाले सभी रोग शान्त हो जाते हैं॥ ९१-९२॥

द्राक्षाबलाश्रेयसिशर्कराभिः खर्जूरवीरर्षभकोत्पलैश्च।
काकोलिमेदायुगजीवकैश्च क्षीरेण सिद्धं महिषीघृतं स्यात्॥ ९३॥

द्राक्षाद्य घृत—मुनक्का, बरियार का मूल, रास्ना, चीनी, खजूर, शतावर, ऋषभक, नीलकमल, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा और जीवक—इन सबको समभाग लेकर कल्क करें तथा उस कल्क को चौगुने भैंस के घृत में घी से चौगुना गोदुग्ध डालकर विधिवत् घृतपाक करें। इसे पित्तज हृद्रोग में प्रयोग करें॥ ९३॥

कशेरुकाशैवलभृङ्गवेरप्रपौण्डरीकं मधुकं बिसस्य।
ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेत्तैः क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम्॥ ९४॥

कशेरुकादि घृत—कसेरू, सेवार, अदरख, पुण्डरियाकाठ, मुलहठी और कमलदण्ड की गाँठ—इन सबको समभाग लेकर कल्क कर चौगुने घी तथा घी से चौगुने गोदुग्ध के साथ विधिपूर्वक घृतपाक करके छानकर सुरक्षित रख लें। मधु के साथ सेवन करने पर यह घृत पित्तज हृद्रोग को नष्ट करता है॥ ९४॥

स्थिरादिकल्कैः पयसा च सिद्धं द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि।
सर्पिर्हितं स्वादुफलेक्षुजाश्च रसाः सुशीता हृदि पित्तदुष्टे॥ ९५॥

स्थिरादि तीन घृत योग—(१) स्थिरादि लघु पंचमूल (सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी और गोखरू) का कल्क, कल्क से चौगुना गाय का घी तथा घी से चौगुना गोदुग्ध डालकर घृत सिद्ध

करें। (२) इसी प्रकार लघु पंचमूल के कल्क, उससे चौगुना घी और घी से चौगुना अंगूर का रस या मुनक्के का क्वाथ डालकर घृतपाक करें। (३) लघु पंचमूल कल्क से चतुर्गुण घृत तथा घी से चतुर्गुण गन्ने का रस डालकर विधिवत् घृतपाक करें। ये सभी घृत पित्तज हृदयरोग में लाभप्रद होते हैं और मधुर फल तथा शीतल गन्ने का रस भी हितकर होता है॥ ९५॥

स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्घितस्य क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे।
कौलत्थधान्यैश्च रसैर्यवान्नं पानानि तीक्ष्णानि च शङ्करणि॥ ९६॥

कफज हृद्रोग चिकित्सासूत्र—कफज हृदयरोग में स्वेदन, वमन और उपवास आदि कराने के बाद कफनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। कुलथी के यूष एवं जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ जौ की रोटी खिलानी चाहिए और तीक्ष्ण पदार्थों से निर्मित पेय पिलाना चाहिए॥ ९६॥

मूत्रे भृताः कट्फलभृङ्गवेरपीतद्रुपथ्यातिविषाः प्रदेयाः।

कट्फलादि क्वाथ—कायफल, सोंठ, दारुहल्दी, हर्रे और अतीस—इन सबको समभाग लेकर जौकुट कर लें। इसमें से २० ग्राम औषध को २५० ग्राम गरम जल में रात में भिगो दें और सबेरे हाथ से मसलकर, छानकर कफज हृदयरोग वाले को पिलाना चाहिए।

कृष्णाशटीपुष्करमूलरास्नावचाभयानागरचूर्णकं च॥ ९७॥

कृष्णादि चूर्ण—पीपर, कचूर, पोहकरमूल, रास्ना, मीठा बच, हर्रे और सोंठ, इनके समभाग का चूर्ण बनाकर २ ग्राम की मात्रा में गोमूत्र के साथ प्रातः-सायं पीने से कफज हृदयरोग नष्ट हो जाता है॥ ९७॥

उदुम्बराश्वत्थवटार्जुनाख्ये पालाशरौहीतकखादिरे च।
क्वाथे त्रिवृत् त्र्यूषणचूर्णसिद्धो लेहः कफघ्नोऽशिशिराम्बुयुक्तः॥ ९८॥

उदुम्बरादि लेह—गूलर, पीपर, बड़, अर्जुन, पलास और रोहेड़ा की छाल तथा खैर की लकड़ी, इन सबको समान भाग लेकर, जौकुट कर क्वाथ बनायें। क्वाथ को तीन भाग लें और उसमें निशोथ, सोंठ, मरिच और पीपर का मिलित चूर्ण १ भाग डालकर गाढ़ा अवलेह जैसा बना लें। इस अवलेह को गरम जल से खाने से कफ का नाश होता है॥ ९८॥

शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः प्रयोजयेत् कल्पविधानदिष्टम्।
प्राशं तथाऽऽगस्त्यमथापि लेहं रसायनं ब्राह्ममथामलक्याः॥ ९९॥

कफज हृद्रोग में रसायन प्रयोग—वैद्य को चाहिए कि सावधान होकर रसायन के प्रकरण में बतलायी गयी विधि के अनुसार शिलाजीत का प्रयोग करे और च्यवनप्राश अवलेह, अगस्त्यहरीतकी अवलेह, ब्राह्मरसायन तथा आमलकीरसायन का सेवन कराये। ये सभी रसायन कफज हृद्रोग को नष्ट करते हैं॥ ९९॥

त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्यादन्नं च सर्वेषु हितं विधेयम्।
हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम्॥ १००॥

त्रिदोषज हृद्रोग चिकित्सासूत्र—तीनों दोषों से उत्पन्न हुए हृदय रोग में पहले लंघन करना चाहिए, तत्पश्चात् त्रिदोषशामक अन्न खिलाना चाहिए, फिर दोषों की कम वृद्धि, मध्य वृद्धि या अधिक वृद्धि की स्थिति को देखकर चिकित्सा करनी चाहिए॥ १००॥

भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं जीर्णे स्थितं चेत् सुरदारुकुष्ठम्।
सतिल्वकं द्वे लवणे विडङ्गमुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत् सः॥ १०१॥

जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात् फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात्।
त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात्॥ १०२॥

हृदयशूल की आवस्थिक चिकित्सा—(१) हृदयरोग से ग्रस्त जिन रोगियों में भोजन करने के बाद हृदय में अधिक शूल होता है और भोजन जब पच रहा होता है तब अल्प शूल होता है तथा भोजन जब बिल्कुल पच जाता है, तो शूल शान्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में देवदारु, कूठ, तिल्वक, सेंधानमक, सोंचरनमक, वायविडंग और अतीस के समभाग का चूर्ण गरम जल से (प्रातः-सायं) सेवन करना चाहिए। (२) यदि भोजन के पच जाने पर अधिक शूल होता हो, तब स्नेहद्रव्यों (एरण्ड तैल आदि) का विरेचन देना चाहिए। यदि भोजन की पच्यमानावस्था में शूल अधिक हो, तो फलों (मुनक्का-फालसा आदि) को खिलाकर विरेचन कराना चाहिए और यदि भोजन के आरम्भ में, पच्यमान स्थिति में तथा पच जाने पर इन तीनों ही स्थितियों में अधिक शूल हो, तो तीक्ष्ण मूलद्रव्यों (निशोथ का मूल) का विरेचन देना चाहिए॥ १०१-१०२॥

प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्यत्यामाशये शोधनमेव तस्मात्।
कार्यं तथा लङ्घनपाचनं च—

विरेचन प्रयोग में युक्ति—प्रायः जब वायु आमाशय में अवरुद्धगति होती है (जिससे आमाशय में तनाव होने पर हृदय पर दबाव पड़ने से हृदयशूल होता है) तो वह प्रकुपित हो जाती है। इसलिए आमाशय के शोधन को प्राथमिकता देनी चाहिए। (यद्यपि वायु विकार में वस्ति का प्रयोग करना उचित होता है, फिर भी आमाशयस्थ वायु विकार होता है, इसलिए आमाशय के शोधन के लिए विरेचन देना ही ठीक है, यह अभिमत चक्रपाणि ने व्यक्त किया है) शोधन के अतिरिक्त लंघन और पाचन का भी प्रयोग करना चाहिए।

—सर्वं कृमिघ्नं कृमिहृद् गदे च॥ १०३॥

इति हृद्रोगचिकित्सा।

कृमिज हृद्रोग चिकित्सासूत्र—जब कृमिज हृद्रोग हो, तो उपर्युक्त शोधन, लंघन, पाचन आदि सभी उपचार करना चाहिए और (चरक-विमानस्थान अ० ७ में कथित) कृमिविघातक अन्य सभी चिकित्सा भी करनी चाहिए॥ १०३॥

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोऽभितापैः।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः॥ १०४॥
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु।

प्रतिश्याय रोग का निदान एवं सम्प्राप्ति—मल-मूत्र, एवं छींक आदि के वेगों को रोकने से, अजीर्ण होने से, धूल के नाक में जाने से, अधिक बोलने से, अधिक क्रोध करने से, ऋतुओं की विषमता से, शिरःशूल होने से, रात्रि-जागरण से, अधिक सोने से, ठंडे जल का उपयोग करने से, ओस के प्रभाव से, अधिक मैथुन करने से, अधिक आँसू गिराने से और धुआँ लगने से जब शिर में कफ अधिक संचित हो जाता है तब वायु बढ़कर प्रतिश्याय रोग को उत्पन्न करती है॥ १०४॥

घ्राणार्तितोदौ क्षवथुर्जलाभः स्रावोऽनिलात् सस्वरमूर्धरोगः॥ १०५॥

वातज प्रतिश्याय का लक्षण—वात के कारण होने वाले प्रतिश्याय में नाक में दर्द और सुई चुभाने जैसी पीड़ा, छींक आना, पानी जैसा नाक से स्राव होना, शिरःशूल और स्वरभेद होना—ये सब लक्षण होते हैं॥ १०५॥

नासाग्रपाकज्वरवक्त्रशोषतृष्णोष्णपीतस्रवणानि पित्तात्।

पित्तज प्रतिश्याय का लक्षण—पित्तज प्रतिश्याय में नासिका का अग्रभाग पक जाता है, ज्वर होता है, मुख सूखता है, प्यास लगती है और नाक से गरम-गरम पीला द्रव निकलता है।

कासारुचिस्रावघनप्रसेकाः कफाद् गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः॥ १०६॥

कफज प्रतिश्याय का लक्षण—कफज प्रतिश्याय में कास, भोजन में अरुचि, गाढ़े कफ का स्राव होना और नाक में खुजली होना—ये लक्षण होते हैं॥ १०६॥

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् स्युः पीनसे तीव्ररुजेऽतिदुःखे।

सन्निपातज प्रतिश्याय का लक्षण—त्रिदोषज प्रतिश्याय या पीनस में तीनों दोषों के जो लक्षण कहे गये हैं, वे सब होते हैं और इसमें तीव्र पीड़ा होती है। यह कष्टसाध्य होता है।

सर्वोऽतिवृद्धोऽहितभोजनात्तु दुष्टप्रतिश्याय उपेक्षितः स्यात्॥ १०७॥
ततश्च रोगाः क्षवथुश्च नासाशोषः प्रतीनाहपरिस्रवौ च।
घ्राणस्य पूतित्वमपीनसश्च सपाकशोथार्बुदपूयरक्ताः॥ १०८॥
अरूंषि शीर्षश्रवणाक्षिरोगखालित्यहर्यर्जुनलोमभावाः।
तृट्श्वासकासज्वररक्तपित्तवैस्वर्यशोषाश्च ततो भवन्ति॥ १०९॥

दुष्ट प्रतिश्याय और उसके उपद्रव—जब प्रतिश्याय रोग की ठीक समय पर उचित चिकित्सा नहीं की जाती है और अहितकर आहार किया जाता है, तब वह उपेक्षित हुआ प्रतिश्याय दुष्टप्रतिश्याय का रूप धारण कर लेता है। उसके बाद उपद्रवस्वरूप अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे—छींक आना, नाक का सूख जाना, प्रतीनाह (नाक का बन्द हो जाना), नाक से बहुत पानी निकलते रहना, नाक से सड़न जैसी दुर्गन्ध आना, अपीनस होना (सदैव सर्दी-जुकाम बना रहना), नाक का पकना, नाक में सूजन आना, नाक में ग्रन्थि बनना, नाक में पूय जमा होना, नाक से रक्त आना, नाक में छोटी फुंसियाँ होना, शिर-कान और आँख के रोगों का होना, शिर के बालों का झड़ना (खालित्य), शिर के बालों का पीला या सफेद हो जाना, प्यास लगना, दम फूलना, खाँसी आना, ज्वर होना, रक्तपित्त रोग होना, स्वरभेद होना और राजयक्ष्मा होना—ये उपद्रव होते हैं॥ १०७-१०९॥

रोधाभिघातस्रवशोषपाकैर्घ्राणं युतं यश्च न वेत्ति गन्धम्।
दुर्गन्धि चास्यं बहुशः प्रकोपि दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत्तम्॥ ११०॥

दुष्टप्रतिश्याय का लक्षण—जब नासिका कफ के भरने से बन्द हो जाती है, नासिका में चोट लगने जैसी व्यथा होती है, नाक से पानी गिरता है, कभी नासिका सूख जाती है कभी पक जाती है, नासिका से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, मुख दुर्गन्धयुक्त होता है, प्रायः बार-बार सर्दी-जुकाम हो जाया करता है—इन लक्षणों के होने पर उस रोग को दुष्ट प्रतिश्याय कहना चाहिए॥ ११०॥

संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति।
कुद्धः स संशोष्य कफं तु नासाशृङ्गाटकघ्राणविशोषणं च॥ १११॥

(१) **क्षवथु**[1] **और (२) नासाशोष**[2] **का लक्षण एवं सम्प्राप्ति**—(१) प्रकुपित वायु शिर में चारों ओर व्याप्त होकर नासागत मर्मस्थानों का स्पर्श कर 'क्षवथु' (छींक) रोग को उत्पन्न करती है। (२) प्रकुपित वायु कफ को सुखाकर नासिका में स्थित शृङ्गाटक मर्म को तथा गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रियाधिष्ठान को सुखाकर 'नासाशोथ' रोग को उत्पन्न करती है॥ १११॥

---

१. (क) घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टे यस्यानिलो नासिकया निरेति।
कफानुयातो बहुशः सशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः॥
(ख) तीक्ष्णोपयोगादतिजिघ्रतो वा भावान् कटूनर्ककनिरीक्षणाद् वा।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति॥ (सु. उ.)

२. घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च।
समुच्छ्वसित्यूर्ध्वमधश्च कृच्छ्राद् यस्तस्य नासापरिशोष उक्तः॥ (सु. उ.)

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्।
यो मस्तुलुङ्गाद् घनपीतपक्वः कफः स्रवेदेष परिस्रवस्तु॥ ११२॥

(३) **नासा प्रतीनाह**[1] **और (४) नासा परिस्रव**[2] **का लक्षण**—(३) जब कुपित हुआ कफ वायु को सहचर बनाकर श्वासमार्ग को रोक देता है, तो उसे 'प्रतिनाह' रोग कहना चाहिए। (४) जब मस्तिष्क के भीतरी भाग से गाढ़ा पीला, पका हुआ कफ गिरता है, तो उसे 'परिस्रव' रोग कहते हैं॥ ११२॥

वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यमुपेक्षया तु स्यात् पूतिनस्यं श्वयथुर्भ्रमश्च।
आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा॥ ११३॥
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन।
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्॥ ११४॥

(५) **पूतिनस्य और (६) अपीनस का लक्षण**—(५) जब नासापरिस्रव रोग की समुचित चिकित्सा नहीं की जाती है, तो उसके दुष्परिणामस्वरूप मुख का वर्ण फीका पड़ जाता है, नाक से दुर्गन्ध आती है, नाक में शोथ होता है और रोगी के शिर में चक्कर मालूम होता है, इसे 'पूतिनस्य' कहते हैं। (६) जिस रोगी की नाक कभी कफ की अधिकता से बन्द हो जाती है, कभी सूख जाती है, कभी गीली हो जाती है, कभी धुआँ उगलती-सी प्रतीत होती है तथा रोगी को गन्धों तथा रसों की पहचान नहीं हो पाती, तो उसे 'अपीनस' रोग से ग्रस्त समझना चाहिए। वायु तथा कफ के प्रकोप से होने वाले उस रोग को प्रतिश्याय के समान लक्षणों वाला कहना चाहिए॥ ११३-११४॥

सदाहरागः श्वयथुः सपाकः स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्।
घ्राणाश्रितासृक्प्रभृतीन् प्रदूष्य कुर्वन्ति नासाश्वयथुं मलाश्च॥ ११५॥

(७) **नासिकापाक और (८) नासिकाशोथ का लक्षण**—(७) रक्त तथा पित्त के प्रकोप से नासिका में जलन, लालिमा, सूजन और पाक हो जाता है, तो उसे 'नासिकापाक' कहते हैं। (८) जब प्रकुपित वातादि दोष नासिकास्थित रक्त आदि धातुओं को दूषित कर नाक में शोथ उत्पन्न कर देते हैं, तो उसे 'नासिकाशोथ' कहते हैं॥ ११५॥

घ्राणे तथोच्छ्वासगतिं निरुध्य मांसासृदोषादपि चार्बुदानि।
घ्राणात् स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा पित्तात्तमस्रं त्वपि पूयरक्तम्॥ ११६॥

(९) **नासार्बुद और (१०) पूयरक्त का लक्षण**—(९) मांस तथा रक्त के विकार से युक्त वायु श्वासमार्ग में श्वासगति को रोककर 'नासार्बुद' रोग उत्पन्न करता है। (१०) जब नाक से, कान से या मुख से पूय मिला हुआ रक्त निकलता है तब इसे पूयरक्त कहते हैं॥ ११६॥

कुर्यात् सपित्तः पवनस्त्वगादीन् सन्दूष्य चारूंषि सपाकवन्ति।
नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति॥ ११७॥

इति नासारोगनिदानम्।

(११) **नासा-अरूंषिका और (१२) नासादीप्त**—(११) जब पित्त के साथ प्रकुपित वायु त्वचा आदि को दूषित कर पकने वाली छोटी-छोटी फुंसियों को उत्पन्न करती है, तो उसे 'अरूंषिका' कहते हैं। (१२) जब मनुष्य की नासिका में ऐसी जलन होने लगती है जैसे वहाँ पर आग जल रही हो, तब उसे 'नासादीप्त' रोग कहते हैं॥ ११७॥

---

१. कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो यदा स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात्।
घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगो नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः॥ (सु. उ.)

२. अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत्॥ (सु. उ.)

दुष्टप्रतिश्यायजन्य रोग

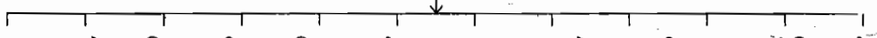

क्षवथु नासाशोथ प्रतिनाह परिस्रव पूतिनस्य अपीनस नासापाक नासाशोथ नासार्बुद पूयरस अरूंषिका दीप्त

भृशार्तिशूलं स्फुरतीह वातात् पित्तात् सदाहार्ति कफाद् गुरु स्यात्।
सर्वैस्त्रिदोषं क्रिमिभिस्तु कण्डूदौर्गन्ध्यतोदार्तियुतं शिरः स्यात्॥ ११८॥

इति शिरोरोगनिदानम्।

शिरोरोगों का निदान और लक्षण—(१) शिर के आभ्यन्तर प्रदेश में वायु का प्रकोप होने से शिर में भयंकर पीड़ा होती है और फड़कन मालूम होती है। (२) पित्तज शिरोरोग में जलन के साथ पीड़ा होती है। (३) कफ के प्रकोप से शिर पर बोझ या भारीपन मालूम होता है। (४) त्रिदोषज शिरोरोग में सभी दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। (५) जब शिर में कृमियाँ होती हैं, तब उनके कारण शिर में खुजली, दुर्गन्ध, सुई चभाने जैसी पीड़ा होती है॥ ११८॥

वक्तव्य—आगे सिद्धिस्थान, अध्याय ९ में चार अन्य शिरोरोगों, यथा—१. शंखक, २. अर्धावभेदक, ३. सूर्यावर्त और ४. अनन्तवात—इनका वर्णन किया गया है, जिनका विशेष वर्णन वहाँ ही द्रष्टव्य है। यहाँ कहे गये पाँच शिरोरोग सूत्रस्थान के अष्टोदरीय नामक अध्याय १९ के अनुसार हैं और इनका विशेष वर्णन चरक-सूत्रस्थान, अध्याय १७ में किया गया है। सुश्रुत में जो रक्तज और क्षयज शिरःशूल कहे गये हैं, उनमें रक्तज का पित्तज में और क्षयज का वातज में चरक ने अन्तर्भाव मानकर पृथक् वर्णन नहीं किया है।

शिरोरोग

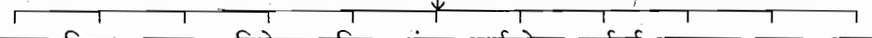

वातज पित्तज कफज त्रिदोषज कृमिज शंखक अर्धावभेदक सूर्यावर्त अनन्तवात रक्तज क्षयज

मुखरोग

मुखाम्मये मारुतजे तु शोषकार्कश्यरौक्ष्याणि चला रुजश्च।
कृष्णारुणं निष्पतनं सशीतं प्रम्रंसनस्पन्दनतोदभेदाः॥ ११९॥

वातज मुखरोग का लक्षण—वात के कारण उत्पन्न मुखरोग में मुख में शुष्कता, कर्कशता और रूक्षता होती है। अनेकविध पीड़ाएँ होती हैं, जो कभी कहीं तो कभी कहीं स्थान बदल-बदल कर होती हैं। मुखमण्डल में कृष्णता या लालिमा होती है, मुख से शीतल द्रव का स्राव होता है, कदाचित् दाँत गिर जाते हैं, शरीर में कम्पन होता है, सुई चुभाने जैसी वेदना होती है और अंग टूटते हैं॥ ११९॥

तृष्णाज्वरस्फोटकतालुदाहा धूमायनं चाप्यवदीर्णता च।
पित्तात् समूर्च्छा विविधा रुजश्च वर्णाश्च शुक्लारुणवर्णवर्ज्याः॥ १२०॥

पित्तज मुखरोग का लक्षण—पित्तज मुखरोग में प्यास की अधिकता, ज्वर, मुख में फफोले पड़ना, तालुप्रदेश में जलन होना, मुख से धुआँ निकलने जैसा अनुभव होना, ओठ आदि का फटना, मूर्च्छा होना, अनेक तरह की पीड़ा होना और शरीर में श्वेत तथा अरुण वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णों का प्रकट होना—ये सभी लक्षण प्रकट होते हैं॥ १२०॥

कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं स्नेहोऽरुचिर्जाड्यकफप्रसेकौ।
उत्क्लेशमन्दानलता च तन्द्रा रुजश्च मन्दाः कफवक्त्ररोगे॥ १२१॥

कफज मुखरोग का लक्षण—कफ से उत्पन्न होने वाले मुखरोग में मुख में खुजली, भारीपन, श्वेतवर्णता, पिच्छिलता, स्निग्धता, भोजन में अरुचि, मुख हिलाने-डुलाने में जकड़ाहट या जड़ता, मुख से लार गिरते रहना, मुख में मिचली मालूम होना, मन्दाग्नि होना, तन्द्रा होना और अङ्गों में तथा मुख में मन्द-मन्द वेदना का होना—ये सभी लक्षण होते हैं॥ १२१॥

सर्वाणि रूपाणि तु वक्त्ररोगे भवन्ति यस्मिन् स तु सर्वजः स्यात्।
संस्थानदूष्याकृतिनामभेदाच्चैते चतुःषष्टिविधा भवन्ति॥ १२२॥
शालाक्यतन्त्रेऽभिहितानि तेषां निमित्तरूपाकृतिभेषजानि।
यथाप्रदेशं तु चतुर्विधस्य क्रियां प्रवक्ष्यामि मुखामयस्य॥ १२३॥

इति मुखरोगनिदानम्।

सन्निपातज मुखरोग का लक्षण—जिस मुखरोग में वात-पित्त-कफ के कारण अलग-अलग होने वाले जो लक्षण कहे गये हैं, वे सभी लक्षण उपस्थित हों, तो उसे सन्निपातज जानना चाहिए। ये मुखरोग संस्थान (ओठ, दन्त, दन्तमूल, जिह्वा, कण्ठ और तालु आदि) के भेद से, रस-रक्त आदि दूष्यों के भेद से, आकृति और अलग-अलग नामों की भिन्नता से चौंसठ प्रकार के होते हैं। शालाक्यतन्त्र में उनके कारण, पूर्वरूप, रूप और उपचार, ये सब बतलाये गये हैं। इन चार प्रकार के मुखरोगों की चिकित्सा यथास्थान कहेंगे॥ १२२-१२३॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने मुखरोगों के सात अधिष्ठान मानकर उनमें होने वाले रोगों का अलग-अलग वर्णन किया है; यथा—१. ओठ, २. दन्त, ३. दन्तमूल, ४. जिह्वा, ५. तालु, ६. कण्ठ और ७. सम्पूर्ण मुखगह्वर। इनमें ओठ में ८ रोग, दाँतों में ८ रोग, दन्तमूल में १५ रोग, जिह्वा में ५ रोग, तालु में ९ रोग, कण्ठ में १७ और सम्पूर्ण मुख में ३ रोग होते हैं। कुल की संख्या ६५ होती है। शालाक्यतन्त्र के प्रवर्तकों में आचार्य विदेह अग्रणी माने जाते हैं। उन्होंने ६४ प्रकार का मुखरोग माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि चरक ने उनका ही पक्ष अनुसरणीय माना है। सुश्रुत ने भोज का अनुसरण कर ६५ रोग माना है। चरक ने जो चार प्रकार कहा है, उनका तात्पर्य यह है कि दोषों की दृष्टि से विचार करने पर वातज, पित्तज, कफज तथा सन्निपातज ये चार मुखरोग हैं और अन्य भेद इन्हीं के अन्तर्गत समाहित हैं।

स्थानानुसार मुखरोग बोधक-सारणी

स्थान	ओठ	दन्त	दन्तमूल	जिह्वा	तालु	कण्ठ	सर्वमुख	योग
रोग संख्या	८	८	१५	५	९	१७	३	६५

अरोचक

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः।
अरोचकाः स्युः—

अरोचक का निदान—स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित वात-पित्त-कफ दोषों से एवं शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध तथा मन को दूषित करने वाले अप्रिय भोजन, गन्ध और विकृत वीभत्स रूपों के देखने से अरोचक रोग की उत्पत्ति होती है।

—परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन॥ १२४॥

वातज अरोचक का लक्षण—जब दाँतों में हर्ष होता है या दाँत कोट हो जाते हैं और मुख का स्वाद कसैला होता है, तो वातज अरोचक कहा जाता है॥ १२४॥

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्।

पित्तज अरोचक का लक्षण—जब मुख का स्वाद कड़वा, खट्टा या बिना स्वाद का हो, मुख में उष्णता मालूम हो, सड़न जैसी दुर्गन्ध हो एवं मुख नमकीन रहता हो, तो पित्तज अरोचक जानना चाहिए।

माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसम्बद्धयुतं कफेन॥ १२५॥

कफज अरोचक का लक्षण—कफ के कारण होने वाले अरोचक रोग में मुख में मीठापन, पिच्छिलता, भारीपन, शीतलता, मल का विबन्ध और मुख में कफलिप्तता प्रतीत होती है॥ १२५॥

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशनगन्धजे स्यात्।
स्वाभाविकं वक्त्रमथारुचिश्च—

आगन्तुज अरोचक का लक्षण—शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध, अप्रिय भोजन तथा अप्रिय गन्ध से उत्पन्न आगन्तुज अरोचक रोग में रोगी के मुख का स्वाद तो स्वाभाविक होता है, किन्तु अरुचि बनी रहती है।

—त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु॥ १२६॥
इत्यरोचकनिदानम्।

त्रिदोषज अरोचक का लक्षण—तीनों दोषों से होने वाले अरोचक में मुख का स्वाद अनेक रसों वाला होता है॥ १२६॥

कर्णरोग

नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात्।

वातज कर्णरोग का लक्षण—वातज कर्णरोग में कानों में आवाज होती है, दर्द होता है, कान का मल सूख जाता है, कान से पतला पानी बहता है और सुनाई नहीं देता है।

शोफः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात्॥ १२७॥

पित्तज कर्णरोग का लक्षण—पित्तज कर्णरोग में कानों में सूजन, लाली, फटन, जलन और पीले रंग के दुर्गन्धित जल का स्राव होना—ये लक्षण होते हैं॥ १२७॥

वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्लस्निग्धस्रुतिः श्लेष्मभवेऽल्परुक् च।

कफज कर्णरोग का लक्षण—कफज कर्णरोग में शब्द या ध्वनि का ठीक से सुनाई न देना, कानों में खुजली होना, एक स्थान में स्थिर सूजन होना और सफेद चिकना पानी बहने के साथ थोड़ा-थोड़ा दर्द होना—ये लक्षण होते हैं।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः॥ १२८॥
इति कर्णरोगनिदानम्।

त्रिदोषज कर्णरोग का लक्षण—सन्निपातज कर्णरोग में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं और जिस दोष की अधिकता होती है, उसके अनुरूप कान से बहने वाले स्राव का वर्ण होता है॥ १२८॥

नेत्ररोग

अल्पस्तु रागोऽनुपदेहवांश्च सतोदभेदोऽनिलजाक्षिरोगे।

वातज नेत्ररोग का लक्षण—वातज नेत्ररोग में आँखों में थोड़ी-थोड़ी लालिमा होती है, कीचड़ नहीं होता है, सुई चुभाने जैसी वेदना और आँख फटने जैसी पीड़ा होती है।

पित्तात् सदाहोऽतिरुजः सरागः पीतोपदेहः सुभृशोष्णवाही॥ १२९॥

पित्तज नेत्ररोग का लक्षण—पित्त से होने वाले नेत्ररोग में आँखों में जलन होती है, अधिक दर्द होता है, लालिमा होती है, पीला कीचड़ होता है और गरम-गरम आँसुओं का अधिक स्राव होता है॥ १२९॥

शुक्लोपदेहं बहुपिच्छिलाश्रु नेत्रं कफात् स्याद् गुरुता सकण्डुः।

कफज नेत्ररोग का लक्षण—कफज नेत्ररोग में आँखों में सफेद कीचड़ आता है, आँखों से पिच्छिल आँसू का अधिक स्राव होता है, नेत्रों में भारीपन और खुजली होती है।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातान्नेत्रामयाः षण्णवतिस्तु भेदात्॥ १३०॥

सन्निपातज नेत्ररोग का लक्षण—त्रिदोषज नेत्ररोग में सभी दोषों के लक्षण होते हैं। स्थान, आकृति तथा दोष-भेद से नेत्ररोगों के ९६ भेद होते हैं॥ १३०॥

वक्तव्य—नेत्ररोगों की संख्या के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद हैं। विदेह ने ७६ रोगों को माना है, सात्यकि ने ८० रोग माना है और कराल ने ९६ रोगों को माना है तथा महर्षि चरक ने कराल के मत का ही अनुसरण करके ९६ रोगों को माना है तथा सुश्रुत ने ७६ रोग माना है। यहाँ नेत्ररोगों का विस्तार इसीलिए नहीं किया गया है क्योंकि यह शालाक्यतन्त्र का विषय है तथा अपना अधिकारक्षेत्र कायचिकित्सा है; अतः दूसरे के अधिकार-क्षेत्र की बात करना ठीक नहीं है। इसे अग्रिम श्लोक में आचार्य ने स्वयं ही अभिव्यक्त किया है।

तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च।
पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः॥ १३१॥
इति नेत्ररोगनिदानम्।

नेत्ररोगों का विस्तृत वर्णन अभीष्ट नहीं—पूर्व में जो ९६ प्रकार के नेत्ररोग कहे गये हैं, उनके लक्षण तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन (करालतन्त्र आदि) शालाक्यतन्त्र में विस्तृतरूपेण वर्णित है। यद्यपि यह ग्रन्थ कायचिकित्सा-प्रधान है और नेत्ररोग शालाक्यतन्त्रीय विषय है, इसलिए वह दूसरे के अधिकार का विषय है। अतः उनके वर्णन के लिए हमने प्रयास नहीं किया है॥ १३१॥

तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वाऽऽशु कुर्यात् खलतिं नरस्य।
किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वं च शिरोरुहाणाम्॥ १३२॥
इत्यूर्ध्वजत्रूत्थगदैकदेशस्तन्त्रे निबद्धोऽयमशून्यतार्थम्।

खालित्य एवं पालित्य निदान—(१) वात आदि दोषों के साथ मिलकर शारीरिक ऊष्मा बालों के मूल की स्निग्धता को जलाकर मनुष्य के शिर के बालों को नष्ट कर शीघ्र ही खालित्य (गंजापन) रोग उत्पन्न कर देती है। (२) वात आदि दोषों के साथ प्रवृद्ध शरीरोष्मा जब अंशतः बालों के मूल की स्निग्धता को नष्ट करती है, तब पलित रोग होता है और बालों का रंग भूरापन लिए हुए पीला (Brownish) हो जाता है।

इस प्रकार जत्रु से ऊपर के अंगों में होने वाले रोगों का अंशतः वर्णन किया गया, क्योंकि यह संहिता-ग्रन्थ है और इसमें सभी आयुर्वेदांगों का वर्णन होना चाहिए। इसलिए ग्रन्थ की पूर्णता की दृष्टि से शालाक्यतन्त्रीय विषयों का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है॥ १३२॥

चरक एवं सुश्रुत सम्मत शालाक्यतन्त्रीय रोग

रोग	नासारोग	शिरोरोग	मुखरोग	कर्णरोग	नेत्ररोग
चरक	१२	११	६४	४	९६
सुश्रुत	३१	११	६५	२८	७६

अतः परं भेषजसंग्रहं तु निबोध संक्षेपत उच्यमानम्॥ १३३॥
इति खालित्यरोगनिदानम्।

ऊर्ध्वजत्रुगत रोगचिकित्सा का उपक्रम—अब यहाँ से आगे शालाक्यंतन्त्रीय वर्णित रोगों की संक्षिप्त चिकित्सा कही जायेगी, उसे आप सुनें व समझें॥ १३३॥

वातात् सकासवैस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम्। पिबेद् रसं पयश्चोष्णं स्नैहिकं धूममेव वा॥ १३४॥

वातज पीनस रोग चिकित्सा—वातज पीनस या प्रतिश्याय रोग में जब खाँसी और स्वरभेद भी हो, तो यवक्षार मिलाकर घी पिलाना चाहिए। गरम-गरम मांसरस या गरम दूध या स्नैहिक धूम्रपान करना चाहिए॥ १३४॥

वक्तव्य—अन्यत्र प्रतिश्याय में जो धूमपान का निषेध किया गया है, उसे वैरेचनिक धूमपान के विषय में जानना चाहिए; इसलिए यहाँ स्नैहिक धूमपान के विधान से उस वचन का विरोध नहीं है।

शताह्वा त्वग्बला मूलं स्योनाकैरण्डबिल्वजम्। सारग्वधं पिबेद्वर्तिं मधूच्छिष्टवसाघृतैः॥ १३५॥

शताह्वादि धूम्रवर्ति—सौंफ, दालचीनी, बरियार का मूल, सोनापाठा की छाल, रेड़ के मूल की छाल, बेल की छाल और अमलतास की छाल—इनको समान भाग में लेकर पीसकर फिर उसमें मोम, चर्बी और घी मिलाकर, वर्ती बनाकर उसका धूम्रपान करें॥ १३५॥

अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसम्पुटे। नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत्॥ १३६॥

नये प्रतिश्याय में धूमपान—अथवा नये प्रतिश्याय के रोगी को जौ के सत्तू में घी मिलाकर चिलम पर रखकर पीने के लिए दें॥ १३६॥

शङ्खमूर्धललाटार्तौ पाणिस्वेदोपनाहनम्। स्वभ्यक्ते क्षवथुघ्नावरोधादौ सङ्करादयः॥ १३७॥

प्रतिश्यायजन्य वेदना में स्वेद—प्रतिश्याय के रोगी के शंखप्रदेश में, शिर में और ललाट में पीड़ा होने पर हाथ को आग पर तपाकर उससे इन अंगों पर स्वेदन करना चाहिए और दर्दनाशक औषधों के कल्क की पुल्टिस बाँधनी चाहिए। यदि किसी रोगी को छींक आती हो, नाक से पानी गिरता हो और प्रतिनाह हो गया, तो ललाट आदि पर वातहर तैल की मालिश करके (चरक-सूत्रस्थान, अध्याय १४ में कथित) संकर स्वेद तथा सुविधा के अनुसार अन्य प्रकार के स्वेदन करने चाहिए॥ १३७॥

घ्रेयाश्च रोहिषाजाजीवचातकार्करिचोरकाः। त्वक्पत्रमरिचैलानां चूर्णा वा सोपकुञ्चिकाः॥
स्रोतःशृङ्गाटनासाक्षिशोषे तैलं च नावनम्।

प्रतिश्याय में नस्य प्रयोग तथा नावन—(१) सुगन्धतृण, जीरा, बच, अरणी और चोरपुष्पी—इनको बारीक चूर्ण बनाकर सूँघना चाहिए या (२) दालचीनी, तेजपात, मरिच, छोटी इलायची और मँगरैला—इनके नस्य का प्रयोग करना चाहिए। (३) जब नासिका के स्रोत में, शृंगाटक में, नासिका में और आँख में शोष हो, तो औषधसिद्ध तैल का बिन्दुनिक्षेप करके नस्य देना चाहिए॥ १३८॥

प्रभाव्याजे तिलान् क्षीरे तेन पिष्टांस्तदूष्मणा॥ १३९॥
मन्दस्विन्नान् सयष्ट्याह्वचूर्णास्तेनैव पीडयेत्। दशमूलस्य निष्क्वाथे रास्नामधुककल्कवत्॥
सिद्धं ससैन्धवं तैलं दशकृत्वोऽणु तत् स्मृतम्।

अणु तैल—काले तिल को एक रात भर बकरी के दूध में भिगोकर दूसरे दिन पुनः ताजे बकरी दूध से पीस लें। फिर एक मिट्टी की हाँड़ी में आकण्ठ बकरी का दूध भर दें और उसके मुख पर एक कपड़ा बाँध दें। उस कपड़े पर पिसे हुए तिल के कल्क को रखकर सुरक्षित कर दें। पुनः उस हाँड़ी को चूल्हे पर चढ़ाकर मन्द-मन्द आँच से तिल कल्क का स्वेदन करें। जब वह कल्क उबल जाय, तो हाँड़ी को चूल्हे से उतार दें। फिर कल्क का चतुर्थांश मुलहठी का चूर्ण लेकर कल्क में मिला दें और फिर बकरी के दूध की भावना देकर उस कल्क से पीसकर या कोल्हू में पेरवाकर तैल निकाल लें। उस तैल का चौगुना दशमूल क्वाथ और चतुर्थांश रास्ना, मुलहठी तथा सेंधानमक का मिलित कल्क डालकर विधिवत् तैलपाक

करें। इसी प्रकार दशमूल का क्वाथ तथा उक्त द्रव्यों का कल्क डालकर १० बार तैलपाक करें। इस तैल का नाम अणुतैल है॥ १३९-१४०॥

वक्तव्य—यह तैल सूक्ष्म स्रोतों में प्रविष्ट हो जाता है, इसलिए इसे अणुतैल कहा जाता है। भावना देने से, अनेकशः पाक करने से और तैल निकालने की विशेष विधि अपनाने से इस तैल में अणुता आ जाती है।

स्निग्धस्यास्थापनैर्दोषं निर्हरेद् वातपीनसे॥ १४१॥

वातज पीनस में आस्थापनवस्ति—वातज पीनस रोग में स्नेहन करने के बाद आस्थापनवस्ति देकर दोष का निर्हरण करना चाहिए॥ १४१॥

स्निग्धाम्लोष्णैश्च लघ्वन्नं ग्राम्यादीनां रसैर्हितम्। उष्णाम्बुना स्नानपाने निवातोष्णप्रतिश्रयः॥

वातज प्रतिश्याय में पथ्य—वातज प्रतिश्याय के रोगी को स्निग्ध, अम्ल और उष्ण ग्रामीण पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ हल्का सुपच अन्न खाने को देना चाहिए। नहाने और पीने में गरम पानी का प्रयोग करना चाहिए और वायु के प्रवाह से सुरक्षित गरम रहने वाले कमरे में रहना चाहिए॥ १४२॥

चिन्ताव्यायामवाक्चेष्टाव्यवायविरतो भवेत्। वातजे पीनसे धीमानिच्छन्नेवात्मनो हितम्॥

वातज प्रतिश्याय में अपथ्य—अपना कल्याण चाहने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति वातज पीनस रोग से आक्रान्त होने पर चिन्ता करना, व्यायाम करना, भाषण करना, शारीरिक श्रम करना और मैथुन करना छोड़ दे॥ १४३॥

पैत्ते सर्पिः पिबेत् सिद्धं शृङ्गवेरशृतं पयः। पाचनार्थं पिबेत् पक्वे कार्यं मूर्धविरेचनम्॥ १४४॥

पित्तज प्रतिश्याय चिकित्सा—पित्तज प्रतिश्याय में दोषों को पचाने के लिए अदरख का स्वरस डालकर पकाया हुआ घी या दूध देना चाहिए। जब प्रतिश्याय में दोषपाचन हो जाये तो शिरोविरेचनार्थ नस्य का प्रयोग करना चाहिए॥ १४४॥

पाठाद्विरजनीमूर्वापिप्पलीजातिपल्लवैः। दन्त्या च साधितं तैलं नस्यं स्यात् पक्वपीनसे॥ १४५॥

पाठादि तैल—पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, मूर्वा, पीपल, चमेली की पत्ती और दन्तीमूल—इनके चतुर्थांश कल्क से पकाया हुआ तिल-तैल पके हुए पीनस रोग में नस्य के लिए प्रयोग करना चाहिए॥ १४५॥

पूयास्रे रक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च। पाकदाहाढ्यरूक्षेषु शीता लेपाः ससेचनाः॥ १४६॥
स्नेहनस्योपचाराश्च कषायाः स्वादुशीतलाः। मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धैः कुर्याद्विरेचनम्॥

पूयरक्त चिकित्सासूत्र—पूयरक्त में रक्तपित्तनाशक क्वाथ और नस्य देने चाहिए। यदि नासिका में पाक हो, जलन हो और अधिक रूक्षता हो तो शीतल द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से परिसेचन करना चाहिए और शीतल द्रव्यों का लेप करना चाहिए। मधुर, शीतल और कषाय द्रव्यों का स्नेहन और नस्य में प्रयोग करना चाहिए। जब प्रतिश्याय में पित्त अल्प मात्रा में प्रकुपित हो, तो स्निग्ध पदार्थों द्वारा विरेचन कराना चाहिए॥ १४६-१४७॥

घृतं क्षीरं यवाः शालिर्गोधूमा जाङ्गला रसाः। शीताम्लास्तिक्तशाकानि यूषा मुद्गादिभिर्हिताः॥

पित्तज प्रतिश्याय में पथ्य—पित्तज प्रतिश्याय में घृत, दूध, जौ, शालिचावल, गेहूँ, जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस, शीतल, अम्ल और तिक्त द्रव्यों से बनाया हुआ शाक तथा मूँग से बनाया हुआ यूष हितकर होता है॥ १४८॥

गौरवारोचकेष्वादौ लङ्घनं कफपीनसे। स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा॥ १४९॥

कफज प्रतिश्याय का चिकित्सासूत्र—कफज प्रतिश्याय रोग में जब भारीपन और अरुचि हो, तो सबसे पहले लंघन कराना चाहिए। फिर दोषों के पाचन के लिए घी का सिर में लेप करने के बाद स्वेदन और परिसेचन करना चाहिए॥ १४९॥

लशुनं मुद्गचूर्णेन व्योषक्षारघृतैर्युतम्।

लशुन प्रयोग—कफज प्रतिश्याय में मूँग के आटे के साथ सोंठ, मरिच, पीपर, यवक्षार और घृत मिलाकर लहसुन के स्वरस का प्रयोग करना चाहिए।

देयं कफघ्नवमनमुत्क्लिष्टश्लेष्मणे हितम्॥ १५०॥

कफज प्रतिश्याय में वमन प्रयोग—जब कफज प्रतिश्याय के रोगी का कफ बहिर्गमनोन्मुख हो, तो उसे कफनाशक औषधों के प्रयोग से वमन कराना चाहिए॥ १५०॥

अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्रावे सकण्डुके। धूमः शस्तोऽवपीडश्च कटुभिः कफपीनसे॥ १५१॥

धूम्रपान और अवपीड नस्य—कफज प्रतिश्याय रोग में तथा सामान्य प्रतिश्याय में पूति नस्य और नासास्राव में कटुरस वाले द्रव्यों से बनाया हुआ धूम तथा अवपीड नस्य देना चाहिए॥ १५१॥

(अपीनस या पीनस, ये दोनों शब्द शुद्ध हैं और प्रतिश्याय के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अन्यत्र पीनस या अपीनस शब्द पुराने या बार-बार होने वाले प्रतिश्याय के लिए भी प्रयुक्त हैं)

मनःशिला वचा व्योषं विडङ्गं हिङ्गु गुग्गुलुः। चूर्णो ध्मेयः प्रधमनं कटुभिश्च फलैस्तथा॥ १५२॥

मनःशिलादि नस्य तथा कटु फलों का प्रधमन—(१) मैनसिल, बच, सोंठ, मरिच, पीपर, वायविडंग, हींग और गुग्गुलु—इनका बारीक चूर्ण सूँघना चाहिए और (२) सोंठ, मरिच, पीपर, आँवला, हर्रा एवं बहेड़ा के चूर्ण को किसी नली में रखकर नाक में फूँककर प्रधमन नस्य देना चाहिए॥ १५२॥

भार्गीमदनतर्कारीसुरसादिविपाचिते। मूत्रे लाक्षा वचा लम्बा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली॥ १५३॥
कृत्वा कल्कं करञ्जं च तैलं तैः सार्षपं पचेत्। पाकान्मुक्ते घने नस्यमेतन्मेदोनिभे कफे॥ १५४॥

भार्ग्यादि तैल—भारंगी, मदनफल, जैंत की पत्ती और तुलसी की पत्ती के कल्क को अठगुने गोमूत्र में डालकर पकायें तथा चौथाई बचने पर छान लें। फिर गोमूत्र के चतुर्थांश सरसों का तैल और तैल का चतुर्थांश—लाही, बच, कड़वी लौकी का बीज, वायविडंग, कूठ, पीपर तथा करञ्ज बीज की गुद्दी समभाग का कल्क डालकर विधिपूर्वक तैलपाक करें तथा तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। जब प्रतिश्याय में दोषों का पाचन हो चुका हो और मेद के समान गाढ़ा-गाढ़ा कफ निकल रहा हो, तब इस तैल का नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए॥ १५३-१५४॥

स्निग्धस्य व्याहते वेगे छर्दनं कफपीनसे। वमनीयघृतक्षीरतिलमाषयवागुना॥ १५५॥

वमन प्रयोग—जब कफज प्रतिश्याय में प्रतिश्याय का वेग अवरुद्ध हो जाये, तो मदनफल आदि वामक द्रव्यों से क्षीरपाक-विधि से दूध पकाकर उस दूध में तिल तथा उड़द डालकर यवागू पकायें और उसे पिलाकर वमन कराना चाहिए॥ १५५॥

वार्ताककुलकव्योषकुलत्थाढकिमुद्गजाः। यूषाः कफघ्नमन्नं च शस्तमुष्णाम्बुसेवनम्॥ १५६॥

कफज प्रतिश्याय में पथ्य—कफज प्रतिश्याय में बैगन, परवर, सोंठ, पीपर, मरिच, कुल्थी, अरहर और मूँग का यूष, कफनाशक अन्न और गरम जल का सेवन करना पथ्य है॥ १५६॥

सर्वजित् पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे च शोफजित्। क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया शेषेष्ववेक्ष्य च॥

इति पीनसनासारोगचिकित्सा।

प्रतिश्याय चिकित्सा का उपसंहार—जब प्रतिश्याय रोग दुष्ट और कष्टकर हो तो त्रिदोषनाशक चिकित्सा, जब नासिका में शोथ हो, तो शोथनाशक चिकित्सा तथा जब नासिका में अर्बुद या अधिमांस

रोग हो तो क्षारकर्म करना चाहिए और अन्य नासारोगों में दोष आदि का विचार कर तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए॥ १५७॥

वातिके शिरसो रोगे स्नेहान् स्वेदान् सनावनान्। पानान्नमुपनाहाँश्च कुर्याद्वातामयापहान्॥

वातज शिरोरोग चिकित्सासूत्र—वातजन्य शिरोरोग में वातरोगनाशक तैलों से स्नेहन, वातघ्न स्वेदन, वातघ्न नस्य, वातनाशक अन्नों तथा पेय पदार्थों का सेवन और वातनाशक द्रव्यों से निर्मित पुल्टिस बाँधनी चाहिए॥ १५८॥

तैलभृष्टैरगुर्वाद्यैः सुखोष्णैरुपनाहनम्। जीवनीयैः सुमनसा मत्स्यैर्मांसैश्च शस्यते॥ १५९॥

उपनाह के द्रव्य—अगुरु आदि द्रव्यों का (जो ज्वराधिकार के अगुर्वादि तैल में पठित हैं) बारीक चूर्ण कर तिल-तैल में भूनकर गरम-गरम शिर में पट्टी बाँधे या जीवनीयगण की औषधों, मछली के मांस या चमेली-बेला-जूही आदि पुष्पों के कल्क से उपनाहस्वेद करना चाहिए॥ १५९॥

रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं सक्षीरं नस्यमर्तिनुत्। तैलं रास्नाद्विकाकोलीशर्कराभिरथापि वा॥

रास्नादि तैल—(१) रास्ना और स्थिरादि (सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) गण की औषधों का कल्क बनायें और उससे चौगुना तैल डालकर, तैल से चौगुना गोदुग्ध मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें या (२) रास्ना, काकोली, क्षीरकाकोली और चीनी समभाग लेकर कल्क करें तथा चतुर्गुण तैल एवं तैल से चतुर्गुण गोदुग्ध डालकर तैल सिद्ध करें। शिरःशूल में इस तैल का नस्य लेने से शूल शान्त हो जाता है॥ १६०॥

बलामधूकयष्ट्याह्वविदारीचन्दनोत्पलैः। जीवकर्षभकद्राक्षाशर्कराभिश्च साधितः॥ १६१॥
प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरो जाङ्गलार्धतुलारसे। नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातपित्तामयापहम्॥ १६२॥

बलादि तैल—बरियार का मूल, महुआ, मुलहठी, विदारीकन्द, लालचन्दन, नीलकमल, जीवक, ऋषभक, मुनक्का और चीनी समभाग का कल्क ½ प्रस्थ; तिल का तैल १ प्रस्थ, गोदुग्ध १ प्रस्थ तथा जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस आधी तुला (५० पल)—इन सभी द्रव्यों को कड़ाहे में डालकर विधिवत् तैलपाक करें। तैयार होने पर छानकर रख लें। इस तैल का नस्य लेने से यह वात या पित्त से होने वाले जत्रु के ऊपर के सभी रोगों को दूर करता है॥ १६१-१६२॥

दशमूलबलारास्नात्रिफलामधुकैः सह। मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत्तुण्डाङ्घ्रिवर्जितम्॥ १६३॥
जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत्। मधुरैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम्॥
कर्णाक्षिनासिकाजिह्वातालवास्यगलरोगनुत्। मायूरमितिविख्यातमूर्ध्वजत्रुगदापहम्॥ १६५॥

इति मायूरघृतम्।

मायूर घृत—दशमूल (बेल, गनियार, गम्भार, पाढल, सोनापाठा, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू), बरियार का मूल, रास्ना, आँवला, हर्रा, बहेड़ा और मुलहठी—इन सबको अलग-अलग ३-३ पल लेकर मोटा कूट लें और इन सबके मिलित वजन के बराबर (४८ पल), पंख, पित्त, अन्त्र, मल, ठोर और पैर का वजन छोड़कर मोर का मात्र मांस लें तथा इन्हें १ द्रोण जल में पकायें। जब पकते-पकते चतुर्थांश जल (१ आढक) शेष रहे तो क्वाथ को छान लें। उस क्वाथ में १ प्रस्थ घी, १ प्रस्थ गोदुग्ध और जीवनीयगण (१. जीवक, २. ऋषभक, ३. मेदा, ४. महामेदा, ५. काकोली, ६. क्षीरकाकोली, ७. मुद्गपर्णी, ८. माषपर्णी, ९. जीवन्ती और १०. मुलहठी) की प्रत्येक औषध का १-१ कर्ष कल्क डालकर विधिपूर्वक घृतपाक करें और तैयार होने पर सुरक्षित रख लें। यह घृत मायूर घृत के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रयोग से शिर के सभी रोग, अर्दित (Facial paralysis), कर्णरोग, नेत्ररोग, नासारोग, जिह्वारोग, तालुरोग, मुखरोग, गलरोग और सभी ऊर्ध्वजत्रुगत रोग नष्ट हो जाते हैं॥ १६३-१६५॥

वक्तव्य—यह व्याख्या चक्रपाणि-सम्मत है। इस घृत में कल्क की मात्रा सामान्य घृतपाक विधान के अनुरूप नहीं है, फिर भी उनका मान मूल में बतलाया गया है; इसलिए उन्हें उसी अनुपात में लिया गया है तथा जिनकी मात्रा नहीं कही गयी है, उनकी संगति आचार्य चक्रपाणि के अनुसार बतलायी गयी है। स्वविवेकानुसार संगति की गयी है। यहाँ मधुर शब्द से मधुरगुणाधिक्य के कारण जीवनीय द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। सामान्य परिभाषा के अनुसार काष्ठ द्रव्य तथा मयूर मांस, इन दोनों के वजन से चौगुना जल डालकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ करना ठीक है और क्वाथ का चतुर्थांश घी, उतना ही गोदुग्ध तथा घृत का चतुर्थांश कल्क डालकर घृतपाक करना चाहिए।

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्। चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः॥ १६६॥
जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्वीकर्धिपरूषकैः। समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरीसुरदारुभिः॥ १६७॥
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमस्तकैः। मृणालबिसशालूकशृङ्गीजीवकपद्मकैः॥ १६८॥
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः। मूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः॥ १६९॥
रास्नास्थिरातामलकीसूक्ष्मैलाशटिपौष्करैः। पुनर्नवातुगाक्षीरीकाकोलीधन्वयासकैः॥ १७०॥
खर्जूराक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकैरपि। द्रव्यैरेभिर्यथालाभं पूर्वकल्पेन साधितम्॥ १७१॥
नस्ये पाने तथाऽभ्यङ्गे बस्तौ चैव प्रयोजयेत्। शिरोरोगेषु सर्वेषु कासे श्वासे च दारुणे॥ १७२॥
मन्यापृष्ठग्रहे शोषे स्वरभेदे तथाऽर्दिते। योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं वन्ध्यासुतप्रदम्॥ १७३॥
ऋतुस्नाता तथा नारी पीत्वा पुत्रं प्रसूयते। महामायूरमित्येतद् घृतमात्रेयपूजितम्॥ १७४॥

इति महामायूरघृतम्।

महामायूर घृत—पूर्व में मायूरघृत के वर्णन में कहे गये दशमूल आदि के क्वाथ में १ प्रस्थ घी, ४ प्रस्थ गोदुग्ध और १-१ कर्ष निम्नाङ्कित औषधों का कल्क डालकर यथाविधि घृतपाक करें। कल्कद्रव्य इस प्रकार हैं—१. जीवन्ती, २. निर्बीज आँवला, ३. निर्बीज हर्रा, ४. निर्बीज बहेड़ा, ५. मेदा, ६. मुनक्का, ७. ऋद्धि, ८. फालसा, ९. मजीठ, १०. चव्य, ११. भारंगी, १२. गम्भार की छाल, १३. देवदारु, १४. केवाँच, १५. महामेदा, १६. ताड़ की बाल, १७. खजूर की बाल, १८. कमल की जड़, १९. कमलदण्ड, २०. कमलकन्द, २१. काकड़ासींगी, २२. जीवक, २३. पद्मकाठ, २४. शतावर, २५. विदारीकन्द, २६. इक्षुमूल, २७. बड़ी कटेरी, २८. सारिवा, २९. अनन्तमूल, ३०. मूर्वा का मूल, ३१. गोखरू, ३२. ऋषभक, ३३. सिंघाड़ा, ३४. कसेरू, ३५. रास्ना, ३६. सरिवन, ३७. भूईआँवला, ३८. छोटी इलायची, ३९. कचूर, ४०. पोहकरमूल, ४१. गदहपुर्ना, ४२. वंशलोचन, ४३. काकोली, ४४. यवासा, ४५. खजूर, ४६. अखरोट, ४७. बादाम, ४८. चिलगोजा और ४९. पिस्ता।

इस घृत को नस्य लेने, पीने, अभ्यंग और वस्तिकर्म में प्रयोग करना चाहिए। यह घृत सभी प्रकार के शिरोरोगों में, कास एवं श्वास की भयंकरता में, मन्यास्तम्भ, पृष्ठस्तम्भ, शोष, स्वरभेद, अर्दित रोग, योनिरोग, रक्तविकार तथा शुक्रदोष में लाभ करता है। यह घृत वन्ध्या स्त्री को पुत्र देता है। ऋतुस्नान के बाद इस घृत का सेवन करने वाली स्त्री पुत्ररत्न उत्पन्न करती है। यह महामायूरघृत महर्षि आत्रेय द्वारा सम्मानित है॥ १६६-१७४॥

वक्तव्य—इस घृत के योग में घृत की अपेक्षा कल्क की मात्रा अधिक है, क्योंकि कल्क घृत का चतुर्थांश होना चाहिए। इसलिए इस घृत के निर्माण में कल्कद्रव्यों की मात्रा घृत की मात्रा से चतुर्थांश ही लेना उचित है।

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान्। कल्पेनानेन विपचेत् सर्पिरूर्ध्वगदापहम्॥

आखु, कुक्कुट, हंस या शश घृत—बुद्धिमान् चिकित्सक महामायूर घृत के समान ही क्वाथ, घृत, दुग्ध तथा कल्क डालकर उसी विधान से घृतपाक करें। अन्तर केवल यह कि मयूर के मांस के वजन के

बराबर चूहे का, मुर्गे का, हंस का या खरहे का मांस डालें और मयूर का मांस न डालें। इस प्रकार से बनाया हुआ महाआखुघृत, महाकुक्कुटघृत, महाहंसघृत या महाशशघृत ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों को दूर करता है॥ १७५॥

पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः। जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत्॥

पित्तज शिरोरोग चिकित्सासूत्र—पित्तज शिरोरोग में घृत का सेवन, दुग्ध का सेवन, शीतल प्रलेप, नस्य, जीवनीय घृतों का सेवन और पित्तनाशक अन्नपान का सेवन करना लाभदायक होता है॥ १७६॥

चन्दनोशीरयष्ट्याह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः। क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्याच्छृतैर्वा परिषेचनम्॥ १७७॥

चन्दनादि प्रदेह तथा परिसेचन—चन्दन, खश, मुलहठी, बरियार के मूल, नखी और नीलकमल के पत्र को गाय के दूध में पीसकर ललाट पर प्रलेप लगाना चाहिए अथवा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ को ठण्डा करके उससे शिर धोना चाहिए॥ १७७॥

त्वक्पत्रशर्करकल्कः सुपिष्टस्तण्डुलाम्बुना। कार्योऽवपीडः सर्पिश्च नस्यं तस्यानु पैत्तिके॥

त्वक्पत्रादि अवपीड नस्य—दालचीनी, तेजपात और चीनी को चावल के धोवन से पीसकर, कपड़े के कोने में रखकर, रोगी को उत्तान सुलाकर उसकी नासिका में निचोड़कर ४-६ बूँद टपकाना चाहिए और उसके बाद घी का नस्य देना चाहिए। यह पित्तज शिरोरोग में लाभप्रद है॥ १७८॥

यष्ट्याह्वचन्दनानन्ताक्षीरसिद्धं घृतं हितम्। नावनं शर्कराद्राक्षामधूकैर्वाऽपि पित्तजे॥ १७९॥

यष्ट्याह्वादि और शर्करादि घृत—(१) पित्तज शिरोरोग में मुलहठी, लालचन्दन और अनन्तमूल का मिलित कल्क लेकर उससे चौगुना घी तथा घी से चौगुना गोदुग्ध डालकर घृत सिद्ध करें अथवा (२) चीनी, मुनक्का और मुलहठी के मिलित चतुर्थांश कल्क तथा चौगुने गोदुग्ध के साथ घृतपाक करें। ये दोनों घृत नस्य के रूप में प्रयोज्य हैं॥ १७९॥

कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः। शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत्॥ १८०॥
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्बस्तिभिरेव च।

कफज शिरोरोग चिकित्सासूत्र—कफज शिरोरोग में स्वेदन करने के पश्चात् धूमपान, नस्य और प्रधमन नस्य आदि के प्रयोग से शिरःशोधन कर फिर कफघ्न प्रलेप करना चाहिए तथा कफनाशक आहार एवं पेय पदार्थ भी देकर और पुराना घी पिलाकर तथा तीक्ष्ण वस्ति देकर उपचार करना चाहिए॥ १८०॥

कफानिलोत्थे दाहस्तु शेषयो रक्तमोक्षणम्॥ १८१॥

शिरोरोग में दाह और रक्तमोक्षण—कफजन्य तथा वातजन्य शिरोरोग में (ललाट या शंखप्रदेश में) दाह कर्म करना चाहिए। शेष सन्निपातज तथा कृमिज शिरो रोगों में रक्तमोक्षण करना चाहिए॥ १८१॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान अध्याय १२ में शिरोरोग में दाहकर्म का निर्देश है—'शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्'।

एरण्डनलदक्षौमगुग्गुल्वगुरुचन्दनैः। धूमवर्तिं पिबेद् गन्धैरकुष्ठतगरैस्तथा॥ १८२॥

एरण्डादि धूमवर्ती—(१) रेड़ का मूल, जटामांसी, तीसी की छाल या तीसी की छाल से बना वस्त्र, गुग्गुलु, अगुरु और चन्दन—इनको पीसकर धूमवर्ती बनाकर पीना चाहिए। इसी प्रकार (२) ज्वराधिकार में कथित अगुर्वादि गन्धद्रव्यों में से कुष्ठ और तगर को छोड़कर अन्य द्रव्यों को पीसकर वर्ती बनाकर प्रयोग करना चाहिए॥ १८२॥

वक्तव्य—कूठ और तगर इन दोनों का धूमवर्ती के रूप में प्रयोग वर्जित करने का कारण यह है कि ये दोनों मस्तुलुंग के स्राव का बढ़ा देते हैं।

सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया। क्रिमिजे चैव कर्तव्यं तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम्॥ १८३॥

सन्निपातज तथा कृमिज शिरोरोग चिकित्सासूत्र—सन्निपातज शिरोरोग में तीनों दोषों की दृष्टि से हितकर चिकित्सा करनी चाहिए। कृमिज शिरोरोग में तीक्ष्ण शिरोविरेचन का प्रयोग करना चाहिए॥ १८३॥

त्वग्दन्तीव्याघ्रकरजविडङ्गनवमालिकाः।
अपामार्गफलं बीजं नक्तमालशिरीषयोः। क्षवकोऽश्मन्तको बिल्वं हरिद्रा हिङ्गु यूथिका॥
फणिज्झकश्च तैस्तैलमविमूत्रे चतुर्गुणे। सिद्धं स्यान्नावनं चूर्णं चैषां प्रधमनं हितम्॥ १८५॥

त्वगादि तैल और प्रधमन चूर्ण—दालचीनी, दन्ती का मूल, नखी, वायविडंग, मालती का फूल, अपामार्ग बीज, करञ्ज बीज, शिरीष बीज, नकछिकनी, अश्मन्तक (पाषाणभेद), बेलगिरी, हल्दी, हींग, जूही का फूल और बनतुलसी (दवना) का फूल—इनके समभाग का कल्क, कल्क से चौगुना तिल का तैल और तैल से चौगुना भेंड़ का मूत्र डालकर तैलपाक करें। इस तैल का नस्य शिरोरोग को दूर करता है। इन्हीं कल्कद्रव्यों का चूर्ण प्रधमन नस्य के रूप में प्रयोग करने से शिरोरोग दूर होता है॥ १८४-१८५॥

फलं शिग्रुकरञ्जाभ्यां सव्योषं चावपीडकः। कषायः स्वरसः क्षारश्चूर्णं कल्कोऽवपीडकः॥
इति शिरोरोगचिकित्सा।

अवपीड नस्य और कवलग्रह—सहिजन और करञ्ज के बीज, सोंठ, मरिच और पीपर को बकरी के या गाय के मूत्र में पीसकर नाक में निचोड़कर अवपीडक नस्य देना चाहिए तथा इन्हीं द्रव्यों से बने क्वाथ का, इनके स्वरस का, इनके क्षार का या चूर्ण का या कल्क का अवपीड नस्य देना चाहिए॥ १८६॥

शुक्ततिक्तकटुक्षौद्रकषायैः कवलग्रहः। धूमः प्रधमनं शुद्धिरधश्छर्दनलङ्घनम्॥ १८७॥
भोज्यं च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम्।

मुखरोग का चिकित्सासूत्र—मुखरोगों में सिरका, तिक्त तथा कटु द्रव्यों के क्वाथ और मधु मिलाकर कवलग्रह धारण करना चाहिए। धूमपान, प्रधमन नस्य, विरेचन, वमन, लंघन तथा दोषों के अनुसार तत्तत् दोषनाशक अन्नपान का सेवन करना चाहिए॥ १८७॥

पिप्पल्यगुरुदार्वीत्वग्यवक्षाररसाञ्जनम् ॥ १८८॥
पाठां तेजोवतीं पथ्यां समभागं विचूर्णयेत्। मुखरोगेषु सर्वेषु सक्षौद्रं तद्विधारयेत्॥ १८९॥
सीधुमाधवमाध्वीकैः श्रेष्ठोऽयं कवलग्रहः।

पिप्पल्यादि कवलग्रह—(१) पीपर, अगुरु, दारुहल्दी की छाल, यवाखार, रसौंत, पाठा, तेजबल और हर्रे का वक्कल—इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करें और सभी प्रकार के मुखरोगों में इस चूर्ण में मधु मिलाकर कवल धारण करें। (२) इसी पिप्पल्यादि चूर्ण को सीधु (गन्ने के रस का सिरका), माधव (मधु अथवा महुए का बना मद्य) या माध्वीक (अंगूर या मुनक्के से बना मद्य) में मिलाकर मुख में कवल धारण करना श्रेष्ठ मुखरोगनाशक है॥ १८८-१८९॥

तेजोह्वामभयामेलां समङ्गां कटुकां घनम्॥ १९०॥
पाठां ज्योतिष्मतीं लोध्रं दार्वीं कुष्ठं च चूर्णयेत्। दन्तानां घर्षणं रक्तस्रावकण्डूरुजापहम्॥ १९१॥

तेजोह्वादि चूर्ण—तेजबल, निर्बीज हर्रे, छोटी इलायची, मजीठ, कुटकी, नागरमोथा, पाठा, मालकांगनी, पठानी लोध, दारुहल्दी और मीठा कूठ—इन सबको समभाग लेकर बारीक चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का मञ्जन करने से दाँतों से रक्त निकलना, मसूड़े की खुजली और दाँतों का दर्द दूर होता है॥ १९०-१९१॥

पञ्चकोलकतालीसपत्रैलामरिचत्वचः। पलाशमुष्ककक्षारयवक्षाराश्च चूर्णिताः॥ १९२॥
गुडे पुराणे द्विगुणे क्वथिते गुटिकाः कृताः। कर्कन्धुमात्राः सप्ताहं स्थिता मुष्ककभस्मनि॥ १९३॥
कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः।

क्षारगुटिका—पञ्चकोल (पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ), तालीसपत्र, छोटी इलायची, मरिच, दालचीनी, पलाश का क्षार, मोख का क्षार और यवाखार—इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करें और

चूर्ण के वजन के दूने वजन में गुड़ लेकर चासनी करें; फिर उसमें चूर्ण को मिलाकर झड़बेर के समान (लगभग १ ग्राम की) गोली बनाकर सात दिन तक मोख की राख में रखें। इन गोलियों को मुख में रखकर धारण करना चाहिए। ये अमृत के समान लाभकर हैं और सभी कण्ठरोगों को दूर करती हैं॥ १९२-१९३॥

गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम्॥ १९४॥
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकश्चेति चूर्णितम्। सक्षौद्रं धारयेदेतद् गलरोगविनाशनम्॥ १९५॥
कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत्।

इति कालकचूर्णम्।

कालक चूर्ण—घर में लगा हुआ धुएँ का झाला, यवाखार, पाठा, सोंठ, मरिच, पीपर, रसौंत, तेजबल, बीज निकाला हुआ आँवला-हर्रा-बहेड़ा, पठानी लोध और चीते का मूल—इन सबको समभाग लेकर चूर्ण बनाकर सुरक्षित रख लें। इस चूर्ण में मधु मिलाकर मुख में धारण करना चाहिए। यह मुख के, दाँत के और गले के रोगों को नष्ट करता है। इसका नाम कालक चूर्ण है॥ १९४-१९५॥

वक्तव्य—इस चूर्ण का मुखरोगों में सफल प्रयोग होता है। काशी के 'श्रीराम लक्ष्मीनारायण अस्पताल, गोदौलिया' में इस चूर्ण का बहुत प्रयोग होता है।

मनःशिला यवक्षारो हरितालं ससैन्धवम्॥ १९६॥
दार्वीत्वक् चेति तच्चूर्णं माक्षिकेण समायुतम्। मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत्॥ १९७॥
मुखरोगेषु च श्रेष्ठं पीतकं नाम कीर्तितम्।

इति पीतकचूर्णम्।

पीतक चूर्ण—शुद्ध मैनसिल, यवाखार, शुद्ध हरताल, सेंधानमक और दारुहल्दी की छाल—इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण को मधु में मिलाकर और पतले घी में घोलकर कण्ठरोगों में धारण करना चाहिए। मुखरोगों में भी यह उत्तम लाभकारी औषध है। इसे पीतक चूर्ण कहा जाता है॥ १९६-१९७॥

मृद्वीका कटुका व्योषं दार्वीत्वक् त्रिफला घनम्॥ १९८॥
मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत्।

मृद्वीकादि चूर्ण—मुनक्का, कुटकी, सोंठ, मरिच, पीपर, दारुहल्दी की छाल, आँवला, हर्रा, बहेड़ा और नागरमोथा—इन सबको समभाग लेकर पीसकर घी मिलाकर कण्ठ रोगों में धारण करना चाहिए॥ १९८॥

पाठा रसाञ्जनं मूर्वा तेजोह्वेति च चूर्णितम्॥ १९९॥
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यं गलरोगे भिषग्जितम्। योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः॥ २००॥

पाठादि चूर्ण—पाठा, रसौंत, मूर्वा और तेजबल—इन्हें समभाग लेकर, चूर्ण कर मधु मिलाकर गले के रोगों में प्रयोग करना चाहिए।

ये तीनों योग (कालक चूर्ण, पीतक चूर्ण तथा मृद्वीकादि चूर्ण) त्रिदोषनाशक हैं॥ १९९-२००॥

वक्तव्य—मृद्वीकादि चूर्ण के योग में ही पाठादि चूर्ण का भी योग सम्मिलित होना चाहिए और उसका प्रयोग घी या मधु से करना चाहिए। तभी 'योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ताः' यह कथन सार्थक होगा तथा तभी तीन योग बन पायेंगे, अन्यथा पाठादि को अलग करने पर ४ योग बनते हैं, जिससे ३ योगों का कथन असंगत हो जायेगा।

कटुकातिविषापाठादार्वीमुस्तकलिङ्गकाः। गोमूत्रक्वथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः॥२०१॥

कटुकादि क्वाथ—कुटकी, अतीस, पाठा, दारुहल्दी, नागरमोथा और इन्द्रजौ—इनको समान मात्रा में लेकर, भूसे की तरह कूटकर मोटा चूर्ण बनायें, फिर आठ गुने गोमूत्र में काढ़ा बनायें तथा चैगुना बचने पर छानकर पीना चाहिए। यह क्वाथ कण्ठ रोगों को दूर करता है॥ २०१॥

स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया। सक्षौद्रा मुखरोगासृग्दोषनाडीव्रणापहा॥ २०२॥

दार्व्यादि रसक्रिया—दारुहल्दी के स्वरस को पकाकर गाढ़ा अवलेह जैसा बना लें; इसे रसक्रिया कहते हैं। इसमें मधु मिलाकर मुख में धारण करना चाहिए। यह औषधि मुखरोग, रक्तविकार और नाड़ीव्रण को दूर करती है॥ २०२॥

वक्तव्य—दारुहल्दी के स्वरस के अभाव में उसका काढ़ा बनाकर तब रसक्रिया बनानी चाहिए। क्वाथ को जब पुनः पकाकर गाढ़ा कर लिया जाता है, तो उसे रसक्रिया कहते हैं—'क्वाथादेर्यत्पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया'।

तालुशोषे त्वतृष्णस्य सर्पिरौत्तरभक्तिकम्। नावनं मधुराः स्निग्धाः शीताश्चैव रसा हिताः॥

तालुशोष-चिकित्सासूत्र—तालुशोष रोग में रोगी को जब प्यास न लगती हो, तो उसे भोजन के बाद घी पिलाना चाहिए। रोगी को नस्य देना चाहिए और खाने के लिए मधुर, शीतल तथा स्निग्ध मांसरस का सेवन कराना हितकर होता है॥ २०३॥

मुखपाके सिराकर्म शिरःकायविरेचनम्। मूत्रतैलघृतक्षौद्रक्षीरैश्च कवलग्रहाः॥ २०४॥

मुखपाक-चिकित्सासूत्र—मुखपाक रोग में सिरावेध, शिरोविरेचन, कायविरेचन और मूत्र, तैल, घृत, मधु तथा दूध का कवल धारण करना चाहिए॥ २०४॥

सक्षौद्रास्त्रिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः। कषायतिक्तकाः शीताः क्वाथाश्च मुखधावनाः॥

मुखधावन योग—आँवला-हर्रा-बहेड़ा (सभी निर्बीज), पाठा, मुनक्का, चमेली की पत्ती तथा अन्य कषाय एवं तिक्तरस वाले द्रव्यों के शीतल क्वाथ में मधु मिलाकर कुल्ला करने से मुख स्वच्छ हो जाता है॥ २०५॥

तुलां खदिरसारस्य द्विगुणामरिमेदसः। प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत्॥ २०६॥
द्रोणशेषं कषायं तं पूत्वा भूयः पचेच्छनैः। ततस्तस्मिन् घनीभूते चूर्णीकृत्याक्षभागिकम्॥ २०७॥
चन्दनं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठा धातकी घनम्। प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वत्वगेलापद्मकेशरम्॥ २०८॥
लाक्षां रसाञ्जनं मांसीत्रिफलालोध्रवालकम्। रजन्यौ फलिनीमेलां समङ्गां कट्फलं वचाम्॥
यवासागुरुपत्तङ्गैरिकाञ्जनमावपेत्। लवङ्गनखकक्कोलजातिकोशान् पलोन्मितान्॥ २१०॥
कर्पूरकुडवं चापि क्षिपेच्छीतेऽवतारिते। ततस्तु गुटिकाः कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेत्॥
तैलं चानेन कल्केन कषायेण च साधयेत्। दन्तानां चलनभ्रंशशौशिर्यक्रिमिरोगनुत्॥ २१२॥
मुखपाकास्यदौर्गन्ध्यजाड्यारोचकनाशनम्। स्रावोपलेपपैच्छिल्यवैस्वर्यगलशोषनुत्॥ २१३॥
दन्तास्यगलरोगेषु सर्वेष्वेतत् परायणम्। खदिरादिगुटीकेयं तैलं च खदिरादिकम्॥ २१४॥

इति खदिरादिगुटिका तैलं च।

खदिरादि गुटिका—श्वेत खैर का काष्ठ (हीर-सारभाग) १ तुला (१०० पल) तथा अरिमेद (विट्खदिर) २ तुला (२०० पल), इनको धोकर लोहार के बसुला से छोटे-छोटे टुकड़े कर, कुटवाकर ४ द्रोण जल में पकायें। जब पानी जलते-जलते १ द्रोण शेष बचे, तो उसे छानकर फिर मन्द-मन्द आँच पर पकाकर गाढ़ा करें। जब क्वाथ गाढ़ी चासनी जैसा घना द्रव हो जाय, तो उसमें निम्नलिखित द्रव्यों का महीन चूर्ण डालकर बटी बनाकर सुखा लें। चूर्ण के द्रव्य इस प्रकार हैं—१. श्वेतचन्दन, २. पद्मकाठ, ३. खस, ४. मजीठ, ५. धाय के फूल, ६. नागरमोथा, ७. पुण्डरिया काठ, ८. मुलहठी, ९. दालचीनी, १०. छोटी इलायची, ११. कमल की केशर, १२. लाही, १३. रसौंत, १४. जटामांसी, १५. आँवला, १६. हर्रा, १७. बहेड़ा, १८. लोध, १९. सुगन्धवाला, २०. हल्दी, २१. दारुहल्दी, २२. प्रियंगु, २३. बड़ी इलायची, २४. लजैनी, २५. कट्फल, २६. बच, २७. जवासा, २८. अगर, २९. पतंग, ३०. गैरिक, ३१. शुद्ध अंजन—प्रत्येक एक-एक अक्ष। इनका कपड़छन चूर्ण डालकर अच्छी तरह मिला दें, फिर कड़ाही को आग पर से उतार कर ठण्डा कर लें, तब लवंग, नखी, शीतल चीनी और जावित्री का कपड़छन चूर्ण १-१ पल तथा महीन कपूर १ कुडव डालकर ठीक से मिश्रण कर दें। फिर सब औषधों को मिलाकर, एकरस कर वटी बना सूख जाने पर मुख में रखकर चूसना चाहिए।

खदिरादि तैल—उपर्युक्त औषधों के कल्क तथा उपर्युक्त क्वाथ से तैल पका लेना चाहिए। जब वटी बनायी जायेगी, तो वह खदिरादि गुटिका कहलायेगी और जब तैल बनाया जायेगा, तो खदिरादि तैल तैयार होगा।

उपयोग और फलश्रुति—इस गुटिका को अथवा इस तैल का फाहा मुख में धारण करने से दाँतों का हिलना, दाँतों का गिरना, दाँतों का खोखला होना या दाँतों में कृमियों का होना—ये सभी विकार दूर हो जाते हैं। इनका प्रयोग मुखपाक, मुखदुर्गन्धि, मुख का न हिलना-डुलना, अरुचि, लालास्राव, मुख में कफलिप्तता, पिच्छिलता (चिपचिपापन), स्वरभेद, गले का सूखना आदि विकारों को नष्ट करता है। ये दोनों योग दाँत, मुख और गले के सभी रोगों में लाभप्रद होते हैं॥ २०६-२१४॥

अरुचौ कवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः। मनोज्ञमन्नपानं च हर्षणाश्वासनानि च॥ २१५॥

अरोचक-चिकित्सासूत्र—अरोचक रोग में मुख में कवल धारण करना, धूम्रपान करना, मुख को प्रक्षालित करने वाले औषधद्रव्यों को मुख में धारण करना, मन की पसन्द के अनुसार भोजन करना तथा पेय पदार्थ पीना, मन को प्रसन्न रखना और आरोग्य लाभ का आश्वासन देना—ये सब चिकित्सा के सूत्र हैं॥ २१५॥

कुष्ठसौवर्चलाजाजीशर्करामरिचं विडम्। धान्येलापद्मकोशीरपिप्पल्युत्पलचन्दनम्॥ २१६॥
लोध्रं तेजोवती पथ्या त्र्यूषणं सयवाग्रजम्। आर्द्रदाडिमनिर्यासश्चाजाजीशर्करायुतः॥ २१७॥
सतैलमाक्षिकास्त्वेते चत्वारः कवलग्रहाः। चतुरोऽरोचकान् हन्युर्वाताद्येकजसर्वजान्॥ २१८॥

चार कवलग्रहयोग—(१) कूठ, सोंचर नमक, जीरा, चीनी, मरिच और विडनमक; (२) आँवला, छोटी इलायची, पद्माख, खस, पीपर, नीलकमल और चन्दन; (३) लोध, तेजबल, हर्रे, सोंठ, मरिच, पीपर और जवाखार तथा (४) अदरक, अनार का रस, जीरा और चीनी—ये चार योग हैं। इनमें तैल और मधु मिलाकर मुख में कवल धारण करना चाहिए। ये चारों योग वातज-पित्तज-कफज तथा त्रिदोषज अरोचकों को नष्ट करते हैं॥ २१६-२१८॥

कारवीमरिचाजीद्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम्। सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम्॥ २१९॥

कारव्यादि योग—मँगरैला, मरिच, जीरा, मुनक्का, तिन्तिडीक या कोकम, अनारदाना, सोंचर नमक, गुड़ और मधु—इन्हें एक में मिलाकर सेवन करने से सभी प्रकार के अरोचक दूर होते हैं॥ २१९॥

बस्तिं समीरणे, पित्ते विरेकं, वमनं कफे। कुर्याद्धृद्यानुकूलानि हर्षणं च मनोऽन्नजे॥ २२०॥

इत्यरोचकचिकित्सा।

अरोचक में दोषानुसार चिकित्सा-सिद्धान्त—अरोचक रोग में वायु की प्रधानता होने पर बस्ति, पित्त की प्रधानता में विरेचन, कफ की प्रधानता में वमन और मानसिक आघातजन्य अरोचक में मन को प्रसन्न करने वाला एवं हृदय के अनुकूल उपचार करना चाहिए॥ २२०॥

कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत् क्रिया। प्रदेहाः पूरणं नस्यं पाकस्रावे व्रणक्रियाः॥ २२१॥
भोज्यानि च यथादोषं कुर्यात् स्नेहांश्च पूरणान्।

कर्णरोग चिकित्सासूत्र—कान में दर्द होने पर प्रतिश्याय रोग के समान वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। वातनाशक द्रव्यों को पीसकर कान के चारों ओर लेप करना, वातनाशक तैल कान में डालना तथा नस्य लेना हितकर है। यदि कर्णपाक या कर्णस्राव हो, तो व्रणवत् उपचार करना चाहिए। जिस दोष की प्रमुखता हो, उस दोष को शान्त करने वाला आहार देना चाहिए और तत्तत् दोष को नष्ट करने वाले तैल कान में डालना चाहिए॥ २२१॥

हिङ्गुतुम्बुरुशुण्ठीभिस्तैलं तु सार्षपं पचेत्॥ २२२॥
एतद्धि पूरणं श्रेष्ठं कर्णशूलनिवारणम्। देवदारुवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः॥ २२३॥
तैलं सिद्धं बस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम्।

हिंग्वादि तैल एवं देवदार्वादि तैल—(१) हींग, तुम्बुल (नेपाली धनियाँ) और सोंठ का कल्क, चतुर्गुण सरसों का तैल और तैल का चतुर्गुण जल डालकर विधिवत् तैलपाक करें। यह तैल कान के शूल को दूर करने में उत्तम है। इसे हिंग्वादि तैल कहते हैं। (२) देवदारु, बच, सोंठ, सौंफ, कूठ और सेंधानमक का कल्क, चतुर्गुण सरसों का तैल और तैल का चतुर्गुण बकरे का मूत्र डालकर विधिवत् 'देवदार्वादि तैल' तैयार करें। यह तैल कर्णशूल को दूर करता है॥ २२२-२२३॥

वराटकान् समाहृत्य दहेन्मृद्भाजने नवे॥ २२४॥
तद्वस्म श्च्योतयेत्तेन गन्धतैलं विपाचयेत्। रसाञ्जनस्य शुण्ठ्याश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत्॥

गन्धतैल—कौड़ियों को लेकर मिट्टी के नये पात्र में रखकर, गजपुट देकर भस्म तैयार करें। उस भस्म को पानी में घोलकर, फिर पानी को निथार लें। उस पानी का चतुर्थांश सरसों का तैल और तैल का चर्तुर्थांश रसाञ्जन, सोंठ तथा गन्ध द्रव्यों (लौंग, इलायची, कचूर, दालचीनी, छरीला, जटामांसी आदि) का कल्क डालकर विधिवत् तैलपाक करें। यह गन्ध तैल कर्णशूल को दूर करता है॥ २२४-२२५॥

शुष्कमूलकशुण्ठीनां क्षारो हिङ्गु महौषधम्। शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रु रसाञ्जनम्॥ २२६॥
सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम्। भूर्जग्रन्थिर्बिडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम्॥ २२७॥
मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च। सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैः क्षारतैलं विपाचयेत्॥ २२८॥
बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः। क्रिमयः कर्णशूलं च पूरणादस्य नश्यति॥ २२९॥

क्षारतैल—सूखी मूली का क्षार, हींग, सोंठ, सौंफ, बच, कूठ, देवदारु, सहिजन की छाल, रसौंत, सोंचर नमक, जवाखार, सज्जीखार, उद्भिद नमक (रेह), सेंधानमक, भोजपत्र की गाँठ, बिडनमक और नागरमोथा—इन सबको समभाग में लेकर कल्क करें। कल्क से चौगुना सरसों का तैल और तैल से चौगुना मधुशुक्त (मधु का सिरका) तथा तैल के बराबर बिजौरा नीबू एवं केले के स्तम्भ का स्वरस डालकर विधिवत् तैलपाक करें। तैयार होने पर सुरक्षित रख लें। इस तैल के कान में डालने से कान का बहरापन, कान में आवाज होना, कान से अत्यधिक स्राव होना, कान में कृमियों का होना और कान में दर्द होना—ये सभी विकार शान्त हो जाते हैं॥ २२६-२२९॥

मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम्। कुर्याद् भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलाबलम्॥
इति कर्णरोगचिकित्सा।

मुख, कर्ण एवं नेत्र रोगों में दोष-कालानुसार उपचार—मुख, कान तथा नेत्र के रोगों में सबसे पहले रोग के दोष की सबलता या निर्बलता एवं काल के बलाबल का ठीक से विचार कर पीनस रोग में बतलाये गये विधान के अनुसार उपचार करना चाहिए॥ २३०॥

यह कर्णरोग की चिकित्सा कह दी गयी।

उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे बिडालकः। कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः॥ २३१॥

नेत्ररोग में विडालक लेप—नये नेत्ररोग में रोग उत्पन्न होते ही जलन, कीचड़, आँसू बहना, शोथ और लाली को दूर करने वाला 'विडालक लेप' करना चाहिए॥ २३१॥

बक्तव्य—नेत्रकोटर के चारों ओर आँख की बरौनियों को छोड़कर जो लेप किया जाता है, उसे विडालक कहते हैं।

नागरं सैन्धवं सर्पिर्मण्डेन च रसक्रिया। निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम्॥ २३२॥
तथा शावरकं लोध्रं घृतभृष्टं बिडालकः। तद्वत् कार्यो हरीतक्या घृतभृष्टो रुजापहः॥ २३३॥

वातज नेत्रशूलघ्न विडालक लेप—(१) वातजन्य नेत्ररोग में सोंठ और सेंधानमक के बारीक चूर्ण को घी के ऊपरी द्रव भाग को लेकर, उसमें मिलाकर गाढ़ा द्रव (रसक्रिया) बनाकर नेत्र के चारों ओर लेप करें। (२) इसी प्रकार मधु, सेंधानमक और गेरू का लेप करना चाहिए। (३) शाबरलोध को बारीक पीसकर घी मिलाकर बिडालक लेप करें। (४) इसी तरह हर्रे के चूर्ण को घी में हलका भूनकर विडालक लेप लगाना चाहिए। इन लेपों के लगाने से नेत्र की पीड़ा दूर होती है॥ २३२-२३३॥

पैत्तिके चन्दनानन्तामञ्जिष्ठाभिर्बिडालकः। कार्यः पद्मकयष्ट्याह्वमांसीकालीयकैस्तथा॥

पैत्तिक नेत्ररोग में बिडालक—(१) पित्तज नेत्ररोग में चन्दन, अनन्तमूल और मजीठ अथवा (२) पद्मकाठ, मुलहठी, जटामांसी और कालीयक (चन्दनभेद)—इनको पीसकर ठण्डा ही बिडालक लेप लगाना चाहिए॥ २३४॥

गैरिकं सैन्धवं मुस्तं रोचना च रसक्रिया। कफे कार्या तथा क्षौद्रं प्रियङ्गुः समनःशिला॥ २३५॥

कफज नेत्ररोग में बिडालक—(१) कफज नेत्ररोग में गैरिक, सेंधानमक, नागरमोथा और गोरोचन, इन सबको पीसकर गाढ़ा लेप (रसक्रिया) तैयार कर बिडालक लेप लगाना चाहिए। (२) इसी प्रकार मैनसिल तथा प्रियंगुपुष्प को पीसकर मधु मिलाकर लेप करना चाहिए॥ २३५॥

सन्निपाते तु सर्वैः स्याद् बहिरक्ष्णोः प्रलेपनम्। पक्ष्माण्यस्पृश्यता—

त्रिदोषज नेत्ररोग में बिडालक लेप—सन्निपातज नेत्ररोग में उन अलग-अलग दोषों से उत्पन्न नेत्ररोगों में बतलाये गये सभी बिडालक लेप के योगों को एकत्र पीसकर आँख के बाहर लेप करना चाहिए और बरौनियों पर लेप नहीं करना चाहिए।

—कार्यं सम्पक्वे त्वञ्जनं त्र्यहात्॥ २३६॥

नेत्ररोग में अञ्जन—जब नेत्ररोग में तीन दिन बाद दोष पक जाये तब अञ्जन करना चाहिए॥ २३६॥

वक्तव्य—अन्यत्र पक्व नेत्ररोग के लक्षण में यह कहा गया है कि जब बरौनियाँ साफ हों, उनमें कीचड़ न फँसे, नेत्र की सूजन और अश्रुपात न हो, वेदना में कमी हो जाये और खुजली मालूम होने लगे, तो नेत्ररोग (अभिष्यन्द) को सम्पक्व जानना चाहिए। पूर्व के श्लोक (२३१) में तरुण नेत्ररोग में दाह, कीचड़, अश्रु, शोथ तथा लालिमा के निवारण के लिए बिडालक लेप कहा गया है। उस कथन में जिन लक्षणों का उल्लेख किया गया है, वे लक्षण अभिष्यन्द रोग में होते हैं (जिसको बोलचाल की भाषा में आँख आना या आँख उठना कहते हैं)। अन्य लेप भी मुख्यतः उसी रोग को दृष्टिगत करके बतलाये गये हैं। अभिष्यन्द रोग बहुत से नेत्ररोगों का जनक होने से प्रधान नेत्ररोग है और उसकी चिकित्सा बिना विलम्ब के करनी चाहिए। यहाँ वर्णित योगों का प्रयोग तभी सफल हो सकता है, जब नेत्ररोगों का सम्यग् ज्ञान हो और उनके दोषज तथा अन्य लक्षणों को ध्यान में रखकर किसी औषध की योजना की जाय। नेत्ररोगों के अध्ययनार्थ इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ या सुश्रुतसंहिता के उत्तरतन्त्र के नेत्रवर्णन का सम्यक् अध्ययन तथा व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए।

आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः। कोष्णः सैरण्डतर्कारीबृहतीमधुशिग्रुभिः॥

वातज नेत्ररोग में आश्च्योतन—वातज नेत्ररोग में बिल्वादि पञ्चमूल (बेल, गम्भार, गनियार, पाढल और सोनापाठा), एरण्डमूल, जैंत, बड़ी कटेरी तथा मीठा सहिजन की छाल—इन सबका क्वाथ बनाकर हल्का गरम करके जब बर्दास्त करने लायक हो जाय, तब बूँद-बूँद करके आँख में टपकाना चाहिए॥ २३७॥

पृथ्वीकादार्विमञ्जिष्ठालाक्षाद्विमधुकोत्पलैः। क्वाथः सशर्करः शीतः पूरणं रक्तपित्तनुत्॥

पित्तज नेत्ररोग में आश्च्योतन—मँगरैला, दारुहल्दी, मजीठ, लाही, स्थलज मुलहठी, जलज मुलहठी और नीलकमल—इनका क्वाथ बनाकर शीतल करके चीनी मिलाकर नेत्र में आश्च्योतन करने से रक्तज तथा पित्तज नेत्ररोग दूर होते हैं॥ २३८॥

नागरत्रिफलामुस्तनिम्बवासारसः कफे। कोष्णमाश्च्योतनं—

कफज नेत्ररोग में आश्च्योतन—सोंठ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नागरमोथा, नीम की पत्ती और अरूसे की पत्ती का क्वाथ बनाकर, हल्का गरम करके कफज नेत्ररोग में आश्च्योतन करना चाहिए।

—मिश्रैरोषधैः सान्निपातिके॥ २३९॥

त्रिदोषज नेत्ररोग में आश्च्योतन—त्रिदोषज नेत्ररोग में अलग-अलग दोषों में बतलाये गये सभी क्वाथ्य द्रव्यों का एकत्र क्वाथ बनाकर आँख में डालना चाहिए॥ २३९॥

सम्पक्व नेत्ररोगों में उपचार

बृहत्येरण्डमूलत्वक् शिग्रोः पुष्पं ससैन्धवम्। अजाक्षीरेण पिष्टं स्याद्वर्तिर्वाताक्षिरोगनुत्॥ २४०॥

बृहत्यादि वर्ती—बड़ी कटेरी, एरण्ड के मूल की छाल, सहिजन का फूल और सेंधानमक—इन सबको समान भाग में लेकर बकरी के दूध में पीसकर वर्ती बनायें। इसे बकरी के या स्त्री के दूध में या पानी में घिसकर लगाना चाहिए। यह वातज नेत्ररोगों को दूर करता है॥ २४०॥

सुमनःकोरकाः शङ्खस्त्रिफला मधुकं बला। पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा॥ २४१॥

सुमनःकोरकादि वर्ती—चमेली की कलियाँ, शंख की भस्म, निर्बीज आँवला-हर्रा-बहेड़ा, मुलहठी और बरिआर के मूल की छाल—इन सबको समभाग में लेकर वर्षा के जल से पीसकर वर्ती बना लें। इसको घिसकर अञ्जन करने से नेत्र के रक्तज तथा पित्तज विकार नष्ट होते हैं॥ २४१॥

सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः। फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत्॥

सैन्धवादि वर्ती—सेंधानमक, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, शंखनाभि, समुद्रफेन, छरीला और राल—इन सबको पीसकर वर्ती बना लें। यह वर्ती कफज नेत्ररोग को नष्ट करती है॥ २४२॥

अमृताह्वा बिसं बिल्वं पटोलं छागलं शकृत्। प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वं दार्वी कालानुसारिवा॥ २४३॥
एषामष्टपलान् भागान् सुधौताञ्जर्जरीकृतान्। तोये पक्त्वा रसे पूते भूयः पक्त्वे रसे घने॥ २४४॥
कर्षं च श्वेतमरिचाज्जातीपुष्पान्नवात् पलम्। चूर्णं क्षिप्त्वा कृता वर्तिः सर्वघ्नी दृक्प्रसादनी॥

अमृताह्वादि वर्ती—गुरुच, कमल का दण्ड, बेल की छाल, परवर की पत्ती, बकरे का मल, पुण्डरिया काठ, जेठी मधु, दारुहल्दी और तगर—इनको समभाग में मिलित ८ पल की मात्रा में लेकर अच्छी तरह धोकर, कूटकर, फिर क्वाथ बनाकर छान लें। उस क्वाथ को पुनः पकाकर गाढ़ा करें और गाढ़ा हो जाने पर उसमें सहिजन के बीज का चूर्ण १ कर्ष और चमेली का ताजा फूल १ पल पीसकर डालें और अच्छी तरह घोटकर वर्ती बना लें। इस वर्ती को घिसकर नेत्र में लगाने से त्रिदोषज नेत्ररोग नष्ट होते हैं और दृष्टि स्वच्छ होती है॥ २४३-२४५॥

शङ्खप्रवालवैदूर्यलौहताम्रप्लवास्थिभिः। स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगनुत्॥ २४६॥

शंखादि वर्ती—शंख भस्म, मूँगे की भस्म, वैदूर्य भस्म, लौह भस्म, ताम्र भस्म, बत्तख की हड्डी का बारीक चूर्ण, सफेद सुर्मा और सहिजन का बीज—इन सबको समभाग लेकर अच्छी तरह पीसकर वर्ती बनायें। यह वर्ती नेत्र में लगाने से सभी नेत्ररोगों को दूर करती है॥ २४६॥

शाणार्धं मरिचाद्द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः। शाणार्धं सैन्धवाच्छाणा नव सौवीरकाञ्जनात्॥
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम्। कण्डूकाचकफार्तानां मलानां च विशोधनम्॥

चूर्णाञ्जन—मरिच आधा शाण, पीपर १ शाण, समुद्रफेन १ शाण, सेंधानमक आधा शाण और कालासुरमा ९ शाण—इन सबको एकत्र कर पहले काले सुरमे को बारी खरल करें, फिर अन्य द्रव्यों के निर्मित चूर्ण को मिलाकर चित्रा नक्षत्र में पीसकर, खरल कर, खूब महीन कर इस चूर्णाञ्जन को तैयार करें। यह बड़ा कल्याणकारी है। यह अञ्जन नेत्र की खुजली, काचरोग एवं कफज रोगों को दूर करता है तथा नेत्र के दोषों का प्रक्षालन करता है॥ २४७-२४८॥

बस्तमूत्रे त्र्यहं स्थाप्यमेलाचूर्णं सुभावितम्। चूर्णाञ्जनं हि तैमिर्यक्रिमिपिल्लमलापहम्॥ २४९॥

एला चूर्णाञ्जन—छोटी इलायची के चूर्ण को बकरे के मूत्र में तीन दिन तक भिगा लें, फिर सुखाकर चूर्ण कर रख लें। यह चूर्णाञ्जन प्रयोग करने से तिमिर, पक्ष्मक्रिमि और पिल्ल रोग को दूर करता है तथा नेत्रमल को दूर करता है॥ २४९॥

सौवीरमञ्जनं तुत्थं ताप्यो धातुर्मनःशिला। चक्षुष्या मधुकं लोहा मणयः पौष्पमञ्जनम्॥ २५०॥
सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा कतकं चाञ्जनं शुभम्। तिमिरादिषु चूर्णं वा वर्तिर्वेयमनुत्तमा॥ २५१॥

सौवीरादि चूर्णाञ्जन या वर्ती—काला सुरमा, शुद्ध तूतिया, सुवर्णमाक्षीक भस्म, शुद्ध मैनसिल, वनकुलथी, मुलहठी, लौहभस्म, मोती-वैदूर्य आदि मणियों की भस्में, पुष्पाञ्जन (सफेद सुरमा या जस्ते का फूल), सेंधानमक, सूअर की दाढ़ और निर्मली बीज—इन सबको महीन पीसकर उत्तम चूर्णाञ्जन तैयार करें अथवा वर्ती बना लें। यह चूर्णाञ्जन या वर्ती के रूप में बनाकर तिमिर आदि रोगों में प्रयोग करना चाहिए। यह अति उत्तम अञ्जन है॥ २५०-२५१॥

कतकस्य फलं शङ्खः सैन्धवं त्र्यूषणं सिता। फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिला॥ २५२॥
कुक्कुटाण्डकपालानि वर्तिरेषा व्यपोहति। तिमिरं पटलं काचं मलं चाशु सुखावती॥ २५३॥

इति सुखावती वर्तिः।

सुखावती वर्ती—निर्मलीबीज, शंखभस्म, सेंधानमक, सोंठ, मरिच, पीपर, मिश्री, समुद्रफेन, रसौत, मधु, वायविडंग, शुद्ध मैनसिल और मुर्गी के अण्डे का छिलका—इन सबको समान भाग लेकर, कपड़छन चूर्ण बनाकर मधु मिलाकर वर्ती बनायें। इसका नाम सुखावती वर्ती है। नेत्र में अञ्जन करने से यह वर्ती तिमिर, पटल, काचरोग तथा नेत्र के मल को शीघ्र दूर करती है॥ २५२-२५३॥

त्रिफलाकुक्कुटाण्डत्वक्कासीसमयसो रजः। नीलोत्पलं विडङ्गानि फेनं च सरितां पतेः॥ २५४॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत्ताम्रभाजने। सप्तरात्रं स्थितं भूयः पिष्ट्वा क्षीरेण वर्तयेत्॥ २५५॥
एषा दृष्टिप्रदा वर्तिरन्धस्याभिन्नचक्षुषः।

इति दृष्टिप्रदा वर्तिः।

दृष्टिप्रदा वर्ती—आँवला, हर्रा, बहेड़ा (सभी बीजरहित), मुर्गी के अण्डे का छिलका, कासीस भस्म, लौह भस्म, नीलकमल, वायविडंग और समुद्रफेन—इन सबको समान भाग में लेकर बारीक चूर्ण करके बकरी के दूध में घोंटकर ताम्रपात्र में सात दिन तक भावना दें। पुनः पीसकर बकरी के दूध में घोंटकर वर्ती बना लें। इसका नाम दृष्टिप्रदा वर्ती है। जिसके नेत्र की तारिका (पुतली) नष्ट न हुई हो, ऐसे अन्धे पुरुष को भी यह वर्ती दृष्टि प्रदान करती है॥ २५४-२५५॥

वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम्॥ २५६॥
ततस्तस्मात् समुद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेद् बुधः। सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च॥ २५७॥
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम्।

तिमिरघ्न अञ्जन—दक्ष बुद्धिमान् चिकित्सक काले अञ्जन को (मृत) सर्प के मुखगह्वर में एक महीने तक रख छोड़ें; फिर निकालकर चमेली की सूखी कली तथा सेंधानमक, इन दोनों को अञ्जन के वजन

से आधी-आधी वजन में लेकर सूखे हुए अञ्जन के साथ बारीक चूर्ण बना लें। यह तिमिर रोग को नष्ट करने वाला सबसे उत्तम चूर्णाञ्जन है॥ २५६-२५७॥

पिप्पल्यः किंशुकरसो वसा सर्पस्य सैन्धवम्॥ २५८॥
जीर्णं घृतञ्च सर्वाक्षिरोगघ्नी स्याद्रसक्रिया। कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं रसो धात्र्या रसक्रिया॥ २५९॥
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचार्बुदमलेषु च। धात्रीरसाञ्जनक्षौद्रसर्पिर्भिस्तु रसक्रिया॥ २६०॥
पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नी तैमिर्यपटलापहा। धात्रीसैन्धवपिप्पल्यः स्युरल्पमरिचाः समाः॥ २६१॥
क्षौद्रयुक्ता निहन्त्यान्ध्यं पटलं च रसक्रिया।

इति नेत्ररोगचिकित्सा।

नेत्ररोगों में रसक्रिया के कुछ योग : (१) पिप्पल्यादि रसक्रिया—पीपल, पलाश की छाल या पत्ती का रस, सर्प की चर्बी, सेंधानमक और पुराना घी—इन सबको समभाग लेकर, सूखी वस्तुओं का बारीक चूर्ण बनाकर सबको एक साथ घोंटकर गाढ़ा द्रव जैसी रसक्रिया बना लें। यह सभी नेत्ररोगों को नष्ट करती है। **(२) कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया**—काले सर्प की चर्बी, मधु और आँवले का रस—इन सबको खरल में घोंटकर गाढ़ा द्रव (रसक्रिया) बना लें। यह रसक्रिया सभी प्रकार के नेत्ररोगों में एवं काच, अर्बुद और नेत्र से मल निकलने में लाभप्रद है। (३) आँवले का रस, रसौत, मधु और गोघृत—इन सबको मिलाकर रसक्रिया तैयार करें। यह रक्त तथा पित्त से होने वाले नेत्ररोगों को दूर करती है और तिमिर एवं पटल के रोगों को दूर करती है। (४) आँवला, सेंधानमक और पीपर समभाग लेकर महीन पीस लें। उसमें थोड़ी-सी मरिच भी डालकर बारीक करें, फिर मधु मिलाकर रसक्रिया बना लें। इसके प्रयोग से अन्धता और पटल के रोग नष्ट हो जाते हैं॥ २५८-२६१॥

खालित्ये पलिते वल्यां हरिलोम्नि च शोधितम्॥ २६२॥
नस्यैस्तैलैः शिरोवक्त्रप्रलेपैश्चाप्युपाचरेत्। सिद्धं विदारीगन्धाद्यैर्जीवनीयैरथापि च॥ २६३॥
नस्यं स्यादणुतैलं वा खालित्यपलितापहम्। क्षीरात् सहचराद् भृङ्गराजाच्च सौरसाद्रसात्॥
प्रस्थैस्तु कुडवस्तैलाद्यष्ट्याह्वपलकल्कितः। सिद्धः शिलासमे भाण्डे मेषशृङ्गादिषु स्थितः॥
नस्यं स्याद्विषजा सम्यग्योजितं पलितापहम्। भिषजा क्षीरपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ॥
उत्पाट्य पलिते देयौ तावुभौ पलितापहौ। मार्कवस्वरसात् क्षीराद् द्विप्रस्थं मधुकात्पलम्॥
तैः पचेत् कुडवं तैलात् तन्नस्यं पलितापहम्।

खालित्य प्रभृति शिरोरोग चिकित्सा : (१) शिरोरोग चिकित्सासूत्र—खालित्य (शिर के बालों का झड़ना), पलित (बालों की सफेदी), वली (चेहरे पर झुर्रियाँ होना), हरिलोम (बालों का पीला होना)—इन रोगों में सबसे पहले वमन-विरेचन द्वारा रोगी के शरीर का शोधन करना चाहिए, फिर नासिका में नस्य दें, शिर में तैलों की मालिश करें तथा ललाट एवं चेहरे पर प्रलेप लगाकर उपचार करें।

(२) विदारीगन्धादि तैल—विदारीकन्द, मेढ़ासींगी, हल्दी, अनन्तमूल और गुरुच (वल्ली पञ्चमूल) तथा जीवनीयगण (अष्टवर्ग, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती एवं मुलहठी) की औषधों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध किया हुआ तैल या अणुतैल का नस्य देना चाहिए। यह नस्य खालित्य तथा पलित को दूर करता है।

(३) सहचरादि तैल—मुलहठी का कल्क १ पल, तिल का तैल १ कुडव; गोदुग्ध, कटसरैया का स्वरस, भृंगराज का स्वरस और तुलसी का स्वरस प्रत्येक १-१ प्रस्थ—इन सबको मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। तैयार होने पर इस तैल को पथरी में या मोटे शीशे वाले जार में या चीनी मिट्टी के पात्र में या भेड़ की सींग में रखें। वैद्यगण ठीक ढंग से इसका प्रयोग करें। यह पलित रोगनाशक नस्य है।

(४) दुग्धिका योग—वैद्य को चाहिए कि पलित रोगी के शिर के बालों को उखाड़कर या अस्तूरे से छिलवा कर दुद्धी घास और कनइल के मूल की छाल को पीसकर लेप लगवायें। ये दोनों पलित को दूर करते हैं।

(५) भृङ्गराज तैल—मुलहठी का कल्क १ पल, तिल का तैल १ कुडव, भँगरैया का स्वरस १ प्रस्थ तथा गाय का दूध १ प्रस्थ लेकर सबको मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। इसका नस्य पलितरोगनाशक है॥ २६२-२६७॥

आदित्यवल्ल्या मूलानि कृष्णसैरेयकस्य च॥ २६८॥
सुरसस्य च पत्राणि पत्रं कृष्णशणस्य च। मार्कवः काकमाची च मधुकं देवदारु च॥ २६९॥
पृथग्दशपलांशानि पिप्पल्यस्त्रिफलाऽञ्जनम्। प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरूत्पलम्॥
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो मृणालं रक्तचन्दनम्। नीली भल्लातकास्थीनि कासीसं मदयन्तिका॥
सोमराज्यसनः शस्त्रं कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ। पुष्करार्जुनकाश्मर्याण्याम्रजम्बूफलानि च॥
पृथक् पञ्चपलांशानि तैः पिष्टैराढकं पचेत्। बैभीतकस्य तैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम्॥ २७३॥
कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः। लोहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत्॥ २७४॥
पाने नस्यक्रियायां च शिरोऽभ्यङ्गे तथैव च। एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत्॥ २७५॥
महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम्।

इति महानीलतैलम्।

महानील तैल—सूरजमुखी का मूल, काली कटसरैया का मूल, तुलसी की पत्ती, काले फूल वाले सन की पत्ती, भृङ्गराज, मकोय, मुलहठी और देवदारु—इनमें से प्रत्येक द्रव्य १०-१० पल की मात्रा में लें। पीपर, निर्बीज आँवला-हर्रा-बहेड़ा, काला सुरमा, पुण्डरियाकाठ, मजीठ, लोध, काला अगर, नीलकमल, आम की गुठली, काला कीचड़, कमलदण्ड, लालचन्दन, नील का बीज, भिलावा की गुठली, कासीस, मेंहदी का बीज, बाकुची का बीज, विजयसार, लोहे का बुरादा, काला मदनफल और काला चित्रक, पोहकरमूल, अर्जुन की छाल, गम्भार की छाल, आम और जामुन के फल—इन प्रत्येक द्रव्यों को ५-५ पल लेकर, इनको तथा पूर्वोक्त सूरजमुखी आदि को कूट-पीसकर कल्क बना लें। उक्त कल्क को १ आढक बिभीतक (बहेड़ा) तैल तथा ४ आढक आँवले का स्वरस डालकर किसी लोहे के कड़ाहे में रखकर धूप में रख छोड़ें। जब धूप से आँवले का स्वरस सूख जाये तब छानकर सुरक्षित रख लें।

प्रयोग और फल—इसे पीने के लिए, नस्य लेने के लिए और शिर में मालिश करने के लिए प्रयोग करना चाहिए। यह नेत्रों के लिए हितकर है, आयु की वृद्धि करता है और शिर के सभी रोगों को दूर करता है! यह तैल 'महानील तैल' के नाम से प्रख्यात है तथा पलित रोग को नष्ट करने में इससे श्रेष्ठ कोई औषध नहीं है॥ २६८-२७५॥

प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः॥ २७६॥
कार्षिकैस्तैलकुडवो द्विगुणामलकीरसः। सिद्धः स प्रतिमर्शः स्यात् सर्वमूर्धगदापहः॥ २७७॥
(पलितघ्नो विशेषेण कृष्णात्रेयेण भाषितः।)

प्रपौण्डरीकादि तैल—पुण्डरिया काठ, मुलहठी, पीपर, लालचन्दन और नीलकमल—प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर चूर्ण कर कल्क बना लें तथा तिल का तैल १ कुडव और तैल से दूना आँवले का स्वरस—इन सबको मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। इसका प्रतिमर्श नस्य के रूप में प्रयोग करने से सभी तरह के शिरोरोग दूर होते हैं। (विशेषकर इस तैल को कृष्णात्रेय ने पलितरोगनाशक कहा है)॥ २७६-२७७॥

वक्तव्य—उक्त योग में अन्तिम श्लोकार्द्ध कई संस्करणों में नहीं मिलता है। नस्य के प्रतिमर्श, अवपीड, नस्य, प्रधमन और शिरोविरेचन—ये पाँच भेद होते हैं। प्रतिमर्श प्रतिदिन लिया जाना चाहिए। इसमें रोगी को सुलाकर इसके नाक में दवा डाली जाती है और सूँघने के लिए कहा जाता है तथा सूँघने से जब औषध मुख में चली जाये, तो यह इसकी मात्रा मानी जाती है। इस नस्य में कोई दोष नहीं होता—"ईषदुच्छिङ्गनात् स्नेहो यावद् वक्त्रं प्रपद्यते। नस्तो निषिक्तस्तं विद्यात् प्रतिमर्षं प्रमाणतः। प्रतिमर्षश्च नस्यार्थं करोति न च दोषवान्॥" (परिभाषा-प्रदीप ४।६०)

क्षीरं प्रियालयष्ट्याह्वे जीवकाद्यो गणस्तिलाः। कृष्णा वक्त्रे प्रलेपः स्याद्धरिलोमनिवारणः॥

प्रियालादि प्रलेप—दूध, चिरौंजी, मुलहठी, जीवकादि गण (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलहठी) की औषधें, काला तिल और पीपर—इनको समभाग में लेकर पीसकर शिर के भूरे बन्दर की तरह लाल बालों को लिप्त करने से बाल काले हो जाते हैं॥ २७८॥

तिलाः सामलकाश्चैव किञ्जल्को मधुकं मधु। बृंहयेद्रञ्जयेच्चैतत् केशान्मूर्धप्रलेपनात्॥ २७९॥

तिलादि योग—काले तिल, निर्बीज आँवला, कमल की धूल या केशर और मुलहठी के चूर्ण को मधु मिलाकर बालों में लगाने से बाल बढ़ते हैं और काले हो जाते हैं॥ २७९॥

पचेत्सैन्धवशुक्ताम्लैरयश्चूर्णं सतण्डुलम्। तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमुषितं निशि॥ २८०॥
तत् प्रातस्त्रिफलाधौतं स्यात् कृष्णमृदुमूर्धजम्। अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च सद्यः सत्रिफलो वरः॥

पलितनाशक लौह योग—(१) लोहे की भस्म या बारीक चूर्ण, सेंधानमक, चावल का चूर्ण, सिरका, नीबू का रस आदि अम्ल पदार्थों को साथ-साथ कड़ाही में डालकर पकायें और गाढ़ा द्रव तैयार करें। फिर सिर को धोकर बिना तैल लगाये ही इस लेप को रात में लगाकर सो जायें। प्रातःकाल त्रिफला के क्वाथ से शिर को धो डालें। इस प्रयोग से शिर के बाल काले और मुलायम हो जाते हैं। (२) लोहे के बुरादे को सिरका आदि अम्ल पदार्थों से पीस लें और उसमें त्रिफला का क्वाथ मिला दें। यह घनद्रव सफेद बालों को काला करता है॥ २८०-२८१॥

कुर्याच्छेषेषु रोगेषु क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात्। शेषेष्वादौ च निर्दिष्टा सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते॥
इति खालित्यादिचिकित्सा।

अवशिष्ट रोग चिकित्सा-निर्देश—यहाँ वर्णित रोगों के अतिरिक्त (पीनस के उपद्रव के रूप में उत्पन्न ज्वर-कास-शोष-रक्तपित्त आदि) रोगों की चिकित्सा उन-उन रोगों के चिकित्साध्याय में जो कथित है, तदनुसार ही करनी चाहिए। जिन त्रिमर्मज रोगों का यहाँ कथन नहीं किया गया है, उनकी चिकित्सा भी वही है, जो यहाँ त्रिमर्मज रोगों के प्रसंग में कही गयी है। और भी चिकित्सा आगे सिद्धिस्थान के त्रिमर्मीया सिद्धि नामक अध्याय में कही जायेंगी॥ २८२॥

स्वरभेद-चिकित्सा

सर्पींष्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके। तैलैश्चतुष्प्रयोगैश्च बलारास्नामृताह्वयैः॥ २८३॥

वातज स्वरभेद-चिकित्सासूत्र—वातज स्वरभेद में भोजन के पूर्व घृतपान कराना चाहिए और बला तैल, रास्ना तैल तथा अमृता तैल का पान, अभ्यंग, नस्य एवं कवल धारण के रूप में प्रयोग कराना चाहिए॥ २८३॥

वक्तव्य—यहाँ स्वरभेद का विशेष वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि पूर्व में राजयक्ष्मचिकित्सित अध्याय में विशेष कथन कहा गया है। यहाँ जिन बला आदि तैलों का उल्लेख किया गया है, वे सब अग्रिम २८वें अध्याय में वर्णित किये जायेंगे।

बर्हितित्तिरिदक्षाणां पञ्चमूलश्रृतान् रसान्। मायूरं क्षीरसर्पिर्वा पिबेत् त्र्यूषणमेव वा॥ २८४॥

वातज स्वरभेद-चिकित्सा—वातज स्वरभेद में लघु पञ्चमूल (सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी और गोखरू) के षडंगपरिभाषा के अनुसार निर्मित जल में पकाये गये मोर, तीतर और मुर्गे के मांसरस का सेवन कराना चाहिए अथवा (शिरोरोग में वर्णित) मायूर घृत (राजयक्ष्माचिकित्सा में वर्णित) क्षीर घृत या (कासचिकित्सा में कथित) त्र्यूषणघृत का सेवन कराना चाहिए॥ २८४॥

पैत्तिके तु विरेकः स्यात् पयश्च मधुरैः श्रृतम्। सर्पिर्गुडा घृतं तिक्तं जीवनीयं वृषस्य वा॥ २८५॥

पित्तज स्वरभेद-चिकित्सा—पित्तज स्वरभेद में विरेचन कराना चाहिए। मधुरगण की औषधों से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए, (क्षतक्षीणचिकित्सा में कथित) सर्पिःगुड़ या (कुष्ठचिकित्सा में कथित) तिक्तघृत या (वातरक्त में पठनीय) जीवनीय घृत अथवा (रक्तपित्तचिकित्सा में कथित) वासा घृत का सेवन कराना चाहिए॥ २८५॥

कफजे स्वरभेदे तु तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम्। विरेको वमनं धूमो यवान्नकटुसेवनम्॥ २८६॥
चव्यभार्ग्यभयाव्योषक्षारमाक्षिकचित्रकान्। लिह्याद्वा पिप्पलीपथ्ये तीक्ष्णं मद्यं पिबेच्च सः॥

कफज स्वरभेद-चिकित्सा—(१) कफज स्वरभेद में तीक्ष्ण शिरोविरेचन नस्य, विरेचन, वमन और धूमपान कराना चाहिए। पथ्य में यव के बने आहार और कटुरस वाले पदार्थों का सेवन कराना हितकर है। (२) चाभ, भारंगी, निर्बीज हर्रे, सोंठ, मरिच, पीपर और यवाखार—इनके समभाग चूर्ण को मधु मिलाकर चाटना चाहिए अथवा (३) पीपर और बिना बीज की हर्रे समभाग का चूर्ण मधु मिलाकर चाटना चाहिए। (४) मद्यप व्यक्ति तीक्ष्ण मद्य का पान करें॥ २८६-२८७॥

रक्तजे स्वरभेदे तु सघृता जाङ्गला रसाः। द्राक्षाविदारीक्षुरसाः सघृतक्षौद्रशर्कराः॥ २८८॥
यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्च सर्वं चिकित्सितम्। पित्तजस्वरभेदघ्नं सिरावेधश्च रक्तजे॥ २८९॥

रक्तज स्वरभेद-चिकित्सा—रक्तज स्वरभेद रोग में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस में घी मिलाकर खाने को देना चाहिए एवं घी, मधु और चीनी मिलाकर मुनक्के का क्वाथ या अंगूर का रस, विदारीकन्द का रस या गन्ने का रस पीने के लिए देना चाहिए। इसी प्रकार क्षयज कासनाशक तथा पित्तज स्वरभेदनाशक औषधों का प्रयोग करना चाहिए एवं सिरा का व्यध करके रक्तमोक्षण करना चाहिए॥ २८८-२८९॥

सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराव्यधः। इत्युक्तं स्वरभेदस्य समासेन चिकित्सितम्॥
इति स्वरभेदचिकित्सा।

सन्निपातज स्वरभेद-चिकित्सा—तीनों दोषों से उत्पन्न स्वरभेद में वे सभी चिकित्सा के प्रकार लाभदायक होते हैं, जो अलग-अलग दोषों से उत्पन्न हुए स्वरभेदों में कहे गये हैं, किन्तु उसमें सिरावेध नहीं करना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में स्वरभेद की चिकित्सा बतला दी गयी॥ २९०॥

भवन्ति चात्र

वातपित्तकफा नृणां बस्तिहृन्मूर्धसंश्रयाः। तस्मात्तत्स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः॥ २९१॥

त्रिमर्मीय रोगों में दोषानुसार शोधन—वातदोष मुख्यतः मनुष्यों के बस्तिप्रदेश में रहता है, पित्त हृदयप्रदेश में और कफ शिर में रहता है। इसलिए इन दोषों के स्थान की समीपता के आधार पर वात में बस्ति, पित्त में विरेचन और कफ में वमन कराकर दोषसंशोधन करना चाहिए॥ २९१॥

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः। पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा॥ २९२॥

वात-पित्त-कफ के द्विविध कार्य—(इस सूत्र में लोक के साथ पुरुष की समता बतलायी गयी है) जिस प्रकार विकृत वायु, विकृत सूर्य और विकृत चन्द्रमा अपने दुष्प्रभावों से लोक को उत्पीड़ित करते हैं और जब वे अपनी अविकृत (स्वाभाविक) स्थिति में होते हैं, तो जगत् का धारण एवं समुचित संचालन तथा नियमन करते हैं, उसी प्रकार शरीरस्थ वात-पित्त-कफ भी जब विकृत होते हैं, तो शरीर को अनेक प्रकार के रोगों के द्वारा पीड़ाग्रस्त बना देते हैं तथा जब वे स्वस्थ एवं अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं, तो शरीर की समस्त क्रियाओं का समुचित सञ्चालन करते हैं तथा शरीर का धारण करते हैं॥ २९२॥

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिव॥ २९३॥

दोषों के परस्परं अनुपघातक होने में उदाहरण—दोष एक-दूसरे के विरोधी गुणवाले होते हैं, जैसे कफ के स्नेह, पिच्छिल और गुरु गुण-वात के रूक्ष, लघु आदि गुणों के विपरीत हैं, तो इनमें परस्पर एक-दूसरे विपरीत गुणों के होते हुए मिल-जुल कर कार्य करने की क्षमता कैसे आती है, जिससे ये त्रिदोषज रोगों को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं तथा समरूप में कैसे रह पाते हैं? इस प्रश्न के समाधान के लिए यह सूत्र कहा गया है—वातादि दोष परस्पर गुण में विपरीत होने पर भी एक-दूसरे के गुण को उसी प्रकार नष्ट नहीं करते हैं, जैसे महाभयङ्कर विष जो सर्प के शरीर में ही उपस्थित रहता है। वह सर्प का अहित नहीं करता, क्योंकि वह सर्प का सहजन्मा है।

(सर्प तथा विष की उत्पत्ति एक काल में हुई है, अतः सर्प के लिए विष सात्म्य होने से (अनुकूल पड़ जाने से) अनुपघातक होता है। यह सहज सात्म्यता स्वाभाविक होती है और अचिन्त्य है। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध गुण वाले वात, पित्त तथा कफ भी परस्पर सात्म्य होने से एक दूसरे के लिए हानिकर न होकर संयुक्त रूप से कार्य करते हुए देखे जाते हैं)॥ २९३॥

वक्तव्य—अन्यत्र दैवयोग से या दोषों के स्वभाव के कारण सन्निपात की अवस्था में परस्पर विरुद्ध गुणों से भी दूसरे का नाश नहीं होता। 'दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सन्निपातिके। विरुद्धैः स्वगुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम्।' इस विषय का विस्तृत विवेचन माधवनिदान के ज्वरनिदान में सन्निपात ज्वर के 'मधुकोष' में द्रष्टव्य है।

तत्र श्लोकः—

त्रिमर्मजानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम्। विस्तरेण पृथग्दिष्टं त्रिमर्मीये चिकित्सिते॥ २९४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने त्रिमर्मीयचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

उपसंहार—इस 'त्रिमर्मीयचिकित्सित' नामक अध्याय में हृदय, बस्ति और शिर, इन तीनों मर्मों में होने वाले रोगों के निदान, लक्षण और औषध का वर्णन अलग-अलग विस्तारपूर्वक कहा गया है॥ २९४॥

वक्तव्य—आगे चलकर सिद्धिस्थान के नवें अध्याय (त्रिमर्मीयसिद्धि) में पुनः त्रिमर्म सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया जायेगा।

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'त्रिमर्मीयचिकित्सित' नामक छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २६॥

त्रिमर्मीय रोग चिकित्साक्रम-बोधक-सारणी

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
	उदावर्त रोग	
उदावर्त रोग—शरीर में ज्वरचिकित्सा में कथित अगुर्वादि तैल की मालिश करके वातघ्न औषधों से स्वेदन करें और जब दोष द्रवीभूत हो जाय, तो उसे निकालने के लिए वर्ति प्रयोग (गुदा में बत्ती लगाना), निरूह-बस्ति, स्नेह-प्रयोग विरेचनप्रयोग और वायु को अनुलोम करने वाला आहार देना चाहिए। **दोषानुसार बस्ति योग**–१. यदि वायु की अधिकता हो, तो अम्ल तथा लवण के साथ तैल की बस्ति दें। २. पित्त की प्रधानता हो, तो दूध की बस्ति दें। ३. कफ की प्रधानता में गोमूत्र के साथ बस्ति देनी चाहिए। निरूह-बस्ति मल-मूत्र एवं वायु की रुकावट को दूर करती है।	**उदावर्तनाशक वर्तियाँ**—गुदाप्रदेश में तथा वर्ती में घी लगाकर १. श्यामादि गुदवर्ती, २. पिण्याक वर्ती, ३. क्रिमिघ्नादि वर्ती तथा ४. पिप्पल्यादि वर्ती का प्रयोग करना चाहिए। ५. इसी तरह गुदा को स्निग्ध कर उसमें श्यामादि प्रधमन तथा रक्षोघ्नादि प्रधमन चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। ६. यदि उक्त वर्ति और प्रधमन चूर्णों का प्रयोग विफल हो जाय, तो रोगी के शरीर का स्नेहन-स्वेदन करके वमन-विरेचनकारक औषधों के कल्क तथा गोमूत्र, तैल, क्षार, अम्ल आदि वातनाशक द्रव्यों से बनायी गयी निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ७. यदि निरूहबस्ति देने के बाद भी उदावर्त ठीक न हो तो गोमूत्र, प्रसन्ना, दधिमण्ड या शुक्त के साथ विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। ८. रूक्षता के कारण वायु एवं मल की रुकावट हो, तो अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। **चूर्ण प्रयोग**—९. **द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण**—इस चूर्ण को ३-४ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार गरम पानी से देना चाहिए। यह उदावर्त, आनाह एवं गुल्म की सिद्ध औषध है। १०. **वचादि चूर्ण**—इसे ३ ग्राम की मात्रा में गरम जल से दिन में ३ बार दें। यह उदावर्त, आनाह एवं विमूढ़वात-नाशक है। ११. **हिंगूग्रगन्धादि चूर्ण**—३-४ ग्राम की मात्रा में गरम जल से दिन में ३-४ बार देने से उदर रोग, अर्जीण एवं विशूचिकानाशक है। १२. **घृत**—अधोवायु के अवरोध में स्थिरादि घृत अकेले या आहार द्रव्यों के साथ प्रयोग करें। १३. **फलमूलादि लवण**—उदावर्त एवं आनाह के कारण उत्पन्न उदरशूल के शमनार्थ इसका प्रयोग करना चाहिए।	जौ की रोटी, सफेद निशोथ, सेंहुड़, तिल की पत्ती आदि का शाक, बकरे का मांस, मछली एवं आनूप जीवों का मांस खिलाना चाहिए। मद्य के स्वच्छ भाग (प्रसन्ना) का सेवन, गुड़ का सेवन एवं सीधु (गन्ने के रस का बना सिरका) का पान करना चाहिए।
	आनाह रोग	
चिकित्सासूत्र—आम दोषजन्य आनाह रोग में वमन, लंघन और पाचन का प्रयोग करना चाहिए।	दूध के साथ या मांसरस के साथ या त्रिफला क्वाथ के साथ या मूँग के यूष के साथ या गोमूत्र या मदिरा के साथ वातादि दोषों का विचार कर रोगी को एरण्ड तैल उचित मात्रा में रोगी के दोष एवं बल के अनुसार पिलाना चाहिए।	पूर्वोक्त उदावर्त रोग के समान पथ्य देना चाहिए।

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
	मूत्रकृच्छ्र	
वातज मूत्रकृच्छ्र में वातहर तैलों का अभ्यंग, उनसे स्नेहन, निरूहबस्ति, पुल्टिस बाँधना, उत्तरबस्ति देना और वातहर द्रव्यों के क्वाथों से परिसेचन करना चाहिए। **पित्तज** मूत्रकृच्छ्र में शीतद्रव्यों के क्वाथ से परिसेचन, उस क्वाथ में अवगाहन, शीतस्पर्श वाले द्रव्यों का प्रदेह एवं ग्रीष्म ऋतुचर्या के अनुसार आहार-विहार करना चाहिए। **कफज** मूत्रकृच्छ्र में क्षार, उष्ण, तीक्ष्ण एवं कटुरस वाले अन्नपान का सेवन करना हितकर है। स्वेदन का प्रयोग और निरूहबस्ति देनी चाहिए। **समवृद्ध त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र** में वायु के स्थान का विचार करते हुए चिकित्सा करें। वात की प्रधानता में बस्ति का प्रयोग, पित्त-प्रधानता में विरेचन, कफ-प्रधानता	**वातज मूत्रकृच्छ्र—** १. रोगी के बल के अनुसार उचित मात्रा में 'पुनर्नवादि मिश्रक स्नेह' पिलाने से शूलयुक्त वातज मूत्रकृच्छ्र शान्त हो जाता है। २. पुनर्नवा, दशमूल, तीसी, सरसों, तिल आदि पीसकर बस्तिस्थान में पुल्टिस बाँधनी चाहिए। **पित्तज मूत्रकृच्छ्र—** १. 'शतावर्यादि क्वाथ' इस क्वाथ में मधु और चीनी मिलाकर पिलाना चाहिए। २. कमलपुष्प, सिंघाड़ा, विदारीकन्द के मूल का क्वाथ मधु-चीनी के साथ पिलायें। ३. ककड़ी बीज, खीरा बीज, कुसुम्भ बीज, नागकेसर, अरूस की पत्ती, इनका क्वाथ अंगूर का रस मिलाकर पिलाना चाहिए। **कफज मूत्रकृच्छ्र—** १. व्योषादि चूर्ण २ ग्राम दिन में ३-४ बार मधु और गोमूत्र से पीना चाहिए। २. छोटी इलायची का चूर्ण आधा ग्राम मधु के साथ सेवन करें, फिर केले का या बकायन की पत्ती का स्वरस पीना चाहिए। ३. शितिवार के बीज का चूर्ण मिलाकर मट्ठा पीना चाहिए। ४. प्रवालपिष्टी २ रत्ती तण्डुलोदक से दें। ५. सप्तच्छदादि क्वाथ पीने के लिए देना चाहिए। **अश्मरी एवं शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र—** १. 'पाषाणभेदादि चूर्ण' २-४ ग्राम की मात्रा में दिन में ३-४ बार जल से प्रयोग करें। यह अश्मरी का भेदन करता है।	पथ्य में लघु पंचमूल एवं अन्य वातहर द्रव्यों से सिद्ध जल में पकाया हुआ मांस रस तथा वातहर अन्नों का सेवन करना चाहिए। पथ्य में अंगूर का रस, विदारीकन्द का स्वरस, गन्ने का रस और घृत का सेवन करना चाहिए। अगहनी चावल का भात व दूध खाना चाहिए। पथ्य में जौ की रोटी, मट्ठा खाना चाहिए। तिक्त वर्ग की औषधों से सिद्ध तैल पिलायें। **यवागू**—छितवन एवं अमलतास की छाल, करमी, छोटी लाइची, धव की छाल, करंज की छाल, कोरया की छाल और गुरुच सम भाग लेकर षडंग पानीय विधि से जल तैयार कर उसमें पकाया हुआ यवागू खाने के लिए दें।

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
प्रधानता में वमन कराना चाहिए। **अश्मरी एवं शर्करा-जन्य मूत्रकृच्छ्र** में मूत्र-कृच्छ्रनाशक जो उपचार कहे गये हैं, उनका प्रयोग करें तथा अश्मरी के भेदन तथा पातन के लिए यहाँ बतलाये गये औषध योगों का प्रयोग करें। निगद नामक मद्य को पीकर तेज सवारी पर—रथ, ताँगा या तेज घोड़े पर यात्रा करें। शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में जिस दोष की प्रधानता हो तदनुसार चिकित्सा करें। शुक्राशय के शोधन के लिए उत्तरबस्ति देनी चाहिए। शुक्रनिरोधज मूत्र-कृच्छ्र में रोगी को बाजीकरण औषधों से तृप्त कर प्रिय एवं अनुकूल स्त्रियों के साथ मैथुन करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।	२. पाषाणभेदादि चूर्ण का कल्क तथा चतुर्गुण गोमूत्र डालकर पकाया हुआ घृत सेवन करें। ३. गोक्षुरादि योग—गोखरू, तालमखाना, एरण्ड, छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी के मूल को समान भाग लेकर दूध में पीसकर, दही में घोलकर मधुर द्रव्यों के साथ सात दिन तक पीने से अश्मरी का भेदन एवं पातन हो जाता है। ४. पुनर्नवा, लौहभस्म, हल्दी, गोखरू, कुश का मूल और गूलर की कोमल पत्ती को दूध, जल, मदिरा और गन्ने के रस के साथ पीसकर पीना अश्मरी एवं शर्करा में हितकर है। ५. त्रुट्यादि चूर्ण को मद्य या यूष के साथ सेवन करें। ६. यवाखार और चीनी समभाग में मिलाकर पीना सभी मूत्रकृच्छ्रों में हितकर है। ७. सहिजन के मूल का कल्क जल से पीना चाहिए। ८. कार्पासमूलादि योग के द्रव्यों का क्वाथ बनाकर **वातज** अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में देना चाहिए। **पित्तज** में कार्पासादि योग के द्रव्यों को तथा क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध पिलायें या उनसे ही पकाया घृत पिलायें। **कफज** में इन्हीं औषधों से षडंग परिभाषानुसार सिद्ध जल में यूष बनाकर पिलायें। **रक्तज मूत्रकृच्छ्र में—** १. पीने के लिए—नीलकमल पुष्प, तालफल, कासमूल, इक्षुमूल और कसेरू के समभाग का क्वाथ दें। चूसने को गन्ना और खाने के लिए विदारीकन्द का चूर्ण और खीरा देना चाहिए। २. श्वदंष्ट्रादि घृत—घी के बराबर गोखरू का स्वरस और आठगुना गोदुग्ध मिलाकर पकाया गया घी दें या लघु पंचमूल सिद्ध या कतकादि वर्ग के स्वरस या कल्क से सिद्ध घृत का सेवन करायें। मधुरगण की औषधों या जीवनीय औषधों के क्वाथ के साथ तिल, बादाम, अखरोट या महुआ का तैल और दूध मिलाकर उत्तरवस्ति देनी चाहिए। पित्तज मूत्रकृच्छ्र में विहित औषधों एवं चिकित्साओं का प्रयोग रक्तज मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है।	पथ्य में पूर्वोक्त पदार्थों के साथ शिग्रु-यूष भी दें—सहिजन के मूल का कल्क घी-तैल में भूनकर उसका यूष बनाकर फिर दही का पानी और सेंधा-नमक मिलाकर इच्छानुसार पिलायें पुराना मद्य या मधू-कासव पिलाना चाहिए। रोगी के बृंहणार्थ पक्षियों का मांसरस खिलाना चाहिए। **अपथ्य—** व्यायाम, वेगा-वरोध, शुष्क, रूक्ष, पिष्टान्न सेवन, धूप सेवन, मैथुन, खजूर, कैथ, जामुन के फल एवं कषाय रस का सेवन निषिद्ध है।

उपचार	औषध
	हृद्रोग चिकित्सा
वातज हृद्रोग चिकित्सासूत्र— व्यायाम या अन्य श्रम-जनक कार्यों से विराम, वातनाशक मृदु उपचार तथा तैल-घृतों का सेवन करना चाहिए।	**वातज हृद्रोग में**— १. सौवीर, दही का पानी, मट्ठा और नमक से सिद्ध तैल पीना चाहिए या गोमूत्र, अम्लकांजी एवं नमक से सिद्ध तैल पीना चाहिए। २. पुनर्नवादि तैल—वृहत् पंचमूल, गदहपुर्ना मूल, देवदारु, रास्ना, जौ, बेल की गुद्दी, कुलथी और खट्टी बेर, इनके क्वाथ तथा कल्क से तिलतैल का विधिवत् पाक करें। इसका अभ्यंग और पान करना चाहिए। ३. हरीतक्यादि घृत—हर्रे, सोंठ, पोहकरमूल, गुरुच, आँवला, सेंधानमक और हींग का कल्क बनाकर, घृत में मिलाकर घृत से चतुर्गुण जल डालकर विधिवत् घृतपाक करें। यह घृत वातज हृदयशूल एवं पार्श्वशूल को नष्ट करता है। ४. पुष्करमूलादि कल्क—इस कल्क में जवाखार का जल, गोघृत और सेंधानमक मिलाकर पीना चाहिए। ५. पुष्करमूलादि क्वाथ—इस क्वाथ में सोंठ, जीरा, मीठा बच, जवायन, यवक्षार और नमक का प्रक्षेप देकर गरम-गरम पीना चाहिए। ६. पथ्यादि कल्क—हर्रे, कचूर, पोहकरमूल, पंचकोल (पीपर, पिपरा-मूल, चाभ, चीता, सोंठ) और बिजौरा नीबू का मूल, इनका कल्क बनाकर घी और तैल में भूनकर गुड़, प्रसन्ना और नमक के साथ सेवन करना चाहिए। ७. त्र्यूषणादि घृत—१-२ कर्ष की मात्रा में दूध से पीना चाहिए।
पित्तज हृद्रोग चिकित्सासूत्र— शीतल द्रव्यों का प्रलेप, परिसेचन, मुनक्का, मिश्री, फालसा के रस एवं मधु के साथ विरेचन द्रव्य खिलायें और विरेचन के बाद पित्त-नाशक आहार दें।	**पित्तज हृद्रोग में**— १. मुलहठी और कुटकी के कल्क का शर्बत पिलायें। २. क्षीणक्षत रोग में कथित सर्पिर्गुड योगों का सेवन करें। ३. गोदुग्ध एवं जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस का प्रयोग करें। ४. द्राक्षाद्य घृत, कशेरुकाद्य घृत, स्थिरादि क्षीरसिद्ध घृत, स्थिरादि द्राक्षा-रससिद्ध घृत तथा स्थिरादि इक्षुरससिद्ध घृत का प्रयोग करें।
कफज हृद्रोग चिकित्सासूत्र— स्वेदन, वमन और उपवास आदि कफघ्न उपचार करें। जांगल मांसरस एवं कुल्थी के यूष के साथ जौ की रोटी एवं तीक्ष्ण द्रव्यों से सिद्ध जल का सेवन करें।	**कफज हृद्रोग में**— १. कट्फलादि शीतकषाय का गोमूत्र में शीतकषाय बनाकर प्रयोग करें। २. कृष्णादि चूर्ण का गोमूत्र के साथ प्रयोग करें। ३. उदुम्बरादि लेह गरम जल से सेवन करें। ४. शिलाजीत, च्यवनप्राश, अगस्त्यहरीतकी और ब्राह्मीरसायन का प्रयोग करें। इनकी मात्रा रोगी के बल के अनुसार दें।

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
त्रिदोषज हृद्रोग चिकित्सासूत्र—प्रथम लंघन करायें। दोषों के हीन, मध्य एवं अधिक होने की स्थिति को देखकर अन्नपान का सेवन करायें। जब वायु की गति अवरुद्ध हो एवं वायु आमाशय में रुक जाता हो, तो शोधन, पाचन एवं लंघन कराकर वायु के अवरोध को दूर करे।	**त्रिदोषज हृद्रोग में**— १. जब हृदय रोगी को भोजन के बाद अधिक भोजन पचते समय अल्प या भोजन के पूर्णतः पच जाने पर शान्त होने वाला शूल हो तो देवदारु, कूठ, लोध, सेंधानमक, सोंचरनमक, विडंग और अतीस का चूर्ण गरम जल से दें। २. आहार के जीर्ण हो जाने पर होने वाले शूल में एरण्ड तैल आदि स्नेह विरेचन दें। ३. जब भोजन के पचते समय शूल अधिक हो, तो मुनक्का आदि एवं फलों के रस के साथ विरेचन औषध का सेवन करायें। ४. आहार ग्रहण कर लेने पर, आहार के पचते समय एवं पूर्णतः पच जाने पर, इन तीनों कालों में शूल हो, तो निशोथ चूर्ण का विरेचन दें।	
कृमिज हृद्रोग चिकित्सासूत्र– कृमिज हृद्रोग में लंघन, पाचन आदि कर्म तथा कृमिघ्न औषधों का प्रयोग करें।	**कृमिज हृद्रोग में**— कृमिज हृद्रोग में विडंगचूर्ण, करंज बीज चूर्ण या पलाशबीज चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। भोजनोत्तर विडङ्गारिष्ट पिलाना चाहिए।	
	पीनस या प्रतिश्याय तथा अन्य नासारोग	
वातज प्रतिश्याय चिकित्सासूत्र— यदि वातज पीनस के रोगी को कास और स्वरभेद भी हो, तो उसे गरम गोघृत में यवाखार मिला कर पिलाना चाहिए। गरम मांसरस या गरम दूध दें तथा स्नैहिक धूम्रपान कराना चाहिए।	**वातज प्रतिश्याय में**— १. वातज प्रतिश्याय में, शताह्वादि धूम्रवर्ती को घी में स्निग्ध कर उसका धूम्रपान करायें। अथवा— २. केवल सौंफ पीसकर, वर्ती बनाकर, मोम, घी और चरबी के साथ धूम्रपान करायें। ३. नये प्रतिश्याय में जौ के सत्तू को घी में मिलाकर चिलम पर रखकर धूम्रपान करायें। ४. यदि प्रतिश्याय के रोगी को शंख, मस्तक एवं ललाट में वेदना हो, तो आँच पर हथेली तपा-तपा कर स्वेदन करें तथा वातघ्न द्रव्यों की पुल्टिस बाँधे। ५. यदि छींक आती हो, नाक से पानी आता हो और नासा प्रतिनाह हो, तो तैल की मालिश करके संकर आदि स्वेद का प्रयोग करना चाहिए। ६. सुगन्ध तृण, जीरा, बच, अरनी और चोरपुष्पी के चूर्ण का नस्य दें। ७. मँगरैला, दालचीनी, तेजपात, मरिच एवं छोटी इलायची के चूर्ण का नस्य दें। ८. अणु तैल का नस्य दें। ९. निरूहबस्ति का प्रयोग करें।	**पथ्य**— वातज प्रतिश्याय में ग्राम्य पशु-पक्षियों के स्निग्ध, अम्ल और उष्ण मांसरस के साथ हल्के अन्न का सेवन करना चाहिए। गरम जल से स्नान, गरम जल का पान और उष्ण गृह में निवास करना चाहिए।

उपचार	औषध	पथ्यापथ्य
पित्तज प्रतिश्याय चिकित्सासूत्र–दोषों के पाचन के लिए अदरख का स्वरस डालकर पकाया हुआ घी या दूध दें। जब प्रतिश्याय में दोषपाचन हो जाये तो शिरोविरेचनार्थ नस्य का प्रयोग करें।	**पित्तज प्रतिश्याय में—** १. अदरख के कल्क को घी में पकाकर चीनी मिलाकर गरम ही खिलायें। २. अदरख का रस डालकर पकाया हुआ दूध, चीनी मिलाकर गरम-गरम पिलायें। ३. जब दोषों का पाचन हो जाय, तो शिरोविरेचन नस्य का प्रयोग करना चाहिए। ४. पक्व प्रतिश्याय में पाठादि तैल का नस्य दें।	**अपथ्य—** चिन्ता, व्यवाय, व्यायाम, अतिभाषण अपथ्य हैं।
पूयरक्त प्रतिश्याय चिकित्सासूत्र—रक्तपित्तनाशक कषायों का तथा नस्यों का प्रयोग करना चाहिए।	**पूयरक्त प्रतिश्याय में—** १. यदि नासिका पक गयी हो, दाह हो, रूक्षता अधिक हो, तो शीतल द्रव्यों का प्रलेप एवं शीतल द्रव्यों के क्वाथ से परिसेचन करें। २. कषाय, मधुर और शीतल द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण बनाकर नस्य देना चाहिए। ३. यदि पित्त अल्प मात्रा में प्रकुपित हो, तो स्निग्ध द्रव्यों के साथ विरेचन दें।	पित्तज प्रतिश्याय में गेहूँ-जौ की रोटी, अगहनी चावल का भात जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस; शीत, अम्ल और तिक्त द्रव्यों से बना शाक तथा मूँग का यूष हितकर है।
कफज प्रतिश्याय चिकित्सासूत्र—जब कफज प्रतिश्याय में भारीपन और अरुचि हो तो सर्वप्रथम लंघन कराना चाहिए, फिर दोषों को पकाने के लिए शिर पर घी का लेप करने के बाद स्वेद और परिषेक करना चाहिए। कफज प्रतिश्याय में स्निग्धता से कफ न निकल रहा हो, तो मदनफल डालकर सिद्ध किये गये दूध में तिल, उड़द मिलाकर बनायी गयी खीर खिलाकर वमन करायें।	**कफज प्रतिश्याय में—** १. मूँग, सोंठ, मरिच, पीपर और यवक्षार के चूर्ण में घी तथा लहसुन का स्वरस डालकर सेवन करायें। २. यदि कफ का उत्क्लेश हो रहा हो, तो कफनाशक वमन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। ३. खुजली के साथ अपीनस, पूतिनस्य, नासास्राव एवं कफज प्रतिश्याय में कटुद्रव्यों से बनाया हुआ धूमपान करना तथा अवपीड़ नस्य देना चाहिए। ४. मनःशिलादि नस्य एवं त्रिकटु तथा त्रिफला चूर्ण का नस्य दें। ५. पक्व प्रतिश्याय में जब गाढ़ा कफ निकल रहा हो, तो भार्ग्यादि तैल का नस्य दें। दुष्ट प्रतिश्याय में त्रिदोषनाशक चिकित्सा करें। नासाशोथ में शोथनाशक चिकित्सा करें। नासार्बुद या नासा अधिमांस में क्षारकर्म करना चाहिए।	कफज प्रतिश्याय में कफनाशक अन्न जौ आदि पुराना चावल, कुलथी, अरहर और मूँग का यूष; बैगन, परवर, सोंठ, मरिच, पीपर का सेवन करना चाहिए।

उपचार	औषध
	शिरोरोग
वातज शिरोरोग चिकित्सासूत्र—वातरोगनाशक नस्य के साथ स्नेहन-स्वेदन का प्रयोग तथा वातघ्न अन्नपान और उपनाह का प्रयोग करना चाहिए। उपनाहज्वराधिकार में कथित अगुर्वादि तैल के द्रव्यों को पीसकर ललाट पर पुल्टिस बाँधना चाहिए एवं जीवनीयगण के द्रव्य मछली-मांस एवं गन्ध वाले फूल बेला, चमेली आदि की पुल्टिस बाँधें।	**वातज शिरः शूल में—** १. रास्नादि तैल का नस्य लेना चाहिए। २. बलातैल का नस्य लेने से वातज एवं पित्तज सभी ऊर्ध्वजत्रुगत विकार दूर होते हैं। ३. मायूर घृत सभी शिरोरोग एवं ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों की विशिष्ट औषध है। ४. महामायूर घृत का नस्य, पान, अभ्यंग और बस्ति के रूप में प्रयोग करने से सभी शिरोरोग शान्त हो जाते हैं। यह महर्षि आत्रेय द्वारा प्रशंसित घृत है और अनेक दारुण रोगों की सिद्ध औषध है। शिरोरोग की यह सर्वोत्तम औषध है। मायूर या महामायूरघृत की ही तरह ५. आखुघृत, ६. कुक्कुटघृत, ७. हंसघृत और ८. शशघृत का निर्माण कर इन्हें ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में प्रयोग करना चाहिए।
पित्तज शिरोरोग चिकित्सासूत्र—घृतपान, दुग्धपान, नस्य, शीतल, परिसेचन, शीतल लेप और जीवनीय घृत का सेवन एवं पित्तनाशक अन्नपान का प्रयोग करना चाहिए।	**पित्तज शिरःशूल में—** १. सफेद चन्दन को पत्थर पर घिसकर उसमें खश, मुलहठी, बरियार का मूल, नखी और नीलकमल का बारीक पिसा हुआ कल्क मिलाकर ललाट पर लेप करना चाहिए। २. अवपीड नस्य—दालचीनी, तेजपात और चीनी को चावल के धोवन से पीसकर किसी रूमाल के कोने में रखकर नाक में बूँद-बूँद रस टपकायें और बाद में घृत का नस्य दें। ३. इसी प्रकार यष्ट्यादि घृत का नस्य दें या— ४. चीनी, मुनक्का, मुलहठी के कल्क और दूध से पकाये हुए घृत का नस्य देना चाहिए।
कफज शिरोरोग चिकित्सासूत्र—शिर पर मृदु स्वेदन करें, फिर धूमपान, नस्य एवं प्रधमन नस्य दें। कफघ्न द्रव्यों का प्रलेप, कफघ्न अन्नपान, पुराने घृत का पान और तीक्ष्ण शिरोवस्तियों द्वारा उपचार करें।	कफज शिरःशूल में एरण्डादि धूमवर्ती का प्रयोग करना चाहिए। **शिरोरोग में दाह**—यदि वात-कफजन्य शिरोरोग हो, तो दाहक्रिया करनी चाहिए। **रक्तमोक्षण**—सन्निपातज एवं कृमिज शिरोरोग में रक्तमोक्षण करना चाहिए।
सन्निपातज शिरोरोग में त्रिदोषनाशक चिकित्सा करें।	**सन्निपातज शिरोरोग में—** १. त्वगादि तैल का नस्य लेना चाहिए अथवा २. इस तैल के कल्क द्रव्यों का महीन कपड़छन चूर्ण कर नस्य लेना चाहिए। ३. त्रिकटु, सहिजन और करंज बीज को पीसकर कपड़े में रखकर उसका रस नाक में निचोड़कर अवपीड नस्य दें या इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ, स्वरस, क्षार, चूर्ण या कल्क का नस्य दें।

उपचार	औषध
	मुखरोग
मुखरोग चिकित्सासूत्र—तिक्त और कटु द्रव्य के क्वाथ में सिरका तथा मधु मिलाकर कवलग्रह धारण करना चाहिए। धूम्रपान, प्रधमन नस्य, विरेचन, वमन, लंघन एवं दोषानुसार अन्नपान का सेवन करना चाहिए। मुखपाक में सिरा कर्म, शिरोविरेचन, काय विरेचन एवं मूत्र, तैल, घृत, मधु और दूध का कवल धारण करना चाहिए।	१. 'पिप्पल्यादि चूर्ण' को सीधु, माधव या माध्वीक मद्य में मिलाकर मुख में धारण करना चाहिए। २. दन्तवेष्ट से रक्तस्राव होता हो या कण्डू या वेदना हो, तो 'तेजोह्वादि चूर्ण' का घर्षण करना चाहिए। ३. कण्ठ सम्बन्धी रोगों में 'क्षारगुटिका' मुख में धारण करें। ४. दाँत, गले तथा मुखरोगों में कालक चूर्ण में मधु मिलाकर मुख में धारण करें। ५. कण्ठ तथा मुख के रोगों में 'पीतक चूर्ण' में मधु मिलाकर घी में घोलकर मुख में धारण करना चाहिए। ६. 'पाठादि चूर्ण' में मधु मिलाकर मुख में धारण करें। ७. 'कटुकादि क्वाथ' को गोमूत्र में बनाकर पीना चाहिए। ८. **मुखरोग, कण्ठरोग तथा रक्तविकार** में 'दार्व्यादि रसक्रिया' मुख में धारण करनी चाहिए। ९. **मुखपाक** में आँवला, हर्रा, बहेड़ा, पाठा, मुनक्का, चमेली की पत्ती तथा अन्य कषाय एवं तिक्त द्रव्यों के शीतल क्वाथ में थोड़ा मधु मिलाकर, कुल्ला कर के मुखप्रक्षालन करना चाहिए। १०. **तालुशोष** में प्यास न लगती हो, तो भोजन के बाद तुरन्त घृतपान करायें। नस्य प्रयोग एवं मधुर, स्निग्ध, शीतल मांसरसों का सेवन करना चाहिए।
	अरोचक
अरोचक रोग चिकित्सा-सूत्र–कवलधारण, मुखप्रक्षालन, धूम्रपान, मनोऽनुकूल अन्नपान, मन को प्रसन्न रखना और आश्वासन देना चाहिए।	अरोचक में वात की प्रधानता में बस्ति, पित्त की प्रधानता में विरेचन, कफ की प्रधानता में वमन और मानसिक आघातजन्य अरोचक में प्रसन्नताजनक हृद्य आहार-विचार की योजना करनी चाहिए।
	कर्णरोग
चिकित्सासूत्र—कर्णशूल में प्रतिश्याय की तरह वातघ्न क्रिया करनी चाहिए। कान के बाहर चारों ओर वातघ्न द्रव्यों का प्रलेप करना चाहिए, कान में वातघ्न तैल डालना चाहिए, वातघ्न द्रव्यों का नस्य लेना चाहिए।	१. पूयस्राव में व्रणवत् उपचार करना चाहिए। २. पूयस्राव में जिस दोष की प्रधानता हो, तदनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिए। ३. कर्णशूल में हिंग्वादि तैल अथवा ४. देवदार्वादि तैल डालना चाहिए। ५. बधिरता, कर्णनाद, कृमिकर्ण और कर्णशूल में क्षारतैल डालना चाहिए।

उपचार	औषध
	नेत्ररोग
नये नेत्ररोग में दाह होने, कीचड़, अश्रु-स्राव, शोथ और लाली होने पर पक्ष्म को छोड़ कर नेत्र के चारों ओर बाहरी भाग में लेप करना चाहिए। इस तरह के लेप को 'बिडालक' कहते हैं। **सन्निपातज नेत्ररोग** तीनों दोषों से उत्पन्न नेत्ररोग में अलग-अलग वातादि दोषों से उत्पन्न हुए नेत्ररोगों की चिकित्सा में बतलाये गये सभी बिडालक लेपों को लगाना चाहिए। तीन दिन बाद जब दोष पक जाय, तो अञ्जन लगाना चाहिए। वातादिज नेत्ररोगों में बतलाये गये सभी आश्च्योतनों का प्रयोग करें। अमृताह्वादि वर्ती को घिसकर लगाने से दृष्टि स्वच्छ होती है। खालित्य, पलित, वली और हरिलोम में वमन-विरेचन कराकर संशोधन करने के बाद नस्य, शिर पर तैल की मालिश और शिर पर एवं मुख पर प्रलेप आदि के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।	**वातज नेत्ररोग में** १. सोंठ और सेंधानमक पीसकर पिघले हुए घी में मिलाकर रसक्रिया के समान गाढ़ा बनाकर नेत्र के चारों ओर लेप करें। २. सेंधानमक और गेरू को बारीक कर, मधु मिलाकर नेत्र के चारों ओर लेप करें। ३. लोध को घी में भूनकर या ४. हर्रे को घी में भूनकर, मधु मिलाकर बिडालक लेप करना चाहिए। ५. एरण्डमूलादि योग की औषधों का क्वाथ बनाकर उसका सुखोष्ण आश्च्योतन करें। **पित्तज नेत्ररोग में** १. चन्दन, अनन्तमूल और मजीठ का बिडालक लेप करें या २. पद्मकाठ, मुलहठी, जटमांसी और कालीयक (पीतचन्दन) को पीसकर शीतल करके बिडालक लेप करें। ३. पृथ्वीकादि योग के क्वाथ को शीतलकर, चीनी मिलाकर आश्च्योतन करना चाहिए। **पित्तज एवं रक्तज नेत्ररोग** में सुमनःकोरकादि वर्ती को वर्षा के जल में घिसकर लगाना चाहिए। **कफज नेत्ररोग में** १. गेरू, सेंधानमक, नागरमोथा और गोरोचन, इन्हें समान भाग लेकर रसक्रिया के समान गाढ़ा बनाकर बिडालक लेप लगाना चाहिए। २. मैनसिल के साथ प्रियंगु को पीसकर, मधु मिलाकर रसक्रिया के समान बनाकर बिडालक लेप लगाना चाहिए एवं ३. सोंठ, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, नागरमोथा, नीम की पत्ती और अरूस की पत्ती, इनके समभाग का क्वाथ बनाकर हल्का गरम कर नेत्र में आश्च्योतन करना चाहिए। ४. सैन्धवादि वर्ती को पानी में घिसकर लगाना चाहिए। **सभी नेत्ररोगों में प्रयोज्य औषधें—** १. चूर्णाञ्जन–यह नेत्र की खुजली, काचरोग एवं कफदोष पीड़ित नेत्रों में लगाने से दोषों का विशोधन करता है। २. एलाचूर्ण को बकरे के मूत्र में ३ दिन तक भावना देकर, सुखाकर रखें। इसके अञ्जन से तिमिर, नेत्रकृमि, पिल्ल रोग एवं नेत्रमल दूर होता है। ३. सौवीरादि चूर्णाञ्जन, ४. सौवीराञ्जनादि वर्ती ५. सुखावती वर्ती, ६. दृष्टिप्रदा वर्ती, ७. तिमिरघ्न अञ्जन, ८. पिप्पल्यादि रसक्रिया, ९. कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया, १०. धात्रीरसाञ्जनादि रसक्रिया एवं ११. धात्रीसैन्धवादि रसक्रिया का प्रयोग अवस्थानुसार करना चाहिए।
	खालित्यादि शिरोरोग
	खालित्य एवं पलित में, १. विदारिगन्धादि तैल या २. अणुतैल या ३. सहचरादि तैल की मालिश करनी चाहिए। ४. दूधिया घास या कनेर के मूल को दूध में पीसकर शिर मुड़ाकर लेप करने से पलित रोग दूर होता है। ५. भृङ्गराज का स्वरस चौगुना और मुलहठी का कल्क चतुर्थांश डालकर पकाया हुआ तिल का तैल नस्य लेने से पलित रोग दूर होता है। ६. महानील तैल का नस्य, पान एवं शिरोऽभ्यंग करने से पलित आदि शिरोरोग नष्ट होता है। ७. प्रपौण्डरीकादि तैल का प्रतिमर्श नस्य पलितघ्न है। ८. प्रियालादि योग के लेप से बाल काले हो जाते हैं। ९. तिलादि योग का लेप पलितघ्न है। १०. लौहचूर्ण लेप—सेंधानमक, चावल का आटा और लोहे का बारीक चूर्ण या भस्म सिरका तथा कांजी के साथ पीसकर सिरका में पकायें, जब गाढ़ा हो जाय तो उसे उतार लें। रात में इस लेप को शिर में लगायें और सबेरे त्रिफला के क्वाथ से शिर को धो डालें।

उपचार	औषध
	स्वरभेद
वातज स्वरभेद में, खाने के पहले घृतपान करायें एवं वातरोग में कथित बलातैल, रास्ना-तैल तथा अमृतातैल का पानु-अभ्यंग-गण्डूष और बस्ति में प्रयोग करें।	१. वातज स्वरभेद में—सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू के क्वाथ में पकाया हुआ मोर, तीतर या मुर्गे का मांसरस या मायूरघृत या मायूरदुग्ध या त्र्यूषणघृत को पिलाना चाहिए।
पित्तज स्वरभेद में, सर्वप्रथम विरेचन कराना चाहिए तथा मधुर द्रव्यों से सिद्ध दूध पिलाना चाहिए।	२. पित्तज स्वरभेद में—क्षतक्षीण चिकित्सा (राजयक्ष्मा) में कथित सर्पिर्गुड या कुष्ठचिकित्सा में कथित तिक्तघृत या वातरक्त में कथित जीवनीयघृत अथवा अरूस के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध किये हुए घृत का सेवन कराना चाहिए।
कफज स्वरभेद में, कफघ्न उपचार करें।	३. कफज स्वरभेद में—तीक्ष्ण शिरोविरेचन नस्य, वमन, विरेचन, धूमपान, जौ के बने पदार्थों का आहार तथा कटुरस वाले द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए। तीक्ष्ण मद्य पिलायें। चव्यादि चूर्ण या समभाग पीपर एवं हर्रे का चूर्ण मधु से चटायें।
रक्तज स्वरभेद में, मधुर एवं स्निग्ध द्रव्यों का सेवन करायें। क्षयज कास में एवं पित्तज स्वरभेद में कथित उपचार करें।	४. रक्तज स्वरभेद में—घृत मिलाकर जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस या घी, मधु एवं चीनी मिलाकर अंगूर का रस या विदारीकन्द का रस या ईख का रस पिलाना चाहिए। सिरावेध कराना हितकर होता है।
सन्निपातज स्वरभेद में त्रिदोषघ्न उपचार करें।	सन्निपातज स्वरभेद में—अलग-अलग वातज, पित्तज एवं कफज स्वरभेद में कथित चिकित्सा-प्रकारों का प्रयोग करें। सिरावेध नहीं करना चाहिए।

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'ऊरुस्तम्भचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—इस रोग में वात एवं कफ की प्रबलता होती है और मेद तथा आम का संसर्ग होता है। मेदोविकार से बढ़े हुए दोष सक्थि, जंघा और ऊरुप्रदेश को निश्चल-सा बना देते हैं। रोगी अपने पैरों को हिला-डुला नहीं पाता है और उनमें वेदना होती है। संचित आम, मेद एवं कफ से युक्त वायु पित्त को अभिभूत कर ऊरुप्रदेश में जाकर जब दोनों सक्थियों की अस्थियों को घने श्लेष्म से परिपूर्ण कर देता है, तो ऊरु जकड़ जाते हैं। रोगी अपने पैर को कठिनता से उठा पाता है या पैरों में सुन्नता का अनुभव करता है, तो इस रोग को ऊरुस्तम्भ या आढ्यवात कहते हैं। इसे आमसहित तीनों दोषों से उत्पन्न बताया गया है—'एक ऊरुस्तम्भ आमत्रिदोषसमुत्थानः'। (च.सू.१९)

माधवनिदान में इस रोग की सम्प्राप्ति में वायु को प्रधान दोष माना गया है; यथा—'संश्लेष्मेदः पवनः साममत्यर्थसञ्चितम्। अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते। सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च। तदा स्तब्नाति'। सुश्रुत ने भी वायु को प्रधान दोष मानकर इस रोग को वातव्याधि-प्रकरण में उद्धृत है। किन्तु चरक ने इस रोग में कफ को प्रधान दोष माना है; यथा—'ऊरुश्लेष्मासमेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु। स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततस्तु सः ॥' इस कथनभेद का अभिप्राय मधुकोषकार ने इस प्रकार प्रकट किया है—'चरके आवरकस्य श्लेष्मणः प्राक् चिकित्स्यत्वेन प्राधान्यम्, आरम्भकत्वेन तु सुश्रुते पवनस्येति न विरोधः'।

अर्वाचीन चिकित्सक इस रोग को मांसपेशी की थकावट मानते हैं। व्यायाम से मांसपेशियों में सारक्षीराम्ल (Sorcolatic acid) की उत्पत्ति होती है। स्वाभाविक स्थिति में यह क्षीराम्ल मधुजन (Glycogen) में परिणत हो जाता है, किन्तु अति व्यायाम के कारण अधिक उत्पत्ति होने पर उसके घन कण बन जाते हैं और वे अधस्त्वक् मांसपेशियों (Subcutaneous muscles) में संचित होकर नाड़ीक्षोभ और पीड़ा उत्पन्न करते हैं। यही स्थिति उत्पन्न होने पर ऊरुस्तम्भ के लक्षण प्रकट होते हैं।

श्रिया परमया ब्राह्म्या परया च तपःश्रियाः। अहीनं चन्द्रसूर्याभ्यां सुमेरुमिव पर्वतम् ॥ ३ ॥
धीधृतिस्मृतिविज्ञानज्ञानकीर्तिक्षमालयम्। अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ॥ ४ ॥

पुनर्वसु आत्रेय से अग्निवेश का प्रश्न—जिस प्रकार चन्द्रमा की शीतल किरणों तथा सूर्य की तेजोमयी आभा के आलोक से सुमेरु पर्वत सुशोभित होता है, उसी प्रकार अपनी ज्ञानमयी ज्योति तथा तपस्या (ब्रह्मचर्य) जनित शरीर शोभा से प्रकाशमान् तथा बुद्धि, धैर्य, स्मृति, ज्ञान-विज्ञान, कीर्ति और क्षमा के निधान गुरुप्रवर आत्रेय पुनर्वसु से उनके नित्यकर्म आदि से निवृत्त होकर स्वस्थचित्त होकर बैठे रहने पर (उचित समय जानकर) शिष्य अग्निवेश ने अपने सन्देह के विषय में पूछा ॥ ३-४ ॥

भगवन्! पञ्च कर्माणि समस्तानि पृथक् तथा। निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम् ॥ ५ ॥
दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्य तानि भिषग्वर!। न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः ॥

पञ्चकर्म से अप्रभावी रोग—हे भगवन्! आपने पृथक्-पृथक् एवं समस्तरूप से वमन-विरेचन, निरूह-अनुवासन और नस्य—इन पञ्चकर्मों का उपदेश किया है, जो सभी रोगों की चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त होते हैं। हे भिषक्श्रेष्ठ! क्या कोई ऐसा भी रोग है, जो दोषों से उत्पन्न होता हो और चिकित्सा करने से साध्य भी हो, किन्तु उक्त पंचकर्म जिसे दूर कर सकने में समर्थ न हों॥ ५-६॥

अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम्! सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तेनाब्रवीद् गुरुः॥ ७॥

पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर—गुरु आत्रेय ने कहा कि हाँ, ऊरुस्तम्भ नाम का ऐसा रोग है। यह सुनकर अग्निवेश ने उसके कारण, लक्षण और चिकित्सा के सम्बन्ध में पूछा। इस तरह का प्रश्न किये जाने पर पुनः गुरुवर ने उपदेश किया॥ ७॥

स्निग्धोष्णलघुशीतानि जीर्णाजीर्णे समश्नतः। द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामिषैः॥ ८॥
पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः। लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः॥ ९॥
स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन्मेदसा सह। रुद्ध्वाऽऽशु गौरवादूरू यात्यधोगैः सिरादिभिः॥
पूरयन् सक्थिजङ्घोरु दोषो मेदोबलोत्कटः। अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम्॥ ११॥

ऊरुस्तम्भरोग का निदान और सम्प्राप्ति—जो व्यक्ति भोजन के पच जाने पर या बिना पचे ही, चिकने पदार्थ, गरम, हल्के, लघु या शीत पदार्थों का सेवन करते हैं और द्रव पदार्थ, सूखे पदार्थ, दही, दूध, ग्रामीण पशुओं (बकरा आदि) का मांस, आनूपमांस (सूअर आदि), जलेचर जीवों (मछली आदि) का मांस अधिकांशतः सेवन करते हैं तथा चावल या मूँग या उड़द या गेहूँ के आटे से बने पकवान एवं विकृत मदिरा का सेवन करते हैं, दिन में सोते हैं, रात में जागते हैं, उपवास करते हैं या भोजन पर पुनः भोजन करते हैं, अधिक थकाने वाला कार्य करते हैं, भय करते हैं, वेगों को रोकते हैं और अधिक स्नेह का प्रयोग करते हैं, उनके कोष्ठ में संचित हुआ आम एकत्र होकर मेद के साथ मिलकर वातादि दोषों को रोककर स्वयं भारी होने कारण अधोगामी सिरा-धमनी स्रोतों से (त्रिदोषसहित) ऊरु प्रदेश में चला जाता है, तब मेद के बल से प्रबल (आमसंरुद्ध) वातादि दोष सक्थि, जंघा और ऊरु प्रदेश का पूरण करके इन अंगों को हिलाने-डुलाने में असमर्थ बना देते हैं, जिससे रोगी का बल क्षीण हो जाता है॥ ८-११॥

महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बु स्तिमितं यथा। तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफः॥ १२॥

ऊरुस्तम्भ में कफ की प्रबलता का दृष्टान्त—जिस प्रकार किसी गहरे और पूरी तौर पर भरे तालाब में का जल निश्चल और स्थिर रहता है, उसी तरह ऊरु प्रदेश में गया हुआ कफ स्थिर और क्षोभ से रहित होता है॥ १२॥

सम्प्राप्ति—

अहितकर आहार-विहार → कोष्ठ में आम-संचय + मेद-कफ संगति → वात-पित्त दोष का अवरोध एवं प्रकोप

↓

ऊरुस्तम्भ रोग ← सक्थि-अस्थि कफपूर्णता ← अधोग स्रोतों द्वारा ऊरु प्रदेश में संचय

दोष : वात, पित्त, कफ।

दूष्य : आम, मेद।

अधिष्ठान : ऊरु।

(एक ऊरुस्तम्भ आमत्रिदोषसमुत्थानः)

गौरवायाससङ्कोचदाहरुक्सुप्तिकम्पनैः। भेदस्फुरणतोदैश्च युक्तो देहं निहन्त्यसून्॥ १३॥

ऊरुस्तम्भ के मारक लक्षण—ऊरु प्रदेश में कफ का संचय होने पर जब शरीर में भारीपन, थकावट, संकोच, जलन, पीड़ा, सूनापन, कम्पन, फटन, फड़कन और सूई चुभाने जैसी पीड़ा होने लगती है, तो ऊरुस्तम्भ रोग प्राणों का नाशक हो जाता है॥ १३॥

ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु। स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्तत्तस्तु सः॥

ऊरुस्तम्भ का निर्वचन—जब कफदोष मेद के साथ मिलकर वात एवं पित्त को दबाकर ऊरु प्रदेश में जाकर ऊरु में जकड़ाहट और शीतलता उत्पन्न कर देता है, तो ऊरु में स्तम्भन (निश्चलता-गतिहीनता) होने कारण इस स्थिति को ऊरुस्तम्भ रोग कहते हैं॥ १४॥

प्राग्रूपं ध्याननिद्रातिस्तैमित्यारोचकज्वराः। लोमहर्षश्च छर्दिश्च जङ्घोर्वोः सदनं तथा॥ १५॥

ऊरुस्तम्भ का पूर्वरूप— ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप में रोगी सदैव किसी बात को सोचता रहता है, उसे नींद आती रहती है, शरीर जकड़ा हुआ-सा लगता है, अरुचि, ज्वर, रोमाञ्च, वमन तथा जंघा और ऊरु प्रदेश में थकावट होती है॥ १५॥

वातशङ्किभिरज्ञानात् तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः। पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा॥ १६॥

ऊरुस्तम्भ में स्नेह-प्रयोग से हानि—यदि ऊरुस्तम्भ रोग को अज्ञानतावश वातज विकार जानकर उसमें स्नेहन कर्म किया जाता है, तो रोगी के पैरों में थकावट और सूनापन हो जाता है और रोगी बड़ी कठिनाई से पैरों को उठा पाता है॥ १६॥

जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदना। पदं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च॥ १७॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः। अन्यनेयौ हि सम्भग्नावूरू पादौ च मन्यते॥ १८॥

ऊरुस्तम्भ के लक्षण[1]—ऊरुस्तम्भ में जंघा और ऊरु-प्रदेश में निर्बलता, सदैव जलन और दर्द एवं जमीन पर पैर रखने पर दर्द बढ़ जाना तथा शीतल वस्तुएँ ठण्डी नहीं प्रतीत होना—ये सब लक्षण होते हैं। रोगी पैर पर खड़ा होने, पैरों को दबाने, चलाने और हिलाने-डुलाने में असमर्थ होता है। रोगी अपने पैरों को दूसरे के द्वारा उठाने योग्य और टूटा हुआ अनुभव करता है॥ १७-१८॥

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्। ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साधयेदन्यथा नवम्॥ १९॥

साध्यासाध्यता—जब ऊरुस्तम्भ का रोगी जलन, पीड़ा और सूई चुभाने जैसी वेदना से व्याकुल होकर काँपने लगता है, तब वह रोग मारक हो जाता है। यदि ये लक्षण न हों और रोग नया हो तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि वह साध्य होता है॥ १९॥

तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम्। न चैव वमनं यस्मात्तन्निबोधत कारणम्॥ २०॥
वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं बस्तिकर्म च। तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम्॥ २१॥
कफं कफस्थानगतं पित्तं च वमनात्सुखम्। हर्तुमामाशयस्थौ च स्रंसनात्तावुभावपि॥ २२॥
पक्वाशयस्थाः सर्वेऽपि बस्तिभिर्मूलनिर्जयात्। शक्या न त्वाममेदोभ्यां स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिताः॥
वातस्थाने हि तच्छैत्याद् द्वयोः स्तम्भाच्च तद्गताः। न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात्॥

ऊरुस्तम्भ में स्नेहन और पञ्चकर्म अनुपयोगी—जिस कारण से ऊरुस्तम्भ रोगी का स्नेह के पान या अभ्यंग से स्नेहन नहीं करना चाहिए, स्नेहबस्ति नहीं देनी चाहिए, विरेचन नहीं कराना चाहिए और वमन नहीं कराना चाहिए, उसे अच्छी तरह जानिये। क्योंकि स्नेहन और स्नेहबस्ति के लगातार प्रयोग कफ की वृद्धि करते हैं। ऊरुप्रदेश में स्थित कफ को निकालने में विरेचन भी समर्थ नहीं होता है।

---

१. 'अन्ये तु सर्वमेवैतदूर्ध्वाधःकृतस्नेहनप्रयोगदोषकृतमसाध्यलक्षणमाहुः'। (चक्रपाणि टीका)

आमाशयगत कफ और पित्त का वमन करा देने से सुखपूर्वक निर्हरण हो जाता है एवं आमाशयस्थ कफ तथा पित्त विरेचन करा देने से निकल जाते हैं। पक्वाशयगत वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष बस्ति के द्वारा सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं। इस प्रकार वमन, विरेचन और बस्ति क्रमशः कफ, पित्त एवं वात का मूलोच्छेदन करके इन्हें निकालने में समर्थ होते हैं।

आम और मेद से जकड़े होने के कारण जंघा तथा ऊरुप्रदेश में रुके हुए वातादि दोषों का निकलना असम्भव होता है। जंघा तथा ऊरुरूप वातस्थान में वायु की शीतलता तथा आम एवं मेद की जकड़ाहट के कारण वहाँ स्थित दोष पञ्चकर्मों द्वारा आसानी से नहीं निकाले जा सकते। जिस प्रकार गहरे स्थान में स्थित जल का निकालना कठिन है, उसी तरह वमन-विरेचन आदि के द्वारा ऊरुस्तम्भ के दोषों को निकालना कठिन है॥ २०-२४॥

तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा। युक्त्यपेक्षी भिषक् कुर्यादधिक्त्वात्कफामयोः॥ २५॥

ऊरुस्तम्भ का चिकित्सासूत्र—ऊरुस्तम्भ रोग में कफ तथा आमदोष की अधिकता होती है, इसलिए युक्ति की अपेक्षा करने वाले चिकित्सक को चाहिए कि ऊरुस्तम्भ में शोधन न करके शमन-उपचार करे तथा आम एवं कफ के द्रवभाग का शोषण तथा सर्वथा उच्छेदन करके इन्हें नष्ट करे॥ २५॥

सदा रूक्षोपचाराय यवश्यामाककोद्रवान्। शाकैरलवणैर्दद्याज्जलतैलोपसाधितैः॥ २६॥
सुनिषण्णकनिम्बार्कवेत्राग्रवधपल्लवैः। वायसीवास्तुकैरन्यैस्तिक्तैश्च कुलकादिभिः॥ २७॥
क्षारारिष्टप्रयोगाश्च हरीतक्यास्तथैव च। मधूदकस्य पिप्पल्या ऊरुस्तम्भविनाशनाः॥ २८॥

ऊरुस्तम्भ में पथ्याहार—ऊरुस्तम्भ के रोगी के शरीर में सदा रूक्षता बनी रहे, इसके लिए उसे जल (अल्प), तैल डालकर बिना नमक डाले पकाये हुए चौपतिया, नीम की पत्ती, मदार की पत्ती, बेंत की पत्ती, अमलतास की पत्ती, मकोय की पत्ती, बथुआ की पत्ती और परवर आदि तिक्त द्रव्यों के शाक के साथ जौ की रोटी एवं साँवा या कोदो का भात खाने को देना चाहिए। क्षार द्रव्यों का प्रयोग, अरिष्टों का प्रयोग, हर्रे का प्रयोग, मधु के शर्बत का प्रयोग और पीपर का प्रयोग—ये ऊरुस्तम्भनाशक होते हैं॥ २६-२८॥

समङ्गां शाल्मलीं बिल्वं मधुना सह ना पिबेत्। तथा श्रीवेष्टकोदीच्यदेवदारुनतान्यपि॥ २९॥
चन्दनं धातकीं कुष्ठं तालीसं नलदं तथा।

ऊरुस्तम्भनाशक योग—(१) लज्जावन्ती, मोचरस और बेलसोंठ का चूर्ण मधु के शर्बत के साथ पीना चाहिए। (२) गन्धाविरोजा, सुगन्धबाला, देवदारु और तगर के चूर्ण को मधु के शर्बत के साथ पीनी चाहिए। इसी प्रकार (३) लाल चन्दन, धाय के फूल, कूठ, तालीसपत्र और खस के समभाग का चूर्ण मधु के शर्बत के साथ पीना चाहिए॥ २९॥

मुस्तं हरीतकीं लोध्रं पद्मकं तिक्तरोहिणीम्॥ ३०॥
देवदारु हरिद्रे द्वे वचां कटुकरोहिणीम्। पिप्पलीं पिप्पलीमूलं सरलं देवदारु च॥ ३१॥
चव्यं चित्रकमूलानि देवदारु हरीतकीम्। भल्लातकं समूलां च पिप्पलीं पञ्च तान् पिबेत्॥ ३२॥
सक्षौद्रानर्धश्लोकोक्तान् कल्कानूरुग्रहापहान्।

ऊरुस्तम्भनाशक कुछ कल्क योग—आधे श्लोक में कहे गये अग्रलिखित पाँच प्रकार के कल्कों को मधु के शर्बत के साथ पीना चाहिए; ये ऊरुस्तम्भ को नष्ट करते हैं–(१) नागरमोथा, हर्रे, लोध, पद्मकाठ और कुटकी; (२) देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, मीठा बच और कुटकी; (३) पीपर, पिपरामूल, सरल धूप की लकड़ी और देवदारु; (४) चाभ, चीते का मूल, देवदारु और हर्रे तथा (५) भिलावे की गुठली, पीपर और पिपरामूल॥ ३०-३२॥

शार्ङ्गेष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं वचाम्॥ ३३॥
मूर्वामारग्वधं पाठां करञ्जं कुलकं तथा। पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाऽऽप्लुतम्॥ ३४॥
सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वाऽप्यूरुस्तम्भविनाशनम्।

शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण—गुञ्जा, मदनफल, दन्तीमूल, इन्द्रजौ, मीठा बच, मूर्वा, अमलतास की गुद्दी, पाठा, करञ्ज बीज की गुद्दी और परवर की पत्ती—इन्हें समभाग लेकर चूर्ण कर, मधु और जल में घोलकर या दही का पानी और मधु मिलाकर पीने से ऊरुस्तम्भ नष्ट होता है॥ ३३-३४॥

मूर्वामतिविषां कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम्॥ ३५॥
पूर्ववद् गुग्गुलुं मूत्रे रात्रिस्थितमथापि वा।

मूर्वादि योग—मूर्वा, अतीस, कूठ, चित्रक और कुटकी—इन्हें समभाग लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण को मधु और जल में घोलकर या दही के पानी तथा मधु में घोलकर पीना चाहिए अथवा शुद्ध गुग्गुलु को रात भर गोमूत्र में भिगोकर सबेरे मसलकर पीना चाहिए॥ ३५॥

स्वर्णक्षीरीमतिविषां मुस्तं तेजोवतीं वचाम्॥ ३६॥
सुराह्वं चित्रकं कुष्ठं पाठां कटुकरोहिणीम्। लेहयेन्मधुना चूर्णं सक्षौद्रं वा जलाप्लुतम्॥ ३७॥
फलीं व्याघ्रनखं हेम पिबेद्वा मधुसंयुतम्। त्रिफलां पिप्पलीं मुस्तं चव्यं कटुकरोहिणीम्॥ ३८॥
लिह्याद्वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भार्दितो नरः।

स्वर्णक्षीर्यादि योग—(१) स्वर्णक्षीरी (भड़भाड़) का मूल, अतीस, नागरमोथा, तेजबल, मीठा बच, देवदारु, चित्रकमूल, कूठ, पाठा और कुटकी—इन सबको समभाग में लेकर चूर्ण करें। इस चूर्ण को मधु के साथ या मधु के शर्बत के साथ सेवन कराना चाहिए। (२) फली (वट की छाल या बरोह), नखी और नागकेशर—इनके समभाग चूर्ण को मधु के शर्बत के साथ देना चाहिए। (३) आँवला, हर्रा, बहेड़ा, पीपर, नागरमोथा, चाभ और कुटकी—इनके समभाग का चूर्ण ऊरुस्तम्भ से ग्रस्त व्यक्ति को मधु के साथ चटाना चाहिए॥ ३६-३८॥

अपतर्पणजश्चेत् स्याद्दोषः सन्तर्पयेद्धि तम्॥ ३९॥
युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः पुराणैश्चैव शालिभिः। रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्तिपूर्वकः॥ ४०॥
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः।

ऊरुस्तम्भ की आवस्थिक चिकित्सा—यदि ऊरुस्तम्भ के रोगी का अपतर्पण (लंघन-उपवास आदि) करने से दोष (वात-प्रधान) कुपित हो, तो युक्तिपूर्वक जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस से पुराने अगहनी चावल का भात खिलाकर सन्तर्पण करना चाहिए। यदि रूक्ष उपचार करने से निद्रानाश और पीड़ा के साथ वायु का प्रकोप हो जाय, तो ऐसी दशा में वातरोगनाशक स्नेहन तथा स्वेदन कर्म करना चाहिए॥ ३९-४०॥

वक्तव्य—ऊरुस्तम्भ में कफ-मेद तथा आमदोष प्रधान है, अतः रूक्षण उपचार आवश्यक होता है। किन्तु यदि रूक्ष चिकित्सा से कफ आदि क्षीण हो जाय तथा रोगी को अतिरूक्षणजन्य उपद्रव हों, तो स्नेहन उपचार करना चाहिए।

पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरको वचा॥ ४१॥
सरलागुरुपाठाश्च तैलमेभिर्विपाचयेत्। सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिं वाऽपि ना पिबेत्॥ ४२॥

पीलुपर्ण्यादि तैल—पीलुपर्णी (रास्नाभेद-मोरट), विदारीकन्द, रास्ना, गोखरू, बच, सरल (धूप), अगुरु और पाठा—इन सबको समभाग लेकर, कल्क बनाकर, उससे चौगुना सरसों का तैल तथा तैल का

चौगुना पानी डालकर विधिवत् तैलपाक करें। इस तैल को १ प्रसृत (२ पल) या १ अञ्जलि (४ पल) की मात्रा में मधु मिलाकर पीना चाहिए॥ ४१-४२॥

कुष्ठश्रीवेष्टकोदीच्यसरलं दारु केशरम्। अजगन्धाऽश्वगन्धा च तैलं तैः सार्षपं पचेत्॥ ४३॥
सक्षौद्रं मात्रया तच्चाप्यूरुस्तम्भार्दितः पिबेत्। रौक्ष्यान्मुक्त ऊरुस्तम्भात्ततश्च स विमुच्यते॥

कुष्ठादि तैल—कूठ, गन्धाविरोजा, सुगन्धबाला, सरल (धूप-चीड़), देवदारु, नागकेशर, अजमोदा और असगन्ध—इनके समभाग के कल्क से विधिवत् सरसों का तैल पकायें। इस तैल को मधु में मिलाकर ऊरुस्तम्भ का रोगी पान करे। इसके पीने से रोगी रूक्षता से मुक्त होकर, फिर ऊरुस्तम्भ रोग से भी मुक्त हो जाता है॥ ४३-४४॥

वक्तव्य—इस तैल की मात्रा का निर्धारण रोगी की प्रकृति एवं उसके बल का विचार कर करे और १५-२० ग्राम की मात्रा देनी चाहिए। पूर्वोक्त पीलुपर्ण्यादि तैल की मात्रा १ प्रसृत या १ अञ्जलि कही गयी है, जो बहुत अधिक है। उसकी भी मात्रा २०-२५ ग्राम तक ही देनी चाहिए, क्योंकि प्राणियों का सामर्थ्य और क्षमता का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है।

द्वे पले सैन्धवात् पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात्। द्वे द्वे भल्लातकास्थीनि विंशतिर्द्वे तथाऽऽढके॥
आरनालात् पचेत् प्रस्थं तैलस्यैतैरपत्यदम्। गृध्रस्यूरुग्रहार्शोर्तिसर्ववातविकारनुत्॥ ४६॥

सैन्धवादि तैल—सेंधानमक २ पल, सोंठ ५ पल, पिपरामूल २ पल, चित्रक २ पल और भिलावा के बीज २० अदद—इन वस्तुओं का कल्क बनाकर १ प्रस्थ सरसों के तैल और २ आढक (८ प्रस्थ) काञ्जी में डालकर विधिवत् तैलपाक करे। इस तैल का पान करने से वातविकारजन्य वन्ध्यत्व नष्ट होकर सन्तान की प्राप्ति होती है। यह तैल गृध्रसी विकार, ऊरुस्तम्भ, अर्श तथा सभी तरह के वातरोगों को ठीक करता है॥ ४५-४६॥

पलाभ्यां पिप्पलीमूलनागरादष्टकट्वरः। तैलप्रस्थः समो दध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहः॥ ४७॥
इत्यष्टकट्वरतैलम्।

अष्टकट्ववर तैल—पिपरामूल १ पल एवं सोंठ १ पल, इन दोनों का कल्क कर लें। मलाई सहित दही को मथकर बनाया हुआ मट्ठा १६ पल, सरसों का तैल १ प्रस्थ और १ प्रस्थ दही—इन सबको एक में मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। यह तैल पीने में प्रयुक्त होता है और गृध्रसी तथा ऊरुस्तम्भ रोग को नष्ट करता है॥ ४७॥

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टमूरुस्तम्भस्य भेषजम्।

आभ्यन्तर औषध प्रयोग का उपसंहार—इस प्रकार ऊरुस्तम्भ रोग की अन्तःप्रयोग की जाने वाली औषधों का वर्णन कर दिया गया।

श्लेष्मणः क्षपणं त्वन्यद्बाह्यं शृणु चिकित्सितम्॥ ४८॥

ऊरुस्तम्भ में बाह्य चिकित्सा का उपक्रम—अब आप ऊरुस्तम्भ रोग में कफ को क्षीण करनेवाली बाह्य चिकित्सा के प्रकारों को सुनें॥ ४८॥

वल्मीकमृत्तिका मूलं करञ्जस्य फलं त्वचम्। इष्टकानां ततश्चूर्णैःकुर्यादुत्सादनं भृशम्॥ ४९॥

वल्मीकमृत्तिकादि उत्सादन—बेमुअट (दीमक लगी) मिट्टी, करञ्ज का मूल, उसका फल और छाल तथा ईंट की सुर्खी—इन सबको बराबर-बराबर लेकर ऊरुप्रदेश पर सूखा ही मसलना चाहिए। बल लगाकर सूखा उबटन रगड़ना चाहिए॥ ४९॥

मूलैर्वाऽप्यश्वगन्धाया मूलैरर्कस्य वा भिषक्। पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः॥ ५०॥
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक्। गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे—

अश्वगन्धादि उत्सादन—वैद्य ऊरुस्तम्भ के रोगी को असगन्ध मूल चूर्ण या मदार के मूल के चूर्ण या नीम के मूल की छाल के चूर्ण या देवदारु के चूर्ण से अथवा सरसों और दीमक की मिट्टी पीसकर उसमें मधु मिलाकर उससे बल लगाकर उबटन का निर्देश करें॥ ५०॥

—प्रलेपनम्॥ ५१॥

दन्तीद्रवन्तीसुरसासर्षपैश्चापि बुद्धिमान्। तर्कारीशिग्रुसुरसाविश्ववत्सकनिम्बजैः॥ ५२॥
पत्रमूलफलैस्तोयं शृतमुष्णं च सेचनम्। पिष्टं तु सर्षपं मूत्रेऽध्युषितं स्यात्प्रलेपनम्॥ ५३॥

ऊरुस्तम्भ में प्रलेप और परिसेचन—(१) बुद्धिमान् वैद्य ऊरुस्तम्भ में दन्तीमूल, बड़ी दन्ती के मूल, तुलसी के बीज और सरसों पीसकर प्रलेप करायें। (२) जैंत, सहिजन, तुलसी, सोंठ, कोरया और नीम, इनके पत्ते, मूल और फल डालकर पकाये हुए जल से गरम-गरम ऊरुप्रदेश पर परिसेचन करायें। (३) सरसों को पीसकर उसे रात भर गोमूत्र में पड़ा रहने दे और प्रातःकाल ऊरुस्तम्भ में उसका प्रलेप करायें॥ ५१-५३॥

वत्सकः सुरसं कुष्ठं गन्धास्तुम्बुरुशिग्रुकौ। हिंस्रार्कमूलवल्मीकमृत्तिकाः सकुठेरकाः॥ ५४॥
दधिसैन्धवसंयुक्तं कार्यमेतैः प्रलेपनम्। ऊरुस्तम्भविनाशाय भिषजा जानता क्रमम्॥ ५५॥

वत्सकादि लेप—ऊरुस्तम्भ रोग का विनाश करने के लिए इसके चिकित्साक्रम को जानने वाला चिकित्सक कोरया की छाल, तुलसी की मंजरी, कूठ, अगर आदि गन्धद्रव्य, तुम्बुरु (नेपाली धनिया), सहिजन की छाल, हइस और मदार की जड़, दीमक की मिट्टी, गठिवन (वनतुलसी)—इन्हें समभाग लेकर कूट-पीसकर, दही तथा सेंधानमक मिलाकर प्रलेप करायें॥ ५४-५५॥

श्योनाकं खदिरं बिल्वं बृहत्यौ सरलासनौ। शोभाञ्जनकतर्कारीश्वदंष्ट्रासुरसार्जकान्॥ ५६॥
अग्निमन्थकरञ्जौ च जलेनोत्क्वाथ्य सेचयेत्। प्रलेपो मूत्रपिष्टैर्वाऽप्यूरुस्तम्भनिवारणः॥ ५७॥

श्योनाकादि परिसेचन और प्रलेप—(१) सोनापाठा, खैर और बेल की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, सरल (धूप), असन (विजयसार) और सहिजन की छाल, जैंत की पत्ती, गोखरू, तुलसी, गठिवन (वनतुलसी), अरनी की छाल और करञ्ज के बीज की मींगी—इन सबको समभाग लेकर कूटकर आवश्यकतानुसार मात्रा में लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर गरम-गरम परिसेचन करना चाहिए अथवा इन्हीं द्रव्यों को गोमूत्र में पीसकर गरम कर प्रलेप लगाना चाहिए। इस प्रकार का परिसेचन या प्रलेपन ऊरुस्तम्भ रोग को दूर करता है॥ ५६-५७॥

कफक्षयार्थं शक्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत्। स्थलान्याक्रामयेत् कल्यं शर्कराः सिकतास्तथा॥
प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम्। सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनः पुनः॥ ५९॥
तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्।

ऊरुस्तम्भरोगनाशक विहार—ऊरुस्तम्भ के रोगी के कफ को कम करने के लिए उसे ऐसे व्यायाम में लगायें, जिसे वह कर सके। रोगी को ऊँचे-नीचे स्थानों में सबेरे के समय टहलने-घूमने-फिरने की प्रेरणा दें, जिससे वह छोटे गड्ढे लाँघ सके या थोड़ी ऊँचाई पर चढ़ सके। इसी प्रकार उसे कँकरीली जमीन पर या बालू भरे रास्ते पर चलायें। ऐसी नदी में उसे जलप्रवाह के विपरीत दिशा में तैरायें, जिसका जल शीतल हो और जिसमें हिंसक जल-जन्तु न हों। इसी प्रकार निर्मल, शीत एवं स्थिर जल वाले तालाब में बार-बार तैराना चाहिए। ऐसा करने से जब कफ सूख जाता है तब ऊरुस्तम्भ रोग स्वयमेव शान्त हो जाता है॥ ५८-५९॥

वक्तव्य—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जल के सम्बन्ध से कफ की वृद्धि होती है और यहाँ बढ़े हुए कफ को नष्ट करने के लिए जल में तैरने का उपदेश किया गया है[1]। ऐसा क्यों? समाधान यह है कि जब शरीर जल में तैरता है तब शरीर से बाहर निकलने वाली ऊष्मा अवरुद्ध होकर शरीर के भीतर चली जाती है, जिससे जमा हुआ कफ छिन्न-भिन्न होकर शोषित हो जाता है। इस प्रकार कफ का ह्रास हो जाने से ऊरुस्तम्भ में जलप्रतरण से लाभ होता है। यद्यपि जलप्रतरण कफ का समानधर्मा है, फिर भी योग्य उपचार होने से किया जाता है। चरक ने अभिमत विरुद्ध क्रिया को करने का अन्यत्र भी निर्देश दिया है—'भवेत्कदाचित्कार्याऽपि विरुद्धाभिमता क्रिया'। (च. चि. ३०।३२२)

श्लेष्मणः क्षपणं यत्स्यान्न च मारुतकोपनम्॥ ६०॥
तत्सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम्। शरीरं बलमग्निं च कार्येषा रक्षता क्रिया॥ ६१॥

ऊरुस्तम्भ चिकित्सा का सिद्धान्त—ऊरुस्तम्भ रोग में शरीर, शारीरिक बल तथा जठराग्नि की रक्षा करते हुए जो (आहार-विहार एवं) औषध कफ को नष्ट करे; किन्तु वायु को प्रकुपित न करे, उसका ही लगातार प्रयोग करते रहना चाहिए, जब तक कि रोग से निवृत्ति न मिल जाये॥ ६०-६१॥

तत्र श्लोकः—

हेतुः प्राग्रूपलिङ्गानि कर्मायोग्यत्वकारणम्। द्विविधं भेषजं प्रोक्तमूरुस्तम्भचिकित्सिते॥ ६२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने ऊरुस्तम्भचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'ऊरुस्तम्भचिकित्सित' नामक अध्याय में ऊरुस्तम्भ का निदान, पूर्वरूप एवं लक्षण कहे गये हैं। पञ्चकर्म इस रोग में क्यों नहीं सफल होता है, यह बतलाया गया है और अन्तःप्रयोग योग्य तथा बहिःप्रयोग योग्य औषधों को भी बतलाया गया है॥ ६२॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'ऊरुस्तम्भचिकित्सित' नामक सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २७॥

१. ननु जलप्रतरणं कथमस्य श्लेष्मक्षयकरं भवति। यस्माज्जलसम्बन्धमात्रेण श्लेष्मवृद्धिरेव प्राप्ता। उच्यते—जलेन बहिर्निर्गच्छदूष्मणो निरुद्धस्यान्तःप्रवेशाच्छ्लेष्मसंघातभेदनं भवति, तथा प्रतरणक्रियया श्लेष्मा विच्छिद्यते, समानाभिमता क्रियाऽप्यत्र योग्यत्वात् क्रियत एव। उक्तं हि–'भवेत्कदाचित् कार्याऽपि विरुद्धाभिमता क्रिया।'
(च. चि. ३० पर चक्रपाणि टीका)

ऊरुस्तम्भचिकित्सा क्रमबोधक-सारणी

उपचार	औषध	पथ्य
चिकित्सासूत्र—इस रोग में कफ और आम की प्रबलता होती है, इसलिए युक्तिपूर्वक शमन उपचार करना चाहिए एवं दोषों के नाशन तथा कफ एवं आम के शोषण का उपाय करें। ऊरुस्तम्भ रोग में स्नेहन कर्म, बस्तिकर्म, वमन या विरेचन नहीं करने चाहिए, क्योंकि स्नेहन और अनुवासन से कफ की वृद्धि होती है तथा वमन-विरेचन ऊरुप्रदेशगत कफ को निकालने में समर्थ नहीं होते। **चिकित्सा सिद्धान्त**—इस रोग में शरीर, शारीरिक बल और जठराग्नि की रक्षा करते हुए कफ को क्षीण बनाने वाले और वात को प्रकुपित न करने वाले औषध तथा आहार-विहार का सेवन करना चाहिए।	ऊरुस्तम्भ में क्षार द्रव्य तथा अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिए। हर्रे, मधु का शर्बत और पिप्पली का प्रयोग लाभकर है। **चूर्ण**—१. लज्जावन्ती, मोचरस, बेलगिरी या २. गन्धा-विरोजा, सुगन्धबाला, देवदारु और तगर या ३. चन्दन, धव का फूल, कूठ, तालीशपत्र और खश या ४. नागरमोथा, हर्रे, लोध, पद्मकाठ और कुटकी या ५. पीपर, पिपरामूल, धूप और देवदारु या ६. चाभ, चित्रकमूल, देवदारु और हर्रे या ७. भिलावे की गुठली, पीपर, पीपरामूल—इन औषधों का चूर्ण यथोचित मात्रा में मधु के साथ देना चाहिए। ८. शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण या ९. मूर्वादि योग मधु के शर्बत तथा दही के पानी के साथ दें। १०. गुग्गुलु को रातभर गोमूत्र में भिगोकर, सबेरे मसल कर पीना चाहिए। ११. स्वर्णक्षीर्यादि योग या १२. वटांकुरादि योग या १३. हरीतक्यादि योग की औषधों के चूर्ण को मधु से देना चाहिए। यदि रूक्षण चिकित्सा से निद्रानाश एवं बेचैनी हो, तो वातनाशक स्नेहन तथा स्वेदन करना चाहिए। **तैलयोग**—१. पीलुपर्ण्यादि तैल, २. कुष्ठादि तैल, ३. सैन्धवादि तैल या ४. अष्टकइर तैल का युक्तिपूर्वक उचित मात्रा में पान कराना चाहिए। **उबटन और लेप**—१. दीमक की मिट्टी, करंज की छाल और फल और ईंट का चूर्ण बारीक पीसकर सूखा उबटन पैरों पर मलें या २. असगन्ध या ३. मदार की छाल या ४. नीम की छाल या ५. देवदारु का चूर्ण बनाकर मलें या ६. सरसों, दीमक की मिट्टी का चूर्ण मधु मिलाकर उबटन लगायें। १. दन्ती, द्रवन्ती, तुलसी बीज, पीली सरसों—इन्हें पीसकर गाढ़ा प्रलेप लगाना चाहिए। २. वत्सकादि लेप में दही और सेंधानमक डालकर लेप करे। ३. श्योनाकादि योग के क्वाथ से परिसेचन करें या उन्ही औषधों को गोमूत्र में पीसकर लेप करें।	रूक्षता को बढ़ाने के लिए जौ की रोटी, सावाँ, कोदो का भात और जल तथा अल्प तैल डालकर बिना नमक के बने हुए शाक खाना चाहिए। तिनपतिया, नीम की पत्ती, मदार की पत्ती, अमलतास की पत्ती, मकोय की पत्ती, बथुआ और परवर का शाक खाना हितकर है। यदि रोगी का अपतर्पण करने से उसे वायु का प्रकोप हो, तो पुराने अगहनी चावल के भात को जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ युक्तिपूर्वक खिलाकर सन्तर्पण करना चाहिए।

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब यहाँ से (हम) 'वातव्याधिचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

उपक्रम—ऊरुस्तम्भ रोग के बाद वातव्याधि चिकित्सा के वर्णन का औचित्य यह है कि ऊरुस्तम्भ रोग की चिकित्सा में रूक्षण उपचार किया जाता है और रूक्षण से वायु का प्रकोप होता है। इस सम्बन्ध से ऊरुस्तम्भ के बाद वातव्याधि चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है।

निरुक्ति—'वाति इति वातः' 'वा गति गन्धनयोः' इस 'वा' धातु से 'वात' शब्द बनता है। गति का अर्थ स्पन्दन, गतिशीलता या हलचल है और गन्धन का अर्थ सूचना देना है। एवञ्च शरीर में स्थित वात शारीरिक क्रियाओं का संचालक और सूचक होता है। शरीर के किसी भी भाग में जरा-सा पिन चुभने पर शरीरस्थ संज्ञावहा नाड़ियों (Sensory nerves) में स्थित वात उसकी सूचना मस्तिष्क में पहुँचा देता है और उस पिन को निकालने के लिए मस्तिष्क केन्द्र से आज्ञावहा नाड़ियों (Motor nerves) में स्थित वात हाथ को आज्ञा का प्रसारण पहुँचाता है, जिससे उस स्थान पर पहुँचकर हाथ पिन को झटपट निकाल देता है। इस प्रकार मस्तिष्क से सर्वशरीर में सूचना देने वाली वाही वातवहा नाड़ी को 'सेन्सरी नर्व' और सर्वशरीर से मस्तिष्क केन्द्र को सूचना देने वाली वाही वातवहा नाड़ी को 'मोटर नर्व' कहते हैं। आयुर्वेद के शब्दों में केन्द्राभिमुख मस्तिष्क में सूचना के प्रापण का कार्य करने वाला प्राणवायु है—'प्रकर्षेण अनयति जीवयति इति प्राणः, प्रकर्षेण आनयति वा प्राणः।' इसी प्रकार केन्द्र से आज्ञा लेकर शरीर के दूरस्थ भागों में सूचना पहुँचाने वाला अपानवायु है—'अप आनयति दूरीकरोति इति अपानः'। केन्द्र से आज्ञा लेकर दूरस्थ शरीर-देश में सूचना पहुँचाना इसका व्यापार है।

स्थूलदृष्टि से प्राण और अपान ये दो वायु के मुख्य भेद हैं। उदान, समान और व्यान इन्हीं के सहायक और पूरक हैं।

वातव्याधि की व्युत्पत्ति—जब 'वात एव व्याधिः वातव्याधिः' ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं, तो इससे विकृत वायु जब स्वप्रकोपक कारणों से कुपित होकर उन-उन दूष्यों के साथ मिलकर शरीर के एकांग में या सर्वांग में विविध प्रकार की वेदनाओं को उत्पन्न करती है, तो उन वेदनाप्रकारों को वातव्याधि कहा जाता है।

जब 'वाताद् व्याधिः वातव्याधिः' यह व्युत्पत्ति करते हैं, तब वातदोष से दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना-जनित एकाङ्गगत या सर्वाङ्गगत व्याधि की उत्पत्ति होती है, तो उसे वातव्याधि कहते हैं। यद्यपि ज्वर आदि रोग भी वात से उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे बिना वात के भी अन्य दोषों से भी उत्पन्न होते हैं, इसलिए वातव्याधि की सीमा में वे नहीं आते हैं। जो वातव्याधि में कफ-पित्तावृत वातविकार गिने गये हैं उनका इसमें परिगणन उचित है, क्योंकि वे प्रधानतः वात से सम्बद्ध हैं और बिना वात के वे नहीं हो सकते। अतः वे वातव्याधि ही हैं।

यहाँ 'नानात्मज' वातव्याधि का वर्णन है—'आत्मनो जाता आत्मजाः, न आत्मजा अनात्मजाः, न अनात्मजा इति नानात्मजाः' अर्थात् जो अपने से उत्पन्न होते हैं, वे आत्मज होते हैं, जो अपने से नहीं

उत्पन्न होते, वे अनात्मज होते हैं और जो अनात्मज नहीं हैं, वे 'नानात्मज' कहलाते हैं; तात्पर्य यह है कि जो केवल किसी एक ही दोष से उत्पन्न होते हैं, वे रोग 'नानात्मज' कहे जाते हैं, जैसे केवल वायु से उत्पन्न आक्षेपक, केवल पित्त से उत्पन्न दाह-ओष या केवल कफ से उत्पन्न तृप्तिरोग नानात्मज रोग हैं।

इस ग्रन्थ में मात्र वातज नानात्मज रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है, न कि पित्तज एवं कफज नानात्मज रोगों का। इसका कारण यह है कि तीनों दोषों में वात ही प्रधान है और पित्त तथा कफ, यह दोनों दोष वात द्वारा संचालित होते हैं। देखें—'पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्'। वायु ही सर्वशरीर में फैले हुए सिरा, धमनी आदि तन्त्र तथा हृदय, फुप्फुस, यकृत् एवं मस्तिष्क आदि यन्त्रों को क्रियाशील बने रहने के लिए शक्ति देता है। चेष्टावहा नाड़ियों (Motor nerves) के द्वारा मांसपेशियों में गतिशीलता लाता है। मन का व्यापार और मन का नियामन भी वायु का ही व्यापार है। वायु की ही शक्ति से चेष्टावहा नाड़ियों (Motor nerves) तथा संज्ञावहा नाड़ियों (Sensory nerves) के द्वारा सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। वायु ही इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) को स्ववाहक नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क-केन्द्र तक पहुँचाती है। वाणी की प्रवृत्ति का व्यापार उदानवायु करती है। जठराग्नि को प्रदीप्त करने का कार्य समानवायु करती है। जब वायु विकृत होती है, तो वह शरीर में होने वाली क्रियाओं को गम्भीर रूप से विकृत तथा विपरीतगामी बना देती है। मनःसंक्षोभ होने से मन में भी ज्वार आने लगते हैं। जैसे प्रकृति में वायु के प्रकोप से भूकम्प और ज्वालामुखी फूट पड़ते हैं, वैसे ही भीतरी शरीर में वायु का प्रकोप शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को अस्त-व्यस्त कर मर्म स्थानों को पीड़ा और वेदना का अभिशाप बना देता है। वायु के विकृत होने पर जीवन-धारण सन्दिग्ध बन जाता है। महाव्याधियों में वातव्याधि प्रमुख है। इसलिए इसकी गम्भीरता को देखकर ऋषियों ने इसे स्वतन्त्र रूप से वर्णित किया है[1]।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्। वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥ ३ ॥

वायु की सर्वसमर्थता—(शरीर-इन्द्रिय-मन-आत्मा के संयोगरूप आयु के अस्तित्व में प्रकृतिस्थ वायु का महान् योगदान होता है, इसलिए) वायु को आयु कहा गया है। शरीरधारक होने से शरीर का बल वायु है। शरीर के स्वामी आत्मा का धारण करने वाला वायु है। वायु ही संसार की गति का नियामक होने से विश्व है और शरीर तथा बाह्य जगत् का भी स्वामी वायु को ही कहा गया है ॥ ३ ॥

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥

वायु ही जीवन है—जिस व्यक्ति के शरीर में वायु अपने मार्ग में बिना किसी रुकावट के संचरण करता है, अपने स्थान में रहता है और स्वाभाविक स्थिति में (न क्षीण, न वृद्ध) होता है, वह व्यक्ति सौ वर्ष तक या उससे भी अधिक समय तक जीवित रहता है ॥ ४ ॥

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा। देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥

वायु के भेद—१. प्राण, २. उदान, ३. समान, ४. व्यान और ५. अपानभेद से वायु पाँच रूपों में पाँच प्रकार का होकर अपने स्थानों में बिना रुकावट के गतिशील होते हुए शरीर को सुचारुरूप से संचालित करता है ॥ ५ ॥

स्थानं प्राणस्य मूर्धोरःकण्ठजिह्वास्यनासिकाः। ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च ॥ ६ ॥

१. वायोरतिवलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात् तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वादाश्वेवात्ययकरत्वाद् विशिष्ट-चिकित्सात्वाद् वातव्याध्यभिधानम्, न तु कफपित्तव्याध्यभिधानम्। (मधुकोष टीका)

प्राणवायु का स्थान तथा कर्म—शिर, छाती, कण्ठ, जीभ, मुख और नाक—ये प्राणवायु के **स्थान** हैं। थूकना, छींकना, डकार लेना, श्वास लेना और भोजन निगलना आदि प्राणवायु के **कर्म** हैं॥ ६॥

वक्तव्य—**वाग्भट**[१] ने कहा है कि प्राणवायु का मुख्य केन्द्र मूर्धा या मस्तिष्क है, किन्तु यह उरःस्थल एवं कण्ठ में संचरण करता हुआ बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और मन का धारण करता है। **सुश्रुत**[२] ने मुखसंचारी वायु को प्राण संज्ञा दी है और उसका कार्य आहार का निगलन कर अन्ननलिका के भीतर से आमाशय में पहुँचाना तथा प्राणों का अवलम्बन करना कहा है। **डल्हण**[३] ने प्राणों के अवलम्बन का तात्पर्य जठराग्नि आदि को अपनी क्रिया में प्रवृत्त करना बतलाया है तथा प्राण से अग्नि, सोम, वायु, रज, तम, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों एवं मन का ग्रहण किया है। प्राणवायु अग्नि आदि को अपने कार्यों में प्रवृत्त कराता है। **शार्ङ्गधर**[४] ने प्राणवायु का स्थान हृदय माना है। उनके अनुसार नाभि में स्थित प्राणवायु हृदय के अन्तस्तल को स्पर्श कर कण्ठ से बाहर जाकर अम्बरपीयूष अर्थात् ऑक्सीजन का पान करके पुनः मुख और नासिका द्वारा फुप्फुसों के वायुकोषों में पहुँचकर वायुकोषों के चारों ओर लिपटी सिराओं में प्रविष्ट होकर हृदय में जाता है तथा यह हृदय एवं फुप्फुसों के कार्य में सहायक होकर शरीर को सन्तृप्त कर जठराग्नि तथा जीवन को संचालित करता है। इस प्रकार सारा शरीर प्राणवायु से अनुप्राणित है तथा नाभि, हृदय और शिर—ये तीन मर्मस्थान इसके विशेष स्थान हैं।

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च। वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौर्जोबलवर्णादि कर्म च॥ ७॥

उदानवायु का स्थान तथा कर्म—नाभि, उरःप्रदेश (छाती) और कण्ठ, ये उदानवायु के **स्थान** हैं। बोलना, गाना, प्रयत्न करना, शरीर को शक्ति देना, उत्साह देना और बल-वर्ण आदि को व्यवस्थित रखना—ये उदानवायु के **कर्म** हैं॥ ७॥

वक्तव्य—नाभि से महाप्राचीरा पेशी और उरःप्रदेश से फुप्फुस और हृदय समझना चाहिए। उदानवायु का प्रधान स्थान उरःप्रदेश है और यह नाभि, नासिका तथा गले में सञ्चरण करता है[५]। श्वासप्रणाली भी इसका क्षेत्र है। फुप्फुसीय नाड़ीजाल (Pulmonary plexus) भी इसकी सीमा में है। इस वायु की विकृति से ऊर्ध्वजत्रुगत रोग, स्वरभेद, कास-श्वास, हिक्का आदि होते हैं[६]।

स्वेददोषाम्बुवहानि स्रोतांसि समधिष्ठितः। अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः॥ ८॥

समानवायु का स्थान तथा कर्म—स्वेदवह, दोषवह और जलवह स्रोतों में तथा जठराग्नि के समीप पच्यमानाशय में समानवायु का **स्थान** है। अग्नि को बल प्रदान कर उसे प्रज्वलित और सन्धुक्षित करना, यह समान वायु का **कर्म** है॥ ८॥

वक्तव्य—समानवायु का मुख्य स्थान पाचन-संस्थान है और मुख्य कार्य पाचन-प्रक्रिया को व्यवस्थित बनाये रखना है। सुश्रुत[७] ने इसे आमाशय एवं पक्वाशय में सञ्चरणशील कहा है और अन्न का पाचन रस

१. प्राणोऽत्र मूर्धगः, उरःकण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक्। (अ.हृ.सू. १२)
२. वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तःप्राणाँश्चाप्यवलम्बते॥ (सु.नि. १)
३. अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मा मनश्चेति प्राणाः। (सु.शा. ४)
४. नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्॥
(शा.सं.पू.ख. ५।८९-९०)
५. उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्। (अ.हृ.सू. १२)
६. ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः। (सु.नि. १)
७. आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। (सु.नि. १)

तथा मल का विभाजन करना, इसका कर्म बतलाया है। वाग्भट[१] ने अन्न का ग्रहण, पाचन, रस-मल का विभाजन तथा मल का विमोचन करना, इसका कर्म कहा है। इसकी विकृति[२] से गुल्म, मन्दाग्नि तथा अतिसार आदि रोग होते हैं।

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्। गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा॥ ९॥

व्यानवायु का स्थान तथा कर्म—समस्त शरीर व्यानवायु का **स्थान** है। शरीर में गति उत्पन्न करना, अंगों को फैलाना और अंगों को खींचना, नेत्र की पलकों को बन्द करना और खोलना, ये व्यानवायु के **कर्म** हैं॥ ९॥

वक्तव्य—सुश्रुत[३] ने व्यानवायु को सर्वशरीरचारी बतलाया है और रससंवहन, स्वेदप्रवृत्ति तथा रक्त-स्रावण आदि इसका कार्य कहा है। इससे इसका प्रमुख स्थान हृदय तथा रक्तसंचार, अनैच्छिक मांसपेशियों की गति, हृदय का स्पन्दन, धमनी-प्रधमन आदि इसके कार्य प्रतीत होते हैं। वाग्भट[४] ने स्पष्टतः इसका स्थान हृदय बतलाया है तथा सर्वशरीरचारी एवं महावेगवान् कहा है और शरीर के समस्त कार्यों के लिए व्यानवायु को ही संचालक माना है। अतः इसका कार्य समस्त शारीरिक क्रियाओं का व्यवस्थित रूप से संचालन है, इसलिए यह व्यानवायु शरीर की जीवनीशक्ति है। इस वायु की विकृति से सर्वशरीरगत रोग हो सकते हैं। शरीर की मांसपेशियों की क्षीणता, दुर्बलता एवं उनके शोषण का कारण व्यानवायु का प्रकुपित होना है।

वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम्। अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च॥ १०॥ सृजत्यार्तवगर्भौ च—

अपानवायु का स्थान और कर्म—दोनों अण्डकोष, बस्ति, मूत्रेन्द्रिय, नाभि, ऊरुप्रदेश, वंक्षण और गुदा, ये अपानवायु के **स्थान** हैं। **कर्म**—अन्त्रप्रदेश में रहने वाला अपानवायु वीर्य, मूत्र, पुरीष, गर्भ और आर्तव को बाहर निकालने का कार्य करता है॥ १०॥

वक्तव्य—अपानवायु का मुख्य स्थान पक्वाशय[५] (नाभि से नीचे गुदा तक) है। इसके प्राकृत होने पर मलमूत्रादि का निर्बाध विसर्जन होता है और विकृत होने पर मल-मूत्रावरोध, रजःकृच्छ्र, मूढ़गर्भ आदि विकार होते हैं।

—युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते। स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तैरनामयः॥ ११॥

प्राकृत वात शरीर के धारक हैं—अपने-अपने स्थान में स्थित और प्राकृत स्थिति में रहने वाले प्राण, उदान, समान, व्यान और अपानवायु अपने कार्यों को सम्यक् प्रकार से करते हैं, जिससे शरीर नीरोग बना रहता और आयुष्य का सन्धारण होता है॥ ११॥

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः। शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च॥ १२॥

१. समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः। अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति॥ (अ.हृ.सू. १२)
२. गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान्। (सु. नि. १)
३. कृत्स्नदेहचरो व्यानः रससंवहनोद्यतः। स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥ (सु.नि. १)
('प्रसारणाकुञ्चनविनमनोन्नमनतिर्यग्गमनानि पञ्च चेष्टाः'। (डल्हण)
४. व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः। (अ.हृ.सू. १२)
५. पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्। समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः॥
क्रुद्धस्तु कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान्। शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः॥ (सु.नि. १)

विकृत वात विनाशकारी है—अपने स्थान से हटकर विपरीत मार्ग में गमन करने वाले और विकृत हुए (क्षीण या वृद्ध) प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान वायु अपने स्थान तथा निज कर्म के अनुसार रोगों को उत्पन्न कर शरीर में पीड़ा पहुँचाते हैं तथा (उग्ररूप धारण कर) जीवन को विनष्ट कर देते हैं॥ १२॥

सङ्ख्यामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः। अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः॥ १३॥

वातज नानात्मज रोग—विमार्गगामी प्राण आदि वायु असंख्य रोगों को उत्पन्न करते हैं। उनमें से कुछ प्रधान नखभेद आदि ८० प्रकार के रोगों को सूत्रस्थान (अध्याय २०) में बतलाया गया है॥ १३॥

तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमाञ्छृणु। केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात्तथाऽऽवृतम्॥ १४॥

वातव्याधियों के निदान एवं उपचार का उपक्रम—प्राण आदि पाँच वायु-प्रकारों के स्थानभेद से केवल वायु को लक्ष्य कर और आवृत वायु के उद्देश्य से कहे जाने वाले वातरोगों को पर्यायवाची शब्दों में निदान एवं चिकित्सा सहित सुनिये॥ १४॥

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः। विषमादुपचाराच्च दोषसृक्स्रवणादपि॥ १५॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः। धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोककरोगातिकर्षणात्॥१६॥
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद्दिवास्वप्नाद्भयादपि। वेगसन्धारणादामादभिघातावशीलनात्॥ १७॥
मर्मबाधाद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात्। देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली॥
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान्।

वातरोगों का निदान—रूक्ष आहार, शीत आहार, अल्पमात्रा में आहार, लघु गुण वाले पदार्थों का आहार, अति मैथुन, अति जागरण, अनुपयुक्त पञ्चकर्म-प्रयोग या अनुचित चिकित्सा करना, अधिक मल निकलना, अधिक रक्तस्राव होना, कूदना, तैरना, अधिक पैदल चलना, अधिक व्यायाम करना, किसी भी प्रकार का अधिक श्रम करना, धातुओं का क्षीण होना, चिन्ता करना, शोक करना, किसी रोग के अधिक दिनों तक बने रहने से शरीर का कृश हो जाना, कष्टदायक शय्या पर सोना या कष्टप्रद कुर्सी, चौकी, चारपाई पर बैठना, क्रोध करना, दिन में सोना, भयभीत होना, मल-मूत्रादि वेगों को रोकना, आमदोष उत्पन्न होना, चोट लगना, उपवास करना, मर्मस्थान में चोट लगना, हाथी-ऊँट-घोड़ा या किसी अन्य तेज चलने वाली सवारी से गिरना या धातुओं का कृश हो जाना—इन कारणों से प्रकुपित हुआ वायु शरीर के रिक्त (खाली) स्रोतों में भर जाता है और सर्वांगव्यापी अथवा एकांगव्यापी अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है॥ १५-१८॥

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्॥ १९॥

वातव्याधि का पूर्वरूप—वातविकारों का अव्यक्त अथवा ईषद् व्यक्त लक्षण ही उनका पूर्वरूप होता है॥ १९॥

आत्मरूपं तु यद् व्यक्तमम्भसो लहरी यथा[1]।

वातव्याधि का लक्षण—जब पूर्वरूप दोष-दूष्य आदि के भेद से सुस्पष्ट और व्यक्त हो जाता है, तब वह लक्षण कहलाता है। लक्षणों का स्थिर न रहना (वायु की चंचलता के कारण स्तम्भ, संकोच

१. अपाय इति वायोश्चलत्वेन स्तम्भसंकोचकम्पादीनां कदाचिदभावात्, यदुक्तं—'गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु' इति। लघुतेति शरीरस्य वायुना सर्वधातुशोषणात् अथवा अपायो लघुता इति सर्वविकाराणामपायोऽभावः किं तदित्याह—लघुतेति। वातलिङ्गानां लघुताऽत्यल्पत्वेनावस्थानं, न तु निःशेषनिवृत्तिः, यथाबहिरायामनिवृत्तावपि न रूक्षत्वादिनिवृत्तिरित्याहुः। (मधुकोषटीका, वातव्याधि०)

या कम्पन आदि लक्षणों का अभाव हो जाना) तथा वायु द्वारा शरीर की धातुओं को शोषित करने से शरीर में लघुता या हलकापन की प्रतीति होना—ये वातरोगों के लक्षण हैं।

वक्तव्य—यहाँ **अपाय** का अर्थ वातरोगों के लक्षणों का अभाव होना लिया गया है, क्योंकि वायु स्वयं अस्थिर और चंचल है, जिससे उसके लक्षण कदाचित् छोड़-छोड़ कर पुनः आ जाते हैं और लघुता का अर्थ शरीर के धातुओं के शुष्क होने से शरीर का हल्का होना है।

मतान्तर में 'अपायो लघुता पुनः' का अर्थ वातरोगों में लघुता या कमी होना एवं वातरोग के नाश का लक्षण है।

सङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्नां पर्वणामपि॥ २०॥
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः। खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता॥
गर्भशुक्रार्तवोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता। शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्॥ २२॥
भेदस्तोदार्तिरक्षेपो मोहश्चायास एव च। एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः॥ २३॥

प्रकुपित वात के कार्य—शरीरस्थ वायु जब प्रकुपित होता है, तब हाथ-पैर के जोड़ों में सिकुड़न या जकड़ाहट होती है, हड्डियाँ टूट जाती हैं, अस्थि-सन्धियों में टूटन होती है या सन्धिच्युति (Dislocation) हो जाती है। रोंगटे खड़े हो जाते हैं, रोगी प्रलाप करने लगता है, हाथ, पृष्ठ और शिर जकड़ जाते हैं, रोगी चलने में लड़खड़ाता है या एकदम पंगु हो जाता है या कुबड़ा हो जाता है, अंग सूख जाते हैं, नींद नहीं आती है, गर्भ गिर जाता है, शुक्र का अवाञ्छित स्राव होने लगता है, आर्तव आना बन्द हो जाता है, शरीर काँपने लगता है, अंगों में सूनापन हो जाता है; शिर, नासिका, नेत्र, जत्रु और ग्रीवा में टेढ़ापन या मरोड़ या तोड़ने जैसी वेदना होती है या दबाव मालूम होता है, अंगों में भेदन करने जैसी या सूई चुभाने जैसी पीड़ा होती है, अंगों में आक्षेप होते हैं, मूर्च्छा की स्थिति हो जाती है और थकावट मालूम होती है। कुपित हुआ वायु इन उपर्युक्त विविध विकारों को उत्पन्न करता है॥ २०-२३॥

वक्तव्य—'हुण्डन' शब्द का अर्थ आचार्य चक्रपाणि ने भीतर की ओर दब जाना किया है और दूसरों के मत का उल्लेख करते हुए शिर के हुण्डन का अर्थ बालों की जड़ की त्वचा का फटना, नासा-हुण्डन का अर्थ घ्राणशक्ति का नष्ट होना, अक्षि-हुण्डन का अर्थ नेत्रविकृति होना, जत्रु-हुण्डन का अर्थ वक्षःस्थल में जकड़ाहट होना और ग्रीवा-हुण्डन का अर्थ ग्रीवास्तम्भ होना बतलाया है।

हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत्।

निदान आदि के वैशिष्ट्य से रोगविशेष की उत्पत्ति—हेतु और स्थान के अलग-अलग होने से वायु भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—विशिष्ट कारण से वायु का प्रकोप होता है और जिस धातु या स्थान में वह रहता है उसके अनुसार भिन्न-भिन्न रोगों को उत्पन्न करता है, जैसे मन्यास्तम्भ, पक्षवध, हनुग्रह, कर्णशूल आदि।

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः॥ २४॥
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते। सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जनम्॥ २५॥
वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः।

कोष्ठाश्रित और सर्वाङ्ग में कुपित वायु का लक्षण—जब प्रकुपित वात कोष्ठ में आश्रित होता है, तो मूत्रावरोध तथा मलावरोध होता है, जिससे ब्रध्नरोग (वंक्षणप्रदेश में गिल्टी निकलना), हृदयरोग, गुल्मरोग, अर्शरोग और पार्श्वशूल (पसलियों में दर्द), ये रोग उत्पन्न होते हैं। जब प्रकुपित वायु शरीर के सभी अंगों में फैल जाता है, तब अंगों में फड़कन और तोड़ने जैसी पीड़ा होती है, सभी सन्धियों में वेदना व्याप्त हो जाती है और सन्धियाँ फटने जैसी स्थिति में प्रतीत होती हैं॥ २४-२५॥

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः॥ २६॥

जङ्घोरुक्रिकपार्ष्ठरोगशोषौ गुदे स्थिते। हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ॥ २७ ॥
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते।

गुदगत एवं आमाशयगत कुपित वातलक्षण—जब उत्तरगुद में प्रकुपित वायु अवस्थित होती है तब मल, मूत्र और अपानवायु के निकलने में रुकावट होती है तथा उदर में शूल और आध्मान; मूत्राशय में अश्मरी या शर्करा; जंघा, ऊरुप्रदेश, त्रिकप्रदेश, पैर और पृष्ठ में पीड़ा एवं शोष हो जाता है। जब आमाशय में वायु प्रकुपित होती है तब हृदय, नाभि, पार्श्व और उदर में पीड़ा होती है, प्यास अधिक लगती है, डकारें आती हैं, विसूचिका (हैजा), खाँसी, गले और मुख का सूखना और श्वास फूलना—ये सब लक्षण होते हैं॥ २६-२७॥

वक्तव्य—यहाँ गुदगत वातविकारों में अश्म और शर्करा शब्दों का उल्लेख किया गया है, जिससे गुद शब्द से उसके सामने स्थित बस्तिप्रदेश का भी ग्रहण किया जाना चाहिए। वातप्रकोप के कारण गुदा के फूलने से दबाव पड़ने के कारण भी बस्तिगत विकार हो सकते हैं। गुदा के समीप में स्थित वातनाड़ी समूह की विकृति से उनके क्षेत्र जंघा आदि में पीड़ा आदि लक्षण होने लगते हैं। आमाशय में वातप्रकोप होने से आमाशय में शोथ हो जाता है और पार्श्वप्रदेश में दबाव पड़ने से पार्श्वशूल एवं ऊपर की ओर फुप्फुस पर दबाव पड़ने से श्वास की गति बढ़ जाती है।

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ॥ २८ ॥
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्। श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टसमीरणः ॥ २९ ॥

पक्वाशयगत एवं श्रोत्रादिगत कुपित वातलक्षण—जब पक्वाशय में वायु कुपित होता है, तब आँतों में अव्यक्त शब्द (गुड़गुड़ाहट), शूल एवं आवाज के साथ वायु भरना—ये लक्षण होते हैं। मूत्रकृच्छ्र, मलावरोध, आनाह और त्रिकप्रदेश में पीड़ा होती है॥ २८-२९॥

वक्तव्य—यह श्लोक सुश्रुत-निदानस्थान में भी इसी प्रकार से उद्धृत है। माधवनिदान में भी यह श्लोक उद्धृत किया गया है। इस श्लोक की मधुकोष टीका में यह शंका व्यक्त की गयी है कि पूर्व में गुदगत (उत्तरगुद-पक्वाशय) वातविकार का जो लक्षण कहा गया है, उस कथन से पक्वाशयगत वातप्रकोप का लक्षण कह दिया गया है। तो फिर 'पक्वाशयस्थ' इत्यादि श्लोक से उसी बात का कथन पुनरुक्ति दोष है। इसके उत्तर में कहा गया है कि "गुदे स्थिते' इति दृढबलस्य लक्षणं 'पक्वाशयस्थ' इति सुश्रुतस्य, उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गप्रदर्शनार्थमित्यविरोधः"। वस्तुतः पहले (श्लोक २४ में) यह कह आये हैं कि हेतु तथा स्थान के भेद से अलग-अलग रोगविशेष होते हैं, अतः यहाँ भी अलग-अलग कहना उचित ही है।

श्रोत्रादिगत वातविकार—कान, जिह्वा, त्वचा, नेत्र आदि इन्द्रियाधिष्ठानों में जब वायुप्रकोप होता है तब प्रकुपित वायु उन इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति को नष्ट कर देती है। वायु के प्रकोप से श्रुतिनाड़ी (Auditory nerve), दृष्टिनाड़ी (Optic nerve), घ्राणनाड़ी (Olfactory nerve), रसनेन्द्रिय नाड़ी (Taste fibres of chordatympanic nerve) तथा शीत-उष्ण आदि के ज्ञान के वाहक स्पर्शनाड़ी सूत्रों की क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे उन इन्द्रियार्थों का ज्ञान नहीं होता है॥ २८-२९॥

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते। आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ॥

त्वचागत दुष्ट वायु का लक्षण—जब प्रकुपित वात त्वचा में स्थित होता है तब त्वचा रूखी, फटी हुई, स्पर्शज्ञानशून्य, पतली और काली पड़ जाती है तथा उसमें सूई चुभाने जैसी पीड़ा, तनाव, लालिमा एवं पर्व या सन्धियों में भी पीड़ा होती है॥ ३०॥

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः। गात्रे चास्रमि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥

रक्तगत प्रकुपित वात का लक्षण—जब प्रकुपित वात रक्त में स्थित होता है तब शरीर में सन्ताप या जलन, तीव्र पीड़ा, त्वचा में विकृत वर्ण की उत्पत्ति, कृशता और भोजन में अरुचि होती है, शरीर में छोटी फुन्सियाँ निकल आती हैं तथा भोजन के बाद गात्रस्तम्भ हो जाता है॥ ३१॥

वक्तव्य—विद्वज्जन ऐसा मानते हैं कि इस रोग में दुष्ट वायु रक्त से आवृत्त होकर और भी प्रकुपित हो जाती है। इस रोग में रक्त का दबाव बढ़ जाता है, जिससे हाई ब्लडप्रेसर हो जाता है। वयस्क व्यक्तियों में वामनिलय तथा रक्तवाही धमनियों के परमचय (Hypertrophy) से कभी-कभी वृक्कविकार से भी हाई ब्लडप्रेसर हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रसवकालीन अत्यधिक पीड़ा या वृक्कशोथजन्य विषमयता (Toxaemia) या प्रवृद्ध रक्तपिच्छिलता से भी रक्तदाब की वृद्धि हो जाती है। रक्तदाब का नियन्त्रण वामनिलय (Left ventricle) की क्रियाशीलता, धमनियों के स्थितिस्थापकत्व तथा रक्त की मात्रा एवं उसकी पिच्छिलता (Viscosity) के द्वारा होता है।

अन्य विद्वान् 'रक्तञ्च वातश्च इति रक्तवातः' ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं और 'रक्तवात' तथा 'वातरक्त' में अभिन्नता मानते हैं। वस्तुतः ये दोनों दो रोग हैं—'वातरक्त' में वात और रक्त या दोनों ही अपने-अपने प्रकोपक कारणों से विकृत रहते हैं, जब कि रक्तगत वात में दुष्ट वायु ही रक्तगत या रक्त से आवृत होकर विकार को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वातरक्त से गाउट (Gout) तथा रक्तवात से बढ़े हुए रक्त के दबाव (High B.P.) को समझना चाहिए।

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं तथा। सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥ ३२ ॥

मांस और मेदोगत प्रकुपित वात का लक्षण—मांस तथा मेदो धातु में विकृत वात के रहने पर शरीर में भारीपन, अंगों में सुई चुभाने जैसी व्यथा एवं डण्डे से या मुट्ठी बाँधकर मारने जैसी पीड़ा होती है। शरीर पीड़ायुक्त और थका-थका सा होता है॥ ३२॥

वक्तव्य—मांस एवं मेदोगत दुष्टवायु के लक्षण समान होने से एक साथ पढ़े गये हैं।

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः। अस्वप्नः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥

मज्जागत एवं अस्थिगत प्रकुपित वात का लक्षण—जब प्रकुपित वात मज्जा या अस्थि में स्थित होता है, तब हड्डियों एवं अस्थिसन्धियों में टूटने जैसी पीड़ा, सन्धिशूल, मांस एवं बल का क्षय, अनिद्रा और लगातार शरीर में पीड़ा का बना रहना आदि लक्षण होते हैं॥ ३३॥

वक्तव्य—अस्थि और मज्जागत विकृत वात के लक्षण समान होते हैं। ये लक्षण आधुनिक परिभाषित रोग अस्थिमज्जा-शोथ (Oestomyelitis) के साथ मिलते हैं। उसमें भी तीव्र तथा स्थायी स्वरूप का शूल एवं निद्रानाश पाया जाता है। केवल अस्थिशोथ को आस्टाइटिस (Ostitis) और उसके आवरण मात्र के शोथ को पेरिआस्टाइटिस (Periostitis) कहते हैं। इन सबका समावेश अस्थिगत वात में ही हो जाता है।

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा। विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥ ३४ ॥

शुक्रगत प्रकुपित वात का लक्षण—जब प्रकुपित वात शुक्र में स्थित रहता है तब शीघ्र ही वीर्यपात हो जाता है या कदाचित् शुक्र बँध जाता है। इसी प्रकार कभी शीघ्र गर्भपात हो जाता है अथवा देर से प्रसव होता है और वीर्य में या गर्भनिर्माण में विकृति आ जाती है॥ ३४॥

बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च। सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः ॥

स्नायुगत विकृत वात का लक्षण—जब प्रकुपित वात स्नायु में स्थित रहता है तब वह बाह्यायाम, आभ्यन्तरायाम, खल्लीरोग, कुब्जरोग, सर्वांगवात या एकांगवात—इन रोगों को उत्पन्न करता है॥ ३५॥

शरीरं मन्दरुक्शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा। सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ॥ ३६ ॥

सिरागत प्रकुपित वात का लक्षण—जब प्रकुपित वात सिराओं में रहता है तब शरीर में मन्द-मन्द वेदना होती है, कुछ शोथ होता है, शरीर सूखने लगता है, शरीर में कम्पन होता है एवं सिरायें सूनी हो जाती हैं, पतली हो जाती हैं या बड़ी हो जाती हैं॥ ३६॥

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनले। प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना॥ ३७॥
(इत्युक्तं स्थानभेदेन वायोर्लक्षणमेव च।)

सन्धिगत प्रकुपित वात का लक्षण—जब प्रकुपित वात सन्धियों में रहता है तब सन्धियों का स्पर्श करने पर वायु भरे मसक की प्रतीति होती है और सन्धियों में शोथ होता है। सन्धियों के फैलाने तथा सिकोड़ने में कष्ट होता है। इस प्रकार स्थानभेद से प्रकुपित वात के लक्षणों का वर्णन कर दिया गया॥ ३७॥

वक्तव्य—सन्धिगत कुपित वात सन्धियों के स्वाभाविक कार्य को बाधित कर देता है। कभी-कभी सन्धिच्युति हो जाती है या कभी सन्धियाँ जकड़ जाती हैं। आम तथा अन्य दोषों के सम्पर्क से शोथ आदि विकार हो जाते हैं। सन्धियों में एक विशेष प्रकार का लचीलापन होता है, जिससे वे आवश्यकतानुसार प्रसारित या संकुचित की जाती हैं। वायु के विकार से सन्धियों की यह क्रिया नष्ट हो जाती है या विकृत हो जाती है और रुग्ण व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उन्हें प्रसारित अथवा संकुचित नहीं कर पाता है। जबरदस्ती प्रसारण या आकुंचन में पीड़ा होने लगती है। यह स्थिति अधिकांशतः आमवात रोग में पायी जाती है। आधुनिक चिकित्साशास्त्रविद् सन्धिगत वातविकार को आर्थ्राइटिस (Arthritis) या सन्धिवात कहते हैं और सामविकार को सिनोआर्थ्राइटिस (Sinorthritis) या आमवात कहते हैं।

अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते। यदा तदोपशोष्यासृग्बाहुं पादं च जानु च॥ ३८॥
तस्मिन् सङ्कोचयत्यर्धे मुखं जिह्मं करोति च। वक्रीकरोति नासाभ्रूललाटाक्षिहनूस्तथा॥ ३९॥
ततो वक्रं व्रजत्यास्ये भोजनं वक्रनासिकम्। स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्षवथुश्च निगृह्यते॥ ४०॥
दीना जिह्मा समुत्क्षिप्ता कला सज्जति चास्य वाक्।
दन्ताश्चलन्ति बाध्येते श्रवणौ भिद्यते स्वरः॥ ४१॥
पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशङ्खश्रवणगण्डरुक्। अर्धे तस्मिन्मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्॥ ४२॥

अर्दित का लक्षण—जब अतिशय बढ़ा हुआ वायु शरीर के दाहिने या बायें, किसी एक ओर गतिशील होकर रहता है, तब वह वायु उस शरीरार्ध में रक्त को सुखाकर हाथ, पैर और जानु को संकुचित कर मुख को तथा नासिका, भौंह, ललाट, नेत्र और हनु को टेढ़ा कर देती है। रोगी के मुख में भोजन का ग्रास टेढ़ा होकर जाता है। बोलते समय नाक टेढ़ी हो जाती है और आँख निश्चल होती है। छींक के वेग आकर रुक जाते हैं। उसकी वाणी धीमी, टेढ़ी, लड़खड़ाती हुई, अस्पष्ट और रुक-रुक कर निकलती है। दाँत हिलने लगते हैं, कान बहरे हो जाते हैं और स्वर फट जाता है। रोगी के आक्रान्त शरीरार्ध के पैर, हाथ, नेत्र, जंघा, ऊरुप्रदेश, शंख, कान और कपोलप्रदेश में पीड़ा होती है अथवा केवल मुख के आधे भाग में पीड़ा होती है! इस तरह के रोग को 'अर्दित'[1] कहते हैं॥ ३८-४२॥

१. (क) उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा। हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमायिनः॥
शिरो नासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः। अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः॥
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते। शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम्॥
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन् पार्श्वे च वेदना। यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम्॥
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः। तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः॥
(सु.नि. १)

वक्तव्य—सुश्रुत ने 'वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते' इत्यादि लक्षणों से अर्दित रोग को मुखार्ध में ही होने वाला कहा है और रोगाक्रान्त मुखार्ध में नेत्र, नासा, कर्ण, ओष्ठ, हनु एवं दाँतों में विशेष विकृति होने का उल्लेख किया है। **दृढबल** ने 'अर्धे तस्मिन्मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्' इस कथन से शरीर के आधे भाग के अर्धांगवात तथा मुख के अर्धभाग में होने वाली मुखाकृति के टेढ़ापन की विकृति—इन दोनों को अर्दित माना है। इस प्रकार अर्दित रोग शरीरार्ध में होने वाला अर्धांगवात और मुखार्ध में होने वाला विकारभेद से दो तरह का होता है। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न यह उठता है कि शरीरार्ध में होने वाले अर्धांगवात या पक्षवध तथा अर्दित, इन दोनों में भेद ही क्या रह जायेगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए चक्रपाणि ने कहा है कि शरीरार्ध में होने वाला अर्दित रोग आकस्मिक रूप से दौरा आने पर अस्थायी तौर पर होता है, जब कि अर्धांगवात के लक्षण स्थायी एवं लगातार बने रहने वाले होते हैं। दूसरी बात यह है कि अर्दित में मुखमण्डल के उपाङ्गों में अधिकांश में विकार होते हैं जो कि अर्धांगवात में नहीं होते देखे जाते। **वाग्भट** ने दृढ़बल के कथन को 'केचित्' शब्द से समर्थित किया है और 'शरीरार्धेऽधरेऽपि वा' इस कथन से शरीरार्ध में होने वाले अर्दित रोग को स्वीकार किया है।

इस प्रकार दृढ़बल ने अर्दित रोग को द्विविध माना है—१. अर्धांगवात (जो दौरे के साथ आधे शरीर को निष्क्रिय बना देता है) और २. विशेष अर्धांगवात (जो मुखार्ध को विकृत कर उस ओर के कर्ण-नेत्र-दन्त-ओष्ठ आदि को प्रभावित करता है)।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से मुख में होने वाले अर्दित को फेसियल परालिसिस (Facial paralysis) कह सकते हैं। यह सातवीं शीर्षण्य नाड़ी (Facial nerve) की विकृति से होता है।

मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते। मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञितम्॥ ४३॥
अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम्। दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठाक्षेपः शिरोग्रहः॥ ४४॥
जृम्भा वदनसङ्गश्चाप्यन्तरायामलक्षणम्। इत्युक्तस्त्वन्तरायामः—

मन्यास्तम्भ या अन्तरायाम का लक्षण—जब प्रकुपित वायु दोनों मन्या नाड़ियों के सहारे भीतर की ओर नाडियों में प्रवेश कर जाती है तब वह मन्यास्तम्भ अथवा अन्तरायाम नामक रोग को उत्पन्न करती है। इस रोग के होने पर ग्रीवा भीतर की ओर आकृष्ट हो जाती है और मन्या बहुत अधिक अकड़ जाती है। रोगी व्यक्ति दाँत कटकटाने लगता है, उसके मुख से लार चूने लगता है, पीठ पीछे की ओर खिंच जाती है, शिर में जकड़ाहट होती है, जँभाई आती है और जबड़े जकड़ जाते हैं। ये अन्तरायाम के लक्षण हैं। इस प्रकार अन्तरायाम का उपदेश कर दिया गया॥ ४३-४४॥

—बहिरायाम उच्यते॥ ४५॥
पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः शोषयित्वा सिरा बली। वायुः कुर्याद्धनुस्तम्भं बहिरायामसंज्ञकम्॥४६॥

(ख) शिरसा भारहरणादतिहास्यप्रभाषणात्। उत्त्रासवक्रक्षवथोः खरकार्मुककर्षणात्॥
विषमादुपधानाच्च कठिनानां च चर्वणात्। वायुर्विवृद्धस्तैस्तैश्च वातलैरूर्ध्वमस्थितः॥
वक्रीकरोति वक्त्रार्धमुक्तं हसितमीक्षितम्। ततोऽस्य कम्पते मूर्धा वाक्सङ्ग स्तब्धगात्रता॥
दन्तचालः स्वरभ्रंशः श्रुतिहानिः स्वरग्रहः। गन्धाज्ञानं स्मृतेर्मोहः स्वापः सुप्तस्य जायते॥
निष्ठीवः पार्श्वतो यायादेकस्याक्ष्णोर्निमीलनम्। जत्रोरूर्ध्वं रुजा तीव्रा शरीरार्धेऽधरेऽपि वा॥
तमाहुरर्दितं केचिदेकायाममथापरे॥

(ग) ननु यदा देहार्धव्यापित्वमर्दितस्य तदाऽर्दितेन अर्धाङ्गस्य को भेदः? ब्रूमः—अर्दितो वेगितया न सर्वकालं, अर्धाङ्गस्तु व्याप्तं भवति। उक्तं हि—'स्वस्थः स्यादर्दिताद्यानां मुहुर्वेगागमे गते' इति। किं वा यथोक्तविशिष्टलक्षणोऽर्दितः, अर्धाङ्गे तु नैतानि सर्वाणि भवन्ति। (चक्रपाणि टीका)

चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः। उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवाऽवमृद्यते॥ ४७॥
दन्तानां दंशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः। जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति॥ ४८॥

धनुस्तम्भ या बहिरायाम का लक्षण—अब बहिरायाम का उपदेश किया जा रहा है। जब प्रबल रूप से प्रकुपित वायु पृष्ठानुगत मन्या से सम्बद्ध सिराओं का शोषण करती है, तब वह धनुस्तम्भ रोग को उत्पन्न करती है, जिसे बहिरायाम कहा जाता है। इस रोग में शरीर धनुष के समान टेढ़ा हो जाता है जो पीछे की ओर मुड़ता है, शिर पीछे की ओर खिंच जाता है, छाती ऊपर की ओर उभर आती है, मन्या जकड़ जाती है, गर्दन मुड़ जाती है, रोगी दाँत कटकटाने लगता है, जम्भाई आती है, लार गिरने लगती है, वाणी नहीं निकल पाती है। जब इस रोग का दौरा पड़ता है तब यह प्राणों का विनाश कर देता है या रोगी को बेचैन या व्यग्र कर डालता है॥ ४५-४८॥

वक्तव्य—**सुश्रुत** ने स्नायुगत वातप्रकोप से अन्तरायाम एवं बहिरायाम की उत्पत्ति बतलायी है। चरकसंहिता में **दृढ़बल** ने मन्या एवं सिरागत वातप्रकोप से इन रोगों की उत्पत्ति बतलायी गयी है और **अष्टाङ्गसंग्रह** में धमनीगत वातप्रकोप से इन रोगों की उत्पत्ति कही गयी है तथा तन्त्रान्तर[1] में सिरा, स्नायु एवं कण्डरा में वायुप्रकोप के कारण इन रोगों की उत्पत्ति वर्णित है। इस प्रकार इन आचार्यों के विचारों में परस्पर मतभेद प्रतीत होता है। किन्तु मधुकोषकार ने स्नायु शब्द को उपलक्षण कहा है, जिससे सिरा, धमनी, कण्डरा, स्नायु एवं नाड़ी, इन सबका समान ही अर्थ में प्रयोग होने से कोई मतभेद नहीं है, अपितु सबका अभिप्राय एक ही समान है।

वस्तुतः प्रकुपित वायु का प्रभाव वातवाहिनियों द्वारा मांसपेशियों और कण्डराओं में होता है। आक्षेप क्रिया पेशियों के अनैच्छिक एवं अनियमित संकोच के कारण ही होती है। उदर की ओर झुकने को अन्तरायाम (Emprosthotonos) और पीठ की ओर झुकने को बहिरायाम (Opisthotonos) कहते हैं। कभी-कभी रोगी केवल पार्श्व की ओर झुक जाता है, उसे पार्श्वायाम (Pleurosthotonos) कहते हैं, जो बहिरायाम का ही भेद है। दृढ़बल के मत से मन्याश्रित प्रकुपित वात अन्य वातनाड़ियों में भी विकृति उत्पन्न करके मन्यास्तम्भ या अन्तरायाम या धनुःस्तम्भ रोग को उत्पन्न करता है। इसमें पहले मुख की पेशियों में संकोच का आरम्भ होता है, जिससे बोलना या निगलना कठिन हो जाता है। फिर गले के पिछले भाग मुख, उदर, पृष्ठवंश एवं ऊपर या नीचे की पेशियों में संकोच और आक्षेप होने लगता है। दोनों जबड़े बन्द हो जाते हैं, दाँत जुट जाते हैं, मुख की सभी पेशियों में संकोच हो जाता है, फिर रोगी धनुष के समान पीछे की ओर मुड़ जाता है; इसे बहिरायाम कहते हैं; और जब उदर की ओर धनुषाकार मुड़ता है, तो इसे अन्तरायाम कहते हैं। इसी तरह पार्श्व में मुड़ने पर पार्श्वायाम तथा सारा शरीर डण्डे के समान सीधा और कड़ा हो जाता है तो उसे दण्डापतानक कहते हैं।

हनुमूले स्थितो बन्धात् संग्रयत्यनिलो हनू। विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात् स्तब्धमवेदनम्॥ ४९॥
हनुग्रहं च संस्तभ्य हनुं(नू)संवृतवक्त्रताम्।

हनुस्तम्भ का लक्षण—प्रकुपित वायु जब हनु के मूल में स्थित होती है तब वह दोनों हनुओं को उसके बन्धन स्थान से ढीला कर देती है, जिससे मुख खुलकर खुला ही रह जाता है तथा जकड़ जाता है, उसमें कोई वेदना नहीं होती है। इसी प्रकार वह कुपित वायु हनु को जकड़ कर मुख को बन्द कर देती है और हनुस्तम्भ रोग को उत्पन्न करती है॥ ४९॥

वक्तव्य—हनुस्तम्भ या हनुग्रह रोग दो प्रकार का होता है—१. संवृतास्यता (जिसमें मुख बन्द हो जाता है) और २. विवृतास्यता (जिसमें मुख खुला रह जाता है)। ये दोनों अवस्थाएँ हो सकती हैं और

१. महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः। मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद्वहिः॥
(मा.नि.मधुकोष, वातव्याधि)

दोनों में हनु निष्क्रिय होता है। संवृतास्यता होना टिटनेस का प्रमुख लक्षण है तथा यह वातविकारजन्य रोग है।

मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः॥ ५०॥
पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः। पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः॥
दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः—

आक्षेपक और दण्डक के लक्षण—जब शरीरस्थ प्रकुपित (व्यान) वायु हाथ-पैर, स्नायु, कण्डरा और सिरा को सुखाकर शरीर के अंगों में खिंचाव या झटका उत्पन्न करती है, तब उसे **'आक्षेपक'** रोग कहते हैं। जब प्रकुपित (व्यान) वायु हाथ, पैर, शिर, पीठ और कमर (श्रोणिमण्डल) को जकड़ लेती है तब डण्डे के समान शरीर में अकड़न हो जाती है, इसे **'दण्डक'** कहते हैं॥ ५०-५१॥

वक्तव्य—माधवकर ने सुश्रुत के श्लोकों को उद्धृत करते हुए दण्डापतानक, आभ्यन्तरायाम एवं बाह्यायाम (धनुःस्तम्भ के दो भेद) के बाद 'कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम्' इस पंक्ति से अभिघातज आक्षेपक को चतुर्थ आक्षेपक कहा है तथा उसकी मधुकोष टीका में 'दण्डापतानकादित्रितयापेक्षया चतुर्थत्वम्' ऐसा कहा गया है। इन कथनों से आक्षेपक रोग चार प्रकार का सिद्ध होता है—१. दण्डापतानक, २. अन्तरायाम (धनुःस्तम्भ), ३. बाह्यायाम (धनुःस्तम्भ) और ४. अभिघातज आक्षेपक।

अन्य विद्वान् कारणों के अनुसार दूसरे तरह से ४ प्रकार के आक्षेपक रोग को मानते हैं—१. कफयुक्त वातज आक्षेप, २. पित्तयुक्त वातज आक्षेप, ३. केवल वातज आक्षेप तथा ४. अभिघातज आक्षेप।

गयदास ने प्रकारान्तर से आक्षेपक के ४ भेद माने हैं—१. अपतानक (जिसमें दण्डापतानक, अन्तरायाम, बाह्यायाम आते हैं), २. संसृष्ट आक्षेपक (जिसमें कफयुक्त वातजन्य या पित्तान्वित वातजन्य आक्षेपक का समावेश होता है), ३. केवल वातजन्य आक्षेपक और ४. अभिघातज (चोट लगने से विशेषतः मर्म स्थानों—हृदय, बस्ति, शिर में चोट लगने से आक्षेपक होता है)।

आक्षेपक को कन्वल्सन (Convulsion) कहते हैं। यह मस्तिष्क की विकृति का एक लक्षण है जो अनेक रोगों में एक लक्षण के रूप में पाया जाता है; विशेषकर अपस्मार, योषापस्मार, मस्तिष्कार्बुद, शिरोऽभिघात, मस्तिष्कावरणशोथ, मूत्रविषमयता, धनुःस्तम्भ. बच्चों के उदरकृमि आदि में होता है।

—सोऽनुपक्रमः। स्वस्थः स्यादर्दितादीनां मुहुर्वेगे गतेऽगते॥ ५२॥
पीड्यते पीडनैस्तैस्तैर्भिषगेतान् विवर्जयेत्।

दण्डक तथा अर्दित आदि अचिकित्स्य—दण्डक रोग की कोई चिकित्सा नहीं है। अर्दित, अन्तरायाम, बाह्यायाम, आक्षेपक तथा दण्डक—ये बार-बार आने वाले दौरे के समय उत्पन्न होते हैं और दौरा या वेग हट जाने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है। जब इनके वेग बने रहते हैं, तो रोगी को अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं। वैद्य को इन रोगों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ५२॥

हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा॥ ५३॥
कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च। गृहीत्वाऽर्धं शरीरस्य सिराः स्नायूर्विशोष्य च॥
पादं सङ्कोचयत्येकं हस्तं वा तोदभञ्जनः। एकाङ्गरोगं तं विद्यात् सर्वाङ्गं सर्वदेहजम्॥ ५५॥

पक्षवध, एकाङ्गरोग और सर्वाङ्गवात के लक्षण—**पक्षवध**—प्रकुपित वायु शरीर के किसी एक अर्धभाग—दाहिने या बायें को मारकर उस ओर की शारीरिक क्रियाओं को विनष्ट कर देती है, उस भाग में पीड़ा उत्पन्न करती है और वाणी को रोक देती है।

एकाङ्गवात—प्रकुपित वायु शरीर के (वाम या दक्षिण) किसी एक भाग पर आक्रमण करके उस भाग की सिराओं तथा स्नायुओं को सुखाकर एक हाथ या एक पैर को संकुचित कर देता है और आक्रान्त अंग में सूई चुभाने जैसी पीड़ा होती है एवं शूल होता है। इस प्रकार के विकार को एकांग रोग जानना चाहिए।

सर्वाङ्गवात—जब प्रकुपित वात समस्त शरीर की सिराओं एवं स्नायुओं को सुखाकर सम्पूर्ण शरीर को चेष्टारहित कर देता है और सर्वांग में पीड़ा उत्पन्न होती है, तो इसे सर्वांगवात जानना चाहिए॥ ५३-५५॥

सम्प्राप्ति—

निदान : वातवर्धक आहार-विहार, धातुक्षय, मार्गावरण तथा अन्य वात-विकार

नाना प्रकार की वातव्याधियाँ ← [वातकर्म-वृद्धि (आक्षेपक आदि) | वातकर्म-क्षय (पक्षवध आदि)]

दोष : वात
दूष्य : सर्वधातु
अधिष्ठान : अंगविशेष और सर्वांग

(१. अंगगत, २. दूष्यगत, ३. एकाङ्गगत या सर्वाङ्गगत तथा ४. आवरणजन्य)

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्। गृध्रसी स्तम्भशूलैर्मूढाति स्पन्दते मुहुः॥ ५६॥
वाताद् वातकफात् तन्द्राशौरवारोचकान्विता।

गृध्रसी का लक्षण—प्रकुपित वायु पहले नितम्बप्रदेश में, फिर क्रमशः कटि, पीठ, ऊरु, जानु, जंघा और पैरों में जकड़न, पीड़ा एवं सूई चुभाने जैसी पीड़ा उत्पन्न कर गृध्रसी रोग को उत्पन्न करती है, जिसमें अंगों में बार-बार स्पन्दन होता रहता है। जब वात तथा कफ इन दोनों के प्रकोप से गृध्रसी रोग की उत्पत्ति होती है, तब उक्त लक्षणों के साथ तन्द्रा, शरीर में भारीपन और भोजन में अरुचि होती है॥ ५६॥

वक्तव्य—नितम्बप्रदेश से प्रारम्भ होकर सक्थि के पृष्ठभाग के आश्रित होकर एवं पैर तक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर जाने वाली गृध्रसी नामक नाड़ी में जब वायु का प्रकोप होता है तब गृध्रसी नामक वातरोग होता है। इसमें कटि से पैर तक के अंगों में जकड़ाहट, पीड़ा, सूई चुभाने जैसी पीड़ा और स्पन्दन-फड़कन, ये लक्षण होते हैं। उक्त रोग में कटि, पृष्ठ आदि में क्रमशः लक्षण होते हैं, जो वेग या दौरे के रूप में आते हैं। इसे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान[1] की दृष्टि से साइटिका (Sciatica) कहते हैं। इसमें चरकोक्त लक्षण मिलते हैं। गृध्रसी रोग प्रायः एक ही ओर होता है, कदाचित् दोनों ओर भी हो जाता है। नितम्बास्थि के पृष्ठ भाग में सूचीवेधनवत पीड़ा होना इसका प्रधान लक्षण है। इसकी पीड़ा खाँसने में, छींकने में तथा रात में सोते समय बढ़ जाती है। चलने में लँगड़ापन होता है और जानुसन्धि के पीछे एवं जंघा की पेशियों में स्पर्शासहिष्णुता मिलती है।

1. By the term sciatica is meant pain in the distribution of the sciatic nerve or its component nerve roots, a sharp or dull pain in the buttock, spreading down the posterior or lateral aspects of the thigh and leg to the dorsum or lateral aspect of the foot and usually aggraveted by coughing, straining sneezing or jolting of the spine.
(Clinical Diagnosis by Rustom Jal Vakil, p. 45)

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी॥ ५७॥

खल्ली रोग का लक्षण—जब प्रकुपित वायु पैर, जंघा, ऊरुप्रदेश और हाथों की कलाई में मरोड़, अकड़न और दबाव के साथ मसलने जैसी पीड़ा उत्पन्न करती है, तब उसे 'खल्ली' कहते हैं॥ ५७॥

स्थानानामनुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत्। सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत्॥ ५८॥

अनुक्त रोगों का ज्ञान प्रकार—जिन वातरोगों का लक्षण आदि यहाँ नहीं कहा है (किन्तु सूत्रस्थान में उनका नामोल्लेख किया गया है) उन्हें स्थान तथा नाम के अनुरूप लक्षणों से जानना चाहिए। सभी प्रकार के वातरोगों में उन रोगों के लक्षणों को देखकर पित्त एवं कफ का सम्बन्ध जानना चाहिए॥ ५८॥

वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च।

वातप्रकोप के दो प्रमुख कारण—शरीर की धातुओं की क्षीणता से और स्वमार्ग के अवरोध या रुकावट से उसके वेग के प्रतिबन्धित हो जाने से वायु का प्रकोप होता है।

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः॥ ५९॥
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः। कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्॥ ६०॥
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोषयेत्।

तीनों दोषों में वायु की ही प्रधानता—वात, पित्त और कफ—ये तीनों दोष शरीर में सभी स्रोतों में गति करते रहते हैं, किन्तु सूक्ष्ममार्गानुसारी होने से उनमें वायु ही प्रधान है और उन दोषों का वही प्रेरक है। जब वायु प्रकुपित होती है तब वह पित्त तथा कफ द्वारा अपने मार्ग के आवृत होने पर भी उन दोनों को धक्का देकर इधर-उधर फेंकती हुई विभिन्न स्थानों में रोग उत्पन्न करती है और रसादि धातुओं को भी यत्र-तत्र प्रतिक्षिप्त करती हुई रसादि धातुओं का शोषण करती है॥ ५९-६०॥

वायु के आवरणकृत लक्षण

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमक्लमः॥ ६१॥
कटवम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता।

पित्तावृत वात का लक्षण—(१) जब वायु पित्त से आवृत होती है, तो जलन, प्यास, अंगों में शूल, शिर में चक्कर आना और इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के ग्रहण में असमर्थ होना—ये सब लक्षण होते हैं। जब रोगी व्यक्ति कटुरस, अम्लरस तथा लवणरस वाले द्रव्यों का या उष्णवीर्य द्रव्यों का सेवन करता है, तब उसे विशेष जलन या विदाह होता है और वह ठण्डे पदार्थ का सेवन पसन्द करता है॥ ६१॥

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम्॥ ६२॥
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते।

कफावृत वात का लक्षण—(२) जब वात कफ से आवृत होता है, तो रोगी को शीत लगना, शरीर में भारीपन और शूल होना—ये लक्षण होते हैं। रोगी को लंघन करना, श्रम करना, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थों का सेवन करना पसन्द आता है॥ ६२॥

रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मासान्तरजो भृशम्॥ ६३॥
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च।

रक्तावृत वात का लक्षण—(३) जब वात रक्त से आवृत होता है, तो त्वचा एवं मांस के बीच भयंकर जलन और पीड़ा होती है तथा शरीर में लालिमायुक्त शोथ और चकत्ते निकल आते हैं॥ ६३॥

कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा॥ ६४॥
हर्षः पिपीलिकानां च सञ्चार इव मांसगे।

मांसावृत वात का लक्षण—(४) जब वात मांस से आवृत्त होता है, तो कठिन एवं विवर्ण (विकृत वर्ण वाली) पिडकाएँ निकल आती हैं, शोथ होता है, झिनझिनी होती है और शरीर में चींटी रेंगने जैसा प्रतीत होता है॥ ६४॥

~~चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वलचिस्तथा॥ ६५॥~~
~~आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः।~~

मेद से आवृत वात या आढ्यवात का लक्षण—(५) जब वात मेद से आवृत होता है, तो अंगों में चिकना, मृदु एवं शीतस्पर्श वाला तथा चलायमान शोथ होता है और भोजन में अरुचि होती है। इस मेद से आवृत वात को आयुर्वेद में आढ्यवात की संज्ञा दी गयी है। यह कष्टसाध्य रोग है॥ ६५॥

वक्तव्य—यहाँ जो लक्षण दिये गये हैं वे ऊरुस्तम्भ रोग में दीख पड़ते हैं और सुश्रुत (सु.चि. ५) तथा वाग्भट (अ.हृ.नि. १५) ने 'तमूरुस्तम्भ इति आहुः आढ्यवातमथापरे' इस कथन से ऊरुस्तम्भ का नाम आढ्यवात माना है। कुछ लोग इस मेद से आवृत वात को आमवात मानते हैं और चरक ने आमवात का पृथक् वर्णन नहीं किया है, इसलिए वे इसे चरक-सम्मत आमवात मानते हैं। चरक ने जैसे इसे आढ्यवात कहा है वैसे ही वातरक्त को भी आढ्यवात नाम दिया है—'खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः' (च.चि. २९)। 'आढ्यानां धनिकानां प्रायो भवतीति आढ्यवातः' अर्थात् धनी व्यक्तियों को प्रायः यह रोग होता है, इसलिए आढ्यवात नाम अन्वर्थक है। इस प्रकार चरक के मत से मेद से आवृत वात को तथा वातरक्त को आढ्यवात नाम से जानना चाहिए और सुश्रुत एवं वाग्भट के मत से आढ्यवात से ऊरुस्तम्भ का ग्रहण किया जाना समझना चाहिए।

~~स्पर्शमस्थ्याऽऽवृते तृप्यं पीडनं चाभिनन्दति॥ ६६॥~~
~~सम्भज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते।~~

अस्थि से आवृत वात का लक्षण—(६) जब वायु आस्थि से आवृत होती है, तो गरम स्पर्श और देह का दबाया जाना अच्छा लगता है, देह टूटती है, अंगों में थकावट होती है और सूई चुभाने जैसी पीड़ा होती है॥ ६६॥

~~मज्जावृते विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम्॥ ६७॥~~
~~शूलं तु पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम्।~~

मज्जा से आवृत वात का लक्षण—(७) जब वायु मज्जा से आवृत होती है, तो शरीर झुक जाता है, जँभाई आती है, देह में ऐंठन होती है और दर्द होता है। हाथों से दबाने पर शरीर को सुख मालूम पड़ता है॥ ६७॥

~~शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे॥ ६८॥~~

शुक्र से आवृत वात का लक्षण—जब वात शुक्र से आवृत होता है, तो कभी शुक्र में वेग नहीं होता और कभी अधिक वेग होता है; किन्तु दोनों ही स्थितियों में शुक्र में गर्भधारण-सामर्थ्य का अभाव होता है॥ ६८॥

~~भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले।~~

अन्न से आवृत वात का लक्षण—(९) जब वायु अन्न से आवृत होती है, तो भोजन कर लेने पर उदर में शूल पैदा हो जाता है और जब भोजन पच जाता है, तो शूल शान्त हो जाता है।

~~मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृतेऽनिले॥ ६९॥~~

मूत्र से आवृत वात का लक्षण—(१०) जब वायु मूत्र से आवृत होती है, तो मूत्राघात हो जाता है और बस्ति में आध्मान हो जाता है॥ ६९॥

~~वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति। व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः॥~~
~~चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत्। श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः॥~~
~~अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले।~~

मल से आवृत वात का लक्षण—(११) जब वायु मल से आवृत होती है, तब मलावरोध हो जाता है और नीचे पक्वाशय में कैंची से काटने के समान पीड़ा होती है। घी-तैल का पाचन शीघ्र हो जाता है, किन्तु भोजन के बाद उदर में आनाह हो जाता है। खाना खाने पर अन्न के दबाव से कठिनाई से सूखा मल निकलता है और श्रोणिप्रदेश में वंक्षण में और पीठ में दर्द होता है तथा वायु की गति प्रतिलोम (ऊपर की ओर) होती है। ऊपर की ओर वायु का दबाव पड़ने से हृदय के कार्य में भी बाधा उपस्थित हो जाती है॥ ७०-७१॥

वक्तव्य—वायु स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर अनेकविध रोगों को उत्पन्न करती है। कदाचित् बढ़े हुए पित्त या वृद्ध कफ से आवृत होने पर भी वह नानाविध विकारों की जनक होती है, जिसके उदाहरण उक्त ग्यारह प्रकार के आवरण हैं।

वायु के एकादश आवरण

पित्तावृत वात	कफावृत वात	रक्तावृत वात	मांसावृत वात	मेदआवृत वात	अस्थ्यावृत वात	मज्जावृत वात	शुक्रावृत वात	अन्नावृत वात	मूत्रावृत वात	मलावृत वात

सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जताऽर्दितः॥ ७२॥
पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः पङ्गुत्वं खुडवातता। स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये॥
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद्यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा। नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान्॥

प्रसिद्ध वातव्याधियाँ और उनकी साध्यासाध्यता—१. सन्धिच्युति (सन्धियों का खुल जाना-खिसक जाना), २. हनुस्तम्भ, ३. कुञ्चन (शरीर का सिकुड़ जाना), ४. कुब्जता (कूबड़ निकल जाना), ५. अर्दित (मुखार्ध का लकवा), ६. पक्षाघात, ७. अंगसंशोष (अंगों का सूख जाना), ८. पंगुता, ९. खुड्डवात (गुल्फवात, सन्धिगत वात या वातरक्त), १०. स्तम्भन (जकड़ाहट), ११. आढ्यवात, १२. मज्जागत वात और १३. अस्थिगत वात—ये वातरोग अपने जन्मस्थान की गम्भीरता या जटिलता के कारण प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी कदाचित् अच्छे होते हैं या नहीं भी अच्छे होते हैं। इसलिए यदि रोगी बलवान् हो, रोग नया हो और उनमें कोई उपद्रव न हो, तभी उनकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ७२-७४॥

वातरोग की सामान्य चिकित्सा

~~क्रियामतः परं सिद्धां वातरोगापहां शृणु। केवलं निरुपद्रवमादौ स्नेहैरुपाचरेत्॥ ७५॥~~
~~वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जपानैर्नरं ततः। स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः॥ ७६॥~~
~~यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूपरसैर्वा स्नेहसंयुतैः। पायसैः कृशरैः साम्ललवणैस्नुकासनैः॥ ७७॥~~
~~नावनैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः।~~

वातरोग में स्नेहन प्रयोग—अब यहाँ से आगे (आप) वातरोगों को नष्ट करने वाली चिकित्सा को सुनिये। जब आवरणरहित अकेले ही वात से उत्पन्न हुआ वातरोग हो, तो रोगी को सबसे पहले घृतपान, वसापान, तैलपान और मज्जापान कराकर वात की चिकित्सा करनी चाहिए। इस प्रकार स्नेहन उपचार करने से यदि रोगी को उद्वेग या ग्लानि होने लगे, तो उसे दुग्ध पिलाकर स्नेहन करना चाहिए। एवञ्च स्नेहमिश्रित यूष या ग्रामीण-जलेचर या आनूप पशु-पक्षियों का स्नेहयुक्त मांसरस या खीर या अम्लद्रव्य एवं नमकयुक्त सस्नेहन खिचड़ी खिलाकर स्नेहन करना चाहिए। इसी प्रकार अनुवासनवस्तियों से स्निग्ध

नस्यों से और तर्पणकारक स्निग्ध अन्नाहारों से स्नेहन करना चाहिए तथा स्निग्ध हो जाने पर स्वेदन करना चाहिए॥ ७५-७७॥

स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः॥ ७८॥
तथाऽन्यैर्विविधैः स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत्। स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धमथापि वा॥ ७९॥
शनैर्नामयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत्। हर्षतोदरुगायामशोथस्तम्भग्रहादयः॥ ८०॥
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते।

स्वेदन और उसके लाभ—पूर्वोक्त प्रकार से स्नेहन जब अच्छी तरह हो जाये, तब स्वेदन करना चाहिए। पहले रोगी के शरीर में तैल की मालिश करें फिर स्नेहयुक्त नाड़ीस्वेद, प्रस्तरस्वेद, सङ्करस्वेद या (सूत्रस्थान १४ में कहे गये) अन्य उपयुक्त स्वेदन से उपयोगिता के अनुसार स्वेदन करना चाहिए।

स्नेहपूर्वक स्वेदन से लाभ—शरीर के टेढ़े या जकड़े हुए अंग को भी स्नेहन करने के बाद स्वेदन करके इच्छानुसार झुकाया जा सकता है, जिस प्रकार शुष्कप्राय लकड़ी को तैल की मालिश कर, सेंक करके झुका लिया जाता है। स्वेदन करने से शरीर में होने वाला रोमाञ्च या झिनझिनी, सूई चुभाने जैसी पीड़ा, शूल, भीतर या बाहर की ओर शरीर का झुकना, शोथ, जकड़ाहट और अकड़न, ये सब विकार दूर होते हैं तथा शरीर में कोमलता उत्पन्न हो जाती है॥ ७८-८०॥

स्नेहश्च धातून्संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः॥ ८१॥
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यभिवर्धयेत्। असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत्॥ ८२॥
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः।

स्नेहन से लाभ—स्नेहन का सेवन सूखे हुए धातुओं को शीघ्र ही पुष्ट बना देता है और शरीर में बल को, जठराग्निबल को पुष्टि तथा जीवनीय शक्ति को बढ़ा देता है। रुग्ण व्यक्ति का स्नेहन और स्वेदन बार-बार करते रहना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग से जब स्नेह से रोगी का कोष्ठ मृदु हो जाता है, तो वात से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं ठहर पाते॥ ८१-८२॥

यद्यनेन सदोषत्वात् कर्मणा न प्रशाम्यति॥ ८३॥
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत्।

वातरोग में मृदुविरेचन—यदि वातविकार केवल वायु से उत्पन्न न होकर आवरणयुक्त वायु से या अन्य दोषयुक्त वायु से उत्पन्न होने के कारण उक्त प्रकार के स्नेहन-स्वेदन प्रयोग से शान्त न हो रहा हो, तो उस रोगी को स्नेहयुक्त मृदुविरेचक औषध देकर उसका विशोधन (विरेचन) कराना चाहिए॥ ८३॥

घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा॥ ८४॥
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम्।

वातरोग में मृदुविरेचन योग—(१) तिल्वक (गुलाबचीन की छाल) से सिद्ध किया हुआ घृत या (२) सातला (थूहर) से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा दूध में मिलाकर एरण्ड तैल का सेवन कराना चाहिए। ये तीनों प्रयोग मलावरोध को दूर कर वात का शमन करते हैं और वातरोग में लाभप्रद हैं॥ ८४॥

स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः॥ ८५॥
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात् तस्मात्तमनुलोमयेत्।

वात रोग में अनुलोमन—जब चिकने, खट्टे, नमकीन और उष्ण आदि आहारों के सेवन से शरीर में (पक्वाशय के निचले भाग में) मल इकट्ठा होकर स्रोतों को बाँध देता है, तो वायु की रुकावट हो जाती है, इसलिए उस वायु का अनुलोमन करना चाहिए (जिससे वायु का अवरोध दूर होकर मलशोधन हो जाये)॥ ८५॥

दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत्॥ ८६॥
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम्।

निरूहबस्ति तथा दीपन-पाचन प्रयोग—जो वात का रोगी दुर्बल होने के कारण विरेचन का प्रयोग न सह सकता हो, उसे निरूहबस्ति देकर शोधन करना चाहिए और निरूहबस्ति के निर्माण में दीपन-पाचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए अथवा दीपन-पाचन औषधों से युक्त भोजन देना चाहिए॥ ८६॥

संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ॥ ८७॥

संशोधनोत्तर स्नेहन-स्वेदन विधान—वातरोगी के संशोधन के पश्चात् संसर्जनक्रम से पथ्य देने पर जब उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो जाये, तो पुनः उसका स्नेहन तथा स्वेदन करना हितकर होता है॥ ८७॥

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धैराहारैः सततं पुनः। नावनैर्धूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत्॥ ८८॥
इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम्।

वातरोग में पथ्य तथा नस्य एवं धूमपान—वात के रोगी को मधुर अम्ल, लवण और स्निग्ध आहार बार-बार लगातार देना चाहिए। सभी प्रकार के वातरोगियों को नस्य तथा धूमपान का प्रयोग कराते रहना चाहिए। इस प्रकार सामान्य रूप से वातरोग की चिकित्सा का उपदेश कर दिया गया॥ ८८॥

वातरोग की अवस्थानुसार चिकित्सा

विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः॥ ८९॥
पाचनैर्दीपनैर्युक्तैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान्।

कोष्ठगत वात-चिकित्सा—(१) जब कोष्ठगत वायु का प्रकोप हो, तो यवक्षार का प्रयोग करना चाहिए अथवा पाचन एवं दीपन द्रव्यों से युक्त अम्ल द्रव्यों के प्रयोग से मलों का पाचन करना चाहिए॥ ८९॥

गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्तनुद्धितम्॥ ९०॥

गुदगत एवं पक्वाशयगत वात-चिकित्सा—(२) जब गुदगत अथवा पक्वाशयगत वातविकार हो, तो उदावर्तनाशक चिकित्सा (जो चरक-चिकित्सास्थान अध्याय २६ में 'तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं' इत्यादि श्लोकों द्वारा बतलायी गयी है) करना हितकर होता है॥ ९०॥

आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरीः क्रियाः।

आमाशयगत वात-चिकित्सा—(३) जब आमाशय में प्रकुपित वातजन्य विकार हो, तो वमन-विरेचन द्वारा शरीर का शोधन कर दोष-प्रकोप के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गे बस्तयः सानुवासनाः॥ ९१॥

सर्वाङ्गवात में बस्ति-प्रयोग—(४) यदि सम्पूर्ण शरीर में वात का प्रकोप हो, तो सर्वांग में तैल की मालिश करनी चाहिए और अनुवासन तथा निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ ९१॥

स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते।

वायु के त्वचागत विकार में चिकित्सा—(५) जब वायु का प्रकोप त्वचा में हो, तो शरीर का स्वेदन, अभ्यंग और अवगाहन कराना चाहिए तथा रुचिकर एवं हृदय के लिए हितकर अन्न खाने के लिए देना चाहिए।

शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विस्रावो रक्तमोक्षणम्॥ ९२॥

रक्तगत वात-चिकित्सा—(६) जब रक्त में वायु का प्रकोप हो, तो शीतल प्रलेप, विरेचन और रक्तमोक्षण कराना चाहिए॥ ९२॥

विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च।

मांस एवं मेदोगत वात-चिकित्सा—(७) मांसगत और मेदोगत वात-प्रकोप में विरेचन, निरूहबस्ति और शमन चिकित्सा करनी चाहिए।

बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत् ॥ ९३ ॥

अस्थि एवं मज्जागत वात-चिकित्सा—(८) अस्थि और मज्जा में वायु का प्रकोप होने पर वातहर तैल का अभ्यंग और वातनाशक घृत एवं तैल का आभ्यन्तर प्रयोग करके वायुप्रकोप का शमन करना चाहिए॥ ९३ ॥

हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम्।
विबद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद् विरेचनम्॥ ९४॥
विरिक्तप्रतिभुक्तस्य पूर्वोक्तां कारयेत् क्रियाम्।

शुक्रगत वात-चिकित्सा—(९) यदि शुक्रगत वात-विकार हो, तो मन को प्रसन्न करना चाहिए तथा बलवर्धक और वीर्यवर्धक अन्न एवं पेय पदार्थ का सेवन करना चाहिए।

(१०) यदि शुक्र का मार्ग रुका हुआ हो और उसका निःसरण न हो रहा हो, तो विरेचन औषध का प्रयोग करना चाहिए तथा विरेचन कराने के बाद संसर्जनक्रम से पथ्य देने के अनन्तर पूर्वकथित क्रिया अर्थात् बल-वीर्यवर्धक अन्नपान का सेवन एवं मन को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए॥९४॥

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां चापि शुष्यताम्॥ ९५॥
सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः।

गर्भाशयगत वात-चिकित्सा—(११) जब गर्भाशय में वायु के प्रकुपित होने से गर्भ सूख रहा हो एवं गर्भस्थ बालक सूख रहे हों, तो गर्भ को पुष्ट बनाने के लिए मिश्री, गम्भार की छाल और मुलहठी का कल्क डालकर क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए॥ ९५॥

हृदि प्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम्॥ ९६॥

हृदयगत वात चिकित्सा—(१२) यदि हृदयप्रदेश में वायु का प्रकोप हो, तो शालिपर्णी का कल्क डालकर क्षीरपाकविधि से पकाया हुआ दूध पिलाना चाहिए॥ ९६॥

मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान् बिल्वशलाटुभिः।

नाभिगत वात-चिकित्सा—(१३) यदि नाभिप्रदेश में वात का प्रकोप हो और शूल, तोद आदि प्रतीत हो रहा हो, तो बेलगिरी के साथ पकाया हुआ मछली का मांस खिलाना चाहिए।

वायुना वेष्ट्यमाने तु गात्रे स्यादुपनाहनम्॥ ९७॥

उद्वेष्टनकारक वात-चिकित्सा—(१४) जब वायु में प्रकोप से समस्त शरीर में या अंगविशेष में ऐंठन हो रही हो,तो पुल्टिस बाँधनी चाहिए॥ ९७॥

तैलं सङ्कुचितेऽभ्यङ्गे माषसैन्धवसाधितम्।

वातजन्य अंगसंकोच-चिकित्सा—(१५) यदि प्रकुपित वायु अंगों को संकुचित कर रहा हो, तो उड़द के क्वाथ और सेंधानमक के कल्क से पकाये हुए तिलतैल की मालिश करनी चाहिए।

बाहुशीर्षगते नस्यं पानं चौत्तरभक्तिकम्॥ ९८॥

बाहुगत और मूर्धगत वात-चिकित्सा—(१६) जब वायु के प्रकोप से हाथ में वातविकार (विश्वाची, अवबाहुक, अंसशोष आदि) हो जाये अथवा शिर में कोई वातज रोग हो, तो वातनाशक तैलों का नस्य लेना चाहिए और भोजन के बाद वातनाशक घृत या तैल का पान करना चाहिए॥ ९८॥

बस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः।

नाभि के नीचे वातप्रकोप में उपचार—(१७) यदि नाभि के नीचे के भाग (गुदा, बस्ति आदि प्रदेश) में वायु का प्रकोप हो तो निरूह एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए एवं भोजन के पहले तथा भोजन के बाद घृतपान करना चाहिए।

वक्तव्य—अवपीड़क शब्द की व्याख्या में आचार्य **चक्रपाणि** ने 'यत्र सर्पिः पीत्वा तत्पीडकमन्नं भुज्यते' अर्थात् घृत पीने के बाद घृतपाचक अन्न का सेवन करना—यह कहा है तथा **जज्जटाचार्य** ने 'अन्नेन अवपीडयत इत्यवपीडकसर्पिः' यह व्याख्या करके 'प्राग्भक्तमित्यर्थः' यह कहा है। वस्तुतः अवपीडक एक पारिभाषिक शब्द है जो भोजन के पूर्व तथा भोजन के पश्चात् घृतपान करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है—'प्राग्भक्तं शस्यते घृतम्। जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम्। अवपीडकमेतच्च संज्ञितम्' (अ.हृ.सू.)।

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च॥ ९९ ॥
नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिताः ।

अर्दित वात-चिकित्सा—(१८) अर्दित रोग में नस्य देना चाहिए, शिर पर तैल की मालिश करनी चाहिए, शरीर को हृष्टपुष्ट बनाने वाला आहार देना चाहिए, नाड़ीस्वेद करना चाहिए और आनूप प्रदेशवासी पशु-पक्षियों के मांस की पुल्टिस बाँधनी चाहिए॥ ९९॥

स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम्॥ १००॥

पक्षाघात चिकित्सा-सूत्र—(१९) पक्षाघात रोग में स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए तथा स्नेहयुक्त विरेचन देना चाहिए॥ १००॥

अन्तराकण्डरागुल्फं सिरा बस्त्यग्निकर्म च। गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत—

गृध्रसी चिकित्सा—(२०) गृध्रसी रोग में कण्डरा और गुल्फ के बीच में सिरावेध, अनुवासन एवं निरूहबस्ति और लौहशलाका से दाह कर्म करना चाहिए।

—खल्ल्यां तूष्णोपनाहनम्॥ १०१॥

पायसैः कृशरैर्मांसैः शस्तं तैलघृतान्वितैः।

खल्ली चिकित्सा—(२१) खल्ली रोग में तैल-घी मिली हुई खीर से या खिचड़ी से या मांस से गरम-गरम पुल्टिस बाँधनी चाहिए॥ १०१॥

व्यात्ताने हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च॥ १०२॥
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नामनं हितम्। ध्रस्तं स्वं गमयेत्स्थानं स्तब्धं स्विन्नं विनामयेत्॥

विवृतास्य (हनुस्तम्भ) चिकित्सा—(२२) जब हनुस्तम्भ रोग में रोगी का मुख खुला ही रह जाय तब हनु प्रदेश का स्वेदन करना चाहिए, फिर दोनों अंगूठों से हनुसन्धियों को दबाकर प्रदेशिनी अंगुलियों से उठाकर ठोड़ी को उठाना चाहिए। यदि हनुप्रदेश अपने स्थान से खिसक गया हो, तो उसे यथास्थान कर दें और यदि हनु में जकड़ाहट हो, तो उसका स्वेदन कर ढीला तथा क्रियाशील बनायें॥ १०२-१०३॥

प्रत्येकं स्थानदूष्यादिक्रियावैशेष्यमाचरेत्।

वातरोगों की विशेष चिकित्सा—प्रत्येक प्रकार के वातरोग की चिकित्सा करते समय पक्वाशय आदि स्थान, रस, रक्त आदि दूष्य एवं आवरण को ध्यान में रखकर जिस रोग में जो उपयुक्त हो उस विशिष्ट चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

सर्पिस्तैलवसामज्जसेकाभ्यञ्जनबस्तयः ॥ १०४॥
स्निग्धाः स्वेदा निवातं च स्थानं प्रावरणानि च। रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च॥
बृंहणं यच्च तत्सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम्।

सर्वविध वातरोगों का चिकित्सासूत्र—सभी प्रकार के वातरोगों में घी, तैल, वसा और मज्जा का प्रयोग, वातहर द्रव्यों के क्वाथ से शरीर का परिषेक, मालिश करना, बस्ति लगाना, स्नेहयुक्त स्वेदन, वायुरहित स्थान में निवास, ओढ़ने से शरीर को ढके रखना और सुरक्षित निर्वात स्थान में रहना लाभप्रद है। भोजन में मांसरस का सेवन, दूध पीना और मधुर, अम्ल तथा लवणरसयुक्त आहार का सेवन करना उत्तम है। जो भी खाद्य या पेय पदार्थ शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने वाला हो वह सब वातव्याधि से पीड़ित रोगियों के लिए हितकर होता है॥ १०४-१०५॥

बलायाः पञ्चमूलस्य दशमूलस्य वा रसे॥ १०६॥
अजशीर्षाम्बुजानूपमांसादपिशितैः पृथक्। साधयित्वा रसान् स्निग्धान्दध्यम्लव्योषसंस्कृतान्॥
भोजयेद् वातरोगार्तं तैर्व्यक्तलवणैर्नरम्।

वातरोगों में मांसरस का प्रयोग—बरियार, बृहत् पञ्चमूल (बेल, सोनापाठा, गनियार, गम्भार और पाढल की छाल) या दशमूल (सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू और बृहत् पंचमूल) के क्वाथ में बकरे के शिर का मांस या जलेचर मछली आदि का मांस या आनूप जीवों का मांस या मांसभक्षी जीवों का मांस अलग-अलग पकायें एवं पकाते समय तैल या घी इतना डालें कि मांसरस स्निग्ध बना रहे। फिर उसमें खट्टी दही मिलाकर सोंठ, मरिच, पीपर का चूर्ण डालकर छौंक लगायें और सेंधानमक डालकर नमकीन बना लें। इस मांसरस को वात से पीड़ित रोगियों को भोजन के साथ खिलाना चाहिए॥ १०६-१०७॥

वक्तव्य—उक्त मांसरस निर्माण में—१. अजशीर्ष, २. जलचर, ३. आनूप जीव और ४. मांसभक्षी जीवों के मांस को—१. बला क्वाथ, २. पंचमूल क्वाथ और ३. दशमूल में पकाने का विधान है। इसलिए यह मांसरस ४×३ = १२ प्रकार का बनता है। इसके निर्माण में मात्रा का उल्लेख नहीं है, अतः मांसरस निर्माण की सामान्य परिभाषा के अनुसार मांस एवं क्वाथ का प्रमाण लेना चाहिए; यथा—'पलानि द्वादशप्रस्थे घनेऽथ तनुके तु षट्। मांसस्य वटकं कुर्यात् पलमच्छतरे रसे' (परिभाषा-प्रदीप)। यदि मांस का गाढ़ा रस तैयार करना हो, तो १२ पल मांस एक प्रस्थ जल में तथा पतला रस तैयार करना हो, तो ६ पल मांस १ प्रस्थ जल में सिद्ध कर चतुर्थांश शेष उतार लें। यदि अत्यन्त पतला मांसरस तैयार करना हो, तो एक प्रस्थ जल में एक पल मांस सिद्धकर एक चौथाई शेष रहने पर उतार लें।

एतैरेवोपनाहांश्च पिशितैः सम्प्रकल्पयेत्॥ १०८॥
घृततैलयुतैः साम्लैः क्षुण्णस्विन्नैरनस्थिभिः।

वातनाशक मांस का उपनाह—पूर्व में कहे गये बकरे के शिर के मांस, जलेचर या आनूप जीवों के हड्डीरहित मांस को पीसकर घी, तैल तथा काञ्जी के साथ उबालकर वातग्रस्त अंगों पर पुल्टिश बाँधनी चाहिए॥ १०८॥

पत्रोत्क्वाथपयस्तैलद्रोण्यः स्युरवगाहने॥ १०९॥
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिलरोगिणाम्।

वातरोग में अवगाहन और परिसेचन—वातरोग से आक्रान्त रोगियों की चिकित्सा के लिए वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ या वातहर द्रव्यसिद्ध दुग्ध या वातघ्न द्रव्यों से पकाये गये तैल को काठ की बनी नौकाकार द्रोणी में भरकर रोगी को सुलाकर लोट-पोट कर अवगाहन करायें और वातरोगी के शरीर पर वातहर तैल की मालिश कराकर वातघ्न द्रव्यों से निर्मित क्वाथों का परिसेचन करायें॥ १०९॥

आनूपौदकमांसानि दशमूलं शतावरीम्॥ ११०॥
कुलत्थान् बदरान्माषांस्तिलान् रास्नां यवान् बलाम्।
वसादध्यारनालाम्लैः सह कुम्भ्यां विपाचयेत्॥ १११॥

नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्टैश्चाप्युपनाहनम्। तैश्च सिद्धं घृतं तैलमभ्यङ्गं पानमेव च॥ ११२॥

वातरोग में नाड़ीस्वेद, उपनाह, अभ्यंग एवं पान—आनूप और जलेचर पशु-पक्षियों का मांस, दशमूल, शतावर, कुलथी, खट्टे बेर, उड़द, तिल, रास्ना, जौ और बरियार को पीसकर चर्बी, खट्टी दही तथा काञ्जी एवं जल मिलाकर एक बड़े घड़े में मुख बन्द कर उबालें, फिर जब आधा जलांश जल जाये, तो पात्र को उतारकर उसके बगल में छिद्रकर उस छिद्र में नली लगाकर वातपीड़ित अंगों पर बाष्पस्वेदन करें। उपर्युक्त द्रव्यों को पीसकर पुल्टिस बाँधें और इन्हीं द्रव्यों के यथायोग्य निर्मित क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घी या तैल का अभ्यंग तथा पान करायें॥ ११०-११२॥

मुस्तं किण्वं तिलाः कुष्ठं सुराह्वं लवणं नतम्। दधिक्षीरचतुःस्नेहैः सिद्धं स्यादुपनाहनम्॥ ११३॥

मुस्तादि उपनाह—नागरमोथा, सुराकिट्ट, तिल, कूठ, देवदारु, सेंधानमक और तगर—इनके चूर्ण में दही, दूध तथा चारों स्नेह (घी-तैल-वसा-मज्जा) मिलाकर पकाकर गाढ़ा करके पुल्टिस बाँधना चाहिए॥ ११३॥

उत्कारिकांवेसवारक्षीरमाषतिलौदनैः। एरण्डबीजगोधूमयवकोलस्थिरादिभिः॥ ११४॥
सस्नेहैः सरुजं गात्रमालिप्य बहलं भिषक्। एरण्डपत्रैर्बध्नीयाद् रात्रौ कल्यं विमोक्षयेत्॥ ११५॥
क्षीराम्बुना ततः सिक्तं पुनश्चैवोपनाहितम्। मुञ्चेद् रात्रौ दिवाबद्धं चर्मभिश्च सलोमभिः॥

उत्कारिकादि उपनाह विधान—उत्कारिका, वेशवार, दूध, उड़द, तिल, भात, रेड़ी के बीज की गुद्दी, जौ, खट्टी बेर, सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू—इन सबको पीसकर घृत-तैल मिलाकर गाढ़ा लेप बनाकर वात से पीड़ित अंग पर मोटा लेप लगाना चाहिए। वैद्य यदि रात में लेप लगवायें, तो उस लेप को रेड़ के पत्ते लगाकर स्थिर बाँधें और सबेरे खोल दें। इसी प्रकार बन्धन खोलकर उस स्थान को गरम दूध और जल से धोने के बाद फिर पुल्टिश बाँध दें तथा रोमयुक्त चमड़ा लगाकर बन्धन को स्थिर कर दें एवं पुनः शाम को उस बन्धन को खोल दें॥ ११४-११६॥

फलानां तैलयोनीनामम्लपिष्टान् सुशीतलान्। प्रदेहानुपनाहांश्च गन्धैर्वातहरैरपि॥ ११७॥
पायसैः कृशरैश्चैव कारयेत् स्नेहसंयुतैः।

उपनाह के उपकरण—जिन फलों (के बीजों) से तैल निकलता है, जैसे तिल, तीसी, सरसों, रेड़ी आदि को कांजी में पीसकर ठण्डा-ठण्डा प्रदेह लगायें और वातनाशक गन्ध द्रव्यों (ज्वराधिकार में पठित अगुर्वादि तैल के द्रव्य) में तैल मिलाकर या खीर पकाकर या खिचड़ी बनाकर पुल्टिस बाँधनी चाहिए॥ ११७॥

रूक्षशुद्धानिलार्तानामतः स्नेहान् प्रचक्ष्महे॥ ११८॥
विविधान् विविधव्याधिप्रशमायामृतोपमान्।

स्नेह-वर्णन का उपक्रम—अब यहाँ से आगे रूक्ष तथा केवल अकेले वायु से पीड़ित रोगियों के अनेकानेक रोगों के शमन के लिए अमृत के समान हितकारी विविध प्रकार के स्नेहों का वर्णन किया जायेगा॥ ११८॥

द्रोणेऽम्भसः पचेद् भागान् दशमूलाच्चतुष्पलान्॥ ११९॥

---

१. यवमाषैरण्डबीजातसीकुसुम्भबीजादिभिः पिष्टस्विन्नैर्लप्सिकाकृतिर्यः स्वेदनोपायः स उत्कारिका। (अ.हृ. हेमाद्रिटीका)

२. निरस्थिपिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम्। कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः। (परिभाषा-प्रदीप)

यवकोलकुलत्थानां भागैः प्रस्थोन्मितैः सह। पादशेषे रसे पिष्टैर्जीवनीयैः सशर्करैः॥ १२०॥
तथा खर्जूरकाश्मर्यद्राक्षाबदरफल्गुभिः। सक्षीरैः सर्पिषः प्रस्थः सिद्धः केवलवातनुत्॥ १२१॥
निरत्ययः प्रयोक्तव्यः पानाभ्यञ्जनबस्तिषु।

शुद्ध वातनाशक दशमूलादि घृत—दशमूल की सभी औषधें मिलित ४ पल तथा जौ, खट्टी बेर और कुलथी प्रत्येक १-१ प्रस्थ लेकर इन्हें कूटकर १ द्रोण जल में क्वाथ करें और चतुर्थांश (१ आढक) जल शेष बचे, तो छान लें। फिर उस क्वाथ में जीवनीय गण की औषधें (च. सू. ४ में कथित जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मधुक) चीनी, खजूर, गम्भार की छाल मुनक्का, बेर और अञ्जीर, प्रत्येक १२ ग्राम लेकर कल्क बनाकर डालें। फिर १ प्रस्थ दूध तथा १ प्रस्थ घी डालकर विधिवत् घृतपाक करें। यह घृत केवल शुद्धवात से होने वाले वातरोगों को दूर करता है। पीने के लिए, मालिश के लिए और बस्ति देने के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए। यह कोई उपद्रव नहीं करता है॥ ११९-१२१॥

वक्तव्य—श्रीगङ्गाधर एवं श्रीजयदेव ने उक्त योग में २ योग माना है। पहले योग में क्वाथ, दूध, घृत में जीवनीय गण और चीनी कल्क डालकर पाक करने को कहा गया है और दूसरे योग में खजूर, गम्भार, मुनक्का, बेर और अञ्जीर का कल्क तथा क्वाथ, दूध एवं घी पहले जैसा रहेगा। घी से चौगुना क्वाथ, बराबर दूध और चौथाई कल्क डालना चाहिए।

चित्रकं नागरं रास्नां पौष्करं पिप्पलीं शटीम्॥ १२२॥
पिष्ट्वा विपाचयेत् सर्पिर्वातरोगहरं परम्।

चित्रकादि घृत—चित्रक, सोंठ, रास्ना, पुष्करमूल, पीपर और कचूर—इन्हें बराबर लेकर कल्क कर चौगुने घी और घी से चौगुने जल के साथ विधिवत् घृतपाक करे। यह श्रेष्ठ वातानाशक है॥ १२२॥

बलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत्॥ १२३॥
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं मूर्धगतेऽनिले।

बलादि घृत—बरियार और बेल की छाल के चतुर्गुण क्वाथ और समानभाग दूध के साथ घृतपाक करके रख लें। शिरोगत वायुविकार में २ कर्ष अथवा ४ कर्ष की मात्रा में इस घृत का नस्य देना चाहिए॥ १२३॥

वक्तव्य—इस घृत को गरम करके पतला कर किंचित् उष्ण रहने पर नस्य दें। इसकी मात्रा बहुत कही गयी है। वर्तमान में ५-१० ग्राम की मात्रा में नस्य देना चाहिए।

ग्राम्यानूपौदकानां तु भित्त्वाऽस्थीनि पचेज्जले॥ १२४॥
तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत्। जीवकर्षभकास्फोताविदारीकपिकच्छुभिः॥ १२५॥
वातघ्नैर्जीवनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकम्। तत्सिद्धं नावनाभ्यङ्गात्तथा पानानुवासनात्॥
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम्। ये स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये॥ १२७॥
बलपुष्टिकरं तेषामेतत् स्यादमृतोपमम्।

दशमूलादि मज्जस्नेह—ग्रामों में रहने वाले पशु (भेंड़-बकरी आदि) और आनूप प्रदेश में विचरण करने वाले पशुओं (सूअर-भैंस आदि) की हड्डियों को कुचल कर जल में पकायें और जो स्नेहभाग जल के ऊपर तैरने लगे उसे निथार लें। फिर उस स्नेह को चौगुने दशमूल क्वाथ, स्नेह से दूने गोदुग्ध और जीवक, ऋषभक, अपराजिता, विदारीकन्द, केवाँच, वातनाशक द्रव्य तथा जीवनीयगण की दश औषधियों का कल्क मिलित स्नेह का चतुर्थांश डालकर स्नेहपाक करें तथा तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इस स्नेह को नस्य देने, मालिश करने, पान करने और अनुवासन बस्ति देने में प्रयोग करना चाहिए। यह स्नेह नस्य, अभ्यंग, पान तथा अनुवासनबस्ति के रूप में प्रयोग करने से सिरा, पर्व (सन्धि-गाँठ)

हड्डी और कोष्ठ में उत्पन्न वातविकार को शान्त करता है। जिन व्यक्तियों में मज्जा, वीर्य और ओज क्षीण हो गये हों, उन व्यक्तियों को यह मज्जास्नेह बल और पुष्टि प्रदान करता है तथा अमृत के समान लाभप्रद है॥ १२४-१२७॥

तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा॥ १२८॥
प्रत्यग्रा विधिनाऽनेन नस्यपानेषु शस्यते।

दशमूलादि वसास्नेह—पूर्वोक्त मज्जास्नेह की तरह ही दुग्ध, दशमूलक्वाथ और जीवकादि औषधों के कल्क के साथ तुरन्त की निकाली हुई घड़ियाल, मछली, कछुआ और चुलुकी नामक मछली की वसा को पकाकर वसास्नेह तैयार कर रख लें। यह वसा स्नेह नस्य लेने और पीने से उत्तम वातनाशक है॥ १२८॥

प्रस्थः स्यात् त्रिफलायास्तु कुलत्थकुडवद्वयम्॥ १२९॥
कृष्णगन्धात्वगाढक्योः पृथक् पञ्चपलं भवेत्। रास्नाचित्रकयोर्द्वे द्वे दशमूलं पलोन्मितम्॥ १३०॥
जलद्रोणे पचेत् पादशेषे प्रस्थोन्मितं पृथक्। सुरारनालदध्यम्लसौवीरकतुषोदकम्॥ १३१॥
कोलदाडिमवृक्षाम्लरसं तैलं वसां घृतम्। मज्जानं च पयश्चैव जीवनीयपलानि षट्॥ १३२॥
कल्कं दत्त्वा महास्नेहं सम्यगेनं विपाचयेत्। सिरामज्जास्थिगे वाते सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिषु॥
वेपनाक्षेपशूलेषु तदभ्यङ्गे प्रयोजयेत्।

त्रिफलादि महास्नेह—त्रिफला (बीजरहित) मिलित १ प्रस्थ, कुलथी २ कुडव (८ पल), सहिजन की छाल ५ पल, अरहर की दाल ५ पल, रास्ना २ पल, चित्रक २ पल, दशमूल के प्रत्येक द्रव्य १-१ पल—इन्हें लेकर भूसा की तरह कूटकर १ द्रोण जल में क्वाथ बनायें और चौथाई जल बचे तो क्वाथ छान लें; फिर उस क्वाथ में सुरा, काञ्जी, खट्टी दही, सौवीरक, तुषोदक, खट्टे बेर का रस, खट्टे अनार का रस, तैल, चर्बी, घृत, मज्जा और दूध—इनको १-१ प्रस्थ डालें तथा जीवनीय गण की दश औषधियों को मिलित ६ पल लेकर उनका कल्क बनाकर डाल दें और विधिवत् इस महास्नेह का पाक करे। जब स्नेह तैयार हो जाये, तो छानकर सुरक्षित रख लें।

प्रयोग—जब सिरागत, मज्जागत या अस्थिगत वायुजन्य विकार हो या समस्त शरीर में या शरीर के किसी एक अंग में वातज रोग हो या शरीर में कम्पन हो या आक्षेपक रोग हो अथवा कहीं पर शूल हो, तो इस महास्नेह की मालिश करनी चाहिए॥ १२९-१३३॥

निर्गुण्ड्या मूलपत्राभ्यां गृहीत्वा स्वरसं ततः॥ १३४॥
तेन सिद्धं समं तैलं नाडीकुष्ठानिलार्तिषु। हितं पामापचीनां च पानाभ्यञ्जनपूरणम्॥ १३५॥

निर्गुण्डी तैल—मेउड़ी या सिन्दुवार के मूल और पत्ते को कूट-पीसकर उसका स्वरस निकालें तथा स्वरस के वजन के बराबर तिल का तैल लेकर दोनों को मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। यह तैल नाड़ीव्रण, कुष्ठरोग, वातज रोग, पामा (खुजली) और अपची (गण्डमाला) रोग में पीने, मालिश करने और रुग्ण स्थान पर रखने में लाभकारक होता है॥ १३४-१३५॥

वक्तव्य—इस तैल में 'समं' शब्द का अर्थ 'साथ' करना उचित प्रतीत होता है और निर्गुण्डी-स्वरस की मात्रा तैल से चतुर्गुण लेना चाहिए। श्रीगंगाधर कविराज ने भी निर्गुण्डी स्वरस को तैल का चतुर्गुण लेने को कहा है। श्रीचक्रपाणि ने 'सममिति निर्गुण्डीरससमं' कहकर तैल के बराबर निर्गुण्डी स्वरस लेने का अर्थ प्रकट किया है, किन्तु यह बात हृदयंगम नहीं होती है। अतः 'समं' का अर्थ साथ करना और निर्गुण्डी स्वरस का चतुर्गुण लेना ही उचित प्रतीत होता है।

कार्पासास्थिकुलत्थानां रसे सिद्धं च वातनुत्।

कार्पास तैल—कपास के बीज का कल्क बनाकर उससे चौगुना तिल का तैल और तैल से चौगुना कुलथी का क्वाथ डालकर पकाया हुआ तैल वातरोग को दूर करता है।

मूलकस्वरसे क्षीरसमे स्थाप्यं त्र्यहं दधि॥ १३६॥
तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्। यष्ट्याह्वशर्कारास्नालवणार्द्रकनागरैः॥
सुपिष्टैः पलिकैः पानात्तदभ्यङ्गाच्च वातनुत्।

मूलक तैल—मूली का स्वरस १ प्रस्थ, दूध १ प्रस्थ और दही १ प्रस्थ—इन्हें एक में मिलाकर तीन दिन तक रख छोड़ें। जब यह मिश्रण खट्टा हो जाय, तो तिल का तैल १ प्रस्थ तथा मुलहठी, चीनी, रास्ना, सेंधानमक, आदी और सोंठ—इनको १-१ पल लेकर पीस लें; फिर इन सबको मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इस तैल के पीने और मालिश करने से सभी तरह के वातविकार नष्ट होते हैं॥ १३६-१३७॥

पञ्चमूलकषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम्॥ १३८॥
पक्त्वा तस्य रसं पूत्वा तैलप्रस्थं विपाचयेत्। पयसाऽष्टगुणेनैतत् सर्ववातविकारनुत्॥ १३९॥
संसृष्टे श्लेष्मणा चैतद्वाते शस्तं विशेषतः।

पञ्चमूल तैल—लघु पञ्चमूल (सरिवन, पिठवन, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू—प्रत्येक ३-३ किलो लेकर कूटकर ६४ लीटर जल में काढ़ा बनायें तथा १६ लीटर शेष रखें तब उस) क्वाथ में पुरानी कई वर्षों की खली (२ किलो) डालकर पकायें और चतुर्थांश (४ लीटर) बचने पर छानकर उस (४ लीटर खली के क्वाथ) में १ प्रस्थ तिल का तैल और ८ प्रस्थ दूध डालकर विधिवत् तैलपाक करें। यह तैल सभी प्रकार के वात रोगों को दूर करता है। जिस वातरोग में कफ का अनुबन्ध हो उसमें यह तैल विशेष लाभ करता है॥ १३८-१३९॥

यवकोलकुलत्थानां श्रेयस्याः शुष्कमूलकात्॥ १४०॥
बिल्वाच्चाञ्जलिमेकैकं द्रवैरम्लैर्विपाचयेत्। तेन तैलं कषायेण फलाम्लैः कटुभिस्तथा। १४१॥
पिष्टैः सिद्धं महावातैरार्तः शीते प्रयोजयेत्।

यवादि तैल—जौ ४ पल, खट्टी बेर ४ पल, कुलथी ४ पल, रास्ना (गजपीपर–चक्रपाणि के मत से) ४ पल, सूखी मूली ४ पल और बेलगिरी ४ पल—इन्हें जौकुट कर काञ्जी, मट्ठा एवं खट्टी दही के चौगुने द्रव में क्वाथ बनायें। जब चतुर्थांश बचे तो छानकर क्वाथ की चौथाई मात्रा में तिल का तैल तथा तैल का चतुर्थांश खट्टा अनार, आँवला, सोंठ, मरिच एवं पीपर (सब मिलकर) का कल्क डालकर विधिवत् तैलपाक करें। यह तैल महावात (अन्तरायाम आदि) से पीड़ित व्यक्ति के लिए शीतकाल में प्रयोग करने योग्य है॥ १४०-१४१॥

सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु॥ १४२॥
चतुष्प्रयोगाण्यायुष्यबलवर्णकराणि च। रजःशुक्रप्रदोषघ्नान्यपत्यजननानि च॥ १४३॥
निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च।

सर्ववातघ्न विशिष्ट तैल—अब यहाँ से आगे वातरोगों के सभी विकारों को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के तैलों को आप सुनें। ये तैल पीने, मालिश करने, नस्य लेने तथा अनुवासन बस्ति देने में उपयोगी हैं; आयु को बढ़ाने वाले तथा बल एवं वर्ण का निखार लाने वाले हैं; रजोविकार और वीर्य के विकार को दूर करते हैं; सन्तान की उत्पत्ति कराने वाले हैं; सर्वविध वातदोषनाशक, उपद्रवरहित तथा परीक्षित और अनुभूत हैं॥ १४२-१४३॥

सहाचरतुलायाश्च रसे तैलाढकं पचेत्॥ १४४॥
मूलकल्काद्दशपलं पयो दत्त्वा चतुर्गुणम्। सिद्धेऽस्मिञ्छर्कराचूर्णादष्टादशपलं भिषक्॥ १४५॥
विनीय दारुणेष्वेतद्वातव्याधिषु योजयेत्।

सहाचर तैल—कटसरैया १ तुला की मात्रा में लेकर जौकुट करके १६ आढक जल में क्वाथ करें और ४ आढक बचे तो छान लें। उस क्वाथ में १ आढक तिल का तैल, १० पल कटसरैया के मूल का कल्क और ४ आढक दूध मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। जब तैल तैयार हो जाये तो उसमें १८ पल पिसी चीनी मिला दें। इस तैल का प्रयोग भयंकर वातरोगों में करना चाहिए॥ १४४-१४५॥

श्वदंष्ट्रास्वरसप्रस्थौ द्वौ समौ पयसा सह॥ १४६॥
षट्पलं शृङ्गवेरस्य गुडस्याष्टपलं तथा। तैलप्रस्थं विपक्वं तैर्दद्यात् सर्वानिलार्तिषु॥ १४७॥
जीर्णे तैले च दुग्धेन पेयाकल्पः प्रशस्यते।

श्वदंष्ट्रा तैल—गोखरू का स्वरस (या क्वाथ) २ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, पिसी हुई आदी ६ पल और गुड़ ८ पल डालकर १ प्रस्थ तिल का तैल पकायें। यह तैल (पान-अभ्यंग-नस्य तथा बस्ति के रूप में प्रयोग करने से) सभी प्रकार के वातरोगों में लाभप्रद होता है। जब यह तैल पच जाये तो पथ्य में पेया पिलानी चाहिए। १४६-१४७॥

बलाशतं गुडूच्याश्च पादं रास्ताष्टभागिकम्॥ १४८॥
जलाढकशते पक्त्वा दशभागस्थिते जले। दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तैस्तैलाढकं समैः॥ १४९॥
पचेत् साजपयोऽर्धांशैः कल्कैरेभिः पलोन्मितैः। शटीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठागुरुचन्दनैः॥ १५०॥
पद्मकातिविषामुस्तसूर्पपर्णीहरेणुभिः। यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः॥ १५१॥
पलाशरसकस्तूरीनलिकाजातिकोषकैः। स्पृक्काकुङ्कुमशैलेयजातीकटुफलाम्बुभिः॥ १५२॥
त्वचाकुन्दुरुकर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः। लवङ्गनखकक्कोलकुष्ठमांसीप्रियङ्गुभिः॥ १५३॥
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनपल्लवैः। सनागकेशरैः सिद्धे क्षिपेच्चात्रावतारिते॥ १५४॥
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत्प्रयोजयेत्। श्वासं कासं ज्वरं हिक्कां छर्दिं गुल्मान् क्षतं क्षयम्॥
प्लीहशोषावपस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत्। बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम्॥ १५६॥
(अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्।)

इति बलातैलम्।

बला तैल : क्वाथ्य द्रव्य—बरियार पञ्चाङ्ग १०० पल, गुरुच २५ पल, रास्ना १२½ पल। **क्वाथार्थ जल** १०० आढक, अवशिष्ट जल १० आढक; **द्रव द्रव्य**—दही का पानी १ आढक, ईख का रस १ आढक, सिरका १ आढक, तिल का तैल १ आढक तथा बकरी का दूध ½ आढक। **कल्क द्रव्य**—कचूर, सरल, देवदारु, छोटी इलायची, मजीठ, अगर, श्वेतचन्दन, पद्मकाठ, अतीस, नागरमोथा, मुद्गपर्णी, रेणुका, मुलहठी, तुलसी, नख, ऋषभक, जीवक, पलासगोंद, कस्तूरी, नलिका, जावित्री, स्पृक्का, केशर, छड़ीला, जायफल, कायफल, सुगन्धबाला, दालचीनी, कुन्दरू, कपूर, शिलारस—प्रत्येक १-१ पल; गन्धबिरोजा २ पल, लवंग, नखी, शीतलचीनी, कूठ, जटामांसी, प्रियंगु का फूल, गठिवन, तगर, सुगन्धतृण, बच, मैनफल, केवटीमोथा तथा नागकेशर—प्रत्येक १-१ पल। इन सब द्रव्यों का कल्क बना लें तथा पूर्वोक्त क्वाथ, द्रव एवं कल्क डालकर विधिवत् तैलपाक करें और तैयार होने पर छानकर सुगन्धित फूलों के चूर्ण को डालकर हिलाकर मिला दें।

प्रयोग—यह बलातैल श्वास, कास, ज्वर, हिक्का, छर्दि, गुल्मरोग, उरःक्षत, राजयक्ष्मा, प्लीहरोग, शोष, अपस्मार और शरीर की कुरूपता को दूर करता है। यह सभी तैलों में श्रेष्ठ वातरोगनाशक तैल है। इस तैल का उपदेश गुरुवर कृष्णात्रेय ने शिष्य अग्निवेश को दिया था॥ १४८-१५६॥

वक्तव्य—इस योग में बतलाये गये केशर, कस्तूरी, कपूर, जावित्री, जायफल एवं लवण इन गन्धद्रव्यों के बारीक चूर्ण को तैलपाक के बाद बोतलों में भरते समय डालना चाहिए। पहले पाक के समय डालने

से इनका तैलांश उड़ जाता है और उनका असर कम हो जाता है। मूल के कटुफला शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने लताकस्तूरी बतलाया है।

अमृतायास्तुलाः पञ्च द्रोणेष्वष्टस्वपां पचेत्॥ १५७॥

पादशेषे समक्षीरं तैलस्य द्व्याढकं पचेत्। एलामांसीनतोशीरसारिवाकुष्ठचन्दनैः॥ १५८॥
बलातामलकीमेदाशतपुष्पर्धिजीवकैः। काकोलीक्षीरकाकोलीश्रावण्यतिबलानखैः॥ १५९॥
महाश्रावणिजीवन्तीविदारीकपिकच्छुभिः। शतावरीमहामेदाकर्कटाख्याहरेणुभिः। १६०॥
वचागोक्षुरकैरण्डरास्नाकालसहाचरैः। वीराशल्लकिमुस्तत्वक्पत्रर्षभकबालकैः॥ १६१॥
सहैलाकुङ्कुमस्पृक्कात्रिदशाह्वैश्च कार्षिकैः। मज्जिष्ठायास्त्रिकर्षेण मधुकाष्टपलेन च॥
कल्कैस्तत् क्षीणवीर्याग्निबलसंमूढचेतसः। उन्मादारत्यपस्मारैरार्तांश्च प्रकृतिं नयेत्॥ १६३॥
वातव्याधिहरं श्रेष्ठं तैलाग्र्यममृताह्वयम्। कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम्॥ १६४॥

इत्यमृताद्यं तैलम्।

अमृताद्य तैल : क्वाथ्य द्रव्य—गुरुच ५ तुला (५०० पल), जल ८ द्रोण (लगभग १०० लीटर), अवशिष्ट जल २ द्रोण; **द्रव द्रव्य**—दूध २ द्रोण, तिल का तैल २ द्रोण; **कल्क द्रव्य**—छोटी इलायची, जटामांसी, तगर, खश, अनन्तमूल, कूठ, लालचन्दन, बलामूल, भूईआँवला, मेदा, सौंफ, ऋद्धि, जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, गोरखमुण्डी, अतिबला (ककही), नख, बड़ी गोरखमुण्डी, जीवन्ती, विदारीकन्द, केवाँच, शतावर, महामेदा, काकड़ासींगी, रेणुका, बच, गोखरू, रेड़ की जड़, रास्ना, हैंस, क्षीरविदारी, सलई, नागरमोथा, दालचीनी, तेजपत्ता, ऋषभक, सुगन्धबाला, माषपर्णी, बड़ी इलायची, केशर, स्पृक्का, देवदारु—प्रत्येक १-१ कर्ष; मजीठ ३ कर्ष तथा मुलहठी ८ पल—प्रत्येक १-१ कर्ष; इन सभी द्रव्यों को सील पर चटनी की तरह पीसकर क्वाथ, दूध और तैल में एक साथ मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें।

प्रयोग—यह तैल पान, अभ्यंग, नस्य तथा अनुवासन के रूप में प्रयोग योग्य है। यह वीर्य की क्षीणता, अग्नि की मन्दता, बल की कमी, चित्त की विमूढ़ता, उन्माद, व्यग्रता या बेचैनी और अपस्मार रोग को नष्ट कर इनसे ग्रस्त रोगियों को स्वस्थ बनाता है। यह अमृताद्य तैल वातरोगों को दूर करने में श्रेष्ठ एवं अग्रणी तैल है। चिकित्सक इसका आदर-सम्मान करते हैं। इसका उपदेश आचार्य कृष्णात्रेय ने किया है॥ १५७-१६४॥

वक्तव्य—इस तैल में भी जो सुगन्धित द्रव्य हैं, उन्हें तैल तैयार हो जाने पर सीसियों में भरते समय महीन चूर्ण कर डालना चाहिए।

रास्नासहस्रनिर्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत्। गन्धैर्हैमवतैः पिष्टैरेलाद्यैश्चानिलार्तिनुत्॥ १६५॥

रास्ना तैल—रास्ना को १००० पल लेकर (चौगुने जल २०० लीटर के लगभग में) क्वाथ करें और चतुर्थांश बचने पर छान लें। उस क्वाथ (लगभग ५० लीटर में १ द्रोण (लगभग १३ लीटर) तिल का तैल और पूर्वोक्त अमृताद्य तैल में कथित इलायची, जटामांसी आदि कल्क द्रव्यों को (मिलित) तैल की चौथाई मात्रा में डालकर तथा हिमालय में उत्पन्न होने वाले अगुरु-कूठ-छड़ीला आदि सुगन्ध द्रव्यों को मिलाकर विधिवत् तैलपाक करना चाहिए। यह तैल वातरोग के दर्द को शान्त करता है॥ १६५॥

कल्पोऽयमश्वगन्धायां प्रसारण्यां बलाद्वये। क्वाथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत् पृथक्॥

इति रास्नातैलम्।

अश्वगन्धा तैल, प्रसारणी तैल, बला तैल तथा अतिबला तैल—'रास्ना तैल' जिस प्रकार बनाया जाता है, उसी प्रकार असगन्ध, प्रसारणी, बरियार और अतिबला से भी तैल बनाना चाहिए। अर्थात् इनके

१००० पल का क्वाथ बनाकर उसमें एलादि कल्क द्रव्यों का कल्क तथा हिमालय में उत्पन्न होने वाले अगुरु आदि सुगन्ध द्रव्यों को डालकर अश्वगन्धा तैल, प्रसारणी तैल, बला तैल या अतिबला तैल का निर्माण करना चाहिए अथवा इन द्रव्यों के क्वाथ में चतुर्थांश तैल, तैल के बराबर दूध और तैल का चतुर्थांश इन्हीं द्रव्यों का कल्क डालकर विधिवत् तैलपाक कर लें। कल्क से चतुर्गुण तैल, तैल के बराबर दूध और तैल से चौगुना क्वाथ होना चाहिए॥ १६६॥

मूलकस्वरसं क्षीरं तैलं दध्यम्लकाञ्जिकम्। तुल्यं विपाचयेत् कल्कैर्बलाचित्रकसैन्धवैः॥
पिप्पल्यतिविषारास्नाचविकागुरुशिग्रुकैः। भल्लातकवचाकुष्ठश्वदंष्ट्राविश्वभेषजैः॥ १६८॥
पुष्कराह्वशटीबिल्वशताह्वानतदारुभिः। तत्सिद्धं पीतमत्युग्रान् हन्ति वातात्मकान् गदान्॥

इति मूलकाद्यं तैलम्।

मूलकाद्य तैल—मूली का स्वरस, दूध, खट्टी दही, कांजी और तिल का तैल, सभी समान भाग में; बरियार, चित्रक, सेंधानमक, पीपर, अतीस, रास्ना, चव्य, अगुरु, सहिजन की छाल, शुद्ध भिलावा, बच, कूठ, गोखरू, सोंठ, पुष्करमूल, कचूर, बेलगिरी, सौंफ, तगर और देवदारु—इनका मिलित कल्क तैल का चौथाई लेकर पूर्वोक्त द्रव तैल और कल्क डालकर विधिपूर्वक तैल का पाक करे और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह तैल पीने के लिए प्रयोग किया जाता है और इसके पीने से अति उग्र वातरोग भी शान्त हो जाते हैं॥ १६७-१६९॥

वृषमूलगुडूच्योश्च द्विशतस्य शतस्य च। चित्रकात् साश्वगन्धाच्च क्वाथे तैलाढकं पचेत्॥ १७०॥
सक्षीरं वायुना भग्ने दद्याज्जर्जरिते तथा। प्राक् तैलावापसिद्धं च भवेदेतदगुणोत्तरम्॥ १७१॥

इति वृषमूलादितैलम्।

वृषमूलादि तैल—अरूस का मूल १०० पल, गुरुच १०० पल, असगन्ध ५० पल तथा चित्रकमूल ५० पल लेकर जौकुट कर १६ आढक जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनायें। क्वाथ को छानकर उसमें १ आढक दूध और १ आढक तिल का तैल डालकर विधिवत् तैलपाक करें। इस तैल का सेवन वातरोग की पीड़ा से भग्न हृदय (हताश) व्यक्तियों तथा एकदम शिथिल हुए व्यक्तियों के लिए करना चाहिए। यदि इस तैल को पकाते समय 'मूलकादि तैल' में बताये गये कल्क द्रव्यों का प्रक्षेप डाल दिया जाये, तो यह तैल और अधिक गुणवान् हो जायेगा॥ १७०-१७१॥

रास्नाशिरीषयष्ट्याह्वशुण्ठीसहचरामृताः॥ १७२॥
स्योनाकदारुशम्पाकहयगन्धात्रिकण्टकाः। एषां दशपलान् भागान् कषायमुपकल्पयेत्॥ १७३॥
ततस्तेन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः। दध्यारनालमाषाम्बुमूलकेक्षुरसैः शुभैः॥ १७४॥
पृथक् प्रस्थोन्मितैः सार्धं तैलप्रस्थं विपाचयेत्। प्लीहमूत्रग्रहश्वासकासमारुतरोगनुत्॥ १७५॥
एतन्मूलकतैलाख्यं वर्णायुर्बलवर्धनम्।

इति मूलकतैलम्।

मूलक तैल—रास्ना का मूल, शिरीष के मूल की छाल, मुलहठी मूल, सोंठ, कटसरैया मूल, गुडूची मूल, सोनापाठा मूल की छाल, देवदारु, अमलतासमूल की छाल, असगन्ध मूल और गोखरू मूल—इन सभी द्रव्यों को १०-१० पल की मात्रा में लेकर जौकुट कर अठगुने जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनायें और छान लें। फिर उस क्वाथ में सर्वगन्ध (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेशर, कपूर, शीतल चीनी, अगुरु, गन्धबिरोजा और लवंग) के प्रत्येक द्रव्य का १-१ कर्ष कल्क डालें तथा दही, काञ्जी, ऊड़द का क्वाथ, मूली का स्वरस एवं गन्ने का रस १-१ प्रस्थ डालकर तिल का तैल १ प्रस्थ मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रखें। यह तैल प्लीहरोग, मूत्रावरोध, श्वास, कास और

वातजन्य रोगों को नष्ट करता है। इसका नाम मूलक तैल है। यह शरीर के वर्ण, आयु तथा बल को बढ़ाता है॥ १७२-१७५॥

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने अन्तिम पंक्ति में 'रास्नातैलमिति ख्यातं पुनर्वसुनिदर्शितम्' ऐसा पाठ करके इसे रास्नातैल माना है, क्योंकि रास्ना से इसके योग का आरम्भ हुआ है। 'मूलक तैल' नाम रखने का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इस तैल को रास्ना आदि द्रव्यों के मूल से बनाना चाहिए।

यवकोलकुलत्थानां मत्स्यानां शिग्रुबिल्वयोः। रसेन मूलकानां च तैलं दधिपयोन्वितम्॥ १७६॥
साधयित्वा भिषग्दद्यात् सर्ववातामयापहम्। लशुनस्वरसे सिद्धं तैलमेभिश्च वातनुत्॥ १७७॥

यवादि मूलक तैल एवं लशुन तैल—(१) जौ, खट्टी बेर, कुलथी, मछली, सहिजन की छाल और बेलगिरी—इनका क्वाथ बनायें। उस क्वाथ का चौथाई तिल का तैल और तैल के बराबर वजन में मूली का स्वरस लें तथा उतना ही दूध और दही डालकर विधिवत् तैलपाक करें। यह तैल सभी प्रकार के वातरोगों को दूर करता है। (२) इसी प्रकार जौ आदि के क्वाथ के साथ तैल के बराबर मात्रा में लहसुन का स्वरस डालकर तैल पकाना चाहिए। यह सभी वातरोगों को नष्ट करता है॥ १७६-१७७॥

वक्तव्य—आचार्य गंगाधर ने जौ आदि प्रत्येक द्रव्य के क्वाथ से एवं मूली स्वरस तथा लहसुनस्वरस से अलग-अलग तैलपाक करने का विधान किया है; किन्तु इसमें दो ही योग रखना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि लहसुनस्वरस वाले योग में 'एभिः' शब्द से यह अभिव्यक्ति निकलती है कि प्रथम योग में लहसुन स्वरस के अतिरिक्त अन्य सभी का एक साथ पाक करना है और द्वितीय योग में लहसुन के स्वरस के साथ जौ आदि का क्वाथ, मूली का स्वरस, दही और दूध डालकर तैल पकाना है।

तैलान्येतान्यृतुस्नातामङ्गनां पाययेत च। पीत्वाऽन्यतममेषां हि वन्ध्याऽपि जनयेत् सुतम्[1]॥

वन्ध्यात्वनाशक तैल—रजोधर्म से निवृत्त होने पर ऋतुकाल के अनन्तर स्त्री को पूर्वकथित तैलों का पान कराना चाहिए। इनमें से किसी एक तैल का पान करके बन्ध्या स्त्री भी पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ हो जाती है॥ १७८॥

यच्च शीतज्वरे तैलमगुर्वाद्यमुदाहृतम्। अनेकशतशस्तच्च सिद्धं स्याद्वातरोगनुत्॥ १७९॥

अगुर्वादि तैल का प्रयोग-विधान—(च.चि.अध्याय ३ में) शीतज्वर की चिकित्सा में जो अगुर्वाद्य तैल बतलाया गया है, उस तैल को उसके योग की औषधों के साथ अनेक सौ बार पकाया जाय, तो वह वातरोग को दूर करता है॥ १७९॥

वक्ष्यन्ते यानि तैलानि वातशोणितकेऽपि च। तानि चानिलशान्त्यर्थं सिद्धिकामः प्रयोजयेत्॥

वातरोग में वातरक्तोक्त तैलोपचार—(अनागतावेक्षण तन्त्रयुक्ति के अनुसार यह उपदेश किया गया है) आगे इस ग्रन्थ के उन्तीसवें अध्याय में वातरक्त रोग की चिकित्सा में जिन तैलों को कहा जायेगा, वातचिकित्सा में सफलता पाने की कामना रखने वाले चिकित्सक को चाहिए कि वातप्रकोप-शमनार्थ उन तैलों का प्रयोग करें॥ १८०॥

नास्ति तैलात् परं किञ्चिदौषधं मारुतापहम्। व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात् संस्काराद् बलवत्तरम्॥
गणैर्वातहरैस्त्वस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः। सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान्॥ १८२॥

वातविकार-शमनार्थ तैल-प्रयोग में युक्ति—तैल व्यवायी होने से सर्वशरीर में प्रवेश कर जाता है। यह (शीतगुण वायु के विपरीत) उष्ण होता है; (लघुगुण वायु के विपरीत) गुरु होता है और (रूक्षगुण वायु के विपरीत) स्निग्ध होता है। इसलिए तैल से बढ़कर कोई औषध वातप्रकोपशामक नहीं है।

१. वन्ध्यात्वं हि प्रायो वाताधिक्याद् भवति, एतानि (तैलानि) नितरां वातहराणि इति। (जज्जट टीका)।

जब वातनाशकगण की औषधों के क्वाथ, कल्क या स्वरस आदि के साथ सैकड़ों या हजारों बार पाक करके शतपाक या सहस्रपाक तैल तैयार किया जाता है, तब वह संस्कार करने से और भी अधिक गुणवान् हो जाता है तथा शरीर के सूक्ष्म मार्गों में स्थित रोगों को भी बहुत शीघ्र ही विनष्ट कर देता है॥ १८१-१८२॥

क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते। वाते पित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेषु विशेषतः॥१८३॥

दोषान्तरादि संसृष्ट वात-चिकित्सा—जब दो दोषों के प्रकोप से कोई वातरोग उत्पन्न हुआ हो, तो वात जिस दोष से आवृत या सम्बद्ध हो, उस दोष को दूर करने वाली चिकित्सा के साथ-साथ केवल वातदोष से उत्पन्न रोग में की जाने वाली सामान्य चिकित्सा भी करनी चाहिए। विशेषकर उस स्थिति में जब कि स्रोतों के आवृत होने पर पित्त या कफ से वात का संसर्ग हो॥ १८३॥

पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम्। व्यत्यासात्[1] कारयेत् सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते॥
धन्वमांसं यवाः शालिर्यापनाः क्षीरबस्तयः। विरेकः क्षीरपानं च पञ्चमूलीबलाशृतम्॥ १८५॥
मधुयष्टिबलातैलघृतक्षीरैश्च सेचनम्। पञ्चमूलकषायेण कुर्याद्वा शीतवारिणा॥ १८६॥

पित्तावृत वात में उपचार—जब वायु पित्त से आवृत हो, तो विशेष रूप में कभी शीत और कभी उष्ण उपचार बदल-बदल कर करना चाहिए। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए (आगे अध्याय २९ में कथित) जीवनीय घृत का प्रयोग यथायोग्य मात्रा में करना चाहिए।

पथ्य—जांगल पशु-पक्षियों का मांस, जौ, अगहनी चावल और लघु पञ्चमूल एवं बरियार का कल्क डालकर क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध पिलाना लाभप्रद होता है।

चिकित्सा—पित्तावृत वात में (चरक-सिद्धिस्थान अध्याय १२ में कथित) यापनाबस्ति तथा विरेचन औषधों का प्रयोग करना चाहिए। (वातरक्त-चिकित्सा में पठित) मधुयष्टि तैल, बलातैल, घी, दूध अथवा पञ्चमूल क्वाथ या शीतल जल से रोगी के शरीर का सिञ्चन, परिसेचन या स्नान कराना चाहिए॥ १८४-१८६॥

कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः। स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम्॥
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं हितम्।

कफावृत वात चिकित्सा—जब वायु कफ से आवृत हो, तो पथ्य में जौ के बने आहार, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, पुराना घृत, पुराना तिलतैल और पुराना सरसों का तैल प्रयोग में लाना चाहिए। रोगी को तीक्ष्ण स्वेद देना चाहिए, निरूहबस्ति देना चाहिए, वमन और विरेचन कराना चाहिए॥ १८७॥

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत्॥ १८८॥

कफपित्त-संसृष्ट वात-चिकित्सासूत्र—जब वायु कफ और पित्त दोनों से संयुक्त रूप से आवृत हो, तो सर्वप्रथम पित्त के प्रकोप का शमन करना चाहिए (क्योंकि पित्त आशुकारी और आग्नेय स्वभाव का होता है)॥ १८८॥

आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत्॥ १८९॥
पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा।

स्थानानुसार कफ-पित्त-चिकित्सा—जब आमाशय में कफ स्थित हो, तो वमन कराना चाहिए और कफ जब पक्वाशय में हो तो विरेचन कराना चाहिए। इसी प्रकार यदि पित्त का प्रकोप सम्पूर्ण शरीर में हो तो विरेचन कराना चाहिए॥ १८९॥

१. व्यत्यासादिति परिवर्तनेन शीतां कृत्वोष्णाम्, उष्णां च कृत्वा शीतां कुर्यादित्यर्थः। (चक्रपाणि टीका)।

स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः॥ १९०॥
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं बस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत्। श्लेष्मणाऽनुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः॥ १९१॥
निरूहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः। मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत्॥ १९२॥

कफपित्त-संसृष्ट वात में बस्ति प्रयोग—(१) जब कफ स्वेदन प्रयोगों द्वारा द्रवीभूत होकर पक्वाशय में स्थित हो जाय या पित्त अपने प्रकोपजनित लक्षणों को शरीर में प्रकट करे, तो कफ तथा पित्त को बस्तियों के प्रयोग से निकालना चाहिए। (२) जब वात के साथ कफ का प्रकोप हो तो गोमूत्र-मिश्रित निरूहबस्ति देकर दोष-निर्हरण करना चाहिए। (३) जब वात के साथ पित्त का प्रकोप हो तो दुग्धमिश्रित निरूहबस्ति देकर पित्त का निर्हरण करना चाहिए। (४) जब पित्त तथा कफ वात के बल को बढ़ा रहे हों, तो रोगी को मधुरवर्ग की औषधों से सिद्ध तैलों की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए॥ १९०-१९२॥

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत्।

शिरोगत सकफ वात-चिकित्सा—जब कफयुक्त वात शिर में उपद्रव कर रहा हो, तो धूम तथा नस्य आदि के प्रयोग से उसे शान्त कराना चाहिए।

हृते पित्ते कफे यः स्यादुरःस्रोतोऽनुगोऽनिलः॥ १९३॥
सशेषः स्यात् क्रिया तत्र कार्या केवलवातिकी।

उरःस्रोतस्गत वात-चिकित्सा—यदि पित्त और कफ को निकाल देने या प्रकृतिस्थ कर देने के बाद वायु उरःस्थल के स्रोतों में स्थिर होकर उपद्रव कर रहा हो, तो उस स्थिति में केवल शुद्ध वातविकार में की जाने वाली चिकित्सा करनी चाहिए॥ १९३॥

शोणितेनावृते कुर्याद् वातशोणितकीं क्रियाम्॥ १९४॥

रक्तावृत वात-चिकित्सा—जब वायु रक्त से आवृत हो, तो वातरक्त की चिकित्सा (च.चि. अध्याय २९ के अनुसार) करनी चाहिए॥ १९४॥

प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत्। स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीरस्नेहा मांसावृते हिताः॥ १९५॥

आमावृत और मांसावृत वात-चिकित्सा—(१) जब वायु आम से आवृत हो, तो प्रमेहनाशक, वातनाशक तथा मेदोविकार नाशक चिकित्सा करनी चाहिए। (२) जब वायु मांस से आवृत हो तो स्वेदन, अभ्यंग, मांसरस, दूध तथा घी-तैल आदि स्नेहों का प्रयोग करना हितकर होता है॥ १९५॥

महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद् रेतसाऽऽवृते।

अस्थि-मज्जागत वात एवं शुक्रावृत वात-चिकित्सा—(१) यदि हड्डियों में और मज्जा में वायु का प्रकोप हो, तो महास्नेह अर्थात् घी-तैल-वसा और मज्जा इन चारों स्नेहों का प्रयोग करें। (२) यदि वायु वीर्य से आवृत हो तो (इसी अध्याय के श्लोक ९४ में कथित) पहले की तरह ही चिकित्सा करनी चाहिए।

अन्नावृते तदुल्लेखः पाचनं दीपनं लघु॥ १९६॥

अन्नावृत वात-चिकित्सा—जब वायु अन्न द्वारा (भोजन के द्वारा) आवृत हो, तो वमन कराकर उस अन्न को निकाल देना चाहिए तथा अग्निदीपन एवं पाचन औषधों का प्रयोग करना चाहिए और हल्का भोजन कराना चाहिए॥ १९६॥

मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदाः सोत्तरबस्तयः। शकृता तैलमैरण्डं स्निग्धोदावर्तवत् क्रिया॥ १९७॥

मूत्रावृत और पुरीषावृत वात-चिकित्सा—(१) जब वायु मूत्र से आवृत हो तो मूत्रल औषधों का प्रयोग करना चाहिए, उत्तरबस्तियाँ देनी चाहिए और स्वेदन करना चाहिए। (२) जब वायु पुरीष से

आवृत हो, तो रेड़ी का तैल पिलाना चाहिए तथा स्निग्ध औषधों का सेवन और उदावर्त रोग की तरह चिकित्सा करनी चाहिए॥ १९७॥

स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक् तं स्वैरौषधैर्जयेत्। वमनैर्वा विरेकैर्वा बस्तिभिः शमनेन वा॥
इत्युक्तमावृते वाते पित्तादिभिर्यथायथम्।

स्वस्थानस्थ दोषों की चिकित्सा—अपने स्थान में स्थित दोष स्थानस्थ होने से बलवान् होता है, इसलिए यदि वात आदि दोष अपने पक्वाशय आदि स्थान में प्रबलरूप से कुपित हो जायें, तो वातविकार में बस्ति, पित्तविकार में विरेचन और कफविकार में वमन के द्वारा शोधन करना चाहिए[1]। उसके बाद उन-उन दोषों को शान्त करने वाली औषधियों का प्रयोग करना चाहिए अथवा जो रोगी शोधन-चिकित्सा के योग्य न हों उन्हें केवल दोषशामक औषध देनी चाहिए। यहाँ तक पित्त आदि दोषों से आवृत वातदोष के लक्षण व उनकी चिकित्सा का यथाविधि वर्णन कर दिया गया है। १९८॥

वायु के पारस्परिक आवरण

मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे शृणु॥ १९९॥
लिङ्गं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयाऽनघ! प्राणो वृणोत्युदानादीन् प्राणं वृणवन्ति तेऽपि च॥
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम्। विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम्॥ २०१॥
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत्।

वायु के परस्पर के आवरणों के वर्णन का उपक्रम—हे निष्पाप! आप विस्तारपूर्वक एवं संक्षेप से प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान—इन पाँच प्रकार के वायुओं के परस्पर एक-दूसरे द्वारा आवृत किये जाने पर होने वाले लक्षणों को सुनें।

प्राणवायु उदान आदि को आवृत करता है और उदान आदि वायु प्राणवायु को आवृत करते हैं। उदान आदि भी अन्य वायुओं को और अन्य वायु उदान आदि को आवृत कर देते हैं। इसी प्रकार समान आदि के बारे में भी समझना चाहिए। पाँचों वायु जब प्रवृद्ध होते हैं तो उनके बीस प्रकार के आवरण होते हैं। उन सब प्रकारों को अच्छी तरह तर्क-वितर्क करके जान लेना चाहिए। १९९-२०१॥

वायु के बीस परस्पर आवरण

प्राण वायु	उदान आवृत, समान आवृत, व्यान आवृत, अपान आवृत
उदान वायु	प्राण आवृत, समान आवृत, व्यान आवृत, अपान आवृत
समान वायु	प्राण आवृत, उदान आवृत, व्यान आवृत, अपान आवृत
व्यान वायु	प्राण आवृत, उदान आवृत, समान आवृत, अपान आवृत
अपान वायु	प्राण आवृत, उदान आवृत, समान आवृत, व्यान आवृत

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम्॥ २०२॥
व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोर्ध्वजत्रुकम्।

प्राणावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(१) जब व्यानवायु प्राणवायु से आवृत होती है तब सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं; वे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का ज्ञान नहीं कर पाती हैं। स्मरणशक्ति और शारीरिक बल क्षीण हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में की जाने वाली चिकित्सा करनी चाहिए॥ २०२॥

१. शारीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्। बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु॥ (अ.हृ.सू. १)

स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता ॥ २०३ ॥
प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम्।

व्यानावृत प्राणवायु का लक्षण और चिकित्सा—(२) जब प्राणवायु व्यानवायु से आवृत होती है तब पसीना अधिक आता है, रोमाञ्च होता है, त्वचा के रोग होते हैं और अंगों में सूनापन होता है। इसके उपचार के लिए स्नेह मिलाकर विरेचन औषध देनी चाहिए॥ २०३॥

प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकताः ॥ २०४ ॥
चतुष्प्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः।

प्राणावृत समानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(३) जब समानवायु प्राणवायु से आवृत होती है तब मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, वाणी टूटी हुई निकलती है या कण्ठावरोध होने से (जबान बन्द होने से) मूकता हो जाती है। इसमें यापना बस्ति (देखें चरक-सिद्धिस्थान, अध्याय १२) तथा वातहर तैलों का पान, अभ्यंग, नस्य और अनुवासन के रूप में प्रयोग करना चाहिए॥ २०४॥

समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः ॥ २०५ ॥
शूलं चामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते।

समानावृत अपानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(४) जब अपानवायु समानवायु से आवृत होती है, तब ग्रहणी रोग, पार्श्वशूल, हृदयरोग तथा आमाशयशूल होता है। ऐसी स्थिति में अग्नि को प्रदीप्त करने वाले घृत का प्रयोग करना चाहिए॥ २०५॥

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वासंग्रहः ॥ २०६ ॥
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते। तत्रोर्ध्वभाजिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा ॥ २०७ ॥

प्राणावृत उदानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(५) जब उदानवायु प्राणवायु से आवृत होती है तब शिर में जकड़ाहट, सर्दी-जुकाम होना, श्वास-प्रश्वास की रुकावट, हृद्रोग और मुखशोष, ये लक्षण होते हैं। ऐसी स्थिति में ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों की तरह धूमपान, नस्य, कवलग्रह आदि कराना चाहिए। रोगी को आश्वासन देना चाहिए और धैर्य बँधाना चाहिए॥ २०६-२०७॥

कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा। उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा ॥ २०८ ॥
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनं सुखं चैवोपपादयेत्।

उदानावृत प्राणवायु का लक्षण और चिकित्सा—(६) जब प्राणवायु उदानवायु से आवृत होती है तब शरीर की क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है, ओज का नाश हो जाता है, बल क्षीण हो जाता है और शरीर का वर्ण नष्ट हो जाता है या मृत्यु हो जाती है। ऐसी स्थिति में रोगी को ठण्डे जल से सींचना चाहिए, आश्वासन देना चाहिए और पूर्ण विश्राम की मुद्रा में रखना चाहिए॥ २०८॥

ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः ॥ २०९ ॥
स्युर्वाते तत्र बस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम्।

उदानावृत अपानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(७) जब अपानवायु उदानवायु से आवृत होती है तब वमन, श्वास-कास आदि रोग उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में बस्तिकर्म कराना चाहिए और भोजन में वायु को अनुलोम बनाने वाला आहार देना चाहिए॥ २०९॥

मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते ॥ २१० ॥
वाते स्याद् वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम्।

अपानावृत उदानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(८) जब उदानवायु अपानवायु से आवृत होती है तब मूर्च्छा, अग्निमान्द्य, अतिसार आदि लक्षण होते हैं। ऐसी स्थिति में वमन कराना चाहिए तथा अग्नि को प्रदीप्त करने वाली औषधियों का सेवन एवं ग्राही अन्नपान का सेवन कराना चाहिए॥ २१०॥

वम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः ॥ २११ ॥
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत्।

व्यानावृत अपानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(९) जब अपानवायु व्यानवायु से आवृत होती है तब वमन, आध्मान, उदावर्त, गुल्म और गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा होना—ये सब लक्षण होते हैं। ऐसी स्थिति में स्निग्ध पदार्थों को खिलाकर वायु का अनुलोमन करना चाहिए॥ २११॥

अपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम् ॥ २१२ ॥
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वं संग्रहणं मतम्।

अपानावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(१०) जब व्यानवायु अपानवायु से आवृत होती है तब मल, मूत्र और वीर्य ये अधिक मात्रा में बार-बार निकलने लगते हैं। ऐसी स्थिति में औषध तथा आहार सभी कुछ संग्राही गुणवाला प्रयोग में लाना चाहिए॥ २१२॥

मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ॥ २१३ ॥
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघुभोजनम्।

समानावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(११) जब व्यानवायु समानवायु से आवृत होती है तब मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अंगों मे थकावट, जठराग्नि की मन्दता, ओज का क्षय और बल का ह्रास होना—ये सब लक्षण होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यायाम कराना और सुपाच्य हल्का भोजन देना हितकर होता है॥ २१३॥

स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ॥ २१४ ॥
उदानेनावृते व्याने तत्र पथ्यं मितं लघु।

उदानावृत व्यानवायु का लक्षण और चिकित्सा—(१२) जब व्यानवायु उदानवायु से आवृत होती है तब शरीर के अवयवों में जकड़ाहट, मन्दाग्नि, पसीना न होना, शारीरिक निष्क्रियता और आँखों का बन्द रहना—ये सब लक्षण होते हैं। ऐसी स्थिति में कम मात्रा में सुपाच्य हल्का आहार देना चाहिए॥ २१४॥

पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः ॥ २१५ ॥
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽऽवरणे मता[1]। यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणेऽष्टकम् ॥ २१६ ॥
सलिङ्गभेषजं सम्यग्बुधानां बुद्धिवृद्धये।

अनुक्तज्ञानार्थ आवरण का स्वरूप—इन पाँच वातभेदों के परस्पर के आवरणों को लक्षणों के द्वारा जानना चाहिए। जब ये आवृत होते हैं तब इनके अपने कार्यों में हानि अथवा वृद्धि होती है। यहाँ पर बुद्धिमान् वैद्यों की बुद्धि की वृद्धि के लिए वायु के परस्परावरण के २० भेदों में 'शिरोग्रहः प्रतिश्यायो ग्रहणी' से लेकर 'स्तब्धताऽल्पाग्निता' (श्लोक २०६ से २१५ तक) पर्यन्त आठ प्रमुख भेदों को लक्षण एवं संक्षिप्त चिकित्सा-सहित स्थूल रूप में बतला दिया गया॥ २१५-२१६॥

१. अत्र आवार्याणां बलीयसाऽऽवरणात् स्वकर्महानिर्भवति, आवरकस्य तूत्सर्गतः स्वकर्मवृद्धिर्भवति, तथा आवरणेन च आवार्यः प्रकुपितो भवति तदा स्वकर्मणां वृद्धिर्भवतीति व्यवस्था। अन्ये तु आवरणीयस्य स्वकर्महानिरावरकस्य तूत्सर्गतो वृद्धिर्भवतीति व्यवस्थामाहुः। (चक्रपाणि टीका)

वक्तव्य—जब आवरक वायु बलवान् होती है, तो आवृत वायु का कार्य क्षीण हो जाता है और आवरक वायु का कार्य स्वाभाविक रूप से बढ़ जाता है। एवञ्च जब आवृत वायु अपने आवृत होने के कारण प्रकुपित होती है तब उसका कार्य बढ़ जाता है। इस व्याख्या को चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है तथा अन्य मतानुसार दूसरी व्यवस्था का उल्लेख 'अन्ये तु' कहकर किया है, उस मत से आवरणीय वात के अपने कर्म की हानि होती है और आवरक के कर्म की वृद्धि होती है।

स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम्॥ २१७॥
द्वादशावरणान्यन्यान्यभिलक्ष्य भिषग्जितम्। कुर्यादभ्यञ्जनस्नेहपानबस्त्यादि सर्वशः॥ २१८॥
क्रममुष्णमनुष्णं वा व्यत्यासादवचारयेत्।

आवृत वात-चिकित्सा-सूत्र—वायु के स्थान और उनके अपने प्राकृत कार्यों में वृद्धि तथा हानि को देखकर एवं पूर्ववर्णित बारह प्रकार के आवरणों (श्लोक २०२ से २१५ तक) का विचार कर आवश्यकतानुसार मालिश, स्नेहपान, बस्ति आदि कर्म करना चाहिए। प्रत्येक दृष्टि से विचार कर बारी-बारी से उष्ण उपचार, फिर शीत उपचार; फिर उष्ण, फिर शीत उपचार; इस प्रकार हेर-फेर करके करते रहना चाहिए॥ २१७-२१८॥

उदानं योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत्॥ २१९॥
समानं शमयेच्चैव त्रिधा व्यानं तु योजयेत्। प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने ह्यस्य स्थितिर्ध्रुवा॥
स्वं स्थानं ममयेदेवं वृतानेतान् विमार्गगान्।

पाँच वात-भेदों का संक्षिप्त चिकित्सा-सिद्धान्त—(१) उदानवायु को उचित उपचार से अपने स्थान में ऊपर की ओर ले जाना चाहिए। (२) अपानवायु को अनुलोमन औषध एवं अन्नपान के प्रयोग से नीचे के मार्ग की ओर अनुलोम बनाना चाहिए। (३) समानवायु को अपने स्थान में शान्त रखना चाहिए। (४) व्यानवायु को यथोचित उपचार से ऊपर की ओर, नीचे की ओर प्रेरित करके पुनः मध्यमार्ग में अवस्थित रखना चाहिए। (५) प्राणवायु की रक्षा और इसे अपने स्थान में यथास्थिति में रखने के लिए चारों वातों की अपेक्षा अधिक सावधानी बरतनी चाहिए; क्योंकि जब यह अपने स्थान में स्वस्थ रहता है तभी जीवन की स्थिरता निश्चित रहती है। इस प्रकार अपने स्थान से हटे हुए या आवृत वातों को अपने स्थान में स्वाभाविक स्थिति में पहुँचा देना चाहिए॥ २१९-२२०॥

पित्त तथा कफजन्य वात के आवरण

मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता॥ २२१॥
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते।

पित्तावृत प्राणवायु के लक्षण—(१) जब प्राणवायु पित्त से आवृत होती है तब मूर्च्छा आना, जलन होना, शिर में चक्कर आना, विदाह होना, शीत पदार्थों की अभिलाषा होना और अर्धपक्व विदग्ध आहार का वमन होना—ये सब लक्षण होते हैं॥ २२१॥

ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः॥ २२२॥
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च।

कफावृत प्राणवायु के लक्षण—(२) जब प्राणवायु कफ से आवृत होती है तब बार-बार थूकते रहना, छींकें आना, डकार आना, श्वास-प्रश्वासकर्म में रुकावट होना, भोजन में रुचि न होना और वमन होना—ये लक्षण होते हैं॥ २२२॥

मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसः क्लमः॥ २२३॥
ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसंवृते।

पित्तावृत उदानवायु के लक्षण—(३) जब उदानवायु पित्त से आवृत होती है तब मूर्च्छा आदि (भ्रम, विदाह, वमन आदि) लक्षण, दाह होना, नाभि और उरःस्थल में थकावट प्रतीत होना, ओज का नाश तथा शरीर की शक्ति का ह्रास—ये सब लक्षण होते हैं॥ २२३॥

आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः॥ २२४॥
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते।

कफावृत उदानवायु के लक्षण—(४) जब उदानवायु कफ से आवृत होती है तब शरीर के रंग में विकृति होना, वाणी तथा स्वर के निर्गमन में रुकावट होना, दुर्बलता होना और शरीर में भारीपन एवं भोजन में अरुचि होना—ये लक्षण होते हैं॥ २२४॥

अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च॥ २२५॥
पित्तावृते समाने स्यादुपशान्तस्तथोष्मणः।

पित्तावृत समानवायु के लक्षण—(५) जब समानवायु पित्त से आवृत होती है तब अधिक पसीना होना, अधिक प्यास लगना, जलन, मूर्च्छा, भोजन में अरुचि और जठराग्नि या शारीरिक ऊष्मा की कमी होना—ये लक्षण होते हैं॥ २२५॥

अस्वेदो बलिमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च॥ २२६॥
कफावृते समाने स्याद् गात्राणां चातिशीतता।

कफावृत समानवायु के लक्षण—(६) जब समानवायु कफ से आवृत होती है तब पसीना नहीं निकलता है, अग्नि मन्द हो जाती है, रोमाञ्च होता है और शरीर में अधिक ठण्डक मालूम होती है॥ २२६॥

व्याने पित्तावृते तु स्याद् दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः॥ २२७॥
गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससन्तापः सवेदनः।

पित्तावृत व्यानवायु के लक्षण—(७) जब व्यानवायु पित्त से आवृत होती है तब शरीर में सर्वाङ्गव्यापी जलन होती है, इन्द्रियाँ अपने विषयों के ग्रहण में असमर्थ हो जाती हैं, अंगों के सञ्चालन में रुकावट होती है तथा वेदना और सन्ताप होता है॥ २२७॥

गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्धिरुजा रुजः॥ २२८॥
व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसङ्गस्तथाऽधिकः।

कफावृत व्यानवायु के लक्षण—(८) जब व्यानवायु कफ से आवृत होती है तब सम्पूर्ण शरीर में भारीपन होता है, सभी अस्थि-सन्धियों में पीड़ा होती है और अंगों के सञ्चालन में अधिक रुकावट होने लगती है॥ २२८॥

हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः॥ २२९॥
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम्।

पित्तावृत अपानवायु के लक्षण—(९) जब अपानवायु पित्त से आवृत होती है तब मूत्र और मल दोनों हल्दी के रंग के निकलते हैं, गुदा-प्रदेश में और मूत्रमार्ग में गर्मी मालूम होती है। स्त्रियों में ऐसी स्थिति होने पर अधिक रजःस्राव होने लगता है या रक्तप्रदर हो जाता है॥ २२९॥

भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम्॥ २३०॥
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः।

कफावृत अपानवायु का लक्षण—(१०) जब अपानवायु कफ से आवृत होती है तब शौच में पतला, आम तथा कफमिश्रित भारी मल निकलता है और कफज प्रमेह रोग का भी आक्रमण हो जाता है॥ २३०॥

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च॥ २३१॥
उपलक्ष्य भिषग्विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत्।

पित्त-कफ उभयावरण का लक्षण—(११) जब किसी व्यक्ति में वैद्य को पित्त तथा कफ इन दोनों के लक्षण मिले हुए दिखलायी दें, तो विद्वान् वैद्य उसे मिश्रित द्वन्द्वात्मक एवं द्वन्द्ववृत वायु का लक्षण जानें॥ २३१॥

वक्तव्य—मिश्रित आवरण के भी पाँच भेद होते हैं।

वायु के मिश्रित आवरण

कफ-पित्तावृत	कफ-पित्तावृत	कफ-पित्तावृत	कफ-पित्तावृत	कफ-पित्तावृत
प्राण	उदान	समान	व्यान	अपान

यद्यस्य वायोर्निर्दिष्टं स्थानं तत्रेतरौ स्थितौ॥ २३२॥
दोषौ बहुविधान् व्याधीन् दर्शयेतां यथानिजान्।

वातस्थानगत कफ-पित्त के कार्य—जिस वायु का जो स्थान बतलाया गया है, वहाँ यदि कफ एवं पित्तदोष स्थित हो जायें, तो वे अपने प्रकोप से उत्पन्न होने वाले अनेकानेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं॥ २३२॥

आवृतं श्लेष्मपित्ताभ्यां प्राणं चोदानमेव च॥ २३३॥
गरीयस्त्वेन पश्यन्ति भिषजः शास्त्रचक्षुषः। विशेषाज्जीवितं प्राणे उदाने संश्रितं बलम्॥
स्यात्तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च। सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा॥ २३५॥
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः।

आवृत वात की साध्यासाध्यता—जब कफ और पित्त से प्राण तथा उदानवायु आवृत हो जाते हैं, तो शास्त्रज्ञ विद्वान् चिकित्सक इस स्थिति को बहुत ही गम्भीर मानते हैं; क्योंकि प्राणवायु के सामान्य रहने पर ही जीवन व्यवस्थित रहता है, इसी प्रकार शरीर में बल का अस्तित्व उदानवायु पर आश्रित है। यदि प्राणवायु की क्रिया अव्यवस्थित होती है, तो जीवन के क्षय की घटना घट सकती है और उदान की क्रिया के व्यतिक्रम से बल की हानि होती है।

पूर्व में वर्णित वात के आवरण यदि उचित समय पर नहीं ज्ञात हो सके और वर्षों तक वही स्थिति बनी रही अथवा इनकी उपेक्षा की गयी तो ये असाध्य या कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं॥ २३३-२३५॥

हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च॥ २३६॥
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात्। तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत्॥ २३७॥
पञ्चात्मकस्य वातेन पित्तेन श्लेष्मणाऽपि वा। भिषग्जितमतः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत्॥
अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारकैः।

आवृत वात की उपेक्षा से उपद्रव—आवृत वायुओं की उपेक्षा कर देने से हृदयरोग, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म और अतिसार—ये उपद्रव होते हैं। इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह पाँचों प्रकार के वात-भेदों के वात से परस्पर के आवरण, पित्त के आवरण और कफ से होने वाले आवरणों को सही-सही यथार्थरूप में जानें। एवञ्च इन्हें जानकर जो औषध स्रोतों में रुकावट न उत्पन्न करे तथा जलीयांश को न बढ़ाये और स्नेहयुक्त हो एवं स्रोतों को शुद्ध करने में समर्थ हो, उनके प्रयोग के द्वारा आवरण को दूर करने वाली चिकित्सा करे॥ २३६-२३८॥

कफपित्तविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम्॥ २३९॥

सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत्कार्यं मारुते हितम्। यापना बस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः॥ २४०॥
प्रसमीक्ष्य बलाबलं मृदु वा संसनं हितम्। रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते॥ २४१॥
शैलस्य जतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा। लेहं वा भार्गवप्रोक्तमभ्यसेत् क्षीरभुङ्नरः॥ २४२॥
अभयामलकीयोक्तपेकादशसिताक्षतम्।

सर्वस्थानावृत वात-चिकित्सासूत्र—जब शरीर के किसी भी स्थान में वायु आवृत हो तो जो औषध एवं आहार-विहार कफ-पित्तशामक हों, वातानुलोमन हों तथा शीघ्रतापूर्वक वात के आवरण को हटाये उसका प्रयोग करना चाहिए। यापना बस्तियों का प्रयोग करें तथा मधुर अनुवासन बस्तियाँ दें। यदि रोगी और रोग प्रबल हों, तो मृदु विरेचन औषधों का प्रयोग करना चाहिए। वायु के आवरणों में सभी प्रकार के रसायनों का प्रयोग श्रेष्ठ फलदायक होता है, विशेषकर शिलाजीत (शुद्ध) और शुद्ध गुग्गुलु का दूध के साथ प्रयोग करना अधिक लाभकर होता है। अथवा केवल दुग्धाहार पर निर्भर रहकर लगातार कुछ दिनों तक भार्गवप्रोक्त अवलेह (च्यवनप्राश) का सेवन करना चाहिए या अभयामलकीय नामक (च.चि. १।१ रसायनपाद) अध्याय में कथित ११०० पल मिश्री मिलाकर बनाया जाने वाला रसायन योग (ब्राह्मरसायन) निरन्तर सेवन करना चाहिए॥ २३९-२४२॥

वक्तव्य—आयुर्वेदसमुत्थानीय चतुर्थ रसायनपाद (च.चि. १) में च्यवन के विशेषण के रूप में भार्गव शब्द का प्रयोग किया गया है—'भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः। वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा'। अतः यहाँ भार्गव का अर्थ च्यवन ऋषि से है और उनके नाम का लेह च्यवनप्राशावलेह है।

अपानेनाऽऽवृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम्॥ २४३॥
वातानुलोमनं यच्च पक्वाशयविशोधनम्। इति संक्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम्। २४४॥
प्राणादीनां भिषक् कुर्याद् वितर्क्य स्वयमेव तत्।

आवृत अपानवायु की चिकित्सा—जब अपानवायु आवृत हो तो जो भी औषध एवं आहार-विहार प्रयोग में लाया जाय, वह अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, ग्राही, वायु को अनुलोमन बनाने वाला और पक्वाशय को शुद्ध करने वाला हो।

इस प्रकार आवृत वात प्रकारों की संक्षिप्त चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया। उक्त चिकित्सा के आधार पर अपनी बुद्धि से तर्क-वितर्क करके प्राण आदि वात-भेदों के आवरणों की चिकित्सा करनी चाहिए॥ २४३-२४४॥

पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्याविरोधिभिः।
कफावृते कफघ्नैस्तु मारुतस्यानुलोमनैः॥ २४५॥

पित्तावृत एवं कफावृत वात-चिकित्सासूत्र—वायु के पित्त द्वारा आवृत होने पर पित्तनाशक और वायु के अनुलोमक औषध एवं आहार-विहार के उपयोग से चिकित्सा करें। इसी प्रकार कफ के द्वारा वायु के आवृत होने पर कफनाशक और वातानुलोमन चिकित्सा करनी चाहिए। २४५॥

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च॥ २४६॥
क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु॥ २४७॥

दोषावस्था के ज्ञान से भ्रम का निवारण—जिस प्रकार इस संसार में वायु, सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का जानना आसान नहीं है उसी तरह शरीर के भीतर वात, पित्त तथा कफ की जो गतियाँ होती

हैं, उनका जानना बड़ा ही कठिन काम है। जो वैद्य वात-पित्त-कफ की क्षीणता, वृद्धि और समस्थिति के साथ-साथ इनके आवरणों को सही-सही जान लेता है, वह चिकित्सा-कार्य करने में मोहग्रस्त नहीं होता अर्थात् समुचित निदानपूर्वक चिकित्सा करके रोग के निवारण में सफलता प्राप्त करता है॥ २४६-२४७॥

तत्र श्लोकौ—

पञ्चात्मनः स्थानवशाच्छरीरे स्थानानि कर्माणि च देहधातोः।
प्रकोपहेतुः कुपितश्च रोगान् स्थानेषु चान्येषु वृतोऽवृतश्च॥ २४८॥
प्राणेश्वरः प्राणभृतां करोति क्रिया च तेषामखिला निरुक्ता।
तां देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी॥ २४९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने वातव्याधिचिकित्सितं नामाष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

अध्याय का उपसंहार—शरीर को धारण करने वाले पाँच भेद वाले वायु के स्थान और उन स्थानों में रहकर उसके कार्य, उसके प्रकोप के कारण, उसके अपने स्थान में प्रकुपित होकर उत्पन्न होने वाले रोग, अन्य स्थानों में जाकर उत्पन्न होने वाले रोग, आवृत तथा अनावृत स्थिति में होने वाले रोग और उन सबकी चिकित्सा का सम्पूर्णतया वर्णन कर दिया गया है। शास्त्र के आदेश के अनुसार चिकित्सा करने वाले वैद्य को चाहिए कि वह देश, सात्म्य, ऋतु, रोगबल एवं रोगीबल का अच्छी तरह विचार कर उन चिकित्सा-प्रकारों का यथायोग्य समुचित रूप से प्रयोग करे॥ २४८-२४९॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'वातव्याधिचिकित्सित' नामक अट्ठाइसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २८॥

वातव्याधिचिकित्सा-क्रम बोधक-सारणी

सामान्य चिकित्सा

(१) **स्नेहन**—आवरणरहित केवल शुद्धवायु से उत्पन्न वातरोग में सर्वप्रथम घी, वसा, तैल एवं मज्जा के प्रयोग से बाह्य तथा आभ्यन्तर स्नेहन करना चाहिए। यदि इन स्नेहों से उद्विग्नता या क्षीणता हो तो दूध पिलाकर, घृतयुक्त यूष पिलाकर अथवा ग्राम्य, आनूप या जलेचर जीवों का मांस खिलाकर स्नेहन करें एवं अनुवासनबस्ति, स्निग्ध एवं तृप्तिकर भोजन कराकर स्नेहन करना चाहिए।

(२) **स्वेदन**—सुस्निग्ध रोगी का स्वेदन करे। सुविधानुसार १३ प्रकार के स्वेदों में किसी का भी प्रयोग करें। बार-बार स्नेहन-स्वेदन करने से वातरोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

(३) **संशोधन**—यदि स्नेहन-स्वेदन से लाभ न हो, तो मृदुविरेचन औषध खिलाकर संशोधन करायें। इसके लिए—१. तिल्वक घृत, २. सातलासिद्ध घृत या दूध में एरण्डतैल पिलाना चाहिए।

(४) **अनुलोमन**—स्निग्ध, अम्ल, लवण आदि आहारों से संचित दोष स्रोतों का अवरोध कर वायु को रोक देते हैं। इसलिए सावधानी से वायु का अनुलोमन करना चाहिए।

(५) **निरूहबस्ति**—दुर्बल तथा अविरेच्य रोगी को निरूहबस्ति दें एवं भोजन में दीपन-पाचन आहार द्रव्यों का प्रयोग करें।

(६) **नस्य एवं धूमपान**—संशोधन के बाद संसर्जनक्रम से पथ्य देने पर जठराग्नि तीव्र हो जायें तो पुनः स्नेहन-स्वेदन करना चाहिए; फिर मधुर, अम्ल, लवण रसयुक्त स्निग्ध आहार देना चाहिए तथा प्रत्येक वातरोग में नस्य तथा धूमपान का प्रयोग करना चाहिए।

आवस्थिकी चिकित्सा

(१) **कोष्ठगत वात** : क्षार को (यवाखार-सज्जीखार) चीनी मिलाकर १-१ ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार जल से दें। दीपन-पाचन एवं अम्लरस पदार्थों का सेवन करायें।

(२) **गुद-पक्वाशयगत वात** : उदावर्तनाशक चिकित्सा करे।

(३) **आमाशयगत वात** : विरेचन देकर शोधन कराने के पश्चात् दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

(४) **सर्वांगगत वात** : वातहर तैलों की मालिश करायें तथा अनुवासन एवं निरूहबस्ति दें।

(५) **त्वचागत वात** : स्वेदन, अभ्यंग एवं वातहर क्वाथ में अवगाहन करायें तथा रुचिकर हृद्य आहार एवं पेय दें।

(६) **रक्तगत वात** : विरेचन, रक्तमोक्षण एवं शीतल प्रदेह का प्रयोग करें।

(७) **मांस-मेदोगत वात** : विरेचन एवं निरूहबस्ति दें तथा शमन उपचार करें।

(८) **अस्थि-मज्जगत वात** : घृत-तैल का क्रमशः आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रयोग करें।

(९) **शुक्रगत वात** : प्रहर्षजनक उपाय करें एवं शुक्रवर्धक आहार दें। यदि विबन्ध हो, तो विरेचन देकर संसर्जनक्रम से पथ्य देकर पुनः शुक्रवर्धक औषध एवं आहार दें।

(१०) **गर्भाशयगत वात** : जब गर्भस्थ शिशु सूख रहा हो तो मिश्री, मुलहठी, गम्भार की छाल से क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध पिलायें।

(११) **हृदयगत वातप्रकोप** : शालिपर्णी से सिद्ध दूध पिलायें।

(१२) **नाभिगत वात** : कच्चे बेल की गुद्दी के क्वाथ में पकायी हुई मछली खिलायें।

(१३) **अंगसंकोच होने पर** : पुल्टिस बाँधे, स्वेदन करें एवं उड़द और सेंधानमक डालकर पकाये गये तैल की मालिश करें।

(१४) **बाहुशीर्षगत वात** : नस्य दें और भोजनोत्तर घृत-तैल पान करायें।

(१५) **नाभि के नीचे वातप्रकोप** : बस्ति दें एवं अवपीड़क नस्य दें।

(१६) **अर्दित** : नस्य, शिर में तैल की मालिश एवं सन्तर्पक आहार का सेवन करें, नाड़ीस्वेद करें एवं आनूप मांस की पुल्टिस बाँधनी चाहिए।

(१७) **पक्षाघात** : स्वेदन करें तथा स्नेहयुक्त विरेचन दें।

(१८) **गृध्रसी वात** : कण्डरा और गुल्फ के बीच में सिरावेध, अनुवासन तथा निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

(१९) **खल्ली** : खीर या खिचड़ी या मांस की गर्म-गर्म पुल्टिस बाँधें।

(२०) **हनुस्तम्भ** : इसमें दो स्थितियाँ होती हैं—१. मुँह का खुला रह जाना (विवृतास्यता) और २. जबड़े का बैठ जाना (संवृतास्यता)। प्रथम में स्वेदन करके अंगूठे एवं अंगुलियों के सहारे जबड़े को बन्द करें। दूसरी स्थिति में स्वेदन करके हनु को नीचे-ऊपर, इधर-उधर घुमाकर क्रियाशील करें।

वातनाशक प्रयोग और औषध योग

(१) **उपनाह**—बकरे के सिर का मांस, जलेचर जीवों या आनूप जीवों या मांसाद जीवों के निरस्थि मांस को खट्टी दही, घी-तैल और काञ्जी के साथ पीसकर, गरम कर वात से पीड़ित अंग पर पुल्टिस बाँधनी चाहिए।

(२) **अवगाहन**—वातहर द्रव्यों के क्वाथ या वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध या वातहर द्रव्य-सिद्ध तैल को टब या द्रोणी में भरकर रुग्ण अंग को डुबाकर रखें।

(३) **परिसेचन**—वातनाशक तैल की मालिश कर वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से शरीर को धोना चाहिए।

(४) **नाड़ीस्वेदन**—आनूप एवं जलेचर जीवों का मांस, दशमूल, शतावर, कुलथी, बेर, उड़द, तिल, रास्ना, जौ और बरियार—इन्हें कूटकर एक घड़े में रखें तथा उस घड़े में वसा, दही, काञ्जी और जल डालकर पकायें। उसके वाष्प को घड़े के पार्श्व के छिद्र में एक घुमावदार नली लगाकर रोगी के शरीर पर लगायें। जिससे रोगी का स्वेदन हो जाये।

(५) **अभ्यंग**—इन्हीं उपर्युक्त द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तैल की मालिश करनी चाहिए।

(६) **मुस्तादि उपनाह** बाँधना चाहिए। दिन के बँधे उपनाह को रात में खोलें और रात का बँधा सबेरे खोलें।

(७) **उत्कारिका बन्धन**—(अस्थिरहित स्विन्न पिष्ट गुड़ घृत मिश्रित) वेशवार मांस, दूध, उड़द, तिल, भात, एरण्डबीज, गेहूँ का आटा, जौ का आटा, बेर का वक्कल, लघु पंचमूल—इनको पीसकर, उबालकर लप्सी जैसा बनाकर, मोटा लेप लगाकर पीड़ित अंग पर रेड़ की पत्ती लगाकर बाँध देना चाहिए।

(८) **प्रदेह-उपनाह**—तैल वाले बीजों (तीसी-तिल-सरसों आदि) को काञ्जी से पीसकर शीतल प्रदेह लगायें या पुल्टिस बाँधें।

(९) **गन्धद्रव्य लेप**—लौंग, दालचीनी, तेजपात, सुगन्धबाला, जटामांसी आदि गन्ध द्रव्यों को पीसकर घी-तैल मिलाकर तथा खीर या खिचड़ी में घी मिलाकर शीतल प्रलेप करना चाहिए अथवा उपनाह बाँधना चाहिए।

आहार-विहार

पथ्य में मांसरस, दुग्ध, मधुर-अम्ल-लवणरसयुक्त आहार का सेवन करना चाहिए।

बृंहण द्रव्य का सेवन करें।

बरियार, महापंचमूल अथवा दशमूल के क्वाथ में बकरे के शिर का मांस, जलेचर जीवों (मछली आदि) का मांस, आनूप मांस या मांसाद मांस को घी-तैल डालकर, अलग-अलग पकाकर, खट्टी दही, सोंठ, मरिच, पीपर से छौंककर सेंधानमक से नमकीन बनाकर अन्न के साथ खाना चाहिए।

घृत-तैल-वसा-मज्जा का प्रयोग करना चाहिए।

विहार—वातनाशक तैल या क्वाथ से परिसेचन, वातहर तैल की मालिश, स्नेहन-स्वेदन, बस्ति प्रयोग करना चाहिए। निर्वात स्थान में मोटा ओढ़ना ओढ़कर रहना चाहिए।

रूक्ष तथा शुद्धवात में लाभप्रद तैल-घृत

जब वात रोग में कोई आवरण न हो या अन्य दोष का अनुबन्ध न हो तथा रूक्षता हो, तो निम्नलिखित तैलों का यथायोग्य पान, अभ्यंग, नस्य एवं बस्ति में प्रयोग करना चाहिए—१. चित्रकादि घृत, २. बलादि घृत, ३. दशमूलादि मज्जस्नेह, ४. त्रिफलादि चतुःस्नेह, ५. दशमूलादि घृत, ६. निर्गुण्डी तैल, ७. मूलकतैल, ८. ह्रस्वपञ्चमूल तैल, ९. यवादि तैल।

(आयुष्य, बल-वर्णकर, रजःशुक्रदोषघ्न, सन्तानोत्पत्तिकर निर्दोष तथा सर्वदोषहर विविध तैल)

१. सहचर तैल, २. श्वदंष्ट्रा तैल, ३. बला तैल, ४. अमृताद्य तैल, ५. रास्ना तैल, ६. अश्वगन्धा तैल, ७. प्रसारणी तैल, ८. द्वितीय बला तैल, ९. अतिबला तैल, १०. मूलकाद्य तैल, ११. वृषमूलाद्य तैल, १२. मूलक तैल, १३. अगुर्वादि तैल, १४. अगुर्वादिशतपाक एवं सहस्रपाक तैल।

आवृत वात-चिकित्सा

(१) **पित्तावृत वात** : बारी-बारी से कभी शीत, कभी उष्ण उपचार करना चाहिए। वातरक्त चिकित्सा में कथित 'जीवनीय घृत' का प्रयोग करना चाहिए। विरेचन कराना चाहिए। यापनाबस्ति तथा क्षीरबस्ति का प्रयोग करें। परिसेचनार्थ—मधुयष्टि तैल, बला तैल और शीतल जल का प्रयोग करें।

पथ्य—जांगल पशु-पक्षियों का मांस, जौ, शालि, चावल, लघु पंचमूल से सिद्ध दूध का प्रयोग करना चाहिए।

(२) **कफावृत वात** : तीक्ष्ण स्वेदन, वमन, विरेचन और निरूहबस्ति देनी चाहिए।

पथ्य में जौ से बने आहार तथा जांगल पशु-पक्षियों का मांसरस, पुराना घी, तिल एवं सरसों का तैल प्रयोग करना चाहिए।

(३) **कफ-पित्तसंसृष्ट वात** : पहले पित्त के शमन का प्रयत्न करना चाहिए। कफ आमाशयगत हो तो वमन और पक्वाशयगत हो तो विरेचन करायें। यदि पित्त सम्पूर्ण शरीर में प्रकुपित हो तो विरेचन का प्रयोग कर उसे निकालें।

यदि स्वेदन करने से द्रवीभूत कफ पक्वाशय में संचित हो और शरीर में पित्तप्रकोप के लक्षण हों, तो बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि कफानुगत वात हो तो गोमूत्रयुक्त निरूहबस्ति दें। एवञ्च पित्तानुगत वात हो तो दुग्धयुक्त निरूहबस्ति दें तथा मधुर वर्ग की औषधों से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति दें। शिरोगत कफसंसृष्ट वात हो तो धूम तथा नस्य का प्रयोग करें।

(४) **रक्तावृत वात** : वातरक्त की तरह चिकित्सा करें।

(५) **आमावृत वात** : प्रमेहहर, वातहर एवं मेदोहर चिकित्सा करनी चाहिए।

(६) **मांसावृत वात** : स्वेदन एवं अभ्यंग करना चाहिए। **पथ्य** में घी-तैल एवं दूध का प्रयोग करना चाहिए।

(७) **अस्थिमज्जगत वात** : घृत-तैल-वसा-मज्जा का प्रयोग करना चाहिए।

(८) **शुक्रावृत वात** : विरेचन प्रयोग करें तथा शुक्रवर्धक औषध दें।

(९) **अन्नावृत वात** : वमन करायें एवं दीपन, पाचन तथा लघु आहार दें।

(१०) **मूत्रगत वात** : मूत्रल औषध दें एवं उत्तरबस्ति का प्रयोग करें।

(११) **पुरीषगत वात** : एरण्ड तैल को ३० या ४० ग्राम की मात्रा में दूध में मिलाकर पिलायें। स्निग्ध पदार्थ खाने को दें एवं उदावर्तनाशक चिकित्सा करें।

(१२) **स्वस्थानगत दोषप्रकोप** : दोष के अनुसार कफ में वमन, पित्त में विरेचन और वात में बस्ति का प्रयोग करें।

वायु के परस्पर आवरण की चिकित्सा

(१) **प्राणावृत व्यान** : ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों की तरह धूम एवं नस्य का प्रयोग करें।

(२) **व्यानावृत प्राण** : स्नेहयुक्त विरेचन दें।

(३) **प्राणावृत समान** : यापना बस्ति दें एवं स्नेहों का पान, अभ्यंग, नस्य तथा अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें।

(४) **समानावृत अपान** : अग्निदीपन घृतों का प्रयोग करें।

(५) **प्राणावृत उदान** : धूम, नस्य आदि तथा आश्वासन दें।

(६) **उदानावृत प्राण** : शीतल जल से सेचन करें, आश्वासन दें, विश्राम करायें।

(७) **उदानावृत अपान** : बस्ति का प्रयोग करें एवं वातानुलोमन औषध एवं आहार दें।

(८) **अपानावृत उदान** : वमन करायें तथा दीपन एवं ग्राही अन्नपान दें।

(९) **व्यानावृत अपान** : स्निग्ध औषध एवं आहार के प्रयोग से अपान वायु का अनुलोमन करें।

(१०) **अपानावृत व्यान** : संग्राही औषध एवं आहार का प्रयोग करें।

(११) **समानावृत व्यान** : व्यायाम करायें तथा लघु आहार दें।

(१२) **उदानावृत व्यान** : लघु एवं अल्प भोजन देना चाहिए।

आवृत वात की चिकित्सा का सिद्धान्त

(१) वायु के स्थान और उसके कार्यों की वृद्धि या हानि का विचार कर तथा आवरणों को जानकर आवश्यकतानुसार अभ्यंग, स्नेहपान और बस्ति का प्रयोग करें। (२) बारी-बारी से शीत और उष्ण उपचार करें। (३) जो औषध कफकारक न हो और स्रोतों को शुद्ध रखे, उनका प्रयोग करें। (४) जो उपचार कफ-पित्तशामक एवं वातानुलोमन हो एवं शीघ्र लाभ करे, उनका प्रयोग करें। (५) वायु के आवृत होने पर मधुर अनुवासनबस्तियों के साथ-साथ यापनाबस्तियों का प्रयोग करें। (६) रोगी के बल का विचार कर मृदु विरेचन औषध देनी चाहिए। (७) सभी प्रकार के रसायनों का प्रयोग करना चाहिए। (८) शुद्ध शिलाजीत ½ ग्राम दूध में डालकर प्रातः-सायं सेवन करें। (९) शुद्ध गुग्गुल ½ ग्राम दूध के साथ प्रातः-सायं सेवन करें। (१०) च्यवनप्राश २५ ग्राम दूध के साथ २ बार लें। (११) मात्र दुग्ध का आहार करते हुए प्रातः-सायं ब्राह्मरसायन का प्रयोग करें।

अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातो वातशोणितचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'वातशोणितचिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—महर्षि सुश्रुत ने इस रोग को वातव्याधि के अन्तर्गत ही वर्णित किया है, किन्तु चरक ने निदान की विशेषता (वात और रक्त दोनों की विकृति से उत्पत्ति होने के कारण) से, सम्प्राप्ति की भिन्नता से, चिकित्सा के वैशिष्ट्य से, दोष-दूष्य की विशिष्टता से और अधिकांशतः हाथ-पैर में होने से इसे अलग रोग मानकर पृथक् प्रकरण में वर्णन किया है[1]।

निरुक्ति—(१) 'वातरक्तं हि दुष्टेन वातेन रक्तेन च विशिष्टसम्प्राप्तिकं विकारान्तरमेव' (मधुकोष टीका); (२) 'वातरक्ताभ्यां जनितो व्याधिः वातरक्तम् (चक्रपाणि टीका); (३) 'वातरक्ताभ्यां जनितो रोगोऽपि वातरक्तशब्देनोच्यते' (जेज्जट); (४) 'वातश्च रक्तञ्च इति वातरक्तम्'। 'वातरक्त' शब्द में द्वन्द्व समास है। वातरक्त में वात और रक्त दोनों ही दूषित होते हैं और दोनों मिलकर विकृति उत्पन्न करते हैं।

पर्याय—इसे वातशोणित, वातरक्त, आढ्यवात, खुडवात, वातासृक् और वातबलास—इन नामों से कहा जाता है। 'आढ्यानां प्रायो भवतीति आढ्यरोगः' (चक्रपाणि) अर्थात् धनिकों को यह प्रायः होता है, इसलिए इसे **आढ्यवात** कहते हैं। 'खुड' का अर्थ सन्धि होता है ('खुडदेशप्राप्त्या खुडः, खुडशब्देन सन्धिरुच्यते'–चक्रपाणि) और क्षुद्र भी अर्थ होता है; अतः छोटी सन्धियों में होने से इसे **खुडवात** कहते हैं। वात से आवृत होने से रक्त अधिक दूषित होकर इस रोग को उत्पन्न करता है; अतः इसे **वातबलास** कहते हैं ('वातस्यावरणेन बलमस्त्यस्मिन् शोणिते इति वातबलासः'–चक्रपाणि)।

हुताग्निहोत्रमासीनमृषिमध्ये पुनर्वसुम्। पृष्टवान् गुरुमेकाग्रमग्निवेशोऽग्निवर्चसम्॥ ३॥
अग्निमारुततुल्यस्य संसर्गस्यानिलासृजोः। हेतुलक्षणभैषज्यान्यथास्मै गुरुरब्रवीत्॥ ४॥

अग्निवेश का पुनर्वसु से प्रश्न—जब भगवान् पुनर्वसु अग्निहोत्र कर लेने के पश्चात् ऋषियों के बीच विराजमान थे, तो उनका तेजस्वी मुखमण्डल अग्नि की ज्वाला के समान देदीप्यमान था और उनका चित्त एकाग्र था। ऐसे समय अग्निवेश ने बाह्य जगत् में दृश्यमान आग और हवा के साहचर्य से प्रचण्ड रूप धारण करने वाले वायु एवं रक्त के संसर्ग से होने वाले वातरक्त रोग के कारण, लक्षण और चिकित्सा के विषय में गुरुदेव से पूछा; और गुरुदेव ने उसका उत्तर दिया॥ ३-४॥

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः। क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः॥ ५॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः। दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः॥ ६॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः। प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम्॥ ७॥

१. सत्यपि वातरोगत्वे निदानवैशिष्ट्याद्विशिष्टदोषदूष्यख्यापनार्थं हस्तादिदेश एव, सम्प्राप्तिकथनार्थं क्रियाविशेषख्यापनार्थं च पृथक्करणम्। अत एव चरकेऽपि वातव्याध्यनन्तरं पृथग्वातरक्ताधिकारः।
(माधवनिदान, वातरक्त, मधुकोष टीका)

अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम्।

वातरक्त रोग का निदान—जो व्यक्ति स्वभाव से कोमल प्रकृति के होते हैं और नियमविरुद्ध मिथ्या आहार-विहार करते हैं, आरामतलब होते हैं एवं घूमते-फिरते नहीं हैं, वे लोग जब नमकीन, खट्टे, कटु, क्षारप्रधान, स्निग्ध एवं उष्ण भोजन करते हैं, अजीर्ण की स्थिति में भी भोजन करते हैं, सड़े-गले पदार्थ, सूखे पदार्थ, जलेचर या आनूप जीवों का मांस, तिल की खली, मूली, कुलथी, उड़द, सेम आदि का शाक, मांस, ईख, दही, काञ्जी, सौवीर, सिरका, मट्ठा, सुरा, आसव, विरुद्ध भोजन और पूर्व के भोजन के बिना पचे पुनः भोजन का सेवन करते हैं, क्रोध करते हैं, दिन में सोते और रात में देर तक जागते रहते हैं, ऐसे लोगों के शरीर में वायु और रक्त दोनों कुपित हो जाते हैं॥ ५-७॥

अभिघातादशुद्ध्या च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम्॥ ८॥
कषायकटुतिक्ताल्परूक्षाहारादभोजनात्। हयोष्ट्रखरयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनैः॥ ९॥
उष्णे चात्यध्वगमनाद्व्यवायाद्व्यायतेर्ग्रहात्। वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि॥ १०॥
कृत्स्नं सन्दूषयेद् रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्। खुड वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः॥ ११॥

वातरक्त की सम्प्राप्ति—शरीर में कहीं चोट लगने से अथवा वमन-विरेचन आदि के द्वारा शरीर का शोधन न किये जाने से मनुष्य के शरीर का रक्तदूषित हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब वह मनुष्य कषाय, कटु एवं तिक्त रसयुक्त पदार्थों का सेवन करता है, अल्पाहार करता है, रूक्ष आहार करता है या उपवास करता है, घोड़ा, ऊँट या गधे की सवारी करता है, जलक्रीड़ा या जल में तैरता है, कूदता है, गर्मी की ऋतु में अधिक पैदल चलता है, अधिक मैथुन करता है, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकता है, तब इन सब कारणों से बढ़ा हुआ वायु वातवह स्रोत में बढ़े हुए दूषित रक्त के द्वारा अवरुद्ध मार्ग होकर रक्त से घिर जाने के कारण अतिशय क्रुद्ध होकर सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देता है। इस तरह के विकार को वातशोणित या वातरक्त जानना चाहिए। यही रोग खुड, वातबलास और आढ्यवात इन नामों से भी जाना जाता है॥ ८-११॥

वक्तव्य—अपने-अपने प्रकोपक कारणों से इस रोग में वात और रक्त दोनों ही दूषित एवं प्रकुपित होते हैं। प्रकुपित वायु शरीर में संचरण करना चाहता है, किन्तु प्रवृद्ध तथा दूषित रक्त से स्रोतोऽवरोध होने से वात का संचरण रुक जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह और अधिक कुपित होकर सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर वातरक्त रोग उत्पन्न करता है। इसी बात को सुश्रुत ने अधिक स्पष्ट किया है—'क्रुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात्स वायुरत्युद्रिक्तं दूषयेद् रक्तमाशु। तत्सम्पृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्'। इसमें वायु की प्रबलता होती है; इसलिए इसे रक्तवात न कहकर वातरक्त नाम से कहा गया है; यथा—'द्वयोर्दुष्टत्वेऽपि वातस्य प्राबल्याद्दोषत्वेन प्राधान्याद् वातरक्तव्यपदेशः, न तु रक्त वात इति' (मधुकोष टीका)।

पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से इस रोग की समता गाउट (Gout) से की जा सकती है जो आमवात सदृश रोग है। चरक ने आमवात का पृथक् वर्णन नहीं किया है, अपितु 'मेद से आवृत वायु' में ही उसको गतार्थ माना है और उसे आढ्यवात कहा है; क्योंकि वह भी प्रायः सुस्त, आलसी धनिकों को होता है—'चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा। आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः' (च. चि. २८।६५)। 'गाउट' रोग मुख्य रूप से छोटी अस्थिसन्धियों में तथा विशेष रूप से पैर के अंगूठे की सन्धि में होता है। रक्त में यूरिक एसिड (Uric acid) की वृद्धि होना इस रोग का कारण माना जाता है। जब प्यूरिन (Purin) नामक प्रोटीन के समवर्त (Metabolism) में बाधा होती है तब यह यूरिक एसिड बढ़ जाता है।

सम्प्राप्ति बोधक सारणी

मिथ्या आहार-विहार एवं लवणाम्ल कटुक्षारादि एवं विरुद्ध भोजन आदि → अन्न में विदाह → सम्पूर्ण रक्तदुष्टि → { वातमार्गविरोध अस्थिसन्धि एवं पादांगुष्ठ में रक्तसंचय + निज कारणों से प्रकुपित वात } ← वातरक्त ← १. उत्तान (त्वङ्मांसस्थ) २. गम्भीर (सन्धिगत)

दोष : वात, रक्त।

दूष्य : रक्त, त्वक्, मांस।

अधिष्ठान : रसवह स्रोतस्।

अवयव : त्वक्, मांस, सन्धि, दोनों हाथ, दोनों पैर तथा सर्वसन्धियाँ।

सापेक्ष निदान (Differential diagnosis)— (१) वातरक्त और रक्तगत वात : दोनों ही वातप्रधान रोग हैं, किन्तु वातरक्त में वात एवं रक्त दोनों का ही प्रकोप होता है, जब कि रक्तगत वात में केवल वात का प्रकोप होता है। (२) वातरक्त और आमवात : दोनों में ही वातदोष प्रमुख है, किन्तु वातरक्त में जिस तरह वात एवं रक्त का प्रकोप होता है वैसे ही आमवात में वात तथा कफ का प्रकोप होता है। दोनों का प्रभाव सन्धियों पर होता है। (३) वातरक्त और ऊरुस्तम्भ : ऊरुस्तम्भ में दूष्य मेद होता है और वह एक स्थानविशेष (ऊरु) में होता है। (४) वातरक्त और सन्धिवात : सन्धिवात में वात दोष एवं सन्धि दूष्य है। (५) वातरक्त और क्रोष्टुशीर्ष : दोनों रोगों का कारण वात तथा रक्त का प्रकोप है। स्थान-विशेष में होने से तथा चिकित्सा के वैशिष्ट्य से क्रोष्टुशीर्ष का अलग नामकरण है, वह भी वात-शोषितज रोग है। (६) वातरक्त और कुष्ठ : सम्प्राप्ति और निदान की दृष्टि से दोनों में असमानता है, क्योंकि वातरक्त वात एवं रक्त प्रकोपज होता है और कुष्ठ सप्त द्रव्यात्मक (तीन दोष, त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका) रोग है।

तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः।
कृत्वाऽऽदौ हस्तपादे तु मूलं देहे विधावति॥ १२॥

वातरक्त का विशेष स्थान—वातरक्त रोग दोनों हाथ, दोनों पैर, सभी अंगुलियों और सभी सन्धियों में अपना स्थान बनाता है। सबसे पहले यह हाथों और पैरों में मूल स्थान बनाकर फिर सम्पूर्ण शरीर में भ्रमणशील हो जाता है॥ १२॥

वक्तव्य—अधिकतर यह रोग मूलतः पैर के अंगूठे से प्रारम्भ होता है और वहाँ से क्रमशः ऊपर गुल्फसन्धि (Ankle joint) तथा जानुसन्धि (Knee joint) को आक्रान्त करता है। कदाचित् इसका आरम्भ हाथ की सन्धि से होकर ऊपर की सन्धियों में भी धीरे-धीरे फैलता है। जैसे चूहे का विष मन्द गति से फैलता है, वैसे ही यह भी एक सन्धि से दूसरी सन्धि में धीरे-धीरे फैलता है। जब सोडियम बाइयूरेट का संचय त्वचा में होता है तो 'उत्तान' और सन्धिगत होता है तो 'गम्भीर' वातरक्त होता है।

सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा। तद्द्रवत्वात् सरत्वाच्च देहं गच्छन् सिरायनैः॥
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते। स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः॥ १४॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात्प्रायेण सन्धिषु। भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम्॥

वातरक्त में सन्धिगत वेदना की विशिष्ट सम्प्राप्ति—वायु सूक्ष्म गुण वाला होता है और वह सर्व-स्रोतों में फैलने वाला होता है; इसी प्रकार रक्त तरल होता है और वह भी अपने वाहक स्रोतों द्वारा सब शरीर में जाता है। जब प्रवृद्ध दुष्ट रक्त एवं वात के सञ्चरण में सन्धियों के टेढ़ापन के कारण सन्धिस्थलों में आघात होता है, तो क्षुब्ध हुआ वातसहकृत रक्त वहाँ ही रुक जाता है और पित्त आदि दोषों में संयुक्त होकर विविध प्रकार की पीड़ाएँ उत्पन्न करता है। इसी कारण से प्रायः सन्धियों में ही वातरक्त रोग एवं वेदनाओं को जन्म देता है, जो मनुष्यों के लिए बहुत ही कष्टप्रद और बर्दास्त के बाहर होता है॥ १३-१५॥

वक्तव्य—वातरक्त रोग का सन्धियों पर क्योंकर अधिक प्रभाव होता है? इस प्रश्न के समाधानार्थ उक्त पंक्तियाँ कही गयी हैं। जब वातानुसृत रक्त अपने स्रोतों से गमन करता हुआ टेढ़ी सन्धियों में आता है, तो सन्धियों की वक्रता के कारण उसे सीधी गति नहीं मिलती; परिणामतः वहाँ रुकने के कारण शोथ, वेदना आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार पर्वों की वक्रता के कारण उनमें वातरक्त को अतिथि बनना पड़ता है और वह अपने अवस्थान से कुछ-न-कुछ-दुष्प्रभाव डालता रहता है।

वातरक्त-सापेक्षनिदान-बोधक-सारणी

	दोष	दूष्य	अधिष्ठान	आधुनिक नाम	लक्षण
वातरक्त	वात + रक्त	रक्त, त्वक्, मांस	त्वक्, मांस	Gout	छोटी सन्धियों में विशेष प्रभाव, अंगों में स्फुरण, शून्यता, भञ्जनवत् पीड़ा, संकोच, ऊष्माधिक्य, शोथ, राग, पाक आदि
रक्तगत वात	वात	रक्त	रक्तवह स्रोत	Hypertension	तीव्र पीड़ा, सन्ताप, विवर्णता, दुर्बलता, अरुचि, फुंसी होना, भोजनोत्तर गात्रस्तम्भ आदि।
आमवात	वात + आम	रस	सन्धि	Rheumatoid arthritis	भ्रमणशील पीड़ा, आलस्य, अंगगौरव, ज्वर, शोथ, अजीर्ण आदि।
ऊरुस्तम्भ	वात + कफ	मेद	ऊरु	Muscle fatigue	ऊरुओं में स्तब्धता, शीतलता, अचेतनता, पीड़ाधिक्य, अंगमर्द, तन्द्रा, वमन, अरुचि आदि।
सन्धिवात	वात	सन्धि	सन्धि	Osteo-arthritis	सन्धिशूल, शोथ, स्तब्धता आदि।
क्रोष्टुशीर्ष	वात + रक्त	रक्त	जानुसन्धि	Synovitis of knee	शृगाल-मस्तकवत् स्थूलता, तीव्र पीड़ायुक्त जानुगत शोथ आदि।
कुष्ठ	वात-पित्त-कफ	त्वक्, रक्त, मांस, लसीका	सर्वशरीर	Leprosy	त्वचा में वैवर्ण्य, कण्डू, शून्यता, सूचीवेधनवत् पीड़ा, चकत्ते निकलना, व्रण होना, रोमहर्ष, दोषानुसार विविध लक्षणों की उत्पत्ति।

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्। सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु। निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च॥ १७॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्। वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम्॥

वातरक्त का पूर्वरूप—पसीने का अधिक निकलना या एकदम पसीना न होना, चमड़ी पर काले धब्बे पड़ जाना, स्पर्श का ज्ञान न होना, शरीर में कहीं घाव होने पर या चोट लगने पर अधिक पीड़ा होना, सन्धियों में ढीलापन, आलस्य, थकावट, पिडकाएँ होना, जानु-जंघा-ऊरु-कटि-अंस-हाथ-पैर और सन्धियों में सूई चुभाने जैसी वेदना, अंगों में फड़कन, टूटन, भारीपन, सूनापन, खुजली, सन्धियों में बार-बार दर्द उठकर फिर नष्ट हो जाना, त्वचा में विवर्णता और चकत्ते निकलना, ये सब वातरक्त रोग के पूर्वरूप हैं॥ १६-१८॥

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत् प्रचक्षते[1]। त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥ १९॥

वातरक्त के दो भेद—१. उत्तान तथा २. गम्भीर भेद से वातरक्त दो प्रकार का कहा जाता है। जो त्वचा और मांस में आश्रित होता है वह 'उत्तान' होता है और जो गम्भीर मज्जा आदि धातुओं तक व्याप्त होता है, वह 'गम्भीर' कहा जाता है॥ १९॥

कण्डूदाहरुगायामतोदस्फुरणकुञ्चनैः। अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा तथेष्यते॥ २०॥

उत्तान वातरक्त का लक्षण—बाह्य 'उत्तान' वातरक्त रोग में खुजली, जलन, पीड़ा, खिंचाव, फड़कन, अंग-संकोच होता है तथा त्वचा श्याव, रक्तिम या ताम्रवर्ण की हो जाती है॥ २०॥

गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान्। श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान्॥

गम्भीर वातरक्त का लक्षण—'गम्भीर' वातरक्त में शोथ में जकड़ाहट, कठिनता और अत्यन्त पीड़ा होती है। त्वचा ताम्रवर्णी हो जाती है, जिसमें जलन, चुभन, फड़कन और पाक हो जाता है॥ २१॥

रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु। छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान्॥
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्। सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम्॥ २३॥

उभयाश्रय वातरक्त का लक्षण—जब किसी रोगी में 'उत्तान' एवं 'गम्भीर' दोनों तरह के वातरक्त के सभी लक्षण मिल जायें, तो उसे उभयाश्रयी वातरक्त जानना चाहिए। इसमें पीड़ा, जलन और वेग से युक्त वायु सन्धियों, अस्थियों एवं मज्जा में इस प्रकार संचरण करता है, जैसे वह अंगों को काट रहा हो, टेढ़ा बना रहा हो। सर्वशरीर में गमनशील वायु रोगी को लँगड़ा या पंगु बना देता है॥ २२-२३॥

तत्र वातेऽधिके वा स्याद् रक्ते पित्ते कफेऽपि वा। संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम्॥ २४॥

वातरक्त के दोषज भेद और उनके लक्षण—वातरक्त रोग में वात, पित्त, रक्त या कफ की अधिकता में अथवा किन्हीं दो दोषों की संसर्गावस्था में या सन्निपात में जो लक्षण होते हैं, अब आगे आप उन्हें सुनें॥ २४॥

वक्तव्य—यहाँ वातरक्त के आठ भेदों का संकेत किया गया है—१. वातज, २. पित्तज, ३. रक्तज, ४. कफज, ५. वात-पित्तज, ६. वात-कफज, ७. कफ-पित्तज और ८. सन्निपातज।

विशेषतः सिरायामशूलस्फुरणतोदनम्। शोथस्य कार्ष्ण्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः॥ २५॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्। कुञ्चनस्तम्भने शीतप्रद्वेषश्चानिलेऽधिके॥

१. 'द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते, तत्तु न सम्यक्, कस्मात्? कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढी भवति' (सु० चि० ५) इत्यनेन सुश्रुतेन यद् द्वैविध्यमुक्तं तदाचार्ययोः परमात्मनोः सुश्रुताग्नि-वेशयोरेकस्याप्यप्रामाण्यं न संगतमिति कृत्वा अविरोधमेवात्र व्याख्यानयामः, तथाहि—सुश्रुतेन उत्तानं वातशोणितं कुष्ठवद् गम्भीरं भवतीत्युच्यते, न तु सर्वमेवोत्तानं भूत्वा गम्भीरं भवतीति प्रतिज्ञायते, तेन यो ब्रूते—उत्तानमेवावतिष्ठते, तं प्रति सुश्रुतवचनं बाधकं; चरके तु उत्तानमेवावतिष्ठते इति नोच्यते एवं, किन्तु प्रथमोत्पत्तौ किंचिदुत्तानमुत्पद्यते, किंचित्तु गम्भीरमिति, न विरोधश्चरकसुश्रुतयोः। (चक्रपाणि टीका)

वातज वातरक्त का लक्षण—जब वाताधिक वातरक्त रोग होता है, तो विशेषकर सिराओं में खिंचाव या तनाव, शूल, फड़कन और चुभन होती है। शोथ में कालापन, रूक्षता तथा श्यावता होती है। शोथ बढ़ता-घटता रहता है। धमनियों, अंगुलियों एवं सन्धियों में संकोच होता है, अंगों में जकड़न और दर्द की अधिकता होती है। अंगों में सिकुड़न और जकड़न होती है तथा ठण्डी वस्तुओं से द्वेष होता है॥ २५-२६॥

श्वयथुर्भृशरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते। स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि॥

रक्तज वातरक्त का लक्षण—जब वातरक्त में रक्तदूषण की प्रबलता होती है, तो भयंकर पीड़ा और चुभनयुक्त शोथ होता है, शोथ का वर्ण लालिमायुक्त होता है, उसमें चुनचुनाहट होती है, खुजली होती है और क्लेद (गीलापन) होता है। इसमें स्निग्ध एवं रूक्ष उपचारों से रोग का शमन नहीं होता है॥ २७॥

विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः। रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके॥

पित्तज वातरक्त का लक्षण—पित्तप्रबल वातरक्त में जलन, वेदना, मूर्च्छा, पसीना आना, प्यास, मद (हल्का नशा जैसा), चक्कर आना, व्रण स्थान में लाली, पाक, चीरने जैसी पीड़ा और शुष्कता—ये लक्षण होते हैं॥ २८॥

स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे।

कफज वातरक्त का लक्षण—कफाधिक वातरक्त में शरीर में गीले कपड़े से ढका होने जैसा प्रतीत होना, भारीपन, स्निग्धता, सूनापन और मन्द-मन्द वेदना का होना—ये सब लक्षण होते हैं।

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्वत्रिदोषजम्[1] ॥ २९॥

द्वन्द्वज और त्रिदोषज वातरक्त का लक्षण—दो-दो दोषों के कारणों तथा लक्षणों के संसर्ग को देखकर द्वन्द्वज तथा तीनों दोषों के प्रकोपक कारणों और लक्षणों को देखकर त्रिदोषज वातरक्त जानना चाहिए॥ २९॥

एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजम्। त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः॥ ३०॥

वातरक्त की साध्यता, याप्यता और असाध्यता—किसी एक ही दोष से उत्पन्न नया वातरक्त साध्य होता है; दो दोष से उत्पन्न याप्य होता है और तीनों दोषों से उत्पन्न तथा उपद्रवों से युक्त वातरक्त असाध्य होता है॥ ३०॥

अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः। मूर्च्छायमदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः॥ ३१॥
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः। अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः॥ ३२॥
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत्। सम्प्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत्॥ ३३॥
वर्जयेच्चैव सङ्कोचकरमिन्द्रियतापनम्।

वातरक्त की उपद्रवजनित असाध्यता—अनिद्रा, अरुचि, श्वासाधिक्य, मांस में सड़न, शिर में जकड़न, मूर्च्छा, मदरोग, पीड़ा होना, प्यास की अधिकता, ज्वर, बेहोशी, शरीर में कम्पन, हिचकी, पंगुता (दोनों पैरों में चलने की असमर्थता), विसर्प होना, व्रण होकर पकना, चुभन, चक्कर आना, थकावट और इन्द्रियों में स्वविषय-ग्रहण की असमर्थता, अंगुलियों में टेढ़ापन होना, फफोले निकलना, जलन होना, मर्मस्थानों में जकड़न और अर्बुद होना—इन उपद्रवों से युक्त रोगी चिकित्सा की दृष्टि से वर्जनीय है; अथवा यदि रोगी को बेहोशी होना यही एक उपद्रव हो तब भी वह त्याज्य है। जिस वातरक्त के रोगी के व्रणों से

१. द्वन्द्वजत्रिदोषजमित्यत्र अधिकशोणितानुबन्धोऽपि गृहीतव्यः, तेन वातादिचतुष्टयाधिकमेलकमपि वातशोणितं ज्ञेयम्। अत एव एकद्वित्रिसर्वाधिकभेदाद् द्विविधस्याऽपि वातशोणितस्य पूर्वटीकाकृद्भिः पञ्चचत्वारिंशद् भेदा उक्ताः। खरनादेन तु प्रकारान्तरेण षट्त्रिंशद्विधमुक्तम्। उक्तं हि—'वातोत्तरं प्रवृद्धासृक् पञ्चत्रिंशद् विधं मतम्। पित्तात् त्रिंशद् विधं योगात् कफाद् दशविधं मतम्' इति। एते भेदा अनतिप्रयोजनत्वान्न विवृताः। (चक्रपाणि टीका)

स्राव हो रहा हो, त्वचा में विवर्णता हो, अंगों में जकड़ाहट हो, अर्बुद की ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो गयी हों, अंगों में संकोच तथा इन्द्रियों में सन्ताप हो रहा हो, उसकी भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ३१-३३॥

अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्॥ ३४॥

उपद्रव सम्बद्ध याप्यता एवं साध्यता—जिस वातरक्त के रोगी में सभी के सभी उपद्रव न होकर कुछ ही उपद्रव हों, वह याप्य होता है और जिस रोगी में कोई भी उपद्रव नहीं होता है, वह साध्य होता है॥ ३४॥

रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः[1]। निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिर्हरेदसून्॥ ३५॥

वातरक्त की मारकता—वायु हाथ-पैरों की सन्धियों में स्थित होकर रक्त के मार्ग को रोक देता है और बढ़ा हुआ रक्त भी वायु के मार्ग को रोक देता है। इस प्रकार वायु रक्त के मार्ग को तथा रक्त वायु के मार्ग को रोक देता है, तो वातरक्त रोग तीव्र वेदनाएँ उत्पन्न कर प्राणों का हरण कर लेता है॥ ३५॥

वातरक्त की संक्षिप्त चिकित्सा

तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्गजलौकः सूच्यलाबुभिः। प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम्॥ ३६॥
रुग्दाहशूलतोदार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा। शृङ्गैस्तुम्बैर्हरेत् सुप्तिकण्डूचिमिचिमायनात्॥ ३७॥
देशाद्देशं व्रजत् स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा।

वातरक्त चिकित्सा में रक्तमोक्षण—(१) वातरक्त रोग में रोगी के बल तथा दोष का विचार कर यथायोग्य साधन का प्रयोग कर रक्तमोक्षण करना चाहिए। १. शृङ्ग, २. जोंक, ३. सूई या ४. तुम्बी का प्रयोग कर या ५. पाछकर अथवा ६. सिरावेध के द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिए। (२) जब वेदना, दाह, शूल और सूई चुभाने जैसी पीड़ा हो, तो **जोंकों** को लगाकर रक्त निकलवाना चाहिए। (३) जब शून्यता, खुजली और चुनचुनाहट हो, तो **सींग** अथवा **तुम्बी** लगवाकर रक्त का निर्हरण करायें। (४) जब वातरक्त के लक्षण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए दीख रहे हों, तो **सिरावेध** करके या **पाछ** करके रक्तस्राव कराना चाहिए॥ ३६-३७॥

वक्तव्य—वातरक्त रोग में प्रकुपित वात और रक्त एक दूसरे की गति को रोकते हैं, जिससे इस रोग की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत कर्म—रक्तमोक्षण करने से जब दूषित रक्त निकल जाता है, तो आवरण या अवरोध के हट जाने से वायु भी प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार रक्त तथा वायु की शुद्धता से न रक्त का मार्ग रुकता है न वायु का, जिसके परिणामस्वरूप वातरक्त रोग निवृत्त हो जाता है।

अङ्गग्लानौ न तु स्राव्यं रूक्षे वातोत्तरे च यत्॥ ३८॥
गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान्। ग्लानिं चापि ससङ्कोचां कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात्॥

रक्तमोक्षण का निषेध—यदि वातरक्त के रोगी के अंगों में क्षीणता हो, शुष्कता या कृशता हो, रूक्षता हो या वात की प्रबलता हो, तो ऐसे रोगी के रक्त का मोक्षण नहीं कराना चाहिए; क्योंकि ऐसी स्थिति में रोगी के शरीर से रक्त निकल जाने से गम्भीर शोथ, अंगों में जकड़न, कम्पन, स्नायु तथा सिरा में होने वाले रोगों की उत्पत्ति, अंगसंकोच और ग्लानि होती है॥ ३८-३९॥

खाञ्ज्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युं चात्यवसेचनात्। कुर्यात्तस्मात् प्रमाणेन स्निग्धाद्रक्तं विनिर्हरेत्॥

अतिमात्रा में रक्तमोक्षण से हानि—यदि वातरक्त के रोगी के शरीर से अधिक मात्रा में रक्त निकाल लिया जाय; तो लँगड़ापन होता है या अन्य वातरोग हो जाते हैं अथवा मृत्यु हो जाती है। इसलिए पहले रोगी का विधिवत् स्नेहन कराना चाहिए, तब फिर उचित मात्रा में रक्तमोक्षण कराना चाहिए॥ ४०॥

---

१. रक्तमार्गमित्यादि—रक्तस्य मार्गं मारुतो निहन्ति शाखासन्धिषु निविश्येति शाखासन्धिषु स्थित्वा, ततश्च वायुना रक्तनिरोधात्, अन्योन्यमावार्येति रक्तेन वातं वातेन च रक्तमावार्य वातरक्तं वेदनाभिर्हरेदसूनिति योज्यम्। (चक्रपाणि टीका)

वक्तव्य—रक्त शरीर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धातु है; किन्तु जब दुष्ट हो जाता है, तो अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिए रक्तप्रदोषज रोगों में आशुफल चिकित्सा के रूप में रक्तमोक्षण किया जाता है। यदि प्रमादवश रक्तमोक्षण किया जाय, तो न केवल रोग अपितु मृत्यु भी हो सकती है। इस कार्य को शल्यविद् चिकित्सक से कराना चाहिए। इस विषय की विशेषज्ञता के लिए 'आयुर्वेदीय पंचकर्म' विज्ञान ग्रन्थ का 'रक्तमोक्षण विज्ञान' अध्याय देखना चाहिए।

विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः। रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्वस्तिकर्म च॥ ४१॥
सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः। वातरक्ते प्रशस्यन्ते—

वातरक्त में शोधन-चिकित्सा—वातरक्त में रूक्ष शरीर वाले व्यक्ति का स्नेहन करने के बाद उसे स्नेहयुक्त मृदु विरेचन पिलाना चाहिए। यदि रोगी स्वतः स्निग्ध शरीर हो, तो उसे बिना स्नेहन किये ही रूक्ष मृदु विरेचन देना चाहिए। आवश्यकतानुसार बार-बार अनुवासन और निरूहबस्ति देनी चाहिए। वातरक्त में दाह न उत्पन्न करने वाले द्रव्यों से निर्मित क्वाथ से परिसेचन, उनके कल्क का अभ्यंग तथा प्रदेह, अविदाही अन्न एवं अविदाही स्नेह (घृत) का प्रयोग करना लाभप्रद होता है॥ ४१॥

—विशेषं तु निबोध मे॥ ४२॥

बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः। विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत्॥ ४३॥

उत्तान और गम्भीर वातरक्त में चिकित्सा-वैशिष्ट्य—वातरक्त में विशिष्ट चिकित्सा कही जा रही है, उसे आप सुनिये। **उत्तान** वातरक्त में आलेपन, अभ्यंग, परिसेचन और उपनाह के प्रयोग द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। **गम्भीर** वातरक्त में विरेचन, निरूहबस्ति और स्नेहपान के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए॥ ४२-४३॥

सर्पिस्तैलवसामज्जपानाभ्यञ्जनबस्तिभिः। सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत्॥ ४४॥

वातप्रधान वातरक्त चिकित्सासूत्र—वातप्रधान वातरक्त में घृत का पान, तैल का अभ्यंग तथा पान अथवा बस्ति-प्रयोग, वसा और मज्जा का पान या अभ्यंग एवं इनके द्वारा अनुवासन बस्ति देकर तथा सुखोष्ण पुल्टिस बाँधकर चिकित्सा करनी चाहिए॥ ४४॥

विरेचनैर्घृतक्षीरपानैः सेकैः सबस्तिभिः। शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत्॥ ४५॥

रक्त एवं पित्तप्रधान वातरक्त चिकित्सासूत्र—रक्तप्रधान एवं पित्तप्रधान वातरक्त में विरेचन प्रयोग, घृतपान, दुग्धपान, परिसेचन, अनुवासनबस्ति-प्रयोग, शीतल प्रलेप एवं दाहशामक उपचारों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए॥ ४५॥

वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम्। कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे॥ ४६॥

कफप्रधान वातरक्त चिकित्सासूत्र—कफप्रधान वातरक्त में मृदु वमन औषध का प्रयोग करे। स्नेहपान तथा परिसेचन अधिक नहीं करना चाहिए। उपवास कराना और हल्का गरम लेप लगाना उत्तम लाभप्रद होता है॥ ४६॥

कफवातोत्तरे शीतैः प्रलिप्ते वातशोणिते। दाहशोथरुजाकण्डूर्विवृद्धिः स्तम्भनाद्भवेत्॥ ४७॥
रक्तपित्तोत्तरे चोष्णैर्दाहः क्लेदोऽवदारणम्। भवेत्तस्माद् भिषग्दोषबलं बुद्ध्वाऽऽचरेत्क्रियाम्॥

वर्जनीय उपचार : (१) शीतप्रलेप से हानि—कफ तथा वातप्रधान वातरक्त रोग में यदि शीतल द्रव्यों का प्रलेप लगाया जाय, तो दोषों का स्तम्भन हो जाता है, जिससे शरीर की गर्मी बाहर न निकल पाने से जलन, शोथ, पीड़ा और खुजली बढ़ जाती है। **(२) उष्ण प्रलेप से हानि**—रक्त तथा पित्त प्रधान वातरक्त में उष्ण द्रव्यों का लेप या उष्ण करके लेप लगाया जाय, तो जलन, गीलापन और त्वचा का फटना—ये सब विकार होते हैं। इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह दोषों के बल का विचार करके चिकित्सा करे॥ ४७-४८॥

दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा। कटूष्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत्॥ ४९॥

वातरक्त में अपथ्य—वातरक्त रोग में दिन में सोना, सूर्य तथा अग्नि के ताप का सेवन, व्यायाम करना, मैथुन करना, कटुरस पदार्थ, उष्ण पदार्थ, गुरुपदार्थ, अभिष्यन्दी पदार्थ (दही आदि), नमकीन तथा अम्लरसयुक्त आहार—इन सबका परित्याग कर देना चाहिए॥ ४९॥

पुराणयवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिकाः। भोजनार्थं रसार्थं वा विष्किरप्रतुदा हिताः॥ ५०॥
आढक्यश्चणका मुद्गा मसूराः समकुष्ठकाः। यूषार्थं बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते॥ ५१॥
सुनिषण्णकवेत्राग्रकाकमाचीशतावरी। वास्तुकोपोदिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा॥ ५२॥
घृतमांसरसैर्भृष्टं शाकसात्म्याय दापयेत्। व्यञ्जनार्थं, तथा गव्यं माहिषाजं पयो हितम्॥ ५३॥

इति संक्षेपतः प्रोक्तं वातरक्तचिकित्सितम्।

वातरक्त में पथ्य—(१) वातरक्त रोग में पथ्य में पुराने जौ, गेहूँ, तिन्नी का चावल, शालि-चावल और साठी का चावल खाने के लिए दें। (२) मांसार्थी रोगी को विष्किरवर्ग तथा प्रतुदवर्ग के पक्षियों का मांसरस खाने को दें। (३) दाल या यूष के लिए अरहर, चना, मूँग, मसूर और मोठ का प्रयोग पर्याप्त घृत मिलाकर करना चाहिए। (४) जिन रोगी को शाक खाना अनुकूल और हितकर हो, उन्हें चौपतिया, बेंत की फुनगी (कोमलपत्र), मकोय, शतावर, बथुआ, पोई और हुरहुर या सूरजमुखी का साग, घी और मांसरस में भूनकर व्यञ्जन के लिए देना चाहिए। ५. जिन्हें दूध अनुकूल हो, उन्हें गाय, भैंस अथवा बकरी का दूध पीने के लिए देना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में वातरक्त की चिकित्सा कह दी गयी॥ ५०-५३॥

वातरक्त की विस्तृत चिकित्सा

एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः सम्प्रवक्ष्यते॥ ५४॥

इसी चिकित्सा को अब हम विस्तार से कहेंगे॥ ५४॥

श्रावणीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकैः समैः। सिद्धं समधुकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत्॥ ५५॥

श्रावण्यादि घृत—गोरखमुण्डी, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक और मुलहठी—इन सबको समान भाग लेकर कल्क बनायें। कल्क की कुल मात्रा से चौगुना घी और घी से चौगुना दूध मिलाकर विधिवत् घृतपाक करे। यह घृत वातरक्त रोग को नष्ट करता है॥ ५५॥

बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम्। काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नामृद्धिं च पेषयेत्॥
घृतं चतुर्गुणक्षीरं तैः सिद्धं वातरक्तनुत्। हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलाज्वरनाशनम्॥ ५७॥

बलाघृत—बरियार, ककहिया, मेदा, केवाँच, शतावर, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना और ऋद्धि, इन सबको समान भाग लेकर कल्क कर, कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना दूध डालकर विधिवत् घृतपाक करें। यह घृत वातरक्तनाशक है तथा हृदयरोग, पाण्डुरोग, विसर्प, कामला और ज्वर को नष्ट करता है॥ ५६-५७॥

त्रायन्तिकातामलकीद्विकाकोलीशतावरी। कशेरुकाकषायेण कल्कैरेभिः पचेद् घृतम्॥ ५८॥
दत्त्वा परूषकद्राक्षाकाश्मर्येक्षुरसान् समान्। पृथग्विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम्॥ ५९॥
एतत्प्रायोगिकं सर्पिः पारूषकमिति स्मृतम्। वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे॥ ६०॥

इति पारूषकं घृतम्।

पारूषक घृत—त्रायमाणा, भूईआँवला, काकोली, क्षीरकाकोली और शतावर, इन सबको समान भाग लेकर कल्क बनायें। कल्क से चौगुना घी लें, घी से चौगुना कसेरू का काढ़ा लें, फिर फालसास्वरस, अंगूर का रस या मुनक्के का काढ़ा, गम्भार की छाल का रस, गन्ने का रस और विदारीकन्द का रस,

इन सबको घी के बराबर लें तथा घी से चौगुना दूध डालकर विधिवत् घृतपाक करके सुरक्षित रख लें। यह घृत निरन्तर प्रयोग करने योग्य है और इसे पारूषक घृत कहा जाता है। सेवन करने पर यह घृत वातरक्त, उरःक्षत, क्षतक्षीण, विसर्प और ज्वर में हितकर होता है॥ ५८-६०॥

द्वे पञ्चमूले वर्षाभूमेरण्डं सपुनर्नवम्। मुद्गपर्णीं महामेदां माषपर्णीं शतावरीम्॥ ६१॥
शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीं रास्नामतिबलां बलाम्। पृथग् द्विपलिकं कृत्वा जलद्रोणे विपाचयेत्॥
पादशेषे समान् क्षीरधात्रीक्षुच्छागलान् रसान्। घृताढकेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत्॥ ६३॥
कल्कानावाप्य मेदे द्वे काश्मर्यफलमुत्पलम्। त्वक्क्षीरीं पिप्पलीं द्राक्षां पद्मबीजं पुनर्नवाम्॥
नागरं क्षीरकाकोलीं पद्मकं बृहतीद्वयम्। वीरां शृङ्गाटकं भव्यमुरुमाणं निकोचकम्॥ ६५॥
खर्जूराक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकांस्तथा। एतैर्घृताढके सिद्धं क्षौद्रं शीते प्रदापयेत्॥ ६६॥
सम्यक् सिद्धं च विज्ञाय सुगुप्तं सन्निधापयेत्। कृतरक्षाविधिं चौक्षे प्राशयेदक्षसम्मितम्॥ ६७॥
पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्कां स्वरभेदं भगन्दरम्। पार्श्वशूलं क्षयं कासं प्लीहानं वातशोणितम्॥ ६८॥
क्षतशोषमपस्मारमश्मरीं शर्करां तथा। सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च मूत्रसङ्गं च नाशयेत्॥ ६९॥
बलवर्णकरं धन्यं वलीपलितनाशनम्। जीवनीयमिदं सर्पिर्वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदम्॥ ७०॥

जीवनीय घृत : क्वाथ्य द्रव्य—१. सरिवन, २. पिठवन, ३. छोटी कटेरी, ४. बड़ी कटेरी, ५. गोखरू, ६. बेल की छाल, ७. गम्भार, ८. गनियार, ९. पाढल, १०. सोनापाठा, ११. पुनर्नवा, १२. एरण्ड, १३. रक्तपुनर्नवा, १४. मुद्गपर्णी, १५. माषपर्णी, १६. महामेदा, १७. शतावर, १८. शंखपुष्पी, १९. अन्धाहुली, २०. रास्ना, २१. बरियार और २२. अतिबला—प्रत्येक द्रव्य २-२ पल लेकर जौकुट कर लें।

जल—१ द्रोण (लगभग १३ लीटर) में क्वाथ बनायें।

अवशिष्ट जल—$\frac{1}{4}$ द्रोण (लगभग ३$\frac{1}{4}$ लीटर)

द्रव पदार्थ—गोदुग्ध, आँवले का स्वरस या क्वाथ, गन्ने का रस, मांसरस—प्रत्येक चौथाई द्रोण।

घृत—१ आढक (४ प्रस्थ)।

कल्क द्रव्य—१. मेदा, २. महामेदा, ३. गम्भार का फल, ४. कमल, ५. वंशलोचन, ६. पीपर, ७. मुनक्का, ८. कमलगट्टा, ९. पुनर्नवा, १०. सोंठ, ११. क्षीरकाकोली, १२. पद्मकाठ, १३. छोटी कटेरी, १४. बड़ी कटेरी, १५. विदारीकन्द, १६. सिंघाड़ा, १७. कमरख, १८. खुर्मानी, १९. खट्टे नीबू का मूल, २०. छुहाड़ा, २१. अखरोट, २२. बादाम, २३. पिस्ता, २४. चिलगोजा—सभी मिलित द्रव्य १ प्रस्थ। विधिवत् घृतपाक कर छान लें तथा शीतल होने पर मधु मिलायें और समरस करके सुरक्षित रखें।

सेवन-विधि—स्वस्त्ययन आदि मांगलिक पूजा-अर्चा के बाद पवित्र भावना से श्रद्धा-विश्वास के साथ १ कर्ष (१२ ग्राम) की मात्रा में (दूध में मिलाकर) सेवन करना चाहिए।

यह घृत 'जीवनीय घृत' के नाम से प्रसिद्ध है। यह वृष्य है और पौरुष-शक्ति को बढ़ाता है, बन्ध्या को भी पुत्रवती बनाता है, बल तथा वर्ण को बढ़ाता है, प्रतिष्ठा-प्राप्त है और वली (झुर्रियाँ पड़ना) एवं पलित (बाल पकना) का नाश करता है। यह घृत पाण्डुरोग, ज्वर, हिचकी, स्वरभेद, भगन्दर, पार्श्वशूल, क्षय, कास, प्लीहा, वातरक्त, क्षत, शोष, अपस्मार, अश्मरी, शर्करा, सर्वांगवात, एकांगवात और मूत्रसंग को नष्ट करता है॥ ६१-७०॥

द्राक्षामधु(धू)कतोयाभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम्। पिबेद् घृतं तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम्॥

द्राक्षाघृत तथा गुडूचीक्षीर—(१) मुनक्का और मुलहठी या महुआ के चतुर्गुण क्वाथ में पकाये हुए घी को मिश्री या चीनी मिलाकर सेवन करना चाहिए। (२) गुरुच डालकर क्षीरपाक विधि से पकाया हुआ दूध मिश्री डालकर पीना चाहिए॥ ७१॥

जीवकर्षभकौ मेदामृष्यप्रोक्तां शतावरीम्। मधुकं मधुपर्णी च काकोलीद्वयमेव च॥ ७२॥
मुद्गमाषाख्यपर्णिन्यौ दशमूलं पुनर्नवाम्। बलाऽमृताविदारी च साश्वगन्धाश्मभेदकाः॥ ७३॥
एषां कषायकल्काभ्यां सर्पिस्तैलं च साधयेत्। लाभतश्च वसामज्जधान्वप्रातुदवैष्किरम्॥ ७४॥
चतुर्गुणेन पयसा तत् सिद्धं वातशोणितम्। सर्वदेहाश्रितं हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान्॥

जीवकादि महास्नेह—क्वाथ तथा कल्क द्रव्य: १. जीवक, २. ऋषभक, ३. मेदा, ४. अतिबला, ५. शतावर, ६. मुलहठी, ७. गुरुच, ८. काकोली, ९. क्षीरकाकोली, १०. मुद्गपर्णी, ११. माषपर्णी, १२. सरिवन, १३. पिठवन, १४. छोटी कटेरी, १५. बड़ी कटेरी, १६. गोखरू, १७. बेल, १८. गम्भार, १९. गनियार, २०. पाढल, २१. सोनापाठा, २२. पुनर्नवा, २३. बरियार, २४. गुरुच, २५. विदारीकन्द, २६. असगन्ध, २७. पाषाण भेद—इनको समान भाग में लेकर जितना घी और तैल पकाना हो उसके चौगुना क्वाथ तैयार करें और घी और तैल का चतुर्थांश कल्क तैयार कर उस क्वाथ और कल्क के साथ घी और तैल पकायें। उसमें जंगली प्रतुद तथा विष्किर वर्ग के पक्षियों की जितनी मिल सके उतनी वसा और मज्जा मिला दें, फिर घी-तैल-वसा-मज्जा की संयुक्त मात्रा से चौगुना गोदुग्ध मिलाकर विधिवत् पका लें। यह तैल सर्वशरीर में व्याप्त वातरक्त को तथा भयंकर वातरोगों को नष्ट करता है॥ ७२-७५॥

स्थिरा श्वदंष्ट्रा बृहती सारिवा सशतावरी। काश्मर्याण्यात्मगुप्ता च वृश्चीरो द्वे बले तथा॥ ७६॥
एषां क्वाथे चतुःक्षीरं पृथक् तैलं पृथग्घृतम्। मेदाशतावरीयष्टिजीवन्तीजीवकर्षभैः॥
पक्त्वा मात्रा ततः क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा। खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे॥ ७८॥

स्थिरादि घृत या तैल—सरिवन, गोखरू, बड़ी कटेरी, सारिवा, शतावर, गम्भार की छाल, केवाँच, गदहपुर्ना, बला और अतिबला—इनका यथाविधि क्वाथ करें। क्वाथ का चतुर्थांश घी लें तथा घी का चौगुना गोदुग्ध लें; फिर मेदा, शतावर, मुलहठी, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक—इनका संयुक्त कल्क घी का चतुर्थांश मिलाकर विधिवत् घृतपाक करें। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित पात्र में रख लें। इसी प्रकार घी की जगह तैल तथा अन्य क्वाथ, कल्क एवं द्रव मिलाकर तैलपाक कर लेना चाहिए।

इस घी या तैल की मात्रा रोग तथा रोगी के बल के अनुसार रखें। यदि २० ग्राम की एक मात्रा रखी जाय, तो उसमें तीन गुना (६० ग्राम) दूध तथा चौथाई (५ ग्राम) चीनी मिलाकर मथानी से मथकर पीने योग्य पेया बनाकर पिलाना चाहिए। इसका प्रयोग त्रिदोषज वातरक्त में करना चाहिए॥ ७६-७८॥

तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा सुमूर्च्छितम्। सर्पिस्तैलसिताक्षौद्रैर्मिश्रं वाऽपि पिबेत्पयः॥ ७९॥

वातरक्त में घृत-तैल पान—तैल, दूध और चीनी इन तीनों को उचित मात्रा में मिलाकर, मथकर पिलाना चाहिए अथवा घी-तैल-मिश्री और मधु मिला हुआ दूध पीने को देना चाहिए॥ ७९॥

अंशुमत्या शृतः प्रस्थः पयसो द्विसितोपलः। पाने प्रशस्यते तद्वत् पिप्पलीनागरैः शृतः॥ ८०॥

शालिपर्णी सिद्ध दुग्ध योग—(१) शालिपर्णी का कल्क (१०० ग्राम), १ प्रस्थ दूध और ४ प्रस्थ पानी डालकर क्षीरावशिष्ट पाक करके छान लें और २ पल मिश्री डालकर पीना चाहिए। इसी प्रकार (२) पीपर और सोंठ डालकर पकाया हुआ दध भी वातरक्त में पिलाना चाहिए॥ ८०॥

बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः। श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः॥ ८१॥

बलादि एवं श्यामादि क्षीरपाक—(१) बरियार, शतावर, रास्ना, दशमूल के प्रत्येक द्रव्य और पीलु के कल्क को अष्टगुण दुग्ध एवं दुग्ध से चतुर्गुण जल के साथ दुग्धावशिष्ट पाक कर पिलाना चाहिए। (२) इसी प्रकार काली निशोथ, रेड़ की मूल तथा सरिवन के कल्क से सिद्ध दूध वातज विकारों को दूर करता है॥ ८१॥

धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम्। पिबेद्वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिलः॥ ८२॥

धारोष्ण दुग्ध दोषानुलोमन—बिना अग्नि पर चढ़ाये, दोहनकालधारापतित उष्ण दुग्ध में गोमूत्र मिलाकर पीने से दोषों का अनुलोमन होता है। जो व्यक्ति पित्तरक्तावृत वात के रोगी हों, उन्हें धारोष्ण में उचित मात्रा में निशोथ का चूर्ण मिलाकर पीना चाहिए॥ ८२॥

क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः। बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाश्नयः॥ ८३॥

एरण्ड तैल प्रयोग—जिस व्यक्ति में बहुदोष के लक्षण (च. सू. १६।१२-१६ में कथित) हों, वह विरेचन के लिए दूध के साथ एरण्ड तैल मिलाकर नियमित रूप से सेवन करे और उसके पच जाने पर दूध के साथ भात खाये॥ ८३॥

कषायमभयानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः। क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा॥ ८४॥

हरीतकी और त्रिवृत का प्रयोग—(१) वातरक्त के रोगी को हर्रे के क्वाथ में घी की छौंक लगाकर पीना चाहिए और ऊपर से गोदुग्ध पीना चाहिए अथवा (२) निशोथ के चूर्ण को मुनक्के के काढ़े के साथ लेना चाहिए तथा ऊपर से दूध पीना चाहिए॥ ८४॥

काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षां त्रिफलां सपरूषकाम्। शृतं पिबेद्विरेकाय लवणक्षौद्रसंयुतम्॥ ८५॥

काश्मर्यादि क्वाथ—गम्भार का फल, निशोथ, मुनक्का, आँवला, हर्रा, बहेड़ा (सभी निर्बीज) और फालसा—इनके क्वाथ में लवण और मधु मिलाकर विरेचन के लिए पान करें॥ ८५॥

त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत् क्षौद्रेण संयुतम्। धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिकः॥

त्रिफला का प्रयोग एवं धात्री योग—(१) वातरक्त के रोगी को त्रिफला के क्वाथ में मधु मिलाकर पीना चाहिए अथवा (२) वातरक्त के रोगी में कफदोष की अधिकता हो, तो आँवला, हल्दी और नागरमोथा का क्वाथ पीना चाहिए॥ ८६॥

योगैश्च कल्पविहितैरसकृत्तं विरेचयेत्। मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्ज्ञात्वा वातं मलावृतम्॥ ८७॥

वातरक्त में मृदु विरेचन—जब वातरक्त रोगी में मलावृत वात की स्थिति हो, तो (आगे) कल्पस्थान में जिनका उपदेश किया जायेगा, उन मृदु एवं स्नेहयुक्त विरेचन योगों का बार-बार प्रयोग कर विरेचन कराना चाहिए॥ ८७॥

निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरबस्तिभिः। न हि बस्तिसमं किंचिद्वातरक्तचिकित्सितम्॥ ८८॥
बस्तिवंक्षणपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु। उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहाः सानुवासनाः॥ ८९॥
तस्मात्तैलानि चेमानि बस्तिकर्मणि बुद्धिमान्। नस्याभ्यञ्जनसेकेषु दाहशूलोपशान्तये॥ ९०॥

वातरक्त में बस्ति-प्रयोग—वस्तुतः वातरक्त रोग के विनाश के लिए बस्ति के समान कोई दूसरी चिकित्सा नहीं है। इसलिए वातरक्ती के मलविबन्ध को घृतमिश्रित क्षीरबस्तियों के प्रयोग के द्वारा दूर करना चाहिए। जब रोगी के बस्ति-वंक्षण-पार्श्व-ऊरु-पर्व-अस्थि और उदर में पीड़ा हो या उदावर्त हो, तो अनुवासनबस्तियों के साथ-साथ निरूहबस्तियाँ भी देनी चाहिए। इसलिए बुद्धिमान् वैद्य दाह और शूल को शान्त करने के लिए बस्ति देने, नस्य देने, मालिश करने और परिसेचन में आगे इन वक्ष्यमाण तैलों का प्रयोग करे॥ ८८-९०॥

मधुयष्ट्यास्तुलायास्तु कषाये पादशेषिते। तैलाढकं समक्षीरं पचेत् कल्कैः पलोन्मितैः॥ ९१॥
शतपुष्पावरीमूर्वापयस्यागुरुचन्दनैः। स्थिराहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः॥ ९२॥
काकोलीक्षीरकाकोलीतामलक्यृद्धिपद्मकैः। जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखबालकैः॥ ९३॥

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवैन्द्रीवितुन्नकैः। चतुष्प्रयोगात्तद्धन्ति तैलं मारुतशोणितम्॥ ९४॥
सोपद्रवं साङ्गशूलं सर्वगात्रानुगं तथा। वातासृक्पित्तदाहार्तिज्वरघ्नं बलवर्णकृत्॥ ९५॥
इति मधुयष्ट्यादितैलम्।

मधुयष्ट्यादि तैल : क्वाथ्य द्रव्य—मुलहठी १ तुला (१०० पल); **क्वाथार्थ जल**—४ तुला; शेष क्वाथ १ तुला; **द्रव**—गोदुग्ध १ आढक (२५६ पल); **तैल**—१ आढक (२५६ पल); **कल्क द्रव्य**—१. सौंफ, २. शतावर, ३. मूर्वा, ४. क्षीरविदारी, ५. अगर, ६. लालचन्दन, ७. सरिवन, ८. हंसराज, ९. जटामांसी, १०. मेदा, ११. महामेदा, १२. गुरुच, १३. काकोली, १४. क्षीरकाकोली, १५. भूमि आँवला, १६. ऋद्धि, १७. पद्मकाठ, १८. जीवक, १९. ऋषभक, २०. जीवन्ती, २१. दालचीनी, २२. तेजपात, २३. नख, २४. सुगन्धबाला, २५. पुण्डरियाकाठ, २६. मजीठ, २७. अनन्तमूल, २८. इन्द्रायण और २९. धनिया—प्रत्येक १-१ पल।

विधिपूर्वक तैलपाक करके सुरक्षित रख लें। इस तैल का पान, अभ्यंग, नस्य और बस्ति के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह तैल उपद्रव सहित और सर्वशरीर में व्याप्त अंगशूल के साथ वातरक्त को दूर करता है तथा वातरोग, रक्तपित्त रोग, दाह, वेदना और ज्वर को नष्ट करता है एवं शरीर में बल और उत्तम वर्ण उत्पन्न करता है॥ ९१-९५॥

वक्तव्य—किन्हीं पुस्तकों में इस तैल का नाम मधुपर्ण्यादि तैल रखा गया है, किन्तु मूलपाठ में इसके योग का आरम्भ मधुयष्टि से किया गया है, अतः इसका नाम 'मधुयष्ट्यादि तैल' ही ठीक है। श्री चक्रपाणि ने अपनी टीका में—'मधुकतुलायां जलद्रोणं दत्वा तैलाढकमानः क्वाथो भवति' अर्थात् १ तुला मुलहठी में १ द्रोण जल डालकर क्वाथ करने पर १ आढक क्वाथ शेष बचना चाहिए—ऐसा पाठ दिया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि १ आढक तैल पकाने के लिए उसके ही बराबर क्वाथ डालना ठीक नहीं है।

मधुकस्य शतं द्राक्षा खर्जूराणि परूषकम्। मधूकौदनपाक्यौ च प्रस्थं मुञ्जातकस्य च॥ ९६॥
काश्मर्याढकमित्येतच्चतुर्दोणे पचेदपाम्। शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलाढकं पचेत्॥ ९७॥
तथाऽऽमलककाश्मर्यविदारीक्षुरसैः समैः। चतुर्द्रोणेन पयसा कल्कं दत्त्वा पलोन्मितम्॥ ९८॥
कदम्बामलकाक्षोटपद्मबीजकशेरुकम्। शृङ्गाटकं शृङ्गबेरं लवणं पिप्पलीं सिताम्॥ ९९॥
जीवनीयैश्च संसिद्धं क्षौद्रप्रस्थेन संसृजेत्। नस्याभ्यञ्जनपानेषु बस्तौ चापि नियोजयेत्॥ १००॥
वातव्याधिषु सर्वेषु मन्यास्तम्भे हनुग्रहे। सर्वाङ्गैकाङ्गवाते च क्षतक्षीणे क्षतज्वरे॥ १०१॥
सुकुमारकमित्येतद् वातास्रामयनाशनम्। स्वरवर्णकरं तैलमारोग्यबलपुष्टिदम्॥ १०२॥
इति सुकुमारकतैलम्।

सुकुमारक तैल : क्वाथ्य द्रव्य—मुलहठी १०० पल, मुनक्का १ प्रस्थ, खजूर १ प्रस्थ, फालसा १ प्रस्थ, महुआ १ प्रस्थ, ओदनपाकी १ प्रस्थ, मुञ्जातक १ प्रस्थ, गम्भार की छाल १ आढक; **क्वाथार्थ जल**—४ द्रोण, अवशिष्ट जल $\frac{1}{2}$ द्रोण; **द्रव**—आँवला, गम्भार, विदारीकन्द, ईख—इनका स्वरस या क्वाथ प्रत्येक १-१ आढक; गोदुग्ध—४ द्रोण; **तैल**—१ आढक; **कल्क द्रव्य**—कदम, आँवला, अखरोट, कमलगट्टा, कसेरू, सिंघाड़ा, आदी, सेंधानमक, पीपर, मिश्री, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी—मिश्रित १ प्रस्थ।

इन सब उपर्युक्त द्रव्यों को एक में मिलाकर विधिपूर्वक तैलपाक करना चाहिए। तैयार होने पर छानकर ठण्डा करके उसमें १ प्रस्थ मधु मिला देना चाहिए। इस तैल को नस्य, अभ्यंग, पान और बस्ति देने में प्रयोग करना चाहिए।

प्रयोग—इस तैल का नाम 'सुकुमारक तैल' है। यह विशेषकर वातरक्त रोग को नष्ट करता है। सभी तरह के वातरोगों में, मन्यास्तम्भ में, हनुग्रह में, सर्वांगवात में, एकांगवात में, क्षतक्षीण में और क्षतज्वर में इसका प्रयोग करना चाहिए। यह तैल उत्तम स्वर, उत्तम वर्ण, आरोग्य, बल तथा पुष्टि प्रदान करता है॥ ९६-१०२॥

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वं पञ्चमूलं पुनर्नवाम्। रास्नामेरण्डमूलं च जीवनीयानि लाभतः॥ १०३॥
पलानां शतकैर्भागैर्बलापञ्चशतं तथा। कोलबिल्वयवान्माषान्कुलत्थांश्चाढकोन्मितान्॥ १०४॥
काश्मर्याणां सुशुष्काणां द्रोणं द्रोणशतेऽम्भसि। साधयेज्जर्जरं धौतं चतुर्द्रोणं च शेषयेत्॥ १०५॥
तैलद्रोणं पचेत्तेन दत्त्वा पञ्चगुणं पयः। पिष्ट्वा त्रिपलिकं चैव चन्दनोशीरकेशरम्॥ १०६॥
पत्रैलागुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम्। मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव तत्सिद्धं सार्वयौगिकम्॥ १०७॥
वातरक्ते क्षतक्षीणे भारार्ते क्षीणरेतसि। वेपनाक्षेपभग्नानां सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिणाम्॥ १०८॥
योनिदोषमपस्मारमुन्मादं खञ्जपङ्गुताम्। हन्यात् प्रसवनं चैतत्तैलाग्र्यममृताह्वयम्॥ १०९॥
इत्यमृताद्यं तैलम्।

अमृताद्य तैल : क्वाथ्य द्रव्य—१. गुरुच, २. मुलहठी, ३. सरिवन, ४. पिठवन, ५. छोटी कटेरी, ६. बड़ी कटेरी, ७. गोखरू, ८. गदहपुर्ना, ९. रास्ना, १०. एरण्डमूल, ११. जीवक, १२. ऋषभक, १३. मेदा, १४. महामेदा, १५. काकोली, १६. क्षीरकाकोली, १७. मुद्गपर्णी, १८. माषपर्णी, १९. जीवन्ती, २०. मुलहठी—प्रत्येक १०० पल; २१. बरियार का मूल ५०० पल; २२. बेर की छाल, २३. बेल की छाल, २४. जौ, २५. उड़द, २६. कुलथी—प्रत्येक १-१ आढक; २७. गम्भार के सूखे फल १ द्रोण—इन्हें धोकर जौकुट कर लें।

क्वाथार्थ जल—१०० द्रोण; अवशिष्ट जल—४ द्रोण; द्रव—गोदुग्ध—५ द्रोण; **तैल**—१ द्रोण; **कल्क द्रव्य**—१. लाल चन्दन, २. खश, ३. नागकेशर, ४. तेजपात, ५. छोटी इलायची, ६. अगर, ७. कूठ, ८. तगर, ९. मुलहठी—प्रत्येक ३-३ पल; १०. मजीठ ८ पल—इन सभी द्रव्यों को मिलाकर विधिपूर्वक तैलपाक करें। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह तैल पान, अभ्यंग, नस्य और बस्ति इन सभी कार्यों में प्रयुक्त होने से सार्वयौगिक है। वातरक्त, क्षतक्षीण, भारवहन करने से पीड़ित, क्षीणशुक्र, कम्पन, आक्षेप, भग्न, सर्वांगवात, एकांगवात, योनिदोष, अपस्मार, उन्माद, खञ्ज और पंगु—इन रोगों को यह तैल नष्ट करता है। यह अमृताद्य तैल पुरुष सन्तान की उत्पत्ति कराता है॥ १०३-१०९॥

पद्मवेतसयष्ट्याह्वफेनिलापद्मकोत्पलैः। पृथक्पञ्चपलैर्दर्भबलाचन्दनकिंशुकैः॥ ११०॥
जले शृतैः पचेत् तैलप्रस्थं सौवीरसम्मितम्। लोध्रकालीयकोशीरजीवकर्षभकेशरैः॥ १११॥
मदयन्तीलतापत्रपद्मकेशरपद्मकैः। प्रपौण्डरीककाश्मर्यमांसीमेदाप्रियङ्गुभिः॥ ११२॥
कुङ्कुमस्य पलार्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च। महापद्ममिदं तैलं वातासृग्ज्वरनाशनम्॥ ११३॥
इति महापद्मं तैलम्।

महापद्म तैल : क्वाथ्य द्रव्य—१. कमल, २. बेंत, ३. मुलहठी, ४. फेनिला (पोई का साग), ५. पद्मकाठ और ६. नीलकमल—प्रत्येक ५-५ पल तथा ७. बरियार, ८. लालचन्दन और ९. पलाश के फूल ५-५ पल—इन सभी द्रव्यों को जौकुट कर ४ आढक जल में क्वाथ करें और १ आढक शेष बचे तो छान लें; उसमें १ प्रस्थ तिल का तैल और १ प्रस्थ सौवीर (भूसी विहीन जौ की बनी हुई काञ्जी) मिला दें, फिर लोध, काला अगर, खश, जीवक, ऋषभक, नागकेशर, मेंहदी, लताकस्तूरी, तेजपात, कमल का केशर, पद्माख, पुण्डरीक काठ, गम्भार का फल, जटामांसी, मेदा, प्रियंगु और केशर—प्रत्येक आधा-आधा पल तथा मजीठ १ पल लेकर इन सबका कल्क बनाकर तैल में डालकर विधिवत् तैलपाक करें और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। यह महापद्मक नामक तैल वातरक्त तथा ज्वर को नष्ट करता है॥११०-११३॥

पद्मकोशीरयष्ट्याह्वरजनीक्वाथसाधितम्। स्यात् पिष्टैः सर्जमञ्जिष्ठावीराकाकोलिचन्दनैः॥
खुड्डाकपद्मकमिदं तैलं वाताम्रदाहनुत्।

इति खुड्डाकपद्मकं तैलम्।

खुड्डाकपद्मक तैल—पद्मकाठ, खश, मुलहठी और हल्दी के क्वाथ में राल, मजीठ, क्षीरकाकोली और चन्दन का कल्क डालकर कल्क के वजन से चतुर्गुण तिल का तैल डालकर तैलपाक करें। क्वाथ की मात्रा तैल से चतुर्गुण रखें। यह खुड्डाकपद्मक नामक तैल वातरक्त और दाह को दूर करने वाला होता है॥ ११४॥

वक्तव्य—पहले महापद्मक तैल का वर्णन किया गया है। उसकी अपेक्षा यह योग छोटा होने के कारण इस तैल का नाम खुड्डाकपद्मक रखा गया है। खुड्डाक का अर्थ अल्प या छोटा होता है।

शतेन यष्टिमधुकात् साध्यं दशगुणं पयः॥ ११५॥
तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे मधुकस्य पलेन तु। सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत्॥ ११६॥

इति शतपाकं मधुकतैलम्।

शतपाक मधुकतैल—(१) १०० पल मुलहठी के कल्क को १००० पल दूध और ४००० पल पानी डालकर क्षीरपाक विधि से दूध को क्षीरावशिष्ट पका लें। उस दूध में ४ द्रोण तिल का तैल और १ पल मुलहठी का कल्क डालकर विधिवत् तैलपाक करें। (२) मुलहठी और गम्भार की छाल को समान भाग लेकर क्वाथ बनायें, उस क्वाथ में चतुर्थांश तिल का तैल और तैल के चतुर्थांश मुलहठी के कल्क को डालकर तैलपाक कर लें। ये दोनों तैल वातरक्तनाशक होते हैं॥ ११५-११६॥

वक्तव्य—इस श्लोक की टीका में चक्रपाणि के अनुसार मुलहठी १०० पल लेकर दश गुने दूध में पकायें और जब चौथाई दूध बचे, तो उसमें तैलपाक करें; यथा—'यष्टीमधुकपलशतं दशगुणेन क्षीरेण साध्यं, तेन चतुर्भागस्थितेन क्षीरेण तैलं पक्तव्यम्'। यहाँ दूध की मात्रा तैल की अपेक्षा कम पड़ जाती है, जब कि उसे कम-से-कम तैल के समान भाग में तो होना ही चाहिए। इसलिए उनका यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता। आचार्य गंगाधर ने इस योग का पाठ नहीं किया है।

मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे। क्षीरे साध्यं शतं कृत्वा तदेवं मधुकाच्छते॥ ११७॥
सिद्धं देयं त्रिदोषे स्याद् वाताग्रे श्वासकासनुत्। हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलादाहनाशनम्॥

इति शतपाकं मधुपर्णीतैलम्।

शतपाक मधुपर्णी तैल—मुलहठी का कल्क १ पल पीसकर १ प्रस्थ तिल-तैल और ४ प्रस्थ दूध में मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। इसी प्रकार बार-बार १-१ पल मुलहठी का कल्क और ४ प्रस्थ दूध डालकर १ सौ बार इस तैल को पकाना चाहिए। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित ढंग से रख लें। यह तैल त्रिदोषज वातरक्त में प्रयोग करने योग्य है। यह श्वास, खाँसी, हृदयरोग, पाण्डुरोग, विसर्प, कामला और दाह को नष्ट करता है॥ ११७-११८॥

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत्। सहस्रं शतवारं वा वातासृग्वातरोगनुत्॥ ११९॥
रसायनमिदं श्रेष्ठमिन्द्रियाणां प्रसादनम्। जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम्॥ १२०॥

इति सहस्रपाकं शतपाकं वा बलातैलम्।

शतपाक या सहस्रपाक बला तैल—बरियार का काढ़ा ४ भाग, तिल का तैल १ भाग, दूध १ भाग, बरियार $\frac{1}{4}$ भाग डालकर विधिवत् तैलपाक करना चाहिए। जब तैल तैयार हो जाय तो उसमें बला का क्वाथ तथा कल्क एवं दूध उक्त प्रमाण में ही डालकर पुनः पाक कर लें और ऐसे ही सौ बार पकाने पर शतपाक और हजार बार पकाने पर सहस्रपाक तैल तैयार होता है। यह तैल वातरक्त तथा सभी तरह

के वात रोगों का नाशक है। यह उत्तम रसायन है। इन्द्रियों को नीरोग और स्वस्थ बनाता है। यह जीवन देने वाला, शरीर को मोटा बनाने वाला, स्वर को उत्तम बनाने वाला एवं शुक्रदोष तथा रक्त के दोषों को नष्ट करता है॥ ११९-१२०॥

वक्तव्य—आचार्य चक्रपाणि ने दूसरों के मत का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि सौ गुना या हजार गुना क्वाथ-कल्क एक ही बार डालकर पाक कर लेना चाहिए। किन्तु वे अपना विचार मूल ग्रन्थ से सहमति-सूचक प्रकट किये हैं। आज के महार्घ युग में शतपाक और सहस्रपाक की सुगम विधि ही अपनायी जा सकती है, जिसमें एक बार ही सौ या हजार गुना औषध एवं द्रव डालकर पाक कर लिया जाय।

गुडूचीरसदुग्धाभ्यां तैलं द्राक्षारसेन वा। सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत्॥ १२१॥

गुडूच्यादि, द्राक्षादि और मधुकादि तैल—(१) गुडूची का स्वरस या क्वाथ ४ भाग, गोदुग्ध १ भाग और तिल का तैल १ भाग लेकर विधिवत् तैलपाक करें। (२) मुनक्के का क्वाथ ४ भाग, तिल का तैल १ भाग लेकर विधिपूर्वक तैलपाक करें। इसी प्रकार (३) मुलहठी और गम्भार की छाल का क्वाथ ४ भाग और तिल का तैल १ भाग मिलाकर तैलपाक कर लें। ये सभी तैल वातरक्त को नष्ट करते हैं॥ १२१॥

आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम्। प्रभूते मथितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत् परम्॥ १२२॥

सर्जरस तैल—काञ्जी १ आढक, तिल का तैल १ प्रस्थ और रालचूर्ण $\frac{1}{4}$ प्रस्थ डालकर विधिवत् तैलपाक करें। इस तैल में ६ से ८ गुना पानी डालकर किसी पात्र में रखकर मथानी से खूब मथें। मथने पर मक्खन जैसा गाढ़ा द्रव तैयार होगा, उसमें जलीयांश मिल जायेगा और अनघुले जल को निकाल कर सुरक्षित रख लें। यह तैल वातरक्त रोगी के ज्वर और दाह को तथा पीड़ा को मिटाता है॥ १२२॥

समधूच्छिष्टमाञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम्। पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद् वातरक्तरुजापहम्॥ १२३॥

इति पिण्डतैलम्।

पिण्डतैल—तिल का तैल १ भाग, जल ४ भाग और मोम, मजीठ, राल और अनन्तमूल का मिलित कल्क तैल का चतुर्थांश डालकर विधिवत् तैलपाक करें। मालिश करने से यह तैल वातरक्त की पीड़ा को दूर करता है॥ १२३॥

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम्। परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत् कोष्णेन वारिणा॥ १२४॥

दशमूलादि क्षीर—दशमूल के प्रत्येक द्रव्य को लेकर धोकर कूट लें और मिश्रित दशमूल से आठ गुना दूध और दूध का चौगुना पानी डालकर क्षीरपाक-विधि से दूध को पका लें। इसके सेवन से शूल का शीघ्र शमन होता है। इसी प्रकार वातप्रधान वातरक्त में किंचित् उष्ण घी से शरीर का परिसेचन करने से तुरन्त ही शूल शान्त हो जाता है॥ १२४॥

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत्। स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः॥ १२५॥

चार महास्नेहों का प्रयोग—जब वातरक्त के रोगी को शरीर में जकड़ापन, आक्षेप (झटका लगना) और शूल हो, तो घी-तैल-वसा-मज्जा मिलित १ भाग में जीवनीय दश द्रव्यों का (च. सू. ४ में पठित) मिलित कल्क चतुर्थांश और स्नेहों का चौगुना जल डालकर पकाये गये सुखोष्ण महास्नेह का परिसेचन करना चाहिए। यदि रोगी को दाह हो, तो उक्त महास्नेह को शीतल करके उससे परिसेचन करना चाहिए॥ १२५॥

तद्वद् गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः। क्वाथैर्वा जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा भिषक्॥
द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम्। सेवार्थे तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्बु च शस्यते॥ १२७॥

दाहशामक परिसेचन योग—वातरक्त रोग में होने वाले दाह को शान्त करने के लिए—(१) गाय, भेंड़ या बकरी के दूध में तिल का तैल मिलाकर या (२) जीवनीय द्रव्यों के क्वाथ में तैल मिलाकर या (३) लघु पञ्चमूल के क्वाथ में तैल मिलाकर परिसेचन करना चाहिए। इसी प्रकार अंगूर का रस या मुनक्के का क्वाथ, ईख का रस, मदिरा, दही का पानी, खट्टी काञ्जी, चावल का धोवन, मधु का शर्बत या चीनी का शर्बत—ये परिसेचन कार्य के लिए उत्तम दाहशामक होते हैं॥ १२६-१२७॥

पित्त एवं रक्तप्रधान वातरक्त चिकित्सा

कुमुदोत्पलपद्माद्यैर्मणिहारैः सचन्दनैः। शीततोयानुगैर्दाहे प्रोक्षणं स्पर्शनं हितम्॥ १२८॥
चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मदलच्छदे। शयने पुलिनस्पर्शशीतमारुतवीजिते॥ १२९॥
चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रिया नार्यः प्रियंवदाः। स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम्॥

दाहशामक विहार (प्रोक्षण और स्पर्शन)—वातरक्त में दाह होने पर शीतल जल में तर किये हुए चन्दनलिप्त कुमुद के फूल, नीलकमल के फूल, लाल कमल के फूल, मणियों और हारों के जल से शरीर को सिञ्चित करना, अंगों पर छींटें देना और स्पर्श कराना हितकर एवं दाहशामक होता है। जहाँ नदी के शीतल तटप्रदेश की शीतलता का आलिंगन करता हुआ पवन का शीतप्रवाह व्यजन का कार्य कर रहा हो, जहाँ चन्द्रमा की शीतल किरणें शैत्य का अभिसिंचन कर रही हों, ऐसे मनोरम स्थान में क्षौमवस्त्र एवं पद्मपत्रकुञ्ज से आच्छादित शयन पर विश्राम करते समय चन्दनानुलेपन से आर्द्र स्तनों वाली, मधुरभाषिणी, कमनीय कामिनियाँ अपने ललित अंगों का सुखद तथा शीतल स्पर्श का अवदान देकर दाह, वेदना और श्रम को मिटा देती हैं॥ १२८-१३०॥

सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत्। मधुकाश्वत्थत्वङ्मांसीवीरोदुम्बरशाद्वलैः॥ १३१॥
जलजैर्यवचूर्णैर्वा सयष्ट्याह्वपयोघृतैः। सर्पिषा जीवनीयैर्वा पिष्टैर्लेपोऽर्तिदाहनुत्॥ १३२॥

दाहशामक मधुकादि लेप—यदि वातरक्त के रोगी के शरीर में कहीं पर रक्तिमा, पीड़ा तथा जलन हो, तो वहाँ से रक्त का विस्रावण कराने के बाद मुलहठी, पीपल की छाल, जटामांसी, क्षीरकाकोली, गूलर की छाल और हरी दूब को समान भाग लेकर पीसकर लेप लगाना चाहिए अथवा कमल के फूल या पत्तियों को पीसकर लेप करें या मुलेठी के चूर्ण एवं जौ के आटा में दूध और घी मिलाकर लेप करें या जीवनीय गण की औषधियों को पीसकर घी मिलाकर लेप करना चाहिए॥ १३१-१३२॥

तिलाः प्रियालो मधुकं बिसं मूलं च वेतसात्। आजेन पयसा पिष्टः प्रलेपो दाहरागनुत्॥ १३३॥

तिलादि लेप—काला तिल, चिरौंजी, मुलहठी, कमलनाल और बेंत का मूल—इन सबको समभाग लेकर बकरी के दूध में पीसकर लेप लगाने से वातरक्त रोग में होने वाली जलन एवं लालिमा नष्ट हो जाती है॥ १३३॥

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः। सितोपलैरकासक्तुमसूरोशीरपद्मकैः॥ १३४॥
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिवारणः। पित्तरक्तोत्तरे त्वेते,—

प्रपौण्डरीकादि लेप—पुण्डरियाकाष्ठ, मजीठ, दारुहल्दी, मुलहठी, लालचन्दन, मिश्री, एरका घास (लेड़ई), जौ का सत्तू, मसूर, खश और पद्मकाठ, इन सब द्रव्यों को समभाग लेकर पीसकर लेप लगाने से वातरक्त रोग में होने वाला दर्द, जलन, विसर्प, लालिमा और शोथ, ये सब दूर हो जाते हैं। ये उपर्युक्त लेप पित्त तथा रक्तप्रधान वातरक्त रोग में लगाने से लाभप्रद होते हैं॥ १३४॥

वातप्रधान वातरक्त चिकित्सा

—लेपान् वातोत्तरे शृणु॥ १३५॥

वातघ्नैः साधितः स्निग्धः सक्षीरमुद्गपायसः। तिलसर्षपपिण्डैर्वाऽप्युपनाहो रुजापहः॥ १३६॥

वातप्रधान वातरक्त में लेप-उपनाह—अब आप वातप्रधान वातरक्त में उपयोगी लेपों को सुनिये। वातनाशक औषधियों के क्वाथ में सिद्ध मूँग की खीर में घी डालकर अथवा तिल और सरसों को पीसकर, पिण्ड बनाकर पुल्टिस बाँधने से वातरक्त की पीड़ा नष्ट हो जाती है॥ १३५-१३६॥

औदकप्रसहानूपवेशवाराः सुसंस्कृताः। जीवनीयौषधैः स्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने॥ १३७॥
स्तम्भतोदरुगायामशोथाङ्गग्रहनाशनाः। जीवनीयौषधैः सिद्धा सपयस्का वसाऽपि वा॥ १३८॥

वातरक्तनाशक उपनाह—(१) जलेचर, प्रसह एवं आनूप जीवों के हड्डीरहित मांस को उबालकर गुड़, घी, पीपर और मरिच मिलाकर तथा जीवनीयगण की औषधियों का कल्क एवं घृत-तैल-वसा और मज्जा, इन स्नेहों को मिलाकर पुल्टिस बाँधनी चाहिए। अथवा जीवनीयगण की औषधियों के कल्क में दूध और वसा मिलाकर उपनाह बाँधना चाहिए। इनके प्रयोग से वातरक्त रोग में होने वाली अंगों की जकड़ाहट, सूई चुभाने जैसी वेदना, पीड़ा, तनाव, शोथ और अंगों की जकड़न—ये सब विकार नष्ट होते हैं॥ १३७-१३८॥

घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती च्छागलं पयः। लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वद् भृष्टाः पयसि निर्वृताः॥

सहचरादि योग—(१) कटसरैया के मूल और जीवन्ती को समभाग लेकर बकरी के दूध में पीसकर घी मिलाकर लेप करना चाहिए। इसी तरह भुने हुए तिल को कुछ समय बकरी के दूध में भिगोकर फिर उसी दूध से पीसकर लेप लगाना चाहिए। ये दोनों प्रयोग दाह को शान्त करने वाले हैं॥ १३९॥

क्षीरपिष्टमुमालेपमेरण्डस्य फलानि च। कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वामनिलेऽधिके॥ १४०॥

शूलनाशक योग—वातप्रधान वातरक्त में शूल को दूर करने के लिए (१) बकरी के दूध में तीसी पीसकर या (२) बकरी के दूध में रेड़ी का बीज पीसकर या (३) बकरी के दूध में सौंफ पीसकर लेप लगाना चाहिए॥ १४०॥

समूलाग्रच्छदैरण्डक्वाथे द्विप्रास्थिकं पृथक्। घृतं तैलं वसा मज्जा चानूपमृगपक्षिणाम्॥ १४१॥
कल्कार्थे जीवनीयानि गव्यं क्षीरमथाजकम्। हरिद्रोत्पलकुष्ठैलाशताह्वाऽश्वहनच्छदान्॥
बिल्वमात्रान् पृथक् पुष्पं काकुभं चापि साधयेत्। मधूच्छिष्टपलान्यष्टौ दद्याच्छीतेऽवतारिते॥
शूलेनैषोऽर्दिताङ्गानां लेपः सन्धिगतेऽनिले। वातरक्ते च्युते भग्ने खञ्जे कुब्जे च शस्यते॥ १४४॥

सन्धिगत वात में मधूच्छिष्ट प्रलेप : क्वाथ्य द्रव्य—एरण्डमूल और रेड़ के कोमल पत्ते; **क्वाथ**—३२ प्रस्थ तैयार; **स्नेह**—घी २ प्रस्थ, तैल २ प्रस्थ, आनूप वसा २ प्रस्थ, आनूप मज्जा २ प्रस्थ; **द्रव पदार्थ**—गोदुग्ध ८ प्रस्थ, बकरी का दूध ८ प्रस्थ; **कल्क द्रव्य**—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी, हल्दी, नीलकमल, कूठ, इलायची, सौंफ, कनेर के पत्ते और अर्जुन के फूल—प्रत्येक १-१ पल तथा मोम ८ पल।

उक्त द्रव्यों को एक में मिलाकर विधिवत् स्नेहपाक करना चाहिए। तैल के तैयार होने पर छान लें और शीतल होने पर मोम को गरम कर मिला दें।

प्रयोग—यह प्रलेप सन्धिगत वातरोग में अंगों में पीड़ा होने पर लगाना चाहिए। वातरक्त, सन्धिच्युति, भग्न, खञ्ज और कुब्ज में उत्तम लाभप्रद होता है॥ १४१-१४४॥

कफप्रधान वातरक्त चिकित्सा

शोफगौरवकण्ड्वाद्यैर्युक्ते त्वस्मिन् कफोत्तरे। मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम्॥ १४५॥
पद्मकं त्वक् समधुकं सारिवा चेति तैर्घृतम्। सिद्धं समधुशुक्तं स्यात् सेकाभ्यङ्गे कफोत्तरे॥ १४६॥
क्षारस्तैलं गवां मूत्रं जलं च कटुकैः शृतम्। परिषेके प्रशंसान्ति वातरक्ते कफोत्तरे॥ १४७॥

कफज वातरक्त में अभ्यङ्ग और परिसेचन—(१) कफ-प्रबल वातरक्त रोग में जब रोगी के शरीर में शोथ, भारीपन तथा खुजलाहट आदि हो तो गोमूत्र, मदिरा और क्षार के साथ पकाये हुए घृत की मालिश करनी चाहिए। (२) **पद्मकादि घृत**—पद्मकाठ, दालचीनी, मुलहठी और अनन्तमूल—इन सबको समभाग लेकर कल्क करें। कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना 'मधुशुक्त' डालकर विधिवत् घृतपाक करना चाहिए। यह घृत कफप्रधान वातरक्त में परिसेचन और अभ्यंग में प्रयोग करना चाहिए। (३) कफप्रधान वातरक्त में क्षारोदक, गोमूत्र, जल एवं त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपर) कल्क से सिद्ध किये गये तैल से परिसेचन करना चाहिए॥ १४५-१४७॥

वक्तव्य—पद्मकादि घृत में 'मधुशुक्त'[1] डालने को कहा गया है। उसकी परिभाषा यह है—जम्बीरी नीबू का रस १ प्रस्थ, मधु १ कुडव (४ पल), पिपरामूल १ कुडव—इन सबको १ घड़े में रखकर सन्धि-बन्द कर १ माह तक धान्य की राशि में रखें, फिर निकाल लें। यह 'मधुशुक्त' है।

तृतीय योग में तैल की मात्रा के बराबर क्षारोदक और गोमूत्र लेना चाहिए। जल की मात्रा तैल से चौगुनी होनी चाहिए तथा सोंठ, मरिच, पीपर के कल्क की मात्रा तैल के चतुर्थांश होनी चाहिए। श्री गंगाधर ने इस योग में जल के स्थान पर घृत मानकर यमक का योग माना है। उन्होंने क्षार की जगह क्षीर कहा है तथा १. कटुद्रव्य-सिद्ध दूध, २. कटुद्रव्य-सिद्ध तैल, ३. कटुद्रव्य-सिद्ध गोमूत्र और ४. कटुद्रव्य-सिद्ध घृत—इस प्रकार ४ योग माना है।

लेपः सर्षपनिम्बार्कहिंग्वाक्षीरतिलैर्हितः। श्रेष्ठः सिद्धः कपित्थत्वग्घृतक्षीरैः ससुक्तभिः॥ १४८॥

सर्षपादि लेप एवं कपित्थादि लेप—(१) कफज वातरक्त में सरसों, नीम के पत्ते, मदार के पत्ते, हइस का मूल और काला तिल—इन्हें समभाग लेकर बकरी के दूध में पीसकर लेप करना उत्तम है। (२) इसी प्रकार कैथ की छाल को बकरी के दूध से पीसकर जौ का सत्तू और घी मिलाकर लेप करना चाहिए॥ १४८॥

गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम्। प्रलेपः शूलनुद् वातरक्ते वातकफोत्तरे॥ १४९॥

वातकफज वातरक्त में प्रलेप—वातकफ-प्रधान वातरक्त में घर का धुआँ, बच, कूठ, सौंफ, हल्दी और दारुहल्दी—इनको समभाग लेकर पीसकर लेप करने से वातरक्त की वेदना शान्त हो जाती है॥ १४९॥

तगरं त्वक् शताह्वैला कुष्ठं मुस्तं हरेणुका। दारु व्याघ्रनखं चाम्लपिष्टं वातकफाम्रनुत्॥ १५०॥

तगरादि लेप—तगर, दालचीनी, सौंफ, इलायची, कूठ, नागरमोथा, हरेणुका, देवदारु और व्याघ्रनख—इन सबको समान मात्रा में लेकर खट्टी काञ्जी से पीसकर लेप लगाने से वातकफजन्य वातरक्त की पीड़ा शान्त होती है॥ १५०॥

मधुशिग्रोर्हितं तद्वद् बीजं धान्याम्लसंयुतम्। मुहूर्तं लिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरम्॥ १५१॥

सहिजन का लेप—वातकफ-प्रधान वातरक्त रोग में मीठे सहिजन के बीज को काञ्जी से पीसकर, कुछ समय (मुहूर्तभर) तक पीड़ित अंग पर लेप करें और उसके ऊपर काञ्जी से परिसेचन करें॥ १५१॥

---

१. जम्बीरस्वरसप्रस्थं मधुनः कुडवं तथा। तावच्च पिप्पलीमूलादेकीकृत्य घटे क्षिपेत्।
धान्यराशौ स्थितं मासं मधुशुक्तं तदुच्यते। (परिभाषा-प्रदीप, खण्ड ३)

त्रिफलाव्योषपत्रैलात्वक्क्षीरीचित्रकं वचाम्। विडङ्गं पिप्पलीमूलं रोमशं वृषकत्वचम्॥ १५२॥
ऋद्धिं तामलकीं चव्यं समभागानि पेषयेत्। कल्यं लिप्तमयस्पात्रे मध्याह्ने भक्षयेत्ततः॥ १५३॥
वर्जयेद् दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च। वाताग्रे सर्वदोषेऽपि हितं शूलार्दिते परम्॥ १५४॥

त्रिदोषज वातरक्त में त्रिफलादि कल्क—निर्बीज हर्रा-बहेड़ा-आँवला; सोंठ, मरिच, पीपर, तेजपात, इलायची, वंशलोचन, चीता, बच, वायविडंग, पिपरामूल, कासीस भस्म, अरूस की छाल, ऋद्धि, भूईंआँवला और चाभ—इन सबको समान भाग लेकर पीसकर प्रातःकाल लोहे के तवा पर लेप कर दें। मध्याह्न में उस लेप को उतार कर, सुखाकर चूर्ण बनाकर सुरक्षित रख लें। यह चूर्ण त्रिदोषज वातरक्त में पीड़ा से व्याकुल रोगी की पीड़ा को शान्त करता है। इसे रोगी के दोष-बल आदि का विचार कर उचित मात्रा में सेवन करायें। इसके सेवनकाल में दही, सिरका, क्षार और विरुद्ध भोजन नहीं करना चाहिए॥ १५२-१५४॥

बुद्ध्वा स्थानविशेषांश्च दोषाणां च बलाबलम्। चिकित्सितमिदं कुर्यादूहापोहविकल्पवित्॥

युक्तियुक्त चिकित्सा का निर्देश—युक्ति एवं तर्क तथा चिकित्सा के रहस्य के ज्ञाता वैद्य को चाहिए कि पूर्व में जो वातरक्त की चिकित्सा बतलायी गयी है, उसका प्रयोग करते समय रोग के स्थान-विशेष को तथा दोषों की सबलता और निर्बलता को विचार कर तब उन चिकित्सा-विधियों तथा योगों का प्रयोग करें॥ १५५॥

वक्तव्य—जो विज्ञ वैद्य हों, उन्हें स्वयं अपनी बुद्धि से रोगावस्था एवं स्थान तथा दोष का विचार कर कोई क्रिया या औषध-प्रयोग करना चाहिए; यथा—'स्वयमप्यत्र भिषजा तर्कणीयं यथामति'।

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा। अतिवृद्ध्याऽनिले नादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम्॥ १५६॥

स्नेहन एवं बृंहण का निषेध—जब मेद या कफ के अधिक बढ़ जाने से वायु का मार्ग रुक जाता है, तब वायु प्रकुपित हो जाता है, ऐसी दशा में स्नेहन और बृंहण—ये दोनों उपचार नहीं करना चाहिए। (क्योंकि स्नेहन तथा बृंहण से मेद एवं कफ की और अधिक वृद्धि हो जायेगी)॥ १५६॥

व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः। तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत् कफमेदसी॥ १५७॥

कफमेदनाशन उपचार—व्यायाम के द्वारा, शोधन कर्मों के द्वारा, अरिष्ट-पान, गोमूत्र-पान, विरेचन-प्रयोग, मट्ठे के प्रयोग और हर्रे के लगातार प्रयोग से बढ़े हुए कफ तथा मेद को घटाना चाहिए॥ १५७॥

बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेन्मधुना सह। वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम्॥ १५८॥
पुराणयवगोधूमसौध्वरिष्टसुरासवैः। शिलाजतुप्रयोगैश्च गुग्गुलोर्माक्षिकस्य च॥ १५९॥

वातरक्तनाशक विशिष्ट द्रव्य—(१) पीपल के वृक्ष की छाल का क्वाथ मधु मिलाकर पीना चाहिए। यह भयंकर त्रिदोषज वातरक्त को भी नष्ट करता है। (२) वातरक्त को नष्ट करने के लिए पुराना जौ-गेहूँ, सीधु (ईख का सिरका), अरिष्ट, सुरा, आसव, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गुग्गुलु और मधु का प्रयोग करना चाहिए॥ १५८-१५९॥

गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं[1] स्याच्चेत्तद् वातवज्जयेत्। पश्चाद्वाते क्रियां कुर्याद्वातरक्तप्रसादनीम्॥

गम्भीर वातरक्त में वात का उपचार—गम्भीर वातरक्त में यदि वायु के अधिक बढ़ जाने से रक्त आक्रान्त हो जाये (अर्थात् रक्तसंचार में बाधा उपस्थित हो जाये) तो वातव्याधि की तरह वात की ही चिकित्सा करनी चाहिए और जब वात का प्रकोप शान्त हो जाय तब वात एवं रक्त, इन दोनों को स्वस्थ रखने का उपचार करना चाहिए॥ १६०॥

---

१. एतच्च वातेन रक्ताभिभवनं गम्भीर एव वातरक्ते प्रायो भवतीति दर्शयितुं गम्भीर इति कृतम्। गम्भीरानुगते हि वातरक्ते रक्तं बहु नास्ति, यतो रक्तस्य द्वितीया रक्तधरा त्वक् स्थानं; तेनोत्ताने एव रक्तं बलवत् वाह्यस्थानत्वाद् रक्तस्य। (चक्रपाणि टीका)

रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु नियच्छति। भिन्नं स्रवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव वा॥ १६१॥
तयोः क्रिया विधातव्या भेदशोधनरोपणैः।

वातरक्त में आवस्थिक चिकित्सा—वातरक्त रोग में जब रक्त के अधिक बढ़ जाने से या पित्त के अधिक बढ़ जाने से वातरक्त का विकारग्रस्त अवयव पक जाता है, तो वहाँ से त्वचा फटकर रक्तस्राव होने लगता है जो विदग्ध होता है अथवा पूयस्राव होने लगता है। इन दोनों की चिकित्सा व्रण के समान भेदन, शोधन और रोपण के द्वारा करनी चाहिए॥ १६१॥

कुर्यादुपद्रवाणां च क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात्॥ १६२॥

वातरक्त के उपद्रवों की चिकित्सा—वातरक्त रोग में होने वाले उपद्रवों की चिकित्सा अपने-अपने चिकित्साध्याय में कथित चिकित्सा के अनुसार करनी चाहिए॥ १६२॥

तत्र श्लोकाः—

हेतुः स्थानानि मूलं च यस्मात् प्रायेण सन्धिषु। कुप्यति प्राक् च यद्रूपं द्विविधस्य च लक्षणम्॥
पृथग्भिन्नस्य लिङ्गं च दोषाधिक्यमुपद्रवाः। साध्यं याप्यमसाध्यं च क्रिया साध्यस्य चाखिला॥
वातरक्तस्य निर्दिष्टा समासव्यासतस्तथा। महर्षिणाऽग्निवेशाय तथैवावस्थिकी क्रिया॥ १६५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने वातशोणितचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'वातशोणितचिकित्सित' नामक अध्याय में महर्षि आत्रेय पुनर्वसु ने शिष्य अग्निवेश के उपदेश के लिए वातरक्त रोग के कारण, उसके स्थान, उसके मूल (हाथ-पैर), सन्धियों में प्रकोप के कारण, उसके पूर्वरूप, दोनों प्रकार के वातरक्तों के लक्षण, वात आदि दोषों की प्रधानता से होने वाले अलग-अलग लक्षण, उसके उपद्रव, उसके साध्य, याप्य और असाध्य के लक्षण, साध्य वातरक्त की संक्षेप और विस्तार से सम्पूर्ण चिकित्सा-प्रक्रिया तथा वातरक्त की आवस्थिकी चिकित्सा—इन सभी विषयों का वर्णन किया है॥ १६३-१६५॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में 'वातशोणितचिकित्सित' नामक उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २९॥

वातरक्त चिकित्सा-क्रम-बोधक-सारणी

चिकित्सा सूत्र (संक्षिप्त चिकित्सा)	पथ्य
(१) **अन्तःपरिमार्जन**— (क) स्नेहन, स्वेदन, मृदु विरेचन तथा बस्ति कर्म करने के पश्चात् दोष तथा रोगी के बलाबल का विचार कर सींग, जोंक, सूई, तुम्बी या प्रच्छन (पाछना) या सिरावेध के द्वारा रक्तविस्रावण कराना चाहिए। (ख) वातप्रधान वातरक्त में तथा अंगशोष एवं शरीर में रूक्षता होने पर रक्त नहीं निकालना चाहिए। (ग) स्निग्ध या रूक्ष मृदु विरेचन का प्रयोग किं वा बस्तिकर्म बार-बार करें। (२) **बहिःपरिमार्जन**—दाह न उत्पन्न करने वाले द्रव्यों के क्वाथ से परिसेचन, कल्कों से प्रदेह एवं क्वाथ तथा कल्क द्रव्यों से अभ्यंग करना चाहिए। (३) **विशिष्ट उपचार**—(क) बाह्य वातरक्त (उत्तान) में आलेप, अभ्यंग, परिसेचन और उपनाह द्वारा चिकित्सा करें। (ख) आभ्यन्तर (गम्भीर) वातरक्त में विरेचन, निरूहबस्ति, स्नेहपान और अविदाही अन्नों का सेवन करना चाहिए। (४) **वातप्रधान** वातरक्त में घृतपान, तैलमर्दन, तैलपान, तैलबस्ति और इसी प्रकार वसा एवं मज्जा का प्रयोग करना चाहिए। गरम-गरम उपनाह बाँधना चाहिए। (५) **रक्तपित्त प्रधान** वातरक्त में विरेचन, घृतपान, दुग्धपान, शीत परिसेचन, शीतस्पर्श, शीतल प्रलेप और अनुवासनबस्ति के प्रयोग से चिकित्सा करें। (६) **कफप्रधान** वातरक्त में मृदु वमन कराना चाहिए। स्नेह, परिसेचन और उपवास का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए। कफनाशक किन्तु वात-पित्त या रक्त का अप्रकोपक उपचार करना चाहिए। गरम-गरम लेप लगाना चाहिए। **आभ्यन्तर प्रयोगार्ह घृत, दुग्ध एवं क्वाथ**—श्रावण्यादि घृत, बलाघृत, पारूषक घृत, जीवनीय घृत, जीवकादि महास्नेह, स्थिरादि घृत—इन घृतों को २०-२५ ग्राम की मात्रा में दूध में मिलाकर सबेरे-शाम पीना चाहिए। मुनक्का और मुलहठी के चतुर्गुण क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत में मिश्री मिलाकर सेवन करना चाहिए। **पेय**—१. गुरुच के स्वरस या कल्क से सिद्ध दूध पीना चाहिए। २. तिल के तैल में दूध और चीनी डालकर, मथकर पिलाना चाहिए अथवा ३. घी, तैल, मिश्री और मधु को दूध में मिलाकर पीना चाहिए। ४. सरिवन के क्वाथ में दूध और चीनी डालकर पिलायें। ५. पीपर और सोंठ के क्वाथ में दूध, चीनी मिलाकर पिलायें। ६. वातरक्त में यदि वातजन्य पीड़ा हो तो बरियार, रास्ना, शतावर, दशमूल और पीलु के कल्क से क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध	पुराना जौ, गेहूँ, शालि चावल, साठी चावल और तिन्नी का चावल, अरहर, चना, मूँग, मसूर और मोठ की दाल खानी चाहिए। मांसार्थी रोगी को विष्किर एवं प्रतुद वर्ग के पक्षियों का मांस खाना चाहिए। **शाक**—चौपतिया, बेंत की फुनगी, मकोय, शतावर, बथुआ, पोई और हुरहुर की पत्ती घी में भूनकर शाक बनाकर खाना चाहिए। गाय, भैंस और बकरी का दूध पीना चाहिए। सीधु (सिरका)-अरिष्ट, सुरा, आसव, शुद्ध गुग्गुलु और मधु का सेवन करना चाहिए। **अपथ्य**—दिन में शयन करना, धूप में या आग के सामने बैठना, श्रम का कार्य करना, व्यायाम करना, मैथुन करना, कटु, उष्ण एवं गुरु पदार्थों तथा कफकारक अन्न का सेवन, नमकीन और खट्टे पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए।

चिकित्सा सूत्र (संक्षिप्त चिकित्सा)	पथ्य
पिलायें अथवा ७. अनन्तमूल, रेड़ का मूल और सरिवन के कल्क से क्षीरपाक-विधि से पकाया दूध पीने को दें। ८. गोमूत्रयुक्त धारोष्ण दुग्धपान दोषों का अनुलोमन करता है। ९. जिन वातरक्त के रोगियों में पित्त और रक्त से वायु का मार्ग आवृत हो, उन्हें निशोथ का चूर्ण ३-४ ग्राम १ गिलास दूध के साथ पिलायें। १०. बहुदोषयुक्त रोगी को प्रतिदिन रात को सोते समय रोगी के बलानुसार २५-३० ग्राम एरण्ड तैल को १ गिलास दूध में देना चाहिए। उसके पच जाने पर दूध-भात खाने के लिए देना चाहिए। ११. हर्रे के क्वाथ में घी को डालकर, छौंककर पिलायें। १२. काश्मर्यादि क्वाथ या १३. त्रिफला क्वाथ या १४. आँवला, हल्दी तथा नागरमोथा का क्वाथ पीना चाहिए। **दाह एवं शूलशमनार्थ, नस्य-अभ्यंग-पान एवं बस्ति योग्य तैल**—१. मधुयष्ट्यादि तैल, २. सुकुमार तैल, ३. अमृताद्य तैल, ४. महापद्म का तैल, ५. खुड्डाकपद्म का तैल, ६. शतपाक-मधुक तैल, ७. शतपाक-मधुपर्णी तैल, ८. शतपाक या सहस्रपाक बला तैल, ९. गुडूच्यादि तैल, १०. सर्जरस तैल (बाह्य प्रयोग से ज्वर, दाह, पीड़ाशामक), ११. पिण्ड तैल (बाह्य प्रयोग से वातरक्तजन्य पीड़ा को दूर करता है)। **जकड़न, आक्षेप और शूल में**—१. जीवनीय द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ से पकाये हुए घृत-तैल-वसा या मज्जा से सुखोष्ण परिसेचन करना चाहिए। दाह हो तो शीतल करके सेचन करें। २. तैल मिलाकर गाय, भेंड़ या बकरी के दूध से या ३. तैल मिलाकर जीवनीय द्रव्यों के क्वाथ से या ४. तैल मिलाकर लघु पंचमूल के क्वाथ से परिसेचन करना चाहिए। ५. मुनक्के के क्वाथ, ६. गन्ने के रस, ७. मदिरा, ८. दही के जल, ९. खट्टी काञ्जी, १०. चावल के धोवन, ११. मधु के शर्बत और १२. चीनी के शर्बत से परिसेचन करना चाहिए। **दाहशामक प्रोक्षण और स्पर्शन**–१. कुमुदिनी, २. नीलकमल या ३. रक्त-कमल के फूलों से, ४. मणियों से, ५. हारों से एवं ६. घिसे हुए चन्दन को किसी पात्र में रखकर उससे शरीर पर सिञ्चन, प्रोक्षण और स्पर्शन करना चाहिए। खुली चाँदनी रात में नदी या सरोवर के सुरम्य तट पर बिछे बिस्तर पर, शीतल जलार्द्र वायु के स्पर्श से सुखस्पर्शा, घृष्टचन्दनानुलिप्त पाणिसरोज शालिनी एवं चन्दनार्द्रस्तनतटा प्रिय कामिनियों द्वारा प्रदत्त शीतल स्पर्श दाह, वेदना और थकावट को मिटा देता है। **दाह शामक लेप**—वातरक्त में लालिमा, वेदना और दाह हो, तो रक्त का मोक्षण कराकर मुलहठी, पीपर की छाल, जटामांसी, क्षीरकाकोली, गूलर की छाल और हरी दूब पीसकर लेप करें। २. अथवा मुलहठी चूर्ण, जौ का आटा, दूध और घी मिलाकर लेप करें या ३. जीवनीय घृत का लेप करें या ४. तिलादि लेप लगाना चाहिए। इसी प्रकार ५. प्रपौण्डरीकादि लेप लगायें। उक्त शीतल लेप रक्त एवं पित्त प्रधान वातरक्त में उपयोगी हैं।	**उपचार**—यदि वायु मल से आवृत हो, तो स्नेहयुक्त विरेचनों के प्रयोग से बार-बार विरेचन कराना चाहिए। या घृत मिलाकर क्षीरबस्ति देकर दोषानुलोमन करें। **बस्ति के समान वातरक्त की दूसरी चिकित्सा नहीं है।** बस्ति, वंक्षण, पार्श्व, ऊरु, पर्व, अस्थि एवं उदर में वेदना हो या उदावर्त हो, तो अनुवासन के साथ निरूहबस्ति का प्रयोग करें। **वातरक्त की चिकित्सा में विशेष निर्देश**—तर्क-वितर्क और कल्पना करने में दक्ष चिकित्सक को चाहिए कि वातरक्त के आक्रान्त स्थान और प्रमुख दोष के बलाबल की समीक्षा कर यथोचित उपचार करे। **उपद्रव**—उपद्रव होने पर जैसा रोग हो उसकी अपनी स्वयं की चिकित्सा करनी चाहिए। **पाक होने पर**—व्रणवत् भेदन, शोधन एवं रोपण उपचार करना चाहिए।

चिकित्सा सूत्र (संक्षिप्त चिकित्सा)	पथ्य
वातप्रधान वातरक्त में उपनाह—१. वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ में दूध में पकायी गयी घृतयुक्त मूँग की खीर या २. सरसों पीसकर उससे उपनाह (पुल्टिस) बाँधने से वातरक्त की वेदना शान्त हो जाती है। **स्तब्धता, वेदना, तनाव और शोथ में**—जलेचर, प्रतुद और आनूप जीवों के निरस्थि मांस को उबाल कर पीपर, मरिच, गुड़, घी तथा जीवनीय गण की औषधों का कल्क एवं घी-तैल-वसा-मज्जा, इनका यथा योग्य स्नेह डालकर पुल्टिस बाँधें या २. जीवनीयगण की दश औषधियों के कल्क में दूध और वसा मिलाकर पुल्टिस बाँधें। **दाह में**—१. कटसरैया के मूल तथा जीवन्ती को बकरी के दूध में पीसकर घी मिलाकर लेप करें या २. तिल को भूनकर बकरी के दूध में भिगोकर फिर दूध में पीसकर लेप करना चाहिए। **वातरक्त में वाताधिक्यजन्य शूल में**—१. बकरी के दूध में पिसी तीसी या २. बकरी के दूध में पिसी रेड़ी की गुद्दी या ३. बकरी के दूध में पिसी सौंफ का लेप करना चाहिए। **सन्धिगत वात में पीड़ा, सन्धिच्युक्ति, सन्धिभग्न, खञ्ज और पङ्गुता में**—'मधुच्छिष्ट प्रलेप' लगाना चाहिए। **कफज वातरक्त में**—शोथ, गुरुता और खुजली हो तो १. गोमूत्र, क्षारोदक और मदिरा से सिद्ध घृत का लेप करना चाहिए तथा २. पद्मकादि घृत का परिसेचन और अभ्यंग करना चाहिए। ३. क्षार, मरिच, गोमूत्र और जल डालकर सिद्ध किये गये तैल से परिसेचन करना चाहिए। तथा ४. सर्षपादि लेप एवं ५. कपित्थादि लेप लगाना चाहिए। **वात-कफप्रधान वातरक्त में**—शूल होने पर १. गृहधूमादि, २. तगरादि तथा ३. शिग्रु (सहिजन) बीज का लेप लगाकर काञ्जी से परिसेचन करना चाहिए। **त्रिदोषज वातरक्त में शूल होने पर**—त्रिफलादि कल्क का आभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिए। **प्रवृद्ध कफ एवं मेद से वायु के मार्ग का संरोध** होने पर स्नेहन एवं वृंहण उपचार नहीं करें, अपितु व्यायाम, शोधन, अरिष्टपान, विरेचन-प्रयोग, तक्र-सेवन और हर्रे के प्रयोग से कफ और मेद को कम करना चाहिए। **पीपल की छाल** का क्वाथ पीने से त्रिदोषज वातरक्त भी शान्त हो जाता है। इसी प्रकार गुरुच का स्वरस या क्वाथ भी वातरक्त की प्रधान औषध है। आसव, अरिष्ट, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गुग्गुलु और मधु श्रेष्ठ वातरक्तनाशक औषधें हैं। इनका प्रयोग यथायोग्य करना चाहिए।	

अथ त्रिंशोऽध्यायः

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब यहाँ से (हम) 'योनिव्यापच्चिकित्सित' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥ १॥

इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ २॥

ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ २॥

उपक्रम—इसके पूर्व के दो अध्यायों में वातप्रधान रोगों का वर्णन किया गया है, किन्तु वह सम्पूर्ण नहीं है, क्योंकि स्त्रियों को होने वाले योनिरोगों का भी प्रमुख कारण वात ही होता है—'नहि वातादृते योनिर्नारीणां सम्प्रदूष्यति' अर्थात् बिना वातप्रकोप के स्त्रियों की योनि में दूषण नहीं उत्पन्न होता है। अतः योनि रोगों का वर्णन करने के लिए वातव्याधियों के अनन्तर इस अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है।

दिव्यतीर्थौषधिमतश्चित्रधातुशिलावतः। पुण्ये हिमवतः पार्श्वे सुरसिद्धर्षिसेविते॥ ३॥
विहरन्तं तपोयोगात् तत्त्वज्ञानार्थदर्शिनम्। पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽनु पृष्टवान्॥ ४॥

आत्रेय पुनर्वसु से अग्निवेश का प्रश्न—जिस हिमगिरि की उपत्यकाओं और अधित्यकाओं में अनेक दिव्य तीर्थ (गंगोत्री आदि) और दिव्य औषधियाँ हैं, जहाँ चित्र-विचित्र नानावर्ण की धातुएँ और शिलाजीत की शिलाएँ तथा नाना प्रकार के शिलाखण्ड हैं, उस हिमालय की पार्श्वभूमि में देवता, सिद्ध एवं ऋषि-महर्षियों का निवास है। ऐसे पवित्र स्थान में जब अपने अलौकिक तपस्तेज से सम्पन्न यथार्थदर्शी जितात्मा भगवान् पुनर्वसु विहार कर रहे थे, तब शिष्य अग्निवेश ने उनसे पूछा॥ ३-४॥

भगवन्! यदपत्यानां मूलं नार्यः परं नृणाम्। तद्विघातो गदैश्चासां क्रियते योनिमाश्रितैः॥ ५॥
तस्मात्तेषां समुत्पत्तिमुत्पन्नानां च लक्षणम्। सौषधं श्रोतुमिच्छामि प्रजानुग्रहकाम्यया॥ ६॥

अग्निवेश का योनिरोग सम्बन्धी प्रश्न—भगवन्! मानव-सन्तति की उत्पत्ति में सर्वप्रधान मूल कारण स्त्रियाँ हैं। जब स्त्रियों की योनि में रोग होते हैं, तो उनके कारण सन्तानोत्पत्ति में बाधा उत्पन्न हो जाती है और रुग्ण योनि सन्तान नहीं उत्पन्न कर पाती। इसलिए उन योनिरोगों का कारण और उत्पन्न होने पर होने वाले लक्षण तथा उनकी चिकित्सा, यह सब मैं सुनना चाहता हूँ जिससे सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी बाधाओं का निराकरण किया जा सके और जनकल्याण होता रहे॥ ५-६॥

इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः। विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे॥ ७॥
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च। जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्॥ ८॥

आचार्य पुनर्वसु का उत्तर—इस प्रकार शिष्य अग्निवेश के द्वारा पूछे जाने पर ऋषिप्रवर आत्रेय पुनर्वसु ने कहा कि रोगसंग्रह अध्याय (च.सू. १९) में योनि में होने वाले २० प्रकार के रोग बतलाये गये हैं। जब स्त्रियाँ अनियमित रूप से आहार-विहार करती हैं तब या आर्तव के दोष के कारण अथवा बीज (शुक्र-शोणितसंयोग) दोष से या भाग्य के अनुकूल न होने से ये योनिरोग उत्पन्न होते हैं। आगे उन रोगों के विषय में किये जाने वाले अलग-अलग उपदेशों को सुनिये॥ ७-८॥

वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः। विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम्॥ ९॥
स्तम्भं पिपीलिकासुप्तिमिव कर्कशतां तथा। करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान्॥
सा स्यात् सशब्दरुक्फेनतनूरूक्षार्तवाऽनिलात्।

वातला योनि का लक्षण—(१) वातप्रकृति वाली स्त्री जब वातवर्धक आहार-विहार करती है, तब बढ़ा हुआ वायु योनिप्रदेश में आकर सूई चुभाने जैसी पीड़ा, वेदना, स्तब्धता, शरीर में चींटी के रेंगने जैसी प्रतीति होना, कर्कशता, सूनापन और थकावट तथा अन्य वातज लक्षणों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार वात से पीड़ित योनि से शब्द के साथ पीड़ायुक्त, फेनयुक्त, पतला और रूक्ष आर्तव का स्राव होता है॥ ९-१०॥

व्यापत्कट्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत्॥ ११॥
दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा। भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता॥

पित्तला योनि का लक्षण—(२) कटु, अम्ल, लवण तथा क्षार के योगवाले पदार्थों का अधिक सेवन करने से योनि पित्तदोष से दूषित हो जाती है, जिससे दाह, पाक और उष्णता होती है, रोगिणी को ज्वर हो जाता है और योनि से नील, पीत या कृष्ण वर्ण का आर्तवस्राव होता है, जो बहुत उष्ण तथा सड़े हुए मुर्दे की गन्धवाला होता है॥ ११-१२॥

कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद्दूषयेत् स्त्रियाः।
स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डूग्रस्तामल्पयवेदनाम्॥ १३॥
पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनीम्।

कफजा योनि का लक्षण—(३) जो स्त्री दही आदि अभिष्यन्दी पदार्थों का अधिक सेवन करती है, उसका बढ़ा हुआ कफ यदि उसकी योनि को दूषित कर देता है, तो वह पिच्छिल, शीत, खुजलीयुक्त और अल्प पीड़ायुक्त हो जाती है तथा योनि से पाण्डुवर्ण का पिच्छिल आर्तवस्राव होता है और रोगिणी का देह पीला पड़ जाता है॥ १३॥

समश्नन्त्या रसान् सर्वान् दूषयित्वा त्रयो मलाः। १४॥
योनिगर्भाशयस्थाः स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः। सा भवेद्दाहशूलार्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी॥

त्रिदोषजा योनि का लक्षण—(४) जो स्त्री हित-अहित का विचार न कर सभी रसों से युक्त पदार्थों का अधिक सेवन करती है, उसके तीनों दोष प्रकुपित होकर योनि तथा गर्भाशय में जाकर अपने लक्षण प्रकट करते हैं। उसकी योनि दाह और शूल से व्याकुल रहती है और उससे श्वेत वर्ण का पिच्छिल स्राव होने लगता है॥ १४-१५॥

रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम्। अतिप्रवर्तते योन्यां लब्धे गर्भेऽपि सासृजा[1]॥ १६॥

रक्तजा योनि का लक्षण—(५) जब कोई स्त्री रक्त एवं पित्त को बढ़ाने वाले आहार-विहार का सेवन करती है, तो उसका पित्त दूषित होकर रक्त को भी दूषित बना देता है, जिससे स्त्री के गर्भवती होने पर भी योनि से अधिक रक्तस्राव होता है; उसे 'रक्तजा' योनिव्यापत् कहते हैं॥ १६॥

योनिगर्भाशयस्थं चेत् पित्तं सन्दूषयेदसृक्। साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम्॥ १७॥

अरजस्का योनि का लक्षण—(६) जब स्त्री की योनि एवं गर्भाशय में स्थित पित्त रक्त को दूषित कर देता है, तो स्त्री को रजोधर्म नहीं होता और वह दुबली-पतली तथा विकृत वर्ण वाली हो जाती है; उसे 'अरजस्का' कहते हैं॥ १७॥

योन्यामधावनात्कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः। सा स्यादचरणा कण्ड्वा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी॥

१. ये तु 'साप्रजा' इति पठन्ति, ते यस्यां लब्धेऽपि गर्भे असृगति प्रवर्तते, सा तादृशरक्तस्रुत्या अप्रजा भवति; इयं च रक्तयोनिरुच्यते। (चक्रपाणि टीका)

अचरणा योनि का लक्षण—(७) जब स्त्री जल आदि से अपनी योनि का प्रक्षालन नहीं करती है, तो उसमें कृमियाँ पड़ जाती हैं, जिससे योनि में खुजली होने लगती है, जिसकी शान्ति के लिए वह स्त्री अधिक सम्भोग चाहने लगती है; इसे 'अचरणा' योनि कहते हैं। १८॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने (सु.उ. ३८) अचरणा के लक्षण में कहा है कि मैथुन करते समय पुरुष के पूर्व ही योनि का स्खलित होना अचरणा है; यथा—'मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते'। इसकी टीका में मधुकोषकार ने 'अचरणा सम्यङ्मैथुनाचरणात् पूर्वं प्रथमं पुरुषादतिरिच्यते–यावत्पुरुषस्तु सुखं नाप्नोति तावदसौ विरमति, तेन बीजं न गृह्णाति। अत्राचरणाशब्देनोपचारात्तद्वती स्त्री भण्यते' यह कहा है तथा **वाग्भट** ने अचरणा के ही समान लक्षण वाली 'विप्लुता' का वर्णन किया है। इस रोग के लक्षण आधुनिक भगकण्डू (Pruritis of vulva) से मिलते-जुलते हैं।

पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः। करोति कुपितो योनौ सा चात्तिचरणा मता॥ १९॥

अतिचरणा योनि का लक्षण—(८) अतिमैथुन कराने से कुपित वायु स्त्री की योनि में शोथ, सुनापन और पीड़ा उत्पन्न कर देता है; इसे 'अतिरचरणा' कहते हैं॥ १९॥

वक्तव्य—सुश्रुत के अनुसार 'जो स्त्री अधिक मैथुन करने पर ही स्खलित हो, उसे अतिचरणा कहते हैं'। सुश्रुत के अनुसार अचरणा और अतिचरणा, ये दोनों गर्भधारण नहीं करती हैं—'तयोर्बीजं न विन्दति'। इसे आधुनिक परिभाषा में स्त्री-कामोन्माद (Nyphomania) कहते हैं।

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवंक्षणम्। रुजन् दूषयते योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा॥ २०॥

प्राक्चरणा योनि का लक्षण—(९) अतिबाला (अर्थात् १२ वर्ष की आयु के पहले ही) कन्या के साथ मैथुन करने से कुपित हुआ वायु उस कन्या के पृष्ठ, कटि, ऊरु और वंक्षण-प्रदेश में पीड़ा उत्पन्न करता है और योनि को दूषित कर देता है, इसे 'प्राक्चरणा' कहते हैं॥ २०॥

वक्तव्य—सामान्यतः १६ वर्ष तक की आयु वाली स्त्री को बाला कहा जाता है—'बालेति गीयते नारी यावद् वर्षाणि षोडश' इस दृष्टि से अतिबाला का अर्थ १२ वर्ष से कम समझना उचित है।

पाठ

गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दिनिःश्वासनिग्रहात्। वायुः क्रुद्धः कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत्॥
पाण्डुं सतोदमास्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम्। कफवातामयव्याप्ता सा स्याद्योनिरुपप्लुता॥२२॥

उपप्लुता योनि का लक्षण—(१०) जब गर्भिणी स्त्री कफवर्धक आहार-विहार का नित्य सेवन करती है तथा वमन एवं श्वास के वेगों को रोकती है, तो वेगावरोध के कारण वायु का प्रकोप हो जाता है और वह कुपित वायु बढ़े हुए कफ को योनि में ला देती है तथा योनि को भी दूषित कर देती है, जिससे योनि से सूई चुभाने जैसी पीड़ा के साथ पाण्डु या श्वेतवर्ण के कफ का स्राव होता है। रोगिणी कफ तथा वात से होने वाले अन्य रोगों से भी आक्रान्त हो जाती है; इसे उपप्लुता योनि कहते हैं॥ २१-२२॥

वक्तव्य—इसमें गर्भावस्था में योनि से श्लेष्मल आस्राव होता है। इसे श्वेतप्रदर एवं ल्यूकोरिया आफ प्रेगनेन्सी (Leucorrhoea of pregnancy) कह सकते हैं।

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्। पित्तसम्मूर्च्छितो वायुर्योनिं दूष्यति स्त्रियाः॥ २३॥
शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवेत्। श्रोणिवंक्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता॥ २४॥

परिप्लुता योनि का लक्षण—(११) यदि पित्तप्रकृति वाली स्त्री पुरुष के साथ सम्भोग करते समय छींक और डकार के वेगों को रोक लेती है, तब प्रकुपित पित्त से मिली हुई कुपित वायु स्त्री की योनि को दूषित कर देती है, जिससे योनि में शोथ हो जाता है और योनि किसी तरह के स्पर्श को नहीं सहन कर पाती है। योनि से नीला-पीला रक्तस्राव होने लगता है। रोगिणी के श्रोणिमण्डल, वंक्षणप्रदेश और पीठ में दर्द होता है और उसे ज्वर हो जाता है। इस स्थिति को 'परिप्लुतायोनि' कहते हैं॥ २३-२४॥

वक्तव्य—इस प्रकार की योनि में स्पर्शनाक्षमता हो जाती है। आधुनिक परिभाषा में इसे 'Dyspareunia' कहते हैं। सर्वतः पित्त तथा वायु से उपद्रुत होने के कारण इसे परिप्लुता कहते हैं।

वेगोदावर्तनाद् योनिमुदावर्तयतेऽनिलः। सा रुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्तं विमुञ्चति॥ २५॥
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्। रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः॥ २६॥

उदावर्तिनी योनि का लक्षण—(१२) वात-मूत्र-पुरीषादि वेगों के रोकने से वायु की गति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है और वह कुपित वायु योनि को ऊपर की ओर उठा देती है, जिससे योनि में अतिशय वेदना होती है तथा रजोधर्म के बहिर्गमनोन्मुख वेग को जब वायु प्रतिहत कर देती है, तो वह रज ऊपर उठकर बड़ी कठिनाई से बाहर निकल पाता है। रजःस्राव हो जाने पर रोगिणी तत्काल सुख का अनुभव करती है। रज ऊपर की ओर जाता है, इसलिए इसका नाम विद्वानों को उदावर्तिनी जानना चाहिए॥ २५-२६॥

वक्तव्य—सुश्रुत ने संक्षेप में लक्षण कहा है कि उदावर्तायोनि से झागदार रज का स्राव कठिनता से होता है। मधुकोषकार ने उदावर्ता की निरुक्ति इस प्रकार की है—'उदावर्तेति ऊर्ध्वमावर्तः समन्ताद्वर्तनं वायोर्यत्र सा तथेति, अर्श आदित्वादच्'। इस रोग का साम्य स्पैज्मोडिक डिस्मेनोरिया (Spasmodic dymenorrhoea) के साथ किया जा सकता है।

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः। कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः॥ २७॥
रक्तमार्गावरोधिन्या सा तया कर्णिनी मता।

कर्णिनी योनि का लक्षण—(१३) प्रसवकाल के पूर्व ही अर्थात् आवी (प्रसवपीड़ा) के प्रादुर्भाव न होने पर ही जो स्त्री गर्भ के शिशु को बाहर निकालने के लिए प्रवाहण करती है, तो वायु गर्भ के द्वारा मार्ग रुक जाने से एवं कफ तथा रक्त से घिरकर योनि में कर्णिका (अंकुर) उत्पन्न करती है, जो रक्त के मार्ग को रोकती है। इसे 'कर्णिनी योनि' कहते हैं॥ २७॥

वक्तव्य—श्लेष्मा तथा रक्त से सम्मूर्च्छित वायु योनि में मांसांकुर उत्पन्न करती है, जिससे रक्त के मार्ग का निरोध हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप कर्णिनी योनि की उत्पत्ति होती है।

रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत्॥ २८॥
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता।

पुत्रघ्नी योनि का लक्षण—(१४) जब रूक्ष आहार-विहार से शरीर में स्थित वायु की रूक्षता बढ़ जाती है, तो रूक्षता के कारण प्रकुपित वायु दूषित रज से उत्पन्न गर्भ को बार-बार नष्ट कर देती है। इसे 'पुत्रघ्नी' योनिव्यापत् कहते हैं॥ २८॥

वक्तव्य—रूक्ष वायु रज को भी दूषित कर देती है, इसलिए जब भी गर्भधारण होता है तभी गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता है। इस रोग की समानता आधुनिक विकृति हैबिचुअल एबार्शन (Habitual abortion) से की गयी है।

व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः॥ २९॥
वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः।
वक्रयत्याननं योन्याः साऽस्थिमांसानिलार्तिभिः॥ ३०॥
भृशार्तिर्मैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता।

अन्तर्मुखी योनि का लक्षण—(१५) जो स्त्री डटकर भोजन कर लेने के पश्चात् कामवासना से प्रेरित होकर अधोमुखी, पार्श्वमुखी या किसी अन्य प्रकार से विकृतरूप से शयन कर या अन्य अस्वाभाविक

रूप से मैथुन कराती है, तो अन्नाहार से पीड़ित योनिमार्ग में स्थित वायु योनि के मुख को टेढ़ा करके अन्तर्मुखी बना देती है, जिससे योनि के अस्थि और मांस में वातजन्य पीड़ा होती है और भयंकर वेदनायुक्त होने के कारण स्त्री मैथुन कराने में असमर्थ हो जाती है। इसे 'अन्तर्मुखी' कहते हैं॥ २९-३०॥

वक्तव्य—इसमें गर्भाशय का मुख भी टेढ़ा हो जाता है। इसमें योनि को झुकाकर हाथों से यथा स्थान पहुँचा दिया जाता है।

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद् वायुर्योनिं प्रदूषयन्॥ ३१॥
मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा।

सूचीमुखी योनि का लक्षण—(१६) जिस गर्भिणी स्त्री के गर्भ में कन्या सन्तति हो, वह यदि रूक्ष आहार-विहार करती है तो रूक्षता के कारण बढा हुआ वायु गर्भस्थ कन्या की योनि को सूई की नोक के समान सूक्ष्म मुखवाली बना देता है। इसे 'सूचीमुखी' योनिव्यापत् कहते हैं॥ ३१॥

वक्तव्य—इस रोग के परिणामस्वरूप उसकी युवावस्था आने पर वह मैथुन के योग्य नहीं होती और मासिकधर्म आने में भी कठिनाई होती है। इसमें शस्त्रकर्म के द्वारा गर्भाशय-मुख को चौड़ा किया जाता है।

व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान् प्रकुपितोऽनिलः॥ ३२॥
कुर्याद् विण्मूत्रसङ्गार्तिं शोषं योनिमुखस्य च।

शुष्का योनि का लक्षण—(१७) जो स्त्री मैथुन के समय मल-मूत्र आदि के वेगों को रोकती है, तब उसके वेग रोकने से प्रकुपित वायु मल-मूत्र के विसर्जन में रुकावट पैदा कर योनिमुख का शोषण कर देती है, जिसके कारण 'शुष्का' नामक योनिव्यापत् होती है॥ ३२॥

षडहात् सप्तरात्राद् वा शुक्रं गर्भाशयं गतम्॥ ३३॥
सरुजं नीरुजं वाऽपि या स्रवेत् सा तु वामिनी।

वामिनी योनि का लक्षण—(१८) मैथुन से गर्भाशय में स्थापित वीर्य को जो योनि छः या सात दिन पर पीड़ा के साथ या बिना किसी पीड़ा के बाहर निकाल देती है, उसे 'वामिनी' योनिव्यापत् कहते हैं॥ ३३॥

वक्तव्य—इसमें गर्भाशय-ग्रीवा या योनि में अवरोध होने के कारण शुक्र गर्भाशय में न जाकर बाहर निकल जाता है। योनि की इस दशा को वामिनी कहते हैं॥

बीजदोषात्तु गर्भस्थमारुतोपहताशया॥ ३४॥
नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा।

षण्ढी योनि का लक्षण—(१९) माता के रजोदोष तथा पिता के शुक्रदोष से प्रकुपित वायु, गर्भस्थ कन्या के गर्भाशय को नष्ट कर देती है, जिससे युवावस्था आने पर भी उसके स्तन नहीं उभड़ते या बहुत छोटे होते हैं और वह पुरुष-सम्भोग की इच्छा नहीं करती है। इसकी चिकित्सा नहीं की जा सकती। इसे 'षण्ढी' नामक योनिव्यापत् कहते हैं॥ ३४॥

वक्तव्य—'षण्ढी' स्त्री को रजोधर्म नहीं होता है। जब स्त्री-बीज में गर्भाशयोत्पादक बीजावयव नहीं होता, तो षण्ढी या बन्ध्या की उत्पत्ति होती है—'यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा बन्ध्यां जनयति' (च.शा. ४)। स्तन और गर्भाशय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बीजग्रन्थि के अन्तःस्राव का परिणाम स्तनों के विकास पर होता है। जब बीजग्रन्थियों का स्राव ठीक नहीं होता तो स्तन भी पूर्ण विकसित न होने से छोटे-छोटे रह जाते हैं। सहज दोष होने से इसे चरक ने असाध्य कहा है।

बन्ध्यत्व के कारण
(Causes of Sterility)

(१) **सहज** (Congenital)

(जननांगों की रचना सम्बन्धी विकृति या अनुपस्थिति)

बीजग्रन्थि	बीजवाहिनी	गर्भाशय	योनि	योनिमुख
(Ovaries)	(Fallopian tubes)	(Uterus)	(Vagina)	(Vulva)

(२) **जातोत्तर कालज** (Acquired)

रोग		शस्त्रकर्म	स्वाभाविक		विहार
स्थानीय	रजःस्रावी-ग्रन्थि सम्बन्धी	जननांगों को निकालना	स्वाभाविक	शिशु के दूध पिलाने का काल	
	बीजग्रन्थि सम्बन्धी	अन्य ग्रन्थियाँ जैसे पीटयुटरी	व्यवसाय	अतिमैथुन	भोजन / जलवायु
बीजग्रन्थि	बीजवाहिनी	योनि	श्रोणिगुहागत आवरण		

विषमं दुःखशय्यायां मैथुनात् कुपितोऽनिलः॥ ३५॥
गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः। असंवृतमुखी सार्ती रूक्षफेनास्रवाहिनी॥ ३६॥
मांसोत्पन्ना महायोनिः पर्ववंक्षणशूलिनी।

महायोनि का लक्षण—(२०) ऊँची-नीची बिछी शय्या (जिस पर आरामदायक गद्दे आदि न बिछे हों) जो सोने में कष्टकारक हो, उस पर सोकर सम्भोग कराने से प्रकुपित वायु स्त्री के गर्भाशय तथा योनि के मुख को स्तब्ध कर देती है, तब उनका मुख खुला ही रह जाता है। योनि में पीड़ा होती है और उससे रूक्ष, फेनयुक्त रक्त का स्राव होने लगता है। उस स्त्री की योनिद्वार का मांस (भगोष्ठ) बहुत उभरा होता है। उसकी सन्धियों में तथा वंक्षणप्रदेश में शूल होता है। इस स्थिति को 'महायोनिव्यापत्' कहते हैं॥ ३५-३६॥

इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतिर्योनिजा गदाः॥ ३७॥
न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता। तस्माद्गर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामयान् बहून्॥ ३८॥
गुल्मार्शःप्रदरादींश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम्।

योनिव्यापत् से हानि—इस प्रकार इन लक्षणों के द्वारा योनि में होने वाले बीस रोगों का वर्णन कर दिया गया। इन दोषों से युक्त योनि वीर्य को धारण नहीं कर पाती है, इसलिए वह गर्भ भी नहीं धारण कर पाती है। इन उपद्रवों के कारण उसे गुल्म, अर्श, प्रदर आदि रोग तथा वातादि दोषों से होने वाले अन्य अनेक रोगों से आक्रान्त होना पड़ जाता है॥ ३७-३८॥

वक्तव्य—सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने भी बीस योनिरोगों का उपदेश किया है। उनका सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए आगे सारणी दी जा रही है।

योनिरोग-सारणी

चरक	सुश्रुत	वाग्भट्ट
१. उदावर्तिनी	१. उदावर्ता	१. उदावर्ता
२. परिप्लुता	२. परिप्लुता	२. परिप्लुता
३. वामिनी	३. वामिनी	३. वामिनी
४. पुत्रघ्नी	४. पुत्रघ्नी	४. जातघ्नी
५. कर्णिनी	५. कर्णिनी	५. कर्णिनी
६. अचरणा	६. अचरणा	—
७. अतिचरणा	७. अतिचरणा	६. अतिचरणा
८. षण्ढी	८. षण्ढी	७. षण्ढी
९. महायोनि	९. विवृता	८. महायोनि
१०. सूचीमुखी	१०. संवृता	९. सूचीमुखी
११. वातजा	११. वातजा	१०. वातजा
१२. पित्तजा	१२. पित्तजा	११. पित्तजा
१३. कफजा	१३. कफजा	१२. कफजा
१४. सन्निपातजा	१४. सन्निपातजा	१३. सन्निपातजा
—	१५. वन्ध्या	—
—	१६. विप्लुता	१४. विलुप्ता
१५. असृजा	१७. लोहितक्षया	१५. लोहितक्षया
—	१८. प्रस्रंसिनी	—
—	१९. अत्यानन्दा	—
—	२०. फलिनी (अण्डली)	—
१६. अरजस्का	—	—
१७. प्राक्चरणा	—	१६. प्राक्चरणा
१८. उपप्लुता	—	१७. उपप्लुता
१९. अन्तर्मुखी	—	१८. अन्तर्मुखी
२०. शुष्का	—	१९. शुष्का
—	—	२०. रक्तयोनि

आसां षोडश यास्त्वन्त्या आद्ये द्वे पित्तदोषजे॥ ३९॥
परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मके मते। कर्णिन्युपप्लुते वातकफाच्छेषास्तु वातजाः॥ ४०॥
देहं वातादयस्तासां स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति हि।

योनिव्यापत् में दोषानुबन्ध—इन बीस प्रकार के योनिरोगों में (प्रथम ४ को छोड़कर) अन्त में जो १६ रोग बतलाये गये हैं, उनमें से आदि के दो रोग (असृजा और अरजस्का) पित्तदोष से उत्पन्न होते हैं। परिप्लुता और वामिनी वात-पित्त दोष से होते हैं, कर्णिनी तथा उपप्लुता ये दोनों वात एवं कफ से उत्पन्न होते हैं, बाकी जो १० रोग हैं वे वातज होते हैं। वात आदि दोष उन योनिव्यापदों के अपने-अपने लक्षणों से योनि को निश्चय ही पीड़ित करते हैं॥ ३९-४०॥

दोषानुसार योनिरोगबोधक सारणी

वातज	१. वातजा, २. उदावर्तिनी, ३. पुत्रघ्नी, ४. अचरणा, ५. अतिचरणा, ६. षण्ढी, ७. महायोनि, ८. सूचीमुखी, ९. प्राक्चरणा, १०. अन्तर्मुखी, ११. शुष्का
पित्तज	१. पित्तजा, २. असृजा, ३. अरजस्का
कफज	१. कफजा
वातपित्तज	१. परिप्लुता, २. वामिनी
वातकफज	१. कर्णिनी, २. उपप्लुता
सन्निपातज	१. सन्निपातजा

स्नेहनस्वेदबस्त्यादि वातजास्वनिलापहम्॥ ४१॥
कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च। श्लेष्मजासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः॥ ४२॥
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत्।

योनिरोगों का दोषानुसार सामान्य चिकित्सासूत्र—(१) वातज योनिरोगों में वातनाशक स्नेहन, स्वेदन और बस्ति आदि कर्म करना चाहिए। (२) पित्तज योनिरोगों में रक्तपित्तनाशक शीत उपचार करना चाहिए। इसी प्रकार (३) दक्ष चिकित्सक को कफज योनिरोग में रूक्ष एवं उष्ण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। (४) द्वन्द्वज योनिरोगों में जिन-जिन दोषों का संसर्ग हो, उन-उन दोषों को शान्त करने वाली मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए। (५) सन्निपातज योनिरोग में त्रिदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए॥ ४१-४२॥

स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्पुनः॥ ४३॥
पाणिना नामयेज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत् पुनः। प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत्॥ ४४॥
योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः।

विकृताङ्ग योनि का पुनः स्थापन—(१) यदि योनि अपने स्थान पर ठीक से स्थित नहीं है, तो उसे स्नेहन-स्वेदन करके पुनः अपने स्थान पर स्थापित करना चाहिए। (२) यदि योनि टेढ़ी हो गयी हो, तो उसे हाथ से नवाकर सीधी कर देना चाहिए। (३) यदि उसका मुख संकुचित हो गया हो, तो उसे बढ़ाना चाहिए। (४) यदि योनि अपने स्थान से बाहर निकल आयी हो तो उसे भीतर प्रविष्ट कराना चाहिए। (५) यदि योनि का मुख अधिक चौड़ा हो गया हो, तो उसको घुमाकर अल्प विवृत करना चाहिए। इन सभी विकृतियों को सावधानी से ठीक करना चाहिए। क्योंकि विकारग्रस्त योनि शल्य की तरह कष्टप्रद होती है॥ ४३-४४॥

सर्वां व्यापन्नयोनिं तु कर्मभिर्वमनादिभिः॥ ४५॥
मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत्। सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते॥ ४६॥

सभी योनिव्यापदों में संशोधन—सभी योनिरोगों में पहले स्नेहन-स्वेदन कर वमन आदि पञ्चकर्मों का प्रयोग करके संशोधन करना चाहिए। जब रोगिणी का संशोधन अच्छी तरह हो जाय तब अन्य प्रकार की चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिए॥ ४५-४६॥

वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम्। औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः॥ ४७॥

सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत्। अक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसङ्करैः॥४८॥
स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद्रसैः।

वातज योनिरोग चिकित्सासूत्र—वातज योनिरोगों में वातरोगनाशक चिकित्सा सदैव हितकर होती है। योनि के स्वेदन के लिए जलेचर या आनूप जीवों का मांस, तिल और चावल डालकर दूध में पकायी हुई खीर या वातघ्न औषधों के क्वाथ का वाष्प नाड़ीस्वेद अथवा कुम्भीस्वेद के द्वारा प्रयोग में लाना चाहिए। अथवा योनि को नमकमिश्रित तिलतैल से तर करके अश्मस्वेद, प्रस्तरस्वेद या संकरस्वेद विधि से स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन के पश्चात् सुखोष्ण जल से स्नान कराने के बाद वातनाशक मांसरसों के साथ भोजन कराना चाहिए॥४७-४८॥

बलाद्रोणद्वयक्वाथे घृततैलाढकं पचेत्॥४९॥
स्थिरापयस्याजीवन्तीवीरर्षभकजीवकैः। श्रावणीपिप्पलीमुद्गपीलुमाषाख्यपर्णिभिः॥५०॥
शर्कराक्षीरकाकोलीकाकनासाभिरेव च। पिष्टैश्चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं पेयं यथाबलम्॥५१॥
वातपित्तकृतान् रोगान् हत्वा गर्भं दधाति तत्।

बलादि यमक—बला का क्वाथ २ द्रोण, घी २ प्रस्थ, तिल का तैल २ प्रस्थ, गाय का दूध ४ आढक तथा निम्नलिखित द्रव्यों का कल्क—सरिवन, क्षीरविदारी, जीवन्ती, शतावर, ऋषभक, जीवक, गोरखमुण्डी, पीपर, मूँग, पीलु, माषपर्णी, चीनी, क्षीरकाकोली और काकनासा, इन सबका मिश्रित कल्क १ प्रस्थ इस यमक में मिलाकर विधिवत् पकाकर सिद्ध कर तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। रोगिणी के बल के अनुसार उचित मात्रा में सेवन करने से यह यमक वात-पित्तजन्य योनि रोगों को नष्ट कर योनि को गर्भ-धारण के योग्य बनाता है॥४९-५१॥

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दपरूषकैः ॥५२॥
पुनर्नवाद्विरजनीकाकनासासहाचरैः। शतावर्या गुडूच्याश्च प्रस्थमक्षसमैर्घृतात्॥५३॥
साधितं योनिवातघ्नं गर्भदं परमं पिबेत्।

काश्मर्यादि घृत—गम्भार की छाल, आँवला-हर्रा-बहेड़ा (तीनों निर्बीज) मुनक्का, कसौंदी, फालसा गदहपुर्ना, हल्दी, दारुहल्दी, काकनासा, कटसरैया, शतावर और गुरुच—इन प्रत्येक द्रव्य को १-१ कर्ष लेकर कल्क बनायें। उस कल्क में १ प्रस्थ घी और ४ प्रस्थ जल डालकर विधिवत् घृतपाक करे। तैयार करके छानकर सुरक्षित रख लें। इसके सेवन से वातज योनिविकार दूर होते हैं। गर्भ-धारण कराने वाला यह श्रेष्ठ घृत है॥५२-५३॥

पिप्पलीकुञ्चिकाजाजीवृषकं सैन्धवं वचाम्॥५४॥
यवक्षाराजमोदे च शर्करां चित्रकं तथा। पिष्ट्वा सर्पिषि भृष्टानि पाययेत प्रसन्नया॥५५॥
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ।

पिप्पल्यादि योग—पीपर, मँगरैला, जीरा, अरूस की पत्ती, सेंधानमक, बच, जवाखार, जवायन, चीनी और चित्रकमूल—इन सबको पीसकर, घी में भूनकर रख लें। मद्य के ऊपरी स्वच्छ भाग के अनुपान के साथ इसका उचित मात्रा में प्रयोग करने से योनिशूल, पार्श्वशूल, हृदयरोग, गुल्मरोग और अर्श को यह योग दूर करता है॥५४-५५॥

वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम्॥५६॥
पिबेत् सलवणैर्मद्यैः पिप्पलीकुञ्चिके तथा।

वृषकादि चूर्ण—(१) अरूस के पत्ते, बिजौरा नीबू का मूल और मेंहदी की पत्ती—इन सबको समान भाग लेकर बारीक चूर्ण बना लें। इसे उचित मात्रा में नमकमिश्रित मदिरा के साथ पिलाना चाहिए

अथवा (२) पीपर और मँगरैला के समभाग को लेकर चूर्ण बना लें और मदिरा में नमक मिलाकर इस चूर्ण के साथ पीना चाहिए। ये दोनों योग योनिशूल को दूर करते हैं॥५६॥

रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः पिबेच्छूले शृतं पयः॥५७॥

रास्नादि क्षीरपाक—रास्ना, गोखरू और अरूस की पत्ती—इन सबको समभाग लेकर कल्क कर क्षीरपाक-विधि से दूध पकाकर सेवन करे। यह योनिशूल को दूर करता है॥५७॥

गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचयेत्।

गुडूच्यादि क्वाथ—गुरुच, आँवला, हर्रा, बहेड़ा (तीनों निर्बीज) और दन्तीमूल—इनके समभाग का क्वाथ बनाकर उससे योनि का परिसेचन करना चाहिए। इससे योनिशूल नष्ट होता है।

सैन्धवं तगरं कुष्ठं बृहती देवदारु च॥५८॥
समांशैः साधितं कल्कैस्तैलं धार्यं रुजापहम्।

सैन्धवादि तैल—सेंधानमक, तगर, कूठ, बड़ी कटेरी और देवदारु—इन्हें समभाग लेकर कल्क बना लें और कल्क से चौगुना तिल का तैल तथा तैल से चौगुना जल डालकर विधिवत् तैलपाक करे। इस तैल में रूई या कपड़ा भिगोकर योनि में फाहा धारण करना चाहिए। इसके प्रयोग से योनिशूल नष्ट होता है॥५८॥

गुडूचीमालतीरास्नाबलामधुकचित्रकैः ॥५९॥
निदिग्धिकादेवदारुयूथिकाभिश्च कार्षिकैः। तैलप्रस्थं गवां मूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत्॥६०॥
वातार्तायाः पिचुं दद्याद् योनौ च प्रणयेत्ततः।

गुडूच्यादि तैल—गुरुच, मालती की पत्ती, रास्ना, बरियार का मूल, मुलहठी, चित्रकमूल, भटकटैया, देवदारु और जूही का फूल—प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर कल्क करे और तिल का तैल १ प्रस्थ, गोमूत्र २ प्रस्थ, गोदुग्ध २ प्रस्थ में डालकर विधिवत् तैलपाक करे। वातज योनिरोग से पीड़ित स्त्री को इस तैल में रूई या कपड़ा भिगोकर अपनी योनि में फाहा धारण करना चाहिए॥५९-६०॥

वातार्तानां च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः॥६१॥
(उष्णाः स्निग्धाः प्रकर्तव्यास्तैलानि स्नेहनानि च।)

वातज योनिरोग में स्नेह-प्रयोग—वातज योनिरोग से पीड़ित स्त्रियों का उष्ण एवं स्निग्ध स्वेदन तथा अभ्यंग करना चाहिए और वातघ्न तैलों का पिचु धारण करना चाहिए। वातनाशक तैलों के प्रयोग से रोगिणी का स्नेहन करना चाहिए॥६१॥

हिंस्राकल्कं तु वातार्ता कोष्णमभ्यज्य धारयेत्।
पञ्चवल्कस्य पित्तार्ता श्यामादीनां कफातुरा॥६२॥

योनिरोग में दोषानुसार उपचार—(१) वातज योनिरोग से पीड़ित स्त्री योनि में हंसपदी के मूल को धारण करने के पहले सुखोष्ण तैल की मालिश करे ले। (२) पित्तज योनि वाली रोगिणी स्त्री अपनी योनि में पञ्चवल्कल (वट-पीपर-पारसपीपर-पाकड़-गूलर) का कल्क धारण करे। (३) कफज योनिरोग से पीड़ित स्त्री काली निशोथ आदि (सफेद निशोथ, अमलतास, तिल्वक, सेहुँड़, सातला, यवतिक्त, दन्ती, द्रवन्ती (च.वि. ८।१३६) का कल्क योनि में धारण करे॥६२॥

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः। शीताः पित्तहराः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च॥
पित्तघ्नौषधसिद्धानि कार्याणि भिषजा तथा।

पित्तज योनिरोग चिकित्सासूत्र—पित्तज योनि रोगों में शीतल एवं पित्तनाशक परिसेचन, मालिश और पिचु (फाहा) धारण करना चाहिए। वैद्य को चाहिए कि वह पित्तनाशक औषधियों से सिद्ध किये हुए घृत का स्नेहनार्थ प्रयोग करे॥६३॥

शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः सम्प्रपीडयेत्॥ ६४॥
रसेन क्षीरतुल्येन पचेत्तेन घृताढकम्। जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः॥ ६५॥
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशैर्द्वियष्टिमधुकैर्भिषक्। सिद्धे शीते च मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम्॥
सितादशपलोन्मिश्राल्लिह्यात् पाणितलं ततः। योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं च तत्॥
क्षतं क्षयं रक्तपित्तं कासं श्वासं हलीमकम्। कामलां वातरक्तं च वीसर्पं हृच्छिरोग्रहम्॥ ६८॥
उन्मादारत्यपस्मारान् वातपित्तात्मकाञ्जयेत्।
इति बृहच्छतावरीघृतम्।

वृहत् शतावरी घृत : **घृत**—१ आढक (६४ पल); **द्रव**—४ तुला (४०० पल) शतावर का मूल लेकर कूटकर, पीसकर जितना रस निचोड़ा जा सके उतना रस लें। **गोदुग्ध**—शतावर के रस के बराबर वजन में लें। **कल्क द्रव्य**—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी, शतावर, मुनक्का, फालसा, चिरौंजी, मुलहठी और जल में होनेवाली मुलहठी, प्रत्येक १-१ कर्ष। **प्रक्षेपद्रव्य**—मधु ८ पल, पीपर का चूर्ण ८ पल, मिश्री या चीनी १० पल।

पहले शतावर के रस के साथ उक्त दूध, घी और कल्क द्रव्य मिलाकर विधिवत् घृतपाक करना चाहिए तथा तैयार होने पर छानकर शीतल कर लें, फिर प्रक्षेप द्रव्यों को डालकर अच्छी तरह मिलाकर सब एकरस कर लें। इस घी को १ कर्ष की मात्रा में दूध में मिलाकर सबेरे-शाम पीना चाहिए।

यह घृत योनिदोष, रक्तदोष (आर्तव विकार) और शुक्रदोषों को दूर करता है। यह पौरुषशक्ति को बढ़ाता है और पुत्रजनन-सामर्थ्य प्रदान करता है। यह घृत उरःक्षत, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, कास, श्वास, हलीमक, कामला, वातरक्त, वीसर्प, हृदयरोग, शिरोग्रह (शिर का जकड़ना), उन्माद, अरति (अन्यमनस्कता, बेचैनी), अपस्मार तथा अन्य वात-पित्तज रोगों को नष्ट करता है॥ ६४-६८॥

एवमेव क्षीरसर्पिर्जीवनीयोपसाधितम्॥ ६९॥
गर्भदं पित्तलानां च योनीनां स्याद् भिषग्जितम्।

जीवनीय क्षीरघृत—जीवनीय गण की दश (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलहठी) औषधियों के कल्क से क्षीरपाक-विधि से दूध पकाकर फिर उसकी दही जमाकर और साढ़ी को मथकर घी निकाले या बिना जमाये ही घी निकाल लें। यह घृत विधिपूर्वक सेवन करने से गर्भधारण कराता है। यह पित्तज योनिरोगों की उत्तम औषध है॥ ६९॥

योन्यां श्लेष्मप्रदुष्टायां वर्तिः संशोधनी हिता॥ ७०॥
वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता।

कफज योनिरोग में संशोधनी वर्ती—सूअर के पित्त में किसी कपड़े के टुकड़े को भिगोकर सुखा लें और ऐसा ८-१० बार करें। फिर उसमें से थोड़ा कपड़ा फाड़कर वर्ती बनाकर योनि में रखने से कफज योनि-विकार का शोधन हो जाता है॥ ७०॥

भावितं पयसाऽर्कस्य यवचूर्णं ससैन्धवम्॥ ७१॥
वर्तिः कृता मुहुर्धार्या ततः सेच्या सुखाम्बुना।

अर्कादि वर्ती—जौ के आटे में सेंधानमक मिलाकर, फिर उसमें मदार के दूध की भावना देकर कनिष्ठ अंगुली जितनी मोटी वर्ती बनायें। इस वर्ती को बार-बार धारण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि एक बार की धारण की हुई वर्ती अधिक समय तक नहीं रखनी चाहिए और १ घण्टे बाद निकाल कर सुखोष्ण जल से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए। ऐसा दिन में कई बार करना चाहिए॥ ७१॥

पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः॥ ७२॥
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधनी।

पिप्पल्यादि वर्ती—पीपर, मरिच, उड़द, सौंफ, कूठ और सेंधानमक को समभाग लेकर पीसकर प्रदेशिनी अंगुली जितनी मोटी और लम्बी वर्ती बनाकर योनि में धारण करें तथा उसके निकालने के बाद सुखोष्ण जल से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए। ये वर्ती योनि का विशोधन करती है॥ ७२॥

उदुम्बरशलाटूनां द्रोणमद्रोणसंयुतम्॥ ७३॥
सपञ्चवल्ककुलकमालतीनिम्बपल्लवम्। निशां स्थाप्य जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत्॥ ७४॥
लाक्षाधवपलाशत्वङ्निर्यासैः शाल्मलेन च। पिष्टैः सिद्धस्य तैलस्य पिचुं योनौ निधापयेत्॥
सशर्करैः कषायैश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम्। पिच्छिला विवृता कालदुष्टा योनिश्च दारुणा॥
सप्ताहाच्छुद्धयति क्षिप्रमपत्यं चापि विन्दति।

उदुम्बरादि तैल—गूलर के कच्चे फल, पञ्चवल्कल (बट-पीपर-पारसपीपल-पाकड़-गूलर) की छाल, परवर के पत्ते, मालती के पत्ते और नीम के पत्ते, सभी को समभाग में लें जिससे कुल मिलाकर १ द्रोण द्रव्य हो जाये। इन द्रव्यों को धोकर, सुखाकर मोटा भूसा की तरह कूटकर १ द्रोण जल में रात भर भिगो दें और सबेरे मसलकर छान लें। उस जल में १ प्रस्थ तिल का तैल तथा लाही, धव का फूल, पलास की छाल एवं गोंद और सेमर की छाल—इन सबका मिलित कल्क $\frac{1}{4}$ प्रस्थ डालकर विधिवत् तैलपाक करें। तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इस तैल में फाहा डुबाकर योनि में धारण करना चाहिए। उदुम्बर के कच्चे फल आदि के क्वाथ में चीनी मिलाकर ठण्डाकर उससे योनि का प्रक्षालन करना चाहिए। इस तैल के पिचु-धारण तथा उक्त क्वाथ के प्रक्षालन से योनि की पिच्छिलता, विवृतता और भयंकर रूप से चिरकालानुबन्धी योनिविकार एक सप्ताह में शुद्ध हो जाते हैं तथा स्त्री शीघ्र ही सन्तानवती भी हो जाती है॥ ७३-७६॥

उदुम्बरस्य दुग्धेन षट्कृत्वो भावितात्तिलात्॥ ७७॥
तैलं क्वाथेन तस्यैव सिद्धं धार्यं च पूर्ववत्।

उदुम्बर तैल—काले तिल में ६ बार गूलर के दूध की भावना देकर फिर उसका तैल निकलवा लें। उस तैल के वजन से चौगुने वजन में गूलर का क्वाथ डालकर विधिवत् तैलपाक करें और तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इस तैल का फाहा योनि में धारण करें तथा गूलर के क्वाथ से योनि का प्रक्षालन करें। इसके प्रयोग से पिच्छिला, विवृता तथा चिरकाल दूषिता योनि नीरोग हो जाती है॥ ७७॥

धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः ॥ ७८॥
जम्ब्वाम्रमध्यकासीसलोध्रकट्फलतिन्दुकैः। सौराष्ट्रिकादाडिमत्वग्गुदुम्बरशलाटुभिः॥ ७९॥
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत्। तैलप्रस्थं पिचुं दद्याद् योनौ च प्रणयेत्ततः॥ ८०॥
कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गं स्नेहबस्तिं च दापयेत्। पिच्छिला ह्राविणी योनिर्विप्लुतोपप्लुता तथा॥
उत्ताना चोन्नता शून्या सिध्येत् सस्फोटशूलिनी।

धातक्यादि तैल—धाय का फूल, आँवला, तेजपात, काला सुरमा, मुलहठी, नीलकमल, जामुन की गुठली की मींगी, आम की गुठली की मींगी, कासीस, लोध, कायफल, तेंदू की छाल, फिटकिरी, अनार की छाल और कच्चे गूलर के फल—इन सबको १-१ कर्ष की मात्रा में लेकर कल्क कर लें। इस कल्क को १ प्रस्थ तिल के तैल, २ प्रस्थ बकरी के मूत्र और २ प्रस्थ बकरी के दूध में इकट्ठा डालकर विधिवत् तैलपाक कर लें तथा तैयार होने पर छानकर सुरक्षित रख लें। इस तैल का फाहा योनि में रखना चाहिए। इस तैल से कटिप्रदेश, पीठ और त्रिकप्रदेश में मालिश करनी चाहिए तथा अनुवासनबस्ति देनी

चाहिए। इस तैल के प्रयोग से पिच्छिला, स्रावणी, विप्लुता, उपप्लुता, उत्ताना (अन्तर्मुखी), उन्नता (सूचीमुखी), शूना (शोथयुक्त), फोड़े-फुंसी से युक्त योनि और शूलयुक्त योनि में आरोग्य-लाभ होता है॥ ७८-८१॥

करीरधवनिम्बार्कवेणुकोशाम्रजाम्बवैः ॥ ८२॥
जिङ्गिनीवृषमूलानां क्वाथैर्माद्वीकसीधुभिः। सशुक्तैर्धावनं मिश्रैर्योन्यास्रावविनाशनम्॥ ८३॥
कुर्यात् सतक्रगोमूत्रशुक्तैर्वा त्रिफलारसैः।

करीरादि क्वाथ—करीर, धव, नीम, मदार के फूल, बाँस के पत्ते, जंगली लिटिहवा आम की छाल, जामुन की छाल, मजीठ, अरूस का मूल—इनके क्वाथ में मुनक्के से बनी मदिरा और गन्ने के रस का सिरका और शुक्त मिलाकर योनि का प्रक्षालन करने से योनि का स्राव बन्द हो जाता है; अथवा त्रिफला के क्वाथ में मट्ठा, गोमूत्र और शुक्त मिलाकर योनि का प्रक्षालन करने से योनि से निकलने वाला स्राव बन्द हो जाता है॥ ८२-८३॥

पिप्पल्ययोरजःपथ्याप्रयोगा मधुना हिताः॥ ८४॥

पिप्पल्यादि चूर्ण—पीपर का चूर्ण, लौहभस्म और हरीतकी चूर्ण—इनके योग को मधु के साथ सेवन करना योनिस्राव में लाभप्रद है॥ ८४॥

वक्तव्य—इस योग में पीपर चूर्ण ½ ग्राम, हर्रे का चूर्ण २ ग्राम और लौह भस्म १-२ रत्ती प्रतिमात्रा प्रातः एवं सायं लेनी चाहिए।

श्लेष्मलानां कटुप्रायाः समूत्रा बस्तयो हिताः। पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः॥ ८५॥
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं हितम्।

दोषानुसार उत्तरबस्ति—(१) कफज योनिरोग में कटुरस द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर उत्तरबस्ति देनी चाहिए। (२) पित्तप्रधान योनिरोग में मधुर रस वाले द्रव्यों के क्वाथ में दूध मिलाकर उत्तरबस्ति देनी चाहिए। (३) वातप्रधान योनिरोग में खट्टे पदार्थों से निर्मित क्वाथ में तैल मिलाकर उत्तरबस्ति देनी चाहिए और (४) सन्निपातज योनिरोग में तीनों दोषों में अलग-अलग जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उन सबका एक योग बनाकर उत्तरबस्ति देनी चाहिए॥ ८५॥

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च॥ ८६॥
ततः कुर्याद् यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम्।

रक्तयोनि का चिकित्सासूत्र—रक्तयोनि रोग में आने वाले रक्त के वर्ण को देखकर उसके अनुसार दोष का सम्बन्ध देख-समझकर तदनुसार रक्तस्थापन चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८६॥

तिलचूर्णं दधि घृतं फाणितं शौकरी वसा॥ ८७॥
क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम्। वराहस्य रसो मेद्यः सकौलत्थोऽनिलाधिके॥ ८८॥
शर्कराक्षौद्रयष्ट्याह्वनागरैर्वा युतं दधि।

वातज प्रदर चिकित्सा—(१) वातप्रधान प्रदर रोग में तिल का चूर्ण मधु से या दही में मधु मिलाकर या विषम मात्रा में घी में मधु मिलाकर या राब और मधु या सूअर की चर्बी मधु से सेवन करना चाहिए। (२) कुलथी के यूष मे चर्बी सहित पकाया हुआ सूअर का मांसरस देना चाहिए अथवा (३) चीनी, मधु, मुलहठी और सोंठ का चूर्ण मिलाकर दही खिलाने से वातज प्रदर ठीक हो जाता है॥ ८७-८८॥

पयस्योत्पलशालूकबिसकालीयकाम्बुदम् ॥ ८९॥
सपयःशर्कराक्षौद्रं पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत्।

पित्तज प्रदर में पयस्या योग—पित्तप्रधान रक्तप्रदर में क्षीरविदारी, नीलकमल, कमलकन्द, कमल की नाल, पीतचन्दन और नागरमोथा का चूर्ण दूध-चीनी तथा मधु मिलाकर उचित मात्रा में पीना चाहिए॥ ८९॥

पाठा जम्ब्वाम्रयोर्मध्यं शिलोद्भेदं रसाञ्जनम्॥ ९०॥
अम्बष्ठा शाल्मलीश्लेष्मं समङ्गां वत्सकत्वचम्। बाह्लीकातिविषे बिल्वं मुस्तं लोध्रं सगैरिकम्॥
कट्वङ्गं मरिचं शुण्ठीं मृद्वीकां रक्तचन्दनम्। कट्फलं बलकाक्तान्ताधातकीमधुकार्जुनम्॥ ९२॥
पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। तानि क्षौद्रेण संयोज्य पिबेत्तण्डुलवारिणा॥ ९३॥
अर्शःसु चातिसारेषु रक्तं यच्चोपवेश्यते। दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत्॥ ९४॥
योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम्। स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्य विनिवर्तयेत्॥ ९५॥
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम्।

इति पुष्यानुगचूर्णम्।

पुष्यानुग चूर्ण—पाठा, जामुन और आम की गुठली की मींगी, पाषाणभेद, रसौंत, अम्बष्ठा (पाठा), मोचरस, मजीठ, कोरया की छाल, नागकेशर, अतीस, बेलसोंठ, नागरमोथा, लोध, गेरू, सोनापाठा की छाल, मरिच, सोंठ, मुनक्का, लालचन्दन, कायफल, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, धाय का फूल, मुलहठी और अर्जुन की छाल—इन सबको पुष्य नक्षत्र में समभाग में संग्रह करके बारीक चूर्ण बनवा लेना चाहिए। इस चूर्ण को मधु मिलाकर २-३ ग्राम की मात्रा में प्रतिदिन २-३ बार लेना चाहिए और बाद में चावल का धोवन आधा गिलास पीना चाहिए।

प्रयोग—यह चूर्ण सभी तरह के अर्शों में, अतिसारों में तथा जिन रोगों में मल के साथ रक्त आता है, उन (प्रवाहिका आदि) रोगों में, बच्चों को होने वाले दोषज या आगन्तुज उदररोगों में प्रयोग करने से उन्हें नष्ट करता है। यह चूर्ण योनिदोष, रजोदोष, योनि से होने वाले श्वेत, नील, पीत, रक्त तथा श्याव वर्ण के स्रावों को हठपूर्वक दूर करता है। इस अति हितकारी चूर्ण की प्रशंसा महर्षि आत्रेय ने की है। यह सभी रक्तस्रावी रोगों में उपयोगी है॥ ९०-९५॥

तण्डुलीयकमूलं तु सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना॥ ९६॥
रसाञ्जनं च लाक्षां च छागेन पयसा पिबेत्। पत्रकल्कौ घृते भृष्टौ राजादनकपित्थयोः॥ ९७॥
पित्तानिलहरौ, पैत्ते सर्वथैवाम्रपित्तजित्। मधुकं त्रिफलां लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिकां मधु॥ ९८॥
मद्यैर्निम्बगुडूच्यौ वा कफजेऽसृग्दरे पिबेत्।

प्रदरनाशक योग—(१) चौलाई के मूल का कल्क मधु मिलाकर चावल के धोवन से पीना चाहिए। (२) रसौंत को पीसकर बकरी के दूध के साथ सेवन करें। (३) लाही के चूर्ण को बकरी के दूध के साथ सेवन करें। (४) पित्त तथा वातजन्य प्रदर को दूर करने के लिए खिरनी और कैथ की पत्तियों को पीसकर घी में भूनकर सेवन करना चाहिए। (५) पित्तज प्रदर में मुलहठी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, लोध, नागरमोथा और शुद्ध फिटकिरी के समभाग चूर्ण को १ ग्राम की मात्रा में मधु मिलाकर सेवन करने से रक्त तथा पित्तजन्य दोष नष्ट हो जाते हैं। (६) कफज रक्तप्रदर में नीम की पत्ती और गुरुच का कल्क बनाकर मदिरा के साथ पीना चाहिए॥ ९६-९८॥

वक्तव्य—इन योगों में १-३ के योग सामान्यतः सर्वविध योनिस्रावनाशक हैं। ४-५ ये दो योग 'परिप्लुता' योनिनाशक हैं और छठा योग श्वेतप्रदर या 'उपप्लुता' योनिविकारनाशक हैं।

विरेचनं महातिक्तं पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत्॥ ९९॥
हितं गर्भपरिस्रावे यच्चोक्तं तच्च कारयेत्।

पैत्तिक प्रदर में विरेचन प्रयोग—पित्तज रक्तप्रदर में विरेचन कराने के लिए 'महातिक्त घृत' (च.चि. ७।१४४-१५०) का प्रयोग करना चाहिए तथा गर्भस्राव के उपचारार्थ जो औषध या आहार-विहार (च.शा. ८।२४ में) बतलाये गये हैं, उनका प्रयोग करना चाहिए॥ ९९॥

काश्मर्यकुटजक्वाथसिद्धमुत्तरबस्तिना ॥ १००॥
रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम्।

रक्तयोनि, अरजस्का और पुत्रघ्नी की चिकित्सा—गम्भार की छाल और कुटज की छाल के क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत की उत्तरबस्ति देना रक्तयोनि, अरजस्का और पुत्रघ्नी, इन योनि रोगों में लाभप्रद है॥ १००॥

मृगाजाविवराहासृग्दध्यम्लफलसर्पिषा ॥ १०१॥
अरजस्का पिबेत् सिद्धं जीवनीयैः पयोऽपि वा।

अरजस्का की विशिष्ट चिकित्सा—(१) जो स्त्री 'अरजस्का' योनिरोग से पीड़ित हो उसे मृग, बकरी, भेंड़ या सुअर के रक्त में दही, खट्टे अनार का रस और घी मिलाकर पीना चाहिए अथवा (२) जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध किये (क्षीरपाक-विधि से) दूध का पान करना चाहिए॥ १०१॥

कर्णिन्यचरणाशुष्कयोनिप्राक्चरणासु च॥ १०२॥
कफवाते च दातव्यं तैलमुत्तरबस्तिना।

योनि रोगों में तैल की उत्तरबस्ति—कर्णिनी, अचरणा, शुष्कयोनि और प्राक्चरणा—इन योनि रोगों में एवं कफ-वातज योनि रोगों में जीवनीय गण की औषधियों से पकाये हुए तैल की उत्तरबस्ति देनी चाहिए॥ १०२॥

गोपित्ते मत्स्यपित्ते वा क्षौमं त्रिःसप्तभावितम्॥ १०३॥
मधुना किण्वचूर्णं वा दद्यादचरणापहम्। स्रोतसां शोधनं कण्डूक्लेदशोफहरं च तत्॥ १०४॥

अचरणा योनि में उपचार—किसी रेशमी वस्त्र-खण्ड को (या मुलायम कपड़े को) गाय या मछली के पित्त में २१ बार भावना देकर, सुखाकर इसकी बत्ती बनाकर योनि में रखने के लिए देनी चाहिए अथवा सुराकिट्ट के चूर्ण को मधु में मिलाकर बत्ती बनाकर योनि में रखना चाहिए। इससे 'अचरणा' रोग नष्ट हो जाता है। यह बत्ती आर्तववाही स्रोतस का शोधन तथा योनिकण्डू, योनिक्लेद और योनिशोथ को दूर करती है॥ १०३-१०४॥

वातघ्नैः शतपाकैश्च तैलैः प्रागतिचारिणी। आस्थाप्या चानुवास्या च स्वेद्या चानिलसूदनैः॥
स्नेहद्रव्यैस्तथाऽऽहारैरुपनाहैश्च युक्तितः।

प्राक्चरणा तथा अतिचरणा योनि की चिकित्सा—प्राक्चरणा तथा अतिचरणा इन दोनों योनि रोगों में स्त्री की योनि में वातनाशक औषधियों का कल्क तथा क्वाथ डाल-डालकर सौ बार पकाये हुए तैलों से आस्थापन तथा अनुवासनबस्ति देनी चाहिए तथा वातनाशक द्रव्यों से स्वेदन कराना चाहिए। इसी प्रकार स्निग्ध आहार-विहार और स्निग्ध पदार्थों का युक्तिपूर्वक उपनाह (पुल्टिस) भी बाँधना चाहिए॥ १०५॥

वक्तव्य—यहाँ आस्थापन और अनुवासन का प्रयोग गुदा में नहीं अपितु योनि में करना चाहिए। दोनों के योग में अन्तर यह है कि औषधसिद्ध तैल की बस्ति को आस्थापन कहते हैं तथा केवल स्नेह के प्रयोग को अनुवासन समझना चाहिए। इस तरह इन दोनों का प्रयोग उत्तरबस्ति की तरह करना चाहिए। इनमें आहार-विहार और उपनाह बन्धन भी स्निग्ध ही होना चाहिए।

शताह्वायवगोधूमकिण्वकुष्ठप्रियङ्गुभिः ॥ १०६॥

बलाखुपर्णिकाश्याह्वैः संयावो धारणः स्मृतः। वामिन्युपप्लुतानां च स्नेहस्वेदादिकः क्रमः॥
कार्यस्ततः स्नेहपिचुस्ततः सन्तर्पणं भवेत्।

वामनी और उपप्लुता योनि की चिकित्सा—सौंफ, जौ, गेहूँ, सुराकिट्ट, कूठ, प्रियंगु, बरियार, मूषाकर्णी और गन्धाबिरोजा— इन सब द्रव्यों को पीसकर लप्सी जैसा बनाकर योनि में धारण करना चाहिए। यह प्रयोग वामिनी योनि को गर्भधारण करने योग्य बना देता है। वामिनी और उपप्लुता में स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद योनि में स्निग्ध पिचु (फाहा) धारण करना चाहिए। पिचु हटाने के बाद फिर वातनाशक तैल में कपड़ा भिगोकर योनि में रखना चाहिए॥ १०६-१०७॥

शल्लकीजिङ्गिनीजम्बूधवत्वक्पञ्चवल्कलैः ॥ १०८॥
कषायैः साधितः स्नेहपिचुः स्याद् विप्लुतापहः।

विप्लुता (परिप्लुता) योनि की चिकित्सा—सलई, जिङ्गिनी (मजीठ), जामुन की छाल, धव की छाल और पञ्चवल्कल (बट-पीपर-पारसपीपर-गूलर-पाकड़) के क्वाथ से पकाये हुए स्नेह (तैल) में फाहा भिगोकर योनि में रखने से विप्लुता (परिप्लुता) योनिरोग नष्ट हो जाता है॥ १०८॥

वक्तव्य—आचार्य चरक ने मूल में 'विप्लुता' योनिरोग का वर्णन नहीं किया है, तो फिर उसकी चिकित्सा क्यों कही गयी है? यह प्रश्न उठता है। सुश्रुताचार्य ने 'विप्लुता नित्यवेदनां' ऐसा कहकर नित्य वेदनायुक्त योनिरोग को विप्लुता कहा है, किन्तु यहाँ जैसी चिकित्सा बतलायी गयी है उसके अनुसार विप्लुता से परिप्लुता का ग्रहण किया जाना उचित है, क्योंकि परिप्लुता में रक्तस्राव की अधिकता होती है और उसे दूर करने के लिए इस योग में कषायरस वाले द्रव्यों से तैलपाक करने का विधान किया गया है। अतः विप्लुता शब्द से परिप्लुता को ही ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है।

कर्णिन्यां वर्तिका कुष्ठपिप्पल्यर्काग्रसैन्धवैः॥ १०९॥
बस्तमूत्रकृता धार्या सर्वं च श्लेष्मनुद्धितम्।

कर्णिनी योनि की चिकित्सा—कूठ, पीपर, मदार के कोमल पत्ते और सेंधानमक—इन सबको समान भाग लेकर बकरे के मूत्र से पीसकर कनिष्ठा अंगुली के समान मोटी लम्बी वर्ती बनाकर योनि में धारण करना चाहिए। अन्य भी कफनाशक उपचार करना हितकारक होता है॥ १०९॥

त्रैवृतं स्नेहनं स्वेदो ग्राम्यानूपौदका रसाः॥ ११०॥
दशमूलपयोबस्तिश्चोदावर्तानिलार्तिषु। त्रैवृतेनानुवास्या च बस्तिश्चोत्तरसंज्ञितः॥ १११॥
एतदेव महायोन्यां स्रस्तायां च विधीयते। वसा ऋक्षवराहाणां घृतं च मधुरैः शृतम्॥ ११२॥
पूरयित्वा महायोनिं बध्नीयात् क्षौमलक्तकैः। प्रस्रस्तां सर्पिषाऽभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेश्य च॥
बध्नीयाद् वेशवारस्य पिण्डेनामूत्रकालतः।

उदावर्ता, वातला, महायोनि और स्रस्ता योनि की चिकित्सा—उदावर्ता तथा वातला योनिरोगों में घी, तैल और वसा—इन तीनों स्नेहों के आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रयोगों से स्नेहन करना चाहिए तथा वातनाशन उपायों से स्वेदन करना चाहिए। पथ्य में ग्राम्य, आनूप तथा जलेचर पशु-पक्षियों का मांसरस खाने को दें। दशमूल की औषधियों का कल्क डालकर क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध उत्तरबस्ति में प्रयोग करना चाहिए। घी, तैल और वसा के द्वारा अनुवासन एवं उत्तरबस्ति देनी चाहिए। महायोनि तथा स्रस्ता योनि में भी यही प्रयोग करना चाहिए।

महायोनि में विशिष्ट चिकित्सा—मधुर वर्ग (जीवनीय गण) की औषधियों के क्वाथ में पकाये गये भालू तथा सूअर की चर्बी एवं घृत को महायोनि में भरकर ऊपर से मृदु कपड़े के टुकड़े से मुलायमियत के साथ बाँध देना चाहिए।

प्रभ्रस्ता योनि की विशिष्ट चिकित्सा—अपने स्थान से खिसकी हुई योनि की पहले घी की मालिश करे फिर दूध की बनी खीर से स्वेदन करे, तत्पश्चात् धीरे से योनि को यथास्थान स्थित करे। फिर वेशवार भरकर योनि को पट्टी लगाकर बाँध दें और तब तक बँधा रहने दें जब तक कि मूत्र वेग न मालूम पड़े॥ १००-११३॥

यच्च वातविकाराणां कर्मोक्तं तच्च कारयेत्॥ ११४॥
सर्वव्यापत्सु मतिमान्महायोन्यां विशेषतः। नहि वातादृते योनिर्नारीणां सम्प्रदूष्यति॥ ११५॥
शमयित्वा तमन्यस्य कुर्याद् दोषस्य भेषजम्।

योनि रोगों में वातचिकित्सा की युक्ति—बुद्धिमान् चिकित्सक सभी प्रकार के योनि रोगों में उन चिकित्सा-विधियों का प्रयोग करायें जो वातरोगों की चिकित्सा में कही गयी हैं और विशेषकर महायोनि रोग में वातव्याधिवत् चिकित्सा करे। सभी योनि रोगों में वातव्याधिवत् चिकित्सा करने के निर्देश में युक्ति यह है कि स्त्रियों की योनि बिना वायुविकार के दूषित नहीं होती। इसलिए प्रत्येक योनिरोग में पहले वातशामक उपचार करके वायु को शान्त करने के बाद ही अन्य दोषों की चिकित्सा करनी चाहिए॥ ११४-११५॥

रोहीतकान्मूलकल्कं पाण्डुरे प्रदरे पिबेत्॥ ११६॥
जलेनामलकीबीजं कल्कं वा सससितामधु। मधुनाऽऽमलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेच्च ताम्॥ ११७॥
न्यग्रोधत्वक्कषायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत्। आस्रावे क्षौमपट्टं वा भावितं तेन धारयेत्। ११८॥
प्लक्षत्वक्चूर्णपिण्डं वा धारयेन्मधुना कृतम्। योन्या स्नेहाक्तया लोध्रप्रियङ्गुमधुकस्य च॥
धार्या मधुयुता वर्तिः कषायाणां च सर्वशः। स्रावच्छेदार्थमभ्यक्तं धूपयेद्वा घृताप्लुतैः॥ १२०॥
सरलागुग्गुलुयवैः सतैलकटुमत्स्यकैः।

श्वेतप्रदर नाशक योग—(१) श्वेतप्रदर रोग में रोहीतक के मूल की छाल के चूर्ण को मिश्री और मधु मिलाकर जल से सेवन करे अथवा (२) आँवले के बीज की गिरी के चूर्ण में मिश्री-मधु मिलाकर जल से पान करे अथवा (३) आँवले के चूर्ण में या रस में मधु मिलाकर चाटने को दें अथवा (४) पठानी लोध के ३-४ ग्राम चूर्ण को बट के क्वाथ के साथ पीना चाहिए अथवा (५) स्राव के आधिक्य में बट के क्वाथ में कोमल कपड़ा भिगोकर योनि में धारण करे अथवा (६) पाकड़ की छाल के चूर्ण में मधु मिलाकर मोटी बत्ती बनाकर योनि में धारण करे अथवा (७) योनि में वातनाशक तैल चुपड़कर उसे तैल से तर करके लोध, प्रियंगु का फूल और मुलहठी के बारीक चूर्ण में मधु मिलाकर बत्ती बनाकर योनि में धारण करे अथवा (८) कषायरसवाले द्रव्यों के चूर्ण में मधु मिलाकर बत्ती बनाकर योनि में धारण करे, इससे योनि से स्राव होना बन्द हो जाता है अथवा (१०) चीड़ की लकड़ी, गुग्गुलु और जौ को एक में मिलाकर घी डालकर उससे योनि का धूपन करे अथवा (११) कटुरसवाली (सिधरी) मछली को तैल में मिलाकर उससे योनि का धूपन करना चाहिए॥ ११६-१२०॥

कासीसं त्रिफला कांक्षी समङ्गाऽऽम्रास्थि धातकी॥ १२१॥
पेच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः। पलाशसर्जजम्बूत्वक्समङ्गामोचधातकीः॥ १२२॥
सपिच्छिलापरिक्लिन्नास्तम्भनः कल्क इष्यते।

पिच्छिला योनि की चिकित्सा : (१) **कासीसादि योग**—कासीस, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, (तीनों निर्बीज), फिटकिरी, लजैनी, आम की गुठली और धाय के फूल—इन सबको बारीक पीसकर मधु मिलाकर बत्ती बनाकर योनि में रखने से योनि की पिच्छिलता नष्ट हो जाती है। (इस योग में कासीस को $\frac{1}{4}$ भाग तथा अन्य द्रव्यों को १-१ भाग मिलाना चाहिए) (२) **पलाशादि वर्ती**—पलास की छाल, राल, जामुन

की छाल, लजैनी, मोचरस और धाय का फूल—इनको समान भाग लेकर चूर्ण बनाकर, वर्ती बनाकर योनि में रखने से योनि की पिच्छिलता और चिपचिपापन नष्ट हो जाता है॥ १२१-१२२॥

स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम्॥ १२३॥
धारयेद्वेशवारं वा पायसं कृशरां तथा। दुर्गन्धानां कषायः स्यात्तोवरः कल्क एव वा॥ १२४॥
चूर्णं वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणम्।

स्तब्ध एवं कर्कश योनि की चिकित्सा एवं दुर्गन्धनाशन—(१) जकड़न और कड़ेपन वाली योनियों में कोमलता लाने वाली चिकित्सा करनी चाहिए। इसके लिए योनि में वेशवार या खीर या खिचड़ी की सुखोष्ण पोटली धारण करनी चाहिए। (२) योनि की दुर्गन्धि को दूर करने के लिए तुवरक का क्वाथ या कल्क प्रक्षालनार्थ एवं धारणार्थ प्रयोग करे अथवा सर्वगन्ध द्रव्यों (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेशर, कर्पूर, शीतलचीनी, अगर, छरीला एवं लवंग) के बारीक चूर्ण की पोटली बनाकर योनि में धारण करे। इससे योनि की दुर्गन्धि नष्ट हो जाती है॥ १२३-१२४॥

एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः॥ १२५॥
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति[1]।

गर्भधारण की सम्भावना—उक्त प्रकार से उपचार करने के बाद जब योनियाँ शुद्ध और रोगरहित हो जाती हैं तब शुद्ध गर्भाशय में दोष विनिर्मुक्त तथा अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान पुरुष का वीर्य एवं स्त्री का रज संयुक्त होते हैं और उस संयोग में अपने पूर्वजन्म के कर्म से प्रेरित जीवात्मा का जब प्रवेश होता है तब गर्भस्थिति होने पर स्त्रियाँ गर्भ धारण करती हैं॥ १२५॥

वक्तव्य—चरक-शारीरस्थान ४।५ में 'यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा' इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि गर्भाशय में शुक्र, आर्तव और जीव का जब संयोग होता है तब उसे गर्भ कहा जाता है, यथा—'शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति'। इसी प्रकार गर्भावक्रान्ति (च.शा.३।३) में भी गर्भधारण का वर्णन किया गया है—'पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गः ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथायुक्ते संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसम्प्रयोगात्तदागर्भोऽभिनिर्वर्तते'।

पञ्चकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम्॥ १२६॥
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत्।

पुरुष के वीर्य का परीक्षण एवं उपचार—वातादि दोषों से दूषित वीर्य में दोषानुसार वर्ण की उत्पत्ति होती है। उन वर्णों को देखकर (तथा अन्य विकृतियों के आधार पर) दूषित वीर्य में दोषानुबन्ध का ज्ञान कर रोगी का पञ्चकर्म के द्वारा शोधन करने के बाद उन-उन दोषों को नष्ट करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए॥ १२६॥

भवन्ति चात्र—
सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सिताः॥ १२७॥
उक्ता विस्तरतः सम्यङ् मुनिना तत्त्वदर्शिना।

योनिव्यापद् वर्णन का उपसंहार—तत्त्वदर्शी मुनिप्रवर आत्रेय पुनर्वसु ने निदान लक्षण और चिकित्सा सहित योनिरोगों का विस्तार के साथ अच्छी तरह वर्णन कर दिया है॥ १२७॥

---

१. शुक्रासृगात्माशयकालसम्पद् यस्योपचारश्च हितैस्तथाऽन्नैः।
गर्भश्चकाले च सुखी सुखं च संजायते सम्परिपूर्णदेहः॥ (च. शा. २।६)

[1]पुनरेवाग्निवेशस्तु पप्रच्छ भिषजां वरम्॥ १२८॥

आत्रेयमुपसङ्गम्य शुक्रदोषास्त्वयाऽनघ!। रोगाध्याये समुद्दिष्टा ह्यष्टौ पुंसामशेषतः॥
तेषां हेतुं भिषक्श्रेष्ठ! दुष्टादुष्टस्य चाकृतिम्। चिकित्सितं च कात्स्न्र्येन क्लैब्यं यच्च चतुर्विधम्॥
उपद्रवेषु योनीनां प्रदरो यश्च कीर्तितः। तेषां निदानं लिङ्गं च चिकित्सां चैव तत्त्वतः॥ १३१॥
समासव्यासभेदेन प्रब्रूहि भिषजांवर!।

अग्निवेश के शुक्रदोष, क्लैब्य एवं प्रदर विषयक प्रश्न—अग्निवेश ने वैद्यप्रवर महर्षि आत्रेय के पास जाकर पुनः जिज्ञासा प्रकट की—हे निष्पाप! आपने रोगाध्याय (च.सू. १९) में पुरुषों के (१) सभी आठ 'शुक्रदोष' बतलाये हैं; हे भिषक्! आप उनके निदान, उनके दोषयुक्त तथा दोषरहित होने का स्वरूप और उनकी सम्पूर्ण चिकित्सा; (२) चार प्रकार के जो 'क्लैब्य' कहे गये हैं तथा (३) योनि रोगों के उपद्रवों में जो 'प्रदर' रोग कहा गया है—हे भिषग्वर! आप उन रोगों के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा को यथार्थ रूप में संक्षेप और विस्तार के साथ बतलायें॥ १२८-१३१॥

तस्मै शुश्रूषमाणाय प्रोवाच मुनिपुङ्गवः॥ १३२॥
बीजं यस्माद् व्यवाये तु हर्षयोनिसमुत्थितम्। शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद् वक्ष्यामि तच्छृणु॥
यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम्। न विरोहति सन्दुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम्॥ १३४॥

अदुष्ट शुक्र ही गर्भ का बीज—(अग्निवेश के प्रश्नों को सुनकर) सेवापरायण उस शिष्य को मुनिश्रेष्ठ आत्रेय पुनर्वसु ने उपदेश दिया कि स्त्री के मैथुन के समय तत्कालीन रत्यानन्द से समुद्भूत पुरुष का शुक्र ही 'बीज' कहा गया है—क्यों यह मैं कह रहा हूँ आप सुनें। जिस प्रकार असमय में भींग जाने से, कृमि-कीट द्वारा खाये जाने से, अग्नि से झुलस जाने से दोषयुक्त बीज अंकुरित नहीं होता, उसी तरह दूषित शुक्र के गर्भाशय में पहुँचने पर भी वह गर्भस्थापक नहीं होता॥ १३२-१३४॥

अतिव्यवायाद्व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात्। अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः॥
रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात्। नारीणामरसज्ञानां गमनाज्जरया तथा॥ १३६॥
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्। भयात्क्रोधादतीसाराद्व्याधिभिः कर्शितस्य च॥
वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां सम्प्रदूषणात्। दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः॥
शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु तद् वक्ष्यामि विभागशः।

शुक्रदुष्टि के कारण—अतिमैथुन, अतिव्यायाम, अहितकर अननुकूल आहार-विहार, असमय (बचपन, वृद्धावस्था या रुग्णावस्था) में मैथुन, अयोनि (हस्त-गुदा-पशुप्रभृति) मैथुन और सर्वथा मैथुन त्याग कर देने से रूक्ष, तिक्त, कषाय, अतिलवण, अतिअम्ल तथा उष्ण द्रव्यों के सेवन से, रत्यानन्द-विमुख नारियों का सम्भोग करने से, वृद्धावस्था के आगमन से, चिन्ता करने से, शोक करने से, परस्पर विश्वास या स्नेह के न होने से, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म या अग्निकर्म (दाह) के गलत ढंग के प्रयोग से, भय खाने से, क्रोध करने से, अतिसार होने से, रोगों के कारण कृश हो जाने से, मल-मूत्र-शुक्र आदि के वेगों के रोकने से, शुक्रवह स्रोत के आघात से या कट जाने से और रस-रक्तादि धातुओं के अतिदूषित हो जाने से कुपित हुए वात आदि दोष अलग-अलग या एक साथ होकर शुक्रवह स्रोतों में जाकर शुक्र को सन्दूषित कर देते हैं, जिन्हें मैं अलग-अलग कह रहा हूँ॥ १३५-१३८॥

---

१. अत्रान्तरे 'पुनरेव' इत्यादिग्रन्थं शुक्रदोषादिलक्षणचिकित्साभिधायकं केचित् पठन्ति; तच्चान्ये अनार्षं वदन्ति, उपपत्तिं च वर्णयन्ति यत्—शुक्रदोषा वाजीकरणेनैव चिकित्सिताः; क्लैब्यं च शारीरे एव प्रतिपादितम्, अतः पुनर्नाभिधानमर्हति, प्रदरश्चैवेह योनिव्यापत्तौ चिकित्सित इति; ये तु पठन्ति ते पूर्वोक्तसंक्षेपस्य विस्ताराभिधानमेतदिति वर्णयन्ति। एवमस्यार्षत्वविवादेऽपि **काश्मीरादिदेशानुमतत्वात्** किंचित् व्याकरणं कुर्म एव। (चक्रपाणि)

फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्॥ १३९॥
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाऽष्टमम्।

शुक्र के आठ दोष—१. फेनयुक्त (झागदार) होना, २. पतला होना, ३. रूखा होना, ४. बदले हुए वर्ण या विकृत वर्ण का होना, ५. दुर्गन्धयुक्त होना, ६. चिपचिपा होना, ७. अन्य रक्तादि धातुओं से मिला हुआ होना और ८. निकलते समय शरीर में अतिशय ह्रास लाने वाला—ये शुक्र के ८ दोष हैं॥ १३९॥

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात्॥ १४०॥
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते। सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च। १४१॥
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम्। श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम्॥

वात, पित्त एवं कफ से दुष्ट शुक्र के लक्षण—(१) जब शुक्र वायु के द्वारा दूषित होता है, तो वह झागदार, पतला और रूक्ष होता है। वह अल्प मात्रा में बड़ी कठिनाई से निकलता है तथा गर्भस्थापन में समर्थ नहीं होता। (२) पित्त से दूषित हुआ शुक्र नीला या पीला होता है, अतिगरम और दुर्गन्धित होता है तथा मूत्रमार्ग से निकलते समय वह जलाता हुआ निकलता है। (३) शुक्र का मार्ग जब कफ से अवरुद्ध होता है तो वह अति पिच्छिल (चिपचिपा) हो जाता है, उसे कफदूषित जानना चाहिए॥ १४०-१४२॥

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात् क्षतादपि।
शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम्॥ १४३॥

रक्तमिश्रित शुक्र का लक्षण—स्त्रियों के अधिक सम्भोग करने, चोट लगने से, घाव लगने या कटने से प्रायः पुरुषों का शुक्र रक्तमिश्रित निकलता है॥ १४३॥

वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि। कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽष्टमम्॥ १४४॥
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः।

अवसादी शुक्र का लक्षण—१. मल-मूत्र-शुक्र आदि के वेगों के रोकने से प्रकुपित वायु शुक्र के मार्ग को रोक देती है, जिससे शुक्र में ग्रन्थियाँ बँध जाती हैं तथा वह कठिनाई से निकलता है, उस समय शरीर में बड़ी थकावट होती है। यह आठवाँ शुक्रदोष है, जिसे अवसादी कहते हैं। इस प्रकार शुक्र के आठ दोषों का लक्षणसहित उपदेश कर दिया गया॥ १४४॥

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च॥ १४५॥
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्।

शुद्ध शुक्र का लक्षण—जो वीर्य चिकना, घना, पिच्छिल, मधुर, जलन न करने वाला एवं स्फटिक (बिल्लौर पत्थर) के समान श्वेत वर्ण का हो, उसे शुद्ध जानना चाहिए॥ १४५॥

वाजीकरणयोगैस्तैरुपयोगसुखैर्हितैः॥ १४६॥
रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा। दुष्टं यदा भवेच्छुक्रं तदा तत् समुपाचरेत्॥ १४७॥
घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च। गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति॥ १४८॥

शुक्रदोष की सामान्य चिकित्सा—जब वीर्य दोषयुक्त हो जाये, तो उसकी चिकित्सा ऐसे योगों से करे जो उपयोग करने पर हितकारक और आरोग्यदायक हों। वाजीकरण योगों से, रक्तपित्तनाशक योगों से तथा योनिव्यापद् रोग की चिकित्सा में बतलाये गये योगों के प्रयोग से चिकित्सा करनी चाहिए। जीवनीय घृत और च्यवनप्राशावलेह का प्रयोग तथा शुद्ध शिलाजीत का प्रयोग वीर्य सम्बन्धी दोषों को दूर करता है॥ १४६-१४८॥

वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः। अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम्॥ १४९॥
माक्षिकस्य तु लोहानां त्रिफलाया रसायनम्। कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद्बल्लातकस्य च॥ १५०॥

यदन्यधातुसंसृष्टं शुक्रं तद्वीक्ष्य युक्तितः। यथादोषं प्रयुञ्जीत दोषधातुभिषग्जितम्॥ १५१॥

शुक्रदोष की दोषानुसार चिकित्सा—(१) जब वायु के कारण शुक्र दूषित हुआ हो, तो रोगी को आवश्यकतानुसार निरूह एवं अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। (२) जब पित्त के कारण शुक्र दोषयुक्त हुआ हो, तो अभयामलकीय रसायन का प्रयोग करना चाहिए। (३) जब कफ के द्वारा शुक्र दूषित हुआ हो, तो पिप्पलीरसायन, आमलकीरसायन, लोहरसायन, त्रिफलारसायन और भल्लातकरसायन (सभी च.चि. अध्याय १ पाद २-३ में वर्णित) कफज दोषों को दूर करते हैं। इनका प्रयोग रोगी के बल के अनुसार उचित मात्रा में करना चाहिए। (४) यदि शुक्र में रक्त आदि किसी धातु का संसर्ग हो, तो युक्तिपूर्वक शुक्र से सम्बद्ध धातु तथा दोष का विचार कर उस सम्बद्ध दोष और धातु की विकृति को दूर करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए॥ १४९-१५१॥

सर्पिः पयो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः। प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु बस्तिकर्म विशेषतः॥ १५२॥
इत्यष्टशुक्रदोषाणां मुनिनोक्तं चिकित्सितम्।

शुक्रदोष में पथ्योपचार—शुक्रदोष में घी, दूध, मांसरस, अगहनी चावल, साठी चावल, जौ और गेहूँ के बने पदार्थ खाने चाहिए। आवश्यकतानुसार निरूहबस्ति, अनुवासनबस्ति और उत्तरबस्ति देनी चाहिए। इस प्रकार महर्षि आत्रेय ने आठ प्रकार के शुक्रदोषों का उपदेश किया है॥ १५२॥

रेतोदोषोद्भवं क्लैब्यं यस्माच्छुद्धचैव सिध्यति॥ १५३॥
ततो वक्ष्यामि ते सम्यगग्निवेश! यथातथम्। बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात्॥१५४॥
क्लैब्यं सम्पद्यते तस्य शृणु सामान्यलक्षणम्।

क्लैब्य वर्णन का उपक्रम और निदान—हे अग्निवेश! वीर्य के दोष से नपुंसकता होती है और जब वीर्य शुद्ध तथा निर्दोष हो जाता है तब नपुंसकता भी ठीक हो जाती है। अतः मैं इसका सही-सही उपदेश करूँगा।

निदान—१. बीज (वीर्य) के निर्गुण होने से या नाश होने से, २. मूत्रेन्द्रिय की मांसपेशियों की शिथिलता से, ३. वृद्धावस्था के कारण और ४. वीर्य के अतिक्षय होने के कारण नपुंसकता होती है। आगे उसके सामान्य लक्षण सुनिये॥ १५३-१५४॥

सङ्कल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम्॥ १५५॥
न याति लिङ्गशैथिल्यात्कदाचिद्याति वा यदि। श्वासार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः॥
म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत्क्लैब्यलक्षणम्। सामान्यलक्षणं ह्येतद्विस्तरेण प्रवक्ष्यते॥१५७॥

नपुंसकता का लक्षण—यदि कोई व्यक्ति स्त्रीसम्भोग की लालसा की वासना में सदा लिप्त रहता है और उसको कोई भी मनोऽनुकूल एवं वश में रहने वाली एवं आदेश का पालन करने वाली ललना भी उपलब्ध हो जाती है, फिर भी वह अपने लिङ्ग के उत्तेजित या दृढ़ न होने के कारण रतिकर्म में समर्थ नहीं होता, फिर भी कामुकतावश वह सम्भोग में प्रवृत्त होता है, तब भी उसे दम फूलने लगता है, पसीना छूटने लगता है, लिंग शिथिल हो जाता है और वह वीर्यरहित होता है। ये सब नपुंसकता के सामान्य लक्षण हैं जिन्हें विस्तारपूर्वक आगे कहेंगे॥ १५५-१५७॥

रूक्षशीताल्पसंक्लिष्टविरुद्धाजीर्णभोजनात्। शोकचिन्ताभयत्रासात् स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात्॥
अभिचारादविस्रम्भाद्रसादीनां च संक्षयात्। वातादीनां च वैषम्यात्तथैवानशनाच्छ्रमात्॥१५९॥
नारीणामरसज्ञत्वात् पञ्चकर्मापचारतः। बीजोपघाताद्भवति—

बीजोपघातज नपुंसकता का निदान—रूक्ष, शीतल, थोड़ी मात्रा में, सड़ा-गला, परस्पर रस-गुणादि के विरुद्ध आहार का सेवन करने से, अजीर्ण रहने पर भोजन करने से, शोक-चिन्ता-भय और उत्पीड़न से,

स्त्रियों का अधिक भोग करने से, अभिचार (अर्थात् मन्त्र-प्रयोग या तन्त्रक्रिया से निर्वीर्य बना देने) से, स्त्री के प्रति विश्वास न होने से, रस-रक्तादि धातुओं के क्षय होने से, वात आदि दोषों की विषमता से, भोजन न करने से, अधिक श्रम करने से, स्त्रियों के सम्भोग का अनुभव न होने से और पञ्चकर्मों का उचित ढंग से प्रयोग न करने के कारण मनुष्य के शरीर में वीर्य का नाश होता जाता है, जिससे बीजोपघातज नपुंसकता हो जाती है॥ १५८-१५९॥

—पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः॥ १६०॥
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः। हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः॥ १६१॥
छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः। बीजोपघातजं क्लैब्यं—

बीजोपघातज नपुंसकता का लक्षण—बीजोपघातज नपुंसकता के कारण रोगी का वर्ण पाण्डु हो जाता है, वह दुर्बल हो जाता है, जीवनीशक्ति क्षीण हो जाती है, हर्ष की कमी हो जाती है, जिससे वह स्त्रियों के उपभोग के प्रति उदासीन हो जाता है। वह हृदयरोग, पाण्डुरोग, तमकश्वास, कामला रोग, थकावट, वमन, अतिसार, उदरशूल, खाँसी और ज्वर का शिकार हो जाता है। ये सब बीजोपघातज (शुक्रक्षयज) नपुंसकता के लक्षण हैं॥ १६०-१६१॥

—ध्वजभङ्गकृतं शृणु॥ १६२॥
अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धासात्म्यभोजनात्। अत्यम्बुपानाद्विषमात् पिष्टान्नगुरुभोजनात्॥ १६३॥
दधिक्षीरानूपमांससेवनाद् व्याधिकर्षणात्। कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि॥ १६४॥
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम्। दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च परिप्लुताम्॥ १६५॥
ईदृशीं प्रमदां मोहाद् यो गच्छेत्कामहर्षितः। चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः॥ १६६॥
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात्। काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात्॥ १६७॥
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते।

ध्वजभंग का निदान—अब आप ध्वजभङ्ग के कारण होने वाली नपुंसकता के विषय में सुनिये—बहुत खट्टे पदार्थ, नमकीन पदार्थ, क्षारयुक्त पदार्थ, प्रकृति आदि के विरुद्ध पदार्थ तथा अहितकर पदार्थों के सेवन करने से, अधिक जल पीने से, विषम (नियमविरुद्ध) भोजन करने से, चावल के आटे से बने पदार्थ और भारी पदार्थ के खाने से, दही, दूध एवं आनूप जीवों के मांस के अधिक सेवन करने से, किन्हीं रोगों से आक्रान्त होने के कारण दुर्बल हो जाने से, बारह वर्ष से कम उम्र की कन्याओं के साथ मैथुन करने से, अयोनिगमन (हस्तमैथुन-गुदमैथुन आदि) से, दीर्घकाल से योनिरोग से पीड़ित स्त्री के साथ या बहुत दिनों से जो मैथुन न करायी हो या जो रजस्वला हो, जिसकी योनि से दुर्गन्ध आती हो या योनिरोग से जिसकी योनि विकृत हो गयी हो या जिसकी योनि से सदा स्राव बहता हो उसके साथ मैथुन करने में कामवासनाग्रस्त होकर प्रवृत्त होने से, चौपायों (बकरी आदि) के साथ मैथुन करने से, किसी तरह मूत्रेन्द्रिय में चोट लग जाने से, लिंग को न धोने से या शस्त्र, दाँत या नख से लिंग पर चोट या क्षत हो जाने से, लकड़ी के लिंग पर प्रहार होने के कारण, किसी तरह लिंग के पिस जाने से एवं लिंगवर्धनार्थ उत्तेजक एवं तीक्ष्ण औषधियों के अधिक प्रयोग से तथा वीर्य के चलायमान वेग को रोकने से ध्वजभंग रोग उत्पन्न हो जाता है॥ १६२-१६७॥

(भवन्ति यानि रूपाणि तानि वक्ष्याम्यतः परम्)। श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते॥
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि। मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि॥
पुलाकोदकसङ्काशः स्रावः श्यावारुणप्रभः। वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः॥ १७०॥
ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा च्छर्दिश्चास्योपजायते। रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम्॥
अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः। बस्तौ वृषणयोर्वाऽपि सीवन्यां वङ्क्षणेषु च॥ १७२॥

कदाचित्पिच्छिलो वाऽपि पाण्डुः स्रावश्च जायते। श्वयथुर्जायते मन्दः स्तिमितोऽल्पपरिस्रवः॥
चिराच्च पाकं व्रजति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते। जायन्ते क्रिमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च॥
विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च। ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत् समुदाहृतम्॥
एतं पञ्चविधं[1] केचिद् ध्वजभङ्गं प्रचक्षते।

ध्वजभंग का लक्षण—अब आगे ध्वजभंग में जो लक्षण होते हैं, उन्हें बतला रहा हूँ—(१) मूत्रेन्द्रिय में सूजन, वेदना और लालिमा हो जाती है, (२) लिंग में बड़े फफोले पड़ जाते हैं और वह पक जाता है, (३) लिंग के ऊपर मांस बढ़ जाता है और शीघ्र ही व्रण उत्पन्न हो जाते हैं, पुआल के धोवन जैसे वर्ण का एवं श्याव या अरुण वर्ण का स्राव निकलता है, लिंग में चारों ओर एक कड़ा छल्ला-सा बन जाता है; (४) रोगी को ज्वर, प्यास की अधिकता, शिर में चक्कर आना, मूर्च्छा और वमन होना—ये सब लक्षण होते हैं; लिंग के व्रण से लाल, काला, नीला या गंदला लाल रक्तस्राव होता है, (५) लिंग में आग से जल जाने के समान तीव्र दाह और दर्द होता है, जो बस्ति में, अण्डकोषों में, सीवनी और वंक्षण प्रदेश में फैलता है। कभी-कभी व्रण से पिच्छिल एवं पाण्डुवर्ण का स्राव निकलता है, लिंग का शोथ कभी कम हो जाता है जो निश्चल और अल्पस्रावयुक्त होता है, कभी शोथ में देर से पाक होता है और कभी शीघ्र पाक होता है, कभी कृमियाँ पड़ जाती हैं, सड़न और दुर्गन्ध होती है, शिश्न का मुण्ड, शिश्न का शरीर और अण्डकोष भी सड़कर गिर जाते हैं। ध्वजभंग के कारण होने वाले क्लैब्य (नपुंसकता) में ये सब लक्षण होते हैं। कुछ विद्वान् (ऊपर के संख्यांकन के अनुसार) ध्वजभंग को पाँच प्रकार का मानते हैं॥ १६८-१७५॥

क्लैब्यं जरासम्भवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु॥ १७६॥
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते। अतिप्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम्॥ १७७॥
रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात्। बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात्॥ १७८॥
परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात् क्लमात्। जरासम्भवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम्॥
जायते तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः। विवर्णो दुर्बलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते॥ १८०॥
एतज्जरासम्भवं हि—

वृद्धावस्थाजन्य नपुंसकता का निदान एवं लक्षण—अब मैं बुढ़ापे के कारण होने वाली नपुंसकता का वर्णन कर रहा हूँ, उसे आप सुनें—आयु को तीन वर्गों में बाँटा गया है—१. जघन्य (बाल्यावस्था), २. मध्य (युवावस्था) और ३. प्रवर (वृद्धावस्था)। इनमें तृतीयावस्था में जब पुरुष अति वृद्धावस्था (६० वर्ष से अधिक आयु) में पहुँच जाता है, तो उसका वीर्य क्षीण हो जाता है।

निदान—बार्धक्य के कारण धातुओं के क्षीण हो जाने से, वृष्य (वाजीकरण-बलपौरुषवर्धक) औषधियों का सेवन न करने से शारीरिक बल, वीर्य एवं इन्द्रियों के क्रमशः क्षीण हो जाने से, आयु के क्षीण होने से, भोजन न करने से, अधिक परिश्रम करने से, शरीर एवं इन्द्रियों के शिथिल हो जाने से एवं वृद्धावस्था के कारण जराजन्य (वृद्धावस्थाजनित) नपुंसकता होती है।

लक्षण—इससे पुरुष की धातुएँ क्षीण हो जाती हैं, वह दुर्बल हो जाता है, उसके शरीर का वर्ण विकृत हो जाता है, वह बलहीन और दीन होने के कारण शीघ्र ही अन्य रोगों से आक्रान्त हो जाता है। ये लक्षण वृद्धावस्थाजन्य नपुंसकता में होते हैं॥ १७६-१८०॥

—चतुर्थ क्षयजं शृणु। अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात्क्रोधाद्भयात्तथा॥ १८१॥

१. एतं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं वदन्ति; तथोक्तेन वातपित्तकफरक्तसन्निपातभेदेन पञ्चविधत्वमित्यर्थः। तत्र 'श्वयथुर्वेदना मेढ्रे' इत्यादि वातेन, 'स्फोटाश्चेत्यादि' पित्तेन, 'मांसवृद्धिरित्यादि' कफेन, 'ज्वरस्तृष्णेत्यादि' रक्तेन, 'अग्निनेवेत्यादि' सन्निपातेन। (चक्रपाणि टीका)

ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान् सदा विशति यो नरः। कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम्॥ १८२॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद्यदि। असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः॥ १८३॥
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम्। रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः॥ १८४॥
शुक्रावसानास्तेभ्योऽपि शुक्रं धाम परं मतम्। चेतसो वाऽतिहर्षेण व्यवायं सेवतेऽति यः॥
तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम्। घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति॥
शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता। एवं निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम्॥ १८७॥

क्षयज नपुंसकता का निदान तथा लक्षण—अब आप चौथे क्षयज क्लैब्य को सुनिये—अत्यधिक चिन्ता करने से, शोक करने से, क्रोध करने से और भय करने से, ईर्ष्या करने से, उत्कण्ठित रहने और मद (हल्की नशा) तथा उद्वेग होने से, कृशकाय होने के बावजूद रूक्ष अन्न-पेय एवं रूक्ष औषध के सेवन से, दुर्बल होते हुए भी उपवास करने से और अहितकर (असात्म्य) भोजन करने से मनुष्यों के हृदय में रहने वाली सर्वप्रधान रसधातु ही क्षीण हो जाती है, फिर रस के क्षीण होने से उस पुरुष के रक्त से लेकर शुक्रपर्यन्त सभी धातुएँ क्षीण होती जाती हैं। उन धातुओं में अन्तिम एवं सबसे महत्त्वपूर्ण धातु शुक्र है। जो पुरुष मन में कामवासना के प्रबल होने से अत्यधिक मैथुन करता है, उसका बचा-खुचा वीर्य भी शीघ्र ही क्षीण हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह क्षयरोग से आक्रान्त हो जाता है और भयंकर रोग से ग्रस्त हो जाता है या मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसलिए आरोग्य की कामना करने वाले व्यक्ति को बड़ी सावधानी और संयम से वीर्य की रक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार यह चार प्रकार के क्लैब्य का निदान और लक्षण बतला दिया गया है॥ १८१-१८७॥

केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे। वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन च॥ १८८॥

क्लैब्य या नपुंसकता की असाध्यता—कुछ विद्वान् ध्वजभंग तथा क्षयजन्य, इन दो प्रकार के क्लैब्य भेदों को असाध्य मानते हैं (यह मत सर्वग्राही नहीं है, क्योंकि ये दोनों चिकित्सासाध्य हैं)। सर्वसम्मत असाध्यता के दो प्रकार होते हैं—१. लिंग के कट जाने से और २. अण्डकोषों के निकाल देने से॥ १८८॥

मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः। गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः सिराः॥
शोषयन्त्याशु तन्नाशाद् रेतश्चाप्युपहन्यते। तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान्॥ १९०॥

जन्मजात नपुंसकता—माता-पिता के बीज (आर्तव तथा शुक्र) के दोष से तथा पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों के फलस्वरूप गर्भस्थ शिशु के रेतोवहा (शुक्रवहा) प्रणालियों को प्रकुपित वातादि दोष सुखा देते हैं, तो उनके नष्ट होने से वीर्य नहीं बन पाता है; ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण अंगों से पूर्ण पुरुष सन्तान जन्म लेती है, किन्तु पुरुषोचित व्यापार के करने में सामर्थ्यहीन होने से वह पुरुष होते हुए भी वास्तविक पुरुष नहीं होता॥ १८९-१९०॥

एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात्।

साध्यासाध्यता—ये चारों प्रकार के क्लैब्य जब सन्निपातज होते हैं, तो ये असाध्य होते हैं।

चिकित्सितमतस्तूर्ध्वं समासव्यासतः शृणु॥ १९१॥

क्लैब्य-चिकित्सा का उपक्रम—अब यहाँ से आगे संक्षेप तथा विस्तारपूर्वक कही जाने वाली क्लैब्य की चिकित्सा सुनिये॥ १९१॥

शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयाऽनघ!। क्लैब्योपशान्तये कुर्यात् क्षीणक्षतहितं च यत्॥
बस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मताः। रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत्॥ १९३॥
समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं भेषजकालवित्। व्यवायहेतुजे क्लैब्ये तथा धातुविपर्ययात्॥ १९४॥
दैवव्यपाश्रयं चैव भेषजं चाभिचारजे। समासेनैतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैब्यशान्तये॥ १९५॥

नपुंसकता का चिकित्सासूत्र—हे निष्पाप! नपुंसकता को दूर करने के लिए उन चिकित्साओं का प्रयोग करना चाहिए जिन्हें शुक्रदोषों में कहा गया है और जो क्षतक्षीण रोग में हितकर हैं। रोगी की देह, उसके दोष तथा उसके जठराग्निबल का अच्छी तरह विचार कर औषध के प्रयोग के काल को जानने वाला वैद्य यथायोग्य अधिक मैथुनजन्य अथवा वातादि दोषों की विषमता से उत्पन्न नपुंसकता में शुक्रशोधन एवं संवर्धन के लिए बस्तियों का प्रयोग करे, औषधसिद्ध दुग्धों एवं घृतों का पान कराये और वाजीकरण औषधों तथा रसायन औषधों का प्रयोग करे। अभिचार कर्म (तान्त्रिक प्रयोग) से उत्पन्न नपुंसकता में दैवव्यपाश्रय (यज्ञ-होम-दान-जप-शान्ति कर्म) चिकित्सा करनी चाहिए। संक्षेप में नपुंसकता को दूर करने के लिए चिकित्सा का उपदेश कर दिया गया है॥ १९२-१९५॥

विस्तरेण प्रवक्ष्यामि क्लैब्यानां भेषजं पुनः।

क्लैब्य-चिकित्सा के विस्तृत वर्णन का संकल्प—अब मैं पुनः विस्तारपूर्वक क्लैब्यचिकित्सा बतला रहा हूँ।

सुस्निग्धस्विन्नगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम्॥ १९६॥
अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः। प्रदद्यान्मतिमान् वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत्॥ १९७॥
पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत् ततः।

संशोधन—बुद्धिमान् वैद्य पहले नपुंसकता के रोगी का स्नेहन तथा स्वेदन अच्छी प्रकार से कराकर तब फिर स्नेहयुक्त विरेचन का सेवन कराये, तत्पश्चात् उसे पथ्य खिलाये। आवश्यक समझे तो निरूहबस्ति दे, उसके बाद अनुवासनबस्ति का प्रयोग करे तथा उसके बाद पुनः पलाश, एरण्डमूल आदि से निर्मित (च.सि. १२।२ में कथित) निरूहबस्ति का प्रयोग करे॥ १९६-१९७॥

बाजीकरणयोगाश्च ये पूर्वं समुदाहृताः॥ १९८॥
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैब्ये बीजोपघातजे।

बीजोपघातज क्लैब्य चिकित्सा—पूर्व में (च.चि. २) जो वाजीकरण के योग कहे गये हैं, वैद्य को चाहिए कि बीजोपघातज क्लैब्य में उनका विधिवत् प्रयोग करे॥ १९८॥

ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत् क्रियाम्॥ १९९॥
प्रदेहान् परिषेकांश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम्। स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम्॥ २००॥
अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः। व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः॥ २०१॥

ध्वजभंगजन्य क्लैब्य-चिकित्सा—जब ध्वजभंगजन्य नपुंसकता का ज्ञान हो जाये तो उसमें निम्नलिखित चिकित्सा करनी चाहिए—रोगी की मूत्रेन्द्रिय पर प्रदेह लगाना, औषधसिद्ध जल से सिञ्चन करना अथवा रक्तमोक्षण करना चाहिए। रोगी को स्नेहपान करना चाहिए और स्नेहयुक्त विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् अनुवासनबस्ति अथवा निरूहबस्ति देनी चाहिए तथा दक्ष वैद्य को व्रण में जो उपचार किये जाते हैं, वे सभी उपचार करने चाहिए॥ १९९-२०१॥

जरासम्भवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत्। स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम्॥ २०२॥
क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगा बस्तयश्चैव यापनाः। रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते॥ २०३॥
विस्तरेणैतदुद्दिष्टं क्लैब्यानां भेषजं मया।

जराजन्य तथा क्षयज क्लैब्य-चिकित्सा—वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न और वीर्य के अतिक्षय से होने वाले क्लैब्य रोगों में स्नेहन और स्वेदन करने के बाद स्नेहयुक्त विरेचन देना हितकर होता है। इन दोनों प्रकार के क्लैब्य रोगों में दुग्ध-घृत के योग, वाजीकरण योग, यापना बस्ति (च.सि.१२) देना और रसायन योगों का प्रयोग करना ही इनकी औषध है। इस प्रकार मैंने क्लैब्य-चिकित्सा का विस्तृत वर्णन कर दिया है॥ २०२-२०३॥

यः पूर्वमुक्तः प्रदरः[1] शृणु हेत्वादिभिस्तु तम्॥ २०४॥
याऽत्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च। कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च॥
ग्राम्यौदकानि मेद्यानि कृशरां पायसं दधि। शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः॥
रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः॥ २०७॥
यस्माद् विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता। तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः। २०८॥
रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तेन स स्मृतः। सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च॥ २०९॥

प्रदर का निदान, सम्प्राप्ति और निर्वचन—पहले जो प्रदर कहा गया है (श्लोक १६ में 'सासृजा' नाम से रक्तयोनि का कथन तथा रक्तयोनि की चिकित्सा में श्लोक ८८-९० में असृग्दर नाम से प्रदर का ही कथन किया गया है, जिसका यहाँ संकेत किया गया है) अब उसे निदान आदि के साथ कहा जा रहा है, जिसे आप सुनें—जो स्त्री नमकीन पदार्थ, खट्टे पदार्थ, गुरुपाकी पदार्थ, कटु पदार्थ, विदाही पदार्थ, चिकने पदार्थ, ग्रामीण-जलीय-मेदस्वी जीवों का मांस, खिचड़ी, खीर, दही, सिरका, दही का पानी और मदिरा आदि का सेवन करती है, उसकी वायु प्रकुपित होकर रक्त के प्रमाण को बढ़ाकर रजोवाहिनी सिराओं में जाकर बढ़े हुए रक्त को लेकर रज की मात्रा को बढ़ा देती है, जिससे रज अपनी स्वाभाविक मात्रा से अधिक हो जाता है। शास्त्रज्ञ विद्वान् इस स्थिति को 'असृग्दर' कहते हैं। इस रोग में रक्त ही फूट-फूट कर बाहर आता है, इसलिए इसे प्रदर कहा जाता है। इस प्रकार प्रदर रोग के कारण और लक्षण का सामान्य रूप से वर्णन किया गया है॥ २०४-२०९॥

चतुर्विधं व्यासतस्तु वाताद्यैः सन्निपाततः।
अतःपरं प्रवक्ष्यामि हेत्वाकृतिभिषग्जितम्॥ २१०॥

प्रदर रोग का विस्तृत वर्णन—विस्तार की दृष्टि से प्रदर रोग—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज और ४. सन्निपातज भेद से चार प्रकार का होता है। आगे निदान, लक्षण और चिकित्सा के साथ उनका वर्णन कर रहा हूँ॥ २१०॥

रूक्षादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत्। कुपितः प्रदरं कुर्याल्लक्षणं तस्य मे शृणु॥ २११॥
फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च। किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाऽथ नीरुजम्॥ २१२॥
कटिवङ्क्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः। कुरुते वेदनां तीव्रामेतद्वातात्मकं विदुः॥ २१३॥

वातज प्रदर का निदान और लक्षण—रूक्ष-अम्ल-लवण आदि आहार-सेवन से प्रकुपित हुआ वायु पूर्वोक्त सम्प्राप्ति के अनुसार रक्त को लेकर प्रदर रोग को उत्पन्न करता है; उसके लक्षण मैं कह रहा हूँ, आप सुनें—इस रोग में झागदार, पतला, रूक्ष, श्याव, अरुणवर्ण तथा पलाश के फूल के पानी के रंग का रक्त निकलता है और कभी दर्द होता है, कभी नहीं भी होता है। रक्तस्राव के समय कटि, वंक्षण,

---

१. यः पूर्वमुक्तः प्रदर इत्यादौ उपद्रवरूपतया पूर्वमुक्तः प्रदर इति वदन्ति; किन्तु रक्तयोनिचिकित्सिते असृग्दरसंज्ञयैव रक्तयोनिकथनेन निर्दिष्टदोषभेदेन च तत्रैव रक्तयोनिरसृग्दररूपा व्याकृता, तेनेह, पुनरसृग्दरलक्षणाभिधानं पूर्वटीकाकृतामसम्मतम्। इह येऽप्यमुं ग्रन्थं पठन्ति, ते तस्यैवायं प्रभेदः प्रपञ्चो वाऽभिधीयत इति वर्णयन्ति। वयं तु भूरिपुस्तकेष्वेवं पाठदर्शनादस्य व्याख्यानं कुर्मः। गर्भाशयगता इति गर्भाशयसम्बद्धाः। असृग्दरशब्दव्युत्पत्तिमाह—कुपितोऽनिल इत्यादि। रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य इति रक्तं प्रमाणाधिकं कृत्वा रक्तमादाय तद्रजो यस्माद् विवर्धयति (वृद्धेन रक्तेन योजयित्वा रजो विवर्धयति यस्मात्) पवनस्तस्मादसृग्रजोमेलकरूपत्वादयं व्याधिरसृग्दर इत्युच्यते। 'प्रदीर्यते इति विस्तारितो भवति' इति प्रदरः, असृक् दीर्यते यस्मिन्निति असृग्दरः' इत्येषाऽपि निरुक्तिरत्र बोद्धव्या। (चक्रपाणि टीका)

हृदय, पार्श्व, पृष्ठ और श्रोणिप्रदेश में तीव्र वेदना होती है। इन लक्षणों के होने पर वातज प्रदर कहा जाता है॥ २११-२१३॥

अम्लोष्णलवणक्षारैः पित्तं प्रकुपितं यदा। पूर्ववत् प्रदरं कुर्यात् पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु॥ २१४॥
सनीलमथवा पीतमत्युष्णमसितं तथा। नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरथार्तिमान्॥ २१५॥
दाहरागतृषामोहज्वरभ्रमसमायुतम्। असृग्दरं पैत्तिकं स्यात्—

पित्तज प्रदर का निदान और लक्षण—अम्ल, उष्ण, लवण और क्षारयुक्त पदार्थों के अधिक सेवन से प्रकुपित हुआ पित्त पूर्वोक्त सम्प्राप्ति के अनुसार रक्त को लेकर रज की मात्रा बढ़ाकर पित्तज प्रदर रोग उत्पन्न करता है। अब आप पित्तज प्रदर के लक्षण सुनें—नीले या पीले वर्ण का, अत्यन्त उष्ण, काला या अति लाल रक्त दर्द के साथ बार-बार गिरता है; साथ ही जलन, लालिमा, प्यास, मूर्च्छा, ज्वर और शिर में चक्कर होने—ये सब विकार होते हैं। इसे पैत्तिक प्रदर कहते हैं॥ २१४-२१५॥

—श्लैष्मिकं तु प्रवक्ष्यते॥ २१६॥
गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत् कुपितः कफः। प्रदरं कुरुते तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु॥ २१७॥
पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरु स्निग्धं च शीतलम्। स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च घनं मन्दरुजाकरम्॥
छर्द्यरोचकहृल्लासश्वासकाससमन्वितम्।

कफज प्रदर का निदान और लक्षण—गुरु आहार-सेवन आदि कारणों से प्रकुपित कफ पूर्वोक्त सम्प्राप्ति की तरह प्रदर रोग उत्पन्न करता है। उसका यथार्थ लक्षण आप सुनें—योनि से पिच्छिल, पाण्डुवर्ण, भारी, स्निग्ध, शीतल, कफांशयुक्त एवं गाढ़ा रक्तस्राव होता है, साथ ही वमन, अरुचि, हृल्लास, श्वास और खाँसी आती है॥ २१६-२१८॥

वक्ष्यते क्षीरदोषाणां सामान्यमिह कारणम्॥ २१९॥
यत्तदेव त्रिदोषस्य कारणं प्रदरस्य तु। त्रिलिङ्गसंयुतं विद्यान्नैकावस्थमसृग्दरम्॥ २२०॥
नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीणशोणिता। सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदाऽनिलः॥ २२१॥
रक्तमार्गेण सृजति प्रत्यनीकबलं कफम्। दुर्गन्धं पिच्छिलं पीतं विदग्धं पित्ततेजसा॥ २२२॥
वसां मेदश्च यावद्धि समुपादाय वेगवान्। सृजत्यपत्यमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम्॥ २२३॥

त्रिदोषज प्रदर का निदान और लक्षण—आगे इसी अध्याय (श्लोक २३२-२३५) में दूध के दूषित होने के कारण को कहेंगे। त्रिदोषज प्रदर के भी वे ही कारण होते हैं। त्रिदोषज प्रदर सदैव एक जैसा नहीं रहता। इसमें तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। इसमें स्त्री को बड़ा कष्ट होता है, उसमें रक्ताल्पता हो जाती है। सभी दोषों के प्रकोपक आहार-विहार के सेवन से प्रकुपित वायु योनिमार्ग से ऐसा कफ निकालती है, जिसकी चिकित्सा में सफलता नहीं मिलती है। पित्त के तेज से विदग्ध होकर दुर्गन्धयुक्त, पिच्छिल और पीला कफ निकलता है। वेगवान वायु योनिमार्ग से वसा और मेद को लेकर घृत, मज्जा और वसा की तरह का रक्त स्रवित करती है॥ २१९-२२३॥

शश्वत् स्रवत्यथास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्। क्षीणरक्तां दुर्बलां स तामसाध्यां विवर्जयेत्॥

असाध्य प्रदर का लक्षण—जिस स्त्री की योनि से निरन्तर स्राव हो रहा हो और वह स्त्री प्यास, जलन तथा ज्वर से पीड़ित हो, उसमें रक्ताल्पता और दुर्बलता हो, तो उसके रोग को असाध्य जानना चाहिए एवं उसकी चिकित्सा नहीं करें॥ २२४॥

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्॥ २२५॥
गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम्। इन्द्रगोपकसङ्काशमार्तवं शुद्धमादिशेत्॥ २२६॥

शुद्ध आर्तव का लक्षण—(१) जो आर्तव महीने में एक बार आये, जिसमें पिच्छ (श्लेष्मकला के आभ्यन्तर स्तर के खण्ड) न हों, जिसमें (क्रमशः पित्त तथा वात की विकृति के सूचक) दाह या दर्द न हों, जो मात्रा में न बहुत अधिक हो, न बहुत अल्प तथा जो ५ अहोरात्र रहे, ऐसे आर्तव को शुद्ध आर्तव कहना चाहिए। (२) जिस आर्तव का वर्ण गुञ्जा (रत्ती) के फल सदृश, रक्तकमल, लाक्षारस एवं बीरबहूटी के वर्ण जैसा हो, उसे शुद्ध आर्तव कहना चाहिए॥ २२५-२२६॥

वक्तव्य—चक्रपाणि ने वर्णों की उपमा के सम्बन्ध में कहा है—'गुञ्जाफलसवर्णमित्यादिना वर्णभेदश्चार्तवे प्रकृतिभेदादेव भवति' अर्थात् वातादि प्रकृतियों के कारण कुछ-कुछ भेद होता है। मनुष्यों की वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा समप्रकृति के कारण रक्त की रक्तिमा में भी न्यूनाधिक भेद होता है। समप्रकृति पुरुष का रक्त बीरबहूटी के वर्ण का होता है, शेष वातादि प्रकृति के पुरुषों का रक्त गुञ्जाफल, रक्तकमल या लाक्षारस के वर्ण का होता है।

स्त्री की योनि से नियतकाल में प्रतिमास प्रायः २२ तोला रक्त निकलता है। इस रक्त का मास के पूर्व या पश्चात् आना विकार-सूचक है। मासिक का पाँच अहोरात्र से अधिक रहना भी दोषसूचक है।

योनीनां वातलाद्यानां यदुक्तमिह भेषजम्। चतुर्णां प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्भिषक्॥ २२७॥
रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम्। रक्तार्शसां च यत्प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत्॥

चतुर्विध प्रदर की चिकित्सा—वैद्य को चाहिए कि वातला आदि योनियों के रोगों की जो चिकित्सा पूर्व में कही गयी है, वही सब चिकित्सा चार प्रकार के प्रदरों की भी करें। इसी प्रकार रक्तातिसार, रक्तपित्त और रक्तार्श (खूनी बवासीर) की जो चिकित्सा बतलायी गयी है, वही चिकित्सा सभी प्रकार के प्रदर रोगों में भी करायें॥ २२७-२२८॥

धात्रीस्तनस्तन्यसम्पदुक्ता विस्तरतः पुरा। स्तन्यसंजननं चैव स्तन्यस्य च विशोधनम्॥ २२९॥
वातादिदुष्टे लिङ्गं च क्षीणस्य च चिकित्सितम्। तत्सर्वमुक्तं ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्तिताः॥
वातादिष्वेव तान् विद्याच्छास्त्रचक्षुर्भिषक्तमः।
त्रिविधास्तु यतः शिष्यास्ततो वक्ष्यामि विस्तरम्॥ २३१॥

स्तन्यदोष-चिकित्सा का उपक्रम—पहले शारीरस्थान अध्याय आठ में धाय के स्तनों की उत्तमता और दूध की उत्तमता का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। दूध के अधिक उत्पन्न करने के प्रकार, दुग्ध-शोधन प्रकार, वातादि दूषित दुग्ध के लक्षण और क्षीणदुग्ध की चिकित्सा, यह सब भी बतला दिया गया है। जो आठ प्रकार के क्षीरदोष (च.सू. १९ में) बतलाये गये हैं, उन्हें भी शास्त्र की दृष्टि से सम्पन्न श्रेष्ठतम वैद्य को वातादि दोषजन्य ही जानना चाहिए। यद्यपि पूर्वोक्त सन्दर्भों के आधार पर विषय का ज्ञान हो सकता है, तथापि शिष्य तीन (तीक्ष्णबुद्धि, मध्यबुद्धि और मन्दबुद्धि) प्रकार के होते हैं और मध्य तथा मन्द बुद्धिवाले भी विषय को आसानी से समझ जायें, इसलिए विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है॥ २२९-२३१॥

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात्। लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात्॥२३२॥
मनःशरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात्। प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च॥ २३३॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधि मन्दकम्। अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च॥ २३४॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात्। अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातङ्ककर्शनैः॥
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च। कुर्युरष्टविधं भूयो दोषतस्तन्निबोध मे॥ २३६॥

स्तन्य रोग का निदान और सम्प्राप्ति—अजीर्ण रहने पर भोजन करने से, अहितकर भोजन, विषम भोजन, परस्पर विरुद्ध भोजन और अधिक मात्रा में भोजन करने से, अधिक नमकीन, अम्ल, कटु, क्षारप्रधान

या सड़े-गले पदार्थों के खाने से, मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा से, रात में न सोने से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से या बिना वेग के ही इन्हें प्रेरित करने से, खीर-सेवईं आदि दूध में बने पदार्थों के खाने से, मिठाई, खिचड़ी, अपूर्ण जमी दही, अभिष्यन्दी (कफकारक) पदार्थ, ग्रामीण पशुमांस अथवा जलेचर जीवों का मांस खाने से, भोजन करने के बाद दिन में नित्य सोने से, अधिक मद्य पीने से, कोई श्रम का कार्य न करने से, चोट लगने से, क्रोध करने से और किसी रोग द्वारा पीड़ित होकर दुर्बल हो जाने से प्रकुपित वात आदि दोष दुग्ध-वाहिनियों में जाकर दूध को आठ प्रकार से दूषित कर देते हैं। उन्हें दोषों के अनुसार बतलाया जा रहा है, आप उसे अच्छी तरह जानें॥ २३२-२३६॥

वैरस्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके। पित्ताद्विवर्ण्यदौर्गन्ध्ये स्नेहपैच्छिल्यगौरवम्॥
कफाद्भवति—

दोषानुसार स्तन्य दोष—(१) वात के प्रकोप में दूध में विरसता, फेन की उपस्थिति और रूक्षता होती है; (२) पित्त के प्रकोप में विवर्णता और दुर्गन्धपूर्णता होती है तथा (३) कफ के प्रकोप से अधिक चिकनाई, पिच्छिलता और भारीपन ये विकार होते हैं॥ २३७॥

दोषज आठ क्षीरदोष

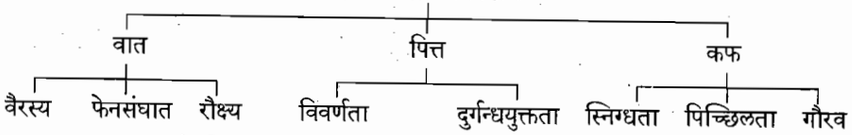

—रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः। क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत्॥ २३८॥
विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत् पिबन्। न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण विवर्धते॥ २३९॥
तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन्। करोति फेनसङ्घातं तत्तु कृच्छ्रात् प्रवर्तते॥ २४०॥
तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः। वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽधिगच्छति॥ २४१॥
पूर्ववत् कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः। रूक्षं तत् पिबतो रौक्ष्याद्बलह्रासः प्रजायते॥

वातज क्षीरदोष—(१) स्वप्रकोपक रूक्ष-शीत-लघु आदि गुणयुक्त आहार-विहार से प्रकुपित वायु दुग्धवाहिनी प्रणालियों में आकर दूध की मधुरता को नष्ट कर उसे विरस बना देती है। उस विरस और वातसंसृष्ट दूध को पीने वाला बालक कृशशरीर हो जाता है, उसे दूध अच्छा नहीं लगता है और वह कठिनाई से बढ़ पाता है। (२) पूर्ववत् स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु दुग्धवह स्रोतों में पहुँचकर दूध का मन्थन कर देता है, जिससे दूध में झाग उत्पन्न हो जाती है और दूध स्तनों से बड़ी कठिनाई से निकल पाता है। उस दूध के पीने से बच्चे का स्वर धीमा हो जाता है, उसका मल-मूत्र एवं अपानवायु रुक जाता है और बालक को वातिक शिरोरोग अथवा पीनस रोग हो जाता है। (३) इसी प्रकार पूर्वकथित कारणों से प्रकुपित वायु दुग्धवह स्रोत में जाकर दूध के स्नेहांश को सुखा देती है। उस दूध को पीने वाला बालक दूध की रूक्षता के कारण बलहीन हो जाता है॥ २३८-२४२॥

पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं स्तन्याशयमभिप्लुतम्। करोति स्तन्यवैवर्ण्यं नीलपीतासितादिकम्॥
विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात्तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः। नित्यमुष्णशरीरश्च नाभिनन्दति तं स्तनम्॥
पूर्ववत् कुपिते पित्ते दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति। पाण्ड्वामयस्तत्पिबतः कामला च भवेच्छिशोः॥

पित्तज क्षीरदोष—(१) उष्ण आहार-विहार आदि कारणों से प्रकुपित पित्त दुग्धवाही स्रोतों में जाकर दुग्ध में नील, पीत एवं कृष्ण आदि वर्णों को उत्पन्न करता है। विवर्ण दूध को पीने वाले बालक का वर्ण विकृत हो जाता है। उसके शरीर से पसीना अधिक निकलता है, प्यास लगती है तथा पतला शौच होता है। बालक का शरीर नित्य ही उष्ण रहता है और वह विवर्ण दूध पीना नहीं पसन्द करता है। (२) इसी

प्रकार स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्त दुग्धवाही स्रोतों में पहुँचकर दूध को दुर्गन्धपूर्ण बना देता है और उस दूध को पीने वाला बालक पाण्डु और कामला रोग से आक्रान्त हो जाता है॥ २४३-२४५॥

क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियाः। स्नेहान्वितत्वात्तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति तु॥
छर्दनः कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते शिशुः। नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्राक्लमसमन्वितः॥ २४७॥
श्वासकासपरीतस्तु प्रसेकतमकान्वितः। अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा॥ २४८॥
लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात्तत् पिबञ्छिशुः। कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात् क्षीरगौरवम्॥
करोति गुरु तत्पीत्वा बालो हृद्रोगमृच्छति। अन्यांश्च विविधान्रोगान्कुर्यात्क्षीरसमाश्रितान्॥

कफज क्षीरदोष—(१) गुरु, स्निग्ध आदि आहार-विहारों से प्रकुपित हुआ कफ स्त्री के क्षीराशय में पहुँचकर अपनी स्निग्धता से दूध को अतिस्निग्ध बना देता है। उस अतिस्निग्ध दूध को पीने वाला बालक वमन करने लगता है। मलत्याग करते समय उदर में कुंथन होता है, मुख से लार टपकती रहती है और नासिका, मुख आदि स्रोत सदा गीले रहते हैं। वह निद्रा, थकावट, श्वास, कास, लालास्राव और तमक श्वास से पीड़ित रहता है। (२) अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित कफ दुग्धवह स्रोत में जाकर दुग्ध को प्रभावित कर उसे पिच्छिल बना देता है। उस पिच्छिल दूध को पीने वाला बालक मुख से लार टपकाता रहता है। उसके चेहरे पर सूजन होती है, आँखें फूल जाती हैं और बालक ज्ञानशून्य जैसा जड़मति हो जाता है। (३) जब प्रकुपित कफ क्षीराशय में जाकर अपने गुरुगुण से दूध में भारीपन ला देता है, तो उस दूध को पीने वाला बालक हृदयरोग का रोगी हो जाता है। उस दूध के दोष से अन्य भी अनेक रोग बालक को ग्रस्त कर लेते हैं॥ २४६-२५०॥

क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे सम्भवन्ति तदात्मकाः।

वातादि दोषज अन्य क्षीर-विकार—वात आदि दोषों से दूध के दूषित हो जाने पर उन-उन दोषों के जो दूषण कहे गये हैं, उनके अतिरिक्त भी दोषज क्षीरदोष हो सकते हैं।

तत्रादौ स्तन्यशुद्ध्यर्थं दात्रीं स्नेहोपपादिताम्॥ २५१॥
संस्वेद्य विधिवद्वैद्यो वमनेनोपपादयेत्। वचाप्रियङ्गुयष्ट्याह्वफलवत्सकसर्षपैः॥ २५२॥
कल्कैर्निम्बपटोलानां क्वाथैः सलवणैर्वमेत्।

स्तन्यदोष-चिकित्सा—दुग्ध को शुद्ध करने के लिए सबसे पहले दूध पिलाने वाली माता या धाय का स्नेहन करना चाहिए, फिर उसका स्वेदन करके तब विधिपूर्वक वमन कराना चाहिए।

वमनार्थ औषध—बच, प्रियंगुफूल, मुलहठी, मदनफल, इन्द्रजौ और पीली सरसों—इनके समभाग के कल्क को नीम की पत्ती एवं परवर की पत्ती के क्वाथ में डालकर तथा सेंधानमक मिलाकर पिलाकर वमन कराना चाहिए॥ २५१-२५२॥

सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्जनां[1] ततः॥ २५३॥
दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत्। त्रिवृतामभयां वाऽपि त्रिफलारससंयुताम्॥ २५४॥
पाययेन्मधुसंयुक्तामभयां वाऽपि केवलाम्। पाययेन्मूत्रसंयुक्तां विरेकार्थं च शास्त्रवित्॥ २५५॥

विरेचन योग—जब रोगिणी का सम्यक् प्रकार से वमन हो जाय, तो उसे प्रवरशुद्धि, मध्यशुद्धि तथा अवरशुद्धि के अनुसार उचित रीति से संसर्जन क्रम के नियमपूर्वक पथ्य देना चाहिए।

तत्पश्चात् वैद्य दोष की प्रधानता, काल तथा रोगिणी के बल का विचार कर तदनुसार स्नेहन तथा विरेचन करायें।

---

१. पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च। क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥ (च.सि. १।११)

विरेचन औषध—शास्त्र के ज्ञाता वैद्य को चाहिए कि निशोथ का चूर्ण या निर्बीज हर्रे का चूर्ण उचित मात्रा में त्रिफला के क्वाथ में मिलाकर पिलाये या केवल हर्रे के चूर्ण को मधु मिलाकर अथवा केवल हर्रे के चूर्ण को गोमूत्र में मिलाकर विरेचन कराने के लिए पिलाये॥ २५३-२५५॥

सम्यग्विरिक्तां मतिमान् कृतसंसर्जनां पुनः। ततो दोषावशेषघ्नैरन्नपानैरुपाचरेत्॥ २५६॥
शालयः षष्टिका वा स्युः श्यामाका भोजने हिताः। प्रियङ्गवः कोरदूषा यवा वेणुयवास्तथा॥
वंशवेत्रकलायाश्च शाकार्थे स्नेहसंस्कृताः। मुद्गान् मसूरान् यूषार्थे कुलत्थांश्च प्रकल्पयेत्॥
निम्बवेत्राग्रकुलकवार्ताकामलकैः शृतान्। सव्योषसैन्धवान् यूषान् दापयेत् स्तन्यशोधनान्॥
शशान् कपिञ्जलानेणान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत्।

क्षीरदोषघ्न अन्नपान—जब माता या धात्री का सही ढंग से विरेचन हो जाये, तो उसे (पेया, विलेपी आदि) संसर्जनक्रम से पथ्य देना चाहिए और उसके बाद रोगिणी को इस तरह के अन्नपान का सेवन करायें जो बचे हुए अन्य दोषों को भी शान्त करने में समर्थ हो।

पथ्य अन्न—शालि चावल, साठी का चावल, सावाँ का चावल, प्रियंगु (कंगुनी), कोदो, जौ तथा बाँस का जौ उत्तम पथ्य है। **शाक**—शाक के लिए बाँस के नवीन कोमल पत्रांकुर, बेंत का अग्रभाग और मटर की पत्ती को घी या तैल में छौंककर प्रयोग करना चाहिए। **यूष**—नीम के कोमल पत्ते, बेंत का अग्रभाग, परवर के पत्ते, बैंगन और आँवला—इनको डालकर षडंग परिभाषा के अनुसार पकाये हुए जल में मूँग, मसूर या कुलथी की दाल का यूष तैयार कर उसमें सोंठ, मरिच, पीपर और सेंधानमक डालकर स्तन्यशोधनार्थ इन यूषों का सेवन कराना चाहिए।

मांस प्रयोग—मांसार्थी धाय या माता को खरहा, गौरैया और काले मृग के मांस को सोंठ, मरिच, पीपर और सेंधानमक डालकर, छौंक लगाकर विधिवत् पकाकर सेवन करना चाहिए॥ २५६-२५९॥

शार्ङ्गेष्टासप्तपर्णत्वगश्वगन्धाशृतं जलम्॥ २६०॥
पाययेताथवा स्तन्यशुद्धये रोहिणीशृतम्। अमृतासप्तपर्णत्वक् क्वाथं चैव सनागरम्॥ २६१॥
किराततिक्तकंक्वाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत्। त्रीनेतान्स्तन्यशुद्ध्यर्थमिति सामान्यभेषजम्॥

स्तन्यशोधक सामान्य औषध योग—(१) शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा या महाकरंज), छितवन और असगंध को डालकर षडंगविधि से पकाया हुआ जल अथवा (२) कुटकी डालकर पकाया क्वाथ या (३) गुरुच, छितवन एवं सोंठ डालकर पकाया क्वाथ या (४) चिरायता का क्वाथ पिलाना चाहिए। ये सभी दूध को शुद्ध करने वाले योग सर्वविध क्षीरदोष को दूर करते हैं॥ २६०-२६२॥

वक्तव्य—यहाँ सभी (आठ) प्रकार के क्षीरदोषों के लिए योग बतलाये गये हैं। क्रम संख्या २ से ४ तक के योग श्लोक के एक चरण में पठित हैं और उनके पाठ के अन्त में 'त्रीनेतान्' कहा गया है। इस प्रकार तीन में वे ही गिने जायेंगे।

कीर्तिनं स्तन्यदोषाणां पृथगन्यं निबोधत। पाययेद्विरसक्षीरां द्राक्षामधुकसारिवाः॥ २६३॥
श्लक्ष्णपिष्टां पयस्यां च समालोड्य सुखाम्बुना। पञ्चकोलकुलत्थैश्च पिष्टैरालेपयेत् स्तनौ॥
शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात्तथा स्तन्यं विशुद्धयति।

क्षीर दोषों की विशिष्ट चिकित्सा

विरस में उपचार—अब आप स्तनदोषों की अन्य विशिष्ट चिकित्सा (जिसे मैं कह रहा हूँ) जानें। (१) जिस धाय या माता का दूध विरस हो गया हो, उसे मुनक्का, मुलहठी, अनन्तमूल और क्षीरविदारी को समभाग लेकर (उचित मात्रा में) बारीक पीसकर सुखोष्ण जल में मिलाकर पिलाना चाहिए।

पञ्चकोलादि लेप—पीपर, पिपरामूल, चाभ, चीता, सोंठ और कुलथी—इन सबको समभाग लेकर पीसकर स्तनों पर लेप करना चाहिए। जब लेप सूख जाय तो स्तनों को धोकर दूध निकाल देना चाहिए। ऐसा करने से दूध शुद्ध हो जाता है॥ २६३-२६४॥

फेनसङ्घातवत्क्षीरं यस्यास्तां पाययेत् स्त्रियम्॥ २६५॥
पाठानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना।

फेनसंघात की चिकित्सा—(२) जिस धाय या माता का दूध झागाधिक्ययुक्त हो उसे पाठा, सोंठ, काकजंघा और मूर्वा को पीसकर सुखोष्ण जल में घोलकर पिलाना चाहिए॥ २६५॥

अञ्जनं नागरं दारु बिल्वमूलं प्रियङ्गवः॥ २६६॥
स्तनयोः पूर्ववत् कार्यं लेपनं क्षीरशोधनम्।

अञ्जनादि लेप—क्षीरशोधन के लिए धाय या माता के स्तनों पर अञ्जन, सोंठ, देवदारु, बेलवृक्ष के मूल का छिलका और प्रियंगु के समभाग को पीसकर पहले की तरह लेप लगाना चाहिए॥ २६६॥

किराततिक्तकं शुण्ठीं सामृतां क्वाथयेद् भिषक्॥ २६७॥
तं क्वाथं पाययेद् धात्रीं स्तन्यदोषनिबर्हणम्। स्तनौ चालेपयेत् पिष्टैर्यवगोधूमसर्षपैः॥ २६८॥

किराततिक्तादि क्वाथ और यवादि लेप—वैद्य को चाहिए कि स्तन्यदोष को दूर करने के लिए धाय या माता को चिरायता, सोंठ और गुरुच का क्वाथ पिलाये तथा जौ, गेहूँ और सरसों का स्तनों पर लेप करे॥ २६७-२६८॥

षड्विरेकाश्रितीयोक्तैरौषधैः स्तन्यशोधनैः। रूक्षक्षीरा पिबेत् क्षीरं तैर्वा सिद्धं घृतं पिबेत्॥ २६९॥
पूर्ववज्जीवकाद्यं च पञ्चमूलं प्रलेपनम्। स्तनयोः संविधातव्यं सुखोष्णं स्तन्यशोधनम्॥ २७०॥

रूक्ष क्षीर की चिकित्सा—(३) १. जिस स्त्री के दुग्ध में रूक्षता हो उसे 'षड्विरेकाश्रितीय' (च.सू. ४) अध्याय में कही गयी दुग्धशोधक (१ पाठा, २ सोंठ, ३ देवदारु, ४ नागरमोथा, ५ मूर्वा, ६ गुरुच, ७ इन्द्रजौ, ८ चिरायता, ९ कुटकी और १० अनन्तमूल) औषधों को दूध में डालकर क्षीरपाक-विधि से पकाया हुआ दूध पीना चाहिए अथवा २. उन्हीं औषधों से उनका क्वाथ तथा कल्क डालकर पकाया हुआ घी सेवन करना चाहिए। ३. जीवकाद्य प्रलेप—पहले कहे गये प्रलेपों की तरह जीवनीय वर्ग के जीवक आदि (१ जीवक, २ ऋषभक, ३ मेदा, ४ महामेदा, ५ काकोली, ६ क्षीरकाकोली, ७ मुद्गपर्णी, ८ माषपर्णी, ९ जीवन्ती और १० मुलहठी) औषधों को तथा बृहत् पञ्चमूल की पाँच (१ बेल, २ गनियार, ३ गम्भार, ४ पाढल और ५ सोनापाठा) औषधों को पीसकर गरम कर सुखोष्ण होने पर उनका स्तनों पर प्रलेप करें। यह स्तन्यशोधन है। (इस लेप के सूख जाने पर स्तनों को धोकर दूध निकाल देना चाहिए)॥ २६९-२७०॥

यष्टीमधुकमृद्वीकापयस्यासिन्धुवारिकाः। शीताम्बुना पिबेत्कल्कं क्षीरवैवर्ण्यनाशनम्॥ २७१॥
द्राक्षामधुककल्केन स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत्। प्रक्षाल्य वारिणा चैव निर्दुह्यात्तौ पुनः पुनः॥

विवर्ण क्षीर की चिकित्सा—(४) १. मुलहठी, मुनक्का, क्षीरविदारी और मेउड़ी के समभाग के चूर्ण को ठंडे जल के साथ पीना चाहिए। यह दूध की विवर्णता को दूर करता है। २. **द्राक्षादिलेप**—मुनक्का और मुलहठी को पीसकर स्तनों पर लेप करना चाहिए और लेप के सूख जाने पर स्तनों को गरम पानी से धोकर दूध निकाल देना चाहिए॥ २७१-२७२॥

विषाणिकाजशृङ्ग्यौ च त्रिफलां रजनीं वचाम्।
पिबेच्छीताम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्ध्यनाशनम्॥ २७३॥
लिह्याद्वाऽप्यभयाचूर्णं सव्योषं माक्षिकप्लुतम्। क्षीरदौर्गन्ध्यनाशार्थं धात्री पथ्याशिनी तथा॥
सारिवोशीरमञ्जिष्ठाश्लेष्मातककुचन्दनैः। पत्राम्बुचन्दनोशीरैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत्॥

दुर्गन्धयुक्त क्षीर की चिकित्सा—(५) १. काकड़ासींगी, मेढ़ासींगी, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, हल्दी और बच के समभाग चूर्ण को उचित मात्रा में शीतल जल से पीना चाहिए। यह योग दूध की दुर्गन्ध को दूर करता है अथवा २. समुचित पथ्य का सेवन करने वाली धाय (या माता) दुग्ध की दुर्गन्धि को नष्ट करने के लिए सोंठ, मरिच, पीपर के चूर्ण के साथ हर्रे के चूर्ण में मधु मिलाकर सेवन करे। ३. सारिवादि लेप—अनन्तमूल, खश, मजीठ, लिसोड़ा और लाल चन्दन या ४. तेजपात, सुगन्धबाला, श्वेतचन्दन और खश को पीसकर स्तनों पर लेप करना चाहिए तथा लेप के सूख जाने पर गरम पानी से धोकर दूध को निकाल देना चाहिए॥ २७३-२७५॥

स्निग्धक्षीरा दारुमुस्तपाठाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना। पीत्वा ससैन्धवाः क्षिप्रं क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात्॥

अतिस्निग्ध क्षीर की चिकित्सा—(६) अतिस्निग्ध दूध वाली स्त्री देवदारु, नागरमोथा और पाठा को पीसकर सेंधानमक डालकर गरम जल से पान करे, तो उसका दूध शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है॥ २७६॥

पाययेत् पिच्छिलक्षीरां शाङ्गेष्टामभयां वचाम्। मुस्तनागरपाठाश्च पीताः स्तन्यविशोधनाः॥
तक्रारिष्टं पिबेच्चापि यदुक्तं गुदजापहम्। विदारीबिल्वमधुकैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत्॥ २७८॥

पिच्छिल दूध की चिकित्सा—(७) १. जिस स्त्री का दूध पिच्छिल गुणयुक्त है उसे काकजंघा, हर्रे और बच का कल्क अथवा नागरमोथा, सोंठ और पाठा को पीसकर पिलाना चाहिए। इससे दूध शुद्ध हो जाता है। २. अर्श रोग में बतलाये गये तक्रारिष्ट को भी पिलाना चाहिए। ३. विदार्यादि लेप—स्तनों पर विदारीकन्द, बेल के जड़ की छाल और मुलहठी—इन्हें पीसकर लगाना चाहिए॥ २७७-२७८॥

त्रायमाणामृतानिम्बपटोलत्रिफलाभृतम्। गुरुक्षीरा पिबेदाशु स्तन्यदोषविशुद्धये॥ २७९॥
पिबेद्वा पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम्। बलानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाभिर्लेपयेत् स्तनौ॥ २८०॥
पृश्निपर्णीपयस्याभ्यां स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत्। अष्टावेते क्षीरदोषा हेतुलक्षणभेषजैः॥ २८१॥
निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्थास्तथोक्ताः केचिदामयाः।

गुरुक्षीर की चिकित्सा—(८) १. जिस स्त्री का दूध भारी हो, उसे दूध के भारीपन को शीघ्र दूर करने के लिए त्रायमाणा, गुरुच, नीम की छाल, परवर की पत्ती, आँवला, हर्रा और बहेड़ा के क्वाथ को पीना चाहिए अथवा २. पीपरामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ का क्वाथ पीना चाहिए। ३. बलादि लेप—बरियार, सोंठ, काकजंघा और मूर्वा को पीस कर स्तनों पर लेप करे या ४. पिठवन और क्षीरविदारी को पीसकर स्तनों पर लेप करना चाहिए।

क्षीरदोष-वर्णन का उपसंहार—इस प्रकार यहाँ निदान, लक्षण और चिकित्सा के साथ आठ प्रकार के क्षीरदोषों का वर्णन किया गया है तथा क्षीरदोष से होने वाले कुछ रोगों को भी बतला दिया गया है॥ २७९-२८१॥

बालरोग-चिकित्सा

दोषदूष्यमलाश्चैव महतां व्याधयश्च ये॥ २८२॥
त एव सर्वे बालानां मात्रा त्वल्पतरा मता।

बालरोग चिकित्सा-सिद्धान्त—बड़ी आयुवाले युवा या वृद्ध पुरुषों में जो वात-पित्त-कफ दोष, रस-रक्त आदि दूष्य, मूत्र-पुरीष आदि मल तथा ज्वर-अतिसार आदि रोग होते हैं, वे ही दोष, दूष्य एवं मल तथा रोग बालकों को भी होते हैं, किन्तु बालकों में इनकी मात्रा आयु के अनुसार अत्यल्प होती है। तात्पर्य यह कि जब इन विकारों से बालक को कोई रोग हो, तो उसकी चिकित्सा में वही औषधें दी जानी चाहिए, जो उन-उन रोगों में वयस्कों को दी जाती है, परन्तु उन औषधों की मात्रा अन्नाद

बालक के लिए अल्प, क्षीरान्नान के लिए अल्पतर और क्षीराद बालक के लिए अल्पतम होनी चाहिए। अर्थात् दोषादि मात्रानुसार औषध की मात्रा होनी चाहिए॥ २८२॥

निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम्॥ २८३॥
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित्। भेषजं स्वल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत्[1]॥
मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च। प्रयोजयेद् भिषग्बाले मतिमानप्रमादतः॥ २८५॥
अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णमम्लं कटुविपाकि च। गुरु चौषधपानान्नमेतद्बालेषु गर्हितम्। २८६॥
समासात् सर्वरोगाणामेतद् बालेषु भेषजम्। निर्दिष्टं शास्त्रविद् वैद्यः प्रविचिच्य प्रयोजयेत्॥

बालकों में शोधन एवं शमन प्रयोग—शास्त्रज्ञ वैद्य को चाहिए कि बालक जब तक परतन्त्र वृत्ति रहते हैं अर्थात् माता के दूध पर ही उनका आहार निर्भर होता है और वे खाने-पीने की अपनी रुचि या प्रवृत्ति नहीं रखते, तब तक उनके शरीर की कोमलता और मातृनिर्भरता का विचार कर उन्हें वमन-विरेचन आदि संशोधन कर्म से मुक्त रखे। उनकी वाणी व्यक्त नहीं होती, जिसमें ये अपने कष्ट को बतला सकते और उनमें अधिक बल भी नहीं होता। इसलिए उन्हें रोग के अनुसार बहुत कम मात्रा में औषध दे। बुद्धिमान् चिकित्सक सावधान होकर बालकों को दूध में डालकर पकाये मधुर क्वाथ को मृदु बनाकर दें।

त्याज्य द्रव्य—अत्यन्त स्निग्ध, अतिरूक्ष, अधिक उष्ण, अति अम्ल तथा जो द्रव्य विपाक में कटु हों और जो औषध एवं अन्नपान गुरु हों, वे बालकों के लिए त्याज्य हैं। संक्षेप में बालकों के सभी रोगों की चिकित्सा के सिद्धान्त बतला दिये गये। शास्त्रज्ञ वैद्य अपनी विवेक-बुद्धि से तर्क तथा युक्तिपूर्वक बालकों का यथोचित उपचार करे॥ २८३-२८७॥

भवन्ति चात्र—

इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम्। स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुत्तमम्॥ २८८॥

चिकित्सास्थान : एक रहस्य—इस प्रकार चिकित्सास्थान में सभी रोगों की चिकित्सा का उपदेश किया गया है (यदि किन्हीं रोगों की स्वतन्त्र चिकित्सा नहीं कही गयी है, तो इस स्थान में कहे गये सिद्धान्तों के अनुसार उनकी भी चिकित्सा की जा सकती है)। इस शास्त्र का (चरकसंहिता का) यह स्थान सर्वोत्तम है और रहस्य (गोप्य) है॥ २८८॥

वक्तव्य—'रहस्य' कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें जीवन-रक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी उपचार का वर्णन किया गया है, जो गोपनीय है और जिस किसी को बतलाने लायक नहीं है। आरोग्य प्रदान करने के कारण यह स्थान विशिष्ट महत्त्व रखता है।

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च। नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत[2]। तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम्॥

---

१. निवृत्तिर्वमनादीनामित्यादि। द्विविधा बाला भवन्ति स्वतन्त्रवृत्तयः परतन्त्रवृत्तयश्च; तत्र परतन्त्रत्वं बालेषु वीक्ष्य वमनादीनां निवृत्तिः कर्त्तव्या, वाक्चेष्टयोश्च बालस्य सामर्थ्यं वीक्ष्य स्वतन्त्रतायां जातायां वमनादीनां मृदुत्वं शास्त्रविद् वैद्यः प्रयोजयेत्, तथा संशमनमपि भेषजं स्वल्पमात्रं यथाव्याधिबालेषु प्रयोजयेदिति वाक्यार्थः, किंवा बालेषु मृदुत्वं परतन्त्रतां च वीक्ष्य संशमनं भेषजमल्पमात्रं यथाव्याधिप्रयोजयेदिति योजनीयम्। (चक्रपाणि टीका)

२. (क) अस्मिंश्चिकित्सितस्थाने शेषाः सप्तदशाध्यायाः, कल्पा द्वादशाध्यायाः सिद्धयश्च नासाद्यन्ते चरकप्रतिसंस्कृतेऽग्निवेशतन्त्रेऽधुना न प्राप्यन्ते, केवलाग्निवेशतन्त्रे तु प्राप्यन्ते, तानग्निवेशतन्त्रोक्तानेतानध्यायान् इति गंगाधरः।

(ख) सप्तदशाध्याया इति चिकित्सास्थाने सप्तदशाध्यायाः, ते च चरकसंस्कृतान् यक्ष्मचिकित्सान्तानष्टावध्यायान्, तथाऽर्शोऽतीसारविसर्पद्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय ज्ञेयाः। (चक्रपाणि टीका)

(ग) अस्मिन् सप्तदशाध्यायाश्चरमाश्चिकित्सितस्थाने। (जज्जट)

चरकसंहिता का संस्कार—महर्षि चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशतन्त्र में चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय और कल्प तथा सिद्धिस्थान नहीं प्राप्त होते हैं, उन सत्रह अध्यायों को आचार्य कपिलबल के पुत्र आचार्य दृढबल ने पूरा किया। क्योंकि यह चिकित्साशास्त्र जीवनप्रदाता शास्त्र है, इसलिए इसे पूरा करने के लिए जैसा चाहिए उस प्रकार से पूर्व के वर्णनों के तारतम्य में तदनुकृति पर अनुपलब्ध अंश की पूर्ति की गयी॥ २८९-२९०॥

वक्तव्य—यहाँ चिकित्सास्थान के दृढबल पूरित सत्रह अध्यायों में कौन-कौन-से अध्याय हैं; यह एक प्रश्न है। आचार्य चक्रपाणि ने इस श्लोक की टीका में यह बतलाया है कि १. रसायन, २. वाजीकरण, ३. ज्वर, ४. रक्तपित्त, ५. गुल्म, ६. प्रमेह, ७. कुष्ठ और ८. राजयक्ष्मा, ये प्रारम्भ के ८ अध्याय तथा ९. अर्श, १०. अतिसार, ११. विसर्प, १२. मदात्यय एवं १३. द्विव्रणीय—इन तेरह के अतिरिक्त १७ अध्याय दृढबल रचित हैं। इसके विपरीत श्री जज्जट ने प्रारम्भ के तेरह अध्यायों को छोड़कर अन्तिम १७ अध्यायों को दृढबल रचित कहा है।

चिकित्सास्थान का उपसंहार

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः। तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम्॥ २९१॥
दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्[1]। उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति॥

अनुरक्त रोगों की चिकित्सा का सिद्धान्त—इस चिकित्सास्थान में बहुत से रोगों की चिकित्सा नहीं कही गयी है, क्योंकि उन तमाम रोगों के बहुत से नाम और उनके बहुत से लक्षण होते हैं, जिन सबका वर्णन करना शक्य नहीं है। उन अनुक्त रोगों की चिकित्सा में भी दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति एवं वय का ठीक-ठीक विचार करके औषध प्रयोग करने से आरोग्यलाभ होता है।

रोगी की चिकित्सा उसके वात आदि दोष, रस-रक्त आदि दूष्य और रोग के उत्पादक कारणों के विपरीत औषध, अन्न, विहार का सेवन हितकारक एवं रोगनाशक होता है। इस प्रकार औषध एवं चिकित्सा का उचित रूप से सम्यग्योग होने से उक्त या अनुक्त सभी रोगों में आरोग्यलाभ होता है॥ २९१-२९२॥

देशकालप्रमाणानां सात्म्यासात्म्यस्य चैव हि।
सम्यग्योगोऽन्यथा ह्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत्[2]॥ २९३॥

सम्यग्योग ही चिकित्सा—(जिस सम्यग्योग से युक्त चिकित्सा सफल होती है, उस सम्यग्योग को इस सूत्र में बतलाया गया है) देश (आतुर), काल (दिन-रोगी-औषध-व्याधि-जीर्ण लक्षण और ऋतु,

१. दोषा वातादयः, दूष्याणि रक्तादीनि, निदानानि रूक्षादीनि, एषां व्यस्तानां समस्तानां वा यद् विपरीतं, हितमिति भेषजं, तत् सम्यग्युक्तं सदुक्तानुक्तान् गदान् ध्रुवं नियच्छति; उक्तानिति नामरूपादिभिः, अनुक्तानिति नामरूपादिविशेषेणानुक्तान्। एतेन यदैवैतद् दोषादिविपरीततया प्रतिपादितं भवति तदैवानुक्तानामपि गदानां दोषादीन् बुद्ध्वा सम्यग्युक्तं भेषजं भवतीति दर्शयति। (चक्रपाणि टीका)

२. देशकालेत्यादि—एषां तु देशादियोगानामुदाहरणान्याचार्येणैव कृतानि आस्यादामाशस्थानित्यादिना नातिदोषं च बह्वपीत्यन्तेन। तत्र देश आतुररूप एवोक्तः, भूमिरूपदेशापेक्षा तु योजना, सात्म्यापेक्षयोजनाभिधानेनैव गृहीता। कालः षड्विधो दिनातुरौषधादिभिः। तत्रौषधकालो दशविधः। प्रमाणमौषधस्य त्रिविधम्—अल्पं बहु समं च। सात्म्यं द्विविधं देशशरीरयोः। व्याधिसात्म्यं त्वौषधान्तर्निविष्टमेव। ऋतुसात्म्यं च कालगृहीतम्। प्रमाणसात्म्यग्रहणं सम्यग्योगेनैव कृतम्। असात्म्यं यत् सात्म्यविपरीतम्। सम्यग्योगो यथावत्प्रयोगः। विपर्यये दोषमाह—अन्यथा ह्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत्; एषां देशादीनाम्, अन्यथेत्यसम्यग्योगे, पथ्यमपीति भेषजं दोषादिविपरीतमपि अन्यथेत्यपथ्यं भवति। (चक्रपाणि टीका)

इन षड्विध कालों का तथा वक्ष्यमाण दशविध औषधकाल का विचार), प्रमाण (अल्प, मध्य या बहु), सात्म्य (अनुकूल-हितकर) और असात्म्य (प्रतिकूल आहार-विहार) की ऐसी योजना बनाना, जो प्रत्येक दृष्टि से सुविचारित हो एवं लाभकर हो उसे सम्यग्योग कहा जाता है, जो कि पथ्य होता है; तथा देश, काल, प्रमाण, सात्म्य एवं असात्म्य का असन्तुलित प्रयोग करना असम्यग्योग या अपथ्य होता है॥ २९३॥

आस्यादामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तःशिरोगतान्। गुदात्पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशु दत्तमौषधम्॥
शरीरावयवोत्थेषु विसर्पपिडकादिषु। यथादेशं प्रदेहादि शमनं स्याद्विशेषतः॥ २९५॥

देश (शरीर) का सम्यक् योग—मुखमार्ग से दी हुई औषध आमाशय के रोगों को शीघ्र नष्ट करती है, नासिका मार्ग से दी हुई औषध शिर के रोगों को शीघ्र नष्ट करती है और गुदामार्ग से दी हुई औषध पक्वाशय के रोगों को शीघ्र नष्ट करती है। शरीर के जिन-जिन अवयवों में विसर्प, पिडका आदि चर्मरोग हुए हों, उन्हीं अवयवों में विशेषरूप से प्रदेह-प्रलेप आदि करने से शीघ्र रोगशमन होता है॥ २९४-२९५॥

वक्तव्य—यहाँ रोगस्थान के समीपस्थ मार्ग से औषध-प्रयोग का निर्देश देकर शीघ्र रोगमुक्ति होने का फल बतलाया गया है, जिसका कुछ विशेष अभिप्राय है। जैसे मुख से पाचन औषध, शमन औषध, चूर्ण, वटी, अवलेह या विरेचन आदि बहुत सारी औषधियाँ दी जाती हैं, किन्तु यहाँ इन सबका ग्रहण नहीं किया जाता। अपितु शीघ्र कार्यकारी होने से यहाँ वमन का प्रयोग अभिप्रेत है जो संशोधन की एक प्रक्रिया है और संशोधन चिकित्सा को आचार्य चरक ने रोग का समूल विनाशकारक कहा है—'ये तु संशोधनैः शुद्धाः न तेषां पुनरुद्भवः' (च.सू.१६)। इसी प्रकार नस्य का प्रयोग शिरोगत रोगों का शीघ्र निर्हरण करने से ही उल्लेख्य है, क्योंकि नासा को शिर का द्वार कहा गया है। यद्यपि तर्पण, शिरोबस्ति, शिरोऽभ्यंग आदि भी शिरोरोगनाशक हैं, लेकिन वे सब नस्य शीघ्र लाभकर नहीं हैं। इसी प्रकार पक्वाशयगत रोगों में गुदामार्ग से बस्ति देने से शीघ्र लाभ होता है। गुदमार्ग से विरेचन में स्निग्ध तैल आदि पिचकारी से अथवा निरूह या अनुवासन या फलवर्ति आदि का भी प्रयोग किया जाता है। गुदा के समीपस्थ अवयवों (मूत्रपथ या अपत्यपथ) में रोग होने पर उनमें उत्तरबस्ति आदि दें। इस प्रकार ऊर्ध्व एवं अधः संशोधन करना अभिप्रेत है तथा त्वचा के रोगों में स्थानिक उपचार करना श्रेयष्कर होता है।

दिनातुरौषधव्याधिजीर्णलिङ्गर्त्वपेक्षणाम्। कालं विद्यात्—

कालापेक्ष सम्यग्योग—दिन, रोगी, औषध, रोग, रोग का जीर्ण होना और ऋतु का विचार कर उनके अनुसार चिकित्सा करना काल का सम्यग्योग कहा जाता है।

अनुपेक्षणीय षड्विधकाल

दिन | आतुर | औषध | व्याधि | जीर्णलक्षण | ऋतु

—दिनापेक्षः पूर्वाह्णे वमनं यथा॥ २९६॥

दिनापेक्ष काल का सम्यग्योग—दिन के उचित समय की अपेक्षा कर औषध का प्रयोग करना दिनापेक्ष सम्यग्योग कहा जाता है, जैसे दिन के पूर्वाह्ण में वमन कराना चाहिए॥ २९६॥

रोग्यपेक्षो यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत्। भेषजं लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः॥ २९७॥

रोग्यपेक्ष काल का सम्यग्योग—रोगी के बल का विचार कर उसके बलवान् या निर्बल होने की स्थिति को जानकर औषध का प्रयोग रोग्यपेक्ष काल का सम्यग्योग कहा जाता है; जैसे १. बलवान् रोगी बिना भोजन किये खाली पेट औषध का सेवन करे और २. दुर्बल रोगी लघु एवं पथ्य अन्नों में मिलाकर औषध का सेवन करे॥ २९७॥

भैषज्यकालो भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः। सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासग्रासान्तरे दश[1]॥ २९८॥

औषधापेक्ष काल का सम्यग्योग—औषध की अपेक्षा से काल के १० भेद : भोजन के आदि में औषध का प्रयोग करना चाहिए। इससे दो औषध काल होते हैं—१. सबेरे खाली पेट और २. भोजन करने से थोड़ी देर पहले। ३. आधा भोजन करके औषध खा ले फिर बाकी आधा भोजन करे। यह भोजन के मध्य में औषध-सेवन है। ४. प्रातःकाल भोजन के बाद और ५. सायं भोजन के बाद। ६. बार-बार जैसे खाँसी, दमा और हिचकी आने में दवा देने का कोई निर्धारित समय नहीं होता एवं थोड़ी-थोड़ी देर पर औषध देते रहते हैं। ७. सामुद्ग अर्थात् भोजन के पूर्व और पश्चात् दोनों समय औषध देना। ८. भक्तसंयुक्त अर्थात् आहार के साथ औषध लेना। ९. ग्रास अर्थात् कवर के साथ औषध लेना, जैसे—हिंग्वष्टक चूर्ण को भोजन के प्रथम ग्रास में मिलाकर खाया जाता है। १०. ग्रासान्तर अर्थात् एक ग्रास भोजन कर औषध लेना फिर भोजन करना—इस प्रकार आवश्यकतानुसार ग्रासों के बीच में औषध का सेवन करना। इस प्रकार ये दश औषधापेक्ष काल के सम्यग्योग हैं॥ २९८॥

औषधापेक्ष १० काल-सारणी

भक्तादौ	१. प्रातः निरन्न औषध-सेवन, २. भोजन के पूर्व औषध-सेवन।
मध्ये	३. आधा भोजन करके औषध-सेवन, फिर आधा भोजन करना।
पश्चात्	४. प्रातः भोजनोत्तर औषध-सेवन, ५. सायं भोजनोत्तर औषध-सेवन।
महुर्मुहुः	६. भोजन के समय प्रतिक्षण औषध-सेवन।
सामुद्ग	७. भोजन के आदि तथा अन्त में औषध-सेवन।
संभुक्त	८. अन्नाहार के साथ औषध-सेवन।
ग्रास	९. भोजन के कुछ ग्रासों के साथ औषध-सेवन।
ग्रासान्तर	१०. प्रत्येक ग्रास के साथ औषध-सेवन।

अपाने विगुणे पूर्वं समाने मध्यभोजनम्। व्याने तु प्रातरशितमुदाने भोजनोत्तरम्॥ २९९॥
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासग्रासान्तरिष्यते। श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहुः॥ ३००॥
सामुद्गं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम्। सम्भुक्तं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैररुचौ हितम्॥ ३०१॥

दश औषधकाल के प्रयोग-स्थल—जब अपानवायु विकारग्रस्त हो, तो औषध को भोजन के पहले देना चाहिए। जब समानवायु विकृत हो, तो भोजन के मध्य में औषध देनी चाहिए। जब व्यानवायु विकृत हो, तो प्रातः भोजन के पूर्व औषध देनी चाहिए। जब उदानवायु विकृत हो, तो भोजन के बाद औषध देनी चाहिए। जब प्राणवायु विकृत हो, तो भोजन के ग्रासों के मध्य में औषध देनी चाहिए।

१. भैषज्यकाल इत्यादि—अत्र भुक्तादावित्यनेन कालद्वयमुच्यते, यथा प्रातरेव निरन्नं, तथा प्राग्भोजनं च। तथा पश्चादित्यनेन च कालद्वयमेव प्रातर्भोजनोत्तरकालं, अपरं तु सायं भोजनोत्तरकालम्। मध्ये भुक्तं तु यदर्धं भुक्त्वोपयुज्यते, पश्चात् पुनरर्धं भुज्यते। मुहुर्मुहुर्भुक्तं नाम यद् भोजनसमये प्रतिक्षणं भुज्यते। सामुद्गं नाम यद् भक्तास्यादावन्ते च भुज्यते, तत्समुद्गवदाहारावरणात् सामुद्गमित्यभिधीयते। भुक्तमिति पदं भुक्तादावित्यादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते। सम्भुक्तं नाम यदन्नेन संयोगात् संस्काराद्वा तद्विमिश्रं भुज्यते। ग्रासे ग्रासान्तरे तु भुक्तं नाम यद् ग्रासानां मध्ये भुज्यते।

श्वास, कास और पिपासा होने पर बार-बार, जल्दी-जल्दी औषध देनी चाहिए। हिचकी के रोगी को लघु पथ्यान्न के साथ भोजन के पहले और बाद में औषध देनी चाहिए। जब अरुचि हो, तो स्वादिष्ट अनेक प्रकार के भोजनों में मिला-मिलाकर औषध देनी चाहिए॥ २९९-३०१॥

ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम्। षडहे षडहे देयं कालं वीक्ष्यामयस्य च॥ ३०२॥

रोगापेक्ष काल का सम्यग्योग—ज्वर में रोग की अवस्था को देखकर छः दिन बीत जाने पर पेया, कषाय, दूध, घी एवं विरेचन का प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए॥ ३०२॥

क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता विशुद्धिर्जीर्णलक्षणम्। तदा भेषजमादेयं स्याद्धि दोषवदन्यथा॥ ३०३॥

जीर्णलक्षणापेक्ष काल का सम्यग्योग—भूख लगना, मल-मूत्र का स्वाभाविक निर्गमन होना, शरीर में हलकापन मालूम होना और हृदय आदि में भारीपन न होना और शुद्ध डकार आना—ये सब औषध या आहार के ठीक से पच जाने के लक्षण हैं। इन लक्षणों के होने पर औषध देनी चाहिए। यदि इससे भिन्न स्थिति हो, तो औषध नहीं देनी चाहिए; क्योंकि वह दोषकारक होती है॥ ३०३॥

चयादयश्च दोषाणां वर्ज्यं सेव्यं च यत्र यत्। ऋतावपेक्ष्यं यत्कर्म पूर्वं सर्वमुदाहृतम्॥ ३०४॥

ऋत्वपेक्षकाल का सम्यग्योग—शरीर में वात आदि दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशम होना (जैसे कफ का हेमन्त में संचय, वसन्त में प्रकोप और ग्रीष्म में प्रशम) एवं जिस ऋतु में जो आहार-विहार सेवन करना चाहिए या नहीं सेवन करना चाहिए। इस प्रकार ऋतुओं के अनुसार सेवनीय एवं त्याज्य बातें पूर्व (च.सू. ६) में कह दी गयी हैं। उसके अनुसार आचरण करना ऋत्वपेक्ष काल का सम्यग्योग है॥ ३०४॥

उपक्रमाणां करणे प्रतिषेधे च कारणम्। व्याख्यातमबलानां सविकल्पानामवेक्षणे[1]॥ ३०५॥

रोगी के अनुसार ही उपक्रम—इसी प्रकार (च.सू. २२ लंघनबृंहणीय) लंघन अथवा बृंहण चिकित्सा के उपयुक्त या अनुपयुक्त रोगियों के विषय में पहले विधान और निषेध बतला दिया गया है॥ ३०५॥

मुहुर्मुहुश्च रोगाणामवस्थामातुरस्य च। अवेक्षमाणस्तु भिषक् चिकित्सायां न मुह्यति॥

रोग तथा रोगी की दशा ज्ञातव्य—जो चिकित्सक रोग और रोगी की प्रत्येक परिस्थिति को बार-बार देखता रहता है वह उस रोगी की चिकित्सा करने में कभी किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होता।॥ ३०६॥

इत्येवं षड्विधं कालमनवेक्ष्य भिषग्जितम्। प्रयुक्तमहिताय स्यात् सस्यस्याकालवर्षवत्॥

औषधापेक्ष काल-ज्ञान का महत्त्व—इस प्रकार जो पूर्व में ६ प्रकार के काल कहे गये हैं, उनकी उपेक्षा करके यदि औषध का प्रयोग किया जाता है, तो वह अहितकर होता है। जैसे असमय की वर्षा से खेती बरबाद हो जाती है, उसी प्रकार असमय में षड्विध काल की परवाह न कर, औषध का प्रयोग हानिकारक होता है॥ ३०७॥

[2]व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च। विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते॥ ३०८॥

कालापेक्ष की परिभाषा—रोग, ऋतु, दिन, रात, आयु और भोजन के भेद से जो विशिष्ट काल की अपेक्षा की जाती है, वह कालापेक्ष कही जाती है॥ ३०८॥

कालापेक्ष

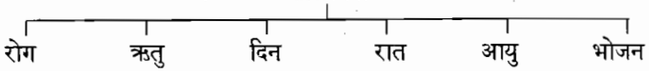

१. उपक्रमाणामित्यादिकं सार्धं श्लोकं केचित् पठन्ति, तमनार्षं वदन्ति। (चक्रपाणि टीका)

२. पुनरन्यथा कालापेक्षं योगं दर्शयन्तः केचित् पठन्ति—व्याधीनामृत्वहोरात्रनियमादिश्लोकचतुष्टयं, एतदपि नाति प्रसिद्धम्। (चक्रपाणि)

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले च पित्तजाः। वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि॥
निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः। प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः॥
वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः। बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद्वयसो नृणाम्॥
जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः। श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम्॥

कालापेक्ष रोग : ऋतुओं में दोषज रोग—प्रायः वसन्त ऋतु में कफज रोग उत्पन्न होते हैं, शरद् ऋतु में पित्तज रोग उत्पन्न होते हैं और वर्षा ऋतु में वातज रोग उत्पन्न होते हैं।

अहोरात्र में दोषज रोग—रात्रि के अन्त में और दिन के अन्त में वातज रोग उभड़ते हैं, प्रातः काल और रात्रि के आरम्भ में कफज रोग बढ़ते हैं और दिन तथा रात के मध्य में पित्तज रोग बढ़ते हैं।

आयु और दोष—मनुष्यों में आयु के स्वभाव के अनुसार वृद्धावस्था में वातज, मध्य आयु में पित्तज तथा बाल्यावस्था में कफज रोग बलवान् होते हैं।

भोजन और दोष—भोजन के पच जाने पर वातज रोग, भोजन पचते समय पित्तज रोग और भोजन करने के तुरन्त पश्चात् कफज रोग जोर पकड़ लेते हैं॥ ३०९-३१२॥

कालापेक्ष दोषप्रकोपज रोग

काल	वातज रोग	पित्तज रोग	कफज रोग
ऋतु	वर्षा	शरद्	वसन्त
दिन	दिनान्त	मध्यदिन	प्रातः
रात	निशान्त	मध्यरात्रि	आदिरात्रि
वय	वार्धक्य	मध्यवय	बाल्यावस्था
भोजन	जीर्णान्त	जीर्यमाण	भुक्तमात्र

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम्। दोषवद्यातिमात्रं स्यात्सस्यस्यात्युदकं यथा॥
सम्प्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च। नैवातिबहु नात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत्॥ ३१४॥

प्रमाणापेक्ष सम्यग्योग—जिस प्रकार थोड़ा-सा पानी छिड़ककर विशाल आग की लपटें नहीं बुझायी जा सकतीं, उसी प्रकार थोड़ी मात्रा में दी गयी औषध रोग को दूर नहीं कर सकती। इसी तरह जैसे पानी का सैलाब या अतिवृष्टि कृषि को बरबाद कर देती है, वैसे ही अधिक मात्रा में दी गयी औषध भी उपद्रव खड़ा कर देती है। इसलिए रोग और औषध के बल को अच्छी तरह जान-समझकर औषध की मात्रा न बहुत अधिक, न बहुत कम दें, अपितु मध्यम मात्रा का प्रयोग करें॥ ३१३-३१४॥

वक्तव्य—यद्यपि यहाँ औषध की मात्रा का निर्धारण नहीं किया गया है, तथापि विमानस्थान में जो यह कहा गया है कि औषध का प्रमाण दोष के प्रमाण के अनुरूप होना चाहिए ('दोषप्रमाणानुरूपो हि भैषज्यप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति') तथा रोग एवं रोगी के बल का भी विचार करके औषध की मात्रा का निश्चय करना चाहिए। इस प्रकार औषध की मात्रा चिकित्सक अपने विवेक के अनुसार निर्धारित करे, जो सामान्यतः उस औषध की मध्यमात्रा हो, न कि अधिक या कम हो।

औचित्याद् यस्य यत् सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च। अपथ्यमपि नैकान्तात्तत्त्यजंल्लभते सुखम्॥
बाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥ ३१६॥

मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः।
अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते॥ ३१७॥
कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्। सात्म्यं दक्षिणतः पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे॥
मध्यदेशे भवेत् सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः। तेषां तत्सात्म्ययुक्तानि भेषजान्यवचारयेत्॥ ३१९॥

सात्म्यसापेक्ष सम्यग्योग—निरन्तर सेवन करने के कारण जिस देश के निवासी-जनों को या पुरुष-विशेष को जो पदार्थ अभ्यस्त होने से सात्म्य या अनुकूल हो गया हो, यदि वह अपथ्य भी हो तो उसके सर्वथा त्याग कर देने से रोगी को आरोग्य-प्राप्ति एवं सुख नहीं मिलता। (इसलिए उस अभ्यस्त अपथ्य का एकबारगी त्याग न कर क्रमशः त्याग करना चाहिए।)

देशसात्म्य के उदाहरण—वाह्लीक, पह्लव, चीन निवासी, शूलीक, यवन और शक लोग मांस, गेहूँ एवं माध्वीक मदिरा के सेवन के अभ्यासी होते हैं, शस्त्र चलाने वाले तथा अग्नि की उपासना करने वाले होते हैं। प्राच्य (पूर्व प्रदेशवासी जन) मछली खाने के अभ्यस्त होते हैं, सिन्धु देशवासी दूध सेवन के अभ्यासी होते हैं, अश्मक और अवन्ती वासी तैल तथा अम्लपदार्थों के खाने के अभ्यासी होते हैं, मलय गिरि के निवासीजन कन्द, मूल और फल खाने के आदती होते हैं, दक्षिण प्रदेशवासियों को पेया और उत्तर-पश्चिम प्रदेश निवासियों को मन्थ (जल में घोलकर सत्तू पीना) पसन्द एवं अनुकूल है, मध्यदेश में रहने वालों को जौ, गेहूँ और दूध सात्म्य होता है। उन-उन देशवासियों को उनके सात्म्य पदार्थ में मिलाकर औषध देनी चाहिए॥ ३१५-३१९॥

सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बृंहपि।

सात्म्य के सेवन का फल—जो पदार्थ सात्म्य या अनुकूल होता है, वह शरीर में शीघ्र बल देता है और यदि अधिक मात्रा में भी उसका सेवन कर लिया जाय, तो भी वह बहुत अधिक हानि नहीं पहुँचाता।

योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति॥ ३२०॥
वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः। तथाऽन्तःसन्धिमार्गाणां दोषाणां गूढचारिणाम्॥
भवेत् कदाचित्कार्याऽपि विरुद्धाभिमता क्रिया।

अज्ञवैद्य की चिकित्सा असफल—जो वैद्य देश-काल-प्रमाण-सात्म्य के रहस्य को नहीं जानता है और उन-उन रोगनाशक औषध योगों के प्रयोग से ही चिकित्सा करता है, वह गलती कर जाता है और उसकी चिकित्सा फलवती नहीं होती। क्योंकि वय, बल, शरीर, प्रकृति और सत्त्व के भेद बहुत से होते हैं और चिकित्सा करते समय वे विचारणीय होते हैं। इसी प्रकार शरीर के आभ्यन्तर मार्ग कोष्ठ आदि तथा सन्धिमार्ग में छिपकर रहने वाले दोषों के भी बहुत भेद होते हैं। कभी-कभी दोषों के विरुद्ध मानी गयी चिकित्सा भी करनी पड़ती है॥ ३२०-३२१॥

पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसेकोपनाहनैः॥ ३२२॥
नीयते बहिरुष्णैश्च तथोष्णं शमयन्ति ते। बाह्यैश्च शीतैः सेकाद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः॥
सोऽन्तर्गूढं कफं हन्ति शीतं शीतैस्तथा जयेत्। श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत्॥
त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृच्चान्यथाऽगुरोः। छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा मक्षिकैव तु वामयेत्॥
द्रव्येषु स्विन्नदग्धेषु चैव तेष्वेव विक्रिया।

विरुद्धाभिमत क्रिया का उदाहरण—(१) उष्ण पित्त का उष्ण स्वेद आदि से शमन—स्वेदन, सेक और उपनाह के प्रयोग से आभ्यन्तर में स्थित पित्त को बाहर निकाला जाता है एवं उष्ण स्वेद आदि के प्रयोग से उष्ण पित्त को शान्त किया जाता है। (२) शीत कफ का शीतोपचार से शमन—बाहरी शीतल परिसेक आदि से बाहर निकलने के मार्ग के न मिलने से शरीर की ऊष्मा भीतर ही चली जाती है और शरीर में छिपे हुए कफ को नष्ट करती है एवं शीत कफ को शीत परिसेक आदि से जीतना चाहिए। (३) कल्पनाविशेष से विपरीत प्रतिक्रिया—जैसे चिकना पिसा हुआ चन्दन यदि गाढ़ा-गाढ़ा शरीर पर लिप्त

किया जाता है, तो त्वचा की बाहर निकलती हुई ऊष्मा अवरुद्ध हो जाती है, जिससे स्वभावशीतल चन्दन भी दाहकारक होता है। (४) उष्ण अगुरु शैत्यकारक—जब उष्ण स्वभाव वाले अगुरु का पतला-पतला प्रदेह लगाया जाता है, तो उससे शरीर की ऊष्मा रुकती नहीं है, अपितु बाहर निकलती रहती है, इसलिए वह लेप शीतलता लाता है। (५) समुदाय की अपेक्षा एकदेश का विरुद्ध कार्य करना—मक्षिका की विष्टा वमन को दूर करती है और मक्षिका के भक्षण से वमन होता है। यहाँ मक्षिका के शरीर से मक्षिका विष्टा की क्रिया विरुद्ध है। ऐसा है कि किसी भुने पदार्थ को खा लेने के बाद उसके गुण बदल जाते हैं, जैसे कच्ची हर्रे दस्तावर है और भुनी हर्रे संग्राही है। इसी प्रकार कमलनाल शीत होता है, किन्तु जलाकर उसका क्षार बनाने पर वह शीतलता के विरुद्ध छेदन आदि कार्य करने लगता है॥ ३२२-३२५॥

वक्तव्य—इन सन्दर्भों से यह अभिव्यक्ति निकलती है कि चिकित्सा का कार्य जीवन की समस्या के समाधान से सम्बद्ध है, जिसके लिए प्रतिभासम्पन्न, विवेकशील, शास्त्र एवं कर्म में निष्णात चिकित्सक ही उपयुक्त है। केवल कुछ औषध योगों के प्रयोग को जानकर चिकित्सा करने से अपराध होने की सम्भावना होती है। अतः अज्ञ चिकित्सक को वहिष्कृत करना चाहिए, वह समाज के लिए अभिशाप है।

तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश[1] तत्त्वतः॥ ३२६॥
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्।

चिकित्सा के पूर्व दशविध परीक्ष्य का ज्ञान आवश्यक—बिना दोष आदि को जाने ही चिकित्सा सफल नहीं होती। इसलिए १. दोष, २. औषध, ३. देश, ४. काल, ५. सात्म्य, ६. अग्नि, ७. सत्त्व, ८. ओक (शरीर), ९. वय और १०. बल—इन दश परीक्ष्य भावों की यथार्थ स्थिति की परीक्षा करके ही बुद्धिमान् वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिए। केवल योगों का यों ही प्रयोग कर चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥ ३२६॥

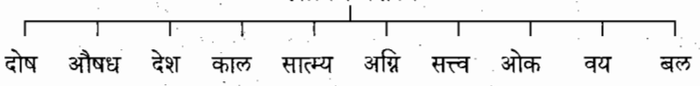

निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिः स्वल्पेनायाति हेतुना॥ ३२७॥
क्षीणे मार्गीकृते देहे शेषः सूक्ष्म इवानलः। तस्मात्तमनुबध्नीयात् प्रयोगेणानपायिना॥ ३२८॥
सिद्धयर्थं प्राक्प्रयुक्तस्य सिद्धस्याप्यौषधस्य तु।

रोगमुक्त होने पर भी उपचार—जब रोगमुक्त होने पर शरीर कृश होने से देह में दोष या रोग का कोई प्रतिबन्धक उपाय न होने के कारण रोगाक्रमण का मार्ग बना रहता है, तो अच्छा हुआ रोग भी थोड़े ही कारण से फिर हो जाता है, जैसे थोड़ी मात्रा में सूक्ष्म आग थोड़ा भी ईंधन का सहारा पाकर विभीषिका बन जाता है। इसलिए पूर्वप्रयुक्त सफल औषध के फलस्वरूप व्याधिनिवृत्तिरूप प्रयोजन की स्थिरता स्थापित करने के लिए उन पूर्वपरीक्षित औषधों का तब तक प्रयोग करते रहना चाहिए जब तक रोग सर्वथा निर्मूल न हो जाये और शरीर सबल तथा पूर्ण स्वस्थ न हो जाये। बशर्ते वह औषध अन्य रोगों को उत्पन्न करने वाली न हो॥ ३२७-३२८॥

---

१. तस्मादित्यादि। दोषौषधादीनि उपकल्पनीय एकादश पठितानि, (रस)विमाने च द्वादश पठितानि, तेन तद् ग्रहणेनेहोक्तं दशसंख्यत्वं व्याहन्यते; तेन **दृढबलेनैव** निरूहप्रस्तावे यानि दोषौषधादीनि दश निर्दिष्टानि 'समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि' (सि. अ. ३) इत्यनेन, तान्येवात्र दश गृह्यन्ते। एतद्दशक एवोपकल्पनीयोक्तैकादशकस्य परीक्ष्यस्य तथा (रस)विमानोक्तद्वादशकस्य चावरोधः। तथाहि—उपकल्पनीये एतद्दशत अन्ये प्रकृतिशरीराहारा उक्ताः, तत्र शरीरस्य प्रकृतेश्च देशशब्देन भूम्यातुरग्राहिणाग्रहणम्, उक्तं हि 'देशो भूमिरातुरश्च' (वि.अ. ८) इति, आहारस्य तु सात्म्यग्रहणेनैव ग्रहणम्। (रस)विमाने च यो द्वादशो विकारः पठितः, स दोषग्रहणगृहीतः। एवं सर्वोपकल्पनीयाद्युक्तार्थोपग्रहो व्याख्येयः। (चक्रपाणि टीका)

काठिन्यादूनभावाद्वा दोषोऽन्तः कुपितो महान्॥ ३२९॥
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदुदोषकरो भवेत्। पथ्यमप्यश्नतस्तस्माद् यो व्याधिरुपजायते॥ ३३०॥
ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवा तस्य कारयेत्।

पथ्य के अभ्यास से व्याधिबीज का निर्मूलन—दोषों के संचयरूप प्रकोप अथवा दोषों के अचय (कम होना) रूप प्रकोप से शरीर में दोषों का प्रकोप महान् होता है। जब पथ्य आहार-विहार के सेवन से उन्हें मृदु तथा अल्प बना दिया जाता है, तो वह दोष-प्रकोप अल्पांश में रोगजनक होता है। अतः पथ्य का सेवन करते रहने पर भी जो व्याधि उत्पन्न हो जाय, उस व्याधि के स्वरूप को जानकर पथ्य की मात्रा अधिक कर देनी चाहिए या अधिक दिनों तक लगातार पथ्य का सेवन करते रहना चाहिए[1]॥ ३२९-३३०॥

सातत्यात् स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्॥ ३३१॥
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः। मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्॥
सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षयः।

प्रिय और मनोऽनुकूल पथ्य—यदि लगातार उपयोग न करने के कारण पथ्य के प्रति द्वेष या अरुचि हो जाये तब उस पथ्य (औषध या आहार) को पाकशास्त्र में निर्दिष्ट कल्पना-विधियों के अनुसार रुचिकर बनाकर पुनः उसे प्रिय बना देना चाहिए। क्योंकि जब पथ्य मन के अनुकूल होता है, तब उसके सेवन से सन्तुष्टि, मनोबल, रुचि एवं शरीरबल की वृद्धि होती है और औषध के सेवन में सुख एवं सुविधा होने से रोग के बल का ह्रास हो जाता है॥ ३३१-३३२॥

लौल्याद्दोषक्षयाद् व्याधेर्वैधर्म्याच्चापि या रुचिः॥ ३३३॥
तासु पथ्योपचारः स्याद् योगेनाद्यं विकल्पयेत्[2]।

अवाञ्छनीय रुचि में कर्तव्य—यदि मन की चंचलता और जीभ की स्वादुलोलुपता (चटोरपन) से अहितकर पदार्थों के खाने में रुचि होती है अथवा दोष-विशेष के क्षय से कोई विशेष रुचि होती है या व्याधि की विधर्मता से कोई रुचि होती है, तो इन सबमें अरुचिनाशक उपाय करके पथ्याहार ही देते रहना चाहिए॥ ३३३॥

---

१. काठिन्यादित्यादि। काठिन्यादिति दोषचयरूपसंहतात्, ऊनभावात् अचयप्रकोपात्। अचयेऽपि च दोषाणां प्रकोपो भवत्येव, यथा—बलवद्विग्रहादिभिर्वायोः, पित्तस्य क्रोधादिभिः, श्लेष्मणश्च दिवास्वप्नादिभिः। अयं चाचयप्रकोपो घनावयवोपचयाकर्तृत्वात् 'ऊनभावात् प्रकोप' इत्युच्यते। दोषोऽन्तः कुपितो महानित्यत्र काठिन्यात् कुपित ऊनभावाच्च कुपितो महान् भवतीति व्यवस्था। काठिन्याद्धि अचयकोपोऽन्तरेव प्रायो भवति, ऊनभावात्तु चयप्रकोपः, प्रसरणस्वभावत्वात्तु लघुचयबन्धसारोऽपि महान् भवति। मृद्वल्पतां नीत इति यथाक्रमं, तेन यः काठिन्यादन्तः कुपितः स मृदुतां नीतः स्थूलभावान्महान् कुपितोऽल्पतां नीतः, मृदुदोषकर इति अल्पविकारकरः। किंवा काठिन्यादिति दोषदूष्यसम्बन्धकृतस्थैर्यात्, ऊनभावात् यथोक्तकाठिन्यं विना। अन्तरिति शरीरानुत्तानदेशे। महानिति पदं द्वाभ्यामपि सम्बध्यते। एकस्य कारणप्रचयेन महत्त्वम्। पथ्यमप्यश्नत इति हितमपि भेषजमुपयुञ्जानस्य। उपजायत इति मृदुतया अल्पतया वा अनुवर्तते। ज्ञात्वैवमिति पथ्यमिदमस्य भेषजम्, अयं तु व्याधिरिति, महत्त्वाद् गम्भीरत्वाद्वा सर्वथा न निवर्तते मग्नः, एवं ज्ञात्वा तथैव पूर्वप्रयुक्तप्रयोगस्य वृद्धिं वा अभ्यासं वा कारयेत्, न तत्प्रयोगाश्रयप्रयोगान्तरं कुर्यात्; वृद्धिर्मात्राधिक्यम् अभ्यासः सततोपयोगः। अयमर्थोऽन्यत्राप्युक्तः—

अभ्यस्यमानाः क्रमशस्तु योगा जयन्ति रोगान् बलिनः स्थिरांश्च।
तस्मादखिन्नः पुरुषोऽभ्युपेयाद्योगप्रयोगान् समुदीर्णरोगे॥ इति (चक्रपाणि टीका)

२. लौल्यादिति—अत्र लौल्यादेव हि कस्यचित्पुरुषस्य कस्मिंश्चिद् विशेषे रुचिर्भवति, दोषक्षयादपि क्वचिद् रुचिर्भवति, तथा व्याधियुक्तस्य च पेये रुचिर्भवति, व्याधिमहिम्ना क्वचिद् रुचिर्भवति यथा पाण्डुरोगे मृत्तिकायां वैधर्म्याच्च रुचिर्भवति यथा स्निग्धस्य रूक्षे, मधुरस्य चाम्ले, यदुक्तं—'अम्लेन केचिद् विहता मनुष्या माधुर्ययोगे प्रणयी भवन्ति' (सु. सू. ४६) इति; किंवा व्याधिवैधर्म्यादित्येक एव हेतुः। अत्रोदाहरणं यथा—

तत्र श्लोकाः—

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निदानं लिङ्गमेव च॥ ३३४॥
चिकित्सा चाऽपि निर्दिष्टा शिष्याणां हितकाम्यया। शुक्रदोषास्तथा चाष्टौ निदानाकृतिभेषजैः॥
क्लैब्यान्युक्तानि चत्वारि चत्वारः प्रदरास्तथा। तेषां निदानं लिङ्गं च भैषज्यं चैव कीर्तितम्॥
क्षीरदोषास्तथा चाष्टौ हेतुलिङ्गभिषग्जितैः। रेतसो रजसश्चैव कीर्तितं शुद्धिलक्षणम्॥ ३३७॥
उक्तानुक्तचिकित्सा च सम्यग्योगस्तथैव च। देशादिगुणशंसा च कालः षड्विध एव च॥ ३३८॥
देशे देशे च यत्सात्म्यं यथा वैद्योऽपराध्यति। चिकित्सा चापि निर्दिष्टा दोषाणां गूढचारिणाम्॥

अध्याय का उपसंहार—इस 'योनिव्यापच्चिकित्सित' नामक अध्याय में आचार्य पुनर्वसु ने शिष्यों की जानकारी के लिए बीस प्रकार के योनिरोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा का निर्देश किया है। इस अध्याय में आठ प्रकार के वीर्यविकारों का निदान, लक्षण और चिकित्सा वर्णित है; चार प्रकार की नपुंसकता और चार प्रकार के प्रदरों के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन है; आठ प्रकार के क्षीरदोषों के निदान, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन है; वीर्य और रज की शुद्धता का वर्णन है; उक्त चिकित्सा या जो चिकित्सा नहीं कही गयी है, इन दोनों के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, सम्यग्योग का वर्णन है; देश, काल, प्रमाण एवं सात्म्य के गुणों का वर्णन है; छह प्रकार के काल का वर्णन है; विभिन्न प्रदेशों या देशों के सात्म्य का वर्णन है; जिन कारणों से चिकित्सा की सफलता में वैद्य असफल और अपराधी हो जाता है और गूढ़चारी रोगों की चिकित्सा—इन सब विषयों का वर्णन किया गया है॥ ३३४-३३९॥

यो हि सम्यङ् न जानाति शास्त्रं शास्त्रार्थमेव च। न कुर्यात् स क्रियां चित्रमचक्षुरिव चित्रकृत्॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसम्पूरिते चिकित्सास्थाने
योनिव्यापच्चिकित्सितं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

इति चिकित्सितस्थानं समाप्तम्।

शास्त्र तथा क्रियात्मक ज्ञान आवश्यक—जो चिकित्सक शास्त्र और शास्त्र के अर्थ अर्थात् उसके बतलाये क्रियात्मक स्वरूप को नहीं जानता है, उसे चिकित्सा-कार्य नहीं करना चाहिए। जैसे नेत्रदृष्टिविहीन व्यक्ति को चित्रकार का कार्य नहीं करना चाहिए॥ ३४०॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेशकृत तन्त्र के चिकित्सास्थान में
'योनिव्यापत् चिकित्सित' नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३०॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते। चिकित्सितमिदं स्थानं षष्ठं परिसमापितम्॥ ३४१॥

इस प्रकार चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अग्निवेश तन्त्र नामक प्रस्तुत चरकसंहिता में यह छठा 'चिकित्सित' स्थान समाप्त किया गया॥ ३४१॥

श्लेष्मज्वरेऽम्लकटुकेच्छुता। एतैर्लौल्यादिभिः प्रत्येकं जनिता रुचिः, आसु रुचिषु लौल्यादिजनितासु पथ्योपचारः स्यात्, पथ्यमेव देयं नापथ्यमित्यर्थः। अत्र यदि पथ्यं च भवति तदा साध्येव, यदा तु रुचिविषयमपथ्यं स्यात् तदा कर्तव्यमाह—योगेनाद्यं विकल्पयेदिति। भेषजयोगेनाद्यम् = इच्छाविषयं भोज्यं संस्कृत्य दद्यादित्यर्थः। अन्यैस्तु लौल्यादिदोषजा त्रिविधाऽत्रारुचिरुच्यते; तत्र लौल्यजायामरुचौ पथ्योपचारः, दोषक्षयजायामरुचौ योगेनेति सम्यग्योगेनोपचारः; व्याधिवैधर्म्यजायां चाद्यमदनीयं व्याधिप्रत्यनीकप्रयोगैरुपकल्पयेदिति व्याख्यातम्। पूर्वमेव तु व्याख्यानमाद्रियामहे। (चक्रपाणि टीका)

योनिव्यापत् चिकित्साक्रमबोधक-सारणी

उपचार	औषध
दुःस्थित योनि में—स्नेहन-स्वेदन करके योनि को यथास्थान लायें। टेढ़ी हो तो नम्र हाथ से सीधा करें। मुख संकुचित हो तो बढ़ायें। **संसोधन**—सभी योनिरोगों में स्नेहन एवं स्वेदन करके वमन आदि पंचकर्मों से संशोधन करें। स्त्री के शरीर के शुद्ध हो जाने पर अन्य उपयुक्त उपचार करें।	
वातज योनिरोगों में—स्नेहन, स्वेदन बस्ति, उत्तरबस्ति एवं वातनाशक उपचार करना चाहिए। जलेचर या आनूप जीवों के मांस से या तिल और चावल की खीर में वातघ्न औषधों का मिश्रण करके नाड़ीस्वेद या कुम्भीस्वेद से योनि का स्वेदन करें। योनि में नमक, तैल लगाकर लोहा, पत्थर या बालू को गरम कर योनि का मृदु स्वेदन करना चाहिए। योनि के स्निग्ध हो जाने पर स्त्री को सुखोष्ण जल से स्नान कराने के बाद वातनाशक मांसरसों के साथ भोजन कराना चाहिए। अम्लद्रव्यों के क्वाथ में तैल मिलाकर उत्तरबस्ति देनी चाहिए। योनि में सुखोष्ण वातघ्न तैल की मालिश कर हंसपदी के मूल का कल्क धारण करना चाहिए।	**वातज योनिरोगों में—तैलयोग**–बलातैल का रोगिणी के दोष एवं बल का विचार कर आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रयोग करें। **घृत**—काश्मर्यादि घृत का उचित मात्रा में पान करें एवं पिप्पल्यादि योग का सेवन करें। **चूर्ण**—वृषकादि चूर्ण को उचित मात्रा में सेंधानमक और मदिरा में घोलकर पीना चाहिए। **पिचुधारण**—योनिशूल में सैन्धवादि तैल का फाहा योनि में धारण करना चाहिए अथवा गुडूच्यादि तैल का फाहा योनि में धारण करना चाहिए। इस प्रकार वातज योनिरोगों में उष्ण, स्निग्ध द्रव्यों द्वारा अभ्यंग, परिषेक एवं पिचु का प्रयोग करना चाहिए। एतदर्थ स्नेहन तैलों का प्रयोग करना चाहिए।
पित्तज योनिरोगों में—शीतल, पित्तनाशक, अभ्यंग, परिषेक, पिचुधारण आदि क्रियाएँ करनी चाहिए। स्नेहन करने के लिए पित्तनाशक औषधियों से सिद्ध घृतों का प्रयोग करना चाहिए। मधुर द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ में दूध मिलाकर उत्तरबस्ति दें।	**पित्तज योनिरोगों में**—१. वृहच्छतावरी घृत १-१ कर्ष की मात्रा में दूध में मिलाकर सबेरे-शाम पीना चाहिए अथवा २. जीवनीय घृत का सेवन करना चाहिए। ३. योनि में बड़-पीपर-पारसपीपर-पाकड़ और गूलर की छाल का कल्क धारण करना चाहिए।
कफज योनिरोगों में—रूक्ष और उष्ण उपचार करना चाहिए। कफघ्न अभ्यंग, परिसेचन, योनिप्रक्षालन, पिचु एवं कल्क	**कफज योनिरोगों में**—१. (च.वि. ८ में पठित) श्यामा-त्रिवृत्-चतुरंगुल आदि का कल्क योनि में धारण करें। २. सूअर के पित्त की ७ बार

उपचार	औषध
का योनि में धारण, वर्ती-धारण एवं बस्ति-प्रयोग करना चाहिए।	भावना दिये हुए कपड़े के टुकड़े को योनि में धारण करें। ३. जौ के आटे को मदार के दूध में सानकर, सेंधानमक मिलाकर बत्ती बनाकर योनि में धारण करें। ४. पिप्पल्यादि वर्ती को योनि में धारण करें और बत्ती निकालने पर योनि का प्रक्षालन कर लें। ५. उदुम्बरादि तैल की पिचु योनि में धारण करें और बाद में शीतद्रव्यों के क्वाथ में चीनी मिलाकर योनि का परिसेचन करें। ६. गूलर के दूध में ६ बार भावना दिये हुए तिल को पेरवाकर उस तैल को गूलर के क्वाथ से पकाकर उसकी पिचु को योनि में धारण करें। ७. धातक्यादि तैल की पिचु योनि में धारण करें एवं कटि, पृष्ठ तथा त्रिक प्रदेश में मालिश और अनुवासन बस्ति दें।
योनिस्राव में—कषाय रस वाले द्रव्यों के क्वाथ से योनि का प्रक्षालन करें एवं उत्तरबस्ति दें।	**योनिस्राव में**—१. करीरादि क्वाथ से अथवा त्रिफला के क्वाथ से या इन क्वाथों में मट्ठा, गोमूत्र या सिरका मिलाकर योनि का प्रक्षालन करना चाहिए। २. प्रातः-सायं मधु से पिप्पल्यादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। ३. कटुरस-प्रधान द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर उससे उत्तरबस्ति दें।
रक्तयोनि में—योनि से निकलने वाले रक्त के वर्ण में दोषों का सम्बन्ध जानकर तदनुसार रक्तरोधक उपाय करें।	**रक्तयोनि में**—रक्तपित्त, रक्तातिसार आदि की तरह शीतल एवं पित्तशामक औषधों का प्रयोग करना हितकर होता है।

रक्तप्रदर चिकित्सा

वातज पदर में—तिल का चूर्ण मधु से या दही से मधु मिलाकर या विषम मात्रा में घी-मधु से या सूअर की चर्बी में मधु मिलाकर देना चाहिए। २. सूअर के मेदा से युक्त मांसरस में, कुरथी का चूर्ण मिलाकर खिलायें। ३. चीनी या मधु, मुलहठी और सोंठ डालकर दही या घी का सेवन कराना चाहिए।

पित्तज प्रदर में—१. नीलकमल, क्षीरविदारी, कमलकन्द, कमलनाल, कालीयक चन्दन और नागरमोथा के कल्क में दूध, चीनी एवं मधु मिलाकर सेवन करें। २. पुष्यानुग चूर्ण ३-३ ग्राम मधु से प्रातः-सायं खाना चाहिए। ३. चौलाई के मूल का चूर्ण ३-३ ग्राम तण्डुलोदक से दिन में ३ बार सेवन करें। ४. लाक्षा का चूर्ण १-२ ग्राम बकरी के दूध के साथ सेवन करें। ५. मुलहठी, त्रिफला, लोध, नागरमोथा और भुनी फिटकिरी समभाग का चूर्ण १-१ ग्राम की मात्रा में दिन में ३ बार लें। ६. पित्तज प्रदर में महातिक्तक घृत (कुष्ठाधिकार) का सेवन कराकर विरेचन कराना चाहिए।

कफज प्रदर में—नीम की पत्ती और गुडुची का कल्क मदिरा के साथ पीना चाहिए।

वात-पित्तज प्रदर में—खिरनी और कैथ की पत्ती का चूर्ण घी में भूनकर सेवन करना चाहिए।

रक्तयोनि, अरजस्का और पुत्रघ्नी योनिरोगों में—गम्भारी की छाल और कुटज की छाल के क्वाथ से सिद्धघृत की उत्तरबस्ति देनी चाहिए।

अरजस्का स्त्री हरिण या बकरी या भेंड़ या सूअर के रक्त को दही, अम्लफलरस या घी में मिलाकर पान करें।

कर्णिनी, अचरणा, शुष्कयोनि, प्राक्चरणा तथा वातजन्य अन्य योनिरोगों में—जीवनीय वर्ग से सिद्ध तैल की उत्तरबस्ति देनी चाहिए।

अचरणा में—गाय के या मछली के पित्त में महीन कपड़े को २१ बार भावना देकर योनि में रखें या सुराकिट्ट चूर्ण में मधु मिला बत्ती बनाकर योनि में धारण करें।

प्राक्चरणा और अतिचरणा में—शतपाक वातघ्न तैल की उत्तरबस्ति दें या वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ में शतपाक तैल मिलाकर उत्तरबस्ति दें।

अतिचरणा और अचरणा में—शताह्वादि उत्कारिका बनाकर योनि में धारण करें। **वामिनी और उपप्लुता में**—योनि का स्नेहन-स्वेदन करके वात-नाशक तैल की पिचु योनि में धारण करें। **विप्लुता योनि में**—शल्लक्यादि तैल की पिचु योनि में रखें। **कर्णिनी योनि में**—कुष्ठादि वर्ती को योनि में धारण करें तथा अन्य कफघ्न उपचार करें।

उदावर्ता, वातला, महायोनि एवं स्रस्ता योनि में—घी-तैल-वसा से स्नेहन करें फिर स्वेदन करें और ग्राम्य, आनूप तथा जलेचर जीवों के मांसरस का सेवन करें। दशमूल से सिद्ध दूध की उत्तरबस्ति दें एवं घी-तैल-वसा की अनुवासन बस्ति दें।

महायोनि में—भालू और सुअर की चर्बी तथा गोघृत को योनि में भरकर पट्टी बाँधनी चाहिए। **प्रस्रस्ता योनि में**—घी लगाकर गरम-गरम दूध से स्वेदन करें, फिर हाथ से योनि को यथास्थान स्थापित करें, बाद में वेशवार का पिण्ड बना योनि के मुख पर रखकर पट्टी बाँध दें और तब तक बँधा रहने दें जब तक मूत्र का वेग न मालूम हो।

विशेष निर्देश—वायुरोग की चिकित्सा में जो कर्म किये जाते हैं, योनि रोगों में उन सबका प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि बिना वायु-विकार के कोई योनिरोग नहीं होता, इसलिए सभी योनि रोगों में पहले वात का उपचार करना चाहिए। उसके बाद अन्य दोषों की चिकित्सा करनी चाहिए।

पिच्छिला योनि में—हीराकसीस, त्रिफला, फिटकिरी, लज्जावन्ती, आम की गुठली और धाय के फूल के समभाग चूर्ण को मधु मिलाकर, बत्ती बनाकर योनि में रखना चाहिए।

स्तब्धा एवं कर्कशा योनि की चिकित्सा के लिए सुखोष्ण वेशवार या खीर या खिचड़ी को एक कपड़े में पोटली बनाकर योनि के अन्दर धारण करना चाहिए।

योनि की दुर्गन्धता में—फिटकिरी के पानी से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए एवं दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागकेसर, कपूर, शीतलचीनी, अगर, छड़ीला और लवंग को पीसकर पोटली बनाकर योनि में धारण करना चाहिए।

उपचार	औषध
श्वेतप्रदर में उपचार—वातला आदि योनिरोगों की जो चिकित्सा कही गयी है, वही चिकित्सा या उपचार सभी प्रदरों में करनी चाहिए। रक्तातिसार, रक्तपित्त एवं रक्तार्श में जो चिकित्सा कही गयी है वही सब चिकित्सा प्रदरों में करनी चाहिए।	**श्वेतप्रदर चिकित्सा**—१. रोहीतक के मूल की छाल का चूर्ण जल से दें। २. आँवले के बीज की गिरी के चूर्ण को मिश्री-मधु से दें। ३. आँवले का चूर्ण या स्वरस मधु मिलाकर सेवन करायें। ४. लोध का चूर्ण वटजटा के क्वाथ के साथ पिलायें। ५. अधिक योनिस्राव हो, तो वटजटा कल्क योनि में धारण करायें। ६. योनि में वातघ्न तैल का अभ्यंग कर पाकड़ की छाल के चूर्ण में मधु मिला बत्ती बनाकर धारण करायें। ७. योनि का तैल से अभ्यंग कर लोध, प्रियंगु और मुलहठी के कपड़छन चूर्ण का मधु से पिण्ड बनाकर योनि में धारण करें। ८. कषाय रस वाले द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को मधु मिलाकर बत्ती बनाकर योनि में रखवायें। ९. सूखी सिधरी मछली में तैल लगाकर उसे आग पर रखकर उसका धुँआ योनि में लगायें।
शुक्रदोष में उपचार—शुक्र के दूषित होने पर आरोग्यप्रद वाजीकरण प्रयोगों से एवं रक्तपित्त तथा योनिव्यापत् नाशक योगों से चिकित्सा करें। प्रकृति आदि का विचार कर जीवनीय घृत, च्यवनप्राश और शिलाजीत का सेवन करें। उत्तरबस्ति देनी चाहिए।	**१. वातज शुक्रदोष** में निरूह एवं अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। **२. पित्त द्वारा** शुक्र दूषित हो, तो अभयामलकीय रसायन का प्रयोग करना चाहिए। **३. कफ द्वारा** शुक्र के दूषित होने पर पिप्पलीरसायन, आमलकीरसायन, लोहरसायन, त्रिफलारसायन और भल्लातकरसायन का प्रयोग करना चाहिए। ४. जब शुक्र में अन्य धातुओं का मिश्रण दीख पड़े, तो दोष तथा धातु को शुद्ध करने वाली चिकित्सा करें। **पथ्य**—शुक्रदोष में घी, दूध, मांसरस, शालिचावल, साठी चावल और गेहूँ के बने पदार्थों का सेवन करना चाहिए।
नपुंसकता (क्लैब्य) में उपचार—नपुंसकता को दूर करने के लिए वह सब उपचार हितकर होता है, जो शुक्रदोष के शमनार्थ कहा गया है एवं जो क्षीणक्षत में हितकर होता है। रोगी के देहबल तथा दोषबल का विचार कर एवं अग्निबल देखकर दूध, घी, वाजीकरण एवं रसायन योगों का प्रयोग करना चाहिए। **संशोधन**—रोगी का स्नेहन-स्वेदन करके तब स्नेहयुक्त विरेचन दें, फिर पथ्य दें और फिर बारी-बारी से आस्थापन एवं अनुवासन बस्ति दें।	**नपुंसकता चिकित्सा**—१. अभिचार या मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग से उत्पन्न नपुंसकता में दैवव्यपाश्रय (जप-होम-नियम-व्रत-दान आदि) चिकित्सा करें। २. इसी ग्रन्थ के चिकित्सास्थान अध्याय २ में जो वाजीकरण योग कहे गये हैं, उनका प्रयोग करना चाहिए। ३. क्षीरसर्पि, वृष्ययोग, यापनाबस्ति और रसायन के योग देने चाहिए। **ध्वजभंगजन्य नपुंसकता में**—प्रदेह, परिषेक आदि करें। स्नेहयुक्त द्रव्यों को खिलाकर विरेचन करायें, विरेचन के बाद अनुवासन बस्ति दें और फिर आस्थापन बस्ति दें। **जराजन्य या क्षयज नपुंसकता में**—स्नेहन-स्वेदन के बाद स्नेह मिलाकर मृदु-विरेचन देना चाहिए।

उपचार	औषध
स्तन्य दोष में उपचार—१. दूषित स्तन्य शोधनार्थ सर्वप्रथम दूध पिलाने वाली स्त्री का स्नेहन कराकर वमन करायें। २. सम्यक् वमन हो जाने पर विधिवत् संसर्जन क्रम से पथ्य दें। ३. पुनः स्नेहन-स्वेदन करके रोगी के दोष, बल एवं प्रकृति का विचार कर विरेचन कराना चाहिए। ४. सम्यक् विरेचन के बाद यथोचित रूप से संसर्जनक्रम के अनुसार पथ्य दें और शेष बचे दोष के निर्मूलन के लिए तत्-तत् दोषघ्न अन्नपान दें।	**स्तन्यदोषशोधनार्थ वमनकारक औषध**—बच, प्रियंगु, मुलहठी, मदनफल, इन्द्रजौ और पीली सरसों के कल्क को नीम की छाल और परवर की पत्ती के क्वाथ में सेंधानमक मिलाकर स्त्री को पिलाना चाहिए। **विरेचन योग**—निशोथ या हर्रे का चूर्ण ४ ग्राम त्रिफला क्वाथ से देना चाहिए या हर्रे का चूर्ण ५ ग्राम गोमूत्र से देना चाहिए। **स्तन्यदोषहर सामान्य योग**—१. काकजंघा, छितवन, और असगन्ध पीसकर पिलायें। २. कुटकी का क्वाथ पिलाना चाहिए। ३. गुरुच एवं छितवन की छाल का क्वाथ या सोंठ का जल या चिरायते का षडंगपानीय विधि से पकाया हुआ जल पिलायें।

(१) **विरस दूध में**—१. मुनक्का, मुलहठी, अनन्तमूल और क्षीरविदारी क्वाथ पिलायें। २. स्तनों पर पंचकोलादि लेप लगायें और सूखने पर धोकर दूध निकाल दें।

(२) **फेनसंघात में**—१. पाठा, सोंठ, काकजंघा और मूर्वा जल में पीसकर पिलायें। २. गुरुच, चिरैता और सोंठ का क्वाथ पिलायें। ३. स्तनों पर **अंजनादि लेप** लगायें और सूखने पर धोकर दूध निकाल दें।

(३) **रूक्ष दूध में**—१. सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गुरुच, पाठा, इन्द्रजौ, चिरैता, कुटकी और अनन्तमूल से सिद्ध दूध या घृत का सेवन करना चाहिए। २. स्तनों पर जीवनीय गण की औषधों का लेप करें एवं सूखने पर धोकर दूध निकालें।

(४) **विवर्ण दूध में**—१. मुलहठी, मुनक्का, क्षीरविदारी और सिन्धुवार का कल्क दूध में मिलाकर पिलायें। २. स्तनों पर मुनक्का और मुलहठी के कल्क को लगायें और सूखने पर धोकर दूध निकाल दें।

(५) **दुर्गन्धित दूध में**—१. काकड़ासींगी, मेढ़ासींगी, त्रिफला, हल्दी और बच को शीतल जल से पीसकर पीना चाहिए। २. सोंठ, मिरिच, पीपर और हर्रे का चूर्ण मधु से चाटना चाहिए। ३. स्तनों पर सारिवादि लेप लगायें, सूखने पर धोकर दूध निकाल दें।

(६) **अतिस्निग्ध दूध में**—देवदारु, नागरमोथा और पाठा को पीसकर सेंधानमक मिलाकर पीने से दूध शुद्ध हो जाता है।

(७) **पिच्छिल दूध में**—काकजंघा, बच और हर्रे का कल्क पिलाना चाहिए। २. नागरमोथा, सोंठ और पाठा को पीसकर पिलाना चाहिए। ३. तक्रारिष्ट पिलाना चाहिए। ४. स्तनों पर विदारीकन्द, बेल की छाल एवं मुलहठी पीसकर लगायें।

(८) **गुरुदूध में**—१. त्रायमाणा, गुरुच, नीम की छाल, परवर की पत्ती और त्रिफला का क्वाथ पिलायें। २. पिपरामूल, चाभ, चीता और सोंठ का क्वाथ पिलायें। ३. स्तनों पर बरियार मूल, सोंठ, काकजंघा और मूर्वा पीसकर या पिठवन एवं क्षीरविदारी पीसकर लेप करना चाहिए।

स्तनपान कराने वाली स्त्री का पथ्य—शालिचावल, साठी या सावाँ, कोदो या टाँगुन का चावल, जौ या बाँस के बने पदार्थ खिलायें। **शाक**—घी या तैल में पकाया हुआ मांस का कोमल पत्ता, बेंत की कोंपल तथा मटर के पत्ते दें। **यूष**—नीम, बेंत, परवर के पत्ते और आँवला डालकर पकाये जल में मूँग, मसूर या कुलथी की दाल पकाकर उसे सोंठ, मरिच, पीपर के चूर्ण और सेंधानमक से संस्कृत करके खाने के लिए दें। **मांस**—खरहा, गौरैया और काले मृग का मांस पकाकर दूध पिलाने वाली स्त्री को खिलाना चाहिए।

बालरोग चिकित्सा

१. दोष, प्रकृति, मृदुस्वभाव आदि का विचार कर मृदु संशोधन करायें।
२. बालक के अल्प सामर्थ्यानुसार स्वल्प मात्रा में औषध दें।
३. मधुर द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ को दूध में मिलाकर पिलायें।
४. पुनः-पुनः परीक्षा कर सावधानी से औषध प्रयोग करें।

slow and steady wins the race.....
It better to be slow & steady
but best to be fast & reliable.....

कल्पस्थानम्